पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय

# जीवन देवता की साधना-आराधना

सम्पादक

ब्रह्मवर्चस

प्रकाशक

अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा

# विराट गायत्री परिवार एवं उसके संस्थापक-संरक्षक
# एक संक्षिप्त परिचय

इतिहास में कभी-कभी ऐसा होता है कि अवतारी सत्ता एक साथ बहुआयामी रूपों में प्रकट होती है एवं करोड़ों ही नहीं, पूरी वसुधा के उद्धार-चेतनात्मक धरातल पर सबके मनों का नये सिरे से निर्माण करने आती है। परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य को एक ऐसी ही सत्ता के रूप में देखा जा सकता है जो युगों-युगों में गुरु एवं अवतारी सत्ता दोनों ही रूपों में हम सबके बीच प्रकट हुई, अस्सी वर्ष का जीवन जीकर एक विराट् ज्योति प्रज्वलित कर उस सूक्ष्म ऋषि चेतना के साथ एकाकार हो गयी जो आज युग परिवर्तन को सन्निकट लाने को प्रतिबद्ध है। परमवंदनीया माताजी शक्ति का रूप थीं जो कभी महाकाली, कभी माँ जानकी, कभी मां शारदा एवं कभी माँ भगवती के रूप में शिव की कल्याणकारी सत्ता का साथ देने आती रही है। उनने भी सूक्ष्म में विलीन हो स्वयं को अपने आराध्य के साथ एकाकार कर ज्योतिपुरुष का एक अंग स्वयं को बना लिया। आज दोनों सशरीर हमारे बीच नहीं है किन्तु, नूतन सृष्टि कैसे ढाली गयी, कैसे मानव गढ़ने का साँचा बनाया गया, इसे शान्तिकुंज, ब्रह्मवर्चस, गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान एवं युगतीर्थ आँवलखेड़ा जैसी स्थापनाओं तथा संकल्पित सृजन सेनानी गणों के, वीरभद्रों की करोड़ों से अधिक की संख्या के रूप में देखा जा सकता है।

परमपूज्य गुरुदेव का वास्तविक मूल्यांकन तो कुछ वर्षों बाद इतिहासविद, मिथक लिखने वाले करेंगे किन्तु, यदि उनको आज भी साक्षात कोई देखना या उनसे साक्षात्कार करना चाहता हो तो उन्हें उनके द्वारा अपने हाथ से लिखे गये उस विराट परिमाण में साहित्य के रूप में युग संजीवनी के रूप में देख सकता है जो वे अपने वजन से अधिक भार के बराबर लिख गये। इस साहित्य में संवेदना का स्पर्श इस बारीकी से हुआ है कि लगता है लेखनी को उसी की स्याही में डुबा कर लिखा गया हो। हर शब्द ऐसा जो हृदय को छूता मन को, विचारों को बदलता चला जाता है। लाखों करोड़ों के मनों के अंतःस्थल को छू कर उसने उनका कायाकल्प कर दिया। रूसो के प्रजातंत्र की, कार्ल मार्क्स के साम्यवाद की क्रांति भी इसके समक्ष बौनी पड़ जाती है। उनके मात्र इस युग वाले स्वरूप को लिखने तक में लगता है कि एक विश्वकोश तैयार हो सकता है, फिर उस बहुआयामी रूप को जिसमें वे संगठनकर्ता, साधक, करोड़ों के अभिभावक, गायत्री महाविद्या के उद्धारक, संस्कार परम्परा का पुनर्जीवन करने वाले, ममत्व लुटाने वाले एक पिता, नारी जाति के प्रति अनन्य करुणा बिखेरकर उनके ही उद्धार के लिए धरातल पर चलने वाला नारी जागरण अभियान चलाते देखे जाते हैं, अपनी वाणी के उद्बोधन से एक विराट गायत्री परिवार एकाकी अपने बलबूते खड़े रहते दिखाई देते हैं तो समझ में नहीं आता, क्या-क्या लिखा जाय, कैसे छन्दबद्ध, लिपिबद्ध किया जाय, उस महापुरुष के जीवनचरित को।

आश्विन कृष्ण त्रयोदशी विक्रमी संवत् १९६७ (२० सितम्बर १९११) को स्थूल शरीर से आँवलखेड़ा ग्राम जनपद आगरा जो जलेसर मार्ग पर आगरा से पंद्रह मील की दूरी पर स्थित है, में जन्मे श्रीराम शर्मा जी का बाल्यकाल-कैशोर्य काल ग्रामीण परिसर में ही बीता। वे जन्मे तो थे एक जमींदार घराने में, जहाँ उनके पिता-श्री पं. रूपकिशोर जी शर्मा आसपास के दूर-दराज के राजघरानों के राजपुरोहित, उद्भट विद्वान, भागवत कथाकार थे किन्तु, उनका अंतःकरण मानव मात्र की पीड़ा से सतत विचलित रहता था। साधना के प्रति उनका झुकाव बचपन में ही दिखाई देने लगा। जब वे अपने सहपाठियों को, छोटे बच्चों को अमराइयो में बिठाकर स्कूली शिक्षा के साथ-साथ सुसंस्कारिता अपनाने वाली आत्मविद्या का शिक्षण दिया करते थे। छटपटाहट के कारण हिमालय की ओर भाग निकलने व पकड़े जाने पर उनने संबंधियों को बताया कि हिमालय ही उनका घर है एवं वहीं वे जा रहे थे। किसे मालूम था कि हिमालय की ऋषि चेतनाओं का समुच्चय बनकर आयी यह सत्ता वस्तुतः अगले दिनों अपना घर वहाँ बनाएगी। जाति-पाँति का कोई भेद नहीं। जातिगत मूढ़ता भरी मान्यता से ग्रसित तत्कालीन भारत के ग्रामीण परिसर में एक अछूत वृद्ध महिला की जिसे कुष्ठ रोग हो गया था, उसी के टोले में जाकर सेवाकर उनने घरवालों का विरोध तो मोल ले लिया पर अपना व्रत नहीं छोड़ा।

उस महिला ने स्वस्थ होने पर उन्हें ढेरों आशीर्वाद दिये। एक अछूत कहलाने वाली जाति का व्यक्ति जो उनके आलीशान घर में घोड़ों की मालिश करने आता था, एक बार कह उठा कि मेरे घर कथा कौन कराने आएगा, मेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ। नवनीत जैसे हृदय वाले पूज्यवर उसके घर जा पहुँचे एवं कथा पूरे विधान से कर पूजा की, उसको स्वच्छता का पाठ सिखाया, जबकि सारा गाँव उनके विरोध में बोल रहा था।

किशोरावस्था में ही समाज सुधार की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ उनने चलाना आरम्भ कर दी थीं। औपचारिक शिक्षा स्वल्प ही पायी थी किन्तु, उन्हें इसके बाद आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि जो जन्मजात प्रतिभा सम्पन्न हो वह औपचारिक पाठ्यक्रम तक सीमित कैसे रह सकता है। हाट-बाजारों में जाकर स्वास्थ्य-शिक्षा प्रधान परिपत्र बाँटना, पशुधन को कैसे सुरक्षित रखें तथा स्वावलम्बी कैसे बनें, इसके छोटे-छोटे पैम्फलेट्स लिखने, हाथ की प्रेस से छपवाने के लिए उन्हें किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी। वे चाहते थे, जनमानस आत्मावलम्बी बने, राष्ट्र के प्रति स्वाभिमान उसका जागे, इसलिए गाँव में जन्मे इस लाल ने नारी शक्ति व बेरोजगार युवाओं के लिए गाँव में ही एक बुनताघर स्थापित किया व उसके द्वारा हाथ से कैसे कपड़ा बुना जाय, अपने पैरों पर कैसे खड़ा हुआ जाय, यह सिखाया।

पंद्रह वर्ष की आयु में वसंत पंचमी की वेला में सन् १९२६ में उनके घर की पूजा स्थली में, जो उनकी नियमित उपासना का तब से आगार थी, जबसे महामना पं० मदन मोहन मालवीय जी ने उन्हें काशी में गायत्री मंत्र की दीक्षा दी थी, उनकी गुरुसत्ता का आगमन हुआ अदृश्य छायाधारी सूक्ष्म रूप में। उनने प्रज्ज्वलित दीपक की लौ में से स्वयं को प्रकट कर उन्हें उनके द्वारा विगत कई जन्मों में संपन्न क्रियाकलापों का दिग्दर्शन कराया तथा उन्हें बताया कि वे दुर्गम हिमालय से आये हैं एवं उनसे अनेकानेक ऐसे क्रियाकलाप कराना चाहते हैं, जो अवतारी स्तर की ऋषि सत्ताएँ उनसे अपेक्षा रखती हैं। चार बार कुछ दिन से लेकर एक साल तक की अवधि तक हिमालय आकर रहने, कठोर तप करने का भी उनने संदेश दिया एवं उन्हें तीन संदेश दिए- १. गायत्री महाशक्ति के चौबीस-चौबीस लक्ष के चौबीस महा- पुरश्चरण जिन्हें आहार के कठोर तप के साथ पूरा करना था। २. अखण्ड घृतदीप की स्थापना एवं जन-जन तक इसके प्रकाश को फैलाने के लिए समय आने पर ज्ञानयज्ञ अभियान चलाना, जो बाद में अखण्ड ज्योति पत्रिका के १९३८ में प्रथम प्रकाशन से लेकर विचार-क्रांति अभियान के विश्वव्यापी होने के रूप में प्रकटा तथा ३. चौबीस महापुरश्चरणों के दौरान युगधर्म का निर्वाह करते हुए राष्ट्र के निमित्त भी स्वयं को खपाना, हिमालय यात्रा भी करना तथा उनके संपर्क से आगे का मार्गदर्शन लेना।

यह कहा जा सकता है कि युग निर्माण मिशन, गायत्री परिवार, प्रज्ञा अभियान, पूज्य गुरुदेव जो सभी एक दूसरे के पर्याय हैं, की जीवन यात्रा का यह एक महत्वपूर्ण मोड़ था, जिसने भावी रीति-नीति का निर्धारण कर दिया। पूज्य गुरुदेव अपनी पुस्तक 'हमारी वसीयत और विरासत' में लिखते हैं कि ''प्रथम मिलन के दिन समर्पण सम्पन्न हुआ। दो बातें गुरु सत्ता द्वारा विशेष रूप से कही गईं, संसारी लोग क्या करते हैं और क्या कहते हैं, उसकी ओर से मुँह मोड़कर निर्धारित लक्ष्य की ओर एकाकी साहस के बलबूते चलते रहना एवं दूसरा यह कि अपने को अधिक पवित्र और प्रखर बनाने की तपश्चर्या में जुट जाना- जौ की रोटी व छाछ पर निर्वाह कर आत्मानुशासन सीखना। इसी से वह सामर्थ्य विकसित होगी जो विशुद्धतः परमार्थ प्रयोजनों में नियोजित होगी। वसंत पर्व का यह दिन गुरु अनुशासन का अवधारण ही हमारे लिए नया जन्म बन गया। सद्गुरु की प्राप्ति हमारे जीवन का अनन्य एवं परम सौभाग्य रहा।''

राष्ट्र के परावलम्बी होने की पीड़ा भी उन्हें उतनी ही सताती थी जितनी कि गुरुसत्ता के आदेशानुसार तपकर सिद्धियों के उपार्जन की ललक उनके मन में थी। उनके इस असमंजस को गुरुसत्ता ने तोड़कर परावाणी से उनका मार्गदर्शन किया कि युगधर्म की महत्ता व समय की पुकार देख सुन कर तुम्हें अन्य आवश्यक कार्यों को छोड़कर अग्निकाण्ड में पानी लेकर दौड़ पड़ने की तरह आवश्यक कार्य भी करने पड़ सकते हैं। इसमें स्वतंत्रता संग्राम सेनानी के नाते संघर्ष करने का भी संकेत था। १९२७ से १९३३ तक का समय उनका एक सक्रिय स्वयं सेवक-स्वतंत्रता सेनानी के रूप में बीता, जिसमें घरवालों के विरोध के बावजूद पैदल लम्बा रास्ता पारकर वे आगरा के उस शिविर में पहुँचे, जहाँ शिक्षण दिया जा रहा था, अनेकानेक मित्रों-सखाओं-मार्गदर्शकों के साथ भूमिगत हो कार्य करते रहे तथा समय आने पर जेल

भी गये। छह-छह माह की उन्हें कई बार जेल हुई। जेल में भी ये जेल के निरक्षर साथियों को शिक्षण देकर व स्वयं अंग्रेजी सीखकर लौटे। आसन- सोल जेल में वे श्री जवाहर लाल नेहरू की माता श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू, श्री रफी अहमद किदवई, महामना मालवीय जी, देवदास गाँधी जैसी हस्तियों के साथ रहे व वहाँ से एक मूलमंत्र सीखा जो मालवीय जी ने दिया था कि जन-जन की साझेदारी बढ़ाने के लिए हर व्यक्ति के अंशदान से-मुट्ठी फण्ड से रचनात्मक प्रवृत्तियाँ चलाना। यही मंत्र आगे चलकर एक घण्टा समयदान बीस पैसा नित्य या एक दिन की आय एक माह में तथा एक मुट्ठी अन्न रोज डालने के माध्यम से धर्मघट की स्थापना का स्वरूप लेकर लाखों-करोड़ों की भागीदारी वाला गायत्री परिवार बनाता चला गया, जिसका आधार था प्रत्येक व्यक्ति की यज्ञीय भावना का उसमें समावेश।

स्वतंत्रता की लड़ाई के दौरान कुछ उग्र दौर भी आये, जिनमें शहीद भगतसिंह को फाँसी दिये जाने पर फैले जन आक्रोश के समय श्री अरविन्द के किशोर काल की क्रांतिकारी स्थिति की तरह उनने भी वे कार्य किये, जिनसे आक्रान्ता शासकों के प्रति असहयोग जाहिर होता था। नमक आन्दोलन के दौरान वे आततायी शासकों के समक्ष झुके नहीं, वे मारते रहे परन्तु, समाधि स्थिति को प्राप्त राष्ट्र देवता के पुजारी को बेहोश होना स्वीकृत था पर आन्दोलन से पीठ दिखाकर भागना नहीं। बाद में फिरंगी सिपाहियों के जाने पर लोग उठाकर घर लेकर आये। जरारा आन्दोलन के दौरान उनने झण्डा छोड़ा नहीं जबकि, फिरंगी उन्हें पीटते रहे, झण्डा छीनने का प्रयास करते रहे। उनने मुँह से झण्डा पकड़ लिया, गिर पड़े, बेहोश हो गये पर झण्डे का टुकड़ा चिकित्सकों द्वारा दाँतों में भींचे गये टुकड़े के रूप में जब निकाला गया तब सब उनकी सहनशक्ति देखकर आश्चर्य चकित रह गये। उन्हें तब से ही आजादी के मतवाले उन्मत्त श्रीराम मत्त नाम मिला। अभी भी आगरा में उनके साथ रहे या उनसे कुछ सीख लिए अगणित व्यक्ति उन्हें मत्त जी नाम से ही जानते हैं। लगानबन्दी के आँकड़े एकत्र करने के लिए उनने पूरे आगरा जिले का दौरा किया व उनके द्वारा प्रस्तुत वे आँकड़े तत्कालीन संयुक्त प्रान्त के मुख्य मंत्री श्री गोविन्द वल्लभ पंत द्वारा गाँधी जी के समक्ष पेश किये गये। बापू ने अपनी प्रशस्ति के साथ वे प्रामाणिक आँकड़े ब्रिटिश पार्लियामेण्ट भेजे, इसी आधार पर पूरे संयुक्त प्रान्त के लगान माफी के आदेश प्रसारित हुए। कभी जिनने अपनी इस लड़ाई के बदले कुछ न चाहा उन्हें सरकार ने अपना प्रतिनिधि भेजकर पचास वर्ष बाद ताम्रपत्र देकर शांतिकुज में सम्मानित किया। उसी सम्मान व स्वाभिमान के साथ सारी सुविधाएँ व पेंशन उनने प्रधान मंत्री राहत फण्ड, हरिजन फण्ड के नाम समर्पित कर दीं। वैरागी जीवन का, सच्चे राष्ट्र संत होने का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है ?

१९३५ के बाद उनके जीवन का नया दौर शुरु हुआ, जब गुरुसत्ता की प्रेरणा से वे श्री अरविन्द से मिलने पाण्डिचेरी, गुरुदेव ऋषिवर रवीन्द्रनाथ टैगोर से मिलने शांति निकेतन तथा बापू से मिलने साबरमती आश्रम, अहमदाबाद गये। सांस्कृतिक आध्यात्मिक मोर्चे पर राष्ट्र को कैसे परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त किया जाय, यह निर्देश लेकर अपना अनुष्ठान यथावत् चलाते हुए उनने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया जब आगरा में 'सैनिक' समाचार पत्र के कार्यवाहक संपादक के रूप में श्री कृष्णदत्त पालीवाल जी ने उन्हें अपना सहायक बनाया। बाबू गुलाब राय व पालीवाल जी से सीख लेते हुए सतत स्वाध्यायरत रह कर उनने अखण्ड ज्योति नामक पत्रिका का पहला अंक १९३८ की वसंत पंचमी पर प्रकाशित किया। प्रयास पहला था, जानकारियाँ कम थीं अतः पुनः सारी तैयारी के साथ विधिवत् १९४० की जनवरी से उनने परिजनों के नाम पाती के साथ अपने हाथ से बने कागज पर पैर से चलने वाली मशीन से छापकर 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका का शुभारंभ किया जो पहले तो दो सौ पचास पत्रिका के रूप में निकली, किन्तु क्रमशः उनके अध्यवसाय घर-घर पहुँचाने, मित्रों तक पहुँचाने वाले उनके हृदय स्पर्शी पत्रों द्वारा बढ़ती-बढ़ती नवयुग के मत्स्यावतार की तरह आज दस लाख से भी अधिक संख्या में विभिन्न भाषाओं में छपती व एक करोड़ से अधिक व्यक्तियों द्वारा पढ़ी जाती है।

पत्रिका के साथ-साथ 'मैं क्या हूँ' जैसी पुस्तकों का लेखन आरम्भ हुआ, स्थान बदला, आगरा से मथुरा आ गये, दो-तीन घर बदलकर घीयामण्डी में जहाँ आज अखण्ड ज्योति संस्थान है, आ बसे। पुस्तकों का प्रकाशन व कठोर तपश्चर्या, ममत्व विस्तार तथा पत्रों द्वारा जन-जन के अंतः स्थल को छूने की प्रक्रिया चालू रही। साथ देने आ गयीं

परमवंदनीया माताजी भगवती देवी शर्मा, जिन्हें भविष्य में अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका अपने आराध्य इष्ट गुरु के लि निभानी थी। उनके मर्मस्पर्शी पत्रों ने, भाव भरे आतिथ्य, हर किसी को जो दुखी था-पीड़ित था, दिये गये ममत्व भ परामर्श ने गायत्री परिवार का आधार खड़ा किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि विचारक्रांति में साहित्य ने मनोभूमि बनायी तो भावात्मक क्रांति में ऋषियुगल के असीम स्नेह ने ब्राह्मणत्व भरे जीवन ने शेष बची भूमिका निभायी।

'अखण्ड ज्योति' पत्रिका लोगों के मनों को प्रभावित करती रही, इसमें प्रकाशित 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ से लोगों को गायत्री व यज्ञमय जीवन जीने का संदेश मिलता रहा, साथ ही एक आना से लेकर छह आना सीरज की अनेकानेक लोकोपयोगी पुस्तकें छपती चली गयीं। इस बीच हिमालय के बुलावे भी आये, अनुष्ठान भी चलता रहा जो पूरे विधि विधान के साथ १९५३ में गायत्री तपोभूमि की स्थापना, १०८ कुण्डी यज्ञ व उनके द्वारा दी गयी प्रथम दीक्षा के साथ समाप्त हुआ। गायत्री तपोभूमि की स्थापना के निमित्त धन की आवश्यकता पड़ी तो परम वंदनीया माताजी ने जिनने हर कदम पर अपने आराध्य का साथ निभाया, अपने सारे जेवर बेच दिये, पूज्यवर ने जमींदारी के बाण्ड बेच दिये एवं जमीन लेकर अस्थायी स्थापना कर दी गयी। धीरे-धीरे उदारचेताओं के माध्यम से गायत्री तपोभूमि एक साधना पीठ बन गयी २४०० तीर्थों के जल व रज की स्थापना वहाँ की गयी, २४०० करोड़ गायत्री मंत्र लेखन वहाँ स्थापित हुआ, अखण्ड अग्नि हिमालय के एक अति पवित्र स्थान से लाकर स्थापित की गयी जो अभी तक वहाँ यज्ञशाला में जल रही है १९४१ से १९७१ तक का समय परमपूज्य गुरुदेव का गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान में सक्रिय रहने का समय है। १९५६ में नरमेध यज्ञ, १९५८ में सहस्रकुण्डी यज्ञ करके लाखों गायत्री साधकों को एकत्र कर उनने गायत्री परिवार का बीजारोपण कर दिया। कार्तिक पूर्णिमा १९५८ में आयोजित इस कार्यक्रम में दस लाख व्यक्तियों ने भाग लिया इन्हीं के माध्यम से देश भर में प्रगतिशील गायत्री परिवार की दस हजार से अधिक शाखाएँ स्थापित हो गयीं। संगठन का अधिकाधिक कार्यभार पूज्यवर परमवंदनीया माताजी पर सौंपते चले गये एवम् १९५९ में पत्रिका का संपादन उन्हें देकर पौने दो वर्ष के लिए हिमालय चले गये, जहाँ उन्हें गुरुसत्ता से मार्गदर्शन लेना था, तपोवन नंदनवन में ऋषियों से साक्षात्कार करना था तथा गंगोत्री में रहकर आर्ष ग्रन्थों का भाष्य करना था। तब तक वे गायत्री महाविद्या पर विश्वकोश स्तर की अपनी रचना गायत्री महाविज्ञान के तीन खण्ड लिख चुके थे, जिसके अब तक प्रायः पैंतीस संस्करण छप चुके हैं। हिमालय से लौटते ही उनमें महत्वपूर्ण निधि के रूप में वेद, उपनिषद्, स्मृति, आरण्यक, ब्राह्मण, योगवाशिष्ठ, मंत्र महाविज्ञान, तंत्र महाविज्ञान जैसे ग्रन्थों को प्रकाशित कर देव संस्कृति की मूल थाती को पुनर्जीवन दिया। परमवंदनीया माताजी ने उन्हीं वेदों को पूज्यवर की इच्छानुसार १९९१-९२ में विज्ञान सम्मत आधार देकर पुनर्मुद्रित कराया एवं वे आज घर-घर में स्थापित हैं।

युग निर्माण योजना व 'युग निर्माण सत्संकल्प' के रूप में मिशन का घोषणा पत्र १९६३ में प्रकाशित हुआ। तपोभूमि एक विश्वविद्यालय का रूप लेती चली गयी तथा अखण्ड ज्योति संस्थान एक तपःपूत की निवास स्थली बन गया, जहाँ रहकर उनने अपनी शेष तप साधना पूरी की थी, जहाँ से गायत्री परिवार का बीज डाला गया था। तपोभूमि में विभिन्न शिविरों का आयोजन किया जाता रहा, पूज्यवर स्वयं छोटे-बड़े जन सम्मेलनों, यज्ञायोजनों के द्वारा विचार क्रांति की पृष्ठभूमि बनाते रहे, पूरे देश में १९७०-७१ में पाँच १००८ कुण्डी यज्ञ आयोजित हुए। स्थायी रूप से विदाई लेते हुए एक विराट सम्मेलन (जून १९७१) में परिजनों में विशेष कार्य भार सौंप, परम वंदनीया माताजी को शांतिकुंज, हरिद्वार में अखण्ड दीप के समक्ष तप हेतु छोड़ कर स्वयं हिमालय चले गये। एक वर्ष बाद वे गुरुसत्ता का संदेश लेकर लौटे एवं अपनी आगामी बीस वर्ष की क्रिया पद्धति बतायी। ऋषि परम्परा का बीजारोपण, प्राण प्रत्यावर्तन संजीवनी व कल्प साधना सत्रों का मार्गदर्शन जैसे कार्य उनने शांतिकुंज में सम्पन्न किये।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थापना अपनी हिमालय की इस यात्रा से लौटने के बाद ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की थी, जहाँ विज्ञान और अध्यात्म के समन्वयात्मक प्रतिपादनों पर शोध कर एक नये धर्म वैज्ञानिक धर्म के मूलभूत आधार रखे जाने थे। इस सम्बन्ध में पूज्यवर ने विराट् परिमाण में साहित्य लिखा, अदृश्य जगत के अनुसंधान से लेकर मानव की प्रसुप्त क्षमता के जागरण तक साधना से सिद्धि एवं दर्शन-विज्ञान के तर्क, तथ्य प्रमाण के आधार पर प्रस्तुतीकरण तक। इसके

लिए एक विराट ग्रन्थागार बना व एक सुसज्जित प्रयोगशाला। वनौषधि उद्यान भी लगाया गया तथा जड़ी बूटी, यज्ञविज्ञान तथा मंत्र-शक्ति पर प्रयोग हेतु साधकों पर परीक्षण प्रचुर परिमाण में किये गये। निष्कर्षों ने प्रमाणित किया कि ध्यान साधना मंत्र चिकित्सा व यज्ञोपैथी एक विज्ञान सम्मत विधा है। गायत्री नगर क्रमशः एक तीर्थ, संजीवनी विद्या के प्रशिक्षण का एकेडमी का रूप लेता चला गया एवं जहाँ ९-९ दिन के साधना प्रधान, एक-एक माह के कार्यकर्त्ता निर्माण हेतु युग शिल्पी सत्र सम्पन्न होने लगे।

कार्यक्षेत्र में विस्तार हुआ। स्थान-स्थान पर शक्तिपीठें विनिर्मित हुईं, जिनके निर्धारित क्रियाकलाप थे- सुसंस्कारिता, आस्तिकता संवर्धन एवं जन जागृति के केन्द्र बनना। ऐसे केन्द्र जो १९८० में बनना आरंभ हुए थे, प्रज्ञा संस्थान - शक्तिपीठ-प्रज्ञामण्डल-स्वाध्याय मंडल के रूप में पूरे देश व विश्व में फैलते चले गये। ७६ देशों में गायत्री परिवार की शाखाएँ फैल गयीं, ४६०० से अधिक भारत में निज के भवन वाले संस्थान विनिर्मित हो गये, वातावरण गायत्रीमय होता चला गया।

परमपूज्य गुरुदेव ने सूक्ष्मीकरण में प्रवेश कर १९८५ में ही पाँच वर्ष के अंदर अपने सारे क्रिया कलापों को समेटने की घोषणा कर दी। इस बीच कठोर तप साधना कर मिलना-जुलना कम कर दिया तथा क्रमशः क्रिया कलाप परमवंदनीया माताजी को सौंप दिये। राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों, विराट दीप यज्ञों के रूप में नूतन विधा को जन-जन को सौंप कर राष्ट्र देवता की कुण्डलिनी जगाने हेतु उनने अपने स्थूल शरीर छोड़ने व सूक्ष्म में समाने की, विराट से विराटतम होने की घोषणा कर गायत्री जयन्ती २ जून १९९० को महाप्रयाण किया। सारी शक्ति वे परमवंदनीया माताजी को दे गये व अपने व माताजी के बाद संघशक्ति की प्रतीक लाल मशाल को ही इष्ट आराध्य मानने का आदेश देकर ब्रह्मबीज से विकसित ब्रह्मकमल की सुवास को देव संस्कृति दिग्विजय अभियान के रूप में आरंभ करने का माताजी को निर्देश दे गये।

एक विराट श्रद्धांजलि समारोह व शपथ समारोह जो हरिद्वार में सम्पन्न हुए, में लाखों व्यक्तियों ने अपना समय समाज के नव निर्माण, मनुष्य में देवत्व के उदय व धरती पर स्वर्ग लाने का गुरु सत्ता का नारा साकार करने के निमित्त देने की घोषणा की। परमवंदनीया माताजी द्वारा भारतीय-संस्कृति को विश्वव्यापी बनाने, गायत्री रूपी संजीवनी घर-घर पहुँचाने के लिए पूज्यवर द्वारा आरम्भ किये गये युगसंधि महापुरश्चरण की प्रथम व द्वितीय पूर्णाहुति तक विराट अश्वमेध महायज्ञों की घोषणा की गयी। वातावरण के परिशोधन, सूक्ष्मजगत के नव निर्माण एवं सांस्कृतिक व वैचारिक क्रांति के निमित्त सौर ऊर्जा के दोहन द्वारा विशिष्ट प्रयोगों के माध्यम से विशिष्ट मंत्राहुतियों द्वारा सम्पन्न किये गये इन अश्वमेधों ने सारी विश्ववसुधा को गायत्री व यज्ञमय, वासंती उल्लास से भर दिया। स्वयं परमवंदनीया माताजी ने अपनी पूर्व घोषणानुसार चार वर्ष तक परिजनों का मार्गदर्शन कर सोलह यज्ञों का संचालन स्थूल शरीर से किया व फिर भाद्रपद पूर्णिमा १९ सितम्बर १९९४ महालय श्राद्धारंभ वाली पुण्य वेला में अपने आराध्य के साथ एकाकार हो गयीं। उनके महाप्रयाण के बाद दोनों ही सत्ताओं के सूक्ष्म में एकाकार होने के बाद मिशन की गतिविधियाँ कई गुना बढ़ती चली गयीं एवं जयपुर के प्रथम अश्वमेध यज्ञ (नवम्बर ९२) से छब्बीसवें अश्वमेध यज्ञ शिकागो (यू. एस. ए. जुलाई ९५) तक प्रज्ञावतार का प्रत्यक्ष रूप सबको दीखने लगा है।

गुरुसत्ता के आदेशानुसार सतयुग के आगमन तक १०८ महायज्ञ देवसंस्कृति को विश्वव्यापी बनाने हेतु संपन्न होने हैं। युग संधि महापुरश्चरण की अंतिम पूर्णाहुति उसी के बाद होगी। प्रथम पूर्णाहुति नवम्बर १९९५ मे कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर युगपुरुष पूज्यवर की जन्मभूमि आँवलखेड़ा में मनायी जा रही है। उनके द्वारा लिखे गये समग्र साहित्य के वाङ्मय का जो सत्तर खण्डों में फैला है, विमोचन भी यहीं सम्पन्न हो रहा है। विनम्रता एवं ब्राह्मणत्व की कसौटी पर खरे उतरने वाले वरिष्ठ प्रज्ञापुत्र ही उनके उत्तराधिकारी कहे जायेंगे, यह गुरुसत्ता का उद्घोष था एवं इस क्षेत्र मे बढ़ चढ़कर आदर्शवादी प्रतिस्पर्धा करने वाले अनेकानेक परिजन अब उनके स्वप्नों को साकार करने आगे आ रहे है। 'हम बदलेंगे-युग बदलेगे' का उद्घोष दिग-दिगन्त तक फैल रहा है एवं इक्कीसवीं सदी-उज्ज्वल भविष्य, सतयुग की वापसी का स्वप्न साकार होता चला जा रहा है, यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

# भूमिका

मानव जीवन एक सम्पदा के रूप मे हम सबको मिला है । शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक हर क्षेत्र मे ऐसी ऐसी अद्‌भुत क्षमताएँ छिपी पडी हैं कि सामान्य बुद्धि से उभरी कल्पना भी नहीं की जा सकती । यदि उन्हें विकसित करने की विद्या अपनायी जा सके तथा सदुपयोग की दृष्टि पायी जा सके तो जीवन में लौकिक एवं पारलौकिक सम्पदाओं विभूतियों के ढेर लग सकते हैं ।

परमपूज्य गुरुदेव लिखते हैं कि मनुष्य को मानवोचित ही नहीं देवोपम जीवन जी सकने योग्य साधन प्राप्त होते हुए भी वह पशुतुल्य दीन–हीन जीवन इसलिए जीता है कि वह जीवन को परिपूर्ण, सर्वांगपूर्ण बनाने के मूल तथ्यों पर न तो ध्यान देता है, न उनका अभ्यास करता है । जीवन को सही ढंग से जीने की कला जानना तथा कलात्मक ढंग से जीवन–जीना ही जीवन जीने की कला कहलाती है व आध्यात्मिक वास्तविक व्यावहारिक स्वरूप यही है । अपने को श्रेष्ठतम लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए सद्‌गुणो–सत्प्रवृत्तियो के विकास का जो अभ्यास किया जाता है, उसी को जीवन साधना कहते हैं । उसी को जीवन–रूपी देवता की साधना–आराधना भी कह सकते हैं ।

यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है । अवांछनीयता अपना कर पतन के गर्त्त में गिरने की तथा उत्कृष्टता का वरण कर के उत्कर्ष के चरम–लक्ष्य तक जा पहुँचने की उसे पूरी छूट है । मन.स्थिति सुधारे बिना कोई परिस्थितियों का ही रोना रोता रहे तो उस बिडम्बना रचा बैठे प्रमाद ग्रस्त से कोई क्या कह सकता है ? परमपूज्य गुरुदेव ने तात्कालिक फलदायक, अनुदान देने के लिए आतुर एवं सबसे निकटवर्ती आत्म–देवता से बढकर श्रेष्ठ किसी को नहीं माना है । अन्य देवताओं की अनुकम्पा संदिग्ध हो सकती है किन्तु जीवन देवता की साधना का प्रतिफल असंदिग्ध रूप से मिलकर रहता है । जीवन का महत्त्व यदि मनुष्य समझ ले, एक–एक क्षण का सही उपयोग कर ले तो वह निश्चित ही स्वयं को, ऋद्धि–सिद्धियो, से सम्पन्न बना सकता है, किन्तु दुर्भाग्यवश बहुतों के साथ ऐसा नहीं हो पाता ।

जीवन साधना नकद धर्म है । इसके प्रतिफल को प्राप्त करने के लिए किसी को लम्बे समय की प्रतीक्षा नहीं करनी पडती । "इस हाथ दे–उस हाथ ले" का नकद सौदा इस मार्ग पर चलते हुए हर कदम पर फलित होता रहता है । जीवन साधना यदि तथ्यपूर्ण, तर्कसंगत और विवेकपूर्ण स्तर पर की गई हो तो उसका प्रतिफल दो रूपो मे हाथों–हाथ मिलता चला जाता है । एक संचित पशु प्रवृत्तियों से पीछा छूटता है, उनका अभ्यास छूट जाता है एवं दूसरा लाभ यह होता है कि नर–पशु से देव–मानव बनने के लिए जो प्रगति करनी चाहिए, उसकी व्यवस्था सही रूप से बन पडती है । स्वयं को अनुभव होने लगता है कि व्यक्तित्व निरन्तर उच्चस्तरीय बन रहा है । उत्कृष्टता और आदर्शवाद की दोनो ही उपलब्धियाँ निरन्तर हस्तगत हो रही हैं । जीवन की सार्थकता के रूप में श्रेष्ठतम उपलब्धि यही है, जिस पर संकेत करते हुए पूज्यवर लिखते हैं कि, जीवन साधना का दर्शन यदि ठीक तरह समझ मे आ जाए व सही प्रयोग का अभ्यास बन जाए तो मनुष्य अनेकानेक उपलब्धियाँ सहज ही इसी जीवन में पा सकता है ।

आज मनुष्य अनेकानेक समस्याओं से ग्रसित है । जब देखे तो वह भाग्य का–ग्रह–नक्षत्रो का–परिस्थितियो का बहाना बनाकर रोता देखा जाता है । मानवी समस्याओ का समाधान, प्रगति, समृद्धि

और उपलब्धियाँ दो पक्षों पर निर्भर हैं--एक है--आन्तरिक, दूसरा बाह्य । आन्तरिक पक्ष को गुण, कर्म स्वभाव कहा जा सकता है और बाह्य पक्ष को लोक व्यवहार । गुण, कर्म, स्वभाव के परिष्कार को सुसंस्कृत व्यक्तित्व का आधार कहा जा सकता है तथा लोक व्यवहार को सभ्यता का आधार माना जा सकता है। प्रतिकूलताएँ सामने आते ही हतोत्साहित हो जाने का मूलकारण गुण, कर्म, स्वभाव का परिष्कृत न होना ही है । वास्तविकता में देखा जाय तो यह संसार एक कर्मभूमि है, व्यायामशाला है, विद्यालय है--जिसमें प्रवेश लेकर हर प्राणी अपनी प्रतिभा का परिपूर्ण विकास कर सकता है । यह विकास ही अन्तत: आत्मकल्याण, भव--बंधनों से मुक्ति के रूप में बदल जाता है ।

दुनिया में चाहे कितनी भी बुराई ही क्यों न हों, यदि हर--व्यक्ति अपने आपको सुसंस्कृत बनाने का संकल्प ले ले तो वह बुराइयों की प्रतिक्रिया से बच सकता है । इमर्सन ने कहा था कि--"मुझे नरक में भी भेज दिया जाय तो मैं अपने लिए वहाँ भी स्वर्ग बना लूँगा ।" यह बात अक्षरशः सत्य है । मन:स्थिति ही परिस्थितियों की निर्मात्री है व यदि मनुष्य चाहे तो हजार प्रतिकूलताओं से जूझकर स्वयं के माध्यम से अपने लिए वैसा ही वातावरण बना सकता है, जैसा वह चाहता है ।

परमपूज्य गुरुदेव का अध्यात्म एक प्रकार का एप्लाइड अध्यात्म--रोजमर्रा के जीवन का--जीवन जीने के महत्त्वपूर्ण सूत्र देने वाला एक विज्ञान है, जिसका मर्म यदि समझ में आ जाय तो व्यक्ति अपने आपको कहीं से कहीं पहुँचा सकता है । धर्म के नाम पर बाह्योपचार में समयक्षेप करने वाले ढेरों व्यक्ति जब जीवन देवता को साधते नहीं दीखते तो लगता है कि सुसंस्कारिता संवर्धन का पहला पाठ तो इनने पढा ही नहीं, आगे उपलब्धि मिलेगी भी तो कैसी ? यह तत्त्व दर्शन इतने स्पष्ट तरीके से परमपूज्य गुरुदेव ने अपनी लेखनी से संवारा है कि, पढने वाले के अंतर्चक्षु खुलकर उसे आत्मिक प्रगति का--लौकिक उपलब्धियों का राजमार्ग सहज ही नजर आने लगता है ।

--ब्रह्मवर्चस

# विषय सूची

ЖЖЖ

# जीवन देवता की साधना : एक नकद धर्म

## आन्तरिक प्रगति के दो सोपान जीवन साधना और आराधना

कौन कितने दिन जीया ? इसका उत्तर प्रायः वर्ष गणना में दिया जाता है, किन्तु तात्विक दृष्टि से इस सम्बन्ध में यह गणना होनी चाहिए कि किसने किस स्तर का, किस प्रयोजन के लिए, क्या पुरुषार्थ किया ? आद्य शंकराचार्य मात्र ३२ वर्ष जीये । विवेकानन्द ३८ वर्ष, किन्तु उनकी उच्च उद्देश्यों के निमित्त जितनी तन्मयता, तत्परता रही, उसी अनुपात से उन्होंने इस स्वल्प अवधि में ही इतना कुछ कर दिखाया जितना कि सैकड़ों वर्ष जीकर भी नहीं कमाया, बखेरा जा सकता ।

कौन कितना सौभाग्यशाली है ? इसके उत्तर में उसके वैभव, पद, प्रभाव आदि की नाप-जोख की जाती है । सुविधा साधनों के सहारे इस प्रकार का मूल्यांकन किया जाता है, जबकि देखा यह जाना चाहिए कि गुण, कर्म, स्वभाव, चिन्तन और चरित्र की दृष्टि से कौन किस स्तर पर रह रहा है । वस्तुतः व्यक्तित्व की पवित्रता एवं प्रखरता के आधार पर बनने वाली प्रतिभा भी वह सम्पदा है जिसके सहारे उच्चस्तरीय प्रगति के पथ पर दूर तक जा पहुँचने का अवसर किसी को मिलता है । आन्तरिक प्रफुल्लता, लोक श्रद्धा एवं दैवी अनुकम्पा को सफल जीवन की महान उपलब्धियाँ माना गया है । इन्हें अर्जित करने में परिष्कृत व्यक्तित्व ही सफल होते हैं । वैभव बटोरने में तो दुष्ट-दुराचारी भी सफल हो जाते हैं, किन्तु इस विष संचय से उन्हें भीतरी और बाहरी जलन भी झुलसाती, उबालती रहती है । वास्तविक उपार्जन एक ही है—परिष्कृत व्यक्तित्व । इसे सम्पादित करने में जो जितना सफल रहा, समझना चाहिए कि उसने मनुष्य जन्म के सौभाग्य का लाभ उसी अनुपात से उठा लिया ।

काय-संस्थान मनुष्य का स्वनिर्मित नहीं है । अन्न भूमि की देन है । पानी बादलों से बरसता है । हवा आकाश में भरी है । पदार्थ प्रकृति ने बनाये हैं । मनुष्य इनका उपयोग भर करता है, किन्तु 'व्यक्तित्व की उत्कृष्टता' ऐसी सम्पदा है जो स्वयं ही श्रद्धा, व्रतशीलता एवं संयम साधना के सहारे अर्जित करनी पड़ती है । यह न तो उत्तराधिकार में मिलती है और न किसी से वरदान, उपहार में उपलब्ध होती है । भोजन स्वयं ही उदरस्थ करना होता है । मल विसर्जन का कष्ट भी स्वयं ही सहना पड़ता है । कुछ कार्य ऐसे हैं जिन्हें जन्म-मरण की तरह स्वयं ही सहन या वहन करना होता है । व्यक्तित्व का निर्माण भी ऐसा ही काम है जिसके लिए निजी तन्मयता एवं तत्परता का सघन समावेश करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं । जो इस तथ्य को स्वीकारते, अपनाते हैं, उन्हीं को यह श्रेय मिलता है कि वे जीवन को सार्थक बना सकने वाले पराक्रम कर सकें । इसके लिए अपने में आवश्यक समर्थता एवं योग्यता उत्पन्न कर सकें ।

संसार कला-कौशलों से भरा पड़ा है । उन्हीं के आधार पर लोग समृद्ध, प्रख्यात एवं समर्थ बनते हैं । कला-कौशलों में मूर्धन्य है जीवन-कला । इसी को संजीवनी विद्या कहते हैं । जिसे जीना आता है उसे सब कुछ आता है । जो इस विद्या से अपरिचित है, समझना चाहिए कि उसका विशाल वैभव भी कागजी रावण की तरह खोखला ढकोसला है । वैभव को बदली की छाँव की तरह अस्थिर कहा गया है । तनिक-सी प्रतिकूलता आने पर साधन-सामग्री न जाने किस प्रवाह में बहकर कहाँ से कहाँ चली जाती है । राजाओं को रंक बनने की घटनाएँ आये दिन देखने, सुनने को मिलती रहती हैं । तिनके और पत्ते झोंके के साथ आसमान पर चढ़ते और स्थिरता आते ही लातें खाते और कीचड़ में सड़ते देखे जाते हैं, किन्तु जिनका वजनदार व्यक्तित्व है उन चट्टानो से आँधी-तूफान भी टकराकर वापस लौट जाते हैं ।

जीवन को सार्थक बनाने वाली क्षमता अर्जित करने का ही दूसरा नाम 'व्यक्तित्व-निर्माण' है । साधना

इसी के लिए करनी पड़ती है । अन्तरंग जीवन में उसका अस्तित्व 'सुसंस्कारिता' के नाम से जाना जाता है और बहिरंग जीवन मे इसी शालीनता भरे व्यवहार को 'सभ्यता' कहते हैं । यो इस उपलब्धि में वातावरण एवं सम्पर्क भी सहायक होता है तो भी प्रमुखता अपने ही दृष्टिकोण एवं प्रयास की रहती है । सत्संग या कुसंग के प्रभाव को यहाँ झुठलाया नही जा रहा है वरन् यह कहा जा रहा है कि उसकी उपयोगिता भी तभी लाभदायक होती है जब अपने में ग्रहण करने एव पचाने की सामर्थ्य विद्यमान हो । पाचन शक्ति जवाब दे जाय तो पौष्टिक भोजन क्या करे ? आँखें न हों तो दृश्यों की मनोरमता का आनन्द कैसे मिले ? भूमि के ऊसर होने पर बढ़िया बीज एवं परिश्रमी किसान का प्रयास भी कैसै सफल हो ? बाहरी अनुदानो की फिराक में रहने वाले हर मनुष्य को स्मरण रखना चाहिए कि सत्पात्र के अभाव मे या तो कहीं से कुछ महत्त्वपूर्ण जैसा मिलता ही नहीं अथवा मिलता है तो उसका स्थिर रहना, सुखद प्रतिक्रिया उत्पन्न करना सम्भव नही होता । इन्ही तथ्यो को देखते हुए जीवन-साधना को सर्वोपरि पराक्रम एवं सर्वश्रेष्ठ सौभाग्य कहा गया है । स्मरण रहे, यह स्व-उपार्जन है । यह प्रयास चले, तो खिले फूल पर मँडराने वाले भौंरे, मधुमक्खियो, तितलियों के झुण्ड छाये रहते हैं । बाहरी अनुग्रहों के सम्बन्ध में भी ठीक यही बात है । जहाँ पात्रता होगी, वहाँ बाहरी सहायता की भी कमी न रहेगी । वह उक्ति अक्षरश. सही है जिसमें एक महान सत्य का रहस्योद्‌घाटन करते हुए कहा गया है—"ईश्वर मात्र उन्ही की सहायता करता है जो अपनी सहायता आप करते है ।"

आध्यात्म का विकृत स्वरूप आज कुछ भी क्यों न बन गया हो, उस चेतना-विज्ञान का मूलभूत प्रतिपादन एक ही रहेगा । आत्मावलम्बन एवं आत्म-परिष्कार । इस दिशा में जिसे जितनी सफलता मिली होगी, वह उतना ही व्यक्तित्व सम्पन्न बन सका होगा । प्रतिभा के धनी, प्रखरता से सम्पन्न व्यक्ति प्रायः स्वनिर्मित होते हैं । उन्होंने अपने को स्वय ही समझा, सुधारा, बढ़ाया एवं उछाला होगा । दूसरो का तो उन्हें सहयोग भर मिला होगा । इस संसार में प्रामाणिको को ही विश्वास एवं सहयोग मिलने की प्रथा है । कुपात्रों द्वारा की गई छीन-झपट को तो डकैती भर कहा जा सकता है । लूटमार से धनी बनने वालो का बड़प्पन टिकता कहाँ है ? अनीति का उपार्जन साँप की तरह चमकता तो है और सुहाना भी लगता है, पर उसे पालने वाले कितना खतरा उठाते हैं, इसे भुक्त-भोगियो से ही पूछकर जाना जा सकता है ।

प्रगति का सहज और सुनिश्चित राजमार्ग एक ही है—व्यक्तित्व को शालीनता एवं प्रखरता के समन्वय से प्रतिभावान बनाना । इसी आधार पर व्यक्ति ओजस्वी, तेजस्वी, मनस्वी बनते हैं । इसी के बलबूते भौतिक एवं आत्मिक क्षेत्र की अनेकों सफलताएँ करतलगत होती हैं । उत्कृष्टता ही व्यक्ति और समाज की प्रगति, समृद्धि एवं शान्ति की सुनिश्चित गारण्टी है । निजी और सामूहिक उत्कर्ष की बात सोचने वालों को यह तथ्य ध्यान में रखना ही होगा कि वैभव की न्यूनाधिकता जितनी विचारणीय है, उससे अधिक विवेचन एवं निर्धारण मानवी सदाशयता के सम्वर्धन का होना चाहिए । स्वल्प साधनों से काम चलाते हुए ऋषि कल्प महामानवो ने अपना तथा असंख्यों का उद्धार-उत्थान किया है । इसके अभाव मे रावण, मारीचि जैसे समर्थ व्यक्ति भी अपने को, अपने सम्पर्क क्षेत्र को दुःखद दुर्दशा के गर्त में ही धकेलते रहे हैं । वैभव वृद्धि एवं भौतिक प्रगति की योजनाएँ तो बननी ही चाहिए, पर इसी प्रसग में इस तथ्य को जोड़कर चलना चाहिए कि उपार्जन का उपयोग कर सकने वाली सदाशयता की उपेक्षा होती रही तो वैभव के अनुपात से दुर्व्यसनों और अनाचारियो की बाढ़ आयेगी । अभावो के कारण जो दुर्बुद्धि अपंग बनी बैठी रहती थी, उसी की सामर्थ्य से सोचा गया तो साँप को दूध पिलाने की तरह दुःखद दुष्परिणाम ही सामने होंगे ।

शिक्षा, चिकित्सा, व्यवसाय आदि के लिए जितना प्रयास होता है, उतना ही इस निमित्त भी होना चाहिए कि लोग जीवन का महत्त्व समझें । उसके साथ जुड़ी हुई विशेषताओं को उभारें और उपलब्धियों का सदुपयोग करना सीखें । यहाँ एक भारी कठिनाई यह है कि वैसा न तो कहीं वातावरण है, न प्रशिक्षण । यहाँ तक कि ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्रों में जहाँ असंख्यों विषयों पर भारी अनुसन्धान, प्रयोग-परीक्षण होते रहे है, निष्कर्ष-निर्धारण प्रस्तुत किए जाते रहे हैं—वहाँ

जीवन साधना के सम्बन्ध में नहीं के बराबर खोजबीन हुई है । उसके आधारभूत, सिद्धान्तों तक का कोई अता-पता नहीं है । धर्म और आध्यात्म के नाम पर कहा जाता रहा है—वह अतिशयोक्तिपूर्ण एवं अव्यावहारिक है । दूसरी ओर नागरिकशास्त्र, नीतिशास्त्र समाजशास्त्र के माध्यम से जो प्रतिपादन हुए हैं वे भी उथले एवं सतही हैं । उनमें टकराव से बचाने वाली सभ्यता भर का उल्लेख है । उस श्रद्धा को उभारने वाली कोई सामग्री नहीं है जो उत्कृष्टता अपनाने के लिए अन्तराल को बेचैन कर दे । आदर्शवादी आचरणों के लिए जिस अदम्य उत्साह और उच्चस्तरीय साहस की आवश्यकता है, वह अनायास ही प्रकट नहीं हो सकता । बौद्धिक कलाबाजी एवं परोपदेश पाण्डित्य को पुरोहिती से भी उसे अन्तराल में निष्ठा के रूप में प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता । वह बड़ा काम है इसलिए बड़े और भारी भरकम उपाय उपचार भी प्रयुक्त करने होंगे । आज का व्यक्ति जिस चिन्तन शैली का—जिस प्रथा-प्रचलन का अभ्यस्त हो गया है उसी से तालमेल बिठा सकने वाला तत्व दर्शन इन दिनों सृजा जाना चाहिए । यह सृजन ऐसा होना चाहिए कि जो चिन्तन की उत्कृष्टता और चरित्र की आदर्शवादिता को तर्क, तथ्य, प्रमाण, प्रयोग, उदाहरण आदि की हर कसौटी पर, हर किसी के लिए, हर क्षेत्र में उपयोगी सिद्ध हो सके ।

जीवन साधना आज की शोध का सबसे बड़ा महत्त्वपूर्ण विषय है । अब पुरातन जैसी न तो मनःस्थिति है न परिस्थिति । शाश्वत सिद्धान्तों को आज के परिवेश में किस प्रकार व्यावहारिक बनाया जा सकता है—यह असाधारण एवं अद्भुत कार्य है क्योंकि विज्ञान, उद्योग, शिक्षा विलास, प्रचलन आदि ने मिल-जुलकर जो माहौल बनाया है—उससे एक प्रकार की नई संस्कृति ने जन्म लिया है । बहुसंख्यक लोग उससे प्रभावित ही नहीं हुए अभ्यस्त भी बन गए है । यह जैसी भी है—सामने है । इसमे विलासिता, अहमन्यता, अनास्था, उच्छृंखलता, धूर्तता जैसी दुष्प्रवृत्तियों ने चतुरता और सम्पदा के समन्वय से कुछ ऐसा माहौल बनाया है कि इसे न निगलते बनता है न उगलते, न टूटती है न छूटती । कुटिलता भरी दुरभि सन्धियाँ रचने में इन दिनों की चतुरता ही प्रकारान्तर से सामयिक सभ्यता के रूप में मान्यता प्राप्त कर रही है । इन दिनों जीवन की उत्कृष्टता और उसके सदुपयोग की आदर्शवादिता किस प्रकार समझाई जांय, जबकि दर्शन क्षेत्र में नीत्सेवाद, कामूवाद जैसे नास्तिकता के किशोर—बाल-बच्चे, आत्मा, परमात्मा, कर्मफल, पुनर्जन्म आदि स्थापनाओं को ही नहीं; नैतिक और सामाजिक मर्यादाओं को अमान्य ठहराने के लिए विधिवत् अभियान चलाते और नीति-निष्ठा की धज्जियाँ उड़ाने पर तुल गए है । कहना न होगा कि ऐसी व्यापक अनास्था इससे पूर्व कभी भी देखने में नहीं आई । इन दिनों जीवन-दर्शन के साथ शालीनता के सिद्धान्तों को जोड़ने, उन्हें उपयोगी ही नहीं व्यावहारिक भी सिद्ध करना निश्चित रूप से टेढ़ी खीर है । इस प्रयास की आधार भित्ति अब ऐसे सशक्त आधार पर खड़ी करनी होगी जिसे उच्छृंखलतावादी तूफान गिरा न सके वरन् टकराकर वापस लौटने की विवशता अनुभव करे ।

मानवी गरिमा के अनुरूप जीवन-यापन करने की उच्चस्तरीय प्रक्रिया को अतिवादियों की बपौती समझा जाता है और कहा जाता है कि वह विरक्त संन्यासियों के लिए कष्ट-साध्य कौतूहल का काम दे सकती है । यह प्रतिपादन कितने ही जोर-खरोश के साथ क्यो न कहा जाय—भले ही उसके अनुयायी बरसाती कीट-पतंगों की तरह बढ़ रहे हों पर तथ्यतः वह है अवास्तविक । सत्य शाश्वत है । मानवी गरिमा के साथ शालीनता अविच्छिन्न रूप में जुड़ी हुई है । आवश्यकता मात्र यह है कि इस तथ्य को प्रत्यक्षवाद एवं अनास्थावाद की रीति-नीति अपनाने वालो की भीड़ में तर्क व प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया जाय । लोक-मानस को आदर्शवादी जीवनचर्या अपनाने के लिए प्रोत्साहित, सहमत एवं कटिबद्ध कर सकना तभी सम्भव है जब उच्चस्तरीय आध्यात्म सिद्धान्तों की चर्चा करने वाले सबसे पहले इन प्राथमिक सूत्रों को अपने जीवन में उतारें । जीवन साधना अपनाने वाले ही साधना की ऊँची सीढ़ियों पर चढ़ने के पात्र बन सकते हैं, इस अकाट्य तथ्य को एक बार नहीं, बार-बार समझ लेना चाहिए ।

आत्मिक प्रगति का द्वितीय सोपान आराधना है । आराधना का अर्थ है—लोकमंगल में निरत रहना । जीवन साधना प्रकारान्तर से संयम साधना है । उसके

द्वारा न्यूनतम में निर्वाह चलाया और अधिकतम बचाया जाता है । समय, श्रम, धन और मन मात्र इतनी ही मात्रा का शरीर तथा परिवार के लिए खर्च करना पड़ता है जिसके बिना काम न चले । काम न चलने की कसौटी है—औसत देशवासियों का स्तर । इस कसौटी पर कसने के उपरान्त किसी भी श्रमशील और शिक्षित व्यक्ति का उपार्जन इतना हो जाता है कि काम चलाने के अतिरिक्त भी बहुत कुछ बच सके । इसी के सदुपयोग को आराधना कहते हैं । आमतौर से लोग इस बचत को विलास में, अपव्यय में अथवा कुटुम्बियों में बिखेर देते हैं । उन्हें सूझ नहीं पड़ता कि इस संसार में और भी कोई अपने हैं—औरों की भी कुछ जरूरतें हैं । यदि दृष्टि में इतनी विशालता आयी होती तो उस बचत को ऐसे कार्यों मे खर्च किया गया होता जिससे अनेकों का वास्तविक हित साधन होता और समय की माँग पूरी होने में सहायता मिलती ।

ईश्वर का एक रूप साकार है जो ध्यान धारणा के लिए अपनी-अपनी रुचि और मान्यता के अनुरूप गढ़ा जाता है । यह मनुष्य से मिलती-जुलती आकृति-प्रकृति का होता है । यह गठन उस प्रयोजन के लिए है तो उपयोगी, आवश्यक, किन्तु साथ ही यह ध्यान रखने योग्य भी है कि वास्तविक नहीं, काल्पनिक है । ईश्वर एक है उसकी इतनी आकृतियाँ नही हो सकतीं जितनी कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों मे गढी गई हैं । उपयोग मन की एकाग्रता का अभ्यास करने तक ही सीमित रखा जाना चाहिए । प्रतिमा पूजन के पीछे आद्योपान्त प्रतिपादन इतना ही है कि दृश्य प्रतीक को माध्यम से अदृश्य दर्शन और प्रतिपादन को समझने, हृदयगम करने का प्रयत्न किया जाय ।

सर्वव्यापी ईश्वर निराकार ही हो सकता है । उसे परमात्मा कहा गया है । परमात्मा अर्थात् आत्माओं का परम समुच्चय । इसे आदर्शों का एकाकार कहने में भी हर्ज नहीं । यही विराट् ब्रह्म या विराट् विश्व है । कृष्ण ने अर्जुन और यशोदा को अपने इसी रूप का दर्शन कराया था । राम ने कौशल्या तथा काकभुशुण्डि को इसी रूप को झलक के रूप में दिखाया था और प्राणियो को उनका दृश्य स्वरूप । इस मान्यता के अनुसार यह लोक सेवा ही विराट् ब्रह्म की आराधना बन जाती है । विश्व उद्यान को सुखी समुन्नत बनाने के लिए ही परमात्मा ने यह बहुमूल्य जीवन देकर अपने युवराज की तरह यहाँ भेजा है । इसकी पूर्ति में ही जीवन की सार्थकता है । इसी मार्ग का अधिक श्रद्धापूर्वक अवलम्बन करने से आध्यात्म उत्कर्ष का वह प्रयोजन सधता है जिसे आराधना कहा गया है ।

आराधना के लिए, लोक साधना के लिए, गिरह की पूँजी चाहिए । उसके बिना भूखा क्या खाये ? क्या बाँटे ? यह पूँजी कहाँ से आये ? कहाँ से जुटाई जाय ? इसके लिए आवश्यक है कि—जो पास में है, उसे बीज की तरह भगवान के खेत में बोना सीखा जाय । उसे जितनी बार बोया जायेगा वह उतनी बार सौ गुना होता चला जायेगा । अभीष्ट प्रयोजन में कभी किसी बात की कमी न पड़ेगी । इस सन्दर्भ में बाबा जलाराम का उदाहरण सामने है, वे किसान थे, अपनी पेट से बचने वाली सारी आमदनी जरूरत मन्दों को खिलाते थे । भगवान इस सच्ची साधना से अतिशय प्रसन्न हुए और एक ऐसी अक्षय झोली दे गए, जिसका अन्त कभी निपटा ही नहीं और अभी भी वीरपुर (गुजरात) में उनका अन्न सत्र चलता रहता है, जिसमें हजारों भक्तजन प्रतिदिन भोजन करते हैं । जो अपना लगा देता है उसे बाहर का सहयोग बिना माँगे मिलता है पर जो अपनी पूँजी सुरक्षित रखता है, दूसरों से माँगता फिरता है, उस चन्दा उगाहने वाले पर लोग व्यंग ही करते रहते हैं और यत्किंचित देकर पल्ला छुड़ाते रहते हैं ।

भेड़ ऊन कटाती रहती है और हर वर्ष उसे नई ऊन मिलती है । पेड़ फल देते हैं, अगली बार टहनियाँ फिर उसी तरह लद जाती हैं । बादल बरसते हैं पर खाली नहीं होते । अगले दिनों वे फिर उतनी ही जल सम्पदा बरसाने के लिए समुद्र से प्राप्त कर लेते हैं । उदारचेताओं के भण्डार कभी खाली नहीं हुए । किसी ने कुपात्रों को अपना श्रम-समय देकर भ्रमवश दुष्प्रवृत्तियों का पोषण किया हो और उसे भी पुण्य समझा हो तो फिर बात दूसरी है । अन्यथा लोक साधना के परमार्थ का प्रतिफल ऐसा है जो हाथों-हाथ मिलता है । आत्म-सन्तोष, लोक सम्मान दैवी अनुग्रह के रूप मे तीन गुना सत्परिणाम प्रदान करने वाला व्यवसाय ऐसा है जिसमें जिसने भी हाथ डाला कृत-कृत्य होकर रहा है । कृपण ही हैं जो चतुरता का दम भरते, किन्तु

हर दृष्टि से घाटा उठाते हैं, किन्तु उपकारी का भण्डार कभी खाली नहीं होता । उस पर ईश्वरीय अनुग्रह बरसता रहता है और जो खर्चा गया है उसकी भरपाई करता रहता है । यही है जीवन देवता की साधना-आराधना का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सत्परिणाम । वस्तुतः ईश्वर छोटी-मोटी भेंट, पूजाओं या गुणगान से प्रसन्न नहीं होता । ऐसी प्रकृति तो क्षुद्र लोगों की होती है । ईश्वर तो न्यायनिष्ठ और विवेकवान है । व्यक्तित्व में आदर्शवादिता का समावेश होने पर जो गरिमा उभरती है, उसी के आधार पर वह प्रसन्न होता और अनुग्रह बरसाता है ।

प्रतीक पूजा की अनेक विधियाँ हैं, उन सभी का उद्देश्य एक ही है, मनुष्य के विकारों को हटाकर, संस्कारों को उभारकर, दैवी अनुग्रह के अनुकूल बनाना ।

साधना से सिद्धि का सिद्धान्त सर्वमान्य है । प्रश्न है, साधना किसकी की जाय ? उत्तर है, जीवन को ही देवता मानकर चला जाय । यह इस हाथ दे, उस हाथ ले का क्रम है । इसी आधार पर आत्म-सन्तोष, लोक-सम्मान और देव अनुग्रह जैसे अमूल्य अनुदान प्राप्त होते हैं ।

## आध्यात्म तत्त्व ज्ञान का मर्म : जीवन साधना

अति निकट और अति दूर की उपेक्षा करना मानव का सहज स्वभाव है । यह उक्ति जीवन सम्पदा के हर क्षेत्र में लागू होती है । जीवन हम हर घड़ी जीते हैं, पर न तो उसकी गरिमा समझते और न यह सोच पाते हैं कि इसके सदुपयोग से क्या-क्या सिद्धियाँ उपलब्ध हो सकती हैं । प्राणी जन्म लेता और पेट प्रजनन की, प्राकृतिक उत्तेजनाओं से विक्षुब्ध होकर, निर्वाह की जरूरतें पूरी करते हुए दम तोड़ देता है । ऐसे क्षण कदाचित् ही कभी आते हैं, जब यह सोचा जाता हो कि सृष्टा की तिजोरी का सर्वोपरि उपहार मनुष्य जीवन है । जिसे अनुग्रहपूर्वक यह जीवन दिया गया है, उससे यह आशा की गई है कि वह उसका श्रेष्ठतम सदुपयोग करेगा । अपनी अपूर्णता पूरी करके तुच्छ से महान बनेगा, साथ ही विश्व उद्यान को कुशल माली की तरह सींचते-सँजोते, यह सिद्ध करेगा कि उसे स्वार्थ और परमार्थ के सही रूप का ज्ञान है । स्वार्थ इसमें है कि पशु-प्रवृत्तियों की कुसंस्कारिता से पीछा छुड़ाएँ और सत्प्रवृत्तियों की आवश्यक मात्रा में अवधारणा करते हुए उस परीक्षा में उत्तीर्ण हों, जो धरोहर का सदुपयोग कर सकने के रूप में सामने प्रस्तुत हुई है । जो उसमें उत्तीर्ण होता है । वह देव मानव की कक्षा में प्रवेश करता है । अपना ही भला नहीं करता, असख्यों को अपनी नाव में बिठाकर पार करता है । ऐसों को ही अभिनन्दनीय, अनुकरणीय महामानव कहा जाता है । तृप्ति, तुष्टि-शान्ति के त्रिविधि आनन्द ऐसों को ही मिलते हैं ।

मनुष्य जीवन दिव्य सत्ता की एक बहुमूल्य धरोहर है, जिसे सौंपते समय उसकी सत्पात्रता पर विश्वास किया जाता है । मनुष्य के साथ यह पक्षपात नहीं है, वरन् ऊँचे अनुदान देने के लिए यह प्रयोग परीक्षण है । अन्य जीवधारी शरीर भर की बात सोचते और क्रिया करते हैं; किन्तु मनुष्य को सृष्टा का उत्तराधिकारी युवराज होने के नाते अनेकानेक कर्तव्य और उत्तरदायित्व निबाहने पड़ते हैं । उसी में उसकी गरिमा और सार्थकता है । यदि पेट प्रजनन तक, लोभ मोह तक उसकी गतिविधियाँ सीमित रहे तो उसे नर पशु के अतिरिक्त और क्या कहा जायेगा । लोभ-मोह के साथ अहंकार और जुड़ जाने पर तो बात और भी अधिक बिगड़ती है । महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उभरी अहमन्यता अनेकों प्रकार के कुचक्र रचती और पतन पराभव के गर्त में गिरती है । अहता से प्रेरित व्यक्ति अनाचारी बनता है और आक्रामक भी । ऐसी दशा में उसका स्वरूप और भी भयंकर हो जाता है । दुष्ट दुरात्मा एवं नर पिशाच स्तर की आसुरी गतिविधियाँ अपनाता है । इस प्रकार मनुष्य जीवन जहाँ श्रेष्ठ-सौभाग्य का प्रतीक था, वहाँ वह दुर्भाग्य और दुर्गति का कारण ही बनता है । इसी को कहते हैं वरदान को अभिशाप बना लेना । दोनों ही दिशाएँ हर किसी के लिए खुली हैं । जो इनमें से जिसे चाहता है उसे चुन लेता है । मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप जो है ।

साधकों में भिन्नता देखी जाती है । उनके भिन्न-भिन्न इष्ट देव उपास्य होते हैं । उनसे अनुग्रह अनुकम्पा की आशा की जाती है और विभिन्न मनोकामनाएँ पूर्ण करने की अपेक्षा रखी जाती है । इनमें से कितने

सफल होते हैं, इस सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि पराधीनता की स्थिति मे स्वामी की इच्छा पर सब कुछ निर्भर रहता है । सेवक तो अनुनय-विनय ही करता रह सकता है; किन्तु जीवन देवता के सम्बन्ध में यह बात नहीं है । उसकी अभ्यर्थना सही रूप में बन पड़ने पर, वह सब कुछ इसी कल्प वृक्ष के नीचे प्राप्त किया जा सकता है, जिसकी कहीं अन्यत्र से पाने की आशा लगाई जाती है ।

ब्रह्माण्ड का छोटा-सा रूप पिण्ड परमाणु है । जो ब्रह्माण्ड में है वह सब कुछ पदार्थ के सबसे छोटे घटक परमाणु में भी विद्यमान है और सौर-मण्डल की समस्त क्रिया-प्रक्रिया अपने मे धारण किए हुए हैं । इसे विज्ञान-वेत्ताओं ने एक स्वर से स्वीकार किया है । इसी प्रतिपादन का दूसरा पक्ष यह है कि परम सत्ता ब्रह्माण्डीय चेतना का छोटा, किन्तु समग्र प्रतीक जीव है । वेदान्त दर्शन के अनुसार परिष्कृत आत्मा ही परमात्मा है । तत्व-दर्शन के अनुसार इसी काय कलेवर में समस्त देवताओं का निवास है । परब्रह्म की दिव्य क्षमताओं का समस्त वैभव जीवब्रह्म के प्रसुप्त संस्थानों में समग्र रूप से विद्यमान है । यदि उन्हें जगाया जा सके तो विज्ञात अतीन्द्रिय क्षमताएँ और अविज्ञात दिव्य विभूतियाँ जागृत, सक्षम एवं क्रियाशील हो सकती है । तपस्वी, योगी, ऋषि, मनीषी, महामानव सिद्ध पुरुष ऐसी ही विभूतियों से सम्पन्न देखे गए है । तथ्य शाश्वत और सनातन हैं । जो कभी हो चुका है वह अब भी हो सकता है । जीवन देवता की साधना से ही महा सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । कस्तूरी के हिरण जैसी बात है । बाहर खोजने में थकान और खीझ ही हाथ लगती है । शान्ति तब मिलती है जब उस सुगन्ध का केन्द्र अपनी ही नाभि में होने का पता चलता है । परमात्मा के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिए अन्यत्र खोजबीन करने की योजना व्यर्थ है । वह एक देशकाल तक सीमित नहीं है, कलेवरधारी भी नही, उसे अति निकटवर्ती क्षेत्र में देखना हो तो वह अपना अन्तःकरण ही हो सकता है । समग्र जीवन इसी की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है ।

गीताकार ने उस परब्रह्म को श्रद्धा में ही समाहित बताया है और कहा है कि जिसकी जैसी श्रद्धा हो वह वैसा ही है, जो अपने को जैसा मानता है वह वैसा ही बन जाता है । यदि अपने को तुच्छ और हेय समझते रहा जायेगा तो व्यक्तित्व उसी ढाँचे मे ढल जायेगा । जिसने अपने अन्दर में महानता आरोपित की है उसे अपना अस्तित्व मानवी गरिमा से ओत-प्रोत दिखाई पड़ेगा ।

परमात्मा सब कुछ करने में समर्थ है । उसमें समस्त विभूतियाँ विद्यमान हैं । इसी शास्त्र वचन को यों भी कहा जा सकता है कि उसका प्रतीक प्रतिनिधि-उत्तराधिकार युवराज भी, अपने सृजेता की विशेषताओं से सम्पन्न हैं । कठिनाई तब पड़ती है जब आत्म-विस्मृति का अज्ञानान्धकार अपनी सघनता से वस्तु स्थिति को आच्छादित कर लेता है । अँधेरे में झाड़ी को भूत और रस्सी को साँप के रूप में देखा जाता है । जिधर भी कदम बढ़ाया जाय उधर ही ठोकरें लगती हैं; किन्तु यदि प्रकाश की व्यवस्था बन जाय तो सब कुछ यथावत दिखाई पड़ेगा । आत्म-बोध को उस प्रकाश का उदय माना जाता है, जिसमें अपने सही स्वरूप का आभास भी मिलता है और सही मार्ग ढूँढने में भी विलम्ब नहीं लगता ।

भेड़ों के झुण्ड में पले सिंह शावक की कथा सर्वविदित है । अपने इर्द-गिर्द का वातावरण और प्रचलन मनुष्य को अपने ही समूह मे घसीट ले जाता है पर जब आत्म-बोध होता है तब पता चलता है कि आत्म-सत्ता "शुद्धोऽसि-बुद्धोऽसि-निरंजनोऽसि" के सिद्धान्त को अक्षरशः चरितार्थ करती है । "मनुष्य भटका हुआ देवता है", इस कथन में उसका सही विश्लेषण देखा जा सकता है । यदि भटकाव दूर हो जाय तो समझना चाहिए की समस्त समस्याओं का हल निकल आया । समस्त भवबन्धनों से छुटकारा मिल गया । मोक्ष और कुछ नही अपने सम्बन्ध में जो अचिन्त्य चिन्तनवश भूल हो गई है; उससे त्राण पा लेने का परम पुरुषार्थ है । मकड़ी अपने लिए जाला अपने भीतर का द्रव निकाल कर स्वयं ही बुनती है, स्वयं ही उसमें उलझती और छटपटाती है; किन्तु देखा यह भी गया है कि जब उसे उमंग उठती है तो उस जाले को समेट-बटोर कर स्वयं ही निगल भी जाती है । हेय जीवन स्वकृत है । जैसा सोचा गया, चाहा गया, माना गया वैसी ही परिस्थितियाँ बन गईं । अब उसे बदलने का मन हो तो मान्यताओं, आकांक्षाओं और गतिविधियों को उलटने

की देर है। निकृष्ट को उत्कृष्ट बनाया जा सकता है। क्षुद्र से महान बना जा सकता है।

"साधना से सिद्धि" का सिद्धान्त सर्वमान्य है। देखना इतना भर है कि साधना किसकी की जाय। अन्यान्य इष्टदेवों के बारे में कहा नहीं जा सकता कि उनका निर्धारित स्वरूप और स्वभाव वैसा है या नहीं, जैसा कि सोचा, जाना गया है। इसमें सन्देह होने का कारण भी स्पष्ट है। समूची विश्व-व्यवस्था एक है। सूर्य, चन्द्र, पवन आदि सार्वभौम हैं। ईश्वर भी सर्वजनीन है, सर्वव्यापी भी फिर उसके अनेक रूप कैसे बने ? अनेक आकार-प्रकार और गुण स्वभाव का उसे कैसे देखा गया ? मान्यता यदि यथार्थ है तो उसका स्वरूप सार्वभौम होना चाहिए। यदि वह मतमतान्तरों के कारण अनेक प्रकार का होता है, तो समझना चाहिए कि यह मान्यताओं की ही चित्र-विचित्र अभिव्यक्तियाँ हैं। ऐसी दशा में सत्य तक कैसे पहुँचा जाय ? प्रश्न का सही उत्तर यह है कि जीवन को ही जीवित जागृत देवता माना जाय। उसके ऊपर चढ़े कषाय-कल्मषों का परिमार्जन करने का प्रयत्न किया जाय। अंगार पर राख की परत जम जाने पर वह काला कलूटा दिख पड़ता है, पर जब वह परत हटा दी जाती है तो भीतर छिपी अग्नि स्पष्ट दीखने लगती है। साधना का उद्देश्य इन आवरण आच्छादनों को हटा देना भर है। इसे प्रसुप्ति को जागरण में बदल देना ही कहा जा सकता है।

आध्यात्म विज्ञान के तत्ववेत्ताओं ने अनेक प्रकार के साधना उपचार बताये हैं। यदि गम्भीरतापूर्वक उनका विश्लेषण विवेचन किया जाय तो प्रतीत होगा कि यह प्रतीक पूजा और कुछ नहीं मात्र आत्म-परिष्कार का ही बाल बोध स्तर का प्रतिपादन है। पात्रता और प्रखरता का अभिवर्धन ही योग और तप का लक्ष्य है। पात्रता एक चुम्बक है जो अपने उपयोग की वस्तुओं-शक्तियों को अपनी ओर सहज की आकर्षित करती रहती है। मनुष्य में विकसित हुए देवत्व का चुम्बक संसार में संव्याप्त शक्तियों और परिस्थितियों को अपनी ओर आकर्षित करता रहा है। जलाशय गहरे होते हैं। सब ओर से पानी सिमटकर इकट्ठा होने के लिए उनमें जा पहुँचता है। समुद्र में सभी नदियाँ जा मिलती हैं। यह उसकी गहराई का ही प्रतिफल है। पर्वत की चोटियों पर यदि शीत की अधिकता से बर्फ जम भी जाय तो गर्मी पड़ते ही पिघल जाती है और नदियों से होकर समुद्र में पहुँच कर रुकती है। इसी को कहते हैं "पात्रता"। पात्रता का अभिवर्धन ही साधना का मूलभूत उद्देश्य है। ईश्वर को न किसी की मनुहार चाहिए और न उपहार। वह छोटी-मोटी भेंट पूजाओं से या स्तवन गुणगान से प्रसन्न नहीं होता। ऐसी प्रकृति तो क्षुद्र लोगों की होती है। भगवान का ऐसा मानस नहीं। वह न्यायनिष्ठ और विवेकवान है। व्यक्तित्व में उत्कृष्ट आदर्शवादिता का समावेश होने पर जो गरिमा उभरती है उसी के आधार पर वह प्रसन्न होता और अनुग्रह बरसाता है। उसे फुसलाने बर्गलाने का प्रयास करने वालों की बाल क्रीड़ा निराशा ही प्रदान करती है।

ऋषि ने पूछा—"कस्मै देवाय हविषा विधेम" अर्थात् "हम किस देवता के लिए यजन करें" ? उसका सुनिश्चित उत्तर है आत्म-देव के लिए। अपने आप को चिन्तन, चरित्र और व्यवहार की कसौटियों पर खरा सिद्ध होना ही वह स्थिति है जिसे सो टंच सोना कहते हैं। पेड़ पर फल-फूल ऊपर से टपक कर नहीं लदते, वरन् जड़ें जमीन से जो रस खींचती है उसी से वृक्ष बढ़ता है और फलता-फूलता है। जड़ें अपने अन्दर है, जो समूचे व्यक्तित्व को प्रभावित करती है। इसी प्रखरता के आधार पर वे सिद्धियाँ-विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। जिनके आधार पर आध्यात्मिक महानता और भौतिक प्रगतिशीलता के उभय-पक्षीय लाभ मिलते हैं। यही उपासना, साधना और आराधना का समन्वित स्वरूप है। यही वह साधना है जिसके आधार पर सिद्धियाँ और सफलताएँ सुनिश्चित बनती है। दूसरे के सामने हाथ पसारने, गिड़गिड़ाने भर से पात्रता के अभाव में कुछ प्राप्त नही होता। भले ही वह दानी परमेश्वर ही क्यों न हो। कहा गया है कि ईश्वर केवल उनकी सहायता करता है, जो अपनी सहायता आप करते है, अपनी सहायता करने को तत्पर हैं। आत्म-परिष्कार, आत्म-शोधन, यही जीवन साधना है। इसी को परम पुरुषार्थ कहा गया है। जिसने इस लक्ष्य को समझा, जानना चाहिए कि उन्होंने आध्यात्म तत्व-ज्ञान का रहस्य और मार्ग हस्तगत कर लिया। चरम लक्ष्य तक पहुँचने का राजमार्ग पा लिया।

## त्रिविध प्रयोगों का संगम-समागम

गंगा, यमुना, सरस्वती के मिलन से तीर्थराज त्रिवेणी संगम बनता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश देवाधिदेव हैं। इसी प्रकार सरस्वती, लक्ष्मी, काली शक्तियों की अधिष्ठात्री हैं। मृत्यु लोक, पाताल और स्वर्ग यह तीन लोक हैं। गायत्री के तीन चरण हैं, जिन्हें वेदमाता, देवमाता, विश्वमाता, के नाम से जाना जाता है। जीवन-सत्ता के भी तीन पक्ष हैं, जिन्हें चिन्तन, चरित्र और व्यवहार कहते हैं। इन्हीं को ईश्वर, जीव, प्रकृति कहा गया है। तथ्य को और भी अधिक स्पष्ट करना हो तो इन्हें आत्मा, शरीर और संसार कह सकते हैं। यह त्रिवर्ग ही में हमें सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। उद्भव, अभिवर्धन और विलयन के रूप में प्रकृति की अनेकानेक हलचलें इसी आधार पर चलती रहती हैं।

जीवन तीन भागों में बँटा हुआ है—(१) आत्मा, (२) शरीर और (३) पदार्थ सम्पर्क। शरीर को स्वस्थ और सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया जाता है। आत्मा को परिष्कृत और सुसंस्कृत बनाया जाता है तथा संसार में से वैभव और विलास के सुविधा-साधन सँजोये जाते हैं। परिवार समेत समूचा सम्पर्क क्षेत्र भी इसी परिधि में आता है। जीवन साधना का समग्र रूप वह है जिसमें इन तीनों का स्तर ऐसा बना रहे, जिससे प्रगति और शान्ति की सुव्यवस्था बनी रहे।

इन तीनों में प्रधान चेतना है, जिसे आत्मा भी कह सकते हैं। दृष्टिकोण इसी के स्तर पर विनिर्मित होता है। इच्छाएँ, भावनाएँ, मान्यताओं का रुझान किस ओर हो, दिशाधारा और रीति-नीति क्या अपनाई जाय, इसका निर्णय अन्तःकरण ही करता है। उसी के अनुरूप गुण, कर्म, स्वभाव बनते हैं। किस दिशा में चला जाय? क्या किया जाय? इसके निमित्त संकल्प उठना और प्रयत्न बन पड़ना भी आत्मिक क्षेत्र का निर्धारण है। इसीलिए आत्म-बल को जीवन की सर्वोपरि सम्पदा एवं सफलता माना गया है। इसी के आधार पर सयम जन्य स्वास्थ्य में प्रगति होती है। मन में ओजस्, तेजस् और वर्चस्कारी प्रतिभा चमकती है। बहुमुखी सम्पदाएँ इसी पर निर्भर हैं। इसलिए जीवन साधना का अर्थ प्रधानतया 'आत्मिक प्रगति' होता है। वह गिरती-उठती है, तो समूचा जीवन गिरने-उठने लगता है। इसलिए जीवन साधना को आत्मोत्कर्ष प्रधान मानना चाहिए। उसी के आधार पर शरीर व्यवस्था, साधन संचय और मन सम्पर्क का ढाँचा खड़ा करना चाहिए। ऐसा करने पर तीनों ही क्षेत्र सुव्यवस्थित बनते रहते हैं और जीवन को समग्र प्रगति, सफलता या सार्थकता के लक्ष्य तक पहुँचाया जा सकता है।

आत्मिक प्रगति का सार्वभौम उपाय एक ही है—क्रिया कृत्यों के माध्यम से आत्म-शिक्षण। इसे प्रतीक पूजा भी कह सकते हैं। मनुष्य के मानस की बनावट ऐसी है कि वह किन्हीं जानकारियों से अवगत तो हो जाता है, पर उसे *व्यवहार में उतारना क्रिया अभ्यास* के बिना सम्भव नहीं होता। यह अभ्यास ही वे उपासना कृत्य हैं, जिन्हें योगाभ्यास, तपश्चर्या, जप, ध्यान, प्राणायाम, प्रतीक पूजा आदि के नाम से जाना जाता है। इनमें अंग संचालन, मन का केन्द्रीकरण एवं उपचार सामग्री का प्रयोग यह तीनों ही आते हैं। अनेक धर्म सम्प्रदायों में पूजा विधान अलग-अलग प्रकार से है, तो भी उनका अभिप्राय और उद्देश्य एक ही है—आत्म-शिक्षण, भाव सम्वेदनाओं का उन्नयन। यदि यह लक्ष्य जुड़ा हुआ न होता तो उसका स्वरूप मात्र चिन्ह पूजा जैसा, लकीर पीटने जैसा रह जाता है। निष्प्राण शरीर का मात्र आकार तो बना रहता है, पर वह कुछ कर सकने में समर्थ नहीं होता। इसी प्रकार ऐसे पूजा-कृत्य, जिसमें साधक की भाव सम्वेदना के उन्नयन का उद्देश्य पूरा न होता हो, आत्म-शिक्षण आत्मिक प्रगति का प्रयोजन पूरा न कर सकेंगे।

इन दिनों यही चल रहा है। लोग मात्र पूजा कृत्यों के विधान भर किसी प्रकार पूरे करते हैं और उसके साथ भाव सम्वेदनाओं को जोड़ने का प्रयत्न नहीं करते, आवश्यकता तक नहीं समझते। फलतः उनमें संलग्न लोगों में से अधिकांश के जीवन में विकास के कोई लक्षण दीख नहीं पड़ते। कृत्यों से देवता को प्रसन्न करके उनसे मन चाहे वरदान माँगने की बात की कोई तुक नहीं। इसलिए उस बेतुकी प्रक्रिया का अभीष्ट परिणाम हो भी कैसे सकता है। एक ही देवता के दो भक्त परस्पर शत्रु भी हो सकते हैं। दोनों अपनी-अपनी मर्जी की याचना कर सकते हैं। ऐसी दशा में देवता असमंजस में फँस सकता है कि किसकी मनोकामना पूरी करें, किसकी न करें। फिर

देवता पर भी रिश्वतखोर होने का, चापलूसी पसन्द सामन्त जैसा स्तर होने का आरोप लगता है । कितने लोग हैं, जो पूजा कृत्य अपनाने के साथ इस गम्भीरता में उतरते हैं और यथार्थता को समझने का प्रयत्न करते हैं ? अन्धी भेड़ चाल अपनाने पर समय की बर्बादी के अतिरिक्त और कुछ हस्तगत हो भी नहीं सकता ।

हमें यथार्थता समझना चाहिए और वह यथार्थवादी क्रम अपनाना चाहिए, जिससे आत्मिक प्रगति के लक्ष्य तक पहुँचा और उसके साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई सर्वतोन्मुखी प्रगति का लाभ उठाया जा सके ।

शरीर पोषण के लिए तीन अनिवार्य साधनों की आवश्यकता होती है—(१) आहार, (२) जल और (३) वायु । ठीक इसी प्रकार आत्मिक प्रगति की आवश्यकता पूरी करने के लिए तीन माध्यम अपनाने होते हैं—(१) उपासना, (२) साधना और (३) आराधना । इन शब्दों का और भी अधिक स्पष्टीकरण इस प्रकार समझना चाहिए ।

उपासना का अर्थ है निकट बैठना । किसके ? ईश्वर के । ईश्वर निराकार है । उसकी प्रतिमा या छवि तो ध्यान धारण की सुविधा के लिए विनिर्मित की जाती है । मानवी अन्तःकरण के साथ उसकी घनिष्ठता उत्कृष्ट चिन्तन के—आदर्शवादी भाव सम्वेदन के रूप में ही होती है । यही भक्ति का, ईश्वर सान्निध्य का, ईश्वर दर्शन का वास्तविक रूप है । यदि साकार रूप में उसका चिन्तन करना हो तो किसी कल्पित प्रतिमा में इन्हीं दिव्य सम्वेदनाओं के होने की मान्यता और उसके साथ अविच्छिन्न जुडे होने के रूप मे किया भी जा सकता है । ऐसे महामानव जिन्होंने आदर्शों का परिपालन और लोकमंगल के लिए समर्पित होने के रूप में अपने जीवन का उत्सर्ग किया, उन्हें भी प्रतीक माना जा सकता है । राम, कृष्ण, बुद्ध, गाँधी आदि को भगवान का अंशावतार कहा जा सकता है । उन्हें इष्ट मानकर उसके ढाँचे मे ढलने का प्रयत्न किया जा सकता है । इस निमित्त किया गया पूजा प्रयास उपासना कहा जायेगा ।

दूसरा चरण है—साधना । जिसका पूरा नाम है जीवन साधना । इसे चरित्र निर्माण भी कहा जा सकता है । चिन्तन में भाव सम्वेदनाओ का समावेश तो उपासना क्षेत्र में चला जाता है, पर शरीरचर्या की धाराविधा जीवन साधना में आती है । इसमें आहार-विहार, रहन-सहन, संयम, कर्तव्यों का परिपालन, सद्गुणों का अभिवर्धन, दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन आदि आते हैं । संयमशील, अनुशासित और सुव्यवस्थित क्रिया-कलाप अपनाना जीवन साधना कहा जायेगा । जिस प्रकार जंगली पशु को सर्कस का प्रशिक्षित कलाकार बनाया जाता है, जिस प्रकार किसान ऊबड़-खाबड़ जमीन को समतल करके उसे उर्वर बनाता है, जिस प्रकार माली सुनियोजित ढंग से अपना उद्यान लगाता और सुरम्य बनाता है, उसी प्रकार जीवन वैभव का श्रेष्ठतम सदुपयोग करने लगना जीवन साधना है । व्यक्तित्व को पवित्र, प्रामाणिक, प्रखर बनाने की प्रक्रिया जीवन साधना है । यह बन पड़ने पर ही आत्मा में परमात्मा का अवतरण सम्भव होता है । धुले हुए कपड़े की ही रंगाई ठीक तरह होती है । चरित्रवान् व्यक्ति ही सच्चे अर्थों में भगवद् भक्त बनते हैं । दैवी वरदान ऐसे ही लोगों पर बरसते हैं । स्वर्ग, मुक्ति, सिद्धि, तुष्टि, तृप्ति, शान्ति जैसी दिव्य विभूतियों से मात्र चरित्रवान् ही सम्पन्न होते हैं । उनमें सद्भावना, शालीनता, सुसंस्कारिता के सभी लक्षण उभरे हुए दीखते हैं । सामान्य स्थिति में रहते हुए भी ऐसे ही लोग महामानव, देव मानव बनते है ।

तीसरा चरण है—आराधना । इसे अभ्यर्थना, अर्चन भी कहते हैं । दूसरे शब्दों में इसी को पुण्य-परमार्थ, लोकमंगल, जन-कल्याण आदि भी कहते है । यह संसार विराट् ब्रह्म का साकार स्वरूप है । इसमें निवास करने वाले प्राणियों और पदार्थों का, परिस्थितियों का सुनियोजन करने में संलग्न रहना आराधना है । सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य प्रकारान्तर से सभी का ऋणी है । इसकी भरपाई करने के लिए उसे परमार्थ होना ही चाहिए ।

साधना, स्वाध्याय, संयम और सेवा के चार आधार सर्वतोन्मुखी प्रगति के लिए आवश्यक माने गए हैं । जीवन साधना में स्वाध्याय की, संयमशीलता की और लोकमंगल के लिए निरन्तर समयदान, अंशदान लगाते रहने की आवश्यकता पड़ती है । सेवा कार्यों के लिए समयदान, श्रमदान अनिवार्य रूप से आवश्यक है । इसके बिना पुण्य-संचय की बात बनती ही नहीं । संयम तो अपने शरीर, मन और स्वभाव में स्वयं

साधा जा सकता है, पर सेवाधर्म अपनाने के लिए समय दान के अतिरिक्त साधन दान की भी आवश्यकता पड़ती है । उपार्जित आजीविका का सारा भाग पेट परिवार के लिए ही खर्च नहीं करते रहना चाहिए, वरन् उसका एक महत्त्वपूर्ण अंश लोकमंगल के लिए भी नियमित और निश्चित रूप से निकालते रहना चाहिए । उपासना, साधना और आराधना को, चिन्तन, चरित्र और व्यवहार को परिष्कृत करने की प्रक्रिया को नित्य कार्य मे, नित्य नियम में सम्मिलित रखना चाहिए । उनमें से किसी एक को यदाकदा कर लेने से काम नहीं चलता । भोजन, श्रम और शयन यह तीनों ही नित्य करने पड़ते हैं । इनमें से किसी को यदाकदा न्यूनाधिक मात्रा में मन मर्जी से कर लिया जाया करे, तो उस अस्तव्यस्तता के रहते न तो स्वास्थ्य ठीक रह सकता है और न व्यवस्थित उपक्रम चल सकता है । फिर किसी प्रयोजन में सफल हो सकना तो बन ही किस प्रकार पड़े ?

जीवन एक सुव्यवस्थित तथ्य है । वह न तो अस्त-व्यस्त है और न कभी कुछ करने, कभी न करने जैसा मनमौजीपन । पशु-पक्षी तक एक नियमित प्रकृति व्यवस्था के अनुरूप जीवन-यापन करते हैं, फिर मनुष्य तो सृष्टि का मुकुटमणि है । उसके ऊपर मात्र शरीर निर्वाह का ही नहीं कर्तव्यों और उत्तरदायित्व के परिपालन का अनुशासन भी है । उसे मानवी उदारता के अनुरूप मर्यादाएँ पालनी और वर्जनाएँ छोड़नी पड़ती हैं । इतना ही नहीं वह पुण्य-परमार्थ भी विशेष पुरुषार्थ के रूप मे अपनाना पड़ता है, जिसके लिए सृष्टा ने अपना अजस्र अनुदान देते हुए आशा एवं अपेक्षा रखी है । इतना सब बन पड़ने पर ही उसे उस लक्ष्य की प्राप्ति होती है जिसे ईश्वर की प्राप्ति या महानता की उपलब्धि कहा जाता है ।

जीवन साधना नकद धर्म है । इसके प्रतिफल प्राप्त करने के लिए लम्बे समय की प्रतीक्षा नही करनी पड़ती । "इस हाथ दे, उस हाथ ले" का नकद सौदा इस मार्ग पर चलते हुए हर कदम पर फलित होता रहता है । एक कदम आगे बढ़ने पर मंज़िल की दूरी उतनी फुट कम होती है । साथ ही जो पिछड़ापन था, वह पीछे छूटता है । इसी प्रकार जीवन साधना यदि तथ्यपूर्ण, तर्क सगत और विवेकपूर्ण स्तर पर की गई हो तो उसका प्रतिफल दो रूप में हाथों हाथ मिलता चलता है । एक संचित पशु-प्रवृत्तियों का अभ्यास छूटता है, वातावरण की गन्दगी से ऊपर चढ़े कषाय-कल्मष घटते हैं । दूसरा लाभ यह होता है कि नर-पशु से नर-देव बनने के लिए जो प्रगति करनी चाहिए उसकी व्यवस्था सही रूप से बन पड़ती है । स्वयं को अनुभव होता है कि व्यक्तित्व निरन्तर उच्चस्तरीय बन रहा है । उत्कृष्टता और आदर्शवाद की दोनों ही उपलब्धियाँ निरन्तर हस्तगत हो रही हैं । यही है वह उपलब्धि, जिसे जीवन की सार्थकता, सफलता एवं मनुष्य में देवत्व का प्रत्यक्ष अवतरण कहते हैं । तत्व ज्ञान की भाषा में इसी को ईश्वर प्राप्ति, भव बन्धनों से मुक्ति, परम सिद्धि अथवा स्वर्ग सोपान में प्रविष्टि कहा जाता है । इन सहज उपलब्धियों से वंचित इसलिए रहना पड़ता है कि न तो जीवन साधना का दर्शन ठीक तरह समझा जाता है और न जानकारी के अभाव में सही प्रयोग का अभ्यास बन पड़ता है ।

## उपार्जन ही नहीं, सदुपयोग भी

अभी भी संसार के कितने ही क्षेत्रों में ऐसे पिछड़े स्तर के मनुष्य रहते हैं, जिनके स्तर एवं साधनों में आदिम काल की अपेक्षा बहुत थोड़ा ही सुधार परिष्कार हुआ है । इसका कारण एक ही है सभ्य संसार के साथ घुलने मिलने से कतराना और उपायों को अपनाने के लिए आकर्षित न होना जिनके सहारे सुविधा साधन बढाये और प्रगति के उपलब्ध साधन हस्तगत किए जा सकते है । अलगाववादी प्रवृत्ति से इर्द-गिर्द के क्षेत्र में बढ़े-चढ़े विकास क्रम के साथ उनका सम्बन्ध जुड़ न सका । एकाकी अलग-थलग व्यक्ति अपनी अविकसित अन्त.प्रेरणा के आधार पर सर्वतोन्मुखी विकास कर सके यह सम्भव नही । पिछड़े हुए क्षेत्रो और वर्गों मे यह कठिनाई छाई रही है कि वे सभ्यता को अपनाने के लिए स्वेच्छापूर्वक आगे बढ़ नही सके । दूसरो ने उनके पीछे पड़कर येन-केन-प्रकारेण उन्हें प्रगतिशीलता के साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिए बाधित भी नही किया । फलस्वरूप आदिम काल से मिलती-जुलती परिस्थिति से घिरे हुए अनेक मनुष्यो को, कबीलो को अभी भी दयनीय स्थिति मे गुजर करते हुए देखा जा सकता है ।

यह तथ्य न्यूनाधिक मात्रा में अधिकांश लोगो पर लागू होता है । उनकी प्रगति, सम्पन्नता, चतुरता एक पक्षीय रहती है । शरीर को निर्वाह के, मनोरंजन के साधन चाहिए । उन्हें जुटाने में ही अधिकांश समय, श्रम, मनोयोग एवं अनुभव खप जाता है । ऐसा आमतौर से होता है क्योंकि शरीर को ही सब कुछ माना जाता है, उसी को अपना समग्र स्वरूप समझा जाता है और शारीरिक प्रसन्नता, सुविधा का सम्पादन ही सफलता का चिन्ह माना जाता है । अभिरुचि ही कोई दिशा धारा अपनाती है । जिस दिशा में तत्परता, तन्मयता बढ़ती है, उसी क्षेत्र की उपलब्धियाँ भी हस्तगत होती है । शरीर को सुविधा देने वाली साधन सम्पदा का उपार्जन-उपभोग ही जीवन का लक्ष्य बनकर रह गया है । इसलिए उसी स्तर के उपार्जन-अभिवर्धन का माहौल बना और उत्साहवर्धक स्तर की सफलताएँ प्राप्त हुई है । मनःस्थिति ही परिस्थितियों की निर्मात्री है । इच्छा, संकल्प और पुरुषार्थ का समन्वय ही उस उपार्जन का श्रेयाधिकारी माना जा सकता है, जो व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से हम सब को उपलब्ध है ।

प्रस्तुत प्रगति को भौतिक प्रगति कहा जाता है, क्योंकि उसमें पंचतत्वों से बने भौतिक शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य पदार्थों को प्राप्त करना, उन्हें अनुकूल ढाँचे में ढालना, यही जीवन भर होता रहा है । जन्म से लेकर मरण पर्यन्त यही क्रम चलता रहता है । चिरकाल से इसी दिशा मे सोचा जाता और प्रयास किया जाता रहा है । फलस्वरूप वे सुविधा, सम्पदाएँ सामने हैं जो वैज्ञानिक आविष्कारों और निर्णयों के आधार पर विनिर्मित की गई हैं ।

विज्ञान के दो पक्ष हैं । एक पदार्थ विज्ञान, दूसरा चेतना विज्ञान "आत्म-विज्ञान ।" दोनों का अपना-अपना कार्यक्षेत्र और अपना-अपना प्रतिफल है । चेतना के, आत्मा के सम्बन्ध मे लोग कुछ कहते सुनते तो रहते है, पर उस सत्ता का स्वरूप, उद्देश्य, आनन्द खोजने के लिए उत्साहित नहीं होते । कारण भौतिक क्षेत्र के लिए आकर्षित उत्तेजित हुई मनोभूमि अपना समूचा चिन्तन और कर्तृत्व इसी एक केन्द्र पर नियोजित किए रहती है । यह सब चलता और बढ़ता भी इसलिए रहता है कि उसके लाभ परिणाम तत्काल प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होते हैं । जबकि चेतना का आत्मिक क्षेत्र गहराई में उतरने, अन्तर्मुखी होने और बारीकी से समझने पर ही स्पष्ट होता है । इतना झंझट कौन उठाये ? तात्विक दृष्टिकोण कौन अपनाये ? उथला स्तर उथली उपलब्धियों से ही सन्तुष्ट हो जाता है । बच्चों के लिए गुब्बारा, झुनझुना, चॉकलेट, बिस्कुट ही बहुत कुछ है । उसे बालू के घरोंदे बनाने और टूटी टहनियों के बगीचे लगाने में उत्साह रहता है क्योंकि उन कृतियों का प्रतिफल चर्मचक्षुओं से दृष्टिगोचर होता है । बाल बुद्धि की सीमा प्रत्यक्ष वाद तक ही सीमित है । जो तत्काल हाथ लगा वही सब कुछ है । इन प्रयासों की मानवी परिणति प्रतिक्रिया क्या हो सकती है, यह सोच सकना दूरदर्शी विवेकशीलता का काम है, किन्तु कठिनाई यह है कि उस दिव्य दृष्टि को विकसित होने का अवसर ही नहीं मिला । कल्पना, विचारणा, कुशलता, चतुरता जैसे सभी पक्ष भौतिक उत्पादन, उपभोग में ही लगे रहते हैं । इतना अवसर, अवकाश ही नहीं मिलता कि चेतना की सत्ता, शक्ति और महत्ता को गम्भीरतापूर्वक समझने का प्रयत्न कर सके ।

शरीर प्रत्यक्ष दीखता है । वैभव प्रत्यक्ष दीखता है । विनोद का प्रत्यक्ष अनुभव होता है । वाहवाही लूटने में भी अहंता की पूर्ति होती है । इसी परिधि में सामान्य जन सोचते और दौड़ धूप करते पाये जाते है । इन संसाधनों में सम्पन्न बनाने में पदार्थ विज्ञान ने सहायता की है । जब ध्यान केन्द्रित हुआ तो इच्छा एवं खोज भी चल पड़ी । फलतः उपलब्धियाँ हस्तगत होती और बढ़ती चली गई । स्थिति सामने है । प्रेस, रेडियो, टेलीविजन, बल्ब, पखे, हीटर, कूलर, तार, डाक, रेल, मोटर, जलयान, वायुयान, कल-कारखाने आदि अनेकानेक उपकरण सुविधा सँजोने के लिए सामने खड़े हैं । यह समस्त संसार पदार्थ को अपने ढंग से ढालने और उसके उपयोग करने में नियोजित है । इनके सहारे सुविधा सम्पन्नता के नये-नये क्षेत्र हाथ लगते चले गए हैं । भाषा, लिपि दर्शन, शिल्प, चिकित्सा आदि क्षेत्रो में आश्चर्यजनक अनुसन्धान हुए हैं । युद्ध में प्रयुक्त होने वाले ऐसे अस्त्र-शस्त्र विनिर्मित हुए हैं जिनके सहारे एक सामान्य व्यक्ति क्षण भर मे असख्यो को धराशायी कर सकता है । यह सब पदार्थ विज्ञान की देन है । इनका यदि सदुपयोग बन पड़े तो निःसन्देह मनुष्य इतना सुखी, सन्तुष्ट, प्रसन्न एवं समुन्नत बन सकता है, जितना कि स्वर्गलोकवासियों के सम्बन्ध में

सोचते और वैसा सुयोग प्राप्त करने के लिए हम ललचाते रहते हैं ।

आश्चर्य इस बात का है कि तथाकथित प्रगति की चरम सीमा के निकट पहुँच जाने पर भी मानवी सत्ता दिन-दिन दुर्बल होती जाती है । अस्वस्थता, दरिद्रता, कलह, उद्वेग, अशान्ति, असुरक्षा, आशंका की विपन्नता सामने आती जाती है । अपराध तेजी से बढ़ रहे हैं । पारस्परिक अविश्वास भय-आतंक की परिधि छूने लगे हैं । परिवार टूटते जा रहे हैं । जो किसी तरह एक घर में निवास करते देखे जाते हैं उनके बीच भी मनो-मालिन्य, असन्तोष-अविश्वास सुलगता देखा जाता है । चैन कहीं नहीं, किसी को नहीं, व्यक्तित्वों का स्तर गिर रहा है । प्रतिभाएँ बुझ रही है । मानवी गरिमा को ज्वलन्त रखने वाली चिन्तन की उत्कृष्टता और चरित्र की आदर्शवादिता घटती-मिटती जा रही है । मनुष्य शरीर धारण किए होने पर भी लोग श्मशानवासी भूत-पलीत की मनःस्थिति लिए हुए डरते-डराते जीवन व्यतीत करते देखे जाते हैं । दुर्व्यसनों की पकड़ इस प्रकार बढ़ती एवं प्रचण्ड होती जाती है, जिनकी तुलना पौराणिक कथा में ग्राह द्वारा ग्रसे गए गज से की जा सके ।

वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक सभी क्षेत्रो मे अनुपयुक्तता, अवांछनीयता के अराजकता स्तर के घटाटोप छाये हुए हैं । सम्पदा-सुविधा का बाहुल्य होते हुए भी उसके वितरण का समावेश नहीं हो रहा है । फलतः अमीर अधिक अमीर और गरीब अधिक गरीब होते जा रहे है । हर क्षेत्र में अपने-अपने ढंग की उद्दण्डता उभर रही है । मर्यादाएँ टूट रही है । वर्जनाओं की परवाह नही की जा रही है । "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाला "मत्स्य न्याय" व्यापक क्षेत्र पर अपना अधिकार जमाता चला जा रहा है । ऐसी दशा में शान्ति की, एकता, समता की घटोत्तरी होते जाना स्वाभाविक है ।

इसे विडम्बना ही कहना चाहिए कि एक ओर जहाँ सुविधा सम्पदा की बढ़ोत्तरी होती जा रही है । वहाँ दूसरी ओर उनके लिए तरसने वालो की संख्या बढ़ती जाती है । जिनके पास प्रचुर साधन हैं, वे मिल बाँट कर खाने की बात नही सोचते, वरन् उपभोग मे आ सकने की सीमा से बाहर जो बचता है उसे विनाशकारी आत्मघाती, दुष्प्रयोजनों में लगा रहे हैं । फलतः उन्हें भी ईर्ष्या का, अनीति का कड़वा प्रतिफल हाथों-हाथ भोगना पड़ता है । चैन से वे भी नहीं बैठ पाते । जहाँ भूख से अगणित लोग प्राण पाते हैं, वहाँ अधिक खाने से उत्पन्न अपच भी सुसम्पन्नों के लिए विपत्ति का कारण बनता है । सम्पन्न और विपन्न दोनों ही वर्ग अपने-अपने ढंग से अपने-अपने कारणों से दुःख सहते और विपत्ति में फँसते देखे जाते हैं ।

इन विसंगतियों का कारण एक ही है—चेतना क्षेत्र में निष्ठा का अत्यधिक ह्रास । यदि मानवी गरिमा को ध्यान में रखा गया होता, आदर्शों का परिपालन बन सका होता तो यह अवांछनीयता की स्थिति न आती । इन दिनों वैयक्तिक और सामाजिक क्षेत्रों में कुप्रचलन संव्याप्त है । उनका प्रभाव सामान्यजनों पर पड़े बिना नहीं रहता । संचित कुसंस्कार भी उभरते रहते हैं । देखा यही जाता है कि पतन की दिशा में अनायास ही मन चलता है और ऐसा कृत्य बन पड़ता है, जिसे पशु-प्रवृत्तियो का पक्षधर ही कहा जा सके । इन कारणों से जन-सामान्य की मनःस्थिति पतनोन्मुख ही बनी रहती है । इसी का परिणाम है कि शालीनता को अक्षुण्ण रख सकना कठिन हो जाता है । भ्रष्ट चिन्तन और दुष्ट चरित्र का परिणाम वैसा ही होना चाहिए जैसा कि इन दिनो व्यापक रूप से दृष्टिगोचर हो रहा है ।

हाथी को अंकुश से, घोडे को लगाम से, ऊँट को नकेल से, बैल को डण्डे के सहारे वशवर्ती रखा जाता है और उपयोगी कृत्य करने के लिए बाधित किया जाता है । मनुष्य को धर्म धारणा के सहारे कुकर्मों से बचाया और सन्मार्ग पर चलाया जाता है ।

उपार्जन एक बात है और सदुपयोग दूसरी । शारीरिक और मानसिक क्षमता के आधार पर किसी भी प्रकार का उपार्जन किया जा सकता है, किन्तु उसका सदुपयोग दूरदर्शी विवेक के बिना, नीति निष्ठा के बिना बन नहीं पड़ता । उस स्तर की क्षमता का होना भी सुसन्तुलन बनाये रखने के लिए आवश्यक है ।

परिमार्जन-परिशोधन का क्रम न चले तो गन्दगी एकत्रित हो जाना स्वाभाविक है । शरीर मे अनेकों मल निरन्तर बनते रहते हैं । उनका निष्कासन मल-मूत्र, श्वास, स्वेद आदि मार्गों द्वारा होता है । घर आँगन

में आये दिन जमा होने वाला कचरा झाड़ू से बुहारा जाता है । बालों और वस्त्रों की सफाई पानी और साबुन से होती है । मन में आन्तरिक दुर्बलताओं और बाहरी कुप्रभावों से मनुष्य स्वभावतः वैसे आचरण करता है जैसा कि वह कीट-पतंगों और पशु-पक्षियों की पिछड़ी योनियों में करता रहा है । इस पतनोन्मुख प्रवाह को विवेक और संयम के द्वारा मर्यादाओं और वर्जनाओं के अनुबन्ध द्वारा रोका जाता है । इस नियन्त्रण और परिष्कृत परिवर्तन के लिए काम करने वाली प्रक्रिया का नाम ही आध्यात्म है ।

## पुरातन और अर्वाचीन अन्तर का कारण

शरीर और प्राण मिलकर जीवन बनता है । इन दोनो में से एक भी विलग हो जाय तो जीवन का अन्त ही समझना चाहिए । गाड़ी के दो पहिये ही मिलकर सन्तुलन बनाते और उसे गति देते हैं । इनमें से एक को भी टूटा-फूटा, अस्त-व्यस्त नहीं होना चाहिए । अन्यथा प्राण को भूत-प्रेत की तरह अदृश्य रूप से आकाश में, लोक-लोकान्तरों में परिभ्रमण करना पड़ेगा । शरीर की कोई अन्त्येष्टि न करेगा तो वह स्वयं ही सड़-गल जायेगा ।

दैनिक अनुभव मे शरीर ही आता है । आत्मा को उसी के साथ गुँथा रहना पड़ता है । इसका प्रतिफल यह होता है कि आत्मा अपने आपको शरीर ही समझने लगती है और इसकी आवश्यकताओं से लेकर इच्छाओं तक को पूरा करने के लिए संलग्न रहती है । दूसरा पक्ष चेतना का, आत्मा का रह जाता है । उसके प्रत्यक्ष न होने के कारण प्रायः ध्यान ही नहीं जाता । फलतः ऐसा कुछ सोचते-करते नहीं बन पड़ता जो आत्मा की समर्थता एवं प्रखरता के निमित्त आवश्यक है । यह पक्ष उपेक्षित बना रहने पर अर्धांग, पक्षाघात पीड़ित जैसी स्थिति बन जाती है । जीवन का स्वरूप और चिन्तन कर्तृत्व सभी में उद्देश्यहीनता घुस पड़ती है । जीवन प्रवाह कीट पतंगो जैसा, पशु पक्षियों जैसा बन जाता है । उसमें पेट प्रजनन की ही ललक छाई रहती है । जो कुछ बन पड़ता है, वह शरीर के निमित्त ही काम आता है । भूख, कामुकता की, वासना, तृष्णा, अहंता की पूर्ति कर पाता है । लोभ, मोह और प्रशंसा—अहंता की ललक ही अहर्निश छाई रहती है । इन्हीं ललक लिप्साओं को भव बन्धन कहते हैं । इसी से जकड़ा हुआ प्राणी हथकड़ी-बेड़ी, तौक पहने हुए बन्दी की तरह जेल-खाने की सीमित परिधि मे मौत के दिन पूरे करता रहता है । इन परिस्थितियों में संकीर्ण स्वार्थ परता की पूर्ति लक्ष्य बन जाता है । समूचा चिन्तन और प्रयास इसी हेतु नियोजित रहता है । ऐसी दशा में आत्मा के सम्बन्ध में कुछ विचार करते ही नहीं बन पड़ता । उपेक्षित की पुकार कौन सुने । जिसे उसकी आवश्यकताओं से वंचित रखा गया हो, उपेक्षित तिरस्कृत किया गया हो, पोषण से वंचित रखा गया हो, वह दुर्बल तो होगा ही । अशक्तता की स्थिति में उसकी वाणी भी क्षीण हो जायेगी । कड़क कर अपनी आवश्यकता बताने और शिकायत सुनाने की स्थिति भी न रहेगी । फलतः आत्मा की सत्ता होते हुए भी उसे जब कुछ कहने, माँगने, परामर्श देने तक की स्थिति मे न रहने दिया गया हो तो समझना चाहिए कि उसके वर्चस्व का निखरना सम्भव ही नहीं रहा । शरीर के निमित्त ही अंग अवयवों की ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों की विविध-विधि हलचलें होती रहेगीं । ऐसी दशा में यदि जीवन चर्या पर संकीर्ण स्वार्थपरता ही छाई रहे और उसकी पूर्ति के लिए सुविधा, सम्पन्नता बढ़ाने, उसका उचित-अनुचित उपभोग करने की, नशेबाजी जैसी खुमारी चढ़ी रहे तो इसमे आश्चर्य ही क्या है ?

आत्म-विस्मृति ही वह दुर्भाग्य भरी दुर्दशा है, जिसके कारण मनुष्य अपने सुर दुर्लभ जीवन की गरिमा, जिम्मेदारी, सम्भावना आदि सभी कुछ भूल जाता है । भूल-भुलैयों में भटका हुआ मनुष्य मृग-तृष्णा में भटकने वाले हिरन का उदाहरण बनता है । भेड़ों के झुण्ड में पले सिंह शावक को उसी स्तर पर मिमियाने और घास खाने की कहानी प्रसिद्ध है । उसका उद्धार तब हुआ था जब पानी मे परछाईं देखने और दूसरे सिंह द्वारा वर्तमान रीति-नीति बदल डालने के लिए उसे समझाते हुए सहमत किया गया था । भृंगी कीट की कथा भी इसी से मिलती-जुलती है । भृंगी द्वारा पकड़ा हुआ कीड़ा उसका निरन्तर गुंजन सुनकर मोहित हो जाता है । वह तन्मयता इतनी बढ़ती है कि मन ही नहीं, शरीर भी उसी ढाँचे में ढल जाता है । कालान्तर

मे कीट भृंग ही बन जाता है । यों यह उदाहरण भक्त के भगवान बनने और उसके लिए साधना उपक्रम अपनाने पर भी लागू हो सकता है पर वस्तुतः वैसा होता नहीं । अपने को शरीर मात्र समझने और उसी की सेवा-सुश्रुषा में निरन्तर लगे रहने के कारण आत्मा की स्थिति भी अन्य अंग अवयवों की भाँति एक सामान्य घटक जैसी रह जाती है । उसका उपयोग इतना ही रहता है कि उसके बने रहने पर शरीर भी जीवित बना रहे । मनमौजी कर सकने के लिए जिस शक्ति सामर्थ्य की आवश्यकता है उसे उपलब्ध करता रहे ।

होना यह चाहिए कि जिस प्रकार शरीर की विभिन्न इच्छा आवश्यकताओं का ध्यान रखा जाता है, उसी प्रकार जीवन व्यवसाय के वरिष्ठ साझीदार को भी लाभांश में से उसका भाग निकाला और दिया जाय, पर होता यह है कि काम पक्ष ही सब कुछ झपट, निगल लेता है । आत्मा को निराशा और अभावग्रस्तता की स्थिति मे रहना पड़ता है । ऐसी दशा में, उसका दिन-दिन दुर्बल होते जाना स्वाभाविक है । नियन्त्रण ढीला पड़ जाने पर काया को पदार्थ सम्पदा के साथ खुलकर खेलने की छूट मिलेगी ही । उच्छृंखलता अपनाकर धृष्टता को परिपक्व करते-करते अराजकता जैसी स्थिति उत्पन्न होगी ही । यही है मनुष्य का पतन-पराभव । इसी स्थिति में दुष्टता और भ्रष्टता पनपती है । क्रिया की प्रतिक्रिया होनी अवश्यम्भावी है । चिन्तन और चरित्र यदि गये-गुजरे स्तर का हो तो उसका प्रतिफल दु.खद, संकटग्रस्त एवं विनाशकारी होगा ही । उन दुष्परिणामों को कर्त्ता स्वयं तो भोगता ही है, साथ ही अपने सम्बद्ध परिकर को भी उसी दलदल मे घसीट ले जाता है । नाव की तली मे छेद हो जाने पर उसमें बैठे सभी यात्री मँझधार में डूबते है । स्वार्थी, विलासी, कुकर्मी स्वयं तो आत्म-प्रताड़ना, लोक भर्त्सना और दैवी दण्ड विधान की आग में जलता ही है, साथ ही अपने परिवार को, सम्बन्धी, स्वजनो, मित्रो को भी अपने जाल-जंजाल मे फँसाकर अपनी ही तरह दुर्गति भुगतने के लिए बाधित करता है । नशेबाजी की क्रिया प्रतिक्रिया ऐसी ही होती है । बहु प्रजनन में व्यस्त व्यक्ति भी अदूरदर्शिता के कारण अपना, पत्नी व बच्चों का भविष्य बिगाड़ते है । बीमार का अपना परिवार भी त्रास पाता रहता है । राज दण्ड की पकड में आये हुए व्यक्ति स्वयं तो जेल भुगतते ही है, साथ ही परिवार को चिन्ता में, बदनामी में, कर्जदारी में डुबो जाते हैं । आत्मा की उपेक्षा करके उसकी भागीदारी देने में बेईमानी बरतने वाले भी इसी प्रकार के गर्त में गिरते हैं । साथ ही अपने प्रभाव क्षेत्र में भी निकृष्टता का सम्वर्धन करते हुए उन्हे भी उसी कुचक्र में फँसाते है ।

यह है संक्षिप्त विश्लेषण उस वस्तुस्थिति का, जो साधन सम्पन्नता रहते हुए भी व्यक्तित्वों को, प्रतिभाओं को ऊँचा उठने-उठाने के स्थान पर पतनोन्मुख बनाती और उसकी दु.खद प्रतिक्रिया में समूचा वातावरण विकृत, दुर्गन्धित करती है । इसे आत्मिक दुर्बलता भी कह सकते हैं क्योंकि आदर्शों को अपनाने की, दृष्टिकोण में उत्कृष्टता भरने की, कार्य पद्धति को दूरदर्शी विवेकशीलता के अनुरूप बनाने की महती आवश्यकताओं को पूरा कर सकने वाली सत्प्रवृत्तियाँ आत्मिक क्षेत्र से ही उभरती हैं । सन्मार्ग पर ले चलने वाला प्रकाश उसी केन्द्र से उपलब्ध होता है । यदि वह समुद्र के बीच में खड़ा हुआ प्रकाश स्तम्भ बुझ जाय तो फिर उस क्षेत्र में चलने वाले जलयान चट्टान से टकराकर दुर्दशाग्रस्त होंगे ही ।

विचारशीलों को इस तथ्य के सम्बन्ध में गम्भीरता-पूर्वक विचार करना चाहिए, क्योंकि इससे प्रत्येक के व्यक्तिगत जीवन का उत्थान-पतन तो जुड़ा हुआ है ही, साथ ही यह भी निश्चित है कि हर व्यक्ति अपना भला-बुरा प्रभाव समाज पर छोड़ता है । विशेषतया सुगन्ध की अपेक्षा दुर्गन्ध का विस्तार भी अधिक होता है और प्रभाव भी अधिक पड़ता है । एक नशेवाला, जुआरी, व्यभिचारी, दुर्व्यसनी, कुकर्मी अनेकों संगी साथी बना सकने में सहज सफल होता है । बेल आगे-आगे पसरती जाती है, लहरें एक दूसरे को आगे धकेलती है और उनकी हलचल किनारे पर पहुँच कर रुकती है । अनुकरण प्रिय सामान्य जनों में आदर्शवाद का अनुकरण करने की क्षमता हल्की सी होती है पर वे कुप्रचलनो को सहज पकड़ते है । दूषित साहित्य का, अवांछनीय फिल्मों-अभिनयों का प्रभाव जितनी तेजी से पशु-प्रवृत्तियों को भड़काता है, उतनी तीव्रता सत्साहित्य में नहीं होती । गीता पढ़कर उतने आत्म-ज्ञानी नहीं बने जितने कि अश्लील दृश्य अभिनय से प्रभावित

होकर कामुक अनाचार अपनाने में प्रवृत्त हुए हैं। एक सन्त व्यक्ति, कम ही सज्जन अपने जैसा बना पाते हैं। महामानवों को अपने जैसे साथी, उत्तराधिकारी विनिर्मित करने में एड़ी-चोटी का पसीना एक करना पड़ता है पर खल-मण्डली की बिरादरी बरसाती मेंढ़कों की तरह देखते-देखते तेजी से बढ़ती है। कुकुरमुत्तों की फसल और मक्खी-मच्छरों का परिवार भी तेजी से बढ़ता है पर हाथी की वंश वृद्धि अत्यन्त धीमी गति से होती है।

समाज में छाया हुआ अनाचार, असन्तोष, पतन-पराभव का मात्र एक ही कारण है कि जनसाधारण की आत्म-चेतना मूर्छित हो गई है और उसका स्थान शरीरगत लिप्सा, लालसा ने ले लिया है। यदि स्थिति को बदलना है तो उल्टे को उलट कर सीधा करना होगा। चिन्तन में आदर्शों का समावेश करना होगा और दृष्टिकोण में उत्कृष्टता की प्रतिष्ठापना करनी होगी। व्यवहार में सज्जनता का पुट लाना होगा और स्वार्थ पर अंकुश लगाते हुए पुण्य-परमार्थ की प्रवृत्ति जगानी होगी। इसी आधार पर व्यक्तित्वों का उभार और सत्प्रयोजनों को सफल बना सकने वाली प्रतिभा को निखारना सम्भव बन पड़ेगा। संक्षेप में यही है, आत्मिक प्रगति। इसी के साथ मानवी गरिमा जुड़ी हुई है। यही सद्गुण सम्पन्न महामानवों की बिरादरी उत्पन्न करती है। इसी तत्वज्ञान को अपनाकर प्राचीनकाल में साधु-ब्राह्मणों का विशाल समुदाय संकल्पपूर्वक सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन की महती लोक-साधना में लगा था। उसी आधार पर सतयुग का स्वर्णिम काल विनिर्मित हुआ था। इन्हीं दिनों यह भारत भूमि देव मानवों की जन्मदात्री और स्वर्गादपि गरीयसी कहलाती रही है। यहाँ के निवासियों ने असाधारण स्तर की सेवा साधना करके जन सम्मान और जन सहयोग अर्जित किया था। जगद्गुरु और चक्रवर्ती के ऊँचे पदों पर उन्हें इसी सेवा साधना के बदले बिठाया गया था।

पुरातन काल की वैयक्तिक और सामाजिक गरिमा का विकास-विस्तार, मात्र एक ही आधार पर सम्भव हुआ था कि यहाँ आध्यात्मवाद को मान्यता दी गई थी। आज जितना ध्यान भौतिक विज्ञान के आविष्कारों और उसके द्वारा विनिर्मित उपकरणों के प्रयोगों पर है, पुरातन काल में उतना ही ध्यान चेतना का स्तर ऊँचा उठाने पर भी था। भावनाओं, मान्यताओं, आकांक्षाओं, उमंगों की प्रत्येक लहर में आदर्शों की ऊर्जा भरी रहती थी। फलतः हर किसी का मन ऊँचा सोचता था। हर शरीर आदर्शों को क्रियान्वित करने में तल्लीन रहता था। उस महान परम्परा का परित्याग करके ही हम आज अनेकानेक संकटों एवं उलझनों में फँसे हैं।

## आस्तिकता, आध्यात्मिकता और धार्मिकता

हलवाई की दुकान पर अनेक मिठाइयाँ रखी रहती हैं पर विश्लेषण करने पर उनमें तीन ही वस्तुएँ घुली-मिली दिखाई पड़ती हैं। एक शक्कर, दूसरा दूध, तीसरा अन्न। यह बनाने वाले की कुशलता है कि वह उन्हें उलट-पुलट कर अनेक रूपों में और अनेक स्वादों वाली बना देता है। मिट्टी, चाक और डण्डे की सहायता से कुम्हार अनेक प्रकार के बर्तन बनाता रहता है। कागज, कलम, स्याही की सहायता से अनेकों आलेख लिखे जाते रहते हैं। आध्यात्म विज्ञान का समूचा ढाँचा तीन आधारों पर इसी प्रकार खड़ा है जिस प्रकार किसान द्वारा बीज, खाद, पानी की सहायता से भण्डार भर देने वाली फसल उगाई जाती है।

तत्वज्ञान की दार्शनिक विवेचनाओं में ईश्वर, जीव, प्रकृति की विवेचना होती रहती है। मनीषियों में भक्तियोग, ज्ञानयोग एवं कर्मयोग को आत्मिक प्रगति का आधार निरूपित किया जाता है। इन्हीं विभिन्न प्रतिपादन शैलियों का यदि एकीकरण किया जाय तो वे प्रकारान्तर से उन्हीं मूल प्रतिपादनों में समा जाती हैं, जो आध्यात्म के त्रिवर्ग प्रतिपादनों में आधारभूत माने जाते हैं। तत्वज्ञान रूपी समुद्र मन्थन के इस नवनीत को आस्तिकता, आध्यात्मिकता और धार्मिकता के रूप में जाना जाता है। यह मानवी सत्ता के तीन कलेवर हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर तथा इन्हें काया, मानस एवं अन्तःकरण भी कहते हैं। इन तीनों के अभ्युदय हेतु सम्मिलित प्रयत्न एक साथ करने पड़ते हैं। वे मिले-जुले रूप में विकसित होते हैं। ऐसा नहीं होता कि एक ही को पूरा कर लेने पर दूसरे को हाथ में लिया जाय। जीवन निर्वाह के लिए अन्न, जल, वायु की व्यवस्था जुटानी पड़ती है और वह

साथ-साथ प्रयुक्त होती रहती है । यह बात आत्मिक प्रगति के त्रिविध आधारों के सम्बन्ध में भी है ।

आस्तिकता का अर्थ है—ईश्वर-विश्वास । इसे अन्तराल की गहराई में जमाने के लिए भक्ति-भाव का आश्रय लेना पड़ता है । यह विश्वास मनोकामना पूरी करने या प्रकट होकर दर्शन देने जैसे बचकाने-बाल कौतुक के लिए नहीं, वरन् सत्प्रवृत्तियों के समन्वित समुच्चय की सघन आस्थाओं के रूप में अपना लिए जाने पर सम्पन्न होता है । ईश्वर के प्रति समर्पण, विसर्जन, विलय का तात्पर्य है—उत्कृष्टता के साथ अपने आपको सघन रूप से जोड़ लेना । कठपुतली की तरह अन्तरात्मा रूपी बाजीगर के इशारे पर अपने अन्तरंग और बहिरंग जीवन को ढालना । अपने ज्ञान-कर्म को इसी निमित्त नियोजित किए रहना । ईश्वर व्यक्ति विशेष की तरह शरीरधारी नहीं है जिसे उपहार-मनुहार द्वारा अपनी ओर आकर्षित किया जा सके और उससे मनमर्जी के क्रिया-कृत्य कराये जा सकें । समस्त ऋषि नियम अनुशासन के परिपालन से ही गतिशील रहकर अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं । यह अनुशासन ईश्वर ने अपने ऊपर भी स्वेच्छापूर्वक ओढ़ा हुआ है । वह अपनी मनमर्जी से या भक्त की मर्जी से स्वेच्छाचार बरतने लगे तो समझना चाहिए बेबूझ राजा की शासन परिधि अन्धेर नगरी बने बिना न रहेगी । जहाँ सर्वत्र अराजकता ही दृष्टिगोचर होगी ।

ईश्वर की सत्ता और महत्ता पर विश्वास करने का अर्थ है—उत्कृष्टता के साथ जुड़ने और सत्परिणामों पर, सद्गति पर, सर्वतोन्मुखी प्रगति पर विश्वास करना । आदर्शवादिता अपनाने पर इस प्रकार की परिणति सुनिश्चित रहती है, किन्तु कभी-कभी उसकी उपलब्धि में देर-सबेर होती देखी जाती है । ऐसे अवसरों पर ईश्वर-विश्वासी विचलित नहीं होते । धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करते हैं और विश्वास बनाये रहते हैं । दिव्य सत्ता के साथ भक्त जितनी सघनता के साथ जुड़ेगा, उसके अनुशासन, अनुबन्धों का जितनी ईमानदारी, गहराई के साथ पालन करेगा, उतना ही उसका कल्याण होगा । आस्तिक न तो याचना करता है और न अपनी पात्रता से अधिक पाने की अपेक्षा ही करता है । उसकी कामना भावना के रूप में विकसित होती है । भाव सम्वेदना फलित होती है तो आदर्शों के प्रति आस्थावान बनाती है । तनिक सा दबाव या प्रलोभन आने पर फिसल जाने से रोकती है । पवित्र अन्तःकरण बना लेना ईश्वर के अवतरण के लिए अवरोध समाप्त कर देता है । दुष्प्रवृत्तियों को हटा देने पर उनका स्थान सत्प्रवृत्तियों का समुच्चय ले लेता है । इस स्थिति के परिपक्व होने पर जो आनन्द आता है, सन्तोष होता है, उल्लास उमगता है उसे ईश्वर-प्राप्ति कहा जा सकता है ।

विराट् ब्रह्म और विशाल परब्रह्म एक ही बात है । सर्वव्यापी परमेश्वर को किसी शरीर विशेष में अवस्थित नहीं देखा जा सकता । वह नियम, शक्ति एवं भाव-चेतना के रूप में कण-कण में समाहित है । परब्रह्म की यथार्थ सत्ता का यही रूप है, किन्तु उसे प्रत्यक्ष देखना हो तो अर्जुन, यशोदा, कौशल्या, काकभुशुण्डि की तरह सर्वव्यापी के रूप में देखना चाहिए । उस मान्यता के परिपक्व होते ही "आत्मवत् सर्वभूतेषु" और "वसुधैव कुटुम्बकम्" की श्रद्धा उभरती है । सेवा साधना और परमार्थपरायणता की दिशा में अग्रसर होना पड़ता है । आस्तिकता कोई भावुकता नहीं है । किसी प्रतिमा की अर्चना भर करते रहने से वह प्रयोजन पूरा नहीं होता । भक्ति भावना भक्त जन के चिन्तन, चरित्र और व्यवहार में उच्चस्तरीय परिवर्तन प्रस्तुत करती है । यह मनुष्य को देव-स्तर का बना देने वाला काया-कल्प ही भगवत्-भक्ति का यथार्थ स्वरूप है ।

अध्यात्म का दूसरा चरण है—आध्यात्मिकता । आध्यात्मिकता का अर्थ है-आत्मावलम्बन । बहिरंग परिस्थितियों का मूलभूत कारण अपनी मनःस्थिति को मानना । आत्म-सत्ता की गरिमा, महिमा और क्षमता को अनुभव करना । दूसरों से सम्पर्क रखने, आदान-प्रदान का क्रम चलाते रहने में हर्ज नहीं, पर विश्वास रखना चाहिए कि उत्थान-पतन की परिपूर्ण जिम्मेदारी अपनी ही है । अकेले ही आये थे, अकेले ही जाना है । इस तथ्य के साथ इतना और जोड़ना चाहिए कि एकाकी निश्चय करना और उस संकल्प को पूरा करने के लिए एकाकी ही कटिबद्ध एवं अग्रसर होना है । उत्कृष्टता का मार्ग ही ऐसा है, जिस पर चलने के लिए प्रोत्साहन देने वाले, मार्ग दिखाने और सहयोग देने वाले प्रायः दूसरे लोग नहीं ही मिलते हैं । लोकमानस संकीर्ण

स्वार्थपरता से भरा है । लोगों की मान्यता, विचारणा और क्रिया-प्रतिक्रिया अधोगामी प्रवाह में ही बहती रहती है । उसका परामर्श मानने, अनुकरण करने पर तो व्यामोह के जाल-जंजाल में ही जकड़े रहा जा सकता है । पक्षी अपने पंखों के सहारे आसमान में उड़ते हैं । उन्हें न कोई मार्गदर्शन देता है और न सहयोग देता है । शालीनता, सज्जनता, उदारता और पुण्य-परमार्थ का मार्ग भी ऐसा है जिस पर किसी प्रशिक्षक या सहयोगी की आशा नहीं रखनी चाहिए । इनमें अपना विवेक, अपना संयम, अपना संकल्प एवं अपना साहस ही काम देता है । प्रामाणिकता और शालीनता की कसौटी पर कस लेने के उपरान्त ही अन्य लोग आदर करते, समर्थन करते और सहयोग देते देखे गए हैं अन्यथा गिरते को अधिक जोर का धक्का देकर गहरे गर्त में गिराने वाले तथाकथित मित्रों की ही सर्वत्र भरमार पायी जाती है । गुरुत्वाकर्षण की तरह पतन का प्रभाव एवं वातावरण ही सब ओर छाया रहता है । इस दबाव से उभरना और अन्तरात्मा की उत्कृष्ट प्रेरणाओं का अनुगमन कर सकना अपने बलबूते ही बन पड़ता है । गीता के परामर्शानुसार अपना उद्धार आप ही करना पड़ता है । अवसाद से अपने को बचा लेने के लिए प्रचण्ड साहस का परिचय स्वयं ही देना पड़ता है । मनुष्य स्वयं ही अपना शत्रु और मित्र है । जिसने आत्मावलम्बन अपनाया और अपने पैरों के बलबूते अपने मार्ग पर एकाकी चल पड़ा, वही मंजिल तक पहुँचता है । रास्ते में चलने वाले तो हर मार्ग पर मिल जाते हैं । जब पतन मार्ग पर अनेकों साथी मिल जाते हैं तो कोई कारण नहीं कि ऊँचा उठाने और आगे बढ़ने के प्रयास में कोई साथ न दे । संसार में बहुत कुछ है पर उसे खींच बुलाने और हजम करने के लिए तो अपनी निज की चुम्बकीय क्षमता ही काम देती है । आँख न हो तो संसार के समस्त दृश्य समाप्त, कान न हों तो संसार-भर के शब्दों का अन्त, अपना मस्तिष्क काम न दे तो समस्त संसार पागल । अपना दृष्टिकोण रंगीन चश्मे की तरह किसी सनक से सना हुआ हो तो हर वस्तु उसी रंग में रंगी हुई दिखाई देगी । इसलिए आत्म-निरीक्षण, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण और आत्म-विकास की प्रक्रिया अपनाते हुए साधक को आत्मावलम्बन अपनाना चाहिए । एकाकी चल सकने का साहस जुटाना चाहिए । यही आध्यात्मिकता है, जिसे विज्ञान का दूसरा चरण जाना-माना जाता है ।

तीसरा चरण है—धार्मिकता । धार्मिकता का अर्थ है, कर्तव्य-परायणता । नीति-निष्ठा और उदार-सेवा साधना के ईर्द-गिर्द ही धर्म की धुरी घूमती है । उसके अविच्छिन्न अंग हैं—आत्म-संयम और परमार्थ के निमित्त बढ़े-चढ़े संकल्प साहस का प्रदर्शन ।

उच्छृंखलता पशु-प्रवृत्ति की परिचायक है । स्वेच्छाचार कीट-पतंगों को ही शोभा देता है । अपराध-अनाचारों में संलग्न रहने वाले शैतान की औलाद कहे जाते हैं । मनुष्य का स्तर इससे ऊँचा है । उसकी गरिमा नीति-निष्ठा और शालीनता पर टिकी हुई है । इसको कर्तव्य-परायणता भी कहते हैं । जिम्मेदारियों का निर्वाह भी ।

मनुष्य यों तो प्रत्यक्षतः स्वतन्त्र है । उसे लगाम, नकेल, अंकुश, चाबुक के सहारे रास्ते पर चलने के लिए बाधित नहीं किया जाता और न वह कैदियों की तरह हथकड़ी, बेड़ी पहनाकर जेल की चहार दीवारी में घेर-बटोरकर रखा जाता है । यह आत्मानुशासन ही है, जो अपनी बहुमुखी जिम्मेदारियों का पालन करते हुए असुविधाओं का सामना करने के लिए तत्पर रहने की प्रेरणा भरता है । शरीर को स्वस्थ रखना, मन को सन्तुलित बनाना, उसे मनोविकारों से बचाना, अर्थ उपार्जन में ईमानदारी बरतना, मिल-बाँटकर खाना, हँसते-हँसाते जीना, गिरतों को उठाना, उठों को बढ़ाना जैसे अनेक दायित्व निजी जीवन के साथ जुड़े हुए हैं । इसके अतिरिक्त सामाजिक क्षेत्र की अनेकानेक जिम्मेदारियाँ हैं । विशेषतया सत्प्रवृत्तियों का सम्वर्धन और दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन—इन दोनों प्रयासों को हाथ में लेने पर नीर-क्षीर विवेक और अनीति के साथ लड़ पड़ने की साहसिकता अपनानी पड़ती है । टूटे को बनाने और रूठे को मनाने में असाधारण कौशल का परिचय देना पड़ता है । सामाजिक उत्तरदायित्वों के निर्वाह में भी मनुष्य को बहुत कुछ ऐसा करना पड़ता है जिसे रचनात्मक, सुधारात्मक कहा जा सके । उसके लिए अपने व्यक्तित्व को प्रामाणिकता एवं प्रखरता से सुसज्जित करना पड़ता है ।

कर्तव्य पालन की महत्ता बताते हुए उसे प्रकारान्तर से ईश्वर-पूजा का ही एक स्वरूप बताया गया है ।

का सहयोग, सद्भाव खिंचता चला आता है । वैसे चरित्र निष्ठा के आवश्यक अंग समझदारी, ईमानदारी. जिम्मेदारी, बहादुरी के रूप में जाने जाते हैं ।

तीसरा पक्ष व्यवहार का है । जैसा सोचा जाता है. वैसा ही व्यक्तित्व बनता है, चरित्र ढलता है । चरित्रवान व्यक्ति अपनी गरिमा के अनुरूप लोकोपयोगी कामों में हाथ डालता है, उदार परमार्थ परायणता का परिचय देता है । मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा के रूप में दूसरों से यथोचित व्यवहार बन पड़ता है । योजना ऐसा कुछ कर गुजरने की रहती है जिसका प्रभाव ग्रहण करने वाले हर किसी को ऊँचा उठने, आगे बढ़ने की प्रेरणा मिले ।

आत्मीयता की स्नेह सम्वेदनाओं से भरा-पूरा उदार सेवा-सहयोग, सम्मिश्रित सद्व्यवहार हर किसी से नहीं बन पड़ता । ओछे व्यक्ति तो अहंकार भरी अशिष्ट उजड्डता ही बरतते देखे गए हैं। सज्जनता चरित्र निष्ठा का ही एक अंग है । नीतिवान मानवी गरिमा का, मनुष्य जन्म का मूल्य महत्त्व समझते हैं । अस्तु ! अपना व्यक्तित्व ऐसा बनाये रहते हैं जिससे अन्तरात्मा प्रफुल्लता, प्रसन्नता अनुभव करे और सम्पर्क क्षेत्र के लोग सहायता करते रहें । किसी को किसी भी कारण उँगली उठाने का अवसर न मिले । शत्रु भी लोहा माने और उसका मूल्यांकन अजातशत्रु के रूप में करे । चरित्र वस्तुतः चिन्तन का ही परिणाम है, चिन्तन बीज है । उसमें चरित्र और व्यवहार का खाद लगाने से जीवन कल्पवृक्ष जैसा फलता है, चन्दन जैसा महकता है । चिन्तन आमतौर से अचिन्त्य चिन्तन की रंगीली उड़ानें उड़ता और आवारागर्दी में भटकता देखा है पर जब उसे आदर्शवादिता का अवलम्बन मिलता है तो सही मार्ग पर चलने लगता है । उच्छृंखलता अवरुद्ध होती है और निर्धारित उद्देश्यों के लिए एकनिष्ठ तन्मयता अपनाता है । ऐसों की एक भी विचार तरंग अनगढ़ नहीं होती । न उनमें भटकाव देखा जाता है, न असंयमी स्वच्छन्दता का दौर उभरता है । विचारों का मूल उद्गम अन्तःकरण है । आस्थाएँ, भावनाएँ, कामनाएँ जिस अन्तःकरण में उत्कृष्ट स्तर की होती हैं, वहाँ विचार तरंगों का उत्पादन भी आदर्शवादी अभिव्यंजनाओं से आपूरित रहता है । अन्तःकरण ही है जिसमें संस्कार जड़ जमाये रहते हैं । जहाँ कुसंस्कारों का उन्मूलन करके सुसंस्कारों को आरोपित कर लिया जाता है, वहाँ चिन्तन, चरित्र और व्यवहार के सभी स्तर आदर्शों से भरे-पूरे रहते हैं ।

चेतना का उदात्तीकरण जीवन के अन्तरंग और बहिरंग क्षेत्र का परिशोधन-परिष्कार करने की प्रक्रिया जारी रखने पर सहज सम्भव है । इसके लिए आत्म-निरीक्षण, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण और आत्म-विकास के चार कदम उठाने पड़ते हैं । एकान्त में बैठकर एकाग्र मन से अपने गुण-कर्म-स्वभाव में घुसी हुई अवांछनीयताओं को समझने, पहचानने का प्रयत्न करना चाहिए । जो अनुपयुक्तता समझ में आये, उसे कूड़े-कचरे की तरह बुहार फेंकने का साहस भरा प्रयत्न करना चाहिए । प्रबल इच्छा शक्ति के सामने कोई दुष्प्रवृत्ति टिक नहीं सकती । यह परिशोधन हुआ । यह आवश्यकता है, किन्तु पर्याप्त नहीं । दुष्प्रवृत्तियों के हटाने पर जो स्थान खाली हुआ है, उसे रिक्त नहीं रहने देना चाहिए वरन् उसमें सत्प्रवृत्तियों का आरोपण करना चाहिए । उन्हें स्वभाव का अंग बनाने के लिए, अभ्यास में उतारने के लिए तदनुरूप अनुकरण करने की क्रमबद्ध योजना बनानी चाहिए और उसे कार्यान्वित करते रहने के निश्चय पर आरूढ़ रहना चाहिए ।

"आत्म-विकास" का अर्थ है अपने 'स्व' का दायरा बढ़ाना । जिस शरीर, परिवार में कामना संजो रखी है उसे सुविस्तृत करते हुए "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की "वसुधैव कुटुम्बकम्" की मान्यता अपनानी चाहिए । इसका तात्पर्य है स्वार्थ को परमार्थ में विकसित करना । विराट् ब्रह्म का विशाल विश्व के रूप में दर्शन करना । लोक सेवा का व्रत लेना और सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन में जुट जाना ।

इस स्थिति तक पहुँचने के लिये आध्यात्मवादी तत्वदर्शन के अनुरूप अपने श्रद्धा विश्वास को उत्कृष्टता के ढाँचे मे ढाला जाना चाहिए । इसके लिए स्वाध्याय, सत्संग, सेवा और साधना के चारों आधार जीवन चर्या के अविच्छिन्न अंग बनाये जाने चाहिए । चिन्तन और मनन की प्रक्रिया मे अधिकाधिक समय लगाना चाहिए । चिन्तन का प्रयोजन होना चाहिए—"परिशोधन" और मनन का उद्देश्य रहे—"भावी गतिविधियों को सत्प्रवृत्तियों में सुनियोजित करने की उमंग भरी विचारणा ।"

# विधान अवलम्बन से पूर्व आत्म-शोधन

भौतिक विज्ञान प्रकृति क्षेत्र में बिखरे पड़े अनगढ़ पदार्थ को उपयोगी उपकरण बनाने के लिए अपनी प्रक्रिया तीन चरणों में पूरी करता है । एक, उसकी कुरूप मलीनता का परिशोधन करके काम में आ सकने योग्य स्थिति तक पहुँचाना । दूसरा, उसे ऐसी स्थिति में लाना जिसमें उसे कोई अच्छी शक्ल देना सम्भव हो सके । तीसरा, उसे महत्त्वपूर्ण यन्त्र उपकरणों की शक्ल में ढालना । तीनों चरणों में से गुजरने पर ही विज्ञान की हर चेष्टा को सफलता के स्तर तक पहुँचाया जा सकता है ।

लोहा खदान में से निकलता है, तब उसमें मिट्टी मिली होती है । लौहकण भी अस्त-व्यस्त जंग खाये जैसे होते हैं । उस कच्चे माल को भट्टी में तपाया जाता है, ताकि अनावश्यक मिलावट जल जाय और शुद्ध लोहा हाथ लगे । यह एक चरण हुआ । शुद्ध लोहे को किसी मशीन के रूप में ढालना होता है तो उसे फिर भट्टी में डालकर नरम बनाया जाता है । यह दूसरा चरण हुआ । तीसरे कदम में उसे साँचे में ढाला और खराद पर घिसकर उसे पूर्णता प्रदान की जाती है । इस तीसरे चरण के पूरे होने पर एक प्रक्रिया पूरी हो जाती है ।

कुम्हार भी यही करता है । मिट्टी के ढेलों को तोड़ता, गूँथता है । जब मिट्टी लोच पर आ जाती है, फिर उसे चाक पर घुमाकर इच्छित बर्तन बनाता है । चिकित्सक वैद्य भी यही करते हैं । मूल द्रव्य को शोधते हैं, कूटते-पीसते हैं, फिर उसे गोली, कैप्सूल, अवलेह-सीरप आदि की शक्ल देते हैं । रस भस्में भी इसी प्रकार बनती हैं । भौतिक विज्ञान की यही कार्य पद्धति है । इसी को कार्यान्वित करते हुए वह उपेक्षित सामग्री को इस स्थिति तक पहुँचाता है कि उसे अति उपयोगी एवं बहुमूल्य आँका जा सके ।

यह सब करने से पूर्व प्रयोग में आ सकने योग्य सिद्धान्तों का आविष्कार निर्धारण करना पड़ता है । यदि उसकी बौद्धिक व्याख्या सही न हो तो कार्यान्वयन की मेहनत और लागत बेकार जायेगी । असफलता हाथ लगेगी ।

इतना समझ लेने के उपरान्त हमें तुलनात्मक दृष्टि से असंख्य गुनी क्षमताओं, सम्भावनाओं से भरे-पूरे चेतना विज्ञान की दार्शनिक एवं क्रिया परक शैली का निरीक्षण, परीक्षण करना चाहिए । यह तथ्य सर्वमान्य होना चाहिए कि पदार्थ को जिस प्रकार कुछ से कुछ बनाया जा सकता है, शरीर में अनेकों प्रसुप्त क्षमताएँ विकसित की जा सकती हैं, उसी प्रकार चेतना का भी परिष्कार एवं उन्नयन हो सकता है । परिष्कृत वस्तु का स्तर एवं मूल्य स्वभावतः अधिक होना चाहिए । कोयला अमुक तापमान तक पहुँच जाने पर हीरा बन जाता है । सस्ते गटापार्चा से अभ्रक भस्म बनती है । बनाने वाले जानते हैं कि इस परिवर्तन की मध्यवर्ती प्रक्रिया कितनी पेंचीदा होती है और उसे पूरा करने के लिए कितनी सतर्कता बरतनी पड़ती है । कितने सहायक उपकरण जुटाने पड़ते हैं । कितने दिनों कितनी मुस्तैदी के साथ खटना पड़ता है । कुम्हार, सुनार, लुहार, मोची, दर्जी, रंगरेज, संगरेज, संगीतकार, शिल्पी आदि सभी कलाकार अपने-अपने क्षेत्र में नये निर्माण करते और दर्शकों को चमत्कृत करते हुए खरीदने वालों को प्रसन्नता प्रदान करने वाली उपलब्धियाँ हस्तगत कराते हैं । यह प्रक्रिया आध्यात्म विज्ञान के अनुशासनों के कार्यान्वयन में भी अपनानी पड़ती है ।

पूर्व इसके कि चेतना क्षेत्र समुन्नत करने वाले विज्ञान के कार्यान्वयन की, विधि-विधानों की चर्चा की जाय । अच्छा हो कि उसके मूलभूत सिद्धान्तों को समझ लिया जाय । सिद्धान्तों के आधार पर ही सही दिशा में प्रयास करते बन पड़ता है और वही सफल भी होता है ।

चेतना विज्ञान का दूसरा नाम आध्यात्म भी है । उसके दो पक्ष हैं, एक तथ्यात्मक, दार्शनिक, सैद्धान्तिक । दूसरा है क्रिया परक विधि-विधानों और कर्मकाण्डों का समुच्चय । लोग दूसरे पक्ष से आरम्भ करना चाहते हैं । सिद्धान्तों और आधारों को समझने में रुचि नहीं लेते । फलतः क्रिया-कृत्यों का स्वरूप शुरू में ही अस्त-व्यस्त हो जाता है । उनका प्रतिफल कटी पतंग जैसा अनिश्चित ही रहता है । सिद्धान्तों की डोरी जब तक कर्मकाण्डों के साथ जुड़ी रहती है, तभी तक वह आकाश में छटा दिखाने वाली पतंग जैसी आकर्षक स्थिति में रहती है ।

चेतना का अथाह और असीम समुद्र इस समूचे ब्रह्माण्ड में लहलहा रहा है । उसी में जल-जन्तुओं की तरह हम सब रहते हैं । मछली अपना आहार जलाशय से ही प्राप्त करती है । जीव सत्ता के लिए यह सम्भव है कि वह ब्रह्म सत्ता के साथ जुड़े और उसमें से पोषक तत्व प्राप्त करता रहे । उस उपलब्धि के आधार पर ही व्यक्ति अपने को अधिकाधिक समर्थ बनाता चला जाता है और महात्मा, देवात्मा के रूप में अपनी स्थिति सिद्ध पुरुषों, महामानवों जैसी विनिर्मित करता है ।

ब्रह्म परायण होने के लिए प्रथम आधार के रूप में अपनी पात्रता विकसित करनी पड़ती है । कुछ महत्त्वपूर्ण प्राप्त करने और उसे सुरक्षित रखने के लिए तदनुरूप आधार खड़े करने पड़ते हैं । वर्षा में असीम जलराशि बरसती है, पर वह कही टिकती उतनी ही मात्रा है, जहाँ जितना गहरा गड्ढा होता है । सूर्य की किरणें उन्हीं घरों में प्रवेश करती हैं, जिनकी खिड़की, दरवाजे खुले हों । सुन्दर दृश्यों को देख सकने का लाभ उन्हीं को मिलता है जिनके आँखें सही हों । बहरे लोग इर्द-गिर्द के वार्तालाप को, गायन-वादन को कहाँ सुन पाते हैं । अपना मस्तिष्क ही गड़बड़ा गया हो तो संसार की हर गतिविधियाँ उल्टी हो रही जान पड़ती हैं । आँखों पर रंगीन चश्मा पहन लेने पर सभी वस्तुएँ उसी रंग में रंगी प्रतीत होती हैं । आत्म-सत्ता का अन्तराल यदि गई-गुजरी स्थिति में पड़ा हो तो लोक-व्यवहार भी सही तरह निभ नही पड़ता, साथियों से भी मधुर सम्बन्ध रह नहीं पाते । ऐसी दशा में परब्रह्म की ब्रह्माण्डीय चेतना के साथ घनिष्ठता स्थापित करना और उसके अनुग्रह अनुदान से लाभान्वित हो सकना किस प्रकार बन पड़े ? अनुदान प्रदान करने वाले पक्ष न तो दुर्बल है, न सीमित, न कृपण, पर उसे भी देते समय यह ध्यान रखना पड़ता है कि जिसे दिया जा रहा है वह उसका सदुपयोग कर सकेगा या नहीं ? जहाँ 'नहीं' की आशंका होती है वहाँ दाता के उदार हाथ भी सिकुड़ जाते हैं । उसकी खुली हुई मुट्ठियाँ बन्द हो जाती हैं । वरिष्ठ संस्थानों की तरह ईश्वर भी पात्रता परखता और इसके बाद ही अपने अनुदानों की झड़ी लगाता है ।

रेगिस्तानों पर बादल बरसते नहीं । वे उसके ऊ होकर छाँव मात्र दिखाते हुए अन्यत्र चले जाते हैं । बैं कर्ज बाँटती है । लाखों, करोड़ों का उधार देती हैं, प देने से पूर्व यह जाँच लेती है कि वह किस कार्य के लि माँगा जा रहा है । उसमें लाभ होने और वापस लौट की सम्भावना है या नहीं ? सन्देह होने पर ऋण पा के लिए दिया गया प्रार्थना पत्र रद्द हो जाता है । कन्य का पिता अपनी सर्वगुण सम्पन्न लड़की के विवाह योग होने पर सुयोग्य लड़के की तलाश में भारी दौड़-धू करता है । जहाँ आशा की झलक दिखाई देती है वह बार-बार चक्कर लगाता है, मनुहार करता है, उपहा देने का भी प्रलोभन दिखाता है, सिफारिश करवाता है और जब अभीष्ट सम्बन्ध हो जाता है तो प्रसन्नता अनुभव करता है । भार हल्का हुआ मानता है । इतने पर भ यदि कोई कुपात्र अयोग्य व्यक्ति उस लड़की को पाने के लिए अपनी ओर से प्रार्थना करे । मनुहार करने, उपहार आदि देने की भी पेशकश करे तो भी कन्या पक्ष उसके कथन को अस्वीकार ही नहीं करता, इसे धृष्टता बताता और फटकार लगाता है । एक ओर अनुग्रह और दूसरी ओर तिरस्कार भर ही फटकार । इन दोनों प्रकार के व्यवहारों में सुयोग्य-अयोग्य का, पात्र-कुपात्र का अन्तर ही प्रधान कारण है । गाय अपने बच्चे को दूध पिलाती है, दूसरी जाति के पशु शावकों को थन तक नही फटकने देती । छात्रवृत्ति ऊँचे नम्बर लाने वाले परिश्रमी, प्रतिभाशाली छात्रों को ही मिलती है जबकि फेल होने वालों का अगली कक्षा में प्रवेश पाना तक कठिन हो जाता है । अफसरों की भर्ती में चुनाव आयोग के सम्मुख प्रस्तुत होना पड़ता है । योग्यता के आधार पर ही चयन होता है । उसका प्रमाण न दे सकने वाले निराश वापस लौटते हैं ।

इन सब तथ्यों को भली प्रकार समझा जाना चाहिए और ब्राह्मी चेतना से व्यष्टि चेतना को कोई महत्त्वपूर्ण अनुदान मिले ऐसी आस लगाने से पहले अपनी स्थिति का पर्यवेक्षण करना चाहिए और जीवन के जिस क्षेत्र में जितनी गन्दगी हो उसे बुहारकर साफ करना चाहिए । किसी संभ्रान्त अतिथि के घर आने पर घर की, फर्श-फर्नीचर की सफाई कर ली जाती है । ब्रह्मसत्ता के जीवन क्षेत्र पर अवतरण होने की स्थिति आने से पूर्व अपने आप की सफाई कर लेनी

चाहिए । धुले कपड़े पर ही रंग चढ़ता है । जुते खेत में ही बीज उगता है । बढ़िया बन्दूक में भरा गया कारतूस ही सही निशाना बेधता है । लकड़ी की बन्दूक वह काम नहीं कर सकती । भले ही कारतूस कितना ही अच्छा क्यों न हो ? उपासना का विधि विधान कारतूस समझा जा सकता है, उसके उपयुक्त प्रतिफल प्रस्तुत कर सकने की सम्भावना तभी बनती है जब साधक का व्यक्तित्व परिष्कृत स्तर का हो ।

आध्यात्म विज्ञान का प्रथम चरण यही है कि अपनी पात्रता विकसित की जाय । व्यक्तित्व को परिष्कृत, प्रखर एवं समुन्नत स्तर का बनाया जाय यह आत्मिक प्रगति के क्षेत्र में सफलता की पहली शर्त है । इसे पूरा किए बिना अधिक कुछ पाने-कमाने की व्यवस्था बनती नहीं, भटकावों में भटकना और निराश रहना पड़ता है ।

समझा जाता है कि पेड़ पर जो पके फल दृष्टिगोचर होते हैं, वे आसमान से रातों रात टपकते और आ चिपकते हैं, पर वस्तुतः वैसा होता नहीं । जड़े जमीन से रस खींचती हैं । वह तने में, टहनियों में होकर ऊपर पहुँचता है और पहले फूल—बाद में फल बनता है । जड़े खोखली हो चलें और जमीन से रस खींचने में सफलता न मिले तो पेड़ मुरझाता, सूखता चला जायेगा । पत्ते झड़ेंगे, फूलों के, फलों के दर्शन दुर्लभ होंगे । व्यक्ति को आध्यात्मिक ही नहीं, भौतिक क्षेत्र की सफलताएँ भी उसके समुन्नत व्यक्तित्व के आधार पर ही मिलती हैं । यह दूसरी बात है कि सांसारिक क्षेत्र में परिश्रम और कौशल काम करता है तो आध्यात्म क्षेत्र में उसी के समतुल्य सेवा और संयम के समन्वय से व्यक्तित्व के विकास, परिष्कार की आवश्यकता पड़ती है ।

आध्यात्म क्षेत्र की ऋद्धियों, सिद्धियों, विभूतियों की चर्चा प्रायः होती रहती है । उन्हें प्राप्त करने की ललक-लालसा भी हर साधक में पायी जाती है, किन्तु यह भुला दिया जाता है कि इसके लिए साधनों से भी अधिक आवश्यकता आत्म-परिष्कार की है । देव पूजन के लिए स्थान, उपकरण सभी स्वच्छ, सुसज्जित किए जाते हैं । मैला, कुचैला, दुर्गन्धित, कुरूप वातावरण देखकर वे आने को तैयार नहीं होते । आते हैं तो वापस लौट जाते हैं । यह बात दैवी शक्तियों के अवतरण-अनुग्रह के सम्बन्ध में भी है । उन्हें स्वच्छता और सदुपयोग कर सकने योग्य पात्रता का निरीक्षण-परीक्षण करना होता है । इसके उपरान्त ही वह बात बनती है कि दैवी अनुग्रह से लाभान्वित हुआ जाय ।

## जो सोचते हैं कर क्यों नहीं पाते ?

कई बार मनुष्य अपने अनुचित कार्यों या आदतों के सम्बन्ध में दुःखी भी होता है और सोचता है कि उन्हें छोड़ दूँ । अवांछनीय अभ्यासों की प्रतिक्रिया उसने देखी, सुनी भी होती है । परामर्श उपदेश भी उसी प्रकार के मिलते रहते हैं । जिनमें सुधरने-सँभलने के लिए कहा जाता है । सुनने में वे परामर्श सारगर्भित भी लगते हैं, किन्तु जब छोड़ने की बात आती है तो मन मुकर जाता है । अभ्यस्त ढर्रे को छोड़ने के लिए सहमत नहीं होता है । उपदेशों से प्रभावित हुए मन की वह सज्जनता समय आते ही बालू की तरह खिसक जाती है । पत्ते की तरह उड़ जाती है । टिकने की पृष्ठभूमि ही नहीं होती । जिस साहस संकल्प के सहारे आत्म-सुधार बन पड़ता है उसका अभाव रहने से बात बनती नहीं । स्थिति ज्यों की त्यों बनी रहती हैं । नशेबाजों में यही प्रक्रिया आये दिन चरितार्थ होते देखी जाती है । आर्थिक तंगी, बदनामी, शरीर की बर्बादी, परिवार में मनोमालिन्य जैसी हानियाँ प्रत्यक्ष रहती है । उनका अनुभव भी होता है छोड़ने को जी भी करता है पर जब तलब लगती है तब सब सोचा-समझा बेकार हो जाता है । आदत उभर आती है और अपना काम करने लगती है । बार-बार सुधरने की बात सोचने और समय आने पर उसे न कर पाने से मनोबल टूटता है । बार-बार टूटने पर वह इतना दुर्बल हो जाता है कि यह विश्वास ही नहीं जमता कि उनका सुधार हो सकता है । कल्पना करने लगते हैं कि जिन्दगी ऐसे ही बीतेगी । आदतों से किसी भी प्रकार छुटकारा न मिल सकेगा ।

ऐसा प्रायः दुष्प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में ही होता है । अधोगमन में गुरुत्वाकर्षण की शक्ति काम करती है । ऊपर से नीचे की ओर खिसका देना सरल पड़ता है । पानी बहने लगे तो वह ढलान की ओर चल पड़ता है । उसकी प्रकृति परम्परा अधोगमन की है । इसके लिए किसी को कुछ विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता । आसमान पर छाये बादल बोझिल होते हैं

ऊपर से नीचे उतर आते हैं, पानी बरसाते हैं । वह बरसा हुआ पानी ढलान तलाशता है और अवरोधों को तोड़ते-लाँघते वह बरसाती नालों में जा मिलता है । वे नाले नदियों में पहुँचते हैं और अन्त में उस समुद्र में जा मिलते हैं जो समतल धरती की तुलना में अधिक नीचा है । बादलों के पानी का बहाव प्रयास तब रुकता है तब वह ढलान के अन्तिम छोर पर जा पहुँचता है । जब आगे और अधिक गिरने की गुंजाइश नहीं रहती, तभी वह रुकता है । यह रुकना भी एच्छिक नहीं होता वरन् विवशता ही वैसा करा लेती है । बुरी आदतों में फँसा हुआ व्यक्ति भी यही अनुभव करता है कि उसे किसी अदृश्य शक्ति ने अपने चंगुल में फँसा लिया है और उसे कोई बलात् कहीं घसीटे लिए जा रहा है । किसी ऐसे स्थान पर जहाँ जाने के लिए उसका विवेक अनुमति नहीं देता है ।

आश्चर्य की बात यह है कि मनुष्य अपने मन का स्वामी है । शरीर पर भी उसका अपना अधिकार है । सामान्य जीवन में वह अपनी अभिरुचि के अनुरूप सोचता है और आवश्यकतानुसार कार्य करता है । यही स्वाभाविक भी है और इसी विधा को चरितार्थ होते हुए भी देखा जाता है । फिर दुष्प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में ही ऐसी क्या बात है जिसके कारण वे चाहते हुए भी नही छूटती । प्रयत्न करने पर भी भूत की तरह सिर पर लदी रहती है ।

इतना ही नहीं सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन के सम्बन्ध में भी यही अड़चन है । पुरातन अभ्यास में यह सम्मिलित नहीं होता कि उत्कृष्टता के अनुरूप सोचे और आदर्शों के ढाँचे में अपनी गतिविधियों को ढालें । ऐसी दशा मे अभ्यस्त नये काम करने में पुराना अभ्यास भी बाधक होता है । पशु खूँटे से छूटते ही हरी घास वाले क्षेत्र में दौड़ जाते हैं और पेट भरने के बाद संध्या होते ही निवास की ओर चल पड़ते हैं । यह उपक्रम अनायास ही चलता है और निरन्तर दुहराया जाता है । इसमें किसी अवरोध के आड़े न आने देने के लिए ही एक ग्वाला रहता है । वही एक बड़े झुण्ड को हाँकता, चलाता रहता है, पर यदि उसे उन पशुओं को किसी अनभ्यस्त स्थान पर नये मार्ग से ले जाना हो तो घुमाने, चलाने में असाधारण कठिनाई का सामना करना पड़ता है । नई दिशा अपनाने के लिये पशुओं तक को सहमत करने में भारी प्रयत्न करना, भय दिखाना, रोकथाम का प्रयत्न करना पड़ता है । यही बात मनुष्यों पर भी लागू होती है । वे अभ्यस्त ढर्रे को एक परम्परा मान लेते हैं, और उसी का समर्थन भी करने लगते हैं । भले ही वह अनुपयुक्त या हानिकारक ही क्यों न हो । लोक प्रवाह की चित्र-विचित्र गतिविधियाँ इसी दिशा धारा में बहती देखी जाती हैं । निजी और सामूहिक जीवन में यह ढर्रा ही स्वसंचालित मशीन जैसा काम करता दीखता है । अन्धविश्वास, कुप्रचलन इसी आधार पर अपनी जड़ जमाये हुए हैं । अनेक कुरीतियाँ ऐसी हैं जिन्हें बुद्धि-विवेक और तर्क के आधार पर हर कोई अस्वीकार ही करता है, किन्तु जब करने का समय आता है तो पुराने ढर्रे पर चल पड़ते हैं । खर्चीली शादियों के सम्बन्ध में यही बात आमतौर से देखी गई है । दहेज, प्रदर्शन और प्रचलित रीति-रिवाजों का जंजाल सभी को कष्ट कारक, असुविधाजनक, खर्चीला, मूर्खतापूर्ण होने के कारण विचारशीलता उसके विरुद्ध ही रहती है, इतने पर भी समय आने पर पुराना ढर्रा ही हावी हो जाता है और वही करना पड़ता है जैसे न करने की बात अनेकों बार सोची थी ।

ऊँचा उठने के सम्बन्ध में तो और भी अधिक अड़चन हैं । महापुरुषों के कुछ अपने गुण, कर्म और स्वभाव ही ऐसे होते हैं जो महत्त्वपूर्ण लोकोपयोगी कार्यों में लगते हैं, अवरोधों से जूझते हुए लक्ष्य तक पहुँचने का साहस प्रदान करते हैं । उन्हें अनुकरणीय और अभिनन्दनीय माना जाता है । उनकी उपलब्धियों, प्रशंसा-प्रतिष्ठा को देखकर अनेकों का मन चलता है कि हमें भी यह सुयोग्य मिला होता तो कितना अच्छा होता । इस दिशा में वे सोचते तो बहुत कुछ हैं पर बन पड़े ऐसा कुछ कर नहीं पाते । इच्छा-इच्छा ही बनी रहती है । न आदते बदल पाना बन पड़ता है और न महानता के राजमार्ग पर कदम बढ़ाते हुए चल सकना सम्भव होता है । सोचते, मन मारते ही जिन्दगी बीत जाती है । लगता है कोई दुर्भाग्य पीछे पड़ा है और वह हमारी कल्पना, इच्छा-योजना का कार्यान्वित नहीं होने देता है ।

मनुष्यों में से कम ही ऐसे हैं जो साहस करके अपनी पतनोन्मुखी प्रवृत्तियों को रोक सकें और

असन्तोषजनक बदनाम जीवन जीने से बच सकें । ऐसे भी कम ही होते हैं जो प्रभावों और अवरोधों को कुचलते हुए अपनी आकर्षण शक्ति से सुयोग की परिस्थितियों का निर्माण कर सकें । ऐसे व्यक्ति ढूँढ़ने पर ही मिलेंगे जो प्रतिकूलताओं के, परम्पराओं के घेरे को तोड़कर उत्कृष्टता अपनाने और उसे मजबूती से पकड़े रहकर उच्चस्तरीय संकल्प को पूरा कर सकने में समर्थ हुए हों, विचारणीय है कि ऐसा क्यों होता है । जब इच्छानुसार आहार-विहार, व्यवसाय, मनोरंजन आदि की व्यवस्था जुटाई जा सकती है । इस प्रकार के क्रिया-कलापों को सहज ही करते रहा जा सकता है । अड़चनों से निपटते रहने का क्रम भी चलता रहता है । इससे प्रतीत होता है कि इच्छानुसार काम करने के लिए मन और शरीर को कोई इन्कार नहीं है । इस स्थिति में भी मनुष्य जब पतन के गर्त में गिरने से अपने को रोक नहीं पाता । कुटेवों से पीछा छुड़ा नहीं सकता और अपने आपको महानता से सम्पन्न करने में कोई विशेष अड़चन न होते हुए भी सफल नहीं हो पाता तो फिर वह निमित्त कारण क्या होना चाहिए कि सौभाग्य को छीनता और दुर्भाग्य को थोपता रहता है ।

सामान्यतया—यह उत्तर दिया जा सकता है कि यह संकल्प बल का, साहस का अभाव है । संकल्प शक्ति की कमी है । जिसे दूर करने पर अभीष्ट उद्देश्यों में सफलता प्राप्त की जा सकती है । बात फिर घूमघाम कर वहीं आ गई । संकल्प और साहस का अभाव कहाँ है । यदि वे विशेषताएँ न रही होतीं तो दैनिक जीवन मे आये दिन असाधारण कदम उठाते रहना और उन्हें पूरा कर सकना किस प्रकार से सम्भव रहा होता । तब तो व्यक्ति मात्र कोल्हू का बैल बनकर रहता । पिछले अभ्यासों से हर बार किसी लाभदायक काम में हाथ डालने की हिम्मत ही न करता । मनुष्य के सामान्य जीवन में भी असाधारण घटनाएँ घटित होती है । विवाह होने पर लड़की पितृ-गृह छोड़कर ससुराल चली जाती है और वहाँ के अनभ्यस्त ढाँचे में ढल जाती है । लड़के भी सेना········ नेवी ·········जैसे क्षेत्रों में अनायास ही प्रवेश करते हैं । अभ्यस्त ढर्रे से सर्वथा भिन्न प्रकार की कार्य पद्धति अपना लेते हैं । जब ऐसा आये दिन होता रहता है तो पतन से रुकना और उत्थान के निमित्त चल पड़ने में ही ऐसी क्या विशेष बात है जो बन नहीं पड़ती । ढर्रा, अभ्यास इतना बड़ा अवरोध नहीं है जो मनुष्य पर इस कदर हावी हो जाय जिसे बदलना, उलटना बन ही न पड़े ।

इस असमंजस का समाधान ढूँढ़ने के लिए उथले उत्तर ढूँढ़ने से काम न चलेगा । गहराई में उतरना पड़ेगा और उन विवशताओं को ढूँढ़ना पड़ेगा जो पतन के विरोध एवं उत्कर्ष के अवलम्बन में ऐसी बाधा बनकर अड़ी होती हैं, जिनके पाने की चेष्टा में मनुष्य अपने को असमर्थ अनुभव करता, असफल रहता है एवं निराश दीखता है ।

समुद्र की गहराई में उतरने पर पनडुब्बियों को मोती मिलते हैं । तट पर खेलने वाले लड़के तो छोटे-छोटे सीप, घोंघे ही बटोर कर घर लौटते हैं । मनुष्य का चेतना क्षेत्र भी समुद्र की तरह गहरा और विशाल है । उसकी अनेकों परतें हैं । जिन्हें सचेतन की ऊपरी सतह से नीचे उतरने पर पायी जाने वाली अचेतन, अवचेतन सुपर चेतन की परतें कहते हैं । सचेतन की ऊपरी सतह तो मन की, कल्पनाओं की बुद्धि के परिमार्जन से ऐसी स्थिति उत्पन्न करती रहती है जो व्यावहारिक हो, पुराने अभ्यास, अनुभव से संगति खाती हो और परामर्श देने वाले को आगे बढ़ने का, कठिनाइयों से निपटने का मार्ग बता सकती हो । यह सब सरल है । सरल को आसानी से अपनाया जा सकता है । सचेतन परत के निर्धारण थोड़े से प्रयास में कार्यान्वित होते रहते हैं, किन्तु अन्य गहरी परतों में जमी हुई जड़ता से, हठवादिता से, निपटना सहज नहीं है । जन्म जन्मान्तरो के अनेक योनियों में परिभ्रमण करते समय के, वंश परम्परा के आधार पर अन्तःकरण के साथ जुड़े हुए भले-बुरे संस्कारों को झुठलाना कठिन पड़ता है । वे ही हैं जो हमारे उत्कृष्टता अपनाने में प्रधान मे बाधा बनकर अड़ते हैं ।

## आदतों की परिशोधन प्रक्रिया

हिमालय की चोटियों पर जमी बर्फ जब पिघलती है तो तीव्र जलधारा का प्रवाह उमड़ पड़ता है । उसे यदि आगे का रास्ता मिलता जाय तो गंगा-यमुना, ब्रह्मपुत्र की तरह वह आगे बढ़ती जाती है । अपने लक्ष्य समुद्र तक जा पहुँचती है, पर यदि रास्ते मे कोई

पर्वत अड़ जाय तो उस जलधारा को वहीं रुककर रहना पड़ता है । मान सरोवर जैसी झीलें बन जाती हैं । अग्रगामी प्रवाह रुक जाता है ।

मनुष्य का अन्तराल जिसमें हिमशिखरों जैसी अकूत जलराशि विद्यमान है । उसे यदि सूर्य किरणों जैसी ऊर्जा जितनी मात्रा में मिलती है, निर्झर उसी अनुपात से उमंगते हैं । गंगोत्री, यमुनोत्री का उद्‌भव इसी प्रकार हुआ है । प्रपात का प्रत्यक्ष दर्शन गौमुख जैसा होने लगता है । अवरोध अड़ने पर, बहाव रुकने पर बाँध खड़े हो जाते हैं । वे भी यदि दबाव सँभाल नही पाते तो जिधर-तिधर हिम नदी के रूप में बहते एवं सूखते रहते हैं । मानवी अन्तराल की भी यही स्थिति है । उसकी गतिशीलता यदि सुचारु रूप से गतिवान रहे तो जीवन सम्पदा विशाल सरोवरों, महानदो के रूप में अपनी महानता का प्रमाण, परिचय प्रस्तुत करती है पर अवरोध अड़ने पर तो विग्रह ही खड़े होते हैं । प्रपातों उत्पादों का ही सिलसिला चल पड़ता है । प्रगति में बाधा इस कारण पड़ती है । अवगति का निराकरण इसी कारण नहीं हो पाता । ऐसी ही स्थिति में कुत्साएँ और कुण्ठाएँ आ घेरती हैं ।

चर्म-चक्षुओ से प्रत्यक्ष शरीर ही सब कुछ करता दीख पड़ता है । निन्दा, प्रशंसा भी उसी की होती है । सुविधा साधनों का लाभ भी वही उठाती है । सुसम्पन्न, सुन्दर एवं आकर्षक भी वही लगता है । उपार्जन एवं अभिवर्द्धन में निरत वही दीखता है और वैभव का उपयोग भी वही करता है । सामान्यतया चेतना का अलग अस्तित्व दिखाई नहीं पड़ता है, किन्तु प्रथकता रहती अवश्य है । काया की कठपुतली को चेतना का बाजीगर ही विविध नाच नचाता है । इतने पर भी परदे की आड़ में बैठा होने के कारण वह दृष्टिगोचर नहीं होता । शरीर की हलचलें मस्तिष्क के साथ बँधे हुए और समग्र काया में बिखरे हुए ज्ञान तन्तुओं के माध्यम से ही होती है । स्पर्शजन्य सम्वेदना मस्तिष्क पर पहुँचती है । वहाँ अनुभूति होती है, साथ ही यह फैसला भी होता है कि किस अंग को उस स्थिति में क्या करना चाहिए । इस प्रक्रिया की समग्र जानकारी होने पर यह वस्तुस्थिति सहज ही समझी जा सकती है कि शरीर द्वारा क्रियाकृत्य कुछ भी क्यों न किए जाते हो पर उनका सूत्र संचालन मन के द्वारा ही होता है । इस तथ्य के आधार पर यह वस्तु-स्थिति सहज ही प्रकट हो जाती है कि स्थूल का संचालन सूक्ष्म क्षेत्र के संकेत पर होता है । इसलिए कर्तृत्वशील शरीर की गतिविधियों का निमित्त-कारण सूक्ष्म को ही समझा जाता है । जैसे विचार होते हैं, वैसे ही क्रिया-कलाप बन पड़ते हैं । मनःस्थिति के अनुरूप ही परिस्थितियों का निर्माण होता है ।

मन की रचना मधुमक्खी जैसी है । वह जिन फूलों में मधु के अनुरूप गन्ध आती है, उसी पर जा बैठती है और रस चूसना आरम्भ कर देती है । मन तितली की तरह है उसे एक जगह बैठे रहने में सन्तोष नही होता है । रंग-बिरंगे फूलों की विविधता उसे आकर्षित करती है । फलतः वह अनेकानेक रंग-रूप वाले फूलों पर यहाँ से वहाँ उड़ती रहती है । उसे बन्दर स्वभाव का ही कहा जा सकता है जिसका सहज कौतुक-कौतूहल इस डाली से उस डाली तक उचकता-मटकता रहता है । उसका श्रम, समय इसी आवारागर्दी में खप जाता है । मन भी यही करता है । उस पर अनेक रंगीली कल्पनाएँ चढ़ी रहती हैं । उन्ही के द्वारा धकेला जाने पर बेकार की रंगीली उड़ानें उड़ता और अपनी बहुमूल्य शक्ति नष्ट करता रहता है । ऐसी दशा में शरीर के क्रिया-कृत्य का भी दिशाहीन होना स्वाभाविक है । अभ्यस्त दिनचर्या में तो अचेतन मन कोल्हू के बैल की तरह निर्धारित विधि-व्यवस्था को निपटाता रहता है, पर जब आदर्श का प्रश्न आता है, पतन प्रक्रिया रोकने और उत्कर्ष की दिशा मे चलने की आवश्यकता सामने आती है तब वह उसे उपेक्षापूर्वक उड़ा देता है । नये उच्चस्तरीय कदम उठाने का साहस नही करता । अड़ियल बैल की तरह जहाँ जी करता है, फँस जाता है । ऐसा क्यों होता है ? यही विचारणीय प्रश्न है । हित-अनहित का तात्विक विवेचन क्यो नही हो पाता ? इस संदर्भ मे यह मोटे तौर पर तो नही कहा है कि उस प्रसंग को गम्भीर नहीं समझा गया है । उसे अपनाने के लाभ और न अपनाने पर होने वाली हानि की पूरी तरह कल्पना नहीं की गई । कृत्यो के परिणामों और सम्भावनाओ को दूरदर्शी विवेक के सहारे समझने की चेष्टा नही की गई । इस सन्दर्भ मे ध्यान एकाग्र नही हुआ और दूरगामी निष्कर्षों तक पहुँचने का प्रयत्न नहीं हुआ । बाल बुद्धि का यही चिन्ह है । उसमें तत्काल का लाभ, लोभ, आकर्षण ही प्रधान रहता है । बच्चे इसी आधार पर हठ करते

और मचलते हैं । यही स्तर बड़े होने पर भी बना रहता है । आयु की दृष्टि से प्रौढ़ या वृद्ध हो जाने पर भी अनेक लोग बचकाने ही देखे जाते हैं । वे तात्कालिक इच्छा की पूर्ति में लगे रहते हैं । दूरवर्ती परिणामों की बात न वे सोचते हैं और न वैसा अभ्यास ही होता है । इस कारण समझ काम ही नहीं देती कि विवेकशीलों जैसा निर्णय-निर्धारण कार्यक्रम क्या होना चाहिए । इसी अभाव के कारण आत्म-सुधार और आत्म-दर्शन के दोनों कार्य नहीं हो पाते । कोई महत्त्वपूर्ण कदम इसलिए नहीं उठने पाते । विशेषतया पतनोन्मुख प्रवृत्तियों को रोकने और सत्प्रवृत्तियों को उभारने की दिशा में कोई कहने लायक कदम उठ नहीं पाता ।

सामान्य स्तर पर इस अड़चन के निवारण में स्वाध्याय, सत्संग एवं चिन्तन-मनन का अभाव भी माना जाता है । यह सही भी है । सर्व विदित प्रतिपादनों में इनका भी कम महत्त्व नहीं है । हम जो पढ़ते, सुनते, देखते हैं, उसी आधार पर मानसिक स्तर का निर्माण होता है । चूँकि शिक्षितों द्वारा पढ़ा गया और अशिक्षितों द्वारा सुना गया तत्वदर्शन से लेकर कथा प्रसंगों तक ऐसा होता है जो विवेक जगाता नहीं वरन् उसे और भी अधिक कुण्ठित करता है । अन्धविश्वासों, मूढ़ मान्यताओं, भाग्यवादी परावलम्बन शैली का समर्थन करता है । मनोरंजक समझे जाने वाले साहित्य को तो कामुकता भड़काने एवं छद्म रचने; आक्रमण करने के लिए उभारने वाले ही प्रसंग भरे होते हैं । धर्म-मंचों से भी ऐसे ही कथानक सुनने को मिलते हैं, जो श्रद्धासिक्त भावुकता को कहीं से कहीं घसीट ले जाते हैं । वास्तविक स्वाध्याय वह है जो अपनी निज की तथा सम्बन्धित परिकर की समस्याओं के हर पहलू पर प्रकाश डाले और पाठक को, श्रोता को सही निर्णय तक पहुँचने में सहायता करे । ऐसी पुस्तकें सर्वत्र उपलब्ध हों ऐसी बात तो नहीं है, पर उनकी कमी अवश्य है । उन्हें जहाँ-तहाँ से ढूँढ़कर उपलब्ध भी करना पड़ता है । ऐसा नियमित स्वाध्याय यदि विचारपूर्वक अपनी स्थिति के साथ तालमेल बिठाते हुए पढ़ा जाय, तो उसका परिणाम विवेकशीलता की जागृति में सहायक सिद्ध हो सकता है । यह है वह परिष्कृत विचार शैली जिसे मेधा कहते हैं । इसके प्रकाश मे अपना मार्ग खोजने मे सहायता मिल सकती है ।

सामान्य परामर्श के अनुसार दूसरा मार्ग सत्संग की उपलब्धि का बताया जाता है । यदि चरित्रवान, विचारशील, प्राणवान व्यक्तियों के साथ रहने का—उनकी जीवनचर्या को गम्भीरतापूर्वक समझने, अपनाने का प्रयत्न किया जाय तो अपने अन्तराल में भी आदर्शवाद की उमंगें उठ सकती हैं, किन्तु ऐसा अवसर इन दिनों प्राप्त कर सकना अत्यधिक कठिन है । महत्त्वपूर्ण व्यक्ति महत्त्वपूर्ण कार्यों में संलग्न होते हैं । उनका समय अत्यधिक व्यस्त होता है । उच्चस्तरीय समस्याओं को सुलझाने, उसी सन्दर्भ में पढ़ने-सोचने, लिखने, मिलने के लिए वे अपना समय लगाते हैं । उनके साथ लम्बे समय तक साथ रहने जैसा अवसर मिलना अत्यधिक कठिन ही नहीं, असम्भव जैसा भी है । जो लोग सत्संग के नाम पर बकवास करते-कराते फिरते हैं, वे ऐसे नहीं होते कि उनके फेर में पड़ा जाय । ऐसे दिग्भ्रान्त करने वाले सत्संगों की अपेक्षा तो प्रकृति के सान्निध्य में बैठकर टहलना कहीं ज्यादा अच्छा है । उस सुनसान में भी प्रकृति की विधि व्यवस्था की बात देखने, समझने में निज के बुद्धि विवेक में भी बहुत कुछ पाया जा सकता है ।

अपने चारों ओर का परिकर लालचियों, व्यामोहग्रस्त, अनीति अपनाने वाले एवं दुर्गुणी लोगों से भी भरा पड़ा है । उनकी उपलब्धियाँ गौर से देखने वाले को ललचाती हैं और अनुकरण की प्रेरणा देती हैं । जिस प्रकार पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति ऊपर से नीचे की ओर खींचती है उसी प्रकार सम्पर्क क्षेत्र में चलने वाली हलचलें भी ऐसी होती है जो सामान्य-जन पर वही छाप छोड़ती हैं कि बहुजन समाज जिस दिशा मे चल रहा है उसी पर अपने को भी चलना सुविधाजनक रहेगा । यह सहज सामान्य बन जाती है और आयाचित कुसंग अनायास ही सिर पर लदता है । इस आधार पर अचिन्त्य चिन्तन और अनाचार ही अपने पल्ले बँधता है । इस चक्रव्यूह से निकलने का एक ही मार्ग है कि महामानवों की जीवनचर्या, कार्यपद्धति एवं विचारणा को पढ़ा-सुना जाय । प्रत्यक्ष मिलन न हो सकने पर भी दिव्य मानवों का यश शरीर दिवंगत होते हुए भी मार्गदर्शन के लिए सदा-सर्वदा उपस्थित रह सकता है । जिन्हें सत्संग का लाभ लेकर अपनी कल्याणकारी मेधा जगानी हो उन्हे इसी उपाय का अवलम्बन करना चाहिए ।

स्वाध्याय, सत्संग, बाहरी माध्यमों, उपकरणों, व्यक्तियों द्वारा उपलब्ध किए जाते हैं। साथ ही दो अवलम्बन ऐसे भी हैं जिन्हें भीतर क्षेत्र में ही खोजा और खींचा जाता है। वे हैं चिन्तन और मनन। अपने गुण दोषों को सूक्ष्म से देखना। अपनी मान्यताओं, आकांक्षाओं, अभिरुचियों को आदर्शवाद की कसौटी पर कसना। यही है चिन्तन। इसे रोग का निदान कह सकते हैं। निदान के उपरान्त ही चिकित्सा बन पड़ती है। आत्म-परिष्कार के समस्त पक्षों पर समग्र दृष्टि से विचार करना और साथ ही उनसे पीछा छुड़ाने के लिए सुनिश्चित संकल्प करना मनन है। इस हेतु एक सुनिश्चित कार्यक्रम बनाना होता है। दूरगामी योजना बनाते हुए उस पर अन्त तक चलते रहने का व्रत धारण करना—यही है मनन। चिन्तन में भूतकाल से लेकर वर्तमान तक का निरीक्षण-परीक्षण करते हुए खोटों को समझना पड़ता है। मनन इससे अगली आवश्यकता पूरी करता है। यह सुधारवादी योजना बनाकर देता है। साथ ही उसे अपनाकर एकाकी चल पड़ने का साहस प्रदान करता है। ऐसे निश्चय यदि कल्पना लोक में ही मंडराते रहें तो बात दूसरी है अन्यथा यदि उन्हें कार्य रूप में विकसित होने का अवसर मिले तो उसका प्रभाव, परिणाम किसी को भी सामान्य से असामान्य बना सकता है।

प्रत्यक्ष और प्रचलित सुधारवादी पद्धति यही है। स्वाध्याय, सत्संग, चिन्तन, मनन का आश्रय लेकर आमतौर से लोग सुधरते और आगे बढ़ते हैं। इसलिए सर्वमान्य, सर्वसुलभ विधि-व्यवस्था यही है। इतने पर भी यह नहीं समझना चाहिए कि बात समाप्त हो गई। अभी उन हिस्सों को समझना जो अन्तराल की किन्हीं गहरी पर्तों में छिपे बैठे रहते हैं और जब ज्वालामुखी की तरह फूटते हैं तो स्वाध्याय, सत्संग जैसे अवलम्बनों से हाथ लगाकर उसे लावे की तरह उछालकर फेंक देते हैं।

## अवरोध के उपरान्त प्रगति की सम्भावना

बाजारू व्यवहार नकद लेन-देन के आधार पर चलता है। "इस हाथ दे, इस हाथ ले" का नियम बनाकर ही छोटे दुकानदार अपना काम चलाते हैं। खरीदारों को भी अपनी गरीबी को देखते हुए जेब में पैसा रख कर ही बाजार से सौदा लाने का साहस करना पड़ता है। यह प्रथा बहुप्रचलित है। "आज नकद, कल उधार" के बोर्ड कई दुकानों पर लगे होते हैं। उधार को प्रेम की कैंची समझा जाता है और नकद भुगतान की शर्त पर ही लेन-देन किया जाता है।

इतने पर भी यह नियम अकाट्य और अनिवार्य नहीं है। सर्वदा सर्वथा ऐसा ही होता हो, सो बात भी नहीं है। बैंकें पूरी तरह उधार देने-लेने पर ही अवलम्बित रहती हैं। वे लोगों की राशि लम्बे समय के लिए भी जमा करती हैं और उस पर अच्छा ब्याज भी देती हैं। इसी प्रकार कर्ज भी देती हैं और उसे किश्तों में चुकाने की सुविधा भी देती हैं। ऊँचे व्यावसायिक क्षेत्रों में भी यह प्रथा प्रचलित है। माल उठा दिया जाता है और निर्धारित अवधि में उसे बेचकर पैसा वापस कर देने की सुविधा मिलती है। इस आधार पर बिना पूँजी वाले या कम हैसियत वाले भी लम्बे-चौड़े व्यवसाय करते देखे गए हैं। उसमें वे अपना लाभ भी कमा लेते हैं और जिससे उधार लिया था, उसे भी कमाई करने का अवसर देते हैं। सरकारी क्षेत्रों में यह प्रथा चलती है। कई विभाग मकान आदि बनाकर देते हैं और किश्तों में उसकी वापसी की सुविधा देते हैं। दुर्भिक्ष पड़ने पर भी ऐसी धनराशि तकावी के रूप में दी जाती है, जो बाद में फसल आने पर वापस जमा की जाती है।

नकद व्यवहार कम पूँजी वाले और कम विश्वास वाले क्षेत्र में चलता है। अपरिचितों, चलते-फिरते लोगों के बीच भी यही व्यवहार है। रेल, डाक, तार आदि में पेशगी और एक मुश्त मूल्य चुकाये जाने का नियम है, पर बीमा कम्पनियों में निर्धारित अनुबन्ध के लिए चुकाया जाने वाला प्रीमियम किश्तों में जमा करना पड़ता है।

उपरोक्त दोनों व्यवहारों के उदाहरण जीवन में अपनाई गई गतिविधियों के परिणाम उपलब्ध करने के सम्बन्ध में लागू होते हैं। किसी को दुष्कर्म के बदले दण्ड मिलता है, तो उस कैद की अवधि को कई वर्षों में एक-एक दिन बिताते हुए पूरी करनी पड़ती है। रिटायर होने पर सरकारी पेन्शन भी किश्तों में ही मिलती है। बच्चों को उच्च शिक्षा दिलाने में अभिभावक किश्तों में ही पढ़ाई का खर्च उठाते रहते हैं। जब वह पक्ष पूरा

हो जाता है, तो स्नातकोत्तर परीक्षा पास करने के बाद युवक बड़ा अफसर बनता है और मिलने-वाले वेतन से परिवार की क्षतिपूर्ति करने लगता है, जो उसकी पढ़ाई के समय साधन जुटाने मे खर्च हुई थी ।

ठीक यही प्रक्रिया मनुष्य शरीर में प्रवेश करने के उपरान्त भी किए गए दुष्कर्मों के सम्बन्ध में है । उनका सारा प्रतिफल तत्काल नहीं मिलता । यदि मिलने लगे, तो उसी दबाव में जीव दबा रह जायेगा । जीवन क्रम चलाने के लिए या प्रगति की व्यवस्था करने के लिए कोई अवसर ही हाथ न रहे । दण्ड की प्रताड़ना से ही कचूमर निकलता है । कर्मफल का अवश्यम्भावी परिणाम चट्टान की तरह अटल है । भले-बुरे कर्म अपने-अपने प्रतिफल सुनिश्चित रूप से उत्पन्न करते हैं, पर उनके सम्बन्ध मे यही नियति निर्धारण है यह उपलब्धि किश्तों में हो, जिसने दुष्कर्म किए हैं, उसे दण्ड धीरे-धीरे जन्म-जन्मान्तरों में भुगतना पड़ेगा । यह नियम सत्कर्मों के बारे में भी, वह भी धीरे-धीरे मिलता रहता है ।

इस विधा के कार्यान्वित होने की एक स्वसंचालित प्रक्रिया है । कर्म-बन्धनों की ग्रन्थियाँ बनकर अन्तराल की गहराई में जड़ जमा लेती हैं और फिर धीरे-धीरे अपने अंकुर उगाती रहती हैं । इनका स्वरूप अन्तःप्रेरणा बनकर फलित होता है । जिससे कुकर्मों के फलस्वरूप नारकीय प्रताड़ना भुगतनी पड़ती है । उनकी अन्तःचेतना ऐसी आकांक्षाएँ उत्पन्न करती हैं, जो आगे भी कुकर्मों की ओर धकेले । ऐसी दशा में सुधार-परिष्कार के सामयिक प्रयत्न उस अन्तःप्रेरणा के दबाव से निरस्त होते, असफल रहते हैं । यदि सत्कर्म सुसंस्कार बनकर अन्तराल में जमे हैं, तो बाह्य परिस्थितियों के प्रतिकूल होने पर भी अपना काम करते हैं । अवरोधों को पराजित करते रहते है । पतन के वातावरण को भीतरी चेतना उलट देती है और अपने बलबूते बाधाओं को तोड़ता-मरोड़ता, भूलता-भटकता अन्ततः सन्मार्ग को प्राप्त कर लेता है और सद्गति का, विशिष्ट प्रगति का अधिकारी बनता है । यदि कुसंस्कारों की परतें प्रबल हुई, तो चिन्तन और क्रिया को प्रभावित करके ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करते हैं, जिससे मनुष्य कठिनाइयों के जाल में फँसे, अनेक प्रकार की मान्यताएँ सहे । तत्काल किए कर्मों का समय-समय पर फल भुगतते रहना इसके अतिरिक्त है । लोग अपने कर्मों के फल हाथों-हाथ भी भुगतते रहते हैं । "इस हाथ दे, उस हाथ ले" का व्यवहार भी चलता है । भले-बुरे फल तत्काल मिलते भी देखे गए हैं, किन्तु वह सारा हिसाब तत्काल बेबाक नहीं हो जाता । बहुत कुछ बाकी भी रह जाता है । कुछ गोदाम में जमा रहता है । प्रारब्ध इसी को कहते हैं ।

बीज के अन्तराल में समूचा वृक्ष सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहता है । यह सत्ता अप्रत्यक्ष होती है, पर अवसर पाकर भूमि, खाद, पानी, मौसम आदि के सहारे बीज में छिपा वृक्ष अंकुर बनकर फूटता है । धीरे-धीरे पौधे के रूप में विकसित होता है और कालान्तर में वह वृक्ष बनकर फूलने-फलने लगता है । यही परिणति संचित कर्मों की भी होती है । इसी को भाग्य भी कहते हैं । अप्रत्याशित अवसर इस आधार पर उपस्थित होते रहते है । वे भले भी हो सकते है और बुरे भी । विकासोन्मुख भी और पतनोन्मुख भी । सुखदायक भी और दुःखदायक भी । लाभप्रद भी और कष्टदायक भी । पुण्य का फल सुख है और पाप का दुःख, पर इन भुगतानों की व्यवस्था कोई और नहीं करता । कहीं अन्यत्र से नहीं होती । यह सारा निपटारा संचित कर्मफल ही करते रहते हैं । वे बीज बनकर अन्तराल में जम जाते है और क्रमानुसार जन्म-जन्मान्तरों में प्रेरणा उभार बनकर अपना काम करते रहते है । अप्रत्याशित सफलताएँ, असफलताएँ, उपलब्धियाँ, पीड़ाएँ और व्यथाएँ इसी आधार पर सामने आती रहती है ।

कितने ही पाप बीज ऐसे भी होते हैं, जो शरीर में उसी तरह फूटकर निकलते हैं, जैसे पारा खा लेने पर वह शरीर के अनेक भागों में व्रण बनकर बाहर निकलता है । कई रोग ऐसे होते हैं, जिनका आहार-विहार से सम्बन्ध नहीं होता । सब कुछ सुचारु रूप से चलने पर भी ऐसी बीमारियाँ अनायास ही उभर आती हैं, जिसका निदान, उपचार किसी चिकित्सक के हाथ नहीं आता । दवादारू होती रहती है, पर व्यथा टलने का नाम नहीं लेती, केवल मुखौटे भर बदलती रहती है । एक लक्षण सुधरने नहीं पाता कि दूसरा नया उपद्रव नये रंग-ढंग से उभर आता है । ऐसे असाध्य, कष्ट साध्य रोग प्रायः संचित कुकर्मों की प्रतिक्रिया होते हैं । वह संचित भण्डार जब तक निपट नहीं

जाता, तब तक उन व्याधियों की शृंखला भी समाप्त नहीं होती । सज्जन, सदाचारी, सात्त्विक, संयमी भी इस कुचक्र में फँसे होने के कारण शारीरिक रोगों से पीड़ित रहते देखे गए हैं ।

यही बात मानसिक रोगों के सम्बन्ध में भी है । कुसंस्कार भी सनक, मनोरोग, दुस्स्वभाव, अचिन्त्य बनकर उभरते हैं । उनकी परिणति कष्टकारक परिस्थितियों में सामने आती है । हवन करते हाथ जलता है, सन्मार्ग पर चलते ठोकर लगती है । उल्टे परिणाम निकलते भी अनेक बार देखे जाते हैं । बुरा करने पर तो असन्तोष, असम्मान, असहयोग, घृणा, तिरस्कार जैसे हेय प्रतिफल तुरन्त मिलते हैं, पर उनका समुचित दण्ड मिलने में अक्सर देरी हो जाती है । वह अनिष्ट किश्तों में उभरता है और बहुत समय में पूरा होता है । यही है प्रगति पथ के अवरोधों का प्रबल समुच्चय । सत्कर्मों का सीधा मार्ग है । उनका परिणाम तो श्रेयस्कर ही होता है; पर संचित अशुभ संस्कारों का अन्तराल में उपस्थित भण्डार भीतर से उछलकर पग-पग पर सामान्य और महत्त्वपूर्ण कार्यों में विघ्न बनता रहता है । सफलता के मार्ग में चट्टान बनकर आये दिन अड़ता रहता है । दुर्भाग्य जैसा संकट आये दिन देखने को मिलता रहता है । कारण, स्वरूप और स्थान का सही पता न चल पाने के कारण उसका निवारण, निष्कासन भी नहीं हो पाता । इसे एक विषम समस्या और उलझन भरी विडम्बना ही समझना चाहिए ।

आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ माधव निदान के रचयिता माधवाचार्य ने गायत्री महामन्त्र के तेरह वर्ष में तेरह पुरश्चरण किए, पर उन्हें सफलता की कोई झलक-झाँकी न मिली । वे निराश होकर काशी चले गए और किसी तान्त्रिक के तत्वाधान में श्मशान साधना करने लगे । एक वर्ष में भैरव सिद्ध हुए । दर्शन देने की प्रार्थना करने पर उन्होंने उनसे अपनी असमर्थता व्यक्त की । कहा—"आपका ब्रह्मतेज असाधारण रूप से उभरा हुआ है । इतनी ऊर्जा मैं सहन नहीं कर सकता । जो कहना है, मेरे अदृश्य रहने की स्थिति में ही कह दीजिए ।" माधवाचार्य ने विचार करके कहा—"तब आप इतना ही बता दीजिए कि मेरी साधना निष्फल क्यों रही ?" भैरव ने माधवाचार्य के तेरह जन्मों का विवरण क्रम दिखाया । उसमें अनेकों पाप बन पड़े थे । उनकी ग्रन्थियाँ अन्तराल में जमी थीं । शुभ कार्य हाथ में लेने, उनमें मन न टिकने देने, सफलता न मिलने देने में अनेकों बाधाएँ उपस्थित करती रहती थीं । भैरव ने कहा—"आपके तेरह वर्ष की गायत्री उपासना में वे संचित पाप कर्म नष्ट हो गए । अब आप जो भी कार्य करेंगे, उसमें सफलता पायेंगे ।" माधवाचार्य पुनः अपने पुराने स्थान को लौट गए और नये सिरे से साधना की और एक वर्ष में ही अभीष्ट सिद्धि प्राप्त कर ली ।

ऐसे अगणित उदाहरण हैं, जिनमें न केवल आध्यात्मिक साधनाएँ, वरन् भौतिक प्रगति योजनाएँ भी इस कारण निष्फल होती रही हैं कि वर्तमान प्रयत्न सही होते हुए भी संचित कुसंस्कारों ने बाधा डाली और सत्प्रयत्नों की सुखद सम्भावना प्रकट न होने दी ।

इस अवरोध को दूर करने के लिए प्रगति पथ पर अग्रसर होने वालों को अपने अन्तराल में जमे हुए दुष्कर्मों का परिशोधन करना होता है । इस प्रायश्चित में कई प्रकार की तपश्चर्याओं से प्राण ऊर्जा प्रज्वलित करनी होती है, जो उस संचित कचरे को जला सके । साथ ही अनाचारों के कारण जो दूसरों को क्षति पहुँचती है, वातावरण में कुप्रचलन की प्रवाह धारा बही है, उसके निराकरण के लिए पुण्य-परामर्श के विशेष प्रयास भी कार्यान्वित करने होते हैं । कपड़ा धो डालने पर उसे किसी भी रंग से रंगा जा सकना सरल होता है । खेत को जोत देने के बाद बीज बोना लाभप्रद होता है । नींव खोदने के बाद दीवार उठाना सही है । इसी प्रकार आत्मिक या भौतिक प्रगति की बात सोचने वालों में से प्रत्येक को अपने संचित कुसंस्कारों के परिशोधन की योजना बनानी चाहिए । यही सर्वतोमुखी प्रगति का प्रथम चरण है ।

## परिष्कार और परिशोधन की पृष्ठभूमि

लंका विजय आवश्यक थी । सीता की वापसी और सतयुग की स्थापना उसके बिना नहीं हो सकती थी । इसलिए युद्ध छेड़ने से पहले समुद्र पर पुल बाँधना पड़ा । यदि यह न बन पड़ता तो सारी महत्त्वाकांक्षी योजना धरी रह जाती । भगवान श्रीकृष्ण

की योजना थी कि खण्डों में बिखरे हुए स्वेच्छाचारी और आक्रमण के अभ्यासी राज्यों को मिलाकर एक सुविस्तृत-सुसंगठित वृहत्तर भारत की संरचना की जाय । पर इनमे निहित स्वार्थ पग-पग पर रोड़े अटकाते हैं । इन सबको महाभारत रचाकर महायुद्ध की जलती ज्वाला मे झोंक देना पड़ा । इसके बाद परीक्षित के नेतृत्व में नवयुग की सुविस्तृत योजना कार्यान्वित हुई । अन्य विषम अवसरों पर भी जब धर्म की सुखद पुनर्स्थापना आवश्यक हुई तो भगवान ने अवतार लिए और निर्धारित धर्म स्थापना का लक्ष्य पूरा करने के लिए प्रथम चरण अधर्म उन्मूलन के रूप में उठाया और असुरता का उन्मूलन किया । उसके कर्णधारों को धराशायी किया ।

यही परम्परा सत्प्रवृत्तियों को उभारने मे, सत्प्रयोजनों की पूर्ति की दिशा में अग्रसर होने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपनानी होती है । घर बुहारने के बाद अतिथियों को सम्मानपूर्वक बिठाने की बात बनती है । बर्तन माँजने के बाद उनमें रसोई पकाई और परोसी जाती है । प्रगति का प्रथम चरण कुसंस्कारों का परिमार्जन है । इसके बिना न शालीनता विकसित होती है और न सज्जनोचित प्रतिभा उभरती है । जब तक इतना न बन पड़े, न अपना व्यक्तित्व निखरता है, न पौरुष उभरता है । प्रगति की यही प्राथमिक और अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं । उसकी उपेक्षा करके बालू की दीवार खड़ी नही की जा सकती । आन्तरिक अवरोधों के रहते व्यक्तित्व का समग्र विकास नहीं हो सकता । वह विकसित न हो तो महत्त्वपूर्ण कार्यों में सफलता प्राप्त कर सकना सम्भव ही नहीं होता । रोगों से आक्रान्त काया का कल्प करने के लिए उसके पेट में, रक्त में भरी विषाक्तता का परिशोधन करने के उपरान्त ही चिकित्सा का समुचित लाभ मिलता है । यदि अन्तराल में विषैली सड़न ठुँसी हुई हो तो रोग निवारण के उपचार यत्किंचित ही परिणाम दिखाते है और वे आकाशीय बिजली की तरह क्षणभर चमककर गायब हो जाते हैं ।

मानसिक सन्तुलन बनाने में उथले प्रयास करते हुए दुस्वभावो, दोषदुर्गुणों, अवांछनीय आदतों का परित्याग करना पडता है । उनके रहते उद्विग्नता बनी रहती है । उथल-पुथल मची रहती है । ऐसी दशा में मानसिक सन्तुलन, विकास और बड़े कार्यों का दायित्व बना सकने के लिए जिन मानसिक विशेषताओं की आवश्यकता रहती है, वे नहीं उभर पाती । भावना-क्षेत्र के सम्बन्ध में भी यही बात है । मलिनता की धुन्ध जब अन्तराल मे छाई रहती है, तो उस तपन मे ग्रीष्म के चक्रवातों की तरह कुकृत्यों के उभार उठते रहते हैं । कुत्साएँ, कुण्ठाएँ जब जड़ जमाये बैठी रहती हैं तो नीरसता, निराशा, निष्ठुरता एवं ललक-लिप्साओं की कीचड़ का ही जमाव रहता है । उस दल-दल जैसे अन्तराल में श्रेष्ठता की दिशा में चलने के इच्छुक चरण आगे बढ़ नहीं पाते, वरन् उल्टे उसमें गहरे फँसते जाते हैं । झाड़-झंखाड़ वाली खर-पतवारों से भरी हुई भूमि को परिश्रमपूर्वक साफ किया और समतल बनाया जाता है । इसके उपरान्त ही कृषि करने, उद्यान लगाने, घर बनाने जैसी उपयोगी संरचनाएँ उस स्थान पर कर सकने की सम्भावना बनती है । यही प्रक्रिया व्यक्तित्व के बहिरंग और अन्तरंग पक्षों को समुन्नत बनाने से पूर्व करनी होती है । दुर्गुणों, दुर्व्यसनों के रहते कोई न तो सज्जनोचित् सम्मान-सहयोग प्राप्त कर सकता है और न महत्त्वपूर्ण सफलताओं के आधार पर यशस्वी बन पाता है । इसलिए प्रगति-पथ पर चलने के प्रत्येक इच्छुक को गम्भीरतापूर्वक समझ रखना चाहिए कि अवांछनीयताओं को निरस्त करने का एक कदम उठाना और सत्प्रवृत्तियाँ अपनाने का दूसरा चरण बढ़ाना पड़ता है । लक्ष्य तक पहुँचने के लिए इस प्रक्रिया को निरन्तर गतिशील रखना पड़ता है ।

उथली गन्दगी को बुहारी, साबुन, पानी आदि के सहारे दूर किया जा सकता है । कुसंग से, अनुपयुक्त वातावरण के प्रभाव से उत्पन्न हुए दुर्गुणों को वातावरण बदलने पर छुटकारा मिल जाने की सम्भावना बन जाती है । कुसंग छोड़ने और सत्संग अपनाने से भी बाहरी परत का सुधार हो जाता है । व्यवसाय बदलने से भी स्वभाव में परिवर्तन होता है, किन्तु टेढ़ा प्रश्न उन कुसंस्कारों का है, जो अन्तराल की गहराई में, अदृश्य रूप में अविज्ञात स्थिति मे अपनी मजबूत पकड़ जमाये रहते हैं । इनका परिमार्जन आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर ही हो सकता है । जमीन मे काफी गहराई तक छेद करके खनिज तेल उपलब्धियाँ प्राप्त करनी होती हैं तो उसके लिए शक्तिशाली बरमे लगाने पड़ते हैं । इससे कम मे वह प्रयोजन पूरा नहीं हो सकता । ऊपरी

सतह पर कुरेदबीन करने से बड़ी उपलब्धियाँ प्राप्त नहीं हो सकतीं । *आत्मोत्कर्ष तथा ऋद्धि-सिद्धियों से भरा-पूरा* महान लाभ प्राप्त करने के लिए तद्नुरूप मूल्य चुकाने की, साहस करने की आवश्यकता पड़ती है ।

हर समझदार को अनुभव करना चाहिए कि वृक्षों पर फल ऊपर आसमान से टपक कर डालियों पर नहीं चिपकते वरन् जमीन में नीचे धँसी हुई जड़ों द्वारा एकत्रित किए गए रस द्वारा वृक्ष का समूचा ढाँचा विकसित होता है, जिसमें टहनियों पर फल लगना भी सम्मिलित है । सर्वतोन्मुखी एवं महत्त्वपूर्ण प्रगति के लिए अन्तराल की गहन पर्तों का परिमार्जन एवं परिष्कार होना चाहिए ।

यह दोनों ही कार्य प्रायश्चित साधना द्वारा सम्पन्न होते हैं । उससे इस जन्म के विदित और पूर्व जन्मों के संचित सभी पाप कर्मों द्वारा विनिर्मित कुसंस्कारों का उन्मूलन तथा अभिनव सुसंस्कारों का अभिवर्धन होता है । इसे रक्तशोधन की, जुलाब द्वारा पेट की सफाई के समतुल्य समझा जा सकता है । बरसात के बाद मकानों की टूट-फूट का सुधार एवं लिपाई-पुताई का उपक्रम दिवाली से पहले पूरा कर लिया जाता है । होली में पतझड़ का कूड़ा-करकट जला देने के पीछे भी यही भावना सन्निहित है । प्रायश्चित प्रक्रिया भी यही है । इसे नाली में जमी हुई कीचड़ भी कहा जा सकता है । कच्चे कुओं की तली में कीचड़ भर जाती है और साथ ही छोटे कीड़े भी उपज पड़ते हैं । उसकी समय-समय पर सफाई करानी पड़ती है, दवा डालकर कीड़े मारने पड़ते है, अन्यथा पीने वालों का स्वास्थ्य खतरे में पड़ जाता है । प्रायश्चित का विचार मन में न आने पर पुराने कुसंस्कार तो जमे ही रहते हैं, साथ ही नये कुविचारों, कुकर्मों का बोझ नये सिरे से और भी लदता जाता है । यह स्थिति ऐसी ही है जैसे नाव मे सीमा से अधिक माल भर दिए जाने पर उसका डूब जाना ।

मनुष्य को वयस्क होने की स्थिति मे जो पाप जान-बूझकर बन पड़े है उतनों का ही स्मरण रहता है । कई बार वे भी विस्मृत हो जाते है क्योंकि उन्हें सामान्य बात मानकर उपेक्षित किया जाता रहता है । अपने प्रति कठोर और दूसरों के प्रति नरम हुए बिना आत्म-समीक्षा के लिए जिस पैनी दृष्टि की आवश्यकता होती है, वह उभरती ही नहीं, न यह अहसास होता है कि *अब तक कितनों को कितनी हानि पहुँचाई जा* सकी, अपने स्वभाव-अभ्यास को कितनी अवांछनीयता से भर लिया गया । ऐसी दशा में आत्म-निरीक्षण प्रथम कार्य हो जाता है । सुधार प्रायश्चित की बात इसके उपरान्त ही ध्यान मे आती है, अन्यथा आम मनुष्य अपने अहंकार में ही डूबा रहता है, अपने को निर्दोष समझता रहता है और हर घटना के लिए दूसरों को ही दोषी बताता रहता है अथवा भाग्य को कोसता रहता है, समय को, भवितव्यता का निमित्त कारण बताकर अपना पल्ला साफ कर लेता है । अपने दोषों को छिपाने की कला में प्रवीण होने के कारण निन्दा, भर्त्सना, प्रताड़ना का अवसर भी नहीं आता । पापों की समीक्षा चाहे अपने द्वारा हो या दूसरों के द्वारा, तभी उनकी विस्मृति एवं उपेक्षा होते रहने का क्रम बदलता है । तभी यह सूझ पड़ता है कि सुधार-परिष्कार की बात उथले रूप में करके ही सन्तोष नहीं कर लिया जाना चाहिए, वरन् उसकी गहराई में उतरकर मर्मस्थल की गहराई में घुसे हुए काँटों को चीरा देकर निकालना चाहिए, अन्यथा वे नासूर बनकर सदा रिसते रहेंगे और पीड़ापूर्वक कसकते रहेंगे ।

प्रायश्चित क्रम यहीं से शुरू होता है कि वर्तमान जीवन की अद्यावधि में की गई अवांछनीयताओं को नोट किया जाय और उसके साथ पूर्व जन्मों की अनुमानित दुष्प्रवृत्तियों को भी जोड़कर एक अनुमानित भार का आंकलन किया जाय और उसकी तुलना का पुण्य कृत्य करके बराबरी का भुगतान करने का निर्धारण किया जाय । इस सन्दर्भ में किसी सम्बद्ध प्रामाणिक आत्मवेत्ता से परामर्श भी लिया जा सकता है, पर वह व्यक्ति इतना उदार और आत्मीयता की सम्वेदनाओं से भरा-पूरा होना चाहिए जिसका दृष्टिकोण चिकित्सक जैसा हो, दण्डाधिकारी या छिद्रान्वेषी जैसा घृणा बटोरने वाला नहीं, अन्यथा वह सुनी हुई गुप्त वार्ता को अपने उथलेपन के कारण जहाँ-तहाँ बिखेरेगा और हृदय खोलने वाले के विश्वास पर घातक प्रहार करेगा । परामर्श के लिए कोई उपयुक्त सत्पात्र मिल सके तो उससे पाप के समतुल्य पुण्य करके चढ़े हुए कर्ज को निपटाने की योजना बनानी चाहिए, अन्यथा स्वयं ही अपराधी और स्वयं ही न्यायाधीश बनकर अपना उद्धार-परिष्कार स्वयं

ही करना चाहिए। कुमारिल ने अपने पाप के प्रायश्चित का स्वरूप स्वयं ही निर्धारित कर लिया था। पाण्डव भी अपने पक्ष की गल्तियों का अनुमान लगाते हुए हिमालय पर गलने चले गए थे।

आवश्यक नहीं कि पापों का प्रतिफल प्रताड़नाओं के रूप में भुगता जाय। सहज और उपयोगी तरीका यह है कि जितना गड्ढा खोदकर जमीन ऊबड़-खाबड़ बनायी गई है, उसे नई मिट्टी भरकर समतल बना दिया जाय। पापों के समतुल्य पुण्य करके दोनों पलड़ों का वजन बराबर किया जाय, इससे आत्म-सन्तोष भी होता है और लोकहित भी। मात्र दण्ड भुगतने पर इन दोनों में से एक भी प्रयोजन पूरा नहीं होता।

प्रायश्चित के दो स्वरूप हैं—एक तप और दूसरा पुण्य। अपने को संयम का अभ्यास कराना एवं उपासना के माध्यम से श्रद्धा का सम्वर्धन करना—यह एक चरण है। दूसरा चरण सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन की उच्चस्तरीय कही जाने वाली सेवा-साधना में निरत होना। इसी को पुण्य-परमार्थ भी कहा जाता है। इन दोनों प्रयोजनों की आरम्भिक रूपरेखा तो तत्काल विनिर्मित करके कार्यान्वित करनी चाहिए और उसे लम्बे समय तक चलते रहने की सुनिश्चित योजना संकल्पपूर्वक बनानी चाहिए। जन्म-जन्मान्तरों के संचित भार-भण्डार को खाली करने के लिए वर्तमान जीवन का जो थोड़ा-बहुत अनिश्चित समय शेष रहा है, उसमें तो संलग्न होना ही चाहिए। कदाचित् पापों के बोझ की तुलना में यदि पुण्य अधिक बन पड़ता है तो उसमें और भी अधिक लाभ है। यह पुनीत पूँजी इस जन्म में तथा अगले जन्मों में अनेक प्रकार के सुयोग्य-सौभाग्य उपस्थित कर सकती है, भविष्य को हर दृष्टि से उज्ज्वल बना सकती है।

## पृष्ठभूमि बने बिना प्रगति नहीं

पाप कर्म अनास्था के कारण बन पड़ते हैं। उनकी जड़ है आदर्शों के प्रति श्रद्धा। अनास्था का अनुपात अधिक हो जाने पर मानवी गरिमा को अक्षुण्ण रखने की उत्कंठा का अस्तित्व ही नहीं रहता। न चिन्तन, चरित्र व्यवहार क्षेत्र में मर्यादाओं का पालन करने पर सुदृढ़ रह जाता है और न वर्जनाओं से बचे रहने की संकल्प शक्ति रह जाती है। ऐसी दशा में आकांक्षाएँ और क्रियाएँ अनौचित्य अपनाने के लिए लालायित हो उठती हैं क्योंकि न तो उनमें तत्काल ही कोई बड़ा लाभ दीखता है और न भविष्य में सामने आने वाले दुष्परिणामों का ही अनुमान लगा सकना सम्भव होता है। ऐसी दशा में पतनोन्मुख दुष्प्रवृत्तियाँ ही जीत बोलती हैं और उन्हीं की प्रेरणा से मनुष्य चिन्तन की दृष्टि से भ्रष्ट और चरित्र की दृष्टि से दुष्ट होता चला जाता है।

इन बरसाती नालों जैसे अनियन्त्रित उफान की रोकथाम करने के लिए समय रहते तैयारी करनी पड़ती है, अपने को कसना-बाँधना पड़ता है और आदर्शों को आस्थावान होने के लिए दीर्घकालीन अभ्यास करना पड़ता है। यही है वह बीज जिसके द्वारा अनाचारों के विषवृक्ष उगते हैं। इसके विपरीत सन्मार्ग पर धकेलने वाली सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्धन में भी यही होता है। उसके मूल में श्रद्धा की प्रेरणा उभरती है। उसकी पृष्ठभूमि पर उर्वर खेत जैसी उत्कर्ष अभ्युदय की फसल उगती है। भावना से आकांक्षा, आकांक्षा से विचारणा, विचारणा से क्रियाशीलता का गति चक्र बनता है। जिनका भी उत्कर्ष हुआ है, उन सभी को इसी सुनिश्चित क्रिया-प्रक्रिया में होकर गुजरना पड़ा है।

आदर्शों के प्रति अनास्था ही व्यक्तित्व को निकृष्ट, पतनोन्मुख हेय एवं अधःपतित बनाती है। उनके प्रति आस्थावान होने पर आन्तरिक दोष दुर्गुणों को निरस्त करते हुए ऊर्ध्वगामी प्रगति का पथ अपनाया जा सकता है। इसलिए पतन से बचने और उत्थान की दिशा-धारा अपनाने के लिए यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है कि श्रद्धा के बीजांकुर बोने, उगाने, पनपाने, बढ़ाने के क्रिया-कलाप में तत्परतापूर्वक संलग्न रहा जाय।

तथ्यों को स्वाध्याय, सत्संग के सहारे भी समझा जा सकता है। प्रवचनों और आलेखों में उतनी तो शक्ति होती है कि वे नीर-क्षीर का बोध कराती है। इतने पर भी यह नहीं हो पाता कि उतने से ही अन्तराल में बहने वाला प्रवाह बदल जाय। कितने ही लोग ऐसे हैं, जो धार्मिक प्रवचनों के शौकीन होते हैं। जहाँ भी सत्संग समारोह की बात सुनते हैं, दौड़े जाते हैं। इस प्रकार सुनते-सुनते मुद्दतें बीत जाती हैं, पर व्यावहारिक जीवन के स्वरूप में अन्तर नहीं आता, वह जहाँ का तहाँ रहता है। यही बात पढ़ने

के सम्बन्ध में है । कितने ही व्यक्ति गीता, रामायण आदि का नियमित पाठ करते हैं । उनका अर्थ भी समझते हैं । बहुत कुछ तो उसमें से रट भी लेते हैं, किन्तु जब प्रतिक्रिया, परिणति को निरखा-परखा जाता है, तो प्रतीत होता है कि बात कुछ बनी ही नहीं । इन प्रयोगों का जो परिणाम होना चाहिए, वह हुआ नहीं ।

फिर श्रद्धा सम्वर्धन के लिए क्या उपाय-उपचार किया जाय, क्या मार्ग अपनाया जाय ? जिससे अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति सम्भव हो सके । इसका एक ही उत्तर है—साधना । साधना अर्थात् तपश्चर्या, संयम-सेवा पुण्य-परमार्थ । उसके लिए मनोविज्ञान संगत और शास्त्र सम्मत परिपाटी यही है कि साधना में संलग्न रहकर क्रिया के आधार पर भावना को परिष्कृत, सुसंस्कारित किया जाय । यह कथन भी एक सीमा तक सही है कि भावना उमगें तो क्रिया-कलाप को दिशा मिले । इससे भी अधिक सही यह है कि क्रियायोग के आधार पर भक्तियोग एवं ज्ञानयोग को जगाया जाय । व्यक्ति जिस प्रकार के कार्य करने लगता है, उसी प्रकार का उसका स्वभाव बन जाता है, अभ्यास पड़ जाता है । कौतूहलवश भले-बुरे काम करने लगने पर उसी तरह के समुदाय से पाला पड़ता है और उसी प्रकार के वातावरण का, माहौल का घेरा विनिर्मित होता है । नशेबाजी में यही होता है । दुर्व्यसन इसी प्रकार पलते और परिपक्व होते हैं ।

साधना एक विशिष्ट प्रकार की क्रिया है, जिसमें शरीर, मन, अन्तःकरण एवं वाह्य साधनों का समावेश रहता है । उदाहरण के लिए गायत्री अनुष्ठान को ही लें । उसका दृश्य स्वरूप तो गायत्री मन्त्र की निर्धारित जप संख्या पूरी करना है, पर साथ में ध्यान करते हुए मस्तिष्कीय एकाग्रता का प्रयोग सधता है । प्राणऊर्जा की अभिवृद्धि के लिए निर्धारित प्राणायामों का प्रयोग साथ-साथ चलाना पड़ता है । आहार में उपवास स्तर अपनाना पड़ता है, जिसका न्यूनतम स्वरूप अमृताशन पर निर्भर रहता है । ब्रह्मचर्य, मौन का भी उसमें विधान रहता है । स्थान चयन के लिए शान्तिकुंज गायत्री तीर्थ जैसा चयन करना होता है । गंगा की गोद, हिमालय की छाया, प्राणवान संरक्षक की निकटता आदि अनुबन्धों का मिला-जुला स्वरूप ऐसा बनता है, जिसका प्रभाव व्यक्ति की गहरी परतों तक पहुँचता है । यह प्रयोग जितने अधिक दिन, जितनी गहरी आस्था के साथ चलता है, उसी अनुपात से व्यक्तित्व उभरता-निखरता है—चिन्तन, चरित्र और व्यवहार की शालीनता का मार्ग अपनाने की प्रेरणा मिलती है। अन्तःकरण की गहराई में श्रद्धा की निर्झरणी उमंगती है और उसके साथ ही आत्म-संयम को अधिकाधिक कड़ाई के साथ कसते जाने की इच्छा होती है । उदार सेवा-साधना में अभिरुचि बढ़ने से समग्र संयम अपनाने पर जो समय, श्रम, मनोयोग साधन बचता है, उसे परमार्थ में लगाये बिना चैन नहीं पड़ता । सेवा से श्रद्धा, श्रद्धा से सेवा का वैसा ही युग्म है, जैसा बीज से वृक्ष, वृक्ष से बीज उत्पन्न होने का । अण्डे से मुर्गी उत्पन्न होती है, मुर्गी से अण्डा । नर और नारी में से प्राथमिकता किसकी है, यह कहा नहीं जा सकता । दोनों के अन्योन्याश्रय सहकार से परिवार बनता है और वंश चलता है । ठीक इसी प्रकार तपश्चर्या से भावना जगती है और भावना से पुण्य परम्परा चलती है । इस उभय पक्षीय गति चक्र में साधना से कषाय-कल्मषों के कपाटों वाला अवरुद्ध द्वार खुलता है । तपस्वी श्रद्धालु हुए बिना नहीं रहता । श्रद्धालु को तप, संयम अपनाये बिना चैन नहीं पड़ता । श्रद्धालु और तपस्वी एक ही तथ्य के आगे-पीछे वाले दो पक्ष हैं परस्पर पूरक । दोनों के सम्मिश्रण से एक समग्रता बनती है । आत्मिक प्रगति का यही मार्ग है ।

प्रायश्चित प्रयोजन के लिए गायत्री अनुष्ठान जैसी साधना करने की अनिवार्य आवश्यकता रहती है । तपाने से धातुओं का परिशोधन होता है । लोहा जब खदान से निकलता है, तब वह मिट्टी मिला होता है । भट्ठी में पिघलाने पर मिट्टी जल जाती है और शुद्ध लोहा पृथक हो जाता है । उसी से सुदृढ़ औजार उपकरण बनते हैं । सोने जैसी धातुओं को आकर्षक आभूषणों के रूप में ढालने के लिए भी यही प्रक्रिया कार्यान्वित होती है । कुम्हार कच्ची मिट्टी के बर्तन खिलौने आवे में पकाता है । कच्ची ईंटें भी पक्की इसी प्रकार बनती हैं । पानी गरम करने पर भाप बनती है और वह रेलगाड़ी जैसे भारी वाहनों को द्रुतगति से धकेलती, घसीटती आगे ले जाती है । धूप की गर्मी से फूल-फल विकसित होते हैं । ऐसी ही

प्राण ऊर्जा तपश्चर्या से उत्पन्न होती है । उससे कषाय-कल्मष भी जलते हैं और प्रतिभा के अनेक पक्ष प्रखर होते हैं । शरीर को सुदृढ़ बनाने लिए व्यायाम की, मनःक्षेत्र को समुन्नत करने के लिए अध्ययन की आवश्यकता पड़ती है । उसी प्रकार अन्तःकरण के श्रद्धा क्षेत्र को विकसित करने के लिए, प्रसुप्त अतीन्द्रिय क्षमताओं को जगाने के लिए तपस्वी, संयमी जीवन जीना पड़ता है । संचित कुसंस्कारों के आधार पर पनपने वाली दुष्प्रवृत्तियों से पीछा छुड़ाने का यह प्रधान अवलम्बन है । तपश्चर्या साधना का क्रिया पक्ष है । उसका व्यवहार पक्ष संयम और सेवा का युग्म है । जो संयमी है, वही सेवा कर सकता है । पुण्यात्मा ही परमार्थ कर पाते हैं । इसे व्यावहारिक तपश्चर्या कहते है । 'सादा जीवन उच्च विचार' का सिद्धान्त इसी आधार पर विनिर्मित हुआ है ।

प्रायश्चित उपक्रम में तपश्चर्या प्रथम है और क्षति पूर्ति द्वितीय । कुकर्म करने से दूसरों की शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, भावनात्मक क्षति होती है । रोष प्रतिशोध बढ़ता है । अपनी आक्रामकता से दूसरे संकट में फँसते हैं, त्रास सहते और उद्विग्न रहते हैं । इसका प्रभाव प्रकारान्तर से समूचे समाज पर पड़ता है । तालाब में ढेला फेंकने से एक स्थान पर उत्पन्न हुई हलचल लहरों के रूप में परिणत होती है और समूचे तालाब पर उन्हें गतिशील देखा जा सकता है । इस प्रकार व्यक्ति विशेष के साथ किया गया दुर्व्यवहार मात्र उसी तक सीमित नहीं रहता वरन् विक्षोभ की शृंखला लहरों की तरह समूचे समाज को प्रभावित करती है । इसकी क्षतिपूर्ति होनी चाहिए । मिट्टी खोदकर जो गड्ढा बनाया गया है, उसे नई मिट्टी डालकर पूरा किया जाना चाहिए । पाप के प्रभाव परिणाम से तभी छुटकारा मिल सकता है, जब उसी के समतुल्य पुण्य अर्जित किया जाय । परोपकार के लिए उदारतापूर्वक त्याग करने सेवा धर्म में निरत होने के लिए कटिबद्ध हुआ जाय ।

इस उभय पक्षीय प्रयास में कुसंस्कारों का निराकरण और सुसंस्कारों का अभिवर्धन होता है । यह व्यक्तित्व को सुनियोजित, सुसन्तुलित करने की वह प्रक्रिया है, जिसे जीवनचर्या की सुव्यवस्था कहा जा सकता है । किसी महत्त्वपूर्ण दिशा में प्रगति कर सकना इसके बिना सम्भव नहीं होता । समतल भूमि पर ही कृषि होती है । प्रवाह में भँवर और हवा में चक्रवात घुमड़ते रहें, तो उस अस्थिरता में सुव्यवस्थित प्रयास सफल हो नहीं पाते ।

## प्रगति की आधारभूत तैयारी

प्रगति की अभिलाषा सभी को होती है, वह आवश्यक भी है । पौधा तब तक बढ़ता ही रहता है जब तक अभिवृद्धि का अन्तिम छोर नहीं आ जाता । बच्चा जन्म के समय छोटा माँस का लोथड़ा जैसा होता है । उसका वजन, दल और फुलाव तब तक निरन्तर बढ़ता रहता है जब तक कि वह प्रौढ़ परिपक्वता तक नहीं जा पहुँचता । शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की कला वृद्धि से सभी परिचित हैं । जिज्ञासुओं को ज्ञान भण्डार बढ़ाने की उत्कंठा स्कूली जीवन में ही समाप्त नहीं हो जाती वरन् वह जराजीर्ण होने पर भी तब तक बनी रहती है जब तक आँख, कान आदि इन्द्रियाँ साथ देती हैं । जिनमें व्यापार बुद्धि है वे अपना व्यवसाय टाटा, बिड़ला की तरह न केवल अपने जीवन में चलाते हैं वरन् उसे पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ाये जाने की योजना कार्यान्वित होती हुई देखकर जाते हैं । जीव जगत में यही चल रहा है । विकासवाद के सिद्धान्तानुसार आरम्भिक युग में जीव अत्यन्त छोटे और स्वल्प इन्द्रिय क्षमता वाले थे । उनकी प्रगति आकांक्षा ने उनका काय कलेवर, बुद्धि संस्थान बढ़ाया और क्रमशः अधिकाधिक विकसित होते चले गए । यह प्राणधारी की स्वाभाविक आकांक्षा है । इसमें उसका भी हित होता है और समाज का भी । प्रगति की आकांक्षा छोड़ बैठने पर मात्र निर्वाह ही एक काम रह जाता है उसे तो पशु-पक्षी, कीट-पतंग भी करते रहते हैं । मानवी सत्ता तो हर दृष्टि से समुन्नत है फिर उसकी आकांक्षा बढ़ी-चढ़ी न हो ऐसा हो ही नही सकता ।

उचित दिशा न मिलने पर यह आकांक्षा विकृत हो जाती है । अवांछनीय मार्ग अपना लेती है । दुष्प्रवृत्तियाँ बढ़ जाने पर अपराधों का, कुकर्मों का सिलसिला चल पड़ता है । पतन की दिशाधारा अपना लेने पर सरिताओं का जल भी खारे गर्त में गिरने के लिए समुद्र तक जा पहुँचता है । आकाश से टूटा तारा उल्कापात बनकर जिस भूमि पर गिरता है वहाँ खड्ड बनाता और अनर्थ खड़ा करता है । मनुष्यों में

से भी दैत्य-दानव इसी पथ भ्रष्टता के कारण बनते है । हिरण्याक्ष, वृत्तासुर, भस्मासुर, रावण, मारीचि आदि की कथाएँ ऐसी ही हैं । वे आरम्भ में उच्चस्तरीय प्रगति की आकांक्षा से भरे थे तभी तो कठोर तपस्या करके देवताओं को आकर्षित, प्रभावित करके अभीष्ट बरदान प्राप्त करने तक की स्थिति में पहुँचे । पीछे कुसंस्कार जग पड़े । अहंकार उभरा, स्वार्थपरता ने जोर मारा और उस स्तर के कार्य करने लगे जिनके कारण अपयश, आक्रोश और विनाश का मुँह देखना पड़ा । मूलतः यह भी प्रगति की ही आकांक्षा थी यदि उनकी दिशा सही बनी रही होती तो इन दैत्य-दानवों में से प्रत्येक को महामानव, देवदूत बनने का अवसर मिल गया होता । वे हरिश्चन्द्र, बुद्ध, ईसा, गाँधी जैसे अभिनंदनीय, अनुकरणीय बने होते । भौतिक क्षेत्र में लिंकन, वाशिंगटन, मेजिनी, लेनिन जैसे राजनेताओं में उनकी गणनाएँ हुई होती । यदि उन्होंने वैज्ञानिक शोध अविष्कार के क्षेत्र में प्रवेश किया होता तो चरक, सुश्रुत, नागार्जुन, विश्वकर्मा, आइन्स्टीन, क्यूरी, ऐडीसन जैसी सफलताएँ प्राप्त करके यशस्वी एवं चिरस्थायी लोकमंगल के निर्धारण प्रस्तुत कर सकने में समर्थ रहे होते । आत्म-शोधन और लोक-मंगल के क्षेत्र में बढ़कर जो पुण्य-परमार्थ में निरत हो सका । उसने ऐसे प्रयोजन पूरे कर दिखाये, जिनका उल्लेख इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों में किया जाता है । महामानवों, पुरुष-पुरुषोत्तमों, नर-नारायणों के असंख्य उदाहरण इसी पृष्ठभूमि से भरे हुए हैं । उन्होंने आदर्शवादी सन्मार्ग अपनाया और उस पर द्रुतगति से चल सकने के लिए आवश्यक तत्परता और तन्मयता को अपनाया ।

जिन्होने संचित कुसंस्कारों का लदा हुआ भार उतार लिया, समझना चाहिए कि उनकी प्रगति पथ पर चल सकने की क्षमता गतिशील होने की स्थिति में आ गई है । जिसने सुसस्कारो का संग्रह कर लिया समझना चाहिए कि उनकी विवेक दृष्टि खुल गई और उच्चस्तरीय प्रगति का लक्ष्य प्राप्त कर लेने की सम्भावना बढ़ गई । यह प्राथमिकता प्रयोजन, प्रायश्चित प्रयोजन पूरा करने से पूरा होता है । कहा जा चुका है कि प्रायश्चित के निमित्त उपवास, अनुष्ठान जैसी साधना करनी पड़ती है । व्यक्तियों को, समाज को जो आर्थिक या नैतिक हानि पहुँचाकर क्षति पहुँचाई है उसकी क्षतिपूर्ति करने के लिए संयम, सेवा की विधा अपनाई है । समझना चाहिए कि उसका प्रायश्चित वास्तविकता से युक्त रहा और यह निश्चय हुआ कि उसका सुनिश्चित लाभ व्यक्तित्व को भार रहित और स्फूर्तिवान बनने की स्थिति तक जा पहुँचा । इस स्थिति में उच्चस्तरीय प्रगति की सम्भावना सुनिश्चित होती है । सफलताओं का ढेर लग जाता है । इतना किए बिना स्थिति भार से लदे हुए गधे जैसी अस्वस्थ, विक्षिप्त जैसी, बनी रहती है । उसका हाथ-पैर पटकते रहना, बालकों की तरह मचलते रहना, देखने भर से प्रयास जैसा लगता है पर वस्तुतः उसमें शक्ति का अपव्यय मात्र हो रहा होता है । उच्चस्तरीय प्रगति के लिए व्यक्तित्व का स्तर ऐसा होना चाहिए जिसे दुर्गुण रहित और सद्गुण सम्पन्न कहा जा सके । इस स्थिति तक पहुँचने के लिए जिस सफाई की, पुताई की आवश्यकता है जो जीवन चर्या में समाविष्ट करने पर स्वच्छ, सुसज्जित मकान जैसा मनोरम व्यक्तित्व भी बनता है । दिवाली पर मकानों की सफाई, पुताई इसलिए की जाती है कि उसमें लक्ष्मी-गणेश के रूप में साधन-सम्पन्नता और दूरदर्शी बुद्धिमत्ता का पूजन किया जा सके । उनका समुचित अनुग्रह प्राप्त किया जा सके ।

कुसंस्कार अनेक जन्मों से जन्मते चले आते हैं । प्रमाद वश उनका परिशोधन ही नहीं हो पाता वरन् कुकृत्य का पातक हर जन्म में अधिकाधिक भारी होता चला जाता है । जब भी होश आये तब सर्वप्रथम यही करना पड़ता है कि नाली में जमे हुए कीचड़ को निकाला, बुहारा और उसे पानी से धोया जाय । चूना, फिनायल जैसे रसायन छिड़क कर उस दुर्गन्ध को, सड़न को हटाया जाय जिसके कारण मक्खी, मच्छरों का, कृमियो-विषाणुओं का समूह पलता बढ़ता रहता है और उस वातावरण में रहने वाले समुदाय को अनेकों प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष तरीकों से हानि पहुँचाता है ।

नये मकान में प्रवेश करने पर पहले ही दिन उसकी सफाई, धुलाई, पुताई करनी होती है । इसके उपरान्त उसमें रहने, कारोबार चलाने की व्यवस्था की जाती है । प्रगतिशील नव-जीवन अपनाने के लिए भी इसी प्रयोजन की पूर्ति करनी पड़ती है, जो जीवन-शोधन के रूप में अपनानी होती है ।

ज्वर, अतिसार, सिर दर्द जैसे रोगों का चिकित्सा उपचार करना होता है । उस आधार पर कुछ दिन में चढ़े हुए रोगों के आक्रमण से छुटकारा भी मिल जाता है पर काम इतने भर से पूरा नहीं हो जाता है । रुग्णता के कारण शरीर में जो दुर्बलता बस जाती है । उसे दूर करने के लिए विशेष रूप से फल, दूध, मालिश, टहलना जैसे उपाय अपनाने पड़ते हैं ताकि रोगों के जड़ जमाये बैठे रहने के कारण जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति हो सके । प्रायश्चित उपक्रम में भी यह करना पड़ता है । गायत्री अनुष्ठान जैसी तपश्चर्याओं में उपवास ब्रह्मचर्य जैसे कितने ही संयम जुड़े रहते हैं । उनके परिपालन का अभ्यास तो तपश्चर्या अवधि में किया जाता है, किन्तु उनका समावेश स्वभाव, अभ्यास की तरह अपना कर जीवन क्रम को उसी ढाँचे मे ढालना पड़ता है, ताकि मात्र साधना काल में ही व्रतशील रहकर बात समाप्त न हो जाय उन्हें जीवन चर्या का अंग बना लेने पर ही काम चलता है । एक दिन बीज बोने पर दूसरे दिन वह वृक्ष बनकर फूलने फलने नहीं लगता वरन् अंकुर उगते ही सतर्कतापूर्वक उसमें खाद पानी देने, रखवाली करने का दायित्व सतर्कतापूर्वक निबाहना पड़ता है । फलों का लाभ इतना कर सकने वाले को ही मिलता है । अनुष्ठान के दिनों जिन व्रतों को धारण किया था । उन्हें आगे भी अपनाये रहना पड़ता है ।

प्रायश्चित का दूसरा चरण है—क्षतिपूर्ति । ऋण-मुक्ति इसके लिए दोनों पलड़ों का वजन बराबर करना पड़ता है । पुण्य-परमार्थ की ऐसी योजना बनानी पड़ती है जो सच्चे अर्थों में उद्देश्य की पूर्ति करती हो चिन्ह पूजा, लकीर पीटना आत्म-प्रवंचना है । पूजा पाठ के समय तो यत्किंचित समय और साधन लगाने पड़ते हैं । उन्हीं के सहारे कुसंस्कारों के भण्डारण से होने वाली क्षति को पूरा नहीं किया जा सकता । इसके लिए गायों को घास, चींटियों को आटा, देवता पर अक्षत पुष्प चढ़ाने जैसी बाल क्रीड़ा से काम नहीं चलता वरन् जन-कल्याण के ऐसे काम हाथ में लेने पड़ते हैं जो आकार में भी बड़े हों साथ ही समय और साधनों का नियोजन भी बड़ी मात्रा में चाहते हों तथा दूरगामी परिणाम भी प्रस्तुत करते हों । प्रायश्चित की मर्यादा में तो यह सब होना ही चाहिए पर बात इतने ही दिनों तक सीमाबद्ध होकर नहीं रह जानी चाहिए । उसे जीवनचर्या का एक अविछिन्न अंग बनाया जाना चाहिए । नित्य कर्मों के साथ इस प्रकार जोड़ना चाहिए कि वे सदा सर्वदा चलते रहें । जीवन की दिशा धारा के प्रमुख अंग बनकर रह सकें ।

यह पिछले कुसंस्कारों से मुक्ति पाकर अभिनव मानवोचित जीवन जी सकने के लिए आरम्भ हुई कायाकल्प जैसी प्रक्रिया समझी जा सकती है । इस शुभारम्भ, श्री गणेश, भूमिपूजन के उपरान्त इस भवन निर्माण की क्रिया आरम्भ होनी चाहिए । जो मानवी गरिमा के अनुरूप प्रगति के उच्चस्तरीय निर्माण मे सहायक सिद्ध हो सके । पुण्य-परमार्थ को आरम्भ कर देना अच्छा तो है पर दृष्टि उठाकर उन महामानवों की गतिविधियों को भी गहराई से पर्यवेक्षण करना चाहिए जिन्होंने कुसंस्कारों का प्रायश्चित भर करके काम समाप्त नहीं कर दिया वरन् महान प्रयोजनों की पूर्ति के लिए शेष जीवन का ऐसा योजनाबद्ध उपयोग किया जिससे उनकी प्रतिभा, लगन, कुशलता, समय, श्रम एवं साधन सम्पदा का पूरा-पूरा उपयोग महान प्रयोजनों के लिए सम्पन्न होता रहा । व्रतशीलता इसी को कहते हैं । महामानवों की रीति-नीति यही रही है । उनके कर्तृत्व से न केवल लोकमंगल की सामायिक आवश्यकताओं की पूर्ति हुई है वरन् भविष्य के लिए एक महान परम्परा को प्रोत्साहन भी मिला है । राजा हरिश्चन्द्र का ड्रामा देखकर गाँधी जी का जीवन बदल गया था । उन्होंने दूसरा गाँधी बनकर रहने का संकल्प किया था । इस प्रकार महात्मा गाँधी को महान हरिश्चन्द्र का मानस पुत्र ही कहना चाहिए । इसी को सच्ची प्रगतिशीलता कह सकते हैं । इस दृष्टिकोण एवं क्रिया-कलाप से मनुष्य धन्य बनता है और असंख्यों के लिए प्रेरणा स्रोत बनकर रहता है । प्रगतिशीलता इसी को कहना चाहिए ।

## आत्म-विकास की सामान्य प्रक्रिया

कई व्यक्ति कम से कम समय में अधिक से अधिक बढ़-चढ़कर उपलब्धियाँ प्राप्त करने के लिए आतुर होते और आकुल-व्याकुल बनते देखे गए हैं । ऐसे लोगों के लिए बच्चों वाले बालू के महल और टहनियाँ गाड़कर बगीचा खड़ा करने जैसा कौतुक रचना पड़ता है या फिर बाजीगरों जैसा छद्म भरा कौतूहल दिखाकर

अबोधजनों को चमत्कृत करना पड़ता है । आँखों में चकाचौंध उत्पन्न करने का रूप धारण करने में नाटक कर्त्ता ही प्रवीण होते हैं । उन्हीं को मुखौटे लगाना, मेक-अप करना और साज-सज्जा से अलंकृत होना आता है । शालीनता के रहते बचकानी योजना बन नहीं सकती । कार्यान्वित होने का तो कभी अवसर ही नहीं आता । स्थाई निर्माणों में देर लगती है । स्नातक, पहलवान बनने में भी समय लगता है । जमीन से गढ़ा खजाना मिलने पर धनवान बनने वाले सुने तो जाते हैं, पर देखे नहीं गए । देवता के वरदान अथवा जादू-मन्त्र से किसी ने ऋद्धि-सिद्धि अर्जित नहीं की है । अन्तराल को जगाने, दृष्टिकोण बदलने और गतिविधियों को सुनियोजित आदर्शवादी बनाने—संकल्पों पर आरूढ़ रहने से ही इस स्तर का विकास हो सकता है, जिसमें बहुविधि सफलताओं के फल-फूल लगें । विभूतियों के चमत्कारी उभार उभरें ।

अदूरदर्शी तत्काल सम्पन्नता-सफलता से भरे-पूरे अवसर उपलब्ध करना चाहते हैं । प्रकृति क्रम से यह सम्भव नहीं । उसमें कर्म और फल के बीच अन्तर अवधि रहने का विधान है । नौ महीने माँ के पेट में रहने के उपरान्त ही भ्रूण इस स्थिति तक पहुँचता है कि प्रसवकाल की कठिनाई सह सके और नये वातावरण में रह सकने की जीवट से सज्जित हो सके । जो इन तथ्यों को अनदेखा करते हैं और अपनी हठवादिता को ही अपनाये रहते हैं । उन्हें इसकी पूर्ति के लिए छद्मों का सहारा लेना पड़ता है । किसी को प्रलोभन देकर या दबाव से विवश करके ही वाहवाही का पुलिन्दा हथियाया जा सकता है । कांच के बने नगीने ही सस्ते बिकते हैं । असली हीरा खरीदना हो तो उसके लिए समुचित मूल्य जुटाया जाना चाहिए । फसल से घर भरने के लिए किसान जैसी तत्परता अपनाई जानी चाहिए और बोने से लेकर काटने तक की लम्बी अवधि में धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिए ।

आत्मिक प्रगति के लिए दुष्प्रवृत्तियों का निराकरण, सुसंस्कारों का अभिवर्धन हेतु दुहरा पुरुषार्थ अपनाया जाना चाहिए । इसका प्रथम चरण है, संयम, साधना और दूसरा है, उदार संलग्नता । इन दोनों के लिए आवश्यकता श्रद्धा-विश्वास अन्तराल में पक सके, इसके लिए योगाभ्यास स्तर की तपश्चर्याओं का आश्रय लेना चाहिए । यों इस प्रकार के क्रिया-कृत्यों 'विश्वास न रखने वाले व्यक्ति अपनी समूची क्रियाशीलता और सद्भावना उच्चस्तरीय क्रिया-कलापों में नियोजित करके समग्र जीवन को साधनामय बना सकते हैं । डॉ. राम मनोहर लोहिया हर दृष्टि से विवाह योग्य होते हुए भी जीवन भर यही कहते रहे कि मेरे सामने देश की स्वतन्त्रता और प्रगति का इतना सघन लक्ष्य सामने है कि समूची विचारणा और क्रिया-शक्ति उसी में खप जाती है । ऐसे व्यक्ति का समग्र श्रम साधना लक्ष्य के लिए ही सर्वतोभावेन समर्पित रहता है, फिर गृहस्थ सम्हालने के लिए अलग से समय मन साधना कहाँ से लाया जाय ? अनेकों आग्रहों को अस्वीकृत करते हुए उन्होंने विवाह नहीं किया और समूची क्षमता देश सेवा में ही नियोजित किए रहे । यह जीवन साधना है । नियत समय पर पूजा-उपासना, साधना, तपश्चर्या करना अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण और फलदायक है । उसकी उपयोगिता आवश्यकता से इन्कार नहीं किया जा सकता है । प्रगति का सरल तरीका भी यही है । बच्चों को तीन पहिये की गाड़ी के सहारे खड़ा होना और चलना सिखाया जाता है, पर यह अनिवार्य नहीं कि हर बच्चे को तीन पहिये की गाड़ी मिले ही । वह अभिभावकों की उँगली पकड़कर या दीवार के सहारे भी चलना सीख सकता है । संयम, साधना द्वारा व्यक्तित्व में शालीनता भर लेना और लोकमानस का परिष्कार जैसी उच्चस्तरीय सेवा साधनाओं में निमग्न रहकर भी साधना का प्रतिफल प्राप्त किया जा सकता है ।

उपासनाओं के स्वरूप अनेक हैं । गुरु परम्परा में उनके कतिपय विधान हैं । सम्प्रदाय भेद से अनेकों मान्यताओं की अवधारणाएँ विद्यमान हैं । इनमें से किसी को भी अपनाया जा सकता है । एक स्थान पर पहुँचने के लिए अनेक दिशाओं से चलने वाले यात्री अनेक मार्ग बना लेते हैं । इससे अपनी पगडण्डी को सही और दूसरी सब पगडण्डियों को गलत ठहराने के विवाद में नहीं पड़ना चाहिए । इन पंक्तियों के लेखक ने एक ही राजमार्ग पर चलकर लम्बी यात्रा सम्पन्न की है और उसकी चमत्कारी प्रतिक्रिया प्रत्यक्ष देखी है । इसलिए उस अनुभव भरे विश्वास के आधार पर दूसरों को परामर्श देने के लिए सहज ही गायत्री उपासना

की प्रेरणा देने की सहज प्रवृत्ति हो गई है । इसके साथ यह विश्वास भी जुड़ गया है कि जो भी इस अवलम्बन को स्वीकार करेगा, वह एक शक्ति केन्द्र से अतिरिक्त सहायता भी प्राप्त करेगा और अन्यान्य साधनारत लोगों में से किसी भी प्रकार पीछे नहीं रहेगा ।

गायत्री उपासना का साधारण क्रम तो सर्वविदित है, पर उसकी गहराई में प्रवेश करना हो तो फिर एक ही मार्ग है कि उसके उच्चस्तरीय दर्शन एवं प्रयोग को अपनाने के लिए अग्रगामी बना जाय । इस संदर्भ में कुछ अतिरिक्त समझना और विशेष प्रयोग को अपनाना पड़ेगा । इस सन्दर्भ में शास्त्रकारों के उस प्रतिपादन को महत्त्व देना होगा जिसमें उन्होंने विस्तारपूर्वक गायत्री के तीन चरणों की व्याख्या-विवेचना की है और उसे त्रिपदा निश्चित किया है । गंगा-यमुना-सरस्वती का संगम तीर्थराज प्रयाग बनता है । इसमें से एक भी धारा कम पड़ी होती तो उसका वह महत्त्व एवं प्रतिफल न रहा होता जो अनुभव किया जा रहा है और किया जाता रहेगा ।

मानवी सत्ता के तीन पक्ष सर्वविदित है । एक स्थूल शरीर, दूसरा सूक्ष्म शरीर, तीसरा कारण शरीर । सामान्यतया यह तीनों उतने ही सक्रिय रहते हैं, जिससे दैनिक निर्वाह क्रम चलता रहे । शेष भाग प्रसुप्त रहता है । प्रत्यक्ष शरीर सामान्यतया इतना ही रहता है कि दुर्बलता, रुग्णता से किस कदर बचा रहे और काम चलाऊ स्थिति में बना रहे । उसे पहलवान, खेल चेम्पियन, सर्कस जैसे अवसरों में चमत्कारी कृत्य दिखा सकने जैसी स्थिति तक पहुँचा सके । दीर्घायुष्य प्राप्त हो सके । ऐसे विशेषताएँ तभी उपलब्ध होती है जब कमाने खाने तक सीमित न रहकर कायिक विशिष्टता प्राप्त करने के लिए विशेष प्रयत्न किया जाय ।

सूक्ष्म शरीर मन-संस्थान है । व्यवसाय और व्यवहार मे काम आने वाली बुद्धि तो सब में होती है, किन्तु परिष्कृत दृष्टिकोण, दूरदर्शी विवेक एवं प्रज्ञा प्रतिभा का समुच्चय अनायास ही हस्तगत नहीं हो जाता । उस क्षेत्र की अतीन्द्रिय क्षमताएँ उभारने, हस्तगत करने के लिए मानव शरीर को विशेष साधनाएँ करनी पड़ती हैं । उसी प्रकार कारण शरीर भाव सम्वेदनाओं का क्षेत्र है । उसका विकास व्यक्ति को सम्वेदनशील, आस्थावान, परमार्थ परायण, संयमरत बनाता है । ब्रह्माण्ड व्यापी अतीव शक्तिशाली सत्ताओं के साथ अपने सम्बन्ध जोड़ता है । आदान-प्रदान के द्वार खोलता है । आत्मा का ईंधन परमात्मा की अग्नि में समर्पित होकर प्रायः समान स्तर का बन जाता है ।

आध्यात्म तत्वज्ञान में—ब्रह्मा, विष्णु, महेश का—सरस्वती, लक्ष्मी, काली का—तीनों लोकों का वर्णन आता है । उन्हे यदि व्यक्तिगत सत्ता में समाहित देखना हो तो स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों की सत्ता एवं महत्ता को समझने का प्रयत्न करना चाहिए । उनका स्वरूप, उपयोग समझना चाहिए । साथ ही यह भी जानना चाहिए कि इन्हें सुविकसित, सुसंस्कृत बनाते हुए देवोपम भूमिका निभा सकने की स्थिति तक कैसे पहुँचाया जा सकता है ।

कहा जा चुका है कि व्यावहारिक जीवन की दो प्रत्यक्ष साधनायें हर किसी के लिए उसी प्रकार आवश्यक हैं, जिस प्रकार शिक्षा प्राप्त करने के लिए आरम्भ अक्षर ज्ञान और गिनती गिनना सीखने से किया जाता है । इसके बिना अगली किसी कक्षा में प्रवेश नहीं पाया जा सकता । यह दो विधाएँ व्यक्तिगत रूप से न्यूनतम में निर्वाह करने के उपरान्त ही तपश्चर्या और व्यावहारिक जीवन में पुण्य-परमार्थ का संचय करने के लिए सेवा साधना—इन दोनों को अपनाये बिना आध्यात्मिक प्रगति की दशा में एक कदम भी नहीं उठ सकता । उपासनात्मक अभ्यासों में कोई भी कदम उठाया जाय । इस प्राथमिक प्रयोजन की पूर्ति तो करनी ही होती है । अन्य साधन किया जाय तो मैले कपड़े को रंगने की तरह अभीष्ट प्रतिफल की प्राप्ति नहीं होती । मात्र पूजा पाठ या किसी देवता, सिद्ध पुरुष के आशीर्वाद वरदान से महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्राप्त करने की किसी को भी आशा नहीं करनी चाहिए ।

तीनों शरीरों को स्वस्थ, समुन्नत, समग्र, सुविकसित बनाने का सामान्य तरीका अत्यन्त सरल और सामान्य है । शरीर स्वस्थता के लिए अकेला संयम भी अपना चमत्कार दिखाता है फिर अगर पौष्टिक भोजन और नियमित व्यायाम का सुयोग भी मिल जाय तो समझना चाहिए सोना और सुगन्ध मिलने जैसी बात बन गई । वस्तुतः इन्द्रिय असंयम ही शरीर को रुग्णता और दुर्बलता के गर्त में गिराता है ।

मानसिक स्वास्थ्य को सुरक्षित रखने के लिए सन्तुलन अपने आप में पूर्ण है । राग-द्वेष से—आवेश, अवसाद से—लिप्सा, लालसा से—अहमन्यता और महत्त्वाकांक्षा से—*यदि अपने को बचाये रखा जा सके तो* कल्पना-शक्ति, विचार-शक्ति, निर्णय-शक्ति न केवल सुरक्षित रहती है वरन् बढ़ती भी रहती हैं । स्वाध्याय, सत्संग, चिन्तन, मनन के द्वारा उस क्षेत्र को और भी अधिक विकसित किया जा सकता है । दृष्टिकोण को यथार्थवादी एवं विवेक को जागृत रखने से हर व्यक्ति मेधावान बन सकता है अपने सूक्ष्म शरीर को परिपुष्ट रख सकता है ।

कारण शरीर मे भावनाएँ, मान्यताएँ, आस्थाएँ, आकांक्षाएँ उगती एवं परिपुष्ट होती हैं । यदि इन्हें आत्मवत् सर्वभूतेषु का आदर्श अपनाकर करुणा, सहायता, सहकारिता से भरा-पूरा रखा जाय तो उस स्थापना से भी उस क्षेत्र को देवत्व से भरा जा सकता है । *उपरोक्त तीनों क्षेत्रों को विकसित करने के लिए उसके* अनुरूप साधनाएँ, उपासनाएँ तपश्चर्याएँ भी हैं ।

## ग्रन्थि वेधन : एक समग्र साधना

तीनों शरीरों के विकास, परिष्कार के लिए यों अनेकों साधनाएँ प्रचलित है, पर उनका वर्गीकरण किया *जाय तो सभी को तीन वर्गों में विभक्त किया जा* सकता है । जप, ध्यान और प्राणायाम । इन्हीं त्रिविध आधारों के भेद-उपभेद अनेकानेक साधनाओं का स्वरूप विनिर्मित करते है । उन्हें समेटा सिकोड़ा जाय तो फिर वे तीन में सिकोड़े भी जा सकते है । इसके अतिरिक्त और कोई ऐसा प्रयोग नही है जिसे इस परिधि से बाहर गिना जा सके ।

जप मे किसी मन्त्र विशेष की अनवरत रट लगाई जाती है । पुनरावर्तन एक गति चक्र विनिर्मित करता है । उसमें अपने प्रकार की विशेष शक्ति होती है । ब्रह्माण्ड के ग्रह नक्षत्र अपनी कक्षा में अनवरत भ्रमण करते है । उसी घुमाव परिभ्रमण से वह चुम्बकत्व उत्पन्न होता है जिसके सहारे स्वयं भी अपनी कक्षा मे सुस्थिर बने रहते हैं और अपने सम्पर्क क्षेत्र के अन्यान्य ग्रह-पिण्डों को भी जकड़े रहते है । *यदि यह परिभ्रमण* क्रम बन्द हो जाय तो उसका परिणाम बिखराव के रूप में ही होगा । यों शरीर के मूल घटक यह प्रक्रिया अपनाये रहते हैं, पर उसमें तीव्रता, तालबद्धता और सुव्यवस्था बनाने के लिए जप की शब्द प्रक्रिया एक विशेष भूमिका निभाती है । पुनरावर्तन कालान्तर में *स्वभाव का अंग बन जाता है और बिना प्रयास के ही* अपनी धुरी पर परिभ्रमण करने लगता है । पत्थरों, उपकरणों को घिस-घिस कर ही धारदार और चमकीला बनाया जाता है ।

मन्त्रों के यों शब्दार्थ भी होते हैं । उनसे कुछ शिक्षा भी ग्रहण की जा सकती है । पर उनका मूल प्रयोजन वह नहीं है । मन्त्रों का शब्द गुँथन इस विधा के पुरातन विशेषज्ञों ने इस प्रकार किया है कि उसके उच्चारण मात्र से एक विशेष ध्वनि प्रवाह झंकृत होता है । सितार के एक तार पर आघात करने से उसके सहयोगी तार अनायास ही झनझनाने लगते हैं । टाइपराइटर की कुंजियों को दबाने से विशेष तीलियाँ उठती हैं और नियत स्थान पर अपना-अपना नियत आकार छापती चली जाती हैं । इसी प्रकार मन्त्रों में गुथे हुए अक्षर यों प्रभावित तो तीनों शरीरों को करते हैं पर विशेषतया उनका सीधा प्रभाव स्थूल शरीर पर पड़ता है । नाड़ी गुच्छक, ग्रन्थि संस्थान, विद्युत प्रवाह तन्तु, हारमोन आदि पर गायत्री मन्त्र जैसे शब्द गुँथनो का स्पष्ट और विशेष प्रभाव देखा गया है ।

स्थूल शरीर उतना ही नहीं है जितना कि प्रत्यक्ष काया के रूप मे दीख पड़ता है । इसके भीतर एक विशेष रहस्यमयी क्षमता होती है जिसे *जीवनी-शक्ति* या प्राण-शक्ति कहते हैं । यही है वह तत्व जिसके आधार पर व्यक्ति निरोग, समर्थ, सुन्दर, ओजस्वी दीख पड़ता है । स्फूर्तिवान, साहसी रहता है । कठिनाइयो से टक्कर ले पाता है । उन्हें निरस्त, परास्त करके आगे बढ़ते चल सकना सम्भव बनता है । इस शक्ति को उभारने, बढ़ाने मे जप प्रक्रिया भली-भाँति कारगर सिद्धि होती है ।

स्थूल शरीर का केन्द्र नाभि चक्र माना गया है, पर उसका प्रभाव क्षेत्र अधोभाग की दिशा में एक बड़ी परिधि तक फैला हुआ है । मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्रो वाला मेरुदण्ड भाग इसी का प्रभाव क्षेत्र समझा जाता है । विशेषतया जननेन्द्रिय मूल और सुषुम्ना का अन्तिम छोर नाभि चक्र से प्रभावित होता है । कुण्डलिनी जागरण की प्रक्रिया पूरी तरह इसी परिवार से सम्बद्ध

है । कुण्डलिनी स्थूल शरीर की जीवनी-शक्ति है जो जननेन्द्रिय मूल से उठकर मेरुदण्ड का देवयान मार्ग पार करती हुई मस्तिष्क के मध्य वाले ब्रह्मरंध्र सहस्रार कमल तक पहुँचती और आज्ञाचक्र द्वारा बाहर निकल कर सम्पर्क क्षेत्र को अपनी विद्युत-शक्ति से प्रभावित करती है ।

जप के साथ-साथ पूजन अर्चन वाली प्रक्रिया भी जुड़ी हुई है । उनके माध्यम से आत्म-परिष्कार का प्रशिक्षण क्रम चलता है । चन्दन, अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य, जल आदि को सद्गुणों में से एक-एक का प्रतीक मानकर अपने आपको यह सिखाया समझाया जाता है कि सर्वतोन्मुखी शालीनता की अवधारणा, अभिवृद्धि किस प्रकार की जानी चाहिए । मन्त्र जप के साथ इष्टदेव की छवि को सम्मुख रखना होता है और उस पर श्रद्धा, समर्पण का आरोपण करते हुए अपने क्रिया-कलापों में आदर्शवादिता का बढ़ा-चढ़ा समावेश करने की मनःस्थिति बनानी पड़ती है । उसे उस स्तर का बढ़ाना पड़ता है ताकि व्यावहारिक जीवन में उसका कार्यान्वयन भी हो सके । इन समस्त पक्षों के समन्वय से स्थूल शरीर के उत्कर्ष अभ्युदय बन पड़ने की सम्भावना परिपक्व होती है ।

नाभि चक्र में कमल पुष्प का ध्यान करना पड़ता है जिससे उसकी प्रत्येक पंखुरी उस क्षेत्र की अगणित दिव्य शक्तियों का प्रतीक बनकर निरन्तर विकसित होती रहे और समग्र रूप में विकसित शोभायमान कमल का रूप धारण कर सके ।

दूसरा शरीर सूक्ष्म शरीर है जिसे एक शब्द में मानसिक संस्थान कह सकते हैं । कल्पना, विचारणा, निर्धारणा इसी के अंग हैं । तर्क, वितर्क इसी से उठते हैं । शिक्षण, अनुभव, स्वाध्याय, सत्संग, चिन्तन, मनन आदि उपायों द्वारा व्यावहारिक रूप से इसे विकसित किया जाता है । बुद्धिवान, विद्वान, कुशल, पारंगत, समुन्नत बनने का अवसर इसी क्षेत्र के परिष्कार से बन पड़ता है ।

मन:क्षेत्र को विकसित करने के लिए प्राण प्रवाह का अवलम्बन लेना पड़ता है । प्राण एक ऐसी विद्युत-शक्ति है और वायु के साथ घुली रहती है । इसे संकल्प-शक्ति से खींचा और धारण किया जाता है । साधारणतया साँस चलती रहती है । उसके साथ जीवनोपयोगी ऊर्जा प्रदान करने वाली "ऑक्सीजन" भी समुचित मात्रा में घुली रहती है । गहरी साँस लेना इसी दृष्टि से आवश्यक माना गया है कि ऑक्सीजन की समुचित मात्रा फेफड़ों से लेकर छोटे-छोटे सभी घटकों को आवश्यक ऊर्जा मिल सके । साथ ही भीतरी क्षेत्र में उत्पन्न होने वाली गन्दगी की सफाई भी होती रहे । गहरी साँस लेना, छोड़ना एक स्वसंचालित व्यायाम है । इसे अपनाया तो जाना चाहिए पर इतना ही सूक्ष्म शरीर के परिष्कार के लिए पर्याप्त नहीं है ।

प्राणायाम में संकल्प की भरी इच्छा-शक्ति का समुचित प्रयोग होता है । भावना करनी पड़ती है कि ब्रह्माण्ड व्यापी प्राणतत्व साँस के साथ खिंचता चला आता है और नाक द्वारा प्रवेश करके स्थूल शरीर में ही नहीं सूक्ष्म शरीर के अदृश्य प्रकोष्ठों में भी भर जाता है । इस प्रकार की संकल्प युक्त साँस खींचने की प्रक्रिया जितनी लम्बी हो सके, करनी चाहिए । इसके बाद साँस रोकने का कुम्भक आता है । इसे खींचने में जितना समय लगा था उससे आधा समय ही रोकने में कुम्भक में लगना चाहिए । साथ ही अवधारणा करनी चाहिए कि साँस में घुला हुआ जो प्राणतत्व था वह कण-कण में भर रहा है और नव-जीवन प्रदान कर रहा है ।

अवधारणा के समय मस्तिष्क क्षेत्र के अन्तराल का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए । उसमें सत्प्रवृत्तियाँ और सद्विचारणाएँ, अतीन्द्रिय क्षमताएँ प्रसुप्त स्थिति में छिपी पड़ी रहती हैं । प्राणायाम द्वारा खींचा गया प्राण उन्हें झकझोरता और प्रसुप्ति से जागृत स्थिति में लाता है । सन्तुलन, उत्साह, विवेक इस आधार पर सरलतापूर्वक उभारा जा रहा है और जो अवांछनीय तत्व सूक्ष्म शरीर के किसी क्षेत्र में जम गए हैं उन्हें प्राण युक्त साँस छोड़ने को रेचक प्रक्रिया द्वारा बाहर निकाला जा सकता है ।

सूक्ष्म शरीर का प्रतिनिधि केन्द्र हृदय चक्र माना जाता है । साधारण स्थिति में वह मुढ़ी हुई कली जैसा रहता है पर प्राण की ऊर्जा एवं प्रातःकालीन उदीयमान सूर्य सविता के ध्यान द्वारा उसे खिले कमल की स्थिति में लाया जाय । इसकी पंखुड़ियाँ मानसिक विशेषताओं की कुंजिया हैं । जब हृदय चक्र खिलता है तो उनसे सम्बन्धित मानसिक विशेषताएँ भी उभर

पड़ती हैं । साधक को अधिक प्रभावित करने की सम्भावना बढ़ती है ।

तीनों शरीरों के जागरण उन्नयन का क्रम एक साथ चलता है । एक-एक करके अलग-अलग समयों में पृथक-पृथक विकास की परम्परा नहीं है । शरीर के सभी अंगों का साथ-साथ विकास होता है । ऐसा नहीं कि पहले हाथ पुष्ट करलें इसके बाद पैर को सँभालेंगे । स्कूलों में छात्रो को भाषा, गणित, भूगोल, इतिहास आदि की पुस्तकें एक ही समय में क्रमपूर्वक चलानी पड़ती हैं । ऐसा नहीं होता कि पहले भाषा, पढ ले, पीछे गणित, फिर व्याकरण । इसी प्रकार तीनों शरीरों का उन्नयन क्रम त्रिविध चक्रों को प्रस्फुटित करने की प्रक्रिया के साथ चलाना पड़ता है । साधना क्रम में तीनो का समावेश साथ-साथ, किन्तु क्रमिक रूप से करना पड़ता है । इस समग्र साधना को ग्रन्थि भेदयोग कहते हैं । इसमें नाभि हृदय और ब्रह्मरंध्र में अवस्थित तीनों कमलो को मुड़ी हुई प्रसुप्त स्थिति से उबार कर जागृति में परिणत करना होता है । मुंदी कलियों को खिले हुए कमलों के स्तर तक पहुँचाना होता है । इसके लिए प्रातःकालीन सूर्य सविता की ऊर्जा को ध्यान धारणा द्वारा तीनों शरीरों में उनके प्रतीक केन्द्रों से ओत-प्रोत करना होता है ।

तीसरा कारण शरीर भाव शरीर कहा जाता है इसमें आस्थाएँ, मान्यताएँ, आकांक्षाएँ, सम्वेदनाएँ निवास करती हैं । इस सभी को आदर्शों की दिशा में धकेलना पड़ता है और मैत्री करुणा, मुदिता के स्तर पर सेवा साधना में नियोजित करना होता है । पुण्य-परमार्थ की ओर बढ़ चलने के लिए प्रोत्साहित करने वाली योजना एवं क्रिया-प्रक्रिया में नियोजित करना होता है । उसे संयम और उदारता का समन्वय भी कह सकते है । औसत नागरिक स्तर का निर्वाह करने में जो सहमत या सन्तुष्ट हो सका वही सेवा साधना के पुण्य-परमार्थ में प्रवृत्त हो सकता है । उदारता का भाव सम्वेदना का परिचय दे सकता है ।

मस्तिष्क मध्य, जिसे ब्रह्मरंध्र या सहस्त्रार कमल कहते हैं । यही कारण शरीर का सम्वेदन परिकर का मध्य केन्द्र है । यहाँ भी मुंदी कली की स्थिति रहती है । इसे ध्यानयोग द्वारा कमल पुष्प की तरह खिलाया जाता है । पूर्व दिशा मे प्रातःकालीन स्वर्णिम सूर्य का ध्यान इस समूचे प्रयोग के लिए आधारभूत अवलम्बन है । उदीयमान सूर्य को एक सेकण्ड खुली आँख मे देखने के उपरान्त उसी दृश्य की ध्यान धारणा प्रायः दस पन्द्रह सेकण्ड तक आँखें बन्द करके करनी होती है । जब अनुभूति झीनी होने लगे तो फिर आँख खोलकर एक सेकण्ड उदीयमान सूर्य को देखा जा सकता है और पुनः आँखें बन्द करके उसी दृश्य की अनुभूति का क्रम दुहराया जा सकता है । सूर्य के प्रत्यक्ष दर्शन का उपरोक्त क्रम अधिक से अधिक एक सप्ताह चलाना चाहिए और वह अवधि पन्द्रह मिनट से अधिक नहीं होनी चाहिए, क्योंकि जैसे-जैसे सूर्य के प्रकाश में तीव्रता आती जाती है वैसे-वैसे वह खुली आँखों से देखने जैसी स्थिति में नहीं रहता । विकसित सूर्य को देखने पर आँखों को हानि पहुँचती है । उदीयमान को भी देर तक नहीं देखना चाहिए । यह प्रयोग आरम्भिक अभ्यास के लिए है । प्रायः एक सप्ताह में ऐसी स्थिति बन जाती है कि बिना प्रत्यक्ष दर्शन के ही भावनात्मक ध्यान द्वारा भी सविता देव का दिव्य दर्शन होने लगे । इस आलोक को नाभि चक्र, हृदय चक्र और ब्रह्म चक्र में अपनी आभा को प्रवेश कराते हुए अनुभव करना चाहिए ।

## समग्र साधना का व्यावहारिक स्वरूप

तीनो शरीरो के परिष्कार एवं उन्नयन के लिए अपना प्रयास उसी प्रकार नियमित रूप से जारी रखना चाहिए, जिस प्रकार पहलवान बनने वाले अखाड़े में, विद्वान बनने वाले विद्यालय में और धनी बनने वाले कारखाने, दफ्तरों मे नियमित रूप से जाते रहे हैं । जादूगरी में तो यह कौतुक हो सकता है कि "हाथ की सफाई" वाली चालाकी को किसी प्रवीण से थोड़ी ही देर में सीख लिया जाय और दस पाँच दिन के अभ्यास से ही उस कौतुक को दर्शकों में दिखाकर उन्हें चमत्कृत किया जा सके, किन्तु यह आतुरता आत्मिक प्रगति के लिए काम नहीं आ सकती । उसके लिए दीर्घकालीन योजना बनाने और व्रतशील बनकर संकल्पपूर्वक निबाहनी पड़ती है । जो तुर्त-फुर्त आत्मिक उपलब्धियों से अपना भण्डार भर लेने के लिए आतुर हों, उन बाल बुद्धि लोगों को निराशा ही हाथ लगती

है। बरगद का वृक्ष अपनी अवधि पर ही विकसित होता और फूलता-फलता है।

तीनों शरीरों को जागृत करने, प्रखर बनाने के लिए दैनिक उपासना का क्रम इस प्रकार बनाना चाहिए—

प्रातःकाल सूर्योदय के समीपवर्ती समय में उपासना के लिए शुद्ध होकर बैठा जाय। गायत्री की छवि सामने रखी जाय। उसका जल, अक्षत, पुष्प, धूप, नैवेद्य से पूजन वन्दन किया जाय। भावना की जाय कि उस आद्य-शक्ति—महाशक्ति की विशिष्ट प्राण चेतना उस उपासना के वातावरण में भर गई। उस ऊर्जा का सहज प्रभाव साधक को उपलब्ध होने लगा।

इसके बाद गायत्री मन्त्र का जप आरम्भ किया जाय। होठ, जीभ, कण्ठ तो गतिशील रहें पर उच्चारण इतना अस्पष्ट हो कि उसे अन्य कोई समीप बैठा हुआ व्यक्ति भी न पढ़ सके यह जप न्यूनतम पन्द्रह मिनट होना चाहिए।

जप के साथ-साथ ध्यान भी चलना चाहिए। ध्यान में प्रभातकालीन स्वर्णिम सूर्य को माध्यम बनाया जाना चाहिए। भावना की जानी चाहिए कि सविता की सूक्ष्म प्राण चेतना अपने कायकलेवर में प्रवेश कर रही है। उसका नाभि चक्र में, हृदय चक्र में और मस्तिष्क मध्य के सहस्रार चक्र में प्रवेश हो रहा है। यह तीनों ही कमल चक्र मुंदी कली की स्थिति में प्रसुप्त प्राय. रहते हैं। सूर्य की ऊर्जा से प्रभावित होकर वे खिलने लगते हैं। साथ ही इन तीनों केन्द्रों में सन्निहित शारीरिक, मानसिक एवं अन्तःकरण में समाहित अनेकानेक दिव्य प्रभाव विकसित एवं सक्रिय, समुन्नत होने लगते हैं। यह ध्यान जप के साथ-साथ ही चलता रहता है। इससे शरीर और मन दोनों को काम मिलता है फलत. चंचलता का अवरोध मिटता है और एकाग्रता सिद्धि का लाभ मिलने लगता है।

जप और ध्यान की मध्यवर्ती कड़ी एक और है जिसे प्राण विनिमय या प्राणायाम कहते हैं। उसे अपनाया जाना भी आवश्यक है। भावना करनी चाहिए कि समस्त ब्रह्माण्ड में विशेषतया अपने इर्द-गिर्द महाप्राण का भरा पूरा भण्डार विद्यमान है। उसे साँस के साथ खींचा और आत्म-सत्ता के कण-कण में प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

जितनी गहरी साँस खींचना सम्भव हो धीरे-धीरे उसे खींचा जाय। खींचने के आधे समय तक उसे भीतर रोका जाय। इसके उपरान्त खींचने जितने समय में धीरे-धीरे उसे बाहर निकाला जाय। खींचने को पूरक, रोकने को कुम्भक और निकालने को रेचक कहते हैं। खींचते समय प्राण के नासिका, फुफ्फुस आदि में होकर समस्त शरीर में उसके पहुँचने की भावना करनी चाहिए। रोकते समय यह विश्वास किया जाय कि वह खींचा गया तत्व कण-कण में समाविष्ट, स्थिर हो रहा है। साँस छोड़ते समय यह धारणा की जानी चाहिए कि संचित समस्त मलीनताएँ बहिर्गत निष्कासित हो रही है। यह एक प्राणायाम हुआ। इसी की पुनरावृत्ति जप के साथ-साथ चलती रहनी चाहिए। ध्यान तो अपने क्रम से चलता ही रहेगा। जप से स्थूल शरीर, प्राणायाम से सूक्ष्म शरीर और ध्यान से सहस्रदल कमल चक्र का विकास होने से कारण शरीर परिपुष्ट होता है। जप ध्यान के अन्त में सूर्य को अर्घ्य जल चढ़ाने की बात भुला न दी जाय।

प्रातः बिस्तर पर आँख खुलते ही नया जन्म मिलने की खुशी मनानी चाहिए और दिन भर को एक आयु खण्ड मानकर उसका श्रेष्ठतम सदुपयोग करने की योजना बनानी चाहिए, रात्रि को सोते समय बिस्तर पर मृत्यु का ध्यान करना चाहिए और निद्रा को मरणोत्तर काल मानना चाहिए। इस प्रकार जन्म और मरण के साथ जुड़े हुए महान दायित्वों का स्मरण हर दिन होता रहता है और जीवन काल के बहुमूल्य दिनों में से एक का भी दुरुपयोग करने के लिए मन नहीं बहकता।

कहा जा चुका है। उपासना, साधना और आराधना का त्रिविध संयोग मिलने से ही एक समग्र साधना प्रक्रिया बन पड़ती है। अन्न, जल, वायु की तरह यह तीनों ही आत्मिक प्रगति की बात सोचने वालों के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है। यह तीनों ही साथ-साथ चलनी चाहिए। जिस प्रकार जप, प्राणायाम और ध्यान साथ-साथ उपासना काल में चल सकते हैं। उसी प्रकार समूची जीवनचर्या को ही साधना अवधि मानकर उसमें उपासना, साधना, आराधना का सुनिश्चित समावेश रखना चाहिए। उपासना प्रातःकाल पन्द्रह मिनट नियमित रूप से करते रहने से भी काम चल सकता है, किन्तु साधना, आराधना की

समावेश तो उठने से लेकर सोने तक की अवधि मे समग्र रूप से समाविष्ट रहना चाहिए ।

उपासना-चिन्तन की, साधना-चरित्र की और आराधना-व्यवहार की उच्चस्तरीय प्रक्रिया है । साधना का तात्पर्य है—आत्म-शोधन—आत्म-परिष्कार । इसके लिए इन्द्रिय निग्रह प्रथम है । स्वादेन्द्रिय और जननेन्द्रिय पर अंकुश रखा जाना चाहिए । चटोरापन और कामुकता से बचा जाना चाहिए । मानवी गरिमा के अनुरूप विवेक सम्मत और आदर्शवादी कार्यक्रम बनाकर समय गुजारना चाहिए । इसमें मुस्कराते रहने की आदत डालना आवश्यक है । दिनचर्या को इस प्रकार सुनियोजित रखा जाय कि एक क्षण भी आलस्य-प्रमाद में न गुजरे ।

इन्द्रिय संयम की ही तरह अर्थ संयम, समय संयम और विचार संयम भी आवश्यक है । कमाई नीति पूर्ण । हो और उसका उपयोग मितव्ययितापूर्वक सत्प्रयोजनों में ही खर्च किया जाय । समय को परोक्ष दैवी सम्पदा का प्रत्यक्ष स्वरूप मानकर उसका एक-एक पल श्रेष्ठतम सदुपयोग में नियोजित रखने की सतर्कता बरतनी चाहिए । विचार संयम का तात्पर्य यह है एक भी अनैतिक या निरर्थक विचार मस्तिष्क मे प्रवेश न करने दिया जाय । यह तभी सम्भव है जब मन को कर्तव्य परायणता एवं पुण्य-परमार्थ के निमित्त ताना-बाना बुनते रहने, योजना बनाते रहने के लिए नियोजित रखा जाय ।

उपासना, साधना के अतिरिक्त तीसरा पक्ष है—आराधना । आराधना अर्थात् सेवा संलग्नता । सेवा धर्म का उच्चस्तरीय निर्वाह जन मानस के परिष्कार और सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन से ही हो सकता है । इसके साथ ही पिछड़ों को आगे बढ़ाना और प्रतगतिशीलों को ऊँचा उठाना भी सामयिक कार्य है । सम्पर्क क्षेत्र में आवश्यक अवसर आने पर ही इसे कार्यान्वित किया जा सकता है । इसलिए इस प्रकार के कार्यो को आपत्ति धर्म कहा गया है । जब आवश्यक हो तब उन्हे भी करना चाहिए, पर मान्यता यह ही बनाये रहना चाहिए कि व्यक्तित्वों को सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों के साथ जोड़ सकना ही दूरगामी, चिरस्थायी सत्परिणाम उत्पन्न कर सकने वाला वास्तविक पुण्य परमार्थ है ।

निजी जीवन निर्वाह को औसत नागरिक स्तर का रखना चाहिए । भविष्य के लिए स्वार्थ संलिप्त महत्त्वाकांक्षाओं का उन्माद न अपनाना ही प्रथम चरण है जिसे सम्पन्न कर लेने के उपरान्त ही सेवा साधना की, आराधना की सुनियोजित व्यवस्था बन पड़ती है । समय, श्रम, मनोयोगों एवं साधनों को परमार्थ में लगाया जा सकता है, तभी आदर्शवादी, उच्चस्तरीय, महामानवों जैसे क्रिया-कलाप अपना सकने की सम्भावना मूर्तिमान हो सकती है ।

तीनों शरीरों को समुन्नत करने पर आत्म-सन्तोष, लोक सम्मान और दैवी अनुग्रह के वास्तविक जीवन लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं । इस मार्ग पर चलते हुए ही व्यक्तित्व को सद्गुणों की दिव्य-विभूतियों से सम्पन्न किया जा सकता है । अनुकरणीय और अभिनन्दनीय महापुरुषों जैसे कार्य कर सकने की प्रतिभा इसी मार्ग पर चलते हुए हस्तगत होती है । अनेकानेक अतीन्द्रिय क्षमताएँ, दिव्य विभूतियाँ इसी अवलम्बन को अपनाने से उपलब्ध होती हैं । प्रगति, प्रसन्नता और सुख शान्ति का उज्ज्वल भविष्य के निर्माण का यह एकमेव सुनिश्चित मार्ग है ।

उच्चस्तरीय व्यक्तित्व एवं विशिष्ट स्तर की प्रतिभा प्राप्त करने लिए—ऋद्धि-सिद्धियों का अधिकारी बनने के लिए जहाँ निजी साहस, संकल्प एव प्रयास आवश्यक है । वहाँ यह भी कम महत्त्वपूर्ण नही है कि किसी समृद्ध प्रेरणा स्रोत के साथ जुड़ा जाय । उसका भावभरा सहयोग प्राप्त किया जाय । विद्यार्थी पढ़ता तो अपनी ही मेहनत से है पर उसे अभिभावकों की, अध्यापकों की सही सहायता भी आवश्यक है । यदि यह न मिले तो विद्यार्थी के लिए अपना निर्वाह ही कठिन हो जायेगा फिर विद्वान, पहलवान, धनवान आदि प्रतिभाओं का लाभ प्राप्त कर सकना किस प्रकार सम्भव होगा । अपनी छोटी पूँजी के आधार पर तो छोटा ही व्यापार किया जा सकता है पर यदि बैंकों से ऋण और शेयर खरीदने वालों का सहयोग मिलने लगे तो देखते-देखते कोई भी क्रिया कुशल, बढ़ा-चढ़ा कारोबार खड़ा कर सकता है ।

बिजलीघर से तार जोड़ लेने पर नगर के अनेकों पंखे, बल्ब, हीटर, कूलर आदि चलने लगते हैं । भरी टंकी के साथ जुड़ा हुआ नल बराबर पानी देता रहता है । हिमालय के साथ जुड़ी हुई नदियाँ सदा प्रवाहित रहती हैं, पति की कमाई पर पत्नी, बाप की कमाई

र औलाद, मौज मनाती रहती है। यही बात साधना क्षेत्र में भी है। एकाकी साधक अपने बलबूते कुछ तो कर ही सकता है और देर-सबेर में लम्बी यात्रा भी पूरी कर लेता है। इसलिए एकाकी प्रयास को भी झुठलाया तो नहीं जा सकता पर सुविधा इसी में है कि किसी शक्ति भण्डार के साथ जुड़कर अपनी प्रगति सम्भावना को सुनिश्चित किया जाय। गुरु वरण इसी को कहते हैं। यह एक अनुबन्ध है जिसमें दोनों पक्ष अपनी-अपनी जिम्मेदारी का निर्वाह करते और परस्पर पूरक बनकर दोनों पक्ष प्रसन्नता एवं सफलता उपलब्ध करते हैं। अंधे-पंगे के संयोग से नदी पार कर लेने वाली बात इसी प्रकार बनती है।

नारद के साथ जुड़कर पार्वती, सावित्री, वाल्मीकि, ध्रुव, प्रह्लाद आदि ने अपने साधारण स्तर को असाधारण बनाया था। बुद्ध के साथ जुड़कर अंगुलिमाल, अम्बपाली, अशोक जैसों ने अपने स्तर का कायाकल्प कर लिया था। चाणक्य-चन्द्रगुप्त, समर्थ-शिवा, परमहंस-विवेकानन्द, गाँधी-विनोबा आदि के अगणित युग्म ऐसे हैं जिनमें शक्ति सम्पन्नों के साथ जुड़कर असमर्थों ने भी उच्चस्तरीय सफलता पायी। पारस-लोहा, स्वाति-सीप, चन्दन-झंखाड़ आदि के उदाहरण भी ऐसे हैं जिनमें समर्थों का सहयोग प्राप्त करने पर असाधारण प्रगति का बानक बनता है। गुरु शिष्य का गठबन्धन इसीलिए आध्यात्मिक प्रगति के लिए आवश्यक माना गया है।

## उपयुक्त वातावरण की आवश्यकता

प्रतिभाएँ वातावरण विनिर्मित भी करती हैं, पर उनकी संख्या थोड़ी सी ही होती है। हीरे जहाँ-तहाँ कभी-कभी ही निकलते हैं, पर काँच के नगीने ढेरों कारखाने में नित्य ढलते रहते हैं। अधिकांश लोग ऐसे होते हैं जो वातावरण के दबाव से भले या बुरे ढाँचे में ढलते हैं। सत्संग, कुसंग का प्रभाव इसी को कहते हैं। ऐसे लोग अपवाद ही हैं जो बुरे लोगों के सम्पर्क में रह कर भी अपनी गरिमा बनाये रहते हैं। साथ ही अपने प्रभाव से क्षुद्रों को महान बनाते, बिगड़ों को सुधारने में समर्थ होते हैं। प्रधानता वातावरण की है। सामान्यजन प्रवाह के साथ बहते और हवा के रुख पर उड़ते देखे जाते हैं। पारस के उदाहरण कम ही मिलते हैं। सूरज चाँद जैसी आभा किन्हीं विरलों में ही होती है जो अँधेरे में उजाला कर सकें।

मान्यता वातावरण को ही मिलती है क्योंकि अधिकांश पर प्रभाव उसी का होता है। आत्मोत्कर्ष का लक्ष्य लेकर चलने वालों को तो विशेष रूप से इस आवश्यकता को अनुभव करना चाहिए। उसे जुटाने के लिए प्रयत्नशील भी रहना चाहिए।

अनेक फसलें किसी विशेष क्षेत्र में ही उत्साहवर्धक प्रगति करती हैं। तम्बाकू, अफीम, चाय जैसी वस्तुएँ किसी विशेष इलाके में ही होती हैं। अन्यत्र बोया जाय तो वे उगाई भले ही जा सकें आशाजनक स्तर तक बढ़ने, फलने-फूलने में समर्थ नहीं हो पातीं। चन्दन के पेड़ रोपे तो कहीं जा सकते हैं, पर मैसूर जैसी सुगन्ध उनमें नहीं उभरती। आम, सन्तरा आदि की उत्तम फसल निर्धारित क्षेत्रों में ही पनपती है। नारियल, लौंग, मसाले किसी विशेष भूमि में ही उगते हैं। यही बात किन्हीं विशेष क्षेत्रों में ही कोई विशेष जड़ी-बूटियाँ पायी जाती हैं यदि ऐसा न होता तो हनुमान जी को संजीवनी बूटी लेने के लिए सुदूर पर्वत पर क्यों जाना पड़ता। जीव-जन्तुओं की, फूलों की, धान्यों की भी क्षेत्रीय विशेषता के अनुरूप चित्र-विचित्र प्रकार की उत्पत्ति होती है। सोवियत संघ के एक सदस्य देश उजेबिकिस्तान के अधिकांश व्यक्ति सौ से भी अधिक वर्ष जीवित रहते हैं। इसे वातावरण की ही विशेषता कहनी चाहिए।

आध्यात्मिक प्रगति के लिए भी अनुकूल अनुरूप वातावरण होना चाहिए। अन्यथा संव्याप्त चिन्तन की भ्रष्टता, चरित्र की दुष्टता प्रभावित किए बिना न रहेगी। ढलान की ओर पानी अनायास ही बहता है। ऊपर से नीचे गिरने का उपक्रम पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति ही बनाती रहती है। ऊपर उठने के लिए विशेष प्रयत्न करने की, विशेष साधन जुटाने और शक्ति लगाने की आवश्यकता पड़ती है। आत्मिक प्रगति के लिए भी लक्ष्य के प्रति उत्साह बढ़ाने वाला मार्ग दिखाने वाला माहौल चाहिए।

इसके दो उपाय हैं। एक यह कि जहाँ इस प्रकार का वातावरण हो, वहाँ जाकर रहा जाय। दूसरा यह कि यहाँ अपना निवास है वहीं प्रयत्नपूर्वक वैसी स्थिति उत्पन्न की जाय। कम से कम इतना तो

हो ही सकता है कि वे अपने निज के लिए कुछ समय के लिए वैसी स्थिति उत्पन्न कर ली जाय । चन्द्र यात्री जब उसके धरातल पर पहुँचे तब वहाँ साँस लेने के लिए हवा नहीं पायी गई । उन्होंने ऐसे उपकरण साथ लिए जिनमें ऑक्सीजन भरी थी । उसी माध्यम से वे लोग साँस लेते रहे और चन्द्र धरातल के सर्वथा प्रतिकूल वातावरण में भ्रमण अन्वेषण करते रहे । पृथ्वी के उत्तरी दक्षिणी ध्रुवों की स्थिति भी निवास के सर्वथा प्रतिकूल है । इतने पर भी खोजियों ने वहाँ पैर जमाये और साधनों के सहारे बहुत दिन गुजारे । यही प्रयत्न अनुपयुक्त वातावरण में भी कम से कम अपने निज के लिए तो विशेष उपायों से उपयुक्त परिस्थितियाँ गढ़ी जा सकती हैं ।

एकान्त, स्वाध्याय, मनन, चिन्तन ऐसे ही आधार हैं । किसी एकान्त कोठरी या निर्जन क्षेत्र में बैठकर यह अनुभव किया जा सकता है कि संसार में संव्याप्त अवांछनीयता से अपना सम्बन्ध टूट गया । बुरे लोगों का बुरा प्रवाह एक एकान्त के कवच को बेध कर भीतर प्रवेश नहीं कर सकेगा । यह ढाल बाहरी अनुपयुक्त प्रभावों से बचाने के लिए ढाल का काम दे सकती है । शर्त एक ही है उस एकान्त में संसार के अवांछनीय लोगों का विचार, स्वरूप, कृत्य कल्पना मे न आने दिया जाय । सर्वथा कोलाहल रहित स्थान मिलने में कठिनाई देखे तो यह प्रयोजन आँखें बन्द करके, संसार चिन्तन से मन का निरोध करके भी किया जा सकता है ।

अवांछनीयताओं को रोकना भर ही पर्याप्त नही है सर्वथा रिक्त नही रहा जा सकता । शून्यता रह नहीं सकती । इसलिए उस स्थान पर श्रेष्ठता की प्रतिष्ठापना करनी होगी । यह कार्य देवता की ध्यान धारणा से भी अधिक अच्छी तरह उत्कृष्टता आदर्शवादिता के समर्थक मार्गदर्शक साहित्य के सहारे हो सकता है । दूरस्थ या दिवंगत महामानवों से सत्संग तो सहज सम्भव नहीं पर अभाव की पूर्ति उनके लिखे साहित्य से हो सकती है । एकान्त के खाली मस्तिष्क में सत्साहित्य का महामानवो के जीवन रहस्य का अवगाहन किया जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है, उनकी प्रेरणाओं को अपने अन्तराल मे उतारा जा सकता है । उस खाली समय में अपने आदर्शवादी जीवनक्रम की सम्भावनाओं को भी कल्पित किया जा सकता है । वैसी योजनाएँ बनाते रहा जा सकता है । बार-बार जल्दी ऐसे अवसर वर्तमान परिस्थितियों में भी निकाले जा सकते हैं और उस स्वनिर्मित दिव्य कल्पना लोक में अवस्थित रहा जा सकता है ।

प्राचीन काल में साधना के लिए उपयुक्त कितने ही स्थान थे । उन्हें तीर्थ कहते थे । तीर्थ हर क्षेत्र में थे । ताकि समीपवर्ती लोग सरलतापूर्वक पहुँच सके और वातावरण का, मार्गदर्शन का, समस्याओं के समाधान कारक परामर्श का समुचित लाभ उठा सकें । तीर्थों में बच्चों के लिए गुरुकुल, गृहस्थों के लिए आश्रम, प्रौढ़ों के लिए वानप्रस्थ आरण्यकों की व्यवस्था रहती थी । हर व्यक्ति वहाँ निवास में पडने वाला भोजन व्यय आदि स्वयं उठाने की स्थिति मे नही होता था । अमीरों के साथ गरीब भी आते थे । सभी को समान सुविधा मिले । गरीब अमीर का अन्तर न दीख पड़े । किसी पर दीनता और किसी पर अहंता छाई न रहे इसलिए समता की व्यवस्था बनाये रखने के लिए उपरोक्त सभी आश्रमो में सदावर्त भण्डारे चलते थे । सभी आगन्तुको को समान सम्मान और सुविधाओं का सहयोग मिलता था । सभी समुचित प्यार-दुलार, मार्गदर्शन, परामर्श एवं भविष्य को उज्ज्वल बनाने वाली प्रकाश प्रेरणा का लाभ प्राप्त करते थे । स्वर्गीक भाव सम्वेदनाओं का रसास्वादन करते थे । उन दिनों सभी के लिए आत्मिक प्रगति के लिए उपयुक्त स्थान एवं अवसर प्राप्त करने का अवसर उपलब्ध था । इस निमित्त बने तीर्थों की सबसे बड़ी विशेषता यह होती थी कि उनके संचालक, तत्व दर्शन, साधन प्रयोजन एवं जीवनोत्कर्ष की विधा में हर दृष्टि से प्रवीण पारंगत होते थे । यह कार्य गृहस्थ पुरोहित करते थे । परिव्राजक, वानप्रस्थ सदासर्वदा भ्रमण करते रहते थे और उपयुक्त केन्द्रों पर थोड़े-थोडे विचारशीलों को एकत्रित करके उनके प्रशिक्षण सत्र चलाते थे । एक-एक करके बात करना भी उचित है, पर उस प्रक्रिया मे यह दोष है कि कोई प्रतिभाशाली अपना समूचा समय लगाकर भी थोडे लोगों से ही सम्पर्क साध पाता है और एक से दूसरे तक पहुँचने मे उसकी सुविधाशील समय की प्रतीक्षा करने में ढेरों समय लग जाता है इसलिए परिव्राजकों के एक साथ एक स्थान पर एकत्रित होकर विचार गोष्ठी क्रम चलाना सुविधाजनक होता है । उसमें

व्यक्तिगत समस्याओं के अनुरूप पृथक-पृथक परामर्श देना भी सम्भव हो जाता है । यह प्रयोजन बड़े सभा सत्संगों, आयोजनों, समारोहों में नहीं हो पाता । बहुत बड़ी संख्या में जनता के एकत्रित होने पर सामूहिक उत्साह तो उभरता है । वक्ता के लिए यह सरल पड़ता है कि बहुजन समुदाय तक अपने विचार एक ही समय में पहुँचा दें पर उसमें कमी बनी रहती है कि व्यक्तिगत समस्याओं के सम्बन्ध मे पृथक प्रकार के समाधान दे सकना सम्भव नहीं हो पाता । यों एकान्त विचार विनिमय; विचार गोष्ठी आयोजन और सभा सम्मेलनों का अपना महत्त्व है । स्थिति और आवश्यकता को समझने वाले विचारशील उद्‌बोधक इसके लिए यथा स्थिति निर्णय लेते और प्रशिक्षण को आवश्यकता के अनुरूप बनाते रहते हैं । पुरोहितों के तीर्थ सेवन मे उतनी विभिन्नता नहीं है उनका एक ही प्रकार क्रम निर्धारण, समय विभाजन अपने ढर्रे पर घूमता रहता है ।

अब न तीर्थ पुरोहित अपना कर्तव्य पालन करते हैं, आश्रम स्तर की प्रशिक्षण व्यवस्था चलाते हैं और न साधु बिरादरी को ही लोक शिक्षण में निरत देखा जाता है । इन दोनों के ही जीवन परिष्कार और सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन का लक्ष्य रख कर सम्पर्क साधना और शिक्षण चलाना चाहिए, पर वैसा कुछ होता नहीं । देव दर्शन और पूजा परक कर्मकाण्डों के सहारे दक्षिणा बटोरने की धुन रहती है । देवता और एजेण्ट स्वरूप में अपने को प्रस्तुत करके भावुकजनों का सहज सम्मान भी प्राप्त करते हैं । इन उभयपक्षीय लोगों को छोड़कर-लोक मंगल की सेवा साधना मे न पुरोहित वर्ग लग रहा है और न साधु समुदाय का ही उतना ध्यान है जितना होना चाहिए । धार्मिकजनों की देव पूजा के पीछे मनोकामना पूर्ति की इच्छा को घटाया जाना चाहिए और धर्मधारणा में नीति निष्ठा एवं समाज सेवा को प्रतिष्ठित किया जाय ।

घर की परिस्थितियों में मन का भौतक, सामयिक, आकर्षक प्रयोजनों में ही लगा रहना स्वाभाविक है । इस कठिनाई के रहते चित्तवृत्तियों का निरोध और उसका आध्यात्म स्तर की उत्कृष्टता के साथ जुड़ना कठिन पड़ता है । इसलिए अधिक अच्छा और अधिक प्रभावोत्पादक यही रहता है कि जहाँ आत्मिक प्रगति के उपयुक्त वातावरण, सुविधा साधन एवं भटकावों, उलझनों का समाधान मिल सके । वहाँ जाकर कुछ दिन रहा जाय और उपयुक्त क्षेत्र में रहते हुए उपयुक्त साधना की जाय ।

इस दृष्टि से गंगा की गोद और हिमालय की छाया वाला स्थान ढूँढ़ा जाना चाहिए । इन दोनों में अपनी आध्यात्मिक विशेषता है इसी कारण गहरी आस्था वाले साधक कुछ समय के लिए इसी प्रकार के तीर्थों में रहते और साधना करते हुए आशाजनक सफलता प्राप्त करते रहे हैं । तीर्थ स्तर की ऊर्जा को ज्वलन्त बनाये रखने के लिए तीर्थों में नियमित जप और यज्ञ बड़ी संख्या में होना चाहिए । साधना की तपश्चर्या शरीर कृत्य है । उसके साथ-साथ मानस का सर्वांगीण एवं भावनापरक विकास करने के लिए ऐसा शिक्षण मिलना चाहिए जो प्रस्तुत समस्याओं का उच्चस्तरीय समाधान भी प्रस्तुत कर सके । राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न को अपनी जन्मभूमि में भी सभी प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त थीं पर उन्होंने गुरु वशिष्ठ के परामर्श से गंगा की गोद और हिमालय की छाया में ही अपना निवास स्थिर किया । वे चारों भाई वशिष्ठ गुफा के इर्द-गिर्द देव प्रयाग, लक्ष्मण झूला, ऋषिकेश, मुनि की रेती में रह कर साधनारत हुए थे । इन दिनों प्राचीन काल की सभी व्यवस्थाओं में सम्पन्न शान्तिकुंज हरिद्वार की ओर चला जा सकता है । यह सप्त ऋषियों के तप की सुसंस्कारित दिव्य भूमि भी है ।

## साधना ऐसी, जो प्रत्यक्ष सिद्धि-दात्री हो

प्राथमिक पाठशाला की पढ़ाई पूरी करने के उपरान्त ऊँची कक्षाओं में प्रवेश मिलता है । हाईस्कूल उत्तीर्ण कर लेने के उपरान्त ही कालेज की पढ़ाई पूरी होती है । स्नातक बन जाने के पश्चात् ही स्नातकोत्तर कक्षाओं मे पढ़ना शुरू किया जाता है । क्रमिक गति से चलते रहने पर ही लम्बी यात्रा पूरी होती है । छलांग लगाकर ऊँची छत पर नहीं पहुँचा जा सकता व्यावहारिक जीवन में शालीनता, सज्जनता, सुव्यवस्था, संयमशीलता आदि सत्प्रवृत्तियों का प्रतिष्ठापन और सम्वर्धन करने के उपरान्त ही पूजा विधानों के सफल होने की आशा करनी चाहिए । गन्दगी से सना बच्चा

यदि माता की गोद में बैठने के लिए मचले तो वह उसकी इच्छा पूरी नहीं करती, प्यारा लगते हुए भी उसके रोने की परवाह नहीं करती। पहला काम करती है उसे धोना, नहलाना, गन्दे कपड़े उतारकर नये स्वच्छ वस्त्र पहनाना। इतना कर चुकने के उपरान्त वह उसे गोद में लेती, दुलार करती, खिलाती और दूध पिलाती है। बच्चों की उतावली सफल नहीं होती, माता की व्यवस्था बुद्धि ही कार्यान्वित होती है।

आध्यात्म क्षेत्र में इन दिनों एक भारी भ्रान्ति फैली हुई है कि पूजा परक कर्मकाण्डों के सहारे जादूगरों जैसे चमत्कारी प्रतिफल मिलने चाहिए। देवता को स्तवन पूजन के मनुहार, उपहार पर फुसलाया जाना चाहिए और उससे अपनी उचित-अनुचित मनोकामनाओं को पूरा कराया जाना चाहिए। यह स्थापना अनैतिक है, असंगत भी। यदि इतने सस्ते में मनोकामनाएँ पूरी होने लगें तो सफलता के लिए कोई क्यो तो परिश्रम करेगा और क्यों पात्रता विकसित करेगा? फिर सभी उद्योग परायण व्यक्ति मूर्ख समझे जायेंगे और देवता की जेब काटकर उल्लू सीधा करने वाले चतुर। यह मान्यता यदि सही रही होती तो देव पूजा में अधिकांश समय बिताने वाले पंडित पुजारी, साधु बाबाजी अब तक उच्चकोटि की उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकने की स्थिति में पहुँच गए होते। जबकि उनमें से अधिकांश सामान्य जनों से भी गई-गुजरी स्थिति में देखे जाते है। इसी प्रकार तन्त्र-मन्त्र के फेर में पड़े रहने वाले आतुर और भावुक व्यक्ति बड़ी-बड़ी आशा-अभिलाषाएँ सँजोये रहते है। समय बीतता जाता है और सफलता के दर्शन नहीं होते, तो फिर वे निराश होने लगते हैं। प्रयास बन्द कर देते हैं। आध्यात्म अवलम्बन का उलाहना देते हैं और लगभग नास्तिक स्तर के बन जाते है।

यह दुःखद परिस्थिति इसलिए उत्पन्न होती है कि उन्होंने आत्म-विज्ञान का तत्वदर्शन समझने से पूर्व आतुरता वश मात्र कर्मकाण्ड आरम्भ कर दिए और बालू के महल बनाने लगे। जबकि होना यह चाहिए था कि बीज से वृक्ष उत्पन्न होने के सिद्धान्त के साथ जुड़े हुए अन्य तथ्यों को भी समझते और उन पर समुचित ध्यान देते। बीज से वृक्ष बनने की बात सच है। साधना से सिद्धि मिलने की भी, परन्तु आदि और अन्त को अपना लेना एवं बीच का विस्तार उपेक्षित कर देना सही नीति नहीं है। बीज को उर्वर भूमि, खाद और पानी तीनों का सुयोग मिलना चाहिए, वह अंकुरित होगा, बढ़ेगा और फूलेगा-फलेगा। इतना किए बिना बीज से वृक्ष बना देने की जादूगरी कोई बाजीगर ही कर सकता है, उसी का काम है, हथेली पर सरसों जमाना। किसान वैसा नहीं करते। जादूगर रुपये बरसाकर दर्शकों को चकित कर सकते हैं पर व्यवसायी जानते हैं कि यदि ऐसा सम्भव रहा होता तो यह बाजीगर करोड़पति हो गए होते और किसी को परिश्रम करके व्यवसाय संलग्न रहने की आवश्यकता न पड़ती। चलने पर ही रास्ता पूरा होता है। उछलकर आसमान नही चूमा जा सकता। आत्मिक प्रगति, जिसे कोई चाहे तो देव अनुग्रह भी कह सकता है, जीवन को परिष्कृत करने की प्राथमिक आवश्यकता को पूरा किए बिना पकड़ में नही आ सकती। म्यान न हो तो खरीदी हुई तलवार कहाँ रखी जायेगी? तिजोरी नहीं हो तो उपार्जित धनराशि को खुली आलमारी में रखकर किस प्रकार सुरक्षित रखा जा सके? पाचन तन्त्र यदि समर्थ न हो तो पौष्टिक आहार को पचाने और उस आधार पर बल वृद्धि का सुयोग कैसे बने? औषधि सेवन के साथ परहेज का भी ध्यान रखना होता है। परहेज बिगाड़ते रहा जाय, तो अच्छी औषधि भी कारगर परिणाम उत्पन्न न कर सकेगी। भले ही चिकित्सक या औषधि पर मनचाहा दोषारोपण करते रहा जाय।

उपासना-साधना और आराधना का त्रिविध संयोग है। इसे त्रिवेणी संगम भी कह सकते हैं। उपासना पूजा परक कर्मकाण्डो को, जप-अनुष्ठानों को ध्यान धारणा कहा जाता है। साधना चिन्तन, चरित्र और व्यवहार पर आच्छादित रहने वाली शालीनता को, चरित्र निष्ठा कहते हैं। आराधना का अर्थ है सेवा साधना, पुण्य-परमार्थ। इसके लिए कड़ाई से आत्म-संयम बरतना पड़ता है। उस आधार पर की गई बचत को, समय और साधनों को सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन के लिए लगाना पड़ता है, गिरों को उठाने और उठतों को और उठाने के लिए भी। "सादा जीवन उच्च विचार" का सिद्धान्त यही है। जो सादगी से रह सकेगा, न्यूनतम में निर्वाह सम्पन्न कर सकेगा, उसी के लिए यह सम्भव है कि आदर्शवादिता को चरितार्थ कर सके। औसत नागरिक

स्तर का निर्वाह अपनाने पर ही कोई ईमानदार रह सकता है और परमार्थ के लिए आवश्यक भाव सम्वेदना उभार सकता है । उदार सेवा साधना का परिचय दे सकता है ।

उपासना, साधना, आराधना का जीवनचर्या में समावेश होना आवश्यक है । पेट प्रजनन की, लोभ, मोह, अहंकार की तृप्ति के लिए तो हर कोई व्यस्त, उद्विग्न देखा जाता है, पर यह तो भौतिक क्षेत्र की उछल-कूद हुई । उसमें शरीर भर को तात्कालिक रसास्वादन करने का अवसर मिलता है । इन उपलब्धियों से तृष्णा और भी अधिक भड़कती रहती है और अधिकाधिक की माँग इस प्रकार बढ़ती जाती है कि उसकी पूर्ति सम्भव ही नहीं होती । व्यक्ति सदा अपने आपको असन्तुष्ट—अभावग्रस्त अनुभव करता है ।

आत्मोत्कर्ष की साधना के लिए शान्तचित्त रहना आवश्यक है । यदि अन्तराल में उद्वेग उभरते रहें, उपलब्धियों की आतुरता उफनती रहे तो वह आन्तरिक सन्तुलन समाधान सम्भव ही न बनेगा, जिसकी पृष्ठभूमि पर अन्तराल की प्रसुप्त शक्तियों को जगाया जा सके । उस जागरण के आधार पर भौतिक सफलताओं और आत्मिक विभूतियों को प्रचुर मात्रा में उपलब्ध कर सकना सम्भव हो सके ।

शरीर के द्वारा ही संसार से और उसकी पदार्थ सम्पदा से सम्बन्ध जुड़ता है । अनुभव भले ही न करें, पर चेतना की ऊर्जा भी शरीर को ही प्रभावित करती है । आत्मिक प्रगति के उपादान यथा—जप, ध्यान, प्राणायाम आदि शरीर माध्यम से ही बन पड़ते हैं । आत्म-सत्ता तक अपने आपको शरीर के नियन्त्रण में चलती अनुभव करती है । इन सब तथ्यों पर ध्यान देने से काय कलेवर की प्रमुखता बनी दिखती है । अस्तु, आवश्यक है कि आत्मोत्कर्ष की साधना भी शरीर माध्यम से आरम्भ की जाय । उसकी चिन्तन पद्धति, चरित्र निष्ठा और पारस्परिक सम्बन्धों में आदर्शवादिता का समावेश किया जाय । प्रत्यक्ष जीवन में आदर्श ही आध्यात्म है । जीवन चर्या के प्रत्येक पक्ष में मानवीय गरिमा से सम्बन्धित सभी अनुबन्धों का सतर्कतापूर्वक पालन किया जाय । इसके लिए परिशोधन और उत्कर्ष की उभय पक्षीय क्रिया-प्रक्रिया अपनानी पड़ती है । अपना स्तर ऐसा बनाया जाय, जो आत्म-सन्तोष प्रदान कर सके, कृत-कृत्यता सम्पन्न हुई, अनुभव कर सके । साथ ही दूसरों पर अनुकरणीय उदाहरण की प्रभावी छाप छोड़ सके । यह निश्चय करने के उपरान्त उसे व्यवहार में उतारने के लिए जुट जाना चाहिए । गलाई और ढलाई की दोहरी क्रिया-प्रक्रिया निरन्तर चलती रहनी चाहिए ।

साधनात्मक कर्मकाण्डों से पूर्व यही करणीय है । राजयोग के आठ उपचारों में यम, नियम को प्रथम स्थान दिया गया है । इसके उपरान्त आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि के अगले चरण उठते हैं । हठयोग में भी नाड़ी शोधन प्रथम है । चिकित्सक वमन, विरेचन आदि के द्वारा प्रथम पेट की सफाई करते हैं । इसके बाद उपचार का क्रम चलाते हैं ।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर परस्पर गुँथे हुए हैं । क्रिया, विचारणा और भाव सम्वेदना का उतार-चढ़ाव निरन्तर चलता रहता है । इसलिए अन्न, जल, हवा की तरह तीनों ही क्षेत्रों को सुसन्तुलित बनाने वाली जीवन चर्या अपनानी पड़ती है । इसमें तीनों ही पक्षों का समाधान करना पड़ता है । कॉलेज में पहले वाली कक्षाओं में भाषा, गणित, भूगोल, इतिहास आदि कई विषय साथ-साथ पढ़ने पड़ते हैं । स्नातकोत्तर कक्षाओं में तो एक विषय रह जाता है । जिन्होंने सर्वतोभावेन अपना लक्ष्य आत्म-सत्ता का अभ्युदय निश्चित कर लिया है । जो सांसारिक, पारिवारिक उत्तरदायित्वों से निवृत्त हो सकते है, उनके लिए तपश्चर्या और योग-साधना के लिए समूची शक्ति नियोजित कर सकना सम्भव है, अन्यथा सामान्य-जनों के लिए यही मध्य मार्गीय प्रयास ही उपयुक्त है, जिनमें संयम और सेवा का भरपूर समन्वय हो । इन दो आधारों को प्रमुखता देने पर अन्य सद्गुण अनायास ही खिंचते-उभरते चले आते हैं ।

शरीरगत संयम साधना का तात्पर्य है, क्षमताओं को बर्बादी से बचा लेना और संग्रहीत जीवनी-शक्ति को किन्हीं महान प्रयोजनों के लिए सुरक्षित रखना । संयम साधना से दुर्बलता, रुग्णता एवं अकाल मृत्यु से भी बचा जा सकता है । इस आधार पर साहस और ओजस् विकसित होता है । कुरूप होते हुए भी शालीनता अपनाने वाला भारी भरकम विश्वस्त प्रामाणिक एवं सुन्दर लगता है । इस प्रकार उसे नक़द धर्म के रूप

मच्छर की तरह उसे एक स्थान पर बैठना सुहाता ही नहीं । इस उच्छृंखलता पर अंकुश लगाने के लिए आरम्भिक प्रयोग जप और प्राणायाम के रूप में करना पड़ता है । इन दोनों का प्रयोग मन की घेराबन्दी करने और खूँटा पहचानने, अस्तबल में रहने के लिए सहमत करने हेतु किया जाता है । हर घड़ी बे-सिर-पैर की उड़ानें उड़ने की अपेक्षा किसी सत्प्रयोजन—उच्च उद्देश्य पर जमाने के लिए उसे उपरोक्त बाड़ों की कैद में रहने के लिए विवश करना होता है । यों इस स्थिति को भी वह सहज ही नहीं मानता, स्वीकार नहीं करता और बीच-बीच में उछालें लगाता रहता है । रस्सी तुड़ा कर भागने की भरपूर चेष्टा करता रहता है, किन्तु उसे घेर बटोर का सीमाबद्ध रखने के लिए बाधित करने वाला प्रयास चलाते रहना पड़ता है । अभ्यास को निष्ठापूर्वक चलाते रहने से हर काम में सफलता मिलकर रहती है । मन को बाँधना असम्भव नहीं है । यद्यपि ऊँचे उद्देश्यों के साथ जोड़ सकना कठिन तो है । अधोगामी हरकतों में तो मन सहज सरक जाता है पर ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए वैसा ही आड़ा टेढ़ा प्रयत्न करना पड़ता है, जैसा कि सर्कस वाले अपने जानवरों को चित्र-विचित्र काम दिखाने के लिए प्रशिक्षित करते हैं । यह एक महत्त्वपूर्ण व कठिन समय साध्य कला है । मनुष्य की सचेतन शक्तियाँ यदि उद्देश्यपूर्ण उत्कृष्टता के साथ दृढ़तापूर्वक जुड़ सकें तो समझना चाहिए कि महामानव बनने जैसी सम्भावना सुनिश्चित हो गई । सफलताओं के अनेकों ताले विकसित व्यक्तित्व की एक ही चाबी से खुलते जाने की सम्भावना हस्तगत हो गई । वैज्ञानिकों से लेकर कलाकारों, योगियों से लेकर सिद्ध पुरुषों तक को यह सफलता अनिवार्य रूप से प्राप्त करनी होती है कि मन को समग्र तन्मयता के साथ अपने निर्धारित लक्ष्य में नियोजित करे, ताकि शरीर को उस अनुशासन के अन्तर्गत अपने क्रिया-कलाप तदनुरूप करते रहने के लिए विवश होना पड़े । प्रगति चाहे भौतिक क्षेत्र की हो या आत्मिक क्षेत्र की उसमें समग्र मनोयोग अनिवार्य रूप से नियोजित करना पड़ता है । हो सकता है कि किसी ने मानसिक नियन्त्रण अपने सामान्य क्रिया-कलापों से, मानसिक संयम से अर्जित कर लिया हो पर यह निश्चित है कि इसके बिना अभ्युदय की दिशा में बढ़ सकना सम्भव नहीं । जिनका मन डाँवाडोल रहता है, रंगीन कल्पनाओं के आकाश में बे-सिर पैर की उड़ानें मारता रहता है, उनका आधे-अधूरे मन से किया गया निजी कार्य प्रायः असफल रहता है । किसी भी दिशा में महत्त्वपूर्ण, यशस्वी उत्कर्ष ऐसे चंचल मति वालों के हाथ नहीं लगता ।

जप और प्राणायाम में मन की चंचलता का शमन करके उसे एकाग्रता, एकनिष्ठता का अभ्यास कराना पड़ता है । यह अपने आप में एक बड़ी उपलब्धि है । निग्रहीत मन एक दैवी वरदान है । उसे जिस भी काम में लगा दिया जाय अवरोधों को चीरते हुए, सफलता का लक्ष्य प्राप्त करके रहता है । यों जप की मन्त्र-शक्ति और प्राणायाम द्वारा संचित प्राण-शक्ति अपना विशिष्ट प्रतिफल व्यक्तित्व के विकास और प्रखरता के उभार से अपनी प्रतिक्रिया का परिचय देता है । मनःस्थिति ही परिस्थितियों की जन्मदात्री है । जप और प्राणायाम मनःस्थिति को सत्प्रवृत्तियों से सुसम्पन्न करते हैं । फलतः उसका प्रतिफल अभीष्ट आकांक्षाओं को पूरा करने में दैवी अनुग्रह की वरदान उपलब्धि जैसा प्रतीत होता है । प्राणायाम वाले प्राणवान बनते हैं और जप कर्त्ताओं की श्रद्धा बलवती होती है । श्रद्धा के आरोपण से पत्थर के खिलौने भी मीरा के गिरधर नागर, नरसी के रण छोड़ बनकर चमत्कारी दिव्य दर्शन देने लगते हैं । रामकृष्ण परमहंस की काली एवं एकलव्य के द्रोणाचार्य उनकी भाव श्रद्धा का सघन आरोपण होने से ही चमत्कारी प्रतिफल उत्पन्न कर सकने वाले सिद्ध हुए थे । पाषाण प्रतिमाएँ इसी आधार पर देवत्व का प्रतिनिधित्व करती हैं ।

साधना का तीसरा आधार है 'ध्यान' इसमें शारीरिक अंग अवयवों का योगदान नहीं रहता है । समूचा कार्य चेतना को ही करना पड़ता है । कल्पना प्रायः धुँधली और अस्थिर होती है । उसे स्पष्ट, स्थिर और विश्वस्त बनाया जाना चाहिए तभी ध्यान धारणा बन पड़ती है । इसके लिए कोई इष्ट निर्धारित करना होता है । उसी पर मन जमाना होता है । चित्र या प्रतिमा को सामने रखकर उसके अंग-प्रत्यगों, वस्त्र-आभूषणों, आयुधों, वाहनों के सज्जा सज्जित कलेवर को परिपूर्ण उत्सुकता और भावना के साथ देखते रहा जाया करे तो इस तन्मयता भरे देव दर्शन से भी ध्यान की आरम्भिक भूमिका सम्पन्न होती है । चित्रों और

प्रतिमाओं का निर्माण तथा अवलम्बन इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाता है । प्रतिफल उसी अनुपात में मिलता है, जितनी गहरी साधना की भाव सम्वेदना होती है । यदि उपेक्षापूर्वक अनास्था की मनःस्थिति में उन्हें देखा गया है तो प्रतिफल मात्र छवि दर्शन का लाभ आँखों को एक कौतूहल देखने भर के रूप में मिलेगा, किन्तु यदि श्रद्धा का गहरा पुट लगा होगा तो जड़ प्रतिमा भी जागृत स्तर में अपना परिचय देने लगेगी ।

निराकार ध्यान इससे ऊँचा है, क्योंकि उसकी संरचना किसी दृश्य के अनुरूप अपने को ही करनी पड़ती है । इसका पुरातन इतिहास स्मरण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती जिसका भी इतिहास होगा उसमें मनुष्य में पायी जाने वाली त्रुटियों का भी समावेश रहेगा ही । ध्यान से तादात्म्यता आती है । इष्ट के साथ साधक एकीभूत होता है, ध्यान से भी आग, ईंधन जैसा एकात्म भाव बन जाता है । शर्त एक ही है उसके साथ सघन आत्मीयता जुड़ी हुई हो । निराकार ध्यान में भी इतना तो करना ही पड़ता है ।

प्रातःकाल के उदीयमान स्वर्णिम सूर्य का ध्यान सर्वोत्तम है । दृश्यमान सूर्य अपने आप में ही प्राण पुंज है । फिर ध्यानकर्ता अपनी आस्था का आरोपण करके उसे और भी शक्ति दाता बना देता है । गायत्री का अधिष्ठाता भी समग्र विश्व का निर्माता सविता है और उसे परब्रह्म की साक्षात् प्रतिमा इसी कारण माना गया है ।

## सार्थक, सुलभ एवं समग्र साधना

पदार्थ से शरीर और शरीर से आत्मा का महत्त्व अधिक है । इसी प्रकार समृद्धि सम्पन्नता का, प्रगति और योग्यता का, आत्मिक प्रखरता, प्रतिभा का स्तर भी क्रम से, एक से एक सीढ़ी ऊँचाई का समझा जा सकता है । आन्तरिक आस्थाएँ ही वे विभूतियाँ हैं जो व्यक्ति के चिन्तन-चरित्र और व्यवहार को परिष्कृत करती हैं । व्यक्तित्व को प्रखर, प्रामाणिक एवं प्रतिभावान बनाती है । इसी आधार पर वे क्षमताएँ उभरती है, जो अनेकानेक सफलताओं की उद्गम स्रोत हैं ।

आत्मबल के आधार पर अन्य सभी बल हस्तगत किए जा सकते हैं । इसी के आधार पर उपलब्धियों का सदुपयोग बन पड़ता है । परिस्थितियों की प्रतिकूलता रहने पर भी उन्हें व्यक्तित्व की उत्कृष्टता के आधार पर अनुकूल बनाया जा सकता है । संसार के इतिहास में ऐसे अगणित व्यक्ति हुए हैं, जिनकी प्रारम्भिक परिस्थितियाँ गई-गुजरी थीं । निर्वाह के साधनों तक की कमी पड़ती थी, फिर प्रगति के सरंजाम जुट सकना और भी कठिन, लगभग असम्भव दीख पड़ता था । इतने पर भी वे व्यक्तित्व की प्रामाणिकता के आधार पर सभी के लिए विश्वस्त एवं आकर्षक बन गए । उनका चुम्बकत्व व्यक्तियों, साधनों और परिस्थितियों को अनुकूल बनाता चला गया और वे अपने पुरुषार्थ के साथ उस सद्भाव का ताल-मेल बिठाते हुए दिन-दिन ऊँचे उठते चले गए और अन्ततः सफलता के सर्वोच्च शिखर तक जा पहुँचने में समर्थ हुए । ऐसे अवसरों पर व्यक्तित्व की उत्कृष्टता को ही श्रेय दिया जाता है । इस उपलब्धि को ही आत्मबल का चमत्कार कहते हैं ।

इसके विपरीत ऐसे भी अनेकानेक प्रसंग सामने आते रहते हैं जिसमें सभी अनुकूलताएँ रहने पर भी लोग अपनी दुर्बुद्धि के कारण दिन-दिन घटते और गिरते चले गए । पूर्वजों के कमाए धन को दुर्व्यसनों में उड़ा दिया । आलस्य और प्रमाद में ग्रसित रहकर अपनी क्षमताओं और सम्पदाओं को गलाते चले गए । कई अनाचार के मार्ग पर चल पड़े और दुर्गति भुगतने के लिए मजबूर हुए । इसमें उनके मानस की गुण, कर्म, स्वभाव की निकृष्टता ने अनेक सुविधाएँ रहते हुए भी उन्हें असुविधा भरी परिस्थितियों तक पहुँचा दिया ।

चेतना की शक्ति संसार की सबसे बड़ी शक्ति है । मनुष्य ही रेल, जहाज, कारखाने आदि बनाता है । विज्ञान के नित नये आविष्कार करता है । यहाँ तक कि धर्म और दर्शन, आचार और विचार भी उसी के रचे हुए हैं । ईश्वर की साकार रूप में कल्पना तथा स्थापना करना भी उसी का बुद्धि कौशल है । इस अनगढ़ धरातल को, सुविधाओं, सुन्दरताओं, उपलब्धियों से भरा-पूरा बनाना भी मनुष्य का ही काम है । यहाँ मनुष्य शब्द से किसी शरीर या वैभव को नहीं समझा जाना चाहिए । विशेषताएँ चेतना के साथ जुड़ी होती हैं । इसे भी प्रयत्नपूर्वक उठाया या गिराया जा सकता है । शरीर को बलिष्ठ या दुर्बल बना लेना

प्रायः मनुष्य की अपनी रीति-नीति पर निर्भर रहता है । सम्पन्न और विपन्न भी लोग अपनी हरकतों से ही बनते हैं । उठना और गिरना अपने हाथ की बात है । मनुष्य को अपने भाग्य का निर्माता आप कहा जाता है । यहाँ व्यक्ति का मतलब आत्म-चेतना से ही समझा जाना चाहिए । वही प्रगतिशीलता का उद्गम है । उसी क्षेत्र में पतन पराभव के विषैले बीजांकुर भी जमे होते हैं । सद्गुणी लोग अभाव ग्रस्त परिस्थितियों में भी सुख शान्ति का वातावरण बना लेते हैं । अन्तःचेतना के समुन्नत होने पर समूचा वातावरण, सम्पर्क क्षेत्र सुख शान्ति से भर जाता है । इसके विपरीत जिनका मानस दोष-दुर्गुणों से भरा हुआ है, वे अच्छी भली परिस्थितियों में भी दुर्गति और अवगति का कठोर दुःख सहते हैं ।

वैभव अर्जित करने के अनेक तरीके सीखे और सिखाये जाते हैं । शरीर को निरोग रखने के लिए भी व्यायामशालाओं, स्वास्थ्य केन्द्रों से लेकर अस्पतालों तक की अनेक व्यवस्थाएँ देखी जाती हैं । औद्योगिक, वैज्ञानिक, शैक्षणिक, शासकीय प्रबन्ध भी अनेक हैं, पर ऐसी व्यवस्थाएँ कम ही कहीं दीख पड़ती हैं, जिन्होंने चेतना को परिष्कृत एवं विकसित करने लिए सार्थक, समर्थ एवं बुद्धि संगत, सर्वोपयोगी आधार बन पड़ा हो ।

प्रज्ञायोग एक ऐसी ही विधा है । इसे बोलचाल की भाषा में "जीवन साधना" भी कहा जा सकता है । इसमें जप, ध्यान, प्राणायाम, संयम जैसे विधानों की व्यवस्था है, पर सब कुछ उतने तक ही सीमित नहीं है । उपासना में ध्यान धारणा स्तर के सभी कर्मकाण्ड आ जाते हैं । इसके साथ ही जीवन के हर क्षेत्र में मानवी गरिमा को उभारने और रुकावटें हटाने जैसे सभी पक्षों को जोड़कर रखा गया है । शरीर-संयम, समय-संयम, अर्थ-संयम, विचार-संयम इस धारा के अलग न हो सकने वाले अंग हैं । दुर्गुणों के, कुसंस्कारों के निराकरण पर जहाँ जोर दिया गया है, वहाँ यह भी अनिवार्य माना गया है कि अब की अपेक्षा अगले दिनों अधिक विवेकवान, चरित्रवान और पुरुषार्थ परायण बनने के लिए चिंतन तथा अभ्यास जारी रखा जाय । वास्तव में यह समग्रता ही जीवन साधना की विशेषता है । साधक को कर्तव्य क्षेत्र में धार्मिकता, मान्यता क्षेत्र में आत्म-परायणता और आध्यात्म क्षेत्र में दूरदर्शी विवेकशीलता-उत्कृष्ट आदर्शवाद को अपनाने के लिए कहा जाता है । इन सर्वतोमुखी दिशा धाराओं में समुचित जागरूकता बरतने पर ही वह लाभ मिलता है, जिसे आत्म-परिष्कार के नाम से जाना जाता है । यह हर किसी के लिए सरल, सम्भव और स्वाभाविक भी है ।

आत्म-परिष्कार के अन्य उपाय भी हो सकते हैं । पर जहाँ तक प्रज्ञा परिवार के प्रयोगों का सम्बन्ध है, वहाँ यह कहा जा सकता है कि वह अपेक्षाकृत अधिक सरल, तर्क संगत और व्यवस्थित है । इस सन्दर्भ में अनेक अभ्यासरत अनुभवियों की साक्षी भी सम्मिलित है ।

आत्मिक प्रगति का महत्त्व समझा जाना चाहिए । व्यक्ति या राष्ट्र की उन्नति उसकी सम्पदा, शिक्षा, कुशलता आदि तक ही सीमित नहीं होती । शालीनता सम्पन्न व्यक्ति ही वह उद्गम होता है जिसके आधार पर अन्यान्य प्रकार की प्रगतियाँ तथा व्यवस्थाएँ अग्रणी बनती हैं । समर्थता का केन्द्र बिन्दु यही है । इस एकाकी विभूति के बल पर किसी भी उपयोगी दिशा में अग्रसर हुआ जा सकता है, किन्तु यदि आत्मबल का अभाव रहा तो संकीर्ण स्वार्थपरता ही छायी रहेगी और उसके रहते कोई ऐसा महा प्रयोजन सध न सकेगा जिसे आदर्शवादी एवं लोकोपयोगी भी कहा जा सके । यहाँ वह उक्ति पूरी तरह फिट बैठती है, जिसमें कहा गया है कि "एकै साधे सब सधे, सब साधे सब जाय ।"

अनेक प्रकार की समृद्धियों और विशेषताओं से लदा हुआ व्यक्ति अपने कौशल के बलबूते सम्पदा बटोर सकता है । सस्ती वाहवाही भी लूट सकता है; पर जब कभी मानवी गरिमा की कसौटी पर कसा जायगा तो वह खोटा ही सिद्ध होगा । खोटा सिक्का अपने अस्तित्व से किसी को भ्रम में डाले रह सकता है, पर उस सुनिश्चित प्रगति का अधिकारी नहीं बन सकता जिसे "महामानव" के नाम से जाना जाता है । जिसके लिए सभ्य, सुसंस्कृत, सज्जन, समुन्नत जैसे शब्दों का प्रयोग होता है ।

सन्त परम्परा के अनेकानेक महान ऋषियों, लोक सेवियों एवं युग निर्माताओं से जो प्रबल पुरुषार्थ बन पड़े, उनमें उनकी आन्तरिक उत्कृष्टता ही प्रमुख कारण रही । उसी के, आधार पर वे निजी जीवन में सन्तोष, लोक सम्मान और दैवी अनुग्रह की निरन्तर वर्षा होती

अनुभव करते हैं । अपने व्यक्तित्व कर्तव्य के रूप में ऐसा अनुकरणीय उदाहरण पीछे वालों के लिए छोड़ जाते हैं, जिनका अनुकरण करते हुए गिरों को उठाने और उठों को उछालने जैसे अवसर हस्तगत होते रहें । यही है जीवन की लक्ष्यपूर्ति एवं एकमात्र सार्थकता । प्रज्ञायोग की जीवन साधना इसी महती प्रयोजन की पूर्ति करती है ।

## व्यावहारिक साधना के चार पक्ष

ज्ञान और कर्म के संयोग से ही प्रगति पथ पर चल सकना, सफलता वरण करने की स्थिति तक जा पहुँचना सम्भव होता है । आध्यात्म विज्ञान में भी तत्व दर्शन का सही स्वरूप समझने के उपरान्त दूसरा चरण यही रहता है कि उसे क्रियान्वित करने की, पूजा-अर्चना की विधि-व्यवस्था ठीक बने । आध्यात्म का तत्व दर्शन, आत्म-परिष्कार और आत्म-विकास के दो शब्दों में सन्निहित समझा जा सकता है । उपासना पक्ष की प्रतीक पूजा का तात्पर्य है—क्रिया एवं साधनों के सहारे आत्म-शिक्षण की आवश्यकता पूरी करना । कोई भी कर्मकाण्ड उसकी भावनाओं को हृदयंगम किए बिना पूर्ण नहीं हो सकता । मात्र कर्मकाण्ड को जादू का खेल समझते हुए किसी बड़ी सफलता की आशा नहीं की जा सकती । क्रियाएँ जब जिसको जिस मात्रा में प्रभावित करेंगी, वह उसी मात्रा में सत्परिणाम प्राप्त कर सकने मे सफल होगा ।

सार्वजनीन सुलभ साधना का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए इन पृष्ठों पर "प्रज्ञायोग" नाम से वह विधान प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसके सहारे अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति में अन्यान्य उपाय-उपचारों की अपेक्षा अधिक सरलतापूर्वक कम समय में अधिक सफलता मिल सकती है ।

प्रज्ञायोग की दो संध्याएँ अत्यधिक सरल और अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं । एक सवेरे आँख खुलते ही बिस्तर पर पड़े-पड़े पन्द्रह मिनट "हर दिन नया जन्म" की भावना करने का उपक्रम है । दूसरा-रात्रि को सोते समय यह अनुभव करना कि शयन एक प्रकार का दैनिक मरण है । जन्म और मरण यही दो जीवन सत्ता के ओर-छोर हैं । इन्हें सही रखा जाय तो मध्यवर्ती भाग सरलतापूर्वक सम्पन्न हो जाता है । बीजारोपण और फसल काटना, यही दो कृषि कार्य के प्रमुख अंग हैं । शेष तो लम्बे समय तक चलने वाली किसान की सामान्य क्रिया-प्रक्रिया है । उसे तो सामान्य बुद्धि और सामान्य अभ्यास से भी चलाया जा सकता है । जागृति को प्रातःकाल की संध्या और शयन को रात्रि की संध्या कहा जा सकता है । दो बार की संध्याओं, सूर्योदय और सूर्यास्त के समय वाली मानी जाती हैं; पर उसके साथ जुड़ी आध्यात्मिक साधना प्रातःकाल आँख खुलते समय और रात्रि को सोने—आँख बन्द होने के समय की जा सकती है ।

प्रज्ञायोग की प्रथम साधना को आत्मबोध कहते हैं । आँख खुलते ही यह भावना करनी चाहिए कि आज अपना नया जन्म हुआ है । एक दिन ही जीना है । रात्रि को मरण की गोद में चले जाना है । इस अवधि का सर्वोत्तम उपयोग करना ही जीवन की साधना का महान लक्ष्य है । यही अपना परीक्षा क्रम है और इसी में भविष्य की सारी सम्भावना सन्निहित है ।

मनुष्य जन्म जीवधारी के लिए सबसे बड़ा सौभाग्य है । इसका सदुपयोग बन पड़ना ही किसी उच्चस्तरीय बुद्धिमत्ता का प्रमाण-परिचय है । उठते ही यह विचार करना चाहिए कि आज के एक दिन को सम्पूर्ण जीवन माना जाय और स्रष्टा की इस बहुमूल्य धरोहर का उन कार्यों में उपयोग किया जाय जिनके लिए इसे दिया गया है । इस आधार पर दिन भर की दिनचर्या इसी समय निर्धारित की जाय । चिन्तन, चरित्र और व्यवहार की वह रूपरेखा विनिर्मित की जाय जिसे सतर्कतापूर्वक पूरी करने पर यह माना जा सके कि आज का दिन एक बहुमूल्य जन्म, पूरी तरह सार्थक हुआ । इस चिन्तन के सभी पक्षों पर विचार करने में जितना अधिक समय लगे, उतना कम है; पर इसे नित्य प्रति, नियमित रूप से करते रहने पर पन्द्रह मिनट भी पर्याप्त हो सकते हैं । एक दिन की छूटी बात को अगले दिन पूरा किया जा सकता है ।

दूसरी संध्या रात को सोते समय पूरी की जाती है । उसमें यह माना जाना चाहिए कि अब मृत्यु की गोद मे जाया जा रहा है । भगवान के दरबार में जवाब देना होगा कि आज के समय का—एक दिन के जीवन का किस प्रकार सदुपयोग बन पड़ा । इसके लिए दिन भर के समय-यापन परक क्रिया-कलापों के उतार चढ़ावों की समीक्षा की जानी चाहिए । उसके

उद्देश्य और स्तर को निष्पक्ष परखना चाहिए और देखना चाहिए कि कितना उचित बन पड़ा और कितनी उसमें भूल या विकृति होती रही । जो सही हुआ उसके लिए अपनी प्रशंसा की जाय और जहाँ जो भूल हुई हो उसकी भरपाई अगले दिन करने की बात सोची जाय । पाप का प्रायश्चित शास्त्रकारों ने यही माना है कि उसकी क्षतिपूर्ति की जाय । आज का दिन जो गुजर गया, उसे लौटाया तो नहीं जा सकता, पर यह हो सकता है कि उसका प्रायश्चित अगले दिन किया जाय । अगले दिन के क्रिया-कलाप में आज की कमी को पूरा करने की बात भी जोड़ ली जाय । इस प्रकार कुछ भार तो अवश्य बढ़ेगा; पर उसके परिमार्जन का और कोई उपाय भी तो नहीं है ।

मृत्यु अवश्यम्भावी है । लोग उसे भूल जाते है और बाल क्रीड़ा की तरह महत्त्वहीन कार्यों में जीवन बिता देते हैं । यदि यह ध्यान रखा जाय कि चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने के उपरान्त जो अलभ्य हस्तगत हुआ है उसे इस प्रकार व्यतीत किया जाय जिससे भविष्य उज्ज्वल बने । देव मानव स्तर तक पहुँचने की आशा बँधे । दूसरों को अनुकरण की प्रेरणा मिले । स्रष्टा को, दायित्व निर्वाह की प्रामाणिकता का परिचय पाकर प्रसन्नता हो । पदोन्नति का सुयोग इस आधार पर उपलब्ध हो ।

रात्रि को जिस प्रकार निश्चिन्ततापूर्वक सोया जाता है उसी प्रकार मरणोत्तर काल से लेकर पुनर्जन्म की मध्यावधि मे भी ऐसी ही शान्ति रह सकती है । इसकी तैयारी इन्हीं दिनों करनी चाहिए । हँसी-खुशी से दिन बीतता हो तो रात्रि को गहरी नींद आती है । दिन यदि शान्तिपूर्वक गुजारा जाय—श्रेष्ठता के साथ जुड़ा रहे तो मरणोत्तर विश्रामकाल में नरक नहीं भुगतना पड़ेगा । स्वर्ग जैसी शान्ति का रसास्वादन मिलता रहेगा । इस प्रक्रिया को तत्व बोध कहा गया है ।

प्रज्ञायोग के दो चरण है—जिनको दिन में पूरा किया जाता है । इनमें एक है—भजन, दूसरा मनन । भजन के लिए नित्य कर्म से निवृत्त होकर नियत पूजा स्थान पर पालथी मारकर बैठा जाता है । शरीर, मन और वाणी की शुद्धि के लिए जल द्वारा पवित्रीकरण, सिंचन, आचमन किया जाता है । देव प्रतिमा के रूप में गायत्री की छवि अथवा धूप-दीप में से कोई प्रतीक स्थापित करके इसे इष्ट, आराध्य माना जाता है । धूप, दीप, नैवेद्य, जल, अक्षत, पुष्प में से जो उपलब्ध हो उससे उसका पूजन किया जाता है । पूजन में प्रयुक्त वस्तुओं की तरह अपने जीवन में उन विशेषताओं को उत्पन्न करने की भावना की जाती है जो इन उपचार, साधनों मे पायी जाती है । चन्दन समीपवर्तियों में सुगन्ध भरता है । दीपक अपने प्रभाव क्षेत्र में ज्ञान रूपी प्रकाश फैलाता है । पुष्प हँसता और खिलता रहता है । जल शीतलता का प्रतीक बनकर रहता है । अक्षत, नैवेद्य के पीछे समयदान, अंशदान, परमार्थ प्रयोजन के लिए निकाले जाने की सम्भावना है । इष्टदेव को सत्प्रवृत्ति का समुच्चय माना जाय । इन मान्यताओं के आधार पर देव-पूजन समग्र बन पड़ता है ।

अब जप और ध्यान की बारी आती है । दोनों एक साथ चल सकते है । गायत्री जप मानसिक हो तो भी ठीक है । जितनी देर करने का निश्चय हो उसका हिसाब माला या घड़ी के सहारे किया जाता है । जिन्हें गायत्री की अपेक्षा कोई अन्य मन्त्र रुचिकर हो उसे अपना सकते [illegible] । ॐकार भी सार्वभौम स्तर की जप मान्यता बन सकता है ।

जप के साथ प्रातःकाल के उदीयमान स्वर्णिम सूर्य का ध्यान किया जाय । भावना करनी चाहिए कि अपना खुला शरीर सूर्य के सम्मुख बैठा है । इष्ट की सूक्ष्म किरणें अपने स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों मे प्रवेश कर रही हैं । किरणें ऊर्जा और आभा की प्रतीक हैं । ऊर्जा अर्थात् शक्ति, आभा अर्थात् प्रकाश प्रज्ञा । दोनों का समन्वय तीनों शरीरों में प्रवेश करके उन्हें प्रभावित करता है ऐसी भावना की जानी चाहिए । प्रत्यक्ष शरीर मे स्वास्थ्य और संयम, सूक्ष्म शरीर मस्तिष्क में विवेक और साहस, कारण शरीर अर्थात् अन्तःकरण में श्रद्धा, सद्भावना सूर्य किरणों के रूप में प्रवेश करके अस्तित्व की समग्र सत्ता को अनुप्राणित कर रही है । यह ध्यान धारणा और मन्त्र जप साथ-साथ नियत-निर्धारित समय तक चालू रखे जायें और अन्त मे पूर्णाहुति के रूप में सूर्य के सम्मुख जल अर्घ्य दिया जाय । इसका तात्पर्य है—परम सत्ता के सम्मुख जल रूपी आत्म-सत्ता का समर्पण । भजन भावना इतनी ही है । यदि नियत स्थान पर बैठ सकना सम्भव नहीं,

सफर में चलने जैसी स्थिति हो तो वह सारे कृत्य मानसिक रूप में बिना किसी वस्तु की सहायता के भी किए जा सकते हैं ।

प्रज्ञायोग साधना का चौथा चरण है—मनन । यह मध्याह्नोत्तर कभी भी, कहीं भी किया जा सकता है । समय पन्द्रह मिनट हो, तो भी काम चल जायेगा । इसमें अपनी वर्तमान स्थिति की समीक्षा की जाती है और आदर्शों के मापदण्ड से जाँच पड़ताल करने पर जो भी कमी प्रतीत हो, उसे पूरा करने की योजना बनानी पड़ती है । यही मनन है । इसके लिए एकान्त स्थान ढूँढ़ना चाहिए । आँखें बन्द करके अन्तर्मुखी होना और आत्म-सत्ता के सम्बन्ध में परिमार्जन-परिष्कार की उभयपक्षीय योजना बनानी चाहिए । इसमें आज के दिन को प्रधान माना जाय । प्रातः से मध्याह्न तक जो सोचा और किया गया हो, उसे आदर्शों के मापदण्ड से जाँचना चाहिए और उस समय से लेकर सोते समय तक जो कुछ करना हो उसकी भावनात्मक योजना बनानी चाहिए; ताकि दिन के पूर्वार्द्ध की तुलना में उत्तरार्द्ध और भी अच्छा बन पड़े ।

आत्म-समीक्षा के चार मापदण्ड हैं—(१) इन्द्रिय संयम, (२) समय संयम, (३) अर्थ संयम, (४) विचार संयम । देखना चाहिए कि इन चारों में कहीं कोई व्यतिक्रम तो नहीं हो रहा है ? जीभ स्वाद नाम पर अभक्ष्य भक्षण तो नहीं करने लगी ? वाणी से असंस्कृत वार्तालाप तो नहीं होती ? कामुकता की प्रवृत्ति कहीं कुदृष्टि से तो नहीं उभर रही है । असंयम से शरीर और मस्तिष्क खोखला तो नहीं हो रहा ? शारीरिक और मानसिक स्वस्थता बनाये रखने के लिए इन्द्रिय निग्रह अमोघ उपाय है ।

समय संयम का अर्थ है—एक-एक क्षण का सदुपयोग । आलस्य-प्रमाद में, दुर्व्यसनो में, दुर्गुणों के कुचक्र में फँसकर समय का एक अंश भी बर्बाद न होने पाये । इसकी सुरक्षा और सदुपयोग पर पूरी-पूरी जागरूकता बरती जानी चाहिए । समय ही जीवन है । जिसने समय का सदुपयोग किया समझो कि उसने जीवन का परिपूर्ण लाभ उठा लिया ।

तीसरा संयम है—अर्थ संयम । पैसा ईमानदारी और परिश्रमपूर्वक कमाया जाय । मुफ्तखोरी और बेईमानी का आश्रय न लिया जाय । औसत भारतीय स्तर का जीवन जीया जाय । "सादा जीवन उच्च विचार" की नीति अपनायी जाय । विलास प्रदर्शन की मूर्खता में कुछ भी खर्च न होने दिया जाय । कुरीतियों के नाम पर भी बर्बादी न चले । बचत का एक बड़ा अंश परमार्थ प्रयोजन में लगा सकने और पुण्य की पूँजी जमा करने का श्रेय उन्हीं को मिलता है, जो विवेकपूर्वक औचित्य का ध्यान रखते हुए खर्च करते हैं ।

चौथा संयम है—विचार संयम । मस्तिष्क में हर घड़ी विचार उठते रहते हैं, कल्पनाएँ चलती रहती हैं । ये अनर्गल, अस्त-व्यस्त एवं अनैतिक स्तर के न हों, इसके लिए विवेक को एक चौकीदार की तरह नियुक्त कर देना चाहिए । उसका काम हो कुविचारों को सद्विचारों की टक्कर मार कर परास्त करना । अनगढ़ विचारों के स्थान पर रचनात्मक चिन्तन का सिलसिला चलाना । विचार मनुष्य की सबसे बड़ी शक्ति है । वही कर्म के रूप में परिणत होती और परिस्थिति बनकर सामने आती है । जीवन को कल्पवृक्ष बनाने का श्रेय रचनात्मक विचारों का ही होता है । इस तथ्य को भली प्रकार समझते हुए चिन्तन को मात्र रचनात्मक एवं उच्चस्तरीय विचारों से ही संलग्न रखना चाहिए ।

साधना, स्वाध्याय, संयम, सेवा के चार पुरुषार्थों में जीवन की प्रगति एवं सफलता बन पड़ती है । इसलिए दिनचर्या में उन चारों के लिए समुचित स्थान रहे, उसकी जाँच-पड़ताल आत्म-समीक्षा के समय में निरन्तर करनी चाहिए । आत्म-समीक्षा, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण और आत्म-विकास की चतुर्दिक् प्रक्रिया को अग्रगामी बनाने के लिए मध्यान्तर काल की मनन साधना करनी चाहिए । इसे आत्म-दर्शन समझा जाना चाहिए जो थोड़ी विकसित अवस्था में ईश्वर दर्शन के रूप मे फलित होता है ।

## स्वर्णिम सविता की ध्यान धारणा

मन की शक्ति अपार है । व्यावहारिक जीवन मे प्रायः उसका सात प्रतिशत ही काम में आता है । शेष ९३ प्रतिशत प्रसुप्त स्थिति में ही पड़ा रहता है । जो अवयव काम में नहीं आते वे निष्क्रिय रहने पर जंग खाये चाकू की तरह, पक्षाघात पीड़ितों की तरह

निरर्थक हो जाते हैं । अपंग जैसी स्थिति में रहने लगते हैं । मस्तिष्क के सम्बन्ध में भी यही बात है । दैनिक क्रिया-कलापों में जिन घटकों से काम लिया जाता है, उन्हीं में जागृति एवं सक्रियता बनी रहती है । काम न मिलने पर हिम प्रदेश के भालुओं और सर्पों की तरह वे निद्राग्रस्त हो जाते हैं । मनःक्षेत्र के अनेकानेक घटकों के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है । यदि अपेक्षाकृत अधिक क्षेत्रों को क्रियाशील रखा जा सका होता तो मनुष्य बौद्धिक दृष्टि से असामान्य स्थिति तक पहुँचा होता । उस विकास का प्रभाव समूचे जीवन पर पड़ता । प्रगति हर प्रयोजन मे परिलक्षित होती । विशेपतया मनःसंस्थान तो इतना समुन्नत होता कि वह इन्द्रियातीत क्षमताओं से सुसम्पन्न होता और दिव्य ज्ञान के आधार पर इतना कुछ कर पाता, जितना सौ बुद्धिमान मिलकर भी नहीं कर सकते ।

शरीर और मस्तिष्क अनेकानेक अदृश्य घटकों से मिलकर बने हैं । उनके समूह समुच्चय अपने-अपने क्षेत्र सँभालते है और प्रत्यक्ष अंग अवयवो के रूप में काम करते हैं । यों कहने को तो समस्त घटकों का परिपोषण संचालन कर सकने की क्षमता रक्त द्वारा सम्पन्न होती समझी जाती है, पर वस्तुतः उनकी हलचलें उन ज्ञान-तन्तुओं द्वारा होती है जो मस्तिष्क के साथ जुड़े हुए हैं । मस्तिक के सक्रिय केन्द्र इन ज्ञान-तन्तुओ के माध्यम से समस्त शरीर के साथ सम्बन्ध जोड़े रहते हैं और जानकारियों का आदान-प्रदान करते रहते हैं । रक्त की न्यूनता एवं अशक्तता होने पर अंग अवयव कुपोषण के शिकार होते हैं और रुग्णता तथा अकाल मृत्यु की दिशा में चलने लगते हैं । जैव ऊर्जा का प्रभाव इससे भी अधिक है । जीवनी-शक्ति रक्त मे पायी जाती है पर उस पर निर्भर नही है । वह स्वतन्त्र है तथा काय-कलेवर से नहीं, चेतना से उद्भुत होती है । चेतना से मनःसंस्थान का जितना क्षेत्र ज्वलन्त होता है उसी अनुपात से शरीर मे जीवनी क्षमता, कोमलता, सुन्दरता बनी रहती है । निरोधक-शक्ति की बहुलता होने पर रोगों का आक्रमण भी सफल नहीं होता । जीवट वाले व्यक्ति महामारियो में निरन्तर सेवा कार्य करते रहते हैं, किन्तु उससे प्रभावित नहीं होते । यह मनोबल की प्रखरता है, जो अंग अवयवों को सुरक्षित रखे रहती और समर्थ बनाये रखती है । बहुमुखी सफलताएँ इसी पर निर्भर करती है ।

कायिक घटकों को रक्त का पोषण ही नहीं मनोबल की वह विशिष्टता भी चाहिए जिसे "जीवनी-शक्ति" कहते हैं । जिस प्रकार पोषण रक्त पर आश्रित है उसी प्रकार प्रतिभा समेत जीवट के अनेक पक्ष मनःसंस्थान से उभरते तथा गतिशील होते हैं । प्रश्न यह है कि प्रचुर परिमाण में जैव ऊर्जा की समुचित मात्रा में उपलब्धि कैसे हो ? प्रसुप्त निष्क्रिय कोष्ठकों को जागृत कैसे किया जाय ? रहस्यमयी अदृश्य शक्तियो की चमत्कारी विशेषताओं से लाभान्वित कैसे हुआ जाय ? उन्हें प्रखर प्रचण्ड कैसे बनाया जाय ?

सोये व्यक्ति को झकझोर कर जगाया जाता है । निस्तब्ध पड़े घड़ियाल को घण्टा मारकर झनझनाया जाता है । दबा खजाना खोदने के लिए घन चलाया जाता है । विकृत विक्षिप्त मस्तिष्क को बिजली का झटका दिया जाता है । इसी प्रकार शरीर के किसी अंग अवयव को विशेप रूप से सक्रिय समर्थ बनाना है तो उसे किसी समर्थ उपकरण के सहारे हिलाया-डुलाया, उठका-पटका जाता है । ऐसे उपकरण की भूमिका कौन निभाये ? कैसे निभे ? इसका सुनिश्चित उत्तर एक ही है कि मानसिक ऊर्जा का एक सघन समुच्चय एकत्रित किया जाय और इस योग्य बनाया जाय कि वह तिलमिलाने वाला प्रहार कर सके । इस उपलब्धि को हस्तगत करने का एक ही उपाय है—एकाग्रता और भाव निष्ठा सम्पन्न ध्यान ।

आतिशी शीशे पर सूर्य किरणें एकत्रित की जायें तो उसका केन्द्र विन्दु देखते-देखते अग्नि उगलने लगता है । बन्दूक दागने पर कारतूस की गोली कितनी तीव्र गति से उडती और कठोर लक्ष्य को वेधती है, यह सर्वविदित है ।

सूर्य किरणो की भाँति मानसिक शक्तियाँ भी बिखरी रहने के कारण अपना प्रभाव अति स्वल्प मात्रा मे ही पृथ्वी पर दिखा पाती है । यही बात विचार-शक्ति के बारे मे भी है । वह अनेक क्षेत्रों की अनेक आवश्यकताओ की पूर्ति में नियोजित रहती है । इसे एकत्रित कर लिया जाय तो उसकी समग्र शक्ति असाधारण रूप से शक्तिशाली हो जाती है । भाप के सम्बन्ध में भी यही बात है । सामान्यतया पानी गर्म होकर हवा में उड़ता रहता है और उसका किसी को पता भी नहीं चलता, किन्तु जव उसे रेल इजन

के पिस्टन के साथ जोड़ दिया जाता है तो बड़ी तादाद में माल के डिब्बों को घसीटती हुई वही भाप कहाँ से कहाँ ले जा पहुँचती है । प्रेशर कुकर इसी भाप के दबाव से घण्टों में बनने वाला भोजन मिनटों में पका देते हैं । कल्पना-शक्ति की क्षमता के सम्बन्ध में भी यही समझा जाना चाहिए । उसे बिखेरते रहने वाले लोग अति बुद्धिमान होते हुए भी अस्त-व्यस्त रहते हैं और जीवन भर में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य कर नहीं पाते, किन्तु जो एकाग्रता साधने में समर्थ होते है, वे वैज्ञानिक, विद्वान, कलाकार, दार्शनिक, कुशल शिल्पी बनकर दिखा देते हैं । हमें एकाग्रता की महत्ता समझनी चाहिए और कछुए-खरगोश की दौड़ वाली कहानी याद रखनी चाहिए जिसमें मंदगति वाला कछुआ नियत लक्ष्य तक पहुँच कर बाजी जीत गया था, जबकि द्रुतगामी खरगोश अपने मन को जहाँ-तहाँ उलझाये रहने के कारण पिछड़ गया था। प्रत्यक्ष जीवन की सफलता का यही आधार है और आत्मिक उत्कर्ष का भी ।

विचारों की एकाग्रता साधने का सरल और प्रभावी उपाय ध्यान है । ध्यान में केन्द्रीयकरण के लिए कोई छवि निर्धारित करनी पड़ती है । ऐसी वस्तु जो आकर्षक भी हो और गुणवत्ता से भरपूर भी । सुन्दरी युवतियों की ओर अनायास ही ध्यान खिंच जाता है और उनकी छवि तथा भंगिमा के इर्द-गिर्द चक्कर लगाने लगता है । यही बात ध्यान इष्ट के सम्बन्ध में है । उस निर्धारण से पूर्व लक्ष्य पर गरिमा, महत्ता एवं चयन का आरोपण करना पड़ता है । यही सिद्धान्त सभी देवी-देवताओं के सम्बन्ध में लागू होता है ।

सार्वभौम ध्यान के लिए प्रकाश पुंज, प्रभात कालीन स्वर्णिम सूर्य सविता का चयन करना अति उत्तम एवं निर्विवाद है । जिन देवताओं की कथा-गाथा होती है उनके इतिहास में कितने ही उत्साहवर्धक तथ्य रहते हैं तो कई खोट भरे भी । ध्यान के कारण वह सभी भलाइयाँ-बुराइयाँ साधक पर सवार होती हैं । इसलिए अन्य देवता सन्देहास्पद भी है । तीखी समालोचना से उनके चरित्र एवं स्वभाव में ऐसी अवांछनीयता भी सन्निहित रहती है जो साधक पर भी श्रेष्ठताओं के साथ-साथ हावी होती चली जाती हैं । इस दृष्टि से सूर्य सर्वथा दोष रहित है । उसमें गुण ही गुण है । साथ ही शक्ति का भण्डार एवं आकर्षक, सुन्दरता से भरा-पूरा भी उसे समझा जा सकता है ।

सविता गायत्री का अधिष्ठाता है । उसके द्वारा प्राण-शक्ति का उद्‌भव और वितरण होता है । इसी कारण वह प्राणियों का जन्मदाता माना जाता है । प्रकाश वितरण करने से वह चर्म चक्षुओं को दृश्य देखने और ज्ञान चक्षुओं को दिव्य दृष्टि से भरने का अनुदान प्रदान करता है । उसे निरन्तर निर्बाधगति से विश्व सेवा में निरत देखा जा सकता है । अनुशासन का धनी है । समय साधना की दृष्टि से उसे आदर्श एवं अनुकरणीय माना जा सकता है । तेजस्विता उसकी विशिष्टता है । इन सब विभूतियों को ध्यान धारणा द्वारा आकर्षित और अन्तरात्मा में प्रतिष्ठित किया जा सके तो समझना चाहिए कि साधक की सर्वतोन्मुखी प्रगति का द्वार खुल गया । जिस उद्देश्य के लिए ध्यान किया जाता है उस गन्तव्य तक पहुँचने का राजमार्ग मिल गया ।

प्रभात काल के उदीयमान सूर्य में कुछ समय तक स्वर्णिम आभा रहती है । नेत्रों के लिए सहन करने योग्य व सहज भी है । आरम्भ में तनिक देर आँखें खोल उसे देखना, फिर तुरन्त पलक बन्द कर लेना चाहिए । सूर्य के अभाव में दीपक की लौ देखने से भी काम चल सकता है । दोनों ही त्राटक साधना के अन्तर्गत आते हैं । खुले नेत्रों से प्रकाश को देखने की अवधि न्यूनतम होनी चाहिए । एक झलक झाँकी भर । इसके उपरान्त पलक बन्द कर लेना चाहिए और उस प्रकाश पुंज की मानसिक अवधारणा करनी चाहिए । कुछ दिन के अभ्यास से सूर्य को या दीपक को खुले नेत्रों से देखने की आवश्यकता नहीं पड़ती । यह ध्यान स्वाभाविक हो जाता है और अनायास ही होता रहता है । उस समय सविता मन्त्र का भी स्वचालित जप होता रहता है । प्राणयोग की सोऽहम् साधना में श्वास-प्रश्वास के साथ निरन्तर चलते रहने की आदत स्वभाव का अंग बन जाती है ।

प्रकाश पर संयम किया गया विचारों का एकत्रीकरण दोनों उपचारों के कारण एक विशेष शक्ति से सुसम्पन्न हो जाता है उससे अन्तःक्षेत्र की दिव्यशक्ति का आविर्भाव होता रहता है । इसका मनःक्षेत्र के किसी भी शक्ति केन्द्र पर आरोपण किया जाय तो वह प्रसुप्त अवस्था

निरर्थक हो जाते हैं । अपंग जैसी स्थिति में रहने लगते हैं । मस्तिष्क के सम्बन्ध में भी यही बात है । दैनिक क्रिया-कलापों में जिन घटकों से काम लिया जाता है, उन्हीं में जागृति एवं सक्रियता बनी रहती है । काम न मिलने पर हिम प्रदेश के भालुओं और सर्पों की तरह वे निद्राग्रस्त हो जाते हैं । मनःक्षेत्र के अनेकानेक घटकों के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है । यदि अपेक्षाकृत अधिक क्षेत्रों को क्रियाशील रखा जा सका होता तो मनुष्य बौद्धिक दृष्टि से असामान्य स्थिति तक पहुँचा होता । उस विकास का प्रभाव समूचे जीवन पर पड़ता । प्रगति हर प्रयोजन में परिलक्षित होती । विशेषतया मनःसंस्थान तो इतना समुन्नत होता कि वह इन्द्रियातीत क्षमताओं से सुसम्पन्न होता और दिव्य ज्ञान के आधार पर इतना कुछ कर पाता, जितना सौ बुद्धिमान मिलकर भी नहीं कर सकते ।

शरीर और मस्तिष्क अनेकानेक अदृश्य घटकों से मिलकर बने हैं । उनके समूह समुच्चय अपने-अपने क्षेत्र सँभालते हैं और प्रत्यक्ष अंग अवयवों के रूप में काम करते हैं । यों कहने को तो समस्त घटकों का परिपोषण संचालन कर सकने की क्षमता रक्त द्वारा सम्पन्न होती समझी जाती है, पर वस्तुतः उनकी हलचलें उन ज्ञान-तन्तुओं द्वारा होती हैं जो मस्तिष्क के साथ जुड़े हुए हैं । मस्तिक के सक्रिय केन्द्र इन ज्ञान-तन्तुओं के माध्यम से समस्त शरीर के साथ सम्बन्ध जोड़े रहते है और जानकारियों का आदान-प्रदान करते रहते हैं । रक्त की न्यूनता एवं अशक्तता होने पर अंग अवयव कुपोषण के शिकार होते हैं और रुग्णता तथा अकाल मृत्यु की दिशा में चलने लगते हैं । जैव ऊर्जा का प्रभाव इससे भी अधिक है । जीवनी-शक्ति रक्त मे पायी जाती है पर उस पर निर्भर नहीं है । वह स्वतन्त्र है तथा काय-कलेवर मे नहीं, चेतना से उद्भुत होती है । चेतना से मनःसंस्थान का जितना क्षेत्र ज्वलन्त होता है उसी अनुपात से शरीर में जीवनी क्षमता, कोमलता, सुन्दरता बनी रहती है । निरोधक-शक्ति की बहुलता होने पर रोगों का आक्रमण भी सफल नहीं होता । जीवट वाले व्यक्ति महामारियों मे निरन्तर सेवा कार्य करते रहते है, किन्तु उससे प्रभावित नहीं होते । यह मनोबल की प्रखरता है, जो अंग अवयवों को सुरक्षित रखे रहती और समर्थ बनाये रखती है । बहुमुखी सफलताएँ इसी पर निर्भर करती हैं ।

कायिक घटकों को रक्त का पोषण ही नहीं मनोबल की वह विशिष्टता भी चाहिए जिसे "जीवनी-शक्ति" कहते हैं । जिस प्रकार पोषण रक्त पर आश्रित है उसी प्रकार प्रतिभा समेत जीवट के अनेक पक्ष मनःसंस्थान से उभरते तथा गतिशील होते हैं । प्रश्न यह है कि प्रचुर परिमाण में जैव ऊर्जा की समुचित मात्रा में उपलब्धि कैसे हो ? प्रसुप्त निष्क्रिय कोष्ठकों को जागृत कैसे किया जाय ? रहस्यमयी अदृश्य शक्तियों की चमत्कारी विशेषताओं से लाभान्वित कैसे हुआ जाय ? उन्हें प्रखर प्रचण्ड कैसे बनाया जाय ?

सोये व्यक्ति को झकझोर कर जगाया जाता है । निस्तब्ध पड़े घड़ियाल को घण्टा मारकर झनझनाया जाता है । दबा खजाना खोदने के लिए घन चलाया जाता है । विकृत विक्षिप्त मस्तिष्क को बिजली का झटका दिया जाता है । इसी प्रकार शरीर के किसी अंग अवयव को विशेष रूप से सक्रिय समर्थ बनाना है तो उसे किसी समर्थ उपकरण के सहारे हिलाया-डुलाया, उठका-पटका जाता है । ऐसे उपकरण की भूमिका कौन निभाये ? कैसे निभे ? इसका सुनिश्चित उत्तर एक ही है कि मानसिक ऊर्जा का एक सघन समुच्चय एकत्रित किया जाय और इस योग्य बनाया जाय कि वह तिलमिलाने वाला प्रहार कर सके । इस उपलब्धि को हस्तगत करने का एक ही उपाय है—एकाग्रता और भाव निष्ठा सम्पन्न ध्यान ।

आतिशी शीशे पर सूर्य किरणें एकत्रित की जायें तो उसका केन्द्र बिन्दु देखते-देखते अग्नि उगलने लगता है । बन्दूक दागने पर कारतूस की गोली कितनी तीव्र गति से उड़ती और कठोर लक्ष्य को वेधती है, यह सर्वविदित है ।

सूर्य किरणों की भाँति मानसिक शक्तियाँ भी बिखरी रहने के कारण अपना प्रभाव अति स्वल्प मात्रा में ही पृथ्वी पर दिखा पाती हैं । यही बात विचार-शक्ति के बारे मे भी है । वह अनेक क्षेत्रों की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति में नियोजित रहती है । इसे एकत्रित कर लिया जाय तो उसकी समग्र शक्ति असाधारण रूप से शक्तिशाली हो जाती है । भाप के सम्बन्ध में भी यही बात है । सामान्यतया पानी गर्म होकर हवा मे उड़ता रहता है और उसका किसी को पता भी नहीं चलता, किन्तु जब उसे रेल इंजन

के पिस्टन के साथ जोड़ दिया जाता है तो बड़ी तादाद में माल के डिब्बों को घसीटती हुई वही भाप कहाँ से कहाँ ले जा पहुँचती है । प्रेशर कुकर इसी भाप के दबाव से घण्टों में बनने वाला भोजन मिनटों में पका देते हैं । कल्पना-शक्ति की क्षमता के सम्बन्ध में भी यही समझा जाना चाहिए । उसे बिखेरते रहने वाले लोग अति बुद्धिमान होते हुए भी अस्त-व्यस्त रहते हैं और जीवन भर में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य कर नहीं पाते, किन्तु जो एकाग्रता साधने में समर्थ होते हैं, वे वैज्ञानिक, विद्वान, कलाकार, दार्शनिक, कुशल शिल्पी बनकर दिखा देते हैं । हमें एकाग्रता की महत्ता समझनी चाहिए और कछुए-खरगोश की दौड़ वाली कहानी याद रखनी चाहिए जिसमें मंदगति वाला कछुआ नियत लक्ष्य तक पहुँच कर बाजी जीत गया था, जबकि द्रुतगामी खरगोश अपने मन को जहाँ-तहाँ उलझाये रहने के कारण पिछड़ गया था । प्रत्यक्ष जीवन की सफलता का यही आधार है और आत्मिक उत्कर्ष का भी ।

विचारों की एकाग्रता साधने का सरल और प्रभावी उपाय ध्यान है । ध्यान में केन्द्रीयकरण के लिए कोई छवि निर्धारित करनी पड़ती है । ऐसी वस्तु जो आकर्षक भी हो और गुणवत्ता से भरपूर भी । सुन्दरी युवतियों की ओर अनायास ही ध्यान खिंच जाता है और उनकी छवि तथा भंगिमा के इर्द-गिर्द चक्कर लगाने लगता है । यही बात ध्यान इष्ट के सम्बन्ध में है । उस निर्धारण से पूर्व लक्ष्य पर गरिमा, महत्ता एवं चयन का आरोपण करना पड़ता है । यही सिद्धान्त सभी देवी-देवताओं के सम्बन्ध में लागू होता है ।

सार्वभौम ध्यान के लिए प्रकाश पुंज, प्रभात कालीन स्वर्णिम सूर्य सविता का चयन करना अति उत्तम एवं निर्विवाद है । जिन देवताओं की कथा-गाथा होती है उनके इतिहास में कितने ही उत्साहवर्धक तथ्य रहते हैं तो कई खोट भरे भी । ध्यान के कारण वह सभी भलाइयाँ-बुराइयाँ साधक पर सवार होती हैं । इसलिए अन्य देवता सन्देहास्पद भी हैं । तीखी समालोचना से उनके चरित्र एवं स्वभाव में ऐसी अवाञ्छनीयता भी सन्निहित रहती है जो साधक पर भी श्रेष्ठताओं के साथ-साथ हावी होती चली जाती है । इस दृष्टि से सूर्य सर्वथा दोष रहित है । उसमें गुण ही गुण है । साथ ही शक्ति का भण्डार एवं आकर्षक, सुन्दरता से भरा-पूरा भी उसे समझा जा सकता है ।

सविता गायत्री का अधिष्ठाता है । उसके द्वारा प्राण-शक्ति का उद्भव और वितरण होता है । इसी कारण वह प्राणियों का जन्मदाता माना जाता है । प्रकाश वितरण करने से वह चर्म चक्षुओं को दृश्य देखने और ज्ञान चक्षुओं को दिव्य दृष्टि से भरने का अनुदान प्रदान करता है । उसे निरन्तर निर्बाधगति से विश्व सेवा में निरत देखा जा सकता है । अनुशासन का धनी है । समय साधना की दृष्टि से उसे आदर्श एवं अनुकरणीय माना जा सकता है । तेजस्विता उसकी विशिष्टता है । इन सब विभूतियों को ध्यान धारणा द्वारा आकर्षित और अन्तरात्मा में प्रतिष्ठित किया जा सके तो समझना चाहिए कि साधक की सर्वतोन्मुखी प्रगति का द्वार खुल गया । जिस उद्देश्य के लिए ध्यान किया जाता है उस गन्तव्य तक पहुँचने का राजमार्ग मिल गया ।

प्रभात काल के उदीयमान सूर्य में कुछ समय तक स्वर्णिम आभा रहती है । नेत्रों के लिए सहन करने योग्य व सहज भी है । आरम्भ में तनिक देर आँखें खोल उसे देखना, फिर तुरन्त पलक बन्द कर लेना चाहिए । सूर्य के अभाव में दीपक की लौ देखने से भी काम चल सकता है । दोनों ही त्राटक साधना के अन्तर्गत आते हैं । खुले नेत्रों से प्रकाश को देखने की अवधि न्यूनतम होनी चाहिए । एक झलक झाँकी भर । इसके उपरान्त पलक बन्द कर लेना चाहिए और उस प्रकाश पुंज की मानसिक अवधारणा करनी चाहिए । कुछ दिन के अभ्यास से सूर्य को या दीपक को खुले नेत्रों से देखने की आवश्यकता नहीं पड़ती । यह ध्यान स्वाभाविक हो जाता है और अनायास ही होता रहता है । उस समय सविता मन्त्र का भी स्वचालित जप होता रहता है । प्राणयोग की सोऽहम् साधना में श्वास-प्रश्वास के साथ निरन्तर चलते रहने की आदत स्वभाव का अंग बन जाती है ।

प्रकाश पर संयम किया गया विचारों का एकत्रीकरण दोनों उपचारों के कारण एक विशेष शक्ति से सुसम्पन्न हो जाता है उससे अन्तःक्षेत्र की दिव्यशक्ति का आविर्भाव होता रहता है । इसका मनःक्षेत्र के किसी भी शक्ति केन्द्र पर आरोपण किया जाय तो वह प्रसुप्त अवस्था

में न रह कर जागृत होने लगती है । इस जागृति का तात्पर्य है एक अतिरिक्त शक्ति की उपलब्धि हस्तगत होना । इस प्रयोग को शरीर के किसी अवयव पर या शक्ति केन्द्र, चक्र, गुच्छक पर उपत्यिका परिकर पर केन्द्रित करके सम्पन्न किया जा सकता है । टार्च की रोशनी जिस स्थान पर पड़ती है, वह परिधि चमकने लगती है । ठीक इसी प्रकार प्रकाश युक्त ध्यान को जिस भी स्थान के साथ जोड़ा जाता है, वहाँ अभिनव हलचल चल पड़ती है । कील ठोंकने पर जिस पदार्थ में छेद होता है, तुरन्त नीचे की परतों में से दबा हुआ पदार्थ ऊपर उछलकर आ जाता है । इसी प्रकार यह ध्यान धारणा भी फलित होती है । ऑपरेशन करने पर मवाद बाहर निकल पड़ता है । मधुमक्खी के छत्ते में नली डालने पर शहद टपकने लगता है, उसी प्रकार प्रकाश से समाहित एकाग्रता का किसी क्षेत्र पर आरोपण करने से कील ठोकने जैसी प्रतिक्रिया होती है । उसमें भरी हुई अवांछनीयताओं का ऑपरेशन की तरह निष्कासन होता है । साथ ही वहाँ जो कुछ श्रेष्ठ प्रसुप्त स्थिति में पड़ा है वह जागृत होकर अप्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष स्तर पर आ जाता है । आगे का प्रश्न यह है कि ध्यान द्वारा उपलब्ध की गई वेधक दिव्य दृष्टि को किस स्थान पर, किस प्रयोजन के लिए, कितनी मात्रा में नियोजित किया जाय । यह निर्णय करने से पूर्व यह जानना होता है कि स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर में किसी दिव्य-शक्ति का केन्द्र कहाँ है और उसके साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिए वेधक दृष्टि को किस मार्ग से कितने तोड़-मरोड़ो से होकर गुजरते हुए पहुँचा जा सकता है ।

इतनी बारीकी में जा सकने की सिद्धहस्त सर्जन जैसी योग्यता किसी अनुभवी का सान्निध्य प्राप्त करके जान सकना सम्भव न हो तो फिर एक सीधा मार्ग है—'स्थूल शरीर की दिव्य क्षमताओं को जागृत करने के लिए नाभिचक्र के दिव्य कमल को ऊर्जा प्रदान करते हुए उसका प्रस्फुटन, स्फुरण एवं जागृति ।' सूक्ष्म शरीर का केन्द्र हृदय चक्र है और कारण शरीर की भाव सम्वेदनाओं का उद्गम मस्तिष्क मध्य में अवस्थित सहस्र दल कमल ब्रह्मचक्र । इनको झकझोरने से भी दिव्य रस एवं दिव्य गंध जैसा अलौकिक आनन्द प्राप्त किया जा सकता है ।

# जीवन-साधना की चिन्तन पद्धति

जीवन-साधना के लिए उपासना की भाँति ही आधे घण्टे या कम-से-कम १५ मिनट का समय प्रतिदिन प्रातःकाल निकालना चाहिए । यह सोकर उठते ही चारपाई पर बैठकर भी पूरा किया जा सकता है । अथवा नित्य-कर्म, पूजा आदि से निवृत्त होकर फिर थोड़ी देर इस चिन्तन क्रम को पूरा करना चाहिए । अपने कार्यक्रम में सवेरे ही इसको भी किसी स्थान पर फिट कर लेना चाहिए । पूजा में ही आगे-पीछे इसे भी मिला सकते हैं । समय और क्रम की बात परिजनों के ऊपर ही छोड़ी जा रही है, ताकि वे एक दो दिन में अपनी सुविधानुसार इसे भी यथावत् जमा लें ।

यों जीवन-साधना का क्रम सारे दिन हर समय चलने का है, पर उसका प्रारम्भ, शुभारम्भ एक चिन्तन पद्धति के साथ किया जाना चाहिए । इस पद्धति के तीन अंग हैं—(१) जीवन के स्वरूप, उद्देश्य एवं उपयोग को समझना और उसके अनुरूप गतिविधियों का निर्माण करना, (२) "हर दिन नया जन्म, हर रात नई मौत" सूत्र के अनुसार जीवन का श्रेष्ठतम उपयोग करने के लिए दिन भर की शारीरिक कार्य पद्धति एवं मानसिक विचार पद्धति का निर्धारण करना । (३) रात को सोते समय मृत्यु के समय आवश्यक वैराग्य का अनुभव करना । इन तीन चिन्तन क्रम में से दो को प्रातः और तीसरे को रात्रि के सोते समय प्रयुक्त करना चाहिए । विस्तृत प्रक्रिया पिछले पृष्ठों पर देखी जा सकती है ।

वर्ष में जिस दिन अपना जन्म दिवस पड़ता हो, उस दिन उसे समारोहपूर्वक मनाना चाहिए और साथ ही दिन भर मानव-जीवन की महत्ता का अनुभव करते हुए उसके श्रेष्ठतम उपयोग की भावी रीति-नीति निर्धारित करनी चाहिए । वर्तमान क्रिया पद्धति में जो दोष हों उन्हें सुधारना चाहिए और जो नया क्रम दिनचर्या में सम्मिलित किया हो उसे करना चाहिए । यह बात वर्ष में एक बार एक दिन समारोहपूर्वक मनाने के बारे में हुई, पर उतने से ही काम न चलेगा । हर दिन प्रातःकाल उठते ही बिस्तर पर बैठकर अपने आपसे इस सन्दर्भ में तीन प्रश्न पूछने चाहिए और उनके उत्तर भी स्वयं ही उपलब्ध करने चाहिए । पर प्रश्नोत्तर, प्रातःकाल जीवन का क्रम आरम्भ करते हुए नित्य ही

दुहराना चाहिए ताकि जीवन का स्वरूप, उद्देश्य और उपयोग सब स्मरण बना रहे और उस स्मरण के आधार पर अपनी दिशाएँ ठीक रखने में भूल-चूक न होने पाये ।

अपने आपसें तीन प्रश्न पूछने चाहिए—

(१) भगवान को सभी प्राणी समान रूप से प्रिय पात्र हैं, फिर मनुष्य को ही बोलने, सोचने, लिखने एवं असंख्य सुख-सुविधाएँ प्राप्त करने का विशेष अनुदान क्यो मिला ? मनुष्य को हर दृष्टि से उत्कृष्ट स्तर का प्राणी बनाने में इतना असाधारण श्रम क्यों किया ?

उत्तर एक ही हो सकता है—"अपने उद्यान—इस संसार को अधिक सुन्दर और सुव्यवस्थित बनाने के लिए परमेश्वर को साथी-सहचरों की जरूरत पड़ी और अपनी क्षमताओं से सुसज्जित कर सर्वांगपूर्ण प्राणी—मनुष्य इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए बनाया । विशेष साधन सुविधाएँ इसलिए दीं कि उनके द्वारा वह ईश्वरीय प्रयोजनों की पूर्ति ठीक तरह से कर सके ।"

(२) दूसरा प्रश्न अपने आपसे यह पूछना चाहिए कि—"जो सुविधाएँ, विभूतियाँ, सम्पदाएँ हमें उपलब्ध हैं—उनका लाभ यदि हम अपने लिए ही करते हैं तो इसमें क्या कोई हर्ज है ?"

उत्तर एक ही मिलेगा—"अन्य प्राणियों के अतिरिक्त जितनी भी बौद्धिक, आर्थिक, प्रतिभायुक्त एवं अन्य किसी प्रकार की विशेषताएँ हैं, वे विश्व मानव की ही पवित्र अमानत हैं और इनका उपयोग लोक-मंगल के लिए ही किया जाना चाहिए । शरीर रक्षा भर के आवश्यक उपकरण के अतिरिक्त इन साधनों का विश्व-कल्याण के लिए ही उपयोग किया जाय ।"

(३) तीसरा प्रश्न अपने आपसे करना चाहिए कि—"क्या इस सुरदुर्लभ मानव शरीर का सही सदुपयोग हो रहा है ?"

उत्तर यही मिलेगा—"हम सदाचारी, संयमी, परिश्रमी, उदार, सज्जन, हँसमुख, सेवाभावी बने बिना मानव जीवन को सार्थक नहीं बना सकते । इसलिए इन सद्गुणों का अभ्यास बढ़ाने के लिए जीवन-यापन की रीति-नीति में उत्कृष्टता और आदर्शवादिता का, सभ्यता और सज्जनता का—पुरुषार्थ और साहस का समुचित समावेश करना चाहिए ।"

इन्हीं प्रश्नोत्तरो में आध्यात्म तत्वज्ञान का सार सन्निहित है । यदि यह प्रश्न जीवन की महान समस्या के रूप में सामने आयें और उन्हें सुलझाने के लिए हम अपने पूरे विवेक का उपयोग करें तो भावी जीवन-यापन के लिए एक व्यवस्थित दर्शन और कार्यक्रम सामने आ खड़ा होगा । यदि इस तत्वज्ञान को ठीक तरह हृदयंगम किया जा सका तो आकांक्षाओं और कामनाओं का स्वरूप बदला हुआ होगा । रीति-नीति और कार्य पद्धति में वैसा परिवर्तन-परिलक्षित होगा जैसे आत्म-ज्ञान सम्पन्न मनुष्य में प्रत्यक्षतः दृष्टिगोचर होना चाहिए ।

(२) इसके बाद—"हर दिन नया जन्म—हर रात नई मौत ।" इस सूत्र को मन-ही-मन दुहराना चाहिए और भावना करनी चाहिए कि आज का दिन हमें एक नये जन्म के रूप में मिला है । वस्तुतः निद्रा और जागरण—मृत्यु और जन्म का ही एक छोटा नमूना है । उसमें असत्य भी कुछ नहीं । सचमुच की मृत्यु भी एक लम्बी रात की गहरी नींद मात्र है । हर दिन को एक जन्म कहा जाय तो ऊपर से ही हँसी की बात लगती है, वस्तुतः वह एक स्थिर सच्चाई है । अतएव इस मान्यता में अत्युक्ति और निराधार कल्पना जैसी भी कोई बात नहीं है ।

आज का नया जन्म अपने लिए एक अनमोल अवसर है । कहते हैं कि चौरासी लाख योनियों के बाद एक बार मनुष्य शरीर मिलता है, उसका सदुपयोग कर लेना ही शास्त्रकारों ने सबसे बड़ी बुद्धिमता मानी है । अस्तु हमे प्रातःकाल चारपाई पर पड़े-पड़े ही विचारना चाहिए कि आज का दिन अनमोल अवसर है, उसे अधिक-से-अधिक उत्कृष्टता के साथ व्यतीत करना चाहिए । कोई भूल, उपेक्षा, अनीति, दुर्बुद्धि उसमें न रहे । आदर्शवादिता का, सद्भावना और सदाशयता का उसमें अधिकाधिक समावेश रहे, ऐसा दिन भर का कार्यक्रम बनाकर तैयार किया जाय ।

आमतौर से आलस्य, ढील-पोल, शिथिलता में हमारा अधिक-से-अधिक समय बर्बाद होता है । तत्परता, स्फूर्ति, परिश्रम और दिलचस्पी के साथ करने पर जो कार्य एक घण्टे में हो सकता है, उसी को अधिकतर लोग दो-दो, चार-चार घण्टे में पूरा करते हैं । आलस्य, अधूरा मन, मन्दगति, रुक-रुक कर

शिथिलतापूर्वक काम करने में—और ऐसे-वैसे—ज्यों-त्यों—वेकार बहुत-सा समय गुजार देने की आदत बहुतों की होती है और उनका आधा जीवन प्रायः इस आलस्य प्रमाद में ही बर्बाद हो जाता है । यह बुरी आदत सम्भव है, थोड़ी बहुत मात्रा में अपने भीतर भी हो, उसे बारीकी से तलाश करना चाहिए और निश्चय करना चाहिए कि आज हर काम पूरी तत्परता और फौजी उत्साह के साथ करेंगे । समय ही जीवन है । वही ईश्वर प्रदत्त हमारी एक मात्र सम्पत्ति है । समय का सदुपयोग करके ही हम अभीष्ट आकांक्षापूर्ण करने और मंगलमयी उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकने में हो सकते है । समय की बर्बादी एक प्रकार की मन्द आत्म-हत्या है । संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, उनमें से प्रत्येक ने अपने समय का एक-एक क्षण ठीक तरह उपयोग करके ही अभीष्ट सफलताएँ प्राप्त की है । इसलिए आज समय के सदुपयोग की, एक पल भी बर्बाद न होने की, आलस्य, शिथिलता एवं अन्यमनस्कता से लड़ने की पूरी तैयारी करनी चाहिए और दिन भर के समय विभाजन की दिनचर्या ऐसी बननी चाहिए जिसमे वक्त की बर्बादी के लिए तनिक भी गुंजाइश न रहे । जो आवश्यक काम पिछले कई दिनों से टलते चले आ रहे हों, जिनकी उपयोगिता अधिक हो, उन सबको सुविधा हो तो आज ही करने के लिए नियत कर लेने चाहिए । दिनचर्या ऐसी बने जो सुविधाजनक भी हो और सुसन्तुलित भी । अति उत्साह से ऐसा कार्यक्रम न बना लिया जाय जिसको पूरा कर सकना ही कठिन हो जाय ।

शारीरिक कार्यक्रमों के साथ-साथ मानसिक क्रिया पद्धति भी निर्धारित करनी चाहिए । किस कार्य को किस भावना के साथ करना है, इसकी रूपरेखा मस्तिष्क में पहले से ही निश्चित रहनी चाहिए । समय-समय पर बड़े ओछे-संकीर्ण, स्वार्थपूर्ण हेय विचार मन में उठते रहते है । सोचना चाहिए कि आज किस अवसर पर किस प्रकार का अनुपयुक्त विचार उठने की सम्भावना है, उस अवसर के लिए विरोधी विचारों के शस्त्र पहले से ही तैयार कर लिए जायें ।

आरम्भ में बुरे विचारों को उठने से रोक सकना कठिन है । हाँ जब वे उठें तो उन्हें, ठीक विरोधी विचारधारा पैदा करके काटा जा सकता है । लोहे से लोहा कटता है, विचारों से विचार भी काटे जा सकते हैं । कामुकता के अश्लील विचार यदि किसी नारी के प्रति उठ रहे हैं, तो उसे अपने बेटी, बहिन, भान्जी आदि के रिश्ते में सोचने की—सफेद चमड़ी के भीतर मल-मूत्र रक्त-माँस की घृणित दुर्गन्ध भरी होने की कल्पना करके उनको शमन किया जा सकता है । आवेश, उत्तेजना, क्रोध, उतावली की बुरी आदतें कइयो की होती हैं । जब वैसे अवसर आयें तब गम्भीरता, धैर्य, दूरदर्शिता, सज्जनता, शांति जैसे विचार अपने में उस समय तत्काल उठाने की तैयारी करनी चाहिए ।

दिन भर के समय विभाजन तथा विचार संघर्ष की योजना बनानी चाहिए और ऐसी दिनचर्या तैयार करनी चाहिए, जिसमें शरीर से ठीक तरह कर्तव्य पालन और मन में ठीक तरह सद्भाव चिन्तन होता रहे । इस कार्य के लिए पन्द्रह मिनट से लेकर आधा घण्टे का समय पर्याप्त होना चाहिए । उस निर्धारित दिनचर्या को कागज पर नोट कर लेना चाहिए और समय-समय पर जाँचते रहना चाहिए कि निर्धारण के अनुरूप कार्यक्रम चल रहा है या नहीं ? जहाँ भी चूक होती हो वही उसे तुरन्त सुधारना चाहिए । यदि सतर्कतापूर्वक दिनचर्या के पालन का ध्यान रखा जाय, शारीरिक आलस्य और मानसिक प्रमाद से पग-पग पर लड़ते रहा जाय तो प्रातःकाल की निर्धारित योजना रात को सोते समय तक ठीक ही चलती रहेगी ।

इस प्रकार हर दिन नया जन्म वाले मन्त्र का आधा भाग रात को सोते समय तक पूरा होते रहना चाहिए । हर घड़ी अपने को सतर्क, सक्रिय, जागरूक रखा जाय, चूकों को बचाने के लिए सतर्क रहा जाय—उत्कृष्टता का जीवन में अधिकाधिक समावेश करने के लिए प्रयत्न किया जाय तो निःसन्देह वह दिन पिछले अन्य दिनों की अपेक्षा अधिक सन्तोषप्रद, अधिक गौरवास्पद होगा । इस प्रकार हर दिन पिछले दिन की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक आदर्श बनता चला जायेगा और [illegible] नत्व दर्शन [illegible] जीवन पद्धति ढलती [illegible]

(३) अब [illegible]
अवसर आता [illegible]
को रात्रि में [illegible]

की घड़ी आये । तब कल्पना करनी चाहिए कि—"एक सुन्दर नाटक का अब पटाक्षेप हो चला । यह संसार एक नाट्यशाला है । आज का दिन अपने को अभिनय करने के लिए मिला था, सो उसको अच्छी तरह खेलने का ईमानदारी से प्रयत्न किया । जो भूलें रह गईं उन्हें याद रखेंगे और अगले दिन वैसी पुनरावृत्ति न होने की अधिक सावधानी बरतेंगे ।"

"अनेक वस्तुऐं इस अभिनय में प्रयोग करने को मिलीं । अनेक साथियों का साथ रहा । उनका सान्निध्य एवं उपयोग जितना आवश्यक था कर लिया गया, अब उन्हें यथा समय छोड़कर पूर्ण शान्ति के साथ अपनी आश्रयदात्री माता निद्रा—मृत्यु की गोद में निश्चिन्त होकर शयन करते हैं ।"

इस भावना में वैराग्य का अभ्यास है । अनासक्ति का प्रयोग है । उपलब्ध वस्तुओं में से एक भी अपनी नहीं, साथी व्यक्तियों में से एक भी अपना नहीं । वे सब अपने परमेश्वर के और अपने कर्तृत्व की उपज हैं । हमारा न किसी पर अधिकार है, न स्वामित्व । हर पदार्थ और हर प्राणी के साथ कर्तव्य बुद्धि से ठीक व्यवहार कर लिया जाय, यही अपने लिए उचित है । इससे अधिक मोह, ममता के बन्धन बाँधना—स्वामित्व और अधिकार की अहंता जोड़ना—निरर्थक है । अपना तो यह शरीर भी नहीं, कल परसों इसे धूल बनकर उड़ जाना है—तब जो सम्पदा, प्रयोग-सामग्री, पद, परिस्थिति, उपलब्ध है उस पर अपना स्वामित्व जमाने का क्या हक ? अनेक प्राणी सृष्टि के आदि से लेकर अब तक अपने कर्म भोगों को भुगतने, अनेकों के साथ आये दिन संयोग-वियोग करते रहते हैं । अपने साथ भी आज कितने ही प्राणी एक सज्जन साथी की तरह रह रहे हैं, इनके लिए कर्तव्य धर्म का ठीक तरह पालन किया जाय इतना ही पर्याप्त है । उनसे आवश्यक ममता जोड़ कर ऐसा कुछ न किया जाय जिससे अनुचित पाप कर्मों मे संलग्न होना पड़े ।

यह विवेक हमें रात को सोते समय जागृत करना चाहिए और अनुभव करना चाहिए कि अहंता और ममता के बन्धन तोड़ कर एकात्म भाव से भगवान की मंगलमय गोदी—निद्रा, मृत्यु में परम शान्ति और सन्तोषपूर्वक निमग्न हुआ जा रहा है ।

इस प्रकार की मनोवृत्ति का विकास होने से जीवन के अनेक क्षेत्रों में प्रगति होने की सम्भावना रहती है और अन्त में मानव-जन्म की सार्थकता उपलब्ध हो सकती है । इस प्रकार की भावना बनी रहने से मनुष्य माया-मोह के हानिकारक बन्धनों से अधिकांश में विमुक्त रहता है और आत्मोद्धार का वास्तविक लक्ष्य उसकी दृष्टि से ओझल नहीं होने पाता । इस प्राकर जो साधक जीवन के वास्तविक रहस्य को हस्तगत कर लेता है, उसको फिर व्यर्थ के जंजाल में नहीं फँसना पड़ता ।

किसी दिन सचमुच ही मृत्यु आ जाय तो इन परिपक्व वैराग्य भावनाओं के आधार पर बिना भय और उद्वेग के शान्तिपूर्वक विदा होते हुए—मरणोत्तर जीवन में परम शान्ति का अधिकारी बना जा सकता है । यह भावना लोभ और मोह की जड़ काटती है । कुकर्म प्रायः इन्हीं दो आन्तरिक दुर्बलताओं के कारण बन पड़ते हैं । हर रात को एक मृत्यु मानने से लोभ और मोह का निराकरण और हर दिन को नया जन्म मानने से जीवन में आदर्शवादिता एवं उत्कृष्टता का समावेश करने की प्रेरणा मिलती है । यही प्रेरणा कर्मयोग की आधारशिला है ।

हममें से प्रत्येक को "हर दिन नया जन्म-हर रात नई मौत" के भाव-मन्त्र की साधना करनी चाहिए । इससे स्थूल शरीर में कर्मयोग का समावेश इस क्षेत्र में होगा और देवत्व के जागरण की एक महती आवश्यकता को पूरा करने का सरल मार्ग उपलब्ध होगा ।

इस तथ्य को जितनी गम्भीरतापूर्वक समझा जाय उतना ही अच्छा है कि "उपलब्ध मनुष्य जीवन ईश्वर का सर्वोपरि उपहार है ।" उसमें आत्मोत्कर्ष की समस्त सम्भावनाएँ भरी पड़ी हैं । साथ ही ईश्वर को प्रसन्न करने तथा उस अनुकम्पा के आधार पर बहुत कुछ पाने का ठीक यही अवसर है । इसे महत्त्वहीन न समझा जाय । उसे भार की तरह न ढोया जाय । इस अलभ्य सौभाग्य को अस्त-व्यस्त प्रयोजनो में न गँवाया जाय । बुद्धिमत्ता इसी में है कि संयोगवश आँगन में उगे इस कल्प वृक्ष को ठीक तरह सींचा, पोषा जाय—प्रतिकूलताओं से बचाया जाय और इस विकसित स्थिति तक पहुँचाया जाय, जिसमे उसकी सुखद छाया में बैठने और अभीष्ट वरदान पाने का सौभाग्य बरसने लगे । अज्ञानग्रस्त इस अलभ्य अवसर का न

मूल्यांकन कर पाते है और न उसके सदुपयोग की कोई योजना, व्यवस्था बनाते हैं । फलतः अनाड़ी के हाथ पड़े हुए हीरे के हार की तरह उसके साथ खिलवाड़ हो और धागे टूटने, मनके बिखरने जैसी विडम्बना बनती रहती है । इससे बड़ी दुर्भाग्य भरी दुर्घटना और कोई हो नहीं सकती कि जीवन का महत्त्व न समझा जा सके, उसका मूल्यांकन न बन पड़े और किसी प्रकार मौत के दिन पूरे कर लेने के अतिरिक्त और कुछ पल्ले न पड़े । पेट प्रजनन में व्यस्त रहना तो तुच्छ प्राणियों को क्रियाशील रखने वाले प्रकृति का हण्टर भर है । वह तो हर योनि में पड़ता ही रहा है, भविष्य में जन्म लेना पड़े तो उसमें भी यह सड़ासड़ बरसेगा ही । मानवी बुद्धिमता की सार्थकता इसमें है कि वह इस अलभ्य अवसर का सौभाग्य, सदुपयोग मनुष्य को समझाये, उस निष्कर्ष पर पहुँचाये, उस मार्ग पर चलाये जिसके आधार पर वर्तमान को समुन्नत और भविष्य को उज्ज्वल बनाया जा सकना सम्भव हो सकता है । उसके लिए उपयुक्त दिशाधारा का सुनिश्चित निर्धारण बन पड़े तो ही प्रस्तुत सौभाग्य से लाभान्वित हो सकना सम्भव है । देखना यही है कि इस दैनंदिन जीवन की तप साधना द्वारा जीवन को एक महान मोड़ दे सकने वाली प्रखरता से सम्पन्न बनाया जा सका या नहीं ।

हर साधक का यही अनुभव करना चाहिए कि वे साधना की अवधि में माता के गर्भ में निवास कर रहे हैं और ऐसा आवश्यक पोषण प्राप्त कर रहे हैं जिसके सहारे जन्म लेने के उपरान्त समूचे जीवन का श्रेष्ठतम सदुपयोग कर सकने में समर्थ हो सके । गुरु गृह को भी माता के गर्भ सदृश्य माना गया है । साधक की इन दिनों मान्यता ऐसी ही होनी चाहिए । ऊषा काल, रात्रि की विदाई और दिनमान की अगवानी करती है । साधना अवधि में ऐसी ही अनुभूति होनी चाहिए कि पशु का स्तर त्यागने और देव स्तर में प्रवेश करने का यह ऊषा काल है । इन्हीं क्षणों मे महान परिवर्तन की सम्भावना बन रही है । सघन संव्याप्त तपस्या का पलायन और समूचे आकाश में प्रभाव का प्रकाश वितरण सचमुच ही एक आश्चर्य है । इतने थोड़े क्षेत्रों में इतना महान परिवर्तन देखते हुए लगता है ऊषा काल की प्रभाव बेला कितनी अद्भुत, कितनी सशक्त एवं कितनी सौभाग्यशाली है । ठीक इसी प्रकार साधना, तपश्चर्या की भूमिका भी ऐसी ही होनी चाहिए जिसे कर्त्ता का अभिनव भाग्योदय कहकर शेष सारा जीवन सराहा और स्मरण रखा जा सके ।

पर यह सम्भव तभी है जब साधक अपनी भाव भूमिका को गतिशील रखे और पराक्रम की चरम सीमा तक पहुँचे । यों माता भी भ्रूण को बहुत कुछ देती है पर उसे भ्रूण के निजी पुरुषार्थ की तुलना में नगण्य ही कहा जा सकता है । शरीर शास्त्री जानते हैं कि गर्भस्थ शिशु आत्म-विकास के लिए जितना पराक्रम करता है उतना ही वह जन्म लेने के उपरान्त भी जारी रख सके तो उसे देव दानवों जैसी महानता उपलब्ध हो सकती है । वह जब परिपक्व हो जाता है तो उदरदरी से बाहर निकलने में उसी को चक्रव्यूह वेधने जैसा पराक्रम करना पड़ता है, प्रसव पीड़ा उसी व्याकुल प्रयत्नशीलता का परिणाम है, यदि भ्रूण दुर्बल हो तो उसे पेट चीरकर ही बाहर निकालना पड़ेगा । स्वाभाविक प्रसव सम्भव न हो सकेगा । अण्डे को मुर्गी सेती तो है, पर उसके भीतर भरे हुए कलल में अपना जो निजी समुद्र मन्थन चलता है उसे देखकर चकित रह जाना पड़ता है । पका अण्डा जब फूटने को होता है तो उसकी सारी भूमिका भीतर वाले चूजे को ही निभानी पड़ती है । फूटने के समय अण्डा थरथराता है उसमें पतली दरार पड़ती है । दरार तेजी से चौड़ी होती है और बच्चा उछलकर ऊपर आ जाता है । यह पुरुषार्थ न बन पड़े, तो अण्डा सड़ेगा और उससे बच्चा निकलने की बात किसी भी प्रकार बनेगी नहीं । साधना पथ के पथिक को दैवी अनुग्रह की भी कमी नहीं रहने पाती पर उतने भर से ही अभीष्ट प्रयोजन पूरा होने वाला नहीं है । भ्रूण एवं चूजे की तरह आवरण को तोड़ कर बाहर निकलने के लिए पराक्रम तो उसका ही प्रमुख रहेगा । उस उक्ति में परिपूर्ण सच्चाई भरी हुई है जिसमें कहा गया है कि "ईश्वर मात्र उन्हीं की सहायता करता है जो अपनी सहायता आप करते हैं ।"

जीवन अपने आप में पूर्ण है । वह पूर्ण से उत्पन्न हुआ है और पूर्णता से परिपूर्ण है । अँगार और चिनगारी मे आकार भेद तो है पर गुण धर्म का नहीं । परमात्मा विभु है और आत्मा लघु । यह आकार भेद

हुआ, तात्विक दृष्टि से दोनों में समानता है । इसीलिए 'शिवोहम्—सच्चिदानन्दोहम्' के रूप में उस तात्विक एकता का उद्‌बोधन कराया जाता है । इस तथ्य के रहते मनुष्य की दुर्गति क्यों होती है ? वह दीन दुर्बल क्यों रहता है ? शोक-सन्ताप क्यों सहता है ? प्रगति प्रक्रिया से वंचित रहने का क्या कारण है ? इन प्रश्नों का एक ही उत्तर है । उपलब्ध सम्पदा का अपव्यय दुरुपयोग । इस दुर्गुण के रहते तो कुबेर का खजाना खाली हो सकता है । रावण जैसा समर्थ भी सपरिवार धराशायी हो सकता है । भस्मासुर, वृत्तासुर, हिरण्याक्ष जैसे दुर्दान्त राक्षस बेमौत मारे गए, इस विनाशलीला में उनके अपने दोष-दुर्गुणों की भूमिका ही प्रधान थी ।

मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु असंयम है । सामर्थ्यों का अपव्यय दुरुपयोग ही असंयम है । शक्ति तथा सम्पन्नता का लाभ तभी मिलता है जब उसका सदुपयोग बन पड़े । दुरुपयोग होने पर तो अमृत भी विष बन जाता है । माचिस जैसी छोटी एवं उपयोगी वस्तु अपना तथा पड़ौसियों का घर-बार भस्म कर सकती है । ईश्वर प्रदत्त सामर्थ्यों का सदुपयोग कर सकने की सूझ-बूझ एवं संकल्प-शक्ति को ही मर्यादा पालन एवं संयमशीलता कहते हैं । इसी का अभ्यास करने के लिए कई प्रकार की तप साधनाएँ करनी पड़ती हैं । साधना द्वारा उस प्रखरता को उभारना अपव्यय से बलपूर्वक बचाती और दबाव देकर उसे सत्प्रयोजनों में नियोजित करती है ।

## साप्ताहिक और अर्द्ध वार्षिक साधनाएँ

मोटर के पहियों में भरी हवा धीरे-धीरे कम होने लगती है । उसमें थोड़े समय के बाद नई हवा भरनी पड़ती है । रेल में कोयला पानी चुकता है तो दुबारा भरना पड़ता है । पेट खाली होता है तो नई खुराक लेनी पड़ती है । जीवन का एक सा ढर्रा नीरस बन जाता है, तब उसमें नई स्फूर्ति संचारित करने के लिए नया प्रयास करना पड़ता है । पर्व त्यौहार इसीलिए बने हैं कि एक नया उत्साह उभरे और उस आधार पर मिली स्फूर्ति से आगे का क्रिया-कलाप अधिक अच्छी तरह चले । रविवार की छुट्टी मनाने के पीछे भी नई ताजगी प्राप्त करना और अगले सप्ताह काम आने के लिए नई शक्ति अर्जित करना है । संस्थाओं के विशेष समारोह भी इसी दृष्टि से किए जाते हैं कि उस परिकर में आयी सुस्ती का निराकरण किया जा सके । प्रकृति भी ऐसा ही करती रहती है । घनघोर वर्षा और खिलखिलाती वसन्त ऋतु ऐसी ही नवीनता भर जाती है । विवाह और निजी पुरुषार्थ की कमाई इन दो आरम्भों को भी मनुष्य सदा स्मरण रखता है । उनमें उत्साहवर्धक नवीनता है ।

जीवन-साधना का दैनिक कृत्य बताया जा चुका है । उठते आत्मबोध, सोते तत्वबोध । प्रथम पहर भजन, तीसरे पहर मनन, यह चार विधाएँ नित्यकर्म में सम्मिलित रहने लगें तो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के चारों आधार बन पड़ते हैं । चारपाये की चारपाई होती है और चार दीवारों की इमारत । चार दिशाएँ, चार वर्ण, चार आश्रमों, अन्तःकरण चतुष्टय प्रसिद्ध हैं । प्रज्ञायोग की दैनिक साधना में उपरोक्त चार आधारों का सन्तुलित समन्वय है । उन सभी में कर्मकाण्ड घटा हुआ है और भाव चिन्तन बढ़ा हुआ । इसमें लम्बे कर्मकाण्डों की उलझन में उद्देश्य से भटक जाने की आशंका नहीं रहती । भावना और आकांक्षा सही बनी रहने पर बुद्धि द्वारा निर्धारण सही होते रहते हैं । स्वभाव और कर्म कौशल का क्रम भी सही चलता रहता है । नित्यकर्म की नियमितता स्वभाव का अंग बनती है और फिर जीवन-क्रम उसी ढाँचे में ढलता चला जाता है ।

जीवन-साधना के दो विशेष पर्व हैं—एक साप्ताहिक दूसरा अर्द्धवार्षिक । साप्ताहिक आमतौर से लोग रविवार, गुरुवार को रखते हैं, पर परिस्थितियों के कारण यदि कोई अन्य दिन सुविधाजनक पड़ता है तो उसे भी अपनाया जा सकता है । अर्द्धवार्षिक में आश्विन और चैत्र की दो नवरात्रियाँ आती हैं । इनमें साधना नौ दिन की करनी पड़ती है । इन दो पर्वों की विशेष उपासना को भी अपने निर्धारण में सम्मिलित रखने से, बीच में जो अनुत्साह की गिरावट आने लगती है, उसका निराकरण होता रहता है । इनके आधार पर जो विशेष शक्ति उपार्जित होती है उससे शिथिलता आने का अवसाद निपटता रहता है ।

साप्ताहिक विशेष साधना में चार विशेष नियम विधान अपनाने पड़ते हैं, ये हैं—(१) उपवास,

खींचने के समय इन्हीं भावनाओं को परिपक्व करते रहा जाय । साँस छोड़ते समय यह विचार किया जाय कि शारीरिक और मानसिक क्षेत्रों में घुसे हुए विकार साँस के साथ बाहर निकल रहे है और उनके वापस लौटने का द्वार बन्द हो रहा है । इस बहिष्करण के साथ अनुभव होना चाहिए कि भरे हुए अवांछनीय तत्व हट रहे हैं और समूचा व्यक्तित्व हल्कापन अनुभव कर रहा है । प्रखरता और प्रामाणिकता की स्थिति बन रही है ।

चौथा साप्ताहिक अभ्यास मौन वाणी की साधना है । मौन दो घंटे से कम का नहीं होना चाहिए । मौन काल में प्राण संचय की साधना साथ-साथ चलती रह सकती है । इस निर्धारित कृत्य के अतिरिक्त दैनिक साधना, स्वाध्याय, संयम, सेवा के चारों उपक्रमो में से जो जितना बन सके उसके लिए उतना करने का प्रयास करना चाहिए । सेवा कार्यों के लिए प्रत्यक्ष अवसर सामने न हो तो इसके बदले आर्थिक अंशदान की दैनिक प्रतिज्ञा के अतिरिक्त कुछ अधिक अनुदान बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए । यह राशि सद्ज्ञान सम्वर्धन के, ज्ञान यज्ञ के निमित्त लगनी चाहिए । पीड़ितों की सहायता के लिए हर अवसर पर कुछ न कुछ करते रहना सामान्य क्रम में भी सम्मिलित रखना चाहिए । ज्ञान यज्ञ तो उच्चस्तरीय ब्रह्म यज्ञ है, जिसके साथ प्राणिमात्र का कल्याण जुड़ा हुआ है । साप्ताहिक साधना का दिन ऐसे ही श्रेष्ठ सत्कर्मों में लगाना चाहिए ।

अर्द्धवार्षिक साधनाएँ आश्विन और चैत्र के नवरात्रियों में नौ-नौ दिन के लिए की जाती हैं । इन दिनों गायत्री मन्त्र के २४ हजार जप की परम्परा पुरातन काल से चली आती है । उसका निर्वाह सभी आस्थावान साधकों को करना चाहिए । बिना जाति या लिंग भेद के इसे कोई भी आध्यात्म प्रेमी निःसंकोच कर सकता है । कुछ कमी रह जाने पर भी इस सात्विक साधना में किसी प्रकार के अनिष्ट की आशंका नहीं करना चाहिए । नौ दिनों में प्रतिदिन २७ माला गायत्री मन्त्र के जप कर लेने से २४ हजार की निर्धारित जप संख्या पूरी हो जाती है । अन्तिम दिन कम से कम २४ आहुतियों का अग्निहोत्र करना चाहिए । अन्तिम दिन अवकाश न हो तो हवन किसी अगले दिन किया जा सकता है ।

अनुष्ठानों में कुछ नियमों का पालन करना पड़ता है—(१) उपवास अधिक न बन पड़े तो एक समय का भोजन या अस्वाद व्रत का निर्वाह तो करना ही चाहिए । (२) ब्रह्मचर्य पालन—यौनाचार एवं अश्लील चिन्तन का नियमन । (३) अपनी शारीरिक सेवाएँ यथासम्भव स्वयं ही करना । (४) हिंसायुक्त चमड़े के उपकरणों का प्रयोग न करना । पलंग की अपेक्षा तख्त या जमीन पर सोना । इन सब नियमों का उद्देश्य यह है कि नौ दिन तक विलासी या अस्त-व्यस्त निरंकुश जीवन न जीया जाय । उसमें तप, संयम की विधि-व्यवस्था का अधिकाधिक समावेश किया जाय । नौ दिन का अभ्यास अगले छः महीने तक आप पर छाया रहे और यह ध्यान बना रहे कि संयमशील जीवन ही आत्म-कल्याण तथा लोक मंगल की दोहरी भूमिका सम्पन्न करता है । इसलिए जीवनचर्या को इसी दिशाधारा के साथ जोड़ना चाहिए ।

अनुष्ठान के अन्त में पूर्णाहुति के रूप में प्राचीन परम्परा ब्रह्मभोज की है । उपयुक्त ब्राह्मण न मिल सकने के कारण इन दिनों वह कृत्य नौ कन्याओं को भोजन करा देने के रूप में भी पूरा किया जाता है । कन्याएँ किसी भी वर्ण की हो सकती हैं । इस प्रावधान में नारी को देवी स्वरूप में मान्यता देने की भावना सन्निहित है । कन्याएँ तो ब्रह्मचारिणी होने के कारण और भी अधिक पवित्र मानी जाती हैं ।

ब्रह्मभोज का दूसरा प्रचलित रूप प्रसाद वितरण भी है । वैसे तो प्रसाद में कोई मीठी वस्तुएँ थोड़ी-थोड़ी मात्रा में बाँटने का भी नियम है । इसमें अधिक लोगों तक अपने अनुदान का लाभ पहुँचाना उद्देश्य है, भले ही वह थोड़ी-थोड़ी मात्रा में ही क्यों न हो । एक का पेट भर देने की अपेक्षा सौ का मुँह मीठा कर देना इसीलिए अच्छा माना जाता है कि इसमें देने वाले तथा लेने वालों को उस धर्म प्रयोजन के विस्तार की महिमा समझने और व्यापक बनाने की आवश्यकता अनुभव होती है ।

यह कार्य मिष्ठान्न वितरण की अपेक्षा सस्ता युग साहित्य वितरण करने के रूप में अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति कर सकता है । "युग निर्माण का सत्संकल्प" नामक अति सस्ती पुस्तिका इस प्रयोजन के लिए अधिक उपयुक्त बैठती है । ऐसी ही अन्य छोटी पुस्तिकाएँ

(२) ब्रह्मचर्य, (३) मौन तथा (४) प्राण संचय । इनमें से कुछ ऐसे हैं जिनके लिए मात्र संयम ही अपनाना पड़ता है । दो के लिए कुछ कृत्य विशेष करने पड़ते हैं । जिह्वा और जननेन्द्रिय यही दो, दसों इन्द्रियों में प्रबल हैं । इन्हें साधने से इन्द्रिय संयम सध जाता है । यह प्रथम चरण पूरा हुआ तो समझना चाहिए कि अगले चरण मनोनिग्रह में कुछ विशेष कठिनाई न रह जायेगी ।

जिह्वा का असंयम अतिमात्रा में अभक्ष्य भक्षण के लिए उकसाता है । कटु, असत्य, अनर्गल और असत् भाषण भी उसी के द्वारा बन पड़ता है । इसलिए एक ही जिह्वा को रसना और वाणी इन दो इन्द्रियों के नाम से जाना जाता है । जिह्वा की साधना के लिए अस्वाद का व्रत लेना पड़ता है । नमक, मसाले, शक्कर, खटाई आदि के स्वाद जिह्वा को चटोरा बनाते हैं । सात्विक और सुपाच्य, पदार्थों की उपेक्षा करता है । तले, भुने, तेज मसाले वाले, मीठे पदार्थों में जो चित्र-विचित्र स्वाद मिलते हैं उनके लिए जीभ ललचाती रहती है । इस आधार पर अभक्ष्य ही रुचिकर लगता है । ललक में अधिक मात्रा उदरस्थ कर ली जाती है, फलतः पेट खराब रहने लगता है । सड़न से रक्त विषैला होता है और दूषित रक्त अनेकानेक बीमारियों का निमित्त कारण बनता है । इस प्रकार जिह्वा की विकृतियाँ जहाँ सुनने वालों को पतन के विक्षोभ के गर्त मे धकेलती हैं, वहाँ अपनी स्वस्थता पर भी कुठाराघात करती हैं । इन दोनों विपत्तियों से बचाने मे जिह्वा का संयम एक तप साधना का प्रयोजन पूरा करता है । नित्य न बन पड़े तो सप्ताह में एक दिन तो जिह्वा को विश्राम देना ही चाहिए; ताकि वह अपने उपरोक्त दुर्गुणों से उबरने का प्रयत्न कर सके ।

उपवास पेट का साप्ताहिक विश्राम है । इससे छः दिन की विसंगतियों का सन्तुलन बन जाता है और आगे के लिए सही मार्ग अपनाने का अवसर मिलता है । जल लेकर उपवास न बन पड़े तो शाकों का रस या फलों का रस लिया जा सकता है । दूध, छाछ पर भी रहा जा सकता है । इतना भी न बन पड़े तो एक समय का निराहार तो करना ही चाहिए । मौन पूरे दिन का न सही किसी उचित समय दो घण्टे का तो कर ही लेना चाहिए । इस चिन्ह पूजा से भी दोनों प्रयोजनों का उद्देश्य स्मरण बना रहता है और भविष्य में जिन मर्यादाओं का पालन किया जाता है उस पर ध्यान केन्द्रित बना रहता है । साप्ताहिक विशेष साधना में जिह्वा पर नियन्त्रण स्थापित करना प्रथम चरण है ।

द्वितीय आधार है—ब्रह्मचर्य । नियत दिन शारीरिक ब्रह्मचर्य तो पालन करना ही चाहिए । यौनाचार से तो दूर रहना ही चाहिए, साथ ही मानसिक ब्रह्मचर्य अपनाने के लिए यह आवश्यक है कि कुदृष्टि का, अश्लील कल्पनाओं का निराकरण किया जाय । नर, नारी को देवी के रूप में और नारी, नर को देवता के रूप में देखें तथा श्रद्धा भरे भाव मन पर जमाएँ । भाई-बहिन, पिता-पुत्री, माता-संतान की दृष्टि से ही दोनों पक्ष एक दूसरे के लिए पवित्र भावनाएँ उगाएँ । यहाँ तक कि पति-पत्नी भी एक-दूसरे के प्रति अर्धांग की उच्चस्तरीय आत्मीयता संजोएँ । अश्लीलता को *अनाचार का एक अंग मानें और उस प्रकार के दुश्चिन्तन* को पास न फटकने दें । सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य तभी सधता है जब शरीर संयम के साथ-साथ मानसिक श्रद्धा का भी समन्वय रखा जाय । इससे मनोबल बढ़ता है और कामुकता के साथ जुड़ने वाली अनेकानेक दुर्भावनाओं से सहज छुटकारा मिलता है । सप्ताह में हर दिन इस लक्ष्य पर भावनाएँ केन्द्रित रखी जायें तो उसका प्रभाव भी अगले छह दिनों तक बना रहेगा ।

तीसरा साप्ताहिक अभ्यास है—प्राण संचय । एकान्त में नेत्र बन्द करके अन्तर्मुखी होना चाहिए और ध्यान करना चाहिए कि समस्त विश्व में प्रचण्ड प्राण चेतना भरी हुई है । आमन्त्रित, आकर्षित करने पर वह किसी को भी प्रचुर परिमाण मे कभी भी उपलब्ध हो सकती है । इसकी विधि प्राणायाम है । प्राणायाम के अनेक विधि-विधान हैं, पर उनमें से सर्वसुलभ यह है कि मेरुदण्ड को सीधा रखकर बैठा जाय, आँखें बन्द रहें, दोनों हाथ दोनों घुटनों पर । शरीर को स्थिर और मन को शान्त रखा जाय ।

साँस खींचते समय भावना की जाय कि विश्वव्यापी प्राण चेतना खिंचती हुई नासिका मार्ग से सम्पूर्ण शरीर में प्रवेश कर रही है । उसे जीवकोष पूरी तरह अपने में धारण कर रहे हैं । प्राण प्रखरता से अपना शरीर, मन और अन्तःकरण ओत-प्रोत हो रहा है । साँस

खींचने के समय इन्हीं भावनाओं को परिपक्व करते रहा जाय । साँस छोड़ते समय यह विचार किया जाय कि शारीरिक और मानसिक क्षेत्रों में घुसे हुए विकार साँस के साथ बाहर निकल रहे हैं और उनके वापस लौटने का द्वार बन्द हो रहा है । इस बहिष्करण के साथ अनुभव होना चाहिए कि भरे हुए अवांछनीय तत्व हट रहे हैं और समूचा व्यक्तित्व हल्कापन अनुभव कर रहा है । प्रखरता और प्रामाणिकता की स्थिति बन रही है ।

चौथा साप्ताहिक अभ्यास मौन वाणी की साधना है । मौन दो घंटे से कम का नहीं होना चाहिए । मौन काल में प्राण संचय की साधना साथ-साथ चलती रह सकती है । इस निर्धारित कृत्य के अतिरिक्त दैनिक साधना, स्वाध्याय, संयम, सेवा के चारों उपक्रमों में से जो जितना बन सके उसके लिए उतना करने का प्रयास करना चाहिए । सेवा कार्यों के लिए प्रत्यक्ष अवसर सामने न हो तो इसके बदले आर्थिक अंशदान की दैनिक प्रतिज्ञा के अतिरिक्त कुछ अधिक अनुदान बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए । यह राशि सद्ज्ञान सम्वर्धन के, ज्ञान यज्ञ के निमित्त लगनी चाहिए । पीड़ितों की सहायता के लिए हर अवसर पर कुछ न कुछ करते रहना सामान्य क्रम मे भी सम्मिलित रखना चाहिए । ज्ञान यज्ञ तो उच्चस्तरीय ब्रह्म यज्ञ है, जिसके साथ प्राणिमात्र का कल्याण जुड़ा हुआ है । साप्ताहिक साधना का दिन ऐसे ही श्रेष्ठ सत्कर्मों में लगाना चाहिए ।

अर्द्धवार्षिक साधनाएँ आश्विन और चैत्र के नवरात्रियों में नौ-नौ दिन के लिए की जाती हैं । इन दिनों गायत्री मन्त्र के २४ हजार जप की परम्परा पुरातन काल से चली आती है । उसका निर्वाह सभी आस्थावान साधकों को करना चाहिए । बिना जाति या लिंग भेद के इसे कोई भी आध्यात्म प्रेमी निःसंकोच कर सकता है । कुछ कमी रह जाने पर भी इस-सात्विक साधना में किसी प्रकार के अनिष्ट की आशंका नहीं करना चाहिए । नौ दिनों में प्रतिदिन २७ माला गायत्री मन्त्र के जप कर लेने से २४ हजार की निर्धारित जप संख्या पूरी हो जाती है । अन्तिम दिन कम से कम २४ आहुतियों का अग्निहोत्र करना चाहिए । अन्तिम दिन अवकाश न हो तो हवन किसी अगले दिन किया जा सकता है ।

अनुष्ठानों में कुछ नियमों का पालन करना पड़ता है—(१) उपवास अधिक न बन पड़े तो एक समय का भोजन या अस्वाद व्रत का निर्वाह तो करना ही चाहिए । (२) ब्रह्मचर्य पालन—यौनाचार एवं अश्लील चिन्तन का नियमन । (३) अपनी शारीरिक सेवाएँ यथासम्भव स्वयं ही करना । (४) हिंसायुक्त चमड़े के उपकरणों का प्रयोग न करना । पलंग की अपेक्षा तख्त या जमीन पर सोना । इन सब नियमों का उद्देश्य यह है कि नौ दिन तक विलासी या अस्त-व्यस्त निरंकुश जीवन न जीया जाय । उसमें तप, संयम की विधि-व्यवस्था का अधिकाधिक समावेश किया जाय । नौ दिन का अभ्यास अगले छः महीने तक आप पर छाया रहे और यह ध्यान बना रहे कि संयमशील जीवन ही आत्म-कल्याण तथा लोक मंगल की दोहरी भूमिका सम्पन्न करता है । इसलिए जीवनचर्या को इसी दिशाधारा के साथ जोड़ना चाहिए ।

अनुष्ठान के अन्त में पूर्णाहुति के रूप में प्राचीन परम्परा ब्रह्मभोज की है । उपयुक्त ब्राह्मण न मिल सकने के कारण इन दिनों वह कृत्य नौ कन्याओं को भोजन करा देने के रूप में भी पूरा किया जाता है । कन्याएँ किसी भी वर्ण की हो सकती हैं । इस प्रावधान में नारी को देवी स्वरूप में मान्यता देने की भावना सन्निहित है । कन्याएँ तो ब्रह्मचारिणी होने के कारण और भी अधिक पवित्र मानी जाती हैं ।

ब्रह्मभोज का दूसरा प्रचलित रूप प्रसाद वितरण भी है । वैसे तो प्रसाद में कोई मीठी वस्तुएँ थोड़ी-थोड़ी मात्रा में बाँटने का भी नियम है । इसमें अधिक लोगों तक अपने अनुदान का लाभ पहुँचाना उद्देश्य है, भले ही वह थोड़ी-थोड़ी मात्रा में ही क्यों न हो । एक का पेट भर देने की अपेक्षा सौ का मुँह मीठा कर देना इसीलिए अच्छा माना जाता है कि इसमें देने वाले तथा लेने वालों को उस धर्म प्रयोजन के विस्तार की महिमा समझने और व्यापक बनाने की आवश्यकता अनुभव होती है ।

यह कार्य मिष्ठान्न वितरण की अपेक्षा सस्ता युग साहित्य वितरण करने के रूप में अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति कर सकता है । "युग निर्माण का सत्संकल्प" नामक अति सस्ती पुस्तिका इस प्रयोजन के लिए अधिक उपयुक्त बैठती है । ऐसी ही अन्य छोटी पुस्तिकाएँ

भी युग निर्माण योजना द्वारा प्रकाशित हुई हैं जिन्हें बाँटा या लागत से कम मूल्य में बेचने का प्रयोग किया जा सकता है । नवरात्रि अनुष्ठानों में यह ब्रह्मभोज के सतसाहित्य के रूप में प्रसाद वितरण की प्रक्रिया भी जुड़ी रहनी चाहिए ।

स्थानीय साधक मिल-जुलकर एक स्थान पर नौ दिन की साधना करें । अन्त में सामूहिक यज्ञ करें । सहभोज का प्रबन्ध रखें, साथ ही कथा-प्रवचन, कीर्तन, उद्बोधन का क्रम बनाये रख सकें तो उस सामूहिक आयोजन से सोने में सुगन्ध जैसा उपक्रम बन पड़ता है ।

## आराधना और ज्ञान यज्ञ

शारीरिक स्वस्थता के तीन चिन्ह हैं—(१) खुलकर भूख, (२) गहरी नींद, (३) काम करने के लिए स्फूर्ति । आत्मिक समर्थता के भी तीन चिन्ह हैं—(१) चिन्तन में उत्कृष्टता का समावेश, (२) चरित्र में निष्ठा और (३) व्यवहार में पुण्य-परमार्थ के पुरुषार्थ की प्रचुरता । इन्हीं को उपासना, साधना और आराधना कहते हैं । आत्मिक प्रगति का लक्षण है मनुष्य में देवत्व का अभिवर्धन । देवता देने वाले को कहते हैं । दूसरे शब्दों में इसे धर्म धारणा या सेवा साधना भी कह सकते हैं । व्यक्तित्व में शालीनता उभरेगी तो निश्चित रूप से सेवा की ललक उठेगी । सेवा साधना से गुण, कर्म, स्वभाव में सदाशयता उभरती है । इसे यों भी कह सकते हैं कि जब शालीनता उभरेगी तो परमार्थरत हुए बिना रहा नहीं जा सकेगा । पृथ्वी पर मनुष्य शरीर में निवास करने वाले देवताओं को "भूसुर" कहते हैं । यह साधु और ब्राह्मण वर्ग के लिए प्रयुक्त होता है । ब्राह्मण एक सीमित क्षेत्र में परमार्थरत रहते हैं और साधु परिव्राजक के रूप में सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन का उद्देश्य लेकर जहाँ आवश्यकता है वहाँ पहुँचते रहते हैं । उनकी गतिविधियाँ पवन की तरह प्राण प्रवाह बिखेरती है । बादलों की तरह बरस कर हरीतिमा उत्पन्न करती हैं । आत्मिक प्रगति से कोई लाभान्वित हुआ या नहीं, इसकी पहचान इन्हीं दो कसौटियों पर होती है कि चिन्तन और चरित्र में मानवी गरिमा के अनुरूप उत्कृष्टता दृष्टिगोचर होती है या नहीं । साथ ही परमार्थ-परायणता की ललक कार्यान्वित होती है या नहीं ।

मोटे तौर पर दान-पुण्य को परमार्थ कहते हैं । पर इसमें विचारशीलता का गहरा पुट रहना आवश्यक है । दुर्घटनाग्रस्त, आकस्मिक संकटों में फँसे हुओं को तात्कालिक सहायता आवश्यक होती है । इसी प्रकार अपंग, असमर्थों को भी निर्वाह मिलना चाहिए । इसके अतिरिक्त अभावग्रस्तों, पिछड़े हुओं की ऐसी परोक्ष सहायता की जानी चाहिए जिसके सहारे वे स्वावलम्बी बन सकें । उन्हें श्रम दिया जाय, साथ ही श्रम का इतना मूल्य भी, जिससे मानवोचित निर्वाह सम्भव हो सके । गाँधी जी ने खादी को इसी दृष्टि से महत्त्व दिया था कि उसे अपनाने पर बेकारों को काम मिलता है । अन्य कुटीर उद्योग भी इसी श्रेणी में आते हैं । बेरोजगारी दूर करने के साधन खड़े करना प्रकारान्तर से अभावग्रस्तो की सहायता ही है । मुफ्तखोरी को बढावा देना दान नही है । इससे निठल्लेपन की आदत पड़ती है । प्रमाद और व्यसन पनपते है । लेने वाले को हीनता की अनुभूति होती है और देने वाले का अहंकार बढ़ता है । यह दोनों प्रवृत्तियाँ दोनों ही पक्षों के लिए अहितकर है । इसलिए औचित्य और सही परिणाम को दृष्टि में रखते हुए ही दान किया जाना चाहिए अन्यथा दान के नाम पर धन का दुरुपयोग ही होता है और उससे स्वावलम्बन का उत्साह घटता है ।

दोनों मे सर्वोपरि ज्ञान, दान को माना जाता है । इसे ब्रह्म यज्ञ भी कहते है । सद्भावनाएँ और सत्प्रवृत्तियाँ जिन प्रयत्नों से बढ़ सकें उसी को सच्चा परमार्थ कहना चाहिए । सत् चिन्तन के अभाव में ही लोग अनेकों दुर्गुण अपनाते और पतन पराभव के गर्त मे गिरते हैं । यदि सही चिन्तन कर सकने का पथ प्रशस्त हो सके तो समझना चाहिए कि सर्व समर्थ मनुष्य को अपनी समस्याएँ आप हल करने का मार्ग मिल गया । अपंगों, असमर्थों या दुर्घटनाग्रस्तों को छोड़कर कोई ऐसा नही है जो सही चिन्तन करने का मार्ग मिल जाने पर ऊँचा उठ न सके, आगे न बढ़ सके, अपनी समस्याओं का आप हल न कर सके । इसलिए आत्मिक प्रगति के लिए प्रधानतया यही नीति अपनानी चाहिए कि लोक मानस के परिष्कार के लिए, सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन के लिए अपनी योग्यता और परिस्थिति के अनुसार भरसक प्रयत्न किया जाय ।

समय की अपनी समस्याएँ हुआ करती हैं और परिस्थितियों के अनुरूप उनके समाधान भी खोजने पड़ते हैं। प्राचीन कथा, पुराणों और धर्मशास्त्रो से युग धर्म का निरूपण नहीं हो सकता । उसके लिए आज के प्रवाह प्रचलन और वातावरण को ध्यान में रखना होगा । इस हेतु युग मनीषियों को ही सदा से मान्यता मिलती रही है । इन दिनों भी इसी प्रक्रिया को अपनाना होगा । इसके लिए युग चेतना का आश्रय लेना होगा । युग मनीषियों के प्रतिपादनों पर ध्यान देना होगा । सद्ज्ञान सम्वर्धन का सही तरीका यही हो सकता है । साक्षरता की तरह ऐसे सद्ज्ञान सम्वर्धन की भी आवश्यकता है जो व्यक्ति और समाज के सम्मुख उपस्थित समस्याओं के सन्दर्भ में समाधान-कारक सिद्ध हो सके । आत्मोत्कर्ष के लिए आराधना का, सेवा साधना का उपाय इसी आधार पर खोजना होगा । लोक मानस का परिष्कार और सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन को सर्वोच्च स्तर का आधार मानते हुए बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक क्षेत्रों में युग धर्म की प्रतिष्ठापना की जानी चाहिए ।

कहा जाता रहा है कि विचार क्रान्ति की, ज्ञान यज्ञ की साधना में सभी दूरदर्शी विवेकवानों को लगना चाहिए । इसी निमित्त लेखनी, वाणी तथा दृश्य-श्रव्य आधारो का ऐसा प्रयोग करना चाहिए जिससे सर्व-साधारण को युग धर्म पहचानने और कार्यान्वित करने की प्रेरणा मिल सके । सर्वजनीन और सार्वभौम ज्ञान यज्ञ ही आज का सर्वश्रेष्ठ परमार्थ है । इसकी उपेक्षा करके, सस्ती वाहवाही पाने के लिए कुछ भी देते, बिखेरते और कहते, लिखते रहने से कुछ वास्तविक प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं है ।

इस चेतना को प्रखर प्रज्वलित करने के लिए युग साहित्य की प्राथमिक आवश्यकता है । उसी के आधार पर पढ़ने-पढ़ाने, सुनने-सुनाने की बात बनती है । शिक्षितों को पढ़ाया और अशिक्षितो को सुनाया जाय तो लोक प्रवाह को सही दिशा दी जा सकती है । इसके लिए प्रज्ञा युग के साधकों को झोला पुस्तकालय चलाने के लिए अपना समय और पैसा लगाना चाहिए । सत्साहित्य खरीदना सभी के लिए कठिन है, विशेषतया ऐसे समय में जबकि लोगो को भौतिक स्वार्थ साधनों के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं । आदर्शों की बात सुनने-पढ़ने की अभिरुचि है ही नहीं । ऐसे समय में युग साहित्य पढ़ाने, वापस लेने के लिए शिक्षितों के घर जाया जाय, उन्हें पढ़ने योग्य सामग्री दी जाती और वापस ली जाती रहे, तो इतने से सामान्य कार्य से ज्ञान यज्ञ का महत्त्वपूर्ण प्रयोजन हर क्षेत्र में पूरा होने लगेगा । अशिक्षितों को सुनाने की बात भी इसी के साथ जोड़कर रखनी चाहिए ।

विचार गोष्ठियों, सभा-सम्मेलनों, कथा-प्रवचनों का अपना महत्त्व है । इसे सत्संग कहा जा सकता है । लेखनी और वाणी के माध्यम से यह दोनों कार्य किसी न किसी रूप में हर कही चलते रह सकते हैं । अपना उदाहरण प्रस्तुत करना सबसे अधिक प्रभावोत्पादक होता है । लोग समझने लगे हैं कि आदर्शों की बात सिर्फ कहने-सुनने के लिए होती है । उन्हें व्यावहारिक जीवन में नहीं उतारा जा सकता । इस भ्रान्ति का निराकरण इसी प्रकार हो सकता है कि ज्ञान यज्ञ के अध्वर्यु, विचार क्रान्ति के प्रस्तोता जो कहते हैं—दूसरों से जो कराने की अपेक्षा है, उसे स्वयं अपने व्यवहार में उतारकर दिखाएँ । अपने को समझाना, ढालना दूसरों को सुधारने की अपेक्षा अधिक सरल है । उपदेष्टाओ को, आत्मिक प्रगति के आराधनारत होने वालों को, अपनी कथनी और करनी एक करके दिखानी चाहिए ।

आदर्शवादी लोक शिक्षण के लिए इस प्रकार की आवश्यकता अनिवार्य रूप से रहती है, फिर भी यह आवश्यक नहीं कि पूर्णता प्राप्त करने तक हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहा जाय । छठी कक्षा का विद्यार्थी पाँचवी कक्षा वाले की तो कुछ न कुछ सहायता कर ही सकता है । अपने से कम योग्यता एवं स्थिति वालों का मार्ग-दर्शन करने में कोई भी समर्थ एवं सफल हो सकता है ।

इन दिनों उपरोक्त प्रयोजन यन्त्रों की सहायता से भी बहुत कुछ हो सकता है । प्राचीन काल में पुस्तकें हाथ से लिखी जाती थीं; पर अब तो वे प्रेस में मशीनों से छपती हैं । इसी प्रकार दृश्य और श्रव्य माध्यम भी अनेको सुलभ है । उसका प्रयोग ज्ञान यज्ञ का विस्तार करने के लिए किया जा सकता है । टेप रिकोर्डर में लाउड स्पीकर लगाकर संगीत और प्रवचन के रूप में होने वाली विचार गोष्ठियों की आवश्यकता पूरी की जा सकती है । स्लाइड प्रोजेक्टर (प्रकाश चित्र यन्त्र) कम लागत का और लोक रंजन के साथ

भी युग निर्माण योजना द्वारा प्रकाशित हुई हैं जिन्हें बाँटा या लागत से कम मूल्य में बेचने का प्रयोग किया जा सकता है । नवरात्रि अनुष्ठानों में यह ब्रह्मभोज के सत्साहित्य के रूप में प्रसाद वितरण की प्रक्रिया भी जुड़ी रहनी चाहिए ।

स्थानीय साधक मिल-जुलकर एक स्थान पर नौ दिन की साधना करें । अन्त में सामूहिक यज्ञ करे । सहभोज का प्रबन्ध रखे, साथ ही कथा-प्रवचन, कीर्तन, उद्बोधन का क्रम बनाये रख सकें तो उस सामूहिक आयोजन से सोने में सुगन्ध जैसा उपक्रम बन पड़ता है ।

## आराधना और ज्ञान यज्ञ

शारीरिक स्वस्थता के तीन चिन्ह है—(१) खुलकर भूख, (२) गहरी नींद, (३) काम करने के लिए स्फूर्ति । आत्मिक समर्थता के भी तीन चिन्ह हैं—(१) चिन्तन में उत्कृष्टता का समावेश, (२) चरित्र में निष्ठा और (३) व्यवहार में पुण्य-परमार्थ के पुरुषार्थ की प्रचुरता । इन्हीं को उपासना, साधना और आराधना कहते हैं । आत्मिक प्रगति का लक्षण है मनुष्य में देवत्व का अभिवर्धन । देवता देने वाले को कहते हैं । दूसरे शब्दों में इसे धर्म धारणा या सेवा साधना भी कह सकते हैं । व्यक्तित्व में शालीनता उभरेगी तो निश्चित रूप से सेवा की ललक उठेगी । सेवा साधना से गुण, कर्म, स्वभाव में सदाशयता उभरती है । इसे यों भी कह सकते हैं कि जब शालीनता उभरेगी तो परमार्थरत हुए बिना रहा नहीं जा सकेगा । पृथ्वी पर मनुष्य शरीर में निवास करने वाले देवताओं को "भूसुर" कहते हैं । यह साधु और ब्राह्मण वर्ग के लिए प्रयुक्त होता है । ब्राह्मण एक सीमित क्षेत्र में परमार्थरत रहते हैं और साधु परिव्राजक के रूप में सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन का उद्देश्य लेकर जहाँ आवश्यकता है वहाँ पहुँचते रहते हैं । उनकी गतिविधियाँ पवन की तरह प्राण प्रवाह बिखेरती हैं । बादलों की तरह बरस कर हरितिमा उत्पन्न करती हैं । आत्मिक प्रगति से कोई लाभान्वित हुआ या नहीं, इसकी पहचान इन्हीं दो कसौटियों पर होती है कि चिन्तन और चरित्र मे मानवी गरिमा के अनुरूप उत्कृष्टता दृष्टिगोचर होती है या नहीं । साथ ही परमार्थ-परायणता की ललक कार्यान्वित होती है या नहीं ।

मोटे तौर पर दान-पुण्य को परमार्थ कहते है पर इसमें विचारशीलता का गहरा पुट रहना आवश्[illegible] है । दुर्घटनाग्रस्त, आकस्मिक संकटों में फँसे हुओं [illegible] तात्कालिक सहायता आवश्यक होती है । इसी प्र[illegible] अपंग, असमर्थों को भी निर्वाह मिलना चाहिए । इ[illegible] अतिरिक्त अभावग्रस्तों, पिछड़े हुओं की ऐसी प[illegible] सहायता की जानी चाहिए जिसके सहारे वे स्वाव[illegible] बन सकें । उन्हें श्रम दिया जाय, साथ ही श्रम इतना मूल्य भी, जिससे मानवोचित निर्वाह सम्भ[illegible] सके । गाँधी जी ने खादी को इसी दृष्टि से [illegible] दिया था कि उसे अपनाने पर बेकारों को काम [illegible] है । अन्य कुटीर उद्योग भी इसी श्रेणी में आ[illegible] बेरोजगारी दूर करने के साधन खड़े करना प्र[illegible] से अभावग्रस्तों की सहायता ही है । मुफ्त[illegible] बढ़ावा देना दान नहीं है । इससे निठल्लेपन [illegible] पड़ती है । प्रमाद और व्यसन पनपते हैं । [illegible] को हीनता की अनुभूति होती है और देने[illegible] अहंकार बढ़ता है । यह दोनों प्रवृत्तियाँ दोन[illegible] के लिए अहितकर हैं । इसलिए औचित्य परिणाम को दृष्टि में रखते हुए ही दान [illegible] चाहिए अन्यथा दान के नाम पर धन का होता है और उससे स्वावलम्बन का उत्सा[illegible]

दोनो मे सर्वोपरि ज्ञान, दान को मा[illegible] इसे ब्रह्म यज्ञ भी कहते हैं । सद्भावनाएँ [illegible] जिन प्रयत्नों से बढ़ सकें उसी को सच्च[illegible] चाहिए । सत् चिन्तन के अभाव मे [illegible] दुर्गुण अपनाते और पतन पराभव [illegible] हैं । यदि सही चिन्तन कर सकने [illegible] सके तो समझना चाहिए कि सर्व[illegible] अपनी समस्याएँ आप हल करने का [illegible] अपंगों, असमर्थों या दुर्घटनाग्रस्तों [illegible] नहीं है जो सही चिन्तन करने का [illegible] ऊँचा उठ न सके, आगे न बढ़ [illegible] का आप हल न कर सके । [illegible] के लिए प्रधानतया यही नीति [illegible] लोक मानस के परिष्कार के [illegible] के लिए अपनी योग्यता और [illegible] भरसक प्रयत्न किया जाय ।

सामर्थ्य सन्निहित है जिसका मात्र एक अत्यन्त छोटा भाग कार्यान्वित होता है । शेष अधिकांश भाग तो प्रसुप्त स्थिति में ही पड़ा रहता है । यदि मनुष्य की दृश्यमान कलेवर की शक्तियाँ ही जगाई, काम में लायी जा सकें, तो उतने भर से मनुष्य अगणित विभूतियों का स्वामी बनकर अत्यन्त विशिष्ट-विकसित सामर्थ्यों का भण्डार बनकर प्रकट हो सकता है । उसकी निजी क्षमता ऋद्धि-सिद्धियों से भरी-पूरी दृष्टिगोचर हो सकती है । इसके आगे वे अनेकों सूत्र ब्रह्माण्ड के अनेक घटकों के साथ जुड़ते हैं, जो अपनी शक्ति मानवी सत्ता पर उड़ेल कर उसे देवोमय बना सकते हैं । उसे कुबेर जैसा सम्पन्न और इन्द्र जैसा सशक्त देखा जा सकता है । यह सम्भव उपलब्धियाँ कैसे हस्तगत हो ? इस प्रश्न का एक ही उत्तर हो सकता है कि आध्यात्म विज्ञान के आधार पर जैव चुम्बकत्व को प्रचण्ड बना लिया जाय ।

भौतिक विज्ञान के आधार पर कोई कितना ही उपार्जन संग्रह क्यों न कर ले पर उसके उपयोग की एक छोटी परिधि है, उससे अधिक के लिए हाथ पैर मारना अपने आपको संकट में डालना है । पेट से अधिक खाना, शरीर सीमा से बढ़कर पहनना सम्भव नहीं । उपार्जन वैभव कितना ही अधिक क्यों न हो पर वह अपने स्थान पर ही रखा रहता है । बचत का दूसरे उपयोग करते हैं, किन्तु चेतना क्षेत्र इससे सर्वथा भिन्न है । उसकी परिधि विशद है । सूक्ष्म शक्तियो के रूप में सम्पदा का अजस्र परिवार उसमें बीज रूप में भरा जा सकता है । उपलब्ध शक्तियों का जागरण और प्रभाव क्षेत्र का परिकर दोनो मिलकर इतने अधिक हो जाते हैं जिसका मूल्यांकन करने में देव दानवों को ही मापदण्ड बनाया जा सकता है ।

देवता, मनुष्य लोको में आने के लिए ललचाते रहते हैं । उनकी उत्सुकता उससे कहीं अधिक है जैसा कि मनुष्य स्वर्ग लोक के सम्बन्ध में सोचता और वहाँ के आनन्द का रसास्वादन करने के लिए उत्सुक रहता है । इतिहास साक्षी है कि देवताओं ने मनुष्य से सहायता प्राप्त करने के लिए अनेक वार याचना की है । दशरथ अपना रथ लेकर देवताओं की सहायता करने गए थे । साथ में कैकेयी भी थी, जिसने पति की सहायता करके तीन-तीन वरदान प्राप्त किए थे । अर्जुन का इसी प्रयोजन के लिए देवलोक जाना प्रसिद्ध है । जहाँ उनके सम्मुख अनिंद्य सुन्दरी उर्वशी प्रस्तुत की गई थी और गाण्डीव धनुष उपहार में दिया गया था । देवताओं को मानुषी नारी के साथ सम्पर्क साधने में अप्सराओं की सेवा से अधिक रसास्वादन आता है । इन्द्र और चन्द्र का अहिल्या पर मन डिगाने का आख्यान, कुन्ती से अनुरत होकर उसके गर्भ से संतानोत्पादन का उपक्रम यही बताते हैं कि धरती का वैभव स्वर्ग से कहीं अधिक है । यदि ऐसा न होता तो देव सुन्दरी मेनका विश्वामित्र की सहचरी बनने के लिए क्यों आतुर होती और क्यों इतनी लम्बी दौड़ लगाती ।

भगवान को ब्रह्माण्ड के असंख्य लोकों की व्यवस्था का दायित्व सँभालना पड़ता है । पर वे धरित्री का विशेष ख्याल रखते हैं । जब भी यहाँ असन्तुलन पैदा होता है तभी प्रतिकूलता को अनुकूलता मे बदलने के लिए अधर्म के उन्मूलन और धर्म के अभिवर्धन के लिए इसी धरातल पर विशेषतया भारत देश में अवतार धारण करते हैं । दस या चौबीस अवतार इसी मनुष्य लोक में, विशेषतया भारत देश में हुए हैं । इस भूमि को स्वर्गादपि गरीयसी कहा गया है । पुरातन काल के सतयुगी मनुष्य देव मानव कहे जाते थे । मनुष्य जन्म को सुरदुर्लभ कहा गया है । देवता यज्ञादि उपासनात्मक कर्मकाण्ड द्वारा अपना पोषण प्राप्त करने के लिए मनुष्यो से ही आशा अपेक्षा करते रहते है । जब वैसा कुछ उन्हें मिल जाता है तो प्रसन्न होकर मनोवांछित वरदान प्रदान करते हैं । मनुष्यों की संकल्प-शक्ति देवताओं को स्वर्ग से पृथ्वी पर आने के लिए विवश करती रही है । भागीरथ ने गंगा को स्वर्ग से उतरकर पृथ्वी पर बहने के लिए विवश किया था । वृत्रांसुर से सत्रस्त होकर देवगण महर्षि दधीचि से अस्थियाँ लेकए वज्र बनाने और संकट से त्राण पाने में सफल हुए थे । हरिश्चन्द्र की आदर्शवादिता पर पुलकित होकर देवता स्वर्ग से पुष्प वर्षा करने के लिए दौड़ पड़े थे । सूर्य पुत्र कर्ण का पराक्रम और आदर्शवाद प्रख्यात है ।

मानवी सत्ता देववर्ग से कहीं अधिक है, पर वह आमतौर से प्रसुप्त स्थिति में मूर्छित पड़ी रहती है । जग पडे तो कुण्डलिनी बनकर अपनी ज्वाल-माल से क्षेत्र विशेष को प्रचण्डता से ओत-प्रोत करती देखी गई

लोक मंगल का प्रयोजन पूरा करने वाला उपकरण है । वीडियो कैसेट इस निमित्त बनाये और जहाँ टी. वी. है वहाँ दिखाये जा सकते हैं । टेप प्लेयर पर टेप सुनाये जा सकते हैं ।

दीवारों पर आदर्श वाक्य लेखन एक अच्छा तरीका है । इसका यान्त्रिक संस्करण है फर्नीचर पर, हैण्ड बैगों पर चिपकाए जाने वाले "स्टीकर" । इस आधार पर भी सद्‌विचारों और सद्‌भावनाओं का अच्छा प्रचार हो सकता है । सिनेमा घरों में स्लाइड दिखाने का प्रबन्ध जहाँ बन पड़े वहाँ भी उपयोगी प्रेरणाएँ असंख्यों को मिलती रह सकती हैं ;

संगीत टोलियाँ जहाँ भी थोड़े व्यक्ति एकत्रित हों, वहीं अपना प्रचार कार्य आरम्भ कर सकती हैं । लाउडस्पीकरों पर रिकॉर्ड या टेप बजाये जा सकते हैं । इस सन्दर्भ में दीप यज्ञों की आयोजन प्रक्रिया अतीव सस्ती, सुगम और सफल सिद्ध होती है । इस माध्यम से, कर्मकाण्ड के माध्यम से आत्म-निर्माण, मध्याह्न काल के महिला सम्मेलन में परिवार निर्माण और रात्रि के कार्यक्रम में समाज निर्माण की सुधार प्रक्रिया और संस्थापन विधा का समावेश किया जा सकता है ।

परिवार में रात्रि के समय कथा-कहानियाँ कहने के अपने लाभ हैं । इस प्रयोजन के लिए प्रज्ञा पुराण जैसे कथा ग्रन्थ अभीष्ट आवश्यकता की पूर्ति कर सकते हैं । परस्पर विचार विनिमय, वाद-विवाद प्रतियोगिता, कविता सम्मेलन भी कम उपयोगी नहीं हैं । हर व्यक्ति स्वयं कविता तो नहीं कर या कह सकता, पर दूसरों की बनाई हुई प्रेरणाप्रद कविताएँ सुनाने की व्यवस्था तो कहीं भी हो सकती है । चित्र प्रदर्शनियाँ भी जहाँ सम्भव हो, इस प्रयोजन की पूर्ति में सहायक हो सकती हैं ।

खोजने पर ऐसे अनेकों सूत्र हाथ लग सकते हैं जो ज्ञान यज्ञ की, विचार क्रान्ति की, सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन की, दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन के लिए कौन, क्या, किस प्रकार कुछ कर सकता है, इसकी खोज-बीन करते रहने पर हर जगह, हर किसी को कोई न कोई मार्ग मिल सकता है । ढूँढ़ने वाले अदृश्य परमात्मा तक को प्राप्त कर लेते है, फिर ज्ञान यज्ञ की प्रक्रिया को अग्रगामी बनाने के लिए मार्ग न मिले, ऐसी कोई बात नहीं है । आवश्यकता है उसका महत्त्व समझने की, उस पर ध्यान देने की ।

उपासना से भावना का, जीवन साधना से व्यक्तित्व का और आराधना से क्रियाशीलता का परिष्कार और विकास होता है । आराधना उदार सेवा साधना से ही सधती है । सेवा कार्यों में सामान्यतः वे सेवाएँ हैं जिनसे लोगों को सुविधाएँ मिलती हैं । श्रेष्ठतर सेवा वह है जिससे किसी की पीड़ा का, अभावों का निवारण होता है । श्रेष्ठतम सेवा वह है जिससे व्यक्ति पतन से हटकर उन्नति की ओर मोड़ा जा सके । सुविधा बढ़ाने और पीड़ा दूर करने की सेवा तो कोई धन सम्पन्न भी कर सकते हैं । परन्तु पतन निवारण की सेवा तो कोई आत्म-चेतना सम्पन्न ही कर सकता है । यह सेवा भौतिक सम्पदा से नहीं दैवी सम्पदा से की जाती है । दैवी सम्पदा देने से घटती नहीं बढ़ती है । इसलिए भी वह सर्वसुलभ और श्रेष्ठ मानी जाती है

संत और ऋषि स्तर के व्यक्ति पतन निवारण की सेवा को प्रधानता देते रहे है । इसीलिए वे संसार में पूज्य बने । जिनकी सेवा की गई वे भी महान बने । सेवा की यह सर्वश्रेष्ठ धारा ज्ञान यज्ञ के माध्यम से कोई भी अपना सकता है । स्वयं लाभ पा सकता है और अगणित व्यक्तियों को लाभ पहुँचाकर पुण्य का भागीदार बन सकता है ।

## आध्यात्म अवलम्बन का सच्चा मार्ग और प्रतिफल

यह विशाल ब्रह्माण्ड असीम और अनन्त शक्तियों का महान भाण्डागार है । इस विशालता के महासागर में कितने प्रचुर परिमाण में दिव्यता, विचित्रता एवं क्षमता भरी पड़ी है, इसकी मनुष्य की सीमित बुद्धि परिकल्पना तक नहीं कर सकती ।

ब्रह्माण्ड की विशालता को देखते हुए अपनी आकाश गंगा, अपना सौर-मण्डल और उसके अत्यन्त छोटे भाग को घेरे हुए भूमण्डल का अस्तित्व नगण्य है । धरती पर बसने वाले कोटानुकोटि प्राणियों में मनुष्य जाति मुट्ठी भर है । इसमें भी एक मनुष्य की सत्ता तो इतनी नगण्य है जिसे बाल के नोक से भी कम माना जा सकता है । मनुष्य की सत्ता में उसका शरीर, मस्तिष्क एवं साधन सम्पदा ही गिने जाने योग्य है । इस परिधि में भी इतनी अधिक आश्चर्यजनक रहस्यमयी

सामर्थ्य सन्निहित है जिसका मात्र एक अत्यन्त छोटा भाग कार्यान्वित होता है । शेष अधिकांश भाग तो प्रसुप्त स्थिति में ही पड़ा रहता है । यदि मनुष्य की दृश्यमान कलेवर की शक्तियाँ ही जगाई, काम में लायी जा सकें, तो उतने भर से मनुष्य अगणित विभूतियों का स्वामी बनकर अत्यन्त विशिष्ट-विकसित सामर्थ्यों का भण्डार बनकर प्रकट हो सकता है । उसकी निजी क्षमता ऋद्धि-सिद्धियों से भरी-पूरी दृष्टिगोचर हो सकती है । इसके आगे वे अनेकों सूत्र ब्रह्माण्ड के अनेक घटकों के साथ जुड़ते हैं, जो अपनी शक्ति मानवी सत्ता पर उड़ेल कर उसे देवोमय बना सकते हैं । उसे कुबेर जैसा सम्पन्न और इन्द्र जैसा सशक्त देखा जा सकता है । यह सम्भव उपलब्धियाँ कैसे हस्तगत हों ? इस प्रश्न का एक ही उत्तर हो सकता है कि आध्यात्म विज्ञान के आधार पर जैव चुम्बकत्व को प्रचण्ड बना लिया जाय ।

भौतिक विज्ञान के आधार पर कोई कितना ही उपार्जन संग्रह क्यों न कर ले पर उसके उपयोग की एक छोटी परिधि है, उससे अधिक के लिए हाथ पैर मारना अपने आपको संकट में डालना है । पेट से अधिक खाना, शरीर सीमा से बढकर पहनना सम्भव नहीं । उपार्जन वैभव कितना ही अधिक क्यों न हो पर वह अपने स्थान पर ही रखा रहता है । बचत का दूसरे उपयोग करते हैं, किन्तु चेतना क्षेत्र इससे सर्वथा भिन्न है । उसकी परिधि विशद है । सूक्ष्म शक्तियो के रूप में सम्पदा का अजस्र परिवार उसमें बीज रूप में भरा जा सकता है । उपलब्ध शक्तियों का जागरण और प्रभाव क्षेत्र का परिकर दोनों मिलकर इतने अधिक हो जाते है जिसका मूल्यांकन करने में देव दानवों को ही मापदण्ड बनाया जा सकता है ।

देवता, मनुष्य लोकों में आने के लिए ललचाते रहते हैं । उनकी उत्सुकता उससे कहीं अधिक है जैसा कि मनुष्य स्वर्ग लोक के सम्बन्ध मे सोचता और वहाँ के आनन्द का रसास्वादन करने के लिए उत्सुक रहता है । इतिहास साक्षी है कि देवताओ ने मनुष्य से सहायता प्राप्त करने के लिए अनेक बार याचना की है । दशरथ अपना रथ लेकर देवताओं की सहायता करने गए थे । साथ में कैकेयी भी थीं, जिसने पति की सहायता करके तीन-तीन वरदान प्राप्त किए थे । अर्जुन का इसी प्रयोजन के लिए देवलोक जाना प्रसिद्ध है । जहाँ उनके सम्मुख अनिंद्य सुन्दरी उर्वशी प्रस्तुत की गई थी और गाण्डीव धनुष उपहार में दिया गया था । देवताओं को मानुषी नारी के साथ सम्पर्क साधने में अप्सराओ की सेवा से अधिक रसास्वादन आता है । इन्द्र और चन्द्र का अहिल्या पर मन डिगाने का आख्यान, कुन्ती से अनुरत होकर उसके गर्भ से संतानोत्पादन का उपक्रम यही बताते हैं कि धरती का वैभव स्वर्ग से कहीं अधिक है । यदि ऐसा न होता तो देव सुन्दरी मेनका विश्वामित्र की सहचरी बनने के लिए क्यों आतुर होती और क्यों इतनी लम्बी दौड़ लगाती ।

भगवान को ब्रह्माण्ड के असंख्य लोकों की व्यवस्था का दायित्व सँभालना पड़ता है । पर वे धरित्री का विशेष ख्याल रखते हैं । जब भी यहाँ असन्तुलन पैदा होता है तभी प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदलने के लिए अधर्म के उन्मूलन और धर्म के अभिवर्धन के लिए इसी धरातल पर विशेषतया भारत देश में अवतार धारण करते हैं । दस या चौबीस अवतार इसी मनुष्य लोक में, विशेषतया भारत देश में हुए हैं । इस भूमि को स्वर्गादपि गरीयसी कहा गया है । पुरातन काल के सतयुगी मनुष्य देव मानव कहे जाते थे । मनुष्य जन्म को सुरदुर्लभ कहा गया है । देवता यज्ञादि उपासनात्मक कर्मकाण्ड द्वारा अपना पोषण प्राप्त करने के लिए मनुष्यों से ही आशा अपेक्षा करते रहते हैं । जब वैसा कुछ उन्हें मिल जाता है तो प्रसन्न होकर मनोवांछित वरदान प्रदान करते हैं । मनुष्यों की संकल्प-शक्ति देवताओं को स्वर्ग से पृथ्वी पर आने के लिए विवश करती रही है । भागीरथ ने गंगा को स्वर्ग से उतरकर पृथ्वी पर बहने के लिए विवश किया था । वृत्रासुर से संत्रस्त होकर देवगण महर्षि दधीचि से अस्थियाँ लेकर वज्र बनाने और सकट से त्राण पाने में सफल हुए थे । हरिश्चन्द्र की आदर्शवादिता पर पुलकित होकर देवता स्वर्ग से पुष्प वर्षा करने के लिए दौड़ पड़े थे । सूर्य पुत्र कर्ण का पराक्रम और आदर्शवाद प्रख्यात है ।

मानवी सत्ता देववर्ग से कहीं अधिक है, पर वह आमतौर से प्रसुप्त स्थिति में मूर्छित पड़ी रहती है । जग पड़े तो कुण्डलिनी बनकर अपनी ज्वाल-माल से क्षेत्र विशेष को प्रचण्डता से ओत-प्रोत करती देखी गई

है । यदि वैसा न बन पड़े तो मात्र हाड़-माँस के पिटारे जैसा दोष-दुर्गुणों से लिपटी हुई दीन-दुर्बल, दरिद्र, अनाथ, उपेक्षित, तिरस्कृत बनकर रहती है । आत्म-प्रताड़ना और लोक भर्त्सनाएँ उसे झुलती-झुलाती रहती है । भव बन्धनों से जकड़ा हुआ मानव कोल्हू के बैल की तरह घिसता-पिसता हुआ किसी प्रकार मौत के दिन पूरे भर कर पाता है ।

काया स्वस्थ समर्थ हो तो मात्र युवावस्था की थोड़ी सी अवधि में बलिष्ठ, सुन्दर, प्रबुद्ध, सम्पन्न, स्वतन्त्र, स्वच्छन्द रहा जा सकता है । बचपन और बुढ़ापे का अधिकांश समय तो अपंग, असमर्थ, परावलम्बी जैसी स्थिति में किसी प्रकार गुजर करने में बीतता है । जराजीर्ण स्थिति में तो रोग-शोक से कलपते-कराहते दिन बीतता है । उस स्थिति में मौत के दिन गिनने पड़ते हैं । उसी के अचल में मुँह छिपा लेने के लिए विवशता भरी उत्सुकता चढ़ी रहती है, किंतु आत्मिक प्रगतिशीलता इससे सर्वथा भिन्न है । यदि उस दिशा में प्रगति कर सकना बन पड़े तो लोक-परलोक में समान रूप से सन्तोष छाया, ओजस उभरा उल्लास आनन्द का रसास्वादन करते रहने की परिस्थिति निरन्तर बनी रहती है । आत्मिक प्रगति अकेली ही ऐसी है जिस पर अनेकानेक भौतिक सफलताओं को निछावर किया जा सकता है । बुद्ध, गाँधी सरीखे आत्मवान अस्सी वर्ष से अधिक समय तक सन्तोष सम्मान भरा जीवन जीते रहे और सदा सर्वदा के लिए अजर-अमर हो गए । अपनी अनुकरणीय अभिनन्दनीय स्तर की उपस्थिति इतिहास के पृष्ठों पर युग-युगान्तरों के लिए छोड़ गए । आत्मिक प्रगति की महिमा जितनी बखानी जा सके, उतनी ही कम है । आत्मवान् स्वयं तो विभूतिवान होकर जीता ही है, अपने अनुदानों से अपने समय और परिकर को हर दृष्टि से कृत-कृत्य करता है । भौतिक क्षेत्र में केवल स्वल्प कालीन उन्नति ही की जा सकती है । चिरस्थाई प्रगति का अर्थ तो आध्यात्मिक उपलब्धियाँ अर्जित करने के अतिरिक्त और कुछ होती नहीं । उसी के साथ प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष श्रेय जुड़ा हुआ है । अस्तु दूरदर्शिता इसी मे है कि आत्मोन्नति का ताना-बाना बुना जाय, भले ही वह कष्ट साध्य ही क्यों न हो । भले ही उसके लिए सामयिक सुख-सुविधाओं में, तृष्णा महत्त्वाकांक्षाओं में कटौती ही क्यों न करनी पड़े । आत्मा को ऊँचा उठाना आरम्भ कर दिया जाय तो वह विकसित होते-होते देवात्मा परमात्मा का स्तर प्राप्त कर लेती है ।

शरीर सम्बन्धित उपलब्धियों की भी एक सीमा है । तृष्णा बढ़ी-चढ़ी कितनी ही क्यों न हो पर प्रकृति अंकुश के कारण उसका संग्रह एवं उपयोग एक सीमा तक ही हो सकता है । सीमित समय तक ही वह वैभव पास में रह सकता है । मृत्यु का ग्रास बनना हर किसी के लिए अनिवार्य ही है । ऐसी दशा में यदि असीम और अनन्त की स्थिरता के सम्बन्ध में सोचा जाय तो फिर आत्मिक प्रगति और आध्यात्मिक सिद्धि सम्पदा पर ही विचार करना पड़ेगा । उसी दिशा मे कदम बढ़ाना पड़ेगा । सांसारिक क्षेत्र के सुसम्पन्नों के साथ सम्पर्क साधना और उनकी अनुकम्पा अर्जित करना सरल नही है, पर अदृश्य क्षेत्र में जिन सूक्ष्म सत्ताओं का स्वच्छन्द निवास है, उनके साथ आत्मिक मार्ग पर चलते हुए सरलता के साथ जुड़ा जा सकता है । उनका परामर्श, सहयोग विपुल परिमाण मे प्राप्त किया जा सकता है । जिस प्रकार याचक को सम्पन्न दानशीलों की तलाश रहती है, उसी प्रकार हर क्षेत्र के सुसम्पन्न अपने मित्र साथी तलाशते रहते है । उत्तराधिकारी की खोज सभी को रहती है । पाने की तरह देने का भी आनन्द होता है । इसे माता-सन्तान के, पति-पत्नी के सम्बन्धो का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट ही जाना जा सकता है । सूक्ष्म जगत की महान शक्तियाँ अपनी अनुकम्पा बरसाने के लिए बादलों की तरह आतुर रहती हैं । वे उपयुक्त भूमि पर बरसती भी हैं । रेगिस्तानों पर से तो मेघमालाएँ बिना रुके पलायन कर जाती हैं ।

साधना से सिद्धि का सिद्धान्त शत-प्रतिशत सही है । श्रमशीलता के सहारे मात्र सम्पदा अर्जित की जा सकती है, सो भी येन-केन-प्रकारेण उनके चलने के लिए अपना रास्ता बना लेती है, परन्तु आध्यात्म सम्पदा के संचय के बारे मे यह बात नहीं है । वह स्थिर ही नहीं रहती, बैंक ब्याज की तरह बढ़ती भी रहती है । पल्लवित वृक्षों की टहनियों की तरह फलती-फूलती भी रहती हैं । बाँटने पर विद्या की तरह उसकी अभिवृद्धि होती, परिपक्वता बढ़ती देखी जाती है ।

भौतिक क्षेत्र में सफलता-असफलता के, सम्पन्नता-विपन्नता के ज्वार भाटे आते रहते हैं । दिन-रात की तरह अनुकूलता-प्रतिकूलता का उलटफेर परिवर्तन होता रहता है, किन्तु आध्यात्म क्षेत्र में ऐसा कुछ नहीं है । उस दिशा में बढ़ता हुआ हर कदम आगे की मंजिल ही पार करता है । उसमें पीछे लौटने जैसी आशंका है नहीं । जब कभी इस राजमार्ग के पथिक को असफलता मिले तो समझना चाहिए कि दिशा भूल के भटकाव में उसे कहीं उलझना पड़ गया है । सही मार्ग पर, सही गति से, सही तैयारी के साथ जो इस क्षेत्र में बढ़ा है, उसे क्रमिक प्रगति का समुचित लाभ मिलता रहा है । उसे निराश होने का, पछताने का कुयोग कभी भी मिला नहीं है । उसे भाग्य को कभी कोसना नहीं पड़ा है ।

स्मरण रखने योग्य तथ्य यह है कि आस्तिकता, आध्यात्मिकता और धार्मिकता का त्रिविध संयोग हर साधक को अपने साथ सँजोये रखना चाहिए । परमसत्ता के साथ अपने आपको समर्पित-विसर्जित कर देना ही ईश्वरावलम्बन है । ईश्वर, जिसकी उपासना की जाती है, वह है "सत्प्रवृत्तियों का समुच्चय ।" "उत्कृष्टता—आदर्शवादिता का समन्वय" मात्र पूजा करने से नहीं, आत्मा को परमात्मा के साँचे में ढाल लेना ही योगाभ्यास है ।

चिन्तन और चरित्र को शालीनता से समन्वित करना—आत्म-परिशोधन मे निरत रहना ही आध्यात्मिकता है और कर्तव्यों के परिपालन में कटिबद्ध रहना धार्मिकता । इन तीनों को अपनाए रहने वाला ही सच्चा आध्यात्मवादी और सफल साधक होता है ।

## जीवन-साधना से क्या लाभ ?

प्रश्न उपस्थित होता है कि जीवन-साधनाओं के अभ्यासो में हम क्यों प्रवृत्त हों ? उनसे हमारा क्या प्रयोजन ? हमें क्या लाभ मिलेगा ? यह प्रश्न यथार्थ मे महत्त्वपूर्ण है । आइये आज इन पर विचार करे ।

जिस प्रकार शारीरिक बल का सम्पादन करने से शारीरिक स्वास्थ्य उपलब्ध होता है और इसके आधार पर दैनिक जीवन के अन्यान्य कार्य पूरे होते हैं, उसी प्रकार मानसिक बल को उपार्जन करके हम चित्त की स्थिरता और शान्ति का अनुभव कर सकते है । निश्चय ही मानसिक सन्तुलन ठीक रखने पर लौकिक और पारलौकिक सफलताएँ मिल सकती हैं ।

मनुष्य विद्युत-शक्ति का भण्डार है । उसमें प्राण तत्व इतनी प्रचुर मात्रा में भरा हुआ है कि उसके आधार पर असम्भव और आश्चर्यजनक कार्यों को पूरा किया जा सकता है, किन्तु हम उसका ठीक प्रकार से उपयोग करना नहीं जानते यदि उसका समुचित रीति से उपयोग करना जान लिया जाय तो जीवन की दिशा दूसरी हो सकती है । मानवीय विद्युत का समुचित उपयोग करना, सीखना वैसा ही उपयोगी है जैसे घर के कीमती घोड़े पर चढ़ना जानना, या बैंक में जमा हुए रुपये को निकालने की जानकारी रखना । वे मनुष्य बड़े अभागे हैं जिनके पास बहुमूल्य घोड़ा है पर उस पर चढ़ना नहीं जानते । अथवा जिनकी विपुल सम्पत्ति बैंक में जमा है, किन्तु उसे निकालने की विधि नहीं जानते और पैसे-पैसे को मुहताज फिरते हैं । आध्यात्मिक साधना का यह प्रथम फल बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि अपनी अपरिमेय शक्ति का समुचित उपयोग करना मालूम हो जाय ।

दुखों को दूर करने और सुख प्राप्त करने का हम सतत प्रयत्न करते है, सारा जीवन इन्हीं दोनो की उलट-पुलट में व्यतीत हो जाता है, किन्तु मनोकामना पूरी नहीं होती । यदि कोई ऐसा उद्गम प्राप्त हो जाय जहाँ से सुख और दु.ख का उदय होता है और वहाँ अपनी इच्छानुसार चाहे जिसे ले लेने की सुविधा हो तो क्या इसे मामूली चीज समझना चाहिए ? विद्या, धन, स्वास्थ्य, स्त्री, सन्तान, प्राप्त करने पर भी जिस सुख को हम नहीं प्राप्त कर सकते उसकी सच्ची स्थिति प्राप्ति का सच्चा मार्ग केवल आध्यात्मिक साधना द्वारा ही प्राप्त हो सकता है ।

अपनी शक्ति को विकसित करना यह कितना महान लाभ है । मानवीय अन्तस्तल में ऐसे-ऐसे अस्त्र-शस्त्र छिपे पड़े है जो भौतिक विज्ञान द्वारा अब तक न तो बन सके है और न भविष्य में बनने की सम्भावना है । यह हथियार भ्रष्ट तान्त्रिक प्रयोक्ताओं की तरह मारण, मोहन, उच्चाटन के लिए ही नहीं वरन् वाल्मीकि जैसे डाकुओ को ऋषि के रूप में परिणित करने की भी शक्ति रखते है । सुदामा और नरसी जैसे दरिद्रों के सामने क्षण भर मे स्वर्ण सम्पदा के

पर्वत खड़े कर सकते हैं, कोढ़ियों को स्वर्णकाय बना सकते है और डूबते दरिद्रों को पार कर सकते हैं। यह दिव्य शक्तियाँ भी आत्म-साधना द्वारा ही सम्भव हैं।

यह बड़ी पेचीदगी है कि दूसरे क्या हैं ? वे किस प्रकार के विचार रखते हैं ? क्या चाहते हैं और कितनी योग्यता रखते है ? यदि इन सब बातों का ज्ञान हो जाय तो मनुष्य की बहुत सी कठिन समस्याएँ हल हो सकती हैं और वह ठीक व्यक्तियों से, ठीक लाभ उठा सकता है। दूसरों के मन को पहिचानना, अन्यत्र होने वाली घटनाओं का जानना, भविष्य का पूर्वाभास प्राप्त करके सावधान रहना यह सभी बातें एक से एक उत्तम हैं और मानवीय अपूर्णता को दूर करती है।

हम स्वयं क्या हैं ? संसार क्या है ? स्वर्ग और मुक्ति क्या है ? इनका ठीक ज्ञान न होने के लिए आवश्यक है कि साधना तत्व के बारे में जान लिया जाय। कारण हजारों मन सिद्धान्तों के ज्ञान से एक छटांक भर साधनों का आचरण अधिक लाभप्रद है। इसलिए अपने दैनिक जीवन में योग, धर्म एवं दर्शन शास्त्रों में बताए हुए साधनों का अभ्यास कीजिए, जिससे मनुष्य जीवन के चरम लक्ष्य—'आत्म-साक्षात्कार' की शीघ्र प्राप्ति हो।

इस साधनपट में उपरोक्त साधनों का तत्व एवं सनातन धर्म का विशुद्ध स्वरूप ३२ शिक्षाओं द्वारा दिया गया है। उनका अभ्यास वर्तमान काल के अत्यन्त कार्यग्रस्त स्त्री पुरुषों के लिए भी सुशक्य है। उनके समय और परिमाण में यथानुकूल परिवर्तन कर लीजिए और उनकी मात्रा धीरे-धीरे बढ़ाते जाइये। आप अपने चरित्र या स्वभाव में एकाएक परिवर्तन नहीं कर सकेंगे। इसलिए आरम्भ में इनमें थोड़ी ऐसी शिक्षाओं के आचरण का संकल्प कीजिए, जिनसे आपके वर्तमान स्वभाव और चरित्र में थोड़ा निश्चित सुधार हो। क्रमशः इन साधनों का समय और परिमाण बढ़ाते जाइये। यदि किसी दिन बीमारी, सांसारिक कामों की अधिकता या किसी अनिवार्य कारणों से आप निश्चित साधनों को न कर सकें तो उनके बदले पूरे समय या यथासम्भव ईश्वर नाम स्मरण या जप कीजिए, जो चलते-फिरते या अपने सांसारिक कर्म करते हुए भी किया जा सकता है।

## आरोग्य साधना

(१) आधा पेट खाइये, हल्का और सादा भोजन कीजिए। भोजन में शाक, फल, दूध, दही, अनाज, कन्द, मूल, मेवा आदि सब तत्वों का उचित परिमाण होना चाहिए। भगवान को अर्पण करने के बाद भोजन कीजिए। (२) मिर्च, मसाले, इमली राजसिक पदार्थों का सेवन कम या वर्जित कीजिए। चाय, कॉफी, लहसुन, प्याज, तम्बाकू, भंग, सिगरेट, पान, माँस, मछली, मदिरा आदि तामसी वस्तुओं का सर्वथा त्याग कीजिए। (३) एकादशी के दिन उपवास कीजिए या केवल दूध, कन्द और फल थोड़ा खाइये। इस दिन अन्न वर्जित है। (४) आसन व्यायाम-योग आसन या शारीरिक व्यायाम प्रतिदिन १५ से ३० मिनट तक कीजिए।

## प्राणशक्ति साधना

(५) प्रतिदिन दो घण्टा मौन रहिये और उस समय को आत्म-विचार, ध्यान, ब्रह्मचिन्तन या जप में लगाइये। इस समय टहलना या पढ़ना नहीं चाहिए। रविवार या छुट्टी के दिन मौन का समय चार से आठ घन्टे तक बढाइये। (६) अपनी उम्र, परिस्थिति, शक्ति तथा आश्रम के अनुसार ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करिये। शुरू के महीने में एक बार से अधिक ब्रह्मचर्य भंग न करने का संकल्प करिये। धीरे-धीरे उसे घटाकर वर्ष में एक बार तक ले आइये। अन्त में जीवन भर के लिए ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा करिये।

## चरित्र-साधना

(७) मन, वचन और कर्म से भी किसी को कष्ट न पहुँचाइये। प्राणीमात्र पर दया भाव रखिये। (८) सत्य, प्रिय, मधुर, हितकर और अल्प भाषण कीजिए। आपके वचनों से किसी को उद्वेग न होना चाहिए। (९) सब लोगों से सरलता, निष्कपटता और खुले दिल से बर्ताव और बातचीत करिये। (१०) ईमानदार बनिए। अपने परिश्रम (पसीने) से कमाई कीजिए। अन्याय या अधर्म से मिलने वाला किसी का धन, वस्तु या उपकार मत स्वीकारिये। सज्जनता और चरित्र का विकास करिये। (११) जब आपको क्रोध आ जाय, तब उसे क्षमा, धैर्य, शान्ति, दया, प्रेम और सहिष्णुता द्वारा दबा दीजिए। दूसरो का कसूर भूल जाइये और उन्हें क्षमा कर दीजिए। लोगों के स्वभाव और संयोगो के अनुसार बर्ताव कीजिए।

## इच्छाशक्ति साधना

(१२) मन संयम—प्रतिवर्ष एक हफ्ता या एक महीने तक शक्कर या चीनी का और रविवार को नमक का त्याग कीजिए । (१३) ताश, नोबेल, सिनेमा और क्लबों का सर्वथा या यथासम्भव त्याग कीजिए । दुर्जनों की संगति से दूर भागिए । नास्तिक या जड़वादी से वाद-विवाद न कीजिए । ईश्वर में जिसकी श्रद्धा न हो या जो आपके साधनों की निन्दा करते हों, ऐसे लोगों से मिलना जुलना बन्द कर दीजिए । (१४) अपनी आवश्यकताओं को कम कर दीजिए । आपके पास जो सांसारिक वस्तु या सम्पत्ति हो, उन्हें भी क्रमशः घटाते जाइये । सादा-जीवन और उच्च-विचारों का अवलम्बन कीजिए ।

## हृदय-साधना

(१५) दूसरों की कुछ भलाई करना यही परम धर्म है । प्रति सप्ताह कुछ घण्टे कोई निष्काम सेवा का कार्य करिये, जैसे दरिद्र या रोगी की मदद, मित्रों या सज्जनों में धर्म प्रचार, सामाजिक सेवा, इत्यादि । (१६) अपनी आमदनी का दशांश या कम से कम दो पैसा प्रतिमास दान करिये । आपको कोई भी अच्छी वस्तु मिले, उसको सब स्वजन, मित्र, नौकर आदि में बाँटकर उपभोग करिये । सारे संसार के प्राणियों को अपने कुटुम्बी मानिए । (१७) विनम्र बनिए । सब प्राणियों को मानसिक नमस्कार करिये । सर्वत्र ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव करिये । मिथ्याभिमान, दम्भ और गर्व का त्याग करिये । (१८) गीता, गुरु और गोविन्द (ईश्वर) में अविचल श्रद्धा रखिये । सर्वदा ईश्वर को आत्म-समर्पण करते हुए प्रार्थना करिये "हे प्रभो, यह सब कुछ तेरा है, मै भी तेरा हूँ, जैसी तेरी इच्छा, वैसा ही हो, मैं कुछ नहीं चाहता ।" (१९) सब प्राणियों मे ईश्वर के दर्शन करिए, उनमे अपनी आत्मा के समान प्रेमभाव रखिए । किसी से द्वेष न करिए । (२०) नाम-स्मरण—सर्वदा ईश्वर नाम स्मरण करते रहिए या कम से कम प्रातःकाल उठकर, व्यावहारिक कार्यों के बीच में अवकाश मिलने पर और रात में सोने से पूर्व, ईश्वर नाम का स्मरण करिये । एक जपमाला अपनी जेब में या तकिए के नीचे सर्वदा रखिये । जब मौका मिले, तब करते रहिए ।

## मानसिक-साधना

(२१) गीताध्यान—प्रतिदिन गीता का एक अध्याय या १० से १५ तक श्लोकों का अर्थ सहित अध्ययन करिये । (२२) गीता कण्ठस्थ करना—धीरे-धीरे सारी गीता को कंठस्थ कर लीजिए । (२३) रामायण, भागवत्, उपनिषद, योगवशिष्ठ या अन्य दर्शनशास्त्र या धर्मग्रन्थों का कुछ अंश प्रतिदिन अथवा छुट्टी के दिन अवश्य अध्ययन करिए । (२४) कथा, कीर्तन, सत्संग, सन्त समागम या धार्मिक व्याख्यान, सभा आदि में प्रत्येक अवसर पर जाकर उससे लाभ उठाइए । रविवार की छुट्टी के दिन ऐसे सम्मेलनों का आयोजन करिए । (२५) किसी भी देव मन्दिर या पूजा स्थान में प्रति सप्ताह कम से कम एक दिन जाकर जप कीर्तन आदि का अनुष्ठान करिए । (२६) अवकाश या छुट्टी के दिनों में किसी पवित्र पुण्यस्थान में जाकर एकान्त सेवन करिए और सारा समय साधना व स्वाध्याय में बिताइए । गुरु या कोई सन्त महात्मा के सत्संग में रह कर साधना करिए ।

## आध्यात्मिक-साधना

(२७) रात में जल्दी सोकर प्रातःकाल चार बजे उठिए । शौच, दन्तधावन, स्नान आदि से आध घण्टे में निवृत्त हो जाइए । (२८) पद्मासन या सिद्धासन, या सुखासन पर बैठकर ४½ बजे से ६ बजे तक प्राणायाम, ध्यान, जप, स्तोत्र, प्रार्थना और कीर्तन करिए । एक ही आसन में सारा समय बैठने का धीरे-धीरे अभ्यास करिए । (२९) उसके बाद अपनी दैनिक संध्या, गायत्री जप, नित्य कर्म और पूजा करिए । (३०) अपने इष्ट मन्त्र या ईश्वर के नाम को १० से २० मिनट तक एक पुस्तिका में लिखिए । (३१) रात्रि में स्वजन, मित्र आदि के साथ बैठकर आधे से एक घण्टा तक नाम संकीर्तन, स्तोत्र, प्रार्थना, भजन इत्यादि का गायन करिये । (३२) उपरोक्त प्रकार की कुछ साधना करने का निश्चय, व्रत या संकल्प कीजिए और प्रतिवर्ष नया संकल्प करके साधना को बढ़ाते जाइये । नियमितता, दृढ़ता एवं तत्परता से इनका पालन करना आवश्यक है । साधना का समय, परिमाण आदि प्रतिदिन आध्यात्मिक डायरी में लिखिए । प्रतिमास उसकी समालोचना करके अपनी त्रुटियों को सुधारते रहिये ।

⌘⌘⌘

# जीवन साधना : प्रयोग और सिद्धियाँ

## जीवन साधना की आवश्यकता

दार्शनिक दृष्टि से देखें या वैज्ञानिक दृष्टि से, मानव जीवन को एक अमूल्य सम्पदा के रूप में ही स्वीकार किया जाता है। शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक क्षेत्र में ऐसी-ऐसी अद्भुत क्षमताएँ भरी पड़ी हुई हैं कि सामान्य बुद्धि से उनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। यदि उन्हें विकसित करने की विद्या अपनायी जा सके तथा सदुपयोग की दृष्टि पायी जा सके तो जीवन में लौकिक एवं अलौकिक सम्पदाओं—विभूतियों के ढेर लग सकते हैं।

मनुष्य को मानवोचित ही नहीं देवोचित जीवन जी सकने योग्य साधन भी प्राप्त हैं। फिर भी उसे पशु तुल्य, दीन-हीन जीवन इसलिए जीना पड़ता है, कि वह जीवन को परिपूर्ण सुडौल बनाने के मूल तथ्यों पर न तो ध्यान ही देता है और न उनका अभ्यास करता है। जीवन को सही ढंग से जीने की कला जानना तथा कलात्मक ढंग से जीवन जीने को जीवन जीने की कला कहते हैं। इस प्रकार कलात्मक जीवन जीते हुए मनुष्य जीवन के श्रेष्ठतम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अनेक सद्गुणों का विकास करना होता है, अपने अन्दर अनेक दोषों को शोधन तथा अनेक सद्गुण, सत्प्रवृत्तियों एवं क्षमताओं का विकास करना होता है। उन्हें विकसित और सुनियोजित करने की विद्या ही "जीवन साधना" कही जाती है। जीवन साधना द्वारा मनुष्य का व्यक्तित्व महामानवों देव पुरुषों जैसा सक्षम एवं आकर्षक बनाया जाना सम्भव है।

जीवन की सुव्यवस्था जहाँ उसे आकर्षक एवं गौरवपूर्ण बनाती है, वहीं अस्त-व्यस्तता उसे कुरूप और हानिकारक बना देती है। मशीन के पुर्जे ठीक प्रकार कसे हुए हैं तो वह सुन्दर भी दीखेगी तथा उपयोगी भी होगी, किन्तु यदि खोलकर छितरा दिये जायें तो उपयोगिता तो समाप्त हो ही जायेगी, चारों ओर कूड़ा-कबाड़ा सा फैला दिखाई देगा। मनुष्य का व्यक्तित्व भी इसी तरह उपयोगी अथवा अनुपयोगी बनता रहता है। यह अन्तर देव और प्रेत जितना होता है। देव सुन्दर, स्वच्छ एवं व्यवस्थित होते हैं, प्रेत भयानक एवं अस्त-व्यस्त होते हैं। जीवन साधना से मनुष्य देवात्मा और उसकी उपेक्षा से प्रेतात्मा जैसी स्थिति में पहुँच जाता है। देवात्मा सुख-सन्तोष का सृजन करते हैं तथा प्रेतात्मा नित्य नयी समस्याएँ पैदा किया करते हैं।

जीवन की समस्याओं को सुलझाने और वांछित उपलब्धियों से जीवन को विभूषित करने के लिए अपने व्यक्तित्व को स्वच्छ, सुथरा बनाने की कला का नाम ही जीवन जीने की कला है। उस कला को व्यावहारिक जीवन में उतारने की अभ्यास प्रक्रिया का नाम ही जीवन साधना है। साधना एक ऐसी प्रक्रिया है जिसे ठीक ढंग से यदि सम्पन्न किया जाय तो कुरूप में कुरूप चीज भी सुन्दरतम बन जाती है। एक पत्थर के टुकड़े पर कलाकार अपनी छैनी और हथौड़ी से अभ्यास करता है। उसे एक आकार देने का प्रयत्न करता है और उसका प्रयत्न जब सफल हो जाता है तो वह टुकड़ा एक सुन्दर मूर्ति का रूप धारण कर लेता है। मनुष्य का जीवन भी कला के सहारे ही पत्थर से मूर्ति में रूपान्तरित किया जा सकता है और अनगढ़ बेडौल व्यक्तित्व को सुन्दर तथा समुन्नत बनाया जा सकता है।

अच्छे से अच्छे कागज पर कीमती रंग भी यदि बेतरतीब फैला दिया जाय तो कागज एवं रंग दोनों ही व्यर्थ जायेंगे, किन्तु उसी कागज पर वही रंग जब कोई चित्रकार तूलिका से लगाता है तो सुन्दर छवि बन जाती है। वह छवि [illegible] किसी का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करती है [illegible] को भी प्रसन्नता हो [illegible] सन्तोष मिलता [illegible] की सुन्दर [illegible]

# जीवन साधना :

## जीवन साधना की आवश्यकता

दार्शनिक दृष्टि से देखें या वैज्ञानिक दृष्टि से, मानव जीवन को एक अमूल्य सम्पदा के रूप में ही स्वीकार किया जाता है । शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक क्षेत्र में ऐसी-ऐसी अद्‌भुत क्षमताएँ भरी पड़ी हुई हैं कि सामान्य बुद्धि से उनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती । यदि उन्हें विकसित करने की विद्या अपनायी जा सके तथा सदुपयोग की दृष्टि पायी जा सके तो जीवन में लौकिक एवं अलौकिक सम्पदाओं—विभूतियों के ढेर लग सकते हैं ।

मनुष्य को मानवोचित ही नहीं देवोचित जीवन जी सकने योग्य साधन भी प्राप्त हैं । फिर भी उसे पशु तुल्य, दीन-हीन जीवन इसलिए जीना पड़ता है, कि वह जीवन को परिपूर्ण सुडौल बनाने के मूल तथ्यों पर न तो ध्यान ही देता है और न उनका अभ्यास करता है । जीवन को सही ढंग से जीने की कला जानना तथा कलात्मक ढंग से जीवन जीने को जीवन जीने की कला कहते हैं । इस प्रकार कलात्मक जीवन जीते हुए मनुष्य जीवन के श्रेष्ठतम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अनेक सद्‌गुणों का विकास करना होता है, अपने अन्दर अनेक दोषों को शोधन तथा अनेक सद्‌गुण, सत्प्रवृत्तियों एवं क्षमताओं का विकास करना होता है । उन्हें विकसित और सुनियोजित करने की विद्या ही "जीवन साधना" कही जाती है । जीवन साधना द्वारा मनुष्य का व्यक्तित्व महामानवों देव पुरुषों जैसा सक्षम एवं आकर्षक बनाया जाना सम्भव है ।

जीवन की सुव्यवस्था जहाँ उसे आकर्षक एवं गौरवपूर्ण बनाती है, वहीं अस्त-व्यस्तता उसे कुरूप और हानिकारक बना देती है । मशीन के पुर्जे ठीक प्रकार कसे हुए हैं तो वह सुन्दर भी दीखेगी तथा उपयोगी भी होगी, किन्तु यदि खोलकर छितरा दिये जायें तो उपयोगिता तो समाप्त हो ही जायेगी, चारों ओर कूड़ा-कबाड़ा सा फैला दिखाई देगा । मनुष्य का व्यक्तित्व

नहीं पाता वरन् घुल जाता है, दुष्टता भी सज्जनता के सामने जाकर हार जाती है ।

फिर सज्जनता में एक दूसरा गुण भी तो है कि कोई परेशानी आ ही जाय तो बिना सन्तुलन खोए, एक तुच्छ-सी बात मानकर हँसते-खेलते सहन कर लिया जाता है । इन विशेषताओं से जिसने अपने आपको अलंकृत कर लिया है उसका यह दावा करना उचित ही है कि "मुझे नरक में भेज दो मैं अपने लिए वहीं स्वर्ग बना लूँगा ।" सज्जनता अपने प्रभाव से दुर्जनों पर भी सज्जनता की छाप छोड़ती ही है । इसलिए अपने आन्तरिक जीवन को सुसंस्कृत बनाना चाहिए । उसे इस स्तर का रखना चाहिए कि बाहरी परिस्थितियाँ, प्रतिकूलताएँ और बाधाएँ अपनी सुख-शान्ति और प्रगति समृद्धि को नष्ट न कर सकें ।

आन्तरिक जीवन को सुसंस्कृत बनाने के साथ व्यक्ति का लौकिक जीवन भी सुसभ्य होना चाहिए । सभ्यता का मोटा अर्थ व्यक्ति का रहन-सहन, वेश-भूषा, व्यवहार ही समझा जाता है । परन्तु व्यापक अर्थों में सभ्यता के अन्तर्गत वे सभी बातें आ जाती हैं जो उसे समाज से सम्बद्ध रखती है । कोई व्यक्ति देखने में शालीन, व्यवहार में शिष्ट और रहन-सहन से प्रतिष्ठित लगता हो लेकिन सामाजिक कर्त्तव्यों की उपेक्षा करता है तो उसे सभ्यता की कसौटी पर असफल ही कहा जायेगा ।

शिष्टाचार सभ्यता का एक अंग है परन्तु वही सम्पूर्ण सभ्यता नहीं है । इसलिए व्यक्ति को सुसभ्य बनने के लिए सद्व्यवहार और सामाजिकता, नागरिकता के आदर्शों में भी निष्ठा रखनी चाहिए । गुण, कर्म, स्वभाव का परिष्कार व्यक्ति को आन्तरिक दृष्टि से सुखी और समुन्नति प्रदान करता है तो सामाजिकता, नागरिकता, सद्व्यवहार, शिष्टाचार जैसे गुण उसे सामाजिक जीवन में प्रतिष्ठा दिलाते तथा उसे समाजोपयोगी बनाते हैं ।

"जीवन साधना व्यक्तित्व के इन दोनों पक्षों को साधते सँवारते हुए की जाती है । यदि इन दोनों पक्षों को समुचित रूप से साधा जाय, सँभाल लिया जाय तो मनुष्य कहलाने योग्य स्थिति बनती है । यही क्रम आगे चलता हुआ पुरुष से महापुरुष, देव पुरुष एवं परमपुरुष तक जा पहुँचता है । जिन्हें हम महापुरुष कहते हैं वे किसी अन्य लोक से उतरी आत्माएँ नहीं होतीं वरन् साधना द्वारा सुसंस्कृत विकसित महामानव ही वे व्यक्तित्व होते हैं । आन्तरिक दृष्टि से सुसंस्कृत, परिष्कृत गुण, कर्म, स्वभाव के व्यक्ति बाह्य दृष्टि से सामाजिक उत्तरदायित्वों को निष्ठा और मनोयोगपूर्वक निभाने वाले, अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों को प्रसन्न और प्रफुल्लित करने की क्षमता अर्जित कर लेते हैं ।"

## व्यक्तित्व को सुसंस्कृत बनायें

प्रारम्भ में मनुष्य एक अबोध शिशु के रूप में इस पृथ्वी पर जन्म लेता है । तब न उसमें अपना भला-बुरा सोचने की क्षमता होती है और न किसी तथ्य को समझने, परिस्थितियों से लाभ उठाने या अपने गुण, कर्म, स्वभाव को परिष्कृत करने की शक्ति । मनुष्य की जीवन यात्रा किसी पाठशाला में भर्ती कराए गए छोटे से बालक की तरह आरम्भ होती है । उस समय उसे जो कुछ सिखा दिया जाय, समझा दिया जाय उसी के अनुरूप वह आगे बढ़ता रहता है । उस समय व्यक्तित्व की आधार शिला रखने का उत्तरदायित्व अभिभावकों का है । परन्तु जब कुछ सोचने समझने लायक स्थिति हो जाती है और व्यक्ति अपना भला-बुरा देखने लगता है तब अपना व्यक्तित्व इस प्रकार गढ़ना आरम्भ कर देना चाहिए जिससे कि जीवन साधना के सफल साधक होने का गर्व और अनुभव किया जा सके ।

पहले बताया जा चुका है कि व्यक्ति या निजी जीवन सुसंस्कृत बनाना जीवन साधना का एक अंग है तथा समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों को सुघड़ता पूर्वक पूरा करना, समाज से अपने व्यवहार सम्बन्धों का स्तर स्थापित करना दूसरा अंग है । इन्हीं का नाम संस्कृति और सभ्यता है ।

भारतीय मनीषियों ने आरम्भ से ही जीवन साधना के इन दोनों पक्षों पर समुचित जोर दिया है और इसी आधार पर भव्य समाज की रूपरेखा तैयार की है । समूचा भारतीय वाङ्मय जीवन साधना के इन दोनो पक्षो का विवेचन, विश्लेषण करने के लिए ही तैयार किया गया है । जीवन साधना का स्वरूप समझने के लिए ही धर्म और आध्यात्म का समग्र कलेवर तैयार किया गया है । आध्यात्म अर्थात् अपने आपका विकास, अपना निर्माण और आत्मोत्कर्ष । धर्म अर्थात् कर्तव्यनिष्ठा, समाज सेवा,

हर घड़ी प्रस्तुत रहती हैं और उन्हें समय-समय पर सुलझाना आवश्यक होता है । यदि यह सुलझाव ठीक न हुआ तो गुत्थियाँ और अधिक उलझ जाती है । गलत दृष्टि वाले व्यक्ति अपनी मामूली समस्याओं को गलत मार्ग अपनाकर इतनी उलझा लेते हैं कि मूल समस्या की अपेक्षा वह उलझन अधिक परेशानी उत्पन्न करती है । इसीलिए जब जीवन सम्पदा मिल ही गई है तो उसके सही उपयोग के लिए जीवन साधना का भी महत्त्व समझा जाना चाहिए ।

जीवन साधना का अर्थ है अपने अनगढ़ व्यक्तित्व को सुगढ़ता प्रदान करना और उसे उपयोगी बनाना, लोग जानवरों को पालतू बनाकर उनसे जरूरी या उपयोगी काम लेते हैं । शेर, रीछ, जैसे हिंस्र पशुओं को प्रशिक्षित कर सर्कस में काम किया जाता है । जिन्हें देखते ही प्राणों का खतरा अनुभव होने लगता है उन्हीं हिंस्र पशुओं को साध कर जीविका और यश कमाने का माध्यम बना लिया जाता है । झाड़ियों को काटकर सुरम्य उद्यान बना लिए जाते है । बेडौल धातुओं से प्रामाणिक औजार और सुन्दर आभूषण बना लिए जाते हैं । मामूली जड़ी-बूटियाँ कूट-पीस कर बहुमूल्य औषधियों के रूप में परिणत कर दी जाती हैं, जीवन साधना भी उसी प्रकार अनगढ़ और बेडौल को सुघड़ सुन्दर बनाने की कला है । उस माध्यम से कष्टपीड़ित और असुविधाग्रस्त जीवन ईश्वर का अनुपम उपहार बनाया जा सकता है ।

उपर्युक्त सभी उदाहरण मनुष्य जीवन पर भी लागू होते हैं । इतिहास पर दृष्टि डालने से इसके समर्थन में ढेरों प्रमाण मिलते हैं । एक खूँखार डाकू—महर्षि बाल्मीकि बन सकता है, महामूर्ख—महाकवि कालिदास हो जाता है, उपेक्षित-परित्यक्त बालक महात्मा कबीर हो सकता है, कुरूप गुलाम—महान कथाकार ईसप के नाम से विख्यात हो सकता है और लकड़हारे का बेटा अब्राहम लिंकन संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का राष्ट्रपति बनकर लोकप्रियता के चरण बिन्दु छू सकता है । ऐसे उदाहरण हर राष्ट्र मे, हर युग में मिल सकते है । उन सबका आधार एक ही था कि उन्होंने जीवन को सही ढंग से जीया था ।

जीवन साधना वास्तव में कल्पवृक्ष है । उसकी छाया में मनुष्य जीवन की महानतम उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकता है । इसमें तनिक भी शंका की आवश्यकता नहीं है । कहा जाता है कि अमुक देवता की आराधना करने से अमुक लाभ मिलता है । तत्व दृष्टि से देखा जाय तो जीवन भी एक देवता है । अन्य देवताओं की आराधना के प्रतिफलों पर शंकाएँ उठाई जा सकती हैं, किन्तु जीवन देवता की आराधना के सुनिश्चित एवं दुर्लभ परिणामों से कोई इन्कार नहीं कर सकता । शर्त यही है कि उसे ठीक प्रकार समझा जाय तथा उसकी एकांगी नहीं सर्वांगपूर्ण साधना तत्परता पूर्वक चालू रखी जाय ।

हमारी समस्याएँ उनके समाधान, प्रगति, समृद्धि और उपलब्धियाँ दो पक्षों पर निर्भर करती हैं । एक है आन्तरिक और दूसरा है बाह्य । आन्तरिक पक्ष को गुण, कर्म, स्वभाव कहा जा सकता है और बाह्य पक्ष को लोक व्यवहार कहा जा सकता है । गुण, कर्म, स्वभाव के परिष्कार को सुसंस्कृत व्यक्ति का आधार कहा जाय तो लोक व्यवहार को सभ्यता का आधार कहा जाना चाहिए । अपने लिए दु.ख-कठिनाइयाँ अनुभव करने और प्रतिकूलताएँ प्रस्तुत देखकर हतोत्साहित हो जाने का कारण गुण कर्म, का परिष्कृत न होना ही है । वस्तुतः देखा जाय जो यह संसार एक कर्मभूमि है व्यायामशाला है, विद्यालय है जिसमे प्रविष्ट होकर प्राणी अपनी प्रतिभा का विकास करता है और यह विकास ही अन्ततः आत्म-कल्याण के रूप में परिणत हो जाता है । यह दुनिया भव-बन्धन भी है, माया भी है, नरक भी है पर है उन्हीं के लिए जो अपने गुण, कर्म, स्वभाव को परिष्कृत न कर सके हैं । सब के लिए यह दुनिया कुरूप नही है ।

महात्मा इमर्सन कहा करते थे "मुझे नरक में भेज दो, मैं अपने लिए वही स्वर्ग बना लूँगा ।" वे जानते थे कि दुनिया में चाहे कितनी ही बुराई और कमी क्यो न हो यदि मनुष्य स्वय अपने आपको सुसंस्कृत बना ले तो उन बुराइयो की प्रतिक्रिया से बच सकता है । मोटर की कमानी-स्प्रिंग बढ़िया हो तो सड़क के खड्डे उसको बहुत दचके नहीं देते । कमानी के आधार पर वह उन खड्डो की प्रतिक्रिया को पचा जाती है । सज्जनता में भी ऐसी ही विशेषता है, वह दुर्जनों को नगे रूप में प्रकट होने का अवसर बहुत कम ही आने देती है । गीली लकड़ी को एक छोटा अंगारा जला

नहीं पाता वरन् बुझ जाता है, दुष्टता भी सज्जनता के सामने जाकर हार जाती है।

फिर सज्जनता में एक दूसरा गुण भी तो है कि कोई परेशानी आ ही जाय तो बिना सन्तुलन खोए, एक तुच्छ-सी बात मानकर हँसते-खेलते सहन कर लिया जाता है। इन विशेषताओं से जिसने अपने आपको अलंकृत कर लिया है उसका यह दावा करना उचित ही है कि "मुझे नरक में भेज दो मैं अपने लिए वहीं स्वर्ग बना लूँगा।" सज्जनता अपने प्रभाव से दुर्जनों पर भी सज्जनता की छाप छोड़ती ही है। इसलिए अपने आन्तरिक जीवन को सुसंस्कृत बनाना चाहिए। उसे इस स्तर का रखना चाहिए कि बाहरी परिस्थितियाँ, प्रतिकूलताएँ और बाधाएँ अपनी सुख-शान्ति और प्रगति समृद्धि को नष्ट न कर सकें।

आन्तरिक जीवन को सुसंस्कृत बनाने के साथ व्यक्ति का लौकिक जीवन भी सुसभ्य होना चाहिए। सभ्यता का मोटा अर्थ व्यक्ति का रहन-सहन, वेश-भूषा, व्यवहार ही समझा जाता है। परन्तु व्यापक अर्थों में सभ्यता के अन्तर्गत वे सभी बातें आ जाती हैं जो उसे समाज से सम्बद्ध रखती हैं। कोई व्यक्ति देखने में शालीन, व्यवहार में शिष्ट और रहन-सहन से प्रतिष्ठित लगता हो लेकिन सामाजिक कर्तव्यों की उपेक्षा करता है तो उसे सभ्यता की कसौटी पर असफल ही कहा जायेगा।

शिष्टाचार सभ्यता का एक अंग है परन्तु वही सम्पूर्ण सभ्यता नहीं है। इसलिए व्यक्ति को सुसभ्य बनने के लिए सद्व्यवहार और सामाजिकता, नागरिकता के आदर्शों में भी निष्ठा रखनी चाहिए। गुण, कर्म, स्वभाव का परिष्कार व्यक्ति को आन्तरिक दृष्टि से सुखी और समुन्नति प्रदान करता है तो सामाजिकता, नागरिकता, सद्व्यवहार, शिष्टाचार जैसे गुण उसे सामाजिक जीवन में प्रतिष्ठा दिलाते तथा उसे समाजोपयोगी बनाते हैं।

"जीवन साधना व्यक्तित्व के इन दोनों पक्षों को साधते सँवारते हुए की जाती है। यदि इन दोनों पक्षों को समुचित रूप से साधा जाय, सँभाल लिया जाय तो मनुष्य कहलाने योग्य स्थिति बनती है। यही क्रम आगे चलता हुआ पुरुष से महापुरुष, देव पुरुष एवं परमपुरुष तक जा पहुँचता है। जिन्हें हम महापुरुष कहते है वे किसी अन्य लोक से उतरी आत्माएँ नहीं होती वरन् साधना द्वारा सुसंस्कृत विकसित महामानव ही वे व्यक्तित्व होते हैं। आन्तरिक दृष्टि से सुसंस्कृत, परिष्कृत गुण, कर्म, स्वभाव के व्यक्ति बाह्य दृष्टि से सामाजिक उत्तरदायित्वों को निष्ठा और मनोयोगपूर्वक निभाने वाले, अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों को प्रसन्न और प्रफुल्लित करने की क्षमता अर्जित कर लेते है।"

## व्यक्तित्व को सुसंस्कृत बनायें

प्रारम्भ में मनुष्य एक अबोध शिशु के रूप में इस पृथ्वी पर जन्म लेता है। तब न उसमें अपना भला-बुरा सोचने की क्षमता होती है और न किसी तथ्य को समझाने, परिस्थितियों से लाभ उठाने या अपने गुण, कर्म, स्वभाव को परिष्कृत करने की शक्ति। मनुष्य की जीवन यात्रा किसी पाठशाला में भर्ती कराए गए छोटे से बालक की तरह आरम्भ होती है। उस समय उसे जो कुछ सिखा दिया जाय, समझा दिया जाय उसी के अनुरूप वह आगे बढ़ता रहता है। उस समय व्यक्तित्व की आधार शिला रखने का उत्तरदायित्व अभिभावकों का है। परन्तु जब कुछ सोचने समझने लायक स्थिति हो जाती है और व्यक्ति अपना भला-बुरा देखने लगता है तब अपना व्यक्तित्व इस प्रकार गढ़ना आरम्भ कर देना चाहिए जिससे कि जीवन साधना के सफल साधक होने का गर्व और अनुभव किया जा सके।

पहले बताया जा चुका है कि व्यक्ति का निजी जीवन सुसंस्कृत बनाना जीवन साधना का एक अंग है तथा समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों को सुघड़ता पूर्वक पूरा करना, समाज से अपने व्यवहार सम्बन्धों का स्तर स्थापित करना दूसरा अंग है। इन्हीं का नाम संस्कृति और सभ्यता है।

भारतीय मनीषियों ने आरम्भ से ही जीवन साधना के इन दोनों पक्षों पर समुचित जोर दिया है और इसी आधार पर भव्य समाज की रूपरेखा तैयार की है। समूचा भारतीय वाङ्मय जीवन साधना के इन दोनो पक्षों का विवेचन, विश्लेषण करने के लिए ही तैयार किया गया है। जीवन साधना का स्वरूप समझने के लिए ही धर्म और आध्यात्म का समग्र कलेवर तैयार किया गया है। आध्यात्म अर्थात् अपने आपका विकास, अपना निर्माण और आत्मोत्कर्ष। धर्म अर्थात् कर्तव्यनिष्ठा, समाज सेवा,

सामाजिकता, सद्व्यवहार सहयोग । नीतिशास्त्र और समाजशास्त्र का उद्देश्य भी निजी व्यक्तित्व का उत्कर्ष तथा समाज का उत्थान है ।

व्यक्ति और समाज कोई भिन्न सत्ताएँ नहीं है । एक इकाई है तो दूसरा समुच्चय । व्यक्ति इकाई है और समाज व्यक्तियों का समूह । इसलिए समाज की स्थिति व्यक्तियों के स्तर पर निर्भर करती है । फिर भी व्यक्ति को स्वयं के प्रति और समाज के प्रति दूरदर्शिता के दृष्टिकोण से सोचना तथा जीवन साधना का स्वरूप निर्धारित करना पड़ेगा । व्यक्ति स्वयं के प्रति कितना सजग, सद्गुणी, सस्कारवान तथा चरित्रनिष्ठ है यह जीवन साधना की पहली सीढ़ी या एक पक्ष है, जिसे संस्कृति कहा जा सकता है । जीवन साधना का दूसरा पक्ष समाज के प्रति व्यक्ति की रीति-नीति से सम्बद्ध है, जिसमे सद्व्यवहार, शिष्टाचार, सामाजिकता, सहकार आदि प्रवृत्तियाँ आती हैं, इस रीति-नीति का निर्धारण सभ्यता के अन्तर्गत आता है ।

व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाने के लिए अपने गुण, कर्म और स्वभाव के परिष्कार की प्रक्रिया पद्धति अपनानी चाहिए । कहा जा चुका है कि व्यक्ति जन्म तो निरे अबोध शिशु के रूप में लेता है । प्रारम्भ के कुछ वर्ष भी वह अपने अभिभावकों पर निर्भर रहता है । विचार क्षमता और विवेक चेतना जागृत होते ही उसे अपने व्यक्तित्व निर्माण में लगना चाहिए, क्योंकि सुसंस्कृत व्यक्तित्व से ही परिस्थितियो का लाभ उठाया तथा जीवन को ऊँचा बनाया जा सकता है । असंस्कृत और फूहड़ व्यक्तित्व अनुकूल परिस्थितियों से भी लाभ नहीं उठा पाते जबकि सुसस्कृत व्यक्तित्व से प्रतिकूलताओं को भी सहायक बनाया जा सकता है और राह के पत्थर को भी सीढ़ी बनाकर ऊँचा उठाया जा सकता है ।

व्यक्तित्व का गठन गुण, कर्म और स्वभाव से मिलकर बनता है । लम्बे समय तक अभ्यास मे आते रहने पर गुण ही स्वभाव बन जाते हैं और स्वभाव में आई विशेषताएँ ही गुण कहलाती है । उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति ईमानदारी के गुण का अभ्यास शुरू करता है । विगत जीवन में अनीति उपार्जन करने के बाद भी ईमानदारी का महत्त्व समझ मे आ जाय और उसे जीवन नीति बनाने की आकांक्षा उत्पन्न हो तो प्रारम्भ में उसका अभ्यास गुण की भाँति ही करना पड़ता है । प्रलोभन के अवसर प्रस्तुत होने पर भी दृढ़ रहा जाय तथा लम्बे समय तक ईमानदारी को जीवन क्रम में शामिल रखा जाय तो एक स्थिति ऐसी आती है जबकि यह गुण अपने स्वभाव में सम्मिलित हो जाता है । स्वभाव में सम्मिलित होने के बाद उस अभ्यास को तोड़ना मुश्किल हो जाता है ।

गुणों के अभ्यास द्वारा स्वभाव का परिष्कार करने के साथ अपने व्यक्तित्व को सुगठित करने के लिए इच्छाओं, भावनाओं और क्रियाओं को परिष्कृत करना आवश्यक है । कुशल माली जिस प्रकार बगीचे में लगाए गए पेड़-पौधों को काट-छाँट कर एक सुन्दर स्वरूप प्रदान करता है उसी प्रकार जीवन साधक को अपने व्यक्तित्व के विभिन्न पहलू सजाने-संवारने और परिष्कृत करने चाहिए । मनुष्य स्थूल शरीर तक सीमित नहीं है उसके स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर का तथ्य सर्वविदित है । इस आधार पर व्यक्तित्व को भी तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है । स्थूल शरीर अर्थात् कर्म, सूक्ष्म शरीर अर्थात् विचार और कारण शरीर अर्थात् भावनाएँ-आकांक्षाएँ । जीवन साधक को अपने तीनों शरीरों की गतिविधियों, क्रियाओ, विचारणाओ एवं आकांक्षाओं का परिष्कार सतत करते रहना ही चाहिए, ताकि सुसंस्कृत व्यक्तित्व का निर्माण किया जा सके ।

## क्रिया पद्धति में सुघड़ता लायें

मनुष्य की गतिविधियो में उसके आन्तरिक स्तर की झाँकी मिलती है । कार्य की प्रखरता, प्रामाणिकता तथा प्रभावशीलता पर भी चिन्तन का, कर्त्ता के दृष्टिकोण का भारी प्रभाव पड़ता है । बाहर से एक जैसे दिखने वाले कार्यों की उपलब्धियों में भारी अन्तर हो सकता है चाहे वह लोक-व्यवहार के सन्दर्भ में किया गया बर्ताव हो अथवा आजीविका उपार्जन के लिए किया जाने वाला व्यवसाय हो, उन सभी पर यह बात लागू होती है । जीवन साधना के साधक को क्रिया का स्थूल ही नहीं सूक्ष्म पक्ष भी देखना सँभालना पड़ता है ।

कल्पना करें एक मन्दिर बन रहा है, उसमें कई मजदूर कार्य कर रहे हैं । उनमें से एक आलसी प्रकृति का व्यक्ति मजबूरी में पेट भरने के लिए कार्य कर रहा है, दूसरा सज्जनोचित जीवन जीने के लिए आजीविका

उपार्जन कर रहा है और तीसरा देव मन्दिर को कल्याणकारी कार्य मानकर उसमें आ लगा है । स्थूल दृष्टि से तो तीनों ही कार्य कर रहे हैं और पारिश्रमिक भी पा रहे हैं, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से उनकी उपलब्धियों में जमीन-आसमान का अन्तर होगा । पहला व्यक्ति कार्य में उपेक्षा बरतेगा तथा मानसिक असन्तोष तनाव की स्थिति में रहेगा । दूसरा व्यक्ति सहज भाव से मेहनत करता हुआ लौकिक सन्तोष प्राप्त करेगा । तीसरे व्यक्ति के साथ एक हितकारी, श्रेष्ठ कार्य में सहयोग के नाते गौरव की पुण्य भावना की आनन्दानुभूति भी जुड़ी रहेगी ।

कार्य के प्रति अपना दृष्टिकोण कैसा है उसे हम कितना महत्त्व देते हैं, इसी आधार पर कार्य करते समय होने वाली बोझिलता अथवा प्रसन्नता अनुभव की जा सकती है । अतः जीवन साधक को प्रत्येक कार्य बोझ मानकर नहीं जिम्मेदारी समझकर और ऊँचा दृष्टिकोण रखते हुए करने का अभ्यास बनाना चाहिए । यदि कार्य को पूजा जाय तो तुलाधार वैश्य की तरह दुकानदारी करते हुए भी ईश्वरीय अनुग्रह और उसके सान्निध्य की अनुभूति की जा सकती है तथा पूजा को भी अनपेक्षित और अनमने ढंग से किया जाय तो उसका स्तर अनचाहे बोझ की तरह हो जाता है जिसे पेट भरने की मजबूरी के लिए करना पड़ रहा है । वह भी एक व्यवसाय से अधिक महत्त्व नहीं रखता ।

उत्तरदायित्व ही नहीं पूजा समझकर कार्य करने की शैली और उसे जिम्मेदारी तथा मनोयोग के साथ सम्पन्न करने की रीति-नीति अपने आन्तरिक स्तर को ही नहीं ऊँचा उठाती वरन् कार्य के स्थूल परिणामों को भी अधिक प्रभावशाली बना देती है । स्पष्ट है कि किसी काम को आधे-अधूरे मन से किया जाय तो उसके परिणाम भी आधे-अधूरे ही निकलेंगे । पढ़ते समय विद्यार्थी विद्याध्ययन को अपना पवित्र कर्तव्य समझते हैं तो अध्ययन का लाभ कुछ और ही ढंग का होगा । परीक्षा पास करने के लिए पढ़ने वाले छात्र परीक्षा पास भले ही कर लें पर कर्तव्य भावना से अध्ययन करने वाले विद्यार्थी की तरह अपने विषय में पारंगतता नहीं पा सकते । इसके विपरीत अभिभावकों के भय से या दूसरे दबावों से विवश होकर पढ़ने वाले छात्रों का परीक्षा में पास होना भी सदिग्ध बना रहता है । तीनों तरह के विद्यार्थी पढ़ते हैं परन्तु कर्तव्य भावना, व पास भर होना और बाहरी दबावों की बला भर टालना तीन भिन्न परिणाम प्रस्तुत करते हैं । ऐसा भी नहीं कि उन्हें कोई कम ज्यादा श्रम करना पड़ रहा हो । श्रम तीनों को लगभग बराबर करना पड़ता है, किन्तु पहले विद्यार्थी का श्रम प्रफुल्लता प्रदान करता है, दूसरे विद्यार्थी को श्रम थका डालता है और तीसरे में ऊब पैदा कर देता है ।

हमें अपने श्रम को थकाने या ऊबाने वाला नही प्रफुल्लता प्रदान करने वाला बनाना चाहिए । यह उपलब्धि कार्य में डूब जाने, उत्तरदायित्व अनुभव करने और कार्य को पूजा समझ कर करने से ही प्राप्त हो सकती है । ये विशेषताएँ केवल कहने भर से नहीं आतीं । लाख कहा जाय कि हम कार्य को पूजा समझकर कर रहे हैं परन्तु काम करने का ढंग वस्तुस्थिति को उघाड़े बिना नहीं रहता । यदि कार्य के प्रति पूजा की निष्ठा विकसित की गई तो सुनिश्चित रूप से वह निष्ठा क्रिया में पद्धति में तन्मयता, उत्साह, तत्परता, और मनोयोग के रूप में परिलक्षित होगी । प्रगाढ़ निष्ठाएँ नैठिक व्यक्ति के क्रिया-कलापो में उपर्युक्त विशेषताएँ सुनिश्चित रूप से लाती ही हैं । माता का अपने पुत्र के प्रति प्रगाढ़ प्रेम होता है, उस प्रेम वात्सल्य की वह प्रगाढ़ता ही बच्चे के पालन-पोषण और देखभाल में उत्साह, तन्मयता तथा तत्परता का इस कदर समावेश ला देती है कि कहा नहीं जा सकता । भक्त की भगवान के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा उसकी पूजा-अर्चना और सेवा-साधना में उसी स्तर के अनुरूप तन्मयता-तल्लीनता ला देती है । काम के प्रति पूजा-निष्ठा का विकास किया जाय तो उसका परिचय कहने, स्वीकार करने से नहीं, काम करते समय उसमें तल्लीन हो जाने, पूरी शक्ति से कार्य में लगने से मिलता है । कर्मयोग इसी का नाम है । कार्य को जिम्मेदारी के साथ ईश्वर की पूजा समझकर करने की कर्म साधना किसी भी योग साधना से कम सत्परिणाम देने वाली नही है ।

ऐसा ही नही है कि इस ढंग से काम करने पर कोई घाटा उठाना पड़ता हो या किसी तरह की हानि हो । प्रत्युत् इस पद्धति से किए गए कार्य अन्य तरीको से किए जाने वाले कार्यों की अपेक्षा अधिक ही प्रभावशाली

आत्म-चिन्तन का अर्थ अपनी समीक्षा करना है । इसमें अपने आपके गुणों एवं दोषों को ढूँढ़ निकालने एवं वर्गीकृत करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए । प्रयोगशालाओं में पदार्थों का विश्लेषण, वर्गीकरण होता है और देखा जाता है कि इस संरचना में कौन-कौन से तत्व मिले हुए हैं । शवच्छेद की प्रक्रिया में देखा जाता है कि भीतर के किस अवयव की क्या स्थिति थी उनमें कहीं चोट या विषाक्तता के लक्षण तो नहीं थे । रोगी की स्थिति जानने के लिए उसके मल, मूत्र, ताप, रक्त, धड़कन आदि की जाँच-पड़ताल की जाती है और निदान करने के बाद ही सही उपचार बन पड़ता है । आत्म-चिन्तन, आत्म-समीक्षा का भी यही क्रम है । इसके लिए अपने आप से प्रश्न पूछने और उनके सही उत्तर ढूँढ़ने की चेष्टा की जानी चाहिए । हम जिन दुष्प्रवृत्तियों के लिए दूसरों की निन्दा करते हैं उनमें से कोई अपने स्वभाव में तो सम्मिलित नहीं है । जिन बातों के कारण हम दूसरों से घृणा करते हैं वे बातें अपने में तो नहीं है ? जैसा व्यवहार हम दूसरों से अपने लिए नहीं चाहते हैं वैसा व्यवहार हम ही दूसरों के साथ तो नहीं करते ? जैसे उपदेश हम आये दिन दूसरों को करते हैं उनके अनुरूप हमारा आचरण है भी अथवा नहीं ? जैसी प्रशंसा और प्रतिष्ठा हम चाहते हैं वैसी विशेषताएँ हममें हैं या नहीं ? इस तरह का सूक्ष्म आत्म-निरीक्षण स्वयं व्यक्ति को करना चाहिए और अपनी कमियों को ढूँढ़ निकालना चाहिए ।

यद्यपि यह कार्य अत्यन्त कठिन है । सभी व्यक्तियों में अपने प्रति पक्षपात की दुर्बलता पायी जाती है । आँखे बाहर की कमियाँ देखती हैं, कान दूसरों के शब्द सुनते हैं और उनमें कटुता खोजते हैं । दूसरे के गुण-अवगुण देखने मे ही हर किसी की रुचि होती है और प्रत्येक व्यक्ति उसमें प्रवीण भी रहता है । ऐसा अवसर कदाचित ही आता है कि अपने दोषों को निष्पक्ष रूप से देखा और स्वीकार किया जा सके । कोई दूसरा हमारे दोष बताता है तो वह शत्रु जैसा प्रतीत होता है । जिस कार्य को कभी किया ही न हो वह सरलता से अभ्यास में नहीं आता अतः अपने दोषों को ढूँढ़ने में कठोरता बरतने और दृढ़ता अपनाने की क्षमता उत्पन्न करनी चाहिए ।

अपने स्वभाव में सम्मिलित दुष्प्रवृत्तियाँ अभ्यास होने के कारण कुसंस्कार बन जाती हैं और व्यवहार में उभर-उभर कर आने लगती हैं । दुष्प्रवृत्तियों को छोड़ने के लिए, कुसंस्कारों को नष्ट करने के लिए आत्म-सुधार का काम अपनाना चाहिए । इसके लिए अभ्यास और विचार-संघर्ष के दो मोर्चे तैयार करना चाहिए । अभ्यस्त कुसंस्कारों की आदत तोड़ने के लिए बाह्य क्रिया-कलापों पर नियन्त्रण और उनकी जड़ें उखाड़ने के लिए विचार-संघर्ष की पृष्ठभूमि बनानी चाहिए । अभ्यास, अभ्यास बना कर तोड़ा जाय और कुसंस्कार निर्माण द्वारा नष्ट किए जायें । थल सेना से थल सेना लड़ती है और नभ सेना का मुकाबला करने के लिए नभ सेना भेजी जाती है । कैदियों को जेल में रखने पर भी उनकी निगरानी करने के लिए चौकीदार छोड़े जाते हैं ताकि वे कोई और नई बदमाशी खड़ी न कर दें । यही नीति कुसंस्कारों के लिए भी अपनानी पड़ती है । जो भी जब उभरे उसी से संघर्ष किया जाय । बुरी आदतें जब उभरने के लिए मचल रही हों तो उसके स्थान पर उचित सत्कर्म ही करने का आग्रह खड़ा किया जाय और मनोबलपूर्वक अनुचित को दबाने तथा उचित को अपनाने का साहस किया जाय । मनोबल यदि दुर्बल होगा तो ही हारना पड़ेगा अन्यथा सत्साहस जुटा लेने पर तो श्रेष्ठ की स्थापना में सफलता ही मिलती है । इसके लिए छोटी-बुरी आदतों से लड़ाई आरम्भ करनी चाहिए । उन्हें जब हरा दिया जायेगा तो अधिक पुरानी और अधिक बड़ी दुष्प्रवृत्तियो को परास्त करने योग्य मनोबल भी जुटने लगेगा ।

जीवन साधना का तीसरा चरण आत्म-निर्माण है । इसका अर्थ है अपने व्यक्तित्व को उत्कृष्ट और सुसंस्कृत बनाने के लिए योजनाबद्ध प्रयत्न । दुर्गुणों को निरस्त करने के बाद सद्गुणों की प्रतिष्ठापना भी तो होनी चाहिए । खेत में से कँटीली झाड़ियाँ, पुरानी फसल की सूखी जड़ें उखाड़ दी गईं । पर इसी से तो खेती का उद्देश्य पूरा नहीं हो गया । कँटीली झाड़ियाँ और घास-फूस उखाड़ने का कार्य अधूरा है । शेष आधी बात जब बनेगी जब उस भूमि पर सुरम्य उद्यान लगाया जाय और उसे पाल-पोषकर बड़ा किया जाय । बीमारी का चला जाना, रोग को मिटा देना आधा

काम है । उसके बाद दुर्बल स्वास्थ्य को बलिष्ठ बनाने के लिए उचित आहार-विहार जुटाना भी आवश्यक है । दुर्गुणों को निरस्त कर दिया गया, उचित ही है पर व्यक्तित्व को उज्ज्वल बनाने के लिए, आत्म-विकास की अगली सीढ़ी चढ़ने के लिए सद्‌गुणों की सम्पदा एकत्रित करना भी अत्यन्त आवश्यक है । अपने व्यक्तित्व का विकास जीवन साधना की सफलता, उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श कर्तव्य अपनाये रहने पर ही निर्भर है । उस साधना में चंचल मन और अस्थिर बुद्धि से काम नहीं चलता इसमें तो संकल्पनिष्ठ, धैर्यवान और सतत प्रयत्नशील रहने वाले व्यक्ति ही सफल हो सकते हैं । सद्विचार और सत्कर्म की समग्र जीवन पद्धति अपनाने से ही व्यक्तित्व का सुसंस्कृत बनाना सम्भव होता है । अपना लक्ष्य यदि आदर्श मनुष्य बनना है तो इसके लिए व्यक्तित्व में आदर्श गुणों और उत्कृष्ट विशेषताओं का अभिवर्धन करना ही पड़ेगा ।

जीवन साधना की अन्तिम सीढ़ी आत्म-विकास है । आत्म-विकास अर्थात् अपने आत्म-भाव की परिधि को अधिकाधिक विस्तृत क्षेत्र में विकसित करते रहना । सामान्यतः लोग अपना स्वार्थ, अपने शरीर और मन की सुविधा तक ही सीमित रखते हैं । इसके लिए घर बसाते हैं, परिवार बनाते हैं और दूसरों से सम्बन्ध जोड़ते हैं । अधिक हुआ तो परिवार तक अपना आत्म-भाव विकसित कर लेते हैं । आमतौर पर लोगों का चिन्तन और क्रिया-कलाप यही तक सीमित रहता है । जीवन साधना के सिद्धि इच्छुकों को अपनी परिधि बढ़ाते रहना चाहिए और जीवन सम्पदा को कोल्हू के बैल की तरह इसी परिधि में नष्ट नहीं करना चाहिए । स्मरण रखा जाना चाहिए कि मानवीय व्यक्तित्व ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कलाकृति है । इसके पीछे सृष्टा का जो श्रम लगा है उसके पीछे सृष्टा का यह उद्देश्य है कि मनुष्य उसके सहयोगी की तरह सृष्टि की सुव्यवस्था में संलग्न रहकर उसका हाथ बटाए । यदि इस तथ्य को भुला दिया गया तो समझना चाहिए कि उस सृष्टा के श्रम को व्यर्थ करने का दुष्कर्म हम किए जा रहे हैं और मानवी जीवन के रूप में हमें जो अमूल्य अवसर मिला था उसे मूर्खों की भाँति व्यर्थ जाने दे रहे हैं ।

यदि हम अपनी स्थिति को देखें तो प्रतीत होगा कि शरीर और परिवार का उचित निर्वाह करते हुए भी हमारे पास पर्याप्त समय और श्रम बचा रहता है कि उससे परमार्थ प्रयोजनों की भूमिका निबाही जाती रह सके । आत्मीयता का विस्तार किया जाय तो सभी कोई अपने शरीर और कुटुम्बियों की तरह अपनेपन की भाव शृंखला में बँध जाते हैं और सबका दुःख अपना दुःख तथा सबका सुख अपना लगने लगता है । जो व्यवहार, सहयोग हम दूसरों से अपने लिए पाने की आकांक्षा करते हैं फिर उसे दूसरों के लिए देने की भावना भी उमगने लगती है, लोक-मंगल और जन-कल्याण की सेवा साधना की इच्छाएँ जगती हैं तथा उसकी योजनाएँ बनने लगती है ।

इस स्थिति में पहुँचा व्यक्ति सीमित न रहकर असीम बन जाता है और उसका कार्य क्षेत्र भी व्यापक परिधि में सत्प्रवृत्तियों का सम्वर्धक बन जाता है । ऐसे व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को घटाते और निर्वाह की न्यूनतम आवश्यकताएँ रखकर शेष क्षमता और सम्पदा को सत्प्रयोजनों में लगाये रहते हैं । सामाजिक जीवन में जिन व्यक्तियों को उच्च सम्मान मिलता है, संसार के इतिहास में जिन महामानवों का उज्ज्वल चरित्र जगमगा रहा है वे आत्म-विकास के इसी मार्ग का अवलम्बन लेते हुए महानता के उच्च शिखर तक पहुँच सके हैं ।

जीवन साधना के इन चार चरणों का सम्मिलित प्रयोग व्यक्ति को उत्कृष्ट व्यक्तित्व तथा उज्जवल चरित्र प्रदान करता है । आवश्यकता, निष्ठा, सूझ-बूझ और दृढ़तापूर्वक उन्हें अपनाने की है । आत्मिक प्रगति का भवन इन्हीं चार दीवारों से मिलकर बना है । इस तख्त में चारपाये हैं । चार दिशाओं की तरह आत्मिक उत्कर्ष के चार आधार यही हैं । उत्कर्ष के उच्च शिखर पर चढ़ने के लिए इस रीति-नीति को अपनाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है ।

## विचार शक्ति की सिद्धि कीजिए

विचार ही कर्म के प्रेरक हैं । किसी वस्तु को प्राप्त करने की आकांक्षा उसकी पूर्ति की दिशा में अग्रसर होती है तो सर्वप्रथम विचार जगत में ही उसकी हलचल होती है । मस्तिष्क उसके लिए योजना बनाता है, बुद्धि आकांक्षा पूर्ति के उपाय खोजती है और विचार-चिन्तन के रूप में कर्म का बीजारोपण होने लगता है । आकांक्षा और विचार इस रूप में तो एक

ही विषय के दो पहलू और एक ही दिशा का अगला चरण है । परन्तु विचार चेतना एक स्वतन्त्र चेतना भी है और उसके अनुसार यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक विचार किसी आकांक्षा की पूर्ति के लिए ही उठे ।

आकांक्षाएँ वस्तुतः व्यक्तित्व का एक अंग हैं । विचार उसकी पूर्ति या परिष्कार का माध्यम है । आकांक्षाएँ उठती हैं तो उन्हें आगे बढ़ने का उपक्रम भी विचार शक्ति के द्वारा ही बनता है । विचारशक्ति आकांक्षाओं को पूरा करने के साथ व्यक्तित्व का गठन तथा उनकी दिशा का निर्धारण भी करती है । इसीलिए कहा गया है कि मनुष्य की शक्ति उसके विचारों में ही रहती है । जिसके जैसे विचार होंगे उसकी वैसी ही गति और स्थिति होगी । इसी कारण यह एक सर्वसिद्ध मान्यता है कि विचार यदि अच्छे और सही होंगे तो प्रगति तथा सफलता सुनिश्चित है । सही विचारशीलता अपनाकर अपने लक्ष्य तक सफलता पूर्वक पहुँचा जा सकता है और इसके विपरीत विचारों की अशुद्धि मनुष्य को योग्यता, साधन सम्पन्नता और प्रतिभा होते हुए भी असफल बना देती है ।

विचार शक्ति का महत्त्व यदि देखना हो तो संसार की उन्नति, सुविधा साधनों की अभिवृद्धि, सभ्यता, संस्कृति, साहित्य तथा कला-कौशल के विपुल विकास के रूप में देखा जा सकता है । जिन महामानवों ने लेने के लिए समीचीन व्यवस्था बनाकर साहसपूर्वक डट जाते हैं ।

अस्तु जीवन सफलता के साधकों को अपने विचारों में परिपक्वता, शक्ति और तीव्रता लाना चाहिए । यह अद्भुत विचार शक्ति संसार में सभी मनुष्यों को मिली है और वह अपने अनुरूप विभिन्न दिशाओं तथा क्षेत्रों में गतिशील भी होती है लेकिन दुर्बल विचार रखने वाले, भाग्य और दैव के सहारे बैठे रहने वाले व्यक्ति उस शक्ति का लाभ नहीं उठा पाते और सफलता के सौभाग्य से वंचित ही रह जाते हैं । सौभाग्य और दुर्भाग्य का अस्तित्व अगर कहीं है भी तो वह विचारों में ही है ।

विचारों की विकृति ही दुर्भाग्य एवं विचारों की सुकृति ही सौभाग्य है । विचारों के बाहर दुर्भाग्य अथवा सौभाग्य का कोई स्थान नहीं है । मनुष्य का भाग्य लिखने वाली विचारों के अतिरिक्त अन्य कोई शक्ति भी नहीं है । मनुष्य अपने विचारों के माध्यम से स्वयं अपना भाग्य लिखा करता है । जिस प्रकार के विचार होंगे, भाग्य की भाषा भी उसी प्रकार की होगी । भाग्य यदि कोई निश्चित विधान होता और उसका रचने वाला भी कोई दूसरा होता, तो कंगाली एवं गरीबी की दुर्भाग्य पूर्ण स्थिति में जन्म लेने वाला कोई भी मनुष्य आज तक उन्नति एवं विकास के पथ पर चलकर सौभाग्यवान न बना होता । उसे तो

क्षुद्र, तुच्छ एवं हेय मानने से ही आरम्भ होती है। उसके व्यक्तित्व पर उसके विचार हावी हो जाते हैं और जन-जन को यह सूचना देते रहते है कि यह व्यक्ति निराशावादी तथा गिरे हुए विचारों का है। इसलिए हम अपने को जिस प्रकार बनाना चाहते हैं उसी प्रकार के विचारों का सृजन करना चाहिए। विचारों का प्रभाव निश्चित रूप से आचरण पर पड़ता है बल्कि यों कहना चाहिए कि आचरण विचारों का ही क्रियात्मक रूप है। जिस दिशा में विचार चलते हैं शरीर और उसकी क्रियाएँ भी उसी दिशा में गतिशील हो जाती हैं। यही कारण है सभी मनुष्यों को विचारबुद्धि और विवेकतत्व मिला है फिर भी किसी का विज्ञान की ओर झुकाव होता है तो कोई व्यापार में उन्मुख होता है। कहने का अर्थ यह है कि विचार शक्ति ही मनुष्य के व्यक्तित्व को ऊँचा उठाती है और नीचा गिराती है।

यदि ऊँचे उठने, आगे बढ़ने और सफलता प्राप्त करने का लक्ष्य है तो अपने विचारों को भी तदनुरूप विकसित करना चाहिए। जीवन में सफलता, समाज में प्रतिष्ठा और आत्मा में सन्तोष प्राप्त करना है तो सबसे पहले विचारों, भावनाओं और चिन्तन को आशावादी और उदार और परिष्कृत बनाना चाहिए। यदि निराशा, संकीर्णता और क्षुद्रता की विचार विकृतियों को ही प्रश्रय दिया जाता रहा तो महान बनने की इच्छा स्वप्न मात्र बन कर रह जायेगी, न स्वयं को सन्तोष मिलेगा और न समाज में प्रतिष्ठा।

विचार शक्ति के इस महत्त्व को बहुत से लोग नही जानते और अकारण खिन्न, दुःखी या पिछड़े हुए ही बने रहते हैं। कई लोग विचार शक्ति के महत्त्व को जानते भी हैं, किन्तु उसे कैसे साधा जाय यह न जानने के कारण विचार साधना के लाभों से वंचित ही रह जाते हैं। एक कलाकार अपनी तूलिका से एक सुन्दर चित्र बनाता है। उसी तूलिका से कोई सामान्य व्यक्ति साधारण चित्र भी नही बना पाता। कारण कि तूलिका को किस प्रकार चलाना चाहिए और कहाँ कैसे घुमाना चाहिए इसका उन्हें कोई अभ्यास नही रहता। विचारो को साधने का अभ्यास तूलिका चलाने के अभ्यास से भी अधिक श्रमसाध्य हैं, किन्तु विचारों को यदि साध लिया जाय तो उसके जो सत्परिणाम सामने आयेंगे वे किए गए श्रम की तुलना में बहुत अधिक होंगे।

अस्त-व्यस्त विचारों के कारण बहुधा लोगों को दुःखी होते देखा जा सकता है। जैसे बहुत से व्यक्ति एक ही दिशा में सोच-विचार करते रहते हैं या काल्पनिक संकटों का ही चिन्तन किया करते हैं। बहुधा ऐसे विषयों को लेकर चिन्ताएँ भी उठती रहती हैं जिनकी यथार्थ में कोई सम्भावना ही नहीं है। फिर भी लोग उन विषयों को लेकर इस प्रकार चिन्तित बने रहते हैं कि वह चिन्ता ही अपने आप में समस्या बन जाती है। बहुत बार हम देखते हैं कि इस प्रकार के विचार अकारण ही हमें दुःखी कर रहे हैं और लगता भी है कि इन्हें रोकना चाहिए परन्तु लाख प्रयत्न करने पर न उस तरह के विचारों से छुटकारा मिलता है और न तज्जन्य दुःखों और पीड़ाओं से ही मुक्ति मिल पाती है।

विचारों पर नियन्त्रण न कर पाने से ही इन अनचाही अनपेक्षित दिशाओं में हमारे विचार भटकते रहते हैं। स्पष्ट है कि विचारों के इन भटकावों का दुष्परिणाम अपनी कार्यक्षमता घटने तथा पल-पल में दुःखी और खिन्न होने के रूप में सामने आता है। खीझ, उत्तेजना, ईर्ष्या, द्वेष आदि विकार शक्ति के अनियन्त्रित बहाव से ही उत्पन्न होते हैं और अपना मानसिक सन्तुलन डगमगाने लगता है।

किसी कार्य में निश्चिन्तता और पूर्णता पूर्वक तभी लगा जा सकता है जबकि हमारा मानसिक सन्तुलन स्थिर और ठीक हो। अस्थिर चित्त से कोई काम भली-भाँति सम्पन्न नहीं किया जा सकता और खीझ, उत्तेजना, जलन, आवेश आदि विकार मानसिक सन्तुलन को बिगाड़ कर कार्य तथा जीवन में अव्यवस्था उत्पन्न करते हैं। खीझ तब उत्पन्न होती है जब कोई बाहरी दबाव या विवशता पैदा हो गई हो। यदि हम मानसिक दृष्टि से सशक्त और सन्तुलित हों तो बाहरी दबाव तथा विवशता से निबटने का भी उपाय किया जा सकता है। लेकिन खीझ दुर्बलता के कारण ही उत्पन्न होती है। कमजोर और बीमार व्यक्तियों मे इसीलिए चिड़-चिड़ापन आ जाता है कि वे परिस्थितियों का मुकाबला करना तो दूर रहा उन्हे सहन भी नहीं कर पाते। यह दुर्बलता परिस्थितियों से सामंजस्य स्थापित न कर पाने और न ही सही दिशा में सोच पाने के

ही विषय के दो पहलू और एक ही दिशा का अगला चरण है । परन्तु विचार चेतना एक स्वतन्त्र चेतना भी है और उसके अनुसार यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक विचार किसी आकांक्षा की पूर्ति के लिए ही उठे ।

आकांक्षाएँ वस्तुतः व्यक्तित्व का एक अंग है । विचार उसकी पूर्ति या परिष्कार का माध्यम है । आकांक्षाएँ उठती हैं तो उन्हें आगे बढ़ने का उपक्रम भी विचार शक्ति के द्वारा ही बनता है । विचारशक्ति आकांक्षाओं को पूरा करने के साथ व्यक्तित्व का गठन तथा उनकी दिशा का निर्धारण भी करती है । इसीलिए कहा गया है कि मनुष्य की शक्ति उसके विचारों में ही रहती है । जिसके जैसे विचार होंगे उसकी वैसी ही गति और स्थिति होगी । इसी कारण यह एक स्वयंसिद्ध मान्यता है कि विचार यदि अच्छे और सही होंगे तो प्रगति तथा सफलता सुनिश्चित है । सही विचारशीलता अपनाकर अपने लक्ष्य तक सरलता पूर्वक पहुँचा जा सकता है और इसके विपरीत विचारों की अशुद्धि मनुष्य को योग्यता, साधन सम्पन्नता और प्रतिभा होते हुए भी असफल बना देती है ।

विचार शक्ति का महत्त्व यदि देखना हो तो संसार की उन्नति, सुविधा साधनों की अभिवृद्धि, सभ्यता, संस्कृति, साहित्य तथा कला-कौशल के विपुल विकास के रूप में देखा जा सकता है । जिन महामानवों ने भी समाज की इन उपलब्धियों का भण्डार बढ़ाया है वे विचार शक्ति पर अखण्ड विश्वास लेकर आगे बढ़े । उन्होंने विश्वास किया मनुष्य अपनी विचार शक्ति के कारण संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है और इस शक्ति के आधार पर वह सब कुछ कर सकने में समर्थ है । मनुष्य की सफलता-असफलता उसके विश्वासों और विचारों पर ही निर्भर करती है । एक ही विचार का बार-बार अभ्यास करने पर वही विचार विश्वास के रूप में परिणत हो जाता है । इसलिए सफलता एवं श्रेय के महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति अपने पास प्रतिकूल विचारों को एकक्षण भी नहीं ठहरने देते । बड़ी से बड़ी आपत्ति आ जाने और संकट का सामना होने पर भी न तो वे कभी यह सोचते हैं कि उनका भाग्य खोटा है और न आसन्न संकट में भयभीत ही होते हैं । वे अपनी शक्ति का सही मूल्यांकन करते हुए आपत्तियों से लोहा लेने के लिए समीचीन व्यवस्था बनाकर साहसपूर्वक डट जाते हैं ।

अस्तु जीवन सफलता के साधकों को अपने विचारों में परिपक्वता, शक्ति और तीव्रता लाना चाहिए । यह अद्‌भुत विचार शक्ति संसार में सभी मनुष्यों को मिली है और वह अपने अनुरूप विभिन्न दिशाओं तथा क्षेत्रों में गतिशील भी होती है लेकिन दुर्बल विचार रखने वाले, भाग्य और दैव के सहारे बैठे रहने वाले व्यक्ति उस शक्ति का लाभ नहीं उठा पाते और सफलता के सौभाग्य से वंचित ही रह जाते हैं । सौभाग्य और दुर्भाग्य का अस्तित्व अगर कहीं है भी तो वह विचारों में ही है ।

विचारों की विकृति ही दुर्भाग्य एवं विचारों की सुकृति ही सौभाग्य है । विचारों के बाहर दुर्भाग्य अथवा सौभाग्य का कोई स्थान नहीं है । मनुष्य का भाग्य लिखने वाली विचारों के अतिरिक्त अन्य कोई शक्ति भी नहीं है । मनुष्य अपने विचारों के माध्यम से स्वयं अपना भाग्य लिखा करता है । जिस प्रकार के विचार होंगे, भाग्य की भाषा भी उसी प्रकार की होगी । भाग्य यदि कोई निश्चित निधान होता और उसका रचने वाला भी कोई दूसरा होता, तो कंगाली एवं गरीबी की दुर्भाग्य पूर्ण स्थिति में जन्म लेने वाला कोई भी मनुष्य आज तक उन्नति एवं विकास के पथ पर चलकर सौभाग्यवान न बना होता । उसे तो निश्चित भाग्य दोष से यथास्थिति में ही मर-खपकर चला जाना चाहिए था, किन्तु सत्य इसके विपरीत देखने में आता है । बहुतायत ऐसे ही लोगों की है जो गरीबी से बढ़कर ऊँची स्थिति में पहुँचे हैं, कठिनाइयों को पार करके ही श्रेयवान बने हैं । महापुरुषों के उदाहरण से इस बात में कोई शंका नहीं रह जाती कि भाग्य न तो कोई निश्चित विधान है और न उसका रचयिता ही कोई दूसरा है । विचारों की परिणति का ही दूसरा नाम भाग्य है जिसका कि विधायक मनुष्य स्वयं ही है । सद्‌विचारों का सृजन किया जाय उन्नत विचारों को ही मस्तिष्क में स्थान दिया जाय तो सौभाग्यशाली बनकर श्रेय प्राप्त किया जा सकता है ।

मनुष्य को अपने भाग्य का निर्माता होते हुए भी केवल वैचारिक त्रुटियों के कारण दुर्भाग्य का शिकार बनना पड़ता है, क्योंकि वैचारिक विकृति अपने को

क्षुद्र, तुच्छ एवं हेय मानने से ही आरम्भ होती है । उसके व्यक्तित्व पर उसके विचार हावी हो जाते हैं और जन-जन को यह सूचना देते रहते हैं कि यह व्यक्ति निराशावादी तथा गिरे हुए विचारों का है । इसलिए हम अपने को जिस प्रकार बनाना चाहते हैं उसी प्रकार के विचारों का सृजन करना चाहिए । विचारों का प्रभाव निश्चित रूप से आचरण पर पड़ता है बल्कि यों कहना चाहिए कि आचरण विचारों का ही क्रियात्मक रूप है । जिस दिशा में विचार चलते हैं शरीर और उसकी क्रियाएँ भी उसी दिशा में गतिशील हो जाती हैं । यही कारण है सभी मनुष्यों को विचारबुद्धि और विवेकतत्व मिला है फिर भी किसी का विज्ञान की ओर झुकाव होता है तो कोई व्यापार में उन्मुख होता है । कहने का अर्थ यह है कि विचार शक्ति ही मनुष्य के व्यक्तित्व को ऊँचा उठाती है और नीचा गिराती है ।

यदि ऊँचे उठने, आगे बढ़ने और सफलता प्राप्त करने का लक्ष्य है तो अपने विचारों को भी तदनुरूप विकसित करना चाहिए । जीवन मे सफलता, समाज में प्रतिष्ठा और आत्मा में सन्तोष प्राप्त करना है तो सबसे पहले विचारों, भावनाओं और चिन्तन को आशावादी और उदार और परिष्कृत बनाना चाहिए । यदि निराशा, संकीर्णता और क्षुद्रता की विचार विकृतियों को ही प्रश्रय दिया जाता रहा तो महान बनने की इच्छा स्वप्न मात्र बन कर रह जायेगी, न स्वयं को सन्तोष मिलेगा और न समाज में प्रतिष्ठा ।

विचार शक्ति के इस महत्त्व को बहुत से लोग नहीं जानते और अकारण खिन्न, दुःखी या पिछड़े हुए ही बने रहते है । कई लोग विचार शक्ति के महत्त्व को जानते भी हैं, किन्तु उसे कैसे साधा जाय यह न जानने के कारण विचार साधना के लाभों से वंचित ही रह जाते हैं । एक कलाकार अपनी तूलिका से एक सुन्दर चित्र बनाता है । उसी तूलिका से कोई सामान्य व्यक्ति साधारण चित्र भी नही बना पाता । कारण कि तूलिका को किस प्रकार चलाना चाहिए और कहाँ कैसे घुमाना चाहिए इसका उन्हें कोई अभ्यास नहीं रहता । विचारों को साधने का अभ्यास तूलिका चलाने के अभ्यास से भी अधिक श्रमसाध्य हैं, किन्तु विचारों को यदि साध लिया जाय तो उसके जो सत्परिणाम सामने आयेंगे वे किए गए श्रम की तुलना में बहुत अधिक होंगे ।

अस्त-व्यस्त विचारों के कारण बहुधा लोगों को दुःखी होते देखा जा सकता है । जैसे बहुत से व्यक्ति एक ही दिशा में सोच-विचार करते रहते हैं या काल्पनिक संकटों का ही चिन्तन किया करते हैं । बहुधा ऐसे विषयों को लेकर चिन्ताएँ भी उठती रहती हैं जिनकी यथार्थ में कोई सम्भावना ही नहीं है । फिर भी लोग उन विषयों को लेकर इस प्रकार चिन्तित बने रहते हैं कि वह चिन्ता ही अपने आप मे समस्या बन जाती है । बहुत बार हम देखते हैं कि इस प्रकार के विचार अकारण ही हमें दुःखी कर रहे हैं और लगता भी है कि इन्हें रोकना चाहिए परन्तु लाख प्रयत्न करने पर न उस तरह के विचारों से छुटकारा मिलता है और न तज्जन्य दुःखों और पीड़ाओं से ही मुक्ति मिल पाती हैं ।

विचारों पर नियन्त्रण न कर पाने से ही इन अनचाही अनपेक्षित दिशाओं में हमारे विचार भटकते रहते हैं । स्पष्ट है कि विचारों के इन भटकावों का दुष्परिणाम अपनी कार्यक्षमता घटने तथा पल-पल में दुःखी और खिन्न होने के रूप में सामने आता है । खीझ, उत्तेजना, ईर्ष्या, द्वेष आदि विकार शक्ति के अनियन्त्रित बहाव से ही उत्पन्न होते हैं और अपना मानसिक सन्तुलन डगमगाने लगता है ।

किसी कार्य में निश्चिन्तता और पूर्णता पूर्वक तभी लगा जा सकता है जबकि हमारा मानसिक सन्तुलन स्थिर और ठीक हो । अस्थिर चित्त से कोई काम भली-भाँति सम्पन्न नहीं किया जा सकता और खीझ, उत्तेजना, जलन, आवेश आदि विकार मानसिक सन्तुलन को बिगाड़ कर कार्य तथा जीवन मे अव्यवस्था उत्पन्न करते है । खीझ तब उत्पन्न होती है जब कोई बाहरी दबाव या विवशता पैदा हो गई हो । यदि हम मानसिक दृष्टि से सशक्त और सन्तुलित हैं तो बाहरी दबाव तथा विवशता से निबटने का भी उपाय किया जा सकता है । लेकिन खीझ दुर्बलता के कारण ही उत्पन्न होती है । कमजोर और बीमार व्यक्तियों मे इसीलिए चिड़-चिड़ापन आ जाता है कि वे परिस्थितियों का मुकाबला करना तो दूर रहा उन्हें सहन भी नहीं कर पाते । यह दुर्बलता परिस्थितियों से सामंजस्य स्थापित न कर पाने और न ही सही दिशा में सोच पाने के

कारण आती है । फिर खीझ के साथ जो काम किए जाते हैं वे काम समझ कर नहीं बला टालने के लिए ही होते हैं । स्वाभाविक है उनमें अपूर्णता और कमियाँ भरी पड़ी होंगी तथा किए गए कार्यों के सत्परिणाम, आत्म-सन्तोष, प्रगति, योग्यता वृद्धि आदि उद्देश्य भी अधूरे ही रह जायेंगे ।

विचारशीलता की नीति अपना कर खीझ व उत्तेजना जैसे हानिकारक विकारों से बचा जा सकता है। खीझ की तरह उत्तेजना भी मानसिक दुर्बलता विचार विकृति के परिणामस्वरूप ही उत्पन्न होती है । उत्तेजित व्यक्ति अपनी शक्तियों को एक दिशा में सही ढंग से लगा नहीं पाता और उन्हें अव्यवस्थित ढंग से खर्च करने लगता है । अग्नि को हवा का संस्पर्श मिलते ही वह बेकाबू होकर फैलने लगती है । मनुष्य की शक्तियाँ भी उत्तेजना की आँधी से बेकाबू होकर विध्वंस ही उत्पन्न करती हैं । इसी तरह के अन्यान्य दोष केवल मस्तिष्क पर नियन्त्रण न होने के कारण ही उत्पन्न होते हैं । छोटा-सा कारण हुआ तो उसी में खीझ उठे या बहकने लगे । इस कमजोरी को मस्तिष्कीय शक्तियो पर नियन्त्रण क्षमता का अभाव ही कहा जायेगा ।

अपने मानसिक आवेगों को नियन्त्रित और सन्तुलित रखने का एक ही उपाय है—विवेकपूर्ण गम्भीरता, विवेक का अर्थ है परिस्थितियों को समझने और उनकी वास्तविकता देखकर निर्णय लेने की सूझ-बूझ । यह सूझ-बूझ किसी भी बात पर तुरन्त निर्णय लेते हुए विकसित नहीं की जा सकती । तुरन्त निर्णय लेने की उतावली तो अधीरता जनित गल्तियाँ ही करवाएगी । इसलिए मानसिक सन्तुलन स्थिर करने के लिए प्रत्येक स्थिति मे गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए । अपनी योग्यता, अनुभव और ज्ञान द्वारा क्या उचित है तथा क्या अनुचित ? इसका नीर-क्षीर अन्तर करना चाहिए ।

इस नीति को अपनाते हुए यदि अपने मन-क्षेत्र में उठने वाले विचारों का भी निरीक्षण किया जाता रहे तो अनिष्टकर विचारों तथा चिन्तनधारा की भ्रान्तियों से बचा जा सकता है । विवेक के द्वारा ही व्यक्ति विचारों के सागर में से अपने लिए उपयोगी विचारकण चुन सकता है । अन्यथा मस्तिष्क में तो कई तरह के विचार आते रहते है उनमें निरर्थक भी होते है और असंगत भी, और ये निरर्थक, असंगत विचार ही मनुष्य की अधिकांश शक्ति बर्बाद करते तथा मानसिक सन्तुलन बिगाड़ते हैं । उदाहरण के लिए मस्तिष्क में यह विचार आया कि अमुक व्यक्ति कहीं मेरा अनिष्ट तो नहीं सोचता । यदि बिना कुछ सोचे समझे, तथ्य का अवलोकन किए बिना ही उस विचार को प्रश्रय दे दिया गया तो अपना समय और शक्ति का ह्रास तो होता ही है, उस विचार के कारण मानसिक सन्तुलन भी बिगड़ जाता है और उसकी परिणति अमुक व्यक्ति को वास्तव में अपना बैरी बना लेने के रूप में होती है ।

मानसिक असन्तुलन का एक कारण अपने को दीनहीन समझना भी है । व्यक्ति रह-रह कर अपनी कमजोरियों के बारे में सोचता है और अवास्तविक स्थितियों की कल्पना करता रहता है । परिणामस्वरूप उसी तरह के विचार मस्तिष्क में घर करने लगते हैं । मनोवैज्ञानिकों का भी मत है कि मनुष्य के विचारो में एक आकर्षण शक्ति होती है जिसके द्वारा वह वायुमण्डल में फैले सजातीय विचारों का प्रभाव भी खींच लेते हैं । अपने प्रति दीनता, हीनता, निरूपायता, निष्क्रियता आदि का विचार बनते ही वायुमण्डल में बिखरे हुए हेयता के सारे तत्व आकर्षित होकर इकट्ठे हो जायेंगे । जिनके दबाव से मानसिक सन्तुलन बनाये रखने वाली नियन्त्रण चेतना चरमरा कर टूट जाती है ।

नियन्त्रण के अभाव में चलने वाला निरन्तर व्यर्थ चिन्तन उपासना की तरह प्रभाव डालता है । निरन्तर चिन्तन एक प्रकार की उपासना ही है । जिस देवता की चिन्तन द्वारा निरन्तर उपासना की जाती है वह प्रसन्न होकर अपने अनुरूप वरदान प्रदान करता है । यदि क्षुद्र विचारों का ही निरन्तर चिन्तन किया जाता तो निश्चित रूप से क्षुद्रता चाहे-अनचाहे जीवन मे स्थान बना लेगी । इसके विपरीत जब मनुष्य अपने प्रति शुभ विचार रखता है और निरन्तर उसी दिशा में सोचता रहता है तो एक दिन वह साधना उसके जीवन में अवश्य ही अपना प्रभाव उत्पन्न करती है ।

केवल उपयोगी और सृजनात्मक चिन्तन मानसिक सन्तुलन बनाये रहने का अत्युत्तम साधन है । अभ्युदय, समुन्नति एव आत्म-कल्याण चाहने वालो को चाहिए कि वे अपने प्रति न कोई हीन भावना रखे और न परिस्थितियों से विकल हो । यह विचार मन मे ही नहीं आने देना चाहिए कि मैं कमजोर हूँ, साधन हीन

हूँ, क्या कर सकता हूँ अथवा आसन्न परिस्थितियों का किस प्रकार सामना कर सकता हूँ ।" इसके विपरीत आशाजनक, प्रफुल्लतादायी और अपने आपके प्रति विश्वासपूर्ण निष्ठा रखने से प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थितियों में भी आगे बढ़ सकता है । मनुष्य में आखिर कमी किस बात की है । उसमें परमात्मा के सारे तत्व उसी प्रकार विद्यमान हैं जिस प्रकार एक अंजलि जल में समुद्र के अनन्त और अथाह जल के सम्पूर्ण तत्व । वह संसार के हर काम को करने की क्षमता रखता है ।

हम उपयोगी और आशावादी विचारों को विकसित व स्थापित क्यों नहीं कर पाते । कारण एक ही है अभ्यास का अभाव और विचार साधना की बारीकियों का अज्ञान । कौतुक प्रियता—प्रायः अधिकांश की कमजोरी होती है और मस्तिष्क भी उस दिशा में रह-रह कर दौड़ने लगता है । प्रायः यह भी होता है कि जो विचार हमें सबसे ज्यादा प्रिय लगते हैं वे भी रह-रह कर दिमाग में दौड़ते हैं । मस्तिष्क में अच्छे और प्रिय लगने वाले विचार स्थान पायें यह तो ठीक है लेकिन उनकी उपयोगिता और फलश्रुति को भी ध्यान में रखना चाहिए । उदाहरण के लिए किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए उठने वाले विचारों को ही लें । बुद्धि उस वस्तु को पाने के उपाय खोजती है और मन उसकी प्राप्ति के आनन्द की कल्पना करता रहता है । वह वस्तु या स्थिति कल्याणकर और लाभदायक है अथवा नहीं यह निश्चित करना विवेक का कार्य है । अन्यथा हर उस वस्तु की प्राप्ति के लिए आकांक्षा जगेगी, कल्पना बढ़ेगी और योजना बनने लगेगी जो जरा भी आकर्षक या लुभावनी है । संसार की सभी वस्तुएँ किसी के लिए भी प्राप्त करना सम्भव नहीं है और न हर किसी के लिए हर कुछ आवश्यक ही है । अतः आवश्यकता और उपयोगिता के आधार पर ही अपना ध्येय बनाकर किसी वस्तु के लिए विचार करना या योजना बनानी चाहिए ।

भले ही कोई स्थिति प्राप्त करना अपने लिए सम्भव नहीं, किन्तु विचारों पर विवेक का नियन्त्रण न रहने से व्यक्ति स्वप्नजीवी बन जाता है और एक स्थान पर बैठा-बैठा मानसिक महल बनाता, बिगाड़ता रहता है । उसे अपनी कल्पना की दुनिया में इस सीमा तक रस आने लगता है कि उसे सहज दुनिया का भी कुछ ध्यान नहीं रहता । निरन्तर इसी स्थिति के बने रहने से मनुष्य की कल्पना और उसके स्वप्निल विचारों से उसकी भावुकता भी जुड़ जाती है जिससे वह अपने मनोवांछित काल्पनिक लोकों को पाने के लिए लालायित हो उठता है और जब कभी वह यथार्थ के कठोर एवं विषम धरातल पर चरण रखता है तो एक गहरा धक्का लगता है जिससे घबड़ाकर वह फिर अपने काल्पनिक स्वर्ग में भाग जाता है । इस प्रकार की निरर्थक भाग-दौड़ से केवल मनुष्य की शक्तियों का क्षय ही होता है ।

कल्पना लोक में रहने के अतिरिक्त अनागत प्रतिकूलताएँ और विपत्तियों से भयभीत रहना भी विकृत विचार-स्थिति का ही परिणाम है । एक बार मन में कोई अप्रिय विचार उठा तो वह इस तरह मस्तिष्क पर हावी होने लगता है कि फिर अन्य विचार सूझते ही नहीं । अनागत प्रतिकूलताएँ और परिस्थितियाँ, अनपेक्षित चिन्ताएँ, काल्पनिक भय आदि बहुत तरह के विचार हैं जिनसे व्यक्ति दूर रहना चाहता है, किन्तु रह-रह कर ये विचार घुमड़ते हैं । निश्चित ही यह कच्ची मनोभूमि और असधे विचारों के कारण ही होता है । ढालू और चिकनी सड़क पर, या पहाड़ों की ढलान पर चलते समय लोग एक बार फिसलते हैं तो फिसलते ही चले जाते हैं । जबकि सधे हुए व्यक्ति गिरते ही तुरन्त सँभल जाते हैं, एक पैर फिसलने पर दूसरे को सँभाल कर इस तरह रख लेते हैं कि फिसलना रुक जाय और उठकर फिर चलने लगा जा सके । जो लोग अपने विचार तन्त्र को विवेक और अभ्यास के द्वारा साध लेते हैं वे विचारों की फिसलन पर उसी सूझ-बूझ और अभ्यास का सहारा लेते हैं तथा एक बार मस्तिष्क में आये अवांछनीय विचार को तुरन्त निकाल बाहर कर उसके स्थान पर उपयोगी तथा सृजनात्मक चिन्तन आरम्भ कर देते हैं ।

विचार साधना में सफलता प्राप्त करने के लिए चतुर्विध साधनक्रम बहुत सहायक होता है । यदि उसका अभ्यास किया जाने लगे तो विचारशक्ति की सिद्धि की जा सकती है और इसी जीवन में महामानवों की सी स्थिति प्राप्त की जा सकती है । इस अभ्यास क्रम में प्रतिदिन यह निरीक्षण किया जाना चाहिए कि हमें अधिकांशतः किस तरह के विचार आते हैं । इसे

आत्म-समीक्षा भी कहा जा सकता है । प्रतिदिन मस्तिष्क में ज्यादा देर तक बने रहने वाले विचारों को नोट किया जाय तथा उनमें उचित-अनुचित का विवेक करते रहा जाय । जो अवांछनीय है, अनावश्यक है और हानिकारक है उन्हें निरस्त करने की योजना बनायी जाय । अनुपयोगी और हानिकारक विचारों के स्थान पर उपयोगी तथा उत्कर्ष में सहायक विचारों को विकसित करने की योजना बनायें । आत्म-चिन्तन, आत्म-निरीक्षण, आत्म-सुधार और आत्म-निर्माण के चार चरणों को पूरा करते हुए विचार शक्ति को साधने, सिद्ध करने में यदि सफलता प्राप्त कर ली जाय तो इसी जीवन में सफलता और स्वर्ग मोक्ष की सी स्थिति प्राप्त की जा सकती है ।

## आकांक्षाओं का परिष्कार कीजिए

आकांक्षाएँ मनुष्य को अन्य प्राणियों से विलग करने वाली चेतना का लक्षण है । अन्य प्राणियों की गतिविधियाँ भोजन, नींद और वंश परम्परा कायम रखने तक ही सीमित रहती है । मनुष्य भी प्रकृति की प्रेरणा से इन आवश्यकताओं को पूरा करता है लेकिन उसके विकास की जो सम्भावनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, प्रगति के जो चिन्ह दिखायी पड़ते हैं वे आकांक्षाओं तथा उनकी पूर्ति के लिए किए गए प्रयासों के ही परिणाम हैं । किसी भी कार्य का आरम्भ सर्वप्रथम आकांक्षा के रूप में ही होता है । आकांक्षा उठते ही उसकी पूर्ति के लिए मस्तिष्क विचार करने और योजना बनाने लगता है । उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति धनवान और साधन सम्पन्न बनने की आकांक्षा रखता है तो उसके विचार, उसकी बुद्धि और उसका मस्तिष्क आकांक्षा के साथ ही सक्रिय हो उठेंगे । यदि उपलब्ध साधन ही पर्याप्त जँचते हैं और अधिक धनसंग्रह की इच्छा नहीं उठती तो बुद्धि और विचार उधर जायेंगे भी नहीं ।

मनुष्य का स्तर और उसकी जीवन पद्धति बहुत कुछ आकांक्षाओं पर निर्भर करती है । धनवान बनने की प्रबल इच्छा हुई और साथ ही इतनी आतुरता भी कि अभी ही धनसम्पन्न हुआ जाय तो व्यक्ति अनीति की ओर भी आकृष्ट हो सकता है तथा अनैतिक साधनों से अपनी इच्छा पूरी करने लगता है । व्यक्तित्व का स्तर उठाने के लिए अपनी आकांक्षाओं का परिष्कार, इच्छाओं का परिमार्जन और पूर्ति के लिए आतुरता को कम करना चाहिए । आकांक्षाओं की प्रबलता और आतुरता ही वह कारण है, जिससे कि हम अपने को हर घड़ी व्यग्र, परेशान तथा कष्ट पीड़ित, अभावग्रस्त अनुभव करते रहते हैं ।

आकांक्षाओं के असन्तुलन और विस्तार से ही एक व्यक्ति उन्हीं साधनों, परिस्थितियों में स्वयं को सुखी, सन्तुष्ट अनुभव कर लेता है तो दूसरा व्यक्ति उनको लेकर ही अभाव का रोना रोता रहता है । इसका अर्थ यह नहीं है कि आकांक्षाएँ रखना ही नहीं चाहिए । वस्तुतः आकांक्षाएँ ही प्रगति की प्रेरणा देती हैं और व्यक्तित्व को सक्रिय रखती हैं । महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति ही जीवन में महत्त्वपूर्ण सफलताएँ प्राप्त करते है । लेकिन उस तरह की आकांक्षाएँ परिष्कृत और परिमार्जित ही हो सकती है । अन्यथा आकांक्षाओं का अनियन्त्रित विस्तार व्यक्ति को खिन्न, क्षुब्ध और कुण्ठित बनाने लगता है। इसीलिए महापुरुषों ने उपलब्ध परिस्थितियों मे सन्तुष्ट रहते हुए आगे बढ़ने की प्रेरणा दी है । सन्तोष का अर्थ यह नहीं होता कि जिस स्थिति में है उसी में रहने के लिए अपने को तैयार करें और प्रगति के प्रयास ही छोड़ दें वरन् सन्तोष का वास्तविक अर्थ वर्तमान परिस्थितियो का रोना न रोते हुए आगे बढ़ने के लिए प्रयत्न करना है ।

यदि वर्तमान परिस्थितियों से असन्तुष्ट और खिन्न रहा जायेगा तो प्रगति दिशा में कदम उठा ही न सकेंगे, क्योंकि असन्तोष, व्याकुलता और अस्त-व्यस्तता उत्पन्न करता है । असन्तुष्ट रहने वाला व्यक्ति वर्तमान परिस्थितियो का निवारण खोजने में नहीं लगता वरन् उसके विचार उन्हीं दिशाओं मे बहकते रहते हैं जो परिस्थितियो का और भी भयावह स्वरूप प्रस्तुत करती है । जैसे एक व्यक्ति अभावग्रस्त है । खाने-पीने की सामान्य सुविधाएँ भी वह बड़ी कठिनाई से जुटा पाता है । स्पष्ट है कि वह स्थिति सुखद और सन्तोषप्रद नही ही होगी । वह इन परिस्थितियों में चिन्ताग्रस्त, खिन्न, उदास और निरुत्साही ही बना रहेगा तथा इन मनोविकारो के परिणामस्वरूप अपनी स्थिति मे कोई सुधार करने की अपेक्षा उनसे ही भयभीत रहा करेगा ।

दुःख और पीड़ा की अनुभूति व्यक्ति को असन्दिग्ध रूप से पंगु बना देती है । दु.ख और पीड़ा की सम्वेदना से तो क्रियाशील होने की ही प्रेरणा मिलती

है लेकिन उस सम्वेदना अनुभूति का यदि निषेध पक्ष ही देखा जाता रहे, एकांगी रूप से असन्तुष्ट ही रहा जाय तो कुछ करने की सूझ-बूझ या प्रेरणा ही नहीं उठती । प्रगतिशीलता का तकाजा है कि वर्तमान कष्ट कठिनाइयो का निवारण करने के लिए सृजनात्मक ढंग से विचार किया जाय और परिस्थितियों के कारण जानने, उन्हें दूर करने के लिए शान्त व सन्तुलित ढंग से विचार किया जाय । यह स्थिति वर्तमान परिस्थितियो का बोझ मस्तिष्क पर से हटाए बिना प्राप्त नहीं की जा सकती । महत्त्वाकांक्षाएँ घुटती रहती हैं और चिन्ता, असन्तोष व उद्विग्नता की जंजीरें-बेड़ियाँ आगे नहीं बढ़ने देती ।

असन्तोष का एक कारण यह भी है कि हम अपनी तुलना अपने से अधिक अच्छी स्थिति वालों से करने लगते हैं । उपलब्धियों को लेकर किया गया यह असन्तोष निश्चित रूप से मानसिक शान्ति को नष्ट ही करता है । यदि यह विचार किया जाय कि जिन्होने उन्नति की है उन्होने हमसे अधिक प्रयत्न किए तथा अधिक पुरुषार्थ किया । प्रायः उस दिशा में विचार ही नहीं जाते, मन में कोई बात उठती भी है तो यह कि सामने वाला हमसे कितनी अच्छी स्थिति में है और हम अभागे, अभाव के मारे इसी दीन दयनीय दुर्दशा में ही पड़े रहते हैं । इस तरह सन्तोष व्यक्ति में ईर्ष्या, द्वेष की विकृतियों को भी बढ़ाता है और उसकी सुख-शान्ति को नष्ट करता रहता है । इस आधार पर हर व्यक्ति अपने को दूसरों की तुलना में गिरा हुआ तथा अधिक दुर्दशाग्रस्त पाता है । आकांक्षा तो होती है कि हम अपने से अच्छी स्थिति वालों की तरह सुखी और समुन्नत बनें, किन्तु उस स्तर के प्रयास और पुरुषार्थ नही हो पाते । फलतः व्यक्ति उसी स्थिति में पड़ा रहता है । आकांक्षा का केन्द्र उपलब्धियाँ नहीं उस स्तर के प्रयास रहे तो अशातीत प्रगति की जा सकती है । इसी तथ्य को भगवान श्रीकृष्ण ने—"कर्मण्येवाधिकारस्ते" के उपदेश द्वारा समझाया है । महत्त्वाकांक्षा या वर्तमान स्थिति मे असन्तोष कर्म को केन्द्र बनाकर रखा जाय न कि उससे मिलने वाली उपलब्धियो को लेकर ।

जीवन का समग्र विकास आकांक्षाओ के स्वरूप और स्तर पर ही निर्भर है । असन्तोष और विक्षोभ जैसे मनोविकारों पर यदि विजय पायी जा सके तो प्रसन्नता, सन्तोष और अन्य सतोगुणी सम्पदाएँ अर्जित की जा सकती हैं और जीवन साधना के पथ पर सफलतापूर्वक आगे बढ़ते रहा जा सकता है । असन्तोष के विभिन्न कारण हैं । उपलब्ध परिस्थितियों को अपर्याप्त या कष्टप्रद समझना अथवा दूसरों से अपनी तुलना कर अपने दुर्भाग्य का रोना रोते रहना तो है ही । यथार्थ से आँखे मूँद कर कल्पना लोक में विचरण करने तथा जीवन का अस्वाभाविक मार्ग अपनाने, तृष्णा ग्रस्त रहने जैसे ढेरों कारण हैं जिनसे अशान्ति और असन्तोष उत्पन्न होते रहते है ।

आन्तरिक और बाह्य जीवन में एक रसता—क्षमता न होने के कारण भी ऊल-जलूल आकांक्षाएँ तथा असन्तोष की भावनाएँ उठा करती हैं । कई व्यक्ति आन्तरिक दृष्टि से बड़े आदर्शवादी होते हैं, किन्तु संस्कारो से प्रेरित होकर कई ऐसे कार्य भी कर बैठते हैं जिससे कि आदर्शों को अपने जीवन में न उतर पाने का असन्तोष और जीव विक्षोभ होता है । ऐसी दशा में विक्षुब्ध होने के स्थान पर वह नैतिक साहस जुटाया जाना चाहिए जिससे कि विक्षोभ का शिकार न होना पड़े । इस तरह की भूलें तब भी होती हैं जबकि आदर्शवादी बनने की लालसा रखते हुए भी अपनी आकांक्षाओं को परिष्कृत या सन्तुलित नहीं रखा जाता । उदाहरण के लिए ईमानदार और लोकसेवी बनने की लगन है, किन्तु आकाक्षा इस तरह की है कि खूब शान-शौकत और ठाठ-बाट से रहना जरूरी लगे । वैसी स्थिति मे अपनी ईमानदारी व निष्ठा को प्रामाणिक सिद्ध करने और सेवा कार्यों का अपेक्षित प्रभाव न होने पर विक्षोभ तो उत्पन्न होगा ही, क्योकि लोकसेवी के व्यक्तित्व मे सादगी हो तो ही लोगों पर उसका प्रभाव पड़ता है । अतः अपनी आकांक्षाओं को अपने आदर्शों के अनुरूप ही ढालना चाहिए ।

असन्तोष का एक कारण अपनी यथार्थ स्थिति को भूलकर अपने सम्बन्ध मे मिथ्या धारणाएँ बनाना तथा जीवन का अस्वाभाविक मार्ग अपनाना भी है । ऐसी दशा में अपनी क्षमता से अधिक आकांक्षाएँ उत्पन्न होने लगती है और उसके पूरा न होने पर असन्तोष उत्पन्न होने लगता है । स्मरण रखना चाहिए कि प्रकृति के नियमानुसार क्रमिक विकास द्वारा ही उच्च

आत्म-समीक्षा भी कहा जा सकता है । प्रतिदिन मस्तिष्क में ज्यादा देर तक बने रहने वाले विचारों को नोट किया जाय तथा उनमें उचित-अनुचित का विवेक करते रहा जाय । जो अवांछनीय है, अनावश्यक है और हानिकारक है उन्हें निरस्त करने की योजना बनायी जाय । अनुपयोगी और हानिकारक विचारों के स्थान पर उपयोगी तथा उत्कर्ष में सहायक विचारों को विकसित करने की योजना बनायें । आत्म-चिन्तन, आत्म-निरीक्षण, आत्म-सुधार और आत्म-निर्माण के चार चरणों को पूरा करते हुए विचार शक्ति को साधने, सिद्ध करने में यदि सफलता प्राप्त कर ली जाय तो इसी जीवन में सफलता और स्वर्ग मोक्ष की सी स्थिति प्राप्त की जा सकती है ।

## आकांक्षाओं का परिष्कार कीजिए

आकांक्षाएँ मनुष्य को अन्य प्राणियों से विलग करने वाली चेतना का लक्षण है । अन्य प्राणियों की गतिविधियाँ भोजन, नींद और वंश परम्परा कायम रखने तक ही सीमित रहती है । मनुष्य भी प्रकृति की प्रेरणा से इन आवश्यकताओं को पूरा करता है लेकिन उसके विकास की जो सम्भावनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, प्रगति के जो चिन्ह दिखायी पड़ते हैं वे आकांक्षाओं तथा उनकी पूर्ति के लिए किए गए प्रयासों के ही परिणाम हैं । किसी भी कार्य का आरम्भ सर्वप्रथम आकांक्षा के रूप मे ही होता है । आकांक्षा उठते ही उसकी पूर्ति के लिए मस्तिष्क विचार करने और योजना बनाने लगता है । उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति धनवान और साधन सम्पन्न बनने की आकांक्षा रखता है तो उसके विचार, उसकी बुद्धि और उसका मस्तिष्क आकांक्षा के साथ ही सक्रिय हो उठेंगे । यदि उपलब्ध साधन ही पर्याप्त जँचते हैं और अधिक धनसंग्रह की इच्छा नही उठती तो बुद्धि और विचार उधर जायेंगे भी नहीं ।

मनुष्य का स्तर और उसकी जीवन पद्धति बहुत कुछ आकांक्षाओं पर निर्भर करती है । धनवान बनने की प्रबल इच्छा हुई और साथ ही इतनी आतुरता भी कि अभी ही धनसम्पन्न हुआ जाय तो व्यक्ति अनीति की ओर भी आकृष्ट हो सकता है तथा अनैतिक साधनों से अपनी इच्छा पूरी करने लगता है । व्यक्तित्व का स्तर उठाने के लिए अपनी आकांक्षाओं का परिष्कार, इच्छाओं का परिमार्जन और पूर्ति के लिए आतुरता को कम करना चाहिए । आकांक्षाओं की प्रबलता और आतुरता ही वह कारण है, जिससे कि हम अपने को हर घड़ी व्यग्र, परेशान तथा कष्ट पीड़ित, अभावग्रस्त अनुभव करते रहते हैं ।

आकांक्षाओं के असन्तुलन और विस्तार से ही एक व्यक्ति उन्हीं साधनो, परिस्थितियों में स्वयं को सुखी, सन्तुष्ट अनुभव कर लेता है तो दूसरा व्यक्ति उनको लेकर ही अभाव का रोना रोता रहता है । इसका अर्थ यह नहीं है कि आकांक्षाएँ रखना ही नहीं चाहिए । वस्तुतः आकांक्षाएँ ही प्रगति की प्रेरणा देती है और व्यक्तित्व को सक्रिय रखती हैं । महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति ही जीवन में महत्त्वपूर्ण सफलताएँ प्राप्त करते हैं । लेकिन उस तरह की आकांक्षाएँ परिष्कृत और परिमार्जित ही हो सकती हैं । अन्यथा आकांक्षाओं का अनियन्त्रित विस्तार व्यक्ति को खिन्न, क्षुब्ध और कुण्ठित बनाने लगता है। इसीलिए महापुरुषों ने उपलब्ध परिस्थितियो में सन्तुष्ट रहते हुए आगे बढ़ने की प्रेरणा दी है । सन्तोष का अर्थ यह नही होता कि जिस स्थिति में है उसी मे रहने के लिए अपने को तैयार करें और प्रगति के प्रयास ही छोड़ दें वरन् सन्तोष का वास्तविक अर्थ वर्तमान परिस्थितियों का रोना न रोते हुए आगे बढने के लिए प्रयत्न करना है ।

यदि वर्तमान परिस्थितियो से असन्तुष्ट और खिन्न रहा जायेगा तो प्रगति दिशा में कदम उठा ही न सकेंगे, क्योंकि असन्तोष, व्याकुलता और अस्त-व्यस्तता उत्पन्न करता है । असन्तुष्ट रहने वाला व्यक्ति वर्तमान परिस्थितियों का निवारण खोजने में नही लगता वरन् उसके विचार उन्ही दिशाओ में बहकते रहते है जो परिस्थितियों का और भी भयावह स्वरूप प्रस्तुत करती हैं । जैसे एक व्यक्ति अभावग्रस्त है । खाने-पीने की सामान्य सुविधाएँ भी वह बड़ी कठिनाई से जुटा पाता है । स्पष्ट है कि वह स्थिति सुखद और सन्तोषप्रद नहीं ही होगी । वह इन परिस्थितियो मे चिन्ताग्रस्त, खिन्न, उदास और निरुत्साही ही बना रहेगा तथा इन मनोविकारों के परिणामस्वरूप अपनी स्थिति मे कोई सुधार करने की अपेक्षा उनसे ही भयभीत रहा करेगा ।

दुःख और पीड़ा की अनुभूति व्यक्ति को असन्दिग्ध रूप से पंगु बना देती है । दुःख और पीड़ा की सम्वेदना से तो क्रियाशील होने की ही प्रेरणा मिलती

है लेकिन उस सम्वेदना अनुभूति का यदि निषेध पक्ष ही देखा जाता रहे, एकांगी रूप से असन्तुष्ट ही रहा जाय तो कुछ करने की सूझ-बूझ या प्रेरणा ही नहीं उठती । प्रगतिशीलता का तकाजा है कि वर्तमान कष्ट कठिनाइयों का निवारण करने के लिए सृजनात्मक ढंग से विचार किया जाय और परिस्थितियों के कारण जानने, उन्हें दूर करने के लिए शान्त व सन्तुलित ढंग से विचार किया जाय । यह स्थिति वर्तमान परिस्थितियों का बोझ मस्तिष्क पर से हटाए बिना प्राप्त नहीं की जा सकती । महत्त्वाकांक्षाएँ घुटती रहती हैं और चिन्ता, असन्तोष व उद्विग्नता की जंजीरें-बेड़ियाँ आगे नहीं बढ़ने देती ।

असन्तोष का एक कारण यह भी है कि हम अपनी तुलना अपने से अधिक अच्छी स्थिति वालों से करने लगते हैं । उपलब्धियों को लेकर किया गया यह असन्तोष निश्चित रूप से मानसिक शान्ति को नष्ट ही करता है । यदि यह विचार किया जाय कि जिन्होंने उन्नति की है उन्होंने हमसे अधिक प्रयत्न किए तथा अधिक पुरुषार्थ किया । प्रायः उस दिशा में विचार ही नहीं जाते, मन में कोई बात उठती भी है तो यह कि सामने वाला हमसे कितनी अच्छी स्थिति में है और हम अभागे, अभाव के मारे इसी दीन दयनीय दुर्दशा में ही पड़े रहते हैं । इस तरह सन्तोष व्यक्ति में ईर्ष्या, द्वेष की विकृतियों को भी बढ़ाता है और उसकी सुख-शान्ति को नष्ट करता रहता है । इस आधार पर हर व्यक्ति अपने को दूसरों की तुलना में गिरा हुआ तथा अधिक दुर्दशाग्रस्त पाता है । आकांक्षा तो होती है कि हम अपने से अच्छी स्थिति वालों की तरह सुखी और समुन्नत बनें, किन्तु उस स्तर के प्रयास और पुरुषार्थ नहीं हो पाते । फलतः व्यक्ति उसी स्थिति में पड़ा रहता है । आकांक्षा का केन्द्र उपलब्धियाँ नहीं उस स्तर के प्रयास रहें तो आशातीत प्रगति की जा सकती है । इसी तथ्य को भगवान श्रीकृष्ण ने— "कर्मण्येवाधिकारस्ते" के उपदेश द्वारा समझाया है । महत्त्वाकांक्षा या वर्तमान स्थिति में असन्तोष कर्म को केन्द्र बनाकर रखा जाय न कि उससे मिलने वाली उपलब्धियों को लेकर ।

जीवन का समग्र विकास आकांक्षाओं के स्वरूप और स्तर पर ही निर्भर है । असन्तोष और विक्षोभ जैसे मनोविकारों पर यदि विजय पायी जा सके तो प्रसन्नता, सन्तोष और अन्य सतोगुणी सम्पदाएँ अर्जित की जा सकती हैं और जीवन साधना के पथ पर सफलतापूर्वक आगे बढ़ते रहा जा सकता है । असन्तोष के विभिन्न कारण हैं । उपलब्ध परिस्थितियों को अपर्याप्त या कष्टप्रद समझना अथवा दूसरों से अपनी तुलना कर अपने दुर्भाग्य का रोना रोते रहना तो है ही । यथार्थ से आँखें मूँद कर कल्पना लोक में विचरण करने तथा जीवन का अस्वाभाविक मार्ग अपनाने, तृष्णा ग्रस्त रहने जैसे ढेरों कारण हैं जिनसे अशान्ति और असन्तोष उत्पन्न होते रहते हैं ।

आन्तरिक और बाह्य जीवन में एक रसता—क्षमता न होने के कारण भी उल-जलूल आकांक्षाएँ तथा असन्तोष की भावनाएँ उठा करती हैं । कई व्यक्ति आन्तरिक दृष्टि से बड़े आदर्शवादी होते हैं, किन्तु संस्कारों से प्रेरित होकर कई ऐसे कार्य भी कर बैठते हैं जिससे कि आदर्शों को अपने जीवन में न उतर पाने का असन्तोष और जीव विक्षोभ होता है । ऐसी दशा में विक्षुब्ध होने के स्थान पर वह नैतिक साहस जुटाया जाना चाहिए जिससे कि विक्षोभ का शिकार न होना पड़े । इस तरह की भूलें तब भी होती हैं जबकि आदर्शवादी बनने की लालसा रखते हुए भी अपनी आकांक्षाओं को परिष्कृत या सन्तुलित नहीं रखा जाता । उदाहरण के लिए ईमानदार और लोकसेवी बनने की लगन है, किन्तु आकांक्षा इस तरह की है कि खूब शान-शौकत और ठाठ-बाट से रहना जरूरी लगे । वैसी स्थिति में अपनी ईमानदारी व निष्ठा को प्रामाणिक सिद्ध करने और सेवा कार्यों का अपेक्षित प्रभाव न होने पर विक्षोभ तो उत्पन्न होगा ही, क्योंकि लोकसेवी के व्यक्तित्व में सादगी हो तो ही लोगों पर उसका प्रभाव पड़ता है । अतः अपनी आकांक्षाओं को अपने आदर्शों के अनुरूप ही ढालना चाहिए ।

असन्तोष का एक कारण अपनी यथार्थ स्थिति को भूलकर अपने सम्बन्ध में मिथ्या धारणाएँ बनाना तथा जीवन का अस्वाभाविक मार्ग अपनाना भी है । ऐसी दशा में अपनी क्षमता से अधिक आकांक्षाएँ उत्पन्न होने लगती हैं और उसके पूरा न होने पर असन्तोष उत्पन्न होने लगता है । स्मरण रखना चाहिए कि प्रकृति के नियमानुसार क्रमिक विकास द्वारा ही उच्च

स्थिति पर पहुँचा जा सकता है । बचपन से ही कोई अचानक वृद्धावस्था में नहीं पहुँच जाता । उगते हुए पेड़ में तत्काल फल नहीं लग जाता लेकिन जब किए गए कार्यों का परिणाम तत्काल प्राप्त होने की अपेक्षा की जाती है तब असन्तोष ही पैदा होता है ।

कई लोगों की बड़ी उच्च आकांक्षाएँ होती हैं । वे जीवन के महान स्वप्न देखते हैं । कल्पना क्षेत्र में उड़ते हुए क्या से क्या बन जाते हैं । कई महापुरुषो की जीवनी पढ़कर उनके बारे में सुनकर लोग वैसा ही बन जाना चाहते हैं । महत्त्वाकांक्षाएँ रखना बुरी बात नहीं है इन्हीं के सहारे मनुष्य आगे बढ़ता है, उच्च सफलताएँ अर्जित करता है । लेकिन महत्त्वाकांक्षाओं के पीछे भी मनुष्य की अपनी स्थिति, योग्यता, परिस्थितियाँ, क्षमता आदि का भी कम महत्त्व नही होता । जो व्यक्ति अपनी महत्त्वाकांक्षाओ और अपनी परिस्थितियों में तालमेल बैठाकर प्रयत्नरत रहता है, वह सफल भी हो जाता है लेकिन अपनी स्थिति को भूलकर मनुष्य जब अपरिमित महत्त्वाकांक्षाओं के पीछे अन्धा हो जाता है, तब उसे असन्तोष और अशान्ति का ही सामना करना पड़ता है ।

हम क्या हैं हमारी परिस्थिति कैसी है और हम किस धरातल पर खड़े हैं, हमारी कितनी क्षमताएँ है ? इन्हे जाने, समझे बिना महत्त्वाकांक्षाओं के पीछे नहीं दौड़ा जाना चाहिए । अपने सम्बन्ध में न कोई काल्पनिक धारणाएँ रखें और न ऐसी ही कोई आकांक्षा रखें जो कि अपनी प्रकृति के अनुकूल न हो ।

सन्तोष करने के लिए अपने पास जो साधन हैं वे पर्याप्त हैं । उनके सहारे आगे बढ़ते और उन्नति की सम्भावनाएँ पर्याप्त रूप से विद्यमान हैं । आवश्यकता केवल उनके उपयोग की और उसके लिए सन्तुलित मन की है । असन्तुलित, बिना साधा हुआ मन और उसमें उत्पन्न हुई आकांक्षाएँ मनुष्य को ऐसी परिस्थितियों मे घसीटती रहती हैं जो अशान्ति और असन्तोष की आग को और भी सुलगाती-भड़काती रहती है । इन परिस्थितियों का दोष भले ही भाग्य के मत्थे मढ़ा जाता रहे लेकिन मूलतः दोष असंस्कृत मन और विकृत आकांक्षाओं का ही है ।

निरुद्देश्य जीवन भी आकांक्षाओं की उच्छृंखलता और असन्तोष का एक बड़ा कारण है । प्रत्येक व्यक्ति जब जीवन में पदार्पण करता है तो उसके साथ उसकी जीवन यात्रा का भी एक लक्ष्य रहता है । उस लक्ष्य को भुलाकर विविध-विध प्रलोभनों और आकर्षणों में बँधकर मनुष्य असन्तुष्ट और क्षुब्ध रहने लगता है । प्रकृति ने वह लक्ष्य मनुष्य की स्वाभाविक विशेषताओं के साथ ही जोड़ दिया है, जो प्रत्येक मनुष्य में भिन्न-भिन्न है । अपनी उन विशेषताओं को समझकर, विशिष्ट क्षमताओं के अनुभव कर अपना लक्ष्य निर्धारित करना चाहिए, उस दिशा में आगे बढ़ने की आकांक्षाएँ विकसित करनी चाहिए तथा सन्तोष और सुख शान्ति के साथ जीवन यात्रा को सफलतापूर्वक सम्पन्न करना चाहिए । आकांक्षाओं की पूर्ति मे ही सारी मानसिक, शारीरिक शक्तियाँ न लगाकर उपयुक्त-अनुपयुक्त आकांक्षाओं के वर्गीकरण, उनके शोधन, परिष्कार एवं परिवर्तन का भी महत्त्व समझें । उसके लिए अध्ययन, प्रयास, पुरुषार्थ करें तो हम गहनतम आत्म-गौरव एवं आत्म-सन्तोष के अधिकारी निश्चित रूप से बन सकते हैं ।

## समाजनिष्ठा का विकास करें

अपने अभ्यन्तरिक जीवन को परिष्कृत कर गुण, कर्म स्वभाव में सत्तत्वों को प्रतिष्ठित करने की क्रिया पद्धति का नाम संस्कृति साधना है । जीवन साधना का यह क्रम अपनाते हुए व्यक्ति को समाज के प्रति अपने दायित्वों, कर्तव्यो तथा निजी व्यक्तित्व के स्तर को भी साधना—सँवारना चाहिए । व्यक्ति न तो अकेला रह सकता है और न उसका स्वतन्त्र कोई व्यक्तित्व ही हो सकता है । समाज मे रहना और समाज में रह कर अपना तथा समाज का विकास करना ही उसकी नियति है और समाज में रहते हुए ही उसका व्यक्तित्व गठित हो पाना सम्भव है । उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति कितना ही महान हो, प्रतिभाशाली और विद्वान हो, किन्तु वह समाज से अलग, दूर कहीं एकान्त वन प्रान्त मे रहे जहाँ कोई और न रहता हो तो न उसकी महानता का कोई लाभ समाज को मिल पायेगा तथा न उसकी प्रतिभा का ही कोई उपयोग हो सकेगा ।

व्यक्ति को अपने गौरव, स्तर तथा स्वरूप और विशेषताओ का ज्ञान भी समाज मे रहकर ही होता है, क्योंकि दूसरों की स्थिति और स्तर देख कर ही

अपनी विशेषताओं या कमियों का परिचय मिलता है। जब तक हम किसी के सम्पर्क में नहीं आते तब तक अपनी वस्तुस्थिति का पता नहीं चलता क्योंकि मनुष्य की आन्तरिक विशेषताएँ उसके सम्पर्क और व्यवहार से ही प्रकट होती है। आन्तरिक दृष्टि से ईमानदारी के प्रति कितनी ही निष्ठा हो जब तक किसी के व्यवहार या सम्पर्क मे वह दिखाई न देगी तब तक उस निष्ठा की परिपक्वता और दृढ़ता का कैसे पता चलेगा ?

इसलिए यह भी आवश्यक है कि अपने व्यक्तित्व में आदर्शों के प्रति निष्ठाएँ जगाने के साथ लोकव्यवहार में भी उनका समावेश किया जाय। समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का निर्वाह, नागरिकता के नियमों का पालन और दूसरों के साथ सद्व्यवहार, शिष्टाचार इसी लोक व्यवहार धर्म में आ जाते हैं। इन्हें सभ्यता कहा जा सकता है। समाज-निष्ठा, कर्तव्य-पालन, शिष्ट-आचरण, सद्व्यवहार जो भी कहें व्यक्ति जब तक इन नीति-नियमों का अपने जीवन क्रम में समावेश नहीं करता जीवन साधना एकांगी ही बनी रहती है।

## स्व का विकास करें

मनुष्य और पशु में मुख्य अन्तर यही है कि मनुष्य समाज बनाकर सहयोग एवं सहकारिता के आधार पर बढ़ता है तथा पशु एकाकी ही अपना जीवन बिता देते हैं। वे अपनी आवश्यकताएँ भी अपने-अपने ढंग से पूरा कर लेते हैं। अपवाद स्वरूप पशु भी कहीं-कहीं समूह बनाकर रहते हैं और अपने शत्रुओं का सामूहिक रूप से मुकाबला करते हैं। लेकिन उस समूह को समाज की संज्ञा नहीं दी जा सकती जबकि सामाजिकता मनुष्य के स्वभाव का अंग है। मनुष्य का समाज बनाकर रहना पूर्णतः स्वाभाविक और प्रकृति प्रदत्त नियति है। उदाहरण के लिए अन्य प्राणियों की सन्तानें जन्म लेने के बाद शीघ्र ही अपने माता-पिता से अलग हो जाती हैं, कई पशुओं के बच्चे तो जन्म लेने के बाद एकदम चलने-फिरने और खाने-पीने लगते है। कुछेक महीनो में ही वे अपने भोजन की व्यवस्था भी स्वयं करने लगते है। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसकी सन्तान अपनी आयु का दसवाँ भाग चलना-फिरना, बोलना और स्वयं खाना-पीना सीखने मे ही बिता देती है। स्वावलम्बी बनने की स्थिति तो प्रायः सभी बच्चों की लगभग २० वर्ष की आयु मे ही आ पाती है। इसके लिए भी अभिभावकों को अपने बच्चों को प्रशिक्षण देना पड़ता है। पशु-पक्षियों में परस्पर प्रेमपूर्ण भावनाओं-सम्बन्धों का अभाव इसीलिए रहता है कि उनके बच्चे जल्द स्वावलम्बी होने के कारण अपना जन्म सम्बन्ध भूल जाते हैं। मनुष्यों में परस्पर प्रेम सम्बन्ध बना रहने का एक मुख्य कारण यह है कि वह जन्म के बाद भी काफी समय अपने अभिभावकों पर निर्भर रहता है।

अधिक गम्भीरता से देखा जाय तो मनुष्य की निर्भरता वयस्क होने तक ही समाप्त नहीं हो जाती वरन् उसे जीवन भर कई विषयों में समाज पर निर्भर रहना पड़ता है। स्वयं का परिश्रम और पुरुषार्थ तो विकास के लिए आवश्यक हो ही जाता है लेकिन समाज न हो तो उसके वैसे परिणाम नहीं निकल सकेंगे जैसे कि समाज का अस्तित्व होने पर दिखाई देते हैं। परिवार की भावना कुटुम्ब-व्यवस्था ने ही विकसित होते-होते समाज का स्वरूप धारण किया। परिवार के सदस्य परस्पर सहयोग और दायित्व बोध के आधार पर ही एक दूसरे की आवश्यकताएँ पूर्ण करते हैं, स्वयं अपना विकास करते हैं। इसी पद्धति या व्यवस्था का विकसित स्वरूप समाज के रूप में सामने आता है।

आज के युग में हम समाज को जिस उन्नत रूप में देख रहे हैं वह सहयोग और दायित्व बोध की प्रेरणाओ के फलस्वरूप ही है। यदि व्यक्ति अपने लिए ही परिश्रम करता है तो उसके सामने आदिम युग के स्तर पर ही सन्तोष कर लेने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं था। स्वयं के प्रयत्नों से—अन्य किसी का सहयोग न लेते हुए पशु-पक्षी दिनभर खोजने के बाद उदर पोषण की व्यवस्था थोड़े से समय में ही कर लेते हैं तो शेष समय बिना किसी उपयोग के ही रह जाता है। आदिम युग का मानव भी तो यही करता था, लेकिन जैसे-जैसे उसमें बौद्धिक चेतना का विकास होता गया सामूहिकता और सामाजिकता की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। इसी आवश्यकता को पूरा करते हुए अपने युग के युग पुरुषो ने सामाजिक लक्ष्य को सामने रख कर काम किया और उसी के परिणामस्वरूप समाज इस उन्नत अवस्था में पहुँच सका। क्या यह मानना सही हो सकता है कि जिसने वाष्प शक्ति का उपयोग कर रेलगाड़ी की कल्पना की होगी

स्थिति पर पहुँचा जा सकता है । बचपन से ही कोई अचानक वृद्धावस्था में नहीं पहुँच जाता । उगते हुए पेड़ में तत्काल फल नहीं लग जाता लेकिन जब किए गए कार्यों का परिणाम तत्काल प्राप्त होने की अपेक्षा की जाती है तब असन्तोष ही पैदा होता है ।

कई लोगों की बड़ी उच्च आकांक्षाएँ होती हैं । वे जीवन के महान स्वप्न देखते हैं । कल्पना क्षेत्र में उड़ते हुए क्या से क्या बन जाते हैं । कई महापुरुषों की जीवनी पढ़कर उनके बारे में सुनकर लोग वैसा ही बन जाना चाहते हैं । महत्त्वाकांक्षाएँ रखना बुरी बात नहीं है इन्हीं के सहारे मनुष्य आगे बढ़ता है, उच्च सफलताएँ अर्जित करता है । लेकिन महत्त्वाकांक्षाओं के पीछे भी मनुष्य की अपनी स्थिति, योग्यता, परिस्थितियाँ, क्षमता आदि का भी कम महत्त्व नहीं होता । जो व्यक्ति अपनी महत्त्वाकांक्षाओं और अपनी परिस्थितियों में तालमेल बैठाकर प्रयत्नरत रहता है, वह सफल भी हो जाता है लेकिन अपनी स्थिति को भूलकर मनुष्य जब असीमित महत्त्वाकांक्षाओं के पीछे भागता हो जाता है, तब उसे असन्तोष और अशान्ति का ही सामना करना पड़ता है ।

विभाजन और उनका क्षेत्र निर्धारण सुविधापूर्वक किया जा सकता है ।

किन्तु भावनात्मक दृष्टि से इतने से ही सन्तोष नहीं मिलता । तब हमें यह मानकर चलना पड़ता है कि एक परमात्मा से ही जीवात्मा उत्पन्न और उसी से सम्बद्ध है, वही हमारा माता-पिता सर्वस्व है । इस आधार पर संसार के सभी जीवधारियों को अपने से भिन्न नहीं कह सकते । एक पिता जिस तरह अपने बच्चों को प्रगाढ़ स्नेह और प्रेम के सूत्र में बँधा देखना चाहता है वैसी ही सदिच्छा परमात्मा को भी हमसे हो सकती है । इस सत्य से ही एकता की वृद्धि होती है । समाज की पूर्ण विकसित रचना के उद्देश्य से महापुरुष सदैव इस बात पर जोर देते हैं कि मनुष्य अपने आपको विश्व समाज का सदस्य मानें । आज भी यह आवश्यकता ज्यों की त्यों विद्यमान है ।

समाज के ऋणी होने और सामाजिक उत्तरदायित्वों को निभाने की आवश्यकता अनुभव करते हुए भी अभ्यास न होने के कारण लोग सामाजिक गुणों का विकास नहीं कर पाते । इसका पहला कारण यह है कि व्यक्ति प्रारम्भ से ही अपने स्वार्थ को प्रधानता देने की शिक्षा पाता है अथवा सामाजिक गुणों के विकास की—शिक्षण की कोई व्यवस्था न होने पर अनायास ही स्वार्थ को प्रधानता देने लगता है । सामाजिक हितों की बलि चढ़ाकर अपने स्वार्थ को पूरा करने की दुष्प्रवृत्ति इसी कारण उत्पन्न होती और बढ़ती है कि उस दिशा में प्रेरित होने का कोई आधार ही नहीं है । जो भी हो, व्यक्तित्व की सुघड़ता और मनुष्य का गौरव तभी चरितार्थ हो पाता है जबकि व्यक्तिगत हितों के साथ-साथ सामाजिक हितों को पूरा करने का भी ध्यान रखा जाय ।

सामान्य दृष्टि से विचार करने पर सामाजिकता का अर्थ समाज के हितों का भी ध्यान रखना ही प्रतीत होता है, लेकिन सामाजिकता का अर्थ इतना मात्र ही नहीं है । समाज हित के लिए एकाकी प्रयास भी किए जा सकते हैं । प्राचीन काल में ऋषि महर्षि अपना सारा जीवन ही घने जंगलों में बिता देते थे और समाज का स्तर किस प्रकार ऊँचा उठे इसके लिए विचार करते और योजनाएँ बनाया करते थे । समाज को ऊँचा उठाने के लिए अपना जीवन ही होम देने के आदर्श स्तुत्य हैं, किन्तु क ख ग से आरम्भ करने वाले जीवन साधक के लिए अचानक उस स्थिति की कल्पना करना अव्यावहारिक ही होगा । इसका अर्थ समाज के लिए अपना सर्वस्व समर्पित करने वालों का गौरव घटाना नहीं है । कहा इतना भर जा रहा है कि हमें आरम्भ सामाजिक बनने से करना चाहिए । जिसमें समाज के हितों का ध्यान रखने से लेकर समाज में रहने और समाज के अन्य सदस्यों से तालमेल बिठाने के विभिन्न साधना पक्ष हैं ।

स्वयं क्रिया कुशल और सक्षम होने बावजूद भी कितने ही व्यक्ति अन्य औरों से तालमेल न बिठा पाने के कारण अपनी प्रतिभा का लाभ समाज को नहीं दे पाते । उदाहरण के लिए फुटबाल का कोई खिलाड़ी अपने खेल में इतना पारंगत है कि वह घण्टों गेंद को जमीन पर न गिरने दे परन्तु यह भी हो सकता है कि टीम के साथ खेलने पर अन्य खिलाड़ियों से तालमेल न बिठा पाने के कारण वह साधारण स्तर का भी न खेल सके । समाज में रहकर अन्य लोगों से तालमेल बिठाने तथा अपनी क्षमता योग्यता का लाभ समाज को देने की स्थिति भी सामाजिकता से ही प्राप्त हो सकती है ।

बहुधा यह भी होता है कि कई व्यक्ति अकेले तो कोई जिम्मेदारी आसानी से निभा लेते हैं, किन्तु उनके साथ दो चार व्यक्तियों को और जोड़ दिया जाय तथा कोई बड़ा काम सौंप दिया तो वे जिम्मेदारी से कतराने लगते हैं । बहुधा ही नहीं प्रायः ऐसा ही होता है । कुछ व्यक्तियों को यदि किसी कार्य की जिम्मेदारी सौंप दी जाय तो हर व्यक्ति यह सोचकर अपने दायित्व से उपराम होने की सोचने लगता है कि दूसरे लोग इसे पूरा कर लेंगे । बौद्ध साहित्य में सामूहिक जिम्मेदारी के अभाव का एक अच्छा प्रसंग आता है । किसी प्रदेश के राजा ने कोई धार्मिक अनुष्ठान करने के लिए राजधानी के निवासियों को निर्देश दिया कि सभी लोग मिलकर नगर के बाहर तैयार किए गए हौज में एक-एक लोटा दूध डालें । हौज को ढक दिया गया था और सभी पुरवासियों द्वारा निर्देश उपचार सम्पन्न कर लेने के बाद हौज उघाड़ना निश्चित किया गया । जब सभी नागरिक निवृत्त हो चुके और हौज का ढक्कन हटाया गया तो

वह अपने लिए ही रेलगाड़ी बनाना चाह रहा होगा ? क्या यह सोचना ठीक हो सकता है कि प्रेस का आविष्कार करने वाले व्यक्तियों ने स्वयं के लिए पढ़ने के वास्ते ही प्रेस का निर्माण किया होगा ? बड़े-बड़े आविष्कारों से लेकर छोटे-छोटे प्रयासों तक का उद्देश्य मात्र व्यक्तिगत लाभ कदापि नहीं रह सकता । कहीं व्यक्तिगत लाभ की भावना हो सकती है परन्तु वहाँ भी लाभ उठाने का उद्देश्य दूसरों को पहले लाभ पहुँचाने के द्वारा ही पूरा किया जा सकता है ।

हम जिन साधनों का उपयोग कर रहे हैं । उसके लिए अनिवार्य रूप से उनके निर्माताओं और आविष्कर्ताओं के ऋणी हैं । यह ठीक है कि साधनों का उपयोग उनका मूल्य चुका कर कर दिया जाता है । परन्तु अपने चिन्तन को यही तक सीमित रखना मानवीय आदर्शों के विरुद्ध है । मनुष्यता का अस्तित्व सहयोग के आधार पर टिका हुआ है और उससे भी ज्यादा विशुद्ध परमार्थ भावनाओं पर टिका हुआ है क्योंकि जिन महापुरुषों ने भी समाज के लिए उपयोगी अनुदान दे जाने का लक्ष्य अपने सामने रखा उन्होंने अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं पर बहुत थोड़ा-सा ध्यान दिया अथवा उस ओर से उदासीन ही रहे, लेकिन सामान्य व्यक्ति अपने लाभ, अपने हित और अपने स्वार्थ को ही प्रधानता देते हुए सामाजिक हितों का जरा भी ध्यान नहीं रखते । इसी का नाम असामाजिकता है ।

स्मरण रखा जाना चाहिए स्वास्थ्य, शिक्षा, धन, पद, मनोरंजन की जो भी सुविधाएँ हमें उपलब्ध हैं उसके लिए हम समाज के ऋणी हैं । उस ऋण से उऋण होने के लिए प्रयत्नशील रहना ही चाहिए । समाज का सहयोग यदि न मिला होता तो एकांगी रहकर इन विभूतियों को प्राप्त कर सकना कदापि सम्भव नहीं होता । इस दशा मे प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य हो जाता है कि दूसरों ने, समाज ने उसके विकास मे जो सहयोग दिया है उसका बदला चुकाने के लिए समाजनिष्ठा का विकास करे । यह आकांक्षा रखना और इस बात के लिए प्रयत्नशील रहना कि जहाँ से, जैसे भी, जितना कुछ प्राप्त किया जा सके उतना प्राप्त कर लें और उसका उपयोग स्वयं करे अथवा अपने कुटुम्बियों को करने दें । इस रीति का नाम ही संकीर्णता है क्योंकि उसके लिए अच्छे-बुरे सभी तरीके अपनाने पड़ते हैं और नैतिक पतन, चरित्रभ्रष्टता जैसी बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं । आत्यन्तिक स्वार्थपरता के कारण ही धूर्तता, मक्कारी और भ्रष्टाचारी दुष्प्रवृत्तियाँ बढ़ती है तथा अपराधी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है।

निरन्तर स्वार्थ साधन के लिए उचित-अनुचित उपाय करते रहने से दूषित संस्कारों के रूप में उसके मनो-दर्पण पर ढेरों मैल इकट्ठा हो जाता है । जिससे वह अन्दर ही अन्दर अशान्त और दुःखी रहता है । स्वार्थ और लालच की संकीर्णताओं मे रहते हुए यदि अमीरी और सम्पन्नता प्राप्त कर भी ली जाती है, तो हित की जगह अहितकर ही सिद्ध होती है । उससे व्यक्तिगत जीवन में अशान्ति और सामाजिक जीवन में अस्त-व्यस्तता के दुष्परिणाम ही पनपते देखे जाते हैं । अतएव आवश्यक है कि स्वार्थ और संकीर्णता के दायरे से बाहर निकला जाय । अपने साथ रहने वाले स्वजनों के प्रति कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए समाज के प्रति भी कौटुम्बिकता की भावना जगायी जाय ।

## "वसुधैव कुटुम्बकम"

हमारे मनीषियो ने व्यक्तित्व के विकास का रहस्य समझाते हुए यही उद्घोष किया था कि सम्पूर्ण वसुधा ही हमारा परिवार है । यदि संसार को एक कुटुम्ब के रूप मे देखा जा सके, सभी व्यक्तियों से पारिवारिक स्नेह के सम्बन्ध विकसित किए जा सकें, तो व्यक्तिगत जीवन में जो प्रफुल्लता, आत्म-सन्तोष, आनन्द और शान्ति की अनुभूति होगी वह अन्य किसी माध्यम से सम्भव नहीं है ।

अपने हित की साधना का भाव तो पशु-पक्षियों तक में पाया जाता है । अतः इसमें कोई बुद्धिमानी नही हो सकती कि मनुष्य सम्पूर्ण जीवन केवल अपनी ही स्वार्थपूर्ण प्रवंचनाओ में बिता दे । इससे अन्त तक मानवीय शक्तियाँ प्रसुप्त बनी रहती है । प्रेम और आत्मीयता की भावनाओं का परिष्कार नहीं हो पाता । स्वार्थपरता एवं संकीर्णता के कारण मनुष्य का जीवन कितना दुःखमय, कितना कठोर हो सकता है, यह सर्वविदित है ।

सामान्यतः हम लोग एक ही माता-पिता से उत्पन्न सन्तान का परस्पर भाई बहिन समझते हैं । लौकिक दृष्टि से यह सही भी है क्योंकि इसी आधार पर कर्तव्य

विभाजन और उनका क्षेत्र निर्धारण सुविधापूर्वक किया जा सकता है ।

किन्तु भावनात्मक दृष्टि से इतने से ही सन्तोष नहीं मिलता । तब हमें यह मानकर चलना पड़ता है कि एक परमात्मा से ही जीवात्मा उत्पन्न और उसी से सम्बद्ध है, वही हमारा माता-पिता सर्वस्व है । इस आधार पर संसार के सभी जीवधारियों को अपने से भिन्न नहीं कह सकते । एक पिता जिस तरह अपने बच्चों को प्रगाढ़ स्नेह और प्रेम के सूत्र में बँधा देखना चाहता है वैसी ही सदिच्छा परमात्मा को भी हमसे हो सकती है । इस सत्य से ही एकता की वृद्धि होती है । समाज की पूर्ण विकसित रचना के उद्देश्य से महापुरुष सदैव इस बात पर जोर देते हैं कि मनुष्य अपने आपको विश्व समाज का सदस्य मानें । आज भी यह आवश्यकता ज्यों की त्यों विद्यमान है ।

समाज के ऋणी होने और सामाजिक उत्तरदायित्वों को निभाने की आवश्यकता अनुभव करते हुए भी अभ्यास न होने के कारण लोग सामाजिक गुणों का विकास नहीं कर पाते । इसका पहला कारण यह है कि व्यक्ति प्रारम्भ से ही अपने स्वार्थ को प्रधानता देने की शिक्षा पाता है अथवा सामाजिक गुणों के विकास की—शिक्षण की कोई व्यवस्था न होने पर अनायास ही स्वार्थ को प्रधानता देने लगता है । सामाजिक हितों को बलि चढ़ाकर अपने स्वार्थ को पूरा करने की दुष्प्रवृत्ति इसी कारण उत्पन्न होती और बढ़ती है कि उस दिशा में प्रेरित होने का कोई आधार ही नहीं है । जो भी हो, व्यक्तित्व की सुघड़ता और मनुष्य का गौरव तभी चरितार्थ हो पाता है जबकि व्यक्तिगत हितों के साथ-साथ सामाजिक हितों को पूरा करने का भी ध्यान रखा जाय ।

सामान्य दृष्टि से विचार करने पर सामाजिकता का अर्थ समाज के हितों का भी ध्यान रखना ही प्रतीत होता है, लेकिन सामाजिकता का अर्थ इतना मात्र ही नहीं है । समाज हित के लिए एकाकी प्रयास भी किए जा सकते हैं । प्राचीन काल में ऋषि महर्षि अपना सारा जीवन ही घने जंगलों में बिता देते थे और समाज का स्तर किस प्रकार ऊँचा उठे इसके लिए विचार करते और योजनाएँ बनाया करते थे । समाज को ऊँचा उठाने के लिए अपना जीवन ही होम देने के आदर्श स्तुत्य हैं, किन्तु क ख ग से आरम्भ करने वाले जीवन साधक के लिए अचानक उस स्थिति की कल्पना करना अव्यावहारिक ही होगा । इसका अर्थ समाज के लिए अपना सर्वस्व समर्पित करने वालों का गौरव घटाना नहीं है । कहा इतना भर जा रहा है कि हमें आरम्भ सामाजिक बनने से करना चाहिए । जिसमें समाज के हितों का ध्यान रखने से लेकर समाज में रहने और समाज के अन्य सदस्यों से तालमेल बिठाने के विभिन्न साधना पक्ष हैं ।

स्वयं क्रिया कुशल और सक्षम होने बावजूद भी कितने ही व्यक्ति अन्य औरों से तालमेल न बिठा पाने के कारण अपनी प्रतिभा का लाभ समाज को नहीं दे पाते । उदाहरण के लिए फुटबाल का कोई खिलाड़ी अपने खेल में इतना पारंगत है कि वह घण्टों गेंद को जमीन पर न गिरने दें परन्तु यह भी हो सकता है कि टीम के साथ खेलने पर अन्य खिलाड़ियों से तालमेल न बिठा पाने के कारण वह साधारण स्तर का भी न खेल सके । समाज में रहकर अन्य लोगों से तालमेल बिठाने तथा अपनी क्षमता योग्यता का लाभ समाज को देने की स्थिति भी सामाजिकता से ही प्राप्त हो सकती है ।

बहुधा यह भी होता है कि कई व्यक्ति अकेले तो कोई जिम्मेदारी आसानी से निभा लेते हैं, किन्तु उनके साथ दो चार व्यक्तियों को और जोड़ दिया जाय तथा कोई बड़ा काम सौंप दिया तो वे जिम्मेदारी से कतराने लगते हैं । बहुधा ही नहीं प्रायः ऐसा ही होता है । कुछ व्यक्तियों को यदि किसी कार्य की जिम्मेदारी सौंप दी जाय तो हर व्यक्ति यह सोचकर अपने दायित्व से उपराम होने की सोचने लगता है कि दूसरे लोग इसे पूरा कर लेंगे । बौद्ध साहित्य में सामूहिक जिम्मेदारी के अभाव का एक अच्छा प्रसंग आता है । किसी प्रदेश के राजा ने कोई धार्मिक अनुष्ठान करने के लिए राजधानी के निवासियों को निर्देश दिया कि सभी लोग मिलकर नगर के बाहर तैयार किए गए हौज में एक-एक लोटा दूध डालें । हौज को ढक दिया गया था और सभी पुरवासियों द्वारा निर्देश उपचार सम्पन्न कर लेने के बाद हौज उघाड़ना निश्चित किया गया । जब सभी नागरिक निवृत्त हो चुके और हौज का ढक्कन हटाया गया तो

पता चला कि हौज दूध से भरने के स्थान पर पानी से भरा है। कारण का पता लगाया गया तो मालूम हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति ने यह सोच कर दूध के स्थान पर पानी डाला था कि केवल मैं ही तो पानी डाल रहा हूँ अन्य और लोग तो दूध ही डाल रहे हैं।

सामूहिक उत्तरदायित्वों के प्रति अवहेलना या उपेक्षा का भाव मनुष्य की सबसे बड़ी कमजोरी है। इसका दुष्प्रभाव व्यक्तिगत जीवन पर भी पड़ता है और सार्वजनिक जीवन पर भी। उदाहरण के लिए दस्यु पीड़ित क्षेत्र में कुछ साहसी व्यक्ति सामूहिक आत्म-रक्षा की योजना बनायें और उसे क्रियान्वित करने के लिए अपने साथियों, सहयोगियों सहित कदम उठाएँ, परन्तु उनमें से ही कुछेक व्यक्ति इस सामूहिक उत्तरदायित्व से पीछे हटने लगें, इस कार्य के प्रति लापरवाही बरतने लगें तो समय आने पर उसके दुष्परिणाम सभी लोगों के लिए हानि पहुँचाने वाले होंगे।

समाज के हितों का ध्यान रखना, समाज में रहते हुए अन्य लोगों से तालमेल बिठाना तथा सामूहिक उत्तरदायित्वों को अनुभव कर उन्हें पूरा करने के लिए तत्पर रहना अपने व्यक्तित्व को सामाजिक बनाने की दिशा में अग्रसर करना ही है। जीवन उत्कर्ष के सभी इच्छुकों और प्रयासियों को सामाजिक गुणों के विकास की आवश्यकता और महत्ता ध्यान में रखनी चाहिए तथा उन गुणों को अर्जित करते चलना चाहिए।

## नैतिक मर्यादाओं का पालन कीजिए

प्रत्येक मनुष्य की आकांक्षा रहती है कि वह सुख-शान्ति सम्पन्न जीवन व्यतीत करे। सुख-शान्ति और सम्पन्नता परस्पर निर्भर हैं। साधन सम्पन्न और सुविधा मय जीवन सुख-शान्ति का कारण नहीं है। सुख-शान्ति और सम्पन्नता तभी अर्जित की जा सकती है जबकि जीवन-प्रवाह निर्द्वन्द्व और निर्विघ्न हो। जीवन प्रवाह की यह स्निग्ध गति ही मनुष्य और समाज को सुखी व शान्त रख सकती है। इसी आधार पर ही सम्पन्नता का भी लाभ उठाया जा सकता है। अन्यथा सम्पन्न होने पर और भी खतरे खड़े हो जाते हैं। जिससे सुख-चैन मिटने लगता है। उदाहरण के लिए समाज में चोर डाकुओं का बोलबाला हो तो सबसे पहले सम्पन्न व्यक्तियों को ही चिन्ता उत्पन्न होगी क्योंकि निर्विघ्न और निर्द्वन्द्व जीवन में धन छीनने चोरी चले जाने का डर हर घड़ी बना रहेगा।

इस तरह के विघ्न बाहरी कारणों से ही नहीं आते। आन्तरिक जीवन में भी अशान्ति और उद्वेग उत्पन्न होते रहते हैं और सब प्रकार सम्पन्न होते हुए भी व्यक्ति एक-एक क्षण सुख-चैन के लिए कलपता, तड़पता रहता है। यदि इस तरह के उद्वेग साधनहीन व्यक्ति के जीवन में उठते रहे तो सम्पन्नता अर्जित करने का अवकाश ही नहीं मिलेगा। बाह्य दृष्टि से ऐसे व्यक्ति के पास भले ही कोई कार्य न हो पर आन्तरिक दृष्टि से उसके मनःक्षेत्र में उद्वेगों, चिन्ताओं और यातनाओं का संघर्ष चलता ही रहेगा। इसे इन पीड़ाओं से अवकाश ही नहीं मिलेगा। परिस्थिति या संयोग से ऐसे व्यक्तियों को सम्पन्नता प्राप्त भी हो जाय तो उनका कोई उपयोग सम्भव नहीं हो सकेगा। जिस वस्तु या परिस्थिति का कोई उपयोग न हो, जिससे लाभ उठाने का अवसर न मिलता हो उसका होना न होना समान है।

प्रश्न उठता है कि इस तरह के उद्वेग—वे बाहरी हों अथवा आन्तरिक—क्यों उठा करते हैं। गम्भीरता से विचार करने पर इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करने पर ही इस तरह के विघ्न पैदा होते हैं। समाज, ग्रह-नक्षत्र, तारे, ग्रह-उपग्रह एक नियम मर्यादा के अनुसार चलते हैं। वे अपने निश्चित विधान का जरा भी व्यतिक्रम नहीं करते। यदि वे उस विधान का उल्लंघन करें तो क्षण भर में ही नष्ट हो जायें। यह प्रकृति की क्रूरता नहीं उसकी व्यवस्था और उदारता है, क्योंकि एक ग्रह नक्षत्र भी यदि अपना मार्ग छोड़ दें तो दूसरे ग्रह नक्षत्रों के मार्ग में भटक जायेंगे। स्वयं तो नष्ट होंगे ही दूसरों को भी नष्ट करेंगे या गड़बड़ी फैलायेंगे। प्रकृति ने अपने परिवार के समस्त सदस्यों को इस व्यवस्था, मर्यादा में बाँध रखा है कि वे अपना मार्ग न छोड़ें। इसीलिए सारी व्यवस्था सुचारु रूप से चल रही है। सृष्टि की कोई भी इकाई इस मर्यादा का उल्लंघन नहीं करती। केवल मनुष्य ही ऐसा है जो बार-बार नियति के विरुद्ध जाने की धृष्टता करता है और विघ्न बाधाओं को पाकर रोने-कलपने लगता है।

प्रकृति की मर्यादाओं-नियत नियमों की अनुकूल दिशा में चलकर ही सुखी शान्त और सम्पन्न रहा जा सकता है । इसी को नैतिकता भी कहा जा सकता है । जिस प्रकार प्रकृति की व्यवस्था में प्राणियों से लेकर ग्रह-नक्षत्रों का अस्तित्व, जीवन और गति-प्रगति सुरक्षित हैं । उसी प्रकार मनुष्य जो करोड़ों, अरबों की संख्या वाले मानव समाज का एक सदस्य है नैतिक नियमों का पालन कर सुखी व सम्पन्न रह सकता है तथा, समाज में भी वैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करने में सहायक हो सकता है । नैतिकता इसीलिए आवश्यक है कि अपने हितों को साधते हुए उन्हें सुरक्षित रखते हुए । दूसरों को भी आगे बढ़ने दिया जाय । एक व्यक्ति बेईमानी करता है और उसके देखा देखी दूसरे व्यक्ति बेईमानी करने लगें तो किसी के लिए भी सुविधापूर्वक जी पाना असम्भव हो जायेगा । इसी कारण ईमानदारी को नैतिकता के अन्तर्गत रखा गया है कि व्यक्ति उसे अपना कर अपनी प्रामाणिकता, दूरगामी हित, तात्कालिक लाभ और आत्म-सन्तोष प्राप्त करता रहे तथा दूसरों के जीवन में भी कोई व्यतिक्रम उत्पन्न न करे ।

नैतिकता का अर्थ सार्वभौम नियम भी किया जा सकता है । सार्वभौम नियम अर्थात् वे नियम जिनका सभी पालन कर सकें और किसी को कोई हानि न हो प्रत्युत् लाभ ही मिलें । जैसे दूसरों के स्वत्व को ग्रहण न करना सार्वभौम नियम हो सकता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को अपने अधिकार की वस्तु या सुविधा मिले यह उचित ही है इससे व्यवस्था में कहीं व्यतिक्रम नहीं आता वरन् उसमें कौशल और सुघड़ता ही आती है, किन्तु दूसरों के अधिकार या उनके अधिकार की वस्तुएँ छीनने का क्रम चल पड़े तो बड़ी भारी अव्यवस्था उत्पन्न हो जायगी । कोई व्यक्ति अपने श्रम का लाभ उठाने के लिए निश्चित रूप से आशावान नहीं हो सकेगा । फिर तो जानवरों की तरह ताकतवर कमजोर को दबा देगा और उसकी वस्तुएँ छीन लेगा और ताकतवर को भी उससे अधिक ताकतवर व्यक्ति दबा देगा ।

इस आधार पर ही समाज में नैतिक मर्यादाएँ निर्धारित हुई हैं । तथा उनके पालन द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को अपना विकास करने की सुविधा मिली है । ऐसा नहीं है कि कोई इन मर्यादाओं को तोड़ता ही नहीं है । दुष्ट बुद्धि और निकृष्ट स्वार्थी व्यक्ति इन मर्यादाओं का उल्लंघन करते देखे जाते हैं ।

मर्यादाओं का उल्लंघन करके लोग तात्कालिक थोड़ा लाभ उठा भी लेते हैं । दूरगामी परिणामों को न सोचकर लोग तुरन्त लाभ को देखते हैं । बेईमानी से धन कमाने, दम्भ से अहंकार बढ़ाने और अनुपयुक्त भोगों के भोगने से जो क्षणिक सुख मिलता है वह परिणाम में भारी विपत्ति बनकर सामने आता है । मानसिक स्वास्थ्य को नष्ट कर डालने और आध्यात्मिक महत्ता एवं विशेषताओं को समाप्त करने में सबसे बड़ा कारण आत्म-प्रतारणा है । ओले पड़ने से जिस प्रकार खेत की फसल नष्ट हो जाती है उसी प्रकार आत्म-प्रतारणा की चोटें पड़ते रहने से मन और अन्तःकरण के सभी श्रेष्ठ तत्व नष्ट हो जाते हैं और ऐसा मनुष्य प्रेत-पिशाचों जैसी श्मशान मनोभूमि लेकर निरन्तर विक्षुब्ध विचरता रहता है ।

धर्म कर्तव्यों की मर्यादा को तोड़ने वाले उच्छृंखल कुमार्गगामी मनुष्य की गतिविधियों को रोकने के लिए, उन्हें दण्ड देने के लिए समाज और शासन की ओर से जो प्रतिरोधात्मक व्यवस्था हुई है उससे सर्वथा बचे रहना सम्भव नहीं । धूर्तता के बल पर आज कितने ही अपराधी प्रवृत्ति के लोग सामाजिक भर्त्सना से और कानूनी दण्ड से बच निकलने में सफल होते रहते हैं पर यही चाल सदा सफल होती रहेगी ऐसी बात नहीं है । असत्य का आवरण अन्ततः फटता ही है और अनीति अपनाने वाले के सामने न सही पीछे उनकी निन्दा होती ही है । जन-मानस मे व्याप्त घृणा का सूक्ष्म प्रभाव उस मनुष्य पर अदृश्य रूप से पड़ता है जिससे अहितकर परिणाम ही सामने आते हैं । राजदण्ड से बचे रहने के लिए ऐसे लोग रिश्वत में बहुत खर्च करते है । निरन्तर डरे और दबे रहते हैं । उनका कोई सच्चा मित्र नहीं रहता । जो लोग उनसे लाभ उठाते हैं, वे भीतर ही भीतर घृणा करते हैं और समय आने पर शत्रु बन जाते हैं । जिसकी आत्मा धिक्कारेगी उसके लिए देर-सवेर में सभी कोई धिक्कारने वाले बन जायेंगे । ऐसी धिक्कार एकत्रित करके यदि मनुष्य जीवित रहा तो उसका जीवन न जीने के बराबर है ।

विपुल साधना सम्पन्न होते हुए भी व्यक्ति इसी कारण सुख-शान्ति पूर्वक नहीं रह पाते कि उन उपलब्धियों के मूल में छुपी अनैतिकता व्यक्ति की चेतना को विक्षुब्ध किए रहती है । इसे ही आत्म-प्रताड़ना भी कहते हैं । सार्वजनिक जीवन में अनीति अवांछनीयता के उत्पात किस प्रकार विध्वंस पैदा कर सकते हैं इसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है । अतः नैतिक कसौटी के आधार पर स्वयं को इस प्रकार खरा सिद्ध करते हुए अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए कि उसमें अव्यवस्था, और असन्तोष की भावना उत्पन्न न हो ।

विश्व व्यापी नैतिक विधान एक अकाट्य और अनिवार्य नियम है जो संसार के समस्त कार्यकलापों का संचालन करता है । वह एक सर्वव्याप्त व्यवस्था है उसके अनुकूल हुए कार्य सुव्यवस्था, स्थिरता, शान्ति, स्निग्धता और जीवन को बनाये रखने में सफल होते हैं तो उसके प्रतिकूल क्रिया-कलाप इन सत्परिणामों से वंचित रखते हुए अव्यवस्था, अशान्ति, कटुता, उद्विग्नता और हानि उत्पन्न करते हैं । इस नैतिक विधान के अन्तर्गत जड़ पदार्थों और अविकसित प्राणियों का तो स्वतः नियमन होता है । प्रकृति के माध्यम से मिलने वाली प्रेरणाओं के अनुसार उसका आचरण भी सहज नियन्त्रित रहता है, किन्तु मनुष्य विकसित और बुद्धि प्रधान प्राणी है अतः उसके लिए नैतिक विधान का निर्धारण ही किया गया है उसके लिए चुनाव की सुविधा भी है और तदनुसार अच्छा बुरा परिणाम प्राप्त होने की सम्भावना भी । समाज उसके अच्छे बुरे कार्यों का परिणाम, पुरस्कार और दण्ड के रूप में देता है तो उसकी चेतना आत्म-सन्तोष व आत्म-प्रताड़ना के रूप में ।

इस नैतिक विधान की व्याख्या करने के लिए प्रत्येक महापुरुष ने अपने समय और वातावरण के अनुरूप जन समाज को मार्गदर्शन दिया है । सूत्र रूप में भी उसका मर्म बताया जाता रहा है । जैसे महाभारतकार ने कहा है—"आत्मनः प्रति कूलानि परेषां न समाचरेत ।"

अर्थात्—"तुम्हें जो व्यवहार अपने लिए पसन्द नहीं उसे दूसरों के प्रति मत करो ।"

महात्मा ईसा ने कहा—"दूसरों के लिए वैसा ही आचरण करो जैसा कि तुम चाहते हो दूसरे तुम्हारे साथ करें ।"

दूसरों के प्रति हमारा आचरण नैतिक है अथवा अनैतिक इसका निर्णय उपर्युक्त सूत्रों के अनुसार बड़ी आसानी से किया जा सकता है । उदाहरण के लिए कोई यह नहीं चाहता कि उसके अधिकार का हनन किया जाय । यह हनन भी तो व्यक्तियों द्वारा ही होता है । अतः स्वयं भी किसी को उसके अधिकार से वंचित नहीं करना चाहिए । कोई नहीं चाहता कि किसी के द्वारा हमें हानि पहुँचे । स्वयं भी इस अपेक्षा को दूसरों के लिए पूरा करना चाहिए ।

नैतिक आचरण की एक कसौटी यह भी है कि किसी कार्य को करते समय अपनी अन्तरात्मा की साक्षी ले ली जाय । यकायक किसी में अनैतिक आचरण का दुस्साहस पैदा नहीं होता । जब भी कोई व्यक्ति किसी बुरे काम में प्रवृत्त होता है उसका हृदय धक्-धक् करने लगता है । शरीर से पसीना छूटता है और प्रतीत होता है कि कोई उसे इस कार्य से रोक रहा है । ऐसे अवसर पर अपनी अन्तरात्मा के आदेशों का अनुसरण करना चाहिए ।

परमात्मा ने प्रत्येक मनुष्य में एक मार्ग-दर्शक चेतना की प्रतिष्ठा की है । वह उसे कर्म करने की प्रेरणा एवं अनुचित कार्य करने से पूर्व रोकने तथा करने के बाद प्रताड़ना देने का कार्य करती है । अच्छे कार्य करने पर तत्क्षण करने वाले को प्रसन्नता और शान्ति का अनुभव होता है । यह उस मार्गदर्शक चेतना द्वारा दिए गए प्रोत्साहन और की गई प्रशंसा की ही फलश्रुति है । इसके विपरीत यदि स्वेच्छाचार बढ़ता गया, स्वार्थ के लिए अनीति का आचरण किया गया, धर्म-मर्यादाओं को तोड़ा गया तो लज्जा, ग्लानि, संकोच, पश्चात्ताप भय और अशान्ति का जो अनुभव होता है वह अन्तरात्मा द्वारा धिक्कारने के परिणामस्वरूप ही है । अनैतिक आचरण वाले और अपराधी प्रवृत्ति के व्यक्ति इसीलिए नशेबाजी का सहारा लेते हैं और बेहोश पड़े रहते हैं क्योंकि उस समय उन्हें जो आत्म-प्रताड़ना मिलती है, उसे वे सह नहीं पाते हैं ।

नैतिकता के मार्ग पर चलते समय प्रायः लोगो से यह भूल हो जाती है कि वे नैतिक जीवन का अर्थ नैतिक आदर्शों के चरम स्तर से लगाते हैं । उदाहरण के लिए ब्रह्मचर्य की कल्पना जब भी किसी के मन में उठती होगी तो उस आदर्श के प्रतीक भीष्म और

हनुमान के चरित्र से कम स्तर की बात ही नहीं सूझती । किसी के द्वारा ब्रह्मचर्य व्रत लेने की बात सुनते ही मन उसकी तुलना भीष्म और हनुमान से करने लगता है और जब भी कभी उस व्यक्ति का चरित्र भीष्म तथा हनुमान से राई रत्ती भर भी कम मालूम होने लगा तो ब्रह्मचर्य की सारी धारणा ही खण्डित हो जाती है । सत्यनिष्ठा की कल्पना करेंगे तो हरिश्चन्द्र के स्तर से कम में उसकी कोई कल्पना ही नहीं उठती और वह स्तर हम छू नहीं पाते तो लगता है कि उच्चादर्श केवल कहने-सुनने के लिए ही है व्यावहारिकता से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है । यदि नैतिक आदर्शों के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया जाय और शुभारम्भ छोटे-छोटे व्रतो से किया जाय तो चरम कल्पना के कारण अव्यावहारिक लगने वाले आदर्श व्यावहारिक जीवन में सरलतापूर्वक आने लगेंगे । फिर नैतिक आदर्शों के अभाव मे अपना व्यक्तित्व जो दीन-हीन बना रहता है और उसमें विकास परिष्कार नही हो पाता वह स्थिति भी नहीं रहेगी ।

सामान्य जीवन क्रम में नैतिक आदर्शों का समावेश करने के लिए आत्म-चिन्तन, आत्म-निरीक्षण, आत्म-सुधार और आत्म-निर्माण की चतुर्विध साधना पद्धति अपनानी चाहिए । आत्म-समीक्षा के समय यह विचार करना चाहिए कि हममें कौन-सी कमियाँ हैं और किन नैतिक गुणों के विकास की आवश्यकता है । कौन-सी बुराइयाँ हमारे स्वभाव में घुसी पड़ी है । जिनके कारण हमारा नैतिक स्तर मानवता के अनुरूप नहीं कहा जा सकता । इस समीक्षा के बाद जो कमियाँ दिखाई दें उन्हें दूर करने और नैतिक गुणों के विकास करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए । स्मरण रखा जाना चाहिए कि आरम्भ में ही कोई ऊँची कूद लगाकर चरम स्तर पर नहीं पहुँच जाता । विद्वान बनने के लिए सीखने की शुरुआत वर्णाक्षरों को पहचानने और उन्हें लिखने के अभ्यास से करनी पड़ती है । पहलवानी का अभ्यास डण्ड-बैठक लगने से ही शुरू करना पड़ता है और उस अभ्यास को आरम्भ करने के बाद अखाड़े में कुश्तियाँ जीतते हुए बडे पहलवान को सफलता मिलती है । शुरू में कोई विश्व विजेता पहलवान अथवा गामा, चन्दगीराम नहीं बन जाता । आरम्भ से ही इस तरह की कल्पना करने वालों को स्वामी जी भी कहा जा सकता है । फिर क्या कारण है कि नैतिक आदर्शों को अपनाने के लिए शुरुआत से ही चरम स्थिति प्राप्त करने की अपेक्षा की जाय और वैसा न होने पर निराश, हताश होकर बैठ जाया जाय ।

नैतिक आदर्शों को जीवन में आत्मसात् करने के लिए व्यावहारिक स्तर बनाकर अगले कदम उठाने चाहिए । लक्ष्य बड़ा और ऊँचा रखा जाय परन्तु प्रयास तो शक्ति और स्थिति के अनुसार ही उठा पाना सम्भव है । मंजिल भले ही मीलों दूर हो, पर वहाँ पर पहुँचने के लिए एक-एक कदम ही उठाना पड़ता है । उच्च नैतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए भी इसी प्रकार छोटे-छोटे व्रतों से शुभारम्भ करना चाहिए । नैतिक आदर्शों और मर्यादाओ का पालन करते हुए जब अपने व्यक्तित्व को ऊँचा उठाया जाता है तो जीवन में सुख-शान्ति समाज में प्रतिष्ठा व्यक्तिगत उपलब्धि के रूप में और समाज में सुव्यवस्था सामाजिक उपलब्धि के रूप में मिलना आरम्भ हो जाती है । नैतिक जीवन के विकास और आचरण में सामाजिकता की प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक है कि आन्तरिक जीवन में सुधार और अनुशासन में नैतिक साधना का अभ्यास आरम्भ किया जाय । यदि नैतिक नियमों के अनुसार कार्य करते रहा जाय तो जीवन में आने वाली अनिश्चित घटनाओ, तूफान, उलझनपूर्ण समस्याओं के बीच भी सम्पूर्ण सुरक्षा, शान्ति और विश्वास के साथ जीवन में समृद्धि व विकास का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है ।

जीवन को एकांगी बनाकर चलने वाले न तो इन सत्यों-तथ्यों को समझ ही पाते हैं और न उनको महत्त्व ही दे पाते हैं । जीवन साधना का साधक जीवन की सर्वांगीणता को समझता है । उसे उसके अनुरूप ही जीवन के हर पक्ष को विकसित एवं व्यवस्थित बनाना ही चाहिए । नैतिक मूल्यों को मान्यता देना तथा उनकी मर्यादा बनाये रखना जीवन को सार्थक, सुखी एवं समुन्नत बनाने के लिए अनिवार्य है ।

## शिष्ट और शालीन बनें

शिक्षित, सम्पन्न और सम्मानित होने के बावजूद भी कई बार व्यक्ति के सम्बन्ध में गलत धारणाएँ उत्पन्न हो जाती हैं और यह समझा जाने लगता है कि योग्य होते हुए भी अमुक व्यक्ति के व्यक्तित्व में

कमियाँ हैं । इसका कारण यह है कि शिक्षित, सम्पन्न और सम्मान्य होते हुए भी व्यक्ति के आचरण से, उसके व्यवहार से कहीं न कहीं ऐसी फूहड़ता टपकती है जो उसे सर्वगुण सम्पन्न होते हुए भी अशिष्ट कहलवाने लगती है । विश्व स्तर पर एक बड़ी संख्या में लोग सम्पन्न और शिक्षित भले ही हों, किन्तु उनके व्यवहार में यदि शिष्टता और शालीनता नहीं है तो उनका लोगों पर प्रभाव नहीं पड़ता । उनकी विभूतियों की चर्चा सुनकर लोग भले ही प्रभावित हो जायें परन्तु उनके सम्पर्क में आने पर अशिष्ट आचरण की छाप उस प्रभाव को धूमिल कर देती है ।

इसलिए शिक्षा, सम्पन्नता और प्रतिष्ठा की दृष्टि से कोई व्यक्ति ऊँचा हो और उसे हर्ष के अवसर पर हर्ष, शोक के अवसर पर शोक की बातें करना न आये तो लोग उसका मुँह देखा सम्मान भले ही करें, परन्तु मन में उसके प्रति कोई अच्छी धारणाएँ नहीं रख सकेंगे । शिष्टाचार और लोक-व्यवहार का यही अर्थ कि हमें समयानुकूल आचरण तथा बड़े छोटों से उचित बर्ताव करना आये । यह गुण किसी विद्यालय में प्रवेश लेकर अर्जित नहीं किया जा सकता इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए सम्पर्क और पारस्परिक व्यवहार का अध्ययन तथा क्रियात्मक अभ्यास ही किया जाना चाहिए । अधिकांश व्यक्ति यह नहीं जानते कि किस अवसर पर, कैसे व्यक्ति से, कैसा व्यवहार करना चाहिए ? कहाँ किस प्रकार उठना-बैठना चाहिए और किस प्रकार चलना-रुकना चाहिए । यदि खुशी के अवसर पर शोक और शोक के समय हर्ष की बातें की जाये, या बच्चों के सामने दर्शन और वैराग्य तथा वृद्धजनों की उपस्थिति में बालोचित या युवजनोचित शरारतें, हास्य विनोद भरी बातें की जायें अथवा गर्मी में चुस्त, गर्म, भड़कीले वस्त्र और शीत ऋतु में हल्के कपड़े पहने जायें तो देखने-सुनने वालों के मन में आदर नहीं उपेक्षा और तिरस्कार की भावनाएँ ही आयेंगीं ।

कोई भी क्षेत्र क्यों न हों, हम घर में हों या बाहर ऑफिस में हों अथवा दुकान पर और मित्रों-परिचितों के बीच हों अथवा अजनबियों में हर क्षण व्यवहार करते समय शिष्टाचार बरतना आवश्यक है । कहा गया है कि शिष्टाचार जीवन का वह दर्पण है जिसमें हमारे व्यक्तित्व का स्वरूप दिखाई देता है । इसी के द्वारा मनुष्य का समाज से प्रथम परिचय होता है । यह न हो तो व्यक्ति समाज में रहते हुए भी समाज से कटा-कटा सा रहेगा और किसी प्रकार आधा-अधूरा जीवन जीने के लिए बाध्य होगा । जीवन साधना के साधक को यह शोभा नहीं देता । उसे जीवन में पूर्णता लानी ही चाहिए । अस्तु शिष्टाचार को भी जीवन में समुचित स्थान देना ही चाहिए ।

शिष्टता मनुष्य के मानसिक विकास का भी परिचायक है । कहा जा चुका है कोई व्यक्ति कितना ही शिक्षित हो, किन्तु उसे शिष्ट और शालीन व्यवहार न करना आये तो उसे अप्रतिष्ठा ही मिलेगी क्योंकि पुस्तकीय ज्ञान अर्जित कर लेने से तो ही बौद्धिक विकास नहीं हो जाता । अलमारी में ढेरों पुस्तकें रखी होती हैं और पुस्तकों में ज्ञान राशि संचित रहती है । इससे अलमारी ज्ञानी और विद्वान तो नहीं कही जाती । वह पुस्तकीय ज्ञान ही केवल मस्तिष्क में आया हो तो मस्तिष्क की तुलना अलमारी से ही की जायेगी । उस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि व्यक्ति मानसिक दृष्टि से विकसित है । मानसिक विकास अनिवार्य रूप से आचरण में भी प्रतिफलित होता है । व्यवहार की शिष्टता और आचरण में शालीनता ही मानसिक विकास की परिचायक है ।

### शिष्टता मानवता का लक्षण है

यदि गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाय तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि शिष्टता ही मानवता का प्रमुख लक्षण है । पशु-पक्षियों को तो इस विषय का किंचित भी ज्ञान नहीं होता । उनका जीवन पूर्ण रूप से नैसर्गिक होता है, इसलिए वे अपने निश्चित रहन-सहन से जरा भी नहीं हट सकते । पशुओं की ही क्या बात, बुद्धि से शून्य असभ्य जातियों के व्यक्ति भी इस प्रकार का शिष्टाचार और सद्व्यवहार नहीं जानते, जिससे अन्य व्यक्तियों को प्रसन्नता प्राप्त हो सके । अफ्रीका के घोर अरण्य में रहने वाले हब्शियों के सम्बन्ध में "मन्टेरो" नामक यूरोपियन लेखक ने कहा है "हब्शी लोग प्रेम, अनुराग अथवा ईर्ष्या का नाम भी नहीं जानते । उनकी भाषा में अनुराग, प्रेम का सूचक कोई शब्द ही नहीं है । सर जानबलक ने अफ्रीका के ही "हटेनटट" जाति वालों का वर्णन करते हुए बतलाया कि, लोग एक दूसरे से इतने अधिक

उदासीन और निर्भय रहते हैं कि उन्हें देखकर आप यही समझेंगे कि उनमें प्रेम और शिष्टता जैसी कोई चीज नहीं है ।"

भारतीय संस्कृति में शिष्टाचार का बड़ा महत्त्व है । अति प्राचीन काल के ऋषियों और मुनियों ने शिष्टता तथा सभ्यता के जो नियम निर्धारित किए थे वे आज अपने देश में जहाँ-तहाँ दिखाई देते है । अपने देश में अतिथि, दान प्रणाली, गुरुजनों की पूजा और सेवा आदि के आदर्श विश्वविख्यात हैं । प्राचीन काल में जिस प्रकार किसी अनजान अतिथि का स्वागत-सत्कार, अर्घ्य, आचमन, आसन आदि से किया जाता था उसका उदाहरण संसार में अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई देगा ।

यदि हम अपनी संस्कृति की विशेषताओं पर विचार करें तो सबसे पहली बात हमको वह दिखलाई पड़ती है कि जहाँ अन्य देशों की सभ्यता और शिष्टाचार में बाह्य नियमों और कार्यों पर अधिक जोर दिया है, हमारे यहाँ उसकी असलियत को बढ़ाने का ध्यान रखा गया है । अगर हम किसी मनुष्य का प्रकट में बड़ा आदर-सत्कार करें, किन्तु पीठ पीछे उसकी चारों तरफ निन्दा करें उसकी जड़ खोदते रहें तो उस दिखावटी शिष्टाचार का कुछ मूल्य नहीं समझा जा सकता । भारतीय संस्कृति शिक्षा देती है कि हम अपने परिचितों के प्रति शिष्टाचार के बाहरी नियमों का पालन करते हुए उसके प्रति हृदय में सद्भावना और सहृदयता भी रखें । इन आन्तरिक भावनाओं से ही हमारे व्यवहार में वह वास्तविकता उत्पन्न होती है जिसकी तरफ सच्चे व्यक्ति आकर्षित होते है । भगवान कृष्ण ने दुर्योधन के राजसी स्वागत को त्यागकर विदुर के अत्यन्त साधारण आतिथ्य को स्वीकार किया तो उसका कारण यही था कि जहाँ दुर्योधन का स्वागत दिखावटी था वहाँ विदुर जी की भावनाएँ पूर्णरूप से आन्तरिक थीं । इसीलिए हमारे मनीषियों ने सम्माननीय व्यक्तियों के साथ पूर्ण आदर सत्कार का व्यवहार करते हुए उनके प्रति मन से श्रद्धा और सहायता के भाव रखने पर जोर दिया ।

यही कारण है कि संसार की अन्य सभ्यता और संस्कृतियाँ उतनी स्थिर नहीं रह पायीं जितनी कि हमारी संस्कृति । बाह्य आचरण और आन्तरिक भावनाओं में एकरूपता उसकी जीवन-शक्ति को अब भी सींचते और सुदृढ़ बनाये हुए है । भारतीय शिष्टाचार की यही विशेषता है कि वह लोक-व्यवहार में तो व्यक्ति का प्रभाव बढ़ाता ही है आन्तरिक दृष्टि से भी उसे गुण सम्पन्न बनाते हैं । इसी कारण भारतीय संस्कृति ने अगणित महान व्यक्तित्वों को जन्म दिया और उसमें आज भी वह शक्ति विद्यमान है । हमारी संस्कृति के अनुसार सद्गुण और सभ्यता का समन्वय ही वास्तविक शिष्टाचार है, जबकि सामान्यतः शिष्टाचार केवल औपचारिकता को ही समझा जाता है । ऊपरी आवभगत की जाय और हृदय में प्रेम भाव न हो यह भारतीय आदर्श के अनुकूल नहीं है । प्राचीन स्मृति-ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रमों का वर्णन करते हुए शिष्टाचार का भी वर्णन आया है और उससे सिद्ध होता है कि उस समय भारतवर्ष में सच्चे शिष्टाचार का सर्वत्र प्रचलन था । उस समय बालकों को आरम्भ से ही गुरुजनों के प्रति पूर्ण आदर और श्रद्धा रखने की शिक्षा दी जाती थी और गृहस्थों के लिए किसी भी अतिथि, नवागन्तुक की हार्दिक श्रद्धा और भक्ति से सत्कार करने का विधान बनाया गया था—"दक्षस्मृति" में कहा गया है—

सुधावस्तूनि वक्ष्यामि विशिष्टे गृहमागते ।
मनश्चक्षुर्मुखंवाच सोम्यं दत्वा चतुष्टयम् ॥
अभ्युत्थानततोगतगच्छेत पृच्छालाप प्रियान्वितः ।
उपासन मनुव्रज्या कार्याण्येतानि नित्यशः ॥

अर्थात्—"गृहस्थों का कल्याणकारी नियम यह है कि वे किसी सज्जन को अपने घर आने पर मन, नेत्र, मुख, वाणी—इन चारों को सौम्य रखें । उनको देखते ही खड़े होकर आने का प्रयोजन पूछें, प्यार से बोलें, यथोचित सेवा करें और चलते समय कुछ दूर उनके पीछे जायें । इस प्रकार का आचरण प्रतिदिन करना कर्तव्य-धर्म है ।"

शिष्टाचार के इन नियमों में पहले यही शिक्षा दी गई है कि अपने यहाँ जो आये उसका आदर केवल ऊपर से ही नहीं वरन् मन, मुख और वाणी सब तरह से करें । सबसे पहली बात यह है कि हम हृदय में निश्चय रखें कि किसी आगन्तुक का सत्कार, सेवा करना हमारा मानवीय कर्तव्य है । यदि हम उसका पालन नहीं करते तो मनुष्यता से गिरे हुए सामान्य पशु की तरह ही माने जायेंगे । मनुष्य को परमात्मा ने जो

ज्ञान दिया है उसका उद्देश्य यही है कि वह संसार में बिखरे हुए आत्म-तत्व को जानकर समस्त प्राणियों के साथ सहानुभूति का व्यवहार कर सके । पशु और मनुष्य में मुख्य अन्तर यही है कि पशु इस आत्म-तत्व को समझ सकने में असमर्थ होता है इसलिए उसका व्यवहार अपनी शारीरिक आवश्यकताओं तक ही सीमित रहता है । पर मनुष्य अपने विवेक द्वारा यह अनुभव कर सकता है कि शरीरों की पृथकता होने पर आत्म-तत्व की दृष्टि से सब प्राणी एक ही हैं, इसलिए संसार में सबसे बड़ा पुण्य या शुभ कार्य दूसरों का सम्मान भी बनाये रखना है । यदि हम ऐसा करते हैं जिससे दूसरों की आत्मा को क्लेश होवे या कष्ट पहुँचे तो वही पाप है । यही भारतीय शिष्टाचार का मूल है जिसके आधार पर यहाँ अतिथि-सत्कार गृहस्थ का सबसे बड़ा धर्म बतलाया गया था । उस समय मनुष्य केवल मीठी बातों से ही किसी आगन्तुक को प्रसन्न करने की चेष्टा नहीं करते थे, वरन् मन, वचन, कर्म एवं श्रद्धा से उसकी सेवा, उसकी आवश्यकता की पूर्ति करने का प्रयत्न करते थे । यह इस देश का क्रियात्मक शिष्टाचार था जिससे प्रकट होता था कि हम वास्तव में दूसरे व्यक्ति को एक आत्मीय की तरह मानते है और उसके लिए वास्तव में कुछ कष्ट सहन, त्याग, परिश्रम करने को तैयार हैं । इस प्रकार के स्वागत शिष्टाचार का प्रभाव ही चिरस्थायी रह सकता है ।

## शिष्टाचार के सामान्य नियम

निःसन्देह अब की स्थिति प्राचीन काल की परिस्थितियों से भिन्न है । पहले आवागमन के सुविधापूर्ण साधन नहीं थे इससे लोग एक ही स्थान पर रहते हुए तदनुरूप व्यवहार और रहन-सहन की मर्यादाओं का पालन कर लेते थे और शिष्टाचार के नियमों पर दूसरों का प्रभाव नहीं पड़ पाता था । अब सड़कों, रेल, मोटरों, जहाज वायुयान आदि साधनों की प्रगति से संसार भर के लोगो का हर जगह आना-जाना सम्भव हो गया है । इस कारण यात्रा, पर्यटन, लेन-देन और पारस्परिक व्यवहार भी बहुत बढ़ा है, फलतः शिष्टाचार के सर्वमान्य नियम निर्धारित नहीं किए जा सकते, क्योकि जो व्यवहार एक स्थान पर शिष्टाचार समझा जाता है, वही दूसरे देश में शिष्टता विरुद्ध समझा जाता है उदाहरण के लिए हमारे यहाँ नंगे पैर रहना साधुओं का लक्षण समझा जाता है और स्वास्थ्य की दृष्टि से भी नंगे पैरों टहलने को लाभदायक बतलाया गया है, पर अंग्रेजों में नंगे पैर रहना, विशेषतया किसी स्त्री के सामने नंगे पैर जाना बहुत बड़ी असभ्यता का चिन्ह माना जाता है । इसी प्रकार यूरोप, अमेरिका में भोजन के पश्चात् थोड़ी-सी शराब पी लेना रहन-सहन का साधारण अंग माना जाता है, पर भारतीय संस्कृति में इसकी गिनती महापापों में की गई है, और कम से कम यहाँ का कोई सम्माननीय व्यक्ति प्रकट रूप से इस कार्य को अपनी मर्यादा के अनुकूल नहीं समझता ।

फिर भी भारतीय संस्कृति के आदर्शों के अनुरूप पिछली शताब्दियों में संसार की विभिन्न सभ्यताओं के निकट आने पर कुछ ऐसी सर्वमान्य मर्यादाएँ निकल आई हैं जिनका सर्वत्र निर्वाह किया जा सकता है । इन मर्यादाओं का सर्वत्र पालन किया जाना चाहिए । कोई भी स्थान ऐसा नहीं कहा जा सकता जहाँ कि शिष्टाचार अनावश्यक लगे । मनुष्य को समाज में रहते हुए हर घड़ी अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में रहना पड़ता है, भले ही वह घर में हो अथवा बाहर । प्रत्यक्ष रूप से किसी के सम्पर्क में न आने पर हमारे व्यवहार या आचरण की शिष्टता-अशिष्टता दूसरों पर अपनी छाप छोड़ती है । किसी का सम्पर्क या निकटता न रहने पर भी कई कृत्य ऐसे हो जाते हैं जिनका दूसरों पर प्रभाव पड़ता है और वे अनजाने ही हमारे प्रति बुरी धारणा बना लेते है । जैसे राह चलते हुए किसी ने केला खाया और खाकर छिलका वहीं फेंक दिया । उसी रास्ते पर चलने वाले दूसरे किसी व्यक्ति का पैर उस छिलके पर पड़ा और वह फिसल कर गिर गया तो उसे जो पीड़ा या कष्ट पहुँचा उसके लिए छिलका फेंकने वाला दोषी है । वैसे भी सार्वजनिक स्थानों पर गन्दगी फैलाना अनागरिकता की निशानी है । उदाहरण का अर्थ यहाँ इतना भर है कि हमारा आचरण भले ही वह किसी के प्रति न किया गया हो दूसरों को अनिवार्य रूप से प्रभावित करता है । अतः शिष्टता और शालीनता की मर्यादाओं, नियमों का प्रत्येक परिस्थितियो में पालन करना चाहिए ।

शिष्टता और शालीनता हमारे छोटे-छोटे क्रिया-कलापों से व्यक्त होती है । जैसे कहीं बैठे हैं

और आस-पास दो चार व्यक्ति और बैठे हैं, उस समय जम्हाई ली, छींक या खाँसी आई और उस समय-अपने मुँह के सामने रूमाल लगा लिया तो इससे पास बैठने वाले व्यक्ति अनुभव करेंगे कि हम किसी सभ्य व्यक्ति के साथ बैठे हुए हैं और छींक या खाँसी आने पर मुँह के सामने रूमाल न रखा गया और सामने बैठे लोगों पर थूक उड़ गया तो रूमाल न रखने वालों पर असभ्यता, अशिष्टता का प्रभाव पड़ेगा। बात छोटी-सी है, किन्तु उससे व्यक्ति का समस्त प्रभाव धूमिल पड़ जायेगा।

इसी तरह की बहुत छोटी-छोटी बातें व्यक्ति का प्रभाव बढ़ाती और घटाती हैं। कई समझदार और शिक्षित कहे जाने वाले व्यक्ति तक उन छोटी-छोटी बातों को भूल जाते हैं या इन पर ध्यान देना आवश्यक नहीं समझते। जैसे घर में कोई आया हुआ हो तो उस समय भी बहुत से लोग अपने बच्चों, आश्रितों, या नौकरों को डाँटने-फटकारने लगते हैं। उन्हें इसी में अपनी शान बढ़ती अनुभव होती है। बहुत से व्यक्ति अपने घर आये व्यक्ति से स्नेहपूर्वक बातचीत तो करते हैं, कुशल-क्षेम भी पूछते हैं पर उनके बैठने का ढंग इतना बेहूदा होता है कि लगता है कि वे अतिथि को अपने से काफी छोटा और हीन समझ रहे हों। भले ही उनके मन में ऐसी कोई बात न हो परन्तु शिष्टाचार के सामान्य ज्ञान का अभाव अतिथि के मन में अच्छा प्रभाव नहीं छोड़ता।

बहुधा लोग अपनी सुविधा के सामने दूसरों की सुविधा-असुविधा का ध्यान नहीं रखते। जैसे कई व्यक्ति अपना खाली समय काटने के लिए अपने मित्र के पास जा बैठते हैं और गप्पें लड़ाने लगते है। मित्र संकोचवश कुछ कहते नहीं लेकिन खाली व्यक्ति अपना समय काटने के साथ-साथ दूसरो का वक्त भी बर्बाद करते है। यह न केवल अशिष्टता बल्कि मित्र द्रोह का पाप भी है कि हम अपने स्वार्थ के लिए अपने मित्र का समय बर्बाद करते हैं। इसी प्रकार सार्वजनिक उत्सव या सभा-सम्मेलनों में भी लोग अपने आस-पास बैठे व्यक्तियों की सुविधा-असुविधा का कोई ध्यान नहीं रखते और चाहे जैसे उठते-बैठते हैं, बीच में उठकर चल देना, ऊँघने लगना, बात-चीत करना या हँसना-बोलना शिष्टाचार के विरुद्ध है।

कभी-कभी सहानुभूति व्यक्त करने का ढंग भी इस प्रकार का हो जाता है कि उससे सामने वालों को सान्त्वना, सहयोग मिलने की अपेक्षा उसका अनिष्ट ही ज्यादा होता है। बहुत से लोग रोगी व्यक्ति के पास सम्वेदना जताने कुशलक्षेम पूछने के लिए जाते हैं तो प्रायः रोगी को रोग बढ़ा-चढ़ाकर बताते हैं। जिससे रोगी को सान्त्वना मिलने, स्वस्थ होने की आशा बाँधने के स्थान पर निराशा ही मिलती है।

व्यवहार में ही नहीं बातचीत और रहन-सहन में भी शिष्टता-शालीनता का ध्यान रखना चाहिए। घनिष्ठ मित्र हो अथवा सर्वथा अपरिचित व्यक्ति बातचीत में सभ्यजनोचित मर्यादाओं का तो ध्यान रखना ही चाहिए। बहुत से लोगों को बातचीत में तकिया क़लाम—किसी शब्द को बार-बार दोहराने की आदत पड़ जाती है। कई व्यक्ति बात करते-करते बीच-बीच में गालियाँ-अपशब्दों का भी प्रयोग करते जाते हैं। बहुधा इस प्रकार की त्रुटियाँ आदत में इस कदर शुमार हो जाती हैं कि कब वे त्रुटियाँ हो जाती हैं कि इसका पता ही नहीं चलता। सुनने वालों को भी इसमें बुरा लगता है और कहने वाले को भी, जब इस पर ध्यान जाता है तो उसे भी लज्जा और संकोच का अनुभव होता है। बातचीत में होने वाली इस प्रकार की त्रुटियाँ अभ्यास द्वारा रोकी जानी चाहिए और बात करते समय दूसरों के प्रति सम्मान व्यक्त करना चाहिए।

इसी प्रकार किसी की बातों में हस्तक्षेप करना, सामने वालो की बात अधूरी काट कर अपनी बात कहने लगना सामान्य शिष्टाचार के विरुद्ध है। ऐसा करने पर जिनसे बात की जा रही है वे सोचने लगते है कि यह व्यक्ति कितना घटिया और अशिष्ट है। स्वयं अपनी बात को किसी के द्वारा काटने पर कितना बुरा लगता है। इसे लोग अपने सम्मान के विरुद्ध समझते है, किन्तु वही लोग जब दूसरों की बात काटकर अपनी कहने लगते है तो उन्हें दूसरों की भावना का जरा भी ख्याल नहीं रहता।

इसी प्रकार खान-पान, वेश-भूषा, चलने-खड़े होने, उठने-बैठने और कहीं आने-जाने में शिष्टाचार बरतना आवश्यक है। शिष्टता व्यक्ति के अंग-अंग और छोटे से छोटे कार्यों में व्यक्त होनी चाहिए। अर्थात् क्षण-क्षण शिष्टाचार का ध्यान रखना चाहिए। मानवीय सभ्यता

के स्तर को बनाये रखने का उत्तरदायित्व हम कितनी कुशलता के साथ निभा रहे हैं यह हमारे आचरण और व्यवहार में बरते गये शिष्टाचार से ही जाना जा सकता है, लेकिन शिष्टाचार की कोई सर्वांगपूर्ण परिभाषा नहीं की जा सकती क्योंकि उसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। वह व्यक्ति द्वारा प्रतिपल होने वाली क्रियाओं का नियमन करता है और उसके स्वरूप का निर्धारण करता है। फिर भी उस सम्बन्ध में यह मानकर चला जा सकता है कि दूसरो के द्वारा हम जिस प्रकार सम्मान प्राप्त करना चाहते हैं उसी प्रकार दूसरों के प्रति स्वयं भी व्यवहार करना चाहिए। जिन कारणों से हमें अपनी भावनाओं पर ठेस लगती अनुभव हो उन कारणों को स्वयं भी दूसरों के लिए प्रस्तुत न किया जाय।

कहा जा चुका है कि शिष्टाचार का पालन छोटे-छोटे कार्यों और सामान्य व्यवहारों में किया जाना चाहिए। यो समाज मे रहने के कारण व्यक्ति थोड़े बहुत शिष्टता के नियम तो सीख ही जाता है। सुसंस्कृत परिवारों में शिष्टता की शिक्षा बचपन से ही मिलने लगती है। परिवार के सदस्यो को भी अपनी छोटी से छोटी क्रियाओं पर पैनी नजर रखनी चाहिए और देखना चाहिए कि हम कहीं अनजाने दूसरों की भावनाओं पर आघात तो नही पहुँचाते अथवा हमारा कौन-सा आचरण शिष्टाचार के विरुद्ध है। जहाँ कहीं भी अपने आचरण व्यवहार मे शिष्टता का अभाव दिखाई दे वहीं उस कमी को दूर करने के लिए तत्सम्बन्धी शिष्टाचार का अभ्यास करना चाहिए, यह नहीं सोचना चाहिए कि इन छोटी-छोटी बातों में इतनी बारीकियों तक जाने की क्या आवश्यकता है। मनुष्य का व्यक्तित्व छोटे-छोटे क्रियाकलापों से ही उजागर होता है। उदाहरण के लिए किसी को पुकारते समय उसके नाम के आगे 'श्री' लगाना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। एक शब्द मे एक अक्षर का ही अधिक उच्चारण करना पड़ता है, किन्तु 'श्री' शब्द का प्रयोग करने में जो शील और शालीनता व्यक्त होती है वह केवल नाम लेकर दण्डवत् प्रणाम करने से भी नहीं होती है। कहने का अर्थ यह है कि अपने व्यक्तित्व की छाप दूसरों पर अच्छी पड़े, अपना स्वरूप, सौम्य बनकर उभरे इसके लिए व्यवहार और आचरण में शिष्टता का समावेश किया ही जाना चाहिए।

## नागरिक कर्तव्यों की उपेक्षा न करें

अपने आचरण, दृष्टिकोण और क्रिया-कलापों द्वारा समाज के हित का ध्यान रखना, उन पर आघात न करना और स्वार्थ के साथ-साथ समाज के हितों को भी साधना सामाजिकता है। पारस्परिक सम्बन्धों में जिसे हम नैतिकता कहते हैं, समाज के प्रति उन्ही भावनाओं को सामाजिकता कहा जा सकता है। उसी प्रकार सामान्य सम्बन्धों में जिसे शिष्टता कहा जाता है सामाजिक सन्दर्भों में उन भावनाओं के परिपालन को नागरिकता कहा जाना चाहिए। लोक व्यवहार में जिस प्रकार दूसरों की सुविधा, सद्भावनाओं की अभिव्यक्ति अपने व्यवहार के माध्यम से की जाती है उसी प्रकार उन अज्ञात और अपरिचित व्यक्तियों की सुविधा, सम्मान तथा भावनाओं का भी ध्यान रखना चाहिए जो प्रत्यक्षतः हमारे सम्पर्क में नहीं आते। शिष्टाचार उन्हीं के साथ बरतना सम्भव है जो प्रत्यक्ष रूप से अपने सम्पर्क में आते हैं, किन्तु समाज में रहने के नाते हमारा आचरण अन्य, अपरिचित व्यक्तियों को भी प्रभावित करता है। उदाहरण के लिए हमें पता नहीं रहता कि जिस रास्ते मे हम गुजरते हैं उस पर पाँच-दस मिनट बाद कौन गुजरेगा या उसी समय कौन चल रहा है। उस समय कोई परिचित व्यक्ति भी वहाँ से गुजर सकता है और अपरिचित भी। परिचित हो, तो भी उसी रास्ते उसका गुजरना हमारे लिए असम्बन्धित है। स्वयं चलते समय राह में यदि ऐसी कोई हरकत की जाय जिससे कि वहाँ चलने वाले को परेशानी या नुकसान उठाना पड़े तो प्रत्यक्षतः उसके लिए हम अपने को जिम्मेदार नहीं मान सकते परन्तु अपनी लापरवाही के कारण उसे हानि पहुँची यह जरूर अनुभव किया जा सकता है। इस लापरवाही को असभ्यता अथवा अनागरिकता कहा जाना चाहिए।

नागरिक कर्तव्यों के प्रति उपेक्षा—लापरवाही के कारण होने वाले दुष्परिणामों की चर्चा करते हुए एक विद्वान् लेखक ने लिखा है—"क्या आपने केले और नारंगी के छिलके चारों तरफ पड़े हुए नहीं देखे हैं ? क्या ऐसा कभी हुआ है कि जब आप जल्दी काम से सड़क पर चल रहे हो या जल्दी में रेल पर चढ़ने के लिए प्लेटफॉर्म पर दौड़े हों तो इन छिलको पर पैर रखे जाने के कारण फिसल कर गिर पड़े हों। अगर आपका ऐसा अनुभव है तो आपने कभी सोचा है कि

आपने स्वयं भी छिलके ऐसी जगहों पर नहीं फेंके जहाँ नहीं फेंके जाने चाहिए थे ।"

"क्या आपको ऐसा अनुभव कभी नहीं हुआ कि जब आप रेल पर चढ़े हों तो रेल के डिब्बे में व्यर्थ का कूड़ा-करकट पाकर बड़ा बुरा लगा हो और आपने उन मुसाफिरों को खूब कोसा हो जो उस डिब्बे मे पहले चढ़े थे और उन चीजों को बाहर फेंक देना चाहिए था उन्हें डिब्बे में ही छोड़कर चल दिए । परन्तु आपने खुद कभी इस बात का विचार रखा है कि इस प्रकार के कूड़े को कम करें या उसे और न बढ़ायें ।"

इन प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में अपने आस-पास के वातावरण का अवलोकन किया जाय तो प्रतीत होगा कि आमतौर पर हमें सार्वजनिक जीवन में दूसरों की सुविधा-असुविधा का ध्यान नहीं रहता । भले ही कोई व्यक्ति चरित्र की दृष्टि से कितना ही ऊँचा क्यों न हो, वाक्पटु और व्यवहार-कुशल हो, किन्तु दूसरों की सुविधा-असुविधा का ध्यान न रखते हुए वह लापरवाही बरतता है तो वह चाहे जो भी हो परन्तु उसे सभ्य तो नहीं ही कहा जा सकता । अपने देश की तुलना पश्चिमी देशों से करने पर प्रतीत होगा कि हमारे यहाँ का चारित्रिक स्तर अपेक्षाकृत अधिक ऊँचा है । पश्चिमी देशों मे जो अनाचार, चरित्रहीनता, यौन-उच्छृंखलताओं की घटनाएँ घटती हैं उनसे सभी परिचित हैं । वहाँ यौनशुचिता और गृहस्थ जीवन की पवित्रता जिस प्रकार भ्रष्ट होती जा रही है और पारिवारिक, सामाजिक जीवन का ढाँचा जिस प्रकार लड़खड़ाता जा रहा है उससे वहाँ के बुद्धिजीवी भी चिन्तित है । उस क्षेत्र में अपने भारतीय समाज की स्थिति पर सन्तोष किया जा सकता है, किन्तु हम अपने आस-पास सामाजिक कर्तव्यों की उपेक्षा, नागरिक मर्यादाओं की अवहेलना देखते है तो लगता है कि दुष्परिणाम पश्चिमी देशों से कम नहीं अधिक विस्फोटक रूप में ही सामने आ सकते हैं । अधिकांश व्यक्ति आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक, स्वर्ग मुक्ति जैसे आध्यात्मिक विषयों पर गूढ़ चर्चा करते देखे जा सकते हैं, किन्तु उन्हें अपने मोहल्ले और गली की सफाई का भी ध्यान नही रहता । ध्यान आता भी है तो वे इन विषयों को महत्त्वहीन मान लेते हैं । व्यक्तिगत रूप से लोग पूजा-पाठ, भजन-पूजन, देव-दर्शन आदि तो नियमित रूप से करते हैं, किन्तु किसी सार्वजनिक या पारिवारिक समारोह में उनके लिए समय पर पहुँच पाना असम्भव हो जाता है । इस प्रकार की सावधानियाँ साधारण कहकर टाल भले ही दी जायें, किन्तु इनसे जो कठिनाइयाँ आये दिन प्रस्तुत होती रहती हैं—सामने आने पर बौखलाहट, खीझ और उत्तेजना आ जाती है ।

नागरिक कर्तव्यों का ध्यान रखा जाय तो इस तरह की कठिनाइयों और असुविधाओं से सरलतापूर्वक छुटकारा पाया जा सकता है । इन कर्तव्यों की अवहेलना का ही परिणाम है कि लोगों का एक-दूसरे पर विश्वास नहीं जम पाता और हर घड़ी किसी उलझन में फँसने, कठिनाई सहने की आशंका बनी रहती है । उदाहरण के लिए सड़क पर जा रहे हैं तो अचानक ऊपर से कूड़ा-करकट, पत्थर-ईंट या गन्दे पानी की बारिश होने लगती है । कारण आस-पास के मकानों में रहने वालों को इस बात का ध्यान ही नहीं रहता कि सड़क पर कोई चल रहा है, इससे वहाँ कूड़ा-कचरा नहीं फेंका जाय । इस तरह की कठिनाइयों का कारण नागरिक ज्ञान का अभाव ही कहना चाहिए और इस अज्ञान के कारण उत्पन्न हुआ अविश्वास व्यक्तिगत सम्बन्धों में भी अनिश्चितता पैदा करता रहता है । जिस प्रकार सार्वजनिक जीवन में लापरवाही और दूसरों के प्रति अपेक्षा का आचरण किया जाता है वहीं व्यक्तिगत सम्बन्धों को भी प्रभावित करता है ।

सार्वजनिक जीवन की उपेक्षा और असावधानी का यह रोग मनुष्यों तक ही नहीं उनके पालित पशुओं और बच्चों तक फैल गया है । लोग दूध पीने के लिए पशु पालते है, किन्तु खर्च से बचने के लिए उन्हें खुला छोड़ देते हैं और ये पशु बाजारों, सार्वजनिक, स्थानों, रास्तों, सड़कों पर स्वतंत्र घूमते रहते हैं, वहाँ लोगों का नुकसान करते है । कभी-कभी तो बाजारो में पशुओं की लड़ाई से जन-धन की भी हानि हो जाती है । इस स्थिति के लिए निश्चित रूप से उन्हें पालने वाले जिम्मेदार हैं । यही नहीं इस तरह की छोटी-छोटी बातों से हमारे राष्ट्रीय जीवन का व्यक्तित्व भी विकृत होता है । बाहर देशों से आने वाले पर्यटक यात्री इस तरह की घटनाओं को बड़े आश्चर्य से देखते है और हमारी असभ्यता का दुष्प्रभाव लेकर जाते हैं ।

इस तरह की गई आदतों का दुष्प्रभाव सार्वजनिक स्वास्थ्य पर भी पड़ता है । इन दिनों अस्पताल, औषधालय बढ़ रहे हैं, किन्तु मरीजों और बीमारों की संख्या भी बढ़ रही है । कारण चारों ओर फैली रहने वाली

गन्दगी हटा दी जाने पर फिर ढेर बन जाती है । सफाई के लिए सरकार या नगरपालिका कुछ प्रबन्ध करती है, किन्तु लोग अपनी गन्दी आदतों से पुनः वहां गन्दगी पैदा कर देते है । सार्वजनिक स्थान, सड़कों, बाजारों आदि स्थानों पर स्वच्छता कर्मचारी दिन में दो-तीन बार झाड़ू लगाते हैं, किन्तु किसी भी समय वहाँ जाकर देखा जाय तो गन्दगी पुनः ज्यों की त्यो मिलती है । कारण है—लोगों में नागरिक कर्तव्यो का अज्ञान या उनकी जानबूझ कर अवज्ञा ।

सार्वजनिक जीवन में सुव्यवस्था तभी सम्भव है जबकि नागरिक कर्तव्यों के प्रति हम पर्याप्त सजग हों सार्वजनिक स्थानों पर हम जैसा बर्ताव करते है—इसका औरों पर भी प्रभाव पड़ता है । छोटे बच्चे, कम पढ़े-लिख, और हमसे निम्न स्तर के व्यक्ति उन बर्तावों को देखकर ही स्वयं भी आचरण करते हैं । जैसे एक शिक्षित व्यक्ति का अनुकरण अल्पशिक्षित या अशिक्षित व्यक्ति करता है, सम्पन्न व्यक्ति का कम सम्पन्न या निर्धन व्यक्ति अनुकरण करता है । प्रतिष्ठित जनो का सामान्य जन अनुकरण करते हैं और देखते हैं कि हमसे शिक्षित, प्रभावशाली, बड़े या प्रतिष्ठित व्यक्ति नागरिक कर्तव्यों का कोई ध्यान नहीं रख रहे हैं अथवा उनकी अवहेलना कर रहे हैं तो हम ही क्यों करें । इसलिए प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को सार्वजनिक जीवन मे सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए स्वयं नागरिकता के नियमों का पालन करना चाहिए । शिष्टता की भाँति ही नागरिकता की भी कोई सर्वांगपूर्ण परिभाषा नहीं की जा सकती । समय, परिस्थिति और वातावरण के अनुरूप हमें स्वय ही यह निर्धारित करना पड़ता है कि कहाँ किन मर्यादाओं का पालन करना चाहिए । आमतौर पर सार्वजनिक स्थानों में जहाँ लोगों का आना-जाना हमेशा बना रहता है कई जगह वहाँ के विशिष्ट नियम लिखे रहते हैं । उनका ध्यान तो रखना ही चाहिए । स्वच्छता, सुव्यवस्था और शान्ति बनाये रखने के लिए स्वयं अपने विवेक का भी उपयोग करना चाहिए ।

सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जहाँ हम उपस्थित है वहाँ दूसरे लोग भी है या हमारे बाद में हो सकते हैं । हम अपनी उपस्थिति का ऐसा कोई फूहड़ प्रमाण वहाँ न छोड़ें जिससे वहाँ मौजूद या आने वाले व्यक्तियों को असुविधा हो । न ही इस प्रकार का उच्छृंखल आचरण ही करें कि उस स्थान की व्यवस्था और शान्ति भंग होती हो । अच्छा नागरिक बनने के लिए इन निषेधात्मक पहलुओं पर ध्यान देने के साथ-साथ विधेयात्मक पहलुओं पर भी ध्यान देना चाहिए । इसके लिए हम सार्वजनिक जीवन में सुव्यवस्था और शान्ति स्थापित करने के लिए स्थिति और सामर्थ्य के अनुसार किसी तरह का योगदान दे सकते हैं ।

सार्वजनिक जीवन में नागरिक कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए, दूसरों की सुविधा-असुविधा का ध्यान रखते ओर व्यवस्था एवं शान्ति बनाये रखने में सहयोग देते हुए हम सुयोग्य नागरिक बन सकते हैं । जीवन साधना का यह एक अनिवार्य पहलू है । यह एक प्रमाणित तथ्य है कि किसी देश, समाज का, जाति का उत्कर्ष उसमें उत्पन्न होने वाले दो-चार महापुरुषों से ही नही हो जाता । यदि ऐसा हुआ होता तो महापुरुषों की खान कही जाने वाली—भारतभूमि की सन्तानें, भारतीय समाज आज इतना दुर्दशाग्रस्त नहीं होता । किसी भी समाज या जाति का उत्कर्ष उसमें रहने वाले सदस्यों के उज्ज्वल चरित्र और धवल व्यक्तित्व पर निर्भर रहता है । महापुरुषों के प्रयास सदैव इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए चलते हैं । एक आदर्श मानव का व्यक्तित्व सुसंस्कृत अन्तस् तथा सुसभ्य आचार से मिलकर ही बनता व निखरता है । जीवन साधना का यही प्रयोजन है । इस साधना को अपनाकर ही व्यक्तिगत जीवन में सुख-शान्ति तथा सामाजिक जीवन में सुव्यवस्था और समुन्नति की स्थिति बनाई जा सकती है ।

जीवन साधना के आधारभूत सिद्धान्तों की चर्चा ही यहाँ की गई है । उसे व्यवहार में किस प्रकार उतारा जाय, इसका भी दिग्दर्शन किया गया है, किन्तु अपने लिए उसका स्वरूप निर्धारण स्वय ही करना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की मनोभूमि, उसकी प्रकृति, परिस्थितियाँ तथा मान्यताएँ सर्वथा भिन्न-भिन्न होती हैं । इनमें से किसी भी एक का साम्य किन्हीं दो व्यक्तियो में नही हो पाता । अतः आदर्श जीवन की आचार संहिता क्या हो, यह स्वयं अपने विवेक से प्रस्तुत सिद्धान्तों के आधार पर निर्धारित करना चाहिए और व्यक्तित्व का अन्तरंग—बहिरंग विकसित करते चलना चाहिए ।

ॐॐॐ

# जीवन साधना के स्वर्णिम सूत्र

## सुधरें-सँभलें तो काम चले

प्रकृति अलमस्त बच्चे की तरह निरन्तर अपने खेल-खिलवाड़ में लगी रहती है । पचतत्वों के रेत-बालू को बटोरना, सँजोना, बढ़ाना-घटाना, बिगाड़ना बस यही उसके क्रिया-कलाप का केन्द्र विन्दु है । बाजीगर का तमाशा देखने में अपनी सुध-बुध खो बैठने वाले मनचले दर्शकों की तरह लोग उस कौतुक-कौतूहल को देखने के लिए एकत्रित हो जाते हैं । हाथ की सफाई का कमाल उन्हें ऐसा सुहाता है कि कहाँ जाना था, क्या करना था, जैसे तथ्यों को भूल बैठते हैं और बेतुकी कल्पनाओं मे उड़ने-तैरने लगते हैं । इन प्रपच-कौतुकों में मन भी सहायता देता है, रोने-हँसने तक लगता है ।

यही है प्रकृति का प्रपंच, जिसमें आम आदमी बेतरह उलझा, उद्विग्न, खिन्न, विपन्न होते देखा जाता है । कभी-कभी तो इसे सिनेमा के पर्दे से प्रभावित होकर चित्र-विचित्र अनुभूतियों में तन्मय होते तक देखा जाता है । यद्यपि यह पूरा कमाल कैमरों का, प्रोजेक्टर का, एक्टर-डायरेक्टर का रचा हुआ जाल-जंजाल भर होता है; पर दर्शक तो दर्शक जो ठहरे, उन्हें पर्दे में रेंगती छाया भी वास्तविक दीखती है और इतने भर मे आँसू बहाते, मुस्कराते, आक्रोश व्यक्त करते और आवेश में आते तक देखे गए है । ऐसे विचित्र हैं यह कौतुक-कौतूहल, जिसने समझदार कहे जाने वाले मनुष्यो को भी अपने साथ बेतरह जकड़-पकड़ रखा है ।

इस दिवा-स्वप्न की प्रवंचना का पता तब चलता है, जब आँख खुलती है, नशे की खुमारी उतरती है और भगवान के दरबार में पहुँचकर सौंपे गए कार्य के सम्बन्ध में पूछ-ताछ की बारी आती है । इससे पूर्व यह पता ही नहीं चलता कि कितना गहरा भटकाव सिर पर हावी रहा और वह कराता रहा, 'जिसे करने के लिए उन्माद-ग्रस्तों के अतिरिक्त और कोई कदाचित् ही तैयार हो सकता है ।

### उलझने का नहीं, सुलझने का प्रयास करें

यही वह भूल-भुलैयों का भटकाव है, जिसे तत्वदर्शी प्रायः मायाजाल कहते और उससे बच निकलने की चेतावनी देते रहते हैं । पर उस दुर्भाग्य को क्या कहा जाय, जो मूर्खता छोड़ने और बुद्धिमत्ता अपनाने की समझ को उगने-उठने ही नहीं देता ? सुरदुर्लभ मनुष्य जीवन की दुःख भरी बर्बादी की यह पृष्ठभूमि है । आश्चर्य यह है कि शिक्षित, अशिक्षित, समझदार, बेअक्ल सभी अंधी भेड़ों की तरह एक के पीछे एक चलते हुए गहरे गर्त में गिरते और दुर्घटनाग्रस्त स्थिति मे कराहते-कलपते अपना दम तोड़ते है ।

अब आइये, जरा समझदारी अपनाएँ और समझदारों की तरह सोचना आरम्भ करें । मनुष्य जीवन, स्रष्टा की बहुमूल्य धरोहर है, जो स्वयं को सुसंस्कृत और दूसरो को समुन्नत करने के दो प्रयोजनो के लिए सौंपा गया है । इसके लिए अपनी योजना अलग बनानी और अपनी दुनिया अलग बसानी पड़ेगी । मकड़ी अपने लिए अपना जाल स्वय बुनती है । उसे कभी-कभी बन्धन समझती है तो रोती-कलपती भी है, किन्तु जब भी वस्तुस्थिति की अनुभूति होती है तो समूचा मकड-जाल समेट कर उसे गोली बना लेती है और पेट में निगल लेती है । अनुभव करती है कि सारे बन्धन कट गए और जिस स्थिति मे अनेकों व्यथा-वेदनाएँ सहनी पड़ रही थीं, उसकी सदा-सर्वदा के लिए समाप्ति हो गई ।

ठीक इसी से मिलता-जुलता दूसरा तथ्य यह है कि, हर मनुष्य अपने लिए, अपने स्तर की दुनिया, अपने हाथों आप रचता है । उस घोंसले में वह अपनी जिन्दगी बिताता है । उसमें किसी दूसरे का कोई हस्तक्षेप नहीं है । दुनिया की अड़चनें और सुविधाएँ तो धूप-छाँव की तरह आती-जाती रहती हैं । उनकी उपेक्षा करते हुए कोई भी राहगीर, अपने अभीष्ट-पथ

पर निरन्तर चलता रह सकता है । किसी के भी वस में इतनी हिम्मत नहीं, जो बढ़ने वालों के पैर में बेड़ी डाल सके । भले या बुरे स्तर के आश्चर्यजनक काम कर गुजरने वालों में से प्रत्येक की कथा-गाथा इसी प्रकार की है, जिसमें प्रतिकूल परिस्थितियों का झीना पर्दा उन्होंने हटाया और वही कर गुजरे, जो उन्हें अभीष्ट था । मनुष्य बना ही उस धातु का है, जिसकी संकल्प भरी साहसिकता के आगे कभी भी कोई अवरोध टिक नहीं सका है और न कभी टिक ही सकेगा । इस युक्ति में परिपूर्ण सार्थकता है कि "मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है ।" वही अपने हाथों गिरने के लिए खाई खोदता है और चाहे तो उठने के लिए समतल सीढ़ियों वाली मीनार भी चुन सकता है ।

अपने को दीन-हीन, दयनीय, दरिद्र, अनगढ़, अभागा, बाधित समझने वालों को वस्तुतः यही अनुभव होता है कि वे दुरूह परिस्थितियों से जकड़े हुए हैं; किन्तु जिनकी मान्यता यह है कि उनमें उठने और महानता की मंजिल तक जा पहुँचने की शक्ति है, वे प्रतिकूलताओं को अनुकूलता में बदल सकने में भी समर्थ होते हैं । उठने में सहायता करने का श्रेय किसी को भी दिया जा सकता है और गिरने में गिराने का दोषारोपण भी किसी पर भी किया जा सकता है; पर वस्तुस्थिति ऐसी है कि यदि अपने ही व्यक्तित्व और कर्तव्य को ऊँचा उठाने और गिराने के लिए उत्तरदायी ठहराया जाय, तो यह मान्यता सबसे अधिक सही होगी ।

गई-गुजरी स्थिति में रहने वालों की स्थिति पर आँसू बहाये जा सकें तो अनुचित नहीं, उनकी सहायता करना भी मानवोचित कर्तव्य है । पर यह भुला नहीं दिया जाना चाहिए कि जब तक तथाकथित असहाय कहाने वालो का मनोबल न उठाया जायेगा, उनमें पुरुषार्थपूर्वक आगे बढ़ने का संकल्प न उभारा जायेगा, तब तक ऊपर से थोपी गई सहायता कोई चिरस्थायी परिणाम उत्पन्न न कर सकेगी । उत्कंठा का चुम्बकत्व अपने आप में इतना शक्तिशाली है, कि उसके सहारे निश्चित रूप से प्रगति का पथ-प्रशस्त किया जा सकता है । इस उक्ति को भी ध्यान में रखे ही रहना चाहिए कि "ईश्वर मात्र उन्हीं की सहायता करता है, जो अपनी सहायता आप करते हैं ।" दीन-दुर्बलो को तो प्रकृति भी अपनी मौत आप मरने के लिए उपेक्षापूर्वक छोड़ती और मुँह मोड़कर अपनी राह चल पड़ती देखी गई है । शास्त्रकारों और आप्तजनों ने इस तथ्य का पग-पग पर प्रतिपादन किया है ।

वेदान्त विज्ञान के चार महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं—"तत्वमसि", "अयमात्मा ब्रह्म", "प्रज्ञानं ब्रह्म", "सोऽहम्" । इन चारों का एक ही अर्थ है कि परिष्कृत जीवात्मा ही परब्रह्म है । हीरा और कुछ नहीं, कोयले का ही परिष्कृत स्वरूप है । भाप से उड़ाया हुआ पानी ही वह स्रवित जल (डिस्टिल वाटर) है, जिसकी शुद्धता पर विश्वास करते हुए उसे इंजेक्शन जैसे जोखिम भरे कार्यों में प्रयुक्त किया जाता है । मनुष्य और कुछ नहीं, मात्र भटका हुआ देवता है । यदि वह अपने ऊपर चढ़े मल-आवरण और विक्षेप को, कषाय-कल्मषों को उतार फेंके, तो उसका मनोमुग्धकारी अतुलित सौन्दर्य देखते ही बनता है । गाँधी और अष्टावक्र की दृश्यमान कुरूपता उनकी आकर्षकता, प्रतिभा, प्रामाणिकता और प्रभाव गरिमा में राई-रत्ती भी अन्तर न डाल सकी । जब मनुष्य के अन्तःकरण का सौन्दर्य खुलता है, तो बाहरी सौन्दर्य की कमी का कोई महत्त्व नहीं रह जाता ।

गीताकार ने इस तथ्य की अनेक स्थानो पर पुष्टि की है, वे कहते हैं—"मनुष्य स्वयं ही अपना शत्रु है और स्वयं अपना मित्र है", "मन ही बन्धन और मोक्ष का एक मात्र कारण है ।" "अपने आप को ऊँचा उठाओ, उसे गिराओ मत ।" इन अभिवचनों में अलंकार जैसा कुछ नही है । प्रतिपादन में आदि से अन्त तक सत्य ही सत्य भरा पड़ा है । एक आप्तपुरुष का कथन है—"मनुष्य की एक मुट्ठी में स्वर्ग और दूसरी में नरक है । वह अपने लिए इन दोनों में से किसी को भी खोल सकने मे पूर्णतया स्वतन्त्र है ।"

## उसे जड़ में नहीं, चेतन में खोजें

समझा जाता है कि विधाता ही मात्र निर्माता है । ईश्वर की इच्छा के बिना पत्ता नही हिलता । दोनों प्रतिपादनों से भ्रमग्रस्त न होना हो, तो उसके साथ ही इतना और जोड़ना चाहिए कि उस विधाता या ईश्वर से मिलने-निवेदन करने का सबसे निकटवर्ती स्थान अपना अन्तःकरण ही है । यों ईश्वर सर्वव्यापी है और उसे कही भी अवस्थित माना, देखा जा सकता है । पर यदि दूरवर्ती भाग-दौड़ करने से बचना हो

और कस्तूरी वाले मृग की तरह निरर्थक न भटकना हो, तो अपना ही अन्तःकरण टटोलना चाहिए । उसी पर्दे के पीछे बैठे परमात्मा को जी भरकर देखने की, हृदय खोलकर मिलने-लिपटने की अभिलाषा सहज ही पूरी कर लेनी चाहिए । भावुकता भड़काने या काल्पनिक उड़ानें-उड़ने से बात कुछ बनती नहीं ।

ईश्वर जड़ नहीं चेतन है । इसे प्रतिमाओं तक सीमित नहीं किया जा सकता है । चेतना वस्तुतः चेतना के साथ ही, दूध पानी की तरह घुल-मिल सकती है । मानवी अन्तःकरण ही ईश्वर का सबसे निकटवर्ती और सुनिश्चित स्थान हो सकता है । ईश्वर दर्शन, साक्षात्कार, प्रभु सान्निध्य जैसी उच्च स्थिति का रसास्वादन जिन्हें वस्तुतः करना हो, उन्हें बाहरी दुनिया की ओर से आँखें बन्द करके अपने ही अन्तराल में प्रवेश करना चाहिए और देखना चाहिए कि जिसको पाने, देखने के लिए अत्यन्त कष्ट-साध्य और श्रम-साध्य प्रयत्न किए जा रहे थे, वह तो अत्यन्त ही निकटवर्ती स्थान पर विराजमान-विद्यमान है । सरलता को कठिन बनाकर रख लेना, यह शीर्षासन लगाना भी तो मनुष्य की इच्छा और चेष्टा पर निर्भर है । अन्तराल में रहने वाला परमेश्वर ही वस्तुतः उस क्षमता से सम्पन्न है, जिससे अभीष्ट वरदान पाना और निहाल बन सकना सम्भव हो सकता है । बाहर के लोग या देवता, या तो अन्तःस्थिति चेतना का स्मरण दिला सकते हैं, अथवा किसी प्रकार मन को बहलाने के माध्यम बन सकते हैं ।

मन्दिर बनाने के लिए अतिशय व्याकुल किसी भक्त जन ने किसी सूफी सन्त से मन्दिर की रूप-रेखा बना देने के लिए अनुरोध किया । उन्होंने अत्यन्त गम्भीरता से कहा "इमारत अपनी इच्छानुरूप कारीगरों की सलाह से बजट के अनुरूप बना लो, पर एक बात मेरी मानो, उसमे प्रतिमा के स्थान पर एक विशालकाय दर्पण ही प्रतिष्ठित करना; ताकि उसमें अपनी छवि देखकर दर्शकों को इस वास्तविकता का बोध हो सके कि या तो ईश्वर का निवास उसके लिए विशेष रूप से बने या इसी काय-कलेवर के भीतर विद्यमान है, अथवा फिर यह समझे कि आत्म-सत्ता को यदि परिष्कृत किया जाय, तो वही परमात्म सत्ता मे विकसित हो सकती है ।' इतना ही नही वही परिष्कृत आत्म-सत्ता, पात्रता के अनुरूप दिव्य वरदानों की अनवरत वर्षा भी करती रह सकती है ।

भक्त को कुछ का कुछ सुझाने वाली सस्ती भावुकता से छुटकारा मिला । उसने एक बड़ा हॉल बनाकर सचमुच ही ऐसे स्थान पर एक बड़ा दर्पण प्रतिष्ठित कर दिया, जिसे देखकर दर्शक अपने भीतर के भगवान को देखने और उसे निखारने, उबारने का प्रयत्न करते रह सकें ।

मनः शास्त्र के विज्ञानी कहते हैं, कि मनःस्थिति ही परिस्थितियों की जन्मदात्री है । मनुष्य जैसा सोचता है, वैसा ही करता है एवं वैसा ही बन जाता है । किए हुए भले-बुरे कर्म ही संकट एवं सौभाग्य बनकर सामने आते हैं । उन्हीं के आधार पर रोने-हँसने का संयोग आ धमकता है । इसलिए परिस्थितियों की अनुकूलता और बाहरी सहायता प्राप्त करने की फिराक मे फिरने की अपेक्षा, यह हजार दर्जे अच्छा है कि भावना, मान्यता, आकांक्षा, विचारणा और गतिविधियों को परिष्कृत किया जाय । नया साहस जुटाकर नया कार्यक्रम बनाकर प्रयत्नरत हुआ जाय और अपने बोए हुए को काटने के सुनिश्चित तथ्य पर विश्वास किया जाय । बिना भटकाव का, यही एक सुनिश्चित मार्ग है ।

आध्यात्म वेत्ता भी प्रकारान्तर से इसी प्रतिपादन पर तर्क, तथ्य, प्रमाण और उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, कि मनुष्य अपने स्वरूप को सत्ता एवं महत्ता को, लक्ष्य एवं मार्ग को भूलकर ही आये दिन असंख्य विपत्तियों मे फँसते हैं । यदि अपने को सुधार लें तो अपना सुधरा प्रतिबिम्ब व्यक्तियों और परिस्थितियों में झलकता, चमकता दिखायी पड़ने लगेगा । यह संसार गुम्बद की तरह अपने ही उच्चारण को प्रतिध्वनित करता है । अपने जैसे लोगों का ही जमघट साथ में जुड़ जाता है और भली-बुरी अभिरुचि को अधिकाधिक उत्तेजित करने में सहायक बनता है । दुष्ट-दुर्जनों के इर्द-गिर्द ठीक उसी स्तर की मण्डली-मण्डल बनाने लगते है । साथ ही यह भी उतना ही सुनिश्चित है कि शालीनता सम्पन्नों को, सज्जनों को, उच्चस्तरीय प्रतिभाओ के साथ जुड़ने और महत्त्वपूर्ण सहयोग प्राप्त कर सकने का समुचित लाभ मिलता है ।

## निकृष्टता से उबरें, महानता अपनाएँ

बादल बरसतें सभी जगह समान रूप से है, पर उनका पानी उतनी ही मात्रा में वहीं जमा होता है, जहाँ जितनी गहराई या पात्रता होती है । वर्षा के अनुग्रह से व्यापक भू-क्षेत्र में हरियाली उगती और

लहराती है; पर रेगिस्तान और चट्टानों में एक तिनका तक जमता दृष्टिगोचर नहीं होता है, उसमें बादल का पक्षपात नहीं, भूमि की अनुर्वरता ही प्रमुख रूप से उत्तरदायी है ।

धुलाई के बिना रंगाई निखरती कहाँ है ? गलाई के बिना ढलाई किसने कर दिखाई ? मल-मूत्र से सने बच्चे को भी माता तब ही गोदी में उठाती है, जब उसे नहला-धुला कर साफ-सुथरा बना देती है । मैला-गंदला पानी पीने के काम कहाँ आता है ? मैले दर्पण में छवि कहाँ दीख पड़ती है ? जलते अंगारे पर यदि राख की परत जम जाय, तो न उसकी गर्मी का आभास होता है, न चमक का । बादलों से ढक जाने पर सूर्य-चन्द्र तक अपना प्रकाश धरती तक नहीं पहुँचा पाते । कुहासा छा जाने पर दिन में भी लगभग रात जैसा अंधेरा छा जाता है और कुछ दूरी की वस्तुएँ तक सूझ नहीं पड़ती ।

इन्हीं सब उदाहरणों को देखते हुए अनुमान लगाया जा सकता है कि मनुष्य यदि लोभ की हथकड़ियों, मोह की बेड़ियों और अहंकार की जंजीरो में जकड़ा हुआ रहे, तो उसकी समस्त क्षमताएँ नाकारा बनकर रह जायेगी । बँधुआ मजदूर रस्सी में बँधे पशुओं की तरह बाधित और विवश बने रहते है । वे अपना मौलिक पराक्रम गँवा बैठते हैं और उसी प्रकार चलने-करने के लिए विवश होते हैं, जैसा कि बाँधने वाला उन्हे चलने के लिए दबाता-धमकाता है । कठपुतलियाँ अपनी मर्जी से न उठ सकती है, न चल सकती हैं, मात्र मदारी ही उन्हें नचाता-कुदाता है ।

कुसंस्कारो और कुप्रचलनो का दुहरा दबाव ही मनुष्य के मौलिक चिन्तन का सही मार्ग अपनाने में भारी अवरोध बनकर खड़ा हो जाता है और उत्कृष्टता की दिशा में सहज सम्भव हो सकने वाली प्रगति, बुरी तरह अवरुद्ध होकर रह जाती है । अन्तरात्मा ऊँचा उठने के लिए कहती है और सिर पर छाया हुआ दुष्प्रवृत्तियों का आकाश जितना विस्तृत नरक, नीचे गिरने के लिए बाधित करता है । फलतः मनुष्य त्रिशंकु की तरह अधर में ही लटका रह जाता है । यह असमंजस बना ही रहता है कि उसका क्या होगा ? भविष्य न जाने कैसा बनकर रहेगा ?

इस विषम विडम्बना से छूटने का एक ही उपाय है कि दोष-दुर्गुणों की जो भारी चट्टानें सिर पर लदी हैं, उन्हे किसी भी कीमत पर हटाया-गिराया जाय; अन्यथा इतनी बोझिल विपन्नता को सिर पर लादे हुए, कुछ दूर तक भी आगे चल सकना सम्भव न होगा । वासनाएँ आदमी को नीबू की तरह निचोड़ लेती हैं । जीवन में से स्वास्थ्य, सन्तुलन, आयुष्य जैसा सब कुछ निचोड़ कर, उसे छिलके जैसा निस्तेज बनाकर रख देती हैं ।

तृष्णाओ की खाई इतनी गहरी है, जिसे रावण, हिरण्यकश्यप, वृत्तासुर जैसे प्रबल पराक्रमी भी समूचा पौरुष दाँव पर लगा देने के बाद भी पाट सकने में तनिक भी समर्थ न हुए । सिकन्दर जैसे सफलताओ के धनी भी मुट्ठी बाँधे आये और हाथ पसारे चले गए । अहंकार प्रदर्शित करने के दर्प में, संसार भर को चुनौती देने और ताल ठोकने वाले किसी समय के दुर्दान्त दैत्यों में से अब कोई कहीं दीख नहीं पड़ता । राजाओं के मणि-मुक्तकों से जड़े राजमुकुट और सिंहासन, न जाने धराशायी होकर कहाँ धूल चाट रहे होंगे ? यह करतूतें उन्ही पैशाचिक दुष्प्रवृत्तियो की हैं, जो मनुष्य पर उन्माद की तरह छायी रहती है और उसकी बहुमूल्य जीवन-सम्पदा को कौड़ी के मोल गँवा देने के लिए दिग्भ्रमित करती रहती है ।

स्वार्थ सिद्धि की ललक-लिप्सा वस्तुतः अनर्थ के अतिरिक्त और कुछ हाथ लगने नही देती । स्थिति उस जादुई राजमहल जैसी बन जाती है, जिसमें प्रवेश करने पर दुर्योधन को जल के स्थान पर थल और थल के स्थान पर जल दीखने लगा था । जो करना चाहिए, उसका तिरस्कार-बहिष्कार ही होता रहता है और अपनी चतुरता की डींग हाँकने वाले निरन्तर वह करते रहते है जो नही करना चाहिए । इस मानसिकता को, व्यामोह का सम्मोहन नाम देने के अतिरिक्त और क्या कहा जाय ? क्या यह दुर्गति और दुर्गन्ध से भरी दुर्दशा ही मानव जीवन की नियति है ?

जो हो, पर वास्तविकता यही है कि औसत आदमी इन्हीं परिस्थितियो में स्वेच्छापूर्वक या बाधित होकर रहने के लिए अभ्यस्त पाया जाता है । हानि को लाभ और लाभ को हानि समझने वालो के हाथ वैसी ही दुर्गति लग सकती है, जैसी कि अधिकाश लोगो के गले बँधी और छाती पर चढ़ी दिखायी देती है ।

अचम्भा यही है कि सड़े नालों में पलने और बढ़ने वाले कीड़े, अपनी स्थिति की दयनीयता का अनुभव तक नहीं कर पाते । उससे किसी प्रकार छुटकारा पाकर इतनी भी नयी सोच जुटा नहीं पाते कि यदि कीड़े की ही स्थिति में रहना था, तो फूलों पर उड़ने वाली तितलियों की तरह आकर्षक होने के सुयोग को चाहने और पाने के लिए तो मानस बनाया जाय । जब आकांक्षा तक मर गई, तो उत्कर्ष की पक्षधर हलचलें भी कहाँ से, कैसे उभर सकेंगी ?

मानव जीवन का परम पुरुषार्थ—सर्वोच्च स्तर का सौभाग्य एक ही है, कि वह अपनी निकृष्ट मानसिकता से त्राण पाये । भ्रष्ट चिन्तन और दुष्ट-आचरण वाले स्वभाव-अभ्यास को और अधिक गहन करते रहने से स्पष्ट इन्कार कर दे । भूल समझ में आने पर उल्टे पैरों लौट पड़ने में भी कोई बुराई नहीं है । गिनती गिनना भूल जाने पर, दुबारा नये सिरे से गिनना आरम्भ करने में किसी समझदार को संकोच नहीं करना चाहिए । जीवन सच्चे अर्थों में धरती पर रहने वाला देवता है । नर-कीटक, नर-पशु, नर-पिशाच जैसी स्थिति तो उसने अपनी मन-मर्जी से स्वीकार की है । यदि वह काया-कल्प जैसे परिवर्तन की बात सोच सके, तो उसे नर-नारायण, 'महामानव बनने में भी देर न लगेगी । आखिर वह है तो ऋषियों, तपस्वियों, मनस्वियों और मनीषियों का वंशधर ही ।

# धर्म धारणा की व्यावहारिकता

शान्ति के साधारण समय में सैनिकों के अस्त्र-शस्त्र 'मालखाने' में जमा रहते हैं, पर जब युद्ध सिर पर आ जाता है, तो उन्हें निकाल कर दुरुस्त एवं प्रयुक्त किया जाता है; तलवारों पर नये सिरे से धार धरी जाती है । घर के जेवर आमतौर से तिजोरी या लॉकर में रख दिये जाते है, पर जब विवाह-शादी जैसे उत्सव का समय आता है, उन्हे निकालकर इस प्रकार चमका दिया जाता है, मानो नये बनकर आये हो । वर्तमान युग सन्धि काल में अस्त्रों-आभूषणों की तरह प्रतिभाशालियों को प्रयुक्त किया जायेगा । व्यक्तित्वों को प्रखर प्रतिभा सम्पन्न करने के लिए यह आपत्तिकाल जैसा समय है । इस समय उनकी टूट-फूट को तत्परतापूर्वक सुधारा और सही किया जाना चाहिए ।

अपनी निज की समर्थता, दक्षता, प्रामाणिकता और प्रभाव-प्रखरता एक मात्र इसी आधार पर निखरती है कि चिन्तन, चरित्र और व्यवहार में उत्कृष्टता का अधिकाधिक समावेश हो । अनगढ़, अस्त-व्यस्त लोग गई-गुजरी जिन्दगी जीते हैं । दूसरों की सहायता कर सकना तो दूर, अपना गुजारा तक जिस-तिस के सामने गिड़गिड़ाते, हाथ पसारते या उठाईगीरी करके बड़ी कठिनाई से ही कर पाते हैं । पर जिनकी प्रतिभा-प्रखर है, उनकी विशिष्टताएँ मणि-मुक्तकों की तरह झिलमिलाती हैं, दूसरों को आकर्षित-प्रभावित भी करती हैं और सहारा देने में भी समर्थ होती हैं । सहयोग और सम्मान भी ऐसो के ही आगे-पीछे चलता है । बदलते समय में अनगढों का कूड़ा-कचरा कहीं झाड़ बुहार कर दूर फेंक दिया जायेगा । बीमारियों, कठिनाइयों और तूफानों से वे ही बच पाते हैं, जिनकी जीवनी शक्ति सुदृढ़ होती है ।

समर्थता को ओजस्, मनस्विता को तेजस् और जीवट को वर्चस् कहते हैं । यही हैं वे दिव्य सम्पदाएँ, जिनके बदले इस संसार के हाट-बाजार से कुछ भी मन चाहा खरीदा जा सकता है । दूसरों की सहायता भी वे लोग ही कर पाते हैं, जिसके पास अपना वैभव और पराक्रम हो । अगले दिनों ऐसे ही लोगों की पग-पग पर जरूरत पड़ेगी, जिनकी प्रतिभा सामान्य जनों की तुलना में कहीं अधिक बढ़ी-चढी हो, संसार के वातावरण का सुधार वे ही कर सकेंगे, जिन्होंने अपने आपको सुधार कर यह सिद्ध कर दिया हो कि उनकी सृजन-क्षमता असंदिग्ध है । परिस्थितियों की विपन्नता को देखते हुए उन्हें सुधारे जाने की नितान्त आवश्यकता है; पर इस अति कठिन कार्य को कर वे ही सकेंगे, जिन्होंने अपने व्यक्तित्व को परिष्कृत करके यह सिद्ध कर दिया हो कि वे आड़े समय में कुछ महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकने में सफल हो सकते हैं । इस स्तर को उपलब्ध कर सकने की कसौटी एक ही है—अपने व्यक्तित्व को दुर्गुणों से मुक्त करके, सर्वतोन्मुखी समर्थता से सम्पन्न कर लिया हो । सद्गुणों की सम्पदा प्रचुर परिमाण में अर्जित कर ली हो ।

दूसरों को कैसा बनाया जाना चाहिए, इसके लिए मण्डल विनिर्मित करना होगा । उपकरण ढालने के लिए तदनुरूप साँचा बनाये बिना काम नहीं चलता ।

लोग कैसे बनें ? कैसे बदलें ? इस प्रयोग को सर्वप्रथम अपने ऊपर ही किया जाना चाहिए और बताया जाना चाहिए कि कार्य उतना कठिन नहीं है, जितना कि समझा जाता है । हाथ-पैरों की हरकतें इच्छानुसार मोड़ी बदली जा सकती है, तो कोई कारण नहीं है कि अपनी निज की प्रखरता को सद्गुणों से सुसज्जित करके चमकाया-दमकाया न जा सके ।

पिछले दिनों किसी प्रकार आलस्य, प्रमाद, उपेक्षा और अनगढ़ता की स्थिति भी सहन की जाती थी, पर बदलते युग के अनुरूप अब तो हर किसी को अपने को नये युग का नया मनुष्य बनाने की होड़ लगानी पड़ेगी; ताकि उस बदलाव का प्रमाण प्रस्तुत करते हुए, समूचे समाज को, सुविस्तृत वातावरण को बदल जाने के लिए प्रोत्साहित ही नहीं विवश और बाधित भी किया जा सके ।

काया-कलेवर जिसका जैसा ढल चुका है, वह प्रायः उसी आकार-प्रकार का रहेगा; पर गुण, कर्म, स्वभाव में अभीष्ट उत्कृष्टता का समावेश करते हुए ऐसा कुछ चमत्कार उत्पन्न किया जा सकता है, जिसके कारण इसी काया में देवत्व के दर्शन हो सकें । देवी-देवताओं की कमी नहीं, उन सबकी पूजा-उपासना के अपने-अपने माहात्म्य बताये गए हैं; किन्तु परीक्षा की कसौटी पर वह प्रतिपादन कदाचित् ही खरा उतरता है । भक्त-जन प्रायः निराशा व्यक्त करते और असफलता के लिए इस समूचे परिकर को ही कोसते देखे गए हैं । अपवाद स्वरूप ही किसी अन्धे के हाथ बटेर लग पाती है, किन्तु एक देवता ऐसा भी है, जिसकी समुचित साधना करने पर सत्परिणाम हाथों-हाथ नकद धर्म की तरह उपलब्ध होते देखे जा सकते हैं । वह देवता है—'जीवन' । इसका सुधरा हुआ स्वरूप ही कल्पवृक्ष है । अपना ऋद्धि-सिद्धियों से भरा भण्डार लोग न जाने क्यों नहीं खोजते-खोलते और न जाने क्या कारण है कि घड़े मे ऊँट खोजते फिरते हैं ? अच्छा होता आत्मविश्वास जगाया गया होता; अपने को परिष्कृत कर लेने भर से हस्तगत हो सकने वाली सम्पदाओं और विभूतियों पर विश्वास किया गया होता ।

प्राचीन काल में सभी बच्चे स्वस्थ पैदा होते थे । तब उनको थोड़े से बड़े होते ही अखाड़ों में कही कसरतें करने के लिए भेज दिया जाता था, पर अब स्थिति बदल गई है । अपंग, रुग्ण और दुर्बल पीढ़ी को अखाड़े नहीं भेजा जा सकता । उन्हें स्वास्थ्य रक्षा के सामान्य से नियमों से ही अवगत-अभ्यस्त कराना पर्याप्त होगा । आत्मबल, जिसमें सभी बलों का सहज समावेश हो जाता है, की उपलब्धि के लिए आध्यात्मिक प्रयोग-अभ्यास करने होते हैं । प्राचीन काल में वे तप, साधना और योगाभ्यासों से आरम्भ होते थे; पर अब तो व्यक्तित्व की दृष्टि से विकृत पीढ़ी को आध्यात्म की आरम्भिक साधनाएँ कराना ही पर्याप्त होगा । हाईस्कूल पास करने से पहले ही कॉलेज की योजना बनाना व्यर्थ है ।

## पंचशीलों का अभ्यास करें

प्राचीन काल में हर एक साधक को प्रारम्भ में यम-नियम साधने पड़ते हैं । उसके अन्तर्गत सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि की साधना अनिवार्य है । उस समय के सामाजिक वातावरण में वे सर्वसाधारण के लिए साध्य रहे होंगे । परन्तु आज की स्थिति में वैसा सम्भव नहीं दिखता । अब तो व्यावहारिक पंचशीलों का परिपालन आदतों में सम्मिलित हो सके, तो भी काम चल जायेगा । श्रमशीलता, मितव्ययिता, शिष्टता, सुव्यवस्था और सहकारिता के पंचशील हमारे क्रिया-कलाप में पूरी तरह घुल-मिल सकें, तो समझना चाहिए कि प्राचीन काल की तप-साधना के समतुल्य साधनात्मक साहस बन पड़ा ।

(१) आलस्य, प्रमाद, विलासिता, ठाट-बाट आदि के कारण आदमी बुरी तरह हरामखोर बन गया है । उपलब्ध शक्ति का एक चौथाई भाग भी उत्पादक श्रम में नियोजित नहीं हो पाता । निठल्लेपन में शारीरिक, मानसिक असमर्थता पनपती है । आर्थिक तथा दूसरी सभी प्रगतियों का द्वार बन्द हो जाता है । श्रम के बिना शरीर निरोग एवं सशक्त भी नहीं रह सकता । श्रम के बिना उत्पादन भी सम्भव नहीं । समाज में विडम्बनाएँ इसी कारण पनपती रही हैं कि नर-नारी श्रम न करने में बड़प्पन अनुभव करने लगे, कामचोरी, कम से कम श्रम करके अधिक से अधिक लाभ पाने की प्रवृत्तियाँ समाज को अपंग जैसा बनाये दे रही है ।

इस भयंकरता को समझते हुए समय को तत्परता और तन्मयता भरे परिश्रम के साथ जोड़कर दिनचर्या बनाई जाय, तो प्रतीत होगा कि उपलब्ध समय एवं

साधनों में ही प्रगतिशीलता के साथ जुड़े हुए अनेकानेक सत्परिणाम उपलब्ध होते चले जाते हैं ।

(२) अपव्यय आज का दूसरा अभिशाप है । दुर्व्यसनों में, फैशन तथा सज-धज जैसे आडम्बरों में जितना समय और पैसा खर्च होता है कि उसे बचा लेने पर अपने तथा दूसरों के अनेकों प्रयोजन सध सकते हैं । फिजूलखर्ची का कोई अन्त नहीं । उसे किसी भी सीमा तक किया जा सकता है । उसकी ललक जब उभरती है तो पूरा कर सकना साधारण श्रम, कौशल के लिए सम्भव ही नहीं हो पाता । तब बेईमानी, बदमाशी का आश्रय लिए बिना काम नहीं चलता । इस अमीरी प्रदर्शन से कभी किसी को भले ही सम्मान मिलता रहा हो; पर अब तो उसके कारण ईर्ष्या ही उपजती है । उसके फलस्वरूप मात्र उसकी नकल बनाने या फिर नीचा दिखाने की प्रतिक्रिया दीख पड़ती है । "सादा जीवन-उच्च विचार" वाली उत्कृष्टता का तो एक प्रकार से समापन ही होता जाता है । उदारता को चरितार्थ करने का अवसर तो तब मिले, जब अपव्यय से कुछ बचे ।

(३) शिष्टता, सभ्यता की आधारशिला है और अशिष्टता, अनगढ़पन की सबसे बुरी प्रतिक्रिया है । दूसरों के असम्मान और अपने अहंकार के संयोग से ही ऐसी उद्दण्डता उभरती है कि शिष्ट, मधुर, विनीत एवं सज्जनोचित व्यवहार करते ही नहीं बन पड़ता । यही प्रवृत्ति अशिष्टता बनकर उभरती है । उसे अपनाने वालों की छवि ही धूमिल होती है । इसके स्थान पर विनम्रता-सभ्यता का परिचय देना ही भलमनसाहत का प्रमुख चिन्ह है । यह बर्ताव बड़ों के साथ ही नहीं छोटों के साथ भी उतना ही तत्परतापूर्वक किया जाना चाहिए ।

. . यह उक्ति बहुत महत्त्वपूर्ण है कि "शालीनता बिना बिना मोल मिलती है, परन्तु उससे सब कुछ खरीदा जा सकता है ।" शालीनता का जिन्हें अभ्यास है, उनके परिवार में कभी कलह नहीं होती, सौमनस्य का स्वर्गीय वातावरण बना रहता है । शालीन व्यक्ति के मित्र-सहयोगी अनायास ही बढ़ते चले जाते हैं, जबकि अशिष्ट व्यक्ति अपनों को भी पराया कर डालता है । जीवन की सफलता में शालीनता का असाधारण योगदान रहता है ।

(४) सुव्यवस्था का तात्पर्य है अपने समय, श्रम, मनोयोग, जीवनक्रम, शरीर, सामर्थ्य आदि सभी सम्बद्ध उत्पादनों का सुनियोजन । उन्हें इस प्रकार सँभाल-सँभाल कर सुनियोजित रखा जाना चाहिए कि उनको अस्त-व्यस्तता से बचाया जा सके और अधिकाधिक समय उनका समुचित लाभ उठाया जा सके । यह प्रक्रिया स्वभाव में सुव्यवस्था की दृष्टि से रहने पर ही बन पड़ती है । लोक व्यवहार का यह सबसे बड़ा सद्गुण है । इसे सँभालना, सदुपयोग करना, सुनियोजित रखना आ गया, समझना चाहिए कि उसे गुणवानों में गिना जायेगा । उसका लोहा सर्वत्र माना जायेगा । सुनियोजन ही सौन्दर्य है; उसी को कला-कौशल भी कहना चाहिए । मैनेजर, गवर्नर, सुपरवाइजर जैसे प्रतिष्ठित पदों का श्रेय उन्हीं को मिलता है, जो केवल स्वयं को बल्कि अपने परिकर को भी सुव्यवस्था के अन्तर्गत चलने, अनुशासन में रहने के लिए सहमत करते हैं प्रगति का प्रमुख आधार यही है ।

(५) पाँचवाँ शील है—सहकारिता । मिल-जुल कर काम करना । आदान-प्रदान का उपक्रम बनाये रहने में सतर्कता बरतना । परिवार में, कारोबार में, लोक व्यवहार में सामंजस्य बनाये रह सकना तभी बन पड़ता है, जब उदारता-भरी सहकारिता को अपने सभी क्रिया-कलापों में सुनियोजित रखा जा सके । जो एकाकीपन से ग्रसित हैं, उसे असामाजिक, उपेक्षित रहना पड़ता है और नीरसता, निराशा के बीच ही दिन गुजरता है । बदले में स्नेह, सहयोग, सम्मान पाने का अवसर उन्हें मिलता ही नहीं, जो संकीर्ण स्वार्थपरता से जकड़े, निठुर प्रकृति के होते हैं ।

बड़े कार्य संयुक्त शक्ति से ही सम्पन्न हो पाते हैं । देव शक्तियों के संयोग से दुर्गा के प्रादुर्भाव की कथा सर्वविदित है । संकीर्ण स्वार्थपरता के स्थान पर उदार सहकारिता की प्रवृत्ति जगाने से, वैसा अभ्यास बनाने से ही संघ शक्ति जागृत होती है । योग्य कार्यकर्त्ता होने पर भी सहकारिता के अभाव में न कोई संस्था पनप सकती है और न कोई व्यवसाय प्रगति कर सकता है ।

उपर्युक्त पाँच दुर्गुणों को यदि छोड़ा जा सके और उसके विपरीत सदाशयता की रीति-नीति को अपनाया जा सके, तो समझना चाहिए कि मानवी गरिमा के

अनुरूप मर्यादा-पालन बन पड़ा और हँसती-हँसाती, उठती-उठाती जिन्दगी का रहस्य हाथ लगा । ऐसे ही लोग धन्य बनते और अपने समय, परिकर एवं वातावरण को धन्य बनाते हैं. । व्यावहारिक धर्म-धारणा का परिपालन इतने सीमित सद्गुणों को क्रिया-कलापों का अंग बना लेने पर भी सध जाता है ।

इन सद्गुणों को अपने दृष्टिकोण, स्वभाव एवं अभ्यास में उतारने का सबसे अच्छा अवसर परिवार-परिकर के बीच मिलता है । यदि घर के आवश्यक कार्य परिवार परिकर के सभी सदस्य साथ-साथ सहयोगपूर्वक निपटाया करें, उत्साह की प्रशंसा और उपेक्षा की भर्त्सना किया करें, तो इतने से ही स्वल्प परिवर्तन से, परिवार के हर सदस्य को सुसंस्कारी बनाने का अवसर मिल सकता है । परिवार संस्था ही नर-रत्नों की खदान बन सकती है । परिवार में सद्गुणों का अभ्यास जो करते हैं, उनके लिए यह तनिक भी कठिन नहीं रहता कि लोक व्यवहार में पग-पग पर शालीनता का परिचय दें और बदले में उत्साह भरी उपलब्धियों का पूरा-पूरा लाभ सहज ही प्राप्त करते रहें ।

## उच्च मानसिकता के चार सूत्र

व्यवहार की धर्मधारणा और सेवा-साधना उपरोक्त सद्गुणो को जीवन में उतारने भर से बन पड़ती है । इसके अतिरिक्त दूसरा क्षेत्र मानसिकता का रह जाता है । उसमें चरित्र और भावनात्मक विशेषताओ का समावेश किया जा सके, तो समझना चाहिए लोक-परलोक दोनों को ही समुन्नत स्तर का बना लिया गया । चार वेद, चार धर्म, चार कर्म, चार दिव्य वरदान, जिन्हें कहा जा सकता है, उन चार मानसिक विशेषताओं को—(१) समझदारी, (२) ईमानदारी, (३) जिम्मेदारी, (४) बहादुरी के नाम से समझा जा सकता है ।

समझदारी का अर्थ है, तात्कालिक आकर्षण पर संयम बरतना, अंकुश लगाना और दूरगामी, चिरस्थायी, परिणतियो, प्रतिक्रियाओं का स्वरूप समझना, तदनुरूप निर्णय करना, उपक्रम अपनाना । चटोरेपन की ललक में लोग अभक्ष्य-भक्षण करते और कामुकता के उन्माद में शरीर और मस्तिष्क को खोखला करते रहते हैं । ऐसे ही दुष्परिणाम अन्य अदूरदर्शिताएँ उत्पन्न करती हैं । उन्हीं की प्रेरणा से लोग अनाचार पर उतरते, कुकर्म करते और प्रताड़ना सहते हैं । अदूरदर्शिता के कारण ही, लोग मछली की तरह सामान्य से प्रलोभनों के लोभ में बहुमूल्य जीवन गँवा देते है । समझदारी यदि साथ देने लगे, तो इन्द्रिय-संयम, समय-संयम, अर्थ-संयम अपनाते हुए उन छिद्रों को सरलतापूर्वक रोका जा सकता है, जो जीवन सम्पदा को अस्त-व्यस्त करके रख देते हैं ।

ईमानदारी बरतना सरल है, जबकि बेईमानी बरतने मे अनेकों प्रपंच रचने और छल-छद्म अपनाने पड़ते हैं । स्मरण रखने योग्य तथ्य यह है कि—ईमानदारी के सहारे ही कोई व्यक्ति प्रामाणिक और विश्वासी बन सकता है । उन्हीं को जन-जन का सहयोग एवं सम्मान पाने का अवसर मिलता है ।

उत्कर्ष अभ्युदय के लिए इतना अवलम्बन बहुत है, आगे की गतिशीलता तो अनायास ही चल पड़ती है । बेईमान वे हैं, जिन्होंने अपना विश्वास गँवाया और जिनकी मित्रता मिलती रह सकती थी, उन्हें अन्यमनस्क एवं विरोधी बनाया । बेईमान व्यक्ति भी ईमानदार नौकर रखना चाहता है । इससे प्रकट है कि ईमानदारी की सामर्थ्य कितनी बढ़ी-चढ़ी है । जिनकी प्रतिष्ठा एवं गरिमा अन्त तक अक्षुण्ण बनी रहती है, उनमें से प्रत्येक को ईमानदारी की रीति-नीति ही सच्चे मन से अपनानी पड़ी है । झूठों की बेईमानी तो काठ की हाँड़ी की तरह एक बार ही चढ़ती है ।

तीसरा भाव पक्ष है—जिम्मेदारी । हर व्यक्ति शरीर रक्षा, परिवार व्यवस्था, समाज निष्ठा, अनुशासन का परिपालन जैसे कर्तव्यों से बँधा हुआ है । जिम्मेदारियों को निबाहने पर ही मनुष्य का शौर्य निखरता है, विश्वास बनता है । विश्वसनीयता के आधार पर ही वह व्यवस्था बनने लगती है, जिसके अनुसार उन्हें अधिक महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारियाँ सौंपी जाये, प्रगति के उच्चशिखर पर जा पहुँचने का सुयोग खिंचता चला आये, लोग उन्हे आग्रहपूर्वक बुलायें और सिर-माथे पर चढ़ाएँ । व्यक्तित्व जिम्मेदार लोगों का ही निखरता है । बड़े पराक्रम करते उन्हीं से बन पड़ता है ।

चौथी आध्यात्मिक सम्पदा है—बहादुरी, हिम्मत भरी साहसिकता, निर्भीक पुरुषार्थ-परायणता । ज़ोखिम उठाते हुए भी उस मार्ग पर चल पड़ना, जो नीति-निष्ठा के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है । बुराइयाँ संघर्ष के बिना जलती नहीं और संघर्ष के लिए साहस अपनाना अनिवार्य होता है । कायर, कृपण, डरपोक,

दीन-हीन, अक्सर इसीलिए अपने ऊपर आक्रमण और शोषण करने वालों को चढ़-दौड़ने के लिए न्यौत बुलाते हैं कि उनमें अनीति के आगे सिर न झुकाने की हिम्मत नहीं होती। दबने, बच निकलने और जैसे-तैसे मुसीबत टालने की वृत्ति जिन्होंने अपनाई हुई होती है, वे किसी के द्वारा भी, कहीं भी, पीसे और दबोचे जाते हैं। ऐसे ही लोग हैं, जो दुष्टता के सामने भी सिर झुकाते और नाक रगड़ते देखे गए हैं। इतने पर भी उन्हें सुरक्षा मिल नहीं पाती। सभी जानते हैं, कि बहादुर की अपेक्षा कायरों पर आततायियों के आक्रमण हजार गुने अधिक होते हैं। कठिनाइयों से पार पाने और प्रगति-पथ पर आगे बढ़ने के लिए साहस ही एकमात्र ऐसा साथी है; जिसको साथ लेकर मनुष्य एकाकी भी दुर्गम दीखने वाले पथ पर चल पड़ने एवं लक्ष्य तक जा पहुँचने में समर्थ हो सकता है।

पंचशील और चार वर्चस्, इस प्रकार यह नौ की संख्या युग धर्म के अनुरूप बैठती है। सौर-मण्डल के ग्रह नौ हैं। नवरत्न और ऋद्धि-सिद्धियाँ भी नौ की संख्या में ही प्रख्यात हैं। इन नौ गुणों में से, जो जितनों को, जिस अनुपात में अपना सके, वे उतने ही बड़े ईश्वर भक्त और धर्मात्मा कहलाये। इन्हें यदि योगाभ्यास और तप-साधना कहा जाय, तो भी कुछ अत्युक्ति न होगी।

धर्म और कर्म में उतारी-अपनाई गई उत्कृष्टता-आदर्शवादिता ही प्रकारान्तर से स्वर्ग जैसा उल्लास भरा मानस और जीवन मुक्ति जैसी तृप्ति, तुष्टि एवं शान्ति प्रदान कर सकने में हाथों-हाथ समर्थ होती है। उनके लिए देर तक किसी को भी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। किंवदन्तियों के अनुसार मरने के उपरान्त ही स्वर्ग मुक्ति जैसी उपलब्धियों को प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु यदि कल्पनाओं की उड़ान से नीचे उतर कर व्यावहारिक धर्म-कर्म में नौ सूत्री उत्कृष्टता का समावेश किया जाय, तो जीवित रहते हुए भी स्वर्गीय अनुभूतियों और मुक्ति स्तर की विभूतियों का हर घड़ी रसास्वादन करते रहा जा सकता है। इतना ही नहीं, इन दो के अतिरिक्त एक और तीसरा लाभ भी प्राप्त किया जा सकता है। सिद्धियों के चमत्कार भी हस्तगत हो जाते हैं। सफलताएँ खिंचती हुई चली आती हैं और मनस्वी के पैरों तले लोटने लगती है।

## सुनिश्चित राजमार्ग अपनायें

देवता की पूजा-अर्चना के लिए पंचोपचार, षोडशोपचार नाम से जानने वाले कर्मकाण्डों, क्रिया-कृत्यों का प्रयोग भक्त-जन करते रहते हैं। इसके बदले उन्हें क्या मिला, उसका विवरण तो वे स्वयं ही बता सकते हैं; पर उपरोक्त साधनाओं को निश्चित रूप से विश्वासपूर्वक नवधा भक्ति के स्थान पर प्रतिपादित किया जा सकता है और देखा जा सकता है कि उसके सहारे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही क्षेत्रों में गरिमामय उपलब्धियों को सहज-सरलतापूर्वक हस्तगत कर लिया गया या नहीं ?

राजमार्ग पर चलने वाले भटकते नहीं। झाड़-झंखाड़ों में वे उलझते हैं, जिन्हें छलांग लगाकर तुर्त-फुर्त, बिना पुरुषार्थ का परिचय दिए ही बहुत कुछ पा लेने की ललक सताती है। आकुल-व्याकुल मनःस्थिति में आनन-फानन इन्द्र जैसा वर्चस् और कुबेर जैसा वैभव कहीं से भी उड़ा लाने की मानसिकता ही लोगों को हैरान करती रहती है। ऐसे ही व्यक्ति साधना से सिद्धि के सिद्धान्त पर लांछन लगाते और आरोप थोपते हुए देखे गए हैं। नौ गुणों का नौ सूत्रों वाला यज्ञोपवीत धारण करने की विधा इसी संकेत पर ध्यान केन्द्रित किए रहने के लिए विनिर्मित की गई है, कि पंच तत्वों से बनी, रक्त माँस, अस्थि जैसे पदार्थों से अंग-प्रत्यंगों को जोड़-गाँठ कर खड़ी की गई, इस मानव काया को यदि नौलखाहार से सुसज्जित करना हो, तो उन नौ गुणों को चिन्तन, चरित्र, व्यवहार में—गुण, कर्म, स्वभाव में गहराई तक समाविष्ट किया जाय। उन्हें क्रिया-कलापों में—अभ्यास में शामिल करने के लिए प्राण-पण से प्रयत्न करना चाहिए।

यह ऐसा काया-कल्प है, जिसके लिए किसी बाहरी धन्वंतरि की मनुहार आवश्यक नहीं। यह च्यवन ऋषि जैसा पुनर्यौवन प्राप्त करने का सुयोग है, जिसके लिए अश्विनीकुमारों का अनुग्रह तनिक भी अपेक्षित नही। यह समूची उदात्तीकरण की, पशु को देवता बना देने वाली महान उपलब्धि है, जिसे कभी "द्विजत्व" दूसरे जन्म के नाम से जाना जाता था। इसमें आकृति नहीं, प्रकृति भर बदलती है और मनुष्य जिस भी, जैसी भी स्थिति में रह रहा हो, उसे उसी क्षेत्र में वरिष्ठता की सहज उपलब्धि हो जाती है।

धर्म-धारणा को विभिन्न सम्प्रदायों और मत-मतान्तरों ने भिन्न-भिन्न संख्याओं में गिनाया है और स्वरूप तथा प्रयोग अपनी-अपनी मान्यता के अनुरूप बताया-समझाया है; किन्तु आज की स्थिति में जबकि अनेक थनों से दुहे गए दूध को सम्मिश्रित करके, एक ही मंथनी से मथकर, एक जैसी आकृति का-एक ही नाम वाला मक्खन निकालने की उपयोगिता-आवश्यकता समझी जा रही है, तो फिर उपरोक्त नौ रत्नों से जड़े गए हार को सर्वप्रिय एवं सर्वमान्य आभूषण ठहराया जा सकता है।

मिठाई-मिठाई रटते रहने और उनके स्वरूप-स्वाद का आलंकारिक वर्णन करते रहने भर से न तो मुँह मीठा होता है, और न पेट भरता है। उसका रसास्वादन करने और लाभ उठाने का तरीका एक ही है, कि जिसकी भावभरी चर्चा की जा रही है, उसे खाया ही नहीं, पचाया भी जाय। धर्म उसे कहते हैं, जो धारण किया जाय। उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए कथा-प्रवचनों को कहते-सुनते रहना भी कुछ कारगर न हो सकेगा। बात तो तभी बनेगी, जब जिस प्रक्रिया का माहात्म्य कहा-सुना जा रहा हो, उसे व्यवहार में उतारा जाय। व्यायाम किए बिना कोई पहलवान कहाँ बन पाता है ? इसी प्रकार धर्म के तत्वज्ञान को व्यावहारिक जीवनचर्या में उतारने के अतिरिक्त और कोई विकल्प है नहीं।

## जीवन साधना के कुछ सुनिश्चित सूत्र

उपासना पक्ष के चार चरणों की विस्तृत चर्चा उपासना खण्ड में की जा चुकी है—(१) प्रातःकाल आँख खुलते ही—नया जन्म, (२) रात्रि को सोते समय नित्य मरण, (३) नित्य कर्म से निवृत्त होने के बाद जप ध्यान वाला भजन, (४) मध्याह्न के बाद मनन के क्रम में अपनी स्थिति का विवेचन और उदात्तीकरण। कुछ दिन के अभ्यास से इन चारों को दिनचर्या का अविच्छिन्न अंग बना लेना सरल, सम्भव हो जाता है।

इष्टदेव के साथ अनन्य आत्मीयता स्थापित कर लेना, उसके ढाँचे में ढलने का प्रयत्न करना, यही सच्ची भगवद्भक्ति है। द्वैत को अद्वैत में बदलना इसी आधार पर बन पड़ता है। सत्प्रवृत्तियों के समुच्चय परमात्मा के साथ लिपटने की वास्तविकता को इसी आधार पर परखा जा सकता है। जीवन क्रम में शालीनता, सद्भाव, उदारता, सेवा सम्वेदना जैसी उमंगें अंतराल में उठती हैं या नहीं ? आग के सम्पर्क में आकर ईंधन भी अग्नि बन जाता है। ईश्वर भक्त में अपने इष्टदेव की अनुरूपता उभरनी चाहिए। इस कसौटी पर हर किसी की भक्ति भावना में कितनी यथार्थता है इसकी जाँच-परख की जा सकती है। भगवान का अनुग्रह भी इसी आधार पर जाँचा जाता है। जहाँ सूर्य की किरणें पड़ेंगी वहाँ गर्मी और रोशनी अवश्य दृष्टिगोचर होगी। ईश्वर का सान्निध्य निश्चित रूप से भक्तजनों में प्रामाणिकता और प्रखरता की विभूतियाँ अवतरित करता है। इस आधार पर उसका चिन्तन, चरित्र और व्यवहार, उत्कृष्ट आदर्शवादिता की हर कसौटी पर खरा उतरता चला जाता है। सच्ची और झूठी भक्ति की परीक्षा हाथों हाथ होती चलती है। यह प्रतीत होता रहता है कि समर्थ सत्ता का अनुग्रह हाथों हाथ प्राप्त होने की मान्यता पर उपासना खरी उतरी या नहीं।

आत्मोत्कर्ष का दूसरा अवलम्बन है जीवन साधना। जीवन साधना अर्थात् अस्त-व्यस्तता को सुव्यवस्था में बदलना। इसके लिए दो प्रयास निरन्तर जारी रखने पड़ते हैं—एक अभ्यस्त दुष्प्रवृत्तियों को बारीकी से देखना, समझना और उन्हें उखाड़ने के लिए अनवरत प्रयत्नशील-संघर्षशील रहना। दूसरा कार्य है जिन मानवी गरिमा के अनुरूप सत्प्रवृत्तियों की अभी कमी मालूम पड़ती है, उनकी आवश्यकता, उपयोगिता को समझते हुए उनके लिए आकुलता स्तर का मानस बनना। यह उभयपक्षीय क्रम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यवहृत होते चले तो समझना चाहिए कि जीवन साधना साधने का सरंजाम जुटा।

माना कि कार्य समय साध्य और श्रम साध्य है, फिर भी वह असम्भव नहीं है। कछुआ धीमी चाल से चलकर भी बाजी जीत गया था। असफल तो वे खरगोश होते हैं जो क्षणिक उत्साह दिखाने के उपरान्त मन बदल लेते और इधर-उधर भटकते हैं। तत्परता और तन्मयता हर प्रसंग में सफलता का श्रेष्ठ माध्यम बनती है। जीवन साधना के लिए भी किया गया प्रयत्न सफल होकर ही रहता है।

किसान अपने खेत में से खरपतवार उखाड़ता रहता है, कंकड़-पत्थर बीनता रहता है, इसे परिशोधन कहा जा सकता है । जानवरों, पक्षियों से खेत की रखवाली करना भी इसी स्तर का कार्य है ।

खेत में खाद, पानी लगाना पड़ता है । यह परिपोषण पक्ष है । निराई-गुड़ाई का एक उद्देश्य यह भी है कि जमीन पोली बनी रहे । जड़ों में धूप हवा की पहुँच बनी रहे । फसल को उगाने का यही तरीका है । जीवन को सुविकसित करना भी एक प्रकार का कृषि कार्य है । इसके लिए भी इसी नीति को अपनाना होता है ।

शरीर यन्त्र में मल-मूत्र, पसीना, कफ आदि के द्वारा सफाई होती है । स्नान का उद्देश्य भी यही है । सफाई से सम्बन्धित अनेक उपक्रम भी इसीलिए चलते हैं कि विषाणुओं का आक्रमण न होने पाये । सर्दी गर्मी से बचने के लिए अनेक प्रयत्न भी इसी उद्देश्य से किए जाते हैं कि हानि पहुँचाने वाले तत्वों से निपटा जाता रहे । जीवन भी एक शरीर है । उसे गिराने के लिए पग-पग पर अनेकानेक संकट, प्रलोभन, दवाव उपस्थित होते रहते हैं । उनसे निबटने के लिए सतर्कता न बरती जाय तो बात कैसे बने । चोर, उचक्कों, ठगों, उद्दण्डों की उपेक्षा न होती रहे, तो वे असाधारण क्षति पहुँचाये बिना न रहेंगे ।

दुष्प्रवृत्तियाँ जन्म-जन्मान्तरों से संचित पशु प्रवृत्तियों के रूप में स्वभाव के साथ गुँथी रहती हैं । फिर निकटवर्ती लोग जिस राह पर चलते और जिस स्तर की गतिविधियाँ अपनाते हैं वे भी प्रभावित करती हैं और अपने साथ चलने के लिए ललचाती हैं । जो कुछ बहुत जनों द्वारा किया जाता दीखता है, अनुकरण प्रिय स्वभाव भी उसकी नकल बनाने लगता है । इतना विवेक तो किन्हीं विरलों में ही पाया जाता है कि वे उचित-अनुचित का विचार करें, दूरवर्ती परिणामों का अनुमान लगायें और सन्मार्ग पर चलने के लिए बिना साथियों की प्रतीक्षा किए एकाकी चल पड़ने का साहस जुटायें । आमतौर से लोग प्रचलित ढर्रे पर चलते देखे गए है । पत्ते और धूलकण हवा के रुख के साथ उड़ने लगते हैं । दिशा बोध उन्हें कहाँ होता है । यही स्थिति लोक मानस के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है । नीर क्षीर की विवेक बुद्धि तो कम दीख पड़ने वाले राजहंसों में ही होती है । अन्य पक्षी तो ऐसे ही कूड़ा-कचरा और कीड़े-मकोड़े खाते देखे गए हैं ।

किसी वस्तु का प्राप्त कर लेना एक बात है और उसका सदुपयोग बन पड़ना सर्वथा दूसरी । स्वास्थ्य सभी को मिला है, पर उसे बनाये रखने में समर्थ विरले ही होते हैं । अधिकांश तो असंयम अपनाते और उसे बर्बाद ही करते हैं । बुद्धि का सदुपयोग कठिन है, चतुर कहे जाने वाले लोग भी उसे कहाँ कर पाते हैं ? धन कमाते तो सभी हैं, पर उसका आधा चौथाई भाग भी सदुपयोग में नहीं लगता । उसे जिन कामों में जिस तरह खर्चा जाता है उससे खर्चने वालों की, उनके सम्पर्क में आने वालों की तथा सर्वसाधारण की बर्बादी ही होती है । प्रभाव का उपयोग प्रायः गिराने, दबाने, भटकाने में ही होता रहता है । इसे समझदार कहे जाने वाले मनुष्य की नासमझी ही कही जायगी । यह व्याधि सर्वसाधारण को बुरी तरह ग्रसित किए हुए है । इसी को कहते हैं राजमार्ग छोड़कर मृग तृष्णा में, भूल-भुलैयों में भटकना । जीवन सम्पदा के सम्बन्ध में भी यही बात है । जन्म से मरणपर्यन्त पेट प्रजनन जैसी सामयिक बातों में ही आयुष्य बीत जाता है । अवारागर्दी में दिन कट जाता है ।

हर व्यक्ति की मनःस्थिति एवं परिस्थिति अलग होती है । यही बात दुर्गुणों और सद्गुणों की न्यूनाधिकता के सम्बन्ध में भी है । किसे अपने में क्या सुधार करना चाहिए और किन नई सत्प्रवृत्तियों का सम्वर्धन गुण, कर्म, स्वभाव के क्षेत्र में करना है यह आत्म-समीक्षा के आधार पर सही विश्लेषण होने के उपरान्त ही सम्भव है । इसके लिए कोई एक निर्धारण नहीं हो सकता है । यह कार्य हर किसी को स्वयं करना होता है । दूसरों का तो थोड़ा बहुत परामर्श ही काम दे सकता है । नित्य निरन्तर हर कोई किसी के साथ रहता नहीं । फिर रोग का कारण और निदान जानते हुए उपचार का निर्धारण कोई अन्य किस प्रकार कर सकता है ? थोड़े समय तक सम्पर्क में आने वाला केवल उतनी ही बात जान सकता है जितनी कि मिलन काल में उभरकर सामने आती है । यह सर्वथा अधूरी रहती है । इसलिए अन्यायों के परामर्श पर पूरी तरह निर्भर नहीं रहा जा सकता । यह कार्य स्वयं अपने

को ही करना पड़ता है । इसमें भी एक कठिनाई यह है कि मानसिक संरचना के अनुसार हर व्यक्ति अपने को निर्दोष मानता है, साथ ही सर्वगुण सम्पन्न भी समझता रहता है । यह स्थिति सुधार और विकास दोनों में बाधक है । जब तक कमी का आभास न हो तब तक उसकी पूर्ति का तारतम्य कैसे बने ? अस्तु आत्म-विकास के मार्ग पर चलने वाले, जीवन साधना के मार्ग पर अग्रसर होने के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि निष्पक्षता की मनोभूमि विकसित की जाय । खास तौर से अपने सम्बन्ध में उतना ही तीखापन होना चाहिए जितना कि आमतौर से दूसरों के दोष-दुर्गुण ढूँढ़ने में हर किसी का रहता है । आरोप लगाने और लांछित करने में हर किसी को प्रवीण पाया जाता है । इस सहज वृत्ति को ठीक उल्टा करने से ही आत्म-समीक्षा की वह प्राथमिक आवश्यकता पूरी होती है, जिसके बिना व्यक्तित्व का निखार प्रायः असम्भव ही बना रहता है । वह न बन पड़े तो किसी को भी महानता अपनाने और प्रगति के उच्च शिखर तक पहुँच सकने का अवसर मिल ही नहीं सकता ।

क्या करें इस प्रश्न के उत्तर में एक पूरक प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या नहीं हो रहा है ? और ऐसा क्या अनुपयुक्त हो रहा है, जिसे नहीं सोचा या नहीं किया जाना चाहिए था ? किन्हीं सुविकसित और सुसंस्कृत बनने वालों के निजी दृष्टिकोण, स्वभाव और दिशा निर्धारण को समझते हुए यह देखा जाना चाहिए कि वैसा कुछ अपने से बन पड़ रहा है या नहीं ? यदि नहीं बन पड़ रहा है तो उसका कारण और निवारण क्या हो सकता है ? इस प्रकार के निर्धारण जीवन साधना के साधकों के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं । जो अपनी त्रुटियों की उपेक्षा करता है, जो अगले दिनों अधिक प्रखर और अधिक प्रामाणिक बनने की बात नहीं सोच सकता, उस प्रकार की योजना बनाकर उनके लिए कटिबद्ध होने की तत्परता नहीं दिखा सकता, उसके सम्बन्ध में यह आशा नहीं की जा सकती कि वह किसी ऐसी स्थिति में पहुँच सकेगा जिसमें अपने को गर्व-गौरव अनुभव करने का अवसर मिल सके । साथ ही दूसरों का सहयोग, सम्मान पाकर अधिक ऊँची स्थिति तक पहुँच सकना सम्भव हो सके ।

साधक के लिए आलस्य, प्रमाद, असंयम, अपव्यय एवं उन्मत्त और अस्त-व्यस्त रहना प्रमुख दोष है । अचिन्त्य चिन्तन और अकर्मों को अपनाना पतन पराभव के यही दो कारण हैं । संकीर्ण स्वार्थपरता में अपने को जकड़े रहने वाले अपनी और दूसरों की दृष्टि में गिर जाते हैं । उत्कृष्टता और आदर्शवादिता से रिश्ता तोड़ लेने पर ओछे लोग समझते हैं कि इस आधार पर नफे में रहा जा सकेगा । पर बात यह है कि ऐसों को सर्वसाधारण की उपेक्षा सहनी पड़ती है और असहयोग की शिकायत बनी रहती है । अपना चिन्तन, चरित्र स्वभाव और व्यवहार यदि ओछेपन से ग्रसित हो तो उसे उसी प्रकार धो डालने का प्रयत्न करना चाहिए जैसे कि कीचड़ से सन जाने पर उस गन्दगी को धोने का अविलम्ब प्रयत्न किया जाता है । गन्दगी में सने फिरना किसी के लिए भी अपमान की बात है । इसी प्रकार मानवी गरिमा से अलंकृत होने पर भी क्षुद्रताओं और निकृष्टताओं का परिचय देना न केवल दुर्भाग्य सूचक है वरन् साथ में यह अभिशाप भी जुड़ता है कि कोई महत्त्वपूर्ण, उत्साह-वर्धक और अभिनन्दनीय प्रगति कर सकने का आधार कभी हाथ नहीं आता । पेट भरने और परिवार के लिए मरते-खपते रहना किसी भी गरिमाशील के लिए पर्याप्त नहीं हो सकता । इस नीति को पशु-पक्षी और कीट-पतंग ही अपनाते रहते हैं और मौत के दिन किसी प्रकार पूरे कर लेते हैं । यदि मनुष्य भी इसी कुचक्र में पिसता और दूसरों को पीसता रहे तो समझना चाहिए कि उसने मनुष्य जन्म जैसी देव दुर्लभ सम्पदा को कौड़ी मोल गँवा दिया ।

नित्य आत्म-विश्लेषण, सुधार सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्धन का क्रम यदि जारी रखा जाय तो प्रगति के लक्ष्य उपलब्ध करने की दिशा में अपने क्रम से बढ़ चलना सम्भव हो जाता है, यह एक प्रकार का तप है । तप से सम्पत्ति और सम्पत्ति से सिद्धि प्राप्त होने का तथ्य सर्वविदित है । दुष्प्रवृत्तियों से अपने को बचाते रहने की संयमशीलता किसी को भी सशक्त बना सकने में समर्थ हो सकती है । यह राजमार्ग अपनाकर कोई भी समुन्नत होते हुए अपने आपको देख सकता है ।

समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी और बहादुरी के चार सद्गुण यदि अपने व्यक्तित्व के अंग बनाये जा सकें, उन्हें पुण्य-परमार्थ स्तर का माना जा सके तो अपना आपा देखते-देखते इस स्तर का बन जाता है कि अपने सुख बाँटने और दूसरों का दुख बँटा लेने की उदार मनोदशा विनिर्मित होने लगे । जीवन साधना इसी आधार पर सधती है । मनुष्य जन्म को सार्थक इन्हीं आधारों को अपनाकर बनाया जा सकता है ।

## जीवन साधना के १४ स्वर्णिम सूत्र

### १. आस्तिकता (ईश्वर विश्वास)

ईश्वर विश्वास मानवी नैतिकता का मेरुदण्ड है । उसे हर कीमत पर सुरक्षित रखा जाना चाहिए । कर्म फल सिद्धान्त आस्तिकता से जुड़ा हुआ है । तत्काल कर्मफल मिलने की छूट देकर मनुष्य की निजी गरिमा परखी गई है, अन्यथा तत्काल कर्मफल की व्यवस्था रही होती तो मनुष्य दण्डमय से एक जैसे बने रहते और उनका निजी स्तर निखर न पाता । कर्मफल तत्काल मिलते न देखकर लोग इस भ्रम में पड़ते हैं कि वे सदा ही अपनी चतुरता से बचे रह सकते हैं और मनमानी, स्वार्थपरता एवं अनीति में लगे रह सकते हैं । इसी भ्रम में मनुष्य कुमार्गगामी बनता है । अस्तु जनमानस में ईश्वरीय शासन की आस्था दृढ़तापूर्वक जमी रहनी चाहिए । उसके सर्वव्यापी निष्पक्ष न्यायकारी मानने से कर्मफल, परलोक, पुनर्जन्म के तीनो सिद्धान्तो पर विश्वास जमता है । यही वह आत्म-नियन्त्रण है जिस अंकुश का मनुष्य स्वेच्छापूर्वक सन्मार्गगामी बना रह सकता है । इस आस्था को गँवा देने पर मन पर अनीति के प्रति निर्भयता उत्पन्न हो जाती है और राज-दण्ड से बच निकलने की तरकीबें भिड़ाकर मनुष्य लुक-छिपकर कुछ भी करने पर उतारू हो सकता है ।

ईश्वर उपासना की आवश्यकता प्रधानतया इसीलिए है कि नियामक सत्ता के अनुग्रह का लाभ और रोष का भय बना रहे । ईश्वरीय आदेश की स्मृति बनी रहे । उस जैसा उदात्त और व्यापक बनाने का लक्ष्य ध्यान मे रहे । आत्मा को परमात्मा से जोड़ने पर उसके वर्चस्व का अन्तःकरण में उतरने का दिव्य अनुदान मिलता रहे । यहाँ यह भी स्मरण रखा जाय कि पूजा-पाठ के कर्मकाण्ड मात्र से पाप कर्मों के दण्ड से बच जाने और पात्रता न होते हुए भी मनचाही कामनायें पूरी होते रहने की प्रचलित मान्यतायें सर्वथा निरर्थक है। अग्नि की समीपता से अग्नि जैसी विशेषता प्राप्त करना ही आस्तिकता एवं उपासना का प्रमुख लाभ है । इस विश्वास के स्थिर रखने एवं परिपुष्ट रखने के लिए मन पर जमने वाले कषाय-कल्मषों को नित्य धोने के लिए उपासना नित्य कर्म में सम्मिलित रहनी चाहिए ।

अपने परिवार में आस्तिकता का वातावरण बनाया जाय । गायत्री माता को ईश्वरीय सत्ता का, मानवीय आदर्शवादिता का प्रतीक मानकर उसके चित्र के सम्मुख नित्य मस्तक झुकाना, न्यूनतम पाँच मिनट इस सद्बुद्धिदायक मन्त्र का मानसिक जप एवं सविता देव के प्रकाश का नित्य ध्यान अपने सम्बन्धियों को करने की प्रेरणा देनी चाहिए । आस्तिकता का वातावरण हर घर में, हर मनुष्य के मन में बना रहे इसके लिए सदा प्रयत्न करना चाहिए ।

### २. आध्यात्मिकता (आत्मविश्वास-आत्मनिष्ठा)

अपने गौरव एवं वर्चस्व को सदा ध्यान में रखा जाय । अपनी मूल सत्ता को ईश्वर का पवित्र एवं समर्थ अंश माना जाय । अपने भीतर छिपी अगणित विशेषताओं को ध्यान मे रखा जाय और उन्हें जागृत करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहा जाय । गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता को अपनी सबसे बड़ी पूजा समझा जाय और इस आधार पर उत्पन्न हुई आत्मशक्ति की मात्रा को जीवन की वास्तविक सफलता का अनुभव किया जाय ।

शिष्टता, सज्जनता, शालीनता, सहृदयता, चरित्र-निष्ठा, उदारता जैसी सत्प्रवृत्तियो से अन्तरात्मा को अलंकृत करने के लिए अनवरत प्रयत्न किया जाय । जो निकृष्ट पशु प्रवृत्तियाँ अपने स्वभाव, अभ्यास में छिपी बैठी हों उन्हें पैनी दृष्टि से ढूँढ़ा जाय और दृढ़तापूर्वक उन्हें निरस्त किया जाय ।

केवल पाप और परमेश्वर के दण्ड से डरा जाय । केवल आत्मपतन से बचा जाय । शेष सर्वत्र निर्भय रहा जाय । भीरुता एवं कायरता को मनुष्यता का कलंक माना जाय । निराशा, चिन्ता, आशंका, उद्विग्नता, जैसी कुकल्पनाएँ मनोबल गिराती और अगणित हानियाँ

उत्पन्न करती हैं इस तथ्य को ध्यान में रखा जाय । सदा उज्ज्वल भविष्य के स्वप्न देखे जायें । सर्वतोन्मुखी प्रगति के लिए प्रबल पुरुषार्थ करते रहने का स्वभाव बनाया जाय । दूसरों के द्वारा अपना हित-अनहित बहुत ही स्वल्प हो सकता है, यह मानते हुए आत्म-निर्भर बना जाय ।

अपने भाग्य का निर्माणकर्त्ता मनुष्य स्वयं है । इस तथ्य को पूरी तरह हृदयंगम रखा जाय । हर दिन कुछ समय निकाल कर आत्म-चिन्तन, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण एवं आत्म-विकास को ध्यान में रखते हुए वर्तमान स्थिति की समीक्षा और प्रगति की भावी योजना बनाने की प्रक्रिया नियमित रूप से जारी रखी जाय । आत्म-परिष्कार की दिशा में यात्रा अनवरत रूप से चलती रहे । आज की अपेक्षा कल अपना व्यक्तित्व अधिक प्रखर और अधिक पवित्र बन सके इसके लिए अदम्य उत्साह और प्रयास में कमी कदाचित भी नहीं आने दी जाय ।

मनुष्य शरीर को ईश्वर प्रदत्त सर्वोपरि उपहार और चौरासी लाख योनियों की लम्बी शृंखला का अनुपम सौभाग्य माना जाय । समझा जाय कि इतना साधन सम्पन्न शरीर सृष्टि के अन्य किसी प्राणी को नहीं मिला । इसमें ईश्वर का पक्षपात नहीं वरन् विशिष्ट उत्तरदायित्व सौंपकर प्रामाणिकता परखना ही एक मात्र कारण है । यह धरोहर ईश्वर के इस विश्व उद्यान को अधिक सुविकसित, सुसंस्कृत बनाने में हाथ बँटाने के लिए मिली है । इस समानता को लोभ, मोह और वासना, तृष्णा की संकीर्ण स्वार्थपरता में नष्ट नहीं किया जाना चाहिए वरन् अपने को अधिकाधिक पवित्र बनाते हुए पूर्णता के स्तर तक पहुँचने में, लोकमंगल के लिए बड़े-बड़े अनुदान देने में जीवन की सार्थकता माननी चाहिए ।

## ३. धार्मिकता (कर्तव्यनिष्ठा)

मानवी गरिमा को उच्चस्तरीय धर्म कर्तव्यों से पूरी तरह जकड़ा माना जाय । नैतिक और सामाजिक कर्तव्यों का पालन करने के लिए अपने को कठोर अनुशासन में बाँधकर रखा जाय । उच्छृंखला, उद्दण्डता, अनैतिकता अपनाने की पशु प्रवृत्ति को प्रत्यक्ष आत्म-पतन माना जाय और पिछले दिनों ऐसा कुछ बन पड़ा हो तो उस पर पश्चात्ताप किया जाय । अनैतिक आचरणों से व्यक्ति विशेष को ही नहीं समूचे समाज को क्षति पहुँचती है इसलिए जो अपने से हो उसकी क्षति पूर्ति के लिए प्रायश्चित का साहस जुटाया जाय । पापों के रूप में पतन की दिशा में जो बन पड़ा है, उसी के समतुल्य सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने वाला पुण्य-परमार्थ करके ही पिछले पापों का प्रायश्चित हो सकता है ।

*धर्म का अर्थ है कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का* निर्वाह अपने प्रति तथा दूसरों के प्रति कर्तव्य पालन में तत्परता बरती जाय और जो व्यवधान इस मार्ग में आड़े आते हों उन्हें हटाया जाय । शरीर को स्वस्थ रखने का कर्तव्य पालन करने के लिए आहार-विहार का संयम बरता जाय । आलस्य-प्रमाद को शत्रु माना जाय और उसके कुकर्मों से स्वयं को रोका जाय । मन को स्वस्थ रखने के लिए अचिन्त्य चिन्तन एवं मनोविकारों से बचा जाय । धनोपार्जन में नीति, न्याय और औचित्य का ध्यान रखा जाय । परिवार को सुगठित, सुविकसित, सुसंस्कृत, सहचरी संगठन के रूप में विकसित करने के लिए अपनी ओर से भरपूर प्रयत्न किया जाय । बड़ों को आदर और छोटे को स्नेह देने में कृपणता न की जाय । उनकी आर्थिक सुविधाओं का ही नहीं सद्गुणों की सम्पदा विकसित करने एवं सुसंस्कारी बनाने के लिए भी पूरी तरह सचेष्ट रहा जाय ।

स्मरण रखा जाय कि शरीर यात्रा परिवार निर्वाह एवं अर्थ उपार्जन तक की छोटी परिधि तक सीमित रहने के लिए ही मनुष्य जीवन नहीं है । उसकी सफलता और गरिमा व्यापक बनने में है । देश, धर्म, समाज, संस्कृति और विश्व मानवता के लिए भी उसके कर्तव्यों की परिधि तथा तौल उतनी ही बढ़ती जाती है जितना की उसका आत्म-विकास होता है । अपने समय की व्यापक समस्याओं का समाधान करने के लिए अवांछनीयताओं को निरस्त करने एवं उत्कृष्टता बढ़ाने के लिए भी योगदान दिया जाय । शरीर और परिवार के उत्तरदायित्व निबाहने से कम सामाजिक एवं नैतिक कर्तव्यों को न माना जाय ।

धर्म को प्रथा-परम्पराओं के बन्धन में न बाँधा जाय उसे मानवी कर्तव्य पालन के रूप में देखा, समझा जाय और सच्चे अर्थों में धार्मिक बना जाय ।

## ४. प्रगतिशीलता (आत्मोत्कर्ष)

अपने ज्ञान, अनुभव एवं दृष्टिकोण का विकास, परिष्कार उतना ही आवश्यक है जितना आरोग्य संरक्षण और अर्थ उपार्जन । मनुष्य की वास्तविक पूँजी उसकी आत्मिक प्रखरता ही कही जा सकती है अस्तु इस दिशा में अपने प्रयत्न अनवरत रूप से चलते रहने चाहिए ।

हमें विचारशील, दूरदर्शी होना चाहिए और पूर्वाग्रहों से ऊपर उठकर हर बात की यथार्थता समझने की चेष्टा करनी चाहिए । एकांगी दृष्टिकोण रखने से भ्रमपूर्ण स्थिति मस्तिष्क पर छा जाती है और उसके प्रभाव से अनुचित निर्णय हो जाते हैं जिनका परिणाम पीछे पश्चात्ताप करने जैसा ही सामने आता है । हमें सर्वत्र सत्य की खोज करनी चाहिए और उचित निर्णय लेने चाहिए ।

ज्ञान वृद्धि की दृष्टि से हर दिन ऐसा साहित्य पढ़ने का नियम बनाना चाहिए जो अपने व्यक्तित्व को सुसंस्कृत बनाने में तथा सामाजिक समस्याओं के हल करने में उपयुक्त मार्गदर्शन कर सके । ऐसा स्वाध्याय मानसिक भूख बुझाने के लिए दैनिक आहार की तरह ही आवश्यक समझा जाय उसके लिए नित्य कुछ समय निर्धारित रखा जाय ।

आत्म-समीक्षा के लिए मनन और आत्म-निर्माण के लिए चिन्तन अनिवार्य नित्य कर्म माना जाय । स्वाध्याय की तरह उसके लिए कोई समय प्रातः आँख खुलते ही और रात्रि को सोने का समय सुनिश्चित रखा जाय । यह दोनों संध्याकाल माने जायें और उन्हें ब्रह्मविद्या के आत्म-निर्माण के पुनीत कार्य में ही लगाया जाय । दोनों समय १५-१५ मिनट तो इस कार्य में लगाने ही चाहिए ।

उठते ही जीवन के महत्त्व एवं उद्देश्य का भावनापूर्वक स्मरण किया जाय और आज के दिन को नया जन्म मानकर उसके श्रेष्ठतम सदुपयोग की योजना बनाई जाय । एक ही दिन जानने को मिलता तो उसका प्रयोग कैसे किया जाता, इस मान्यता के आधार पर हर दिन की श्रेष्ठतम दिनचर्या और कार्यपद्धति निर्धारित की जाय । यह चिन्तन हुआ ।

रात्रि को सोते समय दिन भर के कार्यों की समीक्षा की जाय जो सही हुआ हो उस पर सन्तोष माना जाय और भूले रही हों उन्हें आगे न करने के लिए पूरा ध्यान रखने की बात सोची जाय । सोते समय मृत्यु की गोद में विश्राम पाने को वैराग्य की भावना लेकर सोया जाय । शरीर और आत्मा की भिन्नता एवं उपलब्ध वस्तुओं को ईश्वर की अमानत भर समझने की मान्यता, कल्पना में अति स्पष्टतापूर्वक उतारी जाय । अपने को माली, चौकीदार, ट्रस्टी, खजान्ची भर मानने की बुद्धि रखकर ही कर्तव्यनिष्ठ जीवन जिया जा सकता है अस्तु रात्रि के समय इसी प्रकार के कल्पना चित्र संजोते हुए सोया जाय । यह मनन अपना नित्य कर्म होना चाहिए ।

## ५. संयमशीलता (इन्द्रिय निग्रह)

शरीर में जुड़ी ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ ज्ञान वृद्धि, औचित्य का निर्णय, उत्साह, प्रयत्न, निर्वाह के उपयुक्त परिस्थितियाँ उत्पन्न करने में सहायता देने के लिए हैं । उनका सही कार्य में सही उपयोग करके ही उस लाभ से लाभान्वित हुआ जा सकता है जिसके लिए परमेश्वर ने इन्हें प्रदान किया है ।

इन्द्रिय शक्ति के दुरुपयोग से असंयम में केवल हानि ही हानि है । जीभ को मिर्च-मसाले और पकवान-मिष्ठानों का आदी बनकर असंयम, अनावश्यक और अनुपयोगी पदार्थ पेट में भरे जाते हैं फलतः अपच उत्पन्न होता है और तरह-तरह के रोग खड़े होते हैं । तामसिक और राजसिक आहार में धन, समय और स्वास्थ्य की बर्बादी अत्यन्त स्पष्ट है । जैसा अन्न वैसा मन की उक्ति सर्वविदित है । आहार की सात्विकता का प्रभाव साधक की मनोभूमि पर सीधा पड़ता है । जीभ का चटोरापन रोके बिना इन हानियों से नहीं बचा जा सकता । समझदारी इसमें है कि कड़ी भूख लगने पर सात्विक और सुपाच्य आहार ही उचित मात्रा में ग्रहण किया जाय ।

ब्रह्मचर्य का अधिकाधिक पालन किया जाय । ओजस् का कामुकता के क्षणिक मनोरंजन में अपव्यय करना बहुत महँगा सौदा समझा जाय । शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा के लिए ब्रह्मचर्य पालन की उपयोगिता स्वीकार की जाय और आचरण में लाया जाय ।

मानसिक व्यभिचार शारीरिक बर्बादी से भी बुरा है । चिन्तन की उत्कृष्टता इसी में है कि कामुकता की विकृति को मनःक्षेत्र से जितना हटाया जा सकता हो

उतना हटाया जाय । पति-पत्नी एक दूसरे को सहोदर भाई या घनिष्ठ मित्र, जीवन साथी की तरह मानें । परस्पर कामोत्तेजक दृष्टि से न देखा जाय । एकान्त समय भी उपयोगी विषयों की चर्चा में लगाया जाय ।

सौन्दर्य को पवित्र दृष्टि से देखा जाय । पुरुषों का दृष्टिकोण नारी के प्रति बहिन-बेटी मानकर ही तथा नारी पुरुष को भाई, पुत्र या पिता की दृष्टि से देखें । बालकपन, किशोरावस्था, प्रौढ़ता, वृद्धावस्था मे अपने-अपने स्तर के सौन्दर्य उभरते हैं उन्हें प्रकृति परिवर्तनों की तरह देखना और प्रसन्न होना पर्याप्त है । युवकों अथवा युवतियों के सौन्दर्य का कामुक उपयोग की दृष्टि से अश्लील चिन्तन करना अपनी दृष्टि को अपवित्र करना, मस्तिष्क में अवांछनीय विक्षोभ उत्पन्न करना तथा सामाजिक मर्यादाओं को अस्त-व्यस्त करना ही है । इस दिशा में भड़काने वाले साहित्य, चित्र, व्यक्ति आदि को हानिकारक कुसंग समझे जाने चाहिए और उनसे बचा जाना चाहिए । इन्द्रिय में स्वाद और कामुकता की विकृतियाँ ही प्रधान है । अन्य ज्ञानेन्द्रियों के उपद्रव तो थोड़े से ही होते हैं और वे सहज सुधारे जा सकते हैं ।

## ६. समस्वरता (मानसिक सन्तुलन)

मस्तिष्कीय समस्वरता को हर स्थिति मे अक्षुण्ण रखा जाय । प्रिय और अप्रिय परिस्थितियाँ हर किसी के जीवन में आती है, उनमें उद्विग्न हो उठने से मानसिक तन्त्र गड़बड़ा जाता है और उत्तेजित स्थिति में ऐसे निर्णय एवं काम करता रहता है जिनसे स्वनिर्मित विपत्ति के संकट घुमड़ने लगते हैं । सफलताओं पर कई व्यक्ति हर्षोन्मत्त हो उठते हैं । अहंकारी बनते और दुस्साहस करने पर उतारू होते हैं । उद्धत प्रदर्शन करने एवं शेखीखोरी पर उतारू भी ऐसे ही लोग होते हैं, फलतः वे ठोकर खाते और यश गँवाते हैं । सफलताओ को ईश्वरीय अनुग्रह एवं साथियों का सहयोग समझा जाय । आत्म-विश्वास तो बढ़े पर नम्रता एवं गम्भीरता हर हालत में बनी रहे ।

विपत्तियों एवं सफलताओ में भी दु:ख, शोक, चिन्ता, निराशा, उद्विग्नता का अनुभव न्यूनतम ही होने दिया जाय । इच्छा विरुद्ध स्थितियाँ व्यवहार देखते ही कई व्यक्ति आवेश ग्रस्त हो जाते है । क्रोध करते या सिर धुनते हैं, निराश हो बैठते हैं । इस मानसिक रुग्णता से ग्रसित व्यक्ति यह नहीं सोच पाता कि प्रस्तुत विपत्ति का सामना करने के लिए क्या किया जाना चाहिए । फलतः विपत्ति और भी अधिक बढ़ती जाती है । असन्तुलित लोगों को दूसरों की उपेक्षा, अवज्ञा एवं खीज ही हाथ लगती है ऐसी दशा में वे और भी अधिक दयनीय स्थिति में फँसते चले जाते हैं । आवेश और अवसर की दोनों ही मनःस्थितियाँ अर्ध-विक्षिप्त स्थिति उत्पन्न करती हैं । इस स्वविनिर्मित विपत्ति से बचने के लिए हर व्यक्ति को सतर्क रहना चाहिए और शारीरिक स्वास्थ्य की तरह मानसिक सन्तुलन की भी रक्षा करनी चाहिए ।

मानसिक सन्तुलन का चिन्ह है प्रसन्नता व्यक्त करने वाली मुखाकृति और रचनात्मक चिन्तन करने वाला दूरदर्शी स्वभाव । जो उपलब्ध है उस पर सन्तोष एवं आनन्द, अनुभव किया जाय, अधिक प्राप्त करने और आगे बढ़ने के लिए उत्साहपूर्वक प्रयत्नरत रहा जाय पर यह सब खिलाड़ी की मनःस्थिति रख कर ही होना चाहिए । समस्याओं को सुलझाने का क्या उपाय हो सकता है, इसका बुद्धिमत्तापूर्ण रचनात्मक चिन्तन शान्त चित्त से हो सके ऐसा अपना स्वभाव बनाना चाहिए । छिद्रान्वेषण, तोड़फोड़, आवेश, उद्वेग अपनी प्रकृति के अंग नहीं होने चाहिए ।

साथियों के सद्‌गुण ढूँढ़े जायें और उनकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की जाय । जो दोष हों उनकी कटुभर्त्सना करने के स्थान पर हानि बताई जाय । छुटकारे का रचनात्मक उपाय सुझाया जाय । किसी को मूर्ख, अयोग्य, अभागा आदि कह कर उसका उत्साह गिराया न जाय वरन् रचनात्मक पुरुषार्थ के लिए प्रोत्साहन देते रहने और हर किसी को उज्ज्वल भविष्य की आशा दिलाने की ही अपनी नीति होनी चाहिए । यो खतरों और कठिनाइयों से अवगत कराना भी उचित है पर वह सन्तुलित रीति से होना चाहिए ।

## ७. पारिवारिकता (आत्मविस्तार की प्रक्रिया)

व्यक्ति और समाज के बीच की कड़ी परिवार है । परिवार वह खदान है जिसके सही होने पर उसमे से नर रत्न निकल सकते हैं और देश को हर दृष्टि से गौरवान्वित कर सकते हैं । समाज का विशाल कलेवर परिवार की छोटी-छोटी इकाइयो का समूह ही है । कड़ियों के मजबूत होने से जंजीर मजबूत होती है ।

अस्तु हमें परिवारों का वातावरण ऐसा बनाना चाहिए जिससे जन्मा, पला और बढ़ा व्यक्ति हर दृष्टि से सुयोग्य सुविकसित बन सके ।

परिवार एक छोटा समाज एवं छोटा राष्ट्र है उसकी सुव्यवस्था एवं शालीनता उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी बड़ी रूप में समूचे राष्ट्र की । इस छोटी सी प्रयोगशाला में व्यायामशाला एवं पाठशाला में उसके प्रत्येक सदस्य को वैयक्तिक कर्तव्यों एवं सामाजिक उत्तरदायित्वों को समझने, निबाहने की शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिल सके ऐसा ढाँचा खड़ा किया जाना चाहिए । यह प्रवृत्ति विकसित होते-होते विश्व नागरिकता एवं मानव परिवार का सृजन करेगी ।

हमें अपने परिवार में सुव्यवस्था रखने में पूरी-पूरी दिलचस्पी लेनी चाहिए और उस प्रयोजन के लिए स्वयं समय देना चाहिए । हर व्यक्ति और हर वस्तु स्वच्छ रहे । प्रत्येक सामान यथास्थान, साफ-सुथरा और कायदे-तरीके से सुसज्जित रखा होना चाहिए । रसोईघर, शौचालय, स्नानघर, नाली जैसे स्थानों की सफाई का सदा ध्यान रहे । टूट-फूट सुधारने, मरम्मत करने एवं रंगाई, पुताई सुसज्जा की कला घर के सब वयस्कों को आनी चाहिए ।

दिनचर्या बनाकर घर के सब काम निपटाये जायें । कोई सदस्य बेकार न रहे और किसी पर श्रम का अनावश्यक दबाव न पड़े । श्रमशीलता, मितव्ययता, सहकारिता, शिष्टता एवं उदार आत्मीयता की सत्प्रवृत्तियाँ सीखने और बढ़ाने का अवसर घर के हर सदस्य को मिले । बड़ों को समुचित आदर और छोटों को भरपूर स्नेह-दुलार मिलना चाहिए । उत्तराधिकार में प्रचुर सम्पदा छोड़ने की बात किसी को भी नहीं सोचनी चाहिए । सद्गुणी और स्वावलम्बी बना देना ही अभिभावकों का कर्तव्य है ।

परिवार के प्रति अपने उत्तरदायित्व समझे जायें, किन्तु उनके प्रति मोहग्रस्त न हुआ जाय । परिवार मे जितने सदस्य है उन्ही के विकास की बात सोची जाय । नई सन्तानें न बढ़ाई जाये । ध्यान रखा जाय, वर्तमान परिस्थितियो में सन्तान की सीमा बढाना अबुद्धिमत्तापूर्ण है । इससे अपने आपको, जननी, बच्चों को और समूचे राष्ट्र को भारी विपत्ति में फँसना पड़ता हैं ।

## ८. सामाजिकता (नागरिकता)

मनुष्य सामाजिक प्राणी है । समाज के सहयोग से ही व्यक्तियों को सुखी, समुन्नत बनने का अवसर मिलता है । एकाकी उन्नति कितनी ही क्यों न कर ली जाय, विकृत परिस्थितियो में घिरे समाज में रह कर कोई भी सुख चैन से नहीं रह सकता । जबकि समुन्नत समाज के हर सदस्य को अनायास ही सुख-शान्ति का लाभ मिलता रहता है । हमें अपने को समाजरूपी घड़ी का एक पुर्जा भर मानना चाहिए और ध्यान रखना चाहिए कि अपनी गतिविधियाँ ऐसी रखें जिसमें घड़ी की गतिशीलता ठीक बनी रहे उसमें किसी प्रकार का बन्धन उत्पन्न न हो । इस दृष्टि से हमें सामाजिक मर्यादाओं और नागरिक कर्तव्यो का सतर्कतापूर्वक पालन करना चाहिए । साथ ही अपने प्रभाव क्षेत्र मे ऐसा वातावरण बनाना चाहिए जिससे दूसरों की समाजनिष्ठा भी अक्षुण्ण बनी रहे ।

दूसरों के साथ वही व्यवहार किया जाय जो हम दूसरों से अपने प्रति किए जाने की अपेक्षा करते है । इस कसौटी पर जो भी कार्य खरे उतरे उन्हें नैतिक एवं सामाजिक कहा जा सकता है । हमें किसी के नागरिक अधिकारों का हरण नही करना चाहिए । शोषण, दबाव, छल की नीति किसी के प्रति भी न अपनायी जानी चाहिए । हर किसी को सम्मान दिया जाय और सद्व्यवहार किया जाय । अपनी शालीनता की रक्षा इसी मे होती है । अपराधी आचरण न तो स्वय किया जाय और न दूसरों को करने दिया जाय । जहाँ अनीति बरती जा रही हो वहाँ असहयोग और विरोध तो किया ही जाय । आवश्यकता पड़ने पर संघर्ष करने और सरकारी सहायता से उसे रोकने मे भी शिथिलता न की जाय । अनैतिक और असामाजिक कार्यों के विरोध से संगठित चेतना उत्पन्न की जानी चाहिए ।

प्रचलित अनैतिकताओं, कुरीतियों एव मूढ़ मान्यताओं को निरस्त करने के लिए आन्दोलन करते रहा जाय । ऐसे कार्यों में अपना समर्थन, सहयोग तो कदापि नही होना चाहिए । सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने वाले कार्यों को सम्भावित रूप से करने के लिए हर क्षेत्र में सहकारिता की प्रवृत्ति विकसित की जाय । मताधिकार का उपयोग बहुत समझ सोचकर मात्र उपयुक्त व्यक्तियों

के पक्ष में ही किया जाय । यह चेतना लोकतन्त्र के हर मतदाता में पैदा की जानी चाहिए ।

शिष्टाचार, सद्व्यवहार, मनुजता, सामूहिकता और नागरिकता की प्रवृत्तियाँ सभ्य समाज के प्रत्येक सदस्य को अपनानी पड़ती हैं । उसे अपना चिन्तन उदार और कर्तृत्व आदर्श रखना पड़ता है । हमारा स्वभाव समाज निष्ठ होना चाहिए । व्यक्तिवाद के प्रति उपेक्षा और समूहवाद के प्रति निष्ठा रखने वाले व्यक्तियों का समाज ही समुन्नत होता है और उसके सदस्य सुखी रह सकते हैं यह तथ्य हर किसी को हृदयंगम करना और कराना चाहिए ।

## ६. शालीनता (स्वच्छता एवं सादगी)

स्वच्छता मनुष्य की जागरूकता, सुरुचि एवं कलात्मक दृष्टिकोण की परिचायक है उससे मनुष्य की सौन्दर्यप्रियता व सतर्कता का प्रमाण मिलता है । पशुता के साथ गन्दगी जुड़ी हुई है । यों तो कुत्ते भी पूँछ हिलाकर अर्थात् झाड़ू लगाकर बैठते हैं ऐसा कहा जाता है, पर आमतौर से पशुओं को स्वच्छता और गन्दगी का अन्तर मालूम नहीं होता है । मनुष्य की सुरुचि का उसके विकसित सभ्यता स्तर का पता इस बात से लगता है कि उसका स्वभाव कितना स्वच्छता प्रिय है ।

शरीर के नौ बड़े छिद्र हैं इनसे से मैल निकलता रहता है । त्वचा के छेद भी पसीना बहाते रहते हैं । इन सभी मैलों को साफ करते न रहा जाय तो शरीर में दुर्गन्ध आने लगेगी और बीमारियों की जड़ जम जायेगी । शरीर की तरह ही पहनने और ओढ़ने के कपड़े भली प्रकार धोये, सुखाये जाने चाहिए । घर, कमरों को ठीक तरह बुहारा जाय और वस्तुओं को स्वच्छ बनाकर यथास्थान सुसज्जित रूप से रखा जाय । गन्दगी और अस्त-व्यस्तता जहाँ भी उत्पन्न हो उसे तत्काल सँभाला, सुधारा जाय ।

स्वच्छता की स्थिति तभी रह सकती है जब गन्दगी से निपटने के लिए हर समय कटिबद्ध रहा जाय । स्वच्छता से प्रेम हो तो गन्दगी साफ करने मे अपना निज का उत्साह करना चाहिए । जो गन्दगी छूने से, हटाने से हिचकते हैं वे स्वच्छता का मूल्य नहीं चुकाते और उससे वंचित बने रहते हैं । शरीर, वस्त्र, वस्तुऐं, उपकरण, घर आदि को स्वच्छ, सुव्यवस्थित देखकर यह पता चलता है कि आपने मानवी सभ्यता के क्षेत्र में कितना प्रवेश पा लिया है । सौन्दर्यप्रियता की एक मात्र परख स्वच्छता और सुव्यवस्था है ।

सौन्दर्य क्षेत्र की एक उपहासास्पद विकृति है, सजधज ठाट-बाट, फैशन, टीम-टिमाक की कृत्रिमता । बचकाने व्यक्ति इसी बचकानेपन को अपनाते हैं और ओछेपन का परिचय देते हैं । इस प्रकार के आवरण सजाने में शालीनता को अपनी प्रत्यक्ष हेटी अनुभव होगी । फैशन के नाम पर चित्र-विचित्र पोशाकों के ढेर जमा करना, पैसे का प्रत्यक्ष ही दुरुपयोग है । सजधज करके निकलने का अर्थ है दूसरों का ध्यान अपनी ओर बँटाना, अपने ओछेपन का फूहड़ विज्ञापन करना । हमें ऐसे उद्धत प्रदर्शन से स्वयं बचना चाहिए और अपने परिवार एवं सम्पर्क के लोगों को उससे बचाने का प्रयत्न करना चाहिए । अपने पहनाव-उढ़ाव, परिधान, वेश-विन्यास एव उपकरणों मे सादगी, सस्तेपन का समावेश होना चाहिए । अपव्यय और उद्धत प्रदर्शन से शालीनता का स्तर गिरता है, बढता नहीं । यह तथ्य भली प्रकार ध्यान में रखा जाय ।

## १०. नियमितता
## (समय और श्रम का सन्तुलन)

समय ही जीवन की आवश्यक सम्पत्ति है । दुनिया के बाजार में से अभीष्ट वस्तुएँ समय और श्रम को मूल्य देकर ही खरीदी जाती है । प्रत्येक क्षण को बहुमूल्य माना जाय और समय का कोई भी अंश आलस्य-प्रमाद मे नष्ट न होने पाये । इसका पूरा-पूरा ध्यान रखा जाय । समय की बर्बादी अप्रत्यक्ष आत्महत्या है । धन के अपव्यय में भी असंख्य गुनी हानि समय के अपव्यय से होती है । खोया धन पाया जा सकता है पर खोया हुआ समय नही ।

धन की बर्बादी के लिए बजट बनाना और उसका कड़ाई से पालन करना आवश्यक है । ठीक इसी प्रकार से समय की बर्बादी बचाने के लिए हर रोज प्रातःकाल अथवा एक दिन पूर्व रात को सोते समय, दिन भर की दिनचर्या पूरी सावधानी के साथ बना लेनी चाहिए । विश्राम जितना नितान्त आवश्यक हो उतना ही लिया जाय, गप्पबाजी, आवारागर्दी और ठलुआगिरी के लिए कहीं कोई गुंजाइश न रखी जाय । "खाली दिमाग शैतान की दुकान" की उक्ति को अक्षरशः सत्य माना जाय और स्मरण रखा जाय कि बेकार समय मे मात्र

उपलब्धियों से ही वंचित नहीं रहा जाता वरन् उतने समय अवांछनीय विचारों से भी बरबस घिरा रहना पड़ता है । कार्य परायण समय ही सार्थक है । जो जितने समय कार्यरत रहा उसकी वास्तविक जिन्दगी उतनी ही आँकी जानी चाहिए ।

काम को बदलते रहने से मन की थकान दूर हो जाती है । बीच-बीच में कुछ-कुछ मिनट सुस्ता लेने भर से थकान दूर हो सकती है । अपने काम से दिलचस्पी हो और उसे उत्साह, मनोयोगपूर्वक किया जा रहा हो तो काम खेल बन जायेगा और उससे न तो थकान आयेगी और न ऊब । स्फूर्ति और मुस्तैदी से काम किया जाय तो काम जल्दी भी निपटता है और अच्छा भी होता है ।

घड़ी को सच्ची सहचरी बनाया जाय । अपनी दिनचर्या इस प्रकार बनायी जाय जिससे सभी दैनिक उत्तरदायित्वों का समुचित समावेश हो । सफाई, भोजन, शयन, व्यायाम आदि की शरीर यात्रा—आजीविका उपार्जन, पारिवारिक सुव्यवस्था की तो दिनचर्या में प्रधानता रहे ही पर सामाजिक कर्तव्यों की पूर्ति के लिए भी कुछ समय उसमें सम्मिलित रहना चाहिए । निजी और पारिवारिक निर्वाह की तरह ही सामाजिक कर्तव्यों का पालन भी नितान्त आवश्यक है ।

सोकर उठने से लेकर रात्रि को सोते समय तक की पूरी दिनचर्या हर रोज निर्धारित कर ली जाय और शक्ति भर यह प्रयत्न किया जाय कि हर कार्य समय पर पूरा होता रहे । परिस्थिति बदल जाने पर आकस्मिक कारणों से तो हेर-फेर हो सकता है पर आलस्य प्रमादवश व्यतिरेक न होने दिया जाय ।

## ११. प्रामाणिकता (ईमानदारी-जिम्मेदारी)

धन सम्बन्धी ईमानदारी और कर्तव्य सम्बन्धी जिम्मेदारी का समन्वय किसी व्यक्ति को प्रामाणिक एवं प्रतिष्ठित बनाता है । हर व्यक्ति को अपनी योग्यता बढ़ाकर तथा कठोर श्रम करके अधिक उपार्जन, उत्पादन करना चाहिए, तभी राष्ट्रीय समृद्धि और व्यक्तिगत क्षमता का विकास होगा, किन्तु जो पैसा कमाया जाय वह न्यायनीति युक्त एवं श्रम उपार्जित होना चाहिए, बेईमानी, मिलावट, रिश्वत, मुनाफाखोरी के उपार्जन को भी चोरी, लूट, ठगी, डकैती जैसे बड़े अपराधों की कोटि में ही गिनना चाहिए । श्रमिकों को पूरा श्रम करना चाहिए । व्यापारियों को उचित कीमत पर सही चीज बेचनी चाहिए और किसी को भी अनीतिपूर्वक पैसा नहीं कमाना चाहिए । बजट बनाकर अपना खर्च उतना ही सीमित रखा जाय जिसमें ईमानदारी की सीमित कमाई से ही गुजारा हो सके । आमतौर से अपव्ययी और संग्रह के लालची लोगों को ही बेईमान बनना पड़ता है । फिजूलखर्ची अपनाकर ऋणी बनने वाले लोग भी बेईमानी की हेय श्रेणी में ही गिने जायेंगे ।

अमीरों की नकल बनाने वाले गरीब लोग, बड़े आदमी बनने के लालची तथा फिजूलखर्ची से ग्रसित लोग ही आमतौर से बेईमान होते हैं । वे अपना सन्मान और विश्वास गँवाते ही हैं । ऐसे लोगों का कोई भी सच्चा मित्र नहीं होता । आत्मधिक्कार, सार्वजनिक अविश्वास, लोकनिन्दा, राजदण्ड एवं ईश्वर का कोप जैसी हानियाँ इतनी बड़ी हैं जिनकी तुलना में बेईमानी से उपार्जित धन का लाभ घाटे का सौदा ही सिद्ध होता है । ऐसा धन बच्चों की बुद्धि भ्रष्ट करके उनके पतन का कारण ही बनता है ।

अधिक उपार्जन के लिए अधिक श्रम किया जाय तो ठीक है, पर उसका न्यूनतम—अत्यन्त उचित आवश्यकता अंश ही अपने लिए खर्च किया जाय । औसत भारतीय के स्तर के अनुरूप ही अपने खर्च रखने में गौरव अनुभव किया जाय । उत्तराधिकारियों को सुसंस्कृत, स्वावलम्बी बनाना भर पर्याप्त न माना जाय । उन्हें बैठे-ठाले खाते रहने के लिए प्रचुर सम्पदा छोड़ जाने का लोभ-मोह, सन्तान का विनाश करने का साधन है । अधिक उपार्जन को लोकमंगल के कार्यों में लगा देने में ही उस कमाई की सार्थकता है । पूर्वजों के छोड़े हुए धन को भी भारतीय संस्कृति में अस्वीकार्य ठहराया गया है और उसे श्राद्ध रूप में लोकोपयोगी कार्यों के लिए दान कर देने का ही विधान है । हराम की कमाई, जुआ, सट्टा, लाटरी, चोरी, बेईमानी अथवा उत्तराधिकार में मिली सम्पत्ति गर्हित मानी जाय । संग्रही, अपव्ययी लोगों का तिरस्कार किया जाय, तभी अर्थ पवित्रता का, ईमानदारी का प्रचलन होगा और तभी धन उपार्जन का समुचित लाभ उठाया जा सकेगा ।

## १२. विवेकशीलता (औचित्य की ही मान्यता)

अपनी संस्कृति कभी बहुत ही उच्च कोटि की थी उसकी श्रेष्ठ परम्पराएँ संसार भर में सम्मानित होती थीं । पर पिछले अन्धकार युग में विदेशी दासता के साथ-साथ अनेकों विकृतियाँ घुस पड़ी है और उसमें कुरीतियों, अन्धविश्वासो और मूढ़ मान्यताओं ने जड़ जमा ली है । शुद्ध रक्त यदि सड़ जाय तो वह विषैले मवाद का रूप धारण कर लेता है । विषाणुओं का उन्मूलन न किया जाय तो शरीर की रुग्णता बढ़ेगी और अकाल मृत्यु का संकट सामने आ खड़ा होगा । अपने समाज में फैली हुई अवांछनीय मान्यताओं को उसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए और उनके उन्मूलन का शक्ति भर प्रयत्न करना चाहिए ।

वर्णाश्रम व्यवस्था सनातन है पर जाति-पाँति के नाम पर बरती जाने वाली नीच और छूतछात के लिए उसमें कोई स्थान नहीं है । मनुष्य मात्र एक है । गुण, कर्म, स्वभाव के कारण किसी को ऊँच-नीच ठहराया जा सकता है पर जन्म और वंश के कारण कोई न तो ऊँच बनता है और न नीच । नर और नारी के बीच बरती जाने वाली असमानता भी इसी प्रकार अनुचित है । मनुष्य जाति के दोनों ही घटक समान नागरिक है उनके बीच भेदभाव उत्पन्न करने वाली प्रथाएँ अमान्य ठहरायी जानी चाहिए । पर्दा प्रथा जैसी प्रतिगामी रिवाजे इस युग में स्वीकार नही हो सकती । वंश और वेष के नाम पर किसी को भिक्षा व्यवसाय अपनाने नहीं दिया जाना चाहिए । अपंग, असमर्थों को भिक्षा मिले, लोकोपयोगी सत्प्रवृत्ति बढ़ाने वाले कार्यों के लिए दान मिले, पर धर्माडम्बरों की आड़ मे निहित स्वार्थियों को धन बटोरने की मनमानी न करने दी जाय ।

मृतक भोज, देवताओं के नाम पर पशुबलि जैसी प्रथाओं का कोई औचित्य नही । विवाह-शादियों में होने वाले अपव्यय एवं दहेज जैसे ठहरावो से जितनी जल्दी पिण्ड छूटे उतना ही उत्तम है । बाल-विवाहों और अनमेल विवाहों का प्रचलन बन्द होना चाहिए । इन कुरीतियों मे जो समय और धन की बर्बादी होती है उससे दरिद्रता और बेईमानी को प्रोत्साहन मिलता है ।

भूत-पलीत, टोना-टोटका, भाग्यवाद, फलित ज्योतिष, शकुन-मुहुर्त, झाड़-फूँक जैसे अन्धविश्वासों के फलस्वरूप आये दिन कितने ही अनर्थ होते रहते हैं और धूर्तों को उनकी आड़ मे भ्रम फैलाने और पैसा बटोरने का अवसर मिलता है । हमें विवेकशील होना चाहिए और इन अवांछनीयताओं से अविलम्ब छुटकारा पाना चाहिए ।

## १३. परमार्थ परायणता (अंशदान)

हर मनुष्य के पास (१) समय, (२) श्रम, (३) बुद्धि, (४) धन—ये चार सम्पदायें होती है । इनमें से समय और श्रमशक्ति युक्त जीवन तो विशुद्ध रूप से ईश्वर प्रदत्त है । बुद्धि भी उन्हीं की देन है । इसे विकसित करने में चिरकाल से असंख्य लोगों द्वारा सचित अनुभवों के संग्रह का ही योगदान रहता है । धन कमाना तो मनुष्य का पुरुषार्थ से है पर वह सम्भव तभी होता है जब दूसरे भी उस उत्पादन एवं विनिमय में सहयोग करें । इन चारों सम्पत्तियों को भगवान की एव समाज की अमानत माना जाय और इनके द्वारा मात्र अपना ही स्वार्थ सिद्ध नहीं करते रहा जाय वरन् परमार्थ प्रियजनो के लिए भी अश दान किया जाय ।

पीड़ा और पतन के निवारण में अपना अंशदान लगाना चाहिए । विपत्तिग्रस्तो को अपने पैरों पर खड़े होने के साधन उत्पन्न करने मे सहायता देनी चाहिए । सर्वथा अपंग-असमर्थ उम्र में निर्वाह प्राप्त करते रहने के भी अधिकारी हैं । आकस्मिक विपत्तियो मे फँस जाने वाले लोगों को भी सहायता दी जानी चाहिए । अधिक ध्यान अज्ञान निवारण और सत्प्रवृत्तियों के सम्वर्धन में किए गए सामूहिक प्रयत्नो पर जोर दिया जाना चाहिए । ऐसे सार्वजनिक कार्य के लिए सोचना, प्रोत्साहन देना, सहयोग करना आवश्यक है । उनके लिए समय दिया जाय और श्रम किया जाय । निजी आवश्यकताएँ कम करने, संचय का लोभ छोड़ने और उदार मन रखने से हर स्थिति का व्यक्ति परमार्थ प्रयोजन के लिए कुछ न कुछ योगदान कर सकने की स्थिति में रहता है ।

युग निर्माण परिवार के प्रत्येक परिजन को ज्ञानघट मे न्यूनतम दस पैसे प्रतिदिन निकालने और एक घण्टा नित्य विचार क्रांति के लिए जन सम्पर्क मे लगाने का कर्तव्य नियत किया गया है । इतना न्यूनतम अंशदान

तो हर भावनाशील व्यक्ति को करना ही चाहिए । यह पैसा और समय मात्र जन मानस का भावनात्मक परिष्कार करने के लिए उपयोगी साहित्य खरीदने और उसे पढ़ाने, सुनाने में लगाया जाना चाहिए । झोला पुस्तकालय का कार्यक्रम अपनाकर यह दोनों कार्य एक साथ किए जाते रह सकते है ।

जो अधिक समय निकाल सकें उन्हें २० घण्टे अपने निजी कार्यों के लिए और चार घण्टे लोक हित के लिए लगाने चाहिए । महीने में एक दिन की आमदनी दे सकना भी उन उदार आत्माओं के लिए कठिन न पड़ेगा जिनके मन में पीड़ा और पतन का निवारण करने की कसक है ।

## १४. प्रखरता (साहस एवं पराक्रम)

सज्जनता, नम्रता, उदारता, सेवा आदि सद्गुणों की जितनी प्रशंसा की जाय उतनी ही कम है । पर साथ ही यह भी ध्यान रखा जाय कि प्रखरता के बिना यह विशेषताएँ भी अपनी उपयोगिता खो बैठती हैं और लोग सज्जन को मूर्ख, दब्बू, चापलूस, साहसहीन, भोला एव दयनीय समझने लगते हैं । बहुत बार ऐसा होता भी है कि डरपोक, कायर, संकोची, पुरुषार्थहीन व्यक्ति सज्जनता का आवरण ओढ़कर अपने को उदार या आध्यात्मवादी सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं । डरपोकपन को, साहसहीनता को—दयालुता, क्षमाशीलता, सन्तोष वृत्ति की आड़ में छिपाना कितना उपहासास्पद होता है और उस भ्रम में रहने वाला कितने घाटे में रहता है, यह सर्वविदित है । लोग उसे बेतरह ठगते और आये दिन सताते हैं । इस स्थिति को 'भलमनसाहत का दण्ड' ईश्वर की उपेक्षा, धर्म की दुर्बलता आदि कहा जाता है, जबकि वस्तुतः वह प्रखरता की कमी के दुष्परिणाम होते है ।

हर व्यक्ति को निर्भीक और साहसी होना चाहिए । इसके लिए उद्दण्डता की सीमा तक जाने की या आतंकवादी बनने की आवश्यकता नहीं है । सज्जनता के साथ निर्भीकता और साहसिकता जुड़ी रहे तभी उसका कुछ मूल्य है । बिना कटुता उत्पन्न किए एवं बिना कष्ट के अपनी आदर्शवादिता को अक्षुण्ण बनाये रखा जा सके तो इसे व्यवहार कुशलता माना जायगा । सहयोग मात्र सत्प्रवृत्तियों का ही किया जाय, सज्जनता का ही समर्थन हो । अपने भले या भोले होने का लाभ अवांछनीय व्यक्तियों को, अवांछनीय कर्मों के लिए न मिलने पाये इसके लिए समुचित सतर्कता बरती जानी चाहिए ।

हर किसी को आत्म-विश्वासी होना चाहिए । अपने पुरुषार्थ और साहस पर भरोसा करना चाहिए । अपने बलबूते, अपने साधनों से, अपने संकल्प बल के सहारे, अपनी योजनाएँ बनानी चाहिए । दूसरों की सहायता को आधार मानकर योजनाएँ बनाने वालों को प्रायः निराश होना पड़ता है । लोगों की सहायता मिलती तो है, पर वह सदा साहसी, पराक्रमी, पुरुषार्थी और निर्भीक व्यक्तियों के लिए सुरक्षित रही है । ऐसे ही व्यक्तियों से लोग प्रभावित होते हैं, उन्हें ही प्रामाणिक एवं सफलता पाने में समर्थ सोचते हैं, अस्तु बिना माँगा सहयोग भी ऐसों को ही मिलता चला जाता है ।

लक्ष्य तक पहुँचने की दृढ़ता और हिम्मत अपने भीतर उगानी चाहिए । अपनी दुर्बलताओं को आत्मबल से समाप्त करना चाहिए । परामर्शदाताओं की बातों में जितना तथ्य एवं औचित्य हो केवल उतना ही मानना चाहिए । आदर्शों को पालन करने में एकाकी खड़े रह सकने की प्रखरता उत्पन्न करनी चाहिए । ऐसे मनस्वी व्यक्ति ही सांसारिक एवं आत्मिक प्रयोजनों में सफल होते हैं । इस कटु सत्य को हृदयंगम करने में ही कल्याण है ।

# उपासना और साधना का समन्वय

आत्मिक प्रगति के दो पक्ष हैं—(१) उपासना, (२) साधना । उपासना को व्यायाम और साधना को आहार-विहार की श्रेणी में रखा जा सकता है । उपासना बीज बोना है तो साधना भूमि तैयार करना, उपासना कारतूस है तो साधना बन्दूक । यह दोनों ही पहिये सही होने पर प्रगति का रथ आगे बढ़ता है ।

उपासना के कर्मकाण्डों का आश्रय लेकर आस्थाओं को उच्चस्तरीय बनाया जाता है । यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है । इसके सहारे दैवीगुण विकसित होते हैं और देवत्व की प्राप्ति होती है । उपासना चेतना के परिष्कार की वैज्ञानिक पद्धति है । उसे इसी रूप में देखा, माना जाय ।

उपासना की सफलता के लिए परिष्कृत स्तर के जीवन-यापन की, जीवन साधना की भी अनिवार्य

आवश्यकता है । साधना का खाद पानी पाकर ही उपासना का कल्पवृक्ष बढ़ता और फूलता है । साथ ही यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि उपासनात्मक कर्मकाण्ड मात्र पूजा-पाठ की लकीर पीटने तक ही सीमित न रहे, वरन् उनमें श्रद्धासिक्त भाव सम्वेदना का भी गहरा पुट हो ।

ईश्वर को किसी ने देखा नहीं है और न वह सर्वव्यापी निराकार होने के कारण देखने की वस्तु है । उसकी प्रतीक-प्रतिमा तो इसलिए बनाई जाती है कि मानवी कलेवर में उत्कृष्टता की पक्षधर भाव-श्रद्धा को उस माध्यम से जोड़कर, परब्रह्म की विशिष्टताओं की परिकल्पना करना सर्वसाधारण के लिए सहज सम्भव हो सके । राष्ट्रध्वज में देश भक्ति की भाव-श्रद्धा का समावेश करके उसे गर्व-गौरव के साथ फहराया और समुचित सम्मान प्रदान किया जाता है । उसी प्रकार सर्वव्यापी, न्यायनिष्ठ सत्ता का आरोपण प्रतिमा में करके, भावश्रद्धा को इस स्तर का सुविकसित बनाया जाता है कि वह सत्प्रवृत्तियों के समुच्चय परब्रह्म के साथ जुड़ सकने योग्य बन सके ।

भगवान के दर्शन करने के लिए लालयित अर्जुन, काकभुसुण्डि, यशोदा, कौशल्या आदि के आग्रह का जब किसी प्रकार समाधान होते न दीख पड़ा और साकार दर्शन का आग्रह बना ही रहा, तो उन्हें तत्वज्ञान की प्रकाश प्रेरणा ने इस विशाल विश्व को ही विराट् ब्रह्म की प्रतिमा बताया । इस विराट् स्वरूप दर्शन का वर्णन-विवेचन, गीताकार ने आलंकारिक ढंग से समझाते हुए यह बताने का प्रयत्न किया है, कि विश्वव्यापी उत्कृष्टता ही उपासना योग्य ईश्वरीय सत्ता है । यों तो उसे समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड में एक नियामक सूत्र-संचालक के रूप में जाना जा सकता है । उसे अनुशासन, सन्तुलन, सुनियोजित आदि के रूप में ही वैज्ञानिक दृष्टि से समझा जा सकता है । उसकी अनुभूति भाव-श्रद्धा के रूप में ही हो सकती है । तन्मय और तद्रूप होकर ही उसे पाया जा सकता है ।

अग्नि के साथ एकात्मकता प्राप्त करने के लिए ईंधन को आत्मसमर्पण करना पड़ता है और अपना स्वतन्त्र अस्तित्व मिटाकर तद्रूप होने का साहस जुटाना पड़ता है । ईश्वर और जीव के मिलन की यही प्रक्रिया है । नाले को नदी में अपना विलय करना पड़ता है । पानी को दूध में घुलना और वैसा ही स्वाद-स्वरूप धारण करना पड़ता है, पति और पत्नी इस समर्पण की मानसिकता को अपनाकर ही द्वैत से अद्वैत की स्थिति में पहुँचते हैं । मनुष्य भी जब देवत्व से सम्पन्न होता है, तो देवता बन जाता है और जब उसमें परमात्मा जैसी व्यापकता ओत-प्रोत हो जाती है, तो आत्मा की स्थिति परमात्मा जैसी हो जाती है । उसमे बहुत कुछ उलट-फेर करने की अलौकिकता भी समाविष्ट हो जाती है । ऋषियों और सिद्ध पुरुषों को इसी दृष्टि से देखा-परखा और उन्हें प्रायः उसी आधार पर ही श्रेय-सम्मान दिया जाता है ।

## प्रतीक पूजा का तत्व-दर्शन

विभिन्न मत-मतान्तरों के अनुरूप विभिन्न प्रकार की पूजा पद्धतियाँ, क्षेत्र या सम्प्रदाय विशेष में प्रचलित पायी जाती हैं । उन सबके पीछे तथ्य और रहस्य एक ही काम करता है, कि अपने आपको परिष्कृत एवं सुव्यवस्थित बनाया जाय । यही ईश्वर की एक मात्र पूजा, उपासना और अभ्यर्थना है । विश्व व्यवस्था में निरन्तर संलग्न परमेश्वर को, उतनी फुर्सत नहीं कि वह इतने भक्तजनों की मनुहार सुनने और चित्र-विचित्र उपहारों को ग्रहण करने में समय बिताया करे । यह सब तो मात्र अभ्यर्थना के माध्यम से, अपने आपको उत्कृष्टता के मार्ग पर चल पड़ने के लिए स्व-संकेत के रूप में रचा और किया जाता है ।

ईश्वर पर न किसी की प्रशंसा का कोई असर पड़ता है और न निन्दा का । पुजारी नित्य प्रशंसा के पुल बाँधते और नास्तिक हजारों गालियाँ सुनाते हैं । इनमें किसी की भी बक-झक का उस पर कोई असर नहीं पड़ता । गिड़गिड़ाने, नाक रगड़ने पर भी चयन आयोग किसी को आफीसर नियुक्त नहीं करता । *छात्रवृत्ति पाने के लिए नम्बर लाने और प्रतिस्पर्धा* जीतने से कम में किसी प्रकार भी काम नहीं चलता । ईश्वर की भी यही सुनिश्चित रीति-नीति है । उसकी प्रसन्नता भी एक केन्द्र-बिन्दु पर केन्द्रित है कि किसने उसके विश्व उद्यान को सुन्दर समुन्नत बनाने के लिए कितना अनुदान प्रस्तुत किया । उपासनात्मक कर्मकाण्ड इसी एक सुनिश्चित व्यवस्था को जानने-मानने के लिए किए और अपनाए जाते हैं । यदि कर्मकाण्ड लकीर भर पीटने की तरह पूरे किए जायें और परमात्मा के

आदेश-अनुशासन की अवज्ञा की जाती रहे, तो समझना चाहिए कि यह मात्र बाल-क्रीड़ा, खेल-खिलवाड़ ही है। उतने भर से किसी का कुछ भला होने वाला है नहीं।

देव पूजा के कर्मकाण्डों को प्रतीकोपासना कहते हैं, जिसका तात्पर्य है कि संकेतों के आधार पर क्रिया-कलापों का निर्धारित करना। देवता की प्रतिमा एक पूर्ण मनुष्य की परिकल्पना है, जिसके उपासक को भी हर स्थिति में सर्वांग सुन्दर एवं नवयुवकों जैसी मनःस्थिति में बने रहना चाहिए। देवियाँ मातृ सत्ता की प्रतीक हैं। तरुणी एवं सौन्दर्यमयी होते हुए भी उन्हें कुदृष्टि से नहीं देखा जाता, वरन् पवित्रता की मान्यता विकसित करते हुए उन्हें श्रद्धापूर्वक नमन-वन्दन ही किया जाता है। नारी मात्र के प्रति प्रत्येक साधक की मान्यताएँ, इस स्तर की विनिर्मित-विकसित होनी चाहिए।

पूजा-अर्घ्य में जल, अक्षत, पुष्प, चंदन, धूप, दीप, नैवेद्य आदि को सँजोकर रखा जाता है। इसका तात्पर्य उन माध्यम संकेतों को ध्यान में रखते हुए अपनी रीति-नीति का निर्धारण करना है। जल का अर्थ है—शीतलता। हम शान्त, सौम्य और सन्तुलित रहें। धूप के पीछे दिशा निर्देशन यह है कि हम वातावरण को सत्प्रवृत्तियों से भरा-पूरा सुगन्धित बनायें। दीपक का संकेत है कि ज्ञान का प्रकाश व्यापक बनाने के लिए हम अपने साधनों, विभूतियों में से कुछ भी उत्सर्ग करने के लिए तैयार रहें। चन्दन अर्थात् समीपवर्तियों को अपने जैसा सुगन्धित बना लेना। काटे, घिसे जाने जैसी विकट परिस्थितियाँ आने पर भी प्रमुदित करने वाले स्वभाव को न छोड़ें। पुष्प अर्थात् हँसते-हँसाते, खिलते-खिलाते रहने की प्रकृति अपना लेना। अक्षत अर्थात् अपने उपार्जन का एक अंश दिव्य प्रयोजनों के लिए नियोजित करने में अटूट निष्ठा बनाये रखना, उदार बने रहना आदि। भगवान को इन वस्तुओं की कोई आवश्यकता पड़ रही हो, ऐसी बात नहीं है। इन प्रतीक-समर्पणों के माध्यम से हम अपने को ही प्रशिक्षित करते हैं कि देवत्व के अवतरण हेतु व्यक्तित्व को पात्रता से सुसज्जित रखें।

गार्ड, लाल और हरी झंडियाँ दिखाता है। यों रंगों का अपना कोई महत्त्व नहीं; पर झंडियाँ देखने पर जो खड़ा होने और चल पड़ने का संकेत मिलता है, उसी को समझने और क्रियान्वित करने पर रेल व्यवस्था बन पड़ती है। उपासनापरक क्रिया-कृत्यों में, भगवान को रिझाने-फुसलाने या पात्रता प्रदर्शित किए बिना, पुरुषार्थ अपनाये बिना मनचाही कामनाएँ पूरी करा लेने जैसा कुछ भी सन्निहित नहीं है। आमतौर से लोग भ्रम में ही उलझे रहते हैं। फसल काटने के लिए बीज बोने-सींचने के बिना काम चलता ही नहीं, फिर चाहे अनुनय-विनय जैसी कुछ भी उछल-कूद क्यों न की जाती रहे।

## उपासना : ध्यान धारणा का स्वरूप और मर्म

पूजा-विधि में प्रज्ञा परिवार के परिजन आमतौर से अपनी-अपनी रुचि और सुविधा के अनुरूप जप, ध्यान और प्राणायाम का अवलम्बन अपनाते हैं। इन तीनों का प्राण-प्रवाह तभी वरदान बन कर अवतरित होता है, जब इन तीनों के पीछे अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई प्रेरणाओं को अपनाया जाय।

नाम जप का तात्पर्य है—जिस परमेश्वर को, उसके विधान को आमतौर से हम भले रहते हैं, उसको बार-बार स्मृति पटल पर अंकित करें, विस्मरण की भूल न होने दें। सुर-दुर्लभ मनुष्य जीवन की महती अनुकम्पा और उसके साथ जुड़ी स्रष्टा की आकांक्षा को समझने, अपनाने की मानसिकता बनाये रहने का नित्य प्रयत्न करना ही नाम जप का महत्त्व और माहात्म्य है। साबुन रगड़ने से शरीर और कपड़ा स्वच्छ होता है। घिसाई-रंगाई करने से निशान पड़ने और चमकने का अवसर मिलता है। जप करने वाले अपने व्यक्तित्व को इसी आधार पर विकसित करें।

ध्यान जिनका किया जाता है, उन्हें लक्ष्य मानकर तद्रूप बनने का प्रयत्न किया जाता है। राम, कृष्ण, शिव आदि की ध्यान धारणा का यही प्रयोजन है, कि उस स्तर की महानता से अपने को ओत-प्रोत करें। परिजन प्रायः गायत्री मन्त्र का जप और उदीयमान सूर्य का ध्यान करते हैं। गायत्री अर्थात् सामूहिक विवेकशीलता। इस प्रक्रिया से अनुप्राणित होना ही गायत्री जप है। सूर्य की दो विशेषताएँ सुपरिचित हैं—एक ऊर्जा, दूसरी आभा। हम ऊर्जावान अर्थात् प्रगतिशील, पुरुषार्थ-परायण बनें। ज्ञान रूपी प्रकाश से सर्वत्र प्रगतिशीलता का, सत्प्रवृत्तियों का विस्तार

करें । स्वयं प्रकाशित रहें, दूसरों को प्रकाशवान बनायें । गर्मी और आलोक की आभा जीवन के हर क्षण में-हर कण में ओत-प्रोत रहे, यही सूर्य ध्यान का मुख्य प्रयोजन है । ध्यान के समय शरीर में ओजस्, मस्तिष्क में तेजस् और अन्तःकरण में वर्चस् की अविच्छिन्न वर्षा जैसी भावना की जाती है । इस प्रक्रिया को मात्र कल्पना-जल्पना भर मानकर छोड़ नहीं दिया जाना चाहिए, वरन् तदनुरूप अपने आपको विनिर्मित करने का प्रयत्न भी प्राण-पण से करना चाहिए ।

प्राणायाम में नासिका द्वारा ब्रह्माण्डव्यापी प्राण-तत्व को खींचने, धारण करने और घुसे हुए अशुभ को बुहार फेंकने की भावना की जाती है । संसार में भरा तो भला-बुरा सभी कुछ है, पर हम अपने लिए मात्र दिव्यता प्राप्ति को ही उपयुक्त समझें । जो श्रेष्ठ-उत्कृष्ट है, उसी को पकड़ने और सत्ता में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करें । नितान्त निरीह, दुर्बल, कायर-कातर न रहे, वरन् ऐसे प्राणवान बनें कि अपने में और सम्पर्क क्षेत्र में प्राणचेतना का उभार-विस्तार करते रहने में संलग्न रह सकें ।

जप, ध्यान और प्राणायाम की क्रिया-प्रक्रिया, साधक बहुत दिनों से अपनाते चले आ रहे हैं । कुछ शंका हो तो निकटवर्ती किसी जानकार से पूछकर उस कमी को पूरा किया जा सकता है । अपनी सुविधानुसार समय एवं कृत्य में आवश्यक हेर-फेर भी किया जा सकता है, परन्तु यह नहीं भुलाया जाना चाहिए कि प्रत्येक कर्मकाण्डों के पीछे आत्मविश्वास एवं समाज उत्कर्ष की जो अभिव्यंजनाएँ भरी पड़ी हैं, उन्हें प्रमुख माना जाय और लकीर पीटने जैसी नहीं, वरन् प्रेरणा से भरी-पूरी मानसिकता को उस आधार पर समुन्नत-परिष्कृत किया जाय ।

एक प्रचलन साधना के साथ यह भी जुड़ा हुआ है कि गुरुवार को हल्का-भारी उपवास किया जाय और ब्रह्मचर्य पाला जाय । दोनों के पीछे संयम साधना का तत्वज्ञान समाविष्ट है । इन्द्रिय संयम, समय संयम, अर्थ संयम और विचार संयम वाली प्रक्रिया यदि बढ़ने-फलने-फूलने दी जाय, तो वह उपर्युक्त चतुर्विध संयमों की पकड़ अधिकाधिक कड़ी करते हुए, साधको को सच्चे अर्थों में तपस्वी बनने की स्थिति तक घसीट ले जाती है । ओजस्वी, तेजस्वी, मनस्वी बनने के त्रिविध लक्ष्य प्राप्त करने के लिए किए गए प्रयत्नरतों को ही सच्चे अर्थों में तपस्वी कहते हैं । तप की दिव्य शक्ति-सामर्थ्य से, आध्यात्म क्षेत्र का हर अनुयायी भली प्रकार परिचित एवं प्रभावित होना चाहिए ।

स्नान, भोजन, शयन, मल-विसर्जन आदि नित्य कर्मों की तरह ही, उपासना-आराधना के लिए भी कुछ समय नित्य रहना चाहिए; ताकि जीवन-लक्ष्य को हृदयंगम किए रहने में विस्मरण या प्रमाद उत्पन्न न होने पाये । प्रातःकाल आँख खुलते ही नया जन्म होने जैसी भावना की जाय और आज की अवधि को समग्र जीवन मानते हुए इस प्रकार की दिनचर्या बनाई जाय कि समय, श्रम, चिन्तन और व्यवहार में अधिकाधिक उत्कृष्टता का समावेश होता रहे । प्रातःकाल बनी उसी रूपरेखा के अनुरूप वह दिन बिताया जाय, ताकि प्रमाद और भटकाव की कहीं गुंजाइश न रहे । इसी प्रकार रात्रि को सोते समय एक दिन के जीवन का अवसान होते हुए मानना चाहिए और उस दिन के क्रिया-कलापों की ऐसी कठोर समीक्षा करनी चाहिए, कि बन पड़े व्यतिक्रमों का दूसरे दिन प्रायश्चित किया जा सके और अगले दिन अधिक सतर्कतापूर्वक अधिक शालीनता का उपक्रम अपनाया जा सके ।

दान, पुण्य, तीर्थयात्रा, परमार्थ जैसे धर्म कार्यों के लिए अन्तराल में मंद या तीव्र उमग उठती रहती है । इसे भी ईश्वर का संकेत, मार्गदर्शन एवं परामर्श मानकर अपनाने के लिए कुछ-न-कुछ प्रयत्न करना ही चाहिए । समय के अनुरूप इन सभी का समन्वय 'विवेक-विस्तार' की एक ही प्रक्रिया में केन्द्रित हो जाता है । ज्ञान-यज्ञ, विचार क्रान्ति या लोकमानस का परिष्कार, सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन आदि नामों से इन्हें ही प्रतिपादित किया जाता है । समय की पुकार, विश्वात्मा की गुहार भी इसी को कह सकते है । भ्रष्ट-चिन्तन और दुष्ट-आचरण ने ही असंख्य समस्याओं और संकटो के घटाटोप खड़े किए हैं । इन सबका निवारण, निराकरण मात्र एक ही उपाय, उपचार से सम्भव हो सकता है, कि दूरदर्शी-विवेकशीलता को जनमानस में उभारने का प्रयत्न किया जाय । चिन्तन, चरित्र एवं व्यवहार में उत्कृष्टता का अभिवर्धन, अन्तःकरण मे भाव-सम्वेदना जगाने से ही सम्भव हो सकता है । यही अपने समय का युद्ध धर्म

है । कोई चाहे तो महाकाल की चुनौती अथवा दिव्य सत्ता का भाव भरा आह्वान भी उसे कह सकता है ।

## प्रस्तुत अनुपम सुयोग का लाभ उठायें

इस प्रयोजन में किस मनःस्थिति और किस परिस्थिति का व्यक्ति क्या करे ? इसका व्यावहारिक मार्गदर्शन प्राप्त करने के लिए शान्ति कुंज मे निरन्तर चलते रहने वाले नौ दिन के साधना सत्रो में से हर साल एक बार या कम-से-कम दो वर्ष में एक बार हरिद्वार जा पहुँचने की योजना बनानी चाहिए । इस उपक्रम को बैटरी चार्ज करने या बदली हुई परिस्थितियों के अनुरूप नया प्रकाश, नया मार्गदर्शन मिलते रहने जैसा सुयोग समझा जा सकता है । आत्म-परिष्कार के लिए यह विधा बड़ी कारगर सिद्ध होती देखी गई है ।

जिन्हें देवालय, धर्मशाला, सदावर्त, प्याऊ जैसे परमार्थ प्रयोजन चलाने की इच्छा हो, उनके लिए अत्यन्त दूरदर्शिता से भरा-पूरा हाथों-हाथ सत्परिणाम उत्पन्न करने वाला एक ही परमार्थ हर दृष्टि से उपयुक्त दीखता है कि वे "चल ज्ञान मन्दिर" का निर्माण कर सकने जैसा प्रयास जुटायें । "ज्ञान रथ" के रूप में इसकी चर्चा आमतौर से होती रहती है ।

साइकिल के या ठोस रबड़ के चार पहियों पर मन्दिरनुमा आकृति की इस धकेल गाड़ी में टेपरिकॉर्डर एवं लाउडस्पीकर फिट रहने के कारण उसे जहाँ कहीं भी लेते जाया जाय, वहीं संगीत सम्मेलन एवं प्राणवान संक्षिप्त धर्म प्रवचनों की शृंखला चल पड़ती है । नुक्कड़ सभा जैसा जुलूस, प्रभातफेरी जैसा माहौल बन जाता है । इसी में इक्कीसवीं सदी की प्रेरणाओं से भरा-पूरा सस्ता, किन्तु युग धर्म का पक्षधर साहित्य भी रखा रहता है, जिसे बिना मूल्य पढ़ने देने और फिर बाद में वापस लेने का सिलसिला चलता रह सकता है । जिनका कुछ खरीदने जैसा आग्रह हो, उन्हें उपलब्ध साहित्य बेचा भी जा सकता है ।

ऐसे चल ज्ञान मन्दिर विनिर्मित करने में प्रायः एक तोले सोने के मूल्य जितनी लागत आती है, जिसे कोई एक या कुछ लोग मिलकर सहज ही जुटा सकते है ।

असहयोग आन्दोलन के दिनों में कॉंग्रेस के मूर्धन्य नेता, खादी प्रचार की धकेल गाड़ियाँ लेकर निकलते थे और सम्पर्क में आने वालों को उद्देश्य समझाते हुए पूरे उत्साह के साथ खादी प्रचार में संलग्न रहते थे । आज की परिस्थितियों के अनुरूप 'चल ज्ञान मन्दिर' को स्वयं घुमाते हुए वैसा ही पुण्यलाभ प्राप्त किया जा सकता है, जैसा कि विशेष पर्वों पर भगवान का रथ खीचने वाले भक्तजन अपने को पुण्यफल का अधिकारी हुआ मानते हैं । अपने मिशन ने पिछले दिनों २४०० प्रज्ञा पीठें खड़ी की हैं । अब उससे भी कई गुने "चल ज्ञान मन्दिर" बनाने-बनवाने की योजना है । इसे गाँव, मुहल्लों में नव-जागरण का अलख जगाने के सदृश युग परिवर्तन का शंखनाद स्तर का उद्घोष जैसा समझा जा सकता है ।

भगवान से अनुनय-विनय करने की कामना भरी पूजा-अर्चना भी चिरकाल से होती चली आ रही है । अब इन दिनों एक विशेष अवसर है कि आपत्तिकालीन परिस्थितियों में भगवान की पुकार पर ध्यान दिया जाय और मनमर्जी छोड़कर महाकाल के आमन्त्रण पर उसी के सुझाये मार्ग पर चल पड़ा जाय । हनुमान और अर्जुन ने यही किया था । शिवाजी, प्रताप, चन्द्रगुप्त, विवेकानन्द, विनोबा आदि से कितनी पूजा-अर्चना बन पड़ी ? इस सम्बन्ध में तो कुछ अधिक नहीं कहा जा सकता; पर इतना सर्वविदित है कि उन्होंने दिव्य चेतना के आह्वान को सुना और तदनुरूप कार्यरत हो गए । सम्भवतः उनकी पूजा-उपासना की आवश्यकता उनके इष्टदेव ने स्वयं कर ली होगी और अभीष्ट वरदानो से इन सच्चे साधकों को निहाल कर दिया होगा । हम भी उन्ही का अनुकरण करें, तो इसमें तनिक भी हर्जा होने या घाटा पड़ने जैसा कुछ भी नहीं है ।

इन दिनों दिव्य चेतना, सेवाभावी सज्जनों के समुदाय को अधिक विस्तृत करने में जुट गई है । युग का मत्स्यावतार इन्हीं दिनों अपने कलेवर को विश्वव्यापी बनाने के लिए आकुल-व्याकुल है । अच्छा हो, हम उसी की महती योजना में भागीदार बने और अपनी मर्जी की पूजा-उपासना करके मनचाहे वरदान की विडम्बना पर अंकुश ही लगाये रखें ।

अपेक्षा की गई है कि इन पंक्तियों के पाठक, नर-पामरों से ऊँचे उठकर, विचारशीलता की दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत बन चले होंगे । वे एक से पाँच—पाँच से पच्चीस, पच्चीस से एक सौ पच्चीस

वाली गुणन प्रक्रिया अपनाकर, चार और साथी ढूँढ़े तथा उन्हें अपने प्रयोजनों में सहभागी बनाकर युग मानवों का एक पंचायतन विनिर्मित करें । समयदान और अंशदान करते रहने के लिए उन्हें भी अपनी जैसी कर्म पद्धति अपनाने के लिए सहमत करें । करने को तो एक ही कार्य है—"विवेक-विस्तार" । इसके कितने ही कार्यक्रम बन चुके हैं । इनमें से कुछ भी अपनी इच्छानुसार अपनाया जा सकता है । आत्म-परिष्कार, सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन के अतिरिक्त इन दिनों जिस पुण्य-प्रक्रिया को उतने ही उत्साह से अपनाया जाना है; वह है—एक से पाँच की रीति-नीति अपनाते हुए समस्त विश्व को नव जीवन की विचारधारा से अनुप्राणित करना । इसी क्रम में अपने जीवन का असाधारण परिष्कार और विकास भी सुनिश्चित रूप से हो सकेगा ।

## जीवन साधना के त्रिविध पंचशील

साधना चाहे घर पर की जाय अथवा एकान्तवास में रहकर, मनःस्थिति का परिष्कार उसका प्रधान लक्ष्य होना चाहिए । साधना का अर्थ यह नहीं कि अपने को नितान्त एकाकी अनुभव कर वर्तमान तथा भावी जीवन को नहीं, मुक्ति मोक्ष को, परलोक को लक्ष्य मानकर चला जाय । साधना विधि में चिन्तन क्या है, आने वाले समय को साधक कैसा बनाने और परिष्कृत करने का संकल्प लेकर जाना चाहता है, इसे प्रमुख माना गया है । व्यक्ति, परिवार और समाज इन तीनों ही क्षेत्रों में बँटे जीवन सोपान को व्यक्ति कैसे, किस प्रकार परिमार्जित करेंगे, उसकी रूपरेखा क्या होगी, इस निर्धारण में कौन कितना खरा उतरा इसी पर साधना की सफलता निर्भर है ।

कल्प साधना में भी इसी तथ्य को प्रधानता दी गई है । एक प्रकार से यह व्यक्ति का समग्र कायाकल्प है जिसमें उसका वर्तमान वैयक्तिक जीवन, पारिवारिक गठबन्धन तथा समाज सम्पर्क तीनों ही प्रभावित होते हैं । कल्प साधको को यही, निर्देश दिया जाता है कि उनके शान्तिकुंज वास की अवधि में उनकी मन:स्थिति एकान्त सेवी, अन्तर्मुखी, वैरागी जैसी होनी चाहिए । त्रिवेणी तट की वालुका मे माघ मास की कल्प साधना, फूस की झोपड़ी में सम्पन्न करते हैं । घर परिवार से मन हटाकर उस अवधि में मन को भगवद् समर्पण में रखते हैं । श्रद्धा पूर्वक नियमित साधना में संलग्न रहने और दिनचर्या के नियमित अनुशासन पालने के अतिरिक्त एक ही चिन्तन मे निरत रहना चाहिए कि कायाकल्प जैसी मन:स्थिति लेकर कषाय-कल्मषों की कीचड़ धोकर वापस लौटना है । इसके लिए भावी जीवन को उज्ज्वल भविष्य की रूपरेखा निर्धारित करने का ताना-बाना बुनते रहना चाहिए ।

व्यक्ति, परिवार और समाज के त्रिविध क्षेत्रों मे जीवन बँटा हुआ है, इन तीनों का ही अधिकाधिक परिष्कृत करना इन दिनों लक्ष्य रखना चाहिए । इस सन्दर्भ में त्रिविध पंचशीलों के कुछ परामर्श क्रम प्रस्तुत हैं । भगवान बुद्ध ने हर क्षेत्र के लिए पंचशील निर्धारित किए थे । प्रज्ञा साधकों लिए उपरोक्त तीन क्षेत्र के लिए पंचशील इस प्रकार हैं—

### व्यक्तित्व का विकास

(१) प्रातः उठने से लेकर सोने तक की व्यस्त दिनचर्या निर्धारित करें । उसमें उपार्जन, विश्राम, नित्य कर्म, अन्यान्य काम-काजों के अतिरिक्त आदर्शवादी परमार्थ प्रयोजनों के लिए एक भाग निश्चित करें । साधारणतया आठ घण्टा कमाने, सात घण्टा सोने, पाँच घण्टा नित्य कर्म एवं लोक व्यवहार के लिए निर्धारित रखने के उपरान्त चार घण्टे परमार्थ प्रयोजनों के लिए निकालना चाहिए । इसमें भी कटौती करनी हो तो न्यूनतम दो घण्टे तो होने ही चाहिए । इससे कम में पुण्य-परमार्थ के, सेवा साधना के सहारे बिना न सुसंस्कारित स्वभाव का अंग बनती है और न व्यक्तित्व का उच्चस्तरीय विकास सम्भव होता है ।

(२) आजीविका बढ़ानी हो तो अधिक योग्यता बढ़ायें । परिश्रम में तत्पर रहें और उसमे गहरा मनोयोग लगायें । साथ ही अपव्यय में कठोरतापूर्वक कटौती करें । सादा जीवन उच्च विचार का सिद्धान्त समझे । अपव्यय के कारण अहंकार, दुर्व्यसन, प्रमाद बढ़ने और निन्दा, ईर्ष्या, शत्रुता गले बाँधने जैसी भयावह प्रतिक्रियाओं का अनुमान लगाये । सादगी प्रकारान्तर से सज्जनता का ही दूसरा नाम है । औसत भारतीय स्तर का निर्वाह ही अभीष्ट है । अधिक कमाने वाले भी ऐसी सादगी अपनायें जो सभी के लिए अनुकरणीय हो । ठाट-बाट, प्रदर्शन का खर्चीला ढकोसला समाप्त करें ।

(३) अहिर्निश पशु-प्रवृत्तियों को भड़काने वाले विचार ही अन्तराल पर छाये रहते हैं । अभ्यास और समीपवर्ती प्रचलन मनुष्य को वासना, तृष्णा और अहंकार की पूर्ति में निरत रहने का ही दबाव डालता है । सम्बन्धी, मित्र, परिजनों के परामर्श प्रोत्साहन भी इसी स्तर के होते हैं । लोभ, मोह और विलास के कुसंस्कार निकृष्टता अपनाये रहने में ही लाभ तथा कौशल समझते हैं । ऐसी ही सफलताओं को सफलता मानते हैं । इसे एक चक्रव्यूह समझना चाहिए । भव-बन्धन के इसी घेरे से बाहर निकलने के लिए प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिए । कुविचारों को परास्त करने का एक ही उपाय है—प्रज्ञासाहित्य का न्यूनतम एक घण्टा अध्ययन अध्यवसाय । इतना समय एक बार न निकले तो उसे जब भी अवकाश मिले, थोड़ा-थोड़ा करके पूरा करते रहना चाहिए ।

(४) प्रतिदिन प्रज्ञायोग की साधना नियमित रूप से की जाय । उठते समय आत्मबोध—सोते समय तत्वबोध । नित्य कर्म से निवृत्त होकर जप, ध्यान । एकान्त सुविधा का चिन्तन-मनन में उपयोग । यही है—त्रिविध सोपानों वाला प्रज्ञायोग । यह संक्षिप्त होते हुए भी अति प्रभावशाली एवं समग्र है । अपने अस्त-व्यस्त बिखराव वाले साधना क्रम को समेटकर इसी केन्द्र बिन्दु पर एकत्रित करना चाहिए । महान के साथ अपने क्षुद्र को जोड़ने के लिए योगाभ्यास का विधान है । प्रज्ञा परिजनो के लिए सर्वसुलभ एवं सर्वोत्तम योगाभ्यास 'प्रज्ञायोग' की साधना है । उसे भावनापूर्वक अपनाया और निष्ठापूर्वक निभाया जाय ।

(५) दृष्टिकोण को निषेधात्मक न रहने देकर विधेयात्मक बनाया जाय । अभावों की सूची फाड़ फेंकनी चाहिए और जो उपलब्धियाँ हस्तगत हैं, उन्हें असंख्य प्राणियों की अपेक्षा उच्चस्तरीय मानकर सन्तुष्ट भी रहना चाहिए और प्रसन्न भी । इसी मनःस्थिति में अधिक उन्नतिशील बनना और प्रस्तुत कठिनाइयों से निकलने वाला निर्धारण भी बन पड़ता है । असन्तुष्ट, खिन्न, उद्विग्न रहना तो प्रकारान्तर से एक उन्माद है जिसके कारण समाधान और उत्थान के सारे द्वार बन्द हो जाते हैं ।

कर्तृत्व पालन को सब कुछ मानें । असीम महत्वाकांक्षाओं के रंगीले महल न रखें । ईमानदारी से किए गए पराक्रम से ही परिपूर्ण सफलता मानें और उतने भर से सन्तुष्ट रहना सीखें । कुरूपता नहीं, सौन्दर्य निहारें । आशंकाग्रस्त, भयभीत, निराश न रहें । उज्ज्वल भविष्य के सपने देखें । याचक नहीं दानी बनें । आत्मावलम्बन सीखें । अहंकार तो हटायें पर स्वाभिमान जीवित रखें । अपने समय, श्रम, मन और धन से दूसरों को ऊँचा उठायें । सहायता करें पर बदले की अपेक्षा न रखे । बड़प्पन की तृष्णाओं को छोड़ें और उनके स्थान पर महानता अर्जित करने की महत्त्वाकांक्षा सँजोयें । स्मरण रखें, हँसते-हँसाते रहना और हल्की-फुल्की जिन्दगी जीना ही सबसे बड़ी कलाकारिता है ।

## परिवार निर्माण

(१) परिवार को अपनी विशिष्टताओं को उभारने, अभ्यास करने एवं परिपुष्ट बनाने की प्रयोगशाला, पाठशाला समझें । इस उद्यान में सत्प्रवृत्तियो के पौधे लगायें । हर सदस्य को स्वावलम्बी, सुसंस्कारी एवं समाजनिष्ठ बनाने का भरसक प्रयत्न करें । इसके लिए सर्वप्रथम ढालने वाले साँचे की तरह आदर्शवान बने ताकि स्वयं कथनी और करनी की एकता का प्रभाव पड़े । स्मरण रहे साँचे के अनुसार ही खिलौने ढलते हैं । पारिवारिक उत्तरदायित्व में सर्वप्रथम है संचालक का आदर्शवादी ढाँचे में ढलना, दूसरा है माली की तरह हरे पौधे का शालीनता के क्षेत्र में विकसित करना ।

(२) परिवार की संख्या न बढ़ायें । अधिक बच्चे उत्पन्न न करें । इसमें जननी का स्वास्थ्य, सन्तान का भविष्य, गृहपति का अर्थ सन्तुलन एवं समाज मे दारिद्रय, असन्तोष बढ़ता है । दूसरों के बच्चों को अपना मानकर उनके परिपालन से वात्सल्य कहीं अधिक अच्छी तरह निभ सकता है । लड़की-लड़कों में भेद न करें । पिछली पीढ़ी और वर्तमान के साथियों के प्रति कर्तृत्व पालन तभी हो सकता है, जब नये प्रजनन को रोकें अन्यथा प्यार और धन प्रस्तुत परिजनों का ऋण चुकाने में लगने की अपेक्षा उनके लिए बहने लगेगा जिनका अभी अस्तित्व तक नहीं है । आज के समय में बच्चों की संख्या वृद्धि हर दृष्टि से अवांछनीय है । इसलिए उस सम्बन्ध में संयम बरतें और कड़ाई रखें ।

(३) संयम और सज्जनता एक तथ्य के दो नाम हैं । परिवार में ऐसी परम्परायें प्रचलित करें जिसमें इन्द्रिय संयम, समय संयम, अर्थ संयम और विचार संयम का अभ्यास आरम्भ से ही करते रहने का अवसर मिले । घर में चटोरेपन का माहौल न बनाया जाय । भोजन सात्विक बने और नियत समय पर, सीमित मात्रा में खाने का ही अभ्यास बने । कामुकता को उत्तेजना न मिले सभी की दिनचर्या निर्धारित रहे । समय के साथ काम और मनोयोग जुड़ा रहे । किसी को आलस्य, प्रमाद की आदत न पड़ने दी जाय और न कोई आवारागर्दी अपनाये, न कुसंग में फिरे । फैशन और जेवर को बचकाना उपहासास्पद माना जाय, केश-विन्यास और अश्लील, उत्तेजक पोशाक कोई न पहनें और न जेवर आभूषणों से लदें । नाक, कान छेदने और उनमें चित्र-विचित्र लटकन लटकाने का पिछड़ेपन का प्रतीत फैशन कोई महिला न अपनाये ।

(४) पारिवारिक पंचशीलों में श्रमशीलता, मितव्ययिता, सुव्यवस्था, शालीन शिष्टता और उदार सहकारिता की गणना की गई है । इन पाँच गुणों को हर सदस्य के स्वभाव में कैसे संम्मिलित किया जाय, इसके लिए उपदेश देने से काम नहीं चलता, वरन् ऐसे व्यावहारिक कार्यक्रम बनाने पड़ते हैं जिन्हें करते रहने से वे सिद्धान्त व्यवहार में उतरें ।

(५) उत्तराधिकार का लालच किसी के मस्तिष्क में नहीं जमने देना चाहिए, वरन् हर सदस्य के मन में यह सिद्धान्त जमना चाहिए कि परिवार की संयुक्त सम्पदा में उसका भरण-पोषण, शिक्षण एवं स्वावलम्बन सम्भव हुआ है । इस ऋण को चुकाने में ही ईमानदारी है । बड़ों की सेवा और छोटों की सहायता के रूप में यह ऋण हर वयस्क स्वावलम्बी को चुकाना चाहिए । कमाऊ होते ही आमदनी जेब में रखना और पत्नी को लेकर मनमाना खर्च करने के लिए अलग हो जाना प्रत्यक्ष बेईमानी है । उत्तराधिकार का कानून मात्र कमाने में असमर्थों के लिए लागू होना चाहिए, न कि स्वावलम्बियों की मुफ्त की कमाई लूट लेने के लिए । आध्यात्मवाद और साम्यवाद दोनों ही इस मत के हैं कि पूर्वजों की छोड़ी कमाई को असमर्थ आश्रित ही तब तक उपयोग करें जब तक कि वे स्वावलम्बी नहीं बन जाते ।

## समाज निर्माण

(१) हममें से हर व्यक्ति अपने को समाज का अविच्छिन्न अंग माने । अपने को उसके साथ अविभाज्य घटक माने । सामूहिक उत्थान और पतन पर विश्वास करें । एक नाव में बैठे लोग जिस तरह एक साथ डूबते या पार होते हैं वैसी ही मान्यता अपनी रहे । स्वार्थ और परमार्थ को परस्पर गूँथ दें । परमार्थ को स्वार्थ समझें और स्वार्थ सिद्धि की बात कभी ध्यान में आये तो वह संकीर्ण नहीं उदात्त एवं व्यापक हो । मिल-जुलकर काम करने और मिल-बाँटकर खाने की आदत डाली जाय ।

(२) मनुष्यों के बीच सज्जनता, सद्भावना एवं उदार सहयोग की परम्परा चले । दान, विपत्ति एवं पिछड़ेपन से ग्रस्त लोगों को पैरों पर खड़े होने तक के लिए दिया जाय । इसके अतिरिक्त उसका सतत प्रवाह सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन के लिए ही नियोजित हो । *साधारणतया मुफ्त में खाना और खिलाना अनैतिक* समझा जाय । इसमें पारिवारिक या सामाजिक प्रीतिभोजों का जहाँ औचित्य हो वहाँ अपवाद रूप से छूट रहे । भिक्षा व्यवसाय पनपने न दिया जाय । दहेज, मृतक भोज, सदावर्त, धर्मशाला आदि ऐसे दान जो मात्र प्रसन्न करने भर के लिए दिये जाते है और उस उदारता के लाभ समर्थ लोग उठाते हैं—अनुपयुक्त माने और रोके जायें । साथ ही हर क्षेत्र का पिछड़ापन दूर करने के लिए उदार श्रमदान और धनवान को अधिकाधिक प्रोत्साहित किया जाय ।

(३) किसी मान्यता या प्रचलन को शाश्वत या सत्य न माना जाय उन्हें परिस्थितियों के कारण बना समझा जाय । उनमें जितना औचित्य, न्याय और विवेक जुड़ा हो उतना ग्राह्य और जो अनुपयुक्त होते हुए भी परम्परा के नाम पर गले बँधा हो, उसे उतार फेंका जाय । समय-समय पर इस क्षेत्र का पर्यवेक्षण होते रहना चाहिए और जो असामयिक—अनुपयोगी हो उसे बदल देना चाहिए । इस दृष्टि से लिंग भेद, जाति भेद के नाम पर चलने वाली विषमता सर्वथा अग्राह्य समझी जाय ।

(४) सहकारिता का प्रचलन हर क्षेत्र में किया जाय । अलग-अलग पढ़ने की अपेक्षा सम्मिलित प्रयत्नों और संस्थानो को महत्त्व दिया जाय । संयुक्त परिवार

से लेकर संयुक्त राष्ट्र, संयुक्त विश्व को लक्ष्य बनाकर चला जायं । विश्व परिवार का आदर्श कार्यान्वित करने का ठीक समय यही है । सभी प्रकार के विलगावों को निरस्त किया जाय । व्यक्ति की सुविधा की तुलना में समाज व्यवस्था को वरिष्ठता मिले । प्रशंसा ऐसे ही प्रयत्नों की हो जिन्हें सर्वोपयोगी कहा जाय । व्यक्तिगत समृद्धि, प्रगति एवं विशिष्टता को श्रेय न मिले । उसे कौतूहल मात्र समझा जाय ।

(५) अवांछनीय, मूढ़ मान्यताओं और कुरीतियों को छूत की बीमारी समझा जाय । वे जिस पर सवार होती हैं उसे तो मारती ही हैं अन्यान्य लोगों को भी चपेट में लेती और वातावरण बिगाड़ती है । इसलिए उनका असहयोग विरोध करने की मुद्रा रखी जाय और जहाँ सम्भव हो उनके साथ समर्थ संघर्ष भी किया जाय । समाज के किसी अंग पर हुआ अनीति का हमला समूचे समाज के साथ बरती गई दुष्टता माना जाय और उसे निरस्त करने के लिए जो मीठे-कड़वे उपाय हो सकते हों, उन्हें अपनाया जाय । अपने ऊपर बीतेगी, तब देखेंगे इसकी प्रतीक्षा करने की अपेक्षा कहीं भी हुए अनीति के आक्रमण को अपने ऊपर हमला माना जाय और प्रतिकार के लिए दूरदर्शितापूर्ण रणनीति अपनायी जाय ।

व्यक्तिगत परिवार और समाज क्षेत्र के उपरोक्त पाँच-पाँच सूत्रों को उन-उन क्षेत्रों के पंचशील माना जाय और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए जो भी अवसर मिले उन्हें हाथ से जाने न दिया जाय ।

आवश्यक नहीं कि इस सभी का तत्काल एक साथ उपयोग करना आरम्भ कर दिया जाय । उनमें से जितने जब जिस प्रकार कार्यान्वित किए जाने सम्भव हों तब उन्हे काम में लाने का अवसर भी हाथ से न जाने दिया जाय, किन्तु इतना काम तो तत्काल आरम्भ कर दिया जाय कि उन्हें सिद्धान्त रूप से पूरी तरह स्वीकार कर लिया जाय । आदर्शवादी महानता से गौरवान्वित होने वाले जीवन इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर जीये जाते हैं । अनुकरणीय प्रयोग करने के लिए जिन्होंने भी श्रेय पाया है उन्होंने त्रिविध पंचशीलों में से किन्हीं सूत्रों को अपनाया और अन्यायों द्वारा अपनाये जाने का वातावरण बनाया है ।

# आत्म-कल्याण की त्रिविध श्रेय-साधना

स्वार्थ और परमार्थ जिसमें दोनों साधन सधते हों—अपना तथा सबका कल्याण जिसमें सधता हो, वही सच्चा आध्यात्म है । भजन का अर्थ केवल जप या ध्यान ही नहीं, वरन् सेवा भी है । भजन शब्द संस्कृत की 'भज' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है सेवा । जिससे अपनी और दूसरों की सेवा बन पड़े, उसे सच्चा भजन कहना चाहिए । जिस भजन को सर्वांगपूर्ण कहा जा सकता है, जिससे वस्तुतः ईश्वर प्रसन्न हो सकता है, उसका स्वरूप सेवा से मिश्रित ही होना चाहिए ।

नामोच्चार और इष्टदेव का ध्यान उपासना-क्षेत्र की वे आरम्भिक प्रक्रियायें हैं जिनसे मन की एकाग्रता में सहायता मिलती है । इस एकाग्रता का उपयोग संकीर्ण स्वार्थपरता से, तृष्णा एवं वासना से चित्त को विरत कर परमार्थ प्रयोजनों में संलग्न करने के निमित्त होना चाहिए । अन्तःकरण में सत्प्रवृत्तियों को जमाने, उगाने और बढ़ाने के लिए सेवा-साधना का अभ्यास करना पड़ता है । प्राचीनकाल में प्रत्येक ब्रह्म-परायण व्यक्ति के जीवन में सेवा-धर्म के लिए प्रमुख स्थान रहता था । कोई ब्राह्मण, कोई साधु, कोई भक्त ऐसा न था जो ईश्वर की प्रतिकृति-इस विश्व-वसुधा को सुखी-समुन्नत बनाने के लिए आवश्यक योगदान न करता रहा हो । आज वही राजमार्ग हमारे लिए भी है । जीवन-लक्ष्य की पूर्ति के लिए हमें सेवा-धर्म को अपनी भावना तथा प्रतिक्रिया में प्रमुख स्थान देना ही होगा अन्यथा न तो हम आत्मा को प्राप्त कर सकेंगे और न परमात्मा को ।

नव-निर्माण के लिए जन-मानस के परिष्कार का जो पुण्य-परमार्थ अपनाने के लिए युग निर्माण परिजनों को प्रेरणा दी गई है, उसे सामाजिक कार्यमात्र नहीं मान लेना चाहिए । वस्तुतः वह आत्मिक प्रगति की ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग की संगम साधना है । सद्विचारों का निरन्तर चिन्तन करना—सत्प्रवृत्तियों में भावना स्तर को निमग्न करना वस्तुतः अन्तःकरण में परमेश्वर की प्रतिष्ठापना करने का ही एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है ।

जिस प्रकार जिह्वा पर भगवान का नाम और मस्तिष्क में भगवान का रूप प्रतिष्ठापित करके जप और ध्यान की प्रक्रिया चलायी जाती है, उसी प्रकार अन्तःकरण में सद्भावों, सद्गुणों, सत्कर्मों, सत् स्वभावों की स्थापना करना भी उपासना ही है । भगवान नाम और रूप तक ही सीमित नहीं है । यह दो प्रक्रियायें तो आरम्भिक हैं—भगवान का वास्तविक स्वरूप तो भावमय है । जितनी देर अन्तरात्मा में उच्च भावनायें विचरण करती रहें, समझना चाहिए उतनी देर परमेश्वर ही विराजमान रहे । लोकमानस में सत्प्रवृत्तियों की प्रतिष्ठापना के सत्प्रयत्नों द्वारा इसी उद्देश्य की पूर्ति होती है । जितनी देर इन क्रिया-कलापों में संलग्न रहा जायगा, उतनी देर अपने अन्तःकरण चतुष्टय में—मन-बुद्धि-चित्त व अहंकार में उच्च आदर्शों का रूप धारण कर परमेश्वर ही प्रतिष्ठापित रहेगा । युग-परिवर्तन के लिए आरम्भ किए गए ज्ञान-यज्ञ में—जन-जागरण में—जितनी देर हम लगे रहते हैं, वस्तुतः उतने समय भगवान के समीप रहने का, उपासना का ही लाभ लेते हैं । यह आध्यात्मिक प्रयोग अपना भी कल्याण करता है और दूसरों का भी, इसलिए उसे सच्चा आध्यात्म, सच्चा भजन कहा जा सकता है । इस साधना के समय के अनुरूप श्रेष्ठतम स्तर की साधना को तपश्चर्या कहा जाय तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति न होगी । प्रिय परिजनों को इस साधना में आध्यात्मिक प्रयोजन पूर्ण करने और जीवनलक्ष्य प्राप्त करने के उद्देश्य से संलग्न होना चाहिए । साधना सरल अवश्य है पर उसका प्रतिफल किसी भी कठोर तपश्चर्या से कम नहीं है ।

नव-निर्माण योजना में जहाँ अपने समीपवर्ती लोगों को उत्कृष्टता की, आदर्शवादिता की दिशा में अग्रसर होने की प्रेरणा देने के लिए कहा गया है, वहाँ यह भी बताया गया है कि आत्म-निर्माण के लिए उतनी ही तत्परता के साथ प्रयत्न किया जाय । अपना स्तर ऊँचा उठाने के लिए भी पूरा-पूरा प्रयत्न करना चाहिए । नव-निर्माण की साधना में यह भी एक महत्त्वपूर्ण अंग है ।

प्रातःकाल नींद खुलते ही, अपने साथ वार्तालाप शुरू कर देना चाहिए । बिस्तर छोड़ने से पूर्व अपने आपके सम्बन्ध में कुछ आवश्यक आत्म-चिन्तन, लकीर पीटने के रूप में नहीं वरन् निर्माणात्मक उद्देश्य की पूर्ति के लिए करना चाहिए ।

हर दिन को एक नया जीवन और हर रात को एक पटाक्षेप-मृत्यु मानकर ऐसी योजना प्रातःकाल ही बना लेनी चाहिए कि हमारा आज का दिन हर दृष्टि से आदर्श स्तर का बीते ।

पिछले दिनों किन दोष-दुर्गुणों का बाहुल्य अपने में रहा है और किन सत्प्रवृत्तियो की न्यूनता रही है ? इसे बारीकी से आत्म-निरीक्षण करते हुए ढूँढ़ना चाहिए और योजना यह बनानी चाहिए कि उन दोषों को मिटाया या घटाया जाय । इसी प्रकार जो सद्गुण न्यून मात्रा में थे, उन्हें अधिक मात्रा में बढ़ाया और कार्यान्वित किया जाय ।

आज के दिन की उठने से लेकर सोने तक की ऐसी दिनचर्या बना लेनी चाहिए, जिससे समय के तनिक भी अपव्यय की गुंजाइश न रहे । हर क्षण सार्थक, श्रेष्ठ एवं उपयोगी कार्यों में लगे । इस दिनचर्या को दिन भर कड़ाई के साथ पालन करने का संकल्प करना चाहिए । कोई अनिवार्य व्यवधान आ जाय तो बात दूसरी है । अन्यथा आलस्य, ढील-पोल एवं लापरवाही के कारण उस दिनचर्या में कोई व्यतिक्रम नहीं होना चाहिए ।

समय के सदुपयोग की तरह धन के सदुपयोग की योजना प्रातःकाल बना लेनी चाहिए । अपना एक भी पैसा हानिकर एवं अनावश्यक कार्यों में खर्च न हो, जो व्यय किया जाय योजनाबद्ध बजट के अनुरूप हो । एक-एक पैसा केवल उन कार्यों में खर्च होना चाहिए, जो उपयुक्त आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक हो । धन उस मार्ग से कमाया जाना चाहिए जिसमे अनीति जुड़ी हुई न हो । अवांछनीय कमाई से बनाई हुई खुशहाली की अपेक्षा ईमानदारी के आधार पर गरीबी जैसा जीवन बनाये रहना कही अच्छा है । यह नीति अपने रोम-रोम मे बसी हुई रहनी चाहिए ।

समय का सदुपयोग और धन का उपयोग, यह दो नियन्त्रण जिसने कर लिए, समझना चाहिए कि उसने आत्म-कल्याण की आधी मंजिल पार कर ली । परिश्रमशीलता, मधुर एवं संयत भाषण, सादगी, स्वच्छता, उदारता, सज्जनता जैसे गुण यद्यपि कम महत्त्व के दिखाई पड़ते हैं पर वस्तुतः उनका बहुत मूल्य है ।

भौतिक सफलता एवं आत्मिक प्रगति इन्हीं सद्‌गुणों के ऊपर अवलम्बित रहा करती हैं ।

विचारों को विचारों से काटने की कला जिसने सीख ली, समझना चाहिए कि मानसिक अस्वस्थता पर उसने विजय प्राप्त कर ली । ईर्ष्या, द्वेष, शंका, सन्देह, भय, आवेश, क्रोध, कामुकता, लालच आदि दुष्प्रवृत्तियाँ समय-समय पर विभिन्न परिस्थितियो की घटनाओं के माध्यम से मन में उठती रहती हैं । इनके विरोध में उस विचारधारा को मन में सँजोये रहना चाहिए, जो इन कुविचारों की काट कर सके । विचारो से विचार काटने की कला जिसने सीख ली, समझना चाहिए कि उसने मानसिक उलझनो को सुलझाने का रहस्य सीख लिया । हर रोज प्रातःकाल आत्म-चिन्तन के समय यह देखना चाहिए कि अपने मनःक्षेत्र में आजकल किन अनुपयुक्त विचारों का घेरा है । उन विचारों को काटने के लिए विवेकशीलता एवं दूरदर्शिता के आधार पर ऐसा प्रतिरोध विचार-प्रवाह विनिर्मित करना चाहिए जो उन कुविचारों को काटकर निरस्त कर सके ।

हर रात को सोते समय फिर प्रातःकाल की तरह आत्म-चिन्तन करना चाहिए । देखना चाहिए कि सवेरे जो योजना बनाई गई थी वह कार्यान्वित हुई या नहीं ? त्रुटि हुई तो कितनी और क्यों ? उसमें अपना कितना हाथ रहा और परिस्थितियो का कितना ? जो कुछ अनुचित बन पड़ा हो, उसके लिए सताये हुए व्यक्ति की तरह आत्मा से तथा परमात्मा से हार्दिक क्षमा-याचना करनी चाहिए और अगले दिन अधिक सतर्कतापूर्वक उस तरह के दोषों को न होने देने का संकल्प दुहराना चाहिए । तदुपरान्त भगवान का स्मरण करते हुए शान्तिपूर्वक निद्रा देवी की गोद में चले जाना चाहिए ।

इस प्रकार आत्म-निरीक्षण, आत्म-शोधन, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण एवं आत्म-विकास का आयोजन उपर्युक्त प्रातः, सायं की आत्म-चिन्तन साधना के आधार पर करते रहना चाहिए । शरीर के लिए कितनी शक्ति खर्च की और आत्मा के लिए कितना प्रयत्न किया ? यह प्रश्न बार-बार अपने से पूछना चाहिए और ऐसी गतिविधि निर्धारित करनी चाहिए । जिससे अन्तरात्मा को सन्तोषजनक उत्तर एवं आधार मिल सके ।

युग निर्माण परिवार के प्रत्येक सदस्य को अपनी उपासना के साथ इस आत्म-निरीक्षण की साधना को भी जोड़ लेना चाहिए । इस आधार पर जीवन को उत्कृष्ट बनाने के लिए आन्तरिक प्रकाश एवं मार्ग-दर्शन मिलता रह सकता है ।

उपासना, आत्म-निर्माण एवं परमार्थ के लिए ज्ञान-यज्ञ—यह तीन पुण्य प्रक्रियायें यदि हमारे दैनिक जीवन में समुचित रूप से प्रतिष्ठापित हो जायें तो सामान्य घर-गृहस्थ की जिन्दगी जीते हुए भी हम कर्मयोगी एवं सच्चे आध्यमवादी की परम शांतिपूर्ण-स्वर्गीय मनःस्थिति उपलब्ध कर सकते है । मानव जीवन को सार्थक एवं धन्य बनाने के लिए इस त्रिविध जीवन-साधना की त्रिवेणी मे हमें स्नान करते रहना चाहिए ।

## कामना और वासना का सन्तुलित स्वरूप

कामना एवं वासना को साधारणतया बुरे अर्थों में लिया जाता है और इन्हें त्याज्य माना जाता है, किन्तु यह ध्यान रखने योग्य बात है कि इनका विकृत रूप ही त्याज्य है । अपने शुद्ध स्वरूप में मनुष्य की कोई भी वृत्ति निन्दनीय नहीं है, वरन् एक प्रकार से आवश्यक और उपयोगी मानी जाती है । जीवन रक्षा और जीवन विकास के लिए कामना तथा इच्छा का होना अनिवार्य है । इनके बिना तो किसी में कुछ करने का उत्साह ही पैदा नहीं होगा और मनुष्य फिर कष्टसाध्य प्रयत्न, श्रमशीलता में संलग्न ही क्यों होगा ?

वासना में, इन्द्रिय सुख का आकर्षण होने से स्वास्थ्य और सदाचार का उल्लंघन किया जाता है तभी वह त्याज्य मानी जाती है । इन्द्रिय लोलुपता के रूप में वासना की परिणति सभी भाँति हेय मानी गई है । इसके विपरीत परिवार उद्यान को सजाने, सृष्टि क्रम को जारी रखने और पारस्परिक प्रेम, उदारता एवं सेवा सहायता का व्यवहारिक जीवन बिताने की दृष्टि से वह आवश्यक भी हैं । इसी तरह जब मनुष्य अपने ही लाभ की बात सोचता है, अपने हित के लिए दूसरों का ध्यान नहीं रखता, तो यह कामना भी विकृत मानी जायेगी । लोक संग्रह के लिए कामना का होना स्वाभाविक

है, किन्तु लोक संग्रह का आधार स्वहित साधन ही होगा तो इस तरह की कामना मनुष्य के पतन का कारण बनेगी । वस्तुतः देने के लिए ही लेने की कामना होना आवश्यक है । किसी महत्त्वपूर्ण मिशन की पूर्ति में अपने तथा परिवार के धारण, पोषण, सामाजिक उत्तरदायित्वों के निर्वाह के लिए उन्मुक्त भाव से देने वाला व्यक्ति उपार्जन की कामना रखता है तो इसे बुरा नहीं माना जाता ।

देने के लिए लेने का क्रम जब बिगड़ जाता है और जब मनुष्य अपने लिए ही संग्रह करने में तल्लीन रहता है, अपने धारण, पोषण और उत्तरदायित्वों के निर्वाह के लिए नहीं वरन् अपना घर भरने में संलग्न हो जाता है तथा इसके लिए दूसरों का कोई ध्यान नहीं रखता तभी मनुष्य की कामना विकृत हो जाती है । इससे उसका मानसिक सन्तुलन भी बिगड़ने लगता है । कामना विकृत होकर लोभ, तृष्णा और आसक्ति को जन्म देती है । इन विकारों के बढ़ जाने से मनुष्य की इच्छाशक्ति एवं आत्म-बल क्षीण हो जाते हैं और फिर भय, आंशका, चिन्ता, अशान्ति आदि का प्रादुर्भाव होता है । संग्रहीत वस्तुओं की हानि की तनिक-सी आशंका मनुष्य को चिन्तित एवं परेशान करने लगती है । हानि के भय का धक्का कई बार इतना प्रबल होता है कि लोगों की मृत्यु तक हो जाती है या वे मानसिक रोगी बन जाते हैं । अपहरण, चोरी, डकैती, भेद खुलने का डर बढ़ने लगता है । अर्थ संग्रह के इस अनैतिक कार्य को मनुष्य का अन्तर स्वीकार नहीं करता और उसका नैतिक भाव उसकी भर्त्सना करने लगता है । मनुष्य का आन्तरिक एवं बाह्य जीवन संघर्षमय बन जाता है, जिसका परिणाम पतन, विनाश असफलताओं के रूप में निकलता है ।

वासना की मूल प्रेरणा इन्द्रिय सुख में ही नहीं वरन् सन्तान के रूप में अपनी अभिव्यक्ति के फलस्वरूप होती है । इन्द्रिय सुख तो गौण है, स्थूल रूप में आत्माभिव्यक्ति के कार्यक्रम को रसपूर्ण बनाने के लिए प्रकृति प्रदत्त एक उपहार है । देखा जाता है कि इन्द्रिय सुखो को पर्याप्त भोगकर भी सन्तान के अभाव में स्त्री-पुरुष अतृप्त और असन्तुष्ट बने रहते है । अतएव वासना सन्तान रूप में आत्माभिव्यक्ति का प्रकृत स्पन्दन है और इसके साथ स्त्री, सन्तान, परिवार की सेवा, उनका भरण-पोषण, सुख-सुविधा, महान उत्तरदायित्व जुड़े हुए हैं ।

किन्तु इन महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्वों पर ध्यान न देने वाले, स्वेच्छाचारी, इन्द्रिय सुखों को ही वासना तृप्ति का आधार बनाकर चलते हैं तो उनमें इन्द्रिय लोलुपता पैदा हो जाती है । लोग स्वास्थ्य और प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करके मनमानी करते हैं, फलस्वरूप यही वासना विषबेल बनकर मनुष्य के शारीरिक एवं मानसिक जीवन को नष्ट-भ्रष्ट कर देती है । ऐसे लोग नारकीय जीवन बिताते हैं । आन्तरिक अशान्ति, क्लेश के साथ अनेकों बीमारियों, रोग, दुर्बलताओं के शिकार होकर स्वयं दीन, हीन, असमर्थ बन जाते है । वासना अपना मूल्य चाहती है, सन्तान, स्त्री, परिवार की सेवा, भरण-पोषण उनकी सुख-सुविधाओं मे अपने आपको उत्सर्ग करके जो इस मूल्य को नही चुकाता और मनमाने ढंग से इन्द्रिय सुखों में ही वासना तृप्ति का आधार ढूँढ़ता है उसे सदैव अशान्त, उद्विग्न, दु:खी, क्लेशमय जीवन बिताना पड़े तो कोई आश्चर्य नहीं ।

कामना और वासना की विकृति से मनुष्य मे कई शारीरिक एवं मानसिक विकार पैदा हो जाते है जो मनुष्य के जीवनक्रम तथा चेष्टाओं में असन्तुलन पैदा करते हैं । इस स्थिति में मनुष्य का अभिमान प्रबल हो जाता है और अभिमान के खूँटे से बँधी हुई, साथ-साथ विकृत वासना, कामनाओं की जड़ें मजबूत हो जाती हैं । मनुष्य की कामना, वासना मे विक्षेप पड़ने से उसके अहंकार को चोट पहुँचती है और इसकी परिणति क्रोध के रूप में प्रकट होती है । अपनी कामना, वासना की पूर्ति मे तनिक-सी अड़चन पैदा होने पर मनुष्य क्रोधित हो उठता है । क्रोध से बुद्धि विवेक नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य जो चाहे सो कर बैठता है । वासना और कामना की पूर्ति मे विक्षेप पड़ने पर आये दिन होने वाली हत्यायें, दुर्घटनायें इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं । वस्तुतः कामना, वासना मे अन्धलिप्त मनुष्य बुद्धि, विवेकहीन, उन्माद की अवस्था मे होता है, वह जो कुछ भी कर बैठे तो कोई आश्चर्य नहीं ।

मनुष्य की कामना, वासना की पूर्ति दूसरों के सहयोग—संयोग से ही सम्भव होती है । अकेला व्यक्ति तो सुखो का उपभोग भी नहीं कर सकता । कदाचित् किसी व्यक्ति को स्वर्ग-उद्यान में अकेला ही रहने को

कहा जाय तो कोई तैयार न होगा । कोई तैयार भी होगा तो वहाँ से जल्दी ही मानव समूह में आने के लिए व्याकुल हो उठेगा । दूसरो से मिलकर उनके संयोग, सहयोग से ही मनुष्य अपनी कामना और वासना को तृप्त करता है । इसके लिए उसे पर्याप्त मूल्य चुकाना भी आवश्यक है । दूसरों की सेवा, सहायता करके उन्हें सुख पहुँचाने के लिए मनुष्य को अपने साधन, संग्रह और स्वयं को किसी न किसी रूप में उत्सर्ग करना ही पड़ता है । लेने और देने का संग्रह और त्याग का सुख पाने और सुख देने का, आनन्द लेने और दूसरों को आनन्दित करने का दुतरफा प्रयत्न ही मनुष्य के सन्तोष और सुख का आधार बनता है । इन दोनों प्रक्रियाओं मे से एक के अभाव में भी मनुष्य अपनी कामना और वासनाओं की ठीक-ठीक तृप्ति नहीं कर सकता और वह सदैव अतृप्त, अशान्त, उद्विग्न ही रहता है । दूसरे शब्दों में, दूसरो को सुखी करने, परहित साधना में किए आत्मोत्सर्ग, त्याग की प्रक्रिया में प्राप्त होने वाला आनन्द ही मनुष्य की वासना और कामनाओं को तृप्त करता है । दूसरों के लिए आत्म-त्याग, आत्मोत्सर्ग की यह प्रवृत्ति जितनी बढ़ती जायगी उतना ही मनुष्य की वासना और कामनायें शुद्ध स्वरूप में उत्कृष्ट होती जायेंगी और मनुष्य का जीवन भी विकास तथा उन्नति की मंजिल पर अग्रसर होता जायेगा । अपनी शक्ति, साधन संग्रह को दूसरों के धारण, पोषण, अभिवर्धन में लगा देने पर दूसरो को सुखी, आनन्दित बनाने के लिए प्रेम और त्याग की भावना से किया गया उत्सर्ग, त्याग का स्तर ज्यों-ज्यों बढ़ता जायेगा उसी के अनुसार मनुष्य उच्चकोटि की स्थिति प्राप्त करता जायेगा ।

## 'शम' और 'दम' की विवेचना

साधारणतः आँख, कान, नाक, मुख, त्वचा, काम संस्थान, इन्द्रिय आदि रसानुभूति करने वाले अवयवों को इन्द्रियाँ कहा जाता है पर वास्तविक इन्द्रिय तो वह है जो मन· क्षेत्र में निवास करती है और इन अवयवों के माध्यम से रसास्वाद करती है । यह अवयव तो उसके साधन मात्र है । यह अवयव भी आदत पड़ जाने पर अपने अभ्यास विषय की आकांक्षा करने लगते हैं और प्राप्ति न होने पर परेशानी अनुभव भी करते हैं पर मूलतः वह अन्तः प्रदेश में रहने वाली सूक्ष्म इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयों में प्रगाढ़ आशक्तिग्रस्त होती हैं । उन्हीं का वेग प्रबल होता है और उन्हीं की आकांक्षा पूर्ति के लिए वाह्य अवयवों को काम करना पड़ता है । कई बार तो बेचारे बाह्य अवयव उन सूक्ष्म इन्द्रियों की प्रेरणा के कारण असमर्थ और अनिच्छुक होते हुए भी काम करने को विवश होते हैं ।

आँखें दूखने आ गई हों पर यदि कोई बहुत मनोरंजक दृश्य या खेल सामने आये तो दूखती आँखें दर्द अनुभव करते हुए भी उस खेल या दृश्य को देखने के लिए विवश होती है । जीभ में छाले पड़ रहे हो और चटपटी चीजें खाने से छालों का कष्ट और भी बढ़ने से बेचारी जीभ को और भी अधिक कष्ट उठाना पड़ रहा हो फिर भी भीतर की स्वादवासना की प्रेरणा से विवश होकर जीभ को चटपटे पदार्थ खाने पड़ते हैं ।

यदि तन की स्थिति किसी भय, चिन्ता, शोक, क्रोध, उद्वेग के आवेश से ग्रस्त हो रही हो और उसी अन्तःप्रदेश में रहने वाली इन्द्रिय चेतना उससे प्रभावित हो रही हो तो बाह्य अवयव निरोग और समर्थ होते हुए भी सामने उपस्थित भोगों में रुचि लेना ही नहीं छोड़ देते वरन् उनसे घृणा भी करते हैं किसी व्यक्ति को पुत्र की मृत्यु का शोक समाचार मिले उस समय उसका पेट खाली हो, सामने स्वादिष्ट पदार्थों की सुसज्जित थाली खाली रखी हो तो भी भूख भाग जायेगी । सामने थाली को छूने के लिए भी मन न करेगा, एक ग्रास भी मुँह में न दिया जायेगा । यही बात अन्य इन्द्रियों के बारे में भी है, मनः क्षोभ की स्थिति में वे सभी अपने-अपने विषयों से विमुख हो जाती हैं ।

तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय-निग्रह के लिए आँख, कान, मुख, गुह्य अंगों का बाह्य नियन्त्रण उनकी आदतों को बदलने एवं सुधारने के लिए किसी हद तक आवश्यक तो होता है पर उतने से ही काम नहीं चल सकता । मन में रहने वाली रस लोलुपता जो विभिन्न इन्द्रियों के माध्यम से वासना की पूर्ति करती है वही प्रधान इन्द्रिय है । वह वासना जिस-जिस इन्द्रिय के माध्यम से तृप्त की जाती है उसी के अनुरूप उसके नामों मे परिवर्तन कर दिया जाता है । स्वादेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, श्रवणेन्द्रिय, दृश्येन्द्रिय, कामेन्द्रिय कहने से केवल जिह्वा, नाक, कान और आँख या गुप्तांग को ही समझ बैठना

ठीक न होगा वरन् उनके भीतर जो सूक्ष्म रस चेतना विद्यमान है उसी की प्रधानता माननी पड़ेगी । इसी निग्रह को इन्द्रिय निग्रह कहते हैं ।

स्थूल इन्द्रियाँ, मोटे-मोटे अभ्यासों में अपनी आदतें बदल देती हैं । नमक, मीठा छोड़कर अस्वाद व्रत रखने, उपवास करने से कुछ दिनों में स्वादिष्ट भोजन न मिलने से होने वाली परेशानी की आदत छूट जाती है, और जैसा कुछ भोजन मिले उसी से जीभ काम चलाने लगती है । इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय उन्हें कुछ समय न दिये जाये, वरन् उससे विपरीत परिस्थिति में उन्हें दृढ़तापूर्वक डाले रखा जाय तो उनकी आदतें बदल जाती हैं और फिर जैसा अभ्यास डाला गया था उसी से काम चलने लगता है । इस बाह्य निग्रह को 'दम' कहते हैं । दम का अर्थ है दमन । इन्द्रिय दमन बाह्य इन्द्रियों का ही हो सकता है । पर भीतरी रसानुभूति इतने मात्र से शान्त नहीं होती । विवशता की स्थिति में भी वह शान्त नही होती । भीतर ही भीतर ललचाती रहती है । कामना, आकांक्षा और कल्पना के द्वारा अपने विषयों का चिन्तन करती रहती है । अभाव के कारण भीतर ही भीतर क्षोभ और असन्तोष अनुभव करती रहती है और जब कभी थोड़ा अवसर मिल जाता है तभी वह फूट पड़ती है । कई बार तो वह दबी हुई वासना ऐसी फूटती है कि लोकमर्यादाओं और औचित्य सीमाओं का भी उल्लंघन कर जाती है ।

इस रसानुभूति का समाधान ज्ञान, विचार, विवेक और दूरदर्शिता के आधार पर मन को समझाने से होता है । विषयों में संलग्न रहने की व्यर्थता एव हानि पर विस्तारपूर्वक मन ही मन विचार करने और संयम के द्वारा प्राप्त हो सकने वाले लाभों का सुन्दर-सा कल्पना चित्र बनाने से होता है । असंयम की हानि और संयम के लाभों को विवेक की कसौटी पर खरे-खोटे की पहचान करने एवं खोटे को छोड़कर खरे को पकड़ने की दूरदर्शिता तथा बहादुरी दिखाने से मन में सद्बुद्धि जागृत होती है । उसके परिवर्तन से मनः क्षेत्र के अन्तर्गत काम करने वाली सूक्ष्म इन्द्रियाँ भी अपनी गतिविधि बदल देती हैं । इसी परिवर्तन को 'शम' कहते हैं । शम का अर्थ शमन, समाधान, शान्ति । इन्द्रिय निग्रह के लिए शम और दम दोनों की ही आवश्यकता है । पर प्रधान महत्व शम का है ।

रक्त विकार के कारण उत्पन्न होने वाले फोड़ों पर भी मरहम तो लगाई ही जाती है, किन्तु उनका मूल इलाज रक्त शोधक चिकित्सा से ही होता है । 'दम' अनावश्यक हो ऐसी बात नहीं है उसका भी महत्व एवं उपयोग निश्चित रूप से है, पर यह स्मरण रखने की बात है कि रोग की जड़ रक्त की शुद्धि होने से ही कटेगी । मनोभूमि में विषयों के प्रति जो असाधारण आकर्षण भरा हुआ है उसे वहीं निकालना पड़ेगा । शम के लिए पूरी सावधानी और श्रद्धा के साथ कटिबद्ध होना पड़ेगा । जन्मान्तरों में संचित यह वासना वृत्ति अन्तर्मन में गहरी जमी होती है, इसलिए इसे उखाड़ने में श्रम पड़ता है, समय लगता है, बार-बार असफलता और निराशा के अवसर भी आते हैं पर यह भी निश्चित है कि मन से किसी वस्तु को प्राप्त करने का संकल्प भी अधूरा नहीं रहता । आत्मकल्याण के पथ का पथिक 'शम' को भी प्राप्त कर लेता है, दम तो उसके लिए बहुत ही सरल है ।

## अपने को पहचानें : आत्म-बल सम्पादित करें

हर कोई जानता है कि शरीर अनेक सुख-सुविधाओं का माध्यम है, ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा रसास्वादन और कर्मेन्द्रियों के द्वारा उपार्जन करने वाला शरीर ही सांसारिक हर्षोल्लास प्राप्त करने का माध्यम है । इसलिए स्वस्थ, सुन्दर, सुसज्जित एवं समुन्नत स्थिति में रखा जाना चाहिए । इस तथ्य से सभी अपनी-अपनी सुविधा और समझ के अनुसार प्रयत्न करते हैं कि शरीर की साज सँभाल में कुछ उठा न रखा जाय । उत्तम आहार-विहार इसी दृष्टि से जुटाया जाता है, तनिक सा रोग कष्ट होते ही चिकित्सा की सहायता ली जाती है । स्पष्ट है कि यदि शरीर दुर्बल, रुग्ण एवं मलीन रखा जायेगा तो भौतिक जीवन का सारा आनन्द ही चला जायेगा ।

शरीर की ज्योति ही मस्तिष्क की उपयोगिता है । आत्मा की चेतना और शरीर की गतिशीलता का भौतिक व आत्मिक समन्वय का प्रतीक है यह मन मस्तिष्क, इसकी अपनी उपयोगिता है । मन की कल्पना, बुद्धि

का निर्णय, चित्त की आकांक्षा और अहन्ता की प्रवृति इन चारों से मिलकर अन्तःकरण चतुष्टय बना है । यह चिन्तन-संस्थान मस्तिष्क गह्वर के कलेवर में आवद्ध है यों उसका नियन्त्रण और क्रिया-कलाप समस्त शरीर के अंग-प्रत्यंगों में देखा जा सकता है ।

सभ्यता, संस्कृति, शिक्षा, दीक्षा द्वारा मस्तिष्क को विकसित एवं परिष्कृत करने के लिए हमारी चेष्टा निरन्तर रहती है क्योंकि भौतिक जगत में उच्चस्तरीय विकास एवं आनन्द उसी के माध्यम से सम्भव है । सुशिक्षित व्यक्ति ही नेता, कलाकार, शिक्षक, डॉक्टर, इंजीनियर, शिल्पी, वैज्ञानिक, साहित्यकार, ज्ञानी, व्यवसायी आदि सम्मानित पद प्राप्त कर सकते हैं । सभ्य और संस्कृत समझे जा सकते हैं । अशिक्षित एवं मस्तिष्कीय दृष्टि से अविकसित व्यक्ति आजीवन हेय स्थिति में पड़े रहते हैं उन्हें प्रगति की घुड़दौड़ मे पिछड़ा हुआ ही पड़े रहना होता है । इस तथ्य को समझने के कारण हर कोई अपने ढंग से ज्ञान वृद्धि का, मानसिक विकास का प्रयत्न करता है ।

शरीर को समुन्नत स्थिति में रखने के लिए पौष्टिक आहार की, सुसज्जा साधनों की, व्यायाम विनियोग की, चिकित्सा की, विनोद आनन्द की अगणित व्यवस्थायें की गई हैं । मस्तिष्कीय उन्नति के लिए स्कूल, कॉलेज, प्रशिक्षण केन्द्र, गोष्ठियाँ, सभाएँ विद्यमान हैं । पुस्तिकाएँ, रेडियो, फिल्म, कलाकृतियाँ, संग्रहालय आदि न जाने कितने उपकरणो का सृजन किया गया है कि मस्तिष्कीय समर्थता बढे और विनोद आनन्द की अधिक मात्रा उपलब्ध हो सके । देखते है कि मानवीय चिन्तन और कर्तृत्व का अधिकांश भाग उपरोक्त दो प्रयोजनो की पूर्ति में ही नियोजित है । आदमी जो सोचता है, जो-जो करता है उसके पीछे शारीरिक और मानसिक कर्तृत्व उन दिनो की सुविधा के लिए ही वहन किए जाते हैं । गृहस्थ जीवन में प्रवेश, विवाह, सन्तानोत्पादन, परिवार व्यवस्था, आजीविका, मैत्री, यशोपार्जन, पद, नेतृत्व आदि जन सम्पर्क एवं समाज सम्बन्ध के लिए मनुष्य शरीर और मन की सुविधा को ध्यान में रखकर की प्रवृत्त होता है । यही सब तो हम अपने चारों ओर होता हुआ देखते है । इसके अतिरिक्त और कुछ कहीं है ही नही, ऐसा लगता है । प्रगति की परिभाषा इन्हीं क्षेत्रों में हो रहे विकास तक सीमाबद्ध है । कारण कि जीवन का प्रत्यक्ष भाग इतना ही है । मनुष्य का स्थूल कलेवर शरीर और मन के रूप में ही जाना समझा जा सकता है । सो उन्हीं के लिए सुविधा साधन जुटाने में हर कोई जुटा है । यह उचित भी है । इस जगत के लिए जड़ साधनों और चेतन हलचलों को यदि मानवी सुविधा एवं सन्तोष के लिए नियोजित किया जाता है और उसके लिए उत्साहवर्धक प्रयास जुटाया जाता है तो इसमें अनुचित भी क्या है ?

मनुष्य द्वारा जो कुछ किया जा रहा है, संसार में जो हो रहा है, उसे स्वाभाविक ही कहा जाना चाहिए । यहाँ उसकी निन्दा प्रशंसा नहीं की जा रही । ध्यान उस तथ्य की ओर आकर्षित किया जा रहा है जो इस सबसे अधिक उत्कृष्ट एवं आवश्यक था उसे एक प्रकार से भुला ही दिया गया । समझ यह लिया गया है कि मनुष्य जो सब कुछ है, वह शरीर और मन तक ही सीमित है । इससे आगे, इससे ऊपर और कोई हस्ती नहीं । यदि इससे आगे, इससे ऊपर भी कुछ समझा गया होता तो उसके लिए भी जीवन क्रम में वैसा ही स्थान मिलता, वैसा ही प्रयास होता जैसा शरीर और मन के लिए होता है, पर हम देखते हैं वह तीसरी सत्ता जो इन दोनों से लाखों, करोड़ों गुनी अधिक महत्त्वपूर्ण है एक प्रकार से उपेक्षित विस्मृत ही पड़ी है और वह लाभ और आनन्द जो अत्यन्त सुखद एवं समर्थ है एक प्रकार से अनुपलब्ध ही रहा है ।

रोज ही यह कहा और सुना जाता है कि हमारे शरीर और मन से ऊपर 'आत्मा' है । सत्संग और स्वाध्याय के नाम पर यह शब्द प्रतिदिन आये दिन आँखों और कानों के पर्दों पर टकराते हैं पर वह सब एक ऐसी विडम्बना बन कर रह जाता है जो मानो कहने-सुनने और पढ़ने-लिखने के लिए ही खड़ी की गई हो । वास्तविकता से जिसका कोई सीधा सम्बन्ध न हो । यदि ऐसा न होता तो 'आत्मा' को सचमुच ही महत्त्वपूर्ण माना गया होता, कम से कम शरीर, मन जितने स्तर का समझा गया होता तो उसके लिए उतना श्रम एवं चिन्तन तो नियोजित किया ही गया होता जितना कायिक, मानसिक उपलब्धियों के लिए किया जाता है ।

यथार्थता यह है कि आत्मा के सम्बन्ध में बढ़-चढ़ कर बाते कहने-सुनने मे प्रवीण होने पर भी उस सम्बन्ध में एक प्रकार से अपरिचित ही बने हुए हैं । यदि ऐसा न होता तो दिनचर्या में आत्मिक उन्नति के लिए कुछ स्थान नियत रहा होता । श्रम और मनोयोग मे उसके लिए भी जगह होती । उपलब्धियों को जिन कार्यों में नियोजित किया जाता है—धन को जिन प्रयोजनों के लिए खर्च किया जाता है उनमें एक मद आत्म-विकास के लिए भी रखी गई होती, पर देखा यह जाता है कि उस सम्बन्ध में सर्वत्र घोर उपेक्षा ही संव्याप्त है । जो कुछ होता है उसे विदूषकों द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले प्रहसनों की संज्ञा दी जा सकती है ।

आत्मा की बात जो कुछ अधिक ध्यान से सुनते हैं वे अधिक इतना कर लेते हैं कि थोड़ी ईश्वर प्रार्थना या पूजा परक कर्मकाण्डों की उल्टी-पुल्टी प्रक्रिया को उथले मन से उलट-पुलट लें । उतने से ही उस प्रयोजन की पूर्ति और कर्तव्य की इति श्री मान ली जाती है । यह देखा नहीं जाता कि जब शरीर को सजीव और समर्थ रखने के लिए इतना श्रम करना पड़ता है—जब मन, मस्तिष्क के परिष्कार मे इतनी तत्परता बरतनी पड़ती है तो आत्मा जैसे महान तत्व की आवश्यकता पूर्ति एवं प्रगति की व्यवस्था इतने स्वल्प साधनों से कैसे हो सकती है ? अनावश्यक और महत्त्वहीन समझा जाने वाला पथ ही उपेक्षित रहता है । इस दृष्टि से यदि कहा जाय कि हम आत्मा के स्वरूप और महत्त्व से अपरिचित हैं तो कुछ अत्युक्ति न होगी । इन अपरिचितो में पूजा-पाठ करने वाले लोग समान रूप से सम्मिलित हैं । इसे अपने आपके साथ एक निर्मम उपहास ही कहना चाहिए कि हम अपने अस्तित्व को ही भूल गए हैं और उसकी गरिमा, उपयोगिता से नाता ही तोड़ बैठे है ।

थोड़ी गहराई से यदि विचार किया गया होता तो प्रतीत होता कि शरीर से बढ़कर मन और मन से बढ़कर आत्मा है । इन दोनों का सम्मिश्रण ही हम हैं । शरीर श्रम का उपार्जन सीमित और स्वल्प है पर परिष्कृत मस्तिष्क तो असीम कमाई कर सकता है । शरीर का एक अंग नष्ट हो जाय तो भी काम चलता रह सकता है पर मस्तिष्क का एक पेच भी ढीला हो जाय, पागलपन तनिक-सा भी झलकने लगे तो आदमी अपने लिए और दूसरों के लिए मुसीबत खड़ी कर सकता है । सुन्दर और स्वस्थ शरीर वाला जितना यशस्वी होता है, ज्ञानवान उससे असंख्य गुना और चिरस्थाई सम्मान प्राप्त करता है । इस खुले रहस्य को हर कोई जानता है । यदि शत्रु का सिर पर लाठी प्रहार हो तो हाथ अनायास ही ऊपर उठ जाते है और चोट अपने ऊपर लेकर मस्तिष्क को बचाने का प्रयत्न करते हैं । हमारी अन्तःचेतना जानती है कि हाथों का टूटना व सर फूटना दोनों में किसका महत्त्व ज्यादा है ।

इस सन्दर्भ में एक कदम और आगे बढ़ाने पर पता चल सकता है कि आत्मा का स्थान शरीर और मन से कम नहीं वरन् कहीं अधिक है । सच पूछा जाय तो मनुष्य का अस्तित्व आत्मा ही है । शरीर और मन उसके परिधान, वाहन, उपकरण मात्र हैं । शरीर के रुग्ण और मस्तिष्क के विकृत होने पर भी जीवन बना रह सकता है पर आत्मा के प्रयाण करने के बाद काय कलेवर की कुछ उपयोगिता नहीं रह जाती है । उस मरी लाश को सड़न और दुर्गन्ध से बचाने के लिए जल्दी से जल्दी ठिकाने लगाने का प्रबन्ध किया जाता है । शरीर मरते रहते है—मन बदलते रहते है पर आत्मा अनादि काल से अनन्त काल तक एक रस ही बनी रहती है । हम वस्तुतः वही अविनाशी आत्मा है । आत्मस्वरूप को भूल कर—अपने को शरीर और मन समझा जाने लगा है । जिस प्रयोजन के लिए यह दोनों उपकरण मिले हैं उस तथ्य को विस्मृत कर दिया गया है और यह मानकर चला जा रहा है कि शरीर एव मन तक ही हमारी सत्ता सीमित है और उन्हीं के लिए सुख-साधन जुटाने मे निरत रहना है । इसी उपहासास्पद अज्ञान का नाम 'माया' है । इस भटकाव में पड़ा हुआ प्राणी अपना मूल्य भूल जाता है और उन लाभों, आनन्दों एवं उपलब्धियों से वंचित रह जाता है जो 'आत्म-बोध' होने की स्थिति में प्राप्त हो सकते थे ।

शरीर-बल का अपना स्थान है और बुद्धि बल का अपना महत्त्व, पर इन दोनो की तुलना मे करोड़ गुना अधिक महत्त्वपूर्ण है, आत्मबल । जड पंच तत्वों से बने इस कलेवर का मूल्य नगण्य है । बुढ़ापा, बीमारी और मौत इस कलेवर को पानी के बुलबुले

की तरह गला देते हैं । समुद्र की लहरों की तरह वह उठता और नष्ट होता रहता है । वस्त्रों की तरह वह जल्दी फटता और जीर्ण होता रहता है । घिसे हुए औजार की तरह बार-बार उसे बदलना होता है । ऐसे कलेवर की सुसज्जा को ही लक्ष्य बना लिया जाय और आत्मोत्कर्ष के, आत्म-कल्याण के, आत्मानन्द के उद्देश्य को विस्मृत कर दिया जाय तो यह बुद्धिमान कहे जाने वाले मनुष्य की सबसे बड़ी अबुद्धिमत्ता ही होगी । खेद इसी बात का है कि लगभग समस्त मानव समाज इस आत्म-प्रवंचना में सम्मोहित हुआ, मूर्छित बना पड़ा है ।

दूरदर्शिता का तकाजा यह है कि हम अपने स्वरूप और जीवन के प्रयोजन को समझें । शरीर और मन रूपी उपकरणों का उपयोग जानें और उन प्रयोजनों में तत्पर रहें जिनके लिए प्राणि जगत का यह सर्वश्रेष्ठ शरीर—सुरदुर्लभ मानव जीवन उपलब्ध हुआ है । आत्मा वस्तुतः परमात्मा का पवित्र अंश है । उसकी मूल प्रवृत्तियाँ वही हैं जो ईश्वर की । परमात्मा परम पवित्र है । श्रेष्ठतम उत्कृष्टताओं से परिपूर्ण है । उसका समस्त क्रिया-कलाप लोक मंगल के लिए है । वह लेने की आकांक्षा से दूर—देने की, प्रेम की, उदात्त भावना से परिपूर्ण है । आत्मा को इसी स्तर का होना चाहिए और उसके क्रिया-कलापों में उसी प्रकार की गतिविधियों का समावेश होना चाहिए । परमेश्वर ने अपनी सृष्टि को सुन्दर, सुसज्जित, सुगन्धित और समुन्नत बनाने में सहयोगी की तरह योगदान करने के लिए मानव प्राणी को अपने प्रतिनिधि के रूप में सृजा है उसका चिन्तन और कर्तव्य इसी दिशा में नियोजित रहना चाहिए । यही है आत्मबोध, यही है आत्मिक जीवन क्रम । इसी को अपनाकर हम अपने अवतरण की सार्थकता सिद्ध कर सकते हैं ।

यह सर्वथा अवांछनीय है कि हम अपने को शरीर एवं मन मान बैठें और इन्हीं की सुख-सुविधा और मर्जी जुटाने के लिए अनुचित मार्ग तक अपनाने में न हिचकें । पेट और प्रजनन में प्रवृत्त पशु जीवन ही हो सकता है । वासना और तृष्णा की पूर्ति, ललक-लिप्सा में डूबा हुआ मनुष्य असुर ही कहा जायगा । जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं, उसे मोहान्ध और जिसे लक्ष्य में रुचि नही उसे विक्षिप्त नहीं तो और क्या कहा जाय ? हम सब इन दिनों इसी दयनीय स्थिति में रह रहे हैं और नारकीय शोक-सन्ताप सहन करते हुए जीवन की भव यात्रा सँजो रहे हैं । शरीरगत क्षणिक सुख के लिए-मनोगत, हास-परिहास के लिए जीवन सम्पदा को फुलझड़ी की तरह जलाने का बाल कौतुक किसी दूरदर्शी के लिए शोभा नहीं देता । अधर्म और अनर्थ जैसे क्रिया-कलापों में संलग्न रहकर चिर भविष्य को अन्धकारमय बना लेना समझदारी का चिन्ह कैसे हो सकता है ? वाहन और उपकरणों में तन्मय होकर अपने सर्वनाश को जो सँजो रहा है उसे क्या कहा जाय ? शरीर और मन की प्रसन्नता के लिए जिसने आत्म-प्रयोजन का बलिदान कर दिया उससे बढ़कर अभागा एवं दुर्बुद्धि और कौन हो सकता है ?

मूर्छितों की बात अलग है । यदि सचमुच कोई जीवित जागृत हो तो उसे अपनी गतिविधियों पर पुनर्विचार करना ही पड़ेगा और अन्धी भेड़ों की तरह जन-समूह जिस पथ-भ्रष्ट गतिविधियों को अपनाए हुए है उससे विरत होना ही पड़ेगा । आत्मावलम्बी, विवेक को अपना आधार बनाता है और दूरदर्शिता को सम्बल । वह दूसरों के पीछे नहीं चलता । अन्तःकरण ही उसका मार्गदर्शक होता है । ओछे लोग जिसे लाभ समझते हैं वह यदि विवेक की कसौटी पर हानि सिद्ध होती है तो विवेकवान व्यक्ति एकाकी निर्णय करता है और सत्पथ पर एकाकी चल पड़ता है । भले ही उन्मादियों की भीड़ उसका उपहास, असहयोग या विरोध करती रहे । ऐसा साहसवान, शूरवीर ही पानी की धारा को चीरकर चल सकने वाली मछली की तरह अपने भाग्य का आप निर्माण करता है, वहाँ जा पहुँचता है जहाँ पहुँचने के लिए आत्म-अवतरण इस धरती पर हुआ है ।

शरीर बल और मनोबल का अपना स्थान है, पर आत्मबल की गरिमा तो अनुपम है । आत्मबल अर्थात् ईश्वरीय बल अर्थात् परमेश्वर की परिधि में आने वाली समस्त शक्तियों और वस्तुओं पर आधिपत्य । जिसने आत्मबल उपार्जित कर लिया उसे समग्र शक्ति का अवतार ही कहना चाहिए । सिद्ध पुरुषों की, ऋषियों की, ईश्वर भक्तो की, महामानवों की युग-युगान्तर तक जीवित रहने वाली गुण गाथाएँ गा कर हम धन्य होते हैं । उनके चमत्कार हृदय को हुलसित कर देते हैं ।

उनके प्रकाशित और उनकी नाव में चढ़कर पार हुए असंख्य प्राणियों के उद्धार की बात जब सामने आती है तब प्रतीत होता है कि ऐसे ही जीवन धन्य हैं। उन्हीं का अवतरण सार्थक है। मनुष्यता ऐसे ही आत्मबल सम्पन्न महामानवों से कृत कृत्य होती है।

यह आत्मबल उस साहसिकता की पृष्ठ-भूमि पर विकसित होता है जिसमें अपने दोष-दुर्गुणों को खोज निकालने और उन्हें बहिष्कृत करने की उमंग उठती है। शारीरिक क्रिया-कलापों में, मनोगत लिप्साओं में, स्वभावगत कुत्साओं में जितना भी अवांछनीय तत्व है उनका उन्मूलन करने के लिए जो शौर्य सक्रिय होता है वह आत्मबल का प्रादुर्भाव है। शरीरगत दुष्प्रवृत्तियों का जितना परिशोधन होता चलता है, उसी अनुपात से आत्म-तेज निखरता चला जाता है। कहना न होगा कि यह ब्रह्मतेज—आकाश में चमकने वाले सूर्य के प्रकाश से कम नहीं अधिक ही प्रभावशाली होता है। उससे उस तेजस्वी आत्मा का ही नहीं—समस्त संसार का भी कल्याण होता है।

आत्मबल अभिवृद्धि का दूसरा चिन्ह वहाँ देखा जा सकता है, जहाँ कोई व्यक्ति मोहान्ध जन समूह के परामर्शों और उदाहरणों को उपेक्षा के गर्त में पटकता हुआ आदर्शवादी रीति-नीति अपनाने के लिए एकाकी चल पड़ता है। उत्कृष्टता का वरण करने के लिए सोचते- ललचाते तो कितने ही रहते हैं पर आत्मबल के अभाव में न किसी निर्णय पर पहुँचते हैं और न कोई कदम बढ़ाने की हिम्मत करते हैं। स्वप्न भर देखते रहते हैं और दिन बिताते हुए, असफल मनोरथ रहते हुए, हाथ मलते हुए, प्रयाण करते हैं। आत्मबल सम्पन्न इस दयनीय दुर्गति से अपने आपको ऊँचा उठाता है और वह कर गुजरता है जिसे करने के लिए उसकी अन्तरात्मा कहती, पुकारती, बुलाती और ललकारती है।

यह भली भाँति समझा जाना चाहिए कि आत्मा-परमात्मा का राज पुत्र है। उसके सम्मुख वे सभी सम्भावनाएँ प्रस्तुत हैं जो ईश्वर के हाथ में हो सकती है दोनों का सम्बन्ध विच्छेद जिस अज्ञानान्धकार के मायिक कलेवर ने किया है उसी का अन्त करना साधना है। साधना का प्रयोजन ईश्वर का स्तवन, उनकी खुशामद करना या पूजा की रिश्वत देकर फुसलाना नहीं वरन् उन कुत्साओं और कुण्ठाओं की जंजीरों को काट डालना है जो जीव और ईश्वर के मिलने मे एक मात्र बाधा बनकर अड़ी, खड़ी हैं।

## अपने को जानें भव-बन्धनों से छूटें

संसार में जानने को बहुत कुछ है पर सबसे महत्त्वपूर्ण जानकारी अपने आपके सम्बन्ध की है। उसे जान लेने पर बाकी जानकारियाँ प्राप्त करना सरल हो जाता है। ज्ञान का आरम्भ आत्मज्ञान से होता है, जो अपने को नहीं जानता वह दूसरों को क्या जानेगा।

आत्मज्ञान जहाँ कठिन है वहाँ सरल भी बहुत है। अन्य वस्तुएँ दूर हैं व उनका सीधा सम्बन्ध भी अपने से नहीं है। किसी के द्वारा ही संसार में बिखरा हुआ ज्ञान पाया और जाना जा सकता है, पर अपना आप सबसे निकट है, हम उसके अधिपति हैं—आदि से अन्त तक उसमें समाए हुए हैं, इस दृष्टि से आत्मज्ञान सबसे सरल भी है। शोध करने योग्य एक ही तथ्य है—आविष्कृत किए जाने योग्य एक ही चमत्कार है—वह है अपना आपा। जिसे पाने के बाद और कुछ पाना शेष नहीं रह जाता।

बाहर की चीजों को ढूँढ़ने में मन इसलिए लगा रहता है, कि अपने ढूँढ़ने के झंझट से बचा जा सके, क्योंकि जिस स्थिति में आज हम हैं उसमें अँधेरा दीखता है और अकेलापन। यह डरावनी स्थिति है। सुनसान को कौन पसन्द करता है। खालीपन किसे भाता है। अपने को इस विपन्न स्थिति से परक मानता है, स्वयं ही अपने को डरावना बना लिया है और उससे भयभीत होकर स्वयं ही भागते हैं। अपने को देखने, खोजने और समझने की इच्छा इसी से नहीं होती और मन बहलाने के लिए बाहर की चीजो को ढूँढते फिरते है कैसी है यह विडम्बना।

क्या वस्तुतः भीतर अँधेरा है ? क्या वस्तुतः हम अकेले और सूने हैं ? नही प्रकाश का ज्योति-पुंज अपने भीतर विद्यमान है और एक पूरा संसार ही अपने भीतर विराजमान है। उसे पाने और देखने के लिए आवश्यक है कि मुँह अपनी ओर हो। पीठ फेर लेने से तो सूर्य भी दिखाई नहीं पड़ता और हिमालय तथा समुद्र भी दीखना बन्द हो जाता है और फिर अपनी

पीठ करके खड़े हो जायें तो शून्य के अतिरिक्त और दीखेगा भी क्या ?

बाहर केवल जड़ जगत है । पंच भूतों का बना हुआ निर्जीव । बहिरंग दृष्टि लेकर तो हम मात्र जड़ता ही देख सकेंगे । अपना जो स्वरूप आँखों से दीखता है कानों से सुनाई पड़ता है जड़ है । ईश्वर को भी यदि बाहर देखा जायेगा तो उसके रूप में जड़ता या माया ही दृष्टिगोचर होगी । अन्दर जो है वही सत् है । इसे अन्तर्मुखी होकर देखना पड़ता है । आत्मा और उसके साथ जुड़े हुए परमात्मा को देखने के लिए अन्तःदृष्टि की आवश्यकता है । इस प्रयास में अन्तर्मुखी हुए बिना काम नहीं चलता ।

स्वर्ग, मुक्ति, सिद्धि आदि विभूतियों की खोज में कहीं अन्यत्र जाने की जरूरत नहीं है । बाहर भरी हुई जड़ता में चेतना कैसे पायी जा सकेगी । जिसे ढूँढ़ने की प्यास और पाने की चाह है वह तो भीतर ही भरा पड़ा है । जिसे कुछ मिला है यहीं से मिला है । कस्तूरी वाला हिरन तब तक उद्विग्न और अतृप्त ही फिरता रहेगा जब तक कि अपनी ही नाभि केन्द्र में कस्तूरी की सुगन्ध सन्निहित होने पर विश्वास न करेगा, बाहर जो कुछ भी चमक रहा है सब अपनी ही आँखों का प्रकाश प्रतिविम्ब मात्र है ।

श्रुति कहती है—अपने आपको जानो, अपने को प्राप्त करो और अमृतत्व में लीन हो जाओ । उसी को ऋषियों ने दुहराया है और तत्वज्ञानियों ने उसे ही सारी उपलब्धियों का सार कहा है, क्योंकि जो बाहर दीख रहा है वह भीतरी तत्व का ही विस्तार है । अपना आपा जिस स्तर का होता है संसार का स्वरूप भी वैसा ही दीखता है । बाहर हमें जैसा देखना पसन्द हो उसे भीतर से खोज निकालें । यही अन्वेषण की चरम सीमा है ।

दुःख, दारिद्रय, शोक, सन्ताप और अभाव, उद्वेग का निवारण करने के लिए इन अनात्म तत्वों की अन्तरंग में जमी हुई जड़ों को खोदना पड़ेगा । भीतर का दीपक जलने पर ही बाहर फैले हुए अन्धकार का समाधान होगा । जो कुछ हमारे लिए अभीष्ट और आवश्यक है उसकी समस्त सम्भावनाएँ अपने भीतर सुरक्षित रखी हुई हैं । आवश्यकता उन्हें प्रयोग करने की है । अपने आपे का प्रयोग करना यदि हमें आया होता तो हम दूसरे ईश्वर बन सकने में समर्थ होते । अपने को खोकर हमने खोया ही खोया है । बाहर ढूँढ़ने में जीवन गँवा डाला पर मिला कुछ नहीं, मिलता तब, जब बाहर कुछ होता ।

अनात्म तत्वों की जो गन्दगी भर गई है उसे निकाल दें तो शेष वही रह जाता है तो हमारा स्वरूप है । कुछ पाने के लिए, कुछ खोने के लिए तप साधन किए जाते हैं । आत्मा तो स्वयं उपलब्ध ही है । उसे पाने के लिए कुछ करना नहीं, करने की बात इतनी ही है कि जो अनुपयुक्त और अवांछनीय अपने भीतर भर लिया है उसे निकालकर फेंक दें । यह परिशोधन ही उपलब्धि का निमित्त बन जाता है ।

किसी तत्ववेत्ता से जिज्ञासु ने पूछा—गुरुदेव तप साधना से आपने क्या पाया ? उन्होंने उत्तर दिया—खोया बहुत पाया कुछ नहीं । जिज्ञासु ने आश्चर्य से पूछा—ऐसा क्यों ? ज्ञानी ने कहा—जो पाने लायक था वह तो पहले से ही प्राप्त था, जो खोने लायक विषय, विकार और अज्ञान, अन्धकार के अनात्म तत्व भीतर घुसे पड़े थे उन्हें साधना ने निकाला भर है । इस तरह साधक—साधना में खोता ही खोता है पाता कुछ नहीं हम स्वप्न खोते हैं तब सत्य पाते हैं ।

रोवर गोर्डल ने अपनी पुस्तक "दी कन्टेम्परी साइन्सेज एण्ड दी लिबरेटिव एक्सपीरियन्स ऑफ योग" में लिखा है—"मनुष्य के यह जानने से पहले कि वह वास्तव में क्या है, अब तक के जाने हुए को भूलना होगा । वर्तमान नकारात्मक मान्यताओं के कारण मानव अपने भीतर स्थूल अहंवाद के साथ जुड़ी हुई मिथ्या मान्यताओं से ही परिचित हो पाया है । आत्मिक प्रगति के लिए हमें आत्म-बोध का प्रशिक्षण आरम्भ से ही करना होगा, क्योंकि उन तथ्यों को जिन पर आत्मोन्नति निर्भर है एक प्रकार से हमने भुला ही दिया है ।"

कालिदास ने कहा—अपने को जानने का प्रयत्न करो । अपने स्वरूप को समझो और जिस लिए जन्मे हो उस पर विचार करो । तुम्हें दिशा मिलेगी और सही दिशा में कदम उठ गए तो वह प्राप्त करके रहोगे जिसके पाये बिना अपूर्णता और अतृप्ति घेरे ही रहेगी ।

स्वामी विवेकानन्द ने एक कथा सुनाई—एक तत्व ज्ञानी अपनी पत्नी से कह रहे थे सन्ध्या आने वाली

काम समेट लो । एक सिंह कुटी के पीछे यह सुन रहा था उसने समझा संध्या कोई बड़ी शक्ति है जिससे डर कर यह निर्भय रहने वाले ज्ञानी भी अपना सामान समेटने को विवश हुए हैं । सिंह चिन्ता में डूब गया और संध्या का डर सताने लगा ।

पास के घाट का धोबी दिन छिपने पर अपने कपड़े समेट कर गधे पर लादने की तैयारी करने लगा । देखा तो गधा गायब । उसे ढूँढ़ने में देर हो गई, रात घिर आयी और पानी बरसने लगा । धोबी को एक झाड़ी में खड़खड़ाहट सुनाई दी समझा गधा है । तो लाठी से उसे पीटने लगा—धूर्त यहाँ छिपकर बैठा है । सिंह की पीठ पर लाठियाँ पड़ीं तो उसने समझा यही संध्या है सो डर से थर-थर काँपने लगा । धोबी उसे घसीट लाया और कपड़े लाद कर घर चल दिया । रास्ते में एक दूसरा सिंह मिला उसने अपने साथी की दुर्गति देखी तो पूछा—यह क्या हुआ ? तुम इस प्रकार लदे क्यों फिर रहे हो । सिंह ने कहा—संध्या के चंगुल में फँस गए हैं वह बुरी तरह पीटती है और इतना वजन लादती है ।

सिंह को कष्ट देने वाली संध्या नहीं उसकी भ्रान्ति थी जिसके कारण धोबी को कोई बड़ा देव दानव समझ लिया गया और भार एवं प्रहार बिना सिर हिलाये स्वीकार कर लिया गया । हमारी यही स्थिति है अपने वास्तविक स्वरूप को न समझने और संसार के साथ, जड़ पदार्थों के साथ अपने सम्बन्धों का ठीक तरह ताल-मेल न मिला सकने की गड़बड़ी ने ही हमें उन विभिन्न परिस्थितियों में धकेल दिया है जिनमें अन्धकार के अतिरिक्त और कुछ दीखता ही नहीं । इस भ्रान्ति को ही माया कहा गया है । माया को ही बन्धन कहा गया है और दुःखो का कारण बताया गया है । यह माया और कुछ नहीं वास्तविकता से अपरिचित रखने वाला अज्ञान ही है ।

गीता में माया की व्याख्या और प्रतिक्रिया समझाते हुए भगवान ने कहा है—

अज्ञानेनावृतम् ज्ञानम् तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।

ज्ञान अज्ञान के द्वारा ढक दिया गया है, इस कारण सब प्राणी मोह को प्राप्त होते हैं ।

*नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः ।*

अपनी योग माया से ढके हुए होने के कारण मैं सबके लिए दृश्य नहीं हूँ ।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

तीन गुणों से युक्त इस मेरी माया को पार करना बड़ा कठिन है ।

शरीर को आत्मा समझ बैठने—शरीर के सुख-दुःख, हानि-लाभ और संयोग-वियोग को आत्मा पर घटित हुई मान लेने से मनुष्य दुःखी होता है, उपलब्धियों की अपेक्षा यदि अपना ध्यान आत्मा के निर्मल निर्विकार स्वरूप में बना रहे और जीवकोद्देश्य की पूर्ति के लिए कर्तव्य कर्मों को करते रहने एवं दिव्य विचारों में रमण करने की प्रवृत्ति अपना ली जाय तो न दुःख की गुंजाइश रहे न शोक की । अपने को आत्मा बना इस संसार को परमेश्वर का स्वरूप मानकर परमात्मा के लिए आत्मा द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले अनुदानो, कर्तव्य कर्मों को अपनाते हुए जीवन यात्रा पूरी करने लगें तो सारे दुःख दूर हो जायें जिन्हें अज्ञता के कारण मायाबद्ध जीव पग-पग पर भुगतता रहता है ।

## त्रिविध भव-बन्धन एवं उनसे मुक्ति

*साधना से तात्पर्य है—साध लेना, सधा लेना ।* पशु प्रशिक्षक यही करते रहते हैं । अनगढ़ एवं उच्छृंखल पशुओं को वे एक रीति-नीति सिखाते हैं, उनको अभ्यस्त बनाते और उस स्थिति तक पहुँचाते हैं, जिसमें उस असंस्कृत प्राणी को उपयोगी समझा जा सके । उसके बढ़े हुए स्तर का मूल्यांकन हो सके । पालने वाला अपने को लाभान्वित हुआ देख सके । सिखाने वाला भी अपने प्रयास की सार्थकता देखते हुए प्रसन्न हो सके ।

देखा यह जाता है कि भक्त भगवान को साधता है । उसको मूर्ख समझते हुए उसकी गल्तियाँ निकालता रहता है । तरह-तरह के उलाहने देता है । साथ ही गिड़गिड़ाकर, नाक रगड़कर, खीसें निपोरकर अपना-अपना अनुचित उल्लू सीधा करने के लिए जाल-जंजाल बुनता है । प्रशंसा के पुल बाँधता है । छुटपुट भेंट चढ़ाकर उसे फुसलाने का प्रयत्न करता है । समझा जाता है कि सामान्य लोगों से व्यावहारिक जगत में आदान-प्रदान के आधार पर ही लेन-देन चलता है, पर *ईश्वर या देवता ऐसे है जिन्हें वाणी की वाचालता* तथा शारीरिक-मानसिक उचक-मचक करने भर से वशवर्ती किया जा सकता है । यह दार्शनिक भूल मनुष्य

को एक प्रकार से छिपा हुआ नास्तिक बना देती है। प्रकट नास्तिक वे हैं जो प्रत्यक्षवाद के आधार पर ईश्वर की सत्ता स्पष्ट दृष्टिगोचर न होने पर उसकी मान्यता से इन्कार कर देते हैं। दूसरे छिपे नास्तिक वे हैं जो उससे पक्षपात की, मुफ्त में लम्बी-चौड़ी मनोकामनाओं की पूर्ति चाहते रहते हैं। मनुष्य विधि व्यवस्था को तोड़ता-छोड़ता रहता है, पर ईश्वर के लिए यह सम्भव नहीं कि अपनी बनाई कर्मफल व्यवस्था का उल्लंघन करे या दूसरों को ऐसा करने के लिए उत्साहित करे, तथाकथित भक्त लोग ऐसी ही आशाएँ किया करते हैं। अन्ततः उन्हें निराश ही होना पड़ता है। इस निराशा की खीझ और थकान से वे या तो साधना-विधान को मिथ्या बताते हैं या ईश्वर के निठुर होने की मान्यता बताते हैं। कई पाखण्डी कुछ भी हस्तगत न होने पर भी प्रवंचना रचते हैं और नकटा सम्प्रदाय की तरह अपनी सिद्धि-सफलता का बखान करते हैं। आज का आस्तिकवाद इसी विडम्बना में फँसा हुआ है और वह लगभग नास्तिकवाद के स्तर पर जा पहुँचा है।

आवश्यकता है भ्रान्तियों से निकलने और यथार्थता को अपनाने की। इस दिशा में मान्यताओं को अग्रगामी बनाते हुए हमें सोचना होगा कि जीवन साधना ही आध्यात्मिक स्वस्थता और बलिष्ठता है। इसी के बदले प्रत्यक्ष जीवन में, मरण की प्रतीक्षा किए बिना, स्वर्ग, मुक्ति और सिद्धि का रसास्वादन करते रहा जा सकता है। उन लाभों को हस्तगत किया जा सकता है जिनका उल्लेख आध्यात्म विधा की महत्ता बताते हुए शास्त्रकारों ने विस्तारपूर्वक किया है। सच्चे सन्तों-भक्तों का इतिहास भी विद्यमान है। खोजने पर प्रतीत होता है कि पूजा पाठ भले ही उनका न्यूनाधिक रहा है, पर उन्होंने जीवन साधना के क्षेत्र में परिपूर्ण जागरूकता बरती। इसमें व्यतिक्रम नहीं आने दिया। न आदर्शों की अवज्ञा की और न उपेक्षा बरती। भाव सम्वेदनाओं में—श्रद्धा, विचार बुद्धि में—प्रज्ञा और लोक-व्यवहार में—शालीन-सद्भावना की निष्ठा अपनाकर कोई भी सच्चे अर्थों में जीवन देवता का सच्चा साधक बन सकता है। उसका उपहार, वरदान भी उसे हाथों-हाथ मिलता चला जाता है।

ऋषियों, मनीषियों, सन्त-सुधारकों और वातावरण में ऊर्जा उभार देने वाले महामानवों की अनेकानेक साक्षियाँ विश्व इतिहास में भरी पड़ी हैं। इनमें से प्रत्येक को हर कसौटी पर जाँच-परख कर देखा जा सकता है कि उनमें से हर एक को अपना व्यक्तित्व उत्कृष्टता की कसौटी पर खरा सिद्ध करना पड़ा है। इससे कम में किसी को भी न आत्मा की प्राप्ति हो सकी न परमात्मा की, न ऐसों का लोक बना, न परलोक। पूजा को शृंगार माना जाता रहा है। स्वास्थ्य वास्तविक सुन्दरता है। ऊपर से स्वस्थ व्यक्ति को वस्त्राभूषणों से प्रसाधन सामग्री से सजाया भी जा सकता है। इसे सोने में सुगन्ध का संयोग बन पड़ा माना जा सकता है। जीवन साधना समग्र स्वास्थ्य बनाने जैसी विधा है। उसके ऊपर पूजा-पाठ का शृंगार सजाया जाय तो शोभा और भी अधिक बढ़ेगी। इसमें सुरुचि तो है किन्तु यह नहीं माना जाना चाहिए कि मात्र शृंगार साधनों के सहारे किसी जीर्ण-जर्जर, रुग्ण या मृत शरीर को सुन्दर बना दिया जाय तो प्रयोजन सध सकता है। इससे तो उल्टा उपहास ही बढ़ता है। इसके विपरीत यदि कोई हृष्ट-पुष्ट पहलवान मात्र लंगोट पहन कर अखाड़े में उतरता है तो भी उसकी शोभा बढ़ जाती है। ठीक इसी प्रकार जीवन को सुसंस्कृत बना लेने वाले यदि पूजा-अर्चना के लिए कम समय निकाल पाते हैं तो भी काम चल जाता है।

आध्यात्म विज्ञान के साधकों को अपने दृष्टिकोण में मौलिक परिवर्तन करना पड़ता है। उन्हें सोचना होता है कि मानव जीवन की बहुमूल्य धरोहर का इस प्रकार उपभोग करना है, जिससे शरीर निर्वाह—लोक व्यवहार भी चलता रहे; पर साथ ही आत्मिक अपूर्णता को पूरा करने का चरम लक्ष्य भी प्राप्त हो सके। ईश्वर के दरबार में पहुँचकर सीना तानकर यह कहा जा सके कि जो अमानत जिस प्रयोजन के लिए सौंपी गई थी, उसे उसी हेतु सही रूप में प्रयुक्त किया गया है।

इस मार्ग में सबसे बड़ी रुकावट तीन हैं। इन्हीं को रावण, कुम्भकरण, मेघनाद कहा गया है। यही देवी भागवत के महिषासुर, मधुकैटभ, रक्तबीज हैं। यह प्रायः साथ लगे रहते हैं और पीछा नहीं छोड़ते। इन्हीं के कारण मनुष्य पतन और पराभव के गर्त में

गिरता है । पशु, प्रेत और पिशाच की जिन्दगी जीता है । नर-वानर और नर-पामर के रूप में इन्हीं के चंगुल में फँसे हुए लोगों को देखा जाता है । ये तीन हैं—लोभ, मोह एवं अहंकार । वासना, तृष्णा और कुत्सा इन्हीं के कारण उत्पन्न होती हैं ।

लोक विजय के लिए सादा जीवन उच्च विचार का सिद्धान्त अपनाना पड़ता है । औसत नागरिक स्तर के निर्वाह में सन्तोष करना पड़ता है । ईमानदारी और परिश्रम की कमाई पर निर्भर रहना पड़ता है । लालची के लिए अनीति अपनाए बिना तृष्णा की पूर्ति कर सकना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं होता । जो व्यक्ति विलास में अधिक खर्च करता है, वह प्रकारान्तर से दूसरों को उतना ही अभावग्रस्त रहने के लिए मजबूर करता है । इसीलिए शास्त्रकारो ने परिग्रह को पाप बताया है । विलासी, संग्रही, अपव्ययी की भी ऐसी ही निन्दा की गई है ।

अधिक कमाया जा सकता है, पर उसमें से निजी निर्वाह में सीमित व्यय करके शेष बचत को गिरों को उठाने, उठों को उछालने और सत्प्रवृत्तियों के सम्वर्धन में लगाया जाना चाहिए । राजा जनक जैसे उदाहरणों की कमी नहीं । मितव्ययी अनेक दुर्व्यसनों और अनाचारों से बचता है । ऐसी हविस उसे सताती नही जिसके लिए अनाचार पर उतारू होना पड़े । साधु ब्राह्मणों की यही परम्परा रही है । सज्जनो की शालीनता भी उसी आधार पर फलती-फूलती रही है । जीवन साधना के उस प्रथम अवरोध "लोभ" को नियन्त्रित कराने वाला दृष्टिकोण हर जीवन साधना के साधक को अपनाना ही चाहिए ।

मोह वस्तुओं से भी होता है और व्यक्तियों से भी । छोटे दायरे मे आत्मीयता सीमाबद्ध करना ही मोह है । उसके रहते हृदय की विशालता चरितार्थ ही नही होती । अपना शरीर और परिवार ही सब कुछ दिखाई पड़ता है । उन्ही के लिए मरने-खपने के कुचक्र में फँसे रहना पड़ता है । 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के दो आत्मवादी सिद्धान्त है । इनमें से एक को भी 'मोहग्रस्त' कार्यान्वित नही कर सकता । इसलिए अपने मे सबको और सबमे अपने को देखने की दृष्टि से विकसित करना जीवन साधना के लिए आवश्यक माना गया है ।

परिवार छोटे से छोटा रखा जाय । पूर्ववर्ती अभिभावकों, बड़ों और आश्रितों के ऋणों को चुकाने की ही व्यवस्था नहीं बन पाती तो नये अतिथियों को क्यों न्यौत बुलाया जाय ? समय की विषमता को देखते हुए अनावश्यक बच्चे उत्पन्न कर परिवार का भार बढ़ाना परले सिरे की भूल है । समान विचारों का साथी-सहयोगी मिले तो विवाह करने में हर्ज नहीं, पर वह एक-दूसरे की सहायता-सेवा करते हुए प्रगति पथ पर अग्रसर होने के लिए ही किया जाना चाहिए । जिन्हें सन्तान की बहुत ललक हो वे निर्धनों के बच्चे पालने के लिए ले सकते हैं । परिवार को स्वावलम्बी और सुसंस्कारी बनाना पर्याप्त है । औलाद के लिए विपुल सम्पदा उत्तराधिकार में छोड़ मरने की भूल किसी को नहीं करनी चाहिए । मुफ्त का माल किसी को भी हजम नहीं होता । वह दुर्बुद्धि और दुर्गुण ही उत्पन्न करता है । सन्तान पर यह भार लदेगा तो उसका अपकार ही होगा ।

पारिवारिक उत्तरदायित्वों को निबाहा जाना चाहिए, पर उस कीचड़ में इतनी गहराई तक नहीं फँसना चाहिए कि उबर सकना सम्भव न हो सके । मोह को भव-बन्धनों में से प्रमुख माना गया है। उसी संकीर्ण दायरे मे जकड़े हुए लोग, लोकमंगल का कर्तव्य पालन कर ही नही पाते । जिन्हें सभी के प्रति पारिवारिकता का भाव अपनाने का अवसर मिलता है, उनके लिए हर किसी को आत्मीय मानने का, सभी की सेवा सहायता करने का आनन्द मिलता है ।

अहंकार मोटे अर्थों में घमण्ड समझा जाता है । अकड़ना उद्धत-अशिष्ट व्यवहार करना, क्रोध ग्रस्त रहना अहंकार की निशानी है । पर वस्तुतः वह और भी अधिक सूक्ष्म और व्यापक है । फैशन, सजधज, शृंगार, ठाट-बाट, अपव्यय, सस्ता बड़प्पन आदि अहंकार परिवार के ही सदस्य हैं । लोग शेखी खोरी के लिए ढेरों समय, श्रम और पैसा खर्च करते देखे जाते हैं । यह भी एक प्रकार का नशा है, जिसमे अपने को भले ही मजा आता हो, पर हर विचारशील को इसमें क्षुद्रता की, बचकानेपन की ही गंध आती है । इस विडम्बना के लिए चित्र-विचित्र प्रवंचनाएँ रचनी पड़ती हैं । ईर्ष्या, द्वेष उत्पन्न करने मे भी अहंता की प्रमुख भूमिका रहती है । कलह और विग्रह प्रायः उसी कारण उत्पन्न

होते हैं । आदमी की विशिष्टता अपनी विनयशीलता दूसरों के सम्मान में निहित है, उसी कसौटी पर किसी की सज्जनता परखी जाती है । अहंकारी से उन सद्गुणों में से एक भी नहीं निभ पाता । अहंभाव को आत्मघाती शत्रु माना गया है । ऐसे लोगों से आत्म-साधना तो बन ही नहीं पाती । उन पर तो उद्दण्डता व दूसरों को नीचा दिखाने का भूत सदैव चढ़ा रहता है और दूसरों को गिराने और नीचा दिखाने की ही ललक उठती रहती है । ऐसे लोग अपनी प्रशंसा और दूसरों की निन्दा करने में ही लगे रहते [redacted] । इन परिस्थितियों में आत्मोत्कर्ष और आत्म-परिष्कार कैसे बन पड़े ?

लोभ, मोह और अहंकार के तीन भारी पत्थर जिन्होंने सिर पर लाद रखे हैं, उनके लिए जीवन साधना की लम्बी और ऊँची मंजिल पर चल सकना, चल पड़ना असम्भव हो जाता है । भले ही कोई कितना ही पूजा-पाठ क्यों न करता रहे । जिन्हें तथ्यान्वेषी बनना है, उन्हें तीन शत्रुओं से अपना पीछा छुड़ाना ही चाहिए ।

हल्की वस्तुएँ पानी पर तैरती हैं, किन्तु भारी होने पर वे डूब जाती हैं । जो लोभ, मोह और अहंकार रूपी पत्थर अपनी पीठ पर लादे हुए है, उन्हें भवसागर में डूबना ही पड़ेगा । जिन्हें तरना, तैरना है, उन्हें इन तीनों भारों को उतारने का प्रयत्न करना चाहिए ।

अनेकानेक दोष-दुर्गुणों, कषाय-कल्मषों का वर्गीकरण-विभाजन करने पर उनकी संख्या हजारों हो सकती है, पर उनके मूल उद्गम यही तीनों लोभ, मोह और अहंकार हैं । इन्हीं भव-बन्धनों से मनुष्य के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर जकड़े पड़े है । इनका उन्मूलन किए बिना आत्मा को उस स्वतन्त्रता का लाभ नहीं मिल सकता जिसे मोक्ष कहते हैं । इन तीनों पर कड़ी नजर रखी जाय । इन्हें अपना संयुक्त शत्रु माना जाय । इनसे पीछा छुड़ाने के लिए हर दिन नियमित रूप से प्रयास जारी रखा जाय । एकदम तो सब कुछ हो जाना कठिन है, पर उन्हें नित्यप्रति यथासम्भव घटाते-हटाते चलने की प्रक्रिया जारी रखने पर सुधार क्रम में सफलता मिलती ही चलती है और एक दिन ऐसा भी आता है, जब इनसे पूरी तरह छुटकारा पाकर बन्धन मुक्त हुआ जा सके ।

## भव-बन्धनों से मुक्ति और स्वर्ग प्राप्ति

बन्धन और मुक्ति कहाँ है ? स्वर्ग और नरक कैसा है ? यह जानने के लिए किसी स्थान को तलाश करने की दौड़-धूप, पूछताछ करने की आवश्यकता नहीं है । उन्हें अपने भीतर देखा जा सकता है । देखा ही नहीं, अनुभव भी किया जा सकता है ।

दोनों का वर्णन-विवरण एक-दूसरे से भिन्न है । तो भी वे इतने सटे हुए है कि उनकी दीवार से दीवार मिली है । अन्तर इतना ही है कि एक का मुँह पूरब को है तो दूसरे का उससे उल्टी दिशा पश्चिम को है । एक सिरा स्वर्ग जैसे आनन्द और देवतत्वों की भरमार से जुड़ा है, दूसरा उसके ठीक विपरीत है वह नरक की यातना और असह्य यन्त्रणा और सिर चकराने वाली दुर्गन्ध से भरा है ।

दोनों में से किसी को चुनने के लिए मनुष्य स्वतन्त्र है । किसी पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं है कि कौन किस क्षेत्र में प्रवेश करे । जिसका जिधर मन हो, वह उधर जाने वाली सड़क को स्वेच्छापूर्वक अपना सकता है और उस पर चल सकता है । प्रवेश भी प्रतिबन्धित नहीं है । जिसमें भी प्रवेश करना हो, खुशी-खुशी घुसा जा सकता है । प्रवेश पाने और निवास करने पर उन परिस्थितियों का सामना तो करना ही पड़ेगा, जो उस क्षेत्र के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई हैं ।

काया और आत्मा यह दोनों ही तत्व मिलकर जीवन बनाते [redacted] । इनके पारस्परिक सहयोग से ही निर्वाह होता है । दोनों के बीच सन्तुलन बना रहे, उनमें से प्रत्येक को उचित स्थान, सम्मान और पोषण मिले तो फिर दो पहियों की गाड़ी की तरह जीवन-क्रिया सही दिशा में निर्बाध रूप से चलती रहती है, उसमें न व्यतिक्रम होता है, न व्यवधान पड़ता है ।

कठिनाई तब पड़ती है जब भ्रमितों की तरह कुछ को कुछ समझने की भूल होती है । भटकने वाली पगडण्डी पकड़ी जाती है और कुछ ही दूर चलने पर कँटीले झाड़-झंखाड़ों में उलझ जाने की परिस्थिति बन जाती है ।

जीवन दो साझीदारों का सम्मिलित व्यवसाय है । दोनों का समान श्रम और समान पूँजी निवेश होना चाहिए । दोनों का अधिकार भी औचित्य की सीमा में रहना चाहिए और लाभांश का बँटवारा भी न्यायोचित होना चाहिए । यदि यह रीति-नीति ठीक प्रकार चलती रहे, तो विग्रह का अवसर खड़ा न हो और हम मानवी गरिमा के उस स्तर पर जमे रहें, जिसे देवोपम कहा जाता है । बात तब विगड़ती है, जब एक पक्ष को सब कुछ बना दिया जाता है और दूसरे पक्ष की अवज्ञा की जाती है । यह भूल आमतौर से इस प्रकार होती है कि दर्पण में दीखने वाले प्रत्यक्ष काय कलेवर को ही सब कुछ मान लिया जाता है और श्रेय-सुविधाओं का सारा परिकर उसी के सुपुर्द कर दिया जाता है । शरीर की सुख-सुविधा, आकांक्षा और प्रगति को अतिशय महत्त्व देने का प्रतिफल यह होता है कि आत्मा को जो पोषण मिलना चाहिए, वह नहीं मिलता । अतः आत्मिक क्षेत्र में दरिद्रता, विपन्नता भर जाती है । *शरीर ही अपनी लिप्सा, लालसाओं को उपयोग करता* रहता है । उसकी स्वाभाविक प्रकृति पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति की तरह अधोगामी है । विलास और वैभव को वह इतनी अधिक मात्रा में चाहने, माँगने लगता है, जो उसकी वास्तविक आवश्यकता से कहीं अधिक है । उसे जुटाने में आत्मा का पक्ष विस्मृत एवं उपेक्षित हो जाता है । आदर्शों के प्रतिपालन की बात विस्मृत हो जाती है और लोभ, मोह, अहंकार की पूर्ति के लिए वह किया जाने लगता है, जिसमे औचित्य का प्रत्यक्ष व्यतिक्रम है ।

शरीर और आत्मा हैं तो सहयोगी और एक ही घर में रहते हैं । वे चाहें, तो सामंजस्य बनाकर भी निर्वाह कर सकते हैं; पर होता इसके विपरीत है । शरीर प्रत्यक्ष है, आत्मा परोक्ष । प्रत्यक्ष में प्रतीति होती है और परोक्ष के बन्धन में मोटी बुद्धि सही निर्णय नहीं कर पाती । उसका महत्त्व स्वीकार नही करती और जो कुछ उसके निमित्त किया जाना चाहिए, सो भी नहीं करती । ऐसी दशा में शरीर ही सब कुछ वन जाता है और आत्म-पक्ष अभावग्रस्त, हेय, हीन स्थिति में समय गुजारने के लिए विवश होता है ।

शरीर की, इन्द्रियों की, वैभव की वासना, तृष्णा जब अनियन्त्रित हो जाती है, तो अपनी असीम कामनाओं की पूर्ति के लिए वह करने लगती है, जो उसे नहीं करना चाहिए; वह मानने और चाहने लगती है, जिसकी वस्तुतः उसे कुछ आवश्यकता है नहीं ।

यह स्थिति आत्मा को स्वीकार नहीं । वह अपना हक भी माँगती है और जो अनुचित किया जा रहा है, उसका विरोध भी करती है । खींचतान के मूल केन्द्र यही है और यहीं से वह अन्तर्द्वन्द्व खड़ा होता है, जिसका परिणाम आन्तरिक स्वतन्त्रता गँवा बैठने और शरीर की गुलामी स्वीकार करने के रूप में सामने आता है । लिप्साओं की पूर्ति की जाती रहती है । साथ ही आत्म हनन भी होता रहता है । तराजू का एक पलड़ा कुछ नीचे झुकाया जाय तो दूसरा हल्का पड़ेगा और ऊपर लटकेगा, सन्तुलन बिगड़ जायेगा । इसी असन्तुलन का नाम भ्रष्ट जीवन है । भ्रष्ट चिन्तन और दुष्ट आचरण आत्मिक बन्धन के चिन्ह हैं । लोभ की हथकड़ी, मोह की बेड़ी और अहंकार की तौक पहनकर मनुष्य पूरी तरह भव-बन्धनों में आबद्ध हो जाता है । *काया को विलास चाहिए और वैभव ।* वह भी इतनी बड़ी मात्रा में जिसकी कोई सीमा न हो । यह वह प्यास है, जो आग पर घी डालने पर भड़कने वाली अग्नि की तरह कितने ही साधन मिलने पर भी तृप्त नहीं होती । जब कामनाओं का वेग सिर पर असाधारण रूप से सवार होता है, तो नीति और मर्यादाओं के सारे बाँध तोड़ देता है और वह सब करने लगता है, जो नहीं करना चाहिए । इसकी परिणति उन परिस्थितियों में होती है, जिन्हे नरक कहते है—आन्तरिक असन्तोष, सम्पर्क क्षेत्र का अविश्वास और गहन अन्तराल मे जमने वाले कुसंस्कारों से भविष्य की अन्धकार भरी परिणति । यही सब मिलकर आधि-व्याधियो के रूप में सामने आते हैं; अपयश और अविश्वास का वातावरण बनाते हैं; आत्म-प्रताड़ना निरन्तर सहनी पड़ती है और समाजदण्ड, राजदण्ड, प्रतिशोध का निरन्तर भय बना रहता है । इस सबका सम्मिश्रण ही नरक है । इस प्रताड़ना का एक मात्र कारण है शरीर के प्रति असाधारण आसक्ति । उसे ही अपना स्वरूप मान बैठना । उसी को सुखी बनाने के लिए जघन्य और घृणित कार्य पर उतारू रहना । मन.स्थिति की प्रतिक्रिया ही परिस्थितियों के रूप मे सामने आती है और तपते हुए नरक की तरह झुलसाती है ।

नरक से बचने और स्वर्ग में प्रवेश करने के लिए दृष्टिकोण बदलने के अतिरिक्त और कुछ करने की आवश्यकता नहीं पड़ती । अपना आत्म-भाव जगाना पड़ता है और मान्यता को इस गहराई तक पहुँचाना पड़ता है कि अपनी सत्ता आत्मा के रूप में परिलक्षित हो और शरीर मात्र आवरण प्रतीत हो । आवरण की रक्षा करते रहना ही पर्याप्त मालूम पड़े और यह स्मरण जागृत बना रहे कि वह सोचना और वह करना है, जो आत्म-गौरव के अनुरूप और अनुकूल है । ईश्वर ने मनुष्य को अपना युवराज बनाया और साथ ही यह दायित्व सौंपा है कि अपने को पवित्र और प्रखर बनाते हुए अपूर्णता को दूर करे । साथ ही विश्व उद्यान के माली की तरह उसे वह करने के लिए कहा, जिससे इस वाटिका में प्रगतिशीलता एवं सुसंस्कारिता बढ़े । इन दोनों कर्तव्यों की पूर्ति में संलग्न रहना ही मनुष्य जीवन की सार्थकता है साथ ही यथार्थता भी ।

आत्म-बोध का तात्पर्य इतना ही है कि मनुष्य अपने को ईश्वर का वंशधर समझे और चिन्तन, चरित्र एवं व्यवहार को इस योग्य बनाये, जो उसकी गौरव-गरिमा के अनुरूप है । दृष्टिकोण का ऐसा परिवर्तन ही स्वर्ग द्वार में प्रवेश पाना है । उत्कृष्टता के लक्ष्य को अपना लेने पर आदर्शवादी क्रिया-कलाप ही बन पड़ते हैं । राजमार्ग का अवलम्बन लेने पर भटकाव की कहीं गुंजाइश नहीं रहती । प्रलोभनों के आकर्षण उसे अपनी ओर खींच नहीं पाते । किसी के विरोधी हो जाने पर हानि पहुँचाने के भय और दबाव भी उसे इस स्थिति में नहीं पहुँचाते, जिसमें उसे अवांछनीय या अनैतिक कार्य करने पर उतारू होना पड़े ।

चिन्तन में उत्कृष्टता और आचरण में आदर्शवादिता की समुचित मात्रा भर लेना यही देव जीवन है । जिसने पशुता और पैशाचिकता की निकृष्टता का परित्याग कर दिया, जो ऊँचा सोचता, ऊँचा करता, वह ऊँचा उठता भी है । स्वर्ग ऊर्ध्व दिशा में है । वह किसी स्थान या लोक से सम्बन्धित नहीं है । अपना अन्तःकरण ही वह स्थान है, जिसमें स्वर्ग तो रहता ही है, पर कोई चाहे तो उसे धकेल कर नरक की निकृष्टता को भी प्रतिष्ठित कर सकता है । यह मनुष्य स्वयं ही चुनता और वरण करता है । इसमें किसी दूसरे का हस्तक्षेप नहीं है ।

प्रत्येक पिता यही चाहता है कि उसका पुत्र उसकी परम्परा एवं प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण रखे । ईश्वर भी अपने युवराज मनुष्य से यही अपेक्षा करता है कि वह देव जीवन जीये, अपनी विचारणा में उत्कृष्टता और क्रियाकलाप में आदर्शवादिता की मात्रा न घटने दे । अपने सम्पर्क क्षेत्र का वातावरण ऐसा बनाये, जिसे स्वर्गोपम कहा जा सके । इसी आधार पर अपना भीतरी और बाहरी ढाँचा सुव्यवस्थित कर लेना ही—बन्धनों को तोड़कर मोक्ष पाना, नरक से निकलकर स्वर्ग में प्रवेश पाना है । यह सब दृष्टिकोण के परिवर्तन और परिष्कार से ही सम्भव हो पाता है ।

## आत्मोत्कर्ष के मार्ग में तीन प्रमुख बाधायें

आत्मोत्कर्ष के मार्ग में तीन प्रमुख बाधायें हैं । आत्मा की महती आकांक्षा पुण्य-परमार्थ की है । इसके बिना अन्तःकरण को न शान्ति मिलती है और न उसका समाधान होता है । इन दोनों कार्यों को करने की परिपूर्ण क्षमता हर व्यक्ति में है, पर इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि न उन दोनों का स्वरूप समझा जाता है और न उसके लिए वैसा ठोस प्रयत्न ही किया जाता है जैसा कि किया जाना चाहिए । इन दोनों के सम्बन्ध में गहरी भ्रान्ति रहने के कारण प्रायः जिस-तिस को पैसा या वस्तुयें दान कर देना ही सब कुछ मान लिया जाता है, पर जिसके पास पैसा नहीं है, वे क्या करें ? इसका अर्थ यह हुआ कि परमार्थ के लिए पैसा अनिवार्य है । इसलिए उसे सर्वप्रथम येन-केन-प्रकारेण संग्रह करना चाहिए । यह बड़ा असमंजस है कि एक ओर औसत भारतीय स्तर का निर्वाह करने, अपरिग्रही बनने और दूसरी ओर पैसा खर्च करने पर ही परमार्थ सिद्ध होने की बात कही जाय । यह दोनों ही कथन एक-दूसरे के विपरीत पड़ते हैं । अपरिग्रह धन के आधार पर बन पड़ने वाले पुण्य-प्रयोजनों की सिद्धि किस प्रकार कर सकेगा ?'

वस्तुतः पुण्य का अर्थ है—आत्मशोधन और परमार्थ का तात्पर्य है—सेवा-साधना । यह दोनों ही हर स्थिति वाले व्यक्ति के लिए सम्भव है । भीतर के कषाय-कल्मषों को और बाहर के अनाचारों से निपट लेने में हर मनस्वी व्यक्ति सफल हो सकता है । ऐसी ही मनस्विता

अर्जित करने के लिए इन्द्रिय दमन या मनोनिग्रह से सम्बन्धित साधन-विधान अपनाने पड़ते हैं । मनोबल जहाँ प्रबल हुआ नहीं कि दुष्प्रवृत्तियों का वानर समूह एक जोरदार ललकार देते ही भाग खड़ा होता है ।

आत्मोत्कर्ष के मार्ग में लोभ और मोह को सबसे बड़ा बाधक माना गया है । लालच के वशीभूत होकर व्यक्ति निरन्तर धन कमाने और उसके आधार पर गुलछर्रे उड़ाने की बात सोचता है । लोभाकर्षण इतना प्रबल है कि दुर्बल मनोभूमि के व्यक्ति के लिए निरस्त करना नितान्त कठिन पड़ता है ।

दूसरा है—मोह । छोटे बच्चे माँ की, और समर्थ व्यक्ति पत्नी की घनिष्ठता के निमित्त लालायित रहते हैं । पत्नी बच्चे जनती है और यौन कर्म के दण्ड स्वरूप उस उत्पादन के परिपोषण का दायित्व कन्धों पर लाद लेती है । कुछ अन्य कुटुम्बियों को मिलाकर एक परिवार बन जाता है और न्यूनाधिक मात्रा में इन सभी से लगाव चल पड़ता है । यदि यह औचित्य की मात्रा में सीमित रहता तो भी बात बनती । तब औसत भारतीय स्तर का निर्वाह जुटाते हुए उस परिवार को स्वावलम्बी एवं सुसंस्कारी बनाने भर की जिम्मेदारी रहती, जिसे मिल-जुलकर पूरा करने में कोई विशेष बाधा सामने न आती; किन्तु जब मोह की अति हो जाती है, तो प्रियजनों को कुबेर जितनी सुविधाओं से लाद देने और उत्तराधिकार में विपुल सम्पदा छोड़ मरने को जी करता है । इसके साधन जुटाना भी अत्यधिक कठिन पड़ता है । लोभ और मोह का बना हुआ रस्सा इतना मजबूत होता है कि उनसे जकड़ जाने पर भव-बन्धनों से मुक्ति का कोई मार्ग नहीं मिलता । निर्वाह एक बात है और लालच दूसरी । प्यार एक शब्द है और मोह उसी की छद्म छाया ।

इसलिए ब्राह्मणत्व की दिशा में अग्रसर होने वाले पुण्य-परमार्थ की बात सोचने वाले को इन दोनों पर औचित्य की मर्यादा में रहने का कड़ा अंकुश लगाना पड़ता है । इतना करने के उपरान्त ही अपना समय और साधन इतना बच पाता है कि उससे जीवन लक्ष्य की प्राप्ति करा सकने वाले मार्ग पर कदम बढ़ाने का सुयोग बन पड़े ।

आत्मानुशासन के उपरान्त ही आत्मोत्कर्ष का द्वार खुलता है । क्या करना है, इसका निर्धारण तो अपनी क्षमता और कार्य क्षेत्र की आवश्यकता को देखते हुए करना पड़ता है और परिस्थिति के साथ-साथ उनमें हेर-फेर भी करना होता है । साधना, स्वाध्याय, संयम और सेवा के चतुर्विध क्रिया-कलापों को अपनाकर कोई भी आत्मिक प्रगति के मार्ग पर बढ़ सकता है । भव-बन्धनों के प्रसंग में दो प्रत्यक्ष हैं और एक परोक्ष । प्रत्यक्ष में लाभ और मोह की गणना करायी जा चुकी है । तीसरा छद्म दुरात्मा है—अहंकार । अहंकार के विविध रूप हैं, पर उन सबका उद्देश्य एक ही है—अपने को दूसरों से बड़ा सिद्ध करना, उन पर छाप छोड़ना और ऐसे प्रदर्शन करना, ताकि दर्शकों को बड़प्पन स्वीकार करना पड़े । शरीर का साज-सज्जा, घर की सजावट, नौकरों, वाहनों और कीमती उपकरणों की भरमार इसीलिए की जाती है कि देखने वालों को अपनी तुलना में प्रदर्शन कर्त्ता को सरंजाम से भरा-पूरा अमीर और बड़ा मानना पड़े । यह बड़प्पन प्रदर्शित करने की बचकानी प्रवृत्ति ही स्त्रियों को चित्र-विचित्र फैशन बनाने और आभूषण धारण करने के लिए उकसाती है । पुरुष ठाठ-बाट के अनेकानेक सरंजाम जुटाते हैं । यह मानसिकता परोक्ष दुर्बलता है, जो विश्लेषण करने वाले की ही पकड़ में आती है अन्यथा इस दुर्बलता को पकड़ना और उसके कौतुक-कौतूहल से भरी-पूरी विडम्बना का पता भी नहीं चलता और समय और साधनों का पूरा अपव्यय उसके निमित्त होता रहता है । लोभ, मोह और अहंकार को ही आयुर्वेद की भाषा में त्रिदोष, सन्निपात कहा जाता है, जिसमें रोगी प्रलाप करता और भारी बेचैनी का परिचय देता है ।

ब्राह्मण को इन तीनों से ही बचना पड़ता है अन्यथा इन समुद्र जितने गहरे खड्डों को पाटने में मनुष्य की शक्ति चुक जाती है और आदर्शों के परिपालन की बात-मात्र कल्पना बनकर रह जाती है । ब्राह्मणत्व की दिशा में बढ़ने वाले लोभ-मोह को घटाने या हटाने में सफलता प्राप्त कर लेते हैं और इस त्याग, बलिदान, शौर्य, पराक्रम एवं आदर्शवाद की चर्चा फैलने पर यश मिलता है और अपने को भी तनिक लीक से आगे बढ़कर महामानवों के मार्ग पर चलने की गरिमा का भान एवं सन्तोष होता है ।

किन्तु अहंकार का भ्रमजंजाल ऐसा है, जिससे निकलना तो दूर, यह पता तक नहीं चलता कि क्षय विषाणुओं की तरह खोखला कर देने वाला अहंकार

मन के किस कोने में, किस चतुरता से छिपा बैठा है और कैसे-कैसे विचित्र कौतुक प्रेत-पिशाच की तरह दिखा रहा है ।

धन, यश और सम्मान लूटने के लिए साधु-ब्राह्मण वर्ग के लोग भी अपनी महानता का, साधना का, सिद्धि का ढिंढोरा पीटते रहते हैं और उस जाल में भोले-भावुकों को फँसाकर अपना उल्लू सीधा करते रहते है । ऐसे सन्त-महन्त सर्वत्र कितनी बड़ी संख्या में फैले पड़े हैं, इसे नजर उठाकर सहज ही देखा जा सकता है । आवश्यक कार्यों की उपेक्षा करके वे ऐसा धर्माडम्बर खड़े करते हैं, जिनमें भले ही जनता की गाढ़ी कमाई बर्बाद होती रहे, पर उन्हें नेतृत्व करने का, संचालक-संयोजक बनने का श्रेय मिल सके ।

यह अहमन्यता साथियों को शत्रु बनाती है । दूसरों के हिस्से में श्रेय या पद न जाने देने के लिए उन्हें गिराने और बदनाम करने का कुचक्र चलाना पड़ता है और हर कीमत पर अपने को वरिष्ठ सिद्ध करने का ऐड़ी-चोटी पसीना बहाने जैसा प्रयत्न करना पड़ता है । यदि उसमें सफलता न मिले, तो जिस संस्था की छत्रछाया में पले थे, उसी को बर्बाद करने तक में नहीं चूका जाता, भले ही उससे अपना सींचा पौधा स्वय ही काट गिराने जैसा अनर्थ बनता हो ।

कितनी ही समर्थ संस्थाओं और संगठनों की दुर्गति इसी छद्म, अनाचार-अहंकार के कारण हुई है । किसी समय के भले-भोले व्यक्तियों का अनुपयुक्त जाल-जंजाल रचने पड़े हैं । रामलीला के मेले में जाने वाले बच्चे प्रायः हनुमान और काली के मुखौटे खरीद लाते हैं और एक-दो दिन बड़े चावपूर्वक उन्हें पहनते हैं, ताकि हनुमान और काली जैसा दिखने का दर्प अपनाकर लोगों को अचम्भे में डाल सकें और स्वय अपनी चतुरता पर प्रसन्न हो सकें । अहंकार यों सभी के लिए बुरे हैं, पर ब्राह्मण के लिए तो वह सर्वाधिक अनर्थ मूलक है ।

## आदमी की परले दरजे की तीन मूर्खताएँ

उपलब्धियाँ हर किसी के हिस्से में सीमित मात्रा मे आती हैं । यह अपनी इच्छा पर निर्भर है कि उनका सदुपयोग करें, दुरुपयोग करें अथवा निरर्थक गँवा दें । बुद्धिमत्ता का मापदण्ड यही नहीं है कि कितने क्या और कितना कमाया ? वास्तविक कसौटी यह है कि जो उपलब्ध था, उसका उपयोग करने में कितनी दूरदर्शिता का उपयोग किया गया । समय, श्रम, कौशल, अवसर, साधन आदि की अनुकूलता में कमी पड़ती हो, तो और जो कुछ हाथ में है, उसे सही रीति से सही कामो में खर्च कर लेने की बुद्धिमत्ता बनी रहने पर बहुत कुछ काम बन सकता है । इसके विपरीत साधनों की बहुलता रहने पर भी यदि उनका अपव्यय होता रहे, तो दुष्परिणाम ही पल्ले बँधेंगे ।

संसार में कुछ आकर्षण ऐसे हैं, जो अनायास ही अपनी ओर लुभाते, खींचते और इतना कसकर बाँधते हैं कि अभ्यस्त नशेबाजों की तरह उन आदतों को छोड़ना चाहने पर भी छुटकारा नहीं मिलता । अपराधियों के हाथ हथकड़ी से, पैर बेड़ी और कमर रस्से से कसकर बाँध दी जाती है । उस विवशता में बँधे हुए का समर्थ होना भी कुछ काम नहीं आता । जकड़ने वाले के इशारे पर ही उसे चुपचाप चलना पड़ता है ।

भव-बन्धनो की चर्चा आध्यात्मवादी प्रसंगों में आमतौर से होती रहती है । उनके कारण मिलते रहने वाले कष्टों को नरकोपम बताया जाता है । छुटकारा सूझ नहीं पड़ता । यदि उनसे किसी प्रकार त्राण मिल सके, तो उसे 'मुक्ति' कहा जाता है और जीवधारी का सबसे बड़ा सुयोग सौभाग्य माना जाता है । तत्वदर्शन, योगाभ्यास और धर्मधारणा का समूचा कलेवर एक ही काम के लिए विनिर्मित हुआ है कि उनकी प्रकाश-प्रेरणा के आलोक में भव-बन्धनों की, अवांछनीयता, दुरूहता को सही रूप में समझा जा सके और उनसे त्राण पाने के लिए वह प्रयत्न किया जा सके, जिसे परम पुरुषार्थ कहा जाता है ।

तीन भव-बन्धन हैं । हथकड़ी, बेड़ी और तौक की तरह । इन्हें तृष्णा, वासना और अहंता के नाम से जाना जाता है । इन्होंने जिसे जितने अंश में, जितनी कड़ाई के साथ बाँध रखा होगा, वह इस निमित्त बाधित होगा कि हेय जीवन जिए, निकृष्टता अपनाने पर सुनिश्चत रूप से सामने आने वाली दुर्गति का भागीदार बने, साथ ही इनकी जकड़न जो व्यस्तता और अभावग्रस्तता के रूप मे छाई रहती है, उसके कारण

ऐसा कुछ भी न कर सके, जिससे जीवन की सार्थकता सध सके ।

जीवन की वास्तविक आवश्यकताएँ तीन हैं— (१) निर्वाह साधन, (२) व्यक्तित्व का उदात्तीकरण, (३) पुण्य-परमार्थ की विभूतियों का अधिकाधिक संचालन सकलन । इन तीनों के लिए सन्तुलित रूप से चिन्तन और प्रयासरत रहा जाना चाहिए और इतनी तत्परता, तन्मयता सुसन्तुलित रीति से बरती जानी चाहिए कि किसी की भी कमी न पड़े, न किसी की उपेक्षा हो और न किसी के प्रति अतिवादी दृष्टिकोण अपनाया जाय ।

रोटी, कपड़ा और मकान शरीर निर्वाह की प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं । इनके लिए एक मापदण्ड रखा जाय कि औसत भारतीय स्तर का निर्वाह प्राप्त करके सन्तोष प्राप्त कर लिया जाय । अधिक उपयोग को विलासिता कहते है, वह अनैतिक है । सुख-साधनों की अधिकता से मनुष्य आलसी, प्रमादी, दुर्गुणी, अपव्ययी, दुर्व्यसनी बनता है, अहंकार से लदता है, ईर्ष्या को आमन्त्रित करता है । मित्र, स्वजन उस सग्रह से लाभान्वित होना चाहते है, न देने पर शत्रु बनते हैं । जिनके उत्तराधिकार मे धन मिलता है, वे समय से पहले ही दुर्गुणी बन जाते है । अतिवाद अपनाने पर हर क्षेत्र मे विपत्तियाँ आती है । अधिक मात्रा में खाया हुआ भोजन पेट मे दर्द करता है । अधिक विलासी अपनी जीवनी शक्ति गँवा बैठते है । उद्धत आचरण वालो को प्रतिबन्धित करने के लिए प्रकृति की व्यवस्था प्रतिशोध लेकर अड़ जाती है । निर्वाह के लिए धन कमाने और साधन जुटाने की आवश्यकता पडती है, वह किया जाना चाहिए, पर उसमे औचित्य का समुचित समावेश रहना चाहिए । ईमानदारी से परिश्रमपूर्वक कमाया जाय और उस सादगी के साथ गुजारा किया जाय, जिस पर उच्च विचार का अवलम्बन निर्धारित रहता है, जिसे सज्जनता और शालीनता का प्रतीक माना जाता है । अनावश्यक सचय की ललक तृष्णा कहलाती है । वह अपने लिए तो भारभूत बनती है । सम्पर्क क्षेत्र मे भी अनेक प्रकार के विष-बीजो की फसल उगाती है ।

व्यवसाय चलाने के लिए अभीष्ट पूँजी की आवश्यकता हो सकती है, पर उसे ट्रस्ट की तरह नियत उद्देश्य की पूर्ति के लिए सुरक्षित रखा जाय । उन साधनों में से किसी को भी किसी प्रकार के अपव्यय का अधिकार न हो । निर्वाह मे सादगी का समावेश किए रहने पर औसत नागरिक स्तर का निर्वाह अपनाना पड़ता है । इतनी व्यवस्था ईमानदारी को भी बनाये रहती है और उसके लिए थोड़े समय की तत्परता, तन्मयता ही आवश्यक साधन जुटा देती है । इतना बन पड़े, तो औचित्य को सुरक्षित रखा गया और जीवन के उच्च उद्देश्यों की पूर्ति के समुचित अवसर, अवकाश मिलने का सुयोग बन गया ऐसा समझा जाना चाहिए ।

तृष्णा ही है जो लोभ, लालच को अनिवादी स्तर तक ले पहुँचती है । विलासिता और अहता के दुर्गुण उसके कारण बढ़ते है और अनावश्यक राग-द्वेष के अवांछनीय झझट खडे होते है । आवश्यकता से अधिक उपार्जन बन पड़ता हो, तो उसे हाथों-हाथ सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन के पुण्य-परमार्थ मे लगा दिया जाना चाहिए । व्यक्तिगत स्तर पर अनावश्यक पूँजी का सग्रह आध्यात्मवादी, साम्यवादी, गाँधीवादी किसी भी कसौटी पर सही नहीं बैठता । धन की बहुलता के कारण ही ऐसी महत्त्वाकांक्षाएँ भड़कती हैं, जिनके कारण अनाचार अपनाना पड़ता है, अपराधी स्तर की गतिविधियो में हाथ डालना पड़ता है, अपनी तथा दूसरों की आँखो मे भर्त्सना का पात्र बनना पड़ता है । अच्छा हो, इस विडम्बना से बचा जाय । स्वजन, सम्बन्धी बनकर सज्जनोचित जीवन जीया जाय । इस नीति को अपनाने पर इतना श्रम, साधन, समय और कौशल सरलतापूर्वक बचा रहता है, जिसे जीवनोद्देश्य की पूर्ति के लिए नितान्त आवश्यक अन्य प्रयोजनो मे लगाया जा सकता है । गुण, कर्म, स्वभाव मे मानवी-गरिमा के अनुरूप उत्कृष्टता, आदर्शवादिता का समावेश करते हुए इस प्रकार रहने का अभ्यास किया जाय, जिसमे मनुष्य की काया मे देवता का निवास प्रत्यक्ष हुआ परिलक्षित होता हो इसी मे मनुष्य की शान है । पुण्य-परमार्थ की दिशा मे कुछ महत्त्वपूर्ण कदम बढा सकना भी ऐसे ही लोगो के लिए सम्भव होता है, जो लालच के महाभारत द्वारा अपनी क्षमता को गँवा दिए जाने से बुद्धिमत्तापूर्वक बचा लेते है, अन्यथा औसत आदमी धन की रट लगाते हुए ही जाता है और उसी की प्यास से मृगतृष्णा वाले अशान्त हिरन की तरह अशान्त,

उद्विग्न मनःस्थिति में प्राण त्यागता है । लोभ की कोई सीमा नहीं । वह आग में ईंधन डालने की तरह जितना हस्तगत होता है, उसी अनुपात से और अधिक पाने की इच्छा से उद्वेलित होता रहता है । यह प्यास ऐसी है, जो कभी बुझती ही नहीं । आवश्यकताएँ जुट सकती हैं, पर तृष्णाओं, महत्त्वाकांक्षाओं का कहीं अन्त नहीं । उसे रावण, हिरण्यकश्यप सरीखे सन्तोष दे सकने जितनी मात्रा में अर्जित न कर सके, फिर सामान्य मनुष्यों की तो बात ही क्या ?

दूसरा आकर्षण है—कामुकता । शारीरिक, मानसिक और सामाजिक दृष्टि से इसकी न्यूनतम आवश्यकता है । पशुओं में मादा की गर्भधारण क्षमता का आह्वान ही नर को उस प्रकृति प्रेरणा को पूरा करने के लिए उत्साहित करता है, अन्यथा नर-मादा बिना किसी छेड़-छाड़ के साथ-साथ रहते और सामान्य जीवन बिताते हैं । मात्र मनुष्य ही कामुकता के उद्वेग से ग्रसित पाया जाता है । उसके चिन्तन और प्रयासों का अधिकांश समय इसी निमित्त बहुत बड़ी मात्रा में खर्च हो जाता है । विवाह का उद्देश्य इतना भर है कि दो विशिष्ट क्षमताओं वाले प्राणी मिलजुल कर पारस्परिक प्रगति और समाज को समुन्नत बनाने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान करें । इनमें कामुकता के लिए तो राई-रत्ती ही स्थान बचता है । दो भाई या दो बहिनें जिस प्रकार आत्मभाव और सहयोगपूर्वक रह लेते है, उसी प्रकार पति-पत्नी को भी जीवन के अनेक पक्षों में एक-दूसरे का सहयोगी बनकर श्रेष्ठता-सशक्तता के सम्वर्धन में सहभागी बनकर रहना चाहिए । इसके लिए काम क्रीड़ा का सात्विक मनोरंजन ही क्षम्य है । जीवनी शक्ति को निचोड़ते रहना तो एक प्रकार का अनर्थ है । इसमें दोनों के शरीर खोखले होते है । बीमारियों का प्रकोप चढ़ दौड़ता है । आयुष्य घटती है । सबसे बड़ी बुराई है—जनसंख्या का अभिवर्धन । यह आज की परिस्थितियों को देखते हुए एक प्रकार का अभिशाप, अक्षम्य समाज द्रोह है । जननी की काया तो छूछ होकर रह जाती है पिता पर बे-हिसाब आर्थिक भार लदता है । परिवार की सुविधाओं में कटौती करने वाले नये भागीदार आ जाते है । समुचित पालन-पोषण एवं शिक्षा सुविधा के अभाव मे बालक अविकसित, अनगढ़ रह जाते है । उनका भविष्य अंधकारमय बनता है । इन सब कारणों को देखते हुए इन दिनों नया सन्तानोत्पादन एक प्रकार से अनर्थ को आमन्त्रण देना है ।

विवाह की उपयोगिता समझी जा सकती है । यह दो घटकों की मैत्री है । सच्ची मित्रता दोनों पक्षों के लिए लाभदायक होती है, पर यदि विवाह को कामुकता की पूर्ति का आधार मानकर चला जाय, तो फिर यह प्रत्यक्षतः शत्रुता का बर्ताव ही होगा ।

इस घोर महँगाई और वस्तुओं की कमी के जमाने में बच्चे उत्पन्न करना अपने सिर पर इतना भार लादना है, जिसके कारण उच्च उद्देश्यों की पूर्ति अथवा लोक साधना जैसे लक्ष्य पूर्ति के प्रसंगों की पूर्ति तो एक प्रकार से दुरूह ही हो जाती है । परिवार का अनावश्यक भार, दायित्व और व्यामोह मिलकर इतना बड़ा जाल-जंजाल खड़ा करते हैं कि उस भार का वहन करते हुए इन प्रयासों में हाथ डालना नितान्त कठिन हो जाता है, जिनके ऊपर कि जीवन की सार्थकता अवलम्बित है ।

तीसरा पिशाच है—अहंकार । उद्धत प्रदर्शन, बड़प्पन । अपनी विशेषता या वलिष्ठता का ढिंढोरा पीटना, यह मानसिक उन्माद है । दूसरों पर बड़प्पन की छाप छोड़ने के लिए न जाने क्या-क्या लोग सोचते हैं और अपने लिए न जाने कितनी बड़ी उपलब्धि प्राप्त होने का सपना सँजोते है, पर वस्तुतः है यह परले सिरे की मूर्खता । हर व्यक्ति अपने काम-काज में इतना व्यस्त है कि किसी को किसी के बड़प्पन या छोटेपन से कुछ लेना-देना नहीं है । हर स्तर के असंख्य व्यक्ति समाज में भरे पड़े हैं । इनमें कुछ विशिष्टता सम्पन्न भी है, पर जब तक किसी को किसी से खास लगाव न हो, तब तक कोई किसी के यश-अपयश से क्यों प्रभावित होगा ? कुछ देर चमत्कार, कौतुक-सा लगेगा तो वह दूसरे ही क्षण समाप्त हो जाता है । अपनी आवश्यक बातें तो ध्यान में रहती ही नहीं, फिर दूसरों के बड़प्पन को कोई क्यों और कितनी देर स्मरण में रखेगा ?

भ्रान्तियों में यह परले सिरे की विडम्बना है कि लोग दूसरों पर अपनी विशिष्टता का रोब गाँठने का प्रयत्न करें । सौन्दर्य, शृंगार-प्रदर्शन प्राय इसी निमित्त होता है । ठाट-बाट इसीलिए सँजोये जाते है । धूमधाम भरे अपव्ययों के सरंजाम इसीलिए जुटाये जाते

हैं । इन्हें कौतुक के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता । यह रामलीला के खेल-मैदान में हनुमान की रस्सी वाली पूँछ कमर में बाँधकर उछलना भर है । लोग कौतुक का मनोरंजन भर करते हैं, पर न बड़प्पन स्वीकार करते हैं और न प्रभावित होते हैं । कई इसी प्रयोजन के लिए नाम छपाने, फोटो छपाने आदि के फेर में रहते हैं, जादूगरों जैसी उलझनों में डालने वाली भ्रान्तियाँ प्रस्तुत करते हैं, पर इनका अन्त कुछ नहीं, परिणाम कुछ नहीं । यह फूहड़पन के—बचकानेपन के अतिरिक्त और कुछ है नहीं । शेखी खोर—अहंकारी प्रायः मिथ्या प्रपंच रचते, अपनी आदतों से नीचे गिरते और दूसरों के सम्मुख उपहासास्पद बनते रहते हैं । इसी व्यर्थ के जाल-जंजाल में प्रायः कितनों का ही समय एवं शक्ति इतनी अधिक मात्रा में खर्च हो जाती है कि ठोस काम करने के लिए उनके पास कुछ बचता ही नहीं । नेता बनने, अभिनेता बनने की ललक उन्हें भ्रमाती, बहकाती, बहुमूल्य शक्ति-सामर्थ्य को बर्बाद करती रहती है ।

पैसे की तृष्णा, कामुकता की लिप्सा, अहंता की विडम्बना रचने में ही जीवन का रस निचुड़ जाता है । समय, श्रम, चिन्तन, कौशल, साधन आदि की बहुमूल्य सम्पदा इन्हीं कौतूहलों में बर्बाद हो जाती है । जन्म से लेकर मरणपर्यन्त, निर्वाह से लेकर उपरोक्त तीन उद्योगों की ललक में ही, भूल-भूलैयों में भ्रमित फिरने वाले बहके प्राणी की तरह अपने को चलाते, सड़ाते और जलाते रहते हैं । इन प्रपंचों को एक प्रकार की आत्महत्या कहा गया है । यह अपना घर जलाकर तमाशा देखने के सदृश्य है । कुत्ते द्वारा सूखी हड्डी चबाकर अपने छिले जबड़े से टपकने वाले लहू को चाटकर अधिक आनन्द लिए जाने की मान्यता की तरह इस प्रपंच में हानि-ही-हानि है, जबकि प्रतीत उसमें लाभ-ही-लाभ हस्तगत हुआ लगता है ।

इन तीन भव-बन्धनों को जो जितना हल्का कर लेता है, उसके लिए उसी अनुपात में वह कर सकना सम्भव होता है, जिसके आधार पर जीवन की सफलता का तारतम्य बैठता है । निर्वाह सरल है, उसे असमर्थ स्तर के प्रतीत होने वाले प्राणी भी प्रकृति-प्रेरणा से सरलतापूर्वक सम्पन्न कर लेते हैं । भूखे उठते तो सभी हैं, पर सोता कोई नहीं । प्रकृति ने ऐसी व्यवस्था सभी जीव-जन्तुओं के लिए बना रखी है, पर ऐसी विलक्षण शरीर संरचना वाला मनुष्य मात्र शरीर सुख तक सीमित साधनों को लुटाता रहे इससे बड़ी विडम्बना क्या हो सकती है ? जीवन के महान प्रयोजनों की पूर्ति के लिए व्यक्तित्व को परिष्कृत एवं प्रतिभा सम्पन्न बनाना पड़ता है, साथ ही सेवा-साधना से अनिवार्य रूप से जोड़ना पड़ता है । इस लक्ष्य पूर्ति में वही सफल हो पाते हैं जो वासना, तृष्णा और अहंता के भव-बन्धनों से छुटकारा पाने को आवश्यक समझते और उसके लिए प्राण-पण से जुटाने का प्रयत्न करते हैं । उपासना, साधना, आराधना के त्रिविध स्वरूप इन तीन भव-बन्धनों से मुक्ति के निमित्त ही मनीषियों द्वारा सुझाये गए हैं । उपासना द्वारा वासना को, साधन द्वारा तृष्णा को तथा आराधना द्वारा अहंता को गलाया व स्वयं को मानवी गरिमा के अनुरूप जीवन जीने वाला बनाया जा सकता है । इसी में मनुष्य का कल्याण है व यही इसका चरम लक्ष्य भी होना चाहिए ।

## आत्म-परिष्कार से परब्रह्म की प्राप्ति

राजा जनक ने महर्षि याज्ञवल्क्य से पूछा—भगवन् यदि आपने-अपने जीवन में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें सुनी हों तो कृपा कर उनका सारांश मुझे बता दीजिए ।

उन्होंने स्मरण करके पाँच अति महत्त्वपूर्ण बातें बताईं और कहा—राजन् मै इन्हीं तथ्यों को आधार मानकर चला हूँ तुम भी यदि इन्हें ध्यानपूर्वक सुनो और हृदयंगम करो तो कृतार्थ हो सकते हो ।

महर्षि ने बताया आचार्य शैक्तानि ने उन्हें एक बार उपदेश दिया था कि—'वाक् ब्रह्म है । वाक् आयतन है । वाक् की प्रतिष्ठा का आधार आकाश है ।' अर्थात् यह वाणी परमात्मा का स्वरूप है । यह समस्त संसार वाणी से प्रभावित होता है । जो कुछ इस संसार में दिखाई पड़ता है—वाणी का प्रभाव है ।

शब्दों को नाप-तोल कर सारगर्भित आधार पर अपने और दूसरों के कल्याण के लिए बोला जाय तो उसे परमात्मा की ओर चलने में प्रगति होती है । मन्त्रों के आधीन देवता है और वे देवता उस ब्राह्मण के आधीन हैं जो एक-एक शब्द को मन्त्र समझकर

श्रेष्ठतम सदुपयोग के लिए बोलते हैं । अपने शत्रु-मित्र इस वाणी के आधार पर ही घटते-बढ़ते हैं । निर्माण और विनाश की—उत्कर्ष और अपकर्ष की सम्भावना वाक् कौशल पर निर्भर रहती है । यही वाणी अपनों को पराया बना देती है और परायों को अपना कर लेती है । वाक् मे मधुरता, नम्रता, सज्जनता और हित परायणता घुली हुई हो तो उससे बोलने वाले का सम्मान बढ़ता है और प्रभाव । परिष्कृत वाणी से यह सारा संसार तरंगित होता है और अशुभ की शुभ में परिणति सम्भव हो जाती है । वाणी की पवित्रता अन्तःकरण को पवित्र करती है उससे यह सारा विश्व पवित्र होता है । सो वह वाक् ही ब्रह्म है ।

राजा जनक ने पूछा और कुछ आपने ऐसा ही सारगर्भित सुना हो तो उसे भी कहिए ।

याज्ञवल्क्य ने कहा—दूसरा ऐसा ही उपदेश मुझे आचार्य शल्ययान ने दिया था । उन्होंने कहा था—यह प्राण ब्रह्म है । प्राण के भीतर सब कुछ भरा है । आकाश में उसी की प्रतिष्ठा है । अर्थात् साहस रूपी प्राण के द्वारा भौतिक पदार्थों से लेकर परम आत्म-तत्व ब्रह्म तक की प्राप्ति हो सकती है । यह संसार प्राण के कारण ही जन्मा और गतिशील है । यहाँ सब कुछ प्राण से ही ओत-प्रोत है । प्राण के बिना जो शेष रह जाता है वह शून्य या अन्धकार रहता है । इस संसार में उसी की प्रतिष्ठा है जो प्राणवान है । जो सुन्दर और सक्रिय दीखता है वह प्राण ही है । यदि वह न रहे तो यहाँ कुरूपता और नीरवता के अतिरिक्त और कुछ दिखाई न देगा । देखने लायक केवल प्राण है । जो कुछ आकर्षक है उसे प्राण का प्रभाव ही कहना चाहिए ।

विभूतियों और सिद्धियों का आधार वह प्राण ही है जिसे जीवन के रूप में देखा जाता है, उसी को बल-पुरुषार्थ या पराक्रम कहते हैं । प्रयत्नों और उपंगों के अन्तरंग में जो कुछ समर्थ दीख पड़ता है—उसे साहस कहते हैं । यह प्राण ही विभिन्न प्रवृत्तियों के रूप में पुरुषार्थ बनकर परिलक्षित होता है । इस क्षमता से रहित होने पर इस संसार में सब कुछ होने पर भी—कुछ मिलता नहीं है । निष्प्राण मनुष्य मृतक ही है । जिसमें साहस नहीं उसे भी मृतक ही कहना चाहिए । जो जीवन रूपी संघर्ष में अड़ा-खड़ा रहता है और कठिनाइयों को परास्त करने के लिए पराक्रम दिखाता है, उससे साहस रूपी प्राण की ही प्रतिष्ठा होती है । प्राणवान को ही लोक चाहता है और उसी का साथ देता तथा सहयोग करता है । मनुष्य का वैभव और आकर्षण उसके प्राण शक्ति के आधार पर घटता-बढ़ता रहता है । ब्रह्म की प्राप्ति परम पुरुषार्थ है इसे आत्मबल सम्पन्न लोग ही प्राप्त करते हैं । भौतिक सिद्धियाँ भी मनोबल सम्पन्नों को ही मिलती हैं । सो इस संसार तथा जीवन का सार इस प्राण रूपी साहस को ही समझना चाहिए ।

जनक ने फिर पूछा—भगवन् ऐसा ही श्रेयस्कर उपदेश आपने कहीं अन्यत्र सुना हो तो कृपा कर उसे भी मुझे बता दीजिए ।

याज्ञवल्क्य बोले—राजन् एक बार ऐसी ही महत्वपूर्ण शिक्षा मुझे आचार्य वकर्णाष्ण द्वारा प्राप्त हुई थी—उन्होंने कहा था—यह चक्षु ब्रह्म है । इस विश्व में चक्षु का ही आयतन है और इस आकाश में चक्षु की ही प्रतिष्ठा है । अर्थात् जो देखा जाता है, वही हमें प्रभावित करता है । जिसे हम देखते हैं वही प्रकाशित करता है । देखने से वस्तुओं का रूप बदल जाता है और दृष्टिपात से कुरूप से सौन्दर्य और निर्जीव से जीवन उत्पन्न होता है । यह संसार हमारी दृष्टि की ही प्रतिक्रिया है । जो कुछ सम्मानित होता है वह दृष्टिकोण ही है । देखने से श्रेष्ठ में निकृष्टता पैदा होती है और निकृष्ट श्रेष्ठ बन जाता है । दृष्टि ही प्रकाशवान सूर्य है और शान्तिदायक चन्द्रमा । सो इन चक्षुओं को ब्रह्म ही मानना चाहिए ।

इस संसार की सभी वस्तुएँ पंच तत्वों से बनी होने के कारण निर्जीव हैं । न वे कुरूप हैं न सुन्दर, न उनका उपयोग है न महत्व । उन पदार्थों में सौन्दर्य उत्पन्न करने और उन्हें आकर्षक, उपयोगी बनाने का श्रेय अपने दृष्टिकोण का ही है । जिनके गुण ढूँढ़े जाते हैं वह गुणवान प्रतीत होता है और जिसके दोष निहारने लगें वही अनुपयुक्त एवं घृणास्पद लगता है । इन आँखों से संसार में जो श्रेष्ठ है उसी को देखें, समझें तो श्रेष्ठता बढ़ती जाती है संसार सुन्दर लगता है । पर यदि निकृष्ट को देखने में रुचि हो तो अपनी निकृष्टता बढ़ेगी साथ ही यहाँ घुटन उत्पन्न करने वाला दुरित ही सर्वत्र फैला प्रतीत होगा । प्रतिष्ठा उसकी है जो प्यार और आत्मभाव की

दृष्टि से देखना चाहते हैं, जिन आँखों में करुणा, दया, क्षमा और पवित्रता दमकती रहती है वे किसी को भी प्रभावित कर सकती हैं । भावपूर्ण दृष्टिपात से सब कुछ सुखद प्रतीत होता है । यदि नेत्र न हों तो सर्वत्र अन्धकार ही है तब समस्त संसार का स्वरूप ही अन्त हो जायेगा इसलिए इन नेत्रों को सूर्य चन्द्र भी कहते हैं । वे ही ब्रह्म भी हैं ।

राजा की उत्सुकता बढ़ती गई उन्होंने अधीर होकर फिर पूछा—ऋषिवर, ऐसा ही मार्मिक प्रवचन आपने किसी और तत्वज्ञानी से सुना हो तो उसे भी मुझ पर प्रकट करने का अनुग्रह कीजिए ।

महर्षि को एक और प्रसंग स्मरण आया और उन्होंने कहा—जनक, एक बार ऐसा ही उपदेश मुझे आचार्य दिपीन भारद्वाज ने दिया था । उन्होंने कहा था—यह श्रोत्र ही ब्रह्म हैं । कानों का ही इस विश्व में आयतन है, कर्ण की ही प्रतिष्ठा है । यह आकाश श्रोत्रि में आच्छादित हो रहा है । अर्थात् जिस स्तर के शब्द हम सुनते हैं वैसे ही भाव उत्पन्न होते हैं वैसी ही प्रकृति बनती है और वैसे ही कर्म करना आरम्भ हो जाता है । इस संसार में सभी प्रकार के भले-बुरे शब्दों का प्रवाह बहता रहता है । उनमें से जिसकी कर्णेन्द्रिय श्रेय साधक वचनों का चयन करती है, मंगलमय बातों को ही ग्रहण करती है उसे ब्रह्म की समीपता प्राप्त कराने वाला प्रकाश मिलता है । जो किसी के कहे अशुभ वचनों को ही याद रखते हैं । पतन की ओर आकर्षित करने वाले शब्दों में रस लेते हैं, रुचि रखते है । उनके लिए वे शब्द ही विघातक बन जाते हैं । जो श्रेष्ठ ही सुनता है सो प्रतिष्ठित होता है । यह आकाश सद्वाक्यों का श्रवण करके सन्मार्ग अपनाने वालों की गरिमा से ही भरा पड़ा है । सो श्रेष्ठता उत्पन्न करने वाले सद्वचन सुनने के अभ्यस्त यह कर्ण ही ब्रह्म हैं ।

जनक की जिज्ञासा बढ़ती गई । उन्होंने फिर इसी प्रकार पूछा और याज्ञवल्क्य को एक और घटना स्मरण आयी जिसकी चर्चा करते हुए उन्होंने कहा—तात, एक बार ऐसा ही ज्ञान मुझे आचार्य सत्यकाम जाबाल से मिला था—उन्होंने मुझे बताया था—यह मन ही ब्रह्म है । यह संसार मन का ही आयतन है । यहाँ मन की ही प्रतिष्ठा है । अर्थात् मन की मान्यताओं के अनुरूप पदार्थों तथा व्यक्तियों का महत्त्व घटता-बढ़ता है । मन में जो इच्छा होती है उसी के अनुरूप चिन्तन तथा पुरुषार्थ चल पड़ता है और उसी दिशा में प्रगति सम्भव कराने वाले साधन मिलते चले जाते है । मन से इच्छा उत्पन्न होती है । इच्छाएँ दिशा बनाती ही हैं और उस दिशा का अवलम्बन करके व्यक्ति अपनी रुचिकर स्थिति को प्राप्त कर लेता है ।

मनोबल की प्रबलता से कठिनाइयाँ सरल हो जाती हैं और मन में शिथिलता आने से राई जैसी बात पहाड़ जैसी भारी हो जाती है । मन जैसा चाहता है वैसा ही सामने रहता है, जो चाहना की परिधि में नहीं आता वह आँख से ओझल ही बना रहता है । मन जिसे चाहता है वह प्रिय लगता है और जो मन से उतर गया उसकी न सूरत सुहाती है न चर्चा । यहाँ कुछ भी न प्रिय है न अप्रिय, जिस पर मन छा जाता है वही सुन्दर लगता है, वही श्रेष्ठ, वही काम्य, मन की उत्कृष्टता ही व्यक्ति को ऊँचा उठाती है और उसी के आधार पर सम्मान मिलता है । जो कुछ इस संसार में दीखता और सुहाता है वह अपना मन ही है । मन का विस्तार ही इस आकाश में विस्तृत हो रहा है । इसलिए यह मन ही ब्रह्म है । मन ही अपने शुद्ध स्वरूप में विकसित होकर ब्रह्म बन जाता हैं ।

इतनी ज्ञानवर्धक शिक्षा सुनकर राजा जनक की उत्कण्ठा मे और उभार आया और उन्होंने विनीत होकर पूछा—भगवान उपलब्ध समस्त उपदेशों में आपने जो सर्वश्रेष्ठ सुना हो उसे और मुझे बता दीजिए । इतना सुनकर ही मैं तृप्त हो जाऊँगा—आगे आपको अधिक कष्ट न दूँगा ।

महर्षि याज्ञवल्क्य जनक की जिज्ञासा भरी उत्कण्ठा से बहुत प्रभावित हुए और उनके प्रसंग को समाप्त करते हुए बताया—राजन्, मुझे आचार्य विदग्ध शाकल्य का उपदेश सर्वश्रेष्ठ लगा । उन्होंने कहा था—हृदय ही ब्रह्म है । इस आकाश मे हृदय का आयतन भरा पड़ा है ।

हृदय को ईश्वर का मन्दिर और आत्मा का निवास कहा गया है । धड़कने वाली रक्त की थैली को नहीं अन्तःकरण को आध्यात्म की भाषा में हृदय कहा गया है । हृदय अर्थात् वह सूक्ष्म मर्मस्थल जहाँ उच्च आदर्शों की श्रद्धा विराजमान रहती है । जहाँ बैठा हुआ

परमेश्वर सद्गुरु के रूप में उचित-अनुचित का बोध कराता रहता है, और कुमार्ग से बचाने वाले सन्मार्ग पर चलने का संकेत करता रहता है । हृदय अर्थात् आस्थाओं का वह केन्द्र जहाँ केवल सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों के हिमालय से निकलने वाली गंगा-यमुना की तरह दो धारायें अविच्छिन्न रूप से बहती रहती हैं । हृदय अर्थात् प्रेरणा का वह स्रोत जहाँ कर्तव्य पर आरूढ़ रहने की दृढ़ता और विश्वमानव के चरणों पर समर्पण उमँगा रहता है ।

जिसका हृदय पवित्र है उसे अपवित्रता छू तक नहीं सकती । जिसका हृदय श्रद्धा से परिपूर्ण है उसके लिए इस विश्व उपवन की शोभा नन्दनवन से अधिक है । जिसने अपने हृदय को टटोला उसे ऋद्धि-सिद्धियों का भरा पूरा रत्न भण्डार उसी के भीतर समाया मिल गया, जिसने हृदय को झाँका उसने उसी में आत्म-साक्षात्कार का आनन्द लिया और प्रभु दर्शन का भी । स्वर्ग और मुक्ति का द्वार मनुष्य का हृदय ही है । जो हृदय की महिमा समझने और उसे समर्थ बनाने में लग गया उसने जीवन लक्ष्य को प्राप्त कर लिया । जो हृदय का अनुयायी है समस्त संसार उसी का अनुगमन करता है । यह आकाश हृदय की उपलब्धियों से ही गुंजित-प्रतिध्वनित हो रहा है । संसार में अमर और अमिट प्रतिष्ठा उन्हें मिली जिन्होंने अपने हृदय को विशाल बनाया और उसकी प्रेरणा से अपनी गतिविधियाँ निर्धारित कीं । अस्तु हृदय ही ब्रह्म है । शतपथ ब्राह्मण १०।१२६।४ में—"हृदि प्रतिप्याकवयो मनीषा" वाक्य में यह कहा गया है कि—प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का केन्द्र बिन्दु हृदय ही है । जीवन का स्वरूप निर्धारण करने का सारा श्रेय हृदय को ही है । वह जिस दिशा में उन्मुख होता है, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार से लेकर—दशों इन्द्रियों तक सारे साधनों समेत व्यक्तित्व का प्रवाह उसी दिशा मे चल पड़ता है । इस मर्म स्थान मे यदि असुरता का प्रवेश हो जाय तो मनुष्य की पिशाच प्रवृत्ति में कमी नहीं रहती और यदि वहाँ भगवान की प्रतिष्ठा यथावत् बनी रहे तो मनुष्य को देवता बनने मे देर नहीं लगती । जिसका हृदय सुप्त स्थिति में पड़ा है वह बहुत सोचते और बहुत करते हुए भी कोल्हू के बैल की तरह निरर्थक विडम्बनाओं में उलझा हुआ जीवन के दिन काटता रहता है ।

हृदय का महत्त्व और स्थान सर्वोपरि है । उत्कृष्टता के प्रति श्रद्धा, आदर्शों के प्रति निष्ठा का उद्‌गम हृदय है । इस हृदय को निर्मल और परिष्कृत बनाने वाला पूर्णता को प्राप्त करता है । वही मनुष्य आत्मा-परमात्मा का दर्शन करने और परब्रह्म को प्राप्त करने में सफल होता है ।

## आत्मा, महात्मा और परमात्मा का विकास क्रम

महात्मा वह है जिसके सामान्य शरीर में असामान्य आत्मा निवास करती है । काया की वेशभूषा और चित्र-विचित्र आवरणों का धारण महात्मा होने का न तो आधार है और न लक्षण । सामान्य वेष और सामान्य रहन-सहन के बीच आत्मा के स्तर तक पहुँचाया जाना सम्भव है और पहुँचाया जाता भी रहा है ।

मर्यादाओं से आबद्ध रह कर नागरिक कर्तव्यों का पालन करते रहना उद्धत आचरणों से बचना, शील और सौजन्य को निबाहना यह मनुष्यता का आवश्यक उत्तरदायित्व है । जिन्होंने अपने भीतर आत्मा को समझा है और उसकी गौरव गरिमा को ध्यान में रखा है, उसे संयम, सदाचार और कर्तव्यनिष्ठा से जुड़ा हुआ शालीन जीवन जीना ही पड़ेगा ।

महात्मा की गरिमा इससे अगली मंजिल है । महान का अर्थ है विशाल व्यापक । जो आत्मा अपने शारीरिक, मानसिक और पारिवारिक कर्तव्यों से आगे बढ़कर विश्व मानव के उत्तरदायित्वों को वहन करने के लिए अग्रसर होती है, मानवीय कर्तव्यों से आगे के देव कर्तव्यों को वहन करने के लिए तत्पर होती है वह महात्मा है । महात्मा अपने लिए नहीं सोचता, विराट के लिए सोचता है, अपने लिए नहीं करता, विराट् के लिए करता है, अपने लिए जीवित नही रहता, विराट के लिए जीता है ।

अपना शरीर हर छिद्र से मलीनता निस्रत करता है, पर इसलिए कौन उसे घृणास्पद और त्याज्य ठहराता है कि इनमें गन्दगी विद्यमान है । घृणा की आवश्यकता नहीं समझी जाती और शरीर को स्वच्छ करने पर ही ध्यान रहता है । अपनी ही तरह दूसरों की विविध मलीनताओं के रहते जो हेय, घृणास्पद, पतित और

त्याज्य नहीं ठहराता वरन् अपनी सहज ममता से प्रेरित होकर उसे निर्मल बनाने का श्रम करता है, वह महात्मा है । अपना छोटा बच्चा दिनभर गलती करता रहता है, उसका बहिष्कार नहीं करते और देख-भाल, डाँट-डपट, तोड़-फोड़ के अवसरों की रोकथाम करके जितना सम्भव होता है उस क्षति का बचाव करते हैं । इस पर भी जो हानि होती रहती है उसे सहन करते हैं । छोटे बालकों और अभिभावकों के बीच यह चिर अतीत से चला आ रहा है । दिग्भ्रान्त जन समाज के अनाचरणों के प्रति आक्रोश उत्पन्न किए बिना जो धैर्य और शान्तिपूर्वक विग्रह की रोकथाम पर ध्यान देता है उस उदारमना व्यक्ति को महात्मा कहना चाहिए ।

हम अपने और अपने प्रियजनों के दुःखों से दुःखी होते हैं । इस क्षेत्र में सुख सम्वर्धन का प्रयत्न करते हैं । हमें अपना सुख, यश, वैभव, उत्कर्ष प्रिय लगता है और जिन्हें अपना समझते हैं उन्हें भी इसी सुखद स्थिति में रखने के लिए प्रयत्न करते हैं, यह परिधि जब बड़ी हो जाती है और प्यार-दुलार का, ममता-आत्मीयता का क्षेत्र बढ़ जाता है तो वैसी ही अनुभूति हर किसी के साथ जुड़ जाती है । दूसरों का कष्ट अपना कष्ट लगता है; अपने को सुखी बनाने के लिए जिस प्रकार अपना स्वभाव और चिन्तन सक्रिय रहता है वैसी ही सक्रियता यदि जन साधारण के लिए विकसित हो चले तो समझना चाहिए कि आत्मा ने महात्मा का रूप धारण कर लिया । परायों में जब अपनापन प्रतिभासित होने लगे तो समझना चाहिए कि दिव्य नेत्र खुल गए । जिसका अहन्ता ग्रीष्म की हिम बनकर पिघल जाय, जो पवन जैसा सक्रिय और आकाश जैसा शान्त दिखाई पड़े समझना चाहिए यह महात्मा का ही विग्रह है ।

जब तक स्व, पर का ऊहा-पोह चलता रहता है तब तक आत्मा और महात्मा का प्रेम-प्रसंग, आदान-प्रदान, परिहास, मनुहार चल रहा समझा जाना चाहिए । जब द्वैत की समाप्ति हो जाय और केवल एक ही शेष रहे स्व, पर का अन्तर सोचने की गुंजाइश ही न रहे तब समझना चाहिए उसी काय कलेवर में परमात्मा का अवतार हो गया ।

## समग्र आध्यात्म : प्रेम, ज्ञान और बल का समन्वय

आध्यात्म की त्रिवेणी तीन धाराओं में प्रवाहित होती है (१) प्रेम, (२) ज्ञान, (३) बल । इन तीनों का सन्तुलित अभिवर्धन करने से ही कोई समग्र आध्यात्मवादी हो सकता है ।

प्रेम हमारे अन्तःकरण का अमृत है । जिस प्रकार हम अपने स्वार्थ, सुख, यश, वैभव और उत्सर्ग को चाहते हैं उसी प्रकार दूसरों के लिए भी चाहना उठने लगे तो उसे प्रेम का प्रकाश कहना चाहिए । अपनापन ही सबसे अधिक प्रिय है । अपने शरीर मन, यश, सुख की चाहना रहती है । यह अपना आपा जितना विस्तृत होता चलेगा वह उतना ही प्रिय लगेगा और उसे सुखी समुन्नत बनाने की उतनी ही तीव्र उत्कण्ठा उठेगी । अपना परिवार जिस तरह प्यारा लगता है उसी तरह यह आत्मीयता की परिधि विस्तृत होती जाती है और अपना 'प्रिय' क्षेत्र बढ़ता चला जाता है । उसके लिए सेवा सहायता करने की इच्छा होती है और सत्कर्म ही बनते है । अपनों के साथ दुष्टता कौन करता है । प्रेम भावना की वृद्धि मन में से सभी दुष्प्रवृत्तियों को हटा देती है और मनुष्य सज्जन और सच्चरित्र एवं सहृदय बनता चला जाता है । प्रेम असख्य सद्गुणों का स्रोत है इसलिए उसे आध्यात्म का प्रथम चरण माना गया है ।

दूसरा घटक है—ज्ञान । यथार्थ को समझना ही सत्य है । इसी को विवेक कहते हैं । जीवन के लक्ष्य को हम भूल जाते हैं । आत्मकल्याण की बात विस्मृत हो जाती है और कर्तव्य धर्म का पालन करने की गरिमा समझ में नहीं आती । इन्द्रियों की वासना और मन की तृष्णा पूरी करने के लिए—अहंकार की पूर्ति के लिए निरर्थक कार्य करते हुए जीवन बीत जाता है और पाप की गठरी सिर पर लद जाती है । यह सब अज्ञान का फल है । अपने को शरीर नहीं आत्मा मानकर चलें । आत्मकल्याण की दृष्टि से जीवन क्रम निर्धारित करें और वासना, तृष्णा को अनियन्त्रित न होने दें । अहंकार के स्थान पर आत्मबल बढ़ाने में लगें तो समझना चाहिए ज्ञान की उपलब्धि हो गई । स्कूली शिक्षा या धर्म की पुस्तकें पढ़ लेने का नाम ज्ञान नहीं है । यह तो एक आस्था है जो अन्तःकरण मे

प्रकाशवान होकर हमें सही और गलत का विवेक कराती है । यह ज्ञान जो जितना प्राप्त कर लेता है वह उतना ही सफल आत्मवादी कहा जाता है ।

तीसरा चरण है—बल । निर्बल को न सांसारिक सुख मिलता है न आत्मिक । हमें बलवान बनना चाहिए । मनोबल के आधार पर ही आपत्तियों से निपटना—प्रगति के पथ पर बढ़ चलना सम्भव होता है । लोभ, मोह जैसे शत्रुओं को परास्त करते हुए—प्रलोभनों से बचते हुए आदर्शवादिता के मार्ग पर अपनी प्रवृत्तियों को मोड़ सकना साहसी और पराक्रमी व्यक्ति के लिए ही सम्भव है । जीवन का प्रत्येक क्षेत्र सामर्थ्यवान और सशक्त बनाना पड़ता है । आत्मिक, मानसिक, शारीरिक सभी दुर्बलताएँ दूर करनी पड़ती है और आर्थिक क्षेत्र में इतना स्वावलम्बी रहना पड़ता है कि किसी के आगे हाथ न पसारना पड़े ।

मनुष्य की सत्ता तीन भागों में विभक्त है—(१) अन्तःकरण, (२) मस्तिष्क, (३) शरीर । इसी विभाजन को आध्यात्म की भाषा में कारण शरीर और स्थूल शरीर कहते हैं । अन्तःकरण का वैभव है—प्रेम । मस्तिष्क का धन है—ज्ञान । शरीर का वर्चस्व है—बल । चूँकि शरीर से ही आर्थिक, पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्ध है इसलिए धन, व्यवहार कौशल और संगठन को भी इसी क्षेत्र में गिना जाता है ।

इन तीनों के समन्वय से ही समग्र आध्यात्म बनता है । एकांगी से काम नहीं चलता । अन्न, जल और वायु के त्रिविध आहार पर जीवन निर्भर है । आध्यात्मिक जीवन की यह तीनों प्रवृत्तियाँ समान रूप से आवश्यक है । इनका समन्वय ही त्रिवेणी का संगम है । उस तीर्थराज प्रयाग में स्नान करके ही हम जीवन लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं ।

## आत्मिक प्रगति के तीन सोपान

मानवी सत्ता के तीन पक्ष हैं—(१) भावना, (२) विचारणा, (३) क्रिया-प्रक्रिया । इन तीनों को परिष्कृत बनाने के लिए पुरातन प्रतिपादन के अनुसार भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग के अभ्यास की आवश्यकता बताई गई है । यह एक नियत समय या नियत स्थान पर, नियत विधान के साथ हो सकने वाले कृत्य नहीं । वरन् ऐसे उच्चस्तरीय निर्धारण है जिनके अनुसार कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर की गतिविधियों का नियमित रूप से निरन्तर सूत्र संचालन करना पड़ता है । उपासना में अन्तःकरण को, साधना में मनःसंस्थान को और आराधना में क्रिया-कलापों को उच्चस्तरीय उद्देश्यों के अनुरूप गतिशील रखना पड़ता है । श्वास-प्रश्वास, आकुंचन-प्रकुंचन, निमेष-उन्मेष, ग्रहण-विसर्जन जैसी गतिविधियाँ अनवरत रूप से निरन्तर चलती रहती हैं । ठीक इसी प्रकार आत्म-सत्ता के उपरोक्त तीनों पक्षों को इस प्रकार प्रशिक्षित करना पड़ता है कि वे कुसंस्कारिता से छुटकारा पाकर सुसंस्कारी शालीनता के ढाँचे में ढलने के लिए विवश हो सकें ।

पूजा पाठ के समस्त उपचारों का एक मात्र लक्ष्य यह उत्कृष्टता सम्पादन ही है । परब्रह्म को किसी उपहार-मनुहार के सहारे फुसलाया नहीं जा सकता । उसने नियति क्रम जड़, चेतन सभी को बाँधा है और स्वयं भी बँध गया है । प्रशंसा के बदले अनुग्रह और निन्दा के बदले प्रतिशोध लेने पर यदि भगवान उतर पड़े तो समझना चाहिए कि व्यवस्था परक अनुबन्ध समाप्त हो गए और सर्वतोन्मुखी अराजकता का उपक्रम चल पड़ा । ऐसा होता नहीं है । लोगों का भ्रम है जो सृष्टा को फुसलाने और नियति क्रम का उल्लंघन करने वाले अनुदान इसलिए माँगते हैं कि वे पूजा करने के कारण पक्षपात के अधिकारी हैं । यह बाल बुद्धि जितनी जल्दी हट सके उतना ही अच्छा है । पूजा उपचार का तात्पर्य चेतना संस्थान को उत्कृष्टता के ढाँचे में ढालने का प्रभावी व्यायाम पराक्रम प्रशिक्षण मात्र है । इस या उस प्रकार जो अपने चेतना क्षेत्र को जितना समुन्नत बना सकेगा वह उतना ही ऊँचा उठेगा, आगे बढ़ेगा और देवत्व के क्षेत्र में प्रवेश पाने का अधिकारी बनेगा ।

उपासना का उद्देश्य है—आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ देना । आत्मा अर्थात् अन्तःकरण, भाव संस्थान जिसके साथ मान्यताएँ, आकांक्षाएँ लिपटी रहती हैं । परमात्मा अर्थात् उत्कृष्ट आदर्शवादिता । स्मरण रहे, परमात्मा कोई व्यक्ति विशेष नहीं, सृष्टि में जितना भी देव पक्ष है उसके समुच्चय को—आत्माओं के समष्टि समुदाय को—परमात्मा कहते हैं । संक्षेप में व्यापक क्षेत्र की सत्प्रवृत्तियों का समग्र रूप ही मनुष्य का इष्ट उपास्य है । इसी के साथ आत्मसात, घनिष्ठतम, एकाकार

होते जाना ही परमात्मा की उपासना है । सर्वविदित है उपासक का स्तर ऊँचा होगा और उपास्य का स्वरूप वास्तविक होगा तो उन दोनों की घनिष्ठता का प्रभाव इसी रूप में प्रकट होगा कि उपासक उपास्य के तद्रूप बनता चला जाय ।

ईंधन आग के जितना समीप पहुँचता है उतना ही गरम होता जाता है । जब वह इष्ट से लिपट जाता है उसकी सत्ता अग्नि रूप में प्रकट होती है । नाला नदी में, बूँद समुद्र में, नमक पानी में मिलने पर—उन्हे एकात्म होते देखा जाता है । चन्दन के निकट उगे हुए झाड़-झंखाड़ सुगन्धित होते हैं । लोहा पारस का स्पर्श करके सोना बनता है । पेड़ से लिपटकर बेल उतनी ही ऊँची चढ़ती जाती है । पत्नी का समर्पण पति के समस्त यश-वैभव, स्नेह-सहयोग की भागीदारी खरीद लेता है । यह प्रक्रिया भाव-भरी उपासना से सम्पन्न होती है । परमात्मा के साथ, आदर्शवादी देव परिवार के साथ मनुष्य जितना भाव और कर्म से एकीभूत होता जाता है उसी अनुपात में उसका प्रभाव भी हाथों हाथ बढ़ता है । बिजलीघर के साथ सम्बन्ध जुड़ते ही बल्ब जलने और पंखे चलने लगते हैं । दो तालाबों के बीच नाली बना दी जाय तो ऊँचे वाले का पानी नीचे वाले मे चलता रहता है । जब तक कि दोनो की सतह एक नहीं हो जाती । उपासना यदि कर्मकाण्ड की चिन्ह पूजा मात्र हो—उपहार मनुहार की लकीर पिट रही हो तो बात दूसरी है अन्यथा आत्मा के परिष्कृत एवं विशद रूप परमात्मा के बीच यदि घनिष्ठ आत्मीयता जुड़े तो उसकी परिणति स्पष्ट यही हो सकती है कि मनुष्य में देवत्व उभर पड़े । उसका चिन्तन, चरित्र और व्यवहार वैसा बन पड़े जैसा उदात्त दृष्टि वाले भगवद् भक्तों का होना चाहिए । इस सन्दर्भ मे विभिन्न सम्प्रदायो ने कई प्रकार के पूजा विधान बनाये है उनमे से कोई भी चुना जा सकता है, किन्तु उस कलेवर के अन्तराल मे आदर्शों के प्रति आत्म-समर्पण की जीवन को उसी स्तर का पवित्र-प्रखर बनाने की ललक होनी चाहिए । इसी ललक को भक्ति भावना कहते है । इष्ट की आकृति मनुष्य जैसी या सूर्य, शिवलिंग जैसे प्रकृति पदार्थ की प्रयुक्त हो सकती है । पर ध्यान रहे उसे विराट् की प्रतीक प्रतिमा भर माना जाय । ऐसा न हो कि उस सीमित मे असीम को सीमाबद्ध करने की भूल की जाय । उपासना यदि निभ्रान्त और श्रद्धा विश्वास से भरी-पूरी है तो कोई कारण नहीं कि उसका प्रभाव भक्त मे स्तर-से क्रमश. उच्च से उच्चतर, उच्चतर से उच्चतम बनाने का प्रगति क्रम-निरन्तर गतिशील न बना रहे । यह यात्रा परम लक्ष्य तक पहुँच कर ही रुकती है ।

उपासना का उपरोक्त तत्व दर्शन समझ लेने के उपरान्त शेष इतना ही रह जाता है कि उसे भावनात्मक व्यायाम की तरह पूजा उपचार के क्रिया कृत्यों के सहारे आगे बढ़ाया जाय । इसके लिए किस पद्धति का अवलम्बन किया जाय, इसका उत्तर प्रज्ञा परिजनो के लिए एक ही है कि उनकी जैसी मनोभूमि के लिए 'प्रज्ञायोग' की विधि व्यवस्था ही सर्वोत्तम सिद्ध होगी । यह सर्वांग पूर्ण है । इसमे उपासना, साधना और आराधना के तीनों तत्वों का समान रूप से समावेश है । जबकि अन्य पद्धतियों में से अधिकांश एकांगी पायी जाती है । प्रज्ञायोग की संक्षिप्त सारगर्भित रूपरेखा अगले पृष्ठों पर अलग से प्रस्तुत है । कारण शरीर में सन्निहित भाव श्रद्धा को दिशा देने और ऊँचा उठाने के लिए उपासनात्मक आवश्यकता की पूर्ति प्रज्ञायोग के सहारे सम्पन्न की जानी चाहिए ।

साधना अर्थात् अपने आपे को साधना । उसके अनगढ़पन, पिछड़ेपन, कुसंस्कार का निराकरण संशोधन, निम्न योनियो से क्रमिक यात्रा करते हुए मनुष्य जन्म तो प्राणी भगवान के अनुग्रह से प्राप्त कर लेता है । पर पिछली कुसंस्कारिता से पीछा छुड़ाना और मानवी गरिमा के उपयुक्त विशिष्टता उत्पन्न करना उसका अपना काम है । भगवान इसी आधार पर किसी की पात्रता जाँचते है, और उसे अधिक ऊँचे उत्तरदायित्व, पद-वैभव प्रदान करते है । महामानव मनीषी, ऋषि, सिद्ध पुरुष, देवात्मा, अवतार आदि इसी स्तर की प्रगति-पदोन्नति है जिन्हे मनुष्य पात्रता, प्रामाणिकता सिद्ध करने के उपरान्त विजेता की तरह उपहार में प्राप्त करता है । चिन्तन और चरित्र मे अधिकाधिक उत्कृष्टता का समावेश ही साधना है । इसके लिए पिछले कुसंस्कारी ढर्रे से पग-पग पर जूझना पड़ता है । कुविचारो के सम्मुख सद्विचारो की सेना खड़ी करते हुए उन्हे मल्ल युद्ध मे परास्त करना पड़ता है ।

मन को मारना अर्थात् साधना, आध्यात्म क्षेत्र का संबमे बड़ा पुरुषार्थ माना गया है, जो मन के पीछे चलते हैं वे अनगढ़ घोड़े की पूँछ में अपनी गर्दन बाँधकर झाड़-झंखड़ों में खिंचते—घिसटते फिरते और लहू-लुहान होकर बे-मौत मरते हैं । जिस मनोनिग्रह को चित्तवृत्ति निरोध को आत्मिक प्रगति का मेरुदण्ड माना गया है उसे नट, बाजीगरों द्वारा बरती जाने वाली एकाग्रता मात्र नहीं समझना चाहिए । उसका तात्पर्य है मन को कुसंस्कारी भटकावों से रोककर उत्कृष्टता के, लक्ष्य के राजमार्ग पर संकल्पपूर्वक चल पड़ने की अटूट भाव श्रद्धा । कहा गया है—"जिसने अपने को जीता वह विश्व विजयी है ।" इस युक्ति में बहुत कुछ सार है । जिसका दबाव अपने स्वभाव तक को बदलने में सफल न हो सका उस असफल व्यक्ति को कौन मान्यता देगा ? कौन उसकी बात सुनेगा ? कौन उसके कहने पर चलेगा ? व्यक्तित्व की प्रामाणिकता इसी कसौटी पर कसी जाती है कि वह अनगढ़ मन के इशारे पर कठपुतली की तरह नाचता है अथवा मनस्वी घुड़सवार की तरह अपने वाहन को अभीष्ट दिशा मे अभीष्ट गति से चलाने, दौड़ाने में समर्थ रहता है ।

साधना हो या उपासना उसकी चाबी भरने के लिए कोई समय नियत हो सकता है, किन्तु काम इतने भर से बनने वाला नहीं । घड़ी के पुर्जों को अनवरत क्रम से चलना और सुइयों को बिना विश्राम के चलते रहना पड़ता है । यह दोनों ही प्रक्रिया ऐसी हैं जिनमें अपनी क्रिया, विचारणा और आकांक्षा को हर घड़ी परखना और सुधारना-सँभालना पड़ता है । खजाने के रक्षक, जेल के वार्डर और सीमा के प्रहरी निरन्तर चौकस रहते हैं । जीवन सम्पदा में व्यतिक्रम न उत्पन्न होने पाये, इसके लिए जो सर्वदा जागरूक रहता है और अवांछनीयता के प्रवेश करते ही रक्त के श्वेत कणों की तरह विजातियों से गुथ पड़ता है, उसी को विजेता कहते है । प्रशंसा, प्रतिष्ठा, सम्पन्नता, सफलता जैसी विभूतियाँ अर्जन करने में ऐसे पराक्रमी लोग ही समर्थ होते हैं ।

आत्म-निर्माण में गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता अपनानी होती है । पर उस प्रयास का अभ्यास कहाँ हो ? सिद्धान्त को आदत में बदलने के लिए कहीं न कहीं अभ्यास तो करना होगा । बलिष्ठता के लिए व्यायामशाला, विद्वता के लिए पाठशाला, धनाड्य बनने के लिए उद्योगशाला का आश्रय लेना पड़ता है । ठीक इसी प्रकार आत्म-निर्माण के लिए व्यक्तित्व में जिन सत-प्रवृतियों के समावेश की आवश्यकता पड़ती है उसके लिए कोई न कोई कार्य क्षेत्र तो चाहिए ही । समझा जाना चाहिए कि इस स्तर का नियमित, निरन्तर, दीर्घकालीन अभ्यास चलाते रहने के लिए एक सुनियोजित प्रयोगशाला का कार्य परिवार के वातावरण में ही सम्भव हो सकता है । पशु जीवन में जिन उत्कृष्टताओं से कोई वास्ता न पड़ा था उसे मनुष्य जीवन में अपनाना पड़ता है । यह कार्य पठन, श्रवण से सम्भव नहीं । प्रवृत्तियाँ दीर्घकालीन अभ्यास से स्वभाव का अंग बन जाती हैं । परिवार में पग-पग पर हर सदस्य को मर्यादा पालन, अनुशासन, सहकार, आत्म-भाव एवं उदार व्यवहार का अभ्यास करना पड़ता है । लगता है इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए मनुष्य को सामाजिक प्राणी बनाया गया है । उस सामाजिकता का अभ्यास करने के लिए परिवार की छोटी प्रयोगशाला का संचालन सौंपा गया है । इसमें दुहरा लाभ है । इसमें आत्मिक सद्गुणों का अभ्यास तथा एक छोटे उद्यान को सुविकसित बनाकर सृष्टि सौन्दर्य बढ़ाने, सृष्टा का मनोरथ पूरा करने वाला उपक्रम है । यह पारिवारिकता ही है जो आत्म-विकास का उद्देश्य पूरा करती है और समुन्नत होते "वसुधैव कुटुम्बकम" की विश्व परिवार की युग साधना सम्पन्न करती है ।

उपासना, साधना के अतिरिक्त तीसरा कार्यक्रम है—आराधना । आराधना अर्थात् विराट् ब्रह्म की विश्वमानव की सेवा संलग्नता । हर भगवद्‌भक्त को भजन एवं जीवन परिष्कार के साथ-साथ इस विश्व उद्यान को सुन्दर, समुन्नत बनाने के लिए किसी न किसी रूप में अपने श्रम, समय और साधन का एक अंश नियमित रूप से लगाना पड़ा है । साधु ब्राह्मण, वानप्रस्थ, परिव्राजक स्तर के सभी धर्म प्रेमी किसी न किसी रूप में लोक मंगल के लिए सार भरे अनुदान प्रस्तुत करते रहे हैं । इसके अभाव में आध्यात्मिक प्रगति का लाभ किसी को भी नहीं मिला । भूमिशोधन तथा बीजारोपण को उपासना, साधना कहा जा सकता है, पर फसल इतने से ही नहीं काटी जा सकती ।

युग सन्धि से सर्वोत्तम लोक साधना एक ही है—लोक का परिष्कार । इसके लिए जन सम्पर्क साधने और जन-जन को युगान्तरीय चेतना से परिचित, अनुप्राणित करना प्रमुख एवं प्रधान कार्य है । व्यक्ति निर्माण, परिवार निर्माण और समाज निर्माण के बहुमुखी कार्यक्रम इन दिनों इसी निमित्त चल रहे हैं । प्रज्ञा संस्थानों का निर्माण तथा अभियान का संचालन जिन उद्देश्यों को सामने रखकर अग्रसर हो रहा है उसे लोक सेवा की सामयिक एवं सर्वोत्तम प्रक्रिया कहना चाहिए । इसी में सम्मिलित होकर सहभागी बनकर आराधना का उद्देश्य पूरा होता है । सभी प्रज्ञा परिजनों को अपनी आत्मबल सम्पादन प्रक्रिया में उपासना और आराधना का समावेश करना चाहिए ।

आत्मिक प्रगति के लिए जिन तीन सोपानों पर चढ़ना पड़ता है उनमें उपासना, साधना के अतिरिक्त तीसरा मोर्चा आराधना का रह जाता है । आराधना के लिए अन्तःकरण कुरेदना पड़ता है । साधना के लिए परिवार की प्रयोगशाला में अपने निर्धारणों को परिपक्व करना पड़ता है । आराधना का अर्थ है—लोक मंगल के सर्वोत्तम उपाय—सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन में निरत होना । संक्षेप में इसी को समाज सेवा, लोक साधन, जन-कल्याण, पुण्य-परमार्थ आदि नामों से पुकारते हैं । यह भी मानवी गरिमा का एक सुनिश्चित पक्ष है । इसकी उपेक्षा करने पर सत्प्रवृत्तियों को स्वभाव का अंग बना सकना सम्भव ही नहीं हो पाता । सिद्धान्तों का समझना, पढ़ना, सुनना पर्याप्त नहीं । इतने भर से मनोविनोद भर होता रहता है, पल्ले कुछ नहीं पड़ता । श्रेष्ठता को स्वभाव का अंग बनाने के लिए एक ही मार्ग है—पुण्य-परमार्थ का प्रयोग अभ्यास । इसलिए सेवा-साधना को मानवी गरिमा का अविछिन्न अंग ठहराया गया है और स्वार्थ-परायण को अपराधी की तरह घृणित बताया गया है । मनुष्य का अस्तित्व पारस्परिक सहयोग पर निर्भर [redacted] । अन्य प्राणी तो कुछ दिन ही माता की सहायता लेकर स्वावलम्बी बन जाते हैं, पर मनुष्य को आजीवन दूसरों की सहायता पर निर्भर रहना पड़ता है । अन्न, वस्त्र, पुस्तक, औषधि, आजीविका जैसे साधनों से लेकर पत्नी, पिता, माता, सास, श्वसुर आदि सम्बन्धियों की उदार सहायता बिना एक पल भी काम नहीं चलता । एकाकी जीवन अन्य प्राणी जी सकते हैं, पर मनुष्य की संचरना को देखते हुए वैसा सम्भव नहीं । समाज सहयोग से रहित व्यक्ति को रामू भेड़िये जैसा वनचर, मूक-बधिर होकर रहना पड़ेगा । इस उपकार का प्रत्युपकार होना ही चाहिए । सहयोग, आदान-प्रदान का, उदारता का सिलसिला चलना ही चाहिए । यही प्रकारान्तर से पुण्य-परमार्थ है । ऋण मुक्ति, सद्गुणों की उपलब्धि, आत्मीयता विस्तार की विभूति जैसी अनेको सुखद सम्भावनायें लोक मंगल की साधना के साथ जुड़ी हुई हैं । भजन का वास्तविक तात्पर्य परमार्थ है । संस्कृत की 'भज् सेवायां' धातु से भजन शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है—सेवा को जीवन क्रम में सम्मिलित रखना । व्यक्ति समाज को समुन्नत बनाये । समाज व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाने का अवसर करें । यही है—"देवान् भावयतानेन्………… ।" का गीता प्रतिपादन, हम देवत्व का सम्वर्धन, परिपोषण करने वाली सेवा साधना मे निरत रहें तो बदले में वह परिपुष्ट हुआ देवत्व हमें सर्वतोन्मुखी प्रगति के साथ जुड़ी हुई अगणित विभूतियों से सुसज्जित करेगा और कृत-कृत्य बनाकर रहेगा ।

## आत्मनिर्माण : जीवन साधना का प्रथम सोपान

आत्म-निर्माण जीवन साधना का प्रथम चरण है । उस दिशा में कदम बढ़ाने के लिए किसी भी स्थिति के व्यक्ति को कुछ भी कठिनाई अनुभव नहीं होनी चाहिए । पर्दे में जकड़ी स्त्रियाँ, जेल मे बन्द कैदी, चारपाई पर पड़े रोगी और अपंग, असमर्थ व्यक्ति भी आज जिस स्थिति में हैं उससे ऊँचे उठने, आगे बढ़ने में उन्हें कुछ भी कठिनाई अनुभव नहीं होनी चाहिए । मनोविकारों को ढूँढ निकालने और उनके विरुद्ध मोर्चा खड़ा कर देने में सांसारिक कोई विघ्न-बाधा अवरोध उत्पन्न नही कर सकती । दैनिक जीवन में निरन्तर काम आने वाली आदतों को परिष्कृत बनाने का प्रयास भी ऐसा है जिनके न बन पड़ने का कोई कारण नहीं । आलस्य में समय न गँवाना—हर काम नियत समय पर, नियमित रूप से, उत्साह और मनोयोग पूर्वक करने की आदत डाली जाय तो प्रतीत होगा अपना क्रिया-कलाप कितना उत्तम, कितना व्यवस्थित, कितना अधिक सम्पन्न हो रहा है । प्रातःकाल अपनी दिनचर्या का निर्धारण

कर लेना और पूरी मुस्तैदी से उसे पूरा करना, आलस्य प्रमाद को आड़े हाथों लेना, व्यक्तित्व निर्माण की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है । जल्दी सोने, जल्दी उठने की एक छोटी-सी ही आदत को लें तो प्रतीत होगा कि प्रातःकाल का कितना बहुमूल्य समय मुफ्त ही हाथ लग जाता है और उसका जिस भी कार्य में उपयोग किया जाय उसमें सफलता का कैसा स्वर्ण अवसर मिलता है । क्या व्यायाम, क्या अध्ययन, क्या भजन, कुछ भी कार्य प्रातःकाल किया जाय चौगुना प्रतिफल उत्पन्न करेगा । जो लोग देर में सोते और देर में उठते हैं वे यह नहीं जानते कि प्रातःकाल का ब्रह्म मुहूर्त इतना बहुमूल्य है जिसे हीरे मोतियों से भी नहीं तोला जा सकता, नियमित दिनचर्या का निर्धारण और उस पर हर दिन पूरी मुस्तैदी के साथ आचरण, देखने में यह बहुत छोटी बात मालूम पड़ती है पर यदि उसका परिणाम देखा जाय तो प्रतीत होगा कि हमने एक चौथाई जिन्दगी को बर्बादी से बचाकर कहने लायक उपलब्धियों में नियोजित कर लिया । अस्त-व्यस्त और अनियमित व्यक्ति यों तो साधारण ढील-पोल के दोषी ठहराए जाते हैं पर बारीकी से देखने पर स्पष्ट हो जाता है, कि वे लगभग आधी जिन्दगी जितना बहुमूल्य समय नष्ट कर देते हैं जिसका यदि क्रमबद्ध उपयोग हो सका होता तो प्रगति की कितनी ही कहने लायक उपलब्धियाँ सामने आतीं । यदि एक घण्टा रोज कोई व्यक्ति उपयोगी अध्ययन मे लगाता रहे तो कुछ ही समय में वह ऐसा ज्ञानवान बन सकता है कि जिसकी विद्या बुद्धि पर स्पर्धा की जा सके ।

स्वच्छता और व्यवस्था ऐसा गुण है जिसमें किसी की सुरुचि का सहज ही परिचय प्राप्त किया जा सकता है । गन्दगी से घृणा और स्वच्छता से प्रेम रखा जाय तो वह उत्साह ही बना रहेगा जिसके आधार पर शरीर, वस्त्र, फर्नीचर, पुस्तकें, स्टेशनरी, बर्तन, फर्श, चित्र, साइकिल आदि सम्बन्धित सामान को स्वछ एवं सुव्यवस्थित रखा जा सके । सफाई की यह आदत हिसाब-किताब पर, लेन-देन पर भी लागू होती है । घर, दफ्तर को—बच्चों को—वस्तुओं को साफ-सुथरा रखकर न केवल आगन्तुकों को अपनी सुरुचि का परिचय देते हैं वरन् अपने स्वभाव में अनोखी विशेषता उत्पन्न करते हैं ।

जिसे ईमानदारी का जीवन जीना हो उसे पूर्व तैयारी मितव्ययी रहने की—सादा जीवन जीने की करनी चाहिए जो कम में गुजारा करना जानता है उसी के लिए यह सम्भव है कि कम आमदनी से सन्तोषपूर्वक निर्वाह कर ले । ईमानदारी से आय सीमित रहती है—उतनी नहीं हो सकती जितनी बेईमानी अपनाने से । ऐसी दशा में यदि श्रेष्ठ जीवन जीना हो तो अपने खर्च जहाँ तक सम्भव हो वहाँ तक घटाने चाहिए । जिसने खर्च बढ़ा रखे हैं उन्हें उनकी पूर्ति के लिए बेईमानी का रास्ता अपनाना पड़ेगा । फिजूलखर्चीयों निर्दोष भी मालूम पड़ सकती हैं । अपना कमाना अपना उड़ाना इसमें किसी को क्या ऐतराज होना चाहिए । परन्तु बात इतनी सरल नहीं है । प्रकारान्तर से फिजूलखर्ची बेईमानी अपनाने के लिए बाध्य करती है । अनियन्त्रित खर्च करने की आदत बढ़ती ही जाती है और वह देखते-देखते उस सीमा को छूती है जहाँ न्यायोचित आमदनी कम पड़े और घटोतरी की पूर्ति के लिए बेईमानी पर उतारू होना पड़े । जिसने आमदनी और खर्च का तालमेल बिठाना सीखा है वही कुछ सत्कर्मों के लिए भी बचा सकता है । अन्यथा सदुद्देश्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य भी आर्थिक तंगी के कारण रुके पड़े रहेंगे । सादगी की जीवनचर्या सस्ती पड़ती है, कम समय लेती है । अस्तु मितव्ययी व्यक्ति के लिए यह ही सम्भव होगा कि वह आदर्शवादी जीवन जी सके और परमार्थ की दिशा में कुछ कहने लायक योगदान दे सके ।

दूसरों का आदर करना—सद्व्यवहार का अभ्यस्त होना—सज्जनोचित शिष्टाचार बरतना—मधुर वचन बोलना यह व्यक्तित्व की गरिमा बढ़ाने वाली साधना है । मनुष्य सामाजिक प्राणी है । उसे दूसरों के साथ मिल-जुल कर रहना पड़ता है । स्नेह, सौहार्द का वातावरण तभी बना रह सकता है जब दूसरों के साथ शालीनता का व्यवहार किया जाय । अहंकारी व्यक्ति दूसरों को तुच्छ समझते हैं और कटुवचन एवं दुर्व्यवहार पर उतारू रहते हैं । उद्धत आतंकवादी, उच्छृंखल आचरण करके कोई अपने अहंकार की पूर्ति होने की बात सोच सकता है पर वस्तुतः वह हर किसी की दृष्टि में अपना सम्मान खोता है । स्तर गिराता है और घृणास्पद बनता है । उद्धत आचरण से सम्भव

है सामने वाला चुप ही रहे परन्तु उसका स्नेह-सहयोग तो चला ही जाता है । इस प्रकार क्रोधी, अशिष्ट, उच्छृंखल व्यक्ति अपना नाम बढ़ाने की बात सोचता है पर वस्तुतः उसे निरन्तर खोता चला जाता है । कुसमय में अपने को एकाकी अनुभव करता है । स्नेह-सहयोग से वंचित होकर वह भूत-वेताल की अशान्त अतृप्त मनःस्थिति में जा फँसता [redacted] ।

ईर्ष्या, द्वेष, झूठ, छल, प्रपंच, दुरभिसन्धि, षड्यन्त्र, शोषण, अपहरण, आक्रमणों की आसुरी मनोवृत्ति अपना कर मनुष्य अपराधी आचरण ही करता है उसकी गतिविधियाँ ऐसी हो जाती हैं जिससे मनुष्य सबकी आँखों में गिरता है यहाँ तक कि अपनी आँखों में भी । धन या पद पाने की अपेक्षा लोकश्रद्धा प्राप्त करना अधिक मूल्यवान है । दुष्ट-दुराचारी बनकर कोई यदि साधन सम्पन्न बन जाय तो यही कहा जाना चाहिए कि उसने खोया बहुत पाया कम । व्यसनी, व्यभिचारी, आलसी और प्रमादी, आतंकवादी, अत्याचारी—उस सुखद उपलब्धि से वंचित ही रहते हैं जिसे पाने के लिए यह कुमार्ग अपनाया । दुर्भावनाओं और दुष्प्रवृत्तियों का आश्रय लेकर मनुष्य दूसरों की जितनी हानि करता है उसकी तुलना में अपनी असंख्य गुनी हानि कर लेता है ।

समय को नियमितता के बन्धनों में बाँधा जाना चाहिए । चौबीसों घण्टे की निर्धारित दिनचर्या बनानी चाहिए और उस पर तत्परतापूर्वक चलते जाना चाहिए । समय ही सबसे बड़ी सम्पदा है, उसका एक क्षण भी बर्बाद नहीं होना चाहिए । शरीर की क्षमता के अनुरूप श्रम किया जाय— काम का स्तर और सिलसिला बदलते ही रहा जाय तो थकान नही चढ़ेगी । हर काम में दिलचस्पी पैदा की जाय—उसे खेल समझते हुए पूरे मनोयोग के साथ करना चाहिए । यह आदत पड़ जाय तो दुर्बल शरीर वाला व्यक्ति भी बिना थके बहुत काम करता रह सकता है । आहार-विहार विवेकपूर्ण और क्रमबद्ध होना चाहिए । समयानुसार काम बदलने से विश्राम और विनोद का उद्देश्य पूरा हो सकता है । सामने प्रस्तुत कामो को दिलचस्पी और मनोयोग के साथ करने का अभ्यास करना मनोनिग्रह का सर्वोत्तम योगाभ्यास [redacted] । उस साधना मे निष्णात व्यक्ति हाथों-हाथ क्रिया-कुशलता के अभिवर्धन और सफलताओं के वरण का उत्साहवर्द्धक लाभ प्राप्त करता है ।

मन को, मस्तिष्क को अस्त-व्यस्त उड़ानें उड़ने की छूट नहीं देनी चाहिए । शरीर की तरह उसे भी क्रमबद्ध और उपयोगी चिन्तन के लिए सधाया जाना चाहिए । कुसंस्कारी मन बनैले सुअर की तरह कहीं भी, किधर भी दौड़ लगाता रहता है । शरीर भले ही विश्राम करे पर मन तो कुछ सोचेगा ही, यह सोचना भी शारीरिक श्रम की तरह ही उत्पादक होता है । समय की बर्बादी की तरह ही अनुपयोगी और निरर्थक चिन्तन भी हमारी बहुमूल्य शक्ति को नष्ट करता है । दुष्ट चिन्तन तो आग से खेलने की तरह है । आज परिस्थितियों में जो सम्भव नहीं वैसी आकाश-पाताल जैसी कल्पनाएँ करते रहने—योजनाएँ बनाते रहने से मनुष्य अव्यावहारिक बनता जाता है । व्यभिचार, आक्रमण, षड्यन्त्र जैसी कल्पनाएँ करते रहने से मन निरन्तर कलुषित होता चला जाता है और उपयोगी योजनायें बनाने के लिए गहराई तक प्रवेश कर सकना उसके लिए सम्भव नहीं रहता है । उद्धत आचरण शरीर को नष्ट करते हैं और उद्धत विचार मन-मस्तिष्क का सत्यानाश करके रख देते हैं । मनोनिग्रह का योगाभ्यास में बहुत माहात्म्य गाया गया है । इस चित्त निरोध का व्यावहारिक स्वरूप यही है कि जिस दिशा को हम उपोगी मानते हैं और जिस सन्दर्भ में सोचना आवश्यक समझते है उसी निर्देश पर हमारी विचारणा गतिशील रहे । वैज्ञानिको, बुद्धिजीवियो और योगाभ्यासियों मे यही विशेषता होती है कि वे अपने मस्तिष्क को निर्धारित प्रयोजन पर ही लगाये रहते हैं । अस्त-व्यस्त उड़ानों मे उसे तनिक भी नही भटकने देते । यह आदत हमे डालनी चाहिए कि चिन्तन का क्षेत्र निर्धारित करके उस पर मन को केन्द्रित करने की आदत यदि डाली जा सके तो मस्तिष्कीय प्रखरता का, मनोबल सम्पादन का द्वार खुल जायेगा और मन्दबुद्धि जैसी मस्तिष्कीय बनावट रहते हुए भी अपने चिन्तन क्षेत्र में निष्णात बन जायेंगे । समय की दिनचर्या मे बाँधकर शरीर का श्रेष्ठतम उपयोग किया जा सकता है । मन का महत्त्व शरीर से कम नहीं अधिक है । उसका भटकाव रोककर उसे उपयोगी, निर्दिष्ट चिन्तन में यदि सधाया जाना सम्भव हो सके तो मस्तिष्क की

विचार शक्ति से बहुमूल्य लाभ उठाया जा सकता है। समुन्नत जीवन विकास में यह शरीर और मन पर बन्धन लगाने की साधना सही रूप में तप तितीक्षा का, व्रत-संयम का उच्चस्तरीय लाभ दे सकती है।

ऊपर की पंक्तियों में कुछ मोटे सुझाव संकेत भर हैं। विचार करने पर अनेकों प्रसंग ऐसे सामने आते हैं जिनमें विधि निषेध की आवश्यकता पड़ती है। क्या छोड़ना, क्या अपनाना इसका महत्त्वपूर्ण निर्णय करना पड़ता है। यह हर दिन प्रस्तुत परिस्थितियों और आवश्यकताओं को देखते हुए किया जाना चाहिए। यह मान्यता हृदयंगम की जानी चाहिए कि आत्म-निर्माण के महान लक्ष्य प्राप्त करने के लिए अवांछनीयताओं का क्रमशः परित्याग करना ही पड़ेगा और उपयोगी गुण, कर्म, स्वभाव को व्यावहारिक जीवन में समाविष्ट करने का साहसपूर्ण प्रयास ही करना होगा। विधि और निषेध के दो कदम क्रमबद्ध रूप से निरन्तर उठाते चलने की व्रतशीलता ही हमें आत्मिक प्रगति के उच्च लक्ष्य तक पहुँचा सकने में समर्थ हो सकती है।

आत्म-निर्माण के मूलभूत चार दार्शनिक सिद्धान्तों पर हर दिन बहुत गम्भीरता के साथ बहुत देर तक मनन-चिन्तन करना चाहिए। जब भी समय मिले चार तथ्यों को चार वेदों का सार तत्व मानकर समझना और हृदयंगम करना चाहिए। यह तथ्य जितनी गहराई तक अन्तःकरण में प्रवेश कर सकेंगे, प्रतिष्ठित हो सकेंगे, उसी अनुपात से आत्म-निर्माण के लिए आवश्यक वातावरण बनता चला जायेगा।

आत्म-दर्शन का प्रथम तथ्य है आत्मा को परमात्मा का परम पवित्र अंश मानना और शरीर एवं मन को उससे सर्वथा भिन्न मात्र वाहन अथवा औजार भर समझना। शरीर और आत्मा के स्वार्थों का स्पष्ट वर्गीकरण करना। काया के लिए उससे सम्बन्धित पदार्थों एवं शक्तियों के लिए हम किस सीमा तक क्या करते हैं इसकी लक्ष्मण रेखा निर्धारित करना और आत्मा के स्वार्थों की पूर्ति के लिए अपनी क्षमताओं का एक बड़ा अंश बचाना—उसे आत्म-कल्याण के प्रयोजनों में लगाना।

दूसरा आध्यात्मिक तथ्य है—मानव जीवन को ईश्वर का सर्वोपरि आहार मानना। इसे लोकमंगल के लिए दी हुई परम पवित्र अमानत स्वीकार करना। स्पष्ट है कि प्राणिमात्र को ईश्वर की सन्तान मानना। निष्पक्ष, न्यायकारी पिता समान रूप से ही अपने सब बालकों को अनुदान देता है। मनुष्य को इतने सुविधा-साधन व विलासिता और अहन्ता की पूर्ति के लिए देकर पक्षपाती और अन्यायी नहीं बन सकता। जो मिला वह खजांची के पास रहने वाली बैंक अमानत की तरह है। संसार को सुखी समुन्नत बनाने के लिए ही मनुष्य को विभिन्न सुविधाएँ मिली हैं। उनमें से निर्वाह के लिए न्यूनतम भाग अपने लिए रखकर शेष को लोकमंगल के लिए ईश्वर के इस सुरम्य उद्यान को अधिक सुरम्य, सुविकसित बनाने के लिए खर्च किया जाना चाहिए।

तीसरा महासत्य है—अपूर्णता को पूर्णता तक पहुँचाने का जीवन लक्ष्य प्राप्त करना। दोष-दुर्गुणों का निराकरण करते चलने और गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता बढ़ाते चलने से ही ईश्वर और जीव के बीच की खाई पट सकती है। इन्हीं दो कदमों को साहस और श्रद्धा के साथ अनवरत रूप से उठाते रहने पर जीवन लक्ष्य तक पहुँचना सम्भव हो सकता है। उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श कर्तृत्व की नीति अपना कर ही आत्मा को परमात्मा बनने और नर को नारायण स्तर तक पहुँचने का अवसर मिल सकता है। स्वर्ग, मुक्ति, आत्मदर्शन, ईश्वर प्राप्ति आदि इसी अपूर्णता के निराकरण का काम है।

चौथा महासत्य है—इस विश्व ब्रह्माण्ड को ईश्वर की साकार प्रतिमा मानना। श्रम सीकरों और श्रद्धा सद्भावना के अमृत जल से उसका अभिषेक करने की तप साधना करना। दूसरों के दुःख बँटाने और अपने सुख बाँटने की सहृदयता विकसित करना। आत्मीयता का अधिकाधिक विस्तार करना। अपनेपन को शरीर परिवार तक सीमित न रहने देकर उसे विश्व सम्पदा मानना और अपने कर्तव्यों को छोटे दायरे में थोड़े लोगों तक सीमित न रखकर अधिकाधिक व्यापक बनाना।

यह चार सत्य—चार तथ्य ही समस्त आध्यात्म विज्ञान के—साधना विधान के केन्द्र बिन्दु हैं। चार वेदों का सार तत्व यही है। इन्हीं महासत्यों को हृदयगम करने और उन्हें व्यवहार में उतारने से परम लक्ष्य की प्राप्ति होती है। जीवनोद्देश्य पूर्ण होता है। इन महासत्यों को जितनी श्रद्धा और जागरूकता के

साथ अपनाया जायेगा आत्म-निर्माण उतना ही सरल और सफल होता चला जायगा । युग निर्माण की दिशा में बढ़ते हुए हमें सर्वप्रथम आत्म-निर्माण पर ही ध्यान केन्द्रित करना चाहिए ।

## आत्म-बोध से देवत्व की प्राप्ति

व्यक्ति स्वयं क्या है ? जीवन का स्वरूप एवं लक्ष्य क्या है ? जीवन के साथ जुड़ी हुई विभूतियों का सही उपयोग क्या है ? इन प्रश्नों को उपेक्षा के गर्त में डाल देने से एक प्रकार की आत्म-विस्मृति छाई रहती है । अन्तःकरण मूर्च्छित स्थिति में जा पहुँचता और जीवन नीति का गम्भीर निर्धारण हो नहीं पाता । इन्द्रियों की उत्तेजना ही प्रेरणा बनकर रह जाती है । प्रचलित ढर्रे का अनुकरण ही स्वभाव बन जाता है । अहंता की तृप्ति के इर्द-गिर्द ही तथाकथित प्रगति कामना चक्कर काटती रहती है । अन्य कीट पतंगों की तरह नर-पशु भी पेट और प्रजनन के लिए किसी प्रकार जीवित रहता और मौत के दिन पूरे करता है । कटी पतंग और पेड़ से टूटे पत्ते हवा के झोंकों के साथ दिशाविहीन स्थिति में जिधर-तिधर उड़ते और छितराते हैं । हमारे जीवन भी इसी प्रकार जीने के लिए जीते रहते हैं । कोई उच्च उद्देश्य सामने न रहने और उस दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण प्रयास न बन पड़ने पर जीवन का आनन्द मिल नहीं पाता । ऐसे ही रोते-कलपते, हारी-थकी जिन्दगी कट जाती है । बहुत बार तो अधिक सुख की आतुरता में नीति, मर्यादा, औचित्य और विवेक को भी उठाकर ताक में रख दिया जाता है और ऐसा मार्ग पकड़ा जाता है, जिसमें न केवल अपना वरन् सम्बद्ध व्यक्तियों और पूरे समाज का भी अहित होता है ।

बाह्य ज्ञान की तरह अन्तःज्ञान भी आवश्यक है । सुख-साधनों की अभिवृद्धि की तरह उपभोक्ता की विवेक दृष्टि का प्रखर होना भी आवश्यक है, अन्यथा सुख-साधनों का दुरुपयोग ही बन पड़ेगा और उससे विपन्नताएँ एवं समस्याएँ ही उत्पन्न होंगी । आत्म-ज्ञान की आवश्यकता भौतिक ज्ञान से भी अधिक है । अच्छी मोटर खरीदने के साथ-साथ अच्छे ड्राइवर की भी व्यवस्था करनी चाहिए, अन्यथा पैदल चलने से भी अधिक कठिनाई अनाड़ी द्वारा चलाई जा रही मोटर में बैठने से उत्पन्न हो सकती है ।

आत्म-ज्ञान की आवश्यकता यदि अनुभव की जा सके तो सबसे पहले यह विचार करना होगा कि हम हैं क्या ? और आखिर क्यों जी रहे हैं ? इस तथ्य पर आत्मवेत्ता महामनीषियों ने अपने गम्भीर चिन्तन से जो निष्कर्ष निकाले हैं वे बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं । उन्हें भारत ने अपनाया था और उस आधार पर सर्वतोन्मुखी उत्कर्ष का लाभ उठाया था ।

अणु क्या है ? सुविस्तृत पदार्थ वैभव का एक छोटा-सा घटक । आत्मा क्या है ? परमात्म सत्ता का एक छोटा-सा अंश । अणु की अपनी स्वातन्त्र्य सत्ता लगती है; पर जिस ऊर्जा आवेश के कारण उसका अस्तित्व बना है तथा क्रिया-कलाप चल रहा है, वह व्यापक ऊर्जा तत्व से भिन्न नहीं है । एक ही सूर्य की अनन्त किरणें दिग्-दिगन्त में फैली रहती हैं । एक ही समुद्र में अनेकानेक लहरें उठती रहती हैं । देखने में यह किरणें और लहरें स्वतन्त्र और एक-दूसरे से भिन्न हैं । तो भी थोड़ी गम्भीर दृष्टि का उपयोग करने पर यह जाना जा सकता है कि यह भिन्नता, कृत्रिमता और एकता वास्तविक है । अलग-अलग बर्तनों के बीच रहने वाले आकाश में अपनी सीमा में बँधे होने के कारण अलग-अलग लगते हैं तो भी उनका अस्तित्व आकाशीय सत्ता से भिन्न नहीं है । पानी में अनेकों बुलबुले उठते और विलीन होते रहते हैं । बहती धारा में भँवर पड़ते हैं । दीखने में बुलबुले और भँवर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व प्रकट कर रहे होते हैं, पर यथार्थ मे वे प्रवाहमान जलधारा की सामयिक हलचल मात्र हैं । जीवात्मा की सत्ता स्वतन्त्र दीखती भर है; पर न केवल यह उसका अस्तित्व एवं स्वरूप भी व्यापक चेतना का एक अंशमात्र है ।

आध्यात्मवाद के इस सिद्धान्त से यह निष्कर्ष निकलता है कि—"हम विश्व चेतना के एक अंशमात्र हैं । समष्टि ही आधारभूत सत्ता है, हम उसकी छोटी चिनगारी भर हैं । एकता को शाश्वत भर समझा जाय पृथकता को कृत्रिम । सब में अपने को और अपने को सब मे समाया हुआ, देखा, समझा और माना जाय । सबके हित में अपना हित सोचा जाय । सबके दुःख में अपना दुःख माना जाय, सबके सुख में अपना

सुख । सबका उत्थान अपना उत्थान, सबका पतन अपना पतन, यह मानकर चलने से सीमित परिधि में सुखी होने की क्षुद्रता घटती है और व्यापक क्षेत्र में सुख सम्वर्धन की योजना सामने आती है ।"

सीमा संकीर्णता को अवास्तविक मानने से व्यक्तिवाद पर अवलम्बित स्वार्थपरता घटती चली जाती है । अपने को बड़ी मशीन का एक छोटा पुर्जा भर समझने से यह बात ध्यान में रहती है कि उसकी निजी उपयोगिता भी पूरी मशीन का अंग बनकर रहने में ही है । अलग निकलकर अलग से-अलग बड़प्पन, सुखोपभोग की बात सोची जायगी तो यह पृथकता अपनाकर कुछ लाभ नहीं उठाया जा सकेगा, हानि ही होगी । घड़ी से अलग निकलकर एक पुर्जा बाजार में बिकने चला जाय तो उसे कोई दो कौड़ी का न पूछेगा और मिलने पर उपेक्षापूर्वक इधर-उधर पटक देगा, पर यदि वह पूरी घड़ी के साथ हो तो घड़ी को मिलने वाले सम्मान में वह भी समान रूप से भागीदार बना रहेगा । पृथकतावादी स्वार्थपरता पर अंकुश लगाने और समूहवादी गतिविधियाँ अपनाने में यह एकता का दर्शन बहुत काम करता है ।

अपनापन ही प्यारा लगता है । यह आत्मीयता जिस पदार्थ अथवा प्राणी के साथ जुड़ जाती है, वही आत्मीय, परम प्रिय लगने लगता है । अपनेपन का दायरा छोटा हो तो मात्र शरीर की—बहुत हुआ तो परिवार की सुख-सुविधा सोची जाती रहेगी । वह थोड़ा-सा क्षेत्र ही अपना प्रतीत होगा और उतने तक ही प्रिय लगने की परिधि सीमित बनकर रह जायेगी । यह क्षेत्र जितना अधिक बढ़ेगा, उतनी ही प्रियता की परिधि विस्तृत होती चली जायगी । सभी अपने लगेंगे तो अपना परिवार अत्यन्त सुविस्तृत बन जायेगा । प्रिय पात्रों की मात्रा जितनी ही बढ़ती है उतना ही सुख-सन्तोष मिलता है । यदि व्यापक क्षेत्र में आत्मीयता विस्तृत कर ली जाय तो अपनेपन का प्रकाश बढ़ता जायेगा और उस सारे क्षेत्र का वैभव परमप्रिय लगने लगेगा । उन्नति मे—वृद्धि और विस्तार में हर किसी को गर्व-गौरव अनुभव होता है । बड़े उत्तरदायित्व समझना ही बडप्पन का चिन्ह है । यह अनुभूतियाँ उन्हे सहज ही मिल सकती है जो सीमा-बन्धनो की तुच्छता को निरस्त करके समष्टि के साथ जुड़े हुए कर्तव्यों का पालन करने के लिए कटिबद्ध होता है ।

एकता का दूसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि अंशी के सारे गुण सूक्ष्म रूप से अंश में विद्यमान रहते हैं । अस्तु, परमात्मा की समस्त विशेषताएँ तथा सम्भावनाएँ आत्मा में विद्यमान हैं और उन्हें विकसित करने के साधन जुटा कर उच्चतम स्तर तक पहुँचाया जा सकता है । चिनगारी में वे सभी सम्भावनाएँ मौजूद रहती है जो दावानल में पायी जाती हैं । विशाल वृक्ष का सारा ढाँचा बीज के भीतर मौजूद है । प्राणी की आकृति और प्रकृति का अधिकांश स्वरूप उस नन्हे-से शुक्राणु में पूरी तरह मौजूद रहता है जोकि आँखों से दिखाई तक नहीं पड़ता है । ब्रह्माण्ड के ग्रह नक्षत्र जिस रीति-नीति पर अपना क्रिया-कलाप चला रहे है उसी का अनुकरण सौर मण्डल करता है और उसी लकीर पर अणु-परमाणुओं के परिभ्रमण प्रयास चलते है । छोटे-से परमाणु के भीतर एक पूरे सौरमण्डल का नक्शा देखा जा सकता है । एटम के भीतर काम कर रहे—इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन आदि की भ्रमण गतियाँ कक्षाएँ लगभग वैसी ही है जैसी कि सौरमण्डल के ग्रह-उपग्रहो की ।

इस तथ्य को समझ लेने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है जीव की मूलसत्ता—गुणो की दृष्टि से ईश्वर के समतुल्य ही है । इस सम्भावना को विकसित करना मनुष्य जीवन में ही सम्भव हो सकता है । अस्तु उच्च पद प्रदान करने मे नियोजित की जाने वाली प्रतियोगिताओं की तरह ही अपना मनुष्य जीवन मिला हुआ है । जिन्हें परीक्षा में भाग लेने का अवसर मिला है वे अपनी प्रतिभा और पुरुषार्थ परायणता का परिचय देकर उत्तीर्ण होने का प्रमाण पत्र प्राप्त करते और प्रतियोगिता जीतकर उच्च पद प्राप्त करते हैं । ऐसा ही अवसर मनुष्य जीवन के रूप में भी मिला हुआ है । उसकी सार्थकता इसमे है कि अपने छोटे-से जीवात्मा स्तर को विकसित करके महात्मा-देवात्मा की कक्षाएँ पार करते हुए परम आत्मा—उत्कृष्टतम आत्मा बनने की पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त करे । उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श कर्तृत्व की उदात्त रीति-नीति अपनाने वाले ही इस महान जीवन लक्ष्य को प्राप्त करते देखे जाते हैं ।

मनुष्य जीवन भगवान का प्राणी को दिया गया *सबसे बहुमूल्य उपहार है । इससे अधिक महत्त्वपूर्ण* चेतन संरचना उसके भण्डार में और कोई नहीं है । इसे अनुपम और अद्‌भुत कह सकते हैं । बोलना, सोचना, शिक्षा, कला, आजीविका-उपार्जन, भोजन, निश्चिन्तता, वस्त्र, निवास, चिकित्सा, वाहन, परिवार, समाज, शासन, कृषि, पशुपालन, वैज्ञानिक उपकरण एवं अनेकानेक सुख-साधनों की सुविधा सृष्टि के अन्य किसी प्राणी को प्राप्त नहीं है । यहाँ यह प्रश्न उठता है कि सभी प्राणी ईश्वर के पुत्र हैं । एक समदर्शी पिता को अपनी सन्तानों के साथ समान व्यवहार करना चाहिए और समान अनुदान देने चाहिए । फिर ऐसा क्यों हुआ कि मनुष्य को ही इतना अधिक दिया गया और अन्य प्राणी उससे वंचित रखे गए ? यदि यह सब विभूतियाँ मात्र मौज करने के लिए ही मनुष्य को मिली होतीं तो निश्चय ही इसे अन्याय और पक्षपात कहा जाता, किन्तु परमात्मा न तो ऐसा है और न ऐसी नीति अपना सकता है । जो उसके महान गौरव पर उँगली उठाने का अवसर देती हो । मनुष्य को अधिक विश्वस्त, अधिक प्रामाणिक और समझदार बड़ा पुत्र माना गया है और उसके हाथ में वे अतिरिक्त साधन सौंपे गए हैं, जिनके सहारे वह ईश्वर के इस सुरम्य उद्यान संसार को अधिक सुन्दर, अधिक सुविकसित, अधिक समुन्नत और अधिक सुसंस्कृत बना सके ।

खजांची के पास ढेरों सरकारी रुपया रहता है, शस्त्र भाण्डागार का स्टोरकीपर सेना के हथियार और गोला-बारूद अपने ताले में रखता है, मिनिस्टरों को अनेकों सुविधा-साधन एवं अधिकार मिले होते हैं । यह सब विशुद्ध रूप से अमानतें हैं । इन्हें निजी लाभ के लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता । खजांची, स्टोरकीपर, मिनिस्टर आदि यदि अपने अधिकार की वस्तुओं को निजी उपयोग में खर्च करने लगें तो यह उनका अपराध माना जायेगा और दण्ड मिलेगा । ठीक इसी प्रकार मनुष्य को जो मिला है वह संसार को अधिक सुखी, समुन्नत बनाने के लिए मिली हुई धरोहर के रूप में है । उसमें से औसत नागरिक के स्तर का निर्वाह भर अपने उपयोग में लिया जा सकता है, इसके अतिरिक्त समय, श्रम, ज्ञान एवं धन के पद प्रभाव आदि के रूप में जो वैभव मिला है, उसका जितना अंश शेष रह जाता है उसे लोक मंगल के लिए नियोजित *किए रहना मनुष्य जीवन का दूसरा प्रयोजन है ।*

पूर्णता प्राप्ति की दिशा में अग्रसर होते हुए अनुकरणीय, आदर्श एवं पवित्रतम देव जीवन जीया जाय और शारीरिक, मानसिक एवं भौतिक उपलब्धियों में से न्यूनतम अंश अपने लिए लेकर शेष का परमार्थ प्रयोजनों में उपयोग किया जाय यही है ईश्वर प्रदत्त सुर-दुर्लभ मानव-जीवन के अलभ्य अवसर का श्रेष्ठतम उपयोग । राजघरानों में यह प्रथा थी कि बड़े बेटे को राजगद्दी पर बिठाया जाता था और यह युवराज ही समयानुसार पिता के सारे उत्तरदायित्वों को वहन करता था । छोटे भाई-बहनों की सुव्यवस्था का भार भी उसी के कन्धे पर रहता था । समझा जाना चाहिए कि राजाधिराज परमेश्वर का ज्येष्ठ पुत्र—युवराज—मनुष्य है उसे अन्य जीवधारियों की तुलना में जितना कुछ अधिक मिला है वह सब विशेष उद्देश्य के लिए है । उसे विलासिता, संग्रह अलंकार के उद्धत प्रदर्शन एवं औलाद के लिए मुफ्त का धन छोड़ जाने जैसे हेय प्रयोजनों में खर्च नहीं किया जाना चाहिए । अमानत की—धरोहर को उसी प्रयोजन में लगाया जाना चाहिए जिसके लिए वह मिली है ।

शरीर और मन जीवन रूपी रथ के दो पहिए—दो घोड़े हैं । इन्हें काम करने के दो हाथ—आगे बढ़ने के दो पैरों से उपमा दी जा सकती है । अन्तःकरण की आस्था एवं आकांक्षा के अनुरूप यह दोनों ही स्वामिभक्त सेवक सदा कार्य करने के लिए तत्पर रहते हैं । शरीर की अपनी स्वतन्त्र कोई सत्ता या इच्छा नही । वह जड़ है । इन्द्रियाँ भी जड़ पंचतत्वों से बनी हैं । अन्तःकरण में जैसी उमंगें उठती हैं, उसी दिशा में शरीर की क्रियाशीलता चल पड़ती है । इसी प्रकार मन भी अपनी मर्जी से कुछ नही करता । उसमें सोचने का गुण तो है, पर क्या सोचना चाहिए ? यह निर्धारण करना अन्तःकरण का काम है । सज्जनों का चिन्तन एवं कर्तृत्व एक तरह का होता है और दुर्जनों का दूसरी तरह का । इसमें दोनों के शरीर और मन सर्वथा निर्दोष होते हैं । अन्तःप्रेरणा का निर्देश बजाते रहना भर उनका काम है । दुष्कर्म करने या मन की दुर्बुद्धिग्रस्त होने का जो दोष दिया जाता है वह अवास्तविक है । इन दिनों वाहनों को प्रेरणा एवं दिशा देने का काम अन्तःकरण रूपी सारथी का है ।

शरीर में क्रिया, मन में विचारणा और अन्तरात्मा में भावना काम करती है । भावनाओं को ही श्रद्धा, आस्था, निष्ठा, मान्यता आदि के नाम से जाना जाता है । इन्हीं सबके समन्वय से आकांक्षा उभरती है और फिर उसी की निर्देशित दिशा में शरीर और मन के सेवक काम करने के लिए कटिबद्ध हो जाते है ।

आत्म-ज्ञान का अर्थ है अन्तरात्मा के गहन स्तर में यह अनुभूति एवं आस्था उत्पन्न करते रहना कि हम सत्, चित्त, आनन्द परमात्म सत्ता के अविच्छिन्न अंग है । हमें पूर्णता प्राप्ति के लिए श्रेष्ठतम जीवन-क्रम अपनाना है और जो उपलब्ध है उसे लोकहित के लिए प्रयुक्त करना है । आत्म-ज्ञान की भूमिका में जगा हुआ जीवात्मा संकीर्ण स्वार्थपरता की परिधि को लांघकर सब में अपने को और अपने में सबको देखता है, इसलिए उसके सामने व्यक्तित्ववादी, आपाधापी फटकने भी नहीं पाती, जो सोचता है और करता है उसमें व्यापक लोकहित की, सदुद्देश्यों को कार्यान्वित करने की भावना काम करती है । कहना न होगा कि आत्मबोध से लाभान्वित आत्माओं को प्रत्येक विचारणा और प्रत्येक क्रिया-पद्धति में मात्र आदर्शवादिता ही उभरती, छलकती दिखाई पड़ती है । ऐसे लोग अभावग्रस्त और संकटग्रस्त हो सकते है पर अन्तःकरण मे उन्हें असीम आनन्द और सन्तोष की अनुभूति हर घड़ी होती रहती है ।

भगवान बुद्ध को जिस दिन आत्मज्ञान हुआ, उसी दिन से दिव्य मानव बन गए । जिस वट वृक्ष के नीचे उन्हें आत्मबोध हुआ था उसकी टहनियाँ काट-काटकर उनके अनुयायी अपने-अपने क्षेत्रों मे ले गए और वहाँ उसकी मूर्तिमान देवता के रूप में स्थापना की । इसका तात्पर्य है बुद्ध को सामान्य राजकुमार से भगवान बना देने का श्रेय उस आन्तरिक जागरण को ही दिया गया जिसे आत्म-बोध के रूप में पुकारते है । यह उपलब्धि जिसे भी मिल सकेगी वह उसी मार्ग पर चलने वाला वैसा ही सत्परिणाम प्राप्त करने का अधिकारी माना जायेगा ।

## आत्मिक प्रगति की दिशाधारा

शरीर से कोई महत्त्वपूर्ण काम लेना हो तो उसके लिए उसे प्रयत्न पूर्वक साधना पड़ता है । कृषि, व्यवसाय, शिल्प, कला आदि के जो भी कार्य शरीर से कराने हैं उनके लिए उसे अभ्यस्त एवं क्रिया-कुशल बनाने के लिए आवश्यक ट्रेनिंग देनी पड़ती है । लुहार, सुनार, दर्जी, बुनकर, मूर्तिकार आदि काम करने वाले अपने शिल्पों को बहुत समय तक सीखते हैं, तब उनके हाथ उपयुक्त प्रयोजन के लिए ठीक प्रकार सधते हैं । गायक, चित्रकार, अभिनेता, पहलवान आदि को अपने-अपने कार्यों को ठीक तरह कर सकने की देर तक शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती है । अस्तु शरीर को अभीष्ट कार्यों के लिए प्रशिक्षित करने की आवश्यकता सर्वत्र समझी जाती है और उसके लिए साधन भी जुटाए जाते हैं ।

शिक्षा का दूसरा क्षेत्र है मस्तिष्क । मस्तिष्क का ही शरीर पर नियन्त्रण है । जीवन की समस्त दिशा धाराओं को प्रवाह देना मस्तिष्क का ही काम है । "बुद्धिर्यस्य वलं निबुर्द्धिस्य कुतोवलम्" सूक्ति में सच ही कहा है—जिसमें बुद्धि है, उसी में बल है । बुद्धिहीन तो सदा दुर्बल ही रहता है । प्रत्यक्ष को प्रमाण क्या ? हाथी को गधे जैसा लदते और सिंह तथा बन्दर को समान रूप से नाचते देखकर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि दुर्बल काय मनुष्य अपने बुद्धिबल से किस प्रकार सृष्टि के समस्त प्राणियों पर शासन कर रहे हैं । इस प्रशासन के अन्तर्गत वे जीव भी आते हैं जो शारीरिक प्रतियोगिता में मनुष्य को हजार बार पछाड़ सकते हैं ।

मस्तिष्कीय शिक्षण के लिए ज्ञान और अनुभव सम्पादित करना पड़ता है । जानकारी और अभ्यास की इसके लिए आवश्यकता होती है । इसका बहुत कुछ प्रयोजन स्कूली शिक्षा, साहित्य, सत्संग, मनन, चिन्तन आदि के सहारे पूरा होता है । मस्तिष्कीय क्षमता विकास की उपयोगिता भी सर्वविदित है । इसलिए अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार स्कूली अथवा दूसरी प्रकार की शिक्षा पद्धति अपनायी जाती है और जानकारी, समझदारी बढ़ाने के लिए यथासम्भव प्रयत्न किया जाता है । शिक्षा का दूसरा चरण जानकारी की कमी को पूरा करना है । इससे विचार शक्ति बढ़ती है, बुद्धि तीक्ष्ण होती है और व्यवहार कुशलता आती है । बौद्धिक विकास के लिए शिक्षा परक जो भी उपाय किए जाते है, वे सभी सराहनीय है । शारीरिक कुशलता की ही तरह मस्तिष्कीय विकास भी आवश्यक

है । अस्तु शिक्षा के इन दोनों क्षेत्रों में अधिकाधिक समावेश करने के प्रयत्नों की प्रशंसा ही की जायेगी ।

शिक्षा का प्रवेश प्रायः शरीर एवं मस्तिष्क तक ही सीमित रहता है, अन्तःकरण का स्तर बदलने में तथाकथित ज्ञान सम्पादन की कोई विशेष उपयोगिता सिद्ध नहीं होती । यदि मस्तिष्कीय शिक्षण से आस्थाएँ बदली जा सकतीं तो हर राजनेता सच्चे अर्थों में देशभक्त होता—हर सरकारी कर्मचारी लोक-सेवा में उसी निष्ठापूर्वक संलग्न रहता जैसा कि उसे ट्रेनिंग की पाठ्य पुस्तकों में पढ़ाया गया था । तब धर्मोपदेशक नीति और सदाचार का ही आदर्श प्रस्तुत करते दिखाई पड़ते ।

तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि व्यक्तिगत को सच्चे अर्थों में सुसंस्कृत और समुन्नत बनाने के लिए क्या किया जाय ? इसके उत्तर में एक ही तथ्य सामने आता है कि आस्थाओं के सहारे आस्थाओं को उभारा जाय । जंगली हाथी पकड़ने में प्रशिक्षित हाथियों का उपयोग होता है । काँटे से काँटा निकालने और विष से विष को मारने की कहावत प्रसिद्ध है । लोहे को लोहे से काटा जाता है । डूबे को पानी मे से निकालने के लिए स्वयं डुबकी लगानी पड़ती है । अन्तःकरण के आस्था क्षेत्र को कुसंस्कारों से मुक्त करने के लिए सदुद्देश्यपूर्ण आस्थाओं की नये सिरे से प्रतिष्ठापना करनी पड़ती है ।

जीवन के मध्य केन्द्र—नाभिक को अन्तःकरण कहते हैं । उसी की स्थिति व्यक्ति को महान बनाती है और उसी के आधार पर निकृष्टता के गर्त में गिरना पड़ता है । समुन्नत और पतित व्यक्तियों में एक जैसे साधन रहते हुए भी अन्तर क्यों आया ? इसका कारण ढूँढ़ना हो तो उनकी आस्थाओं में अन्तर रहना ही प्रधान निमित्त परिलक्षित होगा । धन-वैभव की दृष्टि से व्यवहार कुशलता, अवसर, साधन, सहयोग आदि का महत्त्व हो सकता है, पर व्यक्तित्व के उत्थान-पतन की बात तो पूरी तरह व्यक्ति के अन्तःकरण की स्थिति पर ही टिकी हुई है । गीताकार ने व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए ठीक ही कहा है—"श्रद्धामयोऽयं पुरुष योगच्छ्रधः स एव स" अर्थात् यह मनुष्य श्रद्धामय है । जिसकी जैसी श्रद्धा है वस्तुतः वह ठीक वही है । तात्पर्य स्पष्ट है । यह मनुष्य का स्वास्थ्य, ज्ञान, धन, पद उसका मूलस्वरूप नहीं है, वह तो आवरण शृंगार मात्र है जिनकी कभी भी उलट-पुलट हो सकती है । स्थायित्व तो अन्तःकरण में भावस्थित आस्थाओं, विश्वासों, आकांक्षाओं पर निर्भर है । वे जिस स्तर की होंगी, मनुष्य उन्हीं के अनुरूप ढलेगा और अन्ततः उन्हीं के अनुरूप उठने, गिरने का आधार बनेगा ।

यहाँ समझने योग्य तथ्य इतना ही है कि आवरणों को सब कुछ न मानकर व्यक्ति की मूलसत्ता प्राण चेतना को ऊँचा उठाने की बात सामने हो तो फिर अन्तःकरण को परिष्कृत करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं । अब प्रश्न यह उठता है कि यह किया किस प्रकार जाय ? इसके दो उपाय हैं—

(१) आत्म-विश्लेषण के द्वारा स्व-सत्ता की स्थिति तथा दशा का सही बोध कराने वाली आस्थाओं की गहन अन्तराल में प्राण-प्रतिष्ठा की जाय । (२) साधनाओं के क्रिया-कलाप द्वारा संचित कुसंस्कारों को उखाड़ कर उत्कृष्ट आस्थाओं को जमा सकने में समर्थ प्राणशक्ति को प्रखर बनाया जाय ।

प्रथम उपाय के लिए ब्रह्मविद्या का—तत्वदर्शन का अवगाहन करना होता है । आध्यात्म विज्ञान का ज्ञान-भाग इसी के लिए विनिर्मित हुआ है । आत्मबोध के लिए उच्चस्तरीय स्वाध्याय-सत्संग, मनन-चिन्तन की आवश्यकता पड़ती है । आत्म-चिन्तन और आत्म-मंथन पर विचार शक्ति को केन्द्रित करना होता है । भगवान बुद्ध आदि आत्मज्ञानियों को अपनी साधना का केन्द्र बिन्दु इसी को मानकर चलना पड़ा था । आध्यात्म की भाषा मे इसे योग कहते हैं । योग का अर्थ है जोड़ना । यह चिन्तन परक प्रक्रिया है । आत्मा को परमात्मा से, जीव को ब्रह्म से, सामान्य को असामान्य से सम्बद्ध करने के लिए चिन्तन का उपयोग भी करना पड़ता है और भावनाओ का भी । ब्रह्मविद्या का विशालकाय कलेवर इसी प्रयोजन के लिए खड़ा किया गया है । योग क्रियापरक नहीं विचारपरक है । उसकी परिधि में आत्मा और परमात्मा के बीच जुड़े हुए असंख्य सूत्रों का विविध आधारों पर गहन चिन्तन करना पड़ता है । दर्शन शास्त्र की रचना इसीलिए हुई है । इस परिधि में भावनाओं को उच्चस्तरीय प्रगति की दिशा में उभारना भी आता है । इसे भक्ति कहते हैं । प्रेम का निकृष्ट स्वरूप तो मोह और वासना के स्वरूप जैसा घटिया और घिनौना हो जाता है, पर

उसकी ऊँची स्थिति आत्मीयता की सम्वेदनाओं को अधिकाधिक व्यापक बनाने के रूप में होती है । 'रसो वै स' सूत्र में सत्य ही कहा गया है कि—प्रेम ही परमेश्वर है ।' इससे बढ़कर सरसता अन्यत्र कहीं है ही नहीं । जिस पदार्थ या प्राणी पर आत्मीयता बखेर दी जाती है उसी में सुन्दरता एवं सरसता की अनुभूति होने लगती है । त्याग, बलिदान, सेवा, उदारता जैसी सत्प्रवृत्तियों का तभी उभार आता है जब उच्चस्तरीय 'प्रेम' का अन्तराल में उदय होने लगे । प्रेम तत्व की संम्वेदनाएँ जागृत करने के लिए 'ईश्वर भक्ति' के रूप में भावनाएँ उभारनी पड़ती हैं । इसके लिए पूजा, अर्चना, कीर्तन, ध्यान, लीलाओं का श्रवण, दर्शन आदि उपायों का अवलम्बन करना पड़ता है । अर्जुन को विराट् ब्रह्म के रूप में ईश्वर की झाँकी जिस दिव्य दृष्टि से हुई थी उसी को अपनाने से 'सियाराम मय सब जग जानी' की श्रद्धा उभरती है और स्वार्थ संकीर्णता से ऊँचे उठकर लोक-मंगल की दिशा में चल पड़ने की उमंग क्रियान्वित होती है ।

तप आत्मोत्कर्ष का दूसरा चरण है । चेतना के साथ जो तीन कलेवर लिपटे हैं, वे सामान्यता जीवन निर्वाह के आवश्यक क्रिया-कलाप पूरे करने भर के लिए मालूम पड़ते है, पर वस्तुतः उनके अन्तराल में शक्तियों और सिद्धियों के अजस्र भाण्डागार छिपे पड़े है । इस रत्न राशि को खोज निकालने और उखाड़-उभारकर ऊपर ले आने की वैज्ञानिक पद्धति का नाम तप है । स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों की मोटी गतिविधियाँ सर्वविदित हैं । स्थूल शरीर रक्त माँस का बना—क्रिया-कलाप के उपयुक्त और जीवन धारण की आवश्यक कार्यपद्धति पूरी करने के लिए बना है । सूक्ष्म शरीर से मन और बुद्धि के विविध कार्य सम्पन्न होते हैं । कारण शरीर भावनाओं का केन्द्र है—इच्छाएँ, प्रेरणाएँ, उमंगें, सम्वेदनाएँ इसी में भरी रहती हैं । सन्तोष-असन्तोष, आनन्द-अवसाद का अनुभव इसी में होता है । इन तीनों शरीरों की मिली गतिविधियों को जीवन का स्वरूप कहते हैं । वह सामान्य बात हुई । असामान्य को खोजा जाय तो प्रतीत होगा कि शरीर की ओजस्विता, मस्तिष्क की मनस्विता और अन्तःकरण की तेजस्विता की सामर्थ्य कितनी महान हैं । यह चेतनात्मक ऊर्जाएँ जिसमें जितनी मात्रा में बढ़ी-चढ़ी होती हैं वह उतना ही प्रभावी, पराक्रमी, समुन्नत एवं अभिवन्दनीय बनता चला जाता है ।

यह वैयक्तिक चुम्बक हर व्यक्ति के भीतर न्यूनाधिक मात्रा में मौजूद है । वह आत्मा का गुण है । आत्मा की अविच्छिन्न ऊर्जा तीनों शरीरों में तेजस्, मनस् एवं ओजस् के रूप में झाँकती और काम करती देखी जा सकती है । जन्मजात रूप से हर व्यक्ति इस क्षमता को अपने साथ लेकर आता है । पर वह प्रसुप्त स्थिति में रहता है । जिनके पास पूर्व संग्रह है उनमें आरम्भ से ही इनकी अधिकता रहती है । जिनके पास ऐसा संचय नहीं है वे प्रयत्नपूर्वक उसे उभार सकते हैं ।

तप का स्वरूप है तपाना, गर्म करना । आग पर गर्म करने से सामान्य वस्तुओं की भी उपयोगिता बढ़ाई जा सकती है, फिर व्यक्तित्व की प्रखरता उससे क्यों न बढ़ेगी ? कच्चे अन्न को चूल्हे पर पकाकर मिष्ठान, पकवान बनाते हैं । ईंटों को भट्टे में लगाने से वे टिकाऊ बन जाती हैं । धातुओं को शुद्ध और सुदृढ़ बनाने के लिए उन्हें भट्ठी में डाला जाता है । पानी को गरम करने पर जो भाप बनती है उसकी सामर्थ्य से रेलगाड़ियाँ दौड़ती हैं । भस्में और रसायनें अग्नि संस्कारों से बनती हैं । बारूद में ताप पहुँचते ही भयंकर विस्फोट होता है । गर्मी से अण्डे पकते हैं । कृमि-कीटकों को मारने के लिए आग जलाई जाती है । प्रकाश और शक्ति का वैभव प्रकारान्तर से ताप की ही प्रतिक्रिया है । बिजली क्या है ? ताप का ही एक रूप है । शरीर में तभी तक जीवन है जब तक उसका तापमान नियत मात्रा में बना रहे, उसके गिरने पर निष्क्रियता बढ़ती जायेगी और प्राणान्त होकर रहेगा । जितनी मशीनें चलती हैं वे सभी अपने-अपने स्तर के ईंधन माँगती हैं । तेल, कोयला, भाप, गैस आदि तरह-तरह के ईंधन ही अग्नि संयोग से वह शक्ति उत्पन्न करते हैं जिससे मशीनें काम कर सकें । शरीरों को यही ईंधन आहार के माध्यम से मिलता है । गतिशील बनाये रहने के लिए गर्मी आवश्यक है । पृथ्वी से पदार्थ और प्राणी अपनी हलचलें जारी रखने के लिए आवश्यक ऊर्जा सूर्य से प्राप्त करते हैं ।

मान्यता है कि देवी-देवताओं की मनुहार मन्त्र-तन्त्रों के आधार पर करने से वे प्रसन्न हो जाते है और

साधनारत व्यक्ति को मनोवांछित वरदान प्रदान करते हैं। इस मान्यता का एक अन्धा पक्ष है दूसरा उजाला। अन्धा यह है कि देवी-देवताओं के पास और कुछ काम धन्धा न हो—पूजा-प्रार्थना के लिए उनके मुँह में लार टपकती रही हो और प्रशंसा सुनने एवं सस्ते भेंट-उपहार पाने भर से वे किसी पर लट्टू होकर ऐसे वरदान देते हों जो भारी उच्चस्तरीय पात्रता सम्पन्न व्यक्तियों को ही मिल सकते हैं। यदि यह मान्यता सही हो, तो फिर देवी-देवताओं को रिझाना ही लाटरी लगाने की तरह अत्यन्त लाभप्रद व्यवसाय है। साधना विज्ञान में छाई हुई इस मूढ़ मान्यता का कोई आधार नहीं है। न इसके पीछे कोई तर्क है और न आधार।

उजाला पहलू यह है कि मानवी अन्तराल में एक से एक अद्भुत क्षमता केन्द्र प्रसुप्त स्थिति में पड़े हैं। यही देवी-देवता हैं। इन्हें साधना पुरुषार्थ से उसी प्रकार बलिष्ठ बनाया जा सकता है जैसे व्यायाम से माँस-पेशियों को और अध्ययन से मस्तिष्कीय ज्ञानकोषों को। कारण शरीर का व्यायाम भी तप साधन है। इससे देव संस्थानों को जागृत होने का अवसर मिलता है। तप से अपने ही अन्तस् के प्रसुप्त को जागृत किया जाता है और उसके फलस्वरूप दिव्य अनुदानों-वरदानों का प्रतिफल मिलता है। यही देवाराधना का उजला पक्ष है। इस मान्यता के पीछे तर्क भी हैं और तथ्य भी। साधना से सिद्धि मिलने वाली मान्यता इस आधार पर पूर्णतया प्रामाणिक मानी जा सकती है।

संक्षेप में, चेतना के भावपक्ष को उच्चस्तरीय उत्कृष्टता के साथ एकात्म कर देने को 'योग' कहते हैं। यह आस्थाओं एवं आकांक्षाओं का परिष्कार है। योगी की मनोभूमि इसी प्रकार की होती है। वह शरीरगत तथा मनोगत वासनाओं, तृष्णाओं की उपेक्षा करता है, उन्हें तुच्छ नगण्य मानता है। तीनों ऐषणाओं से उसे सहज विरक्ति हो जाती है। उसे कण-कण में परमेश्वर दिखाई पड़ता है। हर किसी से प्रेम करने को जी करता है। इस प्रेम-दुलार और सुधार का सन्तुलित और समुचित समन्वय दूरदर्शी विवेक के आधार पर किया गया है। योगी की स्वार्थपरता मिट जाती है। विश्व नागरिक अपने को मानता है और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की दृष्टि रहती है और प्राणिमात्र के साथ आत्मीयता का सूत्र जुड़ जाता है। विचारणा में उत्कृष्टता और क्रिया पद्धति में आदर्शवादिता का अधिकाधिक समन्वय होता चलता है। सृष्टि समष्टि और प्रकृति के रहस्य को समझ लेने के कारण उसे किसी भी प्रिय-अप्रिय स्थिति में असन्तुलन उत्पन्न नहीं होना पड़ता है। समत्ववत् स्थिति बनी रहती है। खिलाड़ी की तरह—रंगमंच पर अभिनय करने वाले नट की तरह वह अपने प्रयास तो पूरे करता है, पर हार-जीत का मान-अपमान का बोझ नहीं ओढ़ता। जब खेल ही खेलना है तो हर स्थिति में विनोद ही विनोद की मनःस्थिति क्यों न रखी जाय? योगी की प्रकृति इसी तरह की होती है।

## आध्यात्म के अवलम्बन से नर का नारायण में परिवर्तन

प्रकृति विनिर्मित सभी वस्तुएँ मनुष्य के यथावत् उपयोग में नहीं आ पातीं। उनमें से कुछेक ही ऐसी हैं जिन्हें प्राकृत रूप में प्रयोग किया जा सकता है। साधारणतया प्राणी समुदाय आहार-पोषण तक ही सीमित रहते, काम चलाते और सन्तुष्ट रहते हैं। यही बात चेतना के सम्बन्ध में भी है। सभी प्राणी अपनी इन्द्रिय क्षमता और अन्तःप्रेरणा के सहारे सामान्य निर्वाह की आवश्यकता तथा सुरक्षा की कठिनाइयों का सामना कर लेते हैं। इससे अधिक की उन्हें आवश्यकता तो नहीं पड़ती। जिस स्तर का जीवन उन्हें जीना है उनके लिए अतिरिक्त प्रयोजन अभीष्ट न होने से सृष्टा ने अधिक कुछ देने की आवश्यकता भी नहीं समझी और अतिरिक्त भार का झंझट भी नहीं लादा।

मनुष्य को इस समुदाय में नहीं गिना जाता। उसे सृष्टा ने इस जगती का मुकुटमणि बनाकर भेजा है। उसके लिए पेट भरने एवं आक्रमणों से जान बचाने की पशु स्तर की सुविधाएँ पर्याप्त नहीं समझी गईं। इससे अधिक भी उसे कुछ चाहिए। शरीर भी उतने से सन्तुष्ट नहीं होता जितने से कि अन्य प्राणियों का काम चल जाता है। मन की आकांक्षाएँ भी बढ़ी-चढ़ी हैं। साथ ही अन्तःकरण उच्चस्तरीय रीति-नीति अपनाने के लिए अन्यान्य समर्थताओं की भी माँग करता है। यह साधन न मिले तो फिर

वन-मानुष स्तर का निर्वाह करने से आगे की कुछ बात नहीं बनती है ।

मानवी संरचना बड़ी विचित्र है । उसकी शारीरिक मानसिक, आर्थिक, पारिवारिक, सामाजिक, आध्यात्मिक क्षेत्रों की आवश्यकताएँ इतनी अधिक हैं कि उन्हें पूरा करने के लिए मात्र इन्द्रिय, चेतना एवं मूल प्रवृत्तियों के आधार पर गतिशील अन्तःप्रेरणाओं के सहारे उस तरह काम चल नहीं सकता जिस तरह की अन्य प्राणियों का चल जाता है । आवश्यकताओं के असंख्य क्षेत्र बढ़ जाने के कारण मनुष्य को अगणित पदार्थों का रूपान्तरण करके, उन्हें अपने उपयोग में आ सकने योग्य बनाना पड़ा है । इसी प्रयास-प्रक्रिया का नाम भौतिकी है । इस विज्ञान का आश्रय लिए बिना मनुष्य को आदिम युग से आगे बढ़ सकने का अवसर ही नहीं मिल सकता । वर्तमान विकास युग का पूरा-पूरा श्रेय इसीलिए भौतिकी को दिया जा सकता है ।

उदाहरण के लिए कपास के वस्त्र, कच्चे अन्न से सुपाच्य भोजन, रात्रि में प्रकाश, भूमि से उत्पादन पशु-पालन, नौकायन, चिकित्सा, परिवहन, शिक्षा जैसे कार्यों में जिन वस्तुओं का उपयोग होता है, वे प्राकृत रूप में उपलब्ध नहीं होते, उन्हें पदार्थ के मौलिक स्वरूप को बदलकर काम मे आने योग्य बनाना पड़ता है । औजार जमीन में से नहीं निकलते । प्रकृतितः तो भूमि में से मिट्टी मिला लोहा निकलता है, उससे कोई भी वस्तु नहीं बन सकती । अनेकों अग्नि-संस्कार करने के उपरान्त ही कच्चा लोहा शुद्ध होता है और उससे उपयोग योग्य अनकों वस्तुएँ बनती हैं । पानी की आवश्यकता वर्षा के द्वारा बनने वाले नालो—जोहड़ों से पूरी नहीं हो सकती । इसके लिए कुआँ खोदने, पम्प, चरस आदि का प्रबन्ध करना पड़ता है । यह 'भौतिकी' है ।

इससे आगे उन अनेकानेक आविष्कारो, यन्त्र-कारखानों का सिलसिला शुरू होता है; जिनके माध्यम से प्राकृत पदार्थों को उलट-पुलट कर अनेकों वस्तुएँ बनती हैं । यह निर्वाह की प्रक्रिया हुई । इसके आगे अस्त्र-शस्त्र, कला-कौशल, सुविधा-सम्वर्धन, परिवहन-संचार, विनोद उपचार आदि के अनेकों ऐसे साधनों का क्षेत्र आरम्भ होता है, जो निर्वाह से आगे की आवश्यकता पूर्ण करती है । संक्षेप में, भौतिकी का वह स्वरूप समझा जाना चाहिए जो अभ्यास में आने के कारण नया जैसा—महत्त्वपूर्ण जैसा तो प्रतीत नहीं होता, पर वस्तुतः है सभ्यता और प्रगति का मेरुदण्ड, उनके अभाव में मनुष्य की आज क्या स्थिति हो सकती है, इसकी कल्पना मात्र से भय का संचार होता है ।

ठीक यही बात आत्मिकी के सम्बन्ध में स्पष्ट है, जड़ से चेतन का स्तर ऊँचा है । चेतन ड्राइवर के बिना लाखों, करोड़ो की बनी रेलगाड़ी सही रीति से एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकती । स्वसंचालित यन्त्रों का भी कोई संचालक—नियामक होता है । पदार्थ सत्ता का मानवोपयोगी पक्ष पूर्णतः भौतिकी के चमत्कारों से भरा पड़ा है । आत्मिकी का उद्देश्य मानवी चेतना को इस योग्य बनाना व ऊँचा उठाना है कि पदार्थों और प्राणियों के साथ व्यवहार करने की ऐसी विधि सुझाए जिसके कारण सुविधा एवं प्रसन्नता बढ़ती रहे । इस आलोक के अभाव में वस्तुओं के दुरुपयोग और प्राणियों से दुर्व्यवहार की अव्यवस्था फैलेगी और फलतः ऐसी परिस्थिति सामने आ खड़ी होगी, जिससे कि सुविधा सहयोग देने वाले उल्टी हानि पहुँचाने लगें और प्राणघातक संकट खड़े करें । आत्मिकी ही है जिसके आधार पर मनुष्य अपने चिन्तन और चरित्र को परिष्कृत स्तर का—ताल-मेल बिठा सकने में सक्षम बनाता है । इसके अभाव में उसे अनगढ़, पिछड़े, असभ्य लोगों की तरह वनमानुष जैसा जीवन जीना पड़ेगा । साधन रहते हुए भी सही उपयोग न बन पड़ने के कारण उल्टे सकट में फँसना पड़ेगा ।

अन्य प्राणियों में बुद्धि और आवश्यकता का सन्तुलन है, इसलिए उनकी गाड़ी पटरी पर लुढ़कती रहती है । मनुष्य ने प्रगति की है, सुविधा बढ़ाई है, तो इसे यह भी जानना होगा कि उपलब्धियों का उपयोग करते समय किस प्रकार सोचा जाय और व्यवहार में किन मर्यादाओं का ध्यान रखा जाय । इसके अभाव मे बढ़े हुए साधनों का दुरुपयोग होने पर विपत्तियों और विग्रहो के टूट पड़ने का खतरा रहेगा । विक्षिप्तों, सनकियों, दुर्बुद्धि-दुराचारियों को अपने पैरों कुल्हाड़ी मारते और दूसरे के लिए संकट खड़े करते, आये दिन देखा जाता है । इसका कारण साधनो का अभाव नहीं, उनके उपार्जन, संरक्षण एव उपयोग की प्रक्रिया में

अनजान अनभ्यस्त रहना होता है । प्रगतिशील और पिछड़े लोगों के बीच इसी विशेषता की न्यूनाधिकता होती है, जिसे सभ्यता, बुद्धिमत्ता, सज्जनता, व्यवहार-कुशलता आदि नामों से पुकारते हैं । संस्कृति यही है । इसी के सहारे मनुष्य प्रगतिशील बनते, सुखी रहते और दूसरों की सहायता करके उनका स्नेह, सहयोग अर्जित करते हैं ।

आत्मिकी की यह चर्चा व्यावहारिक जीवन में सरलता और प्रसन्नतापूर्वक निर्वाह चलाने की, सन्तुलन बनाये रहने की प्रक्रिया हुई । आगे और भी बहुत कुछ जानने योग्य है । श्रम शक्ति के चमत्कार से सभी परिचित हैं । शारीरिक हो या मानसिक, विद्युत आदि के माध्यम से उत्पन्न की गई श्रम शक्ति ही विविध-विध निर्माणों की व्यवस्था बनाती है । इसके बाद दूसरी शक्ति है—विचारणा । इसके अनेकों पक्ष हैं—कल्पना, तर्क, निर्धारण, बुद्धिमत्ता, दूरदर्शिता, आकांक्षा, आस्था, आदि । इन्हीं मानसिक क्षमताओं के द्वारा मनुष्य अपनी विशिष्टताओं को प्रकट करता—सफलताएँ प्राप्त करता तथा श्रेय बटोरता है । विचार शक्ति बढ़ाने की आवश्यकता सभी समझते हैं और शरीर को स्वस्थ रखने के निमित्त आहार-उपचार की तरह बौद्धिक क्षमता बढ़ाने के लिए प्रशिक्षण एवं अनुभव सम्पादन के अनेकों साधन जुटाते हैं । यह विचारणा का काम-काजी पक्ष हुआ । इसके सहारे ही समृद्धि, प्रगति एवं प्रसन्नता के आधार बनते हैं इस प्रक्रिया को 'सभ्यता' कहते हैं । नागरिकता, सामाजिकता, शिष्टता, व्यवहार कुशलता से सम्बन्ध रखने वाली आवश्यक मर्यादा से अवगत एवं उन्हें ठीक तरह क्रियान्वित कर सकने वालों को सभ्य कहते है । यह आवश्यकता भी स्वास्थ्य-रक्षा की तरह नितान्त उपयोगी है । इस प्रयास में यथासम्भव अधिकांश लोग प्रयत्नशील भी रहते है ।

आत्मिकी—'आध्यात्म विद्या' में, विचारणा में उत्कृष्टता का समावेश कर सकने की विशिष्ट व्यवस्था है, जिसमें निर्धारण और अभ्यास दोनों का ही समावेश हैं । दृष्टिकोण इसी आधार पर विनिर्मित होता है । आत्मिकी का सीधा सम्बन्ध अन्तःकरण के उस मर्मस्थल से है जिसमें श्रद्धा-विश्वास रूपी उमा-महेश का निवास है । अन्तःकरण चतुष्टय की व्याख्या मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के रूप में की जाती है । मनोविज्ञान की भाषा में इन्हीं को आकांक्षा, आस्था, आदतें कहते और व्यक्तित्व का मूलभूत आधार मानते हैं । यह क्षेत्र जिस स्तर का होता है उनका व्यक्तित्व उसी ढाँचे में ढलता चला जाता है । घड़ी की चाबी ही उस मशीन के समस्त कल-पुर्जों को चलाती है । उसी प्रकार मनुष्य के अन्तराल से उठने वाली उमगें ही मस्तिष्क को तद्नुसार सोचने के लिए—शरीर को अभीष्ट साधन जुटाने के लिए विवश करती हैं । मस्तिष्क सोचने के लिए स्वतन्त्र नहीं है और न अपनी मर्जी से कुछ करता है दोनों को स्वामिभक्त नौकर की तरह अन्तःकरण से उठने वाली आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए विवश होकर कार्यरत होना पड़ता है ।

मानवी सत्ता का मर्मस्थल केन्द्र-बिन्दु उसका अन्तःकरण ही माना गया है । वह जिस भी भले-बुरे रूप में ढल जाता है—प्रत्यक्ष जीवन का स्वरूप और प्रवाह तद्नुसार बनता चला जाता है । व्यक्तित्व की उत्कृष्टता-निकृष्टता के रूप में जो कुछ भी घटित होता दीखता है, वस्तुतः उसे अन्तःकरण का स्तर ही समझा जाना चाहिए । एक शब्द में अन्तःकरण का आधारभूत उद्गम इसी रहस्यमय केन्द्र को समझा जाना चाहिए । दृष्टिकोण यहीं विनिर्मित होता है । नीति-निर्धारण एवं निर्देशन यहीं से होता है । बाकी शारीरिक और मानसिक ढाँचा तो गाड़ी के दो पहियों की तरह वजन ढोने में लगा रहता है । दिशा-निर्धारण करने एवं गति देने की सारी व्यवस्था जिस ड्राइवर को करनी होती है, उसे अन्तःकरण ही समझा जाना चाहिए । प्रगति, अवगति और दुर्गति की चित्र-विचित्र प्रतिक्रिया है । वह कठपुतली की तरह नाचती तो है, पर उसके धागे अन्तःकरण का बाजीगर अपनी उँगली से बाँधे हुए—पर्दे के पीछे बैठा रहता है । मनुष्य का विश्लेषण-परीक्षण, गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर होता है पर वस्तुतः यह तीनों भी स्वनिर्मित नही होते वरन् अन्तःकरण के प्रजापति द्वारा बनाये गए चित्र-विचित्र आकृति के खिलौने भर होते हैं ।

भौंडी अक्ल से किसी ठाट-बाट, चातुर्य, उपार्जन या पद-वैभव को देखकर गरिमा का मूल्यांकन किया जाता है, पर इस अवास्तविक निर्धारण की पोल तब खुलती है जब परिस्थितियाँ तनिक भी प्रतिकूल पड़ने

पर—उथले आधार पर खड़ा हुआ बड़प्पन झाग बैठने, गुब्बारा फूटने और बबूले के अदृश्य हो जाने की तरह जादुई सरंजाम हवा में गायब होते दीखता है और तथाकथित बड़ा आदमी छोटे लोगों से भी गई-गुजरी स्थिति में होने से मुँह मारा हुआ दिखाई पड़ता है। इसके विपरीत जिनके व्यक्तित्व उच्चस्तरीय आधार पर विनिर्मित हुए हैं, वे आन्तरिक प्रखरता के बलबूते अभावों, प्रतिकूलताओं का सामना करते हुए साहसपूर्वक आगे बढ़ते हैं। अपने निजी चुम्बकत्व से ये न केवल लोक श्रद्धा, जन सहयोग वरन् आत्म-सन्तोष और दैवी अनुग्रह भी प्रचुर परिणाम में उपलब्ध करते हैं।

शरीर एवं मस्तिष्कीय संरचना में, मनुष्य-मनुष्य की बीच कोई भारी भेद नही है और न परिस्थितियाँ ही किसी के इतनी अनुकूल-प्रतिकूल होती हैं कि प्रगति, प्रतिभा एवं प्रखरता की दृष्टि से जमीन-आसमान जितना अन्तर देखा जा सके। एक ही जंक्शन पर बराबर वाली पटरियों पर खड़ी हुई दो गाड़ियाँ, लीवर गिराने में अन्तर रहने के कारण दो भिन्न दिशाओं में चल पड़ती हैं और कुछ ही देर में उनके मध्य हजारों मील की दूरी बन जाती है। जबकि चाल दोनों की एक जैसी—साधन, ड्राइवर आदि एक जैसे—फिर यह दूरी का अन्तर क्यों पड़ गया? साथ-साथ क्यों नहीं चलती रहीं? इसका एक ही उत्तर है उनकी दिशा बदल गई। जीवन की दिशा धारा बदलने का आधार मात्र एक ही है—दृष्टिकोण। किस स्तर का जीवन जीया जाय? उसे किस प्रयोजन के लिए प्रयुक्त किया जाय? निर्धारित लक्ष्य तक पहुँचने के लिए किन मान्यताओं और गतिविधियों को अपनाया जाय? यही है वह आधारभूत निर्धारण जिसके सहारे भली या बुरी दिशाओं में जीवन प्रवाह बहता है और पतन के गर्त या उत्थान के शिखर पर जा पहुँचता है।

अमीबा से लेकर मनुष्य स्तर तक पहुँचने में विकास क्रम की जो लम्बी यात्रा करनी पड़ी है, उसमें विभिन्न स्तर के अनुभव-अभ्यास होते और उपार्जित सम्पदा की तरह जमा होते रहे हैं। यह पूँजी संचित संस्कारों के नाम से जानी जाती है। मनोविज्ञानी इसी को मूल-प्रवृत्ति के नाम से निरूपित करते हैं। स्वभावतः यह मानवी गरिमा से तुलना करते हुए हेय-स्तर की होनी चाहिए। कृमि-कीटकों और पशु-पक्षियों को जिस आचार-संहिता का पालन और अनुभव-अभ्यासों को संचय करना पड़ा है वे निश्चय ही मनुष्य स्तर के नहीं हो सकते। छोटे बालकों को जो कपड़े पहनाए जाते हैं, वे बड़े होने पर उसके उपयोग योग्य नहीं रहते। पशु-प्रवृत्तियाँ मनुष्य द्वारा अपनायी जाने पर उपहासास्पद एवं निन्दनीय बन जाती हैं। उन्हें बरबस छोड़ना ही पड़ता है। भले ही संचित अभ्यास उन्हें ही अपनाये रहने का आग्रह क्यों न करता रहे। इतना ही नहीं छोड़ने के अतिरिक्त पद एवं उत्तरदायित्व के अनुरूप कुछ नया ग्रहण भी करना पड़ता है। आध्यात्म विज्ञान की भाषा में इसी को तप कहते हैं। पदोन्नति करते-करते छोटे कर्मचारी जब बड़े अफसर बनते हैं, तो प्रगति के हर नये मोड़ पर उन्हें ट्रेनिंग लेनी होती है। अन्यथा पद ऊँचा और अनुभव नीचा होने पर सारी व्यवस्था ही गुड़-गोबर हो जाती है।

मनुष्य जीवन सृष्टि के समस्त जीवधारियों की तुलना में सर्वोच्च पद है। प्राणी के लिए इससे बड़ा न कोई पद है और न गौरव। उसे ईश्वर प्रदत्त सर्वोपरि उपहार और उपलब्धकर्त्ता का अभूतपूर्व सौभाग्य कहा जा सकता है। ऐसे बड़े पद का कार्यभार सफलतापूर्वक चलाने के लिए किस रीति-नीति का—किस दिशाधारा का—अपनाया जाना आवश्यक है, इसके लिए कुछ ऐसा सोचना, मानना और अपनाना पड़ता है जो भूतकाल की तुलना में सर्वथा भिन्न ही कहा जा सकता है। इस प्रक्रिया को आत्मिकी कहते हैं। उपयोगिता की दृष्टि से भौतिकी की तुलना में कम नहीं वरन् अधिक ही महत्त्व दिया जा सकता है। भौतिकी की उपलब्धियाँ मात्र शरीर को सुविधा एवं मन को गुदगुदी भर प्रदान करती हैं, किन्तु आत्मिकी के आधार पर जिस तरह समूचे व्यक्तित्व की गलाई-ढलाई होती है उसे एक प्रकार से काया-कल्प ही कहना चाहिए।

यह कायाकल्प द्विजत्व नाम से भी पुकारा जाता है। साधना की प्रक्रिया नरपशु को नर नारायण में किस प्रकार बदलती है, इसे जानने के लिए जिज्ञासु मनीषियों को आत्मिकी विद्या के गूढ़ तत्वदर्शन को भली-भाँति जानना चाहिए। उच्चस्तरीय साधना सोपानों को तुरन्त पाने का प्रयास करने वालों को इस एक तथ्य को समझ लेना बहुत अनिवार्य है कि अन्तःकरण का परिष्कार—वृत्तियों का शोधन ही समस्त सिद्धियों का राजमार्ग है।

## सारा जीवन ही साधना बने !

रूढ़ अर्थों मे साधना एक धार्मिक या आध्यात्मिक प्रक्रिया है, जिसकी विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों में अलग-अलग मान्यतायें हैं । हिन्दू धर्म में यम, नियम, आसन और प्राणायाम को बहिरंग तथा प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि को अन्तरंग साधना-सोपान के रूप मे स्वीकार किया गया है । जैनागमों में अनशन, अनोदरता (आहार सम्बन्धी नियम)' भिक्षाचर्या, वृत्ति-संकोच, रस-परित्याग, कॉय-क्लेश और निर्विकारता को बहिरंग साधना की तथा प्रायश्चित, विनय, सेवा-परिचर्या, स्वाध्याय, ध्यान एवं कायोत्सर्ग को अन्तरंग साधना अर्थात् तप संज्ञा दी गई है । बौद्ध-धर्म 'में स्वपीड़न और पर-पीड़न विरहित तप को श्रेष्ठ माना गया है ।

परन्तु साधना या तप कोई जड़ प्रक्रिया नहीं है, जिसको नियमोपनियमों के शिकन्जे में कस दिया जाय । वह एक गत्यात्मक प्रक्रिया है, जिसका अनुगमन बदलती हुई जीवन-परिस्थितियों के साथ व्यावहारिक धरातल पर होना आवश्यक है ।

साधना केवल धार्मिक कर्मकाण्ड-सापेक्ष क्रिया मात्र नहीं है । उसको यह रूप देकर धर्माचार्यों ने मानव-मात्र को एक सकुचित दायरे में बन्द कर दिया है । गृह त्यागी, विरक्त और संन्यासी महाप्राण मनीषियों के आचार आदर्श का मान बिन्दु ही स्थापित कर सकते है, परन्तु लोक धर्म का रूप नही ले सकते । आज धर्म के नाम पर नई पीढ़ी नाक-भौं सिकोड़ती है, उसका दोष किस पर है ? जो धर्म या साधना-पथ लौकिक जीवन के बदलते आश्रमों के साथ अपने को गत्यात्मक नहीं बनाये रख सकता, उसका स्थान शास्त्रों मे सुरक्षित रहने योग्य है । बुद्धि-विलक्षण लोगों के तर्क-वितर्क का विषय बनने योग्य है पर जन-पथ पर उसका रथ अग्रसर नहीं हो सकता ।

जन-समाज में अधिकाश संख्या तो गृहस्थो की है और जो नामधारी साधु-संन्यासी हैं, उनमे से भी अधिकांश प्रच्छन्न गृहस्थ ही है । फिर यम-नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान धारणा, समाधि की कठोर प्रक्रिया में से गुजरने की अपेक्षा किससे की जा रही है ?

साधना वेष में नहीं है । साधना क्रिया-का[ण्ड] में भी नहीं है । साधना दिखावे के लिए नहीं [की] जाती । साधना परम्पराओं को चलाने के लिए न[हीं] की जाती । साधना दुनिया को उपदेश बघारने [के] लिए भी नहीं की जाती । आज भारत में तथाकथि[त] साधकों की भरमार है फिर भी साधकों और उन[के] सम्पर्क में रहने वाले व्यक्ति से ऐसा वातावरण तैय[ार] नहीं हुआ है, जैसा कि एक साधना निष्ठ व्यक्ति [के] सम्पर्क और सहवास से होना चाहिए ।

साधना वह होती है, जहाँ का वातावरण आन[न्दमय] और प्रेममय बन जाता है । साधना वह होती है जहाँ ईमानदारी और प्रामाणिकता मूर्त बन जाती है । ऐसी साधना क्रिया-काण्डों से नहीं आन्तरिक पवित्रत[ा], विशुद्ध प्रेम भावना, स्वार्थ त्याग आदि सद्गुणो के पोष[ण] और विकास से होगी । जिस दिन इस सहज प्रक्रिय[ा] से सहज जीवन विकसित होगा, उस दिन संसार क[ा] दूसरा ही रूप होगा । आवश्यकता है, साधना के नाम पर पलने वाले भ्रमो में न उलझकर व्यक्ति जीवन की प्रत्येक प्रवृति को साधनामय बनाये फिर देखे उसक[ा] समाज और संसार पर क्या सुखद परिणाम होता है ।

आज अपेक्षा है, उस साधना की, जिसका वर्ण[न] सन्त कबीरदास के एक पद में किया गया है । 'साधो सहज समाधि भली' इस पद में कबीर ने नाम 'समाधि' का लिया है, पर वह एक सम्पूर्ण जीवन साधना का दर्शन है । उन्होंने सारा जीवन-दर्शन ही क्रांतिकारी ढंग से प्रस्तुत कर दिया है । नित्य-जीवन की सहज क्रियाओं को लेकर महात्मा कबीर ने यह व्यक्त करने का प्रयास किया है कि मनुष्य-जीवन की सही दिशा और सच्ची साधना क्या है ।

जीवन अनेक मुखी होता है और विकास के रास्ते भी अनगिनत है । मनुष्य सबको तो आत्मसात् कर नहीं पाता । अतः वह कोई एक मार्ग पकड़ता है और उसी के द्वारा अपने जीवन को उन्नत बनाना चाहता है । कोई भक्ति का मार्ग चुनता है, कोई कर्म मार्ग की ओर अग्रसर होता है और कोई ज्ञानयोग की तरफ उन्मुख होता है ।

विश्व मे अनेक धर्म-पन्थ है और उनके अपने-अपने सिद्धान्त तथा तौर-तरीके है और वे सब इसीलिए है

कि उनके द्वारा स्वयं व्यक्ति का, समाज का और अन्ततः विश्व का कल्याण हो, दुःख मिटे । सदियों से सबकी अपनी-अपनी परम्परायें चली आ रही हैं । श्रद्धा और आस्थापूर्वक लोग उन परम्पराओं पर चलते आ रहे हैं, उनको जीवन में उतारने का प्रयत्न कर रहे हैं ।

जिन महापुरुषों ने जीवन और जगत की रीति को अन्तर्चक्षुओं से देखा, उन्होंने देश, काल, परिस्थितियों को ध्यान में रखकर युगानुरूप मार्ग निर्धारित किया और वही कालान्तर में धर्म बन गया । वही विशिष्ट साधना का पक्ष भी बन गया ।

'साधना' शब्द अपने आप में कोई अर्थ नहीं रखता । हमने उसमें अपना अर्थ आरोपित कर दिया है, यह अलग बात है । लेकिन शुद्ध रूप में साधना शब्द अर्थ से परे है । अर्थ उसमें तब आता है, जब कोई लक्ष्य, उद्देश्य, क्रिया प्रकट होती है । एक आध्यात्मिक सन्त की क्रिया भी साधना है और विज्ञान के क्षेत्र में अन्तरिक्ष यात्री की क्रियाएँ भी साधना है । एक माँ अपने बेटों के लिए, परिवार के लिए रसोई बनाती है—यह भी साधना है । इस साधना का मूल्य यों पता नहीं चलता, लेकिन जब कभी अनसधे हाथों को चौके-चूल्हे की शरण में जाना पड़ता है, तब पता चलता है कि यह कितनी बड़ी साधना है ।

सब प्रकार की कलाओं की सिद्धि के लिए साधना करनी पड़ती है अर्थात् एकाग्रता पूर्वक अभ्यास करना पड़ता है । परस्पर-व्यवहार को सभ्य या समाज-मान्य बनाने के लिए बचपन से ही संस्कारों द्वारा साधना करनी पड़ती है । प्रेम, उदारता, सेवा-भावना आदि गुणों के लिए भी निरन्तर साधना करनी पड़ती है । व्यापार-व्यवसाय में भी सैकड़ों ऐसी बातें हैं जो बिना अभ्यास के और बिना परिश्रम के साध्य नही होतीं इसमें भी साधना की आवश्यकता होती है ।

तो मतलब यह है कि साधना का कोई एक प्रकार या एक नियम नहीं है और वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए अलग-अलग भी हो सकता है । गाँधी जी ने कहा था कि मेरा जीवन ही सत्य की साधना में बीत रहा है । वे जीवन भर सत्य के प्रयोग करते रहे । उनकी हर प्रवृत्ति के पीछे सत्य का आग्रह रहा करता था । महात्मा कबीर ने अपने पद में यही बात कही है । उन्होंने जब देखा कि लोग अमुक-अमुक क्रियाओं या परम्पराओं को ही धर्म कार्य या साधना मानते हैं और उतना सा करके समझते हैं कि वे साधक बन गए तो उन्होंने मशाल हाथ में लेकर साधना-मार्ग को प्रकाशित किया । लोगों की आँखें खोलने का प्रयास किया कि हमारी ये सारी क्रियायें, धर्म-क्रियायें हैं, साधनायें हैं, जो हम सवेरे उठने से लेकर रात को सोने तक और निद्रा में भी करते हैं ।

साधना को सिद्धि का रूप तभी प्राप्त होता है, जब वह साधना सहज हो जाती है । कबीर कहते हैं—'मेरा चलना ही प्रभु की परिक्रमा है, मेरा कुछ भी करना सेवा ही है, मेरा सोना ही दण्डवत है, जो कुछ बोलता हूँ, वही जप है, जो सुनता हूँ वही स्मरण है और खुली आँखों से जो कुछ देखता हूँ वही प्रभु का सुन्दर रूप है । कबीरदास के इस पद से एक बात यह भी स्पष्ट होती है कि हमें अपने व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों से कभी विमुख नहीं होना चाहिए और नित्य जीवन की समस्त क्रियाओं में उसी विराट् विभु की लीला का, विराट् विश्व की सेवा का रस प्राप्त करना चाहिए ।

जीवन की साधना का सबसे बड़ा सम्बल हमारा कर्मरत और समाजगत आचरण है । समाज से छिटककर विशेष परिवेश की धारणा करने से हम अपनी कल्पना की मुक्ति भले ही प्राप्त कर लें, पर इससे हमारा तथा समाज का कोई वास्तविक लाभ नहीं होगा । बारह वर्ष तक साधना करके कोई व्यक्ति पानी पर चलने का अभ्यास करके चमत्कारी कहला सकता है, पर उसकी सिद्धि का कुल मूल्य रामकृष्ण परमहंस के शब्दों में केवल चार पैसा है, क्योंकि चार पैसे खर्च करके नौका में बैठकर कोई भी नदी पार कर सकता है । हमारी बहुत सारी साधनाओं के मूल में यही 'अल्पमोली' बातें हैं, जिनसे हमें मुक्त होना है, अपने को सहज साधक बनाना है ।

आज आवश्यकता है, उस साधना की जो हल की मूठ पकड़े किसान, मशीन का पहिया घुमाते श्रमिक, प्रयोगशाला मे प्रयोगरत वैज्ञानिक, व्यापारी, व्यवसायी एवं कलम घिसते कर्मचारी की परस्पर भिन्न परिस्थितियों में आध्यात्म की दीप-शिखा प्रज्वलित कर सके ।

आज साधना की ही नहीं, आध्यात्म तक की नई व्याख्या के साथ उपस्थित होना है।

अतः यह खूब अच्छी तरह समझ लेने की चीज है कि साधना और आध्यात्म की परम्परा प्राप्त रूप आधुनिक जीवन के सन्दर्भ में निरुपयोगी बन गया है। इनकी पुराणप्रथित परिभाषा में आज की पीढ़ी के लिए कोई आकर्षण नहीं है। आशंका यह है कि 'साधना' और आध्यात्म घिसे-पिटे खोटे सिक्के की तरह कहीं अपना चलन ही न गँवा बैठें।

जब कोई कृषक लू-धूप की परवाह किए बिना हल चलाता है, तब वह साधना ही तो करता है। जरूरत तो बस इतनी है कि उसके कर्म को आत्म-केन्द्रित न होने देकर लोक-मंगल के पवित्र भाव से सम्पुष्ट किया जाय, ताकि उसका वही कर्म 'स्व' के साथ 'पर' के लिए होकर उसमें भाव-शुद्धि की भावना भर दे और उसको आध्यात्मिक दीप्ति प्रदान कर दे। पसीना चुचाते शरीर से मशीन के साथ जूझते श्रमिक का कर्म किस साधना से कम है? उसे साधना का पवित्र पद देने के लिए उसके साथ लोकहित का भाव जोड़ दिया जाय, तो वही उसके लिए आध्यात्मिक धर्म बन जायेगा। व्यापारी के धृति-साध्य कर्म को यदि अनुचित मुनाफा कमाने के दूषण से मुक्त कर दिया जाय तो वही 'स्व' में 'पर' की साधना का पुनीत कर्म बन जायेगा। तात्पर्य यह है कि साधना या धर्म कोई ऊपर से ओढ़ी जाने वाली, अपने और दूसरों को प्रवंचित करने वाली रामनामी चादर न बने, तो उसकी सहजता जीवन में व्यवहार्य हो सकेगी। यही उसके लिए सच्ची साधना होगी।

वैज्ञानिक तथा तकनीकी प्रगति को झुठलाया नहीं जा सकता। उनके द्वारा प्रदत्त सुविधाओं को भी त्यागा नहीं जा सकता और उसके कारण परिवर्तित जीवन-मूल्यों को भी नकारा नहीं जा सकता। साथ ही उसके आनुषांगिक दोषों से भी पल्ला नहीं झाड़ा जा सकता, तो फिर जो अपरिहार्य है, उसके साथ जूझकर अपनी शक्ति व्यर्थ गँवाने से क्या लाभ? साधना और आध्यात्मिक उन्नयन के हमारे प्रयासों का उपादान तो आज का दिशाहारा, अशांत, स्थापित जीवन—मूल्यों के प्रति अनास्थावान मानव है। हम उसी को समेटें, सहेंगे। उसे साधना और तप की नई दीक्षा दें, तभी तो कुछ काम बने। बाकी तो थोथी सिद्धान्त चर्चा ही होगी।



# शक्ति-संचय के पथ पर अग्रसर होइये

## शक्ति का दुर्दमनीय केन्द्र

"प्रत्येकमस्ति चिच्छक्तिर्जीव शक्ति स्वरूपिणी ।"

"प्रत्येक जीव में चैतन्य शक्ति (आत्मा की अनन्त और अपार शक्ति) वर्तमान है ।"

शक्ति से ही मनुष्य पहले धर्म प्राप्त करता है, पुनः उसी से अर्थ सिद्ध करते हुए पुण्य संचय करके कामनाओं की पूर्ति करने में समर्थ होता है, अन्त में इसी शक्ति से पूर्ण त्याग एवं ज्ञान के द्वारा मोक्ष पा जाता है ।

अपनी शक्ति के प्रवाह का समुचित प्रयोग करना ही पुरुषार्थ है । इस प्रकार शक्ति सम्पन्नता को स्वार्थ सिद्धि के विरुद्ध दूसरों के हित में लगाते रहना ही उन्नति-पथ पर बढ़ते जाना है ।

शक्ति की कहीं किसी से भीख नहीं माँगनी है, यह तो सबको स्वतः प्राप्त है, किन्तु जब तक ज्ञान, विवेक का उदय नहीं होता, तब तक देह द्वारा निरर्थक क्रिया करते हुए, प्राणों की निरर्थक चेष्टा पर ध्यान न देते हुए एवं इन्द्रियों द्वारा व्यर्थ व्यापार फैलाते हुए अथवा मन द्वारा प्रपंचमय विचारों को स्थान देते हुए और उनका मनन करते हुए, इसी प्रकार बुद्धि द्वारा असद्भावों को सत्य मानते हुए मानव अपने जीवन में सुलभ शक्ति का दुरुपयोग करता रहता है ।

कदाचित् हमारा वर्तमान जीवन सद्गुणों और सद्भावों से रहित है, तो हम शक्ति के सदुपयोग से किसी भी प्रकार के अभाव को दूर कर तुच्छ से महान हो सकते हैं ।

देह, प्राण, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि के द्वारा दुरुपयोगित-शक्ति का सदुपयोग होने के लिए ही पूजा, पाठ, कीर्तन, जप, तप और ध्यान आदि अनेकों साधनों का आश्रय लेना पड़ता है ।

जिस प्रकार हमारा यह भौतिक शरीर-क्षेत्र इसी भू-लोक के द्रव्यों का बना हुआ है । उसी प्रकार हमारे प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय क्षेत्र उत्तरोत्तर सूक्ष्मातिसूक्ष्म लोकों के द्वारा निर्मित है । प्रत्येक क्षेत्र में भिन्न-भिन्न प्रकार की शक्ति है और अपने-अपने लोकों की द्रव्य-शक्ति को लेकर प्रत्येक क्षेत्र क्रियाशील हो रहे हैं । जिस क्षेत्र में क्रिया की प्रधानता रहती है, वही क्षेत्र विशेष-शक्ति सम्पन्न होता है ।

स्थूल क्षेत्र में संग्रहित शक्ति के द्वारा स्थूल कर्म भली प्रकार सिद्ध होते रहते हैं । प्राणमय सूक्ष्म क्षेत्र में प्राण-शक्ति के द्वारा विविध विषय वासनाओं तथा कामनाओं की पूर्ति होती रहती है । इसी प्रकार मनोमय क्षेत्र में केन्द्रित शक्ति के द्वारा विविध भाव एवं इच्छा एवं संकल्प की सिद्धि होती है । इससे भी ऊपर विज्ञानमय क्षेत्र में विकसित शक्ति के योग से अद्भुत-प्रतिभायुक्त ज्ञान का प्रकाश होता है । इसी ज्ञानलोक में परमार्थ का पथिक अपनी बिखरती हुई बहिर्मुख शक्ति को अन्तर्मुख करते हुए अपने परम लक्ष्य की ओर अग्रसर होने में समर्थ होता है ।

जिस प्रकार भौतिक-भवन को दूसरे रूप में बदलने के लिए उचित सम्पत्ति की आवश्यकता है, उसी प्रकार इच्छित रूप में अपने भाग्य-भवन को बदलने के लिए भी शक्ति और पुण्य रूपी सम्पत्ति की आवश्यकता है ।

तप के द्वारा शक्ति और सेवा के द्वारा पुण्य रूपी सम्पत्ति प्राप्त होती है ।

शक्ति के दुरुपयोग से दुर्भाग्य और सदुपयोग से सौभाग्य की प्राप्ति होती है ।

सांसारिक स्वार्थ को ही सिद्ध करते रहना शक्ति का दुरुपयोग है लेकिन परोपकार करते हुए अपना परमार्थ सिद्ध कर लेना शक्ति का सदुपयोग है । संसार में आसक्त रहना शक्ति का दुरुपयोग है और त्याग के द्वारा ज्ञान तथा भक्ति में अनुरक्त होना शक्ति का सदुपयोग है । अहंकारपूर्वक अपनी शक्ति से किसी को गिरा देना शक्ति का दुरुपयोग है और गिरे हुओं को सरल भाव से तत्परतापूर्वक उठा लेना शक्ति का सदुपयोग है ।

संयम-साधना के द्वारा शक्ति का विचार करने के लिए शक्ति के समुचित सदुपयोग की सिद्धि के लिए

ही मन्दिरों में, तीर्थस्थानों में, शक्ति-पीठों में, वनों-उपवनों में समयानुसार जाने की प्रक्रिया हमारे देश में चली आ रही है । ऐसे पावन-स्थानों में अपने अन्तः क्षेत्रों के भीतर की सुप्त-शक्ति सहज प्रयास से ही जागृत हो जाती है ।

हम सबको ध्यान देकर निरीक्षण करते रहना चाहिए कि शक्ति का किसी भी क्रिया, चेष्टा, भाव एवं विचार के द्वारा दुरुपयोग हो रहा है अथवा सदुपयोग ।

इस प्रकार हम अपनी प्राप्त-शक्ति की अधिकाधिक वृद्धि कर सकते हैं । शुद्ध सात्विक आहार और विषय-संयम से शारीरिक उन्नति होती है, सद्व्यवहार एवं सद्गुण विकास से मानसिक उन्नति होती है, । सन्त-सद्गुरु समागम के द्वारा प्राप्त ज्ञान से बौद्धिक उन्नति होती है और निष्काम-प्रेम एवं सत्य स्वरूप के ध्यान से आत्मोन्नति होती है ।

## शक्तियों को सार्थक दिशा दें

मनुष्य को अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ विभूतियाँ मिली हैं । शारीरिक शक्ति, सामाजिक और सामूहिक शक्ति में तो वह बढ़ा-चढ़ा ही है, शक्ति के अनन्त स्रोत से भी उसका सम्बन्ध इस प्रकार जुड़ा हुआ है कि वह जब चाहे आवश्यकतानुसार अतिरिक्त शक्ति प्राप्त कर लेता है । फिर भी हम अधिकांश लोगों को निर्बलता, अज्ञान और अभावों का रोना रोते हुए देखते हैं, कि सृष्टि के अन्य प्राणियों की तुलना में उसका स्वरूप तो नगण्य ही है । उससे शक्तिशाली प्राणी कई हैं । कमजोर प्राणियों की संख्या तो थोड़ी है अन्यथा ऐसे जीव-जन्तु और पशु-पक्षियों की जातियाँ तो हजारों की संख्या से ऊपर है जो उसे शरीर बल में पछाड़ सकते हैं ।

शारीरिक दृष्टि से कमजोर होते हुए भी मनुष्य ऐसे साधन विकसित करने मे सफल हुआ है कि वह संसार का एक छत्र शक्तिशाली अधिपति हो सकता है । एक ओर अभावग्रस्त, दुर्बल और अज्ञानी लोगों की भरमार है तो दूसरी ओर ऐसे महापुरुष भी हुए हैं जिन्होंने प्रतिभा के बल पर संसार को एक से एक बढ़-चढ़कर अनुदान दिए । हमारे चारों ओर विज्ञान के जो चमत्कार दिखाई देते हैं वे सब उन महापुरुषों की ही देन हैं जिन्होंने अपनी विभूतियों का उपयोग किया और उन्हें इस दिशा में लगाया । एक व्यक्ति सारे समाज की चिन्तनधारा मोड़ देता है तो वह अपने भीतर ऐसी विचार-शक्ति अर्जित कर लेता है कि अन्य सभी लोग उसके अनुरूप सोचने लगते हैं । प्रतिभाशाली और अयोग्य दोनों ही तरह के व्यक्तियों से यह संसार भरा है । एक ओर जहाँ ऐसे व्यक्तित्व हैं जो अपनी शक्ति के द्वारा पूरे समाज की समस्याओं को हल कर सकते हैं तो दूसरी ओर ऐसे लोग भी हैं जो अपनी साधारण-सी कठिनाइयों का निवारण भी नहीं कर पाते ।

प्रश्न उठता है कि सृष्टि नियन्ता ने लोगों को इस तरह की शक्तियाँ प्रदान करते समय क्या कोई पक्षपात बरता है ? नहीं, उसने सभी को उससे लाभ उठाने के द्वार खोल रखे हैं और प्रत्येक को यह अवसर दिया है कि वह उस शक्ति का उपयोग अपने तथा समाज के लिए कर सके । साधन और परिस्थितियाँ—महापुरुष *तथा साधारण व्यक्तियों के अन्तर का कारण नहीं है ।* महापुरुष भी विपन्न से विपन्न परिस्थितियों में आगे बढ़े हैं तथा महान कार्य करने में सफल हो सके है । उन सफलताओं का मूलभूत आधार उपलब्ध शक्ति का अभीष्ट दिशा में सही उपयोग है । वे शक्तियाँ हमें भी प्राप्त हैं, प्रत्येक को उपलब्ध हो सकती है लेकिन हम दो कारणों से उनका लाभ उठा नहीं पाते ।

पहला कारण तो यह कि व्यक्ति उन शक्तियों को अनावश्यक और अवांछनीय रूप से खर्च कर देते हैं । अनावश्यक और अनुचित कार्यों में शक्तियाँ खर्च कर देने से उनका उपयोग आवश्यक और उचित कार्यों में नहीं हो पाता । साधन सीमित हों और उनसे आवश्यक कार्य किए जायें तो अतिरिक्त साधन भी प्राप्त किए जा सकते है, लेकिन सीमित साधनों को अनावश्यक कार्यों में खर्च कर दिया जाय तो वे साधन समाप्त होगें ही, आगे का स्रोत भी बन्द हो जायेगा । उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति व्यवसाय, उद्योग प्रारम्भ करना चाहता हो, उसकी योजना ठीक हो तथा वह योग्य हो तो पूँजी की कमी अन्यत्र से भी पूरी हो जाती है । कोई भी सरकारी या गैर सरकारी सहायता मिल सकती है, लेकिन उस पूँजी को वह अपने शौक-मौज में ही खर्च करना चाहे तो उसे कोई भी सहायता देने के लिए तैयार नहीं होगा । पास की पूँजी तो समाप्त होगी ही । अपनी उपलब्ध शक्तियों को हम

जब अनुचित कार्यों में खर्च करते हैं तो शक्ति प्राप्त करने की पात्रता खो देते हैं, हमारे लिए वहाँ शक्ति का स्रोत बन्द हो जाता है ।

अपनी शक्तियों से लाभ न उठा पाने का दूसरा कारण, उन्हें सही दिशा में प्रयुक्त न करना है । वाष्प शक्ति जब इकट्ठी हो जाती है तो उसका उपयोग करना ही पड़ता है । यदि उसका उपयोग न किया जाय तो बर्तन फट सकता है—कोई नुकसान हो सकता है । मानवीय कलेवर में सन्निहित और प्रवाहमान शक्ति का सदुपयोग न किया तो या तो वह कोई हानि पहुँचायेगी अथवा अधोन्मुख होगी । पानी का गुण है, बहना, यदि वह अनियन्त्रित बहने लगे तो बड़े-बड़े नुकसान हो सकते हैं । बाढ़ें क्या हैं ? वर्षा के पानी का अनियन्त्रित बहाव ही तो हैं और यदि उसे रोक दिया जाय तो अधिक मात्रा में होने पर रुका हुआ पानी विध्वंस उपस्थित कर देगा, कम मात्रा में हुआ तो सड़ाँध पैदा कर देगा । इसी प्रकार उपलब्ध शक्ति को सही दिशा से प्रयुक्त करके ही उससे वास्तविक लाभ उठाया जा सकता है ।

उपलब्ध शक्तियों के अनुचित अपव्यय को रोक कर उसे कल्याणकारी कार्यों में लगाने का नाम ही संयम है । मनीषियों और महापुरुषों ने इसे जीवन का आवश्यक अंग बताया है । अब तक संयम का एकांगी अर्थ ही समझा जाता रहा है । अर्थात् शक्तियों के प्रवाह को रोकना । यदि शक्तियों के प्रवाह को रोका जाता रहे, पर उनका कोई उपयोग न किया जाय तो लाभ के स्थान पर हानि है । नदियों का पानी बाँध बनाकर रोक दिया जाय, न उससे सिंचाई का काम लिया जाय और न ही बिजली पैदा की जाय तो एकत्रित होता जा रहा पानी विनाश ही प्रस्तुत करेगा । संयम की अब तक जो एकांगी व्याख्या की जाती रही है, उसी कारण यह अव्यावहारिक सिद्ध होता जा रहा है, क्योंकि शक्तियों को प्रवाह की दिशा तो मिलनी ही चाहिए, न मिलेगी तो वे विपरीत परिणाम उपस्थित करेंगी । संयम का अर्थ शक्तियों के प्रवाह को निरर्थक और हानिकारक दिशा से रोक कर सार्थक और कल्याणकारी दिशा में लगाना है । संयम के इसी स्वरूप को जीवन में धर्म कर्तव्य बताया है । इस स्तर के संयम को सिद्ध करने के लिए जितने भी प्रयास किए जायेंगे वे हमारे व्यक्तित्व को उत्कृष्ट और प्रखर बनाते चले जायेंगे । इस समय के अभाव में उत्कृष्ट जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती ।

कोई भी व्यक्ति शक्तियों के अपव्यय में जानबूझकर प्रवृत्त नहीं होता । अनजाने या ना समझी से ही वैसी गल्ती हो जाती है । जब तक गल्ती समझ में आती है तब तक इतनी देर हो चुकी होती है कि वे गल्तियाँ स्वभाव में सम्मिलित हो जाती हैं । उन अभ्यास, आदतों से छुटकारा पाना कठिन हो जाता है । उदाहरण के लिए बच्चा यह नहीं समझता कि क्या खाना चाहिए और क्या नहीं खाना चाहिए । उसके सामने जो भी वस्तुएँ बार-बार रखी जाती हैं वह उन्हें ही पसन्द करने लगता है, वे वस्तुएँ ही उसे प्रिय लगने लगती हैं और उन्हीं के लिए वह आग्रह करने लगता है । बाद में समझ आने पर जब उन वस्तुओं के गुण और दोषों का पता चलता है तो मन में इतना साहस उत्पन्न नहीं होता है कि उन वस्तुओं के दोषों को समझ कर उन्हें छोड़ दिया जाय । चित्त पर स्वादलिप्सा हावी हो जाती है और वह व्यक्ति को असंयमी बना देती है ।

लिप्सा—जिसे भोगेच्छा भी कहा जाता है—असंयम का मुख्य कारण है । महापुरुषों ने इसे जीतने के लिए अनेक तरह से सचेत किया है और समझाया है कि भोगों में मनुष्य को सुख नहीं मिल सकता । गीताकार ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःख योनय एवते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥

"जो ये इन्द्रियों तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सब भोग हैं वे निःसन्देह दुःख के ही हेतु हैं और अनित्य हैं । हे अर्जुन ! बुद्धिमान, विवेकी पुरुषों को इनमें रमण नहीं करना चाहिए ।"

मनुष्य जब सुख की खोज में इन्द्रिय और विषयों को साधन बनाकर प्रयत्न प्रारम्भ करता है, मन, बुद्धि को भी इसी ओर लगाता है तो इसी प्रयत्न में अनेकों दुःखों का सूत्रपात हो जाता है उसके लिए । मनुष्य जब शरीर की आवश्यकता के लिए नहीं वरन् जीभ की तृप्ति के लिए तरह-तरह के सुस्वादु भोजन करता है तो परिणाम रोग, शारीरिक कष्टों के रूप में ही प्राप्त होता है । यही बात जननेन्द्रिय के सम्बन्ध में है । इसका उपयोग सन्तानोत्पादन के लिए होता है ।

लेकिन जब मनुष्य सुखोपभोग को प्रधान मानकर विषयो में प्रवृत्त होता है तो प्रकृति की मर्यादा का उल्लंघन करता है । उसका दण्ड उसे भयंकर रोगों, तज्जनित यन्त्रणाओं और जीवनी-शक्ति के ह्रास के रूप में भोगना पड़ता है । बहुत से लोग अपने जीवन की अवनत स्थिति का दोष भाग्य और दैव को देते हैं, लेकिन वस्तुपरक दृष्टि से देखा जाय तो भाग्य या दैव व्यक्ति के कहीं आड़े नही आते । शक्ति का अभाव ही हमें अपेक्षित उपलब्धियों से वंचित कर देता है । कहीं यात्रा पर चलते समय सभी व्यक्ति अपने साथ उचित मार्ग व्यय लेकर चलते हैं । यदि उसे ढंग से खर्च न किया तो साथ रखी गई रकम बीच में ही खर्च हो सकती है और अपरिचित शहरों में हमारे लिए परेशानी खड़ी कर सकती है । अपने दैनिक जीवन में भी हम कोई लक्ष्य बनाकर निरन्तर यात्रा करते रहते हैं, साथ में शक्ति भी होती है । यदि उसे व्यवस्थित क्रम से सुनियोजित रीति से प्रयुक्त न किया जाय तो बीच में ही रुक जाने की स्थिति आ जाती है ।

सामान्यतः समझा जाता है कि शक्तियों का अपव्यय-मुख्यतः इन्द्रियों के द्वारा होता है, परन्तु असमय की जड़ें हमारे मन के भीतर रहती हैं, इन्द्रियाँ मन की प्रेरणा से काम भर करती हैं । देखा जाता है कि किसी भी विषय को भोगने की लालसा सर्वप्रथम मन में ही होती है और उन विषयों का रस भी मन को ही आता है । मन की प्रेरणा पर बाह्य अवयव असमर्थ होते हुए भी काम करने को विवश हो जाते हैं । आँखें दूखने आ गई हों, पर यदि कोई बहुत ही मनोरंजक दृश्य या खेल सामने हो तो आँखें दर्द अनुभव करते हुए भी उस खेल या दृश्य को देखने के लिए विवश हो जाती हैं । जीभ में छाले पड़ रहे हों और चटपटी चीजें खाने से छालों का कष्ट और भी बढ़ जाने से जीभ को और भी अधिक कष्ट उठाना पड़ रहा हो फिर भी भीतर की स्वाद वासना से विवश होकर जीभ को चटपटे पदार्थ खाने पड़ते हैं ।

यदि मन की स्थिति किसी भय, चिन्ता, शोक, क्रोध, उद्वेग से आवेश ग्रस्त हो रही हो और उसी अन्तःप्रदेश में रहने वाली इन्द्रिय चेतना उससे प्रभावित हो रही हो तो बाह्य अवयव निरोग और समर्थ होते हुए भी सामने उपस्थित भोगों में रुचि लेना ही नहीं छोड़ देते वरन् उससे घृणा करते हैं । किसी व्यक्ति को पुत्र का शोक समाचार मिले उस समय उसका पेट खाली हो सामने स्वादिष्ट पदार्थों की सुसज्जित थाली रखी हो तो भी भूख भाग जायेगी । सामने थाली को छूने के लिए भी मन न करेगा, एक ग्रास भी मुँह मे न दिया जायेगा । यही बात अन्य इन्द्रियों के बारे में भी है, मनःक्षोभ की स्थिति में वे सभी अपने विषयों से विमुख हो जाती हैं ।

इस प्रकार मन से प्रेरित होकर हम कई छिद्रों से अपनी शक्तियों का क्षरण करते रहते हैं । मानसिक, शारीरिक, आर्थिक आदि विभिन्न स्रोतों से हमारी शक्तियाँ अनुचित और अवांछनीय ढंग से व्यय होती रहती हैं । मानसिक दृष्टि से हमारी विचारणाएँ, भावनाएँ और चिन्ताएँ इतनी अस्त-व्यस्त दिशाहीन और व्यर्थ के कार्यों में उलझी रहती हैं कि उनके सदुपयोग की बात ही नहीं सूझती । व्यर्थ चिन्तन में ही अधिकांश मानसिक शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं । फिर उनसे रचनात्मक उपलब्धि प्राप्त की जा सके ऐसी कोई मानसिक सामर्थ्य अपने पास नहीं बचती । इस सम्बन्ध मे आवश्यकता इस बात की है कि अपनी मानसिक शक्तियों को व्यर्थ चिन्तन और गलत दिशाओं से रोककर ऐसे कार्यों में उन्हें लगाया जाय, जिससे कोई रचनात्मक उपलब्धि प्राप्त की जा सके ।

शारीरिक वर्ग में इन्द्रियों के संयम को रखा जा सकता है । यों तो इन्द्रियाँ दस हैं, परन्तु मुख्यतः काम, स्वाद और स्पर्श इन्द्रियों के द्वारा ही शक्तियों का क्षरण होता है । उच्छृंखल काम सेवन, अनुपयुक्त आहार और शरीर को आराम से रखने की इच्छा हमको शारीरिक शक्तियों का सदुपयोग नहीं करने देते । स्मरण रखा जाना चाहिए कि इन्द्रियों का उपयोग करना असंयम नहीं है । शरीर आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उनका उपयोग आवश्यक है परन्तु असंयम तब होता है जब उनका उपयोग आवश्यकता की दृष्टि से नहीं उपयोग के लिए किया जाता है । उपभोग की अधिकता ही असंयम है और उपयोग के लिए आवश्यकता की दृष्टि से आहार शरीर की बड़ी आवश्यकता है, इसे सभी जानते हैं । आहार न मिले तो जीवित रहना मुश्किल हो जाय । यह शरीर के लिए अत्यन्त आवश्यक धर्म है किन्तु शरीर-रक्षा के लिए स्वाद की उपयोगिता

समझ में नहीं आती । केवल स्वाद की लालसा में पेट खराब हो जाता है, स्वास्थ्य गिर जाता है । इस तरह आहार जो शरीर की आवश्यकता थी, वही विधर्मी बनकर हमारी शक्तियों के पतन का कारण बन जाता है । कोई भी इन्द्रिय हो उसके उपभोग की एक सीमा निर्धारित है । उस सीमा के अन्दर बने रहने से ही उसका सच्चा उपयोग किया जा सकता है, पर यदि उसका अतिक्रमण किया गया तो रोग और शोक घेर लेंगे । इस प्रकार इन्द्रियों का उपयोग आत्म-विकास के लिए किया जा सकता है । इन्द्रियाँ हमारी शत्रु नहीं हैं । शत्रु तो वे तब मालूम पड़ती हैं जब वे अपने बहिर्मुखी स्वभाव के रूप में काम करने लगती हैं अर्थात् जब तक इनका उपयोग बाह्य जीवन के सुखोपभोग में किया जाता है तब तक तो ये शत्रु हैं किन्तु जैसे ही इन्हें इस आत्मा के विकास की ओर मोड़ देते हैं । इनके सहयोग का सत्परिणाम भी दिखाई देने लगेगा । इन्द्रियों का यदि सदुपयोग किया जाने लगे तो इन्हीं से महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं । आवश्यकता सिर्फ इतनी है कि इनकी स्वतन्त्र विचरण की बहिर्मुखी प्रवृत्ति पर अंकुश बनाये रखें । किसी घोड़े की लगाम छोड़ दें तो वह अपने सवार को गड्ढे में गिरा कर ही छोड़ेगा । सवार की सुरक्षा इस बात पर निर्भर रहती है कि वह घोड़े के नियन्त्रण को ढीला न करे । इससे जिस दिशा में जितनी दूर जाना अभीष्ट हो घोड़ा वहीं सुरक्षापूर्वक पहुँचा देगा । इन्द्रियों पर भी नियन्त्रण का अंकुश कसा हुआ रहे तो उनके द्वारा और अपनी शक्तियों के सहारे कहीं भी पहुँचा जा सकता है ।

मानसिक और शारीरिक शक्तियों के अपव्यय, दुर्व्यय की तरह ही भौतिक सम्पदाओं का अपव्यय भी असंयम है । भौतिक सम्पदा में मुख्यतः धन सम्पत्ति की ही गणना की जाती है । यदि इन्हें व्यर्थ के कार्यों में खर्च किया जाता रहे तो अतुल सम्पदा भी एक समय में समाप्त हो जाती है । बड़ी-बड़ी जायदादें आर्थिक असमय के कारण समाप्त हो जाती हैं । घर में एक व्यक्ति को यदि फिजूल खर्ची की आदत हुई तो सारा-परिवार ही बर्बाद होने लगता है । अतीत काल में लखनऊ के करोड़पति बाद में ताँगा हाँकते देखे गए हैं । आर्थिक शक्तियों की सुरक्षा और उपयुक्त कार्यों में खर्च करने की सूझ-बूझ न होने के कारण अनुभव हीन लोग व्यापार में घाटा उठाते हैं और जीवन भर उस घाटे को पूरा नहीं कर पाते हैं । इनका जीवन मूलधन एवं ब्याज चुकाते रहने में ही बीत जाता है ।

अपने खर्च बढ़ाने पर पास में प्रचुर सम्पदा हो तो भी एक न एक दिन ऐसी स्थिति आ ही जाती है जिसमें पीछे पछताने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं होता । ऐसे अनेकों व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने देखते-देखते अपनी सारी सम्पत्ति फिजूलखर्जी में बर्बाद कर दी और सिर पर कर्ज लाद लिया । अव्यवस्थित ढंग से खर्च करने के कारण उन पर सूद दर सूद कर्ज बढ़ता गया और उससे छुटकारा पाना मुश्किल हो गया । अपनी आर्थिक शक्ति को अदूरदर्शिता और अविवेक पूर्ण ढंग से खर्च करते रहने पर एक स्थिति वह आ जाती है कि जीवनोपयोगी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए काम चलाऊ पैसा तक पास में नहीं बचता । तब यह विचार आता है कि उस समय फिजूलखर्जी में पैसा न उठाया जाता तो अच्छा रहता ।

मानसिक क्षेत्र में हम अवांछनीय और निरर्थक चिन्तनधारा को उपयोगी और सार्थक दिशा में मोड़ें शारीरिक दृष्टि से इन्द्रियों को विषयोन्मुख न होने देकर अन्तर्मुख आत्मोन्मुखी करें और भौतिक सम्पदा का सही उपयोग करना सीख लें तो यह जीवन ही धन्य हो सकता है । जीवनोत्कर्ष के लिए प्रयासरत हर साधक को चाहिए कि संयम की विभिन्न धाराओं को सही ढंग से समझें तथा जीवन में उनका समावेश करें ।

## मानसिक शक्तियों का अपव्यय न करें

अक्सर कहा जाता है कि प्रतिभाएँ परमात्मा की देन हैं । तभी तो हजारों में कोई एक साहित्यकार होता है, हजारो में कोई एक कलाकार होता है और हजारो में कोई एक वैज्ञानिक किसी विषय का विशेषज्ञ बन पाता है । वाह्य दृष्टि से ऐसा दिखाई भी देता है पर असलियत यह है कि विभूतिवान व्यक्तियो ने अपनी मानसिक शक्ति को उपयुक्त दिशा मे लगाया तथा उसका लाभ उठाया । मानसिक शक्ति के सही-सही उपयोग और विकास से ईश्वर किसी को रोकता नही ।

प्रयत्न किया जाय और उसके महत्त्व को समझा जाय तो उसे बढ़ाया भी जा सकता है, लेकिन उसके महत्त्व को भुला दिया जाता है। अनावश्यक अवांछनीय दिशाओं में उसका व्यय कर दिया जाता है और दोष ईश्वर पर मढ़ा जाता है कि उसने हमारे साथ पक्षपात किया। यह नहीं देखा जाता कि जिन लोगों ने प्रगति की उन्होंने अपनी शक्तियों का उपयोग किस प्रकार किया। वैज्ञानिक जब प्रयोगशाला में बैठकर कोई अनुसन्धान कर रहा होता है तो वह अपनी समस्त मानसिक प्रवृत्तियों को समेट कर उस अनुसन्धान में लगा देता है। साहित्यकार जब किसी कृति का सृजन करता है तो उसके मस्तिष्क में दुनिया की कोई और बात नहीं रहती है, उसका सारा ध्यान, उसकी सम्पूर्ण मानसिक शक्ति उस कृति को सुन्दर बनाने में लगी रहती है। महर्षि अरविन्द ने जिस साहित्य का सृजन किया वह आध्यात्म का सर्वोच्च और उत्कृष्ट स्तर का साहित्य है। जब वे सृजन कार्य में लगे रहते थे तब उन्हें अपने आस-पास का भी कोई ध्यान नहीं रहता था। अरविन्दाश्रम की श्री माँ ने एक स्थान पर लिखा है—एक बार भयंकर तूफान आया। अरविन्द के कमरे में खिड़कियाँ जोरों से खुलतीं और बन्द होती थीं। भड़-भड़ की आवाज होती थी, पर अरविन्द अपने कार्य में इस प्रकार लगे हुए थे जैसे कुछ हो ही न रहा हो।

संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं उन्होंने अपनी मानसिक शक्ति को सभी दिशाओं से रोक कर अपने कार्यों में लगाये रखा और उनका बिखराव न होने देकर महान कार्य सम्पन्न किए। प्रायः हमारी मानसिक शक्तियाँ उन विभिन्न दिशाओं में यों ही बिखर जाती हैं, उनका कोई उपयोग नहीं हो पाता और वे जब व्यर्थ दिशाओं में अपयुक्त और अवांछनीय ढंग से खर्च होती हैं तो मनुष्य के पास उपयोगी कार्यों के लिए, उपयोगी दिशाओं में लगाने के लिए मानसिक शक्ति रह ही नहीं पाती। विकास और अवनति के जो भी स्तर मनुष्यों में दिखाई देते हैं उनका कारण मानसिक शक्तियों का उपयुक्त अथवा अनुपयुक्त दिशाओं में लगना ही है।

प्रगतिशील और उन्नत व्यक्तित्व के निर्माण में संयम अथवा एक दिशा में मानसिक शक्तियों के सदुपयोग का बड़ा महत्त्व है। एक विचारक के शब्दों में—"मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण तभी होता है जब उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ एक लक्ष्य को दृष्टि में रखकर व्यवस्थित की जाती हैं। एक आदर्श के नेतृत्व में जब हम अपनी मानसिक शक्तियों, अपनी इच्छाओं को नियमित करते हैं तभी व्यक्तियों का निर्माण होता है। यह नियमन या संयम किसी न किसी लक्ष्य की साधना में ही सम्भव है। न केवल यह कि लक्ष्य के बिना संयम का कुछ अर्थ ही नहीं बल्कि यह भी सच है कि संयम की प्रेरणा भी लक्ष्य प्राप्ति की इच्छा के बिना नहीं मिलती। माँझी को यदि नदी के किनारे पहुँचने की इच्छा न हो तो नौका को चलाने की प्रेरणा कौन देगा।"

प्रत्येक व्यक्ति में मानसिक शक्ति के विकास की प्रचुर सम्भावनाएँ विद्यमान हैं लेकिन वे विकसित तब होती हैं जब उनका उपयोग करना सीखा जाय। उपयोग न किया गया तो घाटा है और गलत दिशा में उपयोग किया गया तो हानि है। अतः साधक को अपनी मानसिक शक्तियों का प्रवाह गलत दिशा से रोकने के साथ-साथ उसे सही दिशा में मोड़ने की साधना में संयम की सफलता समझनी चाहिए। अन्यथा वह एकांगी रह जायेगा और उससे कोई विशेष लाभ नहीं उठाया जा सकेगा।

प्रायः हमारी मानसिक शक्तियाँ मोह, तृष्णा और अहंता, उद्विग्नता की दिशा में नष्ट होती रहती हैं। अपने परिवार के लोगों से स्नेह किया जाय, उनके प्रति कर्तव्य पालन किया जाय यह तो ठीक है, किन्तु उन्हीं के लिए मरते-खपते रहा जाय इसका कोई औचित्य नहीं है। मोहग्रस्त व्यक्ति इससे भी एक कदम आगे निकल जाता है और अपने परिवार वालों के लिए न केवल दिन-रात खपता रहता है वरन् मस्तिष्क में भी उन्हें अधिकाधिक सुविधाएँ प्रदान करने से लेकर अपने पास बनाये रहने तक की उधेड़बुन में लगा रहता है। व्यक्तियों के प्रति यह भावना मोह है तो वस्तुओं के प्रति उत्पन्न होने वाली इसी भावना का नाम तृष्णा है। अनावश्यक रूप से वस्तुओं को इकट्ठा करने की योजनाएँ बनाना और उनका ताना-बाना बुनना तृष्णा जनित विकृति ही है। गहराई से देखा जाय तो अनावश्यक रूप से वस्तुओं को संग्रहीत करने की कोई

उपयोगिता नहीं है । इसी प्रकार अपने अहंकार को बढ़ाने, लोगों पर अपने बड़प्पन का सिक्का जमाने से लेकर क्रोधित होने, आवेशग्रस्त रहने का कारण अहंता—अपने सम्बन्ध में अहंकार पूर्ण मान्यता ही है । मैं बड़ा हूँ या मैं किस प्रकार लोगों पर प्रभाव जमा सकता हूँ ? इन्हीं दिशाओं में व्यक्ति का चिन्तन लगा रहता है फलस्वरूप व्यक्ति अपनी शक्तियों का अपव्यय करता रहता है और उनसे कोई लाभ नहीं उठा पाता ।

कोई भी प्रेरणा पहले विचार के रूप में ही उठती है और मस्तिष्क उसके अनुसार योजना बनाने में निरत हो जाता है । इस प्रकार विचार-शक्ति व्यक्तित्व के मानसिक पक्ष में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है । विचार ही मनुष्य की प्रेरणाशक्ति है और उसी के द्वारा हमारे मनःक्षेत्र में किसी बाह्य वस्तु का प्रभाव होता है । हम अपनी आँखों से जो कुछ देखते हैं उसकी छवि हमारे मानस पटल पर पड़ती है लेकिन वह छवि जो कुछ हम देखते हैं उससे भिन्न होती है । कारण कि उसमें मनुष्य अपनी कल्पनाओं का रंग भी भर देता है । यही कारण है कि एक व्यक्ति किसी वस्तु से प्रेम करने लगता है तो दूसरा उसी को घृणा की दृष्टि से देखता है । एक को उसमें गुण ही गुण नजर आते हैं तो दूसरे को उसमें दोष ही दोष दिखाई देते हैं ।

## विचार और दिशा

किसी भी वस्तु का प्रभाव या कोई विचार हमारे मस्तिष्क में देर तक बना रहता है । यदि वह प्रभाव घनीभूत हुआ तो उसे प्राप्त करने या साक्षात् करने की भी आकांक्षा उठती है । उस आकांक्षा की पूर्ति के लिए मनुष्य प्रबल प्रयत्न भी करने लगता है । अर्थात् विचार मनुष्य को कोई कार्य करने तथा किसी दिशा में प्रवृत्त करने का भी कारण है । गीताकार ने इसी को स्पष्ट करते हुए कहा है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति समोहः सम्मोहात्स्मृति विभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धि नाशःने बुद्धि नाशात्प्रणश्यति ॥

अर्थात्—विषयों का चिन्तन करने से उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्ति से कामना और कामना में विघ्न पड़ने पर क्रोध उत्पन्न होता है । क्रोध से मूढ़ता और मूढ़ता के कारण मनुष्य पथ भ्रष्ट हो जाता है जिससे उसका विनाश होता है ।

प्रायः हमारी शक्तियाँ इसी प्रकार नष्ट होती हैं । जिन विषयों का चिन्तन हमें नहीं करना चाहिए या जो विचार प्रत्यक्ष पतन की दिशा में ढकेलने वाले लगते हैं उन्हें सोचने, समझने और मन के लड्डू खाते रहने में ही अधिकांश लोग अपना चिन्तन और समय नष्ट करते हैं । उदाहरण के लिए मेहनत-मजदूरी करके अपना पेट भरने वाले लोग सम्पन्न होने और रईसी ढंग से खर्च करने की बात सोचा करते हैं । जानते हैं कि यह हमारे बस की बात नहीं है फिर भी उस तरह की कल्पनाएँ करने में ही रस लिया करते हैं । शेखचिल्ली की वह कहानी सर्व विख्यात है जो अपने सिर पर दूध की मटकी लिए जा रहा था, उसे बेचकर बकरी खरीदने, बकरी से गाय, गाय से अधिक गायें फिर परिवार बसाने और बच्चे होने तक की न जाने क्या-क्या बातें वह सोच गया और उसी सोच-विचार में रहने के कारण लापरवाही से मटकी फूट गई तो अपना घर उजड़ जाने का रोना रोते हुए सिर पीटने लगा ।

प्रायः ज्यादातर लोग इसी तरह के सपने देखा करते हैं और अपनी मानसिक शक्ति का जो श्रेष्ठतम उपयोग इस समय के लिए किया जा सकता था उसे भविष्य का ताना-बाना बुनने या बीते हुए कल का पश्चात्ताप करने में नष्ट कर देते हैं । जिस तरह लोग भविष्य के ख्याली पुलाव पकाने या कल की चिन्ता करने मे अपनी शक्ति बर्बाद कर देते हैं उसी प्रकार जो गुजर गया है, जो बीत चुका है और जो हमारी पकड़ से छूट चुका है उसके लिए चिन्ताएँ करते हुए सुन्दर वर्तमान का कोई उपयोग नहीं कर पाते । यह एक प्रकार का अपव्यय ही है । यदि हम मानसिक शक्तियों को सपने देखने, कल-का पछतावा करने या बीते हुए के लिए चिन्तित बने रहने से रोक सकें तो उनका उपयोग वर्तमान को सुन्दर बनाने और उज्ज्वल भविष्य की आधारशिला रखने में कर सकते हैं ।

इस प्रकार के अपव्यय से हानि यह है कि हम अपनी मानसिक शक्तियो का लाभ उठाने से वंचित रह जाते हैं । अपनी शक्तियों को अवांछनीय दिशाओं में व्यय करना प्रत्यक्ष ही हानि उपस्थित करना है ।

गीता में कहा भी गया है कि अवांछनीय चिन्तन से उन विषयों में आसक्ति जागती है और आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है । शराबियों के बीच रहते हुए अपने विचार भी शराबियों से ही बनने लगते हैं । कुसंगति में पड़कर कोई व्यक्ति तत्काल ही अपने साथियों का अनुकरण नहीं करता । पहले देर तक उन पर विचार करता है । लम्बी अवधि तक वैसे ही विचार करते रहने के कारण उसकी इच्छा शराब पीने की होती है और वह मद्यपान में प्रवृत्त होता है । जीवन-व्यवस्था में अकस्मात ही कोई परिवर्तन नहीं हो जाता । जब भी मनुष्य कोई कार्य करता है तो क्षणिक आवेश में नहीं—देर तक उस भावना को अपने हृदय में जमाये रहने के बाद ही करता है । उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति किसी की हत्या कर देता है तो यह कहना अनुचित होगा कि उसने क्षणिक आवेश में ऐसा कर दिया । वस्तुतः तो वह हत्या की भावना अपने मन में देर से पाले हुए था । वह परिस्थिति तो उन विचारों को कार्यक्रम में अभिव्यक्त होने देने का अवसर मात्र थी जिसे हम क्षणिक आवेश कहते हैं ।

मनुष्य विचार करने में स्वतन्त्र है । भले ही वैसी क्रिया की उसे स्वतन्त्रता न हो । इसीलिए विचार जब आकांक्षा का रूप धारण कर लेते हैं तो व्यक्ति उस आकांक्षा को पूरा करने के अवसर की ताक में रहता है । अपराध कर्म या अवांछनीय कार्यों के जनक अपराधी और अवांछनीय विचार ही हैं । बाहरी परिस्थितियाँ तो विचारों के अनुरूप ही प्रभाव डालती हैं । अर्जुन से एक बार इन्द्र दरबार की अप्सरा उर्वशी ने प्रणय निवेदन किया । यदि अर्जुन विचारों से व्यभिचारी होते तो वही परिस्थिति उनके लिए पतन का कारण बन जाती, लेकिन अर्जुन ने विचारों का संयम, परिस्थितियों से अप्रभावित रहना सीखा था, सो वही परिस्थिति उनके चरित्र को निखारने वाली बन गई । अतः किसी दुष्कर्म का कलंक छुटाने के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि वह आकस्मिक या परिस्थितिवश हुआ । वस्तुतः उसकी जड़ हमारे विचारों में—हमारे चिन्तन में अनौचित्य के रूप में पहले ही जम चुकी थी ?

## चिन्तन की दिशा बहकने पर

अनावश्यक और अवांछनीय चिन्तन में अपनी मानसिक शक्ति का अपव्यय करते रहने से ही उन्हें रचनात्मक दिशा में लगाने योग्य स्थिति नहीं बन पाती । बाह्य परिस्थितियों में परिवर्तन के लिए मानसिक संयम सर्वप्रथम आवश्यक है । अपनी मानसिक शक्तियों की धारा अनावश्यक और अवांछनीय दिशा से मोड़कर रचनात्मक दिशा में प्रवाहित करते ही मनुष्य का कायाकल्प आरम्भ हो जाता है । चिन्तन की भ्रान्त दिशा के कारण जो विकृतियाँ आती हैं वे तृष्णा, अहंता और उद्विग्नता के रूप में मनुष्य को विनाश के गर्त मे धकेल देती हैं । गीता में जिन्हें आसक्ति, क्रोध, अविवेक, पथभ्रष्टता और विनाश कहा गया है वे सब इन तीनों वर्गों में आ जाती हैं ।

अनावश्यक और अवांछनीय चिन्तन का परिणाम तृष्णा के रूप में सामने आता है । मनुष्य की तृष्णाओं, इच्छाओं और आकांक्षाओं का कोई अन्त ही नहीं है और वह ऐसी इच्छाएँ किया करता है कि जिन्हें पूरा करना तो क्या किसी से कहना भी अच्छा नहीं लगता । यदि हम अपने दिन भर के विचारों या इच्छाओं को कागज पर नोट करते चलें, जब भी कोई इच्छा उठे सुबह से शाम के बीच उसे लिख लिया करें और शाम को यह देखा जाय कि उन इच्छाओं में से कितनी पूरी की जानी चाहिए या पूरी की जा सकती हैं तथा कितनी पूरी नहीं की जा सकती तो इच्छाओं का आसानी से विश्लेषण किया जा सकता है और यह आत्म-निरीक्षण भी हो सकता है कि हम अपनी मानसिक शक्तियों का कितना अंश अनुपयुक्त रीति से और कितना उपयुक्त रीति से खर्च करते हैं । विचार प्रक्रिया का इस प्रकार सजगतापूर्वक निरीक्षण हमारे मन मस्तिष्क में चलने वाली अवांछनीयता, निरर्थकता और सार्थकता को दूध और पानी की तरह अलग करते हैं ।

अवांछनीय और निरुपयोगी विचार ही मनुष्य को दिग्भ्रान्त और पथभ्रष्ट करते हैं । उन्हीं से तृष्णा, वासना, अहंता और उद्विग्नता आदि विकार उत्पन्न होते हैं । सिनेमा देखने और उपन्यास पढ़ने का प्रभाव अवांछनीय दिशा में बहक गया तो वैसी ही स्थिति प्राप्त करने का जी होने लगता है । यही बात अनुपयोगी चिन्तन के कारण होती है और व्यक्ति अपनी इच्छित वस्तु को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है । उसमें रुकावटें अहं को उत्तेजित करती हैं, ईर्ष्या, द्वेष और वैर-विरोध उत्पन्न होता है अथवा उद्विग्नता,

उत्तेजना जैसे विकार उत्पन्न होते हैं । इन विकारों की जड़ है तो अवांछनीय और अनावश्यक चिन्तन ही, पर ये विकार मानसिक शक्तियों के दहन में घी का काम करते हैं । घी जलता है और जलती हुई चीजों में उसे डाल दिया जाय तो आग और भड़क उठती है । अवांछनीय चिन्तन और अनावश्यक विचार तो मानसिक शक्ति को बर्बाद करते ही हैं उनमें तृष्णा, वासना, अहंता और उद्विग्नता के विकार भी शामिल हो जाते हैं तो वह विनाश और भी अधिक भभक उठता है ।

किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा का नाम तृष्णा है । तृष्णा प्रायः अपनी स्थिति से अधिक ऊँची सामर्थ्य वाली वस्तुओं के लिए ही हुआ करती है । उदाहरण के लिए एक गरीब आदमी कारमोटर या बँगले की इच्छा करे, अनपढ़ और गँवार व्यक्ति विद्वता अर्जित करने अथवा कोई शोधग्रन्थ लिखने की इच्छा करता रहे । यह आकांक्षा रखना और उसे पूरी करने के लिए प्रयत्न करना अलग बात है । तृष्णा उस प्रयत्न, परिश्रम का नाम नहीं है । उसमें तो आरम्भ से ही अपने को लक्ष्य पर पहुँचा मान लिया जाता है लोग कल्पना में ही उसका आनन्द लेते रहते है । अनावश्यक और अनुपयुक्त रूप से व्यक्ति तृष्णा मे ही उलझा रहता है । उस लक्ष्य को कैसे प्राप्त किया जाय इस दिशा में विचार करने की अपेक्षा इस दिशा में होते तो कितना अच्छा रहता—इसी की कल्पनाएँ उठती रहती हैं । वस्तुओं के प्रति मोह, जो अपने पास नही है उसे प्राप्त करने की ललक, प्राप्त को सुरक्षित रखने का संकल्प, आदि अनेकों बातें तृष्णा के परिवार में ही आ जाती हैं ।

## तृष्णा वासना का शमन

वस्तुओं के प्रति आकर्षण का—अतृप्त इच्छाओं का नाम तृष्णा है तो व्यक्तियों के प्रति आकर्षण और मानसिक बन्धन का नाम मोह है । तृष्णा के कारण व्यक्ति जिस प्रकार अपनी इच्छित वस्तुओ से अपने मन को बांध लेता है, उसी प्रकार मोह के कारण मन को अपने स्वजन सम्बन्धियों में बांध लेता है । यह मोह ही है जिससे प्रेरित होकर लोग जीवन के आवश्यक पहलुओं की उपेक्षा करके अपने स्वजन-कुटुम्बियो के लिए साधन सुविधाएँ जुटाते हैं । मोह का एक रूप अपने कुटुम्बियों को साथ रखने की प्रबल आकांक्षा भी है । यदि घर में से कोई किसी आवश्यक कार्य से कहीं गया है तो विचार वहीं दौड़ते रहते हैं, मन किसी कार्य में नहीं लगता । आदि-आदि बातें मोह के कारण ही होती हैं ।

परिजनों के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन किया जाय किन्तु उसके प्रति इतना मोहाभिभूत नहीं हुआ जाय कि उस कारण अपनी और परिजनों की प्रगति ही अवरुद्ध होने लगे । मोह के कारण जब परिजनों से अलग होने में पीड़ा होती हो भले ही वह आवश्यक हो किन्तु मोह के कारण वैसा नहीं हो पाता । जैसे कोई पिता अपने लड़के को पढ़ने के लिए केवल इस कारण शहर न भेजे कि वह उसका विछोह सहन नहीं कर सकता तो उस दशा में मोह अपनी तथा लड़के की प्रगति में बड़ा गतिरोध उत्पन्न कर देता है । मोह के कारण उत्पन्न होने वाली दुःस्थिति का निराकरण अपनत्व बढ़ाने परिजनों के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करते रहने से ही हो सकता है । मन को किसी भी वस्तु या व्यक्ति के प्रति अनावश्यक रूप से आकर्षित न होने दिया जाय तथा अपनी मानसिक शक्तियों को एक दिशा में—अभीष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर रखा जाय तो विभिन्न वस्तुओं को देखकर उत्पन्न होने वाली आकांक्षा और उसमें लगने वाला चिन्तन श्रम रचनात्मक कार्यों में लग सकता है ।

व्यर्थ के चिन्तन और अनावश्यक रूप से सोच-विचार करते रहने के कारण ही इस प्रकार की स्थिति बनती है, मोह, तृष्णा, वासना आदि के विकार उत्पन्न होते हैं और मस्तिष्क को यदि सार्थक चिन्तन में व्यस्त रखा जाय तो इस प्रकार की विसंगतियाँ उत्पन्न ही नहीं होंगी । इसलिए कहा गया है कि—'खाली दिमाग शैतान का घर होता है ।' इस कहावत का अर्थ है अव्यस्त और शिथिल मस्तिष्क में तरह-तरह की कल्पनाएँ, कुकल्पनाएँ उठा करती है और हमारी मानसिक शक्ति फुलझड़ी की तरह जलती रहती है । उदाहरण के लिए वासना को ही लें । जिसके कारण जननेन्द्रिय के माध्यम से मानसिक तथा शारीरिक शक्ति का क्षरण होता है । यह विकार विशुद्ध रूप से खाली दिमाग की ही उपज है । कहा जा सकता है कि यह विकृत वातावरण और गलत व्यक्तियों के संसर्ग से उत्पन्न

होता है । यह कहना एक सीमा तक ही सही हो सकता है । वातावरण से व्यक्ति तभी प्रभावित होता है जबकि उसमें उसी तरह के सजातीय संस्कार हों । अन्यथा लंका में विभीषण की तरह गलत व्यक्तियों के बीच भी अपने को सही रखा जा सकता है । बैठे-ठाले यदि व्यर्थ चिन्तन करते रहा जाय, गप्पबाजियाँ और उस तरह का साहित्य पढ़ने या मनोरंजन करने में ही प्रवृत्त रहा जाय तो अच्छे वातावरण में रहते हुए भी वासना के कारण लोग पथ भ्रष्ट हो जाते हैं । इसलिए स्वयं को व्यर्थ के चिन्तन और अनावश्यक विचारों से बचाते हुए मानसिक शक्तियों को संयमित निगृहीत करना चाहिए ।

## अहंता उद्विग्नता का नियन्त्रण

तृष्णा वासना की तरह ही अहंता भी मानसिक असंयम का दुष्परिणाम है । अहंकार के कारण भी अपनी मानसिक शक्तियाँ बर्बाद होती रहती हैं । अपने बारे में औरों की राय जानने की इच्छा, चर्चित होने की आकांक्षा, दूसरों से प्रशंसा सुनने और करवाने की अपेक्षा आदि कितने ही रूपों में अहंता व्यक्ति के मन मस्तिष्क में उठती-उमगती रहती है । इस तरह की इच्छा और अपेक्षा के मूल में अहंता ही मूल कारण है । दूसरों से प्रशंसा सुनने या उनकी राय जानने का एक ही उद्देश्य है अपने को महत्त्वपूर्ण अनुभव करना । अपने को महत्त्वपूर्ण अनुभव करने या व्यक्त करने के लिए मनुष्य का मस्तिष्क ऐसी उधेड़बुन में उलझ जाता है कि फिर वह अपनी सारी विचार-शक्ति को उसी ताने-बाने में उलझा देता है । महत्वाकांक्षा कोई बुरी बात नहीं है पर जब वह अहंकार का पोषण करने के लिए ही की जाती हो तो मस्तिष्क फिर उसी दशा में सोचने के लिए व्यस्त हो जाता है । उस दशा में रचनात्मक चिन्तन की दिशा ही नहीं सूझती ।

सारी विचारशीलता अहंकार के पोषण में न भी लगे तो भी व्यक्ति अहंता के कारण अपने सम्बन्ध में ऐसी मान्यताएँ स्थापित कर लेता है कि उन पर थोड़ी भी प्रतिकूलता सहन नहीं होती । क्रोध, उत्तेजना और आवेश जैसे मनोविकार अहंता के कारण ही उत्पन्न होते हैं । अहंता व्यक्ति को अपने आप में सम्मान्य और प्रतिष्ठित कर देती है और अन्य लोगों से भी उसी स्तर का व्यवहार करने की अपेक्षा करती है । उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति नहीं चाहता कि उसकी बात को न माना जाय या उसकी बात की उपेक्षा की जाय । यों सत्परामर्श सभी मानते हैं पर अपने परामर्श में कोई त्रुटि हो भी तो अहम्मन्यता उसमें कोई दोष नहीं देखती और दूसरे व्यक्ति से उसे अक्षरशः स्वीकार कर लेने का आग्रह करती हैं । परिस्थितिवश या परामर्श के अव्यावहारिक होने पर जब उसे स्वीकार नहीं किया जाता है तो परामर्शदाता उसे अपनी मान-प्रतिष्ठा का विषय बना लेता है और क्षुब्ध हो उठता है ।

देखा जाय तो इस तरह की समस्त फल-श्रुतियाँ—अहंता के कारण होने वाली मस्तिष्कीय प्रतिक्रियाएँ व्यर्थ ही नहीं, हानिकारक भी हैं । किसी प्रसंग में जिसे हम गम्भीर समझ रहे हैं और दूसरा उसे सहज मान कर पूरा ध्यान नहीं दे रहा है तो रुष्ट होने से लेकर क्रोध व्यक्त करने तक न जाने कितनी प्रतिक्रियाएँ करने लगते हैं । विचार किया जाना चाहिए कि यह स्थिति क्यों बन रही है । कहीं हम ही तो गल्ती पर नहीं हैं या सामने वाला उस परामर्श में क्या व्यावहारिक कठिनाई अनुभव कर रहा है । यह विचार किया जाय तो कोई अर्थवत्ता पूर्ण भी है, पर आमतौर पर लोग अपने को सही और शेष को गलत, अपने को महान और शेष को क्षुद्र, अपने को बड़ा और बाकी सबको छोटा मानते हैं । अहंता इसी का नाम है और जब इन मान्यताओं पर हल्का-सा आघात भी होता है तो क्रुद्ध हो उठने की स्थिति आती है ।

क्रोध की जननी भी अहंता ही है । किसी ने कोई अपशब्द कह दिए तो जिससे कुछ कहा गया है उसका कुछ बिगड़ता नहीं । बस अपने बड़प्पन को ठेस लगती प्रतीत होती है यह बात बड़ी गहरी चुभती है कि जैसे उसने अपने प्रति कोई अपराध कर दिया हो यदि क्षमा की नीति अपनायी जाती और प्रतिपक्षी ने जो कुछ कह दिया है उसे भुला देने या ध्यान न देने की नीति अपनायी जाती तो मस्तिष्क मे होने वाली उथल-पुथल, अहं को चोट पहुँचाने पर होने वाली तिलमिलाहट, हृदय मे शूल-सी चुभने वाली वेदना, जैसी दाहक अनुभूतियों से बचा जा सकता था और अपनी मानसिक शक्तियो को उस अग्नि में जलने से बचाया जा सकता था, परन्तु अहम्मन्यता इन सब बातों को कहाँ सोचती है, उनमें तो आघात का प्रत्याघात,

मुँह तोड़ उत्तर देने और रोष व्यक्त करने से लेकर सामने वाले को नष्ट कर देने तक के विचार उठते हैं। संसार में जितने भी उपद्रव होते हैं, व्यक्तिगत लड़ाई-झगड़े होते हैं, मन-मुटाव के कारण होने वाले अपराधों की जड़ में, अहंता ही है और उसके कारण मानवीय शक्ति का, व्यक्ति की मानसिक शक्ति का बहुत बड़ा भाग नष्ट हो जाता है।

अहंताजन्य होने वाली प्रतिक्रिया और फलस्वरूप अपनी शक्ति के होने वाले अपव्यय ही नहीं दुर्व्यय को रोकने के लिए सुलझी हुई मान्यताएँ अपने चिन्तन में बिठाई जायें तथा उसके कारण होने वाली हानियों को अपनी क्षति समझ कर उनसे बचने के लिए उसी स्तर के प्रयास किए जायें जैसे कि लोग व्यापार, व्यवसाय में सम्भावित घाटे से बचने के लिए करते हैं तो समझा जाना चाहिए कि अपनी ही भाँति औरों को भी अपने अस्तित्व का भान है और उन्हें भी उसकी रक्षा का अधिकार है। सामने वाला यदि आवेशवश होकर कोई गलत बात कह भी रहा है तो उसकी उपेक्षा करने अथवा उसके विधेयात्मक पहलू पर ध्यान देने में जितना हित है उतना उलट कर प्रतिकार करने में नहीं है। उनके प्रतिकार का ढंग समाधान परक होना चाहिए न कि प्रतिशोध से भरा हुआ। जैसे उस व्यक्ति के नाराज होने या खिन्न होने के कारण का पता लगाया जा सकता है। उसके शान्त चित्त होने पर उसकी भ्रान्तियों का निराकरण किया जा सकता है। इस प्रकार समाधान परक नीति अपना लेने से अपने व्यक्तित्व की सुन्दरता में चार चाँद लग जाते हैं जबकि उलटकर प्रत्याघात करने में अपना स्तर भी उतना ही गिर जाता है जितना कि सामने वाले का। किसी गाली का जवाब गाली से देने में व्यक्ति को नैतिकता के उसी धरातल पर उतरना पड़ेगा जिस धरातल पर गाली देने वाला खड़ा है। नीचे उतरने में अपनी उच्च नैतिकता को अधोगामी बना लेने में कौन सा बड़प्पन है।

अहंता को पहुँचने वाली ठेस जहाँ चित्त में विषाद उत्पन्न करती है वहीं अविवेक तथा उद्विग्नता भी उत्पन्न होती है। गीता में कहा भी गया है कि अविवेक, मूढ़ता और बुद्धि नाश के कारण व्यक्ति का पतन हो जाता है। इन विकारों का एक बड़ा कारण उद्विग्नता भी है। जल्दबाजी, आवेश, उत्तेजना, घबराहट, चिन्ता, अनिश्चय जैसी कितनी ही बातें उद्विग्नता के कारण उत्पन्न होती हैं जो किसी लक्ष्य प्राप्त करने, कोई कार्य करने किसी परिणाम को प्राप्त करने की आतुरता मात्र है।

किसी कार्य का महत्त्व या किसी सिद्धान्त की उपयोगिता अच्छी तरह समझ में आ जाती है तो उसे तुरत-फुरत कर डालने का जी होता है। अनुचित लगने वाली बात का प्रतिकार करने में ऐसी ही मनोवृत्ति बन जाती है, जबकि कोई भी कार्य नियत ढंग से व्यवस्थित रूप में ही सम्पन्न किया जा सकता है और उसके अपेक्षित परिणाम प्राप्त किए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए साधना-उपासना का महत्त्व समझ लेने और उस पर निष्ठा जम जाने के बाद यह उत्कट लगन पैदा होने लगती है कि ईश्वर अभी मिल जाय, हमारा स्तर अभी महामानवों जैसा हो जाय, लोग हमें अभी महात्मा के रूप में देखने लगें। महामानव बनने का स्तर ऊँचा उठाने का आदर्श सराहनीय है पर यह तथ्य यदि भुला दिया गया कि वह स्थिति, श्रम, समय और लगन साध्य है तो मार्ग से भटक जाने का खतरा बना ही रहेगा क्योंकि तब क्रम व्यवस्था और साधना की सीढ़ियों पर ध्यान ही नहीं जायेगा।

अग्निकाण्ड में घिरे कई लोग व्यग्रता के कारण जल मरते हैं क्योंकि उस समय किसी प्रकार अपने को बचा लेने की ही भावना रहती है और यह भावना इतनी तीव्र होती है कि उसमें मानसिक सन्तुलन बिगड़ जाता है फलस्वरूप बचना सम्भव होने पर भी वे लोग बच नहीं पाते। मानसिक शक्तियों को इस प्रकार जड़ बना देने वाली उद्विग्नता समय-समय पर हर सामान्य व्यक्ति में उत्पन्न होती है। कई लोगों के स्वभाव में तो यह इस प्रकार आ जाती है कि वे हर काम जल्दबाजी, उतावलेपन और आतुरता से करने के कारण किसी काम को भली-भाँति नहीं करते और अपनी शक्तियों को नष्ट कर डालते हैं। उनसे कोई लाभ नहीं उठा पाता।

उद्विग्नता के इस दोष से बचा जा सके और प्रत्येक कार्य व्यवस्थित ढंग से सम्पन्न होते रहें—यह मान्यता विकसित की जा सके तो उपलब्ध स्थिति में ही उतावली या जल्दबाजी में किए गए कार्यों की अपेक्षा उनसे अच्छी तरह उन्हीं कार्यों को किया जा सकता है और जो काम उद्विग्नता के कारण बिगड़ जाते हैं उन्हें धैर्य व्यवस्था तथा क्रम व्यवस्था के द्वारा सुधारा जा सकता है।

मानसिक शक्ति एवं उसके उपयोग का महत्त्व अधिकांश बुद्धिजीवी भली प्रकार जानते हैं, किन्तु उनका समुचित लाभ विरले ही उठा पाते हैं । यदि मानसिक संयम का व्यवस्थित अभ्यास अल्प मात्रा में भी किया गया तो जीवन की अनेक विडम्बनाओं से बचना तथा अनेक सफलताओं का अधिकारी बनना हर किसी के लिए सम्भव हो सकता है ।

## मौन : मन और वाणी का संयम

मनुष्य जो कुछ सोचता और विचार करता है उसे वाणी के माध्यम से व्यक्त करता है । लिखकर व्यक्त करने की कला तो बाद में विकसित हुई मनुष्य ने अपने विचारों और भावों को सर्वप्रथम वाणी के माध्यम से व्यक्त करना सीखा । वाणी और मस्तिष्क का सीधा सम्बन्ध है, विशेषतः अभिव्यक्ति के लिए तो सबके लिए वही सर्वाधिक सुलभ है । इसलिए मानसिक शक्तियों का बहिर्गमन मुख्यतः वाणी के द्वारा होता है । अहंता, मोह-तृष्णा, वासना आदि के द्वारा तो मानसिक शक्तियाँ अन्दर-अन्दर ही जलती रहती है । वाणी के माध्यम से उनकी ज्वालाएँ बाहर भी धधकने लगती हैं । इसलिए वाणी के संयम को मानसिक संयम के साथ भी जोड़े रखा गया है ।

विचारों पर संयम कर लिया जाय और वाणी को असंयमित ही रहने दिया जाय तो विचार सयम का आधार भी लड़खड़ा उठता है हमेशा कुछ न कुछ कहते रहने की आदत व्यक्ति को कोई विषय ढूँढ़ने के लिए भी बाध्य करती है । इसलिए विचार संयम के साथ-साथ वाणी का संयम भी अनिवार्य है । वरन् वाणी का संयम—मानसिक संयम का ही अंग है । किसी बर्तन का छिद्र बन्द कर देने के बाद उसमें रखी जाने वाली वस्तु को सुरक्षित रखने के लिए बर्तन का मुँह बन्द रखना भी आवश्यक है । अन्यथा बर्तन में रखी हुई वस्तु कभी भी किसी भी समय फैल सकती है ।

विचार आकांक्षा और भावना पक्ष से मानसिक शक्तियों का क्षरण रोका गया लेकिन आचार पक्ष से, अभिव्यक्ति पक्ष से वाक् संयम न किया गया तो वह एकांगी ही रह जायेगा । इसलिए मानसिक संयम के साथ-साथ वाणी का संयम भी अनिवार्य रूप से आवश्यक है ।

मानसिक संयम के साथ वाणी के संयम की महत्ता को भी समझना चाहिए और उसे हल्के रूप में नहीं लेना चाहिए । बहुत से व्यक्ति वाणी के संयम को इतना अधिक महत्त्व नहीं देते । उनकी मान्यता होती है बोलने में क्या लगता है ? बोलने में बड़ी शक्ति खर्च होती है । एक घण्टे लगातार बोलने पर व्यक्ति इतना अधिक थक जाता है कि आठ घण्टे तक शारीरिक श्रम किया जाता तो थकान नहीं आती । कारण वाणी का सीधा सम्बन्ध मस्तिष्क से है और काम तो हाथ पैर से भी किए जा सकते हैं, उन्हें करते समय ध्यान कहीं और भी रह सकता है, पर बोलते समय सारा ध्यान बोलने पर ही रखना पड़ता है ।

बेहोश होने अथवा मरने से पूर्व अन्य अंग बाद में निष्क्रिय होते हैं पहले वाणी ही अवरुद्ध होती है, क्योंकि मस्तिष्क जैसे-जैसे शिथिल या अचेत होता जाता है वाक् इन्द्रिय वैसे-वैसे असमर्थ होती जाती है । उस समय न शरीर में इतनी शक्ति रह जाती है और न मन मस्तिष्क में ही इतनी चेतना रहती है कि कुछ शब्द भी कहे जा सकें । शरीर में जो शक्ति और मस्तिष्क में जो चेतना बची रहती है वह इतनी अपर्याप्त रहती है कि उससे कुछ शब्द भी नहीं बोले जा सकते । यद्यपि वह शक्ति अन्य अंगों को हिलाने डुलाने के लिए पर्याप्त रहती है । मरते हुए व्यक्ति कोई बात सुनकर उसका उत्तर सिर हिलाकर ही दे पाते हैं—कुछ कह पाना अधिकांश लोगों के लिए कठिन ही होता है । कहावत है भी कि—*'टके की जबान नहीं हिलती पसेरी का सिर हिल जाता है ।'*

शारीरिक क्रिया-कलापो मे जिन कार्यों में सर्वाधिक मानसिक शक्ति खर्च होती है वह वाणी ही है । इसीलिए मौन की गणना मानसिक तप से की गई है । भगवद्गीता मे भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्म विनिग्रहः ।
भाव संशुद्धिरित्येतत्पो मानसमुच्यते ॥

अर्थात्—मन की प्रसन्नता, सौम्यशालीनता, मौन मनोनिग्रह और विचारों की शुद्धि मानसिक तप कहे जाते हैं ।

मानसिक संयम साधने में मौन का अद्भुत महत्त्व सिद्ध होता है । शास्त्रों में इस तरह के ढेरों उदाहरण भरे पड़े है । महर्षि वेदव्यास जी ने महाभारत जैसे

ग्रन्थ को लिखने का विचार किया तो उन्हें एक लेखक की आवश्यकता अनुभव हुई, क्योंकि ग्रन्थ को जितना विशाल और गम्भीर बनाने की योजना थी उस दृष्टि से प्रसंगों पर विचार करने और उन्हें लिखते रहने की प्रक्रिया एक साथ सम्भव नहीं थी। उसमें काफी समय भी लगता और ग्रन्थ को वैसा स्तर भी नहीं दिया जा सकता। निदान यह सोचा गया कि वेदव्यास बोलते जायें और कोई लिखता जाय। उन्होंने इस कार्य के लिए गणेश जी को चुना। गणेश जी ने लेखन कार्य सँभाला और वेदव्यास बोलते जाते तथा गणेश जी लिखते जाते। जब तक महाभारत लिखा जाता रहा तब तक गणेश जी एक शब्द भी न बोले। वेदव्यास जी ने गणेश जी से कुछ भी न बोलने का कारण पूछा तो उन्होंने कहा—"यदि मैं बीच-बीच में बोलता जाता तो आपका यह कार्य न केवल कठिन हो जाता वरन् एक भार ही बन जाता।"

सामान्य जीवन में भी कार्य करते समय बोलने और मौन रहने का अन्तर समझा जा सकता है। किसी काम को करते समय यदि बात भी करते रहा जाय तो मनोयोग उस कार्य में पूरी तरह जुट नहीं पाता। कारण कि बात करते रहने से वह एकाग्रता और दक्षता नहीं आ पाती जिसके द्वारा अधिक कुशलता तथा दक्षता से कार्य किया जा सके। बातूनी व्यक्ति का काम भली-भाँति सम्पन्न नहीं हो पाता।

बातूनी आदत जब स्वभाव का अंग बन जाती है तो महत्त्वहीन बातों में काफी समय और चिन्तन नष्ट होता है, क्योंकि उस प्रसंग को अतिरेकपूर्ण और अतिशयोक्तिपूर्ण बनाने में ही सारी विचार-शक्ति बुद्धि लग जाती है। जबकि मौन से एक स्वाभाविक सन्तुलन आता है। बातें भी वही की जाती हैं जो महत्त्वपूर्ण आवश्यक हों। कम बातें स्वाभाविक ही गम्भीर भी होती हैं अतः लोक व्यवहार में भी मौन अथवा मितभाषण व्यक्तित्व को प्रभावपूर्ण बना देता है।

निन्दा-स्तुति, वाद-विवाद, खण्डन-मण्डन, कहा-सुनी और कटुता बढ़ाने वाले प्रसंग भी प्रायः वाचालता के कारण ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि वाचाल व्यक्ति कोई भी बात बिना सोचे-समझे कहने का अभ्यस्त रहता है और किसी प्रसंग पर बोलते समय इस बात का ध्यान नहीं रखता कि इस तरह कहने का क्या प्रभाव होगा। यदि मितभाषण को अपने स्वभाव का अंग बना लिया तो न केवल दूसरों की बात शान्तिपूर्वक सुनने का अभ्यास बनता है वरन् वाद-विवाद तथा कहा-सुनी हो जाने वाले प्रसंगों में पड़ने की स्थिति भी दूर ही रहती है। दूसरे शब्दों में कहें तो उससे प्रसंग की गम्भीरता अनुभव करने की क्षमता उत्पन्न होती है।

अधिक बातें करने वाले व्यक्ति तुरन्त उत्तेजित हो उठते हैं, क्योंकि वाचालता के कारण मनुष्य की प्राण-शक्ति नष्ट होती रहती है और तज्जनित मानसिक दुर्बलता व्यक्ति को असहिष्णु बना देती है। व्यक्ति को जिस प्रकार जल्दी क्रोध आ जाता है उस प्रकार वाचालता के कारण मानसिक दृष्टि से दुर्बल भी शीघ्र उत्तेजित हो उठता है। उत्तर प्रत्युत्तर से दोनों पक्षों में क्रोध बढ़ता है और बात सुलझने की अपेक्षा उलझती ही जाती है।

वाणी के अपव्यय को रोकना—प्रत्येक मनीषी ने आवश्यक ही नहीं अनिवार्य बताया है। मनोविज्ञान वेत्ताओं का कहना है कि मौन से विचार-शक्ति बढ़ती है। जो व्यक्ति मौन रहते हैं उनकी बुद्धि, अपेक्षाकृत अधिक स्थिर तथा सन्तुलित रहती है, सन्तुलित विचारों वाला हानि-लाभ, हित-अहित के प्रसंगों पर बड़े धैर्यपूर्वक सोच-समझ सकता है। संकट या आपत्ति के समय मौन द्वारा प्रखर की हुई विचार-शक्ति बड़ी सहायक सिद्ध होती है। कभी भी देखा जा सकता है कि जब मनुष्य किसी गहन प्रसंग पर सोचना चाहता है तब वह एकान्त की तलाश करता है। न तो वह उस समय बोलता और न किसी से बात ही करता है। बोलना और विचार दोनों क्रियाएँ एक साथ नहीं हो सकतीं। विचारक जितने गहरे मौन में उतरता जाता है समस्याओं का सार्थक हल खोज लाता है। महात्मा गाँधी को जब-जब किसी विकट समस्या पर विचार करना होता था तब-तब वे कई दिनों तक मौन व्रत ले लिया करते थे। सप्ताह में एक दिन तो वे मौन रखते ही थे, उनका कहना था कि मौन से आत्मिक बल बढ़ता है। आत्मिक बल बढ़ाने वाले मौन के साथ और बातें भी जुड़ी होती हैं। संयम की दृष्टि से यहाँ उसका अर्थ व्यर्थ बकवास में होने वाली शक्ति का बचाव करना ही है।

वाचालता न केवल मानसिक शक्तियों को नष्ट करती है वरन् उससे आध्यात्मिक दृष्टि से भी हानियाँ ही हानियाँ होती हैं क्योंकि मुँह से उच्चारित किया गया प्रत्येक शब्द हमारी चेतना पर एक अमिट छाप छोड़ जाता है जो हमारे स्वभाव और चरित्र के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका रखता है । शास्त्रकारों ने शब्द को ब्रह्म की संज्ञा दी है । शब्द में बड़ी सार्थकता है ।

हम जब किसी शब्द का उच्चारण करते हैं तो उसका प्रभाव न हमारे गुप्त मन पर पड़ता है अपितु सारे संसार पर भी पड़ता है, क्योंकि शब्द कभी नष्ट नहीं होता । उसका उच्चारण होते ही वह वायुमण्डल में गूँजने लगता है और अपने समान धर्मी व्यक्ति के मन से टकराकर उसमें तद्नुकूल प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है ।

मन्त्र-शक्ति का आधार भी शब्द ही है । हमारे मनस्वी ऋषियों ने मन्त्र-शक्ति द्वारा अनेक आश्चर्यजनक कार्य सम्पन्न किए हैं । मन्त्र आखिर सशक्त, तेजस्वी एवं गूढ़ शब्दों की ध्वनियाँ ही तो हैं, इन शब्दों से न केवल मानसिक वरन् भौतिक जगत में भारी उलट-फेर हुए हैं । इसका एकमात्र कारण मन्त्रों के पीछे ऋषियों की अनुभवजन्य ज्ञान युक्त वाणी की प्राप्त शक्ति भरी रहती है । शब्द की इसी अद्भुत शक्ति के कारण मनीषियों और उपनिषदों ने प्रत्येक शब्द के प्रति अत्यन्त सावधान रहने का संकेत किया है । जो काम हम वर्षों में नहीं कर पाते उसे मनस्वी और पुरुषार्थी व्यक्ति अपने चुने हुए शब्दों की शक्ति से अल्पावधि में ही कर सकते हैं, क्योंकि उनकी वाणी में संयम के कारण अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक शक्ति आ जाती है ।

वाणी संयम का पहला अभ्यास मितभाषण है । जहाँ आवश्यक हो वहाँ नपे-तुले शब्दों में अपनी बात कही जाय । जहाँ एक शब्द से काम चल सके वहाँ दूसरा शब्द न बोला जाय । इसी मित भाषण का जो प्रभाव पड़ता है वह अधिक बोलने से नहीं होता क्योंकि तब समग्र मानसिक शक्ति उन थोड़े से शब्दों में ही समाविष्ट हो जाती है । न केवल मानसिक शक्ति वरन् अधिक बल भी उस संक्षिप्त शब्दावली को प्रभावपूर्ण बनाने में लग जाता है और अनावश्यक बोलने में खर्च होने वाली मूल्यवान शक्ति भी नष्ट होने से बच जाती है ।

वाणी के संयम के लिए सोच-समझकर हर वाक्य तोलकर बोलना आदि अभ्यास किए जाते हैं । अपनी वाणी से जो कुछ निकल गया उसी को सही सिद्ध करने के आग्रह की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक बात, अधिक उपयुक्त ढंग से कहने का उत्साह होने से वाणी का शोधन होता रहता है । यदि अपनी मनोभूमि इस स्तर की है तो सुझाव परामर्श देने वालों की कमी नहीं रहती । उन्हें सुनकर स्थिर बुद्धि से उनका विवेचन करके अधिक प्रामाणिक स्तर पाने का क्रम सहज ही चलता रह सकता है । इसी प्रकार स्वतः अपनी तथा अपने सम्पर्क के व्यक्तियों की मानसिक शक्ति का निरर्थक व्यय बड़ी मात्रा में बचाया जा सकता है और उस शक्ति का उपयोग आत्मिक प्रगति की दिशा में अग्रसर करने के लिए किया जा सकता है जो बोलें वह सोच-समझकर ही बोलें । इससे व्यर्थ वाद-विवाद भी उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि सुनने वाले की मनोभूमि और प्रकृति देखकर ही कुछ कहा जा सकता है । विचारकों ने इसे ही बुद्धिमत्ता कहा है और बताया है कि—"बुद्धिमान व्यक्ति बोलने से पहले सोचते हैं जबकि मूर्ख व्यक्ति बोलता पहले है, सोचता-समझता नहीं और विचार करता भी है तो बोलने के बाद में । इसलिए यथासम्भव कम से कम बोला जाय और जो बोलना चाहिए बोलने से पूर्व उस पर विचार किया जाना चाहिए ।

मितभाषण के साथ-साथ मधुर भाषा भी वाणी संयम का एक अंग है । कटु बोलने और कर्कश व्यवहार करने के कारण हृदय में जो दुर्भावनाएँ उत्पन्न होती हैं वे भी हमारी शक्तियों को नष्ट करती है, इसलिए तैत्तिरीय उपनिषद् के ऋषि ने ईश्वर से प्रार्थना की है—

'जिह्वा मे मधुमत्तमा'

अर्थात्—हे ईश्वर ! मेरी जिह्वा सदैव मधुर वचन ही बोले, मैं कभी कटु कर्कश और कुवचन द्वारा अपनी वाणी कलंकित न करूँ । कटु अभद्र और अशिष्ट शब्द जहाँ अपने चारों ओर के वातावरण को कलुषित और अमंगल जनक बनाते है, वहीं अपने तथा दूसरों के जीवन को कष्टप्रद और अशांत भी बनाते हैं, क्योंकि शब्द अमृत और विष दोनों का काम करते हैं । जब वाणी सत्य, प्रफुल्लता बढ़ाने वाली, निष्कपट, मधुर और हितकर होगी तो वह अमृतमय बन जाती है ।

अपने लिए भी वह शीतलता और शान्ति प्रदान करती है तथा औरों की प्रफुल्लता और प्रसन्नता में भी अभिवृद्धि करती है । इसीलिए संत कबीर ने कहा है—

ऐसी वाणी बोलिए, मन का आपा खोय ।
औरन को शीतल करे, आपहु शीतल होय ॥

गोस्वामी तुलसीदास ने मधुर भाषण को वशीकरण मन्त्र बताते हुए कहा है—

तुलसी मीठे वचन ते, सुख उपजत चहुँओर ।
वशीकरण एक मन्त्र है, तज दे वचन कठोर ॥

कठोर वचन, कटुभाषण वाणी को विषाक्त कर देते हैं । उससे औरो का हृदय तो दग्ध होता ही है अपना आन्तरिक सन्तुलन भी बिगड़ता और चित्त में बेचैनी परेशानी से लेकर वैरभाव, शत्रुता जैसी विध्वंसक भावनाएँ उत्पन्न होने लगती हैं ।

कहा जा सकता है कि सत्य बोलने का व्रत लेने पर कोई सच्चाई इतनी कटु भी हो सकती है कि सुनने वालों को बुरी लगे । वैसी स्थिति में अनावश्यक और अप्रिय सत्य बोलना भी वाणी के असंयम में गिना गया है । बोलना वही आवश्यक है जहाँ कि उससे किसी का कोई हित सधता हो । आवश्यक अनुपयोगी और अप्रिय सत्य को भी मनीषियों ने निषिद्ध बताया है और सत्य भाषण की व्याख्या करते हुए कहा है कि—

अनुद्वेग करं वाक्यं प्रियहितं चयत् ।

अर्थात्—जिनसे सुनने वालों को दुःख न हो, जो प्रिय हों तथा जो हित के उद्देश्य से कहे गए हों ऐसे सत्य वचन बोलना ही धर्म सम्मत है ।

वाणी के संयम में ये सभी गुण आ जाने चाहिए । दूसरों को दुःख पहुँचाने वाले (कर्कश, कटु) अप्रिय तथा व्यर्थ की बातें करने जैसी मलीनताओं से मुक्त वाणी ही वाक् व्यवहार के द्वारा मानसिक शक्तियो को अपव्यय से रोक कर उन्हें संयमित निग्रहीत करती है ।

अधिकांश व्यक्ति यह जानते हैं अथवा थोड़े से प्रयास से जान सकते हैं कि कब कितना बोलना ठीक है, किन्तु अन्दर से कुछ कहने की हुड़क जब उठती है तो उनसे रहा नहीं जाता । उस पर नियन्त्रण न रहने से वे न ठीक से विचार कर पाते हैं न शब्दों को तोल पाते हैं और अनर्गल बोल पड़ते हैं । मौन के अभ्यास से बोलने की प्रकृति पर अंकुश रखने की क्षमता आ जाती है । उसके विकसित होने पर वाणी के सन्तुलन के अनेकानेक प्रयोग करने की स्थिति पैदा हो जाती है । अस्तु मनः संयम के साधक को मौन साधना का कुछ न कुछ क्रम बनाकर रखना ही चाहिए । मौन का अर्थ यह नही है कि मुँह से कुछ न बोलते हुए हाथ चलाने या लिखकर बात करने का क्रम अपनाया जाय । उससे मौन साधना के सत्परिणाम प्राप्त नहीं होते, शब्दों का उच्चारण भले ही न किया जाता हो पर बोलने की वृत्ति दूसरी तरह से तो व्यक्त होती ही है, और जो शक्ति बोलने में खर्च होती थी वह उस विषय में होने लगती है । मौन का अर्थ है आन्तरिक—बाह्य क्रियाओं का अपने पर प्रभाव न होने देना, स्वयं को उनसे निरपेक्ष रखने का नाम मौन है । इस तरह का मौन तो सोते या अन्य कार्य करते हुए भी रख जाता है । वह स्वभावतः है, वाणी का संयम करने के लिए प्रत्येक मौन साधक को थोड़ा बहुत समय मौन साधना के लिए नियत रखना चाहिए ।

इसका नियमित अभ्यास असाधारण महत्त्व रखता है । कम से कम सप्ताह में एक दिन कुछ घण्टे ही सही मौन रहा जाय । जिसे जुबान बन्द रखने तक ही सीमित न किया जाय वरन् मन की वृत्तियों को भी इधर-उधर बहकने से रोका जाय और उन्हें अभीष्ट दिशा में नियोजित किया जाय । जुबान बन्द रखकर इशारों द्वारा या लिखकर हफ्तों तक रखे गए मौन की अपेक्षा मानसिक प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाकर किया गया अल्प मौन अधिक और असाधारण महत्त्व रखता है । मौन द्वारा, वाणी के संयम द्वारा बहिर्मुखी दिशा मे तथा विचार संयम द्वारा आन्तरिक दिशा में मानसिक शक्तियों का अपव्यय होने से रोक लिया जाय तो फिर इन्द्रियों का संयम आसान हो जाता है, क्योंकि मन के द्वारा ही तो इन्द्रियाँ प्रेरित होती हैं तथा शक्तियों का क्षरण करती हैं । यदि मन को संयमित, नियन्त्रित कर लिया जाय तो इन्द्रियों का संयम इसी कारण सहज सरल हो जाता है ।

## इन्द्रिय संयम : ब्रह्मचर्य

सामान्य रूप से संयम का अर्थ इन्द्रिय संयम ही लगाया जाता है । कहा जा चुका है कि संयम को इन्द्रिय संयम तक ही सीमित नहीं किया जा सकता किन्तु फिर भी उसे संयम का एक महत्त्वपूर्ण अंग मानने

से इन्कार भी नहीं किया जा सकता । मानसिक संयम का सूक्ष्म रूप हर एक की समझ में नहीं आता । इन्द्रिय संयम का स्थूल रूप समझ कर उससे सम्बन्धित वृत्तियों के संयम की बात अधिक सुगमता से समझ में आ जाती है । विचार क्रिया या प्रवृत्ति के रूप में व्यक्त तो इन्द्रियों के माध्यम से ही होते हैं, अस्तु, मानसिक संयम का प्रभाव भी इन्द्रिय संयम के रूप में ही परिलक्षित होता है ।

जिन इन्द्रियों के माध्यम से शक्तियों का क्षरण होता है उनमें मुख्य हैं—जननेन्द्रिय, स्वादेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय । इन इन्द्रियों के माध्यमों से शक्ति क्षरण की प्रेरणा सर्वप्रथम मन में ही उत्पन्न होती है । उदाहरण के लिए काम वासना को ही लें, सर्वप्रथम मन में ही कामुकता के विचार आते हैं और वे आगे बढ़कर मनुष्य का यौन जीवन असंयमित और उच्छृंखल बना देते हैं । इसी प्रकार मन में स्वाद लेने की लिप्सा आकांक्षा तरह-तरह की खाद्य वस्तुओं को चखने और खाने के लिए प्रेरित करती है । स्पर्श सुख की आकांक्षा भी आराम से पड़े रहने की चाह के रूप में उत्पन्न होती है और महत्त्वपूर्ण कार्यों में भी आलस्य और प्रमाद होने लगता है ।

इन्द्रियों के इन व्यर्थ हानिकारक दिशाओं में लगाए रहने से अपनी शक्तियों को किन्हीं उद्देश्यपूर्ण कार्यों में नहीं लगाया जा सकता । कामोपभोग में लीन रहने पर जीवन के दूसरे आवश्यक पक्षों की ओर ध्यान ही नहीं जाता उसी प्रकार स्वाद लिप्सा से कारण उचित-अनुचित, आवश्यक-अनावश्यक वस्तुएँ खाते रहने से स्वास्थ्य चौपट होता है । आलस्य प्रमाद से होने वाली हानि तो सभी जानते हैं और इन हानिकारक व्यर्थ दिशाओं में अपनी शक्तियों का दुर्व्यय-अपव्यय मुख्यतः मानसिक विकृतियों के कारण ही होता है ।

फिर भी ब्रह्मचर्य स्वाद, संयम और श्रम व समय का सदुपयोग करने के लिए इन्द्रियों को प्रशिक्षित और अभ्यस्त बनाने की आवश्यकता है । यद्यपि इनकी जड़ मनुष्य के मनःक्षेत्र में रहती है । लेकिन इन विकारों में होने वाले शक्ति क्षरण में इन्द्रियाँ सक्रिय भूमिका निभाती हैं । इसलिए इनका उल्लेख इन्द्रिय संयम के अन्तर्गत आता है । यदि इन्द्रियों को इस प्रकार शिक्षित और अभ्यस्त किया जाय साथ ही साथ मन को भी साधते रहा जाय तो संयम के महत्त्वपूर्ण सत्परिणाम देखे जा सकते हैं ।

मन में काम विकार हो तो भी सामाजिक परिवेश तथा मर्यादाएँ व्यक्ति को अवांछनीय रूप से उच्छृंखल नहीं बनने देतीं । यदि सामाजिक मर्यादाएँ न रहें तो समाज में फिर यौन उच्छृंखलताओं का ताण्डव ही होने लगे । सामाजिक मर्यादाएँ बाहरी दबाव डालकर व्यक्ति को अनैतिकता न बरतने दें पर मानसिक व्यभिचार तो उस आधार पर नहीं रोका जा सकता, यही कारण है कि जहाँ सामाजिक मान्यताएँ उद्धत काम-क्रीड़ा को गर्हित दृष्टि से देखती हैं वहाँ, अपेक्षाकृत कम यौन अपराध और यौन रोग होते हैं । उन देशों में यौन रोगों की बाढ़-सी आयी हुई है, जहाँ काम वासना को शारीरिक आवेग का ही एक रूप मान लिया गया है । भूख और निद्रा की तरह उसे शरीर की आवश्यकता और छींक जम्हाई की तरह शरीर की मल विसर्जन प्रक्रिया के अन्तर्गत ही काम वासना को भी मान लिया गया है । पश्चिमी देशों में जहाँ काम वासना को स्वाभाविक मान लिया गया है वहाँ इस विकृति के कारण होने वाले अन्य तरह के दुष्परिणाम प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं ।

भारतीय संस्कृति में इस सम्बन्ध में जो मानदण्ड निर्धारित किए गए हैं और काम संयम को जो महत्त्व दिया है, वह इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है । प्राचीन काल में योगियों ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से इस तथ्य को अच्छी तरह जाना था और प्रतिपादित किया था कि वह प्राण-शक्ति जो काम सेवन में क्षरित होती है मनुष्य के जीवन का मूल आधार है । उस शक्ति के स्थूल स्वरूप को ही वीर्य का नाम दिया गया और बताया गया कि यह जब क्षीण होने लगती है तो स्वास्थ्य चौपट होने लगता है—मनुष्य मृत्यु का अकाल ग्रास बनने लगता है ।

तथाकथित प्रगतिवादी अब तक इस प्रतिपादन को कपोल कल्पित और मिथ्या ही मानते रहे, पर अमेरिका के वैज्ञानिकों ने इस दिशा में जो अनुसन्धान किए उनसे इन निष्कर्षों पर पहुँचा जा सका कि वास्तव में यह जीवनी-शक्ति का आधार है । उस दिशा में किए गए अनुसन्धानों का निष्कर्ष संक्षेप में इस प्रकार है—*वह वीर्य कोष जो स्त्री के डिम्ब में पहुँचते हैं—गर्भ धारण*

के बाद विकसित होने लगते हैं । प्रारम्भ में ये कोष मस्तिष्क में ही संचित होते हैं । भारतीय तत्वदर्शियों का इस सम्बन्ध में मत है कि बच्चा इसी कारण परमहंस जैसी स्थिति में रहता है । यह वीर्य, शक्ति और दृढ़ता प्राप्त करे इसके लिए बालक को सात्विक और भाव भरे आहार की आवश्यकता होती है । ऐसा दूध माता के दूध के अतिरिक्त दूसरा नहीं होता पर कदाचित् आयु बढ़ने के साथ माँ उतना दूध न पिला सके तो दूध की आवश्यकता गौ दुग्ध, बकरी अथवा भैंस के दूध को हल्का करके पूरा करना चाहिए । इसके बाद जैसे-जैसे शरीर में शक्ति का संचार होता है क्रमशः आहार पद्धति में सावधानी बरतने की आवश्यकता भी बढ़ती जाती है । १० वर्ष की आयु तक वीर्य दोनों भौंहों के बीच वाले स्थान में आ जाता है, इस समय बच्चे को अधिकांश अलोना आहार फल-फूल, दूध ही देना चाहिए । गुरुकुल में पाँच वर्ष की आयु में ही बालक पहुँचा देने का प्राचीन उद्देश्य बच्चे को गृहस्थों के अनुचित आहार से बचाए रखना ही होता था । इस आयु में बच्चे में अनुकरण की प्रवृत्ति रहती है । तीखा, कड़वा भोजन वह इसीलिए करने का इच्छुक रहने लगता है क्योंकि घर के सदस्य उसका उपभोग करते हैं ।

नौ से बारह वर्ष तक वीर्य शक्ति भौंहों से उतर कर कण्ठ में आ जाती है । प्रायः इसी समय बच्चे के स्वर में भारी पन और कन्याओं के स्वर में सुरीलापन आता है । अभी तक लगभग दोनों की ध्वनि एक जैसी होती थी अब बच्चे के स्वर में पुरुषोचित लक्षण झलकने लगते हैं । इसी आयु में विपरीत लिंग का आकर्षण पैदा होने लगता है अतएव बालक-बालिकाओं का सम्पर्क अलग-अलग कर दिया जाना चाहिए । इन दिनों असावधानी हो जाने का परिणाम बच्चों के जीवन पर कुठाराघात सरीखा पड़ता है । कुसंग, अवांछनीय वातावरण, अनुचित क्रियाएँ अथवा किसी तरह उसमें काम विकार प्रवेश कर गया तो वह कच्चा वीर्य मंथन प्रारम्भ कर सकता है, जिसके कारण युवकों को जीवन भर स्वप्नदोष, वीर्यपात और शीघ्र स्खलन की बीमारियाँ लग जाती हैं जो न केवल उसे स्वास्थ्य की दृष्टि से वरन् मानसिक दृष्टि से भी हीन बना देती है । ऐसे बच्चे बौद्धिक दृष्टि से बिलकुल कमजोर होते हैं । नास्तिकता कोई सिद्धान्त नहीं एक प्रकार का रोग है जो मानसिक कमजोरी के कारण होता है । प्राचीन काल में बालक की वीर्य रक्षा पर ध्यान रखा जाता था, इससे उसकी विचार क्षमता ऊर्ध्वमुखी बनी रहती थी । ऊर्ध्वरेता चिन्तन ही जीवन के यथार्थ लक्ष्य और ब्रह्म की विराटता की अनुभूति करा सकता है ।

११ से १६ वर्ष की आयु में वीर्य मेरुदण्ड से होता हुआ उपस्थ की ओर बढ़ता है और मूलाधार चक्र में अपना स्थान बना लेता है । काम विकार जब मन में उठता है तो मूलाधार चक्र के तुरन्त उत्तेजित हो उठने का यही कारण है । कामेन्द्रिय इसी क्षेत्र में सम्मिलित हैं । ऐसी स्थिति में ब्रह्मचर्य को सँभाल पाना कठिन हो जाता है ।

२४ वर्ष की आयु तक यह वीर्य शरीर में पूरी तरह व्याप्त हो जाता है और अंग-अंग को पुष्ट तथा बलिष्ठ बनाता है । ऋषियों ने इसी तथ्य को काव्यात्मक ढंग से यों गाया है—

यथा पयसि सर्पिस्तु, गुड़श्चेक्षौ रसौ यथा ।
एवं हि सकले काले शुक्रं तिष्ठति देहिनाम् ॥

अर्थात् "जिस प्रकार दुग्ध में घी, तिल में तेल, ईख में मीठापन तथा काष्ठ में अग्नि तत्व सर्वत्र विद्यमान रहता है उसी प्रकार वीर्य सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है ।"

भगवान शंकर सभी सिद्धियों का आधार बताते हुए कहते हैं—

"सिद्धे बिन्दु महायत्ने किं न सिद्ध्यति भूतले ।
यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशो भवेत् ।।"

"जिसने यत्नपूर्वक अपने वीर्य को सिद्ध कर लिया है उसके लिए इस पृथ्वी में कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता । सिद्ध वीर्य पुरुष तो मेरे समान समर्थ हो सकता है ।"

प्राचीन काल से अब तक जितने भी महापुरुष हुए हैं उन्होंने सर्वप्रथम काम वासना को नियन्त्रित किया है क्योंकि कामुक चित्त न अन्य दिशाओं में सोच पाता है और न ही उससे किसी कार्य की व्यवस्थित योजना तैयार हो पाती है और विकार तो जबर्दस्ती या किसी काम में व्यस्त होकर भी शामिल किए जा सकते हैं पर काम विकार ऐसा है जो जब उठता है

तो उसे नियन्त्रित कर पाना कठिन ही नहीं लगभग असम्भव भी हो जाता है । इसे खुले रूप में व्यक्त होने दिया जाय तो नैतिक-पतन, चरित्र-भ्रष्टता, आत्म-ग्लानि, निर्बलता, रोग, अशक्ति और सामाजिक अपमान जैसे दुष्परिणाम एक साथ भुगतने पड़ सकते हैं और यदि अपनी वासना को वश में कर लिया जाय तो उस मन को जो निरन्तर कामुक चिन्तन में ही व्यस्त रहता था, आसानी से किसी काम में लगाकर सफलता और महानता प्राप्त की जा सकती है । कोई बड़ा काम करना हो, महान उद्देश्य प्राप्त करने हों तो ब्रह्मचर्य उसी प्रकार अनिवार्य हो जाता है जिस प्रकार किसी मकान का निर्माण करते समय उसके लिए पूँजी और श्रम का एकत्रीकरण । पूँजी यदि पास में न हो, न उसकी प्राप्ति के लिए श्रम ही किया जाय तो कल्पना में भले ही कोई मकान निर्मित कर लिया जाय यथार्थ में उसका कोई अस्तित्व नहीं बन पाता । उसी प्रकार बड़े उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यदि इस प्राण-शक्ति का संचय न किया जाय और उसका अपव्यय न रोका जाय तो महान उद्देश्य केवल कल्पना मे ही बने रह सकते हैं ।

महात्मा गाँधी ने जब स्वराज्य प्राप्ति का महान लक्ष्य अपने सामने रखा तो उन्होंने अपनी इस प्राण-शक्ति को सामान्य जीवन में भी खर्च करना बन्द कर दिया और सामान्य दाम्पत्य सम्बन्धों को ऊर्ध्वगामी बनाकर ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लिया । उस समय उनकी आयु ३५-३६ वर्ष की थी, पर उन्होंने इस वय में ही ब्रह्मचर्यव्रत लेकर साधारण स्थिति में रहते हुए भी स्वराज्य प्राप्ति जैसे महान लक्ष्य प्राप्त करने योग्य साधन और सामर्थ्य जुटाने में सफलता प्राप्त की । स्वराज्य प्राप्ति में यद्यपि हजारो लाखों लोगो का योगदान रहा पर गाँधी जी सबके प्रेरणा स्रोत और मार्ग-दर्शक बने ।

कहने का अर्थ यह है कि बड़े उद्देश्य प्राप्त करने और सामान्य जीवन में भी तेजस्विता तथा प्रभावशीलता उत्पन्न करने के लिए काम वासना का नियन्त्रण आवश्यक है जो लोग इस तथ्य की ओर ध्यान नही देते और अपनी जीवनी-शक्ति को फूहड ढंग से नष्ट करते रहते हैं उन्हें सामान्य जीवन में भी असफलता, म्लानता और निराशा का सामना करना पड़ता है, क्योंकि तब अन्य आवश्यक कार्यों में लगाने योग्य शक्ति भी तो नहीं बच रहती । इन दिनों कामुक उच्छृंखलताओं के जो सामाजिक और व्यक्तिगत दुष्परिणाम सामने आ रहे हैं, वे किसी से छुपे नहीं हैं । स्त्री-पुरुष के अनैतिक सम्बन्धों से उत्पन्न होने वाला चरित्र संकट और व्यक्तिगत रूप मे इस अनाचार के कारण घृणित बीमारियों का आक्रमण किसी के लिए अनजानी बात नहीं है ।

इसके मूल में यौन जीवन के प्रति बदलता हुआ दृष्टिकोण ही है । किसी जमाने में कामुकता या यौन सम्बन्धों को अत्यन्त मर्यादित और मर्यादा से जरा भी हटने पर बेहद घृणित तथा निकृष्ट समझा जाता था । लेकिन जब से इसे सहज स्वाभाविक समझा जाने लगा और इस तरह मर्यादाओं, नैतिक बन्धनों को अनावश्यक बताया जाने लगा तभी से ये दुष्परिणाम सामने आने लगे । स्त्री-पुरुष पहले भी साथ रहते थे, परिवार के सदस्यों में कई महिलाएँ, युवतियाँ और वयस्क पुरुष होते हैं पर कोई गड़बड़ी नहीं आती । कारण कि लोगों ने इस सम्बन्ध में बनायी गई मान्यताओं को लक्ष्मण रेखा और अनुशासन भंग को अक्षम्य अपराध समझ रखा था । लेकिन अब जबकि इसे सहज स्वाभाविक समझा जाता है तो काम विकृति उमड़कर सामने आती है ।

वैसे भी जिनका मन किसी वस्तु या व्यक्ति में आसक्त होता है तो उसकी निकटता न मिलने पर दुःख होता है । सामान्य स्थिति मे ही आसक्ति दुःख की जननी बन जाती है तो फिर उसके साथ काम भी जुड़ा हो तो दुःख कितना बढ़ जाता होगा ? काम विकार की उत्पत्ति का कारण भी आसक्ति और विकृत चिन्तन ही है । स्त्री-पुरुष के शरीरों की भिन्नता और उनका आकर्षण ही नहीं चिन्तन की विकृति और भावनाओं की निकृष्टता व्यक्ति को कामुकता के गर्त मे धकेलती है । अन्यथा स्नेह, विशुद्ध प्रेम और परस्पर निष्ठा को विकसित करने पर स्त्री-पुरुष एक और एक मिलकर ग्यारह होने की उक्ति चरितार्थ कर सकते हैं, जबकि होता उल्टा ही है । दम्पत्ति भी इस विकृति के कारण एक-दूसरे के विकास मे सहयोगी होने के स्थान पर एक-दूसरे के स्वास्थ्य और आत्मिक स्तर को गिराने वाली शत्रुता बरतने लगते हैं ।

कामुक और विषयी व्यक्ति का स्वेच्छाचारी तथा स्वार्थी होना भी निश्चित है । ऐसे व्यक्ति न किसी

मर्यादा अनुशासन को मानते हैं न अपने साथी के स्वास्थ्य तथा शरीर का ध्यान रखते हैं। यह स्वेच्छाचारिता अन्य क्षेत्रों में भी अपना रंग दिखाती है। दाम्पत्य जीवन में ही मर्यादाओं को न मानने का स्वभाव अन्य क्षेत्रों में भी आड़े आता है और कार्य पद्धति को प्रभावित करता है। स्वास्थ्य की दृष्टि से यदि कोई हानि न भी हो तो कार्यशैली में आने वाली यह त्रुटि क्या कम हानिकारक है।

इस सत्यानाशी और घातक विष की उत्पत्ति मनःक्षेत्र मे ही होती है वातावरण, संसर्ग बुरे लोगों का साथ तथा गन्दे साहित्य का पठन व अश्लील चित्रों का देखना आदि बातें मन पर अपना विषैला प्रभाव छोड़ती हैं और जरा भी अवसर मिलने पर उस स्तर के विचार उठने लगते हैं। जैसे ही मनःक्षेत्र में उन विचारों को आश्रय मिलने लगता है वैसे ही व्यक्ति का आत्म-नियन्त्रण ढीला पड़ने लगता है। इसी कारण ब्रह्मचर्य साधक को अपनी निर्बाध गति बनाये रखने के लिए आरम्भ से ही सचेत रहने का निर्देश दिया गया है।

कामुक विचार प्रायः खाली दिमाग में ही उत्पन्न होते हैं। देखा जा सकता है कि जिन लोगो के पास कोई काम नहीं होता, जो निठल्ले ही बैठे रहते हैं उनकी चिन्तन धारा इसी दिशा में बहकने लगती है। कहा जाता है कि मन कभी खाली बैठना पसन्द नहीं करता और जब वह खाली हो तो अपने प्रिय विषय की ओर दौड़ने लगता है। वातावरण तथा संगति, शिक्षा के संस्कार पहले ही इस विषय को व्यक्ति का प्रिय विषय बना देते हैं। मन को जरा भी अवकाश मिलते ही सुखद लगने वाला यह विषय अपनी ओर आकृष्ट करता है।

इसके विपरीत देखा गया है कि जो लोग हमेशा किसी न किसी कार्य मे व्यस्त रहते हैं जिनका चिन्तन किसी उपयोगी दिशा में लगा रहता है उनके मन में काम विकार उत्पन्न ही नहीं होता। बड़े-बड़े वैज्ञानिक, चिन्तक, दार्शनिक और महान साहित्यकार जो अहर्निश सृजन साधना मे लगे रहे—को कभी काम विकारों ने पीड़ित ही नहीं किया क्योंकि व्यस्त रहने के कारण उनके मन मे इस तरह के विचार ही नहीं आये। महात्मा गाँधी ने ब्रह्मचर्य के विषय में अपने अनुभव लिखते हुए कहा है—"काम विकार प्रायः खाली बैठने से अश्लील दृश्यों के अवलोकन या बार-बार उनका मनन करने से उत्पन्न होते है। यदि हर घड़ी व्यस्त रहा जाय तो विकृत विचारों को प्रवेश करने का कोई रास्ता ही नही मिलता। आचरण का बीज ही विचार है। यदि विचारों को सत्य की ओर अथवा रचनात्मक प्रवृत्तियों की ओर लगाये रहें तो ब्रह्मचर्य पालन की एक बहुत बड़ी समस्या हल हो जाती है।"

आलसी व्यक्ति कभी भी ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर पाता, क्योंकि प्रकृति ने इस शरीर में ऐसी व्यवस्था की है जिससे हर समय शरीर में अमोघ शक्ति उत्पन्न होती रहती है। उसका उपयोग शरीर और मन को निरन्तर व्यस्त रखने में नहीं किया तो वह अनुचित मार्गों से नष्ट होने लगती है। ब्रह्मचर्य के द्वारा एकत्रित शक्ति को किसी उच्च उद्देश्य में लगाना भी आवश्यक है अन्यथा वह पास में पैसा होते हुए भी उसे आवश्यक कार्य में भी खर्च न करने जैसी कंजूसी हो गई। इस प्रकार की कंजूसी कई बार हानिकारक भी होती है। धन-सम्पत्ति जड़ और स्थिर हैं इसलिए उन्हें एक ही स्थान पर बांध कर रखा जा सकता है, पर शक्ति को जड़ बनाकर रोके रखना असम्भव है। भाप यदि इकट्ठी होती रहे, उससे कोई काम न लिया जाय तो वह विस्फोट के साथ अपने उत्पादक तन्त्र को तोड़ देगी। बाँध बनाकर नदी का पानी रोक लिया जाय और उसे सिंचाई के लिए न छोड़ा जाय तो वह पानी अन्ततः बाँध तोड़कर फूट पड़ेगा।

ब्रह्मचर्य के द्वारा अपनी शक्ति को निग्रहीत और एकत्रित करने वाले व्यक्ति के लिए उस शक्ति को रचनात्मक दिशा में लगाते रहना चाहिए। यदि अपने सामने ऐसा कोई लक्ष्य रख लिया जाय, कोई ऐसा कार्यक्षेत्र चुन लिया जाय जिसमें कि हम अपनी शक्ति का नियोजन कर सके तो ब्रह्मचर्य साधना आसान हो जाती है, जो लोग कहा करते हैं कि ब्रह्मचर्य का पालन करना आसान नही है। उन्हें जो कठिनाई प्रतीत होती है वह इसी कारण कि वे ब्रह्मचर्य के निषेध पक्ष पर ही जोर देते हैं जबकि ब्रह्मचर्य का विधेयात्मक पक्ष भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। महात्मा गाँधी जी अक्सर कहा करते थे—"प्रत्येक व्यक्ति को अपना कोई ऐसा कार्य क्षेत्र चुन लेना चाहिए जिससे कि मन को विषय वासना में भटकने का रंचमात्र समय न मिले और न उस शक्ति के व्यर्थ संचित होते रहने का दुष्परिणाम हो।"

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में एक और त्रुटि यह हो जाती है कि उसे केवल जननेन्द्रिय का संयम भर ही समझ लिया जाता है। वासना निःसन्देह उस द्वार से शक्ति क्षरण करती है पर उसका सम्बन्ध अन्य इन्द्रियों से भी है। यों तो प्रत्येक इन्द्रियों के अपने विषय हैं, लेकिन वे सब परस्पर इस प्रकार जुड़े हैं कि एक विषय दूसरे विषय को गति देता है। घड़ी के पुर्जे में जैसे एक चक्र दूसरे चक्र से सम्बन्धित रहता है, मशीनों में एक पुर्जा दूसरे पुर्जे को चलाता है उसी प्रकार इन्द्रियों में भी एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय को प्रेरणा देती है। उदाहरण के लिए आँख से कोई सुन्दर वस्तु देखी, आँख ने वह संदेश मस्तिष्क तक पहुँचाया, मन ने उसे प्राप्त करने की आकांक्षा की, बुद्धि ने उसके लिए योजना बनायी, पैर उस वस्तु तक पहुँचे और हाथों ने उसे पकड़ा।

काम विकार के उमड़ने और मर्यादाओं का उल्लंघन होने में भी यही प्रक्रिया काम करती है, यहाँ तक कि उस पर प्रत्येक इन्द्रिय का प्रभाव पड़ता है। गरिष्ठ और राजसी भोजन, आरामतलबी, शरीर का स्पर्श सुख आदि बातें कामोत्तेजना लाती हैं। इसीलिए कहा गया है कि ब्रह्मचर्य की आवश्यकता केवल शरीर संयम से ही पूरी नहीं हो जाती उसके लिए अपने सभी आधार व्यवहारों को ही संयमित करना पड़ता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि काम सेवन की तरह ही देखने-सुनने और खाने-पीने की क्रियाओं को भी रोक दिया जाय अथवा उन्हें कम से कम किया जाय। ये क्रियाएँ शरीर के स्वाभाविक कार्यों में आ जाती हैं। कामसेवन भोजन, निद्रा आदि की तरह की आवश्यकता नहीं है पर यह आहार कर्म और श्रम से प्रभावित जरूर होता है। आहार और श्रम की दिनचर्या को सन्तुलित किए बिना ब्रह्मचर्य की साधना सफल नहीं होती और इसकी साधना के लिए विचारों का संयम, चिन्तन का परिष्कार और भी आवश्यक है। महात्मा गाँधी ने ब्रह्मचर्य की आधारशिला विचार संयम ही बतायी है। अपनी पुस्तक "ब्रह्मचर्य के अनुभव" में उन्होंने लिखा है—ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले बहुतेरे व्यक्ति इसलिए असफल होते हैं कि वे आहार-विहार में अब्रह्मचारी की तरह बर्ताव किया करते हैं। संयमी और असंयमी व्यक्ति के जीवन में एक अन्तर तो रहना चाहिए, साम्य तो सिर्फ ऊपर ही रहता है। भेद स्पष्ट रूप से दिखाई देना चाहिए। आँख से काम तो दोनों तरह के व्यक्ति लेते हैं पर एक देव दर्शन है दूसरा गन्दी कहानियाँ और फिल्में पढ़ता है। कान का उपयोग भी दोनों करते हैं परन्तु एक ईश्वर भजन सुनता है और दूसरा विलासमय गीतों को सुनने में ही आनन्द लेता है। भोजन दोनों करते हैं, परन्तु एक शरीर रूपी तीर्थक्षेत्र के लिए पेट में अन्न डालता है और दूसरा देह स्वाद के लिए अनेक चीजों से भर कर उसे दुर्गन्धित कर देता है।

'ब्रह्मचर्य पालन' के लिए मन, वचन, कर्म से समस्त इन्द्रियों के संयम के लिए पूर्वोक्तत्यागों की आवश्यकता पड़ती है। जब तक अपने विचारों पर इतना कब्जा न हो जाय कि इच्छा के बिना एक भी विचार न आने पाये तब तक पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन की आशा नहीं करनी चाहिए। जितने भी विचार हैं उनमें से अनुपयुक्त और विकारी विचारों को हटाकर ही ब्रह्मचर्य की साधना की जानी चाहिए।

ब्रह्मचर्य सम्भवतः इसीलिए असाध्य लगता है कि उसके एक पक्ष पर ही जोर दिया जाता है। यदि उसके साथ जुड़े अन्य पक्षों, व्यवस्थित और संयमित जीवन सिद्धान्तों पर भी ध्यान दिया जाय तो कोई कठिनाई नहीं है। अपने सामने एक सुनिश्चित लक्ष्य रख कर सम्पूर्ण मनोयोग से उसकी प्राप्ति के लिए जुट जाने तथा प्राणशक्ति के साथ खिलवाड़ को रोक देने से ब्रह्मचर्य की समग्र साधना पूरी होती है।

## स्वाद लिप्सा को नियन्त्रित रखें

नित्य प्रति के कार्यों में शारीरिक शक्ति का व्यय होता है। उस शक्ति की पूर्ति और शरीर का पोषण करने के लिए आहार की आवश्यकता पड़ती है। भोजन से यदि शरीर का समुचित पोषण नहीं हो पाता तो कमजोरी बढ़ती और रोग उत्पन्न हो जाते हैं, इसलिए भोजन इसी उद्देश्य से किया जाना चाहिए कि रोजमर्रा के जीवन मे किए जाने वाले कार्यों में खर्च होती रहने वाली शक्ति की पूर्ति की जाती रहे। लेकिन हम स्वाद के कारण भोजन को इस तरह विकृत कर देते है कि वह आवश्यकता तो ठीक तरह पूरी हो ही नहीं पाती कई और विकार भी उत्पन्न हो जाते

हैं । इन दिनों रोग बीमारियाँ जिस बुरी तरह बढ़ और फैल रही हैं उसके मूल में कहीं न कहीं आहार-विहार का असंयम ही है । स्वाद लिप्सा के कारण मनुष्य आहार की उपयोगिता-अनुपयोगिता न देखकर स्वादिष्ट और जायकेदार खाद्य पदार्थों का सेवन करने लगते हैं ।

यह इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि मनुष्य को छोड़कर कोई भी प्राणी कदाचित ही बीमार पड़ते हैं । इसका एक ही कारण है कि दूसरे सभी प्राणी अपना आहार उसके प्राकृतिक स्वरूप में ही ग्रहण करते हैं । पशुओं को घास, वृक्षाचारियों को फल, माँसाहारियों को माँस, सड़न भोजियों को सड़न अपने प्राकृतिक रूप में ही ग्राह्य होती है । उन्हें उसी में स्वाद आता है और उनका पेट उसी रूप में उसे पचा लेता है । यह स्वाभाविक प्रक्रिया है । मनुष्य अपने खाद्य का चयन उसके स्वाभाविक रूप में ग्रहण करने की अपेक्षा उसे अनेकानेक अग्नि संस्कारों से विकृत बनाता है । जिन वस्तुओं का प्राकृतिक स्वाद उसके अनुकूल नहीं पड़ता वे स्पष्टतः उसके लिए हानिकारक होनी चाहिए । कच्चे माँस का न तो स्वाद उसके अनुकूल पड़ता है और न गन्ध न स्वरूप । इससे जाहिर है कि वह उसके लिए किसी भी प्रकार ग्रहण करने योग्य नहीं फिर भी प्रकृति के विपरीत जिह्वा की अस्वीकृति को झुठलाने के लिए उसे तरह-तरह से पकाने, भूनने की क्रियाएँ करके चिकनाई तथा मसालों की भरमार करके इस योग्य बनाया जाता है कि चटोरी बनाई गई जीभ उसे पेट में घुसने की इजाजत दे दे । मनुष्य बन्दर जाति का फलाहारी प्राणी है । उसके लिए उसी स्तर के पदार्थ उपयोगी हो सकते हैं, जो कच्चे खाये जा सकें । कच्चे अन्न, स्वादिष्ट शाक तथा उपयोगी फल उसके लिए स्वाभाविक भोजन है । यदि यही आहार अपनाया जाय तो निःसन्देह निरोग और दीर्घजीवी रहने में कोई कठिनाई उत्पन्न न होगी ।

लेकिन स्वादिष्ट और चरपरा भोजन करने की आदत हमारे अभ्यास मे इस बुरी तरह आ गई है कि वह अभ्यास-आसानी से नहीं छूट पाता । वैज्ञानिकों का निष्कर्ष है कि मनुष्य का स्वाभाविक आहार तो कच्चा भोजन ही है, पर वह हजारों साल से उसे आग पर पकाकर, स्वादिष्ट और जायकेदार बनाकर खाता चला आ रहा है कि उसका पाचन संस्थान कच्चे आहार को पचा ही नहीं पाता । यदि कच्चा आहार नहीं लिया जा सकता है तो हम कम से कम उसे स्वाद के लिए तो न खायें । स्वाद की नहीं आवश्यकता की दृष्टि से आहार ग्रहण करें और चटोरेपन की जो आदत पड़ गई है उससे अपना पिण्ड छुड़ायें ।

जीभ की आदत बिगाड़ने के लिए उसे नशीली, जहरीली चीजें खिला-खिलाकर विकृत स्वभाव का बनाया जाता है । इन नशों में नमक, मसाले और शक्कर, चिकनाई प्रधान हैं । इनमें से एक भी वस्तु हमारे लिए आवश्यक नहीं और न इनका स्वाद ही प्राकृतिक रूप से ग्राह्य है । नमक या मसाले यदि एक दो तोले भी हम खाना चाहे तो न खा सकेंगे । नमक जरा-सा खाने पर उल्टी होने लगेगी । मिर्च प्राकृतिक रूप से खायी जाय तो जीभ जलने लगेगी और नाक, आँख आदि से पानी टपकने लगेगा । हींग, लोग थोड़ी-सी भी खाकर देखा जा सकता है कि उनकी कितनी भयंकर विकृति होती है । बालक की जीभ जब तक विकृत नहीं हो जाती तब तक वह उन्हें स्वीकार नहीं करता । घर में खाये जाने वाले मसाले युक्त आहार का तो वह धीरे-धीरे बहुत समय में अभ्यस्त होता है तब कहीं उनकी जीभ नशेबाज बनती है । अफीम और शराब जैसी कड़वी वस्तुओं को भी आदी लोग मजे-मजे में पीते हैं, पीते ही नहीं उनके न मिलने पर बेचैन भी होते हैं ठीक वही हाल विकृत बनाई गई स्वादेन्द्रियों का भी होता है ।

स्वादेन्द्रिय में आ जाने वाली इस विकृति का वास्तविक कारण भी मानसिक चिन्तन में घुस जाने वाली विकृति है । जिस प्रकार कामुक व्यक्ति को कामुक चिन्तन में रस आता है और वह तरह-तरह की मानसिक कल्पनाएँ करता रहता है, मन ही मन उन कुकल्पनाओं का रस लिया करता है उसी प्रकार चटोरा व्यक्ति भी तरह-तरह के स्वादों का चिन्तन, उनकी कल्पनाएँ करता रहता है । मानसिक क्षेत्र में परिवर्तन लाना और अस्वाद व्रत या आहार संयम की साधना साहस का काम है । उसके लिए दृढ़ संकल्प शक्ति चाहिए । कमजोर मन-मस्तिष्क वाले सोचते हुए भी बहुत कुछ कर नहीं पाते है । यह भली-भाँति समझ लिया जाय कि बीमारी से छुटकारे के लिए कुछ

दिन परहेज कर लेना ही पर्याप्त नहीं है । उसके लिए तो अपनी आदत में ही परिवर्तन लाना पड़ेगा ।

महात्मा गाँधी ने इस स्वभाव परिष्कार का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है—"अस्वाद व्रत का ठीक से पालन हो सके इसके लिए चौबीसों घण्टे खाने की ही चिन्ता करना आवश्यक नहीं है । सिर्फ सावधानी की, जागृति की बहुत ज्यादा जरूरत है । ऐसा करने से कुछ ही समय में मालूम पड़ने लगेगा कि हम कब और कहाँ स्वाद करते हैं । मालूम होने पर हमें चाहिए कि हम अपनी स्वाद वृत्ति को कम करें । ऐसा करने वाला सहज ही अस्वाद व्रत का पालन करता है ।"

हमें भी इस दिशा में एक कदम उठाना ही चाहिए । आरम्भ में वह छोटा हो तो भी हर्ज नहीं । सप्ताह में एक दिन 'अस्वाद व्रत' रखना किसी के लिए भी कठिन नहीं होना चाहिए । रविवार या गुरुवार के दिन इसके लिए अधिक उपयुक्त हैं । उस दिन जो भी भोजन किया जाय उसमें नमक, मीठा मिला हुआ न हो । उबले हुए आलू, टमाटर, दही, दूध, उबले हुए अन्य शाक, बिना नमक, मसाले की अलोनी दाल आदि के साथ रोटी खा लेना बिल्कुल साधारण-सी बात है । दो-चार बार चटोरेपन की पुरानी आदत के अनुसार अखरेगा तो सही पर सन्तोष और धैर्यपूर्वक उस भोजन को भूख बुझाने जितनी मात्रा में आसानी से खाया जा सकेगा, दो-चार बार के अभ्यास से तो वह अलोना भोजना ही स्वादिष्ट लगने लगेगा । अलोनेपन का अपना एक अलग ही स्वाद है और जिन्हें वह पसन्द आ जाता है उन्हें दूसरे स्वाद रुचते ही नहीं ।

महात्मा गाँधी ने स्वाद संयम ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में 'संयम बनाम भोज' पुस्तक में लिखा है—"जो व्यक्ति स्वाद को ही नहीं जीत सका वह और विषयों को कैसे जीत सकता है । चटोरेपन को रोक देने से स्वाद-लिप्सा पर जो नियन्त्रण होता है वह धीरे-धीरे अन्य वासनाओं पर नियन्त्रण करने में भी सहायक होने लगता है ।"

"अस्वाद का मतलब है स्वाद न करना । स्वाद अर्थात् रस, जायका । जिस तरह दवाई खाते समय हम इस बात का विचार नहीं करते कि वह जायकेदार है अथवा नहीं, पर शरीर के लिए आवश्यकता समझकर ही उसे योग्य मात्रा में खाते हैं, उसी तरह अन्न को भी समझना चाहिए । अन्न अर्थात् सभी खाद्य पदार्थ । इनमें फल दूध का भी समावेश होता है । जैसे कम मात्रा में ली हुई दवाई असर नहीं करती या थोड़ा असर करती है और ज्यादा लेने पर नुकसान पहुँचाती है वैसे ही अन्न का भी है । इसलिए स्वाद की दृष्टि से किसी भी चीज को चखना व्रत का भंग है । जायकेदार चीज को ज्यादा खाने से तो व्रत सहज ही भंग होता है और आहार संयम टूटता है । किसी पदार्थ का स्वाद बढ़ाने, बदलने या उसके अस्वाद को मिटाने की गरज से उसमें कोई वस्तु मिलाना व्रत का भंग करना है ।"

"इस दृष्टि से विचार करने पर हमें पता चलेगा कि अनेक चीजें जो हम खाते हैं वे शरीर रक्षा के लिए जरूरी न होने से त्याज्य ठहरती हैं । उनके छोड़ने से विकारों का शमन हो जाता है । लेकिन इस विषय पर इतना कम ध्यान दिया गया है कि व्रत की दृष्टि से क्या खाया जाय यह विचार करना सर्वसाधारण के लिए लगभग असम्भव हो गया है ।"

खाद्य पदार्थों में स्वादिष्ट—जायका उत्पन्न करने के लिए कहा जाता है कि शरीर पोषण के लिए विभिन्न तत्वों की आवश्यकता पड़ती है । जैसे—नमक, शर्करा आदि । माना कि शरीर के लिए नमक आवश्यक है । यद्यपि वैज्ञानिक प्रयोगों से अब यह सिद्ध हो चुका है कि शरीर के लिए नमक जरा भी आवश्यक नहीं है, पर जितनी मात्रा में आवश्यक समझा जाता है उतनी मात्रा स्वाभाविक खाद्य पदार्थों में, अन्नशाक और दूध में पहले से ही मौजूद है । सृष्टि के सभी प्राणी स्वाभाविक आहार में से ही अपने नमक, शक्कर की आवश्यकता पूरी करते हैं, कोई भी जीव-जन्तु ऐसा नहीं है जो अलग से इन चीजों को अपने स्वाभाविक भोजन में सम्मिलित करता हो । मनुष्य ही एक ऐसा विलक्षण जीव है जिसने प्रकृति प्रदत्त स्वाभाविक भोजन को नमक और शक्कर से चटपटा करके ऐसा बना लिया है जिससे न तो भोजन की उपयुक्तता का पता चलता है और न मात्रा का । स्वाद ही स्वाद में जीभ धोखा खाती रहती है । अखाद्य पदार्थों को अनावश्यक मात्रा में उदरस्थ करती रहती है । फलस्वरूप हमें अपने आरोग्य और दीर्घजीवन की बलि इस चटोरेपन की वेदी पर चढ़ानी पड़ती है ।

यदि भोजन में नमक और शक्कर न मिलाया जाय, मसाले न डाले जायें तो वह अपने स्वाभाविक रूप में रहेगा। फिर यह पहचानना सरल होगा कि कौन भोजन उपयुक्त है कौन अनुपयुक्त ? अभी तो पाक कला के आधार पर माँस जैसे घृणित, दुर्गन्धित और सर्वथा हानिकारक पदार्थ तक को मिर्च, मसालों के बल पर स्वादिष्ट बना लिया जाता है और बेचारा मुख यह परीक्षा भी नहीं कर पाता कि वह खाद्य है या अखाद्य । यदि मसाले न पड़ें तो जीभ उसके वास्तविक गुण-दोषों को जान लेगी और तब माँस गले से नीचे उतार सकना भी कठिन होगा ।

बहुत से व्यक्ति यह सोचते हैं कि यदि नमक, शक्कर न खाये जायें तो उससे शरीर में कमजोरी आ जायगी । यह भ्रान्ति है । शरीर को जितना नमक और जितनी शर्करा आवश्यक है वह प्राकृतिक खाद्य पदार्थों में ही उपलब्ध है । ऊपर से नमक या शक्कर तो केवल स्वाद के लिए ही लिए जाते हैं । यदि नमक और शक्कर को अपने आहार में से निकाल दिया जाय तो स्वाभाविक भूख लगने लगेगी और उसी अनुपात से भोजन किया जायेगा । जायकेदार भोजन से हमारी स्वाभाविक भूख का भी पता नहीं चलता कि कब पेट भर गया ? स्वाद-स्वाद मे जरूरत से ज्यादा खा लेने से पेट पर अनावश्यक भार पड़ता है । आवश्यकता से अधिक भोजन कर लेने पर-अपच और तज्जनित अनेकानेक बीमारियाँ उठ खड़ी होती हैं । अतएव स्वाद की नहीं उपयोगिता को प्रधानता देने का दृष्टिकोण अपना लेने पर जरूरत से ज्यादा खा लेने और बीमार पड़ने की स्थिति ही नहीं आती ।

आहार की आवश्यकता स्वास्थ्य के लिए है, स्वाद के लिए नहीं—इस दृष्टिकोण को विकसित करते हुए व्यक्तिगत जीवन मे आहार सम्बन्धी ऐसी आदतों का अभ्यास किया जाय जिससे कि भोजन वास्तव मे आवश्यकता के लिए किया जाने लगे ।

## उपवास : उपयोगी और आवश्यक

आहार संयम की दिशा मे अस्वाद व्रत एक प्रभावशाली चरण है । सप्ताह में जिस दिन अस्वाद व्रत किया जाय उस दिन एक समय का उपवास भी रख सकें तो संयम साधना और भी प्रखर होगी । इससे पेट को विश्राम मिलेगा और वातावरण के कारण उत्पन्न होने वाले विकारों का शोधन होगा । महर्षियों, शास्त्रज्ञों से लेकर वैज्ञानिकों और स्वास्थ्य विशेषज्ञों तक ने उपवास के महत्त्व को एक स्वर से स्वीकार किया है । उपवास का अर्थ है स्वास्थ्य के समीप रहना । उप अर्थात् समीप और वास अर्थात् रहना । स्वस्थ और निरोग जीवन की आधारशिला संयम ही है और उपवास से संयम में बड़ी सहायता मिलती है, क्योंकि इससे मन को असंयम की दिशा में बहकाने वाली प्रवृत्ति का निग्रह करने में बड़ी सहायता मिलती है ।

स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उपवास बड़ा उपयोगी और आवश्यक है । जिस प्रकार एक मशीन को लगातार चलते रहने पर कुछ घण्टे बन्द करने की आवश्यकता होती है उसी प्रकार अधिक एवं अभक्ष्य भोज्य पदार्थों के खाने के अत्याचार से पीड़ित पेट को भी आराम देने की आवश्यकता पड़ती है ।

लेकिन हम आजकल उपवास का कुछ और ही अर्थ करते हैं । हमारी उपवास सम्बन्धी मान्यताएँ हास्यास्पद एवं मूर्खतापूर्ण हैं । लोग उपवास के दिन तो अन्य सामान्य दिनों की अपेक्षा अधिक गरिष्ठ एवं मात्रा में भी अधिक, भिन्न-भिन्न प्रकार का मिष्ठान्न एवं पकवान खाते हैं । उपवास के एक दिन पूर्व से ही भोजन में भिन्नता दिखाई देती है । इसे उपवास न कहकर चटोरेपन की आदत ही कहेंगे, जिससे न तो किसी उद्देश्य की पूर्ति होती है और न स्वास्थ्य पर ही लाभकारी प्रभाव पड़ता है ।

उपवास शरीर में बढ़े तथा जमा स्टार्च एवं चर्बी को जिसके कारण शरीर में एसिड की मात्रा कम हो जाती है बाहर निकाल कर शरीर को स्वस्थ रखने में सहायक होता है । साधारणतः व्यक्ति यह समझ लेता है कि शरीर से मल बाहर निकल ही जाता है, भूख लगती ही है तो पेट सम्बन्धी विकार क्यो होने लगा चाहे वह कैसा भी भोजन करे उसे नुकसान नहीं करेगा, परन्तु यह भूल है, जो खाना खाया जाता है उसमें कुछ का रस बनता है, खून बनता है, माँस, मज्जा एवं हड्डी का निर्माण होता और शेष मलमूत्र के रास्ते से निकल जाता है, परन्तु गरिष्ठ एवं अधिक मात्रा मे किए भोजन का कुछ अंश आँतो के चारों ओर चिपक जाता है जो सड़ांध पैदा करता है और रोगों को आमन्त्रित करने का कारण बनता है । उपवास इसी

गन्दगी को बाहर निकाल कर पेट एवं आँतों को स्वस्थ रखने में मदद करता है ।

उपवास का अर्थ है पेट को पूर्ण आराम देना तथा भोजन को पूर्णतः त्याग देना । यह साप्ताहिक भी हो सकता है, पाक्षिक अथवा मासिक भी, जैसी भी स्थिति हो तथा लम्बी बीमारी एवं रोग को देख कर लगातार क्रम में भी ।

उपवास करने के पूर्व सन्ध्या समय भोजन न करके फलों का रस या उबली तरकारी ही लेनी चाहिए । उपवास के दिन काफी मात्रा में जल लेकर १-२ मील का पैदल चक्कर लगाना चाहिए तत्पश्चात् एनीमा लेना चाहिए । इससे आन्तरिक सफाई अच्छी प्रकार हो जाती है । कमजोरी महसूस होने पर नीबू का रस निकाल कर लिया जा सकता है । उस दिन पूरा-पूरा विश्राम करना चाहिए । उपवास के दूसरे दिन बड़ी सावधानी एवं धैर्य से कार्य लेना चाहिए—क्योंकि उपवास के बाद भूख जोर से लगती है इसलिए ऐसा न हो जाय कि एकदम खाने पर टूट पड़ें । इससे लाभ की अपेक्षा हानि होने की सम्भावना हो सकती है । दूसरे दिन फलों के रसों से उपवास तोड़ा जाय—दोपहर या सन्ध्या को फल और सादा भोजन, रोटी, दलिया तथा उबली सब्जियाँ ली जायें । जीभ के असंयमी व्यक्ति किसी प्रकार उपवास तो निभा लेते हैं, किन्तु उन्हें खोलते समय संयम नहीं रख पाते, फलतः अनेक विकृतियाँ पैदा हो जाती हैं । उस स्थिति में उपवास से लाभ की अपेक्षा हानि भी हो जाती है ।

रसना और जननेन्द्रिय के संयम से इन्द्रिय संयम की मंजिल एक सीमा तक पूरी होती है, क्योंकि शरीर की जीवनी शक्ति रसना और काम विकार के द्वारा ही खर्च होती है । इसके लिए मनः संयम को प्राथमिकता देते हुए महात्मा गाँधी ने लिखा है—"हर व्रत का पालन मन, वचन और काया से होना चाहिए । जो शरीर को काबू में रखता हुआ जान पड़ता है पर मन से विकार का पोषण किया करता है वह मूढ़, मिथ्याचारी है । सब किसी को इसका अनुभव होता है । मन को विकारपूर्ण रहने देकर शरीर को दबाने की कोशिश करना हानिकर है । जहाँ मन है, वहाँ वह शरीर को घसीटे बिना नहीं रहता । यह एक भेद समझ लेना जरूरी है । मन को विकारवश होने देना एक बात है और मन का अपने आप अनिच्छा से बलात् विकार को प्राप्त होना या होते रहना दूसरी बात है । इस विकार में यदि हम सहायक न बनें तो आखिर जीत हमारी ही है । हम प्रतिपल यह अनुभव करते हैं कि शरीर तो काबू में रहता है पर मन नहीं रहता । इसलिए शरीर को तुरन्त ही वश में करके मन को वश में करने की रोज कोशिश करते रहने से हम अपने कर्तव्य का पालन करते हैं, करते रह सकते ।"

## श्रम और समय-सम्पदा को व्यर्थ न गवाएँ

समय और श्रमशक्ति को मनुष्य की मूल सम्पदा कहा जाता है । कोई भी कार्य करना हो उसे समय और श्रम तो चाहिए ही । बड़े कामों में मानसिक शक्ति तो किसी एक व्यक्ति की लगे तो भी काम चल सकता है । योजना से लेकर उसके ठीक-ठीक क्रियान्वयन तक का सारा कार्य एक दो बुद्धिमान व्यक्ति कर सकते हैं, किन्तु शारीरिक श्रम तथा समय उसमे बहुतों का लगाना अनिवार्य ही हो जाता है । क्या व्यक्तिगत-क्या सामाजिक, हर स्तर पर इन्ही के सदुपयोग के सहारे व्यक्ति उत्कर्ष पाता है । अस्तु सम्पत्तियों के सन्दर्भ मे भी संयम आवश्यक है । अन्यथा इनका क्षरण होता रहा तो जीवन में कभी भी समुचित लाभ प्राप्त नहीं किए जा सकते । इससे वंचित रखने वाली प्रकृति, स्पर्श के इन्द्रिय के असंयम के कारण ही पैदा होती है ।

शरीर को आराम से रखने और कोई कष्ट न होने की आकांक्षा व्यक्ति को आलसी और प्रमादी बना देती है । शरीर से निरन्तर थकाते रहने वाला काम नहीं किया जाय—वहाँ तक तो बात ठीक है, परन्तु बिल्कुल काम न करना शरीर को हर घड़ी आराम से रखना, उससे कोई काम ही नही लेना अथवा कम से कम श्रम की बात सोचना श्रम का असंयम है ।

संयम का अर्थ अपनी शक्तियो का सदुपयोग है । जहाँ शक्तियो के दुर्व्यय को रोकना संयम का एक पक्ष है, वहीं उसका सदुपयोग करना भी दूसरा पक्ष है । आराम से पड़े रहने पर शक्तियों का कोई दुर्व्यय तो नहीं होता, लेकिन आलस्य करते रहने से उनका कोई

उपयोग भी नहीं हो पाता । इसलिए सुस्त-मन्द और शिथिलता आराम तलबी की वृत्ति असंयम ही कही जायेगी । असंयम के कारण हानि होती है—यह एक मान्य सिद्धान्त है । आलस्य में पड़े रहने पर कम हानि नहीं होती । सर्वविदित है कि जिस वस्तु का समुचित उपयोग नहीं होता वह अपनी विशेषता खो बैठती है । सील में पड़े हुए लोहे को जंग लग जाती है और उसी से वह गलता चला जाता है । खूँटे से बँधा हुआ घोड़ा अड़ियल हो जाता है, जिन पक्षियों को उड़ने का अवसर नहीं मिलता वे अन्ततः उड़ने की शक्ति ही खो बैठते हैं । पान के पत्तों की हेरा-फेरी न की जाय तो जल्दी ही सड़ जाते हैं । यही स्थिति मनुष्य के शरीर की भी है, यदि उसे परिश्रम से वंचित रहना पड़े तो अपनी प्रतिभा, स्फूर्ति एवं प्रगतिशीलता एवं तेजस्विता ही नहीं खो बैठता प्रत्यक्ष अवसाद ग्रस्त होकर रोगी भी रहने लगता है ।

आराम तलब, मेहनत से बचने वाले लोगों की जीवन-शक्ति क्षीण हो जाती है, सर्दी-गर्मी और बीमारियों से लड़ने की सामर्थ्य चली जाती है । जल्दी-जल्दी जुकाम होता है, सर्दी, खाँसी सताती है, जल्दी लू लगती है, गर्मी का प्रकोप रहता है, कोई छोटी-सी भी बीमारी हो जाय तो मुद्दतों जड़ जमाये बैठी रहती है, कीमती दवादारू कराने पर भी टलने का नाम नहीं लेती । ऐसा होता इसलिए है कि वह जीवनी-शक्ति, जो परिश्रम करने वाले में प्रदीप्त रहती है, ऐसे लोगों में मर जाती है और वे किसी छोटे-मोटे आक्रमण तक का सामना करने में असमर्थ हो जाते हैं । आलस्य में पड़े रहने, ऐशो-आराम का जीवन व्यतीत करने, श्रमशक्ति का उपयोग न करने वाले लोगो का शरीर इतना कोमल हो जाता है कि वे सर्दी-गर्मी की साधारण प्रतिकूलता भी बर्दाश्त नहीं कर पाते । छुईमुई के पौधे जैसे उँगली लगते ही मुर्झा जाते हैं उसी प्रकार ऐसे शरीर जो परिश्रम के अभ्यासी नहीं, थोड़ा-सा दबाव पड़ते ही कुम्हलाने लगते है । बैठे-ठाले आदमी बाहर से मोटे भले ही लगें पर जीवनी शक्ति की न्यूनता के कारण उनके शरीर विभिन्न प्रकार के छोटे-मोटे रोगो से ग्रसित रहते हैं । बैठे रहने के कारण जो रुग्णता उत्पन्न हुई थी, वह धीरे-धीरे परिपक्व होकर इतनी मजबूत हो जाती है कि फिर उस व्यक्ति को बैठे-ठाले रहने के लिए ही विवश कर देती है । वह चाहे तो भी कुछ नहीं कर पाता । हाथ-पैर जकड़े-जकड़े रहते हैं । लगता है कि जिन्दगी का बोझ ढोना ही कठिन हो रहा है । इस स्थिति का मन पर प्रभाव पड़ेगा ही । आलसी शरीर में मन्द बुद्धि मस्तिष्क ही रहता है । जिसका शरीर फुर्तीला और मेहनती है, उसका मस्तिष्क भी तीव्र एवं उर्वरा रहता है । आलसी अक्सर मूर्ख होते हैं । सक्रियता को उन्होंने शरीर से स्वयं विदा किया था, वह रुष्ट होकर मस्तिष्क से भी चली जाती है । सोचने की, निर्णय करने की, निष्कर्ष निकालने की मात्रा घट जाती है, मस्तिष्क सदा उलझा-उलझा सा रहता है । कोई समस्या हल नहीं कर पाता । एक उलझन सुलझाने के बारे में सोचता है, दूसरी नई चार उलझनें और सामने आ खड़ी होती हैं । ऐसे व्यक्ति न तो कोई बड़ा साहस कर सकते हैं और न निर्द्वन्द्व रह सकते हैं, चारो ओर उन्हें उलझनों का जाल-जंजाल ही बिखरा मालूम देता है ।

शरीर को श्रम में लगाये रहने पर उचित दिशा में पुरुषार्थ करने से मस्तिष्क भी क्रियाशील रहता है । किन्तु जब शरीर को निष्क्रिय ही रखा जाता है तो मस्तिष्क की कार्यपद्धति भी विकृत हो जाती है उससे अवांछनीय, असन्तुलित और अव्यावहारिक बाते घुड़दौड़ मचाने लगती हैं । यदि किसी को अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों का रचनात्मक लाभ न लेना हो, विघटनात्मक दिशा में लगाकर उसे क्षोभ उत्पन्नकारी मार्ग में लगाना हो तो एक ही तरीका है खाली बैठे रहना प्रारम्भ कर दे । बस, अनेकों तरह की खुराफातें मस्तिष्क में सूझती रहेंगी और उन सनकों के कारण जीवन-क्रम की अस्तव्यस्तता दिन-दिन बढ़ती चली जायेगी ।

आलसी व्यक्ति को इन्हीं कारणों से जीवित मृतक कहा गया है और मनीषियों ने आलस्य को एक प्रकार से आत्महत्या बताया है । अपने भीतर सुख-सुविधाएँ प्रदान कर सकने वाली अगणित विभूतियाँ भरी पड़ी हैं, पर आलस्यवश उनका उपयोग नहीं हो पाता तो उस निष्क्रिय निकम्मेपन को आत्म हत्या नहीं तो और क्या कहा जाय । इसमें अपनी प्रगति के सारे द्वार अवरुद्ध होते है ।

इसके विपरीत आलस्य छोड़ने और श्रम साधना में निरत होने से उसी तरह लाभ उठाये जा सकते हैं जो राजा विक्रमादित्य अपने साथ रहने वाले अदृश्य वीरों से उठाया करते थे। कहा जाता है कि अलाउद्दीन के पास एक ऐसा करामाती चिराग था जिससे वह मनचाही चीजें उत्पन्न कर लेता था। यह तो कहानियों की बात है परन्तु मनुष्य को अपनी शक्तियों के रूप में ऐसे न जाने कितने देव और न जाने कितनी चमत्कारी विशेषताएँ मिली हैं जिनसे जी चाहा काम किया जा सकता है। वे देव श्रम शक्ति के रूप में ही कार्य करते हैं। आवश्यकता केवल उन्हें संयमित और नियन्त्रित करने भर की है। लोग बड़ी सफलताओं के लिए अपनी साधनहीन असहाय स्थिति का रोना रोते हैं परन्तु आगे बढ़ना जब किसी के लिए सम्भव हो सका अथवा जिन्होंने भी प्रगति के उच्च शिखर छुए हैं वे निम्नतर स्थिति से ही ऊपर उठे हैं। किसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए आलस्य और प्रमाद को छोड़कर सक्रिय हुआ जाय तो मनुष्य की कोई भी इच्छा, आकांक्षा अधूरी नहीं रह सकती—बशर्ते कि अपनी श्रमशक्ति का और समय सम्पदा का सही ढंग से उपयोग किया जाय। संसार में ऐसे कितने ही महापुरुष हुए हैं जिन्होंने अपनी इन शक्तियों का सदुपयोग कर श्रम और समय के संयमित प्रयोगों द्वारा सामान्य स्तर से उच्च स्थिति तक पहुँच जाने की सफलता प्राप्त की।

अमेरिका के प्रेसीडेंट अब्राहम लिंकन और जार्ज वाशिंगटन दयनीय दरिद्रता से ग्रसित परिस्थितियों में जन्मे थे। उनके परिवार की स्थिति इस योग्य बिल्कुल भी न थी कि वे पारिवारिक सहायता के बल पर तनिक भी आगे बढ़ सकें। यदि उन्होंने अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा का उपयोग न किया होता और परिस्थितियों के ऊपर ही अपने को छोड़ दिया होता तो वे किसी तरह पेट भर सकने वाले नगण्य व्यक्ति रह गए होते। उन्होंने भीतर की प्रतिभा को जागृत किया, अनवरत श्रम की साधना आरम्भ की और "जो करना पूरी तत्परता एवं दृढ़ता के साथ करना" का बीज मन्त्र दुहराया। साधनों के अभाव की शिकायत धीरे-धीरे मिटती गईं, प्रतिकूलताएँ हटती गईं और अनुकूलताएँ उत्पन्न होती गईं।

मनुष्य का मनोयोग अनुकूलताएँ उत्पन्न करने में, साधन जुटाने में असफल नहीं रहता। आकांक्षा और सूझ-बूझ वह रास्ता निकालती ही रहती है जिससे कठिनाइयों का हल सम्भव हो सके। जब फरहाद जैसा सर्वथा साधनहीन व्यक्ति शीरीं को प्राप्त करने की तीव्र आकांक्षा होने पर पहाड़ खोदकर नहर निकालने जैसी कठिन शर्त को पूरी कर सकता है तो कोई कारण नहीं है कि हमारी आन्तरिक प्रखरता, प्रगति के मार्ग में उपस्थित होने वाली बाधाओं को समय-समय पर न ढूँढ़ती निकालती रहे। आवश्यकता केवल उन्हें अनावश्यक कार्यों से बचाने और उपयोगी दिशा में नियोजित भर करने की है।

हमारा बहुत-सा समय और बहुत-सा श्रम व्यर्थ के कार्यों में ही लग जाता है। यदि उसका ठीक ढंग से उपयोग किया जाय, अपने जीवन का व्यस्त कार्यक्रम बनाया जाय और आत्मविकास के लिए परिश्रम किया जाय तो न जाने क्या किया जा सकता है। विनोबा भावे ने स्कूली शिक्षा एक छोटे से दर्जे तक ही प्राप्त की थी परन्तु उन्होने अपने जीवन का ऐसा व्यस्त कार्यक्रम रखा कि समाज सेवा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य करते हुए भी वैयक्तिक अध्ययन जारी रखा और वे आज संसार की प्रायः प्रमुख भाषाओं और विचारधाराओं के विद्वान हैं। उनकी तुलना के मनीषी संसार में गिने-चुने ही होंगे। शिक्षा विषयक इतने प्रगति के पीछे कोई चमत्कार नहीं, वरन् उनका अनवरत क्रमबद्ध और मनोयोगपूर्वक किया हुआ श्रम ही है। यही राजमार्ग हम सबके लिए भी खुला पड़ा है, जो चाहे उस पर खुशी-खुशी चल सकता है। दो घण्टे निरन्तर का अध्ययन किसी व्यक्ति को तीस वर्ष मे समस्त प्रमुख भाषाओ का विद्वान बना सकता है।

श्रम के महत्त्व को जान लेने के बाद यह इच्छा उठना स्वाभाविक है कि स्वयं भी श्रमशक्ति के सदुपयोग द्वारा प्रगति की जाय, लेकिन आलस्य तब यह बहाना कर भ्रमित करने लगता है कि अब तो काफी उमर गुजर गई, अब क्या हो सकता है। बहुत से लोग यह सोचकर चुप बैठ जाते है कि अब तो हमारी काफी उमर गुजर चुकी है? थोड़ा बहुत समय बचा है उसके लिए व्यर्थ क्यों परेशान हुआ जाय। व्यर्थ क्यों परेशान हुआ जाय—की आड़ भी केवल आलस्यवश

ली जाती है। अन्यथा यह सोचना गलत है कि हमारी इतनी आयु तो बीत गई, अब बूढ़े हो चले, अब क्या कोई बड़ा काम हो सकेगा। यदि कुछ कर भी लिया तो जब तक बूढ़े हो जायेंगे अथवा मर जायेंगे। बूढ़े होने या प्रौढ़ता प्राप्त कर लेने के कारण निराश होने की आवश्यकता नहीं है। प्रगति के लिए न कोई उमर होती है और श्रम के लिए न कोई आयु का बन्धन। अतः श्रम और शक्ति के अपव्यय की जो गल्ती हो गई, सो हो चुकी। उसे अब न होने दिया जाय तथा उपयोगी कार्यों मे ही श्रम करने की—समय लगाने की रीति-नीति अपनायी जाय।

यह रीति-नीति अपनाने मे निःसन्देह यह लगेगा कि कहाँ व्यर्थ प्रपंच में पड़ गए। यह आरामतलबी के अभ्यस्त शरीर का ही तर्क हो सकता है, जो अपने को परिश्रम से बचाने के लिए किया जाता है। शरीर को जितना भी आराम-स्पर्श सुख दिया जाय थोड़ा प्रतीत होगा, किन्तु आत्मिक प्रगति के लिए जैसे ही श्रम करने में तत्पर हुआ जायेगा और जो सत्परिणाम प्रस्तुत होंगे वे स्पर्श सुख के आराम से रहने के आकर्षण को अपने आप ही कम कर देंगे।

## समय सबसे बड़ा धन

मनुष्य के पास ईश्वरदत्त पूँजी समय है। यही आयु है। अतः जब तक जीवन है तब तक सारा समय श्रम करते हुए बिताना चाहिए। जितना समय आलस्य में पड़े रहकर निठल्लेपन से बिता दिया, समझना चाहिए कि जीवन का उतना ही अंश बर्बाद हो गया। जो भी हमें अभीष्ट हो, जो कुछ भी हम चाहते हों उसी मे मनोयोगपूर्वक लग जाना चाहिए—सफलता मिलेगी। सफलताएँ अनेक प्रकार की चाहना और श्रम से कतराते रहना यह उचित नहीं। सफलताएँ अनेक मनुष्यों ने पायी है पर उन सबको श्रम की अग्नि परीक्षा मे अपने आपको खरा सिद्ध करना पड़ा है। उद्योगी पुरुषसिंह को ही लक्ष्मी मिलती है—संस्कृत साहित्य की इस उक्ति में रत्तीभर भी सन्देह की गुन्जाइश नहीं है। आलस्य दरिद्रता का ही दूसरा नाम है। आलसी बनने का अर्थ ही दरिद्र बनने की भूमिका तैयार करना है। निठल्लापन अमीरों का चिन्ह माना जाता है पर सही बात यह है कि श्रम के द्वारा सम्पन्नता मिलती है और जब मनुष्य को आलस्य घेर लेता है तो उसका पतन आरम्भ हो जाता है। यह मान्यता सही नहीं कि आलसी सुखी रहता है। सुख तो सन्तोष में है और सन्तोष केवल कर्तव्य-पालन करने वाले को मिलता है। जो बेकार बैठा रहता है उसकी आत्मा ही उसे धिक्कारती रहती है और दूसरे पुरुषार्थी साथियों की तुलना में उसे अपनी हीनता स्पष्ट दिखाई देती है जिसके कारण उसे पग-पग पर लज्जा और संकोच का अनुभव करना होता है। सफलता न भी मिले तो भी अपने भीतर तो सन्तोष रहता है कि हमने अपने कर्तृत्व में कमी नहीं रहने दी और स्वजन सम्बन्धी भी प्रशंसा करते हैं कि जो कुछ किया जा सकता था वह तो किया ही गया। इस सन्तोष एवं गर्व की तुलना में असफलता का दुःख भी हल्का पड़ जाता है। जिसने काम से जी चुराने के कारण असफलता प्राप्त की है लज्जा, संकोच और आत्म-ग्लानि तो उसी को होती है और अपराधी की तरह उसे ही मुँह छिपाए रहना पड़ता है जो अकर्मण्यता की हीनता के कारण दिन-दिन पिछड़ता चला जाता है।

आलस्य में बड़प्पन देखने की भ्रान्त विचारधारा को जितनी जल्दी बदला जा सके उतना ही अच्छा है। प्रायः लोग कहा करते हैं कि हमें समय का अभाव रहता है और हम आवश्यक कार्यों को भी नहीं निबटा पाते। समय के अभाव की शिकायत तभी उत्पन्न होती है जब उसका अनियोजित उपयोग किया जा रहा हो। जितना समय हमारे पास है उतना ही समय महानता को प्राप्त हुए महापुरुषों को उपलब्ध रहा है, परन्तु उन्होंने समयाभाव की कभी शिकायत नहीं की।

समय के श्रेष्ठतम सदुपयोग का एकमात्र उपाय है उसका सुव्यवस्थित विभाजन और तदनुसार अपने प्रत्येक कार्य का सम्पादन। यदि हम अपने दिन भर के कार्यों पर दृष्टिपात करें और उनका विश्लेषण करें तो प्रतीत होगा कि हमारा अधिकांश समय या तो आलस्य में सुस्ताने या बदन तोड़ते बीता अथवा गपशप और व्यर्थ की बकवासों में समय की बर्बादी हुई। यदि समय के महत्त्व को समझा जाता और उसके सदुपयोग की बात सोची जाती तो बहुत-सा खाली समय निकल सकता था तथा उसका उपयोग कर अपनी योग्यता क्षमता बढ़ाई जा सकती थी।

फुरसत नहीं मिलती, अवकाश नहीं रहता जैसे बहाने अनुपयुक्त हैं । समय का ठीक विभाजन कर लेने और हर काम मुस्तैदी तथा तत्परता से करने पर जितना अभी किया जाता है, उससे दूना बड़ी आसानी से हो सकता है । होता यह है कि हम अपने कामों को बेगार, भार समझकर आधे मन से रोते, झीखते हुए करते हैं तो फलस्वरूप काम करने की गति भी मन्द रहती है । बहुत देर में, धीरे-धीरे थोड़ा-सा काम हो सकता है । यदि पूरे मनोयोग और तत्परता से कार्य में पूरा-पूरा रस लेते हुए उसे किया जाय तो वह अधिक अच्छा और अधिक मात्रा में हो सकता है । ऐसी दशा में समय की बचत होना स्वाभाविक है । इसी प्रकार कार्य बिना व्यवस्था, बिना समय निर्धारण के होते हैं, जिनमें क्रम एवं तारतम्य नहीं होता वे सारे दिन घिस-घिस करते रहने पर भी इतने कम होते हैं कि उन्हें पूरे दिन का परिश्रम कहने में भी संकोच होता है । मुस्तैद और क्रमबद्ध कार्यकर्त्ता जितना काम तीन-चार घण्टे में कर लेते हैं उतना घिस-घिस करते हुए रोते-झीखते लकीर पीटने वालों से दिन भर में पूरा नहीं हो पाता । यदि टाइम टेबिल बनाकर दिन भर का कार्यक्रम निर्धारित किया जाय तो पता चल जाय कि कितने थोड़े काम के लिए कितना अधिक समय खर्च किया जाया करता था । टाइम टेबिल बनाकर काम करने की आदत इतनी जादू भरी है कि मनुष्य को समय की बर्बादी न करने का अभ्यस्त बना देती है । जैसे हिसाब लिखे बिना नफा-नुकसान का कुछ पता ही नहीं चल पाता, उसी तरह बिना टाइम टेबिल बनाये काम करते रहने वाले को भी यह प्रतीत नहीं होता कि समय का उचित उपयोग हुआ या नहीं । अनेकों काम जो आज के कल पर टाले जाते हैं, उसका कारण भी समय का समुचित निर्धारण एवं विभाजन न कर सकने का प्रमाद ही होता है । यदि यह दोष दूर कर लिया जाय तो काम दूना होने लगे और उपयोगी कामों के लिए समय न बचने की शिकायत भी न करनी पड़े ।

यदि हम अपने शरीर को मुस्तैद, श्रमशील बनायें और आराम तलबी का अभ्यास न होने दें, समय का संयम करें, उसके सदुपयोग की बात सोचें तो थोड़े-से साधनों और सामान्य प्रयत्नों से भी चमत्कारी परिणाम प्राप्त किए जा सकते हैं । आवश्यकता केवल इस बात की है कि आरामतलबी से बचा जाय, आलस्य को पास न फटकने दिया जाय और समय का सही सदुपयोग किया जाय ।

## आर्थिक संयम अर्थात सुखी जीवन

जीवन-निर्वाह के लिए कई वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है । उस आवश्यकता को पूरी करने के लिए श्रम चाहिए, पर श्रम द्वारा सभी आवश्यक वस्तुएँ जुटाने में बड़ा समय चाहिए, इसलिए यह व्यवस्था की गई कि श्रम का मूल्य धन के रूप में प्राप्त कर लिया जाय और उस धन से अपनी विभिन्न आवश्यकतायें पूरी करता रहे । धन कमाने का मुख्य उद्देश्य जीवन यापन के लिए दैनिक एवं मूल आवश्यकताओं को पूरा करना ही है ।

यों तो जीवन की आवश्यकताएँ कितनी हैं इसकी कोई सीमा या कसौटी नहीं है । मनुष्य की कुछ आवश्यकताएँ तो ऐसी हैं जो कि बहुत ही आवश्यक हैं । कुछ बहुत ही साधारण-सी हैं और बहुत-सी आवश्यकताएँ अनिवार्य हैं । इसलिए अपनी आर्थिक स्थिति को देखकर ऐसी व्यवस्था बनानी चाहिए कि अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति पहले हो और फिर दूसरी आवश्यकताएँ पूरी हो सके ।

लेकिन बहुत से लोग धन का सदुपयोग करने के बजाय उसकी उपयोगिता झूठी शान-शौकत दिखाने, फैशन परस्ती एवं दुर्व्यसनों की पूर्ति में ही समझते हैं । जिनके पास इतना धन है कि वे इन कार्यों में अपना पैसा खर्च कर सकें उनके लिए भी हानिकारक है और समाज के लिए भी, क्योंकि उन्हें देखकर गरीब लोग भी जिनके पास अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भी पर्याप्त साधन नहीं रहते—इस तरह के अनावश्यक कार्यों में खर्च करने लगते हैं, क्योंकि वे समझते हैं इसी में बड़प्पन है ।

अच्छा तो यह है कि यदि अपने पास इतना पैसा हो कि वह आवश्यकता पूर्ति में खर्च करने के बाद भी बचे तो उसे इकट्ठा किया जाय । वह बचा हुआ पैसा आड़े वक्त काम आ सकता है या किसी और कार्य में लगाया जा सकता है, लेकिन लोग इस ओर जरा भी ध्यान नहीं देते ।

अपव्यय के कारण बर्बाद हुए समृद्ध परिवारों के और भी अनेक उदाहरण हैं । अपव्यय का एकमात्र कारण हमारी अदूरदर्शिता है । धन को हमने झूठी शान-शौकत की पूर्ति का साधन मान लिया है जो केवल मनुष्य का थोथापन ही रहा है ।

यह मानना भूल है कि जितनी शान-शौकत का प्रदर्शन करेंगे, जितने ठाठ-बाट से रहेंगे और अपनी आवश्यकताओं को जितना अधिक बढ़ा लेंगे । लोग हमें उतना ही सुखी समझेंगे । लोग भले की समझने लगें कि आप सुखी हैं पर इन व्यर्थ आवश्यकताओं को बढ़ा लेने से जो आर्थिक परेशानियाँ खड़ी हो जाती हैं वे हमें बड़ी बुरी तरह दुखी और संत्रस्त करके रख देती हैं । उचित-अनुचित का विचार न कर जब अपनी सामर्थ्य से भी अधिक धन चाहने वाली आवश्यकताएँ बढ़ा ली जाती हैं तो व्यक्ति उन कृत्रिम आवश्यकताओं के फेर में पड़कर कहीं का नहीं रह जाता ।

ये कृत्रिम आवश्यकताएँ ऐसा दुर्गुण हैं जिससे मनुष्य अपने पैरों पर आप कुल्हाड़ी मारता है । यदि सूक्ष्म दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो हमें अपने जीवन में कई ऐसी घटनाएँ याद आ सकती हैं जो हमारे अपव्ययी स्वभाव को उजागर करती हैं और उथलेपन और संकुचित दृष्टिकोण का प्रतीक हैं । वास्तविकता यह है कि जो जितना महान होगा वह उतना ही सजावट और प्रदर्शन के विरुद्ध होगा । हम केवल इस प्रवृत्ति के वशीभूत होकर कि दूसरे हमें अपने से किसी प्रकार कम न समझें, पैसे को अनाप-शनाप खर्च करते चलते हैं । यह हमारी कभी न खत्म होने वाली अभिलाषा बन जाती है । इसके विपरीत धन को यदि सोच-समझकर खर्च किया जाय, आवश्यक हो वहीं इसका प्रयोग किया जाय तो यह हमारे जीवन विकास में सहायक गुण हो सकता है । संसार में जितने भी महापुरुष, बड़े विद्वान एवं विचारवान व्यक्ति हुए हैं उन्होंने इसी गुण से काम लिया है ।

मितव्ययता का जीवन में बड़ा महत्व है । यह एक असाधारण गुण है जो लोग इसके महत्त्व को नहीं समझते और उसकी शक्ति से अपरिचित रहते हैं वे हमेशा आर्थिक कठिनाइयों में फँसे रहते हैं, साथ ही परिवार की उन्नति रोक देते हैं और जिसने भी जीवन की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन का उपयोग किया है, अपव्यय नहीं किया—उसका जीवन सुखी रहा । कृत्रिम आवश्यकताएँ बढ़ा लेने अथवा अपनी स्थिति से अधिक प्रदर्शन करने के लिए हमें अपनी सामर्थ्य खर्च से ज्यादा करना पड़ता है । आज मिथ्या फैशन के नाम पर समाज में होड़ लगी है । फैशन के नाम पर कितना भी खर्च करने में हम नहीं हिचकिचाते । इसके कारण न जाने कितने लोगों को जीवन निर्वाह की कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं । फैशन वालों की पारिवारिक दशा बड़ी दयनीय मिलेगी ।

फैशन के व्यसन से आज स्त्री और पुरुष दोनों ही ग्रस्त हैं । स्त्रियों में फैशन बढ़ावे के कारण न केवल अपव्यय हो रहा है बल्कि अंग प्रदर्शन फैशन का अंग बन गया है और हमारे नैतिक मूल्यों पर बड़ा गहरा असर पड़ रहा है । परिवार में झगड़े भाई-भाई में कटुता आदि बुराइयाँ इस धन के लालच और लालसा के कारण पनपती जा रही हैं ।

विद्यार्थी वर्ग इससे अछूता नहीं बचा है बल्कि उनमें फैशन और दिखावे की लालसा बड़ी विस्तृत होती जा रही है । माँ-बाप जो अपने बच्चों के फैशन की पूर्ति नहीं कर सकते, उनकी बुरी आदतों की पूर्ति के लिए पैसा नहीं दे सकते वे बच्चों की निगाह में गिरे हुए हैं या फिर आर्थिक संकट उठा रहे हैं ।

वस्त्रों की आवश्यकता इसलिए होती है कि हम अपने शरीर को ढक सकें । सर्दी-गर्मी से शरीर का बचाव कर सकें और यह साधारण मूल्य के कपड़े से सम्भव है । गाँधी जी तो खादी की एक धोती और एक चद्दर में ही काम चला लेते थे । सन्त महात्मा एवं महापुरुषों का काम थोड़े से कपड़ों से ही चल जाता है । फिर क्या आवश्यकता पड़ जाती है कि हम लोग बड़ा महँगा कीमती कपड़ा खरीदें और उसे नई तर्जों एवं डिजाइनों में बनवाएँ ।

हम पेट भरने के लिए नहीं खाते, अपने स्वाद के लिए और बड़प्पन जताने के लिए मिठाइयाँ, पकवान, चाट-पकोड़ी न जाने क्या-क्या उड़ाते हैं और अपनी कमाई का पैसा गँवाते हैं, साथ ही इसके कारण बीमारियों के शिकार होकर, डॉक्टर, वैद्य, हकीमों के पास जाते हैं फिर दवाओं के नाम पर खर्च करते हैं । यदि

आदमी पेट भरने की दृष्टि से ही खाये तो बहुत कम खर्च में काम चल सकता है ।

तथाकथित "जीवन स्तर" स्टैण्डर्ड ऑफ लिविंग की प्रचलित व्याख्या ही यह हो गई है कि मनुष्य कितना कीमती वस्त्र पहनता है, खाने-पीने, मौज-मजे करने में कितना अधिक खर्च करता है । समाज में ब्याह-शादी, दावत-भोज आदि के नाम पर कौन कितना धन फूँकता है । इसके आधार पर ही उसका बड़प्पन आँका जाता है । इस सबके कारण मनुष्य दिन-रात कमाने की फिक्र में लगा रहता है ।

वस्त्र, महँगे भोजन और ब्याह-शादियों में बड़प्पन जताने की तरह ही स्त्रियों में आभूषण का भी एक नशा रहता है । परिवार में प्रत्येक स्त्री अपने पास आभूषणों की संख्या को अपनी प्रतिष्ठा और मान-सम्मान का आधार मानती है । घर के अन्य आवश्यक कार्यों की उपेक्षा कर वे अपने पति से अमुक डिजायनों का इतनी कीमत का आभूषण बनवाने के लिए जिद करती हैं । घर की आर्थिक स्थिति वैसा आभूषण बनवाने की नहीं है तो या तो कर्ज लें और घर की अर्थव्यवस्था को चौपट करें अथवा पत्नी को नाराज कर गृह-कलह को आमन्त्रित करें ।

यह केवल मूढ़ लोगों का ही दृष्टिकोण होता है कि फैशन, जेवर या व्यसन बड़प्पन-अमीरी का चिन्ह है । वस्तुतः यह अबुद्धिमत्ता और मूढ़ मति होने का चिन्ह है । समाज में धन का उद्धत प्रदर्शन करने वालों की नहीं सादगी, सुसज्जा और सुरुचिपूर्ण ढंग से काम करने वाले सद्गुणी व्यक्तियों की प्रतिष्ठा होती है ।

हम जिस ढंग से इतना ज्यादा पैसा खर्च करते हैं, अनावश्यक बातों के लिए, अगर उनके उचित-अनुचित परिणामों पर सन्तुलित रूप से विचार करें और उस अपव्यय को रोक कर उसी पैसे को अच्छे व्यवसाय, काम शिक्षा या समाज उत्थान के कार्यों में लगाएँ तो न केवल मुनाफा प्राप्त होगा बल्कि हमारी शारीरिक, मानसिक और सामाजिक उन्नति भी हो सकती है । दरअसल हम जितनी आवश्यकताएँ बढ़ाते हैं परेशानियाँ उतनी ही बढ़ती जाती है और उनकी पूर्ति के लिए उचित-अनुचित साधनों का प्रयोग करना पड़ता है । प्रत्यक्ष में इसके परिणाम बेईमानी, घूस, चोरी, हत्या, गृह-कलह आदि के रूप मे देख रहे हैं ।

समाज में अधिकांश आर्थिक अपराधों की जड़ धन का यह उद्धत और अविवेकपूर्ण प्रदर्शन ही है । जिन लोगों को वैसे साधन और वैसे अवसर उपलब्ध नहीं हो पाते जैसे अपने से अमीर व्यक्तियों के पास उपलब्ध होते हैं तो वे भी उन साधनों को प्राप्त करने के लिए ललक उठते हैं । वह ललक इतनी तीव्र होती है कि व्यक्ति जिस किसी भी ढंग से सम्भव हो—उचित या अनुचित हर ढंग से उसे प्राप्त कर लेना चाहता है । ईमानदारी और मेहनत से कमाने के लिए लम्बी प्रतीक्षा करनी पड़ती है । यद्यपि आर्थिक उत्कर्ष का सही आधार यही है और उसी से ठोस प्रगति होती है, परन्तु देखा-देखी अपने को सुविधा सम्पन्न बनाने के लिए व्यक्ति उचित-अनुचित का अन्तर नहीं करता और आर्थिक भ्रष्टता के गर्त में जा गिरता है ।

सम्पन्न हो या निर्धन—अपव्यय तो किसी को नहीं करना चाहिए । अपव्यय व्यक्तिगत दृष्टि से भी और सामाजिक दृष्टि से भी अनर्थकारी ही है । इसलिए कहावत है कि "धन कमाना सरल है पर उसे खर्च करना कठिन है ।" साधारण अर्थ में तो यह कहावत हास्यास्पद मालूम पड़ती है । कोई भी कह उठेगा कि—खर्च करने में क्या है चाहे जितना पैसा हो उसे खर्च कर दूँ । लेकिन बात ऐसी नहीं है कहावत अपने आप में अर्थशास्त्र का महत्त्वपूर्ण सूत्र है, जो कहाँ, किस तरह व्यय किया जाय इस सम्बन्ध में जन-साधारण के अज्ञान की ओर संकेत करती है ।

सादगी को भारतीय जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है । इसी व्रत को अपना कर हमारे पूर्वजों ने ज्ञान की महान साधना की । उस ज्ञान की जिसके कारण समस्त संसार मे भारत को सभ्यता का सूर्य, ज्ञान विज्ञान का देश माना जाता रहा है और जिसके बल पर वह जगद्गुरु कहलाया ।

सादगी एक ऐसा नियम है जिसके सहारे हम अपने वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन की बहुत-सी समस्याओं को सहज ही हल कर सकते हैं । सादगी के द्वारा अपना बहुत-सा समय, धन खर्च होने वाली शक्तियाँ बचा सकते है और उनका अपने उत्कर्ष के लिए सदुपयोग कर सकते है ।

इसीलिए हमारे पूर्वजों ने जीवन के बाह्य विभाग को कम महत्त्व दिया । सादगी से जीवन बिताने के

लिए कहा है ताकि हम अपनी शक्ति व्यर्थ नष्ट न कर उसका सदुपयोग अच्छे कार्यों में कर सकें । ऋषियों का जीवन इसी सत्य का प्रतीक था और किसी भी महान पथ का साधन करने वाले महापुरुष को सादगी का मार्ग ही अपनाना पड़ता है । जीवन के महान लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए, उल्लेखनीय सफलताओं के लिए यही मार्ग हर व्यक्ति को अपनाना होगा, अपनाना चाहिए भी ।

मनुष्य को प्राप्त असंख्य विभूतियाँ यदि ठीक प्रकार नियोजित की जा सकें तो क्या व्यक्तिगत, क्या सामाजिक हर क्षेत्र में स्वर्गीय परिस्थितियाँ उत्पन्न की जा सकती हैं । यह तथ्य समझने में हमारी बुद्धि अक्षम नहीं है, किन्तु तथ्यों को समझना एक बात है, उसे चरितार्थ करना दूसरी । विभूतियों को सही दिशा में नियोजित करना संयम साधना के बिना सम्भव नहीं । अस्तु संयम वृत्ति का विकास संयम साधना का अभ्यास हम जितनी अधिक तत्परता से कर सके आत्म-कल्याण एवं जन-कल्याण की दिशा में उतनी ही अधिक प्रगति कर सकेंगे ।

## वासना : इन्द्रिय शक्ति के साथ खिलवाड़

आग की उपयोगिता सर्वविदित है । उसके अनेकानेक उपयोग हैं । यदि वह न हों, तो रसोई बनाना, शीत निवारण, प्रकाश जैसी आवश्यकताएँ भी पूरी न हो सकें और जो अनेक प्रकार के रसायन बनते हैं, धातु शोधन जैसे कार्य होते हैं, उनमें से एक भी न बन पड़े और जीवन दुर्लभ हो जाय । बिजली भी अब जीवन की महती उपयोगिताओं में, आवश्यकताओं में सम्मिलित हो गई है । घरों में बत्ती, पंखा, हीटर, कूलर, स्त्री उसी के सहारे चलते हैं । वही पम्प चलाती और खेतों को सींचती है । यदि बिजली गुम हो जाय, तो दैनिक काम निपटाना कठिन हो जाता है ।

आग और बिजली की तरह ही ज्ञानेन्द्रियों की उपयोगिता है । हमारी समस्त गतिविधियाँ उन्हीं के सहारे चलती हैं । आँखें न हों तो ? कान न हो तो ? जीभ न हो तो ? देखना, सुनना और बोलना कठिन हो जाय और मनुष्य अंधा, गूँगा, बहरा बनकर मिट्टी के ढेले की तरह किसी प्रकार जीवित भर रह सकेगा । हाथ-पैर न हो तो वह गोबर के चोथ जैसा बैठा रहेगा और साँस भर लेता रहेगा । आग और बिजली की तरह भगवान ने इन्द्रियाँ भी इसीलिए दी हैं कि उनसे कठिनाइयों का हल निकाला जाय और प्रगति का द्वार खोला जाय । सुसम्पन्न और प्रगतिशील बनने में इन्द्रियाँ ही प्रमुख भूमिका निभाती हैं । आग और बिजली की तरह उनकी क्षमता भी असाधारण है । केंचुए और इन्सान में यही फर्क है कि केंचुए को इन्द्रियाँ नहीं मिली हैं, पर मनुष्य को उन विभूतियों से सुसम्पन्न होने का सुयोग मिला है । सृष्टि का मुकुटमणि मनुष्य को कहा गया है, पर यह स्तर कैसे प्राप्त हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर इसी प्रकार मिलता है कि उसे इन्द्रियों की विशिष्ट क्षमता उपलब्ध है । चिन्तन में समर्थ मस्तिष्क की महत्ता अनुपम है । यह भी ग्यारहवीं इन्द्रिय ही है । जीवन की सरसता और समर्थता इन्हीं के सहारे बन पड़ती है । इन्हें सर्वोपयोगी सर्वसमर्थ उपकरण भी कहा जाता है, जो निरन्तर साथ रहते और अपने-अपने काम में जुटे रहते हैं । जीवन रथ इन्हीं के आधार पर गतिशील रहता है ।

आग को कोई मनोरंजन के काम भी ला सकता है । बच्चे दियासलाई जलाने-बुझाने का खेल अवसर पाते ही खेलने लगते हैं । फुलझड़ी, अनार, पटाखे जैसे आतिशबाजी के खेल भी इसी श्रेणी में आते हैं । इस प्रकार मनोरंजन तो हो जाता है, पर साथ ही खतरा भी रहता है कि तनिक-सी असावधानी हुई कि जान जोखिम हो सकती है । चिनगारी उड़कर छप्पर को जलाये, तो सारा घर स्वाहा हो सकता है, जीवन भर की कमाई नष्ट हो सकती है और उसकी चपेट में फँसे हुए मनुष्य या पशु-पक्षी भी जल सकते हैं । इस प्रकार आग का खेल या उसका असावधानी के साथ किया गया प्रयोग भयकर काण्ड खड़े कर सकता है । इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी यही बात है । उनका लाभ तभी तक है, जब तक कि उनका सत्प्रयोजनों में योजनाबद्ध रूप से सतर्कतापूर्वक उपयोग किया जाय । यदि इसमें व्यतिरेक उत्पन्न किया जाय, तो समझना चाहिए कि अनर्थ को ही आमन्त्रित किया जा रहा है ।

सृष्टा ने इन्द्रियों में दुहरी विशेषताएँ भरी है । वे जीवनचर्या के महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्वों का भी वहन करती है, साथ ही सरसता का पुट भी है, जिसके सहारे कहीं बाहर न जाकर इन्हीं के सहारे मनोरंजन का भरपूर लाभ उठाया जा सकता है । यह कृत्य जब तक सीमाबद्ध रहता है, तब तक उनका उभय पक्षीय लाभ भी है, पर जब स्वाद की सरसता नशेबाजी की तरह व्यसन बन जाती है और मर्यादाओं का उल्लंघन करती है, तो उससे होने वाली हानि भी असाधारण हो जाती है, अनर्थ की सीमा जा छूती है ।

आँख का उपयोग वस्तुओं को देखना और उनका सदुपयोग करना है । अध्ययन-अध्यापन में भी उन्हीं की प्रधानता रहती है । शिल्प व्यवसाय में आँखों की ही प्रमुखतापूर्ण भूमिका रहती है । यह उसका क्रिया पक्ष हुआ । मनोरंजन पक्ष वह है, जब प्रकृति के सौन्दर्य को निहारते हुए उल्लास भरा आनन्द लिया जाता है । सौन्दर्य बोध उन्हीं के सहारे होता है । सिनेमा, अभिनय नृत्य सर्कस आदि उन्हीं के माध्यम से देखे जाते हैं । यह सरसता पक्ष की प्रक्रिया हुई, पर इसकी भी एक सीमा है । सीमा के बाहर जाने पर टकटकी लगाकर घण्टों देखते रहना आँखों की क्षमता नष्ट करता है और कितने दृष्टिदोष, नेत्र रोग उठ खड़े होते हैं । कई बार तो इसी कुचक्र में आँखें भी गँवानी पड़ सकती हैं । यही बात अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी है ।

अति को सर्वत्र वर्जनीय माना गया है । इन्द्रियों से उपयोगी कामों में भी अत्यधिक श्रम किया जाय; तो वे थककर चूर हो जाती हैं और अधिक भारवहन से इन्कार कर देती हैं । आगे के लिए उनकी कार्यक्षमता नष्ट हो जाती है । यही बात उनके द्वारा किये जाने वाले रसास्वादन के सम्बन्ध में भी है । यदि उसमे अति बरती गई, इस लोलुपता को व्यसन बना लिया गया तो इसका प्रभाव उनकी निजी क्षमता का दिवाला पिट जाना तो होता ही है, उस हानि से सहज शरीर और जीवन भी प्रभावित होता है । इसी रसास्वादन में अति बरतने की आदत को वासना कहते हैं । शास्त्रकारों ने वासना की अतिशय निन्दा की है और उसे आत्मघाती बताया है ।

जिह्वा की लोलुपता को ही लिया जाय, तो वह दुर्व्यसनी होकर चटोरी हो जाती है । स्वादिष्ट पदार्थों को क्षण-क्षण में उदरस्थ करने की ललक उठती रहती है । पल-पल में कुछ जायकेदार, मजेदार खाने को जी चाहता है । नशेबाजों की तरह वासनाग्रस्त भी आवश्यकता से अधिक खाते रहते हैं । यदि पकवान, मिष्ठान, मसालेदार पदार्थ मिलें, तो उन्हें इतनी मात्रा में उदरस्थ कर लिया जाता है, जो पेट की पाचन शक्ति से कहीं अधिक होते हैं । अधिक पका, गरिष्ठ एवं तामसिक भोजन पेट में सड़न पैदा करता है और वह धीमा विष समस्त शरीर में फैल कर अवयवों को क्षति पहुँचाता है । जहाँ-जहाँ विषाक्तता जमा हो जाती है, वहीं रोग फूट पड़ता है । इसी दशा में कष्ट सहन, परिचारकों के समय का अपव्यय तथा चिकित्सा के निमित्त होने वाला खर्च करना पड़ता है । आयुष्य घटती है, जीवनी-शक्ति का ह्रास होता है और दुर्बलता-रुग्णता के कुचक्र मे फँसे हुए जिस-तिस प्रकार जीवन काटना पड़ता है । यह है वासना का दण्ड, जिसे भोगे बिना किसी प्रकार छुटकारा नहीं मिल सकता । प्रकृति की अदालत में कड़े दण्ड की भी व्यवस्था है, वह मात्र अनुदान देने में उदार ही नहीं है । अव्यवस्था फैलाने वालों के प्रति कठोर भी है, ताकि वे प्रताड़ना की भाषा समझ सकें और भविष्य में गल्ती न करने की शिक्षा ग्रहण कर सकें ।

इन्द्रिय शक्ति सीमित है । वह इतनी ही है कि जीवनचर्या के आवश्यक कार्यों को क्रमबद्ध रूप से किया जा सके । अतिवाद सहन करने की स्थिति उनकी भी नहीं है । चटोरपन की वासना स्वास्थ्य को नष्ट करती और रोते-कराहते असमय में ही अकाल मृत्यु मरने के लिए बाधित करती है । वासना, उपभोग के समय तो अच्छी लगती है और उस स्वाद की अधिकाधिक ललक पूरी करने की तबियत होती है । जो इस लिप्सा के वशीभूत हो जाते हैं, वे कष्ट उठाते हैं । जो दूरदर्शी विवेक अपनाकर समय से पहले ही सतर्क हो जाते हैं, संयम अनुशासन बरतते हैं, वे ही बुद्धिमान कहलाते और उपलब्धियो का समुचित लाभ उठाते है ।

इन्द्रियो में जिन्हे प्रबल और प्रमुख माना जाता है, उनमें स्वादेन्द्रिय के उपरान्त जननेन्द्रिय है । उसका प्रयोजन बहुत सीमित है । प्रायः वह मूत्र त्याग का दैनिक कर्म पूरा करती रही है । इसी के एक कोने में छोटा-सा अवयव है, जो प्रजनन के लिए काम आता

है । प्रकृति की इच्छा है कि हर जीवधारी का वंश चलता रहे । उसकी प्रजाति धरातल पर स्थिर रहे । इसलिए मूत्रेन्द्रिय को ही यदा-कदा प्रजनन कार्य में जुटना पड़ता है । यह उसका प्रमुख नहीं गौण कृत्य है ।

प्रजनन में नर और मादा दोनों को ही असाधारण झंझट, जोखिम और दायित्व उठाने पड़ते हैं । ऐसे घोरकर्म में कोई विवेकशील क्यों फँसे ? और क्यों उसमें कोल्हू के बैल की तरह पिसते-घिसते रहना स्वीकार करे ? इस विवेकशीलता से प्रकृति-प्रयोजन में बाधा पड़ती है, इसलिए उसने यह चतुरता की है कि रतिक्रिया में एक उन्मादी रस जोड़ दिया है, जिसकी ललक से प्रेरित होकर प्राणी उसमें बेतरह आकर्षित होता है और उन क्षणों के उस रस-स्खलन को अमरमूरि जैसी उपलब्धि मान बैठता है एवं मात्र प्रजनन के निमित्त कम और यौनाचार की उत्तेजना के लिए उस वासना में आतुरतापूर्वक प्रवृत्त होता है । देखा गया है कि प्रजनन का लक्ष्य भूलकर बहुसंख्यक लोग वासना के निमित्त ही इस इन्द्रिय शक्ति का अपव्यय करते हैं । वासना की ललक में इस सन्दर्भ की समस्त मर्यादाओं को उठाकर ताक में रख देते हैं । जिह्वा के चटोरपन की तरह यौन-कार्य में भी अति बरतते हैं और प्रारब्धवश उसका कठोर दण्ड सहते हैं । जीवनी-शक्ति के भण्डार को इस प्रकार नष्ट करने की उतावली बरतते हैं, मानो इसमें लाभ-ही-लाभ हो । चासनी में बेतरह टूट पड़ने वाली मक्खी इसी प्रकार अपने पर उसमें फँसाती और बेमौत मरती है । यही दशा कामुकों की होती है ।

मस्तिष्कीय कुशलता को, बलिष्ठता को बनाये रहने वाली जीवनी-शक्ति का भण्डार शुक्र सम्पदा के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है । कामुक व्यक्ति कुछ क्षण के रसास्वादन को देखता है और यह भूल जाता है कि शरीर और मन का सार तत्व इस ललक लिप्सा के निमित्त किस प्रकार बर्बाद किया जा रहा है । इस बर्बादी का प्रतिफल जननेन्द्रिय रोगों से लेकर समूचे शरीर में दुर्बलता के रूप में परिलक्षित होते देर नहीं होती । कामुकता की अति जवानी में ही बुढ़ापे को लाद देती है ।

पशु-पक्षियों की, अन्यान्य जीव-जन्तुओं की यौनाचार पद्धति पर दृष्टि डाली जाय, तो प्रतीत होता है कि मादा की गर्भधारण क्षमता जब उत्तेजित होती है, तभी उसका आभास पाकर नर, मादा की सहायता करता है, अन्यथा अपनी ओर से उसका कोई संकेत, कोई प्रयास इस निमित्त नहीं होता । वह सदा इस सन्दर्भ की उपेक्षा ही करता है, संयम ही अपनाता है । मादा के गर्भधारण करने के उपरान्त तो छेड़छाड़ का कोई प्रश्न ही नहीं उठता । मनुष्य स्तर के प्राणी प्रायः वर्ष में एक बार काम-सेवन करते हैं । इतने में गर्भाधान भी हो जाता है । इसके बाद मुद्दतों के लिए छुट्टी ।

मनुष्य के लिए कामुकता का प्रसंग वर्ष में एक बार आये तो पर्याप्त है । अति अपनाने का परिणाम जीवनी-शक्ति का अपव्यय तो प्रत्यक्ष ही है । जननेन्द्रिय की स्थानीय दुर्बलता और रुग्णता कम कष्ट नहीं देती । पुरुष की तुलना में स्त्री के प्रजनन अवयव कहीं अधिक कोमल हैं । वे अमर्यादित दबाव सहन नहीं कर सकते । टूट-फूट होने लगती है, तो उससे समूचा प्रजनन संस्थान क्षत-विक्षत होता है । समीपवर्ती अन्य अवयव भी उस टूट-फूट से प्रभावित होते हैं । मूत्राशय, गुर्दे, गर्भाशय, रीढ़, पेट, आँतें भी उस दबाव के कारण अपने ढंग के रोगों से आक्रांत होते हैं । इस स्थिति में जने गए बच्चे भी जन्मजात रुग्णता साथ लेकर आते हैं ।

स्वादेन्द्रिय और जननेन्द्रिय के वासना ग्रस्त होने पर असीम हानि उठाने की चर्चा ऊपर की पंक्तियों में है । अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है । वे अतिवाद की वासना के शिकार होकर अपनी-अपनी स्वस्थता और समर्थता को गँवाते चले जाते हैं । इस अनर्थ से बचना ही अच्छा है ।

नेत्रों से दिन के प्रकाश में ही काम करें । रात्रि में उन्हें विश्राम लेने दें । कानों को कोलाहल से बचायें । निरन्तर सुनते रहने की स्थिति से बचें । तीव्र सुगन्ध और दुर्गन्ध नाक पर बुरा असर डालती है और मस्तिष्क को अस्त-व्यस्त करती है । शरीर पर चिपका हुआ मैल त्वचा की सम्वेदनशीलता को नष्ट करता है । इन्द्रियों के वासना के कुचक्र में फँसकर नष्ट होने के साथ ही यह भी ध्यान रखा जाय कि उन्हें न निष्क्रिय रहने दिया जाय और न अतिवाद अपनाकर नष्ट-भ्रष्ट ही किया जाय ।

# काम-विकार का परिमार्जन करिए

मनुष्य के काम क्रोधादि छः रिपु हैं । इन सब में काम की गणना सर्वप्रथम की जाती है । यह मनुष्य को नानाविधि भाव नचाता रहता है । जो कोई भी इस नाच से त्रस्त हो उठता है वह इससे मुक्त होने का उपाय करता है पर बहुधा मुक्त होने पर भी अपने को असहाय पाता है ।

मैंने एक दिन मौका पाकर एक वृद्ध संन्यासी से यही प्रश्न पूछा । मैं उनकी परीक्षा नहीं ले रहा हूँ यह विश्वास उन्हें दिलाने के लिए मैंने स्वयं कहना शुरू किया । पार्वती जी को विवाह मण्डप में आते हुए देखकर सभी दर्शक मोहित हो गए थे । देवताओं ने उन्हें भगवान शिव की अर्द्धांगिनी और जगत्माता जानकर मन ही मन प्रणाम किया । महात्मा तुलसीदास जी ने स्वयं लिखा है—

जगदम्बिका जानि भव वामा ।
सुरन मनहिं मन कीन्ह प्रणामा ॥

देवता लोग जगत्माता के अप्रतिम एवं अलौकिक सौन्दर्य को देखकर मोहित हो गए और वे उन्हें मानसिक प्रणाम कर उस मोह से मुक्त हुए ।

यद्यपि उपर्युक्त घटना ऐतिहासिक नहीं है तथापि हमें अपने मोह को दूर करने का एक सरल उपाय बताती है । जहाँ कहीं भी हमें अपने चित्त को मोहने वाला सौन्दर्य दीखे तो (उसे परमात्मा का रूप जानकर) वहीं हम श्रद्धा और आदरपूर्वक मन ही मन प्रणाम करें और अपना मस्तक श्रद्धा से थोड़ा नीचा कर लें । मेरा विश्वास है कि यह आदरपूर्वक किया हुआ मानसिक प्रणाम हमारे मोह के वेग को अवश्य ही हल्का कर देगा ।

मानसिक प्रणाम के साथ मैं मस्तक को थोड़ा नीचा कर लेना आवश्यक समझता हूँ । मन और शरीर का अन्यान्य सम्बन्ध है । यदि शरीर से कोई भाव प्रकट किया जायेगा तो मन पर उसका कुछ न कुछ प्रभाव पड़ेगा ही । उसी तरह यदि मन में कोई भाव है तो शरीर के किसी न किसी लक्षण से, भले ही वह अत्यन्त सूक्ष्म हो, वह प्रकट होना ही चाहिए । इस रीति से जब मन के मोहाभिभूत होने पर भी हम अपने कर्तव्य का स्मरण रखकर शरीर से आदर-भाव प्रकट करते हैं अर्थात् श्रद्धापूर्वक अपना सिर तनिक झुका लेते हैं तो इस नमन का प्रभाव हमारे मन पर अनिवार्य रूप से पड़ता ही है । नमन का प्रभाव तो अमोघ है, अनिवार्य है । वह अपने पर पड़े हुए मोहावरण को भेद कर छिन्न-भिन्न करने में हमारी सहायता करता है ।

सम्भव है कोई कहे कि यदि नीच जाति में ऐसा सौन्दर्य दीखे तो क्या उसे भी वैसा ही प्रणाम किया जाय । मैं समझता हूँ कि अवश्य करना चाहिए । भगवान कृष्ण ने स्वयं कहा है "कि जो-जो भी विभूति युक्त अर्थात् ऐश्वर्य युक्त एवं कान्ति युक्त और शान्ति युक्त जो वस्तु है उसको तू मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुई जान ।"

(गीता १०-४१)

अतएव इस कारण ही हमें सौन्दर्य और शोभा को प्रणाम करने में संकोच न करना चाहिए ।

मैं नहीं समझता कि किसी को भी किसी भी अन्य जाति की स्त्री को मानसिक प्रणाम करने में क्यों संकोच होना चाहिए । प्रणाम से तो सौहार्द्र भाव बढ़ेगा ही और कटुता दूर होगी । प्रणाम से हमारे विकार शान्त होंगे ।

जिन लोगों पर मेरा कुछ प्रभाव पड़ता है, उन्हें मैं चार वस्तुओं को भी मानसिक प्रणाम करने को कहता हूँ । मेरे लिए मानसिक प्रणाम के पात्र हैं—मजदूर, मेहतर, मस्जिद और महिला । इस विधि प्रणाम करने से मैंने अनुभव किया है कि मेरा गर्व बहुत कुछ दूर हुआ है ।

हिन्दू को तो किसी भी जीवधारी को प्रणाम करने में न झिझकना चाहिए । वह तो वृक्ष, बाराह आदि निकृष्ट कही जाने वाली योनियों में भी भगवान का अवतार लेना मानता है । जो समस्त विश्व को 'सियाराम मय' देखना चाहता है उसे तो यह हिचक छोड़नी ही पड़ेगी । अन्यथा यह हिचक उसे कभी आगे न बढ़ने देगी ।

तुलसीदासजी की नम्रता तो देखिए । वे कहते हैं—

जड़ चेतन मय जीव जत, सकल राममय जानि ।
बन्दौं सबके पद कमल, सदा जोरि जुग पानि ॥

जिसने सब जीवों को प्रणाम किया उसके हृदय में गर्व कहाँ रहा ? फिर नारी-कुल के लिए भी उसके हृदय में काम-विकार कहाँ रहा ? यदि ऐसा भाव रखने के कारण ही उस महापुरुष को भगवान दर्शन हुए हों तो कौन आश्चर्य !

शरीर शास्त्र और मनोविज्ञानवेत्ता यह बताते हैं कि नर-नर का सान्निध्य, नारी-नारी का सान्निध्य मानवीय प्रसुप्त शक्तियों के विकास की दृष्टि से इतना उपयोगी नहीं, जितना भिन्न वर्ग की समीपता । विवाहों के पीछे सहचरत्व की भावना ही प्रधान रूप से उपयोगी है । सच्चे सखा, सहचर की दृष्टि से परस्पर हँसते-हँसाते जीवन बिताने वाले पति-पत्नी यदि आजीवन काम-सेवन न करें, संयमपूर्वक रह सके, तो भी एक-दूसरे की मानसिक एवं आत्मिक अपूर्णता को बहुत हद तक पूरा कर सकते हैं । मनुष्य में न जाने क्या ऐसी रहस्यमय अपूर्णता है कि वह भिन्न वर्ग के सहचरत्व से अकारण ही बड़ी तृप्ति और शान्ति अनुभव करता है, जबकि अविवाहित जीवन में कई बार सब प्रकार की सुविधाएँ होते हुए भी एक अतृप्ति और अशांति बनी रहती है, किन्तु विवाह के बाद एक निश्चिन्तता-सी अनुभव होती है ।

वस्तुतः यह एक मनोवैज्ञानिक पहलू है, जिसका तत्वदर्शन यदि समझ लिया जाय, तो यह समझते देर न लगेगी कि वैवाहिक जीवन में लोग निश्चिन्तता महसूस क्यों करते हैं । विवाह का इन दिनों एक फूहड़ अर्थ काम-सेवन से लगाया जाने लगा है, पर यदि तनिक इससे ऊपर स्तर पर उठकर विचार करे, तो ज्ञात होगा कि इसके मूल में वह अगाध विश्वास ही आधारभूत तत्व है, जो उसे आश्वस्त करता है कि पत्नी के रूप में एक ऐसी सहचरी उसको मिली है, जो उसका साथ पग-पग पर हर पल देती रहेगी । बस व्यक्ति निश्चिन्त हो जाता है और अपनी समर्थता दूनी ही नहीं, दस गुनी अनुभव करता है । एकान्त के जीवन में शून्यता थी, उसकी पूर्ति तब होती है, जब यह विश्वास बन जाता है कि हम अकेले नहीं, विश्वस्त साथी को लेकर चल रहे हैं, जो हर मुसीबत में सहायता करेगी और प्रगति के हर स्वप्न में रंग भरेगी । यह आस्था मन मे उतरते ही मनोबल चौगुना बढ़ जाता है और उत्साह भरी कर्मठता एवं आशा भरी चमक से जीवनक्रम में एक अभिनव उल्लास दृष्टिगोचर होता है । यह विवाह का बहुत बड़ा लाभ व पक्ष हुआ, जिसका सद्गृहस्थ अधिकाधिक फायदा उठाते हैं । यों शादी का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पहलू भी है, जिसके द्वारा उभयपक्षीय सूक्ष्म शक्ति का अतिमहत्त्वपूर्ण प्रत्यावर्तन पति-पत्नी के बीच सम्भव है, पर यह विज्ञानपरक प्रक्रिया हर किसी के लिए शक्य नहीं । इसका लाभ तो इस विद्या का कोई निष्णात ही भली-भाँति उठा सकता है, अन्यथा इन दिनों तो यह, शक्ति की फुलझड़ी जलाकर स्वयं को खोखला करने जैसा कौतुक बनकर रह गई है ।

महात्मा गाँधी कहा करते थे कि काम-सेवन विवाहित जीवन में आवश्यकतानुसार मर्यादाओं के अन्तर्गत होता रहे, तो उसमें कोई बड़ा अनर्थ नहीं है, पर उसे आवश्यक या अनिवार्य न माना जाय । इसमें कोई कठिनाई भी नहीं, हर एक के लिए सरल और सहज है, यदि वे अपनी मनःस्थिति को तनिक ऊँची भूमिका में ले जायें और परस्पर दो पुरुष या दो नारी की तरह घनिष्ठतापूर्ण व्यवहार करने लगें, तो कामना और वासना की वह कुदृष्टि पनप ही नहीं पायेगी, जो जनमानस में इन दिनों सन्निपात की तरह सवार देखी जाती है । उन्होंने अपने उत्तरार्द्ध जीवन में इस प्रकार के कई प्रयोग भी किए और सफल रहे । अपनी इसी संरक्षित शक्ति के कारण वे चाहे जिस किसी को भी अपनी ओर आकर्षित करने में सदा समर्थ सिद्ध हुए । उनकी इस विलक्षण-शक्ति से ही डरकर अंग्रेजों ने उनके बारे में घोषणा करवा दी थी कि कोई भी अंग्रेज उनसे आँखें न मिलाये, अन्यथा वह उसे सम्मोहित कर लेगा । यह समर्थता तब पैदा होती है, जब शक्ति का संचय हो । अपव्यय तो व्यक्ति को अपंग और असमर्थ जैसी स्थिति में पहुँचा देता है ।

आज यही हो रहा है । दृष्टि कुदृष्टि में बदल जाने के कारण विवाह, पवित्र पाणिग्रहण न होकर देहाकर्षण बनकर रह गया है । यह विवाह घृणित ही नहीं, अगरिमामय भी है । इससे वैवाहिक जीवन में अनेकों ऐसे संकट उठ खड़े होते हैं, जिससे जीवन-संकट का अविरल-तरल की तरह लुढ़कना असम्भव हो जाता है । अतः विवेकवान पुरुष रूप-रंग, शोभा-सौन्दर्य के आधार पर उत्पन्न हुए आकर्षण को क्षणभंगुर आवेश मात्र मानकर उससे स्वयं बचते और दूसरों को बचने

की सलाह देते हैं । उनके इस तथ्य पर यदि गहराई से विचार किया जाय, तो इसके पीछे चमकीले साँप को श्रेष्ठ व सुन्दर मानकर पकड़ बैठने की मूर्खता करने जैसा गम्भीर दर्शन ही दृष्टिगोचर होगा । इसी कारण वे अन्तराल की उत्कृष्टता को विवाह-बन्धन का आधार मानते और औरों को इसी कसौटी पर शादी करने की सलाह देते हैं, किन्तु इन दिनों तो इस सन्दर्भ में उलटबासियों का ही बाजार गर्म है, जो श्रेष्ठ और उत्कृष्ट है, उसे निकृष्ट मान लिया जाता है, तथा जिसमें सुन्दर साँप की तरह घातक हलाहल भरा है, उसे आकर्षक व अच्छा बता दिया जाता है । यह प्रवृत्ति अत्यन्त विघातक है । यदि तीखे नाक-नक्श ही अच्छे साथी की कसौटी बन गए, तो फिर आन्तरिक स्तर की उदात्तता का क्या मूल्य रह जायेगा ? फिर भावनाओं की, सद्गुणों की, स्नेह-सौजन्य की कीमत कौन आँकेगा ?

गेटे की एक कविता है, जिसमें बड़ी सुन्दर भावाभिव्यंजना की गई है । प्रेमी, प्रेमिका से कहता है "यह देह तो अन्ततः मिट्टी में मिल जायेगी, पर इसकी कर्मठता सदा अविस्मरणीय बनी रहेगी, दूसरों को प्रेरणा देती रहेगी, हाथों की भवितव्यता को भी गल-जल कर समाप्त होना है, पर इसकी कुशलता लोगों के मन-मस्तिष्क में अक्षुण्ण बनी रहेगी । पैर भी अब असमर्थ हो चले हैं, किन्तु समाज को इसने जो गति व दिशा दी है, वह निश्चित रूप से अभिनन्दनीय होगी और चिरस्थायी बनकर रहेगी । कानों ने सदा अच्छे सुने । आँखों ने सर्वत्र सुदर्शन किए । चिन्तन-चेतना ने इन्हीं को सुन्दर काव्य का रूप दिया । वाणी ने जब इसकी तान छेड़ी, तो वह इतना मधुमय और महान बन गया कि अमर-गीत की तरह लोगों के दिलों में स्थायी स्थान बना लिया । अतः हे प्रियतमे ! तुम मेरे इस नाशवान शरीर से नहीं, वरन् अनश्वर ऐश्वर्य से, आभ्यन्तरिक गुणों से अनुराग कर । तुम्हारे लिए यही अभीष्ट और उचित है ।"

कितना उच्चकोटि का आदर्श है इस प्रेमी का । वह शारीरिक आकर्षणों में विश्वास नहीं रखता, अपितु सद्गुणों का उपासक है और इसी की पूजा की, प्रेम की शिक्षा वह अपनी प्रेयसी को देता है । इस स्तर के विवाह ही ज्यादा सफल होते देखे जाते हैं । जहाँ बाह्य देहाकर्षण को प्रमुखता दी जाती है, वहाँ निष्ठा और श्रद्धा साथी के प्रति देर तक टिकी नहीं रह पाती और प्रतिफल विवाह-विच्छेद के रूप में, तलाक के रूप में सामने आता है । यदि स्थिति इतनी न भी बिगड़ी हो, तो भी इस दृष्टिकोण पर आधारित विवाह में पति-पत्नी के आपसी सम्बन्ध मधुर नहीं रह जाते और आये दिन तीखी नोक-झोंक होती ही रहती है । ऐसे उथले आधार पर प्रतिष्ठित विवाह में व्यक्ति सत्य और शिव पर तो ध्यान नहीं देता, पर किसी "सुन्दरम्" के सामने आते ही मन लट्टू हो जाता है । बस, यहीं से कलह और कटुता की शुरुआत होती है और तब तक जारी रहती है, जब तक व्यक्ति इस तथ्य को भली-भाँति हृदयंगम न कर ले कि स्थिर सुन्दरता भीतरी ही हो सकती है, बाहरी नहीं ।

यह विवेक जितनी जल्दी आ जाय, उतना ही अच्छा । यों विवाह प्रथा का शुभारम्भ प्राचीन समय में जब भी हुआ होगा, इसके पीछे मुख्य भावना स्नेह-सौजन्य, सहयोग-सहकार की ही रही होगी और पृष्ठभूमि में एक-एक मिलकर ग्यारह बनने एवं दूने काम एक साथ सम्पादित करने का तत्वदर्शन प्रधान रहा होगा । वंश-वृद्धि करने और वंशावली चलाने का प्रयोजन तो गौण होगा, क्योंकि इसकी उपयोगिता और आवश्यकता तो कुछ क्षण में पूरी की जा सकती है, और फिर मनुष्य कोई मक्खी, मच्छर जैसे बच्चे जनने वाला प्राणी तो है नहीं । इसके जिम्मे बहुतेरे महत्त्वपूर्ण कार्य हैं । अतः निश्चित रूप से इस प्रचलन के पीछे प्रजनन अप्रधान रहा होगा । तभी तो ग्रन्थों में इसे पवित्र विवाह-बन्धन का नाम दिया गया है । यदि इसमें काम-लिप्सा, शरीर-लिप्सा जैसे हेय उद्देश्य ही अभीष्ट रहे होते, तो इसके आगे इस परिपाटी के प्रवर्तकों ने कभी भी "पवित्र" शब्द लगाने की नासमझी नहीं की होती ।

कामुकता प्रधानतया मानसिक है । इसीलिए इसे 'मनसिज' कहा गया है । वैज्ञानिक मान्यता के अनुसार यों तो मनुष्य एक सामान्य शरीर है । उसमें लिंग परिवर्तन कुछ रसायनों की न्यूनाधिकता से होता है । जन्मजात रूप से जननेन्द्रियों की बनावटों में अन्तर भर होता है, किन्तु कामुकता का उभार तथा प्रजनन पूर्णतया उन विशिष्ट रसायनों के आधार पर होता है, जिन्हें हारमोन कहते हैं ।

हारमोनों में कितने ही स्तर के हैं और वे शारीरिक मानसिक विकास में काम आते है । उनकी न्यूनाधिकता स मनुष्य का गठन सामान्य न रहकर असामान्य हो जाता है । कभी-कभी लम्बाई छः-सात फुट को भी पार कर जाती है और कभी-कभी उनमें अवरोध उत्पन्न होने पर वह तीन फुट जितना बौना भी रह जाता है । अशक्तता एवं सशक्तता भी बहुत कुछ इन्हीं पर अवलम्बित रहती है ।

यौन प्रयोजनों में इनका बड़ा हाथ है । स्वाभाविक विकास न होने पर मनुष्य देखने मे स्वस्थ प्रतीत होते हुए भी नपुंसक स्तर का रह जाता है । यह व्यथा पुरुषों की भाँति स्त्रियों में भी पायी जाती है ।

एन्ड्रोजन्स हारमोन की बहुलता से पुरुषोचित्त कामुकता विकसित होती है और कभी-कभी वह मर्यादाओं का अतिक्रमण भी करती देखी गई है । स्त्री प्रवृत्ति को उभारने में प्रोजेस्ट्रॉन हारमोन्स का हाथ है । वह अधिक हो तो कामुक चंचलता और अतृप्ति बनी रहती है । कम होने पर लज्जा, भय, उपेक्षा और खेद की प्रवृत्ति पायी जाती है ।

इन दिनों इसका मनोवैज्ञानिक कारण भी है । पुरुष स्त्रियों का कामुक चिन्तन अधिक करते हैं और स्त्रियाँ पुरुषों सम्बन्धी चिन्तन में अधिक रुचि लेती हैं । इसका परिणाम सामान्यतः यह होता है कि स्वाभाविक प्रवृत्ति में अन्तर पड़ना आरम्भ हो जाता है । कड़ी मेहनत वाले खेलों में अधिक तत्परता दिखाने वाली युवतियों के चेहरे पर बाल उगने लगते है और आवाज पुरुषों जैसी भारी हो जाती है । अन्य महिला अवयवों में भी इस आधार पर अस्वाभाविकता आ जाती है । पुरुषो के चिन्तन पर यदि नारी अवयवो का आकर्षण छाया रहे तो वे भी विपरीत स्तर की प्रवृत्ति अपनाने लगते हैं ।

लिंग परिवर्तन की घटनाएँ पूर्व काल में होती थीं या नहीं इसका कोई निश्चित इतिहास नहीं है । मात्र इतनी ही जानकारी है कि पुरुषों में एक वर्ग "हिजड़ा" स्तर का होता है और वह नर या नारी में से किसी की भी भूमिका नहीं निभा सकता, पर अब जबकि चिकित्सा विज्ञान का अधिक विकास हुआ है और शल्य चिकित्सा अपने चमत्कार दिखाने लगी है तो पुरुष वर्ग में से बहुतो में स्त्री जननेन्द्रिय उभरने की सम्भावना क्रमशः तेजी से बढ़ रही है जबकि स्त्रियों के पुरुष बनने के अवसर कम मिलते हैं । उसमें शल्य क्रिया एक बार में ही पूरी नहीं हो जाती । वरन् थोड़ा-थोड़ा करके उस प्रकरण को कई बार में निपटाना पड़ता है ।

इस सन्दर्भ में न केवल प्रजनन संस्थान में पाये जाने वाले अवयवों को ही सारा श्रेय जाता है वरन् मस्तिष्क में विद्यमान पिट्यूटरी और पीनियल ग्रंथियों की भी अपनी विशेष भूमिका है । वे एक-दूसरे के प्रति आकर्षण उत्पन्न करती हैं । जिसमें पसीने की गंध, साँस आदि में रहने वाले तत्वों का भी आकर्षण सम्मिलित है । इच्छित रंग रूप का भी । यदि यह मानसिक ग्रन्थियाँ पारस्परिक आकर्षण उत्पन्न न करें और अभीष्ट चुम्बकत्व उत्पन्न न करें तो यौनाचार भी शिथिल पड़ जाता है और सन्तानोत्पादन की सम्भावना भी घट जाती है ।

दाम्पत्य जीवन की सफलता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि पति-पत्नी एक-दूसरे के लिए घनिष्ठता उत्पन्न करें । इस प्रयास में प्रकृतिगत न्यूनाधिकता की पूर्ति भी सहज ही होने लगती है । ब्रह्मचर्य पालन ही अकेली ऐसी विधा है जिससे हारमोनों में उभार सहज ही शिथिल होने लगते हैं । उद्देश्य सामने रहने पर मन की उछल-कूद भी समाप्त हो जाती है और तब वासना पर नियन्त्रण सहज ही सधने लगता है ।

## तृष्णा : दुर्गति की गहरी खाई

आवश्यकताओं को पूरा करना एक बात है और अपव्यय में उड़ाने, ठाट-बाट बनाने और संग्रह करने की प्रवृत्ति सर्वथा दूसरी । इनमे से प्रथम को उचित और दूसरी को अनुचित ठहराया गया है ।

आवश्यकताओं का कोई मापदण्ड होना चाहिए, अन्यथा विलासिता और शेखीखोरी को भी अपनी विशिष्टता बताते हुए आवश्यकताओं की श्रेणी मे गिना और गिनाया जा सकता है । अपनी प्रकृति ही ऐसी बन गई है, अपना स्वभाव ही ऐसा हो गया है, जिसे मजबूरी बताकर अमीरों जैसी सजधज को भी सही बताया जा सकता है, उसे प्रतिष्ठा का प्रश्न कहा जा सकता है । कहीं अदालत में तो जवाब देना नहीं है, अपने मन को समझाना और दूसरों का मुँह बन्द करना भर है । ऐसी दशा में कोई कुछ भी कर सकता है और शान-शौकत को भी आवश्यक ठहराया जा सकता है ।

उचित आवश्यकता का मापदण्ड यह है कि वह औसत नागरिक स्तर की होनी चाहिए । औसत नागरिक का अर्थ है अपने देशवासियों में से मध्यम वर्ग के लोगों जैसा रहन-सहन । अपने देश में भी धन-कुबेर रहते हैं और दरिद्रनारायण भी । इन दोनों वर्गों को अतिवादी या अपवाद कहा जा सकता है । औसत अर्थ होता है—मध्यम वर्ग । अपने देशवासियों का उल्लेख करने का अर्थ यह है कि जिस समुदाय में रहा जा रहा है, उसकी स्थिति का आकलन । अमेरिका, जापान, फ्रांस, जर्मनी, कुवैत जैसे देशों की बात छोड़ी जा सकती है क्योंकि वहाँ का सामान्य व्यक्ति भी यहाँ के असामान्यों से बढ़कर होता है । इसी प्रकार वनवासी कबीलों की बात भी छोड़ी जा सकती है, वे तो कपड़े के अभाव में पत्तों के परिधान बनाकर ही शरीर ढक सकते हैं । औसत आदमी न दरिद्र होता है, न सम्पन्न । यही है औसत नागरिक की परिभाषा, । इसी स्थिति में अपनी, अपने परिवार की स्वस्थता, शिक्षा, चिकित्सा, आतिथ्य जैसी जरूरतों की पूर्ति हो सकती है । इससे कम की अभावग्रस्त स्थिति में स्थिरता और प्रगति रुकती । इससे अधिक ऊँचा स्तर होने पर अनेक प्रकार की उलझनें उलझतीं और समस्याएँ खड़ी होती हैं ।

तृष्णा का परामर्श और दबाव यह है कि अपने पास सम्पदा का बड़ा भण्डार होना चाहिए, जिससे बुढ़ापा चैन से कट सके । परिवार को बैठे-ठाले ब्याज-भाड़े की आमदनी से निर्वाह करते रहने का अवसर मिले । उन्हें व्यय की व्यवस्था बनाने के लिए परिश्रम पुरुषार्थ न करना पड़े ।

यह दृष्टिकोण आकर्षक और निश्चिन्तता उत्पन्न करने वाला उचित प्रतीत होता है, पर है यह अर्थशास्त्र के सर्वथा विपरीत । संसार में दौलत सीमित मात्रा में है । वह इतनी है कि सभी लोग अपनी जरूरतें पूरी करते रहें, जीवन की नाव खेते रहें । प्रकृति इतना ही उत्पादन करती है । अमीर बनने का अर्थ है दूसरे असंख्यों को गरीबी की स्थिति मे रहने के लिए विवश करना, स्वयं परिश्रम न करना, अपनों को न करने देना अर्थात् उनके बदले का काम अतिरिक्त रूप से दूसरों पर लादने का माहौल बनाना । उत्पादन के साथ श्रम जुड़ा हुआ है । यह श्रम आमतौर से निर्वाह के साधन जुटाने के लिए ही किया जाता है । हर उपभोक्ता को अपनी आवश्यकताएँ जुटाने के अनुरूप श्रम भी करना चाहिए । अमीरी का दर्शन इस स्वाभाविकता के सर्वथा विपरीत है । अमीर उपभोग के लिए ही नहीं, संग्रह के लिए भी दौलत चाहता है । साथ ही उसकी इच्छा यह भी होती है कि उपार्जन के लिए कठोर श्रम न करना पड़े । यह प्रकृति विरुद्ध इच्छा कैसे पूरी हो । इसके लिए उसे जो तरीके अपनाने पड़ते हैं, उसमें से अधिकांश अनैतिक होते हैं । साथ ही निष्ठुर व्यक्ति ही अधिकाधिक खर्च करने की बात सोच सकता है, क्योंकि हर किसी के लिए सामाजिक ऋण चुकाना भी आवश्यक है । इसके लिए उदारता अपनाने, पिछड़ों को उठाने के लिए सहायता करने की आवश्यकता पड़ती है, जो उस ओर से आँखें बन्द किए रहेगा, उसी के लिए यह सम्भव है कि विलासी और संग्रही बने ।

व्यक्ति पूर्णतया आत्म-निर्भर नहीं है । उसे दूसरे असंख्यों की सहायता से अपना सन्तुलन बिठाना पड़ता है । अन्न, वस्त्र, औषधि, शिक्षा, शिल्प आदि कोई व्यक्ति मात्र अपने प्रयत्न से प्राप्त नहीं कर सकता । प्रयुक्त होने वाली प्रायः सभी वस्तुएँ दूसरों द्वारा विनिर्मित होती हैं । उन्हें भले ही मूल्य देकर खरीदा गया हो, पर हैं निश्चित रूप से ऐसी, जिन्हें स्वयं विनिर्मित नहीं किया जा सकता । सुई से लेकर कलम तक हर वस्तु विनिर्मित होने में असंख्यों का श्रम और कौशल जुड़ा होता है । उनकी पूरी कीमत कोई नहीं चुका सकता । खरीदने मे जो दिया जाता है, वह तो प्रतीक मात्र है । उसे सामाजिक अर्थव्यवस्था भी कह सकते हैं, पर मात्र उतना देकर पूरी तरह कोई उऋण नहीं हो सकता । इसके लिए समूचे समाज का हमें कृतज्ञ होना चाहिए । अन्य लोगों के कौशल का लाभ तो उठाते रहा जाय, किन्तु अपने अनुदान से समाज का हित करने में कृपणता बरती जाय, तो वह कृतघ्नता भी होगी और निष्ठुरता भी ।

कोई व्यक्ति उचित खर्च से अधिक कमाता है, तो विश्व परिवार का सदस्य होने के नाते हर व्यक्ति का कर्तव्य हो जाता है कि उस बचत को उनके लिए खर्च करे, जो अभी भी पिछड़ी हुई स्थिति में पड़े हुए है । दो नालियों के बीच यदि एक नीची बना दी जाय, तो ऊँचा पानी नीचे की ओर बहने लगेगा और

बहाव तब तक जारी रहेगा, जब तक कि सतह एक-सी नहीं हो जाती । मनुष्य जाति में भी यही प्रथा-परम्परा चलनी चाहिए कि ऊँची उठी हुई स्थिति वाले अपने साधनों को उन्हें देते रहें, जो नीचे हैं, पिछड़े हैं । यह भी दैनिक आवश्यक्ताओं में सम्मिलित होना चाहिए । इसे भी कर्तव्य और दायित्व समझना चाहिए ।

दूसरे के घर में पत्नी, बड़ी वयस्क लड़की जब अपने घर वधू रूप में मुक्ति मिल सकती है, तो अपना भी फर्ज हो जाता है कि पुत्री को दूसरे का घर सँभालने के लिए उसी प्रकार दे दें। पाने की तरह देना भी आवश्यक है । यही प्रकृति परम्परा है । हमें भी इसका निर्वाह करना चाहिए । समाज के ऋण से ऋणी मनुष्य के लिए यह भी उचित है । उस समुदाय को सुखी समुन्नत बनाने के लिए अपने उपार्जन का, साधन का एक बड़ा हिस्सा अन्यों के लिए अनुदान स्वरूप प्रदान करें । तृष्णा के दलदल में फँसा हुआ व्यक्ति यह नहीं कर सकता । उसकी निजी हविश ही इतनी बढ़ी-चढ़ी होती है कि अपने उपार्जन के अतिरिक्त अन्यों के अधिकार हड़पने के उपरान्त भी उसकी पूर्ति न हो सके । फिर देने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

मनुष्य की संरचना ऐसी है कि वह एक सीमित मात्रा में ही साधनों का उपयोग कर सकता है । पेट भरने के लिए प्रायः सीमित मात्रा में ही आहार लिया जाता है । तन ढकने को कपड़ा भी सीमित मात्रा में ही अभीष्ट होता है । बिस्तर की परिधि भी समान होती है । इतना ही हजम भी हो सकता है । जो अति मात्रा में हड़पेगा, वह चोर की तरह दण्ड भुगतेगा । अधिक आहार, अधिक वस्त्र, अधिक बिस्तर का प्रयोग करने पर सुविधा के स्थान पर संकट ही खड़ा होगा ।

धन के सम्बन्ध में भी यही बात है । सर्व साधारण की तुलना में जिसके पास भी अधिक होगा, वह अनेकों मुसीबतों में घिरेगा । ईर्ष्यालु इसे चैन से न बैठने देंगे और नीचा दिखाने के षड्यन्त्र बनाते रहेंगे । कर्ज और चन्दा माँगने वाले, हिस्सा बँटाने वाले अपने-अपने ढंग की घात चलेंगे । अत्यधिक उपयोग दुर्व्यसनों में हो सकता है । नशेबाजी, आवारागर्दी, शेखी जैसी कुटेवें पीछे लगेंगी । व्यभिचार की दिशा में कदम बढ़ेंगे । चापलूस, ठग, मित्र बनकर शत्रु जैसी घात करेंगे । मुकदमेबाजी, बीमारी, अय्याशी जैसे कामों में पैसा पानी की तरह बहेगा । इस प्रकार खोटी कमाई, खोटे रास्ते ही अपने आप चले जाने की राह बना लेगी । अपने पल्ले हर घड़ी उद्विग्न रहने की स्थिति ही बनी रहेगी । आन्तरिक अशान्ति से शारीरिक और मानसिक क्षेत्र खोखले बनते हैं और गरीबों की अपेक्षा कहीं अधिक जल्दी संसार से बिस्तर गोल करना पड़ता है ।

यह सोचना व्यर्थ है कि सन्तान पर अधिक खर्च करने, अधिक सुविधा देने से वे समुन्नत बनेंगे या देने वाले के प्रति कृतज्ञ रहेंगे । तृष्णा अपने तक ही सीमित नहीं रहती, वह उत्तराधिकारियों तक भी चली जाती है । वे प्रयत्न करते हैं कि जो कुछ पूर्वजों के पास है, वह अधिक जल्दी मिल जाय । इसलिए उन्हें वृद्ध अभिभावकों को निःस्वत्व बनाना पड़ता है, ताकि उन्हें मिलने वाली राशि कहीं अन्यत्र न चली जाय । मन ही मन उनके मरने की कामना करते है ताकि जो देर से मिलना है, वह जल्दी ही मिल जाय । देखा गया है कि बाप-दादों की सम्पदा के बँटवारे पर आये दिन कलह मचते, मुकदमे चलते और खून-खराबी तक के षड्यन्त्र बनते हैं । इस प्रकार जिनके सुख के लिए कठोर परिश्रम ही नहीं, अनाचार भी अपनाया था, परमार्थ हेतु कलेजे को पत्थर जैसा कठोर बनाकर रखा गया था, वे भी उसका अहसान नही मानते, वरन् अपना हक कहते हैं और कम देने का अन्यत्र खर्च कर देने का इल्जाम लगाते हैं । उनका स्वभाव और चरित्र भी गए-गुजरे स्तर का बन जाता है, जिसके कारण वे स्वावलम्बी, सदाचारी और प्रगतिशील बनने से वंचित ही रह जाते हैं । मुफ्त की सम्पदा किसी को हजम नहीं होती । वह पारे की तरह फूट-फूटकर निकलती है । पचती वही है, जो मेहनत और सही रास्ते से कमायी गई है । सन्तान को मौज करने की इच्छा से जो सम्पदा जोड़ते हैं, वे अपनी आँखों से ही उसकी व्यर्थता और दुष्परिणति देखते हैं, जिनके लिए बचपन में लाड़-दुलार में अन्धाधुन्ध खर्च किया गया है, वे बड़े होने पर फिजूलखर्ची की आदत से इस प्रकार जकड़ जाते हैं कि उन्हें सदा अभावग्रस्त स्थिति ही दीखती रहती है । उस गड्ढे को भरने के लिए उचित-अनुचित सभी कुछ बटोरते और फिजूलखर्ची मे उड़ाते हुए सदा खाली हाथ रहते है ।

तृष्णा का कुचक्र इतना बड़ा, इतना अशान्त और इतना भयानक है कि उसे अपनाकर मौज-मजा करने के दिवास्वप्न निष्फल ही सिद्ध होते रहते हैं।

शरीर के सभी अंग सन्तुलित हों, तभी सुन्दर-सुडौल बनते हैं। सब अंग सामान्य हों और कोई एक अवयव फूला हुआ, सूजा हुआ, बढ़ा हुआ हो, तो वह स्वयं तो कुरूप लगेगा ही, समूचे शरीर की शोभा बिगाड़ देगा। सामान्य लोगों के बीच एक व्यक्ति असामान्य होकर रहे, तो वह प्रशंसा का पात्र नहीं बनता और न सम्मान पाता है, वरन् निन्दा और ईर्ष्या का भाजन बनता, अनेकों लांछन ओढ़ता है, स्वार्थी, कृपण, निठुर आदि समझा जाता है। कोई जमाना था, जब अमीरों को भाग्यवान, पूर्वजन्म का पुण्यात्मा समझा जाता था, पर अब तो बात बिल्कुल उल्टी हो गई है। साम्यवादी सिद्धान्तों की पैठ मन में गहराई तक हो गई है। सम्पन्नों को शोषक-बेईमान आदि के लांछन ही सहने पड़ते हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि तृष्णातुर व्यक्ति अपनी समूची सम्पत्ति स्वार्थ सिद्धि में ही लगा देता है, परमार्थ के नाम पर कुछ ठोस कदम उसकी संकीर्णता उठाने ही नहीं देती, झूठी वाहवाही लूटने के लिए कुछ अपवाद भले ही करता रहे।

## अहंकार में घाटा ही घाटा

स्व के विकृत बोध को ही अहंकार कहते हैं। वह आत्म-तत्व से न जुड़कर भौतिक सम्पदाओं के साथ जुड़ा होता है। दूसरों की तुलना में अपने को विशिष्ट मान बैठने पर अहंता की उत्पत्ति होती है। बलिष्ठता, सुन्दरता, सम्पन्नता, पद, अधिकार आदि उसके कारण हो सकते हैं। कई बार भ्रम भी उसका निमित्त बना हुआ होता है। जाति-पाँति के आधार पर कई अपने को ऊँचा मानते हैं। इस आधार पर दूसरे नीच या हेय प्रतीत होने लगते हैं और अहंकार जड़ जमा लेता है।

अपनी अहंता प्रकारान्तर से दूसरों को हेय या हीन गिनने लगती है। अपनी मान्यता को दूसरों को गले उतारने के लिए वह अपने साधनों का उद्धत प्रयोग करती है, ताकि उनकी ओर अन्यान्यों का ध्यान आकर्षित हो, वे उसे देखें, समझें और बड़प्पन स्वीकार करें। इस प्रकार की स्वीकृति तभी बन पड़ती है, जब उसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिले। साधारण स्थिति बनी रहने पर तो ध्यान उस ओर जाता नहीं। इसलिए कुछ न कुछ उद्धत आचरण अहंकारी को करना पड़ता है, अन्यथा दूसरे क्यों उसका बड़प्पन स्वीकार करें ? क्यों दबें ? क्यों डरें ? क्यों गिड़गिड़ायें ? क्यों ललचाएँ ? अहंकार इस हेतु उद्धत आत्म-प्रदर्शन किए बिना नहीं रहता। कुछ नहीं तो आत्मश्लाघा सहित अपना बखान स्वयं ही करने लगता है। ऐसी घटनाओं का सच्चा-झूठा वर्णन करता है, जिससे उसकी छाप सुनने पर पड़े और समीपवर्ती उसका लोहा मानने के लिए बाधित हों। इस कार्य के लिए हर घड़ी तो प्रशंसा-कृत्य के लिए साथी-सेवक रखे नहीं जा सकते। इसलिए आतुरता इस रास्ते फूटती है कि अपनी बात या क्रिया में ऐसा पुट लगा रहे, जिसमें उसकी विशिष्टता से दूसरों को अवगत होते रहना पड़े। जब कभी अपने साथ तुलना करें, तो समझें कि इनकी स्थिति मेरी अपेक्षा कहीं अच्छी है। इसलिए इनके सामने मुझे दबकर रहना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया जाता, तो अहंकारी इसमें अपना अपमान मानता है, तिरस्कृत-उपेक्षित अनुभव करता है, इसमें मानहानि की गंध सूँघता है और जिसने महत्ता स्वीकारने में उपेक्षा दिखाई, उसे अपना शत्रु तक मानने लगता है। इसका बदला वह नीचा दिखाने का अवसर ढूँढ़कर करता है। जो हाँ में हाँ न मिलाए, जी हुजूरी न करे, उसके साथ वह ऐसा व्यवहार करता है, ऐसी चाल चलता है, जिससे उसे तिलमिलाने का दण्ड भुगतना पड़े। अहंकारी के पास स्नेह-सौजन्य नहीं रहता। सज्जनता, विनयशीलता, नम्रता का तो अस्तित्व ही नहीं रहा। नशे की खुमारी जिस प्रकार पियक्कड़ को अस्त-व्यस्त, अनगढ़ बना देती है, लगभग उससे मिलती-जुलती स्थिति अहंकारी की बन जाती है। यह असामान्य स्थिति, मिथ्या प्रवंचना उसके लिए अन्ततः घातक सिद्ध होती है, जो इस रंग में अपने को रंग लेता है, सनक की तरह इस दुर्गुण को अपना लेता है।

अहंकार हल्की मात्रा में हो या बड़ी मात्रा में, उसका प्रभाव दूसरों पर बुरा ही पड़ता है, उसे उद्धत माना जाता है, सनकी समझा जाता है, प्रकट या अप्रकट में उसके प्रति अन्यों की मान्यता घृणा मिश्रित होती है, व्यक्तित्व का वजन उथले-बचकाने स्तर का समझा जाने लगता है। वस्तुस्थिति छिपी तो रहती नहीं, सभी जानते हैं कि किसी के पास कोई विशेषता

है, तो वही उसका लाभ उठाता रहेगा । अन्यों को उसमें भागीदारी नहीं मिलने वाली है । ऐसी दशा में कोई क्यों उसका लोहा माने ? क्यों दबाव स्वीकार करे ? क्यों मिथ्या आत्मश्लाघा का पोषण करे ? अपने को किसी के सामने गया—गुजरा मानने में उसकी भी तो हेटी होती है । ऐसी दशा में अहंकारी का सारा सम्पर्क क्षेत्र तनाव से भर जाता है । पियक्कड़ को देखकर लोग आत्म रक्षा के लिए चौकन्ने हो जाते हैं । उससे बचकर निकलते हैं । उसी प्रकार अभिमानी के प्रति सर्वसाधारण की मान्यता पाखण्डी जैसी बन जाती है । उसके साथ सहयोग करना तो दूर, सम्पर्क करने वालों में से हर एक की इच्छा होती है कि इस बला से जितनी दूर रहा जाय, उतना ही अच्छा । न उसका कोई हितैषी रहता है, न मित्र, न घनिष्ठ । मात्र चापलूस ही उसकी हाँ में हाँ मिलाकर उल्लू बनाते और साथ ही अपना कोई अनुचित स्वार्थ सिद्ध करते रहते हैं । उनकी पटरी ऐसे ही लोगों के साथ बैठती है । बार-बार ठगे जाते हैं । फिर भी अन्यत्र कहीं सहारा न मिलने के कारण ऐसे ही चाटुकारों के पास जा पहुँचते हैं और प्रकारान्तर से उन्हें रिश्वत देते या ठगे जाते रहते हैं ।

अहंकार एक भ्रान्ति है, जो आत्म-प्रदर्शन के लिए पग-पग पर पाखण्ड रचने के लिए प्रेरित करती है । जिनमें वस्तुतः कुछ विशेषताएँ होती हैं, जो वस्तुतः साधन-सम्पन्न, गुणवान या वरिष्ठ होते हैं, उनमें सज्जनता भी सहज ही साथ रहती है । सज्जनता का पहला लक्षण है—नम्रता, शिष्टता । दूसरा गुण है—हर किसी को यथोचित सम्मान प्रदान करना । जिनमें इनमें से एक भी गुण न हो, उसकी गणना दुर्जनों में होती है । मानवी गरिमा की दृष्टि से उसे गया-गुजरा माना जाता है । इस तथ्य से जो अवगत है, उसी को यथार्थवादी या बुद्धिमानी कहा जाता है । इसलिए सज्जन अपने में इन तीनों ही विशेषताओं को समुचित मात्रा में अपनाए रहकर अपना दृष्टिकोण और स्वभाव उसी ढाँचे में ढाल लेते हैं । उन्हें अभिमान आत्मघात जैसा प्रतीत होता है और उससे बचे रहने का सतर्कतापूर्वक प्रयत्न करते हैं । आत्म-निरीक्षण करते हुए पैनी दृष्टि से यह जाँचते रहते हैं कि कहीं अहंकार ने व्यक्तित्व के किसी पक्ष में डेरा डालना तो आरम्भ नहीं कर दिया । यदि किसी मात्रा में ऐसा हो रहा होता है, तो वे उसे हटाने के लिए बड़ा प्रयत्न करते हैं । इस दुःस्वभाव को पतन का गर्त मानकर उसमें गिरने से बचे रहते हैं ।

यह दुर्गुण कई बार इतने दबे पाँव आता है कि व्यक्तित्व पर अधिकार जमा लेने पर भी पकड़ में नहीं आता । फिजूलखर्ची के पीछे यही भावनाएँ काम करती हैं । अमीरी का विज्ञापन करके यह जताया जाता है कि वह सफल और चतुर व्यक्ति है, अन्यथा इतनी सम्पदा इसके पास कहाँ से आती, जो सामान्य खर्च की पूर्ति करने के उपरान्त उफनती और बर्बाद होती फिरे । ठाट-बाट ऐसे ही लोग जमा करते हैं । होटलों और क्लबों में ऐसी ही लोगों की घुसपैठ होती है । दावत देने, सैर-सपाटे पर निकलने के पीछे उनकी मंशा यही होती है कि दूसरे लोग समझें कि यह सामान्य नहीं, असामान्य स्तर के हैं । फोटो छपाने की ललक ऐसे ही लोगों की होती है । अपनी कृतियों का बढ़ा-चढ़ाकर ढिंढोरा पीटने-पिटवाने के बिना उन्हें चैन नहीं पड़ता । अहंकार का जाल-जंजाल ऐसा है, जिसमें फँस जाने वाला अपनी वास्तविक शक्तियों का इस प्रकार उद्धत प्रयोग करता है कि घाटा निरन्तर बढ़ता ही चले । जो कुछ पास में था, उसका सदुपयोग करके कुछ बना और बढ़ा जा सकता था, वह आत्म-प्रदर्शन के कुचक्र में ही बर्बाद हो जाता है । अहंकारी हर दृष्टि से घाटा ही घाटा उठाता है ।

जिस प्रकार दर्पण में देखकर चेहरे की गन्दगी साफ कर ली जाती है, उसी प्रकार आत्म-निरीक्षण द्वारा अपने चिन्तन और व्यवहार का निरीक्षण-परीक्षण करके यह देखना चाहिए कि स्वभाव में अहमन्यता के दुर्गुण का समावेश तो नहीं होने लगा, नम्रता, शिष्टता और सज्जनता का स्तर घटने तो नहीं लगा, प्रदर्शन की ललक ने अन्तराल में अड्डा जमाना तो आरम्भ नहीं कर दिया । यदि ऐसा हो, तो उचित यही है कि समय रहते आत्म-शोधन कर लिया जाय ।

## आलस्य-प्रमाद को जीतें, हर क्षेत्र में सफल बनें

मनुष्य की समग्र संरचना शरीर और मन के सम्मिश्रण से होती है । इन दोनों का जो जितना सदुपयोग कर सकता है, वही अपने लिए सम्पदाएँ और सफलताएँ अर्जित करता है, साथ ही अपने समय और

जन-समुदाय के लिए कहने लायक सुख-सुविधाएँ उत्पन्न करता है, स्वयं प्रगति पथ पर चलता है और अन्य असंख्यों को ऊँचा उठाने, आगे बढ़ाने में असाधारण रूप से सहायक सिद्ध होता है; किन्तु जो इन दोनों ईश्वर प्रदत्त विभूतियों को ऐसे ही उपेक्षित पड़ी रहने देता है, या उनका दुरुपयोग करता है, वह हानि भी कम नहीं उठाता है । उससे प्रभावित लोग भी कम हानि नहीं उठाते ।

समूचा मनुष्य समाज प्रकारान्तर से एक शृंखला में बँधा हुआ है । व्यक्ति के कृत्यों का वह स्वयं तो परिणाम भोगता ही है; पर सम्पर्क क्षेत्र भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता । यह प्रक्रिया समय एवं स्थान पर सीमाबद्ध नहीं रहती, वरन् यदि वह महत्त्वपूर्ण हो, तो लम्बे समय तक अपना प्रभाव छोड़ती है और सुविस्तृत परिधि को अपनी लपेट में ले लेती है ।

शरीर की सार्थकता इसमें है कि जितनी उसमें क्षमता है, उसके अनुरूप उससे काम लिया जाय । उसे आलस्य में, अर्धमृतकों या अर्ध-मूर्च्छितों की तरह तन्द्राग्रस्त स्थिति में न पड़े रहने दिया जाय । इस स्थिति को आलस्य कहते हैं । आलस्य को मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु माना गया है । वह परोक्ष रूप से वह हानि पहुँचाता है, जो हाथ-पैर कसकर किसी को बन्दीगृह में डालने पर पहुँचायी जा सकती है ।

मन का कर्तव्य और उत्तरदायित्व यह है कि वह शरीर के साथ मिलकर अपने लिए सुनिश्चित कार्य पद्धति निर्धारित करे । फिर जो कुछ भी करना है, उसमें पूरी दिलचस्पी और एकाग्रता के साथ जुट पड़े । जिसका मन हवा में उड़ने वाले पत्ते की तरह जिधर-तिधर, अस्त-व्यस्त, मारा-मारा फिरता है, किसी उपयोगी काम पर जमता नहीं, समझना चाहिए कि वह जिस काम से सम्बन्ध जोड़ेगा, उसे बर्बाद करके रहेगा । हर काम, सफलता की मंजिल तक पहुँचने के लिए समुचित शारीरिक श्रम चाहता है और साथ ही इसकी भी अनिवार्य आवश्यकता रहती है कि उसमें परिपूर्ण मनोयोग लगे । काम छोटा हो या बड़ा, उसकी सफलता के लिए शारीरिक तत्परता और मानसिक तन्मयता की आवश्यकता रहेगी । इन दोनों में जहाँ एक की भी कमी पड़ेगी, समझना चाहिए कि पैर असफलता की दिशा में उठ रहे हैं ।

शरीर को श्रम से बचाने का नाम है—आलस्य और मन को निर्धारित काम की उपेक्षा करके जहाँ-तहाँ दौड़ाने की दुष्प्रवृत्ति का नाम है—प्रमाद । जहाँ इन दोनों का संयोग मिल जाय, वहाँ समझना चाहिए कि समय की बर्बादी और काम की असफलता दोनों साथ-साथ चलेंगी और मनुष्य ऐसा कुछ भी न कर सकेगा, जिसे महत्त्वपूर्ण या सराहनीय कहा जा सके ।

कुछ लोग विलासी प्रकृति के होते हैं । आराम-तलबी उन्हें बहुत सुहाती है । समय काटने के लिए मनोरंजन का कोई शुगल ढूँढ़ते हैं । बेकार पड़े रहने से तो पीठ दुखने लगती है, इसलिए आलसी लोग भी आवारागर्दी के लिए निठल्ले यार-दोस्तों का जमघट लगाते हैं, उनकी आव-भगत के लिए पैसा खर्च करते हैं; अपने साथ-साथ ही घरवालों को उस कुटेव का आदी बनाते हैं । मनोरंजन के कुछ साधन तो ऐसे होते हैं, जो घर पर भी जुट सकते हैं । ताश, चौपड़, शतरंज आदि घरेलू मनोरंजन हैं । सिनेमा, पर्यटन, शिकार जैसे माध्यम ऐसे हैं, जिनके लिए घर से बाहर जाना पड़ता है । इनके साथ दुर्बुद्धि का और गहरा पुट लगने लगे, तो नशेबाजी, जुआ, व्यभिचार जैसी बुराइयाँ भी शामिल हो जाती हैं । यह सभी खर्चीली हैं । आलसी व्यक्ति इन प्रयोजनों में अपनी संचित पूँजी गँवा बैठते हैं या फिर जहाँ-तहाँ से कर्ज लेते हैं । यह सभी परिस्थितियाँ ऐसी हैं, जो कुछ ही दिन में आदत का रूप धारण कर लेती हैं और फिर छुड़ाए नहीं छूटतीं । ऐसे लोगों को कभी कोई सही उत्तरदायित्व सँभालने की विवशता आ पड़े तो वे उन्हें आधे-अधूरे छोड़कर निरर्थक समय गँवाने वाली पुरानी आदतों की ओर भटक जाते हैं और जो काम करना था, वह जहाँ का तहाँ पड़ा बर्बाद होता रहता है । इस प्रकार छूटे हुए काम मनुष्य का मनोबल गिराते हैं और बदनामी कराते हैं । फिर नये सिरे से किसी काम को करने के लिए न उत्साह उठता है और न कोई उन्हें जिम्मेदारी ही सौंपता है । ऐसे निरर्थक समय गँवाने वाले परिवारियों, सम्बन्धियों और शुभचिन्तकों की दृष्टि में क्रमशः क्षोभ और घृणा के पात्र बनते जाते हैं ।

विचारशीलता का तकाजा यह है कि थकान मिटाने के लिए जितने विश्राम की आवश्यकता है, उसे छोड़कर शेष समय निर्धारित काम में पूरे परिश्रम के साथ जुटा

रहे । सुलझे हुए मन का काम यह है कि ऐसे कार्यक्रम का निर्धारण करे, जिसमें शरीर और मन दोनों को परिपूर्ण काम मिले, साथ ही आजीविका उपार्जन के अतिरिक्त सद्‌गुणों को बढ़ाने का अवसर मिले । जीवन की नियमित कार्य पद्धति में ऐसे तथ्यों का भी समावेश होना चाहिए, जिनमें लोकहित, जनकल्याण, सत्प्रवृत्ति संवर्धन का भी समुचित समावेश हो ।

किसी काम की शोभा-सफलता तभी बनती है, जब उसमें शरीर की तत्परता और मन की तन्मयता का समान रूप से समावेश हो । यही वह स्थिति है, जिसमें आलस्य और प्रमाद से पीछा छुड़ाकर सर्वतोभावेन निर्धारित कृत्य या लक्ष्य में जुटा जाता हो । निर्धारण सांसारिक, आध्यात्मिक, स्वार्थपरक या परमार्थिक कैसा ही भला-बुरा क्यों न हो, पर उसकी सफलता के लिए परिश्रम और मनोयोग का समान रूप से नियोजन होना चाहिए ।

यों आवश्यकता तो हर काम में साधनों की भी पड़ती है, पर उन्हें जुटा पाना या न जुटा सकना इतना महत्त्व नहीं रखता, जितना की श्रम और मनोयोग । यह हर किसी के पास समान रूप से विद्यमान है । यह ईश्वर प्रदत्त है । इसे निखारने भर की आवश्यकता है । अभ्यास से वे सहज ही कार्यरत होना सीख लेते हैं । इसके उपरान्त प्रवीणता एवं कुशलता भी बढ़ जाती है । अन्य भली-बुरी आदतें भी अभ्यास से ही विकसित होती हैं । आरम्भ में शरीर और मन तन्मयता का दबाव स्वीकार करने में अनख मानते हैं; किन्तु जब उन्हें आदेश-अनुशासन मानने के लिए विवश किया जाता है, तो थोड़े ही दिनों में उन्हें 'प्रयासरत' होने में भी रस आने लगता है । खाली बैठना या आधा-अधूरा काम करना स्वयं अपने आपको भी बुरा लगता है । आलस्य-प्रमाद से होने वाली हानियाँ समझ में आती हैं और उन्हें अपनाने में लज्जा प्रतीत होती है । संसार में सभी प्रगतिशील मनुष्य श्रमशीलता और एकाग्रता के आधार पर ही प्रवीणता सम्पन्न हुए हैं और लक्ष्य तक पहुँचे हैं ।

साधनों का महत्त्व तो है, पर यदि आरम्भ में किसी के पास न हों, तो स्वल्प साधनों से भी कार्य आरम्भ किया जा सकता है । वे धीरे-धीरे भी जुटते रहते हैं । बया पक्षी आकार में बहुत छोटा होता है, पर अपना सुन्दर और सुदृढ़ घोंसला बनाने के लिए तदनुरूप तिनके जहाँ-तहाँ से चयन कर लेता है । इसके लिए ढूँढ़-खोज करने में उसे भाग-दौड़ तो बहुत करनी पड़ती है; किन्तु अन्ततः सभी सामग्री उसे देर-सबेर में मिल ही जाती है । तिनकों को मज़बूती से बांधने के लिए उसे घोड़े की पूँछ के लम्बे और मजबूत बालों की आवश्यकता पड़ती है । इसे वह न तो खरीदती है, न उधार माँगकर लाती है । अपनी होशियारी से पूँछ पर जा बैठती है और काट कर लाती है । यह घोड़ा उसका खरीदा हुआ नहीं होता । वह अपनी पैनी नजर से यह पता लगा लेती है कि अभीष्ट साधन कहाँ है और बाल प्राप्त करने के लिए कितनी चतुरता का प्रयोग करना पड़ेगा । ठीक यही बात अन्य सबको अपने-अपने कार्यों के उपयुक्त साधन जुटाने के लिए करना पड़ता है । यह संयोग की बात है कि किसी को साधन जुटाने में सरलता से काम बन जाता है और किसी को एड़ी-चोटी का पसीना एक करना होता है । पुरुषार्थ की कसौटी पर जो जितना अधिक घिस जाता है, वह उतना ही खरा उतरता है । साधनों के अभाव में कभी किसी का काम रुका नहीं रहा है । योग्यता और तत्परता देखकर साधन सम्पन्न उन्हें सहायता करने में अपना भी लाभ देखते हैं और उसी पूँजी को कई गुनी वापस लौटा लेते हैं ।

सफल मनोरथ व्यक्तियों की जीवनचर्या का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया जाय, तो उनमे से प्रत्येक को घोर परिश्रमी और समग्र तन्मयता नियोजित करने की कला में प्रवीण पाया जायेगा । ऐसे व्यक्तियों के द्वारा सम्पन्न हुए काम कलात्मक और सुनियोजित होते हैं । इस प्रकार का अभ्यास करने वाले आलस्य और प्रमाद रूपी दोनों शत्रुओं से बच सकते हैं और उनके द्वारा होने वाली अगणित हानियों के कुचक्र में भी नहीं फँसते । छोटे कामो को सही रीति से सम्पन्न करने वाले आगे चलकर बड़े-बडे काम कर गुजरने की व्यवस्था बुद्धि अपने भीतर से ही उपार्जित कर लेते हैं; जबकि काम से जी चुराने वाले और जिम्मेदारी की उपेक्षा करने वाले अपनी और दूसरों की आँखों से दिन-दिन गिरते जाते हैं । मनोबल गँवा बैठने पर मनुष्य की प्रतिभा का पलायन हो जाता है । साहस टूट जाता है और कुशलता अर्जित करने का सुयोग ही नहीं बन

पाता । ऐसे लोग अपना मूल्य गिरा लेते हैं और उनके द्वारा जो काम बन पड़ता है, वह भी गए-गुजरे मूल्य का फूहड़ एवं आधा-अधूरा, काना-कुबड़ा एवं अस्त-व्यस्त ही होता है। ऐसी दशा में काम का ही नहीं, उसके कर्त्ता का भी उपहास होता है।

ईश्वर ने मनुष्य को अनोखी विशेषताओं वाली काया प्रदान की है । ऐसे हाथ और किसी प्राणी को नहीं मिले । मन भी ऐसा मिला है, जो दूरदर्शिता और विवेकशीलता की दृष्टि से अद्भुत है। उसके गुण, कर्म, स्वभाव यदि परिष्कृत स्तर के हो, तो अनेकों का सहयोग अप्रत्याशित ढंग से खिंचता चला आता है; अभ्यास में जुट पड़े तो वह भी किसी काम में प्रवीणता प्राप्त कर सकता है । प्रश्न केवल उपलब्धियों का सदुपयोग करने भर का है । यह मनुष्य का अपना काम है कि क्षमताओं का सदुपयोग करके उन्नति के उच्च शिखर पर जा पहुँचे या फिर उन्हें आलस्य प्रमाद के कूड़े-करकट में पड़ी रहने देकर जो मिला है, उसको गँवा बैठे और निन्दा उपहास का कारण बने। जिसने आलस्य प्रमाद को जीत लिया, समझना चाहिए कि उसने अपने उज्ज्वल भविष्य का पथ प्रशस्त कर लिया । ऐसे ही लोग यशस्वी बनते है और अपने कर्तृत्व की असंख्यों को अनुकरणीय प्रेरणा देते हैं ।

## वैराग्य भावना से मनोविकारों का शमन

मनुष्य के मस्तिष्क की रचना कुछ इस प्रकार हुई है कि उसमें जिस प्रकार के विचार आयेंगे वैसा ही आचरण और शरीर पर प्रभाव पड़ेगा । विचार-भावना के अनुरूप ही मनुष्य का निर्माण होता है, विचार-शक्ति के द्वारा ही उसके जीवन में उतार-चढ़ाव और परिवर्तन होते है । अच्छे विचारों से बुरे विचारों को दबाया जा सकता है । इस प्रकार यह मनुष्य की विशेषता है कि वह जैसा जीवन निर्मित करना चाहे अपने विचार, अपनी भावनाओं के परिष्कार द्वारा वैसा ही कर सकता है ।

वैराग्य भावना में निःसन्देह बड़ी शक्ति है । बुरे से बुरे संस्कार वैराग्य के बादलों से धुलते देखे गए हैं । कामासक्त तुलसीदास, दुष्ट दुराचारी बाल्मीकि हिंसक व्याध और अंगुलिमाल जैसे व्यक्तियों के हृदय में जब वैराग्य भावना का प्रवाह उमड़ा तो उनके जीवन की धाराएँ ही बदल गई । सारे के सारे सन्त, महात्मा और महान पंडित बन गए ।

विचार, भाव तथा क्रिया में अत्यन्त सूक्ष्म ग्रहणशीलता रखते हुए सासारिक विषयों के प्रति निरपेक्ष बने रहने का नाम वैराग्य है । संक्षेप में राग द्वेष के बन्धनों से मुक्त होना ही वैराग्य है । यह भी कह सकते हैं कि वैराग्य उस अवस्था या स्थिति का नाम है जब मनुष्य की चित्तवृत्तियाँ विभिन्न भावों से हटकर चिर सत्य की ओर जागृत हों । इन भावनाओं की शक्ति और सामर्थ्य की थाह पाना निश्चय ही कठिन बात है क्योकि जिस किसी के जीवन में भी इन भावनाओं का उदय हुआ उनका तीव्र विरोध, उपहास और सांसारिक विषय विकार कुछ कर नहीं पाये । षट-विकारो के शमन का भी श्रेष्ठ उपाय वैराग्य भावनाओं को ही मान सकते हैं । वैराग्य द्वारा ही सात्विक कार्य सम्पन्न होते हैं । वैराग्य का अर्थ है त्याग, समर्पण, विवेक और सत्य के प्रति श्रद्धा की अनन्य भावना । इस प्रकार वैराग्य मे वह सम्पूर्ण शक्तियाँ सन्निहित है जिनसे मनुष्य अपने जीवन में सन्तुलन बनाये रख सकता ।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर इन विकारों को काबू में रखने का सरल और प्रभावशाली मार्ग यही है कि जब कभी ऐसे आवेश आयें तब उन्हें दूर हटाने के लिए वैराग्यपूर्ण चिन्तन करने लग जाये । तभी आत्मग्लानि और शरीर, मन और वाणी के शक्ति विनाश से बच सकते है, तभी तत्परतापूर्वक अपने जीवन लक्ष्य की ओर बढ़ते रह सकते हैं ।

षट विकारों में वासना का प्रहार सबसे अधिक तीव्र और मन को हिला देने वाला है । जब यह भाव मनुष्य के अन्तर्मन में प्रविष्ट हो जाता है तब उसकी शक्ति और भी बड़ा रूप ले लेती है । यह विकार प्रस्फुटित होकर मनुष्य के आचरण को दूषित करता है इसलिए उससे बचने के लिए आध्यात्मिक चिन्तन-मनन, पूजन, कथा-कीर्तन, प्राकृतिक दृश्यों से अनुराग, भ्रमण आदि अनेकों साधन काम में लाये जा सकते हैं, पर इतने से यह आशा नहीं की जाती कि आपका आवेश रुक गया या आगे फिर कभी न उठेगा । अन्तर्मन मे प्रसुप्त कामुक चेष्टाएँ संयोग पाते ही उठ खड़ी होंगी

और इच्छा न होते हुए भी आपको विभ्रमित करने लगेंगी ।

जब कभी ऐसी अवस्था आये तो आप वैराग्य भावना का सहारा लीजिए । आप कल्पना कीजिए कि जिस स्त्री के हाव-भाव और अंग-प्रत्यंगों को देखने से आकी कामुकता जागृत हो रही है, वह इस समय मर चुकी है । यह उसकी लाश है जो आपके सामने खड़ी है । अभी चील, कौवे और सियार आते हैं और इस शरीर को वे अपना भोजन मानकर उसे चीरने फाड़ने का काम शुरू कर देते हैं । छिः यह क्या, माँस, हड्डियाँ, आँतों में जमा हुआ मल-मूत्र—क्या इसी सबके लिए मेरी वासना जागृत हुई है । क्या इन हाड़ माँस के ऊपर चढ़ी हुई सुनहली पन्नी के ऊपर हम अपनी शक्ति और ओज समाप्त कर देंगे ।

आप जितना भावनात्मक गहराई तक उतर सकें, उतरें आपको यथार्थ ज्ञान मिलेगा, शक्ति मिलेगी और इस दूषित विकार के आघात से बड़ी आसानी के साथ बच जायेंगे । शरीर की नश्वरता और आत्म-ज्ञान की प्रबल जिज्ञासा का भाव जितनी शक्ति और क्षमता के साथ आप उठायेंगे उतना ही वैराग्य भाव उमड़ता हुआ चला आयेगा । "मै अपने जीवन को इन तुच्छ बातों में नहीं गँवाऊँगा, न जाने कब विनष्ट हो जाने वाले शरीर के प्रति मैं भला क्यों आशक्त होऊँ, मै आत्मा हूँ, अपने मूलस्वरूप को जानना ही मेरा लक्ष्य है ।" इस प्रकार के अनेकों विचार आप तर्क और प्रमाण के साथ उठाते चले आइए निश्चय ही आपकी कामुकता का आवेश आपको छोड़कर भाग जायेगा । आपके जी में "मातृवत परदारेषु" का सुन्दर भाव उमड़ता हुआ चला आयेगा, आप आन्तरिक दृष्टि से आनन्दित हो उठेंगे और जो विचार अभी थोड़ी देर पहले आपको आक्रान्त कर रहा था वह न जाने कहाँ विलुप्त हो जायेगा ।

वासना का प्रभाव मनुष्य के जीवन में आँधी-तूफान की तरह होता है, इससे बचने के लिए सिनेमा, नाटक, अभद्र प्रदर्शनों से तो बचे ही, बुद्धि, विवेक और सद्विचार भी ठीक रखें और इसे वैराग्यपूर्ण भावनाओं के द्वारा भी निवारण करें ।

क्रोध की अवस्था भी ठीक ऐसी ही होती है । संसार में ऐसा कोई भी पाप नहीं जो क्रोधी व्यक्ति न कर सकता हो । क्रोध को पाप का मूल कह कर पुकारा जाता है । यह भी एक आवेश में आता है और अनेकों अनर्थ उत्पन्न करके ही समाप्त होता है पीछे उन पर भारी दुःख तथा पश्चाताप होता है । इससे बचने के पूर्व अभ्यास के रूप में प्रेम, स्नेह, आत्मीयता, सौजन्य, सहिष्णुता और उदारता आदि भावों को विकसित करें तो ठीक है किन्तु यदि फिर भी कदाचित् ऐसा अवसर आ जाय तो आप पुनः वैराग्यपूर्ण भावनाओं का स्मरण कीजिए । आप विचार कीजिए आप जिसे दण्ड देना चाहते हैं, जिस पर आपको क्रोध आ रहा है वह यदि आप होते तो आप पर कैसी बीतती । मान लीजिए आपने ही वह गल्ती कर डाली होती और कोई उसका दण्ड आपको दिया जा रहा होता तो आपके शरीर में कितनी पीड़ा छट-पटाहट हो रही होती । यह भाव उठते ही आपके हृदय में करुणा का भाव उत्पन्न होगा । आप सोचेंगे कि दण्ड देना अनुचित है । दूसरों को पीड़ा न देना ही मानव धर्म है । आपका क्रोध पराभूत हो जायेगा और आप उसके विषैले प्रभाव से बच जायेंगे । कोई भी प्रतिशोध-जनक प्रतिक्रिया उठने से बच जायेगी ।

क्रोध के प्रतिरोध मे उत्पन्न वैराग्य भावनाओ से ईर्ष्या, दुश्चिन्ता और संघर्षपूर्ण विचार समाप्त होते हैं और प्रेम, दया तथा मैत्री भाव जागृत होते हैं । इन भावनाओं से क्रोध की उत्तेजना समाप्त हो जाती है ।

धन की तृष्णा भी मनुष्य के जीवन में वैसी ही जड़ता उत्पन्न करती है जैसी काम और क्रोध । पराया माल छीनने, हड़पने और चोरी कर लेने तथा दूसरों की कमाई का उचित पारिश्रमिक न देने की बात किसी भी प्रकार मानवीय नहीं कही जा सकती । इससे मनुष्य का घोर आन्तरिक पतन होता है । आप विचार कीजिए कि आप जब श्रम-पूर्वक धन कमाते हैं और उसका कुछ हिस्सा कहीं गिर जाता है या कोई उसे उठा ले जाता है तो आपको कितना दुःख होता है । फिर इस धन से मनुष्य का जीवन लक्ष्य भी तो पूरा नहीं होता । क्या यह पाप की कमाई अपने बाल-बच्चों के लिए छोड़कर उन्हें भी आलसी और अकर्मण्य बनाना चाहते हैं । जो धन आपकी लाश के साथ आपके साथ जाने वाला नहीं है उसको आप अनाधिकार पूर्वक क्यों प्राप्त करना चाहते हैं ? आप उससे बँधे क्यो जा

पाता । ऐसे लोग अपना मूल्य गिरा लेते हैं और उनके द्वारा जो काम बन पड़ता है, वह भी गए-गुजरे मूल्य का फूहड़ एवं आधा-अधूरा, काना-कुबड़ा एवं अस्त-व्यस्त ही होता है । ऐसी दशा में काम का ही नहीं, उसके कर्त्ता का भी उपहास होता है ।

ईश्वर ने मनुष्य को अनोखी विशेषताओं वाली काया प्रदान की है । ऐसे हाथ और किसी प्राणी को नहीं मिले । मन भी ऐसा मिला है, जो दूरदर्शिता और विवेकशीलता की दृष्टि से अद्भुत है । उसके गुण, कर्म, स्वभाव यदि परिष्कृत स्तर के हों, तो अनेकों का सहयोग अप्रत्याशित ढंग से खिंचता चला आता है; अभ्यास में जुट पड़े तो वह भी किसी काम में प्रवीणता प्राप्त कर सकता है । प्रश्न केवल उपलब्धियों का सदुपयोग करने भर का है । यह मनुष्य का अपना काम है कि क्षमताओं का सदुपयोग करके उन्नति के उच्च शिखर पर जा पहुँचे या फिर उन्हें आलस्य प्रमाद के कूड़े-करकट में पड़ी रहने देकर जो मिला है, उसको गँवा बैठे और निन्दा उपहास का कारण बने । जिसने आलस्य प्रमाद को जीत लिया, समझना चाहिए कि उसने अपने उज्ज्वल भविष्य का पथ प्रशस्त कर लिया । ऐसे ही लोग यशस्वी बनते हैं और अपने कर्तृत्व की असंख्यों को अनुकरणीय प्रेरणा देते हैं ।

## वैराग्य भावना से मनोविकारों का शमन

मनुष्य के मस्तिष्क की रचना कुछ इस प्रकार हुई है कि उसमें जिस प्रकार के विचार आयेंगे वैसा ही आचरण और शरीर पर प्रभाव पड़ेगा । विचार-भावना के अनुरूप ही मनुष्य का निर्माण होता है, विचार-शक्ति के द्वारा ही उसके जीवन में उतार-चढ़ाव और परिवर्तन होते हैं । अच्छे विचारों से बुरे विचारों को दबाया जा सकता है । इस प्रकार यह मनुष्य की विशेषता है कि वह जैसा जीवन निर्मित करना चाहे वैसे विचार, अपनी भावनाओं के

में जब वैराग्य भावना का प्रवाह उमड़ा तो की धाराएँ ही बदल गईं । सारे के सारे म और महान पंडित बन गए ।

विचार, भाव तथा क्रिया में अ ग्रहणशीलता रखते हुए सांसारिक विषयों के बने रहने का नाम वैराग्य है । संक्षेप में *बन्धनों से मुक्त होना ही वैराग्य है ।* सकते हैं कि वैराग्य उस अवस्था या स्थि है जब मनुष्य की चित्तवृत्तियाँ विभिन्न भाव चिर सत्य की ओर जागृत हों । इन भा शक्ति और सामर्थ्य की थाह पाना निश्चय बात है क्योंकि जिस किसी के जीवन भावनाओं का उदय हुआ उनका तीव्र विरो और सांसारिक विषय विकार कुछ कर न षट-विकारों के शमन का भी श्रेष्ठ उपाय वैराग्य को ही मान सकते हैं । वैराग्य द्वारा ही सा सम्पन्न होते हैं । वैराग्य का अर्थ है त्याग विवेक और सत्य के प्रति श्रद्धा की अनन्य इस प्रकार वैराग्य में वह सम्पूर्ण शक्तियाँ स जिनसे मनुष्य अपने जीवन में सन्तुलन सकता ।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और विकारों को काबू में रखने का सरल और प्र मार्ग यही है कि जब कभी ऐसे आवेश आयें दूर हटाने के लिए वैराग्यपूर्ण चिन्तन करने लग तभी आत्मग्लानि और शरीर, मन और वाणी विनाश से बच सकते हैं, तभी तत्परतापूर्व जीवन लक्ष्य की ओर बढ़ते रह सकते हैं ।

षट विकारों में वासना का प्रहार सबसे तीव्र और मन को हिला देने वाला है । जब मनुष्य के अन्तर्मन में प्रविष्ट हो जाता है त शक्ति और भी बड़ा रूप ले लेती है । य प्रस्फुटित होकर मनुष्य के आचरण को दूषित

और इच्छा न होते हुए भी आपको विभ्रमित करने लगेंगी ।

जब कभी ऐसी अवस्था आये तो आप वैराग्य भावना का सहारा लीजिए । आप कल्पना कीजिए कि जिस स्त्री के हाव-भाव और अंग-प्रत्यंगों को देखने से आकी कामुकता जागृत हो रही है, वह इस समय मर चुकी है । यह उसकी लाश है जो आपके सामने खड़ी है । अभी चील, कौवे और सियार आते हैं और इस शरीर को वे अपना भोजन मानकर उसे चीरने फाड़ने का काम शुरू कर देते हैं । छिः यह क्या, माँस, हड्डियाँ, आँतों में जमा हुआ मल-मूत्र—क्या इसी सबके लिए मेरी वासना जागृत हुई है । क्या इन हाड़ माँस के ऊपर चढ़ी हुई सुनहली पन्नी के ऊपर हम अपनी शक्ति और ओज समाप्त कर देंगे ।

आप जितना भावनात्मक गहराई तक उतर सके, उतरें आपको यथार्थ ज्ञान मिलेगा, शक्ति मिलेगी और इस दूषित विकार के आघात से बड़ी आसानी के साथ बच जायेंगे । शरीर की नश्वरता और आत्म-ज्ञान की प्रबल जिज्ञासा का भाव जितनी शक्ति और क्षमता के साथ आप उठायेंगे उतना ही वैराग्य भाव उमड़ता हुआ चला आयेगा । "मैं अपने जीवन को इन तुच्छ बातों में नहीं गँवाऊँगा, न जाने कब विनष्ट हो जाने वाले शरीर के प्रति मैं भला क्यों आशक्त होऊँ, मैं आत्मा हूँ, अपने मूलस्वरूप को जानना ही मेरा लक्ष्य है ।" इस प्रकार के अनेको विचार आप तर्क और प्रमाण के साथ उठाते चले आइए निश्चय ही आपकी कामुकता का आवेश आपको छोड़कर भाग जायेगा । आपके जी में "मातृवत परदारेषु" का सुन्दर भाव उमड़ता हुआ चला आयेगा, आप आन्तरिक दृष्टि से आनन्दित हो उठेंगे और जो विचार अभी थोड़ी देर पहले आपको आक्रान्त कर रहा था वह न जाने कहाँ विलुप्त हो जायेगा ।

वासना का प्रभाव मनुष्य के जीवन में आँधी-तूफान की तरह होता है, इससे बचने के लिए सिनेमा, नाटक, अभद्र प्रदर्शनों से तो बचें ही, बुद्धि, विवेक और सद्विचार भी ठीक रखें और इसे वैराग्यपूर्ण भावनाओं के द्वारा भी निवारण करें ।

क्रोध की अवस्था भी ठीक ऐसी ही होती है । संसार में ऐसा कोई भी पाप नहीं जो क्रोधी व्यक्ति न कर सकता हो । क्रोध को पाप का मूल कह कर पुकारा जाता है । यह भी एक आवेश में आता है और अनेकों अनर्थ उत्पन्न करके ही समाप्त होता है पीछे उन पर भारी दुःख तथा पश्चात्ताप होता है । इससे बचने के पूर्व अभ्यास के रूप में प्रेम, स्नेह, आत्मीयता, सौजन्य, सहिष्णुता और उदारता आदि भावों को विकसित करें तो ठीक है किन्तु यदि फिर भी कदाचित् ऐसा अवसर आ जाय तो आप पुनः वैराग्यपूर्ण भावनाओं का स्मरण कीजिए । आप विचार कीजिए आप जिसे दण्ड देना चाहते हैं, जिस पर आपको क्रोध आ रहा है वह यदि आप होते तो आप पर कैसी बीतती । मान लीजिए आपने ही वह गल्ती कर डाली होती और कोई उसका दण्ड आपको दिया जा रहा होता तो आपके शरीर में कितनी पीड़ा छट-पटाहट हो रही होती । यह भाव उठते ही आपके हृदय में करुणा का भाव उत्पन्न होगा । आप सोचेंगे कि दण्ड देना अनुचित है । दूसरो को पीड़ा न देना ही मानव धर्म है । आपका क्रोध पराभूत हो जायेगा और आप उसके विषैले प्रभाव से बच जायेंगे । कोई भी प्रतिशोध-जनक प्रतिक्रिया उठने से बच जायेगी ।

क्रोध के प्रतिरोध में उत्पन्न वैराग्य भावनाओं से ईर्ष्या, दुश्चिन्ता और संघर्षपूर्ण विचार समाप्त होते है और प्रेम, दया तथा मैत्री भाव जागृत होते हैं । इन भावनाओं से क्रोध की उत्तेजना समाप्त हो जाती है ।

धन की तृष्णा भी मनुष्य के जीवन में वैसी ही जड़ता उत्पन्न करती है जैसी काम और क्रोध । पराया माल छीनने, हड़पने और चोरी कर लेने तथा दूसरों की कमाई का उचित पारिश्रमिक न देने की बात किसी भी प्रकार मानवीय नहीं कही जा सकती । इससे मनुष्य का घोर आन्तरिक पतन होता है । आप विचार कीजिए कि आप जब श्रम-पूर्वक धन कमाते हैं और उसका कुछ हिस्सा कहीं गिर जाता है या कोई उसे उठा ले जाता है तो आपको कितना दुःख होता है । फिर इस धन से मनुष्य का जीवन लक्ष्य भी तो पूरा नहीं होता । क्या यह पाप की कमाई अपने बाल-बच्चों के लिए छोड़कर उन्हें भी आलसी और अकर्मण्य बनाना चाहते हैं । जो धन आपकी लाश के साथ आपके साथ जाने वाला नहीं है उसको आप अनाधिकार पूर्वक क्यों प्राप्त करना चाहते हैं ? आप उससे बँधे क्यो जा

रहे है । इस धन के लोभ में पड़कर आप अपनी आत्मा अपने जीवन लक्ष्य की बात ही भूल जायेंगे फिर ऐसे धन से लोभ कैसा ? प्रीति कैसी ? छोड़िए इसे । जो कुछ परिश्रम से कमाया है उतने में ही बड़ा आनन्द है । धन का बखेड़ा बढ़ाने की अपेक्षा निर्धन होना, आत्म-धन प्राप्त करना कहीं अधिक श्रेष्ठ व श्रेयस्कर है । हम कभी इस परम आदर्श से विचलित नहीं होंगे । इस प्रकार आप अधर्म की कमाई और अनावश्यक लोभ वृत्ति से निकल सकेंगे ।

मनुष्य की सबसे अधिक दीन हीन अवस्था उस समय दिखाई देती है जब वह छोटी-छोटी बातों के लिए अनुचित आशक्ति या मोह भाव प्रदर्शित करता है । छोटी-सी चीज के टूट-फूट जाने से आप कितने परेशान हो उठते हैं । टूटे-फूटे बर्तन, कपड़ों और अनेको अनावश्यक वस्तुओ से आपका इतना अधिक लगाव आखिर क्यों है । संसार की सभी सम्पत्तियों मे शरीर का महत्व ही सर्वाधिक है इसी से उपभोग करते हैं और स्वामित्व प्रकट करते 'हैं । इसका भी तो एक दिन विनाश हो जाता है । जिसके उपभोग और स्वामित्व के लिए आप यह मोह कर रहे हैं जब उसी को नहीं रहना तो क्या करेंगे आप इन नाचीज वस्तुओं का संग्रह करके । इनके टूट-फूट जाने, सड़ने-गलने से आप इतना दु.खी क्यों हो जाते हैं ? दुःख करना ही है तो सोचिए आपने अभी तक मानव सुलभ साधनों का आत्म-विकास में कितना उपयोग किया ? अपने जीवन लक्ष्य की ओर आप कितना बढ़ सके हैं ? क्या आप अपने आपको पहचान सके है ? नकारात्मक उत्तर मिलने से आपका जी दुःखी होगा । जिस प्रकार अब तक हजारों आदमी इस संसार में मर-खप गए उसी प्रकार हमारा भी शरीर-साधन व्यर्थ गया तो कहाँ रही इसमें अपनी बुद्धिमता । आपकी सफलता इसी में सन्निहित है कि आप अनुचित और छोटी-छोटी वस्तुओं के प्रति मोह का भाव त्यागिए ताकि आपकी शक्तियाँ आध्यात्मिक जीवन की ओर उन्मुख हो सकें ।

मनुष्य के विनाश का सबसे प्रबल कारण है उसका "अहंकार ।" "मैं ही सब कुछ हूँ", "मेरा विचार ही सबसे, अच्छा है", मैं ही सबसे अधिक सुन्दर हूँ, मैं धनी हूँ, मैं पण्डित हूँ आदि अहंकारिक भावों के कारण संसार में कलह, झंझट युद्ध और युद्ध की विभीषिकाएँ उठ खडी होती हैं । क्या यह अभिमान सार्थक हो सकता है ? नहीं । रावण, दुर्योधन, कंस, हिरण्यकश्यप, नेपोलियन, सिकन्दर आदि अहंकारी पुरुषों ने आखिर क्या लाभ उठाया । उन्हें भी हाथ मलते ही इस संसार से विदा होना पड़ा, फिर आपकी भला क्या बिसात ! आप सें अधिक तो इसी धरती मे ही अनेकों रूपवान, धनवान, शक्ति और सामर्थ्यवान विद्यमान हैं फिर यह अहंकार आपका क्या प्रयोजन हल कर सकता है । आध्यात्मिक विकास की सबसे बड़ी बाधा मनुष्य के अहंकारपूर्ण विचार ही होते हैं । संसार की क्षणभंगुरता को हमेशा ध्यान में बनाये रखने से ही यह सम्भव है कि मनुष्य दुष्प्रवृत्ति से बचा रह सके ।

इसी प्रकार मत्सर अर्थात् ईर्ष्या और डाह का भाव भी मनुष्य के अधः पतन का कारण होता है । मनुष्य की उन्नति उसकी शक्ति और परिस्थितियों के अनुसार कम ज्यादा होती ही है । अपनी शक्तियो का विकास मानवोचित ढंग से करें तो इससे किसी का अहित नहीं होता पर जब दूसरों की समृद्धि देखकर लोग ईर्ष्या-द्वेष रखने लगते हैं तो वहीं वैयक्तिक और सामूहिक आत्मिक पतन प्रारम्भ हो जाता है । मनुष्य का जीवन इसलिए नही मिला । हमें सेवा, सत्कार, प्रेम, दया, न्याय आदि के विकास के लिए साधन स्वरूप यह शरीर उपलब्ध होता है । इसे प्राप्त कर होड करे चारित्रिक श्रेष्ठता की, ताकि अपना जीवन उद्देश्य भी पूरा हो, लोगों को प्रसन्नता मिले और सामाजिक जीवन में खुशहाली लाने में अपना कुछ उपयोग हो । यदि यह न कर सके तो मनुष्य शरीर और पशुओं के शरीर में अन्तर ही क्या रहा ।

विवेक से मन पराकाष्ठा को पहुँचता है और इसी अवस्था में वैराग्य द्वारा उसका सन्तुलन होता है । इसलिए षट-विकारों में शमन और आध्यात्मिक आस्था प्रखर करने के लिए वैराग्यपूर्ण भावनाएँ बडी उपयोगी सिद्ध होती हैं । वैराग्य से मनुष्य का जीवन उन्नत होता है और अनेको आध्यामिक अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं ।

## वैराग्य से सत्य सिद्धि

सद्‌गुणो से, पवित्र आचार-विचार से, वैसे ही सुख-शान्ति और सहयोग पूर्ण भावनाओं एवं परिस्थितियों का विस्तार होता है । संकल्प, स्वाध्याय, सत्संग आदि गुणो के विकास के साधन बताये गए हैं, किन्तु जिस

तरह दुर्गुणों का मूल कारण अनियन्त्रित महत्त्वाकांक्षाएँ होती हैं वैसे ही सद्गुणों का भी मूल वैराग्य है । शास्त्रकार का कथन है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवह्यकिञ्चनासर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।

अकिंचना भक्ति—अर्थात् वैराग्य जहाँ है वहाँ समस्त सद्गुण विराजते हैं ।

वैराग्य ऐसी निर्मल भावना है जो मनुष्य के मन को पक्षपातपूर्ण विचारों से बचाती है । चाहे वह अपने लिए हो, समीपस्थ सम्बन्धी अथवा किसी पड़ोसी के लिए हो । अपनी त्रुटि, दोष और कमजोरियों पर तो वह कड़ाई से नियन्त्रण करता ही है साथ ही वह उन सभी बुराइयों के विरोध में सहयोग करता है जो परमात्मा के मंगलमय विधान में विघ्न बाधा डालते हैं । इससे भलाई की शक्ति का विकास और परिवर्तन ही होता है ।

विचारों की निर्मलता से दुरित दुर्गुणों का निवारण ही नहीं होता वरन् जिस तरह पतझड़ के बाद पेड़-पौधों में नई कोपलें फूट उठती हैं, चैत्र की नव-रात्रियों के पास जिस तरह कोपल प्रकृति नये-नये परिधान मे निखरती है वैसे ही मस्तिष्क में भी वैराग्य की भावना आने से नई-नई कोमल भावनाओं का विकास होता है । सद्गुणों का परिपाक इसी क्रम में होता है । गोस्वामी तुलसीदास जी ने इसी बात को इन चौपाइयों में व्यक्त किया है—

जानिअ तब मन बिरुज गोसाईं ।
जब उर बल बिराग अधिकाई ॥
सुमति छुधा बाढ़ई नित नई ।
विषय आस दुर्बलता गई ॥

अर्थात्—जब हृदय में वैराग्य बल प्रस्फुटित होता है तो मन में विवेक का जन्म होता है । अन्तःकरण में सौमरस की भूख प्रदीप्त हो उठती है जिससे मन में विषयों की ओर भटकने की जो दुर्बलता थी वह दूर होने लगती है ।

गीता में मनोनिग्रह का मुख्य आधार वैराग्य को बताते हुए—भगवान कृष्ण कहते है—"अभ्यासेन तुकौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते" योग दर्शन में—"अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधाः" कहकर उपयुक्त कथन की पुष्टि कर दी । दरअसल स्वाभाविक दुर्बलता तब तक छूटती भी नही जब तक आत्मा के प्रति कौतूहल पूर्ण जिज्ञासा और संसार की निस्सारता का भाव मन में प्रकट नहीं होता है ।

शास्त्र कहते हैं कि सिद्धियाँ और सफलताएँ तो वैराग्यशील व्यक्ति की चरणदासी होती हैं । आत्मविजय, मनोजय, राजनैतिक सफलताएँ, आध्यात्मिक प्रगति और सांसारिक सुख जिनकी प्रत्येक युग में आवश्यकता होती है वह वैराग्य वाले मनुष्य को स्वयमेव आवश्यकतानुसार मिलती रहती हैं । महाभारत में वैराग्य को सम्पूर्ण सिद्धियों का साधन बताते हुए लिखा है—

यच्च भूतं भविष्यतं च भवच्च परम द्युते ।
तत्सर्वमनुपश्यामि पाणौ फल चिकीर्षिताम् ॥
—शां. प. ६४१।

इसके अर्थ में रामायण की यह पंक्तियाँ प्रयुक्त हैं—

जानहिं तीन काल निज ग्याना ।
करतल गत आमलक समाना ॥

वह व्यक्ति जिनके हृदय में वैराग्य बसता है यह जानता है हम भूत में क्या थे, भविष्य में क्या होंगे । सम्पूर्ण सिद्धियाँ उनकी हथेलियों पर होती है ।

वैराग्य के अभ्यास की एक ही साधना है, जगत के मिथ्यात्व को अनुभव करना, चिन्तन करना । भावनाओं में इतना उभार पैदा कर लेना कि न अहंभाव रहे, न मृत्यु न मान-अपमान, शोक-वियोग का विकार । सम्पूर्ण कालो में व्याप्त आत्मा दिखाई दे । मैं अजर हूँ, अमर हूँ, अक्षय, अविनाशी परम प्रकाश हूँ, इस धारणा की पूर्ण पुष्टि, वैराग्य कहा जाता है । सांसारिकता का मोह नष्ट हो जाय यही वैराग्य है ।

वैराग्य के विकास के तरीके कई विचारकों ने कई तरह से व्यक्त किए हैं, उन सबका तात्पर्य एक ही है संसार के स्थूल पदार्थों के चिन्तन से मन को विरत कर भावनाओं में लगा देना—एक कवि कहता है—

मुट्ठी बाँधे आया जग में, हाथ पसारे जायेगा ।

विनय पत्रिका यों कहती है—

सहसबाहु दस बदन आदिनृप, बचे न काल बली ते ।
हम हम कहि धन धाम सँवारे, अन्त चले उठ रीते ॥
सुत बनितादि जानि स्वारथ रत, न करु नेह सबही ते ।
अंतुत तोहि तजैंगे पामर, तू न तजै अब ही ते ॥

चर्पट पंजरिका में जगद्गुरु शंकराचार्य ने संसार की निस्सारता को यों व्यक्त किया है—

दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिर वसन्तौ पुनरायातः ।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुञ्चत्याशावायुः ।
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढ़मते ॥

बार-बार दिन, सायंकाल, रात्रि आती है और देखते-देखते चली जाती है इस प्रकार काल की क्रीड़ा निरन्तर होती रहती है । प्राणियों की आयु इस तरह क्षीण होती जा रही है । ऐ मन ! इसलिए क्षण भंगुर संसार में आशाओं की वायु का परित्याग कर परमात्मा को जान ।

ऐसे अवसर पर नानक भला कैसे चुप रहते । वे लिखते हैं—

आयु गवाई दुनिया में दुनियाँ चलै न साथ ।
पैर कुल्हाड़ी मारिया मूरख ने अपने हाथ ॥

सबका अर्थ संसार के भौतिक सुखों,को नगण्य सिद्ध कर पारलौकिक जीवन के लिए आत्म सुधार करना ही है । किसी शायर ने इसे बड़े सुन्दर शब्दों में कहा है—

है बहारे बाग दुनियाँ चन्द रोज ।
देख लो इसका तमाशा चन्द रोज ॥
ऐ मुसाफिर कूँच का सामान कर ।
है बसेरा इस सरा में चन्द रोज ॥

इस संसार के सुख, तमाशे थोड़ी अवधि के लिए हैं । न जाने कब शरीर विनष्ट हो जाय और इस दुनिया को छोड़कर चल देना पड़े । इन परिस्थितियों का गम्भीरतापूर्वक अनुभव करना चाहिए । इससे हमारे सामने एक ऐसे शुभ्र जीवन का विकास होने लगेगा जिसमें कटुता, कलह और वैमनस्य न होगा इसलिए अशान्ति न होगी । भोग न होंगे । इसलिए रोगों से छुटकारा मिलेगा, कोई पराया न होगा, किसी के साथ भेदभाव, ऊँच-नीच, कम-ज्यादा का भाव न होगा इस लिए संघर्ष न होगा । वैराग्य को इसीलिए सम्पूर्ण सद्गुणों के विकास का मूल कहा गया है । ऊपर की पंक्तियों का मनन-चिन्तन और उन्हें गुनगुनाते रहने से इसी मूल-भावना की दिन-दिन पुष्टि भी की जा सकती है । जीवन लक्ष्य प्राप्ति की आवश्यकता तो इससे स्वयमेव फलित होती है । "व्यास भाष्य" में बताया गया ।

"कोऽहमासां कथमहमासं किंस्विदिदं कथं स्विदिदं के वा भविष्यामः कथं वा भविष्याम इत्येवमस्य पूर्वान्तं परान्तं मध्ये स्वात्म भाव जिज्ञासा स्वरूपेणोपावर्तते एता यमस्थैर्ये निवर्तः ।"

पूर्ण विरक्त जनों को, जिन्होंने संसार के विषय सुख, राग, मोह, मदादि का परित्याग कर दिया, मैं कौन था ? कैसे था ? वर्तमान शरीर क्या है ? कैसा है ? आगे क्या हो जाऊँगा ? कैसे रहूँगा ? इन सब बातों का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है ।

## तालबद्ध, सुनियोजित जीवनक्रम

यह विराट् ब्रह्माण्ड के निश्चित निर्धारित क्रम में गतिशील हो रहा है । इसमें कहीं भी व्यतिक्रम दिखाई नहीं पड़ता । सबके भीतर प्राकृतिक ताल एवं लय का सम्बन्ध दिखाई पड़ता है और इस गतिशीलता को देखकर किसी सुनियोजित सत्ता के अस्तित्व का भान होता है । यह नियमितता विश्व-ब्रह्माण्ड से लेकर प्रकृति, पशु-पक्षियों, कीड़े-मकोड़े में, मानवीय शरीर में अनिवार्य रूप से परिलक्षित होती है । दूसरे शब्दों में कहा जाय तो यों कहना पड़ेगा कि नियमितता-ताल-लय ही जीवन है, विश्व रचना है एवं प्रकृतिगत गुण है । इसके महत्त्व को स्वीकारते हुए, लक्ष्य निर्धारित करते हुए उसे जीवन का अनिवार्य अंग समझना चाहिए ।

यह सूर्य एक नियमितता लिए हुए उदय एवं अस्त का सरंजाम जुटाता है । उसकी किरणें भी एक नियमित गति के साथ वायुमण्डल से संघर्ष करती हुई हम तक पहुँचती है एवं पृथ्वी में नव जीवन का संचार करती हैं । इस गति के कारण हमें एक निश्चित-निर्धारित मात्रा में सूर्य प्रकाश मिल पाता है । प्रातः दोपहर संध्या एवं रात्रि की प्रक्रिया भी एक निर्धारित क्रम में सम्पन्न होती है । घड़ी एक नियमित ताल में टिक-टिक करती हुई, १ मिनट में ६० सेकण्ड बताती हुई १ घण्टे में ६० मिनट की दूरी तय करते हुए २४ घण्टों को प्रदर्शित करती है । २४ घण्टों में एक दिन रात, ३० दिन से एक महीना एवं १२ महीनों से १ वर्ष की प्रक्रिया इतनी सुसम्बद्ध एवं सुनियोजित है कि उसमें एक भी क्षण का फेर-बदल नहीं होता । पृथ्वी, चन्द्रमा, ग्रह, तारे सभी निश्चित गति से सुसचालित है, उनमें

जरा-सा गतिरोध समूचे ब्रह्माण्ड को धूल में परिवर्तित करने के लिए पर्याप्त है ।

नदियों के बहाव में भी यही प्रक्रिया झलकती है, कल-कल, झर-झर की आवाज उसी की परिणति है । पौधों का विकास भी उसी क्रम में हो रहा है । बीज में अंकुर फूटना, कोपलें फूटना, पुष्पित एवं पल्लवित होना, फलों से लदना इन सबसे एक निश्चित अन्तर दिखाई पड़ता है । जीव-जन्तुओं के विकास-क्रम में भी इसी देवी की कृपा दृष्टि देखने को मिलती है । चूहे, बिल्ली, कुत्ते, गाय, बैल, भैंस, आदि एक निश्चित समय में जन्म लेते एवं अपनी सामर्थ्य का परिचय देते हुए काल के गाल में समा जाते हैं ।

प्रातःकालीन पक्षियों के सुमधुर कलरव का सम्बन्ध भी इसी से है । उत्साह, उमंग और वातावरण से भरे ऋतुराज वसंत में कोयलों की कूक बड़ी प्यारी लगती है, वह भी सुर और ताल से सम्बन्ध रखती है । संगीत शास्त्रियों ने इसी को ध्यान में रखकर सात स्वरों की रचना की, जो किसी न किसी रूप में किसी न किसी जीव-जन्तु से सम्बन्धित है । कोयल की कूक को वे पंचम की उपमा देते है । गौरैयों का चहचहाना, टिटिहरी की चहक, मैना, बत्तख, तोता आदि की मधुर बोली इसी कारण से कानों को बड़ी मधुर लगती है, क्योंकि उसमें भी स्वरों की नियमितता है । इसी कारण से लोग इन्हें पालते हैं । गाय का रँभाना सुन एवं पहचान कर बछड़ा इसीलिए दौड़ा आता है, क्योंकि वह उसके स्वरों के विशिष्ट एवं निश्चित अन्तर को पहचानता है । हाथी का चिंघाड़ना, शेर का दहाड़ना इसीलिए भय का संचार कर देता है ।

इस प्राकृतिक लय-ताल रूपी नियमितता से भला मानव शरीर अलग कैसे रह सकता है । वह भी एक निर्धारित क्रम में विकसित होता है । शैशवावस्था, बाल्यावस्था, किशोरावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था उसी की परिणति है । रक्त-संचार प्रक्रिया, पेशियों का आकुंचन-प्रकुंचन, श्वास-प्रश्वास सभी में ताल का अस्तित्व स्पष्ट परिलक्षित होता है । हृदय की धड़कन लप-डप की ध्वनि एवं उसके बीच क्षण भर का विश्राम—यही है जीवन प्राण जिससे समूचा जीवन तन्त्र सुसंचालित है । इस ताल में क्षण भर भी यदि व्यतिरेक पड़ जाय तो इस काया का अन्त हो जाय । हार्ट अटेक की बीमारियाँ, लो ब्लड प्रेशर, हाई ब्लड प्रेशर आदि इसी व्यतिक्रम का प्रतिफल हैं ।

वह सुनियोजित सत्ता मानव जीवन में भी इसे सम्मिलित कर इसे गतिशील रखने की आशा करती है । प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसका जीवनक्रम निश्चित है । उठना, भोजन ग्रहण करना, श्रम करना, अपनी योग्यता विकसित करना, सोना, इस क्रम में भी यदि ध्यान दिया जाय, तो नियमितता ही दिखाई देगी । आधि-व्याधियाँ इसके अव्यवस्थित होने की फलश्रुति हैं । पेट की पाचन क्रिया एक निश्चित मात्रा में आहार लेने से अच्छी तरह सम्पन्न होती है, अन्यथा खट्टी डकार से लेकर कोष्ठबद्धता तक स्थिति पहुँच जाती है ।

इस तरह नियमितता के रूप में ताल के महत्त्व का पता चलता है, जो एक निश्चित निर्धारित प्राकृतिक गुण है । इसे अपने जीवन क्रम में स्थान देना उचित है । जहाँ अपने जीवन क्रम को सुव्यवस्थित करने की आवश्यकता है, वहाँ यह भी आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति का जीवन तालबद्ध, लयबद्ध एवं समयबद्ध हो ।

जीवन को लयबद्ध बनाये रखने में समय का परिपालन एक महत्त्वपूर्ण अंग है । समय का पालन एक बहुत बड़ा गुण भी है । नियत समय पर निर्धारित काम करने की आदत शरीर और मन का सन्तुलन बनाये रहती है और वे अपना काम ठीक तरह करते रहते है । इसके विपरीत यदि अस्त-व्यस्त जीवनचर्या रखी जाय, किसी काम का कोई निर्धारित समय न रहे तो इसका प्रभाव शरीर एवं मन की स्वस्थता एवं प्रगति पर बहुत बुरा पड़ता है ।

प्राणी का अचेतन मन उसे नियत समय पर नियत काम करने की प्रेरणा देता है और उसके लिए आवश्यक सामर्थ्य भी विभिन्न अवयवों में उत्पन्न करता है । इस प्रकृति व्यवस्था का ठीक प्रकार उपयोग करके शरीर निर्वाह तथा लोक-व्यवहार में हम प्रकृति का अभीष्ट सहयोग प्राप्त कर सकते है । नियत समय पर निर्धारित काम करने की व्यवस्थित दिनचर्या अपनाने की आदत बनाकर हम समग्र स्वास्थ्य की रक्षा कर सकते हैं और हाथ मे लिए हुए कामों को सहज ही सफल बना सकते हैं ।

कीड़े-मकोड़े और पक्षियों में यह विशेषता पायी जाती है कि वे अपने भीतर की किसी अज्ञात घड़ी के

मार्ग-दर्शन से अपनी गतिविधियाँ पूर्णतया व्यवस्थित रखते हैं । फलतः प्रकृति उनके नगण्य से शरीर और मन को अपना जीवन-यापन बहुत ही सुविधापूर्वक करते रहने के साधन जुटाये रहती हैं । यदि ये प्राणी नियमितता की आदत छोड़ दें तो निश्चय ही उनका जीवन-यापन नितान्त कठिन बन जायेगा ।

जीव-जन्तुओं को अपनी आदत के अनुसार विभिन्न समयों पर विभिन्न कार्य नियमित रूप से करते हुए देखा गया है । मुर्गा समय पर बाँग देता है, रात को सियार नियत समय पर रोते हैं, पक्षी प्रातःकाल अपने निर्धारित क्रम से चहचहाते हैं, चमगादड़ रात को ही उड़ते हैं, उल्लू और बाज रात में ही अपने शिकार ढूँढ़ते हैं । प्राणियों की अनेकों महत्त्वपूर्ण आदतें नियत समय पर क्रियान्वित होती हैं ।

इसका क्या कारण हो सकता है इस प्रश्न के उत्तर मे पिछले दिनों यही कहा जाता रहा है कि यह प्रकृति के परिवर्तन का प्रभाव है । रात और दिन के बदलते हुए प्रभाव प्राणियों पर अपना प्रभाव छोड़ते हैं और उसकी उत्तेजना से वे नियत समय पर नियत कार्य करने को प्रेरित होते हैं ।

यह पिछला समाधान अब अमान्य ठहरा दिया गया है क्योंकि सूर्य की गतिशीलता के कारण उत्पन्न होने वाले प्रभावों से पूरी तरह बचाकर रखने पर भी प्राणी नियत समय पर, नियत कार्य करने के लिए तत्पर रहते देखे जाते हैं । तिलचट्टों को एक कृत्रिम वातावरण में रखा गया । जहाँ प्रकाश, अन्धकार, शान्ति, कोलाहल, सर्दी-गर्मी की दृष्टि से सदा एक जैसी स्थिति रहती थी । समय के अन्तर को पहचानने का कोई साधन उस वातावरण में नहीं था । तो भी तिलचट्टों ने नियत समय पर अपनी नियत हरकतें आरम्भ कर दीं ।

ऐसे ही वातावरण में चींटियाँ, दीमक, मधुमक्खियाँ तथा दूसरे-कीड़ों को रखा गया, पर वे ठीक समयानुसार ही अपने सोने, जागने और काम करने का प्रयत्न उसी समय करते रहे जिस तरह कि सामान्य वातावरण में किया करते थे ।

यदि एक मक्खी प्रातः ८ बजे शक्कर चाटने के लिए कुछ समय जाने की अभ्यस्त कराई जाय तो बाद में भी वह ठीक उसी समय बिना मिनट सैकण्डों का अन्तर किए उसी जगह पहुँचती रहेगी ।

पिछले पचास वर्ष से वैज्ञानिकों द्वारा इस बात की खोज हो रही है कि प्राणियों के भीतर वह कौन-सी घड़ी है जो उन्हें नियत समय पर नियत कार्य करने के लिए प्रेरित करती है ।

उस घड़ी के स्वरूप, कारण और स्थान का तो ठीक पता नहीं चल सका, पर इतना निश्चय अवश्य हो गया कि प्राणियों की अन्तःचेतना में कोई ऐसी सम्वेदना शक्ति है जो प्रकृति में होने वाले परिवर्तनों की जानकारी अनायास ही प्राप्त करती रहती है । स्थानीय आवरण डालने से भी उस सम्वेदना शक्ति पर पर्दा नहीं पड़ता । प्राणी समय सम्बन्धी ज्ञान के किसी भी भुलावे के भीतर झाँक कर वस्तुस्थिति की जानकारी प्राप्त कर लेते है । उनकी घड़ी नियत समय की जानकारी उन्हें यथावत् देती रहती है ।

इस घड़ी की दूसरी विशेषता यह है कि अभ्यस्त समय पर नियत कार्य करने की उत्तेजना देती है । इस घड़ी का निर्माण उसकी जन्मजात प्रकृति के सहारे होता है । अतः उन जीवों को इधर-उधर स्थानान्तरित करने पर बदला हुआ समय उन्हें प्रभावित नहीं करता ।

प्राणियों की भीतरी घड़ी झुठलाने के लिए अनेक प्रकार के अभिनव प्रयोग किए गए । उन्हें बहुत दिन तक बेहोश रखा गया । शून्य तापमान में जमा दिया गया, एक्सरेज किरणों से मस्तिष्क को अस्त-व्यस्त बनाया गया । इतने पर भी जब वे प्राणी बहुत समय उपरान्त अपनी स्वाभाविक स्थिति में पहुँचे तो उन मध्यवर्ती परिवर्तनों को भुलाकर अपनी पुरानी आदत पर आ गए और उसी समय पर वही कार्य करने लगे जो उन्हे आरम्भ से ही अभ्यास में था ।

कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के जीव-शास्त्री डॉक्टर हार्कर का अनुमान था कि यह घड़ी सम्भवतः हारमोन ग्रन्थियों से निकलने वाले स्रावों से प्रभावित होती है । अस्तु उन्होंने प्रयोगशाला के प्राणियो की हारमोन ग्रन्थियों को अलग करके देखा कि इसका क्या प्रभाव पड़ता है ? इन ग्रन्थियों के न रहने से प्राणियों के शरीरो के अन्य प्रकार के नुकसान तो हुए पर समय पालन सम्बन्धी व्यवस्था यथाक्रम चलती रही ।

डॉक्टर हार्कर अन्ततः इस निष्कर्ष पर पहुँचे वि शरीर के अनेक शारीरिक, मानसिक अवयव मिलक अनेक आदतों का सृजन करते हैं उन्हीं आदतों में सम

का ज्ञान और उस समय नियत कार्य करने का उत्साह भी सम्मिलित है। एक उँगली कट जाने पर भी शेष उँगलियाँ मिल-जुलकर हाथ से होने वाले कार्य पूरे करती रहती हैं, ठीक उसी प्रकार कोई एकाध अवयव अशक्त या पृथक हो जाने पर भी शेष अवयवों की मिली-भगत से समय पर नियत कार्य होते रहने का क्रम चलता रहता है।

समुद्र तट पर पाये जाने वाले कुछ केकड़े अक्सर अपना रंग बदलते रहते हैं। दिन चढ़ने के साथ-साथ वे गहरे चॉकलेटी होते जाते है, किन्तु दिन ढलने के उपरान्त उनमें हल्का पीलापन उभरता दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त ज्वार-भाटों में चन्द्रमा के प्रभाव से जो हर रोज ५० मिनट का अन्तर पड़ता जाता है वही अन्तर केकड़ों की त्वचा के रंग में उतार-चढ़ाव के रूप में परिलक्षित होता है। इन केकड़ों को समुद्र तट से हटाकर बहुत दूर पर्वतीय क्षेत्र में रखा गया तो भी उनके रंग परिवर्तन क्रम में तनिक-सा भी अन्तर नहीं दीख पड़ा।

चींटियों की प्रणय केलि नियत निर्धारित मुहूर्त पर होती है। वर्ष में एक दिन ही एक समय ही उनका नियत रहता है। ठीक उसी घड़ी, मुहूर्त मे वे प्रणय केलि के लिए आतुरता अनुभव करती हैं और नर-मादाओं की बरातें सज-धजकर इसी उन्मादी प्रयोजन में संलग्न दीखती हैं। इनका पंचांग कौन बनाता है, नियत मुहूर्त पर नियत स्वर से नफीरी कौन बजाता है ? यह कैसे होता है ? यह तथ्य समझ में न आने पर भी उनका निर्धारित क्रिया-कलाप बिना मिनट सेकण्डों के अन्तर के यथावत् चलता रहता है। अंग्रेजी कलेण्डर और हिन्दुस्तानी पंचांग अपने ग्रह गणित में भूल-चूक करते रहते हैं, पर चींटियों का पंचांग एवं मुहूर्त इतना सही होता है कि उन्हीं को प्रामाणिक मानकर अब ग्रह-गणित में संशोधन करने की बात सोची जा रही है। कई जाति की मछलियो में भी यही विशेषता पायी जाती है, वे गर्भ धारण करने के लिए नियत समय का ही नहीं नियत स्थान का भी ध्यान रखती है।

हम यदि इन छोटे प्राणियों के समय पालन की नियमितता सीख सकें तो भी अपने जीवन की लयबद्धता को व्यवस्थित कर सकते हैं और वांछित दिशा में प्रगति कर सकते हैं।

# शक्ति संचय के सूत्र

शक्ति ही सुख की जननी है। बिना शक्ति के सुख सम्भव नहीं। अशक्त मनुष्य किसी न किसी प्रकार के दुःख में निरन्तर डूबे रहते हैं। निर्बलता का बहुत बड़ा पाप है जिसके परिणामस्वरूप नाना भाँति के दुःख उठाने पड़ते हैं। इसलिए दुःख से बचने और सुख प्राप्त करने के लिए शक्ति संचय की आवश्यकता होती है।

ईश्वर प्राप्ति, जीवन साधना और परमार्थ की उपलब्धि के लिए भी बल की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि सांसारिक सफलताओं के लिए। शक्ति सम्प्रदाय तो एक मात्र शक्ति को ही ईश्वर मानता है। गीता में भगवान ने अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए शक्तिशाली, बड़े उत्तम पदार्थों में ही अपनी स्थिति बताई है। मुक्ति और स्वर्ग भी पुरुषार्थ के, बल के फल हैं। उपनिषदों में स्पष्ट कर दिया गया है कि—'नायमात्मा बल हीनेन लभ्यः।' अर्थात्—'बलहीनों को आत्मा की प्राप्ति नहीं होती।'

भौतिक और आत्मिक सुख-शान्ति के लिए समृद्धि तथा स्वस्थता के लिए, जीवन देवता की साधना के लिए शक्ति की अनिवार्य आवश्यकता है। शक्ति संचय की महत्ता और आवश्यकता पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए यहाँ चार अनिवार्य एवं प्रमुख सूत्र दिए जा रहे हैं। जीवन देवता की साधना करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह उपयोगी मन्त्र हैं।

## पहला सूत्र

**मनचाही सुख समृद्धि प्राप्त करने के लिए आध्यात्म विज्ञान को सीखिये।**

आज कोई भला आदमी यह पसन्द नहीं करता कि उसका प्रिय सम्बन्धी आध्यात्म मार्ग में दिलचस्पी ले। माता को जब पता चलता है कि हमारा लड़का साधु सन्तों की, पण्डे-पुजारियों की संगत में बैठता है तो उन्हें इससे क्रोध आता है और लड़के को रोकने का प्रयत्न करते हैं, स्त्री का पता चले कि मेरा पति बम्भोला बाबाओं के पास आने-जाने लगा है तो वह ऐसी चिन्तित हो जाती है मानो कोई भयंकर विपत्ति उस पर आने वाली है। सच्चा हित चाहने वाला प्रियजन अपने प्रेम पात्र को योगियों के, आध्यात्मवादियों के, चक्कर में फँसने से बचाने की पूरी-पूरी कोशिश

करता है क्योंकि यह सच्चाई सर्वविदित हो चुकी है कि ऐसे लोगों के सम्पर्क में आने से मनुष्य निकम्मा, आलसी, दुर्गुणी, विचार शून्य, कल्पना प्रिय एवं गैर जिम्मेदार हो जाता है । सभी कोई अपने प्रिय पात्र को उन्नतिशील देखना चाहते हैं, उसे ऐश्वर्यवान, तेजस्वी और सुखी बनाना चाहते हैं जब इच्छा के विपरीत उस भिक्षुक, आलसी, नशेबाज, निठल्ले, दीन-दरिद्र, घृणित, मिथ्यावादी बनाने के मार्ग पर चला देखते हैं तो उनका क्रोध करना और चिन्तित होना स्वाभाविक है । ठीक भी है—जो अपने को अनर्थ में गिरा हुआ देखकर चिन्तित न हो वह अपना कैसा ? नदी में डूबते हुए, गड्ढे में गिरते हुए, आग में जलते हुए मित्र को बचाने और रोकने का प्रयत्न न करे वह मित्र कैसा ?

प्राचीन काल में ऐसा न था । उस समय माता-पिता अपने बालकों को ऋषियों के आश्रम में भेजकर शिक्षा-दीक्षा के सम्बन्ध में निश्चिन्त हो जाते थे । गरीब से लेकर राजा तक अपने बालकों के लिए यही हितकर समझते थे कि उन्हें महात्माओं के सुपुर्द कर दिया जाय, क्योंकि अक्षर ज्ञान की शिक्षा के अतिरिक्त वहाँ आध्यात्मिक शिक्षा की भी व्यवस्था रहती थी । चिरकालीन अनुभव ने सिद्ध कर दिया था कि जीवन सफल, सुखी और सम्पन्न तभी हो सकता है जब उसका निर्माण आध्यात्मिक आधार पर किया जाय । इस शिक्षा के बिना अपूर्णता दूर नहीं होती और वह दृष्टिकोण विकसित नहीं होता जिसके आधार पर मनुष्य अपने लिए और दूसरों के लिए आनन्ददायक प्रमाणित होता है । कृष्ण को मथुरा से तीन सौ कोस दूर उज्जैन नगरी के निकट शिप्रा तट पर सन्दीपन ऋषि के आश्रम में भेजा गया था । राम को वशिष्ठजी ने आरम्भिक शिक्षा दी थी और विश्वामित्र के आश्रम में बहुत समय तक अध्ययन किया था । धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्रों को द्रोणाचार्य ने पढ़ाया था । समर्थ गुरु रामदास ने शिवाजी को तैयार किया था । इन ऋषियों के आश्रम में रहकर क्या राम, कृष्ण, पाण्डव, शिवाजी भिखमंगे, दरिद्री, निठल्ले, नशेबाज, अकर्मण्य और गैर जिम्मेदार बनकर निकले थे ? क्या उन्होंने चिमटा बजाने, गांजा पीने, भभूत रमाने, भीख माँगने, तालियाँ पीट-पीट कर नाचने का पेशा अख्तयार किया था ।

असल में आध्यात्म शिक्षा, मानव जीवन को सुसंचालित करने की एक वैज्ञानिक पद्धति है, सफल जीवन बनाने की कलापूर्ण विद्या है । जिसके द्वारा बलवान, वीर्यवान, तेजस्वी, योद्धा, धनी, प्रतिष्ठित, लोकप्रिय, उच्च पदारूढ़, अधिकारी, विद्वान एवं महापुरुष बनाया जा सकता है । अपने को सुख शान्तिमयी, उल्लास पूर्ण, आनन्ददायी स्थिति में हर घड़ी रखा जा सकता है । मनुष्य चाहे कुछ भी व्यवसाय करता हो, किसी पक्ष के विचार रखता हो, कैसे ही मार्ग पर चल रहा हो, आध्यात्म शिक्षा उसके लिए व्यावहारिक रूप से सहायता करती है और उन्नति के पथ पर निरन्तर आगे बढ़ाती है । इसमें अवनति, असफलता और अकर्मण्यता की ओर ले जाने वाला एक भी तत्व नहीं है ।

वर्तमान समय में पाश्चात्य जगत की गोरी जातियाँ योग के आरम्भिक नियमों का पालन कर रही हैं, उन जातियों ने आध्यात्मिक नियमों का उपयोग राजसी सुख प्राप्ति के लिए किया है । तदनुसार स्वस्थ, हथौड़ों से गढ़े सुन्दर शरीर, हँसमुख चेहरे, विलास, वैभव, धन, ऐश्वर्य उन्हें प्राप्त है । हजारों लाखों मील जल, थल पार करते हुए वे लोग अनेक भू-खण्डों में अपनी आर्थिक सत्ता स्थापित किए हुए हैं । यह सब केवल चालाकी या कूटनीति से ही नहीं हो जाता, उसमें व्यक्तिगत सद्गुण भी होते हैं, शरीरोन्नति और मानसिक शक्तियों के विकास की ओर वे पूरा-पूरा ध्यान देते हैं, अपने को कष्ट सहिष्णु, परिश्रमी, नियमित, वीर, साहसी, कर्तव्य-परायण बनाते हैं तब इस योग्य होते हैं कि संसार में अपनी विजय पताका फहरायें । भारतीय आध्यात्मवेत्ता उपर्युक्त गुणों का अधिक उपयोग सात्विक उद्देश्यों के लिए और कम उपयोग राजसी उद्देश्यों के लिए कराते हैं । गोरी जातिवालों ने आध्यात्म नियमों को तो भली प्रकार हृदयंगम किया है पर उनका उपयोग अधिकांश राजसी सुख के लिए किया । बस, इतना ही अन्तर रहा अन्यथा यदि वे लोग अपने सद्गुणों का, तप भावना का, उपयोग सात्विक उद्देश्यो के लिए करते तो यह पृथ्वी स्वर्ग बन जाती और वह दृश्य उपस्थित होते जो प्राचीन काल में भारतीय महापुरुषों ने सारे भूमण्डल में अपनी सात्विक सेवा भावना द्वारा उपस्थित किए थे ।

हमारे देश में सार्वजनिक रूप से आध्यात्मिकता का लोप-सा हो गया है । यों कहने को तो छप्पन लाख पेशेवर ऋषि महात्मा इस देश में चरते हैं और करीब-करीब उतने ही बिना पेशे वाले 'भगत' लोग मिल सकते हैं पर इनमें ऐसे लोग चिराग लेकर ढूँढ़ने पड़ेंगे जो योग का वास्तविक अर्थ समझते हों । घोर तामसिकता अपनी सखी-सहेलियों—अविद्या, विचार शून्यता, हरामखोरी, दाम्भिकता के साथ संगठित और सुसज्जित रूप से आध्यात्मिकता के साथ आ विराजी है । राक्षसी पूतना ने कृष्ण को मार डालने के लिए गोपियों का रूप बनाया था आज तामसी दाम्भिकता मनुष्य तत्व की हत्या करने के लिए बड़े-बड़े मनमोहक मायावी रूप बनाकर भारत भूमि में विचर रही है । पूतना का मायावी रूप भी ब्रजवासियों के मन में विश्वास पैदा न कर सका था, आज गृह त्यागी, वस्त्रहीन, जटाधारी माया को देखकर भी लोगो की अन्तरात्मा यह स्वीकार नहीं करती कि वह लोग स्वय कुछ उन्नति कर रहे हैं या इनके संसर्ग में आने वाला कोई दूसरा भी उन्नति कर सकता है । दिल से दिल को राहत होती है । सच्चाई सहस्र छिद्रों मे होती हुई प्रगट होती है । आज यदि लोग आध्यात्मवादी वायुमण्डल से बचने और बचाने का प्रयत्न करते हैं तो इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है ।

आज आध्यात्मिक क्षेत्र में ऐसे कंगले पड़े हैं जिनमें पौरुष, योग्यता, उपार्जन शक्ति, विवेक बल का बिल्कुल अभाव है, अपने योग्यता बल से कुछ भी कर सकने में असमर्थ होते हैं, यहाँ तक कि पेट भरने को भी मोहताज है । यह लोग जब अपने त्याग के गीत गाते हैं तो हँसी रोके नहीं रुकती । हमे धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों का पर्याप्त अनुभव है, भारतवर्ष के एक कोने से दूसरे कोने तक यात्राएँ की हैं, भिखमंगों से लेकर विद्वान संन्यासियो तक से घनिष्ठता रखने के अवसर प्राप्त हुआ करते है, हमारा अपना निजी अनुभव यह है कि इन क्षेत्रों मे आधे से अधिक लोग ऐसे हैं जो जीवन में सफलता प्राप्त न कर सके, परिस्थितियों को इच्छानुकूल न बना सके, असमर्थ रहे, अपमानित हुए, नालायकी के कारण दुनिया से दुत्कारे गए, तब वे लोग हताश, उदास, दुःखी, चिड़चिड़े होकर संसार को भव सागर मानकर अपने लिए एक काल्पनिक स्वर्ग की रचना करते हैं, और उसमें बेपेंदी की उड़ानें उड़कर किसी प्रकार अपना मन बहलाते हैं । क्या यह लोग त्यागी हैं ? क्या यह संन्यासी हैं ? क्या यह आध्यात्मवादी हैं ? यदि योग्यता और अकर्मण्यता की प्रतिक्रिया का नाम ही आध्यात्मवाद है तो हर एक व्यक्ति को दूर से ही उसे नमस्कार करना चाहिए ।

बात असल में उससे बिल्कुल उल्टी है । आध्यात्मवाद एक प्रकार का उत्कृष्ट पराक्रम है । सच्चा आध्यात्मवादी सबसे पहले अपनी शारीरिक और मानसिक योग्यताओं को अपने पौरुष द्वारा बढ़ाता है और उन्हें इतना उन्नत कर लेता है कि उसके बदले में संसार की बड़ी से बड़ी वस्तु खरीद सके । अष्ट सिद्धि, नव सिद्धि उसके हाथ मे आ जाती हैं अर्थात् इतना सूक्ष्म, बुद्धिमान और क्रिया कुशल हो जाता है कि अपनी बड़ी से बडी सांसारिक इच्छा को अल्प समय में पूरा कर सकता है ।

सत्य का सूर्य सदा के लिए अस्त नहीं हो सकता । उल्लू और चमगादड़ों को प्रसन्न करने वाली निशा का आखिर अन्त होता ही है । अब वह युग निकट आ गया है जब सच्चाई प्रकट होगी और उसके प्रकाश में सब लोग वास्तविकता का दर्शन कर सकेंगे । नवयुग की स्वर्णिम ऊषा कमल पुष्पों की तरह मुस्कराती हुई विकसित होती चली आ रही है । वह आध्यात्म तत्व को अब और अधिक विकृत न होने देगी वरन् उसका शुद्ध रूप सर्व साधारण के सामने प्रकट कर देगी । जिस भोजन के अभाव में क्षुधित भारत चिरकाल से तड़प-तड़प कर कण्ठप्रण हो रहा है वह अमृत तत्व अब उसके सम्मुख शीघ्र ही रखा जाने वाला है । राष्ट्र और जातियाँ जिस स्रोत से शक्ति रूपी जल पीकर फलती-फूलती हैं, वह व्यावहारिक आध्यात्मवाद अपने विशुद्ध रूप में नव प्रकाश के साथ प्रकट होता हुआ चला आ रहा है । अदृश्य तत्वों को देखने वाली आत्माएँ देख रही हैं कि भारत माता के मस्तक को उसी पुराने स्वर्ण मुकुट से सजाया जायेगा और आध्यात्मिक अस्त्र-शस्त्रो से सुसज्जित भारतीय संतति उसके विजय घोष से विश्व को गुंजित करेगी ।

सत्य की खोज करने वाले व्यक्तियों को जानना चाहिए कि आध्यात्मवाद को जैसा कि आजकल तर्क और बुद्धि से विपरीत, निरर्थक कल्पना और दीन-दरिद्री

बनाने वाली आलस्यमय विडम्बना समझा जाता है । यथार्थ में वह वैसी वस्तु नहीं है । सिंह की खाल ओढ़कर गधा अपने को सिंह साबित करे तो इसमें सिंह की प्रतिष्ठा नहीं घटती, इसके दोष या तो धोखेबाज गधे पर है या भ्रम में पड़ जाने वाले भोले लोगों पर । लाख वर्ष तक लाख गधे सिंह की खाल ओढ़े फिरें, फिर भी सिंह की महानता, उसके गौरव को कम न होने देगी । आध्यात्मवाद अपनी अनन्त अद्‌भुत शक्तियों के कारण असली सिंह है उसकी महत्ता में रत्ती भर भी अन्तर नहीं आता, भले ही लाखों ठग और मूर्ख उसका दुरुपयोग करके बदनाम करते रहें ।

आध्यात्मवाद वह विद्या है जिसको सर्वोपरि विद्या—ब्रह्म विद्या कहा गया है । भारतीय विश्वास है कि ब्रह्म विद्या जाने बिना ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकता । ऋषि उद्दालक का पुत्र श्वेतकेतु गुरु के आश्रम में अनेक विद्याओं का चिरकाल तक अध्ययन करने के उपरान्त घर वापस लौटा तो पिता ने उसकी परीक्षा ली और जब ब्रह्म विद्या की न्यूनता देखकर पुनः उसे गुरु गृह को वापस भेज दिया था, फिर भी जब कमी रही तो पिता ने स्वयं अपूर्णता को पूरा कराया । तात्पर्य यह कि उस समय ब्रह्म विद्या की महत्ता को सब लोग भली-भाँति जानते थे और समझते थे यदि यह ज्ञान न आया तो मनुष्य 'पक्का गधा' भले ही बना रहे पर सफल जीवन, समृद्ध-सम्पन्न न बन सकेगा ।

जिस विचार पद्धति से मनुष्य अपने जीवन में प्रतिदिन आने वाली समस्याओं को आसानी से सुलझा सकता है, सही नतीजे पर पहुँच सकता है, ठीक मार्ग का अवलम्बन कर सकता है उसे आध्यात्मवाद कहते हैं । व्यापार में अधिक लाभ, नौकरी में अधिक सुविधा और तरक्की, पत्नी-प्रेम, पुत्र-शिष्य और सेवकों का आज्ञा-पालन, मित्रों का भ्रातृभाव, गुरुजनों का आशीर्वाद, परिचितों में आदर, समाज में प्रतिष्ठा, निर्मल कीर्ति अनेक हृदयों पर शासन, निरोग शरीर, सुन्दर स्वास्थ्य, प्रसन्नचित्त, हर घड़ी आनन्द, दुःख शोकों से छुटकारा, विद्वता का सम्पादन, तीव्र बुद्धि, शत्रुओं पर विजय, वशीकरण का जादू, अकाट्य नेतृत्व, प्रभावशाली प्रतिभा, धन-धान्य, इन्द्रियों के सुखदायक भोग, वैभव-ऐश्वर्य, ऐश-आराम, सुख-संतोष, परलोक में सद्‌गति, यह सब बातें प्राप्त करने का सच्चा सीधा मार्ग आध्यात्मवाद है, इस पथ पर चलकर जो सफलता प्राप्त होती है वह अधिक दिन ठहरने वाली, अधिक आनन्द देने वाली और अधिक आसानी से प्राप्त होने वाली होती है । एक शब्द में यों कहा जा सकता है कि सारी इच्छा आकांक्षाओं की पूर्ति का अद्वितीय साधन आध्यात्मवाद है । इस तत्व को जो जितनी अधिक मात्रा में, जिस निमित्त संग्रह कर लेता है वह उस विषय में उतना ही सफल हो जाता है । सच्ची सफलता की सारी भित्ति इसी महाविज्ञान के ऊपर खड़ी हुई है फिर चाहे उसे आध्यात्मवाद नाम से पुकारिये अथवा इच्छा शक्ति पौरुष, कुशलता आदि कोई और नाम रखिये ।

आध्यात्मवाद पुरुषार्थी लोगों का धर्म है । तेजस्वी, उन्नतिशील, महत्त्वाकांक्षी और आगे बढ़ने की इच्छा रखने वाले ही उसे अपना सकते हैं । मुक्ति सबसे बड़ा पुरुषार्थ है, इसे वे लोग प्राप्त कर सकते हैं जिनमें अटूट धैर्य, निष्ठा, साहस और पराक्रम है । कायर और काहिल लोग अपने हर काम को कराने के लिए देवी-देवता, सन्त-महन्त, भाग्य, ईश्वर आदि की ओर ताकते हैं । अपना हुक्का भी ईश्वर से भराकर पीना चाहते हैं ऐसे कर्महीनों के लिए उचित है कि किसी सनक में पड़े-पड़े झोंके खाया करें और ख्याली पुलाव पकाया करें । सच्चे आध्यात्मवाद का दर्शन उन बेचारों को शायद ही हो सके ।

आप ब्रह्म विद्या की शिक्षा ग्रहण कीजिए, जिससे सुलझा हुआ दृष्टिकोण प्राप्त कर सकें । इस ज्ञान दीपक को अपने मन-मन्दिर में जला लीजिए जिससे हर वस्तु को ठीक-ठीक रूप से देख सकें । इस ध्रुव तारे को पहचान लीजिए जिससे दिशाओं का निश्चित ज्ञान रख सकें । इस राज पथ को पकड़ लीजिए जिससे बिना इधर-उधर भटके अपने लक्ष्य स्थान तक पहुँच सकें । ब्रह्म विद्या-नगद धर्म है । इसका फल प्राप्त करने के लिए परलोक की प्रतीक्षा में नहीं ठहरना पड़ता, वरन् "इस हाथ दे उस हाथ ले" की नीति के अनुसार प्रत्यक्ष फल मिलता है । जब जितनी मात्रा में, जिस निमित्त उस तत्व का आप उपयोग करेंगे तब, उतनी ही मात्रा में, उस कार्य में लाभ प्राप्त करेंगे, परन्तु स्मरण रखिये यह विद्या कुछ मन्त्र याद कर लेने से अमुक पुस्तक का पाठ करने, माला जपने, तिलक लगाने आसन जमाने, साँस खींचने तक ही सीमित नहीं है

कर्मकाण्ड इस विद्या की प्राप्ति में कुछ हद तक सहायक हो सकते हैं, वे साधन हैं साध्य नहीं । कई व्यक्ति इन कर्मकाण्डों को ही अन्तिम सीढ़ी समझ कर लगे रहते हैं और इच्छित वस्तु को नहीं पाते तो उन पर से मन हटा लेते हैं ।

आत्मसाधना के पथ पर चलने की इच्छा करने वाले हर एक पथिक को यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि अपने विश्वास, विचार और कार्यों को उन्हें एक सुदृढ़ साँचे में ढालना होगा । मनुष्य जैसी कुछ भली-बुरी बाह्य परिस्थितियों में पड़ा हुआ दिखाई पड़ता है, वह उसकी मानसिक तैयारी का फल मात्र है । भीतर जैसे तत्वों का समावेश है जैसे विश्वास, विचार संस्कार जमा हैं उन्हीं के कारण बाहरी जीवन की अच्छाई-बुराई का निर्माण होता है । आध्यात्मवाद का निश्चित सिद्धान्त है कि मनुष्य की उन्नति-अवनति में, सुख-दुःख में कोई और सत्ता हस्तक्षेप नहीं करती, वह स्वयं ही अपने भीतरी जगत को जैसा बनाता है उसी के अनुसार दूर-दूर से खिंचकर परिस्थितियाँ उसके चारों ओर इकट्ठी हो जाती हैं । चूँकि आप इच्छानुसार मन पसन्द परिस्थितियों में रहना चाहते हैं, आप चाहते हैं कि दुनिया में वे पदार्थ और अवसर हमारे सामने रहा करें जैसी कि इच्छा करते हैं । यह बात सचमुच उतनी कठिन नहीं है जितनी कि समझी जाती है, यह बहुत ही आसान है कि आप मनचाही आनन्ददायक परिस्थितियों में रहें और कोई ऐसा विग्रह उपस्थित न हो जो आपको बुरा लगे जिसमें आपका आनन्द नष्ट होता हो ।

वह कल्पवृक्ष जो हर प्रकार की इच्छाओं को पूरा करता है आपके निज के भीतर मौजूद है, उसके पास पहुँचने का जो मार्ग है उसे ही आध्यात्मवाद, ब्रह्म विद्या योग साधना कहते है । गेहूँ की फसल काटने के लिए गेहूँ का बीज बोना पड़ता है और उसे ठीक रीति से सींचना, नराना पड़ता है । मनचाही परिस्थितियाँ प्राप्त करने के लिए ऐसे विचार, विश्वास और संस्कारों को मनोभूमि में बोना और सींचना पड़ता है जो बीज की तरह उगते हैं और निश्चित रूप से अपनी ही जाति के पौधे उपजाते हुए फूलते-फलते हैं । इसी मानसिक कृषि को संस्कृत भाषा में 'ब्रह्म विद्या' नाम से उल्लेख किया गया है । यह विद्या उस प्रत्येक व्यक्ति को सीखनी पड़ती है जो प्रफुल्लित आनन्दमय जीवन जीने की इच्छा करता है । हमारे देश को तो विशेष रूप से इस शिक्षा की आवश्यकता है जिससे इस देश के निवासी वर्तमान दुर्दशा से स्वयं छूट सकें और अपने देश को छुड़ा सकें । भारत संसार का पथ प्रदर्शक धर्म गुरु रहा है । हम भारतीय सच्ची आध्यात्मिकता के आधार पर अपनी दशा में चमत्कार पूर्ण परिवर्तन करके संसार के सामने अपना गौरव प्रकट कर सकते है और प्राचीन महानता को पुनः प्राप्त कर सकते हैं ।

स्वामी विवेकानन्द ने एक बार अमेरिकन लोगों के सामने कहा था—"मेरे अमेरिकन मित्रो ! कदाचित तुम यह कहो कि स्वामी जी ! आप सात समुद्र पार करके वेदान्त का उपदेश हमें देने क्यों आये है, क्या भारतवर्ष को इस सुनहले ज्ञान की आवश्यकता नहीं है ? इस प्रश्न का उत्तर मैं यही दे सकता हूँ कि वेदान्त धर्म का सच्चा अधिकारी और पात्र वही हो सकता है जो सामर्थ्यवान हो, ऐश्वर्य सम्पन्न हो, लक्ष्मी जिसके चरण चूमती हो । तुम्हारा अमेरिकनजन समाज अटूट सांसारिक वैभव का स्वामी है, तुम्हारी संग्रहशीलता बढ़ी-चढ़ी है । इसलिए त्याग मूलक वेदान्त की आवश्यकता भी तुम्हें ही है और तुम्हीं इस वेदान्त के धर्म अधिकारी हो । मेरा हिन्दुस्तान भाग्य के फेर से और अपनी अकर्मण्यता, पौरुषहीनता के हेतु से आज दाने-दाने को मोहताज हो रहा है । उसे रोटियों के लाले हैं । ऐसे देश को मैं त्याग धर्म की क्या शिक्षा दूँ, अपने देशवासियों से तो मैं यहीं कहूँगा कि प्यारे ? कमाओ, खाओ और धन संग्रह करो ।"

आध्यात्मवाद सबको एक लाठी से नहीं हाँकती, उसकी शिक्षाएँ अधिकारी भेद के अनुसार अलग-अलग प्रकार की हैं । ब्रह्माजी ने भोग लिप्त देवताओं को इन्द्रिय दमन का, धनवान वैश्यों को दान का और बलवान असुरों को दया का उपदेश दिया था । जिसके पास जैसी मनोभूमि और जैसे-जैसे साधन हैं उसे उसी के अनुसार आध्यात्मिक साधना की व्यवस्था की गई है इसीलिए एक ही तत्व अनेक शाखा-प्रशाखाओं में बँटा हुआ दृष्टिगोचर होता है ।

प्राचीन धर्म-ग्रन्थो में अपने-अपने समय के विचार युग के अनुसार आध्यात्मिकता को विभिन्न रूपों मे प्रकट किया गया है । सत्य तो सदा एक ही है पर

वह अपने-अपने समय में पृथक आकार-प्रकार के साथ दृष्टिगोचर होता है, जल-तत्व अविच्छिन्न है पर समयानुसार वह बादल, ओस, वर्षा, कुहरा आदि रूपों में दृष्टिगोचर होता है । हमारा प्रयत्न भी ऐसा ही है । हमारे पूजनीय पूर्व पुरुषों ने, युगों तक गम्भीर मनन और अगाध अनुभव के आधार पर जिस आध्यात्म विज्ञान की रचना की है, उन्हें लोगों की सामयिक विचार पद्धति के अनुकूल बनाकर आधुनिक ढंग से रखने का हमने विनम्र प्रयत्न किया है । शाश्वत सत्य के अनादि तथ्यों को आधुनिक विचार पद्धति से रखने की आवश्यकता अनुभव की गई, ताकि आज के युग में उन कठिन समझे जाने वाले विषयों को आसानी से हृदयंगम किया जा सके । यह पुस्तक इसी उद्देश्य से लिखी जा रही है । इस पर विचार करने के उपरान्त पाठक जान सकेंगे कि इस विद्या से छूत की बीमारी की तरह बचने की आवश्यकता नहीं है वरन् युवक और बालकों को इसमें पारंगत होने की जरूरत है ताकि वे जीवन को सुखी, समृद्ध और प्रतिष्ठित बना सकें ।

## दूसरा सूत्र

**"मैं अविनाशी हूँ" इसे आध्यात्मवाद का दीक्षा मन्त्र समझिए ।**

मामूली से मामूली काम को लीजिए उसे पूरा करने के लिए कुछ समय की आवश्यकता होती है । श्रेष्ठ स्थायी कार्यों में अक्सर विलम्ब लगता है, फूस की झोंपड़ी चार दिन में बनकर तैयार हो सकती है पर महल खड़ा करने के लिए तो वर्षों का समय चाहिए । मक्का की खेती दो महीने में पक सकती है पर आमों का बाग लगाकर मधुर फल खाने के लिए दस वर्ष तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी । वैसे तो भौतिक वस्तुएँ प्राप्त करने की इच्छा को पूरा करने के लिए बहुत समय चाहिए, धनी बनने के प्रयास में सारी जिन्दगी खर्च हो जाती है तो भी सफलता संदिग्ध रहती है फिर यह भी मान लिया जाय की किन्हीं विशेष प्रयासों से कोई मनुष्य भौतिक वस्तुएँ शीघ्र प्राप्त कर सकता है तो भी यह निश्चित है कि स्थायी सम्पत्ति प्राप्त करने लायक योग्यता का संचय, समय साध्य है । एम. ए. पास करने के लिए बहुत दिनों तक सब ओर से चित्त हटा कर केवल घोर अध्ययन में प्रवृत्त रहना पड़ता है यदि ऐसा न किया जाय तो उस उच्च पद को प्राप्त करना कठिन है । इस प्राकृतिक नियम पर मनुष्य का कुछ काबू नहीं कि बोया हुआ बीज बहुत समय लेकर तब कहीं फलता-फूलता है । हम चाहते हैं कि हथेली पर सरसों जम जाया करे, पर मजबूरी है वैसा होता नहीं, हो भी नहीं सकता ।

मानव जीवन छोटा है, अस्थिर है और क्षण भंगुर है । आज स्वस्थ है कल आरोग्यता खोकर अपाहिज हो सकते हैं, आज हँस-बोल रहे हैं कल मरघट की भूमि में अदृश्य हो सकते हैं, समय बीतते देर नहीं लगती । जीयें भी तो जीवन की सच्ची अवधि, यौवन की परिधि बहुत ही छोटी है । बालकपन और वृद्धावस्था में पराधीनता रहती है । कार्य शक्ति केवल यौवन में ही रहती है यह यौवन चंदरोज है, दोपहर की धूप की तरह ढल जाता है । कोई विचारवान व्यक्ति जब इस अस्थिर और क्षणिक जीवन पर विचार करने बैठता है तो उसे बड़ी वेदना और निराशा होती है, आज हूँ कल न रहूँ, आज क्रियाशील हूँ कल अशक्त हो जाऊँ तो कहीं का न रहूँगा । उसका धैर्य टूट जाता है और चाहता है कि इस प्रकार के कार्य करने चाहिए जिनका फल शीघ्र से शीघ्र मिल जाय, देर तक प्रतीक्षा न करनी पड़े ।

दान-पुण्य की, पूजा-पाठ की बात अलग है । मृत्यु को पास खड़ा समझ कर जल्द से जल्द दान-पुण्य कर ले यह एक सामयिक और छोटी-सी समस्या है । कोई व्यक्ति न तो दिन-रात दान-पुण्य करता रह सकता है और न पूजा पाठ । यह कभी-कभी करने की बातें हैं । सारा समय तो उसे अपने और अपने आश्रितजनों की दैनिक जरूरतें पूरी करने में लगाना पड़ता है । जीवन निर्वाह की समस्या का हल करने में ही साधारणतः अधिकांश समय और बल खर्च होता रहता है । जीवन की अस्थिरता, नश्वरता और क्षणभंगुरता के नग्न सत्य पर जब एक विचारवान व्यक्ति दृष्टिपात करता है तो उसके सामने दो कार्यक्रम उपस्थित होते हैं—पहला यह कि मुझे जिन्दगी का अधिक से अधिक मजा लूट लेना चाहिए । दूसरा यह कि संसार माया है, धोखा है, इसमें किसी से सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए अन्यथा व्यर्थ दुःख उठाना पड़ेगा ।

यह दोनों ही कार्यक्रम ऐसे हैं जो जीवन का सारा सौन्दर्य नष्ट-भ्रष्ट कर डालते हैं ।

जब पहले कार्यक्रम के अनुसार वह जिन्दगी का मजा लूटने पर उतरता है और आत्मा की अमरता के बारे में विश्वास नहीं करता तो हर उचित और अनुचित तरीके से इन्द्रियों को तृप्त करना—अधिक तृप्त करना, अतिशय तृप्त करना उसका उद्देश्य बन जाता है । आपको अनकों व्यक्ति ऐसे मिलेंगे जो खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ की नीति पर विश्वास करते हैं । ऋण लेकर घृत पीने में कुछ हर्ज नहीं समझते । चोरी से, लूट से, ठगी से जैसे भी धन मिले प्राप्त करना, असत्य से, दगाबाजी से, वहकावे से जैसे भी हो सके अपना प्रयोजन सिद्ध करना उनका कार्यक्रम होता है । पैसे को पानी की तरह बहाते हैं । व्यभिचार, मद्यपान, माँसाहार ऐश-इशरत, मन बहलाव के लिए वे घर के पैसे को ठीकरी की तरह लुटा सकते हैं, घर में जब समाप्त हो जाय तो बाहर से पैसा प्राप्त करने के लिए ऋण लेना, ठगी, षड्यन्त्र, अपहरण, हत्या आदि सब कुछ कर सकते हैं । उन्हें अपनी—केवल अपने शरीर की चिन्ता होती है । आश्रित, कुटुम्बी तथा अन्य व्यक्ति उनके आचरण से कितने दुःखी होते हैं इसकी रत्तीभर भी परवाह नहीं करते, क्योंकि वे सोचते है 'आप मरे जग प्रलय' है । शरीर पानी का बबूला है, टूट गया तो मेरा भी अस्तित्व न रहेगा, फिर जो बहार आज लूट सकता हूँ फिर कहाँ लूटूँगा ? ऐसा विचार करता हुआ वह धर्म, कर्म, सदाचार, न्याय, समाज हित-कीर्ति, प्रतिष्ठा सबको तिलांजलि देकर केवल अपने ऐश आराम की बात सोचता है और इसके लिए जो कुछ भी जिस प्रकार भी कर सके सब कुछ उचित समझता है । इसी दृष्टिकोण से काम करने वाले असंख्य लोग आपको अपने आस-पास मिल सकते हैं ।

दूसरा दृष्टिकोण करीब-करीब आत्म-हत्या के बराबर है । कमजोर तबियत का आदमी जब अपने सामने किन्ही बड़ी कठिनाइयों को खड़ा हुआ देखता है तो घबरा जाता है । आत्म-विश्वास के अभाव मे दीन होकर किंकर्तव्यविमूढ़ बन जाता है । सोचता है मेरे करने से कुछ न हो सकेगा, अपने ऊपर झुंझलाता है और सामने की कठिनाई का उत्तरदायित्व दूसरे के ऊपर थोपकर अपनी बेचैनी दूर करना चाहता है । आत्म-हत्या का यही मनोविज्ञान है । एक कमजोर तबियत की स्त्री जब पति को इच्छानुवर्ती नहीं बना सकती और न उसके अप्रिय व्यवहार को बदल सकती है तो कुएँ में गिरकर या किसी अन्य प्रकार से आत्म-हत्या कर लेती है । उस आत्म-हत्या से प्रकट होता है कि स्त्री ने दुःखदायी परिस्थितियों का निवारण अपनी शक्तियो से बाहर समझा और अपनी निर्दोषता एवं पति का दोष घोषित करने के लिए एक दुःखदायी भयंकर कर्म कर डाला । स्त्री ने शारीरिक आत्म-हत्या की, पर ऐसे अनेक लोग हैं जो जीवन की क्षण भंगुरता से डरकर मानसिक आत्म-हत्या कर लेते हैं । उनके नथुनो में से साँसें चलती रहती हैं, दिल धड़कता रहता है, और अन्न जल भी जारी रखते हैं पर यथार्थ में वे मृतक हो जाते हैं, उनके विश्वास और विचार, बिल्कुल निराशा एवं असमर्थता के गर्त में गिर पड़ते हैं ।

चन्द दिन जीना है, क्यों खट-खट पाले, क्यों किसी से प्यार मुहब्बत जोड़ें, किससे बुराई बांधें, दुनिया में क्या रखा है, कौन किसी का होता है सब कब्र मे पाँव लटकाये हुए हैं, सब यहीं पड़ा रह जायेगा, जो मिलता है भाग्य से मिलता है, ईश्वर की इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता, इस प्रकार के विचार रखने का यह अर्थ है कि यह व्यक्ति जीवन की नश्वरता से डरकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया है और अपनी कार्य शक्ति के ऊपर से विश्वास खो बैठा है । ऐसा व्यक्ति अपने को निराश, दीन-हीन, तुच्छ, असमर्थ समझता है और अपनी इन दुर्बलताओं पर मन ही मन झुंझलाता है । चिन्ता और बेचैनी से छुटकारा पाने का एक बहुत सस्ता उपाय है—जिसे कमजोर आदमी अक्सर काम में लाते हैं—वह यह कि "अपने दोषों को दूसरों पर थोप दिया जाय ।" इन आत्मघातियों को 'ईश्वर' एक ऐसा-प्राणी मिल जाता है जो सफाई देने के लिए सामने नहीं आता, और उस पर चाहे जैसे इल्जाम लगाये जा सकते है । ईश्वर ने हमें यह नुकसान पहुँचाया, उसी की टेढ़ी नजर से हानि हुई, बिना ईश्वर की मर्जी के सुख नही मिल सकता, ईश्वर की कृपा से पापी भी तर जाते हैं, जब ईश्वर को देना होगा तो छप्पड़ फाड़ कर देगा, ऐसी-ऐसी बातें बनाकर वे यह साबित करना चाहते हैं कि जो कुछ भला-बुरा करता है ईश्वर करता है । अपनी परिस्थितियों के लिए हम

निर्दोष है । यह लोग काम करने की उपेक्षा करते हैं, कर्तव्य-पालन को व्यर्थ बताते हैं, अजगर की तरह पड़ा रहना पसन्द करते हैं, संसार को मिथ्या बताते है । हरामखोरी में दिन नहीं कटता और पेट को अन्न की आवश्यकता होती है तो भूखे कायर की तरह ढोंग रचकर काम चलाते हैं । धर्म की अन्धी पोल मे सुरक्षित रूप से घुस बैठते हैं और काम चलाऊ भोजन, वस्त्र प्राप्त करते रहते हैं ऐसे लोगों की एक अच्छी भली पलटन बन गई है । ऋषियों के पवित्र नाम को बदनाम करते हुए यह आत्म हत्यारे सन्त-महन्त, ज्योतिषी, पंडित, पुजारी, भगत आदि का वेष बनाकर गाल बजाते, मटरगस्ती करते, मुफ्त का माल चरते इधर-उधर विचरण करते हैं ।

चार दिन की बहार को जल्द से जल्द, अधिक से अधिक मात्रा में लूटने की मनोवृत्ति तथा अस्थिर जीवन में हम क्या कर सकते हैं यह निराशापूर्ण आत्मघाती भावना, उस एक ही वस्तु के दो रूप हैं । किसी मनुष्य का एक फोटो मुख की तरफ से खींचा जाय और दूसरा पीठ की तरफ से तो दोनों एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न दिखाई पड़ेगे, उनमें कोई समानता न होगी, तो भी सच्चाई यह है कि वे भिन्न आकृति के फोटो एक ही शरीर के हैं । उपर्युक्त दोनों मनभावनाएँ बाह्यत: एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न दिखाई पड़ती हैं पर वास्तव में एक ही विचारधारा के दो प्रतिबिम्ब हैं । एक ही वृक्ष पर लगे हुए दो फल हैं ।

जीवन क्षण भंगुर है इस गम्भीर तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता और इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि विचार करने वाला व्यक्ति इस सच्चाई को समझकर बहार लूटने में बेचैनी या निराशापूर्ण घबराहट के कारण कर्म त्याग की आत्म हत्या, इन दो ही मार्गों का अवलम्बन करेगा । यह दोनों ही पथ बड़े घातक हैं । मनुष्य जब से सामाजिक प्राणी बना है, कुटुम्ब के साथ, बस्तियों में रहने लगा है, तब से उसका उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है । उसे अपनी सुविधाएँ प्राप्त करने का उसी सीमा तक अधिकार रह गया है जहाँ तक कि दूसरों की सुविधाओं से संघर्ष नहीं होता । जब कोई मनुष्य अपने लिए अधिक सुख प्राप्त करने की इच्छा से अन्य लोगों के अधिकारों को कुचलता है तभी कलह, अशान्ति और उपद्रव उठ खड़े होते हैं । इसलिए धर्म, व्यवस्था, कानून आदि के नाम पर ऐसे नियम बनाये गए हैं जिनके द्वारा बहुत चाहने वालों को, दूसरों की परवाह न करने वालों को, बलपूर्वक रोका जा सके । जो मनुष्य 'बहार लूटने' की लालसा में अन्धा होकर घर का सब धन फूँक कर अपने सम्बन्धित अन्य व्यक्तियों के अधिकार का अपहरण करता है या चोरी लूट करके बाहर के लोगों को सताता है उसे रोकने के लिए प्रतिक्रिया स्वरूप कलह और संघर्ष पैदा होता है । इसी प्रकार कर्म त्यागी लोगों को अपाहिज श्रेणी का, घृणास्पद, कायर समझकर चारों ओर से तिरस्कार किया जाता है । संक्रामक रोग कीटों की तरह समझदार लोग अपने को और अपने प्रियजनों को उनसे बचाते रहते हैं ।

तात्पर्य यह है कि अस्थिर जीवन की प्रतिक्रिया के कारण जो दृष्टिकोण उत्पन्न होते हैं वे दोनों ही अतीव घातक और समाज में क्लेश उत्पन्न करने वाले हैं । "दूसरों को नाराज करने वाला स्वयं भी विपत्ति में पड़ता है" इस सिद्धान्त के अनुसार अनीति पर चलने वाला स्वयं भी निरापद नहीं रह सकता है । उसे पग-पग पर प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है । चोरी, छल और निष्ठुरता को अपनाना पड़ता है, हर घड़ी चालाकी और कूटनीति पर आश्रित रहने वाला सदा सुरक्षित नहीं रह सकता । किसी दिन उसे ऐसी ठोकर लगती है कि सारा ऐश आराम भूल जाता है जितनी मौज उड़ाई थी उससे कई गुनी विपत्ति उठानी पड़ती है ।

सृष्टि के आरम्भ काल में, जब मनुष्य ने सामाजिक जीवन आरम्भ किया ही था तब यह दोनों दृष्टिकोण अभिशाप की तरह हानिकारक सिद्ध हुए । इनके कारण नाना प्रकार के उत्पात मचे रहने लगे और ऐसा प्रतीत हुआ कि शायद मनुष्यों को समाजबद्ध होकर रहने का प्रयोग असफल होगा और पुन: पशु जीवन की ओर लौटना पड़ेगा अथवा यह जाति घोर अशान्ति वेदना में पड़ी-पड़ी छटपटाया करेगी । समस्त जाति के इस जीवन-मरण के प्रश्न पर सर्वश्रेष्ठ मस्तिष्कों ने घोर गम्भीर अनुसन्धान किया और चिरकालीन योग साधना, तपश्चर्या एवं निदिध्यासन द्वारा एक ऐसे तत्व का अनुसंधान किया जिसने सूखती हुई आशा लता को पुन: पल्लवित कर दिया । आशा, उत्साह एवं कर्मनिष्ठा

के साथ एक-दूसरे की सुविधाओं का ध्यान रखते हुए प्रेमपूर्वक रहना सम्भव कर दिया । यह तत्व संजीवनी बूटी के समान प्रमाणित हुआ जिससे एक-दूसरे की खोंट-खाने वाला मनुष्य व्याघ्र वृत्ति को छोड़कर गौओं की तरह हिल-मिल कर रहने लगा जिसके आधार पर लोग अपने सुख को दूसरों के ऊपर निछावर करने के लिए प्रस्तुत हो गए । सचमुच वह तत्व महान है, उसका आविष्कार धन्य है ।

भौतिक विज्ञान की खोज करते हुए जिसने अग्नि जलाने और उसका उपयोग करने का आविष्कार किया वह विज्ञानवेत्ता सर्वोपरि आविष्कारक था । यदि अग्नि का प्रयोग न जाना गया होता तो आज मनुष्य जाति बन्दरों के समान जीवन-यापन करती और यदि मानव विज्ञान के अन्तर्गत उस आध्यात्मिक तत्व का आविष्कार न हुआ होता तो सूखी हड्डी छीन लेने के लिए अपने जीवित भाई को फाड़ खाने वाले जंगली कुत्तों की तरह लोग आपस में लड़ा-भिड़ा करते और सात्विकता के दिव्य आनन्द से सर्वथा वंचित रह जाते ।

"आत्मा की अमरता" का सिद्धान्त आध्यात्मवाद की आधार भूमि कही जाती है । यही वह सिद्धान्त है जिसने जीवन निर्वाह की विवेचना में एक क्रान्ति उपस्थित कर दी । अनेक तर्क और प्रमाणों के साथ यह सिद्धान्त प्रकट किया गया कि शरीर के साथ ही जीवन का अन्त नहीं हो जाता वरन् उसके पीछे भी कायम रहता है और वर्तमान जीवन के किए हुए कर्मों का फल मृत्यु के उपरान्त भी प्राप्त होता है । शरीर की क्षण-भंगुरता के कारण जो घातक दृष्टिकोण उत्पन्न होते थे, जो बेचैनी, व्याकुलता और निराशा उठती थी, इस सिद्धान्त ने उनका भली प्रकार समाधान कर दिया और मनुष्य को दूसरी तरह से सोच विचार करने का मार्ग दिखाया । शरीर के साथ ही हमारा अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता और किए हुए कर्मों के भले-बुरे फल आगे भी मिलते हैं यह विश्वास, अधीरता और व्याकुलता मिटाते है । जब आगे भी जीना है तो जल्दबाजी की क्या जरूरत ? जीवन अनन्त है तो मृत्यु से डरने, निराश होने या अल्प स्थायी भोगों के लिए व्याकुल होने का क्या प्रयोजन ?

आध्यात्मिकता का पहला मन्त्र यह है कि "आत्मा को अमर मानो" इस सिद्धान्त पर विश्व के सम्पूर्ण धर्म एक मत हैं । आर्य, बौद्ध, ईसाई, मुसलमान, पारसी, यहूदी आदि सभी प्रमुख सम्प्रदायों के धर्म-ग्रन्थ इस सिद्धान्त पर सारा जोर लगा देते हैं कि 'आत्मा का अस्तित्व मरने के बाद भी रहता है और किए हुए कर्मों का फल भोगता है ।' फल प्राप्त होने की विधि-व्यवस्था स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्म आदि की रूप रेखाओं के बारे में मतभेद पाया जाता है पर अमरता के मूल तत्व से किसी को रत्ती भर भी विरोध नहीं है वरन् सभी एक समान समर्थन करते हैं ।

धर्म ग्रन्थों की रचना का तीन चौथाई भाग परलोक की विवेचना करता है । (१) मरने के बाद आत्मा जीवित रहती है । (२) उसे फल भोगने पड़ते हैं । (३) इन तीनों बातों का एक-दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक दैवी शासन मौजूद है । इन तीनो बातों को अनेकानेक दृष्टान्तों के द्वारा, अनेकानेक कल्पनाओं द्वारा, सिद्ध करने के निमित्त धर्माचार्यों ने विशालकाय पुस्तके लिखी है । यमदूत, फरिश्ते वैतरिणी कुंभी पाक, ब्रह्मलोक हूर, गिलमा ईश्वर, देवी, देवता दण्ड पुरष्कार, स्वर्ग, मुक्ति, पुनर्जन्म आदि के उपाख्यानों से भी मजहबों के पुराण ग्रन्थ भरे पड़े है । मोटे तौर से देखने में उन ग्रन्थों के लेखकों का उद्देश्य समझ में नही आता कि उन्होंने तीन चौथाई रचना अप्रत्यक्ष लोक के बारे में क्यों की, जबकि उन बातों को सिद्ध करने के लिए कोई मजबूत आधार नहीं है । यह भी आशंका उठती है कि प्रत्यक्ष जीवन के बारे में उन्होंने इतनी लापरवाही क्यों दिखाई कि एक चौथाई स्थान उसे मुश्किल से मिला । इन शंकाओं के सम्बन्ध मे मनन करने पर पता चल जाता है कि प्रत्यक्ष जीवन को सारी सफलता का श्रेय उन्होंने इस बात से माना है कि मनुष्य मृत्यु के पश्चात जीवन पर विश्वास करे, उस विश्वास को अधिकाधिक पुष्ट करने के लिए कथाओं, उपाख्यानो एवं दृष्टान्तों के रूप में पूरा प्रयत्न किया है । प्रत्यक्ष जीवन की तीन चौथाई सफलता 'अमरता के विश्वास' पर अवलम्बित मानकर उसी अनुपात से धर्म-ग्रन्थों में उसको स्थान दिया है । जितनी भी कथा वार्ताएँ पुराणों में मिलेगी वे किसी न किसी रूप में, मृत्यु के उपरान्त जीवन, फल की प्राप्ति और शासनकर्ता या उसके कर्मचारियों का वर्णन करती होगी । इस छोटे से तथ्य को भली-भाँति हृदयंगम करा देने के

लिए उसे नाना प्रकार के रंग-रूपों की सजावट के साथ उपस्थित किया है मनुष्य स्वभाव कौतूहल जनक घटना वाली बातों को सुनने में विशेष दिलचस्पी लेता है। इसलिए उस आध्यात्म तत्व को मनोरंजन का पुट देते हुए इतने विस्तारपूर्वक लिखा गया है।

धर्माचार्यों ने अपनी सारी शक्ति लगाकर यह प्रयत्न किया है कि मनुष्य विश्वास करे कि वह अमर है, क्योंकि इसी मे सारी समाज की शान्ति का बीज छिपा हुआ है। नास्तिकों की तीव्र भर्त्सना शास्त्रों में की गई है, उन्हे बहुत बड़ा पापी वताया गया है वैसे अप्रत्यक्ष बात पर विश्वास न करना कोई बुरी बात नहीं है, पर अमरता का सिद्धान्त—जिसके ऊपर ईश्वर, धर्म, त्याग, तप, परोपकार के महल खड़े किंए हैं—अविश्वस्त एवं मिथ्या ठहरा दिया जाय तो उससे ऐसी विचारधारा उपज पड़ेगी जो समाज को क्लेश, कलह और स्वर्ग का रौरव नरक बना देगी। नास्तिक सिद्धान्तवादी कहते है कि—"ईश्वर कोई नहीं है प्रकृतितः सब काम अपने आप चलते हैं। आत्मा कुछ नहीं है, पंच तत्वों की अमुक मात्रा के मिश्रण से एक सजीव विद्युतधारा बहती है जो शरीर के साथ ही समाप्त हो जाती है।" वे अनेक तर्क और प्रमाणों से अपने मत को सिद्ध करते है। हम साइन्स द्वारा उनका समाधान करने की स्थिति में नहीं हैं, पर इतना अवश्य कहते हैं कि सामाजिक जीवन को शान्तिमय बनाये रखना है तो 'अमरता' को स्वीकार किए बिना काम न चलेगा।

अमरता की भावना के साथ अन्त.करण में एक स्थिरता और धैर्य का उद्‌भव होता है। विचार उठता है कि जब अनन्त काल तक जीना है तो आज कष्ट उठाकर भी वह कमाई करनी चाहिए जो आगे चलकर स्थायी सुख प्रदान करे। लोग खुशी-खुशी कठोर परिश्रम के साथ धन कमाते हैं ताकि बुढ़ापे को सुखपूर्वक बितावें। भविष्य की आशा में आज के कष्टों को भुलाया जा सकता है। "दूसरे लोगों की सुविधा के लिए, अपनी सुविधाएँ त्यागना" यही तो पुण्य आचरण है। पुण्य के लिए न्याय करना पड़ता है, उस त्याग के लिए, कोई तभी तैयार होगा जब उसके सामने उज्ज्वल भविष्य हो। 'अमरता' में उज्ज्वल भविष्य की आशा है किन्तु नास्तिकता में भविष्य ही नष्ट हो जाता है, बिना भविष्य की आशा के कोई त्याग के लिए तैयार क्या होगा? जब अपने स्वार्थ की प्रधानता देने और दूसरों की सुविधा के लिए त्याग न करने की प्रवृत्ति बढ़ेगी तो प्रेम भाव नष्ट हो जायेगा, सात्विक गुण निस्सार प्रतीत होने लगेंगे, खुदगर्जी की प्रधानता मे पिशाच नगरी के दृश्य दिखाई देने लगेंगे। एक भी व्यक्ति चैन की नींद न सो सकेगा।

इसलिए आध्यात्मवाद की दीक्षा, अमरता पर विश्वास के साथ आरम्भ होती है। जो सच्चे हृदय से अमरता पर विश्वास करता है—अपने को शरीर से भिन्न, आत्मा मानता है, आत्महित को शरीर हित की अपेक्षा प्रधानता देता है, वह आध्यात्मिक व्यक्ति है। जो अपने को शरीर समझता है, शरीर हित को प्रधानता देता है, भोगों में शीघ्रता और अति के लिए आतुर है, वह नास्तिक है। जुबान से तोते की तरह कई मनुष्य आत्मा की अमरता स्वीकार करते हैं पर भीतरी विश्वास के अभाव में जो कुछ विचारते एवं कार्य करते है वह शरीर लाभ के लिए ही होते हैं। ऐसे लोग आस्तिक न कहे जा सकेंगे क्योंकि आस्तिकता का सम्बन्ध जिह्वा से कही जाने वाली शब्दावली से नहीं वरन् भीतरी सुदृढ़ विश्वासों से है। जिसने आत्मा के लाभ को प्रधानता देने की ओर प्रयत्न करना आरम्भ किया है असल में उसे ही आध्यात्मवाद का जिज्ञासु समझना चाहिए।

आप सच्चे हृदय से विश्वास कीजिए कि मैं अविनाशी हूँ। पग-पग पर दिखाई देने वाले भयो को मार भगा कर निर्भयता प्रदान करने वाला यह मृत्युंजय बीज मन्त्र है। रोग का भय, मृत्यु का भय, दुर्घटना का भय, शत्रु का भय, विपत्ति का भय, न जानें कितने भय प्रतिदिन हमे डराते हैं, चिन्तित करते और दुःखी बनाते है। किसी भय की जरा सी छाया दिखाई दी कि कलेजा धक्-धक् करने लगता है, क्योंकि जीवन नश्वर मालूम देता है। "यदि हम मर गए तो ऐसा अवसर फिर कहाँ मिलेगा।" ऐसे विचार-शरीर के प्रति असाधारण समता उत्पन्न करते है और भयाक्रान्त एव ममता ग्रस्त मनुष्य से महान कर्तव्य धर्म का पालन हो नही सकता। जीवन को भस्मीभूत समझने वाला व्यक्ति बीमारो की सेवा करते हुए डरता है कि कहीं छूत लगकर मैं मर न जाऊँ, वह यात्रा करते डरती है कि कही सवारी की दुर्घटना न हो जाय, वह चोर डाकूओं और अत्याचारियों का मुकाबला करने से डरता है कि कहीं चोट न खा जाऊँ, ऐसे ही नाना प्रकार के भ

मनुष्य को बेचैन बनाते रहते हैं और उसे भीरु, डरपोक, कायर, बुजदिल एवं अशंक्ति बना देते हैं ।

इस प्रकार निराशा और भय के झूले में झूलने वाले लोगों को "मैं अविनाशी हूँ" यह मन्त्र जीवन संदेश देता है । वह कहता है—"उठो ! कर्तव्य पर प्रवृत्त होओ । तुम्हारा जीवन अखण्ड है । कपड़े बदल जायेंगे, पर तुम नहीं बदलोगे, शरीर बदल जायेंगे पर जीवन नहीं बदलेगा । अपने ऊपर विश्वास करो, अपने जीवन पर विश्वास करो, आत्मा और परमात्मा पर विश्वास करो, तुम्हे कोई नष्ट नहीं कर सकता । हे अजर, अमर अविनाशी और अखण्ड आत्मा ! उठ, अपने कर्तव्य में प्रवृत्त हो, गाण्डीव उठा और धर्म युद्ध मे पांचजन्य का तुमुल नाद कर । मृत्यु कोई वस्तु नहीं है । जीवन अखण्ड है । शरीर बदलने से हमारी मृत्यु कदापि नहीं हो सकती ।"

मैं जो पेड़ लगा रहा हूँ, उसका फल मुझे खाने को न मिलेगा, यह सोचना नास्तिकता है । अपने महान कार्य को बिना किसी प्रकार का भय या संकोच किए आरम्भ करो, कई जन्मों में तो वह पूरा हो ही जायेगा । उसका फल तुम्हें ही मिलना है । अपने जीवन को अखण्ड समझो, अपने को अविनाशी मानो, निर्भय रहो, निर्द्वन्द्व विचरो यह आध्यात्मवाद का पहला उपदेश है । आप इस पुण्य पथ पर आगे बढ़िए और सच्चे हृदय से अपनी अमरता पर विश्वास करिए ।

## तीसरा सूत्र

**परिस्थितियों का जन्मदाता अपने आपको मानिए !**

आध्यात्मवाद का दूसरा सिद्धान्त है "आत्म-निर्भरता ।" अपने ऊपर विश्वास करना, अपनी शक्तियों पर विश्वास करना एक ऐसा दिव्य गुण है जो हर कार्य को करने योग्य साहस, विचार एवं योग्यता उत्पन्न करता रहता है । दूसरों के ऊपर निर्भर रहने से अपना बल घटता है और इच्छाओं की पूर्ति में अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं । स्वाधीनता, निर्भयता और प्रतिष्ठा इस बात में है कि अपने ऊपर निर्भर रहा जाय, सफलता का सच्चा और सीधा पथ भी यही है ।

अपनी हर एक बाह्य परिस्थिति की जिम्मेदारी दूसरों पर मत डालिए वरन् अपने ऊपर लीजिए । दुनिया को दर्पण के समान समझिए जिसमें अपनी ही सूरत दिखाई पड़ती है । दूसरे लोगों में जो अच्छाइयाँ, बुराइयाँ दिखाई पड़ती हैं, सामने जो प्रिय एवं अप्रिय परिस्थितियाँ आती हैं उसका कारण कोई और नहीं वरन् आप स्वयं हैं और उनमें परिवर्तन करने की शक्ति भी किसी और में नहीं वरन् स्वयं आप में है ।

शास्त्रों में कहा गया है कि ब्रह्माण्ड की कुंजी पिण्ड के अन्दर है, हर व्यक्ति अपने लिए एक अलग संसार बनाता है और उसकी रचना उस पदार्थ से करता है जो उसके अन्दर होता है । वास्तव में संसार बिलकुल जड़ है उसमें किसी को सुख-दुःख पहुँचाने की शक्ति नहीं है । मकड़ी अपना जाला खुद बुनती है और उसमें विचरण करती है । आप अपने लिए अपना संसार स्वतन्त्र रूप से बनाते हैं और जब चाहते हैं उसमें परिवर्तन कर लेते हैं ।

एक व्यक्ति क्रोधी है—उसे प्रतीत होगा की सारी दुनिया उससे लड़ती-झगड़ती है, कोई उसे चैन से नहीं बैठने देता, किसी में भलमनसाहत है ही नहीं, जो आता है उससे उलझता चला आता है । एक व्यक्ति झूठ बोलता है—उसे लगता है कि सब लोग अविश्वासी हैं, सन्देह करने वाले हैं, किसी पर भरोसा ही नहीं करते । एक व्यक्ति नीच है—वह देखता है कि सारी दुनिया घृणा करने वाले, घमण्डियों, स्वार्थियो से भरी हुई है, किसी में सहानुभूति है ही नहीं । एक व्यक्ति निकम्मा और आलसी है—उसे मालूम होता है कि दुनिया में काम है ही नहीं, सब जगह बेकारी फैली हुई है, व्यापार नष्ट हो गया, नौकरियाँ नहीं हैं, लोग बहुत काम लेकर थोड़ा पैसा देना चाहते । एक व्यक्ति बीमार है—उसे दिखाई पड़ता है कि दुनिया मे सारे भोजन अस्वादिष्ट, हानिकारक और नुकसान पहुँचाने वाले है । इसी प्रकार व्यभिचारी, लम्पट, मूर्ख, कंजूस, अशिक्षित, सनकी, गँवार, पागल, भिखारी, चोर तथा अन्यान्य मनोविकारों वाले व्यक्ति अपने लिए अलग दुनिया बनाते हैं । वे जहाँ जाते हैं उनकी दुनिया उनके साथ जाती है ।

इसी प्रकार विज्ञानी, साधु, कर्मनिठ, उत्साही, साहसी, सेवाभावी, उपकारी, बुद्धिमान और आत्म विश्वासी लोगो की दुनिया अलग होती है । बुरे व्यक्तियो को जो दुनिया बुरी मालूम होती थी वही अच्छे व्यक्तियो के लिए अच्छी बन जाती है । सांसारिक पदार्थ जड़ है वे न तो किसी को सुख दे सकते हैं

और न दुःख । मनुष्य एक प्रकार का कुम्हार है जो वस्तुओं को मिट्टी से अपनी इच्छानुसार बनाता है । संसार किसी के लिए दुःख का हेतु है किसी के लिए सुख का । वास्तव में वह कुछ नहीं है । अपनी छाया ही संसार के दर्पण मे प्रतिबिम्बित हो रही है । अपना दृष्टिकोण बदलने से दुनिया की सारी रूपरेखा बदल जाती है । हमारे विचार और कार्य जैसे होते हैं ठीक उसी के अनुरूप बाह्य परिस्थितियों में अन्तर आ जाता है ।

मनोविज्ञान बताता है कि मनुष्य में यह एक बड़ी भारी त्रुटि है कि वह अपनी भूल या न्यूनता को स्वीकार नहीं करता । अपने ऊपर उत्तरदायित्व लेने को तैयार नहीं होता । अपने दोषों को दूसरों के ऊपर थोपने का प्रयास करके वह स्वयं निर्दोष बनता है । यह आत्म वंचना की वृत्ति इतनी सूक्ष्म होती है कि मोटी बुद्धि से वह पकड़ मे नहीं आती । भूल करने वाले लोगों में से अधिकांश के मन में यह दृढ़ विश्वास होता है कि वे निर्दोष हैं और दूसरे लोग ही उस दोष के भागी हैं । मानव स्वभाव की यह कमजोरी, सत्य की खोज में बड़ी भारी बाधा है । सुख-शान्ति को मिटा कर क्लेश, कलह उत्पन्न करने वाली प्रधान पिशाची है ।

हम मानते हैं कि दूसरों में भी दोष है और अनायास अप्रिय परिस्थितियाँ भी सामने आती हैं, पर कांटो से आसानी के साथ बच निकलने योग्य विवेक की आँखें भी तो मौजूद हैं । संसार तीन गुणों का बना हुआ है, इसमें अच्छाइयों के साथ बुराइयाँ भी हैं उन बुराइयों से बच निकलना बुद्धिमत्ता का काम है । ऐसी बुद्धिमत्ता तब आती है जब 'आत्म-निर्भरता' के दृष्टिकोण को अपना लिया जाता है ।

अमुक व्यक्तियों द्वारा मुझे सताया गया, अपमानित किया गया, ठगा गया, उपेक्षित किया गया, यह सोच कर उससे बदला लेने या दुःख के घूँट पीने से पहले आपको यह विचार करना चाहिए कि इस सताये जाने, अपमानित किए जाने, ठगे जाने और अपेक्षित होने में हमारा अपना दोष क्या था ? सबसे पहले उस दोष को ढूँढने और निकाल देने की आवश्यकता है, क्योंकि आज किसी प्रकार बदला ले लेने या मामले को दबा देने से काम चल जायेगा, कल फिर वैसी ही परिस्थितियाँ पैदा होंगी, वह दोष यदि न निकाला गया तो आये दिन ऐसी ही अप्रिय घटनाएँ न्यौत-न्यौत कर बुलाता रहेगा ।

धर्म युद्ध में लगने वाले अघात या दैवी प्रकोप की कुछ थोड़ी-सी घटनाओं को छोड़कर शेष समस्त घटनाओं पर अपना उत्तरदायित्व है । यदि संसार आपके साथ उचित व्यवहार नहीं करता, तो इसका कारण बाहर मत ढूँढ़िए वरन् अपने अन्दर तलाश कीजिए । एक हाथ से ताली नहीं बजती, दोनों हाथ जब टकराते हैं तभी शब्द होता है । यदि दूसरे लोग झगड़ालू हैं तो आप ऐसा अवसर न दें कि वह टकरावें तब निःसन्देह संघर्ष बहुत कुछ बच सकता है ।

आप किसी गुत्थी के सुलझाने के लिए दूसरों की सहायता ले सकते हैं पर उनके ऊपर अवलम्बित मत रहिए । अपने पैरों पर खड़े होइए और आप कठिनाइयों को सुलझाने का प्रयत्न करिए । जब तक आप दूसरों पर आश्रित रहते हैं, यह समझते हैं कि हमारे कष्टों को कोई और दूर करेगा तब तक बहुत बड़े भ्रम में हैं । जो उलझनें आपके सामने हैं उनका दु:खदायी रूप अपनी त्रुटियों के कारण है, उन त्रुटियों को त्याग कर आप स्वयं ही अपनी उलझनें सुलझा सकते हैं । जब आत्मविश्वास के साथ सुयोग्य भोग की तलाश करेंगे तो वह किसी न किसी प्रकार मिलकर ही रहेगा ।

जब मनुष्य आत्म निर्भरता के वीरता पूर्ण दृष्टिकोण को छोड़कर पराया मुँह ताकने की कायरता क्लीवता और हीनता की अन्धकारमयी भूमिका में उतरता है तो वह बड़े दीन वचन बोलने लगता है । 'मैं क्या कर सकता हूँ, दूसरों ने मुझे जकड़ रखा है, रास्ते रोक रखे हैं ।' ऐसी शिकायतों में तीन चौथाई भाग झूठ होता है । भूत, पलीत, देवी, देवता, भाग्य, ईश्वर, ग्रह, नक्षत्र, समय, युग तथा और भी अनेक बहानों को पकड़ कर वह कहता है कि यही सब मेरे सुख-दुःख के कारण हैं । विपत्ति के समय वह देवी-देवताओं की मनौती मानता है । चाहता है कि कोई ऐसा देव-दानव कहीं से उतर आये जो पलक मारते उन कठिनाइयों को हल कर दे । इस प्रकार की विचारधारा बेकार और भयंकर है । यह स्पष्ट है कि जो अपनी विपत्ति से आप लड़ने को तैयार नहीं होता, उसकी सहायता कोई दृश्य या अदृश्य शक्ति नहीं करती । सुनिए, कान

खोल कर सुनिए । यदि आप कष्ट से बचकर आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं तो आत्मनिर्भरता सीखिए, अपनी भुजाओं पर विश्वास कीजिए, अपनी बुद्धि को काम में लाइये और अपने पैरो पर खड़े हो जाइए । तभी आपकी इच्छा और आकांक्षाएँ पूर्ण हो सकेंगी ।

सारी समस्याओं को सुलझाने की कुंजी अपने अन्दर है । दूसरे लोगों से जिस बात की आशा करते हैं, उसकी योग्यता अपने अन्दर पैदा कीजिए तो बिना माँगे अनायास ही वह इच्छाएँ पूरी होने लगेंगी ।

आप चाहते हैं कि आपको बीमारी न सताये, तो स्वास्थ्य के नियमों पर दृढ़तापूर्वक चलना आरम्भ कर दीजिए । आप चाहते हैं कि ऐश आराम उठावें तो धन कमाना आरम्भ कर दीजिए । आप चाहते हैं कि बहुत से मित्र हों तो अपना स्वभाव आकर्षक बनाइए । आप चाहते हैं कि लोग आपका लोहा माने तो शक्ति सम्पादन कीजिए । आप चाहते है कि प्रतिष्ठा प्राप्त हो तो प्रतिष्ठा के योग्य कार्य कीजिए । आप चाहते हैं कि ऊँचा पद प्राप्त हो तो उसके योग्य गुणों को एकत्रित करिए । आप चाहते हैं कि दाम्पत्य जीवन आनन्दमय हो तो पत्नी के हृदय में स्थान प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त कीजिए । धन, बुद्धि, बल, विद्या चाहते है तो परिश्रम और उत्साह उत्पन्न करिए । जब तक अपने भीतर वे गुण नहीं हैं जिनके द्वारा मनोवांछाएँ पूरी हुआ करती हैं तब तक यह आशा रखना व्यर्थ है कि आप सफल मनोरथ हो जायेंगे ।

बाहर की शक्तियाँ भी सहायता किया करती हैं, पर करती उन्हीं की हैं जो उसके पात्र हैं । एक मनुष्य सहायता की याचना के लिए जाता है, उधार या मुफ्त कोई वस्तु चाहता है तो उसे आसानी से मिल जाती है, देने वाला विश्वास करता है कि मेरी सहायता का वह सदुपयोग करेगा और तुरन्त ही प्रसन्नतापूर्वक सहायता करने को उद्यत हो जाता है । एक दूसरा व्यक्ति भी सहायता माँगने जाता है पर उसे देने के लिए कोई तैयार नहीं होता, कारण यह नहीं है कि पहले व्यक्ति का भाग्य अच्छा है, दूसरे का खोटा है, या सहायता करने वाले दुष्ट हैं । वरन् असली कारण यह है कि दूसरा व्यक्ति अपनी योग्यता और ईमानदारी उस प्रकार प्रमाणित नही कर सका जैसा कि पहले व्यक्ति ने की थी । सहायता न करने वालो को आपका गालियाँ देना बेकार है । इस दुनिया में अधिक योग्य को तरजीह देने का नियम सदा से चला आया है । किसान निठल्ले पशुओं को कसाई के हाथ बेच देता है और दुधारू तथा काम-काजी ढोरों को अच्छी खुराक देकर पालता-पोषता है । संसार में सुयोग्य व्यक्तियों को सब प्रकार सहायता मिलती है और अयोग्यों को अपनी मौत मर जाने के लिए छोड़ दिया जाता है । माली अपने बाग में तन्दुरुस्त पौधों की खूब हिफाजत करता है और जो कमजोर होते हैं उन्हें उखाड़ कर उस जगह दूसरा बलवान पौधा लगाता है । ईश्वर की सहायता भी सुयोग्यों को मिलती है, माला जपने और मनौती मनाने पर भी अयोग्य बेचारा वहाँ से भी निराश लौटता है ।

संसार में सफलता लाभ करने की आकांक्षा के साथ अपनी योग्यताओं मे वृद्धि करना भी आरम्भ कीजिए । आपका भाग्य किस प्रकार लिखा जाय ? इसका निर्णय करते समय विधाता आपको आन्तरिक योग्यताओं की परख करता रहता है, उन्नति करने वाले गुणों को यदि अधिक मात्रा में जमा कर लिया गया है तो भाग्य में उन्नति का लेख लिखा जायेगा और यदि उन्नायक गुणों को अविकसित पड़ा रहने दिया गया है—दुर्गुणों को, मूर्खताओं को अन्दर भर रखा गया है—तो भाग्य की लिपि दूसरी होगी । विधाता लिख देगा कि "इसे तब तक दुःख दुर्भाग्यों में ही पड़ा रहना होगा जब तक कि योग्यताओं का सम्पादन न करे ।" अपने भाग्य को जैसा चाहे वैसा लिखना अपने हाथ की बात है । यदि आप आत्म निर्भर हो जायें, जैसा होना चाहते हैं उसके अनुरूप अपनी योग्यताएँ बनाने मे प्रवृत्त हो जायें तो विधाता को विवश होकर आपकी मनमर्जी का भाग्य लिखना पड़ेगा ।

'अमरता' पर विश्वास करने के बाद आध्यात्मवाद की दूसरी शिक्षा यह है कि अपने आत्मा को बाह्य परिस्थितियों का निर्माता केन्द्र बिन्दु मानिए जो घटनाएँ सामने आ रही हैं, उनकी प्रिय-अप्रिय अनुभूति का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लीजिए । अपने को जैसा चाहे वैसा बना लेने की योग्यता अपने मे समझिए । अपने ऊपर विश्वास कीजिए । किसी और का आसरा मत करिए । बिना आपके निजी प्रयत्न के—योग्यता

सम्पादन के बाहरी सहायता प्राप्त न होगी, यदि होगी तो उसका लाभ बहुत थोड़े समय में समाप्त हो जायेगा और पुनः वही दशा उपस्थित होगी, जिसकी कि अपनी औकात है। उत्साह, लगन, दृढ़ता, साहस, धैर्य, परिश्रम यह इन छः गुणों को सफलता का अग्रदूत माना गया है। इन दूतों का निवास स्थान आत्मविश्वास में है। अपने ऊपर भरोसा करेंगे तो यह गुण भी उत्पन्न होंगे अन्यथा, किसी देव दानव की कृपा से सट्टा, लाटरी फल जाने, बमभोला की भभूत से छप्पन करोड़ की चौथाई मिल जाने, वैद्यजी की दवा-दारू खाकर भीमसेन बन जाने, वशीकरण मन्त्र से तरुणी स्त्रियाँ खिंची चली आने, गंगा मैया की कृपा से बेटा हो जाने, साईंजी के ताबीज से शादी हो जाने के स्वप्न देखते रहिए और उम्मीदों की दुनिया में तबियत बहलाते रहिए। बेशऊरों का माल मसखरे उड़ाते हैं, आप भी मसखरों के चंगुल में फँस कर ठगाते रहिए, समय बर्बाद करते रहिए पर प्रयोजन कुछ भी सिद्ध न होगा। ईश्वर के राज्य में ऐसी अन्धी नहीं लग रही है कि पसीना बहाने वाले परिश्रमी टापते रहें और शेखचिल्लियों की बन आवे।

"उद्धरेत् आत्मानात्मानम्" की शिक्षा देते हुए गीता ने स्पष्ट कर दिया है कि यदि अपना उत्थान चाहते हो तो उसका प्रयत्न स्वयं करो। दूसरा कोई भी आपकी दशा को सुधार नहीं सकता। श्रेष्ठ पुरुषों का थोड़ा सहयोग मिल सकता है पर रास्ता अपने को ही चलना पड़ेगा, यह मंजिल दूसरे के कन्धे पर बैठकर पार नहीं की जा सकती। यह लोक और परलोक किसी दूसरे की कृपा दृष्टि से सफल नहीं हो सकता—यह सब तो खुद ही करना पड़ेगा, स्वयं ही अपने पैरों पर खड़ा होना पड़ेगा। अपने पेट के पचाए बिना अन्न हजम नहीं हो सकता, अपनी आँखों की सहायता बिना दृश्य दिखाई नहीं पड़ सकता, अपने मरे बिना स्वर्ग को देखा नहीं जा सकता, इसी प्रकार अपने प्रयत्न बिना उन्नत अवस्था को भी प्राप्त नहीं किया जा सकता।

दुःख, शोक, रोग, दरिद्र, बन्धन, चिन्ता का हेतु अपने अन्दर ही छिपा हुआ है। भीतर की गाँठ खोल देने से सारी गुत्थियाँ खुल जाती हैं। अफ्रीका में बन्दर पकड़ने वाले ऐसा करते हैं कि छोटे मुँह के घड़े में चने भरकर रख देते हैं। घड़ा रस्सी से मजबूत बँधा होता है। बन्दर चना निकालने के लिए अपना हाथ घड़े में डालता है, और मुट्ठी भर कर जब हाथ बाहर निकालता है तो मुट्ठी घड़े के मुँह में अटक जाती है। वह बन्दर समझता है कि घड़े ने मुझे पकड़ लिया। जोर से हाथ खींचता है पर मुट्ठी बाहर नहीं निकलती, अब उसे पक्का विश्वास हो जाता है कि घड़े ने मुझे फँसा लिया। इतने में शिकारी आ जाता है और उसे पकड़ लेता है। हम लोग बन्दर की बेवकूफी पर हँसते हैं कि—"मूर्ख को इतना भी नहीं सूझा कि बेचारा बेजान घड़ा मुझे क्या पकड़ सकता है, मैं स्वयं भूल कर रहा हूँ अपनी भूल सुधार लूँ, मुट्ठी खोल लूँ तो घड़े के चंगुल से मुक्त हो सकता हूँ। नादान ने जरा सी भूल के कारण अपनी जान गँवा दी।"

बन्दर की बेवकूफी पर आपका हँसना उचित है क्योंकि उसकी समझ हँसी के ही योग्य है, परन्तु उन समझदार और बुद्धिमान कहे जाने वाले मनुष्यों की बुद्धि पर और भी अधिक हँसना चाहिए जो विद्या बुद्धि का दावा करते हुए भी—ठीक उस बन्दर के ही उदाहरण बनते हैं और उसके जैसे ही आचरण करते हैं। समय बुरा है, संसार खराब है, परिस्थितियाँ मुझे सताती हैं, दुर्भाग्य और दुःख दरिद्र ने मुझे घेर रखा है, इस प्रकार का विचार ठीक उस बन्दर के विचारों से मिलते-जुलते हैं जो यह समझा था कि मुझे घड़े ने पकड़ रखा है। अगर वह मुट्ठी को खोल लेता तो दूसरे ही क्षण छुटकारा पा सकता था, यदि आप भी अपने में उचित परिवर्तन कर लें तो उन बेचैन करने वाली मनोवेदनाओं से मुक्त हो सकते हैं।

मनुष्य परमात्मा का सर्वप्रिय पुत्र है उसे इतनी स्वाधीनता, क्षमता और योग्यता स्वभावतः प्राप्त है कि अपने लिए उपयोगी एवं अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण एवं आविर्भाव कर सके, परमात्मा ने मनुष्य को बेवश, अयोग्य, पराधीन, दुर्बल-निर्बल बनाकर नहीं भेजा है कि दूसरों के आश्रित रहे, दूसरों की कृपा कर अवलम्बित रहे। वह अपने भाग्य का निर्माता आप है। अपने लिए भली-बुरी स्थिति चुनने का और उसे उपलब्ध करने का एक मात्र अधिकार केवल इसी के हाथ में है।

जैसी भी भली या बुरी परिस्थितियाँ हमारे सामने आती हैं। वह किसी देवी-देवता के शाप वरदान से, ग्रह नक्षत्र के हेर-फेर से या किसी अन्य कारण से

नहीं आती, उसके मूल उत्पादक हम स्वयं ही होते हैं। जैसे विचारों को अपनाया जाता है, जैसे स्वभाव एवं गुणों का निर्माण किया जाता है, जैसा दृष्टिकोण होता है, *जिस प्रकार की इच्छा, आकांक्षा नीति और* कार्यप्रणाली होती है उसी के अनुसार हमारा ढाँचा तैयार होता जाता है। परिस्थितियाँ और घटनाएँ उन दोनों की छाया मात्र हैं। चटोरे, व्यभिचारी एवं असंयमी व्यक्ति आये दिन बीमार पड़ते हैं। आलसी, निरुद्योगी व्यक्ति निर्धन रहते हैं। कड़वे एवं खोटे स्वभाव वाले चारों ओर शत्रुता, कटुता, असहयोग एवं तिरस्कार का वातावरण देखते हैं। लोभी ठगे जाते हैं, कायर सताये जाते है। असावधान घाटा दे बैठते हैं। मोह ग्रस्त बहुत रोते-चिल्लाते हैं। डरपोकों को चिन्ता बेचैन किए रहती है। इसी प्रकार अच्छे गुण, विचार, दृष्टिकोण एवं कार्यक्रम वाले व्यक्ति सब प्रकार की सुख सामग्रियों से सम्पन्न होकर सुखी जीवन व्यतीत करते हैं। दुःख और सुख, बड़प्पन और लघुता, हानि और लाभ, अपनी निज की योग्यता-चतुरता और क्षमता के ऊपर निर्भर है और इन तीनों को मनुष्य चाहे तो प्रयत्न करके बहुत उन्नत कर सकता है तथा प्रमाद में पड़कर इन स्वाभाविक शक्तियों से हाथ धो बैठ सकता है। संसार में जितने भी सुखी या दुःखी व्यक्ति हैं अपनी निज की कार्य पद्धति के अनुसार हैं। उन्होंने स्वयं ही अपने लिए वैसी परिस्थिति तैयार की है।

भाग्य, प्रारब्ध, दैव, तकदीर, ईश्वरेच्छा आदि कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो मनुष्य के अपने प्रयत्न से बाहर की बात हो। कल का प्रयत्न-कर्म आज भाग्य के रूप में सामने आता है। यदि आज हम दुष्कर्म न करे तो भविष्य मे कोई शक्ति हमारे भाग्य को बुरा नहीं बना सकती, यदि आज हम अनुचित कार्य कर रहे है तो संसार की कोई भी शक्ति हमें भविष्य में भाग्यशाली नहीं बना सकती। ईश्वर जो कुछ करता है। हमारे कर्मों के आधार पर करता है। वह पूर्ण न्यायी एवं कठोर न्यायाधीश है। वह कर्मों का फल देने में तनिक भी रियायत नहीं करता। भाग्य, तकदीर, दैव, प्रारब्ध किसी के दिए हुए अभिशाप या वरदान नहीं हैं। भूतकाल के कर्म ही आगे चलकर भाग्य के रूप मे प्रकट होते हैं। इसलिए तकदीर भी मूलतः अपने ही हाथ की बात है।

आध्यात्मवाद के पथिकों को दूसरा मन्त्र यह हृदयंगम करना चाहिए कि हम अपना भाग्य के स्वयं निर्माता हैं, जैसे हम होंगे वैसा ही अवसर प्राप्त होगा। हमारा भविष्य शर्तिया हमारे हाथ में है। इस सत्य को हृदयंगम कर लेने के पश्चात् इधर-उधर देखने की, अपेक्षा अपने आपको बनाने की, अपने परिमार्जन की अभीष्ट वस्तुओं को प्राप्त करने के उद्योग की आवश्यकता अनुभव होती है। आत्मनिर्भरता, आत्मावलम्बन, आत्मविश्वास, आत्मचिन्तन, आत्मनिर्माण यह पाँच तथ्य ऐसे हैं जिन्हें स्वीकार किए बिना कोई व्यक्ति आत्मोन्नति नहीं कर सकता। पराधीन, परावलम्बी को इस लोक और परलोक कहीं भी सुख नही मिल सकता। इसलिए परमानन्द की प्राप्ति के इच्छुकों को आत्म निर्भर होने की आवश्यकता है।

## चौथा सूत्र

### शक्ति संचय के पथ पर आरूढ़ होइए

आध्यात्मवाद की तीसरी शिक्षा है—"शक्ति संचय।" बलवान, शक्तिवान, समर्थ, सम्पन्न, सिद्ध बनने का आध्यात्मिक पुरुष सदा ही प्रयत्न करते है। योगी पुरुष आसन और प्राणायाम द्वारा नेति, धोति, वज्रोली, न्योलि, कपालभाति आदि द्वारा शरीर का शोधन, परिमार्जन एवं दीर्घ जीवन प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। अनेक प्रकार की साधनाओं द्वारा अष्टसिद्ध नवनिद्धि के सम्पन्न होने का प्रयत्न करते हैं। सिद्ध पुरुष अनेक प्रकार की विभूतियों से सम्पन्न होते हैं। आत्मबल, ब्रह्मबल प्राप्त करके ही वे अपना तथा दूसरों का कल्याण करते है। शक्तिहीन पुरुष दूसरों का भला नहीं कर सकते, अपना भला नहीं कर सकते यहाँ तक कि जीवन-निर्वाह तक ठीक प्रकार नहीं कर सकते।

निर्बलता एक बहुत बड़ा पातक है। अशक्त व्यक्ति अपना बुरा प्रभाव जिन निकटवर्ती एवं कुटुम्बी जनो पर डालते हैं उनकी मनोवृत्ति भी उसी ढाँचे में ढलने लगती है। इस प्रकार यह छूत की बीमारी एक से दो में, दो से दस में और दस से सैकड़ों मे फैलती चली जाती है। कायर, आलसी, निकम्मे, निर्बल, भिखारी, दीन, दास वृत्ति के लोग अपने समान औरों को भी बना लेते हैं।

निर्बल व्यक्ति जीवन भर दुःख भोगते हैं, जिसका शरीर निर्बल है उसे बीमारियाँ सताती रहेंगी। सांसारिक

सुखों से उसे वंचित रहना पड़ेगा । इन्द्रियाँ साथ न देंगी तो सुखदायक वस्तुएँ पास होते हुए भी उनके सुख को प्राप्त न किया जा सकेगा । जो आर्थिक दृष्टि से निर्बल है वह जीवनोपयोगी वस्तुएँ तक जुटाने में सफल न हो सकेगा, सुखी और सम्पन्न मनुष्यों के समाज में उसे दीन, हीन, गरीब समझ कर तिरस्कृत किया जायेगा । अनेक स्वाभाविक आकांक्षाओं को उसे मन मार कर मसलना पड़ेगा ।

संसार में पाप, अनीति एवं अत्याचार की वृद्धि का अधिकांश दोष निर्बलता पर है । कमजोर भेड़ और बकरियों को माँसाहारी मनुष्य और पशु उदरस्थ कर जाते हैं पर भेड़िए का माँस पकाने की किसी की इच्छा नहीं होती । कमजोरी में एक ऐसा आकर्षण है कि उससे अनुचित लाभ उठाने की हर एक की इच्छा हो जाती है । नन्हे-नन्हे अदृश्य रोग कीटाणु जो हवा में उड़ते-फिरते हैं उन्हीं पर आक्रमण करते हैं जिन्हें कमजोर देखते हैं । हम अपने चारों ओर आँख फैला कर देख सकते हैं कि कमजोर पर हर कोई हमला करने की सोचता है, जैसे गन्दगी इकट्ठी कर लेने से मक्खियाँ अपने आप पैदा हो जाती हैं या दूर-दूर से इकट्ठी होकर वहीं आ जाती हैं, इसी प्रकार कमजोरों से अनुचित लाभ उठाने के लिए घर के पास-पड़ौस के तथा दूर देश के व्यक्ति एकत्रित हो जाते हैं, या वैसे लोग पैदा हो जाते हैं । यदि कमजोरी का अन्त हो जाय तो अत्याचार या अन्याय का भी अन्त निश्चित है ।

दुर्बल मनुष्य स्वयं अपने आप में स्वस्थ विचारधारा धारण नहीं कर सकता । कारण मिलते ही हैं जैसे (१) शारीरिक दृष्टि से कमजोर व्यक्ति के मस्तिष्क को पर्याप्त खून नहीं पहुँचता इसलिए वह जरा-सी बात में उत्तेजित, चिन्तित, भयभीत, कातर एवं किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है । ऐसी अस्थिर अवस्थाओं में मस्तिष्क सही निर्णय नहीं कर सकता । वह अन्धकार पूर्ण पथ की ओर अग्रसर हो जाता है । (२) पुरुषार्थ शक्ति के अभाव में वह अभीष्ट वस्तुओं को बाहुबल से प्राप्त नहीं कर सकता पर इच्छा उसे सताती है । इस इच्छा की पूर्ति के लिए वह अधर्म पूर्वक भोग वस्तुओं, सम्पदाओं को प्राप्त करने के लिए प्रवृत्त होता है । (३) अपनी हीन दशा और दूसरों की अच्छी दशा देखकर उसके मन में एक कसक, आत्मग्लानि कुढ़न एवं ईर्ष्या उत्पन्न होती है, ऐसी स्थिति में दुर्भाग्य के निराशाजनक भाव, या जलन की प्रतिहिंसा के घातक भाव मस्तिष्क में उठते रहते हैं । (४) अभावों के कारण जो कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं उनसे विचलित होकर मनुष्य अधर्म पर उतारू हो जाता है । (५) निर्बलता एक प्रकार का रोग है उस रुग्ण अवस्था में विचार भी रोगी हो जाते हैं । उच्चकोटि के आध्यात्मिक विचार उस अवस्था में नहीं रह पाते । शास्त्रकार कहते हैं—"क्षीणानराः निष्करुण भवन्ति" अर्थात् दुर्बल मनुष्य निर्दय हो जाते हैं ।

इन कारणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भौतिक उन्नति ही नहीं आध्यात्मिक उन्नति के लिए भी बलवान बनना आवश्यक है । एक प्रसिद्ध कहावत है कि—"शक्ति का प्रयोग रोकने के लिए शक्ति का प्रदर्शन जरूरी है ।" प्रकृति का, मनुष्यों का, रोगों का, शैतान का आक्रमण अपने ऊपर न हो इसको रोकने का एक मात्र तरीका यह है कि हम अपने शारीरिक, बौद्धिक, आत्मिक बल को इतना बढ़ा लें कि उसे देखते ही आक्रमणकारी पस्त हो जायें । बल का संचय अनेक आने वाली विपत्तियों से अनायास ही बचा देता है । सबलता एक मजबूत किला है जिसे देखकर शत्रुओं के मनसूबे धूल में मिल जाते हैं ।

शाक्त लोग अष्टभुजी दुर्गा की पूजा करते हैं । भवानी शक्ति की मूर्तियों में हम उनकी आठ भुजाएँ देखते हैं । इनका तात्पर्य है कि शक्ति के आठ साधन हैं—(१) स्वास्थ्य, (२) विद्या, (३) धन, (४) व्यवस्था, (५) संगठन, (६) यश, (७) शौर्य, (८) सत्य । इन आठों के सम्मिलन से एक पूर्ण शक्ति बनती है । इन शक्तियों में से जिसके पास जितना भाग होगा वह उतना ही शक्तिवान समझा जायेगा ।

(१) स्वास्थ्य—स्वास्थ्य की महत्ता हम सब जानते हैं कि वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल है । अस्वस्थ मनुष्य तो इस पृथ्वी का एक भार है जो दूसरों के कष्ट का कारण बनकर अपनी साँस पूरी करता है । सच्चे जीवन का स्वाद लेने से और मनुष्यता के उत्तरदायित्वों को पूरा करने से वह सर्वथा वंचित रह जाता है । किसी मार्ग में उन्नति करना तो दूर, उसे प्राण धारण किए रहना भी बड़ा कठिन हो जाता है । स्वास्थ्य सर्वप्रथम और सर्वोपरि बल है । इस बल के बिना अन्य सब बल निरर्थक हैं । इसलिए स्वस्थता की ओर सबसे अधिक ध्यान की आवश्यकता है ।

अस्वस्थ होने के थोड़े से कारण हैं । यदि हम उनकी ओर सतर्क रहें तो बीमारी और कमजोरी से बचकर स्वाभाविक स्वस्थता प्राप्त कर सकते हैं । स्वास्थ्य की ओर पर्याप्त ध्यान न देना, निरोगता में पूरी दिलचस्पी न लेना, तन्दुरुस्ती के खराब होने का सबसे बड़ा कारण है । रुपया कमाने में, करोबार, व्यापार में या अन्यान्य अनेकों कामों में जितनी पैनी दृष्टि से होशियारी और दिलचस्पी से काम करते हैं यदि उसका दसवाँ भाग भी तन्दुरुस्ती की ओर ध्यान दिया जाय तो दुर्बल होने की नौबत न आये । आमतौर से लोग शरीर को आराम देने और सजाने की तो फिक्र करते हैं, इन्द्रिय भोगों के साधन जुटाते है पर यह नहीं सोचते कि चिरस्थायी स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन किस प्रकार प्राप्त हो सकता है । यदि हम धनी बनने की इच्छा की भाँति स्वस्थ एवं दीर्घजीवी बनने की भी इच्छा करें तो अवश्य ही सफल मनोरथ हो सकते हैं । धनी बनने से स्वस्थ बनना सुगम है ।

स्वाद, फैशन या आराम की ओर ध्यान न देकर आरोग्य की दृष्टि से हमें अपना जीवन क्रम बनाना चाहिए । प्रातःकाल जल्दी उठना, रात को जल्दी सोना, नियमित व्यायाम, त्वचा को खूब रगड़-रगड़ कर पूरा स्नान, मालिश, मलों की भली प्रकार सफाई, चटोरेपन को बिल्कुल तिलांजलि देकर सात्विक मन से कम, खूब चबाकर, प्रसन्नतापूर्वक भोजन करना, सामर्थ्य के अनुसार श्रम, चिन्ता से बचाव, वीर्य रक्षा आदि बातों मे सावधानी बरती जाय तो स्वस्थता परछाई की भाँति साथ रहेगी । तन्दुरुस्ती हकीम, डॉक्टरों की दुकानों में या रंग-विरंगी शीशियों में नही है वरन् आहार-विहार की सात्विकता एवं सावधानी में है । आडम्बरी, कृत्रिम, चटोरे, प्रकृति विरुद्ध, आलसी, रहन-सहन से हम रोगी बनते हैं, उसे परित्याग करके यदि सादा, सीधी, सरल और प्रकृति अनुकूल जीवन-क्रम बनाया जाय तो स्वस्थता निश्चित रूप से हमारे साथ रहेगी ।

(२) विद्या—विद्या के दो विभाग है एक शिक्षा, दूसरी विद्या । सांसारिक जानकारी को शिक्षा कहते हैं । जैसे भाषा भूगोल, गणित, इतिहास, चिकित्सा, व्यापार, शिल्प, साहित्य, संगीत, कला, विज्ञान, नीति, न्याय-व्यवस्था आदि । विद्या-मनुष्यता के कर्तव्य और उत्तरदायित्व को हृदयंगम करने को कहते हैं । धर्म, आध्यात्म, शिष्टाचार, सेवा, पुण्य, परमार्थ, दया, त्याग, सरलता, सदाचार, संयम, प्रेम, न्याय, ईमानदारी, ईश्वर परायणता, कर्तव्य भावना, प्रभृति वृत्तियों का जीवन में घुल-मिल जाना विद्या है । शिक्षा और विद्या दोनों को ही प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए । शिक्षा से सांसारिक जीवन की श्रीवृद्धि होती है और विद्या से आत्मिक जीवन में सुसम्पन्नता आती है ।

बौद्धिक विकास के लिए जिज्ञासा की सबसे अधिक आवश्यकता है । जिसके मन में जानने की इच्छा उत्पन्न होती है, अनेकों तर्क-वितर्क उठते हैं, चिन्तन, मनन और विवाद करने में जिसे रस आता है, जो अपनी जानकारी बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील रहता है, जिसें ज्ञान संग्रह का शौक है, जो ज्ञानवान बनने के महत्त्व और आनन्द से परिचित है वह नित्य प्रति अधिक ज्ञानवान होता जायेगा । ज्ञानवान बनने के अनेकों साधन उसे पग-पग पर प्राप्त होते रहेंगे । मूढ़मति के मनुष्यों को जहाँ कोई "खास बात" नहीं दिखाई पड़ती, जिज्ञासु व्यक्ति की सूक्ष्म दृष्टि वहाँ भी बहुत-सी जानने योग्य बातें ढूँढ़ निकालती है । ज्ञानवान बनने की आकांक्षा हुए बिना मस्तिष्क की वे सूक्ष्म शक्तियाँ संचित नहीं हो सकतीं जिनके आधार पर शिक्षा और विद्या की प्राप्ति हुआ करती है । "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" के सूत्रकार ने ज्ञान साधना का प्रथम उपाय जिज्ञासा को बताया है । जिज्ञासु होना विद्वान होने का पूर्व रूप है ।

पर्यटन, यात्रा, समाचार-पत्रों को पढ़ना, विचार पूर्ण पुस्तकों का अध्ययन, सत्संग, आम लोगों की मनोवृत्तियों का अध्ययन, घटनाओं पर विचार और उनका निरूपण एवं अनुभव सम्पादन में रुचि लेने वाले मनुष्य बुद्धिमान हो जाते हैं । जो अपनी भूलों को ढूँढ़ने और सही निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए हठधर्मी से बचा कर अपने मस्तिष्क को खुला रखते हैं वे आवश्यक एवं उपयोगी ज्ञान को पर्याप्त मात्रा में एकत्रित कर लेते है । समर्थक और विरोधी दोनों तथ्यों को समझने और उनकी विवेचना करने के लिए जो लोग प्रस्तुत रहते हैं वे भ्रम से, अज्ञान से बचकर वास्तविकता तक पहुँच जाते हैं । अपनी जानकारी की अल्पता को समझना और अधिक मात्रा में एवं अधिक वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करने की निरन्तर चाह रखना, मनुष्य को क्रमशः ज्ञानवान बनाती जाती है । ज्ञान वृद्धि को प्राप्त करने के अवसरों को जो लोग तलाशते रहते हैं और वैसे अवसर मिलने पर समुचित लाभ उठाते है, उनकी विद्या दिन-दिन बढ़ती जाती है ।

(३) धन—समय के प्रभाव से आज पैसे का मनुष्य जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य की लघुता महानता अब पैसे के पैमाने से नापी जाने लगी है। पैसे के द्वारा सबकी सुख सामग्रियाँ, सब प्रकार की योग्यता और शक्तियाँ खरीद ली जाती हैं। आज जो अनुचित, अत्यधिक महत्त्व पैसे को प्राप्त है, उनकी ओर ध्यान न दिया जाय तो भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि पैसे की आवश्यकता हर एक को है। भोजन, वस्त्र एवं मकान की जरूरत पड़ती है। अतिथि सत्कार, परिवार का भरण-पोषण, बच्चों की शिक्षा, विवाह, चिकित्सा दुर्घटना, अकाल, आपत्ति, यात्रा आदि के लिए थोड़ा बहुत पैसा हर सद्गृहस्थ के पास रहना आवश्यक है।

धन उपार्जन की अनेकों प्रणाली संसार में प्रचलित हैं। उनमें से व्यापार, उत्पादन एवं निर्माण की प्रणाली सबसे उत्तम है। शिल्प, वाणिज्य, कला-कौशल, कृषि, गोपालन, दलाली आदि के द्वारा आसानी से पैसा पैदा किया जा सकता है। नौकरी—बिना पूँजी वाले और ढीले स्वभाव वालों का सहारा है। ऐसे ही उत्तम कार्य से जीविका उपार्जित करनी चाहिए। विश्वस्तता, मधुर व्यवहार, परिश्रम, ईमानदारी, अच्छी चीज, वायदे की पाबन्दी, सजावट, विज्ञापन एवं मितव्ययता के आधार पर हर व्यक्ति अपने कारोबार में वृद्धि कर सकता है। नौकरी, उत्पादन, निर्माण, व्यापार सभी कार्यों में इनके आधार पर आमदनी और मजबूती बढ़ सकती है। न्यायोचित आधार पर समुचित जीविका प्राप्त कर लेना कुछ कठिन नहीं है।

थोड़े प्रयत्न में अधिक धन कमाने के लिए लोग चोरी, डकैती, लूट, रिश्वत, ठगी, उठाईगीरी, बेईमानी, धोखा, मिलावट, विश्वासघात, जुआ, सट्टा, लाटरी, अन्याय, शोषण, अपहरण आदि नीच निन्दित मार्गों का आश्रय ग्रहण करते हैं। इस प्रकार का धन कमाने में लोक निन्दा, राजदण्ड, शत्रुता, घृणा, प्रतिहिंसा का भय तो प्रत्यक्ष ही है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार झटके का पैसा बुरी तरह अपव्यय होता है। जो पैसा पसीना बहाकर, किफायतशारी से नहीं जमा किया गया है, उनके खर्च होने में कुछ दर्द नहीं होता। चोर-जुआरी, ठग इस हाथ विपुल धन कमाते हैं और उस हाथ होली में जला कर स्वाहा कर देते हैं। इस प्रकार के अपव्यय से अनेक पाप, दुर्गुण एवं बुरे उदाहरण उत्पन्न होते हैं। सबसे खास बात यह है कि ऐसा पैसा बीमारी, मुकदमा, चोरी, व्यसन आदि कुमार्गों में नष्ट हो जाता है। यदि बच भी रहे तो कुकर्मी पिता के उत्तराधिकारी ऐसे कुकर्मी निकलते हैं कि उस पैसे की होली तापे बिना उन्हें चैन नहीं पड़ता।

इन सब बातों पर ध्यान रखते हुए परिश्रमपूर्वक ईमानदारी के साथ उचित मार्गों से धन कमाना चाहिए और किफायतशारी से कुछ बचाने का प्रयत्न करना चाहिए। सही मार्ग से धनी बनना प्रशंसनीय है। धन को जोड़-जोड़ कर विशाल राशि जमा करने में नहीं वरन् उसका ठीक समय पर आवश्यक एवं उचित उपयोग कर लेने में बुद्धिमानी है। धन को विवेकपूर्वक कमाना चाहिए और विचारपूर्वक खर्च करना चाहिए। तभी धन की शक्ति का वास्तविक लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

(४) व्यवस्था—व्यवस्था बहुत बड़ी शक्ति है। बड़ी-बड़ी सफलताएँ प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अच्छा व्यवस्थापक होना चाहिए। जो व्यक्ति कार्य को पूरा करने का समुचित प्रबन्ध कर सकता है वह बहुत बड़ा जानकार है। धनी, विद्वान और स्वस्थ पुरुष अनेक स्थानों पर असफल रहते देखे गए हैं पर चतुर प्रबन्धक स्वल्प साधनों से बड़े-बड़े कार्यों के लिए सरंजाम जुटा डालते हैं और अपनी हिम्मत, चतुरता, बुद्धिमत्ता एवं व्यवस्था के बल पर उन्हें पूरा कर लेते हैं।

(अ) दूसरों पर प्रभाव डालना, (ब) उपयोगी मनुष्यों का सहयोग एकत्रित करना, (स) काम की ठीक योजना बनाना, (द) नियमित कार्य प्रणाली का संचालन करना, (ह) रास्ते में आने वाली कठिनाइयों का निराकरण करना। यह पाँच गुण व्यवस्थापकों में देखे जाते हैं। वे मधुर भाषण, शिष्टाचार, सद्व्यवहार, लोभ, भय आदि से दूसरों को प्रभावित करना जानते हैं। अनुपयोगी अयोग्य लोगों की उपेक्षा करके काम के आदमियों को सहयोग में लेते हैं। लाभ और हानि के हर एक पहलू को, वर्तमान परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अनुभव और आँकड़ों के आधार पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने के पश्चात् वे अपने काम की योजना बनाते हैं। समय की पाबन्दी, नियमितता, ठीक समय पर ठीक कार्य करना, स्वच्छता, निरालस्यता एवं जागरूकता उनके स्वभाव का एक अंग बन जाती है। दोषों को वे बारीकी से ढूँढ़ लेते हैं और उन्हें दूर हटाने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं। बदलती हुई परिस्थितियों के कारण जो खतरे आते हैं उन्हें रोकने

एवं शमन करने पर उनका पूरा ध्यान रखते हैं। सफल व्यवस्थापक में इस प्रकार के गुण होते हैं। उनकी सूझ-बूझ व्यावहारिक होती है।

निरालस्यता, जागरूकता, स्वच्छता, नियमितता, पाबन्दी, मर्यादा का ध्यान रखने से मनुष्य के विचार और कार्य व्यवस्थित होने लगते हैं और वह धीरे-धीरे अपने क्षेत्र में एक कुशल व्यवस्थापक बन जाता है। ऐसे आदमी का दुनिया लोहा मानती है, सफलता उसका पानी भरती है।

(५) संगठन—शास्त्रकारों ने "संघशक्ति कलौयुगे" सूत्र में वर्तमान समय में संघशक्ति-संगठन, एकता को प्रधान शक्ति माना है। जिस घर में, कुटुम्ब में, जाति में, देश में एकता है वह शत्रुओं के आक्रमण से बचा रहता है, एवं दिन-दिन समुन्नत होता है। फूट के कारण जो बर्बादी होती है वह जग जाहिर है। अच्छे मित्रों का, सच्चे मित्रों का समूह एक-दूसरे की सहायता करता हुआ आश्चर्यजनक उन्नति कर जाता है। तन बल, धन बल, भुज बल की भाँति जन बल भी महत्त्वपूर्ण है। जिनके साथ दस आदमी हैं वह शक्तिशाली [redacted]। जन शक्ति द्वारा बड़े दुस्तर कार्यों को आसान बना लिया जाता है।

घर में और बाहर हर जगह मित्रता बढ़ानी चाहिए। समानता के आधार पर परस्पर सहायता करने वाला गुट बनाना चाहिए, उसे बढ़ाना और मजबूत करना चाहिए। संघ शक्ति से, जन बल से, जीवन विकास में असाधारण सहायता मिलती है। संगठित गौओं का झुण्ड सामूहिक हमला करके बलवान बाघ को मार भगाता है।

आप सामूहिक प्रयत्नों में अधिक दिलचस्पी लीजिए। अकेले माला जपने की अपेक्षा संध्या, भजन, कीर्तनों में सामूहिक रूप में सम्मिलित होना पसन्द कीजिए। अकेले कसरत करने की अपेक्षा सामूहिक खेलों में भाग लेना और अखाड़ों में जाना ठीक समझिए। सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक, बौद्धिक एवं मनोरंजन संस्थाओं में भाग लीजिए यदि आपके यहाँ वे न हों तो स्थापित कीजिए। अपने जैसे समान विचार के लोगों की एक मित्र मण्डली बना लीजिए और आपस में खूब प्रेम भाव बढ़ाइए। घर मे और बाहर सच्ची मैत्री का, एकता का बढ़ाना एक महत्त्वपूर्ण वास्तविक लाभ है।

(६) यश—नीतिकारों का कहना है कि जिसका यश है उसी का जीवन-जीवन है। प्रतिष्ठा का, आदर का, विश्वास का, श्रद्धा का सम्पादन करना सचमुच एक बहुत बड़ी कमाई [redacted]। देह मर जाती है पर यश नहीं मरता। ऐतिहासिक सत्पुरुषों को स्वर्ग सिधारे, हजारों वर्ष बीत गए परन्तु उनके पुनीत चरित्रों का गायन कर असंख्यों मनुष्य अब भी प्रकाश प्राप्त करते हैं।

जो व्यक्ति अपने अच्छे आचरण और अच्छे विचारों के कारण, सेवा-साहस, सच्चाई एवं त्याग के कारण लोगों की श्रद्धा प्राप्त कर लेता है। उसे बिना माँग अनेक प्रकार से प्रकट और अप्रकट सहायताएँ प्राप्त होती रहती हैं। यशस्वी व्यक्ति पर कोई संकट आता है तो उसका निवारण करने के लिए अनेकों व्यक्ति आश्चर्यजनक सहायता करते हैं, इस प्रकार उन्नति के लिए अयाचित सहयोग प्राप्त करते हैं। सुख्याति द्वारा जिन्होंने दूसरो के हृदयों को जीत लिया है इस संसार में यथार्थ में वे ही विजयी हैं।

प्रतिष्ठा आत्मा को तृप्त करने वाली दैवी सम्पत्ति है। बाजार में ईमानदारी एवं सच्चाई के लिए जिसकी ख्याति है वही व्यापारी स्थायी लाभ कमाता है। यशस्वी पर हमला करके अपने आपको सबकी निगाह में गिरा लेने के लिए कोई विरले ही दुस्साहस करते हैं। यह यश सद्गुणों से, सत्कार्यों से, सद्विचारों से एवं भीतर-बाहर से विश्वस्त रहने वालों को ही प्राप्त होता है। महात्मा गाँधी से आज बड़े-बड़े साम्राज्य थरथराते हैं, वे गाँधी व्यक्ति से नहीं डरते वरन् उसके पीछे जो विशाल जन समूह की अटूट श्रद्धा है उससे घबराते हैं। यश सचमुच शक्ति है। उस शक्ति से सम्पन्न मनुष्य तुच्छ से महान बन जाता है।

(७) शौर्य—साहस, बाजी मारता है। हिम्मत वालों की खुद मदद करता है। आपत्ति में विचलित न होना, संकट में संयम, धैर्य रखना, विपत्ति के समय विवेक को कायम रखना मनुष्य की बहुत बड़ी विशेषता है। बुराइयो के विरुद्ध लड़ना, संघर्ष करना और उन्हें परास्त करके दम लेना शौर्य है। शान्ति अच्छी है—परन्तु अशान्ति का अन्त करने वाली अशान्ति भी शान्ति के समान ही अच्छी है। कायरता की जिन्दगी से मर्दानगी की मौत अच्छी। स्वाभिमानी, धर्म और मर्यादा की रक्षा के लिए मनुष्य को बहादुर होना चाहिए।

खतरे में पड़ने का चाव निर्भीकता, बहादुरी, जोश, यह सब आन्तरिक प्रेरक शक्ति के, गरम खून के चिन्ह हैं । जो फूँक-फूँक कर पाँव धरते हैं वे सोचते और मौका ढूँढ़ते रह जाते हैं, पर साहसी पुरुष कूद पड़ते है और तैर कर पार हो जाते हैं । दब्बू, डरपोक, कायर, कमजोर, शंकाशील मनुष्य सोचते और डरते रहते हैं । उनसे कोई असाधारण काम नहीं हो पाता । यह पृथ्वी वीर भोग्या है । वीर पुरुषों के गले में ही यह जयमाला पहनाई जाती है । उद्योगी सिंह पुरुष ही लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं ।

मनुष्य को साहसी होना चाहिए । विपत्ति आने पर शोक, चिन्ता, भय, घबराहट को हटाकर विवेकपूर्वक उस संकट का समाधान करने के लिए ठीक-ठीक सोच सकने का साहस होना मनुष्यता का लक्षण है । आततायियों से मुठभेड़ करने की बहादुरी होनी चाहिए । आगे बढ़ने के मार्ग में जो खतरे हैं । उनसे उलझने में जिसे रस आता है वह शूरवीर है । जो साहसी, पराक्रमी, कर्मठ और निर्भीक है वह शक्तिवान है क्योंकि साहस रूपी प्रचण्ड शक्ति उसके हृदय में विद्यमान है ।

(८) सत्य—सत्यता में अकूत बल भरा हुआ है साँच को कहीं आँच नहीं । सत्य इतना मजबूत है कि उसे किसी भी हथियार से नष्ट नहीं किया जा सकता । जिसके विचार और कार्य सच्चे हैं वह इस संसार का सबसे बड़ा बलवान है । उसे कोई नहीं हरा सकता । सत्यता पूर्ण हर एक कार्य के पीछे दैवी शक्ति होती है । असत्य के पैर जरा-सी बात में लड़खड़ा जाते और उसका भेद खुल जाता है, किन्तु सत्य-अडिग चट्टान की तरह सुस्थिर खड़ा रहता है । उस पर चोट करने वालों को स्वयं ही परास्त होना पड़ता है ।

सदुद्देश, सद्भाव, सद्विचार, सत्कर्म, सत्संकल्प, चाहे कितने ही छोटे रूप में सामने आयें यथार्थ में उनमें बड़ी भारी प्रभावशालिनी महानता छिपी होती है । हजार आडम्बरों से लिपटा हुआ असत्य जो कार्य नहीं करता वह कार्य सीधी और सरल सत्यता द्वारा पूरा हो जाता है । सत्यनिष्ठ पुरुष प्रभावशाली, तेजस्वी और शक्तिशाली होता है जो सत्यनिष्ठ है, मन, कर्म और वचन से सत्य परायण रहते हैं, उनके बल की किसी भी भौतिक बल से तुलना नहीं की जा सकती ।

यह आठ बल, भगवती दुर्गा की आठ भुजाएँ हैं । हमें उन आठों बलों को अधिकाधिक मात्रा में संचित करने के लिए प्रयत्नशील रहकर शक्ति पूजा करनी चाहिए । शक्ति की कृपा से लौकिक और पारलौकिक सिद्धियाँ मिलती हैं स्वर्ग और मुक्ति भी शक्ति का ही प्रसाद है ।

पाठको, शक्ति संचय के पथ पर अग्रसर होओ । मनचाही सुख समृद्धि प्राप्त करने के लिए आध्यात्म विज्ञान का अवलम्बन करो अपने को अविनाशी आत्मा मानो, परिस्थितियों का निर्माता अपने आपको मानो और अष्टभुजी दुर्गा की उपासना करो । इस मार्ग पर चलने से तुम शक्तिवान बनोगे । स्मरण रखो-शक्तिवान को ही सिद्धि प्राप्त होती है ।

## शक्तियों का अपव्यय न करो !

अमेरिका के सुप्रसिद्ध धन कुबेर जिनकी सम्पत्ति अरबों, खरबों रुपया है—हेनरी फोर्ड ने एक बार कहा था—"धन कुबेर होने पर भी मुझे जीवन में सुख नहीं है । जब मैं अपने लम्बे चौड़े कारखाने मे बेचारे गरीब मजदूरों को रूखा-सूखा और बिना स्वाद का भोजन बड़ी उत्सुकता और प्रसन्नता के साथ करते हुए देखता हूँ तो उन पर मुझे ईर्ष्या होती है तब मेरा जी चाहता है कि काश, मैं धन कुबेर होने की अपेक्षा एक साधारण मजूदर होता ।"

मौटे तौर से देखने पर यह बात अतिश्योक्ति पूर्ण प्रतीत होती है कि एक असीम सम्पत्ति का स्वामी जिसके यहाँ सभी प्रकार के ऐश आराम के साधन प्रचुर मात्रा में मौजूद हैं एक मजदूर के भाग्य पर ईर्ष्या क्यों करता है ? क्या वह सचमुच मजदूर की अपेक्षा अधिक अभाव ग्रस्त है ? इतना धन होते हुए भी कोई क्यों मजदूर के भाग्य पर ईर्ष्या करते हैं ?

विवेकपूर्वक विचार करने से पता चलता है कि केवल मात्र धन ही ऐसी वस्तु नहीं है जिससे मनुष्य सुखी रह सके । बात यह है कि योग्य पदार्थ उसी को आनन्द दे सकते हैं जिसमें उपभोग की शक्ति हो । उपभोग की शक्ति क्षीण या विनष्ट हो जाने पर भोज्य सम्पदा कुछ भी सुख नहीं दे पाती । जिसकी पाचन शक्ति नष्ट हो गई है वह दाल दलिए का पथ्य ही ले सकता है । छत्तीस प्रकार के व्यंजनों से सजा हुआ थाल उसके लिए विष के तुल्य है । उस थाल का आनन्द तो वही उठा सकता है जिसकी पाचन शक्ति तीव्र है । आँखों की ज्योति चले जाने पर अनेक प्रकार के सुरम्य दृश्य, चित्र, खेल-तमाशे आदि दर्शनीय पदार्थो

का कोई मूल्य नहीं । नाक ठीक काम न करती हो तो बढ़िया इत्र और साधारण तेल एक समान है । काम सेवन की शक्ति नष्ट हो जाय, नपुंसकता आ घेरे तो रूप यौवन सम्पन्न रमणियाँ उस सुख का रसास्वादन नहीं करा सकती ।

उपभोग की सामर्थ्य न होने पर भोग्य सामग्री निरर्थक एवं निरुपयोगी हो जाती है इतना ही नहीं उस सामग्री का होना उल्टा खतरनाक बन जाता है । नपुंसक पति की नव यौवना पत्नी उसके लिए एक खतरा है । बीमार आदमी के समीप सुस्वादु भोजनों का जमाव उसके लिए कोई दुर्घटना उपस्थित कर सकता है । इस दृष्टि से हेनरी फोर्ड का कथन सत्य था । उन्होंने पैसा कमाने की धुन में अपने पेट को खराब कर लिया था । एकाध बिस्कुट, छटाँक दो छटाँक (१ छटाँक = ५८ ग्राम) फलों का रस वे पचा पाते थे । फोर्ड महोदय जब अपनी फैक्टरी के मजदूरों को मोटे-छोटे अनाज की रोटियाँ भर-पेट खाते हुए देखते थे तो उन्हें उन मजदूरों के भाग्य पर ईर्ष्या होती थी और कहते थे—"काश ! मैं धन कुबेर होने की अपेक्षा एक साधारण मजदूर होता ।"

स्वस्थता कमाना और उसकी रक्षा करना, अन्य सभी सम्पत्तियों के उपार्जन और रक्षण से मूल्यवान है । कई व्यक्ति विद्वान बनते हैं पर उसे प्राप्त करने में इतनी जल्दबाजी करते है कि स्वास्थ्य चौपट हो जाता है । कई व्यक्ति धनी बनते हैं पर उस प्रयास में इतने तल्लीन हो जाते है कि शक्तियों के अपव्यय के कारण तन्दुरुस्ती खराब हो जाती है । स्वास्थ्य नष्ट होने के उपरान्त वह विद्या और सम्पत्ति उन्हें कुछ भी सुख नहीं दे पाती । कमजोरी और बीमारी से वे आये दिन ग्रस्त रहते हैं । तब फोर्ड की भाँति वे सोचते है कि योग्य सामग्रियों का संचय करने में हमने उपभोग शक्ति का बलिदान करके बड़ी भारी भूल की । इस भूल का पश्चात्ताप उन्हें शेष जीवन के दिन रो-रोकर बिताते हुए करना होता है ।

अनेक दृष्टियों से समृद्ध होना, भौतिक सम्पदाओं से सुसज्जित होना, हर मनुष्य को स्वभावतः प्रिय होता है और वह उचित तथा आवश्यक भी है, परन्तु इस उपार्जन की भी सीमा है । स्वास्थ्य की स्थिरता एवं सुरक्षा का ध्यान रखते हुए ही सब प्रकार की सम्पत्तियाँ उपार्जित करने का प्रयत्न करना चाहिए । जब कार्यक्रम इस मर्यादा का उल्लंघन कर रहा हो और स्वास्थ्य पर उस अति परिश्रम का बुरा असर हो रहा हो तो तुरन्त ही सावधान होने की आवश्यकता है । स्वस्थता में जो सुख है वह हेनरी फोर्ड जितनी सम्पत्ति के बदले में भी प्राप्त नहीं हो सकता ।

उपभोग सामग्री का संयमपूर्वक उपयोग करने से शक्तियाँ ठीक प्रकार काम करती हैं । अति रसास्वादन का असंयम उस उपभोग शक्ति को ही नष्ट कर देता है । अति काम सेवन से नपुंसकता, प्रमेह आदि रोग उत्पन्न होते हैं और अति के दण्ड स्वरूप उस शक्ति से सदा के लिए हाथ धोना पड़ता है । इसी प्रकार चटोरे व्यक्ति अपनी पाचन शक्ति बिगाड़ लेते हैं और कड़ाके की भूख में भोजन करने के आनन्द से सदा के लिए वंचित हो जाते हैं । यही बात अन्य इन्द्रियों के बारे में भी है, इसीलिए शास्त्रकारों ने इन्द्रिय संयम पर विशेष जोर दिया है । इन्द्रिय संयम एक वैज्ञानिक विधान है जिसके द्वारा मनुष्य जीवन भर उपभोग शक्ति को कायम रख सकता है । ब्रह्मचर्य व्रत, उपवास, मौन आदि आत्मा निग्रह के अनेक विधि विधानों का उद्देश्य उन भोग शक्तियों को स्थिर रखना भी है जिनके द्वारा भोग्य पदार्थों के आनन्द का रसास्वादन किया जा सकता है ।

संसार में जिन्हें जीवन के अनेक आनन्दों का उपभोग करने की इच्छा है उन्हें शक्तियों के अनुचित अपव्यय से बचने का प्रयत्न करना चाहिए । किसी प्रलोभन के आकर्षण में पड़ कर जो लोग अपनी शारीरिक, मानसिक शक्तियों को अपव्यय करके गँवा देते हैं वे अन्त में हेनरी फोर्ड की तरह पछताते हैं तब सारी सम्पत्तियाँ मिलकर भी उन्हें वह आनन्द नहीं दे सकतीं जो स्वस्थ रहने पर अनायास ही मिल सकता था ।

ꕤꕤꕤ

# परिष्कृत व्यक्तित्व : साधना की एक सिद्धि एक उपलब्धि

## जीवन लक्ष्य और उसकी प्राप्ति

### मनुष्य-जीवन का अमूल्य यात्रा-पथ

मनुष्य परमात्मा की अलौकिक कलाकृति है । वह विश्वम्भर परमात्म देव की महान रचना है । जीवात्मा अपनी यात्रा का अधिकांश भाग मनुष्य शरीर में ही पूरा करता है । अन्य योनियों से इसमें उसे सुविधाएँ भी अधिक मिली हुई होती हैं । यह जीवन अत्यन्त सुविधाजनक है । सारी सुविधाएँ और अनन्त शक्तियाँ यहाँ आकर केन्द्रित हो गई हैं ताकि मनुष्य को यह शिकायत न रहे कि परमात्मा ने उसे किसी प्रकार की सुविधा और सावधानी से वंचित रखा है । ऐसी अमूल्य मानव देह पाकर भी जो अन्धकार में ही डूबता उतराता रहे उसे भाग्यहीन न कहें तो और क्या कहा जा सकता है ।

आत्मज्ञान से विमुख होकर इस मनुष्य जीवन में भी जड़-योनियों की तरह काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि की कैद में पड़े रहना, सचमुच बड़े दुर्भाग्य की बात है किन्तु इतना होने पर भी मनुष्य को दोष देने का जी नहीं करता । बुराई में नहीं, वह तो अपने स्वाभाविक रूप में सत्, चित् एवं आनन्दमय ही है । शिशु के रूप में वह बिल्कुल अपनी इसी मूल-प्रकृति को लेकर जन्म लेता है किन्तु माता-पिता की असावधानी, हानिकारक शिक्षा, बुरी संगति, विषैले वातावरण तथा दुर्दशाग्रस्त समाज की लपेट में आकर वह अपने उद्देश्य से भटक जाता है और तुच्छ प्राणी का सा अविवेकपूर्ण जीवन व्यतीत करने लग जाता है ।

इसलिए निन्दा मनुष्य की नहीं दोषों की, दुर्गुणों की, की जानी चाहिए जो मनुष्य को प्रकाश से अन्धकार में ढकेल देते हैं । मनुष्य का जीवन तो सामाजिक जीवन के ढाँचे मे ढाले गए किसी उपकरण की तरह है, जिसके अच्छे बुरे होने का श्रेय सामाजिक शिक्षा एवं तात्कालिक परिस्थितियों को ही देना उचित प्रतीत होता है । यदि मनुष्य को सदाचार युक्त एवं आदर्शों से प्रेरित देखना चाहते हों तो द्वेष, दुर्गुणों को मिटाकर सुन्दर प्रकाशयुक्त वातावरण पैदा करने का प्रयास करना चाहिए । अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए किसी वर्ग, व्यक्ति या समाज पर आत्म-हीनता का भार लादना उचित नहीं । इससे मानवता कलंकित होती है । हम वह करें जिससे यह अज्ञान का पर्दा नष्ट हो और दिव्य-ज्ञान का प्रकाश चारों तरफ झिलमिलाने लगे ।

सुविधाजनक यात्रा का सामान्य नियम यह है कि समय-समय पर यात्री अपना स्थान दूसरों के लिए छोडते जायें । उतरते-चढ़ते रहने की प्रक्रिया से ही कोई यात्रा विधिपूर्वक सम्पन्न हो सकती है । ऐसी ही व्यवस्था मनुष्य जीवन में भी होनी चाहिए । परमात्मा ने अपना यह नियम बना दिया है कि मनुष्य एक निश्चित समय तक ही इस वाहन का उपयोग करे और आगे के लिए उस स्थान को किसी दूसरे के लिए सुरक्षित छोड़ जाय । यह एक प्रकार की उसकी जिम्मेदारी है आगन्तुकों का, भावी नागरिकों का निर्माण चतुराई और बुद्धिमत्ता से साथ करे । केवल अपने ही स्वार्थ का ध्यान न रखकर आने वाले यात्री के लिए इस प्रकार का वातावरण छोड़ जाय ताकि वह भी अपनी यात्रा सुविधा और समझदारी के साथ पूरी कर सके ।

कर्तव्य की इतिश्री इतने से ही नहीं हो जाती अपने साथ अनेकों दूसरे यात्री भी सफर तय कर र होते हैं । मानवता के नाते उन्हें भी आपकी तर सुविधापूर्वक यात्रा करने का अधिकार मिला हुआ हो है । यदि आपको कुछ अधिक शक्ति और साम मिली है तो इसका यह मतलब नहीं कि आप औ को बलपूर्वक सतायें उन्हें परेशान करें । खुद तो म

मजा उड़ाते रहें और दूसरों को बैठने की सुविधा न दें। हमारे ऋषियों ने एक व्यवस्था स्थापित की थी कि प्रत्येक नागरिक उतनी ही वस्तु ग्रहण करे जितने से उसकी आवश्यकताएँ पूरी हो जायें शेष भाग समाज के अन्य पीड़ित प्राणियों अभावग्रस्त लोगों में बाँट दिया जाये ताकि समाज में किसी तरह की गड़बड़ी न फैले। विषमता चाहे वह धन की हो, चाहे जमीन-जायदाद की हो हर अभावग्रस्त के मन में विद्रोह ही पैदा करेगी और उससे सामाजिक बुराइयाँ ही फैलेंगी। इसलिए न्यायनीति का परित्याग कभी नहीं होना चाहिए। सबके हित में ही अपना भी हित समझकर मनुष्य को मनुष्यता से विमुख नहीं होना चाहिए। इसी में शान्ति है, सुख और सुव्यवस्था है।

मनुष्य इन बुराइयों से बचता रहे इसके लिए उसे हर घड़ी अपना लक्ष्य अपना उद्देश्य सामने रखना चाहिए। यात्रा में गड़बड़ी तब फैलती है जब अपना मूल-लक्ष्य भुला दिया जाता है। मनुष्य जीवन में जो अधिकार एवं विशेषताएँ प्राप्त हैं वह किसी विशेष प्रयोजन के लिए हैं। इतनी सहूलियत अन्य प्राणियों को नहीं मिली। मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जिसको सुन्दर शरीर, विचार, विवेक, भाषा आदि के बहुमूल्य उपहार मिले हैं, इनकी सार्थकता तब है जब मनुष्य इनका सही उपयोग कर लें। मनुष्य देह जैसे अलभ्य अवसर प्राप्त करके भी यदि वह अपने पारमार्थिक लक्ष्य को पूरा नहीं करता तो उसे अन्य प्राणियों की ही कोटि का समझा जाना चाहिए। जन्म-जन्मान्तरों की थकान मिटाने के लिए यह बहुमूल्य अवसर है जब मनुष्य अपने प्राप्त ज्ञान और साधनों का उपभोग कर ईश्वर-प्राप्ति की चरम शान्ति-दायिनी स्थिति को प्राप्त कर सकता है। जिन्हें साधन-निष्ठा की इतनी शक्ति नहीं मिली या जो कठिन तपश्चर्याओं के मार्ग पर नहीं जाना चाहते, वे इस जीवन में उत्तम संस्कार, सद्भावनाएँ और श्रद्धा-भक्ति तो पैदा कर ही सकते हैं ताकि अगले जीवन में परिस्थितियों की अनुकूलता और भी बढ़ जाय और धीरे-धीरे अपने जीवन लक्ष्य की ओर बढ़ने का कार्यक्रम चालू रख सके।

पर इस अभागे इन्सान को क्या कहें जो आत्म-स्वरूप को भूलकर अपने वासना 'शरीर' को ही सजाने में आनन्द ले रहा है। मनुष्य यह देखते हुए भी कि, यह शरीर नाशवान है और अन्य जीवधारियों के समान इसे भी किसी न किसी दिन धूल में मिल जाना है, फिर भी वह शारीरिक सुखों की मृगतृष्णा में इस तरह पागल हो रहा है कि उसको अपने सही स्वरूप तक का ज्ञान नहीं है। शारीरिक सुखों के सम्पादन में ही वह जीवन का अधिकांश भाग नष्ट कर देता है। जब तक शक्ति और यौवन रहता है तब तक उसकी यह समझदारी की आँखें खुलती तक नहीं, बाद में जब संस्कार की जड़ें गहरी जम जाती हैं और शरीर में शिथिलता आ जाती है तब फिर समझ आने से भी क्या बनता है। चतुरता तो तब है जब अवसर रहते मनुष्य सद्गुणों का संचय करके इस योग्य बन जाय कि यह यात्रा सन्तोषपूर्वक पूरी करके लौटने में कोई बाधा शेष न रहे।

हमारा सहज धर्म यह है कि हम इस जीवन में प्रकाश की अर्चना करें और उसी की ओर अग्रसर हों। इसमें कुछ देर लगे पर जब भी उसे एक नया जीवन मिले हम प्रकाश की ओर ही गतिमान बने रहें। मनुष्य का दृढ़ निश्चय उसके साथ बना रहना चाहिए। हमारा विवेक कुतुबनुमा की सुई की भाँति ठीक जीवन-लक्ष्य की ओर रहना चाहिए ताकि हम अपनी इस यात्रा में भूलें भटकें नहीं।

इस जीवन में काम, क्रोध, लोभ तथा मोह आदि के मल-विक्षेप आत्मपवित्रता को मलिन करते रहते हैं। इस पवित्रता को ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, श्रम और प्रेम के दिव्य गुणों द्वारा दूर करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं, यह मार्ग कठिनाइयों और जटिलताओं से ग्रस्त है, पर यदि सच्चाई, श्रद्धा, भक्ति एवं आत्म-समर्पण के द्वारा ईश्वर के सतोगुणी प्रकाश की ओर बढ़ते रहें तो ये कठिनाइयाँ मनुष्य का कुछ बिगाड़ नहीं सकतीं।

## जीवन का लक्ष्य भी निर्धारित करें

जीवन-यापन और जीवन-लक्ष्य दो भिन्न बातें हैं। प्रायः सामान्य लोगों का लक्ष्य जीवन-यापन ही रहता है। खाना-कमाना, ब्याह-शादी, लेन-देन व्यवहार-व्यापार आदि साधारण जीवन क्रमों को पूरा करते हुए मृत्यु तक पहुँच जाना, बस, इसके अतिरिक्त उनका अन्य कोई लक्ष्य नहीं होता। एक जीविका का साधन जुटा लेना, एक परिवार बसा लेना और बच्चों का पालन-पोषण

करते हुए शादी-ब्याह आदि कर देना मात्र ही साधारणतया लोगों ने जीवन-लक्ष्य मान लिया है ।

वस्तुतः यह जीवन-यापन की साधारण प्रक्रिया मात्र है, जीवन-लक्ष्य नहीं । जीवन-लक्ष्य उस सुनिश्चित विचार को ही कहा जायेगा, जो संसार के साधारण कार्यक्रम से कुछ अलग, कुछ ऊँचा हो और जिसे पूरा करने में कुछ अतिरिक्त पुरुषार्थ करना पड़े ।

जीवन में कोई सुनिश्चित लक्ष्य, कुछ विशेष ध्येय धारणा करके चलने वालों को असाधारण व्यक्तियों की कोटि में रखा जाता है । उनकी विशेषता तथा महानता केवल यही होती है कि परम्परा से साधारण जीवन के अभ्यस्त व्यक्तियों में से उन्होंने कुछ आगे बढ़कर, कुछ असामान्यता ग्रहण की है । लोग उनको महान इसलिए मान लेते हैं कि सामान्य लोग समझी-बूझी तथा एक ही लीक पर चलती चली जा रही जीवन-गाड़ी में न जाने कितनी दुःख तकलीफें अनुभव करते हैं, तब उस व्यक्ति ने एक अन्य, अनजान एवं असामान्य मार्ग चुना है । उसका साहस एवं कष्ट सहिष्णुता कुछ अधिक बढ़ी-चढ़ी है ।

जीवन-यापन की साधारण प्रक्रिया को भी यदि एक असामान्य दृष्टिकोण से लेकर चला जाय तो वह भी एक प्रकार का जीवन-लक्ष्य बन जाता है । इस साधारण प्रक्रिया का असाधारणत्व केवल यही हो सकता है कि जीवन इस प्रकार से बिताया जाये, जिसमें मनुष्य पतन के गर्त में न गिरकर एक आदर्श-जीवन बिताता हुआ उसकी परिसमाप्ति तक पहुँच जाये । जिसने जीवन को आहों, आँसुओं तथा विषादों से मुक्त करके हास, उल्लास, हर्ष, प्रमोद तथा उत्साह के साथ बिता लिया है, उसने भी मानो सफल जीवन-यापन का एक लक्ष्य ही प्राप्त कर लिया है । जिसने सन्तोषपूर्वक हँसते हुए जीवन-परिधि के बाहर पैर रखा है, उसका जीवन सफल ही माना जायेगा । इसके विपरीत जिसने जीवन-परिधि को रोते, बिलखते, तड़पते तथा तरसते हुए पार किया, मानो उसका जीवन घोर असफल ही हुआ ।

जीवन की सफलता का प्रमाण जहाँ किसी के कार्य और कर्तृत्व से दिया करते हैं, वहाँ उसकी अन्तिम श्वास में सन्निहित शान्ति एवं सन्तोष की मात्रा भी उसका एक सुन्दर प्रमाण है ।

जीवन-यापन को जीवन लक्ष्य मानने वाले भी जब तक अपने जीवन में एक व्यवस्था, एक अनुशासन और एक सुन्दरता नहीं लायेंगे, तब तक जीवन जीने की स्वाभाविक प्रक्रिया में भी सफल न हो सकेंगे । जिस जीवन में हास, उल्लास तथा उत्साह की मात्रा जितनी अधिक होगी, वह उतना ही सुन्दर होगा । प्रसन्नता ही जीवन की सुन्दरता का दूसरा नाम है । जिस जीवन में हास नहीं, उत्साह एवं उल्लास नहीं, उसमें क्यों न संसार भर के सुख-साधन हो, क्यों न वह विपुल सोने से निर्मित किया गया हो, सुन्दर नहीं कहा जा सकता ।

ऊँची कोठी, सजे कमरे, सुन्दर वस्त्र, परिपूर्ण तिजोरियाँ और रंगरूप से भरी रंगरेलियाँ भले ही किसी के जीवन को दूसरों के लिए आकर्षक बना दें किन्तु यह उपादान उसके स्वयं के लिए जीवन की सुन्दरता का सृजन नहीं कर सकते ।

जीवन की सुन्दरता बाहरी वैभव में नहीं, मनुष्य के आन्तरिक संसार में हुआ करती है । जिसके गुण, कर्म, स्वभाव जितने ही सात्विक और सुरुचिपूर्ण होंगे उसका जीवन उतना ही प्रसन्न, उतना ही सुन्दर होगा । जो अविचारी, व्यभिचारी अथवा अवगुणी है, वह कितना ही धनवान्, शान-शौकत वाला, सुन्दर शरीर और रहन-सहन वाला क्यों न हो सुन्दर जीवन की परिधि में नहीं आ सकता । इसके विपरीत जो सामान्य स्थिति का है, गरीब है, बहुत सुन्दर शरीर वाला भी नहीं है, यदि वह शिष्ट, सभ्य, सुशील, सन्तुष्ट और शान्त है तो वह अधिक सुन्दर जीवन वाला कहा जायेगा ।

## मनुष्य जीवन का उद्देश्य भी समझें

प्रातः सूर्य के उदय होते ही जिन्दगी का एक नया दिन शुरू होता है और सूर्यास्त होने तक दिन समाप्त हो जाता है । इस तरह रोज एक दिन उम्र से घट जाता है । जन्म लेने के बाद से ही आयु-क्षय का यह कार्यक्रम शुरू हो जाता है, किन्तु अनेक प्रकार के कार्यभार से बढ़े हुए विभिन्न क्रिया-व्यापारों में लगे रहने के कारण इस बीतते हुए समय का पता नहीं चलता । ऐसे अवसर प्रायः प्रतिदिन आते हैं जब जीवों के जन्म, वृद्धावस्था, विपत्ति, रोग और मृत्यु के कारुणिक, विचार-प्रेरक दृश्य देखते हैं, किन्तु कितना मदांध, कामनाग्रस्त और अविवेकी है इस धरती का

मनुष्य कि वह सब कुछ देखते हुए भी आँखों से, विवेक और विचार की आँखों से अन्धा ही बना हुआ है। मोह और सांसारिक प्रमाद में लिप्त मनुष्य घड़ी-भर एकान्त में बैठकर इतना भी नहीं सोचता कि इस कौतूहलपूर्ण नर-तन में जन्म लेने का उद्देश्य क्या है, हम कौन हैं, कहाँ से आये और कहाँ जा रहे हैं ?

प्रकृति-प्रवाह की अबूझ परम्परा में प्रवाहित मनुष्य संसार के सुखों को, इन्द्रिय के भोगों को, पदार्थों के स्वामित्व को, धन, पुत्र तथा विविध कामनाओं को ही जीवन का लक्ष्य बनाकर एक बहुमूल्य अवसर को खो देता है। अन्ततः काल की घड़ी जब सामने आती है और विदा होते समय सिर पर पापों, दुष्कर्मों का भयंकर बोझ चढ़ा दिखाई देता है तो भारी पश्चात्ताप, घोर सन्ताप और आन्तरिक अशान्ति होती है। सौदा बिक गया फिर कीमत लगाते भी तो क्या ? विशाल वैभव अपार धन-धान्य की राशि, पुत्र-कलत्रादि कोई भी साथ नहीं देता। यह सारा संसार, यहाँ की परिस्थितियाँ सब ज्यों की त्यों दिखाई देती हैं, किन्तु यह सब उस समय उपयोग के बाहर होती है। अपना शरीर भी साथ नहीं देता। केवल अच्छे-बुरे संस्कारों का बोझ लादे हुए जीव परवश यहाँ से उठ जाता है। कितनी अस्थिरता होती होगी उस समय, यह कोई भुक्त भोगी ही समझता होगा।

मनुष्य के जीवन में यह जो विस्मृति है वह सब असत् के संग से है। ज्ञान का आदर करने से हमारे भीतर से प्रश्न उठेंगे। हमारा कौन है ? हम क्या हैं ? हमें क्या नहीं करना चाहिए ? इसका ज्ञान हमारे अन्दर मौजूद है, पर अपने जीवन का कोई सही दृष्टिकोण न बना सकने के कारण वह सारी ज्ञानशक्ति विशृंखलित और बेकाम पड़ी हुई है। मनुष्य का पहला पुरुषार्थ है—जीवन लक्ष्य में प्रमाद न होने देना। यह तभी सम्भव है जब कर्तव्यों का उचित और सम्यक् ज्ञान हो। कर्तव्यों की विस्मृति मनुष्य ने अपने आप ही की है। जब वह कुछ करना चाहता है तो उसे औरों की आवश्यकता का ध्यान नहीं होता वरन् वह यह जानना चाहता है कि इसमें मेरा लाभ क्या है ? अपने लाभ की अपेक्षा औरों के लाभ की बात सोचे तो कर्तव्य और अकर्तव्य के ज्ञान पर ही मनुष्य का उत्थान और पतन अवलम्बित है।

व्यावहारिक जीवन में कोई नीचे नहीं गिरना चाहता। सभी ऊँचे, बहुत ऊँचे उठने की आकांक्षा लिए हैं। प्रत्येक मनुष्य अपने आपको ऊँचा सिद्ध करना चाहता है। इसके लिए अपनी-अपनी तरह के पुष्टि और प्रमाण भी एकत्रित करते हैं और समय पड़ने पर उन्हें व्यक्त भी करते हैं। ऊँचे उठना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म भी है, पर यदि किसी से यह पूछा जाय कि क्या उसने इस गम्भीर प्रश्न पर गहराई से विचार किया है ? क्या कभी उसने यह भी सोचा है कि इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए उसने क्या योजना बनाई है ? तो अधिकांश व्यक्ति इस गूढ़ प्रश्न की गहराई का भेदन न कर सकेंगे। बात सीधी सी है। महानता मनुष्य के अन्दर छिपी हुई है और व्यक्त होने का रास्ता ढूँढ़ती है, पर सांसारिक कामनाओं में ग्रस्त मनुष्य उस आत्म-प्रेरणा को भुला देना चाहता है, ठुकराये रखना चाहता है। अपमानित आत्मा चुपचाप शरीर के भीतर सुप्त पड़ी रहती है और मनुष्य केवल विडम्बनाओं के प्रपंच में ही पड़ा रह जाता है।

शारीरिक दृष्टि से मनुष्य कितना ही बली हो जाय, बौद्धिक दृष्टि से वह कितना ही तर्कशील क्यों न हो, धर्म के जखीरे भले ही लगे हों, पर आत्म-सम्पदा के अभाव में वह मणि-विहीन सर्प की तरह अर्द्ध-विकसित कहा जायेगा आत्मबल की उपलब्धि का एक सुख, संसार के करोड़ों सुखों से भी बढ़कर होता है। आत्मिक सम्पदाओं वाले नेतृत्व करते हैं, जन-मार्ग दर्शन करते हैं। निर्धन फकीर होने पर भी बड़े-बड़े महलों वाले उनके पैरों में गिर कर दया की भीख माँगते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य की महानता बाह्य नहीं आन्तरिक है। उसकी शक्ति, गुण-विकास पर छिपी है। आन्तरिक श्रेष्ठता के आधार पर ही उसकी श्रेष्ठता प्रमाणित होती है। भौतिक सम्पदाएँ तुच्छ हैं, थोड़े समय तक महानता या बड़प्पन जताकर नष्ट हो जाती हैं।

मनुष्य शरीर जैसा अलभ्य अवसर पाकर भी यदि उसका उद्देश्य नहीं जाना गया तो क्या मनुष्य का शरीर और पशु का शरीर, आत्म-कल्याण की साधना जो इस जीवन में नहीं कर लेता, उसके लिए इस सुर-दुर्लभ अवसर का कुछ भी उपयोग नहीं।

थोड़ा बाहर आकर देखिये, यह संसार कितना विस्तृत है, कितना विशाल है । रात्रि के खुले आसमान के नीचे खड़े होकर थोड़ा चारों ओर दृष्टि तो दौड़ाइये, कितने ग्रह-नक्षत्र बिखरे पड़े हैं । कितना बड़ा फैलाव है इस संसार का, पर इन सब बातों पर विचार करने का समय तभी मिलेगा जब भोगोन्मुख वृत्ति से चित्त हटाकर इन अपार्थिव विषयों की ओर भी थोड़ी दृष्टि जमायेंगे । कामनाएँ ही हैं, जो हमारी राह रोके खड़ी हैं । स्वार्थ ही है, जो आत्म-विकास के मार्ग पर आड़े अड़ा खड़ा है । ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, मय लोभों वाले निविड़ में भटक गए हैं, हम इससे महानता की ओर अग्रसर नहीं हो पा रहे हैं ।

हम उदार बनें, साहस पैदा करें और आध्यात्मिक जीवन की कठिनाइयों को झेलने के लिए उठकर खड़े हो जायें, फिर देखें कि जिस महानता की उपलब्धि के लिए हम निरन्तर लालायित रहते हैं वह सच्चे स्वरूप में मिलती है या नहीं । सत्य हमारे अन्दर छुपा है, उसे धर्म के द्वारा जागृत करो । शक्ति हमारे भीतर सोई पड़ी है उसे साधना से जगाओ, जीवन की सार्थकता का यही एकमात्र मार्ग है ।

जिसे धारण करने से भय-रहित शान्ति मिले, वही धर्म है, वही लक्ष्य है । दूसरों के अधिकार हमारे द्वारा सुरक्षित रहें । स्वयं अधिकार की लोलुपता से मुक्त रहें । अपना कल्याण तृष्णा रहित, वासना रहित एवं निष्काम होने में है बन्धन में तो कामना ही बाँधती है । इसी से भूल होती है । इसी से अवनति होती है । इसी से मनुष्य सब प्रकार से दीन-हीन होकर कष्ट और क्लेश का झंझटों भरा जीवन बिताता रहता है । सुख और शान्ति भोग-विलास में नहीं, मनुष्य की सच्चरित्रता, ईमानदारी और पवित्रता में है । सद्गुणों में ही मनुष्य का वैभव छिपा हुआ है जिसे प्राप्त कर जीवन के सभी अभाव दूर हो जाते हैं ।

जीवन-लक्ष्य के प्रति मनुष्य की दृढ़ता प्रबल होनी चाहिए । उसे विचार और विवेक के द्वारा सुदृढ़ बना कर अपने जीवन में गहराई तक ढाल देना पड़ेगा, तभी जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति करा सकने वाली सफलता प्राप्त की जा सकेगी । यह संसार और यहाँ की परिस्थितियों पर जितना अधिक विचार करेंगे उतना ही विवेक बढ़ेगा, समझ आयेगी और आत्म-कल्याण का रास्ता साफ होगा । जब मनुष्य वस्तु-स्थिति को समझ लेता है तो उसे मानने और अपनाने में भी कोई दिक्कत नहीं होती, पर जीवन-लक्ष्य की दृढ़ता और आत्मविश्लेषण का विवेक इतना परिमार्जित होना चाहिए कि सांसारिक बाधाओं का, भोगों के प्रलोभनों का उस पर प्रभाव न पड़ सके तभी स्थिरतापूर्वक उस महानता की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है जिसके लिए मनुष्य योनि में जीवात्मा का अवतार होता है ।

## जीवन लक्ष्य की ओर

मानव-जीवन के दो पहलू हैं । एक स्थूल दूसरा सूक्ष्म, एक जड़ दूसरा चेतन, एक अन्धकारमय दूसरा प्रकाशमय । एक मर्त्य है तो दूसरा अमर्त्य । संसार के सभी धर्मों, दर्शनों, महापुरुषों, विचारकों ने इसे स्वीकार किया है । अपनी भाषा, दृष्टिकोण, आदि के कारण नाम अलग-अलग भले ही हैं, किन्तु सबका अन्तिम निर्णय एक ही निकलता है ।

आदि काल से ही मानव जाति जीवन के इन विभिन्न पहलुओं पर विचार करती आयी है । इन दोनों में जो स्थिर है, सत्य है, चेतन है, प्रकाश युक्त है, अमर्त्य है उसकी ओर भी अग्रसर होने का प्रयत्न भी किया है उसने और यही आदि काल से चला आ रहा प्रयत्न मानव का एक स्थायी उद्देश्य बन गया है । मनुष्य अँधेरे से प्रकाश को अधिक पसन्द करता है मृत्यु नहीं चाहता, वरन् अमर बनने की भावना आदि काल से रही है, उसमें । वह दुःख नहीं चाहता और सुख की खोज में लगा हुआ है । सीमित नहीं असीमित बनना चाहता है । कुरूपता, जड़ता विकृति के बजाय सौन्दर्य, चेतना, व्यवस्था, सुघड़ता से प्यार करता है । यह भले ही हो कि अलग-अलग क्षेत्र में मनुष्य अपने-अपने ज्ञान, निर्माण शक्ति के अनुसार सीमित हो, किन्तु सबकी गति में एक ही ध्येय है—दुःख से सुख, अँधेरे से प्रकाश, मर्त्य से अमर्त्य, जड़ता से चेतना की ओर प्रगति करना ।

यह नियम मानव-जाति पर ही लागू नहीं होता वरन् यह सारी सृष्टि का मूल नियम है । इतर प्राणी वर्ग एवं प्रकृति के प्रत्येक स्पन्दन में यह मुखरित हो रहा है । नदियाँ अपने अल्प और सीमित स्वरूप से उस अनन्त गम्भीर विशद् सागर की ओर दौड़ी जा रही हैं । ऊँचे-ऊँचे पहाड़ अपनी उत्तुंग चोटियों को

फैलाये उस सर्वव्यापी सत्ता की ओर देख रहे है। मानो उन्हें अपना स्वरूप अल्प सीमित जान पड़ रहा हो। जान पड़ता है, वे भी उतने ही विराट अनन्त महान बनने की चिर प्रतीक्षा में खड़े हैं। बीज अपने क्षुद्र और साधारण स्वरूप से सन्तुष्ट नहीं होता, वह अपने आवरण को तोड़ फूट निकलता है, महत् की ओर। उसकी यात्रा जारी रहती है और वह विशाल वृक्ष बन जाता है। फिर भी उसकी विपुल, महत् बनने की साध रुकती नहीं और वह सुन्दर फूलों से खिल उठता है, मधुर फलों में परिणत होता हुआ अपनी सत्ता को असंख्यों बीजों में परिणत कर देता है। उधर देखिये उस पक्षी शावक को उसे नीड़ का संकीर्ण, आवरण तुच्छ जान पड़ता है। वह अपने पंखों में फुरफुरी भर रहा है। नीड़ के दरवाजे में से अखिल विश्व भुवन की ओर देख रहा है, जिसकी अनन्त गोद में वह किलोल करना चाहता है और देखो, निकल पड़ा वह सीमित अल्प आवरण को त्याग कर अनन्त महत् की ओर।

अल्प से महत् की ओर अग्रसर होने की यह क्रिया सर्वत्र हो रही है। चैतन्य प्रकृति में तो यह और भी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। मनुष्य इसका सर्वोत्तम उदाहरण है।

आदि काल से चले आ रहे इन प्रयत्नों के बावजूद क्या मनुष्य अभी तक अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँचा? यह एक विचारणीय प्रश्न है। क्योंकि मानव जाति आज भी दुःखी क्लांत, भयभीत नजर आ रही है। संघर्ष क्लेश, कलह उसे खाये जा रहे हैं। ऐसा क्यो है? जबकि उसकी यात्रा अल्प से महत् की ओर चलती रही है।

इसका प्रमुख कारण अल्प के द्वारा महत् को प्राप्त करने का प्रयत्न करना है। कोई बढ़ई यदि लकड़ी के बने कुल्हाड़े एवं औजारों से किसी लकड़ी को काटकर उसकी उपयोगी वस्तुएँ बनाना चाहे तो उसे असफलता और निराशा ही मिलेगी। इतना ही नहीं उसका वृथा श्रम भी कुछ कम दुःख नहीं देगा। बिजली कनेक्शन के अभाव में बडे-बड़े बल्वों से भी अन्धेरा दूर नही हो सकता।

ठीक इसी प्रकार मनुष्य अल्प सीमित तुच्छ साधनों से जो स्वयं मर्त्य, नाशवान् एवं जड़ हैं, महान प्रकाश अमर्त्य असीम तत्व की प्राप्ति करने का प्रयत्न करता है। इसी कारण मनुष्य अपना लक्ष्य अभी तक नहीं पा सका। मनुष्य सब ओर से महान असीम बनना चाहता है किन्तु उसे अपनी लघुता, सीमितता खाये जा रही है। वह सुखी बनने का प्रयत्न करता है किन्तु दुःखों से पीछा नहीं छूटता। अपने प्रयत्नों से मनुष्य ने जल, थल, नभ में गति प्राप्त कर ली, विज्ञान की बड़ी-बड़ी शक्तियाँ हस्तगत कर लीं फिर भी उसका मूल प्रश्न ज्यों का त्यों है।

अल्प से महत् की यात्रा में मनुष्य उस तत्व का सहारा लेकर ही आगे बढ़ सकता है जो स्वयं अमृत है, प्रकाश है, असीम है और वह तत्व सर्वत्र ही, स्वयं मनुष्य में विराजमान है, जिसे कहीं अन्यत्र ढूँढ़ने की आवश्यकता भी नहीं है। यह मौलिक शक्ति सब में निहित है। बीज में, नदी मे और संसार के प्रत्येक पदार्थ में और उसी शक्ति के द्वारा वे अपनी यात्रा पूर्ण करते हैं। बाह्य साधनों का संयोग लेकर प्रत्येक पदार्थ अपने अन्तर की शक्ति को जागृत करता है और उसे असीम की ओर प्रवाहित करके लक्ष्य प्राप्त करता है। मनुष्य भी अपनी इस मौलिक शक्ति को उद्‌भूत करके अपनी यात्रा पूर्ण कर सकता है।

अल्प से महत् की यात्रा का शक्ति-केन्द्र स्वयं मनुष्य के अन्दर निहित है, जिसके द्वारा वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। मानव के अन्तःक्षेत्र में निहित इस शक्ति केन्द्र के लिए मनुष्य को इतना पुरुषार्थ करना आवश्यक है कि वह अपने अन्तर के पर्दों को हटा कर उस बिन्दु के दर्शन करे। सम्पूर्ण एकाग्रता के साथ उसमें केन्द्रस्थ हो तो एक दिन उसकी चिर-यात्रा अपने आप में ही पूर्ण हो जाय। उस बिन्दु में ही असीम सिन्धु समाया हुआ है, क्योंकि दोनों के गुण धर्म एक से हैं। सिन्धु ही बिन्दु के रूप में मानव अन्तर में बसा हुआ है। इस बिन्दु के सहारे एक दिन मनुष्य सिन्धु में भी अपनी गति प्राप्त कर सकता है, क्योंकि दोनों की गति एक-दूसरे में है। प्रकाश, अमर्त्य, असीम, महत् का बिन्दु मानव के लिए उसी तरह उपलब्धि का विशाल तत्व है, जिस तरह प्रातःकाल होने पर सूर्य का प्रकाश सर्वत्र फैल जाता है। मनुष्य अपने हाथों बनाये गए भवन के किवाड़ खोलकर बाहर देखे तो भगवान भास्कर के दर्शन पाकर

वह कृतार्थ हो सकता है । इतना ही क्यों उसका सम्पूर्ण आवरण भी अंशुमाली की किरणों के प्रकाश से जगमगा उठता है । इसी तरह अन्तर के पट उठाकर देखने पर मनुष्य को उस परम-तत्व में गति, दर्शन, अनुभूति सब मिल जाती है ।

मानव जीवन की यात्रा का लक्ष्य इतना सहज और सरल होने पर भी मनुष्य अब तक भी क्यों भटक रहा है ? इसका कारण यही रहा है कि मनुष्य ने उसे अपने निकटतम अन्तर में न ढूँढ़कर बाह्य जगत् और उस पर भी हाथ, आँख, दिमाग द्वारा नाप-तोल होने वाले पदार्थों में देखा । सुना है कस्तूरी-मृग भी अपनी नाभि स्थित कस्तूरी को यत्र-तत्र घास-झाड़ियों, वृक्षों आदि में ढूँढ़ता रहता है और इस प्रयत्न में वह मारा जाता है । इसी तरह मनुष्य ने भी बाह्य पदार्थों में जीवन के सत्य की खोज की, जिसके फलस्वरूप वह आज तक असफल रहा । बाह्य साधन सहायक हो सकते हैं किन्तु वे साध्य का रूप नहीं ले सकते । काँच का ग्लोब और लोहे का ढाँचा लालटेन के बाह्य रूप का निर्धारण करता है किन्तु प्रकाश का उद्गम तेल और बत्ती के अग्नि के साथ संयोग पर निर्भर करता है ।

अल्प से महत् की यात्रा में प्राथमिक आवश्यकता है कि मनुष्य अपने अन्तर की ओर उन्मुख हो । जीवन की समस्त गतिविधियों का केन्द्रीकरण कर उन्हें अन्तःकरण की प्रयोगशाला में लगाये । जिस तरह एक वैज्ञानिक संसार से दूर एक कोने में अपनी प्रयोगशाला में बैठा हुआ विज्ञान के गम्भीर रहस्यों का निर्धारण करता है उसी तरह मनुष्य भी अपने अन्तर की प्रयोगशाला में अन्वेषण करके एक दिन सत्य, अमृत, प्रकाश को प्राप्त कर सकता है । कई मनीषियों ने किया भी है । अन्तर के सुदृढ़ किले में बैठकर मनुष्य समस्त सृष्टि गति प्राप्त कर सकता है । तब वह समस्त बाह्य वस्तुओं को भी नियमित करके अन्तर, बाह्य सभी क्षेत्रों में पूर्णता प्राप्त कर सकता है । तात्पर्य यह है कि अन्तर जीवन ही दैवी जीवन है । बाह्य संसार में भटकता हुआ मनुष्य उस असहाय अकेले सिपाही की तरह होगा जो निराश्रय, अपने शक्ति केन्द्र से भटका हुआ भयभीत होकर बचने की दौड़-भाग में लगा रहा हो फिर भी वह मौत की चट्टान से टकराकर चूर-चूर हो जाता है । बाह्य जीवन, स्थूल जीवन ही आसुरी जीवन है जिसमें बाह्य सफलताओं-असफलताओं के लिए मनुष्य कुछ करने से भी नहीं चूकता ।

## हमारा जीवन लक्ष्य, आत्म दर्शन

मनुष्य का भी अपना एक लक्ष्य खाने-कमाने और मौज-मजा करने तक ही सीमित नहीं । सामाजिक, आर्थिक, शारीरिक, राजनीतिक सीमा-बन्धनों तक ही उसका जीवन बँधा नहीं है । जन्म से मृत्यु तक की एक निश्चित अवधि, सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान की परिस्थितियाँ यह सोचने को विवश करती हैं कि मनुष्य जिस दिशा में चल रहा है, यह उसकी दिशा नहीं है । उसकी सूक्ष्म बौद्धिक क्षमता यह बताती है कि मनुष्य कोई विशेष लक्ष्य लेकर इस धरती में अवतरित हुआ है । विशाल अन्तरिक्ष, गगन स्पर्शी पर्वत सुदूर तक विस्तृत सागर, सूर्य-चन्द्र ग्रह-नक्षत्र सभी इंगित करते हैं कि इस जीवन से भी आगे कुछ है । अशान्ति, दुःख और क्षोभ का कारण यही है कि हमें आत्म-ज्ञान नहीं, अपने लक्ष्य का भान नहीं है । यह अस्थिरता तब तक बनी रहती है जब तक मनुष्य अपना लक्ष्य नहीं जानता, अपने मौलिक स्वरूप को नहीं पहचानता ।

इस संसार में अनेकों प्रकार के जीव-जन्तु, कीट-पतंगे, पशु-पक्षी और मनुष्येत्तर प्राणी विद्यमान हैं । कई शारीरिक शक्ति में बड़े हैं, कई सौन्दर्य में, कितनों ने प्राणशक्ति के आधार पर अनेकों प्राकृतिक घटनाओं का पूर्व आभास पा लेने में अजीब क्षमता पायी तो कई स्वच्छन्द विचरण के क्षेत्र में आज के विज्ञान-युग से भी अधिक पटु हैं, किन्तु एक साथ सारी विशेषताएँ किसी को भी उपलब्ध नहीं । शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और अनेकों आत्मिक सम्पदाएँ मनुष्य में ही दिखाई देती हैं । मानव जीवन की इस सुव्यवस्था को देखते है तो यह लगता है कि यह किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही हुआ है एक ही स्थान पर अनेकों शक्तियों का केन्द्रीकरण निश्चय ही अर्थ पूर्ण है ।

मनुष्य को औरों की अपेक्षा अधिक बुद्धि, विद्या बल और विवेक मिला है, यह बात तो समझ में आती है, किन्तु इन शक्तियों का सम्पूर्ण उपयोग बाह्य जीवन तक ही सीमित रखने में उसने बुद्धिमत्ता से काम नहीं लिया । अपने ज्ञान-विज्ञान को शारीरिक सुखोपयोग

के निमित्त लगा देने में उसने धोखा ही खाया है। दुःखों का कारण भी यही है कि हम अपने शाश्वत स्वरूप को पहचानने का प्रयत्न नहीं करते। नाशवान शरीर और इन्द्रियजन्य विषयों की पूर्ति के गोरख-धन्धे में ही अपना सारा समय बर्बाद कर देते हैं और अन्त समय सारी भौतिक सम्पदाएँ यहीं छोड़कर चल देते हैं। इस कटु सत्य का अनुभव सभी करते हैं किन्तु अन्तरंग-कक्षा में प्रवेश होने से दूर भागते हैं। कभी यह विचार तक नहीं करते कि इस विश्वव्यापी प्रक्रिया का कारण क्या है ? हम क्या हैं और जीवन धारण करने का हमारा लक्ष्य क्या है ? ढेर सारी सम्पदाएँ मिली हैं इसलिए कि इनका उपयोग अन्तदर्शन के लिए किया जाय। अपने को भी नहीं पहचान पाये तो इस शरीर की मौलिक शक्तियों का क्या सदुपयोग रहा ?

'मैं' और मेरा शरीर दो भिन्न वस्तुएँ हैं। एक कर्त्ता है, दूसरा कर्म, एक क्रियाशील है, दूसरा जड़। एक सवार है, दूसरा वाहन। मानव-जीवन का लक्ष्य प्राप्ति के लिए शरीर आत्मा का वाहन मात्र है। दोनों की एकरूपता का कोई आधार समझ में नहीं आता। यदि ऐसा होता तो मृत्यु के उपरान्त भी यह शरीर क्रियाशील रहा होता। खाने-पीने, उठने बोलने-चलने और जीवन के अनेकों व्यवसाय वह उसी तरह सम्पन्न करता है जैसे जीवित अवस्था में। तब फिर उचित यही प्रतीत होता कि अपने कर्त्तापन का ज्ञान प्राप्त करे। अपने वाहन को तरह-तरह के रंगीन लुभावने आभूषणों से सजाते घूमे और आत्मतत्व उपेक्षित पड़ा रहे तो इसे कौन बुद्धिमत्ता की बात मानेगा ? घोड़ा घास खाये और सवार को पानी भी न मिले तो फिर यात्रा का उद्देश्य कहाँ पूरा हुआ ?

आत्मा की सिद्धियाँ अनन्त हैं। स्वर्ग-मुक्ति विराट् के दर्शन का केन्द्र बिन्दु आत्मा है। वह अनन्त सामर्थ्यों की स्वामी है। इन्हे प्राप्त कर मनुष्य अणु से विभु, लघु से महान बंधन-मुक्त बनता है, किन्तु आत्मानुभूति किए बिना यह सब कुछ सम्भव नहीं। अपने नीचे की जमीन मे ही असंख्यों मन सोना, चाँदी, हीरा-जवाहरात जमा हो और उसका ज्ञान न हो तो उस बहुमूल्य खजाने और मिट्टी के टीकरों मे भला क्या अन्तर रहा ? अपनी तिजोरी में रखी हुई पिस्तौल दुश्मन को नहीं मार सकती। जिस शक्ति का हमें ज्ञान ही न हो उसको प्रयोग मे कैसे लाया जा सकता है ?

"आत्म-दर्शन" भारतीय संस्कृति का प्राण है। यहाँ समय-समय पर जो भी महापुरुष हुए हैं उन्होंने आत्म-ज्ञान पर ही अधिक जोर दिया है। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय इसी से ओत-प्रोत है। जीवन की प्रत्येक व्यवस्था में अन्तदर्शन की बात अवश्य जोड़ दी गई है ताकि मनुष्य भौतिक जीवन जीते हुए भी आत्मतत्व से विस्मृत न रहे। अपने जीवनोद्देश्य को भी न भूले। इसी पर सब मनीषियों ने देश-काल और परिस्थितियों के अनुरूप भिन्न-भिन्न रूप से बल दिया है। सभी महापुरुषों, ऋषियों, सन्तो और लोकनायकों ने मनुष्य को दुःख और विनाश की परिस्थितियो से ऊँचा उठाने के लिए आत्मिक ज्ञान पर ही अधिक बल दिया है। भारतीय जीवन में भौतिक सम्पदाओं की अवहेलना का भी यही अर्थ है कि मानवीय-चेतना अपने मूल-स्वरूप में पहचानने की दिशा में सतत आरूढ़ रहे।

आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप अत्यन्त शुद्ध, पवित्र, अलौकिक और दिव्य है। उसकी अन्तिम अवस्था धर्माचरण और ईश्वर साक्षात्कार है। यह शरीर के माध्यम से ज्ञान और प्रयत्न करने से मिलती है। शरीर को जब एक विशिष्ट उपकरण मानकर इन्द्रियों की दासता से ऊपर उठते है स्वयं ही आत्मानुभूति होने लगती है। जो आदमी इस सत्य को गहराई तक अपने हृदय में बिठा लेता है वह नाशवान् वस्तु के अनुचित मोह को त्याग कर आत्मिक पवित्रता की ओर अग्रसर होता है। ईर्ष्या, क्रोध आदि अनात्म तत्वों से उसकी रुचि हटने लगती है। विचार और व्यवहार में पवित्रता उत्पन्न होती है। जितना वह आत्म-साक्षात्कार के समीप बढ़ता है उसी अनुपात से उसमें दैवी गुणों का समावेश होता चलता है। फलस्वरूप सच्चे सुख-शान्ति और सन्तोष के परिणाम भी सामने आते रहते है।

आत्म-ज्ञान के लिए बड़े उपकरणों या अधिक से अधिक स्कूली शिक्षा की ही आवश्यकता नहीं। कोई भी व्यक्ति जो अपनी सामर्थ्यों या विवशताओं की विवेचना कर सके आत्म-ज्ञानी हो सकता है। इसके लिए आत्म-निरीक्षण की आदत बनानी पड़ती है। यह कार्य ऐसा नहीं जो हर किसी से किया न जा सके। अपनी भूल, त्रुटियो और आदत में प्रवृष्टि बुराइयों को अपने में दृढ़तापूर्वक खोजना और उन्हें दूर हटाना हर किसी के लिए सम्भव है। सन्मार्ग पर

चलते हुए रास्ते में जो अड़चनें, बाधाएँ और मुसीबतें आती है इन्हें धैर्यपूर्वक सहन करते रहने से अपनी समस्त चेतना का रूप आत्म की ओर उन्मुख होने लगता है । जैसे बन्दूक की गोली को शान्तिपूर्वक दूर तक पहुँचाने के लिए उसे छोटे से छोटे दायरे से गुजारा जाता है, वैसे ही अपनी समस्त चित्तवृत्तियों को एक ही दिशा में लगा देने से उधर ही आशातीत परिणाम दिखाई देने लगते हैं । जब तक अपनी मानसिक चेष्टाएँ बहुमुखी होती हैं तब तक हम विपरीत परिस्थितियों से टकराते रहते हैं, किन्तु जब एक ही दिशा में दृढ़तापूर्वक चल पड़ते हैं तो ध्येय प्राप्ति की साधना भी सरल हो जाती है ।

किसी विषय को जब तक मनुष्य भली-भाँति समझ नहीं लेता तब तक उससे झिझकता रहता है । घने अंधकार में जाने से सभी को भय लगता है किन्तु यदि अंधकार में जाने के लिए हाथ में मशाल दे दी जाय तो अज्ञानता का भय अपने आप दूर हो जाता है । आत्मिक-ज्ञान के प्रति भय की उपेक्षा और उदासीनता का कारण यही होता है कि मनुष्य अपना जीवन लक्ष्य निर्धारित नहीं करता । अनन्त शक्तियों का केन्द्र होते हुए भी मनुष्य इधर से जितना उदासीन रहता है उतना ही दुःख और अभाव उसे घेरे रहते है ।

सांसारिक ज्ञान प्राप्त करना ही अपना लक्ष्य रहा होता तो इसके लिए बुद्धि की चेतनता, एकाग्रता एवं जागरूकता ही प्रर्याप्त थी, किन्तु आत्म-ज्ञान का सम्बन्ध समस्त प्राणी मात्र में स्वानुभूति करने से होता है । अपने क्रिया-व्यापार को जब तक आप अपने तक ही सीमित रखते हैं तब तक इस परम-तत्व का ज्ञान पाना असम्भव है । स्वार्थ की संकीर्ण प्रवृत्ति ही है जो मनुष्य को सत्य का आभास नहीं होने देती, किन्तु जब परमार्थ-बुद्धि का समावेश होता है तो सारी ग्रन्थियाँ स्वयमेव खुलने लग पड़ती हैं । जिस प्रकार स्वच्छ शीशे में सूर्य की किरणों का परावर्तन नहीं होता वैसे ही स्वार्थपूर्ण अन्तःकरण बनाये रखने में आत्मानुभूति सम्भव नहीं । इसलिए अपने आपको दूसरों के हित एवं कल्याण के लिए विकसित होने दीजिए । दूसरों के दुःख-दर्द जिस दिन से आपको अपने लगने लगें उसी दिन से आपकी महानता भी विकसित होने लगेगी । सभी के साथ प्रेम-मैत्री, सहयोग, सहानुभूति का स्वभाव बनाने से आत्म-ज्ञान का प्रकाश परिवर्द्धित होने लगता है । गीताकार ने लिखा है—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कंचन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥

अर्थात्—आत्मवादी पुरुष का लक्ष्य है, लोक हितार्थ कर्म करना । क्योंकि सम्पूर्ण प्राणियों से स्वार्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है । सभी विश्व-चेतना के ही अंग हैं, फिर किसी के प्रति परायेपन का भेदभाव क्यों करें ? अपने ही सुखों को प्रधानता देने में जो क्षणिक आनन्द अनुभव कर इसी में लगे रहते हैं, उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि वे आत्मोद्धार कर लेंगे, पर जिसे अपना मानव-जीवन सार्थक बनाना है, जिसने अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित कर लिया है उसके लिए यही उचित है कि वह खुले मस्तिष्क से सभी में अपने आपको ही रमा हुआ देखे । ऐसी अवस्था में किसी को दुःख देने या उत्पीड़ित करने की भावना भला क्यों बनेगी ?

आत्म-ज्ञान और आत्मानुभूति के मूल उद्देश्य को लेकर ही हम इस संसार में आये हैं । मानव-जीवन की सार्थकता भी इसी में है कि वह अपने गुण, कर्म और स्वभाव में मानवोचित सदाचार का समावेश करे और लोकहित में ही अपना हित समझे । मनुष्य एक विषय है तो संसार उसकी व्याख्या । अपने आपको जानना है तो संपूर्ण विश्व के साथ अपनी आत्मीयता स्थापित करनी पड़ेगी । आत्मा विशाल है, वह एक सीमित क्षेत्र में बँधी नहीं रह सकती । सम्पूर्ण संसार ही उसका क्रीड़ा-क्षेत्र है । अपनी चेतना को भी विश्व-चेतना के साथ जोड़ देने से आत्म-ज्ञान का प्रकाश स्वतः प्रस्फुटित होने लगता है ।

इस प्रकार जब मनुष्य सांसारिक तथा इन्द्रियजन्य परतन्त्रता से मुक्त होने लगता है तो उसकी महानता विकसित होने लगती है । आत्मा की स्वतन्त्रता परिलक्षित होने लगती है, आत्मबल का संचार होने लगता है स्वाभाविक पवित्रता और प्रफुल्लता का वातावरण फूट निकलता है । आत्मा की गौरवपूर्ण महत्ता प्राप्त कर मनुष्य का ऐहलौकिक उद्देश्य पूरा हो जाता है । अपने लिए भी यही आवश्यक है कि हम अपनी इस प्रसुप्त महानता को जगाएँ, इसके लिए आज से और अभी से लग जायें ताकि अपने अवशेष जीवन का सच्चा सदुपयोग हो सके ।

## शक्ति का स्रोत : आत्मा को मानिये

हमारे पुरखे ज्ञान-विज्ञान में आज के वैज्ञानिकों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रवीण थे, किन्तु वे समझते थे विज्ञान अन्ततोगत्वा मनुष्य की वृत्तियों को पाशविक भोगवादी ही बनाता है, अतः उन्होंने धर्म और आध्यात्म पर आधारित जीवन की रचना की थी । इस जीवन में प्राण था, शक्ति थी, समुन्नति थी और वह सब कुछ था जिससे मनुष्य का जीवन पूर्ण सुखी, स्वस्थ और सन्तुष्ट कहा जा सकता है ।

आत्मा को ही सब कुछ मानकर अनित्य शरीर के प्रति वैराग्यमूलक मनोवृत्ति धारण कर लेने की शिक्षा देना हमारा उद्देश्य भले ही न हो किन्तु भौतिक सुख और इन्द्रियों की पराधीनता भी मनुष्य-जीवन के लिए नितान्त उपयोगी नहीं कहे जा सकते । आत्म-ज्ञान की आवश्यकता इसीलिए है कि उससे सांसारिक विषयों में स्वामित्व और नियन्त्रण की शक्ति आती है । भौतिक सुखों की, रथ के उन घोड़ों से तुलना की जा सकती है जिनमें यदि आत्म-ज्ञान की लगाम न लगी हो तो वे सवार समेत रथ को किसी विनाश के गड्ढे में ही ले जा पटकेंगे । जगत की सत्ता से विच्छिन्न मनुष्य की सत्ता व्यक्ति परिच्छिन्न मात्र नहीं है, वह केवल व्यष्टि ही नहीं वरन् समष्टि भी है । उसमे अनन्त सत्य, शिव और सौन्दर्य समाहित है, उसे जाने बिना मनुष्य के बाह्यांतरिक कोई भी प्रयोजन पूरे नहीं होते । आत्म-ज्ञान इसलिए मनुष्य जीवन का प्रमुख लक्ष्य है ।

शरीर के सम्पूर्ण अंग-प्रत्यंगो की स्थूल जानकारी, पदार्थ और उनके गुण-भेद की जानकारी, ग्रह-नक्षत्रों से सम्बन्धित गणित और उनके वैज्ञानिक तथ्य जानने से मनुष्य की सुविधाएँ भले ही बढ़ गई हों, पर उसने अपने आप का ज्ञान प्राप्त नहीं किया । यही दुःख का प्रधान कारण है । मनुष्य शरीर ही नहीं, वरन् परिस्थितियाँ बताती हैं कि वह कुछ अन्य वस्तु भी है, आत्मा है । इस आत्मा या 'अहंभाव' का ज्ञान प्राप्त किए बिना दुनिया का सारा ज्ञान-विज्ञान अधूरा है । बिना इंजन लगी हुई मोटर की तरह वह ज्ञान किसी तरह का लाभ नहीं दे सकता है ।

आत्मा शक्ति का अनादि स्रोत है । शौर्य, प्रेम और पौरुष की अनन्त शक्ति उनमें भरी हुई है । अतः 'आत्म' ज्ञान में लगाये हुए समय श्रम और साधनो को निरर्थक नही बताया जा सकता । आत्म-शक्ति को पाकर मनुष्य के सारे अभाव, दुःख-दारिद्रय, सांसारिक आधि-व्याधियाँ समाप्त हो जाती हैं । भगवान कृष्ण ने आत्मज्ञानी पुरुष को ही सच्चा ज्ञानी बताते हुए कहा है—

> उत्क्रामन्तं स्थितिं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम् ।
> विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥
>
> —गीता १५/१०

अर्थात्—हे अर्जुन ! उस आत्मा को शरीर छोड़कर जाते हुए, शरीर में स्थित हुए, विषयों को भोगते हुए अथवा तीनों गुणों से युक्त हुए भी अज्ञानी लोग नहीं जानते । उस तत्व रूप आत्मा को केवल ज्ञानी ही जानते हैं ।

मनुष्य शरीर नहीं वरन् वह शरीर का संचालक है । वह मन ही नहीं क्योंकि मन को प्रेरणा देकर, आदेश देकर, किसी भी अच्छे-बुरे कर्म में लगाया जाता है । सत्-असत् का ज्ञान देने वाली बुद्धि को भी आत्मा कैसे मानें ? विश्लेषण करने पर पता चलता है यह शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि पन्चभूतों के सत्-रज-तम अंश लेकर बने हैं । पंचभूत जड़ पदार्थ हैं, अतः आत्मा इनसे भी विलक्षण और शक्तिमान है । वह संचालक है, सूक्ष्मतम है और शक्ति का उत्पादक, अजर-अमर सर्वव्यापी तत्व है । जो इस तत्व को जानता है उसके सारे दुःख मिट जाते हैं ।

मानव-जगत् का अधिकांश भाग इस कारण अधोगति को प्राप्त हो रहा है कि उसे जो कार्य सम्पादन करना चाहिए, वह नहीं करता । सबसे बड़े दुःख की बात तो यही है कि पूर्ण परिपक्व और बुद्धिमान होकर भी उस मार्ग का अनुसरण नहीं करते, जो कल्याणकारी है और जो जीवन मे सुख की वृद्धि कर सकता है । थोड़े से मोह के चक्कर में फँसकर नासमझ लोग अयोग्य कार्यों की ओर प्रेरित होते हैं और उन्हें ही सुख का मूल समझकर अपने भीतर सिमटी, दुबकी हुई जो आत्मा बैठी है उसे भूल जाते हैं । इसी ऐश्वर्य और भोग में जीवन की इतिश्री कर देते है । कभी गहराई में उतर कर आत्म-तत्व पर विचार नहीं करते । मनुष्य की इस विडम्बना को, इस मूढ़ता को क्या कहें,

जो बड़ा ज्ञानी होने का दावा करता है पर जानता खुद को भी नहीं है ।

सारांश यह है कि जड़ पदार्थों के सम्बन्ध में आज लोगों ने खूब उन्नति की है, पर चेतन पदार्थों के सम्बन्ध में वह उसी प्रारम्भिक अवस्था में ही है । विज्ञान ने भौतिक एवं मानसिक जगत को रूपान्तरित कर दिया है उसका प्रभाव मनुष्य पर गम्भीर रूप से पड़ा है, क्योंकि आज जो कार्यक्रम बनाये जा रहे है उनमें मनुष्य की मूल प्रकृति पर विचार नहीं किया जाता । यही कारण है कि भौतिक विज्ञान तथा रसायन शास्त्र ने परम्परागत जीवन प्रणाली में विशिष्ट रूप से परिवर्तन ला दिया है । मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति की कसौटी पर ही विषयों का चयन किया जाता तो अधिक बुद्धिमता रहती । आत्म-ज्ञान ही वह प्रक्रिया है जिससे इस समस्या का हल निकाला जा सकता है ।

बाहर की वस्तुओं का ही अवलोकन न कीजिए, यह भी सोचिये कि शरीर के भीतर कैसी विचित्र हलचल चल रही है । आहार पेट में जाता है फिर न जाने कैसे वह रस, रक्त, माँस, अस्थि आदि सप्त धातुओं में परिणत हो जाता है । कितनी हानिकारक वस्तुओं का भक्षण करते हुए मनुष्य जीवित रहता है । वह कौन-सा विलक्षण अमृत-तत्व है जो शरीर जैसी महत्त्वपूर्ण मशीनरी को चला रहा है । आप इसे जान जायेंगे तो सारे संसार को जान जायेंगे । उस आत्मा में ही यह सम्पूर्ण विश्व व्यवस्थित है । ब्रह्मोपनिषद् के छठवें अध्याय में शास्त्रकार ने बताया है—

आत्मनोन्या गतिर्नास्ति सर्वमात्ममयं जगत् ।
आत्मनोऽन्यन्नहि क्वापि आत्मनोऽन्यत्तृणं नहि ॥

—ब्र. उ. ६/४६

अर्थात्—"आत्मा से भिन्न गति नही है, सब जगत आत्मामय है, आत्मा से विलग कुछ भी नहीं है, आत्मा से भिन्न एक तिनका भी नहीं ।"

विश्व-व्यापी चैतन्य अनादि तत्व को जाने बिना मनुष्य को शांति और स्थिरता की उपलब्धि नहीं हो सकती । सफल जीवन जीने के अभिलाषी को इस पर बार-बार विचार करना चाहिए । प्राचीन धर्म ग्रन्थ, सृष्टि और आध्यात्म की खोज करनी चाहिए । अपने आपको पहचानने के लिए अपनी आत्मा, मनोवृत्तियाँ स्वभाव तथा विचारों का निरीक्षण करना चाहिए । आत्म-भाव जागृत करने के लिए सुन्दर पुस्तकों का स्वाध्याय करना चाहिए ।

आत्मा के साथ जन्म-मरण, सुख-दुःख, भोग-रोग आदि को जो अनेक विलक्षणतायें विद्यमान है, वह मनुष्य को यह सोचने के लिए विवश करती हैं कि खा-पीकर, इन्द्रियों के भोग, भोग कर दिन पूरे कर लेना मात्र जिन्दगी का उद्देश्य नहीं है । रूप और शारीरिक सौन्दर्य की झिलमिली में शरीर और प्राण के अनुपम संयोग की स्थिति को दूषित किया जाना किसी भी तरह भला नहीं है । यह अमूल्य मानव-जीवन पाकर भी यदि आत्म-कल्याण न किया जा सका तो न जाने कितने वर्षों तक फिर अनेकों कष्ट-साध्य योनियों में भटकना पड़ेगा । जिसे ऐसी बुद्धि मिल जाय उसे अपने आपको परमात्मा का कृपापात्र ही समझना चाहिए । आत्म-ज्ञान प्राप्त करने से ही मनुष्य जीवन धन्य हो जाता है ।

मनुष्य दैवी अंशयुक्त है । सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है । निष्फलता, दुःख, रोग-शोक तो निम्न विचारों, कल्पनाओं तथा भोगवादी दृष्टिकोण के फलस्वरूप पैदा होते हैं अन्यथा इन अभावों का इस जीवन से क्या प्रयोजन ? अपने अमृतत्व की खोज करने के लिए काम, क्रोध, भ्रम, लोभ, तिरस्कार, शंका तथा द्विविधाओं की कीचड़ से निकलकर हमें सत्य, प्रेम, निश्छलता और पवित्रता का आदर्श अपनाना पड़ेगा । उत्कृष्ट, स्वस्थ तथा दिव्य विचारों का वरण करना होगा । आत्मा अत्यन्त विशाल और अविनाशी है उसे प्राप्त करने लिए, उसमें विलय होने के लिए हमें भी उतना ही निर्मल हितकारक तथा विस्तृत बनना होगा । जिस दिन ऐसी स्थिति बना लेंगे उस दिन किसी तरह की कमी महसूस नहीं होगी और सारा जीवन सफल हो जायेगा । हम अपने भीतर छिपी हुई आत्मा को ढूँढ़ने का प्रयास करें तो वह सब कुछ प्राप्त कर सकते हैं, जिसकी तलाश में हमें निरन्तर भटकना और जिसके अभाव में सदा दुःखी रहना पड़ता है ।

## आनन्द का मूल स्रोत अपने अन्दर है

आत्मा की आदि आकांक्षा का नाम आनन्द है । मनुष्य से लेकर कीट, पतंगे तक जितने प्राणी पाये जाते है, सभी आनन्द की इच्छा करते है । प्राणियों का जीवन ही आनन्द और उसकी आशा-अभिलाषा

पर टिका हुआ है । मनुष्य स्वयं आनन्द स्वरूप है । संसार के माया-जाल मे उसका यह स्वरूप खो गया है । वह उसको ही खोजने और पाने का प्रयत्न कर रहा है । उसका समग्र जीवन-क्रम आनन्द पाने का ही एक उपक्रम है । मनुष्य यदि सुख-भोगों में व्यस्त होता है, तो आनन्द के लिए और यदि सहिष्णु बनकर दुःख, कष्ट भी उठाता है, तो आनन्द की आशा से । आनन्द वांछनीय भी है और मानव-जीवन का ध्येय भी ।

आनन्द के दो प्रकार अथवा श्रेणियाँ मानी गई हैं । एक उत्कृष्ट और दूसरी निकृष्ट । जिनको संसारिक अथवा विषयिक तथा आध्यात्मिक अथवा आत्मिक भी कहा जा सकता है । आनन्द और सुख-शान्ति की अभिलाषा तो सभी करते हैं किन्तु वह वाछनीय आनन्द कौन-सा है, किस श्रेणी और स्तर का है, यह बात प्रायः कम लोग ही समझ पाते हैं । मनुष्य का वांछनीय आनन्द वस्तुतः आध्यात्मिक आनन्द ही है । जबकि लोग उसे भूलकर सांसारिक आनन्द को खोजने, पाने में लग जाते हैं । सांसारिक अथवा विषयिक आनन्द मृग-तृष्णा के समान मिथ्या और अतृप्तिकर होता है । यह सत्य तथा वास्तविक आनन्द आध्यात्मिक अथवा आत्मिक आनन्द ही है । यह सत्य तथा वास्तविक होता है । इसे पाने पर आनन्द की इच्छा पूर्ण रूप से परतृप्त होकर तिरोधान ही होती है । मनुष्य को सच्चे सन्तोष और सम्पूर्ण तृप्ति के लिए आध्यात्मिक आनन्द की ही वांछा करना चाहिए और उसी को संग्रह करने का प्रयत्न ।

सांसारिक अथवा विषयिक आनन्द पदार्थों तथा परिस्थितियों पर निर्भर रहता है । इस विषयिक आनन्द के भ्रम-जाल में बहल जाने वाले लोगों को निम्न मनो-स्तर का व्यक्ति मानना पड़ेगा और खेद करना पड़ेगा कि ऐसे लोग घटिया और बढ़िया, निकृष्ट और उत्कृष्ट, निम्न और श्रेष्ठ के बीच रहने वाले अन्तर का महत्त्व नहीं जानते और घटिया सस्तेपन के प्रवाह में बह जाते हैं । अनस्तरीय व्यक्ति भोजन, वस्त्र, रहन-सहन, विषय-भोग और हास-विलास में मिलने वाले मनोरंजन और क्षणिक तृप्ति को ही आनन्द मान बैठते हैं और उन्हीं के बीच उसे पाने के लिए दिन-रात कोल्हू के बैल की तरह जुटे रहते हैं । इसी भ्रामक प्रयास मे सारी जिन्दगी गुजार देते हैं और वांछनीय वास्तविक आनन्द की झलक तक पाये बिना संसार से विदा होकर चले जाते हैं और अतृप्ति तथा तृष्णा के प्रतारण से फिर संसार-चक्र में आकर फँस जाते हैं ।

सामान्य श्रेणी के लोग सोचते हैं कि खूब अच्छा, स्वादिष्ट और सरल भोजन मिलता रहे तो कितना आनन्द रहे । आनन्द का निवास खूब खाने और मौज उड़ाने में है, अपनी इसी मान्यता के कारण वे अच्छे से अच्छे भोजन और विविध प्रकार के व्यंजनों का संग्रह करते है । बार-बार रसों का स्वाद लेते और कोशिश करते हैं कि उन्हें सन्तोष और परितृप्ति का आनन्द मिले किन्तु खेद है कि उन्हें अपने इस प्रयास में निराश ही होना पड़ता है । एक-दो बार तो रस और व्यंजन कुछ अच्छे भी लगते हैं किन्तु उसी लोभ में पुनः आवृत्ति किए जाने से उसका स्वाद जवाब दे जाता है, रस फीका पड़ जाता है । तब उनका उपभोग करने में न तो किसी प्रकार की परितृप्ति रहती है और न नवीनता । वे सर्वथा नीरस बनकर उठा देने वाले बन जाते है । विचार करने की बात है कि यदि भोज्य पदार्थों में वास्तविक आनन्द होता तो तीसरी -चौथी आवृत्ति में ही वह रस अपनी विशेषता न खो देते । भोजन तो जीवन रक्षा की एक सामान्य आवश्यकता है । जो किन्हीं भी उचित पदार्थों से पूरी की जा सकती है । उसमें अथवा उसके प्रकारों में वास्तविक आनन्द की आशा करना, दुराशा के सिवाय और कुछ नहीं है । आवश्यकता की पूर्ति हो जाने और क्षुधा का कष्ट मिट जाने से जो सरलता प्राप्त होती है वही उसकी विशेषता है, बस इसके आगे उसमें आनन्द नाम की कोई वस्तु नहीं है । भोजन की इस विशेषता को वास्तविक आनन्द मान लेना और उसमें चिपटे रहना किसी प्रकार भी बुद्धमानी नहीं है । इसको निम्न स्तरीय वृत्ति के परिचय के सिवाय और कुछ नही कहा जा सकता ।

भोजन की भाँति लोग वस्त्रों में भी आनन्द की खोज करते हैं । तरह-तरह के पट-परिधान पहनकर जिस प्रदर्शन जन्य सन्तोष को लोग पाते हैं, उसे ही आनन्द मान बैठते हैं । लोग यह सोचकर वस्त्रो पर एक बड़ी धनराशि खर्च करते रहते हैं कि अच्छे-अच्छे कीमती कपडे पहनने से हम बड़े ही सुन्दर और

शोभायमान लगेंगे । दूसरे हमारी वेश-भूषा देखकर प्रभावित होंगे और बड़ा आदमी समझेंगे । अपने प्रति लोगों का यह विस्मय और आकर्षण आनन्ददायक होगा, ठीक है, ऐसा होता भी है । उसी तरह के लोग दूसरों की दर्शनीय वेश-भूषा देखकर आकर्षित, प्रभावित तथा लालायित होते तो हैं लेकिन इसमें वास्तविक आनन्द की क्या बात हुई ? जिसके लिए किसी का कौतुहल, विस्मय अथवा आनन्द का कारण बन सकता है, वह उच्च मनोभूमि वाला नहीं माना जा सकता । किसी का विस्मय और कौतुहल तो अज्ञान का द्योतक होता है और आकर्षण प्रभाव हीनता का । इनमें से किसी को कोई भी दशा किसी बुद्धिमान आदमी के लिए दया अथवा खेद की बात हो सकती है, हर्ष और आनन्द की नहीं । आनन्द की आशा में वस्त्रों पर जरूरत से ज्यादा खर्च करना व्यर्थ है । वस्त्र तो शरीर-रक्षा और तन छिपाने का एक उपकरण मात्र होते हैं । भोजन की तरह वस्त्र भी शरीर की एक सामान्य आवश्यकता है जिसको पूरा करना ही पड़ता है । आवश्यकता की पूर्ति में एक सामान्य सुविधा के सिवाय आनन्द नाम की कोई बात नहीं होती । ओछी और हल्की मनोभूमि वाले ही वस्त्रों के प्रदर्शन में किसी सुख का अनुभव कर सकते हैं । सो भी क्षणिक, मिथ्या और वंचक सुख ।

संसारी लोग रहन-सहन के उच्च स्तर को भी आनन्द का हेतु मान लेते हैं । वे सोचते हैं जितना आलीशान मकान होगा, जितनी बिजली की रोशनी और पंखे की हवा होगी, जितने सोफे, गद्दे, पलंग और तकिए होंगे, जितने आभूषण, अलंकार और साज-श्रृंगार के उपकरण होंगे उतना ही आनन्द प्राप्त होगा । अपनी इसी धारणा के अनुसार वे एक बड़ी सी कोठी में साज-समान की दुकान सी लगा देते हैं । बेजरूरत के समान से उनके मकान के कोठे पर कोठे भरे रहते है । जितना काम आता है उससे अधिक पड़ा-पड़ा खराब होता रहता है । पता नहीं भण्डारवाद में लोगों को क्या आनन्द मिलता है ? सत्य बात तो यह है कि उसमे आनन्द तो क्या मिलता है, उल्टे उस अनावश्यक साज-सामान की साज-सँभाल और रक्षा-बचाव की एक परेशानी सिर पर सवार रहती है । इस परेशानी के साथ एक बड़ी परेशानी यह होती है कि एक समान के टूट जाने अथवा पुराना हो जाने पर उसे स्थानापन्न करने के लिए खर्च की चिन्ता करनी पड़ती है । बहुत बार तो लोग आनन्द की इस भ्रान्त धारणा के कारण कुत्सित मार्गों तक पर चले जाते हैं । उनके पास इस साज-सामान के लिए अथवा उसे बनाये रखने के लिए पैसे की कमी हो जाती है तो वे शोषण, बेईमानी, ठगी और भ्रष्टाचार की ओर बढ़ जाते हैं । ऐसे उपायों से आनन्द की आशा करना उतना ही उपहासास्पद है, जितना असंयमी के स्वस्थ रहने की आशा । मकान और उपहार रिहाईश की सुविधा के सामान्य से उपकरण हैं, जिनकी सहायता से प्राकृतिक परिवर्तनों से अपने को बचाया और सुरक्षापूर्वक रहा जा सकता है । यदि बड़े मकानों और अनावश्यक भण्डारों में आनन्द हो तो संसार में ऐसे हजारों लाखों व्यक्ति हैं जो भवन और भण्डारों के नाम पर धरती पर कुबेर कहे जा सकते हैं, किन्तु क्या वे सुखी हैं ? यदि उनका वह अनावश्यक सरंजाम आनन्द का उत्पादन कर सकता तो उनके पास शायद आनन्द का इतना स्टॉक हो जाता कि यदि वे चाहते तो उसका व्यवसाय कर सकते थे । साज सरंजाम में आनन्द की कल्पना करना और उसके संचय के लिए व्यर्थ जान मारना बुद्धिमानी नहीं है ।

मनोरंजन और हास-विलास में किसी हद तक आनन्द तो क्या उनके इर्द-गिर्द घूमने वाले किसी सुखद तत्व की कल्पना की जा सकती है, लेकिन तभी जब मनोरंजन के साधन और स्तर उच्चकोटि के हो अन्यथा निम्नकोटि का मनोरंजन और हास-विलास मनुष्य को अश्लील, अस्वस्थ, अभद्र ही नहीं, आचरणहीन तक बना डालता है । बहुत से पदार्थ-सुखों के विश्वासी, मनोरंजन के नाम पर व्यभिचारी और व्यसनी तक बन जाते हैं । विषय-भोग तो उनके लिए नित्य-प्रति की बात बन जाती है । यदि कोई यह धारणा रखता है कि नशे में मस्त होकर संसार के विषय-भोग भोगे जायें तो बहुत कुछ आनन्द की उपलब्धि हो सकती है, तो उसकी बुद्धि पर तरस खाना होगा । नशा तो जीवन की हरियाली के लिए आग और विषय साक्षात् विष माने गए हैं । इनका सेवन करने वाला आनन्द के स्थान पर मृत्यु के हेतु ही लग जाता है । संसार मे ऐसे लोगो की संख्या कम नही है जो विषय-भोगों

और हास-विलासों के कार्यक्रमों में आनन्द की खोज करने के लिए दिन-रात लगे रहते हैं किन्तु उन अवोधों का परिणाम दारिद्रय तथा अकाल मृत्यु के सिवाय कुछ नहीं होता । मनोरंजन और हास-विलास के नाम पर विषयों और व्यसनों के बन्दी वन जाने वाले लोग आनन्द की मृग-तृष्णा में भूलते-भटकते हुए जीवन का दाव हार जाते हैं ।

आत्मा की आनन्ददायक गहराई में मनुष्य तभी उतर पाता है जब वह संसार के आवश्यक कर्तव्यों से निवृत्त होकर उससे अपने को मुक्त कर लिया करता है और निवृत्ति के क्षणों में निश्चिन्त तथा निर्विकार होकर आत्म-चिंतन किया करता है । आत्म-चिंतन तभी सम्भव होता है जब मनुष्य सांसारिक मृग-तृष्णा में अपने को कम से कम उलझाता है और जितना उलझाता भी है उतने में ही निस्पृह रहता है । जो सांसारिक पदार्थों और वासनात्मक विषयों की पूर्ति में आनन्द की सम्भावना देखते हैं, वे उसमें इस हद तक उलझे रहते हैं कि आत्म-चिंतन करने का अवकाश ही नहीं रहता । यह बात सही है कि संसार के विषय भी किसी हद तक आवश्यक होते हैं । उनका भाग उन्हें मिलना ही चाहिए किन्तु उनको जीवन का ध्येय नहीं बना लेना चाहिए ।

## आन्तरिक सुख ही : वास्तविक सुख

सुख का मूल स्रोत पदार्थ और साधन नहीं आत्मा है । आनन्द का निर्झर अपने भीतर से फूटता है । सांसारिक भोग-विलासों और विषय-वासनाओं में सुख की खोज करना न केवल अपना समय ही नष्ट करना है बल्कि शक्तियों का नाश करना भी । यह बात सही है कि संसार में रहकर सांसारिक गतिविधियों से बचा नहीं जा सकता । उनमें चाहते अथवा न चाहते हुए भी पड़ना ही होता है । तब भी उनमें पड़कर भी शोक-संतापों से बचे रहने का एक ही उपाय है कि अपने व्यक्तित्व को आध्यात्मिक साँचे में ढाल लिया जाय । आध्यात्मिकता अर्थात् अन्तर्मुखी वृत्ति का सहारा लेकर चलने वाला व्यक्ति इस दुःखपूर्ण संसार में सदा सुखी ही बना रहता है ।

आध्यात्म जीवन का एक विशिष्ट पहलू है उसकी उपेक्षा करके यथार्थ की प्राप्ति पर विश्वास नहीं किया जा सकता । फुटवाल का खिलाड़ी गेंद उछाल सकता हो किन्तु उसके साथ दौड़ न सकता हो तो वह गोल नहीं कर सकता । विद्यार्थी को पुस्तकें भी पढ़नी पड़ती हैं और पाठों का लिखित अभ्यास भी करना पड़ता है । मल्लाह नदी में तब उतरता है जब वह नाव चलाने के साथ संकट में तैर सकने की कला भी सीख लेता है । दिन और रात, प्रकाश और अन्धकार, भूत और भविष्य की तरह बाह्याभ्यंतर जीवन के दो पहलू हैं । उनमें से केवल बाह्य जीवन, पदार्थमय जीवन को ही प्रमुख मानकर सुखी नहीं रहा जा सकता । आंतरिक तथा भावनात्मक जीवन को भी स्थिर, शुद्ध, पवित्र और क्रियाशील किए बिना सुख की कल्पना व्यर्थ है ।

आध्यात्मिकता के आधार पर पाया हुआ सुख ही सच्चा और वास्तविक सुख है । जो सांसारिक सुखों में, सांसारिक भाव से पड़ा रहता है वह उसके दुःखों से कभी उबर नहीं पाता । आध्यात्मिक विचारधारा वाला व्यक्ति सांसारिक झगड़ों से ऊपर रहता है । उनके अशिव प्रभाव से अपने व्यक्तित्व की रक्षा करते रहने में कभी प्रमाद नहीं करता । संयोगवश यदि उसके सामने दुःख की परिस्थिति आ भी जाती है तो वह उसको भी सुख की तरह निर्लिप्त भाव से भोग डालता है और पानी में कमल की भाँति उनसे अलग ही रहता है । ऐसे उन्नत व्यक्तित्व वाले लोगों को वैसी स्थिति में कितना सुख होता होगा इसको तो एक आध्यात्मिक व्यक्ति ही जानता है ।

वास्तविक सुख का स्वरूप, आत्म-सन्तोष, आत्मानन्द, आत्म-विकास और आत्म-कल्याण ही माना गया है । ऐसा दिव्य सुख संसार की भोग-वासनाओं में लिप्त रहने में कहाँ । यह तो विषयों से ऊपर उठकर आध्यात्मिक जीवन अपनाने से ही प्राप्त हो सकता है । आध्यात्मिक जीवन क्या है ? वह है सद्भावनाओं से ओत-प्रोत जीवन को लोकहित की दृष्टि से यापन करना । झूँठे स्वार्थों में लिप्त होकर वासनाओं, तृष्णाओं से ग्रसित न रहकर परमार्थ, परहित और परोपकार में संलग्न रहना आध्यात्मिक जीवन माना गया है । स्वार्थान्ध होकर दूसरों का अधिकार छीनना, अन्यायपूर्वक अपना भला करना, अविश्वास निन्दा, घृणा आदि की गर्हित भावनाओं से भरा जीवन ही नारकीय जीवन है । जो अज्ञान अथवा मोहवश इस क्रम को अपना लेता है, वह न केवल इस लोक

में ही दुःखी रहता है वल्कि परलोक में भी उसे सुख-शान्ति के लिए कलपना पड़ता है ।

आध्यात्मिक भाव की सिद्धि करने के लिए मनुष्य को अपना व्यक्तित्व पूर्ण उज्ज्वल, निर्मल और निर्दोष बनाना पड़ेगा । दोष, पाप और मल की विद्यमानता ही व्यक्तित्व को गन्दा और अपवित्र बना देती है । जितना-जितना इन कलुषों को घटाया और मिटाया जायेगा उतनी-उतनी ही अन्तर्ज्योति दीप्त होती चलेगी और उसके प्रकाश में व्यक्तित्व ऊपर उठता चला जायेगा । जिसके साथ ही आत्मा में सुख-शान्ति, सन्तोष और श्रेय की स्थापना होती जायेगी । व्यक्तित्व विकास में आध्यात्मिक जीवन की सभी सम्भावनाएँ निहित रहा करती हैं ।

माया-मोह, स्वार्थ और अर्थ-प्रधान नीति का मारा मनुष्य सच्ची सुख-शान्ति का मार्ग भूल जाता है । वह दिन-दिन संकीर्णता की परिधि में बन्दी होकर अपने लिए दुःख के कारण ही संचय करता रहता है । ऐसा संकीर्ण व्यक्ति परिस्थितियों का दास बन जाता है और जीवन के वास्तविक सौन्दर्य से भी वंचित हो जाता है । उसकी रुचियाँ दूषित-भावनाएँ अमानवीय और लोक-कल्याण के लिए आवश्यक गुणों प्रेम, त्याग, सहायता, सहयोग और सहानुभूति की सीमाएँ संकुचित हो जाती हैं । ऐसे नागपाश से बँधा व्यक्ति भला किस प्रकार सुखी रह सकता है ।

जो अनाध्यात्मिक व्यक्ति भौतिक विभूतियों का दास बना रहता है उसे उसकी परिस्थितियाँ दुःख-सुख के बीच कठपुतली की तरह नचाया करती है । ऐसा व्यक्ति सुख-चैन की एक श्वास के लिए भी लालायित बना रहता है । धन का मद मनुष्य को न्याय-अन्याय की ओर से अन्धा बना देता है । वह हर समय निन्यानवे के फेर में पड़ा दुःखी बना रहता है । वह सुख की आशा से धन के ढेर तो लगाता चला जाता है, पर उसका परिणाम उसके लिए विपरीत ही सिद्ध होता है । धन का ढेर उसके लिए मुसीबत का कारण बन जाता है । चोर, डाकुओं, ठगों और सरकार का डर तो बना ही रहता है । उसकी बढ़ोत्तरी और रक्षा की चिन्ता के साथ-साथ यह चिन्ता भी खाती रहती है कि इस सपत्ति का यदि उत्तराधिकारी योग्य न निकला तो उसकी जन्मभर की कमाई नष्ट हो जायेगी और तब परलोक में भी उसकी आत्मा को चैन न मिलेगा । धन को साधन न मानकर साध्य मानने वाले लालचियों को धन, पाले हुए सर्प की तरह, हर समय चिन्ता और आशंका का विषय बना रहता है ।

इसके विपरीत उच्चाशयी आध्यात्मिक व्यक्ति, धन को हाथ का मैल और श्रम का पारिश्रमिक मानते हैं । उनकी दृष्टि में धन का महत्त्व साधन से अधिक कुछ नहीं होता । वे जो कुछ कमाते हैं उसको भौतिक भोगों में न लगाकर उसका अपने और अपने समाज के लिए सदुपयोग करते हैं । वे लक्ष्मी को छाया की तरह चंचल मानकर उसके साथ आसक्ति का भाव नहीं जोड़ते । ऐसे निस्पृह नररत्न धन के आवागमन में समभाव में स्थित, निश्चिन्तता का आनन्द लिया करते हैं ।

मानव-जीवन का ध्येय आनन्द ही है । आनन्द की आकांक्षा उचित ही है, किन्तु है यह वहीं तक उचित है जहाँ तक इसका सम्बध जीवन की वास्तविक सुख-शान्ति से है । मिथ्या आनन्द का भाव लेकर जगी हुई कामनाएँ अनुचित एवं अवांछनीय हैं इसलिए कि यह मनुष्य को मृग-तृष्णा में भटका कर उसका बहुमूल्य मानव-जीवन नष्ट कर डालती है । आनन्द आत्मा का विषय है, शरीर का नहीं । उसकी प्राप्ति जीवन को जनहित, लोक-मंगल और विश्व-कल्याण में समाहित कर देने पर ही होती है व्यष्टि को समष्टि में समाहित कर देना ही आध्यात्मिक जीवन है । इसको ग्रहण करते ही आत्मा में दिव्य-ज्योति के दर्शन होने लगते हैं । अनन्त और अक्षय आनन्द के कोष खुल जाते हैं । इसलिए आत्मिक अथवा आध्यात्मिक सुख को ही सारे सुख का मूल और मानव-जीवन का साध्य माना गया है । लौकिक कामनाओं की पूर्ति से प्राप्त होने वाला सुख, मिथ्या, वंचक और क्षणभंगुर माना गया है ।

परिष्कृत व्यक्तित्व और आध्यात्मिक दृष्टिकोण वाले व्यक्ति, सांसारिक सुख-दु.खों को चलती-फिरती छाया से अधिक महत्त्व नहीं देते हैं । वे उसकी उसी प्रकार उपेक्षा कर देते हैं जिस प्रकार खेत के काम में तल्लीन किसान आकाश में होते हुए धूप-छाँह के खेल की ओर ध्यान नहीं देते । वे इस वास्तविकता से अनभिज्ञ नहीं होते कि सुख-दु.ख, अनुकूलता-प्रतिकूलता की धनात्मक

एवं ऋणात्मक परिस्थितियों में तप कर ही मानव-जीवन पुष्ट होता है । अस्तु, वे जीवन की इस धूप-छाँह से कभी प्रभावित नही होते । जीवन में जो जैसी परिस्थिति जब-जब आती है, वे उसका हँसी-खुशी के साथ सामना करते हैं । वे संसार की हर परिस्थिति को ईश्वर का वरदान मानकर सदैव प्रसन्न एवं सन्तुष्ट ही बने रहते हैं । वे सुख में प्रसन्न और दुःख में रोने की बालवृत्ति से उठे रहते हैं । वे संसार की इस परिवर्तनशीलता के बीच अपनी एक-सी दुनियाँ बसाने की आकांक्षा और केवल सुखों की कामना को पोषण करते रहने की भूल नहीं करते । वे इस सांसारिकता से ऊपर उठकर आत्मिक जीवन में जीते और प्रसन्न रहते हैं ।

जीवन का वास्तविक सुख आध्यात्मिक जीवन-क्रम में ही प्राप्त हो सकता है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं । तथापि सच्चा आध्यात्मिक जीवन भी यों ही प्राप्त न हो जायेगा । उसके लिए भी मनुष्य को साधना करनी पड़ती है । थोड़ी-सी पूजा कर लेना, सत्यनारायण की कथा सुन लेना अथवा किसी पुस्तक का परायण करना भर ही आध्यात्मिक जीवन नहीं कहा जा सकता । आध्यात्मिक भाव की प्राप्ति तो तभी होती है जब मनुष्य अपने अन्तर, वाह्य दोनों को पवित्र और उज्ज्वल बनाये । मानव मन में न जाने कितने दोष दुरित चोर की तरह बैठे रहते हैं । बहुत बार उनका पता भी नहीं चलता । यही निर्बलताएँ कदम-कदम पर आध्यात्मिक पथ पर रोड़े अटकाती रहती हैं । इस अवरोध के विषय में बहुधा अज्ञानवश भ्रम हो जाता है कि कोई बाहरी शक्ति हमारी प्रगति में रोड़ा अटका रही है, किन्तु वास्तविकता इससे भिन्न होती है । मनुष्य के अपने मानसिक दोष ही उसके पथ में रोड़ा बनकर अटकते रहते हैं । अस्तु, आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धि के लिए मानसिक परिष्कार बहुत आवश्यक है । हमें खोज-खोजकर असद्भावनाओं, मलीन-विचारों और ईर्ष्या-द्वेष, कोप, लोभ, मोह आदि आवेगों को अपने अन्तःकरण से निकाल-निकालकर फेंकते रहना चाहिए । स्वार्थ, विडम्बना और प्रवंचनापूर्ण गतिविधियाँ आध्यात्मिक जीवन के विपरीत भाव की जन्मदात्री होती है । यथासाध्य इनसे बचे ही रहना चाहिए । इन दुर्बलताओं के पालन मे जो सुख दीखता है, वह आसुरी होता है और विष की तरह मानव-जीवन को कष्टदायक बना देता है ।

वास्तविक और सच्चे सुख की खोज भौतिक पदार्थों और उनके संयोग से इन्द्रियों में नहीं करनी चाहिए । क्योंकि पूरा जीवन लगा देने पर भी वह वहाँ नहीं मिलेगा । वास्तविक सुख आध्यात्मिक जीवन-क्रम में ही प्राप्त होता है । तन, मन और कर्म से आध्यात्मिक बनिये, आत्मा के दोष दुरितों को दूर करिये और जल के कमल की भाँति संसार में रहते हुए ससार का भोग करिये । आपको न कभी दुःख होगा और न आनन्द का अभाव सतायेगा ।

## समग्र व्यक्तित्व का विकास कैसे हो ?

उच्चशिक्षा, चतुरता या शरीर सौष्ठव भर से कोई व्यक्ति न तो आत्म-सन्तोष पा सकता है और न लोक-सम्मान । इन सबसे महत्त्वपूर्ण है, परिष्कृत व्यक्तित्व । प्रतिभाशील और उन्नतिशील बनने का अवसर इसी आधार पर मिलता है ।

समग्र व्यक्तित्व के विकास को विज्ञान की भाषा में "बॉडी इमेज" कहा जाता है । जिन्होंने इस दिशा में अपने को विकसित कर लिया उन्होंने दूसरों को प्रभावित करने की विशिष्टता को उपलब्ध कर लिया । ऐसे ही व्यक्ति प्रामाणिक और क्रिया-कुशल माने जाते हैं । उनकी माँग सर्वत्र रहती है । वे न तो हीन समझे जाते हैं और न अपने कामों में असफल रहते हैं । "बॉडी इमेज" से तात्पर्य सौन्दर्य, सज्जा या चतुरता से नहीं वरन् व्यक्तित्व की उस विशिष्टता से है जिसके आधार पर किसी की वरिष्ठता एवं विशिष्टता को स्वीकार किया जाता है । यह किसी के विश्वस्त, क्रिया-कुशल एवं प्रामाणिक होने की स्थिति है । जिसके पास यह संचय है, समझना चाहिए उसके पास बहुत कुछ है । जो इस क्षेत्र में पिछड़ गया, समझना चाहिए उसे तिरस्कार का भाजन बनना पड़ेगा ।

यह विशिष्टता, सज्जनता, विनम्रता एवं आत्म-संयम के आधार पर विकसित होती है । ऐसे व्यक्ति उन दुर्गुणों से बचे रहते हैं जिनके कारण क्रिया-कुशल एवं स्वस्थ सौन्दर्यवान् होते हुए भी ऐसे कुकृत्य करने लगता

है जिसे चरित्रहीनता एवं अप्रामाणिकता की संज्ञा दी जा सके । कितने ही चतुर व्यक्ति अपने को हेय स्थिति में फँसा लेते हैं ।

ऐसे व्यक्ति शारीरिक ही नही मानसिक एवं चारित्रिक रोगों से ग्रसित पाये जाते हैं । जिन्होंने अपने व्यक्तित्व की साधना नहीं की, आदर्श एवं संयम को महत्त्व नहीं दिया, वे कुकर्मों से धन या दर्प का लाभ भले ही उठालें अन्य क्षेत्रों में उन्हें घाटा, त्रास एवं तिरस्कार ही सहना पड़ता है ।

प्रत्येक व्यक्ति की अपनी सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि के आधार पर अपने शरीर के बारे में एक निश्चित धारणा या कल्पना होती है । मानव शरीर के सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक पहलुओं का अध्ययन करने वाले समाज विज्ञानियों तथा मनोवैज्ञानिकों ने प्रत्येक व्यक्ति की अपने स्वयं के बारे में बनी इस निश्चित धारणा या प्रतिबिम्ब को— 'बॉडी इमेज' या 'बॉडी कन्सेप्ट' अथवा 'बॉडी स्कीम' जैसे नाम दिए हैं । 'बॉडी इमेज' न केवल व्यक्ति की अपनी पूर्णतया जागृत अवस्था में अपने बारे में बनी धारणा है बल्कि अचेतन या अर्धचेतन अवस्था में भी व्यक्ति का अपने स्वयं के बारे में दृष्टिकोण अपनी अनुभूतियाँ, अनुभव तथा उसकी मनोकल्पनाएँ आदि भी इसमें सम्मिलित हैं । व्यक्ति की स्वयं के प्रति बनी इन धारणाओं, अनुभवों का स्पष्ट अथवा सांकेतिक दर्शन इस आधार पर किया जा सकता है कि वह अपने प्रत्येक कार्य व्यवहार की व्यवस्था व समायोजन किस प्रकार करता है ? क्योंकि व्यक्ति के प्रत्येक क्रिया-कलाप, हाव-भाव, कार्य-व्यवहार में व्यक्ति की स्वयं की 'बॉडी इमेज' का बहुत गहरा प्रभाव होता है ।

आप किसी वर्ग के रोगी नर-नारियों को इकट्ठा कीजिए जिन लोगों ने औसत जीवन जिया है, उनके रोग सम्बन्धी जीवन का अध्ययन करें । बहुतों को विभिन्न रोगों के दौर से गुजरना पड़ा है । इस प्रकार की बीमारियाँ प्रायः उन दिनों हुई हैं जब उन्हें विभिन्न उतार-चढ़ाव वाली मन.स्थितियों से गुजरना पड़ा तभी पेचिस, अल्सर, हाई ब्लडप्रैशर और हार्ट अटैक के दौरे पड़े । अनुसन्धान में पाया गया है कि लगभग सभी बीमारियाँ, जब मानसिक दबाव की अधिकता बढ़ती है तभी उग्रतम होती जाती हैं । 'साइकोलॉजी टुडे' पत्रिका में (सितम्बर १९८४) डॉ. स्टाप हैनरी का कहना है कि हजार पीछे ७५ प्रतिशत रोगी उक्त कथन की सत्यता प्रतिपादित करते है । कुछ लोगों को अन्यो की अपेक्षा मानसिक तनाव आदि अत्यधिक उग्र होते हैं ।

हमारे शरीर की विभिन्न क्रियाएँ जैसे गुर्दे को रक्त में से अशुद्धि का छान लेना, आँतो का पोषक आहार का सोख लेना आदि अनेकानेक अजूबी क्रियाएँ मस्तिष्क एवं स्नायु तन्त्र और पिट्यूटरी जैसी हारमोन ग्रन्थियों के उचित स्वरूप में क्रियाशील होने पर निर्भर हैं । अपराधी प्रवृत्ति इन सभी गतिविधियों को अस्त-व्यस्त कर देती है ।

अनैतिक गतिविधियाँ अपनाते समय अथवा उसके पश्चात् अपना मुँह सूखने लगता है, जो इस बात का प्रतीक है कि पाचन क्रिया सम्पूर्णतया बन्द कर दी गई है । शक्ति परिवर्तित तथा प्रगति के कारण साँसें तीव्र होती जाती हैं । साथ ही रक्त में इन्डोराफिन जैसे नशीले पदार्थ का सम्मिश्रण हो जाता है जिससे कोई भी चोट-मोच आने पर शरीर को भास नही होता । साथ ही साथ ए. सी. टी. एच. (एड्रीनो कार्डिको ट्राफिक हारमोन) का स्राव मस्तिष्क से होने लगता है जिससे स्मरण शक्ति तेज हो जाती है और मस्तिष्क की बुद्धि कुशाग्र हो जाती है ।

केन्या मसाई मार गेय रिजर्व अभयारण्य में रहने वाले ६० से अधिक बबून बन्दरों में स्ट्रैस रेस्पान्स के बारे में कई प्रयोग किए गए हैं । इन बबूनों के शरीर की संरचना मनुष्यों से कई प्रकार से मिलती-जुलती है । इन वानरों की यह विशेषता होती है कि नायक और नायक के कुछ सहचर विशिष्ट विशेषाधिकार जताते हैं । जैसे उत्तम आहार ग्रहण करने में, सुरक्षित स्थान पर कब्जा करने में तथा बन्दरियों से सेवा लेने में, जूँ निकलवाने में इत्यादि-इत्यादि । यह सब विशिष्टता, प्रतिभा, सज्जनता के आधार पर मिली होती है ।

सुप्रसिद्ध दार्शनिक इमर्सन ने कहा—"उद्वेग एवं भय को मन में अंकुरित ही न होने दो ।" उन्होंने यह भी बताया है कि यदि मानवी मस्तिष्क मे से उद्वेग एवं भय को निकाल दिया जाय तो उसकी पूरी क्षमता का सदुपयोग किया जा सकता है ।

तनाव से मुक्ति पाने के लिए जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण बदलना चाहिए । यदि वस्तुस्थिति का

सही ढंग से विश्लेषण कर लिया जाय तो भय से सुगमतापूर्वक छुटकारा पाया जा सकता है ।

कल्पनाओं के उत्पादन का एक मात्र केन्द्र मानवी मस्तिष्क को ही समझा जा सकता है । कुकल्पनाएँ भी यहीं विकसित होती है और अपना कुप्रभाव छोड़ती है । व्यक्ति इनके उत्पादन को पूरी तरह रोक सकता है ।

संसार में भय का अस्तित्व तो है, पर इसे जीवनक्रम में अपनाना कोई जरूरी नहीं है । व्यक्ति को इन कुकल्पनाओं को मस्तिष्क में नहीं जमने देना चाहिए । पूर्णतः भौतिकवादी विचारधारा के लोगों को भी इस तथ्य से भलीभाँति परिचित होना होगा कि फिटेस्ट (प्रवीणतम) व्यक्ति ही भयमुक्त होकर ही अपने जीवन में सफल रहा है ।

जब व्यक्ति अपनी पूरी साहसिकता का परिचय देने लगे तो शेर जैसे नरभक्षी से भी भयभीत नहीं होता । मामूली-सी कायरता आ जाने पर चूहे जैसे नगण्य प्राणी से डरने लगता है । उदाहरण के लिए चिड़ियों को देख सकते हैं । डरपोक चिड़िया किसान द्वारा बनाये गए पुतले (बिजूका) से डरकर भाग जाती हैं जबकि साहसी अपना पेट भरकर ही हटती हैं ।

अनीतियुक्त आचरण में यह विशेषता है कि उच्छृंखलताजन्य दर्प प्रकट करते हुए भी उसके अन्तराल में भय बना रहता है और वह समस्त व्यक्तित्व को प्रभावित करता है । शरीर में रोग, मन में खेद दोनों से मिलकर व्यक्ति ऐसा बन जाता है । जिससे उसे सही निर्णय करते नहीं बन पड़ता । अभ्यस्त चरित्रहीनता दिन-दिन बढ़ती जाती है और फिर वह व्यक्ति सभ्य समाज में अपना स्थान बनाने तथा प्रगतिशील कदम उठाने की स्थिति में नहीं रहता है ।

## व्यक्ति के विकास का उद्गम केन्द्र

व्यक्तित्व के विकास के मूल में जिन तथ्यों को समाहित माना जाता है, उनमें से एक है—शरीर में जीवनी-शक्ति का प्रगटीकरण, प्राण ऊर्जा का उभार । व्यक्तित्व का मूल्यांकन सामान्यतया शरीर की सुडौलता, सुन्दर चेहरे से किया जाता है, पर यह मान्यता भ्रान्ति युक्त है । यदि मनुष्य काला व कुरूप भी है किन्तु आहार-विहार को सन्तुलित कर आरोग्य रक्षा में निरत रहता है तो ऐसा निरोग मनुष्य भी प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व का स्वामी होता देखा जाता है । जबकि चेहरे-मुहरे से सुन्दर व्यक्ति रोगग्रस्त उदास, निस्तेज, आलसी होने पर मरा-गिरा-सा, टूटा हुआ प्रतीत होता है ।

आशा और उमंग से मन भरा हो, उत्साह और साहस स्वभाव का अंग हों, हँसने-मुस्कराने की आदत हो तो आकृति-प्रकृति आकर्षक हो जाती है । ऐसे व्यक्ति की बनावट भले ही कुरूप हो, वह सहज ही सबको अपनी ओर आकर्षित कर लेता है एवं जहाँ जाता है, अपनी उपस्थिति से वातावरण प्रभावशाली बना देता है । अब्राहम लिंकन, सुकरात, महात्मा गाँधी आदि का बाह्य स्वरूप सुन्दर नहीं कहा जा सकता किन्तु उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व को, मनस्विता को, अंग-अंग से फूटने वाले तेजस् को कोई नकार नहीं सकता ।

वस्तुतः हमारा चेहरा मनःस्थिति का प्रतिबिम्ब है । आँखों की खिड़की से भीतर की स्थिति झाँकती व उस क्षेत्र का भला-बुरा विवरण दर्शकों को बिना बोले ही बताती रहती है । प्रकृति ने कुछ ऐसी व्यवस्था की है जिससे व्यक्ति की भाव-भंगिमा, शिष्टता, कार्य-पद्धति को देखते ही यह पता लग सके कि वह कितने पानी में है । शरीर का बाह्य परिकर प्रभावोत्पादक हो इसके लिए शरीर और मन को इस प्रकार ढाला जाना चाहिए कि वह सौन्दर्य, सज्जा, शिक्षा आदि के अभाव में भी विशिष्टता का परिचय दे सके ।

शालीनता वह दूसरी शर्त है जो व्यक्ति को वजनदार बनाती है । इस सत्प्रवृत्ति को सज्जनता, शिष्टता, सुसंस्कारिता आदि नामों से पुकारा जाता है । गुण, कर्म, स्वभाव मे गहराई तक घुली यह विशिष्टता पास बैठने वाले को थोड़ी ही देर में यह बता देती है कि सामने वाला का बचकानापन किस मात्रा में घट गया है और वजनदार व्यक्तियों में पायी जाने वाली विशेषताओं का कितना उद्‌भव, समावेश हो गया ।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक कार्ल गुस्ताव जुंग ने अन्तःकरण की ऊर्जा 'लिबाडो' को अपने शब्दों में प्रतिपादित करते हुए कहा है कि "न जाने क्यों यह तथ्य बुद्धिमानो के गले नहीं उतरता कि वे मस्तिष्कीय चमत्कारों की तुलना में कहीं अधिक विभूतियाँ अपनी अन्तःचेतना को विकसित करते हुए हस्तगत कर सकते हैं । 'स्व' को यदि उच्चस्तरीय बनाया जा सके तो फिर 'पर' के प्रति न

कोई शिकायत रहेगी और न कोई आशा-अपेक्षा ही रखनी होगी ।"

यह कथन व्यक्ति के व्यापक सर्वांगपूर्ण विकास की चर्चा करते समय काफी महत्त्व रखता है । यहाँ उनका संकेत है कि हमें एक विशेष बात का ध्यान रखना होगा कि आत्मिक क्षेत्र की सबसे बड़ी प्यास घनिष्ठ आत्मीयता की है, जिसे व्यवहार में, सद्भाव सम्पन्न मैत्री कहते हैं । पुरातन भाषा में इसी को अमृत कहते थे । मैत्री परिकर भी बढ़ना चाहिए और वातावरण भी बनना चाहिए, किन्तु वैसा न हो जैसा कि आजकल मित्र बनकर शत्रुता का आचरण करने की विभीषिका उस पुनीत शब्द को बदनाम कर रही है ।

इन दिनों वैभव को सर्वोपरि मान्यता मिली हुई है । फलतः सम्पदा का संचय और प्रदर्शन जन-साधारण की आकांक्षा व तत्परता का केन्द्र बन गया है । इसी की ललक-लिप्सा में आपाधापी और छीना-झपटी की दुष्प्रवृत्तियाँ पनपी हैं । फलतः विपन्नताएँ बढ़ती चली गईं । अगले दिनों यह प्रवाह उलटना होगा तथा लोक-चेतना को यह सोचने पर सहमत करना होगा कि वह आदर्शों की ओर चले, उसके लिए अन्तःकरण टटोले और अन्तःप्रेरणा से मार्गदर्शन प्राप्त करे ।

आरम्भिक जीवन की गहन सम्वेदनशीलता के अतिरिक्त व्यक्तित्व निर्माण का एक बड़ा कारण यह भी होता है कि बालक को माता के शरीर का रस मात्र ही नहीं मिलता, वरन् उसकी मानसिक संरचना भी उस नव-निर्मित प्राणी को उपलब्ध होती है और ढाँचे का अंग बनती है । यहाँ एक बात विशेष रूप से स्मरण रखने योग्य है कि एक के द्वारा दूसरो को प्रभावित करने में भावनात्मक घनिष्ठता सर्वोपरि भूमिका निभाती है । माता की बच्चे के प्रति जो भावनात्मक सम्वेदना होती है, वह आदान-प्रदान का समर्थ माध्यम बनती है । माता के द्वारा वह न केवल पोषक आहार ग्रहण करता है, न केवल सुविधा, सुरक्षा के अनुदान उपलब्ध करता है वरन् इन सबसे बड़ी वस्तु स्नेह दुलार का वह रसायन भी प्राप्त करता है जिसके सहारे गहन स्तर के आदान-प्रदान बन पड़ते हैं । माता-पिता तथा अन्य अभिभावक जो बालक के साथ जितनी भावनात्मक घनिष्ठता एवं सहानुभूति जोड़े रहते हैं, उसे बिना माँगे ही बहुत कुछ गले उतारते रहते हैं ।

बालकों का यह उदाहरण यहाँ इसलिए दिया जा रहा है कि घनिष्ठता, समीपता एवं भावनात्मक आत्मीयता के उस दुहरे प्रभाव को समझा जा सके, जिसमें न केवल सान्निध्य सुख एवं सहयोग मिलता है वरन् अन्तरंग विशेषताओं के आदान-प्रदान का भी मार्ग खुलता है । यहाँ मैत्री की ओर संकेत किया गया है । मैत्री किसी भी कारण बनी या बढ़ी क्यों न हो, यदि वह गहराई तक पहुँची और आत्मीयता तक विकसित हुई तो फिर उसका ऐसा प्रभाव भी होना ही चाहिए कि एक पक्ष दूसरे को प्रभावित कर सके ।

यह तथ्य इस निष्कर्ष पर पहुँचाते हैं कि व्यक्ति को यदि उत्कृष्टता की ओर अग्रसर करना अभीष्ट हो तो उसके लिए शिक्षण के साथ-साथ आत्मीयता का गहरा पुट लगाने की भी व्यवस्था होनी चाहिए । विकृत व्यक्तियों को सन्तुलित एवं समुन्नत बनाने में स्नेह-दुलार की उपलब्धि इतनी बड़ी औषधि है, जिसकी तुलना में अन्य कोई उपाय-उपचार कारगर नहीं होते देखा गया । प्यार की प्यास हर किसी को रहती है और वह समुचित परिमाण में किसी भाग्यवान को मिल सके तो समझना चाहिए व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास हेतु एक प्रभावशाली साधन जुट गया ।

प्रतिभा की विलक्षणताएँ अनेकों सफलताओं का निमित्त साधन बनती है, किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि वह मात्र वंशानुक्रम, सान्निध्य, साधन-शिक्षण आदि बाहरी प्रभाव अनुदानो से ही पूर्णरूपेण हस्तगत नहीं होतीं । ऐसी बात होती तो मनुष्य को सचेतन कहते हुए भी परिस्थितियों का दास कहना पड़ता । यह तो भाग्य प्रारब्ध से भी बुरी बात होती । यदि परिस्थितियाँ किसी के भले-बुरे बनने का आधार रही होतीं तो किसी को श्रेय या दोष न देकर उन साधनों को ही सराहा या कोसा जाता जिन्होंने उत्थान या पतन में भूमिका निभाई ।

चरित्र मनुष्य की मौलिक विशेषता एवं उसका निजी उत्पादन है । इसमें उसके निजी दृष्टिकोण, निश्चय, संकल्प एवं साहस का पुट अधिक होता है । इसमें बाह्य परिस्थितियों का यत्किंचित योगदान ही रहता है । असंख्यों ऐसे उदाहरण मौजूद हैं जिनमें लंका जैसे विषाक्त वातावरण में विभीषण जैसे सन्त अपने बलबूते समूची प्रतिकूलताओं को चुनौती देते हुए अपने स्थान

पर अटल बने रहे । ऐसे भी कम नहीं, जिनमें पुलस्त्य ऋषि के देव परिकर में रावण जैसे दुराचारी का प्रादुर्भाव हुआ और उसने वातावरण को ताक पर उठाकर रख दिया ।

यह व्यक्तिगत चरित्र ही है जिसे व्यक्ति अपने बलबूते विनिर्मित करता है । परिस्थितियाँ सामान्य स्तर के लोगों पर ही हावी होती हैं । जिनमें मौलिक विशेषता है वे नदी के प्रवाह से ठीक उल्टी दिशा में मछली की तरह अपनी पूँछ के बल पर छर-छराते चल सकते हैं । निजी पुरुषार्थ एवं अन्त:शक्ति को प्रसुप्ति से उभारते हुए साहसी व्यक्ति अपने को प्रभावशाली बनाते और व्यक्तित्व के बल पर जन-सम्मान जीतते देखे गए हैं । यह उनके चिन्तन की उत्कृष्टता, चरित्र की श्रेष्ठता एवं अन्तराल की विशालता के रूप में विकसित व्यक्तित्व की ही परिणति है ।

सन्तों की, सज्जनों की दोस्ती स्वभावतः अपने जैसे लोगों से ही हो जाती है । आवश्यक नहीं कि वे एक ही इलाके या एक ही गाँव के हों । दूर-दूर के रहने वाले होने पर भी एक-दूसरे का परिचय कहीं न कहीं से प्राप्त कर लेते है और उनके बीच मेल-जोल का सिलसिला चल पड़ता है । अन्ततः वे घनिष्ठ बन जाते हैं । चोर, डाकुओं के भी गिरोह बनते रहते हैं । इनका कारण एक ही है कि हर मनुष्य की अपनी प्रकृति होती है । उसे साथियो की आवश्यकता पड़ती है । चुम्बक लोहे के टुकड़ों को खींचकर अपने पास जमा कर लेती है । मनुष्य भी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुरूप मण्डलियाँ बना लेते हैं और उनके मिले-जुले प्रयास चमत्कार दिखाने लगते है । यदि मनुष्य अपनी प्रकृति बदल डाले और नयी रीति-नीति अपनाले, तो पुराने सभी मित्र छिन्न-भिन्न हो जायेंगे और नई परिवर्तित प्रकृति के अनुरूप जमघट बढ़ने लगेगा ।

एक बच्चा पिता के साथ नदी तट पर गया । हवा चल रही थी और लहरें उठ रही थीं । हर लहर पर एक अलग सूर्य चमक रहा था । बच्चे ने पिता से पूछा—आकाश में सूरज एक ही, बड़ा है, पर हर लहर पर तो सैकड़ों-हजारों की संख्या मे दीख रहा है और आकार में भी छोटा है । पिता ने समझाया कि आकाश वाला सूरज तो एक ही है । लहरों पर तो उसके प्रतिबिम्ब भर चमक रहे हैं ।

इस संसार में जन-समुदाय समुद्र की लहरों के समान है । उनके अपने-अपने गुण स्वभाव हैं, पर उनकी वही विशेषताएँ हमारे सामने उभरकर आती हैं, जिन्हें हम ढूँढ़ते हैं । सज्जनों के साथ आमतौर से अन्य लोग भी सज्जनता का ही व्यवहार करते हैं । इसके विरुद्ध क्रोधी लोगों का हर किसी से झगड़ा-झंझट होता रहता है । बाजार में अनेकों दुकानें होती है, पर उनमें पहुँचते वही लोग हैं, जिन्हें जिस चीज की जरूरत होती है । जिसे मिठाई खरीदनी है वह लोहे की दुकान पर जाकर व्यर्थ हैरान होगा और निराश वापस लौटेगा ।

## व्यक्तित्व गठन हेतु एकमात्र अवलम्बन

व्यक्तित्व का गठन मूलतः विचारों पर निर्भर है । चिन्तन मन को ही नहीं शरीर को भी प्रभावित करता है । मनोकायिक गड़बड़ियाँ चिन्तन की गिरावट का ही परिणाम हैं । इस बात को प्रायः सभी मनोवैज्ञानिक एकमत से स्वीकार करते है । चिन्तन की उत्कृष्टता को अपनाने से तथा उसे व्यावहारिक जगत में उतारने से ही भावनात्मक तथा सामाजिक समंजन प्राप्त हो सकना सम्भव है ।

इस प्रकार के समंजन की सरल किन्तु सक्षम प्रक्रिया बता पाने मे आधुनिक मनःशास्त्री असमर्थ पाये जाते हैं । इस विषय पर वे आपसी खींचतान के अतिरिक्त कुछ उपाय दे सकने में अक्षम ही दिखाई देते हैं । मनोविज्ञान की जाह्नवी का गोमुख सदृश उद्गम स्थल उपनिषद् है । इनमें विशेषतया श्वेताम्बर उपनिषद् में ऋषियों ने इस प्रकार के भावात्मक एवं सामाजिक समंजन स्थापित करने, राग-द्वेष आदि विरोधी भावों से उठने हेतु एक पूर्णतया सक्षम, सशक्त प्रक्रिया उद्भूत की है जिसे 'उपासना' कहते हैं ।

निःसन्देह उपासना, श्रेष्ठ चिन्तन एवं उत्कृष्ट व्यक्तित्व के निर्माण का सशक्त माध्यम है । मन की बनावट कुछ ऐसी है, वह चिन्तन के लिए आधार खोजता है । जैसा माध्यम होगा उसी स्तर का चिन्तन चल पड़ेगा तदनुरूप क्रिया-कलाप होंगे । निम्न स्तरीय चिन्तन वाले व्यक्ति के क्रिया-कलाप भी घटिया होना स्वाभाविक है । ऐसा व्यक्ति अपने जैसे दुराचारी-अनाचारी व्यक्ति विनिर्मित करने में ही सहायक होगा, जबकि उच्चस्तरीय चिन्तन करने वाले सन्त-मनीषी

महात्माओं के अनुरूप उनके क्रिया-कलाप भी उत्कृष्ट कोटि के होते हैं । तदनुरूप उनके सान्निध्य में रहने वाले व्यक्तियों का व्यक्तित्व भी उसी ढाँचे में ढलकर सुघड़ स्वरूप प्राप्त करता है । वर्तमान समय में श्रेष्ठ व्यक्तित्व सम्पन्न व्यक्तियों का अभाव है । बहुलता हेय, गए-गुजरों की है । इनसे सामाजिक समंजन की अपेक्षा करना एक विडम्बना है । इन परिस्थितियों मे समस्या एक खड़ी होती है कि मानवी व्यक्तित्व को श्रेष्ठ कैसे बनाया जाय ? विचार करने पर एक ही रास्ता दिखाई देता है—'उपासना का अवलम्बन ।'

उपासना से जुड़ी आदर्शवादी मान्यताएँ एवं प्रेरणाएँ ही चिन्तन् को श्रेष्ठ एवं व्यक्तित्व को उत्कृष्ट बना सकने में समर्थ हो सकती हैं । उपासना की समग्रता एवं उसके मनोवैज्ञानिक प्रभावों को भली-भाँति समझा जा सके तो व्यक्तित्व निर्माण का सबल आधार मिल सकता है । उपासना का लक्ष्य है व्यक्तित्व का परिष्कार । इसके निर्धारण से उससे जुड़े आदर्शों एवं उच्चस्तरीय सिद्धान्तों द्वारा उपासक को श्रेष्ठ मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिलती है । उपास्य में तन्मय होने का अभिप्राय है उच्चस्तरीय आदर्शों ,एवं सिद्धान्तों में लीन हो जाना और उनके अनुरूप आचरण करना । उपासना द्वारा निर्माण की यह मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया चलती रहती है । इसमें तन्मयता की पराकाष्ठा उपास्य और उपासक के बीच विभेद को समाप्त कर देती है । द्वैत से उठकर अद्वैत की स्थिति हो जाती है । परमहंस रामकृष्ण का सर्वत्र काली का दर्शन करना, महाप्रभु चैतन्य का कृष्ण से एकाकार हो जाना, स्वामी रामतीर्थ का ब्रह्मभाव मे प्रतिष्ठित हो अपने अस्तित्व को भूल जाना, उपासना की तन्मयता एवं उसकी प्रतिक्रियाओं का प्रभाव है । यह असामान्य स्थिति न भी हो तो भी उपासक के विचारों का परिशोधन, परिष्कृतीकरण होता जाता है, भाव-सम्वेदनाओं में आदर्शवादिता जुड़ने लगती है ।

उपासना निराकार की करें या साकार की ? इष्ट निर्धारण क्या हो ? यह व्यक्तिगत अभिरुचि एवं मनःस्थिति के ऊपर निर्भर करता है । चिन्तन को लक्ष्य की ओर नियोजित किए रखने के लिए साकार अथवा निराकार कोई भी अवलम्बन लिया जा सकता है । यह आवश्यक है और उपयोगी भी । इस प्रक्रिया के साथ जुड़े हुए चिन्तन प्रवाह में आदर्शवादिता का जितना अधिक पुट होगा उसी स्तर की सफलता प्राप्त होगी । इष्ट से तादात्म्य और उससे मिलने वाले दिव्य अनुदानों से वह आधार बन जाता है जिससे उपासक अपने चिन्तन एवं गतिविधियों को श्रेष्ठता की ओर मोड़ सके ।

आधुनिक मनोविज्ञान ने जिन नये तथ्यों का उद्घाटन किया है वे आध्यात्मिक मूल्यों की पुष्टि करते हैं । चिन्तन को व्यक्तित्व का मूल आधार माना जाने लगा है । इस सम्बन्ध में हुए शोध प्रयास यह स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य का जैसा आदर्श होगा उसी के अनुरूप उसका व्यक्तित्व विनिर्मित होगा । आदर्श यदि श्रेष्ठ एवं उत्कृष्ट है तो चिन्तन एवं गतिविधियों में श्रेष्ठता एवं उत्कृष्टता समायेगी । इसके विपरीत निकृष्ट आदर्श निम्नगामी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देगें, हेय व्यक्ति गढ़ेंगे । उपासना मे इष्ट निर्धारण परोक्ष रूप से श्रेष्ठ आदर्शों की प्रतिष्ठापना है, जिसके निकट आने, तादात्म्य स्थापित करने वाला भी उसी के अनुरूप बनता चला जाता है ।

एरिक फ्रॉम, हैरी स्टैक सुलीवान एवं डॉ. हेनरी लिड्लहर का मानना है कि हम शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को किसी दिव्य सत्ता देवदूत अथवा सर्वव्यापी चेतना से एकात्म स्थापित करके निश्चयपूर्वक सुधार सकते हैं । उनका कहना है कि हम जिस प्रकार की सत्ता का चिन्तन करते है उससे हमारा सम्पर्क उसी प्रकार स्थापित हो जाता है जिस प्रकार माइक्रोवेव्स के द्वारा संसार के विविध रेडियो स्टेशनों से सम्पर्क हो जाता है । दिव्य सत्ताओं से सम्पर्क एवं उनसे मिलने वाली प्रेरणाओ से आध्यात्मिक ही नही शारीरिक, मानसिक लाभ भी प्राप्त किये जा सकते है । प्रत्येक मनुष्य का मस्तिष्क वायरलैस के रिसीवर की तरह है जो हर समय भले-बुरे विचारों को ग्रहण करता रहता है । मन मे किस प्रकार के विचार उत्पन्न होगे यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम किससे अपना सम्पर्क जोड़ रहे है ।

परिष्कृत एव परिपक्व विचार आस-पास के वातावरण को भी तदनुरूप बनाने मे सहायक होते है । प्रख्यात विचारक अपटॉन सिक्लेयर अपनी पुस्तक 'मेण्टल रेडियो' मे स्पष्ट करते है कि उपासना व्यक्तित्व निर्माण की एक समग्र प्रक्रिया है, जिसका अवलम्बन लेने वाला

स्वयं श्रेष्ठ बनता और दूसरों को भी प्रभावित करता है । वह अपने विचारों का प्रसारण अभौतिक माध्यमों से लोगों तक कर सकता है । इसमें व्यक्ति एवं वातावरण को अनुवर्ती बनाने के सभी तत्व विद्यमान होते हैं ।

प्रसिद्ध मनःशास्त्री जुंग—उपासना को जीवन की अनिवार्य आवश्यकता के रूप मे स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार "सभी धर्मों में प्रचलित उपासनाएँ स्वास्थ्य एवं सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक हैं ।" उनकी मान्यता के अनुसार "संसार के सभी मानसिक चिकित्सक मिलकर भी जितने रोगियों को आरोग्य प्रदान नहीं कर पाते जितना कि छोटी से छोटी धार्मिक उपासनाएँ कर देती हैं ।"

व्यक्ति के अधःपतन एवं चिन्तन-चरित्र व्यवहार की त्रिवेणी में बढ़ते जा रहे प्रदूषण को रोकने तथा इसको परिशोधन कर निर्मल-परिष्कृत एवं उर्ध्वगामी बनाने में उपासना की आवश्यकता ही नहीं अनिवार्यता भी है । पुरातनकाल के ऋषियो तथा आधुनिक काल के सन्तों ने इसका अवलम्बन कर स्वयं के व्यक्तित्व को सुघड़ बनाने के साथ ही समूची मानव जाति के समक्ष प्रकाश संकेतक के रूप में स्वयं को उभारा । आज भी भावनात्मक सामाजिक समंजन सर्वतोन्मुखी परिष्कार एवं समग्र प्रगति के सभी आधार इसमे विद्यमान हैं । समस्याओं की जटिलता से उबरने तथा अपने व्यक्तित्व को गढ़ने के लिए यह राजमार्ग ही सर्वाधिक उपयुक्त है ।

## उत्थान की आकांक्षा और दिशाधारा

प्रगति पथ पर अग्रसर होने के लिए अनवरत प्रयत्नशील रहना जीवधारी की एक स्वाभाविक वृत्ति है । जीवन के आरम्भ से अब तक प्रगति का यदि लेखा-जोखा लिया जाय तो यही तथ्य अधिकाधिक उजागर होता है । अमीबा जीवन का आदि स्वरूप माना जाता रहा है । एक कोशीय जीवधारी इस प्रकृति के घटक ने क्रमिक विकास करते-करते कई-कई इन्द्रियाँ और काया की कई-कई इकाइयाँ विकसित की हैं । यह सब अनायास ही सम्भव नहीं हो गया, इसके लिए प्राणियों की इच्छा-शक्ति ने, अन्त.चेतना एवं स्फुरणा ने असाधारण भूमिका निभाई है । वस्तुतः यह उनका चेतनात्मक पुरुषार्थ है जिससे उनकी जैविक क्षमताओं का विकास हुआ है ।

प्रकृति ने जीवधारियों के निर्वाह की सुविधा स्वेच्छापूर्वक प्रदान की है । ऐसा न होता तो जीवन के लिए अपना अस्तित्व बनाये रहना, अपनी प्रगति के साधन-सामग्री उपलब्ध कर सकना ही सम्भव न होता । तब उन्नति करने और समग्र समर्थ होने की बात ही कैसे बनती ? इतने पर भी यह मानकर चलना होगा कि जीवधारी का अपना निजी स्वभाव अग्रगमन के लिए, अभ्युदय के लिए अनवरत पुरुषार्थ करना है । इसी को इच्छा, अभिलाषा और आकांक्षा कहते हैं, इसे अन्तःप्रेरणा भी कहा जा सकता है । यही है जीवधारी की वह मौलिक विशेषता जिससे वह प्रगति पथ पर लाखों-करोड़ों वर्षों तक चलते-चलते इस स्थिति पर पहुँचा है—जिसमें जीव जगत के अगणित प्राणियों को पाया जाता है । यह सृष्टि के आरम्भ काल की तुलना में असंख्य गुनी अधिक परिष्कृत है । आदिमकाल की अनगढ़ स्थिति और आज की स्थिति का कोई मुकाबला नहीं । उस समय के और आज के जीवधारियों की चेतना, कुशलता एवं क्षमता में आश्चर्यजनक अन्तर पाया जाता है । अनगढ़ जीवसत्ता ने आज की सुघड़ स्थिति प्राप्त करने मे असाधारण प्रयास-पुरुषार्थ का परिचय दिया है । इस प्रगति में प्रकृति एवं परिस्थितियों का योगदान न रहा हो ऐसी बात नहीं, किन्तु जिसे भौतिक पृष्ठभूमि कह सकते हैं, वह अन्तराल की वह उमंग ही है जो आगे बढ़ने की निरन्तर प्रेरणा देती और उसके लिए पुरुषार्थ करने की बेचैनी बनाये रखती है ।

इस सन्दर्भ मे दो प्रवाह सामने आते है—एक चेतना पक्ष का ऊँचा उठना, दूसरा काय वैभव का आगे बढना । ऊँचा उठने से तात्पर्य है चिंतन और चरित्र में उत्कृष्टता का अभिवर्धन । आगे बढ़ने का अर्थ है, समर्थता और सम्पदा का उपार्जन । उपभोग से, इन दोनों के समन्वय से जीवन की दिशाधारा बनती है । मान्यता और आकांक्षा का स्तर श्रेष्ठ या निकृष्ट होना व्यक्ति का अपना चुनाव है, जो इसे वरण करेगा वह उस दिशा में अग्रसर अवश्य होगा । जिनकी गति धीमी होती है उनकी आलसी-प्रमादी आदि नामों से भर्त्सना की जाती है । ऐसे ही लोग पिछड़े वर्ग में गिने जाते है और अभाव-उपहास के भाजन बनते हैं । जिनकी दिशाधारा सही होती है वे वैभव-सम्मान पाते

और श्रेय-सन्तोष के अधिकारी बनते हैं । ये समस्त उपलब्धियाँ उस आकांक्षा तत्व की है जो न्यूनाधिक मात्रा में सभी में पायी जाती हैं ।

प्रगति की आकांक्षा स्वाभाविक भी है और उचित; उपयोगी भी । उसमें व्यक्ति का निजी लाभ भी है और समाज का समग्र हित साधन भी । इच्छा के त्याग वाली उक्ति जिन आध्यात्म ग्रन्थों में पायी जाती है, वहाँ उनका प्रयोजन प्रतिफल का, आतुरता का परित्याग करने भर से है । शब्दावली में जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है उनसे किसी भ्रम में पड़ने की आवश्यकता नहीं है । बुरे कामों के परिणाम तो तत्काल भी मिल जाते हैं, पर भले कामों का उपयुक्त प्रतिफल मिलने मे क्षमता एवं पुरुषार्थ के निर्धारण की एवं साधन की. परिस्थितिजन्य अनुकूलता की कमी रहने पर अभीष्ट सत्परिणामों की मात्रा तथा अवधि में व्यतिरेक हो सकता है । ऐसी दशा में कर्त्ता को जो खीझ, निराशा एवं अनास्था उत्पन्न होती है, उसी की रोकथाम के लिए यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है कि सत्कर्म से मिलने वाले सन्तोष एवं सन्मार्ग पर चलने के गौरव को पर्याप्त प्रतिफल मान लिया जाय और समयानुसार जब भी सत्परिणाम उपलब्ध हो तब उसे अतिरिक्त उपहार भर माना जाय । इस मान्यता को अपनाने से सन्तुलन बना रहता है और मार्ग से विचलित होने में उद्विग्नताजन्य अवरोध बाधक नहीं बन पाता ।

सृष्टि के आदि में सृष्टा ने इच्छा की कि—'मैं एक से अनेक बन जाऊँ और अपने अनेक रूपों के साथ रमण की क्रीडा-कल्लोल में निरत रहूँ ।' यह इच्छा ही परा और अपरा के रूप में प्रादुर्भूत हुई और सृष्टिक्रम चल पडा । प्राणियो में यह इच्छा प्रगति की अभिलाषा के रूप मे पाई जाती है और पदार्थों में गतिशील बने रहने का पराक्रम अनुशासन बनकर रहती है, यही सुनियोजित होने पर प्रगति कहलाती है । उद्भव परिष्कार और परिवर्तन का नियति चक्र इसी धुरी पर घूमता है । ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र इसी गोलाकार परिभ्रमण के नाम है । ब्रह्माण्ड के सभी छोटे-बड़े क्रिया-कलाप इसी दैवी निर्धारण अनुशासन के अन्तर्गत चल रहे है ।

प्रगति के लिए प्रेरणा देने वाली आकांक्षा जीवसत्ता के साथ अनादिकाल से जुड़ी हुई है और अनन्तकाल तक जुड़ी रहेगी, उसे उपयुक्त दिशा देना ही मानवी बुद्धिमता का चरम कौशल है—इसी को परम पुरुषार्थ कहते है । आत्म-निरीक्षण, आत्म-निर्माण, आत्म-सुधार, आत्म-विकास के नाम से जिस आत्मोत्कर्ष एवं आत्म-कल्याण का ऊहापोह होता रहता है, उसमें करने योग्य पराक्रम एक ही है कि आकांक्षाओं को, चेतना को सुसंस्कृत बनाने वाली उत्कृष्टता अपनाने के लिए बाधित किया जाय, इन मान्यताओं को ही श्रद्धा कहते हैं । यह आप्त कथन अक्षरशः सत्य है कि जीवात्मा का रूप श्रद्धामय है, जो जैसी श्रद्धा रखता है वह वैसा ही बन जाता है ।

प्रकृति प्रदत्त आकांक्षाएँ शरीर पर छाई रहती है और भूख, प्रजनन, अस्तित्व रक्षा के रूप मे तृष्णा, वासना, अहंता के विविध रूपों मे प्रकट-परिलक्षित होती रहती हैं । यह सामान्य प्रवाह की बात हुई जिसे समस्त जीवधारी अपनाते और सृष्टि का गतिचक्र चलाने के लिए विभिन्न प्रकार की चर्चाएँ करते हुए जीवन लीला समाप्त करते हैं । इससे आगे का पक्ष वह है जिसे आत्मा या चेतना को उच्चस्तरीय प्रगति की ओर ले चलने वाला निर्धारण कह सकते है । इसमें दैवी प्रवाह को अपनाना पड़ता है, आस्थाओं को आस्तिकता के साथ, बुद्धि को आध्यात्मिकता के साथ नियोजित करना पड़ता है । यही आध्यात्म दर्शन एवं साधना का सारभूत सिद्धान्त है, आत्मा की चेतना की प्रगति इसी पर निर्भर है ।

उपरोक्त कथन प्रतिपादन से इस निष्कर्ष पर पहुँचना चाहिए कि जीवसत्ता की मूलभूत प्रवृत्ति आकांक्षा के वर्तमान स्वरूप का पर्यवेक्षण किया जाय और देखा जाय कि वह शरीर को आगे बढ़ने और आत्मा की ऊँचे उठने की प्रवृत्ति को साथ-साथ लेकर चल रही है या नहीं । दोनों के बीच असन्तुलन तो नहीं बन रहा है । असन्तुलन से ही प्रगति अवनति या दुर्गति बनती है ।

मनुष्य यदि सचमुच ही बुद्धिमान हो तो उसे समग्र प्रगति का दूरदर्शी निर्धारण करना चाहिए । यदि वह इतना कर सके तो समझना चाहिए कि वास्तविक ज्ञान चेतना का वह अधिष्ठाता अधिपति हो गया । उस सम्पदा का सही उपयोग जिसने भी किया है वह प्रगति के उच्च शिखर पर पहुँचा है और हर दृष्टि में

कृत-कृत्य बना है । हमें प्रगति और अवनति के अन्तर को समझना चाहिए और अपनी वर्तमान परिस्थिति का पर्यवेक्षण करते हुए औचित्य का, विवेक सम्मत पर्यवेक्षण करना चाहिए । आत्मोत्कर्ष की परम श्रेयस्कर आकांक्षा को सुनियोजित करने में ही व्यक्ति का अभ्युदय और समाज का कल्याण है, जो इतना समझने, स्वीकारने में समर्थ हो सकेगा उसका भविष्य सुनिश्चित रूप से उज्ज्वल बनकर रहेगा ।

## जीवन मुक्ति का वास्तविक आनन्द कैसे मिले ?

आत्मा की आकांक्षाओं, मान्यताओं और भावनाओं को क्रियान्वित करने का भार मन को वहन करना पड़ता है । वही कार्यान्वयन की योजना बनाकर शरीर को देता है, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के सहारे वह उन्हें चरितार्थ करता रहता है । प्रत्यक्ष कृत्य शरीर करता है, इसलिए दोष अथवा श्रेय उसी को मिलता है, पर यह भुला दिया जाता है कि शरीर जड़ पंचतत्वों का बना हुआ है । उसमें न सोचने की क्षमता है और न करने की । रेल, मोटर-साइकिल आदि यन्त्र वाहन अपनी मर्जी से भला-बुरा कुछ भी करने में असमर्थ हैं, ड्राइवर ही उन्हें जहाँ-तहाँ घसीटते फिरते हैं, यही विधा जीवनक्रम में चरितार्थ होती है ।

आत्मा का परिधान अन्तःकरण है, उससे चेतना प्रभावित होती है । समर्थ एवं परिष्कृत आत्माएँ साधना द्वारा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को उत्कृष्टता के ढाँचे में ढाल लेती हैं । फलतः व्यक्तित्व परिष्कृत स्तर का बनता है और मनुष्य कलेवर में देवत्व की आभा झलकती है । इसके विपरीत यदि तमोगुणी असुरता अन्तराल की गहराई तक चली जाय तो प्रवृत्ति एवं आकांक्षा अनुपयुक्त कामों में रस लेती [redacted] और फिर तदनुकूल प्रवृत्तियों का प्रवाह बहने लगता है ।

आन्तरिक दुष्प्रवृत्तियों में वासना, तृष्णा और अहंता का असामान्य, उद्धत हो उठना अनेकानेक दोष-दुर्गुणों का सृजन करता है, यही प्रमुख मनोविकार हैं । क्रियाओं मे यही उभरते दीखते है, किन्तु वस्तुत- उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है । उपरोक्त तीन दुष्प्रवृत्तियों का फलितार्थ ही उसे समझा जाना चाहिए । वासना और तृष्णाजन्य विकृतियों की चर्चा तो प्रायः की जाती है किन्तु मूलतः अहता पर विचार किया जाना चाहिए, यह अहकार का दूसरा नाम है । व्यक्ति अपने आप को दूसरों की निगाहों में वरिष्ठ प्रदर्शित करना चाहता है और उसके लिए अनेक तरह के सरंजाम जुटाता है । यों इसका सीधा, सरल और सौम्य मार्ग है कि साधारण लोग गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से हेय जीवन जीते हैं, षट्-रिपुओं के चंगुल में बुरी तरह फँसे होते हैं । फलतः चिन्तन और चरित्र की दृष्टि से उनकी स्थिति नर-पशु, नर-पामर या नर-पिशाच जैसी होती है । इन दुष्प्रवृत्तियों के क्षेत्र मे कौन अग्रणी रहा—इसी की प्रतिस्पर्धा उनमें चलती रहती है । इसी हेय स्तर की सफलताओं को अपनी चतुरता, कुशलता एवं सफलता के नाम से दिखाते-बखानते रहते हैं । औसत आदमी की अहंता इसी रूप में प्रकट होती है । दुष्ट-दुराचारी अपने अनीति कृत्यों को गौरव-गरिमा में सम्मिलित करते है और छल-प्रपंच की अनीति और आक्रमण की घटनाओं को अपनी विशिष्टता के रूप में देखते और दिखाते हैं ।

यदि इस कुपंथ को उलट कर सज्जनोचित शालीनता अपनायी जा सके तो वह वास्तविक प्रशंसा और प्रतिष्ठा का आधार बन जाती है । उतने भर से आत्म-प्रतिष्ठा, आत्म-गौरव और आत्मोत्कर्ष की स्थिति बन जाती है । लोगों का यह मिथ्या भ्रम है कि ओछे हथकण्डे अपनाकर येनकेन प्रकारेण अपनी महिमा का विज्ञापन किया जा सकता है । इस आधार पर प्रशंसा करने वाले दूसरे ही क्षण मुँह फेरते ही निन्दा करने मे भी नहीं चूकते । सामने की चापलूसी परदा हटते ही यथार्थता बखानने लगती है ।

फैशन सज-धज, अमीरों जैसे ठाट-बाट, किसी दुर्बल पर आक्रमण, किसी सज्जन को ठगना, घर में विपुल सम्पदा जमा करना, चाटुकारों का मुँह मीठा करके अपनी प्रशंसा सुनना आदि करतूतें उद्धत अहंता वाले लोग करते रहते हैं और उसी में अपना ढेरों समय, श्रम, धन तथा चिन्तन गँवाते फिरते हैं । इस आधार पर जो प्रदर्शनात्मक प्रपंच खड़ा किया गया था वह क्षणिक और अवास्तविक विडम्बना खड़ा करने के अतिरिक्त और किसी अन्य काम नहीं आता ।

शृंगारिक वेश-विन्यास बनाने वाले, कीमती वस्त्र-आभूषणों से लदने और तेल-फुलेल से महकने वाले लड़की-लड़के सोचते हैं कि वे जिस राह भी

निकलेंगे और उधर ही दर्शक उनकी कलाकारिता, सुन्दरता एवं सम्पन्नता को सराहेंगे, पर होता उससे ठीक उल्टा है । उनके चरित्र पर उँगली उठती है, दुराचार का आमन्त्रण देने फिरने वाला माना जाता है । फिजूलखर्च को अदूरदर्शी एवं बाल-बुद्धि बचकाना माना जाता है, शृंगारिकता हर किसी पर यही छाप छोड़ती है, भले ही किसी अनुचित लाभ के लिए कोई मुँह सामने कुछ प्रशंसा के शब्द कह दे ।

सादगी का सघन सम्बन्ध उच्च विचारों से है । गाँधी, ईसा, बुद्ध जैसों के परिधान सस्ते और स्वल्प थे । ऋषि और महापुरुष भी अपनी सज्जा औसत देशवासियों से अधिक महँगी नहीं होने देते थे, यह शालीनता के परिधान हैं । इस प्रकार के आच्छादन से किसी की प्रतिष्ठा घटती नहीं वरन् बढ़ती है । महँगे वस्त्र और महँगे आभूषण पहिनने, धारण किए फिरने वालों को स्वांग-नाटकों का प्रदर्शनकारी माना जाता [redacted] अथवा यह कहा जाता है कि पैसे को उपयुक्त कार्य में न लगाकर सत्प्रवृत्तियों के संवर्धन में लगाने की अपेक्षा मूर्खता द्वारा अपव्यय का कैसा कौतुक किया जा रहा है । अहंता का सबसे घटिया प्रदर्शन साज-सज्जा की शृंगारिकता के रूप में ही होता देखा जाता है ।

समाज में फैली हुई बुराईयों में अपनी बुराइयों को बढ़-चढ़कर सिद्ध करने पर उस स्तर के लोग प्रशंसा करेंगे ही । जेल में बन्द अपराधियों में जो अपनी करतूतों का अधिक दिलचस्प और भयानक विवरण सुनाते हैं, उनकी बात सुनकर दूसरे लोग अवाक् तो रह जाते हैं, पर कभी अवसर पड़ने पर उनका साथ देने के लिए भूलकर भी तैयार नहीं होते । सोचते हैं कि ऐसे लोग किसी की भी हजामत बना सकते हैं । इनका कोई सगा-सम्बन्धी नहीं होता, वे जिसके साथ मित्रता जोड़ते हैं पहले उसी को हलाल करते हैं ।

दुष्कर्मों में दिखाई गई धूर्तता या निष्ठुरता किसी के लिए गौरव या प्रतिष्ठा की बात नहीं हो सकती, ऐसे लोगों पर दशों-दिशाओं में घृणा और भर्त्सना बरसती है । रण्डी-भडुए आपस में मीठी बातें करते [redacted] और आदान-प्रदान भी पर दोनों में से कोई किसी का मित्र नहीं होता । मौका पड़ने पर उन्हें मुँह मोड़ने में ही नहीं घात मारने में भी देर नहीं लगती । दुर्जनों का संसार भर में न कोई प्रशंसक होता है और न सहयोगी । सज्जनता अपनाने वालों की मुँह आगे प्रशंसा भले ही न हो, भीतर से हर व्यक्ति उनके लिए श्रद्धा रखता है और सहयोग की भावना भी । यह किसी प्रकार कम महत्व की उपलब्धियाँ नहीं हैं । महापुरुष सामान्य स्थिति से ऊँचा उठकर महान पद और प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं, इसमें सज्जनता के आधार पर उपलब्ध हुआ सम्मान और सहयोग ही प्रधान कारण होता है ।

अपने मुँह मियाँ-मिट्ठू बनने, शेखी बघारने को आत्मश्लाघाग्रस्त मनोरोगी माना जाता है । सज्जनों का सुनिश्चित गुण है, नम्रता और विनयशीलता, उनकी सादगी देखते ही बनती है । महामना मालवीय जी को सरकार ने 'सर' की उपाधि दे रखी थी । कलकत्ता विश्वविद्यालय ने उन्हें मानद 'डॉक्ट्रेट' स्वीकार करने के लिए आमन्त्रित किया था । पंडित महासभा ने उन्हें पंडित शिरोमणि की उपाधि दी थी । इन तीनों पदवियों को उन्होंने अस्वीकृत कर दिया और कहा मेरे पिताजी 'पंडित' की परम्परागत उपाधि दे गए हैं उसका निर्वाह ही मुझे भारी प्रतीत होता है फिर और उपाधियों से लदकर उन्हें वहन कर सकना मेरे लिए कैसे सम्भव हो सकेगा । यह नम्रता एक का उदाहरण है, इस कारण मालवीय जी की गरिमा घटी नहीं वरन् बढ़ी ही । सूर, तुलसी, मीरा, कबीर जैसे सन्त अपना परिचय सामान्य लोगों की पंक्ति में खड़ा होकर ही देते रहे हैं । यदि उन्होंने बड़प्पन की प्रशंसात्मक डींगें हाँकी होतीं तो निश्चित रूप से वे विज्ञजनों की दृष्टि में गए गुजरे ही गिने गए होते ।

मनुष्य के लिए यह क्या कम गौरव की बात है कि वह परमेश्वर का युवराज है । इस पदवी को सार्थक बनाने के लिए उसे अपना व्यक्तित्व और कर्तृत्व ऐसा बनाना चाहिए जो उस गरिमा के अनुरूप हो, इसके लिए अपनी निजी पवित्रता और प्रखरता उच्चस्तर की विनिर्मित करना चाहिए । निजी अभिलाषाओं को इतना कम करना चाहिए कि उसे अपरिग्रही ब्राह्मण कहा जा सके । ब्राह्मण को भगवान भी अपेक्षाकृत अधिक प्यार करते हैं और चारों वर्णों में उसकी श्रेष्ठता मानी गई है । इसका एक ही कारण है कि उसका निजी निर्वाह अत्यन्त साधारण होता है और अभिमान इतना गलित होता है कि भीख माँगने में भी अवमानना अनुभव न करे, यह नम्रता की

चरम सीमा है—जिस तरह फलों से लदे वृक्ष की हर डाली नीचे झुक जाती है ।

आत्म-गौरव की अनुभूति और लोक-प्रतिष्ठा की प्राप्ति का एक ही मार्ग है, पुण्य-परोपकार में रसानुभूति और लोकसेवा में निरन्तर प्रवृत्ति । जो इस मार्ग को अपनाते हैं वे हर घड़ी अपनी और दूसरों की दृष्टि में गौरव-गरिमा से भरे-पूरे माने जाते हैं । इसके बिना अन्य पगडण्डियाँ खोजने वाले काँटों में उलझते और भटकाव में फँसते हैं ।

सूरज, चन्द्रमा निःस्वार्थ भाव से प्रकाश वितरण के लिए निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं । बादलों के लिए एक ही काम है कि समुद्र से पानी लाना और सूखे भूखण्डों में शीतलता एवं हरितिमा उगाना । वृक्ष दूसरों के लिए फलते हैं, पवन दूसरों के लिए चलता है और अग्नि दूसरों के लिए जलती है । यह श्रेष्ठतम कर्तृत्व ही उन्हें भरपूर सम्मान प्रदान करता है, इससे बढ़कर अहंता की पूर्ति और क्या हो सकती है । मनुष्य को भगवान के विश्व-उद्यान का माली बनाकर भेजा गया है और दायित्व सौंपा गया है कि वह उसे सुन्दर, समुन्नत और सुसंस्कृत बनाने में तत्परता और तन्मयता के साथ लगा रहे । यह लगन जिसकी जितनी बड़ी-चढ़ी होगी, उसकी अहंता उतनी ही विगलित होती जायेगी । इस आधार पर भारमुक्त हुई आत्मा इसी शरीर के रहते हुए जीवनमुक्त का आनन्द उपलब्ध करेगी ।

## देवमानव बनने का आह्वान

नृतत्त्ववेत्ताओं ने विविध पर्यवेक्षणों और उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि आदिमानव-वनमानुष स्तर का था । उसमें पशु-प्रवृत्तियों का ही बाहुल्य था, रहन-सहन और क्रिया-कलाप भी उसी स्तर का था । प्रकृति के अनुदानों पर पशु-पक्षियों की तरह अपना जीवन-निर्वाह करता था, प्रगति की दिशा में उसके कुछ चरण और आगे बढ़े तो पुरुषार्थ-परायण हुआ । कृषि, पशुपालन जैसे उद्योग सीखे, वस्त्र, निवास, अग्नि प्रज्वलन जैसी विधि-व्यवस्थाओं से अवगत हो गया । बोलना-लिखना सीख गया और अपने-अपने समुदायों के प्रथा-प्रचलनों का अभ्यस्त हो गया । भौतिक प्रगति इसी दिशा में प्रगतिशील होती चली आयी है । विज्ञान, यन्त्रीकरण, अर्थशास्त्र, शासनतन्त्र की उपलब्धियों के सहारे वह वहाँ पहुँचा है जहाँ आज है । उसके सामने सुविधा-साधनों का बाहुल्य है । यह दूसरी बात है कि अपने व्यक्तित्व को घटिया बनाये रहकर वह उसका सही समुचित उपयोग न कर सके । मानवी प्रगति का यही लेखा-जोखा है । मनुष्यों में से कुछ उद्दण्ड, अत्याचारी, छली, आक्रामक, विलासी व अहंकारी बन गए हैं और कुछ को अपनी नासमझी और कुशलता-प्रतिभा के अभाव में गई-गुजरी स्थिति में रहना पड़ रहा है । मनुष्य को बन्दर की औलाद इसलिए कहा जाता है कि उसकी भावना और विचारणा पेट प्रजनन के इर्द-गिर्द ही घूमती है, पेट प्रजनन के लिए ही वह मरता-खपता है । बहुत हुआ तो ठाट-बाट बनाना, दर्प जताना और आक्रामक बनकर अपनी विशिष्टता सिद्ध करता है । जो इतना नहीं कर पाते वे परिस्थितियों की प्रतिकूलता और भाग्य की विपरीतता को कोसते हुए दिन गुजारते हैं । मनुष्यों में से अधिकांश तो इन्हीं आदिमानव, वन-मानुष या धूर्त-शृंगाल प्रकृति के देखे जाते हैं । जनसंख्या की विपुलता ने न तो लोगों को निज की गौरव-गरिमा प्रदान की है, और न समाज को समुन्नत-सुसंस्कृत बनाने में ही योगदान दिया है । चकाचौंध उत्पन्न करने वाली विडम्बना तो चारों ओर बिखरी अवश्य दिखायी देती है, पर उसकी परिणति-प्रतिक्रियाओं को देखते हुए निराशा ही होती है और असमंजस होता है कि जिसे ईश्वर का युवराज, प्राणी वर्ग में शिरोमणि-देवमानव आदि के नामों से सम्मानित किया गया है । क्या वह यही है ? जिसे लोभ, मोह, स्वार्थ, वासना, तृष्णा और अहंता के अतिरिक्त कुछ सूझता ही नहीं ।

प्रकृति परायणता की सीमा इतनी है । जीवधारी अपने लिए ही जीते है, अपनी ही आवश्यकता जुटाते और अपनी ही प्रसन्नता-अनुकूलता सँजोने मे निरत रहते हैं । प्रकृति परायण होकर भी मनुष्य उसी गई गुजरी स्थिति मे रह सकता है जिसमे कि अन्य जीवधारी मरते और मारते है, गिरते और गिराते हैं ।

मानवी गरिमा का उज्ज्वल स्वरूप विकसित प्रस्फुटित तब होता है जब वह उत्कृष्ट आदर्शवादिता के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता है । अपने चिन्तन, चरित्र, व्यवहार और प्रयास को अभिनन्दनीय अनुकरणीय बनाता है । इसी ढाँचे में उसे ढालने के लिए ऋषियों ने

शास्त्रों की रचना की है, आध्यात्म दर्शन का ढाँचा खड़ा किया है । योग-तप के अनेक विधान बनाए हैं, ईश्वर भक्ति के अनेकानेक उपचार-कर्मकाण्डों का सृजन किया है । इन आत्मोत्कर्ष की अनेकानेक विधि-व्यवस्थाओं का मूलभूत उद्देश्य एक ही है कि मनुष्य इसी जीवन में स्वर्ग, मुक्ति और सिद्धि प्राप्त करे । यह तीनों ही किसी अन्य लोक से सम्बन्धित या जादू-चमत्कार जैसी नहीं है वरन् उन्हें व्यक्तित्व की महानता के रूप में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है । दृष्टिकोण का परिष्कार ही 'स्वर्ग' है, दुष्प्रवृत्तियों से छूट निकलना 'मुक्ति' और अभिनन्दनीय स्तर पर जीवनचर्या को बनाए रखना 'सिद्धि' । आत्मोत्कर्ष के लिए इतना करना ही पर्याप्त है । इससे कम में उस प्रयोजन की पूर्ति होती नहीं । इससे अधिक और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है । ऋषियों, मुनियों, तपस्वियों, योगियों, सिद्ध पुरुषों, महामानवों को इसी आत्मिक प्रगति-प्रयास में संलग्न पाया गया है । उन्होंने आकाशवासी देवताओं को प्रसन्न करने के लिए जो कुछ किया वह वस्तुतः अपने ही भीतर के देवता को जगाने के लिए किया था ।

मनुष्य को सुनिश्चित रूप से अपने भाग्य का निर्माता कहा गया है, वह इसके लिए प्रबल पुरुषार्थ करता है । अपने आपको अधिकाधिक पवित्र, परिष्कृत प्रामाणिक एवं प्रतिभावान बनाता है । समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी और बहादुरी को अपने स्वभाव में सम्मिलित कर लेता है । अन्तःकरण और बाह्याचरण में जब समान रूप से उत्कृष्टता का समावेश हो तो सामान्य शरीर में रहते हुए भी व्यक्ति देवमानव की गरिमा उपलब्ध कर लेता है। ऐसे लोगों के लिए 'देवमानव' नाम दिया जाना सर्वथा उपयुक्त है । देवता अशरीरी होते है, इसलिए उनके साथ प्रत्यक्ष घुलना-मिलना नहीं हो सकता, पर देवमानवों को सन्त, सुधारक और शहीदों के रूप में प्रत्यक्ष भी देखा जा सकता है । ऐसे नर देवपुरुष-पुरुषोत्तम होते तो कम ही है, पर उनका सर्वथा अभाव किसी भी युग में नही होता । सतयुग में ऐसे लोगो का बाहुल्य था । भारत भूमि के तैंतीस कोटि निवासी संसार भर में तैंतीस कोटि देवताओं के नाम से प्रख्यात हैं । जिस धरती पर वे जन्मते-पलते थे वह 'स्वर्गादपि-गरीयसी' कही जाती थी । उनके अच्छे क्रिया-कलापों से वातावरण इतना दिव्य बन जाता था कि उसे सतयुग नाम दिया जाना उपयुक्त ही जँचता था । यह समय लम्बी अवधि तक बना रहा । उनके शरीर भी प्रकृति प्रदत्त थे, पर उनके अन्तःकरण में देवत्व कूट-कूटकर भरा था । डिब्बी के भीतर जो वस्तु रखी है उसी के आधार पर उसका मूल्यांकन होता है । जिनकी अन्तरात्मा प्रामाणिकता, शालीनता, सेवा और परमार्थ परायणता से सराबोर है उन्हें देवतुल्य ही नहीं वरन् उससे बढ़कर माना जा सकता है । देवता अप्रत्यक्ष होते हैं, मनुहार करने और उपहार देने पर पसीजते हैं । इसके उपरान्त ही उनके वरदान-अनुदान साधकों पर बरसते हैं किन्तु देवमानवों की कृपा-अनुकम्पा अहैतुकी होती है और बिना याचना की प्रतीक्षा किए मेघमाला की तरह बरसती और बसन्त की तरह शोभा-सुषमा से सर्वत्र उल्लास बिखेरती है ।

भारत देवभूमि है । स्वर्गलोक के अस्तित्व को चुनौती दिए बिना कहा जा सकता है कि यदि उसका प्रत्यक्ष दर्शन करना हो तो ऐसे महामानवों की उपस्थिति अभी भी जहाँ-तहाँ देखी जा सकती है । सतयुग में तो वे साधु-ब्राह्मण के रूप में एक विकसित समुदाय के रूप में ही इस धरती की शोभा, सुषमा, संस्कृति एवं समृद्धि का सम्वर्धन करते थे ।

आज मनुष्य की व्यक्तिगत सामूहिक समस्याएँ बेतरह उलझ गई हों, साधन-सामग्री घट गई हों सो बात नहीं है । विज्ञान और कौशल ने साधनों का अतिशय विस्तार किया है, किन्तु व्यक्तित्व की दृष्टि से समुदाय अतिशय बौना हो गया है । कुछ उत्पीड़क हैं, कुछ उत्पीड़ित । कुछ शोषक है, कुछ शोषित । कुछ पर्वत की चोटी पर बैठे हैं तो कुछ खाई में गिरकर कराह रहे है । इस विषमता को समता में परिणत करने के लिए देवमानवों के अतिरिक्त और कोई समर्थ नहीं हो सकता ।

पौराणिक कथानकों में अधर्म के उन्मूलन और धर्म के संस्थापन के निमित्त अवतारों का प्रकटीकरण होता रहा है । इस अलंकारिक प्रतिपादन का व्यावहारिक स्वरूप यह हो सकता है कि प्रामाणिकता और परमार्थ परायणता की पक्षधर उदारता सामान्य लोगों जैसी गतिविधियों से उबारकर देव प्रयोजनो में जुट जाने का एकाकी प्रयास करने की प्रेरणा देती है । सद्भावना

पूर्वक अपनाए गए उच्चस्तरीय निर्धारणों को पूरा करने में कर्त्ता की अन्तरात्मा और दैवी-शक्तियों की अनुकम्पा समान रूप से, संयुक्त रूप में काम करती है और जो परिणाम सामने आते हैं वे चमत्कारी स्तर के होते हैं । परमार्थी पुरोहितों को ही ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है । वस्तुतः वे ही समाज का स्तर, परिस्थितियों का प्रवाह और उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करने के लिए आगे बढ़ते और सफल होकर रहते हैं । समय की पुकार है कि ऐसे उदारचेता उभरे, अपने इर्द-गिर्द के भव-बन्धनों की पकड़ से अपने को उबारें और साथ ही जन-कल्याण की उन प्रवृत्तियों में जुटें जिन्हें प्रकारान्तर से अधर्म का उन्मूलन और धर्म का संस्थापन भी कहा जा सकता है । परिस्थितियों की माँग इतनी प्रबल है कि इससे बच निकलने के लिए कोई बहाना नहीं खोजा जाना चाहिए । सतयुग का माहौल बनाने के लिए भावनाशीलों को संकल्पपूर्वक आगे आना चाहिए, आज की परिस्थितियों में इस रीति-नीति के अपनाए जाने की अत्यन्त आवश्यकता है । साधु और ब्राह्मणों को भूसुर-पृथ्वी के देवता कहा जाता है, वे अपनी योग्यता, श्रमशीलता, सम्पदा का न्यूनतम अंश अपने निर्वाह के लिए रखते हैं और शेष को अन्यान्यों को उठाने-बढ़ाने में खर्च करने के लिए अवसर तलाशते रहते हैं । किसी के निवेदन की प्रतीक्षा नहीं करते, बादलों की तरह बिना बुलाये ही सर्वत्र पहुँचते हैं और हर किसी को समुन्नत-सुसंस्कृत बनाने के लिए प्रयास करते हैं; ऐसे ही देवमानवों की संख्या बढ़ने से धरती का वातावरण स्वर्गोपम बनता है ।

## प्रामाणिकता की समर्थ क्षमता

बैंक से पैसा पाने के लिए आवश्यक है कि या तो पहले से जमा रखी हुई पूँजी खाते में हो या फिर कोई सम्पत्ति गिरवी रख कर उसके बदले आवश्यक राशि प्राप्त की जाय । बैंकों के पास प्रचुर धन होता है तो भी वे बिना किसी आधार के हर माँगने वाले को उसकी इच्छित धनराशि देने के लिए तैयार नहीं होतीं, हों भी कैसे ? उन्हें अपनी राशि ब्याज समेत लौटानी भी तो है । जब तक वैसी सम्भावना सामने न आये तब तक बैंकों की उधार देने की नीति कार्यान्वित नहीं हो पाती ।

यह संसार भी एक बड़ा बैंक है, इसमें से प्रशंसा, प्रतिष्ठा, सहयोग, सहायता, सद्भावना जैसी अनेक बहुमूल्य वस्तुओं का वितरण होता है । इन्हें कोई भी अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करके प्राप्त कर सकता है । यह सुलभ भी है और सही भी, किन्तु अप्रामाणिकता का असमंजस बीच में आ अड़े तो दाता और ग्रहीता के बीच में इतनी चौड़ी खाई आ जाती है जिसे लाँघना सरल नहीं होता ।

मनुष्य का अद्यावधि इतिहास उस पूँजी के समान है जो बैंक के खाते में पहले से ही जमा होती है और उसके बदले में माँगा हुआ धन सरलतापूर्वक दिया जाता है । समाज सेवा के रूप में, चरित्र निष्ठा के रूप में, सज्जनता अवधारणा के रूप में जिसने अपना व्यक्तित्व प्रामाणिक बनाया है, उसके लिए यह कठिन नहीं पड़ता कि अवसर आने पर उस हुण्डी को न भुना ले, उपयुक्त सहायता और प्रशंसा, प्रतिष्ठा प्राप्त कर ले ।

इस दुनिया में सज्जनता भरे व्यवहार की कमी नहीं । उदारता और सहकारिता का व्यवहार सदा से जीवित रहा है और अनन्तकाल तक जीवित रहेगा, किन्तु यह आवश्यक है कि सद्व्यवहार प्राप्त करने का इच्छुक उसके लिए अपनी पात्रता और प्रामाणिकता का प्रमाण प्रस्तुत करे । दया, भिक्षा, उधार के नाम पर अपवाद रूप में ही किसी को कुछ मिल सकता है और वह भी स्वल्प रूप में ही ।

दूसरों से सदाशयता की अपेक्षा करना उचित है किन्तु साथ ही इस बात की भी अपेक्षा की जाती है कि जो दिया गया है वापिस भी लौटे । मुफ्तखोरी के लिए इस संसार में कोई नैतिक नियमित विधान नहीं । आपत्तिग्रस्त या अपंग, असमर्थ ही करुणा के आधार पर उतना प्राप्त कर लेते हैं जितने से कि वे अपना अस्तित्व बनाए रहें । अधिक मूल्यवान प्राप्त करने के लिए तो अनिवार्य है कि उसके प्रतिपादन का उपयुक्त प्रयत्न किया जाय ।

दूसरों से सद्भाव-सहयोग चाहा जाता है, प्रशंसा और प्रतिष्ठा की भी आशा की जाती है । यह उपयुक्त व्यक्तियों को प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती है और होती भी रहेगी, किन्तु यह सब लूट के माल की तरह बटोरा नहीं जा सकता । छलपूर्वक किसी को चंगुल में फँसाए रखने की बात देर तक नहीं निभती । वेश्याएँ वह

सम्मान प्राप्त नहीं कर सकती जो पतिव्रताओं को अनायास ही मिलता है । प्रपंच और पाखण्ड के बलबूते कुचक्री भी कुछ समय तक पूजा और पैसा झटक लेता है, किन्तु यथार्थता प्रकट हुए बिना नहीं रहती, वह आज नहीं तो कल प्रकट होकर ही रहती है तब पिछले सहकार की तुलना में अनेक गुना तिरस्कार बरसता है । सज्जनता की पाखण्ड रचना किसी के भी गले नहीं उतरती, उसकी प्रतिक्रिया होती है, यह दुर्गन्ध की तरह दूर-दूर तक फैलती है ।

दुर्गन्ध और सुगन्ध उपजती तो अपने निश्चित स्थान पर ही हैं, पर वे उतने दायरे में सीमित नही रहतीं । सुदूर क्षेत्रों तक अपनी उपस्थिति का आभास कराती हैं, रास्ता चलते लोग उनका आभास प्राप्त करते हैं, प्रसन्न या उद्विग्न होते है । चन्दन तरु के निकट पहुँचने पर कुछ समय उसकी छाया में बैठकर शान्ति एवं प्रसन्नता का लाभ लेने के लिए मन करता है, किन्तु जहाँ सड़ी कीचड़ की, श्मशान में जलने के धुएँ की दुर्गन्ध उठ रही हो वहाँ से जल्दी दूर निकल जाने के लिए पैर बढाने पड़ते हैं । उद्गम अपने स्तर के अनुरूप आकर्षण और विकर्षण उत्पन्न करता है । व्यक्तित्व की प्रामाणिकता हर किसी को आश्वस्त करती है, सान्त्वना देती है और सदाशयता को साथ देने के लिए न्यौत बुलाती है । इन सद्भावनाओं का संचय ही किसी को आन्तरिक दृष्टि से सुसम्पन्न बनाता है, इस पूँजी के बल पर व्यक्ति स्वयं ऊँचा उठता है । इतने बड़े काम करने का साहस कर गुजरता है जिनकी कि सामान्य लोग न कल्पना कर सकते हैं, न हिम्मत । यह बल कहाँ से आता है ? यह टॉनिक रसायनों से नहीं, मल्ल विद्या अथवा शस्त्रास्त्रों से भी नही । उसका उद्गम है वह गौरव जो प्रामाणिकता के आधार पर आत्मबल के रूप में प्राप्त होता है ।

प्रामाणिकता जहाँ भी रहती है वहाँ श्रद्धा उत्पन्न करती है और विश्वास भी । विश्वासपात्र की आज सर्वत्र तलाश है, उसे बड़े से बड़ा काम सौंपा जा सकता है और बड़े से बड़ा अनुदान दिया जा सकता है । गाँधी और विनोबा इसके आधुनिक उदाहरण हैं, उनकी विद्या-प्रतिभा से लोग प्रभावित ही नहीं हुए वरन् लोक दृष्टि से जब हर कसौटी पर परख लिया कि वे विश्वासपात्र हैं तो उन्हें भरपूर सहयोग दिया गया । लोगों ने अपने घर उजाड़े और उस पथ पर चले जो कष्ट-कठिनाइयों से भरा होने पर भी उच्च आदर्शों के लक्ष्य तक ले जाता था ।

हर व्यक्ति अपनी सयानी कन्या को सौंपने के लिए ऐसे वर की तलाश करता है जिसके साथ में उसका भविष्य सुरक्षित हो तथा जिसकी चरित्रनिष्ठा और सद्भावना पर विश्वास किया जा सके । ऐसा सुयोग मिलने पर ही कन्या सुखी रहती है और अपने भाग्य को सराहती है, भले ही उसके साथ रहकर आर्थिक तंगी ही क्यो न भुगतनी पड़ती हो । इसके विपरीत सुन्दर और सम्पन्न व्यक्ति ऐसे भी हो सकते हैं जो चरित्र भ्रष्ट, असहिष्णु और दुर्व्यसनी हों । ऐसी सुविधा सम्पन्नता के बीच रहकर भी वधू अपने भाग्य को कोसती ही रहेगी । दुश्चरित्रों को ही भ्रष्ट या दुष्ट कहते हैं । जिन्होंने अपनी चरित्रनिष्ठा गवाँ दी समझना चाहिए कि वे भरे बाजार में लुट गए, उज्ज्वल भविष्य की सभी सम्भावनाएँ गवाँ चुके ।

अनाचारी व्यक्ति प्रलोभन देकर चापलूसों की मण्डली खड़ी कर सकते हैं, उनसे मिथ्या-प्रशंसा सुन सकते है और अनाचारी से सहयोग भी ले सकते हैं, किन्तु आड़े समय में उनका एक भी मित्र नहीं रहता । एक-एक करके सभी छूट जाते हैं, दाँव लगता है तो गहरे गर्त में गिराने से भी नहीं चूकते क्योंकि वास्तविकता उनके ध्यान में बनी रहती है । जिन हथकण्डों से काम लिया गया था वे ध्यान में बने रहते हैं और घृणा उत्पन्न करते रहते हैं । यह घृणा प्रतिशोध बनकर तब प्रकट होती है जब धूर्त का समय बदलता है और कोई संकट आ दबोचता है ।

कौन क्या कहता है ? इस पर ध्यान नही दिया जाता वरन् यह देखा जाता है कि कौन क्या करता है ? कर्तत्व ही प्रभावशाली कथन है । नशेबाज और व्यभिचारी अनेकों साथी-संगी, अनुयायी बना लेते है क्योंकि उनकी कथनी और करनी में एकता रहती है, भले ही वह बुरे किस्म की ही क्यों न हों ।

धर्मोपदेश देने वाले और आदर्शों की वकालत करने वाले लच्छेदार शब्दों का उच्चारण करके अपनी धाक तो जमा लेते हैं, पर छल नही छोड़ पाते । कारण एक ही है कि जो उनके द्वारा कहा जाता है उसे जीवन में उतारते नहीं देखा जाता, उससे पाखण्ड

की गन्ध स्पष्टतया आती है । सुनने वाले इस कान से जानकारी प्राप्त करते और उस कान से निकालते रहते हैं । शब्दों मे शक्ति नहीं होती, वे तो जानकारी देने भर के माध्यम हैं । उन्हें शक्तिशाली बनाने के लिए सर्वप्रथम अपने आचरण में उतारना पड़ता है ।

## खरे व्यक्तित्व की सही कसौटी

व्यक्तित्ववान् से तात्पर्य रंग-रूप की सुन्दरता, कपड़ों की सज-धज, घुँघराले केश या साज-सज्जा के सामान से नहीं लगाया जाना चाहिए । यह विशेषता तो रंगमंच के नट-नटियो में भी हो सकती है, पर इसके कारण इन्हे आकर्षक मात्र समझा जा सकता है । उन्हें व्यक्तिवान नहीं कहा जा सकता, ऐसे लोगों के प्रति न किसी को श्रद्धा होती है और न सम्मान । उन्हें कोई उत्तरदायित्वपूर्ण काम भी नहीं सौंपे जा सकते और न उनसे यह आशा की जा सकती है कि वे जीवन में कोई महत्त्वपूर्ण काम कर सकेंगे ।

व्यक्तित्व से तात्पर्य शालीनता से है, सद्गुणों से युक्त स्वभाव से, सज्जनता से और मानवी गरिमा के अनुरूप अपनी वाणी, शैली, दिशाधारा एवं विधि-व्यवस्था अपनाने से है । ये सद्गुण स्वभाव के अंग होने चाहिए और व्यवहार में उनका समावेश गहराई तक होना चाहिए अन्यथा दूसरों को फँसाने वाले ठग भी कुछ समय के लिए अपने को विनीत एवं सभ्य प्रदर्शित करते हैं । कोई जब उनके जाल में फँस जाता है तो अपने असली रूप में प्रकट होते हैं । धोखे में डालकर बुरी तरह ठग लेते हैं, विश्वासघात करके उसकी बुरी तरह जेब काटते है । कोई आदमी वस्तुतः कैसा है, इसे थोड़ी देर में नहीं समझा जा सकता । उसकी जीवनचर्या देखकर वर्तमान संगति एवं मित्र मण्डली पर दृष्टिपात करके समझा जा सकता है कि उसका चरित्र कैसा है ? यह चरित्र ही व्यक्तित्व की परख का प्रधान अंग है ।

इसके अतिरिक्त शिक्षा एवं विचार-पद्धति भी देखने योग्य है । कुछ समय के वार्त्तालाप में मनुष्य की शिक्षा एवं आस्था का पता चल जाता है । चिन्तन वाणी में प्रकट होता है । ठग आदर्शवादी वार्त्तालाप कर सकने में सफल नहीं हो सकते, वे किसी को जाल में फँसाने के लिए ऐसी बातें करते हैं मानो उसके हितैषी हो और उसे अनायास ही कृपापूर्वक कोई बड़ा लाभ कराना चाहते हैं । नीतिवान् ऐसी बातें नहीं करते वे अनायास ही उदारता नही दिखाते और न अनुकम्पा करते है । न ऐसा रास्ता बताते हैं जिसमें नीति गवाँकर कमाई करने का दाँव बताया जा रहा है । व्यक्तित्ववान् स्वयं नीति की रक्षा करते हैं, भले ही इसमें उन्हें घाटा उठाना पड़ता हो । यही नीति उनकी दूसरों के सम्बन्ध में होती है, जब भी जिसे भी परामर्श देंगे वह ऐसा होगा जिसमें चरित्र पर आँच न आती हो, भले ही सामान्य स्तर का बना रहना पड़े ।

शालीनता उपार्जित करने के लिए शिक्षा का भी जरूरत पड़ती है । अशिक्षित आमतौर से गँवार या मूर्ख होते है, उनके व्यवहार में दूसरों को हानि पहुँचाकर अपना लाभ कमा लेने की नीति का समावेश होता है । ऐसा ही वे स्वयं करते हैं और ऐसा कर गुजरने के लिए वे दूसरों को परामर्श देते हैं । कारण कि उनका ज्ञान समीपवर्ती साधारण लोगों तक ही सीमित होता है और औसत आदमी सफल बनने के लिए ऐसी ही तरीके अपनाता है उनमे से अपवाद रूप में ही भलमनसाहत पायी जाती है । जिस पर इस समुदाय का प्रभाव है वे यही समझते है कि दुनिया के रीति-रिवाज यही हैं और इस रीति को अपनाने में कोई हर्ज नही है । सुशिक्षित, स्वाध्यायशील व्यक्तियो की आदर्शवादियो जैसी कार्यपद्धति होती है । इतिहास में ही ऐसे श्रेष्ठ पुरुष खोजे जा सकते हैं, वे कभी-कभी और कहीं-कहीं ही होते हैं । उन्हें आदरपूर्वक पढ़ने, सुनने और समझने में ही इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि कितने ही लोगों ने प्रत्यक्ष घाटा उठाते हुए भी आदर्शों का परिपालन किया है और सर्वसाधारण के सामने अनुकरणीय पथ-प्रदर्शन किया है । ऐसे लोग यदि भावनाशील हुए और आदर्शों को अपनाने से किस प्रकार महान बना जा सकता है ? यह समझ सके तो फिर अपने को उस ढाँचे में ढालते हैं और समय-समय पर दूसरों को भी वैसी ही सलाह देते हैं, इसी परख पर यह जाना जा सकता है कि यह व्यक्तित्ववान् है या नही, उसकी शालीनता परिपक्व स्तर की है या नहीं ।

व्यक्तित्वान् दूसरों का विश्वास अर्जित करते है, साथ ही सम्मान एवं सहयोग भी । ऐसे लोगों को बड़े उत्तरदायित्व सौंपे जाते हैं और वे उन्हे उठाने मे प्रसन्न भी होते हैं, क्योंकि महत्त्वपूर्ण कार्यों को सम्पन्न करने

में अनेक लोगों का विश्वास और सहयोग अर्जित करने में ऐसे ही लोग सफल होते हैं । निश्चित है कि महत्त्वपूर्ण कामों को पूरा करने में सद्गुणी साथी अनिवार्य रूप से आवश्यक होते हैं और वे हर किसी का साथ नहीं देते, कारण कि उन्हें यह देखना पड़ता है कि कहीं ओछे लोगों की मण्डली में शामिल होकर हमें भी बदनामी न ओढ़नी पड़े ।

व्यक्तित्ववानों की परख का एक और तरीका है कि उन्होंने अपने सगे-सम्बन्धियों के साथ न्यायोचित व्यवहार का निर्वाह किया या नहीं । जिनके साथ निरन्तर रहना पड़ता है, उन्हीं के साथ आदमी की असलियत खुलती है । बाहर के लोगों के साथ तो बनावटी सज्जनता भी दिखाई जा सकती है, पर मुखौटा पहिनकर दिनचर्या का निर्वाह नहीं हो सकता । चकमे में डालने की कला कभी-कभी ही काम देती है और वह प्रायः अजनबी लोगों पर हीं सफल होती है । जिनसे लगातार वास्ता पड़ता । उनसे किसी के स्वभाव या चरित्र की वस्तुस्थिति छिपी नहीं रहती, व्यक्तित्ववानों को सदा अपनी गरिमा का ध्यान रहता है । स्वाभिमान गवाँने वाले कामों में वे हाथ नहीं डालते, ऐसी दिशा मे चतुर लोग उनसे उदास रहते हैं और घनिष्ठता स्थापित नहीं करते । किस की घनिष्ठता किससे है ? यह देखकर सहज ही जाना जा सकता कि इस व्यक्ति का स्तर क्या होना चाहिए ? इसी प्रकार यदि पिछले दिनों के कार्यों पर दृष्टि डाली जाय तो यह देखा जा सकता है कि वे किस स्तर के थे तो भी समझा जा सकता है कि इनका व्यक्तित्व क्या है ? इस स्तर की प्रतिभा अर्जित करने के लिए उच्चस्तरीय स्वाध्याय, सत्संग आवश्यक है । जिसे बाहरी स्थिति ऐसी मिलेगी वही चिन्तन और मनन भी उच्चस्तर का कर सकेगा, उनके द्वारा अन्यान्यों को भी ऊँचे स्तर का परामर्श एवं सहयोग मिलेगा । इन्हीं कसौटियों पर कसकर यह देखा जा सकता है कि किसका व्यक्तित्व किस स्तर का है ।

व्यक्तित्व सच्चे अर्थों में मनुष्य की महती और चिरस्थायी सम्पदा है, इसी के सहारे वह अपना और दूसरों का भला कर सकता है । किन्हीं पर उपयोगी प्रभाव डालने में भी ऐसे ही लोग सफल होते हैं अन्यथा जिनकी कथनी और करनी में अन्तर होता है वे सर्वत्र सन्देह की दृष्टि से देखे जाते हैं और पोल खुलने पर उपहासास्पद बनते है ।

ऊँचे उठने, सफल बनने एवं प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए जिस सौभाग्य को सराहा जाता है । वह वस्तुतः खरा व्यक्तित्व ही है । सोने की जब कसौटी और अँगीठी पर परख हो जाती है तो उसकी उपयुक्त कीमत मिलती है । यही बात व्यक्तित्व के सम्बन्ध में भी है, वह जब खरा होने की स्थिति तक पहुँच जाता है तो मनुष्य को ऐसा सौभाग्यशाली बनाता है जिसकी चिरकाल तक सराहना होती रहती है । तृप्ति, तुष्टि, शान्ति और सद्गति परिष्कृत व्यक्तित्व की उपलब्धियाँ है ।

## तृप्ति, तुष्टि और शान्ति

प्रत्येक प्राणी की आवश्यकताएँ सीमित हैं । जीवधारियों की संरचना इस प्रकार हुई है कि इनका कौशल और स्वभाव स्थानीय परिस्थितियों और वस्तुओं के साथ ताल-मेल बिठाकर तृप्त हो जाता है । अभाव जन्य असन्तुष्टि के कारण उनकी मानसिक स्थिति उद्विग्नताग्रस्त नहीं रहती । शरीरगत क्षुधाएँ उचित सीमा तक सरलतापूर्वक पूरी होती रहें तो फिर उस हैरानी की जरूरत नहीं पड़ती, जो चैन से नहीं बैठने देती । मानसिक विकास हर प्राणी का इतना ही हुआ है कि वह साधन जुटाने और आत्मरक्षा की दृष्टि से प्रतिरक्षा की आवश्यक व्यवस्था बनाता रहे । अधिकांश प्राणी यह सब कर भी लेते हैं । यही कारण है कि बचे हुए समय में प्रसन्न मुद्रा में बने रहते हैं और शेष समय विनोद, मनोरंजन में कुदकने-फुदकने मे, यात्रा पर निकलने में खर्च करते है । आमतौर से पेट प्रजनन में ही उनकी शारीरिक, मानसिक आवश्यकताएँ निहित रहती हैं । स्वार्थों की खींच-तान में कभी-कभी वे लड़-झगड़ भी बैठते हैं । इसी प्रकार उनका समय पूरा गुजरता है । असमर्थ हो जाने पर उस कचरा शरीर को हिंस्र प्राणी अपना आहार भी बना लेते हैं । यही है साधारण नियति अधिकांश जीवधारियों की ।

मनुष्य की स्थिति कुछ विचित्र है । उसे औचित्य की सीमा में रहना, मर्यादाओं का अनुबन्ध पालना स्वीकार नही । चंचलता, उद्विग्नता, आपाधापी, अहमन्यता, दूसरों पर हावी हो जाना जैसा अनावश्यक

किन्तु आकर्षक लगने वाले कार्यों मे उसकी विशेष रुचि बढ़ी-चढ़ी मात्रा में रहती है । यह अतिवाद ही उसे अमर्यादित एवं अनैतिक स्थिति अपनाने के लिए बाधित करता है । यही वह ललक-लिप्सा, लालसा है, जिसे इच्छित मात्रा में पूरा कर सकने के लिए उसका चिन्तन उद्विग्न आकांक्षाओं से भरा रहता है । जो चाहा गया है उसका बहुत ही छोटा अंश पुरुषार्थ की सीमा और परिस्थितियों की अनुकूलता को देखते हुए कार्यान्वित हो पाता है । होना तो यह चाहिए कि उसे पूरी करने की सारी विधि-व्यवस्थाएँ ठीक प्रकार से सम्पन्न होती रह सकें । तृष्णा के भड़क जाने पर व्यक्ति की स्थिति अतृप्त, उन्मादी जैसी हो जाती है । वह मानसिक सन्तुलन खो बैठता है । धर्मोन्माद, युद्धोन्माद के कारण अनेकानेक दुर्घटनाएँ आये दिन घटित होती देखी गई हैं । ठीक इसी प्रकार लिप्सा, वासना, तृष्णा, प्रशंसा की पूर्ति के लिए भी लोग इस कदर बेतहाशा भाग-दौड़ करते है कि उनका स्वस्थ चिन्तन ही अस्त-व्यस्त हो जाता है । हविश के मारे लोग उन्मादियो की तरह स्वार्थ सिद्धि के लिए उस सीमा तक आगे बढ़ जाते हैं जहाँ अनाचार के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रहता । ऐसे व्यक्ति अनर्थ ही सोचते और अनर्थ ही करते हैं ।

संसार में साधन इतने सीमित हैं कि उन्हें मिल बाँट कर खाते हुए सभी लोग सामान्य स्तर का गुजारा कर सकते हैं । इस समतावादी आचार पद्धति को अपनाकर सभी लोग चैन से रह सकते हैं । चैन से रहने दे सकते हैं । न आपस में प्रतिद्वन्द्विता-प्रतिस्पर्धा की आवश्यकता पड़ सकती है, नहीं ईर्ष्या-द्वेष की जरूरत । कुछ आदमियों का बड़ा बनने का मतलब है शेष का गई-गुजरी स्थिति में रहने के लिए विवश होना । दीवार उठाने के लिए कहीं मिट्टी खोदनी पड़ती है और गड्ढा बनाना पड़ता है । अमीरो की साधन सुविधा बढ़ी-चढ़ी होने का परिणाम दुहरी हानि पहुँचाता है । एक यह कि वैभव का सरंजाम साधारण जनो को आकर्षित करता है और उसको पाने के लिए वे भी लालायित हो उठते हैं । पुरुषार्थ, पैसा, परिस्थिति, कौशल हर आदमी नही जुटा पाता, इसलिए इतने बढ़े-चढ़े साधन तो सहज नहीं मिल पाते पर ईर्ष्या-द्वेष की आग सहज की भड़कने लगती है । जिसे शान्त करने के लिए उसे कुछ उपद्रव खड़ा करने की-नीचा दिखाने की सूझ सूझती है । इससे उभय-पक्षीय आक्रोश उभरता है । इसके अतिरिक्त दूसरी कठिनाई यह है कि जिसे असाधारण सुविधाएँ मिलने लगती हैं उसमें अधिक पाने की लिप्सा असाधारण रूप से भड़कती है । जितना वैभव उसे मिल चुका है वह सर्व-साधारण की तुलना में कहीं अधिक होने पर भी उसे प्रतीत होता है कि जितना चाहता था उसकी तुलना में कम मिल पाया है । उसे पाने के लिए वह आतुरता में अधिकाधिक पाने के लिए ऐसी क्रिया-पद्धति अपनाता है जो समूचे वातावरण को विक्षुब्ध कर देती है ।

इसलिए वैयक्तिक और सामाजिक सुस्थिरता के लिए आवश्यक है कि हर किसी के मन में ऐसा चिन्तन बोया जाय तो भौतिक पदार्थों की सुविधाओं को सीमित और नियन्त्रित करे । सीमित बटोरें और उनका सीमित ही उपयोग करे । इस मध्यवर्ती प्रचलन से लाभ यह है कि अमीरी घटने के साथ गरीबी भी घटेगी । ज्वार उठता है तो समुद्र में उससे सटा हुआ जल का भाग नीचे जाता है । जिन जलाशयों मे पानी समतल रहता है, उछाल नहीं आता उनका पानी भी स्वच्छ रहता है और जल-जन्तु भी प्रसन्नता भरा जीवन-यापन करते हैं । यही स्थिति मानव समाज की भी होनी चाहिए । व्यवस्था भी इसी स्तर की बनानी चाहिए कि अमीरी बटोरने का अवसर किसी को न मिले । अन्यथा उनके सम्पर्क में आने वाले अपने को निर्धन अनुभव करेंगे और उसका कारण अमीरी को समझते हुए किसी न किसी प्रकार आक्रोश व्यक्त करेंगे । यह आक्रोश कितने स्थानो पर कितने प्रकारो से फूटेगा यह कहा नहीं जा सकता । इसलिए दर्शन, धर्म, तर्क, तथ्य, उदाहरण, प्रमाण एकत्रित करके लोक चिन्तन को इस प्रकार विनिर्मित किया जाना चाहिए कि किसी की महत्त्वाकांक्षा न भड़के । धन की आकांक्षा एक विशेष प्रकार की मानसिक स्थिति है जो आक्रान्ता को तो उद्वेलित करती है, साथ ही अपने प्रभाव से उस सम्पर्क परिकर में रहने वालो को भी प्रभावित किए बिना नहीं रहती ।

वित्तेषणा की तरह ही दूसरी महत्त्वाकांक्षा है—लोकेषणा । लोग अपेक्षाकृत अधिक सम्मान पाना चाहते है । प्रतिष्ठा के अधिकाधिक भूखे रहते हैं । यदि व्यक्ति सद्गुणों और भावनाओं के आधार पर

अपनी गरिमा का परिचय देता है, बदले में कृतज्ञता के रूप में सद्भाव पाता है तो वह उचित है किन्तु यदि अपनी अमीरी, चतुरता या आतंकवादिता— सुन्दरता, ठाट-बाट आदि दिखा कर ऐसी चेष्टा की गई है कि इस आडम्बर से दूसरों की आँखें चौंधिया जायें और वे तिल का ताड़ समझने लगें तो इस प्रयास के निमित्त रचे गए समस्त जाल-जंजाल जादूगरी या बाजीगरी स्तर के होंगे । उनकी तात्कालिक प्रतिक्रिया कुछ भी क्यों न हो पर वास्तविकता जल्दी ही प्रकट हो जाती है कि वाहवाही लूटने के लिए ही यह सारा ताना-बाना बुना गया है । इससे क्षुद्रता प्रकट होती है और व्यक्ति की सत्ता का अवमूल्यन होता है । प्रसिद्धि लूटने के लिए जो भी आडम्बर रचे जाते हैं उन्हें रचनाकार की जादूगरी-बाजीगरी कहकर विदूषक स्तर का ठहराया जाता है, क्योंकि ऐसे आडम्बर वही लोग रचते हैं । शरीर का, चेहरे का सौंदर्य बढ़ा-चढ़ाकर दिखाने के लिए कई महिलाएँ अनेकों शृंगार साधनों से अपने को अधिक आकर्षक दिखाने का प्रयत्न करती हैं । इससे कोई अजनबी भर चौंक सकता है । विचारशील आदमी को वस्तुस्थिति समझने में देर नहीं लगती । कलई जल्दी ही धुँधली पड़ जाती है । ढोल की पोल जल्दी ही खुल जाती है । बड़प्पन के लिए उछल कूद करने वाले बेढ़ंगे मेढ़कों की चाल से हर कोई परिचित हो जाता है । पदवी, प्रतिष्ठा, सम्मान पाने के लिए कई व्यक्ति संस्थाओं के पदाधिकारी बनने के निमित्त लालायित फिरते हैं, इसके लिए जोड़-तोड़ बिठाते रहते हैं, किन्तु इतना हर किसी को विदित हो जाता है कि यह उथला आदमी है । गम्भीरता के साथ विनयशीलता जुड़ी रहनी चाहिए । जो विनम्र, विनयशील, सुसंस्कृत, शालीन नहीं है, उसी का अहंकार नामवरी कमाने के लिए शेखी खोरी कराता है । कुछ रिश्वत, उपहार देकर प्रलोभनों में बहकाकर अपना प्रयोजन पूरा कराता है । ऐसे लोग आमतौर पर से उपहासास्पद बनते हैं । उनकी उद्धतता पग-पग पर पकड़ में आती रहती है । कभी सामने, कभी पीछे हँसी उड़ाती रहती है । इससे मुँह के सामने कुछ भी सुन ले-सुनाले पर वस्तुतः उसकी यह मनोवृत्ति दर्पण की तरह नगी हो जाती है । तब शान्ति के समय वह सोचता है कि यदि विनयशीलता, नम्रता, शालीनता, अपनाई गई होती तो सम्मान भी अधिक मिलता और वह चिरस्थायी भी रहता । जिस प्रकार लूट-पाट मे उड़ाई हुई वस्तु को छिपाकर उपयोग करना पड़ता है, सबके सामने उपयोग करने से बात खुल जाने और पकड़े जाने का भय रहता है । इसी प्रकार प्रशंसा के लिए लालायित व्यक्ति द्वारा रचे गए षड्यन्त्र कुचक्र हाथों-हाथ प्रकट होते जाते हैं और जो भी वस्तुस्थिति समझ पाते हैं, उन सभी के मन में उनके प्रति तिरस्कार के भाव बढ़ते जाते हैं ।

शास्त्रकारो ने वित्तेषणा, लोकेषणा, पुत्रेषणा को त्रिविध अनैतिक आवेश कहा है । वे ज्वर पीड़ित की तरह आवेश-उन्माद उत्पन्न करते हैं । इन व्याधियों से ग्रसित व्यक्ति अपने चिन्तन, चरित्र व्यवहार और क्रिया-कलाप को सज्जनोचित नहीं कर पाता फलतः न उसे सन्तोष मिलता है और न अभीष्ट उपलब्धियाँ, सहकार प्राप्त करने का श्रेय सौभाग्य ही । वह अनेक गुने घाटे में जरूर रहता है । चिन्तन को कुचक्र रचकर दूषित करता है । मिथ्याचार की विडम्बना रचकर चरित्र बिगाड़ता है और उल्लू सीधा करने की फिराक में रहकर व्यवहार को भी भोंड़ा बना लेता है ।

तीसरी ऐषणा है—पुत्रेषणा जिसे लोकाचार की भाषा में कामान्धता या परिवार के प्रति कर्तव्य की सीमा में रहकर उन्हीं के लिए विलास वैभव जुटाते रहने और मरते-खपते रहने की लालसा भी कह सकते हैं । समय और सामर्थ्य हर मनुष्य के पास सीमित है । यदि कोई परिवार में अत्यधिक लिप्त हो जाता है उन्ही के लिए अपनी सारी कमाई लगाता है, समय को इसी मे खपाता है, चिन्तन पर वह थोड़े लोग ही छाए रहते हैं तो समझना चाहिए कि जीवन का महत्त्वपूर्ण अंश इसी जजाल मे नियोजित हो गया । औचित्य की सीमा में रहकर कर्तव्य पालन मात्र से भी काम नहीं चलता । ऐसी दशा में आत्मोत्कर्ष और लोक-मंगल के लिए जिन उत्तरदायित्वो को हाथ मे लेना चाहिए था, उस संदर्भ मे कुछ बन ही नहीं पड़ता । सादा जीवन, उच्च विचार का परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है । उच्च विचारों को हृदयंगम और कार्यान्वित कर सकना मात्र उन्हीं के लिए सम्भव है जो अपने निजी जीवन में सादगी का, सन्तोष का, सद्भावना का समुचित समावेश कर पाते हैं । जिनके लिए अपने ऊपर इतना नियन्त्रण करना कठिन है, जो लिप्सा, तृष्णा, वासना, अहंता के उद्धत प्रदर्शन में, अनावश्यक प्रयास में ही

अपने को खपा देते हैं वे पीछे उसका दुःखद परिणाम सहते हैं ।

तृप्ति, तुष्टि और शान्ति को जीवन की तीन बड़ी उपलब्धियाँ माना गया है । तृप्ति लिप्सा में होती है । लिप्सा का तात्पर्य है शरीर की आवश्यकताएँ; इन्द्रियजन्य वासनाएँ । उनका समाधान औसत नागरिक के स्तर पर अपना काम चलाने वाले विवेक को अपनाने से होता है अन्यथा चटोरेपन के कुचक्र में पड़कर लोभ और मोह की रटन्त हर घड़ी लगी रहती है । भले ही उन भोगों का दूरदर्शितापूर्ण उपयोग कर सकने की क्षमता अपने में नहीं ही हो ।

तुष्टि सीमित परिवार को सद्गुणी, शिष्ट एवं सुसंस्कारी बनाने में होती है । इसके लिए सर्वप्रथम अपने आप को अनुकरणीय उदाहरण बनाना पड़ता है । मर्यादाओं से बाहर का पक्षपात करने, अनावश्यक लाड़ दिखाने, उत्तराधिकार में विपुल सम्पत्ति छोड़कर मरने की आकांक्षा अतृप्ति उत्पन्न करती है । इसलिए विश्व परिवार का दृष्टिकोण विकसित करते हुए समूचे समाज को कुटुम्ब मानकर चलना चाहिए । जो छोटा सा अपना परिवार है उसके प्रत्येक सदस्य को स्वावलम्बी, सुसंस्कारी भर बनाने की बात सोचनी चाहिए । जिनसे इतना बन पड़ता है उन्हें तृप्ति की प्रसन्नता भी अनुभव होती है ।

शान्ति उन्हें मिलती है, जिन्हें बड़प्पन बटोरने, सस्ती वाहवाही कमाने, बड़े पद पर आसीन होने या लोगों की आँखों में चकाचौंध उत्पन्न करके अपनी विशिष्टता की छाप छोड़ने की अभिलाषा शान्त हो जाती है । नम्रता, विनयशीलता, सज्जनता का स्वभाव बना लेने से ही शान्ति का आभास होता है । अपने दृष्टिकोण, स्वभाव और दैनन्दिन कार्य-क्रमों को उच्चस्तरीय बना लेने पर कोई भी व्यक्ति प्रचुर परिमाण में तृप्ति, तुष्टि और शान्ति का अजस्र आनन्द लाभ करता रह सकता है । यही वह सिद्धियाँ हैं जिसके लिए दीर्घकालिक साधनाओं का आश्रय लिया जाता है ।

## जीवन साधना की सिद्धि के रहस्य

प्रकृति ने शरीर की संरचना इस प्रकार की है कि यदि उसे आहार-विहार के प्रकृति प्रदत्त निर्देशों पर चलने दिया जाय और असंयम अव्यवस्था में न उलझा जाय तो आजीवन स्वस्थ बना रहा जा सकता है और रुग्णता एवं दुर्बलता का कष्ट न सहना पड़ेगा । इसी प्रकार मन यदि उच्छृंखल तृष्णा के लिए उद्विग्न न रहा हो और परिस्थितियों से निपटने की रीति-नीति समझता हो तो उस बुद्धिमत्ता, विवेकशीलता एवं दूरदर्शिता के आधार पर सन्तोष तथा सन्तुलन बनाये रहा जा सकता है । उद्विग्न तो प्रायः वही लोग रहते हैं, जिन्हें सोचना नहीं आता ।

सारणीय है कि सब कुछ हमारी इच्छा के अनुकूल ही होता रहे, जो चाहते हैं वही मिलता रहे; यह कदापि सम्भव नहीं है । प्रतिकूलताएँ बनी ही रहेंगी । आवश्यकता इस बात की है कि उनसे किस प्रकार निपटा जाय इसकी कला सीखी जाय । जिसे यह कला आती है, जो परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने की कला जानता है वह खीझता-झल्लाता नहीं वरन् उनका कोई हल निकाल लेता है । ऐसे मनुष्य ही मानसिक दृष्टि से सन्तुलित और प्रसन्न चित्त रहते देखे जा सकते हैं । साधनों का बाहुल्य रहने से सुखी रहने की बात आमतौर से सोची जाती है किन्तु वस्तु स्थिति इससे भिन्न है, जो उपलब्ध है उसका श्रेष्ठतम सदुपयोग कैसे हो सकता है, इस तथ्य को यदि कोई ठीक तरह से जानता हो तो स्वल्प साधनों में भी हँसी-खुशी की जिन्दगी जीयी जा सकती है । साधन, सामग्री प्रचुर मात्रा में प्राप्त हो किन्तु उसका सही उपयोग न आता हो तो उनसे लाभ मिलना तो दूर उल्टे समस्याएँ उत्पन्न होंगी । कितने ही धनाढ्य लोग; संग्रहीत सम्पदा का उपयोग नहीं जानते । फलतः उससे विग्रह और अनाचार अन्य संकटों की घटाएँ ही घुमड़ती रहती हैं । उन्हें सम्पन्नता, निर्धनता से भी महँगी पड़ती है उच्छृंखल अपव्यय अथवा कृपण संग्रह तरह-तरह के विक्षोभ उत्पन्न करता है और उस व्यक्ति की स्वाभाविक शान्ति का अपहरण कर लेता है ।

जीवन जीना वस्तुतः एक कला है और यह कला मनुष्य जीवन धारणा करने वालों की सर्वोपरि, सर्वप्रधान तथा महानतम आवश्यकता है, उसे समझा और सीखा जाना चाहिए । यहाँ इस असमंजस में पड़ने की आवश्यकता नहीं है कि जीवन जैसी जटिल संरचना वाले सरंजाम के कलपुर्जों को समझना और उनके बनाव-बिगाड़ को सुधारने-सम्हालने के लिए बहुत लम्बा-चौड़ा अध्ययन करना पड़ेगा । ऐसा है नहीं । वस्तुतः

हाथ में है । आत्म-चिन्तन, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण और आत्म-विकास को अपनी नीति-निष्ठा में परिणित कर लिया जाय तो हमारा जीवन-प्रवाह उस दिशा में सहज ही बह निकलेगा जिसमें अक्षय सुख-शान्ति के आनन्द उल्लास के अनुदान पग-पग पर भरे पड़े हैं । यदि कोई उनसे वंचित है तो उसका कारण यह नहीं है कि इनमें कोई अवरोध नहीं है । अवरोध है तो अपनी ही ओर से दृष्टिकोण परिष्कार की आवश्यकता को समझा और पूरा किया जाय तो निश्चित मानना चाहिए कि जीवन साधना में सफलता और सिद्धि प्राप्त कर ली गई है । वस्तुतः मानवी व्यक्तित्व किस प्रकार का उद्यान है । उसके साथ अनेकों आत्मिक और भौतिक विशेषताएँ जुड़ी हुई हैं । उनमें से यदि कुछ को क्रमबद्ध, व्यवस्थित और विकसित बनाया जा सके तो उनके स्वादिष्ट फल खाते-खाते गहरी तृप्ति का आनन्द मिलता है पर यदि चित्तगत वृत्तियों और शरीरगत प्रवृत्तियों को ऐसे ही अनियन्त्रित छोड़ दिया जाय तो वे भोड़ें, गँवारू एवं उद्धत स्तर पर बढ़ती है और दिशा विहीन उच्छृंखलता के कारण जंगली झाड़ियों की तरह उस समूचे क्षेत्र को अगम्य एवं कंटकाकीर्ण बना देती हैं ।

जीवन कल्पवृक्ष की तरह असंख्य सत्परिणामों से भरा-पूरा है, पर उसका लाभ मिलता तभी है, जब उसे ठीक तरह साधा, सँभाला जाय । इस क्षेत्र की सुव्यवस्था के लिए की गई चेष्टा को साधना कहते है । कितने ही देवी-देवताओं की साधना की जाती है और उससे कतिपय वरदान पाने की बात पर विश्वास किया जाता है । इस मान्यता के पीछे सत्य और तथ्य इतना ही है कि इस मार्ग पर चलते हुए अन्तःक्षेत्र की श्रद्धा को विकसित किया जाता है । आदतों को नियन्त्रित किया जाता है । चिन्तन प्रवाह को दिशा विशेष में नियोजित रखा जाता है और सात्विक जीवन के नियमोपनियमों का तत्परतापूर्वक पालन किया जाता है । इन सबका मिला-जुला परिणाम व्यक्तित्व पर चढ़ी हुई दुष्प्रवृत्तियों का निराकरण करने तथा सत्प्रवृत्तियो को स्वभाव का अंग बनाने में सहायक सिद्ध होता है । सुसंस्कारों का अभिवर्धन प्रत्यक्षतः दैवी वरदान है । उसके मूल्य पर हर व्यक्ति अभीष्ट प्रयोजन की दिशा में अग्रसर हो सकता है और उत्साहवर्धक सत्परिणाम प्राप्त कर सकता है ।

साधना आत्मिक क्षेत्र में भी होती है और भौतिक क्षेत्र में भी । कदम जिस भी दिशा में बढ़ते हैं, प्रगति उसी ओर होती है । अपनी सतर्कता पूर्ण सुव्यवस्था जिस भी मार्ग पर गतिशील कर दी जायेगी उसी में एक के बाद एक सफलता के मील-पत्थर मिलते चले जायेंगे ।

साधना का महत्त्व किसान जानता है । पूरे वर्ष अपने खेत की मिट्टी के साथ अनवरत गति से लिपटा रहता है और फसल को स्वेद कणों से नित्य ही सींचता रहता है । सर्दी-गर्मी की परवा नहीं, जुकाम-खाँसी की चिन्ता नहीं । शरीर की तरह ही खेत उसका कर्म क्षेत्र होता है । एक-एक पौधे पर नजर रहती है । खाद, पानी, निराई, गुड़ाई से लेकर रखवाली तक के अनेकों कार्य करने से पूर्व वह उनकी आवश्यकता समझता है और किसी के निर्देश से नहीं अपनी गति से ही निर्णय करता है कि कब, क्या और कैसे किया जाना चाहिए । किसी के दबाव से नहीं, अपनी इच्छा और प्रेरणा से ही उसे खेत की, उसे सँभालने वाले बैलों की, हल, कुदाल आदि सम्बद्ध उपकरणों की व्यवस्था जुटाये रहने की सूझ-बूझ सहज ही उठती और स्वसंचालित रूप से गतिशील होती रहती है । यह सब होता है बिना थके, बिना ऊबे, बिना अधीर हुए । आज का श्रम कल ही फलप्रद होना चाहिए, इसका आग्रह उसे तनिक भी नही होता । फसल अपने समय पर पकेगी, तब तक उसे धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा ही करनी होगी यह जानने के कारण अनाज की ढेरी कोठे में भरने की आतुरता भी उसे नहीं होती । इतने मन अनाज निश्चित रूप से होना ही चाहिए, इसके लम्बे चौड़े मनसूबे बाँधना भी उसे अनावश्यक प्रतीत होता है । मनोयोगपूर्वक सतत श्रम की साधना चलती ही रहती है, विघ्न अवरोध न आते हों सो बात भी नहीं, उनसे भी जैसे बनता है, निपटता रहता है, पर उपेक्षा कभी भी खेत की नहीं होती उसकी आवश्यकता पूरी किए बिना चैन ही नहीं पड़ता । समयानुसार फसल पकती भी है । अनाज भी पैदा होता है । उसे ईश्वर को धन्यवाद देता हुआ घर ले जाता है कितने मन अनाज पैदा होना है यह कभी सोचा ही नहीं तो फिर

असंतोष का कोई भी कारण नहीं । जो मिला उसे ईश्वरीय उपहार समझा गया । यही किसान की साधना जिसे वह होश सँभालने के दिन से लेकर मरणपर्यन्त सतत निष्ठा के साथ चलाता ही रहता है । न विश्राम, न थकान, न ऊब न अन्यमनस्कता । साधना कैसे की जाती है और साधक को होना कैसा चाहिए यह किसान से सीखा जा सकता है ।

साधना का क्षेत्र अन्तःजगत है । अपने ही भीतर इतने खजाने दबे पड़े हैं कि उन्हें उखाड़ लेने पर ही कुबेर जितना सुसम्पन्न बना जा सकता है फिर किसी बाहर वाले से माँगने, जाँचने की दीनता दिखाकर आत्म-सम्मान क्यों गँवाया जाय ? भीतरी विशिष्ठ क्षमताओं को ही तत्वदर्शियों ने देवी-देवता माना है और बाह्योपचारों के माध्यम से अन्तः संस्थान के भण्डारागार को करतलगत करने का विधि-विधान बताया है । शारीरिक बल वृद्धि के लिए डम्बल, मुद्गर उठाने, घुमाने जैसे कर्मकाण्ड करने पड़ते हैं । बल इन उपकरणों में कहाँ होता है ? वह तो शरीर की माँसपेशियों से ही उभरता है । उस उभार में व्यायामशाला के साधन-प्रसाधन सहायता भर करते हैं । उनसे मिलना कुछ नहीं । जो मिलना है वह भीतर से ही मिलना है । ठीक यही बात आत्म-साधना के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है । इस सन्दर्भ में प्रयुक्त होने वाले देवी-देवता एवं विधि-विधान अपनी जेब से कुछ नही देते । साधक की निष्ठा भर पकाते हैं उसे कार्य-पद्धति भर सिखाते हैं । इतने का अभ्यस्त बनना ही साधनात्मक कर्मकाण्डों का प्रयोजन है । इतने भर से बात बन जाती है और राह मिल जाती है । साधक अपनी मूर्छना जगाकर उज्ज्वल भविष्य की असीम सम्भावनाएँ स्वयं जगा लेता है ।

आत्म-चेतना की जागृति ही साधना विज्ञान का लक्ष्य है । इसके लिए अपने चिन्तन एवं कर्तृत्व का बिखराव रोककर अभीष्ट प्रयोजन के केन्द्र बिन्दु पर केन्द्रीभूत करना पड़ता है । इसके लिए अपनी गतिविधियाँ लगभग उसी स्तर की रखनी पड़ती हैं जैसी कि भौतिक क्षेत्र मे सफलताएँ पाने वाले लोगों को अपनानी होती हैं ।

सधाने से सामान्य स्तर के प्राणी आश्चर्यजनक कार्य करके दिखाते हैं । वन गायें मनुष्य को पास भी नहीं आने देती और खेतों को उजाड़ कर रख जाती हैं, पर जब वे पालतू हो जाती हैं तो दूध, बछड़े, गोबर आदि बहुत कुछ देती हैं, स्वयं सुखी रहती हैं और उसके पालने वाले भी लाभान्वित होते हैं । यही बात अन्य वन्य पशुओं के बारे में लागू होती है । जंगली घोड़े, कुत्ते, सुअर, हाथी आदि स्वयं भूखे मरते, कष्ट उठाते और अनिश्चित जीवन जीते हैं । पालतू बन जाने पर वे स्वयं निश्चिन्तता पूर्वक रहते हैं और अपने पालने वालों को लाभ पहुँचाते हैं । अपने भीतर शरीर तथा मनःक्षेत्र में एक से एक बढ़कर शक्तिशाली धाराएँ प्रवाहित होती हैं । वे निरुद्देश्य और अनियन्त्रित स्थिति में रहकर वन्य पशुओ जैसी असंगत बनी रहती हैं । फलतः विकृत होकर वे सड़ी दुर्गन्ध की तरह अपने समूचे प्रभाव क्षेत्र को विषैला बना देती हैं । आग जहाँ भी रहती है वहीं जलाती है, तेजाब की बोतल जहाँ भी फैलती है वहीं गलाती है । विकृत प्रवृत्तियाँ छितराई हुई आग और फूटी तेजाब की बोतल की तरह हैं, उनसे केवल विनाश ही सम्भव होता है । ये दोनों ही वस्तुएँ यदि सुनियोजित रखी जा सकें तो उन से उपयोगी लाभ मिलते है और वे इतने बढ़े-चढ़े होते हैं कि सामान्य दीखने वाला मनुष्य पग-पग पर अपनी असामान्य स्थिति का परिचय देता है । साधना जीवन के बहिरंग और अन्तरंग क्षेत्रों में सुसंस्कारित सुव्यवस्था उत्पन्न करने का नाम है । इसे समझ पाने और कर पाने का प्रतिफल, जंगली जानवरों को पकड़ कर पालतू बनाने की कला मे प्रवीण व्यवसाइयों जैसा ही प्राप्त होता है ।

सर्कस के जानवर कितने आश्चर्यजनक करतब दिखाते हैं । देखने वाले बाग-बाग हो उठते हैं । इन सधे जानवरों को प्रशंसा मिलती है, प्रतिष्ठा होती है और अच्छी खुराक मिलती है । सधाने वाले और सिखाने वालों को अच्छा वेतन मिलता है और सर्कस के मालिकों को उन्ही जानवरों के सहारे धनवान बनने का अवसर मिलता है जो उच्छृंखल होने की स्थिति में स्वयं असन्तुष्ट रहते और दूसरों को रुष्ट करते थे ।

घरेलू उपयोग में आने वाले जानवर भी बिना सिखाये, सधाये अपना काम ठीक तरह कहाँ पर पाते हैं । बछड़ा युवा हो जाने पर भी अपनी मर्जी से हल, गाड़ी आदि में चल नहीं पाता । घोड़े की पीठ पर सवारी करना, उसे दुलकी चाल चलाना सहज ही

सम्भव नहीं होता। ऊँटगाड़ी, ताँगा, बैलगाड़ी में जुतने वाले पशु अपने आप चलने नहीं लग जाते उन्हें कठिनाई से प्यार, फटकार के सहारे, धीरे-धीरे बहुत दिन में इस योग्य बनाया जाता है कि अपना काम ठीक तरह अन्जाम देने लगें। साधना इसी का नाम है। इन्द्रियों के समूह को, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के अन्तःकरण चतुष्टय को वन्य पशुओं के समकक्ष गिना जा सकता है। अपने स्वाभाविक रूप में यह सारा ही चेतना परिवार उच्छृंखल होता है। जन्म-जन्मान्तरों के पाशविक कुसंस्कारों की मोटी परत उस पर जमा होती है। उसे उतारने के लिए जिस खराद का उपयोग किया जाता है उसे साधना कह सकते हैं। पशुता को परिष्कृत करके उसे मनुष्यता के, देवत्व के रूप मे विकसित करना, अनगढ़ पत्थर को कलात्मक प्रतिमा के रूप में गढ़ देने के सदृश एक विशिष्ट कौशल है। इस प्रवीणता में पारंगत होने का नाम ही आत्म-साधना है। पशुओं को प्रशिक्षित करने और पत्थर से मूर्तियाँ बनाने की तरह कार्य कुछ कठिन तो है, पर है ऐसा जिसमें लाभ ही लाभ भरा पड़ा है।

कठपुतली नचाने वाले, हाथ की सफाई से बाजीगरी के कौतुक दिखाने वाले, बन्दर और रीछ का तमाशा करने वाले, जादूगर जैसे लगते हैं और उन्हें चमत्कारी समझा जाता है। यह चमत्कार और कुछ नहीं किसी विशेष दिशा में तन्मयतापूर्वक धैर्य और उत्साह के साथ लगे रहने का प्रतिफल मात्र है। ऐसा चमत्कार कौतूहल प्रदर्शन से लेकर किसी भी साधारण-असाधारण कार्य में आशाजनक सफलता प्राप्त करने के रूप में कभी भी, कहीं भी, देखा जा सकता है। अपनी ईश्वर प्रदत्त विशेषताओं को उभारने और महत्त्वपूर्ण प्रयोजन मे नियुक्त करने का काम साधना है। साधना का परिणाम सिद्धि के रूप में सामने आता है यह नितान्त स्वाभाविक और सुनिश्चित है। यदि अपने आपे को साधा जाय, व्यक्तित्व को खरादा जाय तो वह सब कुछ प्रचुर परिमाण में अपने ही घर पाया जा सकता है, जिसकी तलाश में जहाँ-तहाँ मारे-मारे फिरना और मृग-तृष्णा की तरह निराश भटकना पड़ता है।

जीवन साधना का मूल प्रयोजन है सुसंस्कारों का अभिवर्धन। व्यक्तित्व के साथ संस्कार ही अविच्छिन्न रूप से जुड़े होते हैं। लाखों योनियों में भ्रमण करते समय जो चिन्तन और कर्म अभ्यास में आता रहा है वही हमारी आज की मनःस्थिति पर छाया हुआ है। हटाने के सामान्य प्रयत्न उन्हें निरस्त करने में सफल नहीं हो पाते, निकृष्ट योनियों में मात्र पेट और प्रजनन यही दो लक्ष्य रहते है इसी की पूर्ति में निम्न स्तरीय प्राणियों की जीवन सम्पदा निमग्न रहती है। वे अपने को शरीर ही मानते हैं उसी की परिधि में सोचते और उसी की सुविधा को लिए विभिन्न कर्म करते हैं। यह प्रक्रिया प्राणी के स्वभाव का अंग बन जाती है और मनुष्य जन्म पाने पर भी उसी अभ्यस्त ढर्रे में घूमने लगती है।

मनुष्य को विकसित स्थिति मिली है। उसका उपयोग उच्चस्तरीय उद्देश्यों में ही होना चाहिए किन्तु चेतना पर जमे हुए कुसंस्कार वैसा करने नहीं देते और घूम फिर कर ढर्रा उसी पशु प्रवृत्ति की पुरानी परिधि में चक्रवत घूमने लगता है। स्वल्पबुद्धि प्राणी पेट भरने के लिए खाद्य पदार्थ भर तलाश करता है। मनुष्य बुद्धिमान होने के कारण शरीर की आवश्यकताएँ जुटाने के लिए ही कमाता और उसे बढ़ाता है। कामेच्छा प्राणियों को भी होती है और वे जोड़े मिलाने, बच्चे पैदा करने और उस तैयारी में नर-मादा किसी कदर घोसला बनाने, अण्डा सेने आदि में सहयोगी बनते हैं। मनुष्य जीवन में भी यही चलता है। क्षुधा की आवश्यकता का बढ़ा-चढ़ा रूप लोभ है और प्रजनन का विकसित स्वरूप मोह है। देखा जाता है कि मनुष्यों में भी यही दो प्रवृत्तियाँ प्रेरणा केन्द्र बनकर रहती है और इन्हीं के लिए उनका सारा चिन्तन एवं क्रिया-कलाप संलग्न रहता है।

विकसित मनुष्य की प्रगतिशील स्थिति के अनुरूप वही पशु प्रवृत्तियाँ वासना एवं तृष्णा बन जाती हैं। शरीर की इन्द्रियाँ अपने भोग माँगती है उनकी बढ़ी-चढ़ी स्थिति वासना कहलाती है। मन, अहंकार की तृप्ति के लिए स्वामित्व की परिधि बढ़ाना चाहता है व्यक्तियों पर शासन और वस्तुओ पर आधिपत्य करने की ललक तृष्णा कहलाती है। लोभ और मोह के, वासना और तृष्णा के अतिरिक्त और कोई लक्ष्य सामान्य मनुष्यों का रहता नहीं। कठिनाई एक और भी है कि वे माँगें क्रमशः अति की सीमा तक जा पहुँचती हैं और नीति-धर्म की मर्यादाओं का उल्लंघन करके अपराधी

स्थिति तक अपना ली जाती है और उचित अनुचित का भेद किए बिना किसी भी प्रकार इन लिप्साओं की पूर्ति में जुट पड़ने के लिए कदम उठते चले जाते हैं। उपलब्ध चतुरता के सहारे वे अनर्थ मूलक अवांछनीय गतिविधियाँ गुप्त एवं प्रकट रूप में चलती रहती हैं और बहुमूल्य जीवन सम्पदा उसी कुचक्र में नष्ट हो जाती हैं। जबकि इस अलभ्य अवसर का उपयोग उस प्रयोजन में होना चाहिए था जो मनुष्य जीवन के वरदान का सार्थक सदुपयोग कर सके।

पशु प्रवृत्तियों के सघन कुसंस्कारों से चेतना को मुक्ति दिलाना, 'कुत्साओं और कुण्ठाओं के नरक से निकल कर स्वर्गीय दृष्टिकोण अपनाना और उस दिव्य मनःस्थिति के आधार पर स्वर्गीय परिस्थितियों का आनन्द लेना। यही है सार्थक मानव जीवन का स्वरूप। इस स्थिति को अति सरलतापूर्वक प्राप्त करने की स्थिति मनुष्य जीवन में है किन्तु सबसे बड़ी बाधा जन्म जन्मान्तरों से संग्रहीत उन कुसंस्कारों की है जो क्षुद्र प्राणियों की स्थिति मे भले ही उपयोगी रहे हों विकसित मनुष्य जीवन की दृष्टि से नितान्त पिछड़ेपन के चिन्ह ही माने जा सकते हैं। इन्हें निरस्त करना और मानवोचित चिन्तन एवं कर्तृत्व विकसित करके देव संस्कारों की स्थापना करना यही है, परम पुरुषार्थ। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो प्रयास किए जाते हैं उन्हे जीवन साधना कहते हैं।'

संस्कार, चेतना पर जमी हुई उस पर्त का नाम है जो विचार और कार्यों के समन्वय में धीरे-धीरे जमती है किन्तु पीछे वह स्वभाव का अंग बन कर अन्तःचेतना में अपनी जड़ें बहुत गहराई तक जमा लेती है। इन्हें उखाड़ कर नई पौध लगानी हो तो उसके लिए मरुस्थल को सुरम्य उद्यान बनाने वाले कुशल कृषक एवं माली जैसी पूरी तत्परता और कुशलता का परिचय देना पड़ता है। व्यक्तित्व के स्तर में ऐसे ही प्रयासों को जीवन साधना की संज्ञा दी जा सकती है। इसके लिए विचारों का और कार्यों का स्तर ऊँचा उठाने के लिए अनवरत प्रयत्न दीर्घ काल तक जारी रखना पड़ता है ताकि सद्भावनाएँ और सत्प्रवृत्तियाँ स्वभाव का उसी प्रकार अंग बन जायें जिस प्रकार अविकसित जीवन मे पशु प्रवृत्तियाँ पूरी गहराई तक जमी होती है और अपनी प्रेरणाओं से फिनर पेण्डुलम की तरह सारी मशीन को बलपूर्वक घुमाती रहती हैं।

साधकों को यह समझ लेना चाहिए कि उन्हें मानवी स्तर का दिव्य जीवन जीने के लिए क्या करना होगा। साधारणतया इसके लिए दो कदम उठाते हुए आगे बढ़ते चलना होता है। एक को उपासना कहते हैं दूसरे को साधना। उपासना में ईश्वर स्मरण, पूजा-पाठ, जप, ध्यान, स्वाध्याय, सत्संग, तीर्थ, दर्शन आदि मुख्य हैं। इनका आधार अपने उद्‌गम केन्द्र एवं अन्तिम लक्ष्य ईश्वर के सम्बन्ध में छाई रहने वाली उपेक्षा वृत्ति को दूर करना है।' जीवन का उद्देश्य-लक्ष्य प्रायः विस्मृति के गर्त में पड़ा रहता है। मस्तिष्कीय जानकारी और तोता रटन्त की दृष्टि से तो कई व्यक्ति आध्यात्म विषयों के विवेचनकर्त्ता और प्रवक्ता होते हैं पर उनकी निजी आस्थाएँ गई गुजरी ही देखी जाती हैं। ऐसी स्थिति मे वे विकसित व्यक्तित्व का लाभ नहीं उठा पाते और गधे की पीठ पर सोना लदा रहने पर भी उसकी गरीबी दूर न होने का उदाहरण बनते रहते हैं। उपासना एक आत्मिक व्यायाम है जिसके सहारे अन्तःचेतना का गहराई तक प्रशिक्षण करना और आध्यात्म तत्वों को हृदयंगम करना होता है।

आत्मोत्कर्ष का दूसरा चरण है साधना। इसमें अपने चिन्तन को उत्कृष्ट और कर्तृत्व को आदर्श बनाने के लिए हर घड़ी प्रयत्नशील रहने की सुनिश्चित योजना बनाकर चलना पड़ता है। उपासना कुछ मिनट या कुछ घण्टे की होने से काम चल सकता है, किन्तु साधना तो अनवरत चलनी चाहिए। उसमें ढील या छूट की तनिक भी गुंजाइश नहीं है।

उपासना के लिए अमुक विधि विधान निश्चित है पर साधना में तो जो भी कार्य परिस्थितिवश करने पड़ें उन्हीं को सुसंस्कृत बनाने के लिए परिष्कृत दृष्टिकोण एवं विवेक सम्मत कार्य-पद्धति का निर्धारण करना होता है। इसके लिए उपासना जैसी अमुक स्तर की, अमुक विधि विधान की क्रिया-प्रक्रिया निर्धारित नहीं की जा सकती। शरीर निर्वाह, परिवार पोषण एवं सामाजिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति के लिए अर्थ उपार्जन, व्यवस्था, योजना तथा अन्य कई प्रकार के काम हर व्यक्ति को अनिवार्यतः करने पड़ते हैं। उनसे छुटकारा नहीं मिल सकता। छोड़ देने पर तो शरीर यात्रा न चल सकेगी

फिर अन्य अनिवार्य उत्तरदायित्वों का निर्वाह तो हो ही कैसे सकेगा । अस्तु जीवन-यापन के विभिन्न पक्ष पूरे करने के लिए किए जाने वाले कार्यों को ही सुसन्तुलित बनाना पड़ता है । अव्यवस्था तो अतिवाद से फैलती है । सन्तुलन को ही कर्म-कौशल अथवा योग कहा गया है । जीवन साधना को भौतिक और आत्मिक उभय पक्षीय सुव्यवस्था की सन्तुलित नीति भी कहा जा सकता है ।

इसके लिए आवश्यक है कि अपने समय, श्रम, मनोयोग, प्रभाव, साधना, सम्पदा जैसी ईश्वर प्रदत्त विभूतियों का सदुपयोग करने की व्यवस्था बनाई जाय और उन्हें किस कार्य में, कितनी मात्रा में, किस प्रकार नियोजित किया जाता है इसकी दूरदर्शिता पूर्ण क्रम व्यवस्था बनाई जाय । यह ठीक तरह बन पड़े तो समझना चाहिए कि जीवन साधना का वह मार्ग मिल गया जिस पर चलते हुए सुनिश्चित रूप से लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है ।

जीवन साधना के साधक को अपना जीवन एकांकी नहीं बनने देना चाहिए । शरीर और उसके साथ जुड़े हुए पारिवारिक, सामाजिक उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए धन उपार्जन आवश्यक है, पर वह सन्तुलित सीमा में होना चाहिए । इसी प्रकार परिवार के लोगो को सुविकसित बनाने का कर्तव्य पूरा करना चाहिए पर यह सब सन्तुलित मात्रा में होना चाहिए ताकि लोभ और मोह की अति अपने ऊपर उन्माद की तरह सवार न हो जाय । इसी उन्माद को माया कहते हैं । इसी स्थिति में पड़े हुए जीव के लिए आदर्शवादी चिन्तन सम्भव नहीं रहता वे आत्म समीक्षा भी नही कर पाते और आत्मोत्कर्ष के लिए जिस चरित्र निष्ठा और परमार्थ परायणता की आवश्यकता होती है उसके लिए भी कुछ सोच या कर नहीं पाते । जीवन ऐसी ही उथली बाल क्रीड़ाओं में उलझते-उलझाते समाप्त हो जाता है । जब चिन्तन और कर्म की समस्त धाराएँ लिप्साओं की पूर्ति में ही जुट पड़ी तो उच्च उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कुछ बच ही न पड़ेगा और फिर उस क्षेत्र की उपलब्धियों की सम्भावना ही कहाँ रहेगी ?

जीवन साधना में सन्तुलित नीति निर्धारण और श्रम विभाजन यही दो पक्ष मुख्य हैं । चिन्तन को नीति प्रभावित करती है और कर्म का सीधा सम्बन्ध श्रम से ही है । अस्तु इन्हीं दो को प्रधान इकाई मानने और उन्हें सुनियोजित करने से आत्मोत्कर्ष का प्रयोजन पूरा होता है ।

किन कार्यों के सम्बन्ध में कितनी मात्रा में किस प्रकार सोचा और किया जाय यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य है । इसमें भौतिक आकांक्षाओं को सीमित करना पड़ता है ताकि बची हुई शक्तियों को उच्च उद्देश्यों के लिए लगाया जा सके । उच्च उद्देश्यों के लिए किए जाने वाले सामान्य से क्रिया-कलाप, कर्मकाण्ड भी साधना की परिभाषा में आ जाते हैं । जीवन की गतिविधियों में तो उनकी अपेक्षा कई गुना अधिक समय, श्रम और मनोयोग लगता है । यदि उन्हें उच्च उद्देश्यों को लक्ष्य करके किया जा सके तो सारा जीवन ही साधना मय हो सकता है । वस्तुतः जीवन के हर क्रिया-कलाप के साथ साधनात्मक उद्देश्य और तत्परता जोड़कर ही जीवन साधना का लाभ सही अर्थों में पाया जा सकता है ।

जीवन साधना के साधक को कोई भिन्न प्रकार के क्रिया-कलाप नहीं करने पड़ते किन्तु बाहर से वे सब सामान्य लोगों जैसे दीखते हैं, किन्तु उनके कार्य किस आधार भूमि पर खड़े होते हैं तथा उनका लक्ष्य जो उपलब्धियाँ होती हैं उनमें सामान्य जीवन जीने वालो की अपेक्षा जमीन आसमान जैसा अन्तर होता है । जीवन साधना के मर्म को स्पष्ट करने के लिए कुछ सूत्र इस प्रकार समझे जा सकते हैं ।

(१) शारीरिक—सामान्य मनुष्य शरीर को अपने मौज-मजे का साधन मानकर चलते हैं और इन्द्रिय सुखों के पीछे भटकते रहते हैं । साधक शरीर और उसकी क्षमताओं को ईश्वर की पवित्र अमानत मानते समय का एक-एक क्षण पसीने की एक-एक बूँद और जीवन शक्ति का एक-एक कण श्रेष्ठतम कार्यों के लिए लगाने की तत्परता बरतते हैं ।

साधक को भोगों के आकर्षण और इन्द्रियों के भोग डिगा नहीं सकते क्योंकि वह उन्हें प्रधान नहीं मानता, उनसे प्रेरित होकर वह कार्यों का निर्धारण करने का आदी नहीं होता । वह इन्द्रियों आदि को अपना अधीनस्थ कर्मचारी सहयोगी भर मानता है, इसलिए उनका उपयोग करते हुए भी उन्हें बहकने से रोकने में समर्थ होता है जो इन्द्रियाँ सामान्य व्यक्ति के लिए भयंकर समस्याएँ खड़ी करती रहती हैं उन्हें

साधक अपने संकल्प से वफादार, सहयोगी बनाकर जीवन का सच्चा आनन्द अर्जित करने में समर्थ होता है ।

(२) मानसिक—बीज रूप में मनुष्य की गतिविधियों की धुरी उसके चिन्तन पर आधारित रहती है । जीवन साधक की मस्तिष्क में केवल उपयोगी रचनात्मक एवं नैतिक सद्विचारो को स्थान देना होता हैं । हर विचार हर चिन्तन को मस्तिष्क में प्रवेश देने उसकी हलचल पैदा होने देने के पूर्व ही उसको औचित्य की कसौटी पर कस लेना आवश्यक होता है । अनैतिक कुविचारो और मनोविकारों को मस्तिष्क में प्रवेश नहीं दिया जाना चाहिए ।

यहाँ स्मरणीय यह है कि मस्तिष्क खाली नहीं रहता । यदि उसे सतत विधेयात्मक चिन्तन में प्रयास पूर्वक न लगाये रखा जाय तो वह शैतान की दुकान बनने लगता है । यदि बाह्य वातावरण के प्रभाव से अशुभ विचार मस्तिष्क में प्रवेश करें तो साधक सद्विचारों से उनकी काट करता है । प्रखर सद्विचारों की सेना साधक के मस्तिष्क में बराबर सतर्क रहनी चाहिए ।

(३) पारिवारिक—परिवार को लोग, मानो जजाल गिनते हैं । जब उसे अपनी अनियन्त्रित, अवांछनीय आकांक्षाओं की पूर्ति का, स्वार्थों की सिद्धि का साधन मानकर चला जाता है तब तो सचमुच परिवार माया बन्धन के ही रूप में विकसित होता जाता है किन्तु जीवन साधना का साधक उसे आत्मीयता विकास की सीढ़ी, आत्मिक क्षमताओं को पुष्ट बनाने की व्यायामशाला के रूप में मानकर चलता है । उस स्थिति में गृहस्थ तपोवन बन जाता है तथा उसमें रहने वाला व्यक्ति उसके माध्यम से उच्चस्तरीय साधना करता है ।

अपने शरीर की ही तरह परिवार के अन्य सदस्यों की आवश्यकताओं को अनुभव करना, आत्मीयता का क्षेत्र विकसित करना, सम्वेदना और सहानुभूति जैसे उच्चगुणो का विकास परिवार के सहारे ही जीवन साधना करने में समर्थ होता है ।

सन्तान के प्रति साधक का दृष्टिकोण साफ रहना चाहिए । समाज को योग्य नागरिक प्रदान करना ही उसका वास्तविक उद्देश्य है, साधक निरुद्देश्य सन्तोनोत्पादन के चक्कर में न पड़कर अपनी शक्ति और सामर्थ्य सीधे श्रेष्ठ व्यक्तित्वों के निर्माण मे लगा सकता है, स्नेह, वात्सल्य की अनुभूति अन्य बच्चों के माध्यम से ही की जा सकती है । व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर साधक सन्तानोत्पादन के भार से स्वयं को और समाज को मुक्त रखते हुए कहीं अधिक सार्थक जीवन जी सकता है तथा अधिक पुण्य का भागीदार हो सकता है ।

(४) आर्थिक—धन को माया भी कहते हैं और लक्ष्मी भी । जब सम्पति का उपयोग भोगों के लिए मनमाने ढंग से किया जाता है तो वह माया बन जाती है और जब उसे आदर्शों, ईश्वरीय कार्यों के लिए नियोजित किया जाता है तो वह लक्ष्मी रूप में सामने आती है । साधक धन-सम्पत्ति को उपयोगी और आवश्यक तो माने किन्तु उसकी सीमा और सार्थकता पर भी दृष्टि रखे । न उसकी उपेक्षा करके अव्यावहारिक बने और न उसी में डूबकर मूर्ख कहलायें ।

अर्थोपार्जन के लिए ८ घण्टे पर्याप्त समझे जायें । तत्परता और मनोयोग के साथ इतने समय में प्रचुर साधन सम्पत्ति अर्जित की जा सकती है । एक व्यक्ति ही उपार्जन करे अन्य खायें यह भी भूल है । परिवार के सदस्य अपने-अपने ढंग से आर्थिक सन्तुलन का प्रयास करें तो जीवन की जटिलता सरसता में बदलते देरी न लगे । उपार्जन और उसके अनुरूप सदुपयोग की सम्यक व्यवस्था इसी ढंग से बन सकती है ।

साधक स्तर का व्यक्ति सादगी का जीवन ही जीता है । अधिक उपार्जन के कारण अधिक-निरर्थक खर्चे करना विकृत दृष्टिकोण है । जहाँ सामान्य व्यक्ति अपव्यय की होड़ में बड़प्पन दिखाना चाहता है वहाँ साधक सन्तुलन में अपना गौरव मानता है और एक-एक पाई उपयोगी कार्यों में नियोजित करता है ।

(५) सामाजिक—सामान्य व्यक्ति के सामाजिक क्रिया-कलाप अपने स्वार्थों की धुरी पर घूमते है जबकि साधक उन्हें परमार्थ वृत्ति से करता है । समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादन और वितरण के लिए कृषि उद्योग और व्यापार, समाजतन्त्र एक विशाल यन्त्र के एक पुर्जे के रूप में नौकरी, रोग-पीड़ा से जन-समाज की मुक्ति के लिए चिकित्सा, न्यायिक अधिकारो की रक्षा के लिए वकालत तथा जीवन सार्थकता को दिशा देने के लिए पौरोहित्य आदि कार्य करते हुए हर व्यक्ति साधना परक जीवन जी सकता है ।

साधक स्तर के व्यक्तियों में से हर एक अपनी-अपनी स्थिति के अनुरूप लोक-मंगल के कार्य चुन सकता है और उन्हें जीवन में समुचित स्थान दे सकता है । ऐसी योजना बनाते समय समाज के भावनात्मक परिष्कार की बात को प्राथमिकता देना उचित है । युग निर्माण मिशन के अन्तर्गत घरेलू ज्ञान मन्दिर, झोला पुस्तकालय, ज्ञानघट, एक घण्टा नित्य समय दान आदि इन्हीं उच्च प्रयोजनों के लिए लगाने का आग्रह उसके दूरगामी महत्त्वपूर्ण परिणामों को लक्ष्य करके ही किया जाता है । इन्हें उच्चस्तरीय सेवा परमार्थ के रूप में स्वीकारा और अपनाया जा सकता है ।

भौतिक समृद्धि और आत्मिक परिष्कृति की तुलना की जाय तो उनके बीच हजारों गुना अन्तर पाया जायेगा । सम्पत्ति से सुविधा भर बढ़ती है पर संस्कारों की उत्कृष्टता तो मनुष्य को अपना और असंख्यों का उद्धार कर सकने वाले देवत्व का अनुदान ही सामने लाकर खड़ा कर देती है । अस्तु हमारी परमार्थ परायणता, लोक-मंगल की समाज-सेवा सुविधा का स्तर भौतिक सुविधाएँ बढ़ाने की अपेक्षा आत्मिक उत्कृष्टता बढ़ा सकने वाली योजनाओं में ही अधिक संलग्न रहना चाहिए । यों उपेक्षा तो भौतिक साधनों के सम्वर्धन की भी नहीं करनी है, अपने स्थान कर उपयोगिता तो उनकी भी है ।

उपरोक्त दस सिद्धान्तों को ध्यान में रख कर चला जाय तो ईश्वर प्रदत्त सम्पदा के समय, श्रम, मनोयोग, प्रभाव एवं साधनों का उपयोग उस प्रक्रिया में हो सकता है जिसमें जीवन साधना का प्रयोजन पूरा हो सके ।

मोटर ड्राइवर के सामने कई मीटर लगे होते हैं जिनके माध्यम से वह हर समय यह देखता रहता है कि गाड़ी की चाल कितनी है । तेल कितना है । बैटरी की स्थिति क्या है । गर्मी कितनी है । मीटर खराब हो जाने पर यह जानकारी न मिले तो ड्राइवर के लिए गाड़ी चलाना कठिन हो जायेगा । हमे गतिविधियो पर सूक्ष्म समीक्षा का मीटर बिठाना चाहिए और उसे निरन्तर चालू रहने देना चाहिए । देखना चाहिए कि निर्धारित दिनचर्या का अकारण उल्लंघन तो नहीं हो रहा है । आलस्य के कारण शारीरिक श्रम में मंद गति या अस्त-व्यस्तता तो उत्पन्न नही हो रही है । मन में प्रमाद तो नहीं घुस रहा है और अनुत्साह, उपेक्षा, अन्यमनस्कता, चंचलता की मानसिकता रुग्णता तो नहीं पनप रही है । जहाँ भी गड़बड़ी दिखाई पड़े, इन दोनों वाहनों को चाबुक मारकर तुरन्त सही करना चाहिए । शरीर और मन को जब प्रतीत हो जाता है कि संचालक की चेतना सतर्क है और हमारे अन्धेर पर हण्टर पड़ता है तो वे कुछ ही समय में सीधे हो जाते हैं और अनुशासित व्यवस्था के अनुरूप अपनी हरकतें स्वयं सुधार लेते हैं ।

एक मीटर अपनी गतिविधियों पर यह रखना चाहिए कि उसमें अनैतिकता के तत्व घुसपैठ तो नही कर रहे हैं । काम भले ही भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किए गए हों पर वे सभी नैतिक होने चाहिए । उनके पीछे निर्वाह, उत्पादन एवं सर्वोपयोगिता की दृष्टि रहनी चाहिए । ऐसा कुछ न किया जाय जिससे प्रत्यक्ष या परोक्ष में सामाजिक सुव्यवस्था पर आँच आती हो और लोगों को गलत मार्ग अपनाने का मार्ग एवं प्रोत्साहन मिलता हो ।

साधारण काम भी संकुचित स्वार्थपरता से ऊँचे उठकर समाज की आवश्यकताएँ पूरी करने और व्यक्तिगत कर्तव्य पालन की दृष्टि रखकर किए जायें तो वे चित्त में हल्कापन और सन्तोष बनाये रख सकने में समर्थ रहेंगे । उनमें अनैतिकता का समावेश न हो सकेगा । किसान यदि समाज की अन्न की आवश्यकता पूरी करने में अपने आपको स्वयंसेवक भर माने तो वह कार्य उसके स्वयं के लिए सन्तोषप्रद तो होगा ही साथ ही उत्कृष्टता की दृष्टि भी बनी रहेगी, वह उत्तम कोटि का अधिक अन्न उपजाना अपने लिए गर्व की बात अनुभव करेगा । इसके विपरीत यदि उसकी दृष्टि स्वार्थपरता से सनी हुई है तो फिर तम्बाकू जैसी हानिकारक फसले भी अर्थ-लोलुपता के कारण उत्पन्न करने मे संकोच अनुभव न करेगा । उच्च दृष्टिकोण रख कर काम करने वाले श्रमिक, व्यवसायी, अध्यापक, शिल्पी, कलाकार आदि सभी वर्ग के लोग अपने कार्यों का स्तर एवं विस्तार बढ़ाने में लोकहित पूरा होते देखेंगे और अधिक उत्साह एवं अधिक मनोयोग से अधिक काम करेंगे । स्पष्ट है कि उससे उनकी निज की सम्पत्ति और प्रतिष्ठा बढ़ेगी साथ ही समाज को भी समृद्धि एवं प्रगति का लाभ मिलेगा ।

एक दिन का जीवन उसका श्रेष्ठतम सदुपयोग यह दृष्टिकोण लेकर क्रमबद्ध सर्वतोन्मुखी कार्य पद्धति बनाई जाय और उसमें अपने श्रम, मन एवं साधनों की त्रिविध सम्पदाओं को नियोजित रखा जाय तो प्रतीत होगा कि वस्तुतः कर्म योगी जैसी साधना चल रही है और व्यक्तित्व का स्तर हर दृष्टि से समुचित बनता चला जा रहा है; यह निर्धारण, निरीक्षण एवं प्रताड़ना का क्रम यदि प्रतिज्ञापूर्वक एक वर्ष तक चला लिया जाय तो सर्कस के जानवरों की तरह अपनी सभी प्रवृत्तियाँ सध जाती हैं और सिद्ध पुरुषों जैसा देवत्व अपने भीतर से ही उदय हुआ दृष्टिगोचर हो सकता है । पीछे तो स्वभाव ही बदल जाता है और जिस प्रकार निकृष्टता स्वभाव का अंग बनी हुई थी उसी प्रकार उत्कृष्टता भी साधारण अभ्यास का अंग बन जाती है और फिर बिना किसी प्रयत्न के स्वभावतः देव जीवन जीया जाने लगता है ।

जीवन साधना के साधक को अपना जीवन साधनात्मक सम्पुट में बांध लेना चाहिए । सन्ध्या वन्दन के लिए सूर्योदय का प्रभात काल और सूर्यास्त का सायंकाल निर्धारित है । यह दोनों ही समय रात्रि और दिन के मिलन की सन्धि बेला है । इसलिए उस समय किए जाने वाले से उपासना कृत्य को सन्ध्या कहते हैं । यह साधारण सन्ध्या वन्दन का समय हुआ । व्यक्तिगत जीवन में सुसुप्ति को रात्रि और जागृति का दिन कहा जा सकता है । इन दोनों के मिलन काल को वैयक्तिक सन्ध्या समय कह सकते हैं । जिस प्रकार कर्मकाण्ड परक सन्ध्या विधान प्रातः सायं किया जाता है उसी प्रकार निजी सन्ध्या बेला में चिन्तन और मनन की प्रक्रिया सम्पन्न करनी चाहिए । उसे उपासना का आवश्यक अंग बनाना चाहिए । इससे जीवन साधना सम्पन्न करने में भारी सहायता मिलती है ।

मस्तिष्क और शरीर की हलचलें अन्तःकरण में जड़ जमाकर बैठने वाली आस्थाओं की प्रेरणा पर अवलम्बित रहती हैं । आध्यात्मिक साधनाओं का उद्देश्य इस संस्थान को प्रभावित एवं परिष्कृत करना ही होता है । इस उद्देश्य की पूर्ति में वह साधना बहुत ही उपयोगी सिद्ध होती है, जिसमें उठते ही नये जन्म की और सोते ही नई मृत्यु की मान्यता को जीवन्त बनाया जाता है ।

प्रातः बिस्तर पर जब आँख खुलती है तो कुछ समय आलस्य को दूर करके शय्या से नीचे उतरने में लग जाता है । प्रस्तुत उपासना के लिए यही सर्वोत्तम समय है । मुख से कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं पर यह मान्यता-चित्र मस्तिष्क में अधिकाधिक स्पष्टता के साथ जमाना चाहिए कि "आज का एक दिन एक पूरे जीवन की तरह है, इसका श्रेष्ठतम सदुपयोग किया जाना चाहिए । समय का एक भी क्षण न तो व्यर्थ गवाँया जाना चाहिए और न अनर्थ कार्यों में लगाना चाहिए ।" सोचा जाना चाहिए कि ईश्वर ने अन्य किसी जीवधारी को वे सुविधाएँ नहीं दीं जो मनुष्य को प्राप्त हैं । यह पक्षपात या उपहार नहीं, वरन् विशुद्ध अमानत है । जिसे उत्कृष्ट आदर्शवादी रीति-नीति अपना कर पूर्णता प्राप्त करने, स्वर्ग और मुक्ति का आनन्द इसी जन्म में लेने के लिए दिया गया है । यह प्रयोजन तभी पूरा होता है जब ईश्वर की इस सृष्टि को अधिक सुन्दर, समुन्नत एवं सुसंस्कृत बनाने के लिए उपलब्ध जीवन सम्पदा का उपयोग किया जाय । उपयोग के लिए यह सुर-दुर्लभ अवसर मिला है । यह योजनाबद्ध सदुपयोग करने में ही ईश्वर की प्रसन्नता और जीवन की सार्थकता है ।

मंत्र जाप की तरह इन शब्दों को दुहराने की जरूरत नहीं है वरन् अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक इस तथ्य को हृदयंगम किया जाना चाहिए । कल्पना चित्र सिनेमा फिल्म की तरह स्पष्ट उभरने चाहिए और उनके साथ इतनी गहरी, आस्था का पुट देना चाहिए कि यह चिन्तन वस्तुस्थिति बन कर मस्तिष्क को पूरी तरह आच्छादित कर ले ।

शौच जाने की आवश्यकता अनुभव हो तो विलम्ब नहीं करना चाहिए और शय्या त्याग कर नित्य कर्म में लग जाना चाहिए । थोड़ी गुंजाइश हो तो उठने से लेकर सोने के समय तक की दिन-चर्या इसी समय बना लेनी चाहिए । यों नित्य कर्म करते हुए भी दिन भर का समय विभाजन कर लेना कुछ कठिन नहीं है । फुर्ती और चुस्ती से काम निपटाए जायें तो कम समय में अधिक काम हो सकता है । सुस्ती और उदासी में ही समय का तो भारी अपव्यय होता है, योजनाबद्ध दिन-चर्या बनायी जाय और उसका मुस्तैदी से पालन किया जाय तो ढेरों समय बच सकता है । एक काम के साथ दो काम हो सकते हैं । जैसे आजीविका उपार्जन के बीच खाली समय में स्वाध्याय तथा मित्रों

से परामर्श हो सकता है । परिवार व्यवस्था में मनोरंजन का पुट रह सकता है । निद्रा, नित्य कर्म, आजीविका उपार्जन, स्वाध्याय, उपासना, परिवार व्यवस्था, लोक-मंगल आदि कार्यों में कौन, कब, किस प्रकार कितना समय देगा यह हर व्यक्ति की अपनी परिस्थिति पर निर्भर है, पर समन्वय इन सब बातों का रहना चाहिए । दृष्टिकोण यह रहना चाहिए कि आलस्य, प्रमाद में एक क्षण भी नष्ट न हो और सारी गतिविधियाँ इस प्रकार चलती रहें जिनमें आत्म-कल्याण, परिवार-निर्माण एवं लोक-मंगल के तीनों तथ्यों का समुचित समावेश बना रहे । इन सारे क्रिया-कलापों में आदर्शवादी दृष्टिकोण अपनाया जाये । दुष्प्रवृत्तियों को, दुर्भावनाओं को स्थान न मिलने दिया जाये । जहाँ भी जब भी, गड़बड़ दिखाई पड़े तब वहीं उसकी रोकथाम की जाये और गिरते कदमों को सँभाल लिया जाये । समय, श्रम, चिन्तन एवं धन का तनिक सा अंश भी अवांछनीय प्रयोजन में नष्ट न होने दिया जाये । इन चारों ही सम्पदाओं का एक-एक कण सदुपयोग में लगता रहे, इस तथ्य पर तीखी दृष्टि रखी जाये, भूलों को तत्काल सुधारते रहा जाये तो उस दिन के, उस जीवन को सन्तोषजनक रीति से जीया जा सकता है ।

जल्दी सोने से और जल्दी उठने का नियम साधना में रुचि रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को बनाना ही चाहिए । ब्रह्म-मुहूर्त का समय अमृतोपम है, उस समय किया गया हर कार्य बहुत ही सफलतापूर्वक सम्पन्न होता है । अस्तु जो अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य प्रतीत होता हो उसे उसी समय करना चाहिए । सवेरे जल्दी उठना उन्हीं के लिए सम्भव है जो रात्रि को जल्दी सोते हैं । इस मार्ग में अड़चनें हों उन्हें बुद्धिमत्तापूर्वक हल करना चाहिए, किन्तु जल्दी सोने और जल्दी उठने की परम्परा तो अपने लिए ही नहीं पूरे परिवार के लिए बना ही लेनी चाहिए ।

रात्रि को सोते समय वैराग्य एवं संन्यास जैसी स्थिति बनानी चाहिए । बिस्तर पर जाते ही यह सोचना चाहिए कि निद्रा काल एक प्रकार की मृत्यु विश्राम है । आज का नाटक समाप्त कल दूसरा खेल खेलना है । परिवार ईश्वर का उद्यान है उसमें अपने को कर्तव्य-निष्ठ माली की भूमिका निभानी है । शरीर, मन, ईश्वरीय, प्रयोजनों को पूरा करने के लिए मिले जीवन रथ के दो पहिए हैं, इन्हें सही राह पर चलाना है । धन, प्रभाव, पद यह विशुद्ध धरोहर है उन्हें सत्प्रयोजनों में ही लगाना है । देखना चाहिए कि वैसा ही हुआ या नहीं ? जहाँ गड़बड़ी हुई दिखाई दे वहाँ पश्चाताप करना चाहिए और अगले दिन वैसी भूल न होने देने में कड़ी सतर्कता बरतने की अपने आपको चेतावनी देनी चाहिए ।

संन्यासी अपना सब कुछ ईश्वर अर्पण करके परमार्थ प्रयोजन में लगता है । सोते समय साधक की वैसी ही मनःस्थिति होनी चाहिए । मिली हुई अमानतें और सौंपी हुई जिम्मेदारियाँ आज ईमानदारी के साथ सँभाली गईं । यदि कल वे फिर मिलीं तो फिर उन्हें ईश्वरीय आदेश मानकर सँभाला जायेगा । अपना स्वामित्व किसी भी व्यक्ति या पदार्थ पर नहीं यहाँ जो कुछ है सो सब ईश्वर का है । अपना तो केवल कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व भर है, उसे पूरी ईमानदारी और पूरी तत्परता से निभाते भर रहना अपने लिए पर्याप्त है । परिणाम क्या होते हैं, क्या नहीं, यह परिस्थितियों पर निर्भर है, अस्तु सफलता-असफलता की चिन्ता न करते हुए हमें आदर्शवादी कर्तव्य परायणता अपनाये रहने मात्र में पूरा-पूरा सन्तोष अनुभव करना चाहिए ।

सोते समय ईश्वर की अमानत ईश्वर को सौंपने और स्वयं खाली हाथ प्रसन्नचित्त विदा होने की, निद्रा देवी की गोद में जाने की बात सोचनी चाहिए । हल्के मन से शान्तिपूर्वक गहरी नींद में सो जाना चाहिए । चिन्ता, आशंका, खीझ, क्रोध जैसी किसी भी उद्विग्नता को मन पर लाद कर नहीं सोना चाहिए । यह प्रयास शान्त निद्रा लगने की दृष्टि से भी उपयोगी है । साथ ही आत्म-परिष्कार की दृष्टि से भी अति महत्त्वपूर्ण है ।

मृत्यु को भूलने से ही जीवन सम्पदा को निरर्थक कामों में गवाँते रहने की चूक होती है, दुष्कर्म बन पड़ते हैं और वासना, तृष्णा, अहंता की क्षुद्रताओं में समय गुजरता है । यदि यह ध्यान बना रहे कि मृत्यु का निमन्त्रण कभी भी सामने आ सकता है तो यह ध्यान बना रहेगा कि इस महान अवसर का सही उपयोग किया जाय और पूरा लाभ उठाया जाय । निद्रा की तुलना मृत्यु से करते रहने पर मौत का भय मन से निकल जाता है और अलभ्य अवसर के सदुपयोग की बात चित्त पर छाई रहती है ।

सिकन्दर मौत को भूला रहा उसे मरते समय अपनी कमाई सम्पदा साथ न ले चल सकने की विवशता पर भारी दु.ख हुआ और सिर धुन कर पछताया कि यदि वस्तुस्थिति को अन्तःचेतना समझ सकी होती तो मैं वैभव कमाने के स्थान पर महामानवों की तरह आदर्श जीवन जीने की नीति अपनाता और अपने साथ-साथ असंख्यों का उद्धार करता । उसने अपनी शव यात्रा में मृत शरीर के दोनों हाथ तावूत से वाहर निकले रहने का आदेश दिया ताकि दर्शक देख सकें कि सिकन्दर कितना बुद्धिमान होते हुए भी कितना मूर्ख था । वह खाली हाथ आया और खाली हाथ चला गया ।

राजा परीक्षित को शाप लगा था कि सातवें दिन सर्प के काटने से उसकी मृत्यु होगी । बची हुई थोड़ी-सी अवधि का उसने श्रेष्ठतम उपयोग करने का निर्णय किया और. शुकदेव जी की सहायता से किसी महत्त्वपूर्ण धर्मानुष्ठान में संलग्न होकर आत्म-कल्याण सम्पन्न कर लिया ।

मृत्यु के स्मरण को न तो डरावना माना जाना चाहिए और न अशुभ उससे सिकन्दर की तरह शिक्षा लेनी चाहिए कि व्यर्थ और अनर्थ के कामो मे इस सम्पदा का अपव्यय न हो, जाय । इस सतर्कता के साथ-साथ परीक्षित की तरह यह दूरदर्शिता भी प्रदर्शित करनी चाहिए कि बचे हुए समय का जीवन साधना के रूप में श्रेष्ठतम सदुपयोग कर लेने का साहस जुटाने के लिए कटिवद्ध हुआ जाये ।

हर दिन नया जन्म हर रात नयी मौत की मान्यता यदि गहराई तक हृदयंगम कर ली जाय तो निरर्थक एवं अनर्थ मूलक चिन्तन एवं कर्म निरन्तर घटते चले जायेंगे और सद्भावनाओं का, सत्प्रवृत्तियों का उत्कर्ष द्रुत गति से होता चला जायेगा । यही है वह मार्ग जिस पर चलने को जीवन साधना कहते हैं और जिसे दृढ़तापूर्वक गतिशील रहने से जीवन लक्ष्य की पूर्ति होती है ।

## परिमार्जित व्यक्तित्व बनाम साधन सिद्धि

ब्रह्ममुहूर्त को साधना का काल माना गया है । घटती-मिटती हटती तमिस्रा और तेजी से दौड़ते आ रहे नव-प्रभात के क्षणों में अर्जित की ओजस्विता और प्रखरता की सिद्धियाँ नए दिन के नए प्रभात का आनन्द सौ गुना बढ़ा देती है । जव ब्रह्मवेला की व्यापकता युगों के दायरे में फैल गई है । उस समय जबकि बुद्धिवाद की घटती निशा और भाव सम्वेदनाओं का प्रभात अपने मिलन विन्दु पर आ पहुँचे हों, तो जीवन साधना में सक्रियता और तन्मयता अधिक हो जाती है ।

प्रत्येक साधना का एक ही परिणाम है—सिद्धि । जीवन साधना भी इसका अपवाद नहीं है । सिद्धियाँ यह वताती हैं कि साधना सही क्रम में और ठीक दिशा में गतिमान है । यदि इन्हें साधना की प्रामाणिकता का मानदण्ड माना गया हो तो आश्चर्य क्या ? जीवन साधना के मानदण्डों के रूप में हमने चित्र-विचित्र ख्याल बना रखे हैं । ख्यालों के अनुरूप ख्वाव देखे जाते हैं, सपने सँजोए जाते हैं । सिद्धियाँ क्या हैं ? इस प्रश्न के बारे में अधिकांश के जवाब होंगे पानी पर चलना, आग पर दौड़ना, आकाश में उड़ना और न जाने कितनी ऐसी अनेको विलक्षण बाते सुनने को मिलेंगी ।

यदि यही प्रश्न लेकर हम ऋषि प्रणीत शास्त्रों के पास जाये तो प्राप्त होने वाला उत्तर यह साफ कर देता है, कि सिद्धियाँ व्यक्तित्व विकास की सफल प्रक्रिया के चिन्ह हैं । ये क्या हैं ? और कितने हैं ? के उत्तर में महर्षि कपिल अपने सांख्य दर्शन के तीसरे अध्याय के ४४वें सूत्र में कहते हैं "उहादिभिः सिद्धिरष्धा" । इन आठों का और खुलासा करने पर मालूम होता है, पहली सिद्धि है, उह । अर्थात्—युक्ति पूर्ण चुनाव की योग्यता । जिसे भले और बुरे में भले को चुनकर भलाई की राह पर चलना आ गया समझना चाहिए कि उसे यह पहली सिद्धि मिल गई ।

दूसरी है, शब्द । इसका अभिप्राय प्रज्ञ-पुरुष के उन संकेतों से है जो सन्मार्ग पर चलने को प्रेरित करते हैं । तीसरी है, स्वाध्याय । इसका तात्पर्य उन पुस्तकों का अध्ययन है जो अपने को समझने में सहायक हों, जिसकी मदद से स्वयं के चिन्तन, चरित्र व व्यवहार को सुधारा जा सके । चौथी का नाम है, सुहृत-प्राप्ति अथवा सतंग । ऐसे लोगों का संग जो हमें समय की पहचान करायें । हमारे मनोबल को मजबूत बनायें जिससे जीवन साधना अविराम चलती रहे । पाँचवी सिद्धि है, दान । अर्थात्—अपने समय का कुछ भाग स्वयं के अनुभवो को दूसरों को वताने व उन्हें सन्मार्ग की ओर मोड़ने में लगाना । अपने प्रयत्नों से स्वाध्याय

और सत्संग की प्रक्रिया को वह तेजी देना जिससे दूसरे अनेकों व्यक्ति जीवन साधना को अपना सकें एवं स्वयं के व्यक्तित्व को परिपक्व बना सकें ।

महर्षि इन पाँच को प्राथमिक सिद्धियाँ मानते हैं । जिस किसी को ये पाँच सिद्धियाँ मिल जाती हैं, उसे अगली तीन प्राप्त होती हैं जिन्हें वह चरम और परम बताते हैं । इन तीन में पहली है, भौतिक दुःख विघात । जो जीवन जीने की कला में निष्णात् हो गया । जिसे कम में गुजारा करना, मेल-प्रेम से रहना आ गया उसे किस बात का दुःख ? दूसरी है, दैविक दुःख विघात । इसका सम्बन्ध चिन्तन की चमक से है । साफ सुथरा चिन्तन, सुधरी सोच, उन्नत कल्पनाएँ हर किसी को कहीं भी प्रमुदित बनाए रख सकती हैं । अन्तिम सिद्धि वह है जिसे प्राप्त होने पर मनुष्य सिद्ध बनता है । इसका नाम है, आध्यात्मिक दुःख हान । ऐसी स्थिति में जागृत भाव चेतना, समूचे व्यक्तित्व को अपने प्लावन से ओत-प्रोत कर देती है । व्यक्ति सम्वेदनशील, सक्रिय और प्रामाणिक बन जाता है ।

सांख्यकार कपिल स्वयं इन्हीं सिद्धियों को अर्जित कर श्रेष्ठ सिद्ध बने थे । उन्हें सर्वोत्तम सिद्ध करार करते हुए गीताकार कहते हैं "सिद्धानां कपिलो मुनिः" । श्री रामकृष्ण इसका तात्पर्य बताते हुए कहते हैं जो जितना नरम हो जिसकी भाव श्रद्धा जितनी अधिक जागृत हो वह उतना ही बड़ा सिद्ध है । कुछ भी हो इसका एक ही अर्थ है परिपक्व व्यक्तित्व का स्वामी होना जो जीवन की चरम परिणति है ।

मनोविद् अभय कुमार मजूमदार अपने अध्ययन *"द सांख्य कन्सेप्शन ऑफ पर्सनलिटी"* में उपरोक्त तथ्य को प्रामाणिक ठहराते हैं उनके अनुसार आज के मानव की सारी परेशानियों की जड़ है, उसका दिग्भ्रान्त हो जाना । इसका एक ही कारण है । उसका उलझा और बँटा-बिखरा व्यक्तित्व । यदि इसे सांख्यकार के अनुरूप गढ़ लिया जाये । सँवारने, सुधारने में तत्परता बरती जाये तो न केवल एक की वरन् समूची मानव जाति की परेशानियों का निदान तेजी से होता दिखाई पड़ने लगेगा ।

सुविख्यात मनीषी प्रो. पीथम ए. सोरोकिन ने अपने ग्रन्थ "द वेज एण्ड पावर्स ऑफ लव एण्ड रिकन्स-ट्रक्शन ऑफ ह्यूमैनिटी" में व्यक्तित्ववान् कैसे करेंगे मानवता की नूतन संरचना" ? विषय को अच्छी तरह समझाने का सफल प्रयास किया है । उन्होंने मानवी व्यक्तित्व को तीन श्रेणियों में बाँटा है—'सब ह्यूमेन, ह्यूमेन एवं सुपर ह्यूमेन । पहले प्रकार के, उप मानव जिनकी प्रकृति निष्ठुर है, समस्याओं को पनपाते और बढ़ाते हैं । दूसरे तरह के, मानवीय व्यक्तित्व वालों के अन्दर सम्वेदना तो होती है पर साहस नहीं होता । इसके अभाव में वे समस्याओं से दुःखी परेशान भर रहते हैं । उसके निदान के लिए आगे कदम बढ़ाने की हिम्मत नहीं जुटा पाते ।

तीसरे, अति मानवीय व्यक्तित्व वाले सम्वेदनाओं और साहस दोनों के धनी होते हैं । इनके अन्दर की बेचैनी साहस से मिलकर कर गुजरने को विवश करती है । यथार्थ में यही व्यक्तित्व की परिपक्वता का स्तर है । सोरोकिन के अनुसार ऐसों के भीतर मानव मात्र के लिए प्रेम उफनता है । इन्हीं के द्वारा नूतन मानवता की संरचना सम्पन्न होती है ।

इस संरचना को सम्पन्न करने की घड़ी अब आ पहुँची है । आवश्यकता है कि अग्रदूत जीवन साधना में प्रवृत्त हो आठों सिद्धियाँ अर्जित करें । भावी समय व्यक्तित्ववानों का होगा । वही अपनी सार्थकता साबित कर सकेंगे जो प्रामाणिकता की कसौटी पर खरे सिद्ध हुए है । बीतते और आते युगों की ब्रह्मबेला के क्षण यों ही बर्बाद करने के लिए नहीं । स्वयं को गढ़ें, अन्तराल की भाव श्रद्धा को जागृत-विकसित करें । दूसरों को वैसा कर सकने में सहायक सिद्ध हों । जो इन दिनों न कर सके, उन्हें सारी उम्र हाथ मल कर पछताना पड़ेगा ।

## व्यक्तित्व निर्माण की साधना

यह लोक मान्यता सही नहीं है कि मनुष्य साधना के सहारे आगे बढ़ता और सफल होता है । वास्तविकता यह है कि परिष्कृत व्यक्तित्व ही साधन एकत्रित करता और उनके सदुपयोग का लाभ उठाता है । घटिया व्यक्तित्व अवसर होते हुए भी उसका लाभ नहीं उठा पाता, जबकि प्रतिभावान् प्रतिकूलताओं के बीच भी अनुकूलता खोज निकालते हैं और अवसर न होते हुए भी उसे अपने कौशल से उपार्जित करते हैं ।

साधन सम्पन्नों की सम्पदा का किस प्रकार उपयोग हुआ इस पर दृष्टि दौड़ाने से निराशा होती है । उपार्जन कर सकना सरल है । अनीति पर उतारू व्यक्ति उसे और भी जल्दी समेट लेते हैं । किस के पास कितना है ? प्रश्न इस बात का नहीं वरन् इस बात का है किसने, किस प्रकार कमाया ? ठीक इसी प्रकार का यह भी प्रश्न है कि जो उपलब्ध था उसे किसने किस प्रकार, किन प्रयोजनों में खर्च किया ।

साधनों की विपुलता उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं, जितनी कि उन्हें सही तरीके से कमाने और सही कामों मे खर्च करने की । यदि विपुलता को ही महत्त्व दिया जाय तो भी बात वहीं आकर टिक्ती है कि व्यक्तित्व कितना प्रखर था । बुरे तरीकों से सफलता पाने मे भी अन्ततः व्यक्तित्व को ही श्रेय मिलता है । इस सन्दर्भ मे इतना ही कहा जा सकता है कि बुरे किस्म की प्रखरता बुरे उपाय अपनाकर सफलता अर्जित करती है । यहाँ भी श्रेय बुराइयों को नहीं मिलता वरन् चमत्कार उस व्यक्तित्व का दीखता है जिसका विकास तो हुआ पर बुरे क्षेत्र में फला-फूला ।

साधनों को कमाने, रखने और खर्चने के लिए एक विशेष प्रकार की सूझ-बूझ चाहिए । उसे प्रखरता कहते हैं । सूझ-बूझ के अतिरिक्त उसमें पराक्रम भी जुड़ा रहता है । न केवल पराक्रम वरन् प्रतिभावान सिद्ध करने वाले गुणों से भी अपने आपको सुसज्जित करना पड़ता है । इसमें प्रामाणिकता और कुशलता दोनों का ही समान समन्वय रहता है । इन दोनों मे से एक की भी कमी पड़े तो कठिनाई अड़ जायेगी । प्रामाणिकता रहित व्यवहार कुशल धूर्त कहलाते हैं और बबूले की तरह जहाँ-तहाँ उछलते-डूबते रहते हैं । स्थायित्व के लिए प्रामाणिकता की भी आवश्यकता है । हाँ, यह माना जा सकता है कि केवल प्रामाणिक होने से भी 'काम' नहीं चलता । प्रगति के लिए व्यवहार कुशलता की भी न्यूनाधिक मात्रा में उतनी ही आवश्यक होती है जितनी कि प्रामाणिकता की ।

'व्यक्तित्व का विनिर्मित करना सफलताओं और सम्पन्नताओं को अर्जित करने के लिए आवश्यक है । उसकी उपेक्षा करके धूर्तता के सहारे प्रगति करने की बात सोचने वाले कमाते कम और खोते ज्यादा हैं । आत्म-सन्तोष, लोक-सम्मान गवाँने वाले ईश्वर का कोप भी सहते हैं । ऐसे लोगों के लिए उपार्जन का सदुपयोग करते भी नहीं बन पड़ता । दुरुपयोग से अमृत भी विष बनता है । विलासी अपव्यय और दुर्व्यसन और कुपात्रों को हस्तान्तरण यही है, साधनों का दुरुपयोग जिसे व्यक्तित्व रहित व्यक्ति करते देखे गए हैं । वे अपना, उपार्जित वैभव का ही नहीं उनका भी विनाश करते है जिनके साथ उनकी मैत्री, घनिष्ठता या अनुकम्पा बरसती है । डूबने वाला अकेला ही नहीं पहने हुए कपड़ो को भी साथ ले डूबता है ।

व्यक्तित्ववान् सही रीति से सही साधन सीमित मात्रा में कमाये, यह हो सकता है, पर जो भी वे कमाते है उसे उनकी दूरदर्शिता इस प्रकार प्रयुक्त करती है, जिसे असंख्यों के लिए आदर्श और अनुकरणीय कहा जा सके । सराहनीय और चिरस्थायी सफलताएँ सदा महामानवों ने ही अर्जित की हैं । व्यक्तित्ववानों से ही वैभव का सदुपयोग बन पड़ा है । परिश्रम और मनोयोग का समुचित प्रतिफल प्राप्त करने के लिए परिस्थितियों की उतनी आवश्यकता नहीं पड़ती, जितनी परिष्कृत मनःस्थिति की । इसके लिए मनुष्य को आत्मिकी का अवलम्बन लेना पड़ता है ।

यह शरीर जिसे अज्ञानवश सब कुछ मान लिया गया है, आत्मा का वाहन उपकरण मात्र है । पदार्थों के सम्पर्क से उपलब्ध होने वाली सम्वेदनाएँ भी चेतना की सजगता से ही सम्भव होती हैं । चेतना ही इच्छा, विचारणा और क्रिया के माध्यम से जीवन की विभिन्न गतिविधियों का संचार संचालन करती है । यों जीवित शरीर रहता है, पर जीवन तत्व का समस्त आधार चेतना के, आत्मा के, साथ जुड़ा हुआ है ।

मनुष्यों की काया सरचना में कोई बहुत बडा अन्तर नहीं होता । मनःसंस्थान भी लगभग एक जैसे होते हैं । साधनों और परिस्थितियों में थोड़ा बहुत अन्तर तो रहता है, पर यह सब भिन्नताएँ ऐसी नहीं हैं, जिनके कारण मनुष्य-मनुष्य के बीच आकाश-पाताल जैसा अन्तर दिखाई पड़े । रुग्ण, अपंगों एवं बाल-वृद्धों की बात छोड़ दें और मध्यवर्ती लोगों की स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन करें तो विदित होगा कि उनमे से कुछ बुरी तरह पिछड़े हुए, अभावग्रस्त और संक्षोभों में जकड़े हुए दुःखित, असन्तुष्ट और विपन्न स्थिति में रह रहे हैं । कुछ ऐसे है जो न दुःखी हैं, न सुखी ।

न पतित हैं न समुन्नत । किसी प्रकार यन्त्रवत् जी रहे हैं । कुछ ऐसे हैं जिनकी प्रतिभा चमकती है । वे ऊँचा सोचते और ऊँचा करते हैं । अपनी साहसिकता के बल पर वे जिधर भी चलते हैं, सफलताएँ छाया की तरह पीछे चलती हैं । स्वयं श्रेय, सम्मान पाते हैं और अपने प्रभाव क्षेत्र को समुन्नत बनाने की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । ऐतिहासिक महामानवों की श्रेणी में गिने जाते हैं और दिवंगत हो जाने पर भी अपनी ऐसी अनुकरणीय परम्पराएँ छोड़ जाते हैं, जिनका अनुगमन करते हुए चिरकाल तक असंख्य लोग प्रगति पथ पर अग्रसर होते हैं ।

पतित, यान्त्रिक और समुन्नत स्तर के मनुष्यों के बीच पाये जाने वाले अन्तर का एकमात्र कारण चेतना की स्थिति में भिन्नता होना ही है । प्रयत्न करने पर शरीर और पदार्थ का सुखद संयोग मिलता है और भौतिक स्थिति समृद्ध बनती है । यही प्रयत्न चेतना को सुसंस्कृत बनाने के लिए किया गया होता, तो निश्चय ही वहाँ भी प्रगतिशीलता दृष्टिगोचर होती, बलिष्ठता और सम्पन्नता का लाभ मिलता । दुर्भाग्य से चेतना के सम्बन्ध में नितान्त उपेक्षा बरती जाती है, उस पर छायी हुई तमिस्रा को निरस्त करने का प्रयत्न किया गया होता तो स्थिति कुछ दूसरी ही होती । दैन्य, उद्वेग और सन्ताप निश्चित रूप से आन्तरिक पिछड़ेपन के ही चिन्ह हैं । उसी के कारण ईश्वर के सर्वश्रेष्ठ उपहार-मानव जीवन का लाभ नहीं मिल पाता । जिस शरीर के लिए समस्त जीवधारी तरसते हैं, उसे पाकर भी यदि मनुष्य दयनीय दुर्दशा का अभिशाप सहता है तो उसे परले सिरे का दुर्भाग्य ही कहना चाहिए ।

चेतना का महत्त्व समझा जा सके, उसकी प्रगति और परिष्कृति को जीवन का सच्चा लाभ, उपलब्धियों का आधार और आनन्द का उद्गम समझा जा सके तो प्रतीत होगा कि दूरदर्शिता इसी में है कि आत्मिक प्रगति के उस स्वार्थ साधन पर ध्यान दिया जाय जिसे परमार्थ कहा जाता है । आन्तरिक प्रगति में आत्मिक और भौतिक दोनों ही प्रकार के लाभ मिलते हैं जब कि चेतना को, गई-गुजरी स्थिति में पड़े रहने देने पर, मात्र भौतिक सम्पन्नता की बात सोचते रहने पर, व्यक्तित्व के घटिया रहने के कारण पग-पग पर असफलताएँ ही मिलती है और असन्तोष, विक्षोभ ही पल्ले बँधता रहता है ।

जीवन तत्व के स्वरूप और साफल्य पर विचार किया जा सके तो एक ही निष्कर्ष निकलेगा कि सर्वतोन्मुखी प्रगति और सुस्थिर प्रसन्नता के लिए चेतना को परिष्कृत एवं परिपुष्ट बनाना, भौतिक सम्पन्नता के लिए की जाने वाली चेष्टाओं से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है । उस दिशा में ध्यान देने और प्रयत्न करने से दोनों लोक सधते हैं जबकि उपेक्षा बरतने से छाया हुआ अन्धकार केवल भटकाव ही देता है और ठोकरों पर ठोकरें खाने, रोने-कलपने के लिए एकाकी छोड़ देता है । समझदारी इसी में है कि इस स्थिति का अन्त किया जाय । दूरदर्शिता इसी में है कि जीवन सम्पदा का श्रेष्ठतम सदुपयोग कर सकने योग्य चेतना का स्तर ऊँचा उठाने में अत्यन्त प्रयत्न किया जाये । जिसने ऐसा सोचा और किया समझना चाहिए कि वह वही जीवन क्षेत्र का सच्चा कलाकार है । इसी कलाकारिता को आत्म-साधना कहते हैं ।

मानवी-सत्ता एक छोटी इकाई है । उसका प्रत्यक्ष और परिचित स्वरूप इतना ही छोटा है जिसे श्रमिक, कृषक, शिल्पी, व्यवसायी, बुद्धिजीवी आदि कहा जा सके । उस स्तर का भरपूर उपयोग कर लेने पर भी मात्र सुख-सुविधा के थोड़े से साधन जुटाए जा सकते हैं । दर्प प्रदर्शित करने का थोड़ा बहुत अवसर मिल सकता है और सस्ती वाहवाही की यत्किंचित गुदगुदी गुदगुदाई जा सकती है । इतना भी नीतिपूर्वक और औचित्य के आधार पर नहीं बन पड़ता । उसके लिए भी निरन्तर कुचक्र रचने और कुकर्म करने पड़ते है । इतने प्रयत्न का यदि आधा-चौथाई भी आत्मोत्कर्ष के लिए-चेतनात्मक परिष्कार के लिए किया जा सके तो उसका प्रतिफल कोयले बीनने की तुलना में मोती ढूँढ़ने जैसा उच्चस्तरीय हो सकता है ।

आध्यात्म विज्ञान की गरिमा भौतिक विज्ञान से कम नहीं अधिक महत्त्व की है । दोनों के लाभों को देखते हुए एक को महान दूसरे को तुच्छ कहा जा सकता है । शरीर और चेतना की तुलना में श्रेष्ठता आत्मा की ही है । इसी प्रकार लाभों की दृष्टि से भी भौतिक समृद्धि की तुलना में आत्मिक विभूतियों को ही गरीयसी कहा जायेगा । अस्तु विचारणीय यह है

कि हम एकांगी प्रगति की बात न सोचें । भौतिक सुविधाओं के साथ-साथ आत्मिक गरिमा बढ़ाने का भी प्रयत्न करें । शरीर की भूख बुझाना उचित है, पर आत्मा को भी क्षुधा, पिपासा से ग्रस्त-त्रस्त नहीं रहने देना चाहिए । इसी सन्तुलित विवेकशीलता का नाम आध्यात्मिकता है । इस अवलम्बन को अपनाकर हम खोते कुछ नहीं, वरन् उभय-पक्षीय लाभ उठाते हैं । भौतिक समृद्धियों और आत्मिक विभूतियों का लाभ उठाना ऐसी बुद्धिमत्ता है जिसे मानवी गरिमा के उपयुक्त ही कहा जा सकता है ।

स्पष्ट है कि पंचभूतों से शरीर की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए भौतिक साधनों और शरीरों का सघन सहयोग इकट्ठा करना पड़ता है । ठीक इसी प्रकार आत्मिक प्रगति के लिए उसी स्तर की सम्वेदनाओं, विचारणाओं और शक्ति साधनों से सम्बन्ध बनाना पड़ता है जो विश्वव्यापी चेतना क्षेत्र में बिखरी पड़ी है । जड़ और चेतन की दो सत्ताओं का अस्तित्व सर्वमान्य है । जड़ इन्द्रिय गम्य है और चेतना इन्द्रियातीत । एक को स्थूल, दूसरे को सूक्ष्म कहते है । सूक्ष्म का अर्थ है वह क्षेत्र जो बुद्धि और अन्तःकरण से तो जाना जा सकता है, पर उसकी सिद्धि प्रयोगशाला मे नहीं हो सकती । विज्ञानवेत्ता जानते हैं कि इस विश्व में पदार्थ की मूलसत्ता परमाणुओं के रूप में है और शक्ति रूप एवं व्यापक है । यह अपरा प्रकृति है । ताप, ध्वनि, विद्युत की क्षमताएँ सघन होकर पदार्थों के रूप में सामने आती हैं । भाप, द्रव और ठोस परिस्थितियों पर पदार्थों का रूपान्तरण होता रहता है । उत्पादन अभिवर्धन और परिवर्तन की प्रक्रिया इस प्रत्यक्ष संसार को गतिशील बनाये रहती है । आत्म-विज्ञानी मानते हैं कि इस निखिल विश्व-ब्रह्माण्ड में चेतना का महासागर भरा पड़ा है । जीवसत्ताएँ उसी की लहरें हैं । जीव के पास जो कुछ है वह व्यापक ब्रह्मतत्त्व का एक छोटा सा अंश है । बल्ब में बिजलीघर के विपुल शक्ति भण्डार का एक नगण्य-सा अंश ही चमकता है । ठीक इसी प्रकार व्यापक ब्रह्माण्डीय चेतना का एक अति स्वल्प भाग ही मनुष्य अपने उपयोग में ला पाता है । आत्मा की अणुसत्ता परमात्मा की विभुसत्ता का स्वल्पांश है । इसलिए उसकी चेतना शरीर निर्वाह, परिवार पोषण एवं यत्किचिंत, सामाजिक प्रभाव उत्पन्न करने तक ही सीमाबद्ध बनी रहती है । इतना होते हुए भी यह सम्भावना विद्यमान है कि प्रयत्नपूर्वक उस ससीम को असीम किया जा सके ।

बीज देखने में तुच्छ है, पर उसमें सूक्ष्म रूप से विशाल वृक्ष की समस्त सम्भावनाएँ विद्यमान हैं । शुक्राणु तनिक-सा होता है, पर उसमें एक पूरे मनुष्य का शारीरिक, मानसिक ढाँचा सुरक्षित सुनिश्चित रहता है, परमाणु की स्थिति एक प्रचण्ड सूर्य जैसी है । उपयोग में न आने पर तो तिजोरी में धन भरा रहने पर भी दरिद्रता का दुःख उठाना पड़ सकता है । सुयोग्य व्यक्ति भी अयोग्यों जैसे दुर्दशाग्रस्त पाये जाते हैं, पर यदि उपलब्ध क्षमता का श्रेष्ठ उपयोग हो सके तो लघु में भी महान का अवतरण हो सकता है । जीव उस ब्रह्म से सम्बन्ध मिला कर यदि आदान-प्रदान का द्वार खोल सके तो वर्तमान की अपेक्षा अगले ही दिन उसकी स्थिति में भारी सुधार-परिष्कार हो सकता है । उसकी क्षमता असंख्य गुनी बढ़ सकती है । जीरो नम्बर का बल्ब तनिक-सी रोशनी देता है, पर यदि उसी 'होल्डर' में हजार वाट का बल्ब लगा हो तो तार में चलने वाली बिजली उसी अनुपात से अपना करेण्ट देना आरम्भ कर देगी। व्यक्तित्व का स्तर बढ़ा लेने पर व्यष्टि चेतना को समष्टि चेतना के अजस्र अनुदान मिल सकते हैं । भौतिक योग्यता बढ़ने पर पारिश्रमिक और पद की वृद्धि होती है । आत्मिक क्षमता बढ़ने पर ब्रह्माण्डीय चेतना के समुद्र से व्यक्ति चेतना को बहुमूल्य उपहार मिलते रहने का क्रम चल पड़ता है । छोटे बैंक यदि रिजर्व बैंक से सम्बद्ध है तो आवश्यतानुसार अपनी क्षमता के आधार पर भारी आदान-प्रदान का लाभ उठा सकते हैं । इसी प्रकार यदि व्यक्ति की आन्तरिक पात्रता एवं क्षमता बढ़ सके तो उसे संव्याप्त ब्रह्म तत्व से ऐसे अनुदान मिल सकते हैं जो उसके स्तर को असंख्य गुना सुसम्पन्न बना सकें । आध्यात्म विज्ञान के अन्तर्गत साधना विधान की संरचना इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए की गई है ।

आत्म-साधना का तात्पर्य है—व्यक्ति चेतना के स्तर को इतना परिष्कृत करना कि उस पर ब्रह्म चेतना के अनुग्रह का अवतरण सहज सम्भव हो सके । यह मान्यता सही नहीं है कि देवता का मनुहार करने पर वे प्रसन्न होते हैं और भक्त को-याचक को कृपापूर्वक

मनोवांछित वरदानों से लाद देते हैं । सच्चाई यह है कि आत्म-साधक अपनी पात्रता विकसित करता है और तद्नुरूप पद वृद्धि के साथ जुड़े रहने वाले अनेकों लाभ प्राप्त करता है । नहर जितनी चौड़ी गहरी होती है उसी अनुपात से नदी का जल उसे उपलब्ध होता है । आत्मिक वरिष्ठता बढ़ाने के प्रयास में जितनी सफलता मिलती है उसी आधार पर दैवी अनुदान बरसने आरम्भ हो जाते हैं । वृक्षों का चुम्बकत्व वर्षा के बादलों को बरसने के लिए विवश कर देता है । व्यक्ति चेतना का चुम्बकत्व सूक्ष्म जगत से ऐसी विभूतियाँ पकड़ लेता है, जिनके आधार पर वह सामान्य से असामान्य बन सके । नर-पशु के स्तर का जीवन-यापन करने वाले लोग जब नर-नारायण के रूप में परिवर्तित हो रहे हों तो उसका कारण आन्तरिक परिवर्तन को ही समझा जाना चाहिए । आध्यात्म साधनाओं का उद्देश्य आत्म-परिष्कार ही है ।

कृषि कर्म के लिए खाद, पानी, श्रम, औजार आदि का प्रबन्ध करना पड़ता है । व्यवसाय आदि सभी प्रयोजनों के लिए तद्नुरूप साधन जुटाने पड़ते हैं । आत्म-परिष्कार एवं आत्म-विकास के लिए भी साधनों की जरूरत पड़ती है । बिजलीघर की बिजली, हमारे घर के पंखे तक ऐसी ही उछलकर नहीं आ जाती पर इस फासले में सम्बन्ध सूत्र जोड़ने वाले तार बिछाने पड़ते है । ब्रह्माण्डीय चेतना से उपयुक्त अनुदान व्यक्ति चेतना को मिल सके इसके लिए दोनों क्षेत्रों के बीच आदान-प्रदान सम्भव बनाने वाले सूत्र जोड़ने पड़ते है । साधना इसी को कहते हैं । आत्मिक सिद्धियों की उपलब्धि साधना के सहारे ही सम्भव होती है ।

यह किसी ने कभी नहीं कहा कि शरीर निर्वाह और सांसारिक उत्तरदायित्व के निर्वाह की उपेक्षा की जाय । उसे निबाहने के बिना तो गति ही नहीं । उसे करते हुए आत्मिक प्रगति के लिए बहुत कुछ किया जा सकता है । कठिनाई एक ही है कि अपनी दृष्टि से हम मात्र शरीर हैं । अतएव इच्छाएँ, विचारणाएँ एवं क्रियाएँ भी उसी स्तर तक सीमित रखते हैं जो शरीर सुख प्रदान कर सके । इस असन्तुलन को सन्तुलन में बदला जाना चाहिए और सोचा जाना चाहिए कि शरीर मे आत्मा का भी अस्तित्व है । प्रगति का अवसर आत्मा को भी मिलना चाहिए । बाह्य सुविधाओं की तरह यदि आन्तरिक गरिमा का महत्त्व समझा जा सके तो निश्चित रूप से हम आत्मिक प्रगति की उपयोगिता समझेंगे और उसके लाभों को समझते हुए अपना ध्यान और प्रयास उस दिशा में ही नियोजित करने का प्रयत्न करेंगे । जीवन दर्शन पर जितनी गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय उतना ही आत्म-साधना का महत्त्व स्पष्ट होता चला जाता है ।

## चेतना को प्रखर परिष्कृत बनाने वाली विद्या : आत्मिकी

यह एक स्पष्ट एवं सुनिश्चित तथ्य है कि प्रत्येक सामर्थ्य का ठीक तरह उपयोग आना चाहिए अन्यथा वह बन्दूक की तरह उल्टा वार भी करती है और चलाने वाले की ही पसली तोड़ देती है । आग, बिजली, बारूद जैसी शक्तियों की महिमा सभी जानते हैं उनसे कितने बड़े-बड़े प्रयोजन सिद्ध होते हैं, किन्तु साथ ही यह खतरा भी रहता है कि प्रयोक्ता अनाड़ी या उच्छृंखल हुआ तो उन्हीं से अपना और सम्पर्क क्षेत्र का देखते-देखते विनाश भी कर सकता है । ठीक यही बात ईश्वर प्रदत्त आन्तरिक क्षमताओं के सम्बन्ध में भी है । चेतना का क्षेत्र पदार्थ सामग्री से कम नहीं वरन् अधिक ही है । यदि उसकी प्रयोग विधि मालूम न हो तो समझना चाहिए कि वरदान भी अभिशाप सिद्ध होंगे और हो भी रहें हैं ।

दृष्टि पसार कर चारों ओर देखने से कुछ विचित्र प्रकार के नजारे देखने को मिलते है । शारीरिक दृष्टि से लोग दिन-दिन दुर्बल और रुग्ण बनते जा रहे हैं जबकि उनसे कही गई-गुजरी स्थिति वाले पशु-पक्षी निरोग जीवन जीते हैं । मानसिक दृष्टि से समुन्नत समझे जाने वाले लोग भी उद्वेग, विक्षोभ, असन्तोष, आवेशग्रस्त स्थिति में रहते और अर्ध-विक्षिप्त सनकी लोगों जैसी जलती-जलाती जिन्दगी जीते है । जबकि मोर, कबूतरों को नाचते-फुदकते पेड़ो पर कलरव करते, मोद मनाते देखा जाता है । धरती को स्वर्ग की संरचना कहे जा सकने योग्य मानवी परिवारों के क्लेश, कलह और पतन-पराभव को सड़ीकीचड़ों जैसा देखा जा सकता है । समाज में एक-दूसरे को गिराने और ठगने, सताने की प्रक्रिया ही लोक-मान्यता प्राप्त करती और चतुरता समझी जाती है । न कहीं स्नेह है, न

कहीं सौहार्द्र है और न सहयोग । ऐसे ही लोग एक-दूसरे के लिए जाला बुनते और मीठी गोली खिलाकर चंगुल में फंसाने की तिकड़में लड़ाते रहते हैं । व्यवहा कुशलता यही तो है । अपव्यय, दुर्व्यसन, प्रदर्शन, आकर्षण के आधार पर लोग मौज उड़ाते और दूसरों पर रोब गाँठते देखे जाते हैं । अनैतिकताओं के छोटे-बड़े प्रचलन इतने अधिक हैं कि लगता है कि नीति सदाचार की बात केवल कहने-सुनने की विडम्बना भर बन गई है । अन्ध-विश्वासों, मूढ़ मान्यताओं, कुरीतियों का अपना दौर है । एक-दूसरे के प्रति घात-प्रतिघात रचते रहने के परिणाम अन्ततः भयावह ही होते हैं । आक्रमण, प्रत्याक्रमण की प्रतिशोध भरी विनाशलीला का कहीं अन्त नहीं । बहुमूल्य सामर्थ्य इसी जंजाल में चुक जाती है और खीजने-खिजाने, रोने-रूलाने के अतिरिक्त किसी के पल्ले और कुछ नहीं पड़ता ।

यही है आज की स्थिति जिसमें समस्याएँ, कठिनाइयाँ, विपत्तियाँ, विभीषिकाएँ चित्र विचित्र रूप से सामने आती हैं । सम्पन्नता, शिक्षा, सुविधा की कमी न होते हुए भी परिस्थितियाँ इतनी विकट होती चली जा रही हैं जितनी दुर्भिक्ष एवं दुर्घटनाग्रस्त लोगों को भी सहन नहीं करनी पड़तीं । आखिर इन गोरख-धन्धे जैसी पहेली में उलझन कहाँ है, इसका गहराई में उतरकर पता लगाने पर एक ही सूत्र हाथ लगता है कि दृष्टिकोण में निकृष्टता भर जाने से ही सरल, सौम्य जीवन में विकृत विषाक्तता भरी है और उसी ने रस में विष फैलने जैसा संकट खड़ा किया है । एक शब्द मे इसे लोक-मानस का पतन पराभव कह सकते है । आस्था संकट के रूप मे यही अपनी प्रेत-पिशाच जैसी करतूतें दिखाने में लगा हुआ है । यह स्थिति वैयक्तिक रूप में नारकीय परिस्थितियाँ उत्पन्न करती और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में महाविनाश की प्रलय सम्भावना प्रस्तुत करती दीखती है । लगता है चिर संचित मानवी सत्ता और सभ्यता सामूहिक आत्म-हत्या की तैयारी मे जुट पडी हो ।

निदान कारण को जानने पर उपचार, समाधान मे कठिनाई नहीं होनी चाहिए । प्रेरणा स्रोत अन्तःकरण है । वहाँ से आकाक्षाएँ उठती है । मस्तिष्क को सोचने और शरीर को करने के लिए विवश करती हैं । इन अन्तःप्रेरणाओं-आस्थाओं, विचारणाओ, सम्वेदनाओं को कुसंस्कारों के दल-दल से निकालकर सुसंस्कारी बनाना आध्यात्म तत्व दर्शन का ही काम है । उस गहराई तक प्रवेश और किसी का हो ही नहीं सकता, अन्तःकरण को प्रभावित करके व्यक्तित्व को उच्चस्तरीय प्रेरणा देने में, निकृष्टता को उत्कृष्टता में ढाल देने में, आध्यात्म विज्ञान द्वारा प्रतिपादित. उपाय उपचारों के अतिरिक्त और कोई मार्ग है नही । आज की हेय परिस्थिति वस्तुतः मन.स्थिति की निकृष्टता के साथ जुड़ी हुई है । छेद जहाँ हुआ है, रोकना वहीं पड़ेगा । इस प्रसंग में समर्थ आत्म-विज्ञान ही अपना चमत्कार दिखा सकता है । विभीषिकाओं से लदे भविष्य को उज्ज्वल भविष्य में बदलने की सामर्थ्य और किसी में है नहीं । अस्तु समय की माँग एक ही है कि मृतक न सही मूर्च्छित स्थिति में पड़ी हुई आत्म-विद्या को उसके सही स्वरूप में पुनर्जीवित किया जाये ।

यहाँ 'सही स्वरूप' शब्द जानबूझकर प्रयुक्त किया जा रहा है । क्योकि इन दिनों हर क्षेत्र में घुस पड़ी विकृतियो में आध्यात्म विज्ञान को भी अछूता नहीं छोड़ा है । बाजीगर विज्ञान को भी झाँसा देते हैं और वे आध्यात्म को भी उपहासास्पद बना देते हैं । प्रायः यह बाजीगरी ही आध्यात्म के तत्व दर्शन और उपचार प्रयोगों में बुरी तरह घुस पड़ी है । निहित स्वार्थों ने इस महान विज्ञान को क्षत-विक्षत करके इस रूप में बदल दिया है कि उससे भावुक, धर्मभीरु मात्र अपने समय, श्रम और धन की बर्बादी भर करते रहते हैं । सस्ते उपचारों से उच्चस्तरीय लाभ दिलाने के झाँसे देते रहने वाले देवताओ के दलाल .ही इन दिनों गुरुजन कहलाते और अन्धे द्वारा अन्धों का मार्गदर्शन किए जाने का उपहासास्पद प्रयोग खड़ा करते हैं । उस विडम्बना से किसी के पल्ले कोई बड़ी उपलब्धि तो क्या पड़ती है, बर्बादी और अश्रद्धा की प्रतिक्रिया ही हाथ में लगती है । इस प्रवाह में बहते रहने पर मानवी सत्ता की जीवनधारा, प्राण विद्या, आध्यात्म विद्या के किसी भँवर में समा जाने का खतरा उत्पन्न हो गया है ।

मनुष्य जाति ने इतिहास के अनेक अवसरों पर अनेकों हानियाँ उठाईं और सहन की हैं, पर आदर्शों के प्रति आस्थावान बनाये रहने वाले 'आध्यात्म विज्ञान' के लिए खतरा कभी भी उत्पन्न नहीं हुआ किन्तु आज

की स्थिति भिन्न एवं विचित्र है । विज्ञान और प्रत्यक्षवाद ने इन दिनों खुले आम आध्यात्म तत्व दर्शन को झुठलाया है । उसे अवास्तविक और अनावश्यक ठहराने के लिए ऐसे तर्क प्रमाण प्रस्तुत किए हैं जिन्हें देखते हुए चिन्तन की प्रखरता न रखने वालों के बाहक जाने और अनास्था अपना लेने का पूरा-पूरा खतरा है । अनैतिकता को विलासिता और उच्छृंखलता के समर्थन में और भी कितने ही प्रवाह चल रहे हैं जो चतुरता और सम्पन्नता की अभिवृद्धि से भी कहीं अधिक तेजी के साथ भ्रष्ट चिन्तन एवं दुष्ट आचरण को उत्तेजना दे रहे हैं । इन परिस्थितियों में आस्था संकट दिनों-दिन घनीभूत होता चला आ रहा है । यह लक्षण महाविनाश के हैं । उस मार्ग पर चलते हुए यादवी गृहयुद्ध में हम सभी किसी न किसी प्रकार अपना आत्मघात कर बैठेंगे ।

यह सामयिक संकट बताता है कि समय रहते उस साधना विज्ञान को, तत्व दर्शन को पुनर्जीवित किया जाय जो चेतना की गरिमा को समझाने और उसे सद्उद्देश्य में निरत करने की विद्या समझा सके । इससे कम में वर्तमान विनाश विग्रह से बच निकलने का और कोई उपाय है नहीं । बुद्धि, सम्पदा और सुविधा की अभिवृद्धि के साथ-साथ उनका सदुपयोग करा सकने वाली भाव चेतना-आत्म विद्या का पुनर्जीवन इन दिनों जितना आवश्यक है उतना इससे पूर्व कभी भी नहीं रहा । इस दिशा में इन दिनों बरती गई उपेक्षा इतनी आत्मघाती होगी कि इसका सुधार समाधान फिर कभी हो ही न सकेगा ।

यह तो हुई सामयिक विभीषिकाओं के समाधान की बात । स्थायी और दूरगामी महत्त्व की बात यह है कि मानवी प्रगति ने जिस प्रकार भौतिकी में गहराई तक प्रवेश करके अनेकानेक वैज्ञानिक उपलब्धियाँ हस्तगत की हैं उसी प्रकार यह प्रयास चेतना के क्षेत्र मे भी चलने चाहिए । कुछ शताब्दियों पूर्व की तुलना में आज की वैज्ञानिक प्रगति में असाधारण अन्तर है । इस क्षेत्र के अन्वेषण ने प्रकृति के अन्तराल में प्रवेश करके उसकी सूक्ष्म परतो को कुरेदा तथा इतना कुछ पाया है, जिसकी कुछ दिन पहले तक किसी को कल्पना तक नहीं थी । बिजली, रेडियो, टेलीविजन, रेल, मोटर वायुयान, पनडुब्बी, अणु-विद्युत, हाइड्रोजन बम, मिसाइलें, अन्तरिक्ष यान, मृत्युकिरण, होलीग्राफी, लेसर जैसी चमत्कारी उपलब्धियों को यदि कुछ शताब्दी पूर्व के कहीं छिपे मनुष्य देख पायें तो वे आश्चर्यचकित हुए बिना न रहेंगे और उसे किसी देव-दानव की करतूत मानेंगे । प्रकृति को कुरेद डालने वाला मनुष्य जगत का एक प्रकार से अधिपति न सही अधिष्ठाता तो बनता ही जा रहा है । इन आश्चर्यों के मूल में मनुष्य की वह गरिमा काम करती देखी जा सकती है जिसे चेतना की प्रखरता कह सकते हैं । वस्तुतः यही वह क्षमता है जो अन्य प्राणियों की तुलना में अतिरिक्त होने के कारण मनुष्य को सृष्टि का मुकुटमणि और परमेश्वर का युवराज कहाने का सौभाग्य मिला है । अन्य प्राणियों को यह अनुदान इतनी ही मात्रा में मिला है जिसमें वे अपना निर्वाह सुविधापूर्वक कर सकें । मनुष्य को भगवान का अतिरिक्त उपहार यही है । बीज रूप में उसे वह सब कुछ प्राप्त है जो नियन्ता के अपने पास है । इस बीज को उगाना मनुष्य का काम है । मानवी चेतना ने प्रकृति को कुरेदा और अनगढ़ पदार्थ को उसने अपने लिए असाधारण रूप से उपयोगी बना लिया । अब इसी प्रयास को दूसरे उच्चस्तरीय प्रयोजन में नियोजित करने की बारी है ।

'भौतिकी' से असंख्य गुनी सामर्थ्यवान् 'आत्मिकी' है । भौतिक विज्ञान के चमत्कारों से सभी परिचित है । आत्म-विज्ञान के रहस्यों से भी हमें अवगत होना चाहिए जब जड़ की तुलना में चेतना का सामर्थ्य अधिक है तो भौतिक विज्ञान की तुलना में आत्म-विज्ञान की उपलब्धियाँ भी अत्यधिक विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण होनी चाहिए । इस क्षेत्र की सफलताओं की तुलनात्मक दृष्टि से विशिष्टता एवं वरिष्ठता कहीं अधिक ऊँची है । भौतिकी द्वारा मिलने वाली उपलब्धियाँ मात्र शरीर की सुविधा प्रदान करने, इसी स्तर की अनुकूलताएँ उत्पन्न करने भर में काम आती है । जबकि आत्मिकी द्वारा उपार्जित विभूतियाँ मनुष्य का अपना स्तर ऊँचा उठाती हैं । कहना न होगा कि यह व्यक्तित्व की गौरव गरिमा ही मनुष्यों की वरिष्ठता उभारती है । उन्हें महामानव, अति मानव, लोकनायक, ऋषि, देवता एवं अवतार स्तर तक ऊँचा उठा ले जाती है । सम्पन्नता तो आतंकवादी दुष्ट दुरात्मा भी संचित करने में सफल हो जाते हैं किन्तु महानता की गौरव गरिमा मात्र उन्हीं को उपलब्ध होती है जो अपने अन्तराल को, चरित्र चिन्तन को,

उच्च स्तरीय बनाने में सफल होता है । इस दिशा में की गई प्रगति ही वास्तविक प्रगति है । उसके सहारे महानता एवं सम्पन्नता के दोनों ही क्षेत्रों में आशातीत प्रगति हो सकती है ।

यों तो प्रकृति विनिर्मित सभी वस्तुएँ मनुष्य के यथावत् उपयोग में नहीं आ पातीं । उनमें से कुछेक ही ऐसी हैं जिन्हें प्राकृत रूप में प्रयोग किया जा सकता है । साधारणतया प्राणी समुदाय आहार पोषण तक ही सीमित रहते, काम चलाते और सन्तुष्ट रहते हैं । यही बात चेतना के सम्बन्ध में भी है । सभी प्राणी अपनी इन्द्रिय क्षमता और अन्तःप्रेरणा के सहारे सामान्य निर्वाह की आवश्यकता तथा सुरक्षा की कठिनाइयों का सामना कर लेते हैं । इससे अधिक की उन्हें आवश्यकता तो नहीं पड़ती । जिस स्तर का जीवन उन्हें जीना है उसके लिए अतिरिक्त प्रयोजन अभीष्ट न होने से सृष्टा ने अधिक कुछ देने की आवश्यकता भी नहीं समझी और अतिरिक्त भार का झंझट लादा भी नहीं ।

मनुष्य को इस समुदाय में नहीं गिना जाता । उसे सृष्टा ने इस जगती का मुकुटमणि बनाकर भेजा है । उसके लिए पेट भरने एवं आक्रमणो से जान बचाने की पशु स्तर की सुविधाएँ पर्याप्त नहीं समझी गईं । इससे अधिक भी उसे कुछ चाहिए । शरीर भी उतने से सन्तुष्ट नहीं होता जितने से कि अन्य प्राणियों का काम चल जाता है । मन की आकांक्षाएँ भी बढ़ी-चढ़ी हैं । साथ ही अन्तःकरण उच्चस्तरीय रीति-नीति अपनाने के लिए अन्यान्य समर्थताओं की भी माँग करता है । यह साधन न मिले तो फिर वन-मानुष स्तर का निर्वाह करने से आगे की कुछ बात नहीं बनती है ।

मानवी संरचना बड़ी विचित्र है । उसकी शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, पारिवारिक, सामाजिक, आध्यात्मिक क्षेत्रों की आवश्यकताएँ इतनी अधिक हैं कि उन्हें पूरा करने के लिए मात्र इन्द्रिय, चेतना एवं मूल प्रवृत्तियों के आधार पर गतिशील अन्तःप्रेरणाणो के सहारे उस तरह काम नहीं चल सकता, जिस तरह कि अन्य प्राणियों का चल जाता है । आवश्यकताओं के असख्य क्षेत्र बढ़ जाने के कारण मनुष्य को अगणित पदार्थों का रूपान्तरण करने, उन्हें अपने उपयोग में आ सकने योग्य बनाना पड़ा है । इसी प्रयास-प्रक्रिया का नाम भौतिकी है । इस विज्ञान का आश्रय लिए बिना मनुष्य को आदिम युग से आगे बढ़ सकने का अवसर ही नहीं मिल सकता था । वर्तमान विकास-युग का पूरा-पूरा श्रेय इसीलिए भौतिकी को दिया जा सकता है ।

उदाहरण के लिए कपास से वस्त्र, कच्चे अन्न से सुपाच्य भोजन, रात्रि में प्रकाश, भूमि से उत्पादन पशुपालन, नौकायन, चिकित्सा, परिवहन, शिक्षा जैसे कार्यों में जिन वस्तुओं का उपयोग होता है, वे प्राकृत रूप में उपलब्ध नही होते, उन्हें पदार्थ के मौलिक स्वरूप को बदलकर काम में आने योग्य बनाना पड़ता है । औजार जमीन में से नहीं निकलते । प्रकृतितः तो भूमि में से मिट्टी मिला लोहा निकलता है, उससे कोई भी वस्तु नहीं बन सकती । अनेकों अग्नि-संस्कार करने के उपरान्त ही कच्चा लोहा शुद्ध होता है और उससे उपयोग योग्य अनेकों वस्तुएँ बनती हैं । पानी की आवश्यकता वर्षा के द्वारा बनने वाले नालों, जोहड़ों से पूरी नहीं हो सकती । इसके लिए कुआँ खोदने, पम्प, चरस आदि का प्रबन्ध करना पड़ता है । यह 'भौतिकी' है ।

इससे आगे उन अनेकानेक आविष्कारों, यन्त्र-कारखानों का सिलसिला शुरू होता है, जिसके माध्यम से प्राकृत पदार्थों को उलट-पुलट कर अनेकों वस्तुएँ बनती हैं । यह निर्वाह की प्रक्रिया हुई । इसके आगे अस्त्र-शस्त्र, कला-कौशल, सुविधा-सम्वर्धन, परिवहन-संचार, विनोद-उपचार आदि के अनकों ऐसे साधनों का क्षेत्र प्रारम्भ होता है, जो निर्वाह से आगे की आवश्यकता पूर्ण करती है । संक्षेप में भौतिकी का वह स्वरूप समझा जाना चाहिए जो अभ्यास में आने के कारण नया जैसा, महत्त्वपूर्ण जैसा तो प्रतीत नहीं होता, पर वस्तुतः वे हैं सभ्यता और प्रगति का मेरुदण्ड उनके अभाव में मनुष्य की आज क्या स्थिति हो सकती है, इसकी कल्पना मात्र से भय का संचार होता है ।

ठीक यही बात आत्मिकी के सम्बन्ध में स्पष्ट है जड़ से चेतन का स्तर ऊँचा है । चेतन ड्राइवर के बिना लाखों, करोड़ों की बनी रेलगाड़ी सही रीति से एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकती । स्वसंचालित यन्त्रों का भी कोई संचालक-नियामक होता है । पदार्थ सत्ता का मानवोपयोगी पक्ष पूर्णतः भौतिकी के चमत्कारों से भरा पड़ा है । आत्मिकी का उद्देश्य मानवी चेतना

को इस योग्य बनाना व ऊँचा उठाना है कि पदार्थों और प्राणियों के साथ व्यवहार करने की ऐसी विधि सुझाये जिसके कारण सुविधा एवं प्रसन्नता बढ़ती रहे। इस आलोक के अभाव में वस्तुओं के दुरुपयोग और प्राणियों से दुर्व्यवहार की अव्यवस्था फैलेगी और फलतः ऐसी परिस्थिति सामने आ खड़ी होगी, जिससे कि सुविधा-सहयोग देने वाले उल्टी हानि पहुँचाने लगें और प्राणघातक संकट खड़े करें। आत्मिकी ही है, जिसके आधार पर मनुष्य अपने चिन्तन और चरित्र को परिष्कृत स्तर का, ताल-मेल बिठा सकने में सक्षम बनाता है। इसके अभाव में उसे अनगढ़, पिछड़े, असभ्य लोगों की तरह वन-मानुष जैसा जीवन जीना पड़ेगा। साधन रहते हुए भी सही उपयोग न बन पड़ने के कारण उल्टे संकट में फँसना पड़ेगा।

अन्य प्राणियों में बुद्धि और आवश्यकता का सन्तुलन है, इसलिए उनकी गाड़ी पटरी पर लुढ़कती रहती है। मनुष्य ने प्रगति की है, सुविधा बढ़ाई हैं, तो उसे यह भी जानना होगा कि उपलब्धियों का उपयोग करते समय किस प्रकार सोचा जाये और व्यवहार में किन मर्यादाओं का ध्यान रखा जाये। इसके अभाव में बढ़े हुए साधनों का दुरुपयोग होने पर विपत्तियों और विग्रहों के टूट पड़ने का खतरा रहेगा। विक्षिप्तों, सनकियों, दुर्बुद्धि-दुराचारियों को अपने पैरों कुल्हाड़ी मारते और दूसरों के लिए संकट खड़े करते, आये दिन देखा जाता है। इसका कारण साधनों का अभाव नहीं, उनके उपार्जन संरक्षण एवं उपयोग की प्रक्रिया से अनजान-अनभ्यस्त रहना होता है। प्रगतिशील और पिछड़े लोगों के बीच इसी विशेषता की न्यूनाधिकता होती है, जिसे सभ्यता, बुद्धिमत्ता, सज्जनता, व्यवहार-कुशलता आदि नामों से पुकारते हैं। संस्कृति यही है। इसी के सहारे मनुष्य प्रगतिशील बनते, सुखी रहते और दूसरों की सहायता करके उनका स्नेह-सहयोग अर्जित करते हैं।

आत्मिकी की यह चर्चा व्यावहारिक जीवन में सरलता और प्रसन्नतापूर्वक निर्वाह चलाने की, सन्तुलन बनाये रहने की प्रक्रिया हुई। इससे आगे और भी बहुत कुछ जानने योग्य है। श्रम-शक्ति के चमत्कार से सभी परिचित हैं। शारीरिक हो या मानसिक, विद्युत आदि के माध्यम से उत्पन्न की गई श्रम-शक्ति ही विविध निर्माणों की व्यवस्था बनाती है। इसके बाद दूसरी शक्ति है—विचारणा। इसके अनेकों पक्ष हैं—कल्पना, तर्क, निर्धारण, बुद्धिमत्ता, दूरदर्शिता, आकांक्षा, आस्था आदि। इन्हीं मानसिक क्षमताओं के द्वारा मनुष्य अपनी विशिष्टताओं को प्रकट करता-सफलताएँ प्राप्त करता तथा श्रेय बटोरता है। विचारशक्ति बढ़ाने की आवश्यकता सभी समझते हैं और शरीर को स्वस्थ रखने के निमित्त आहार-उपचार की तरह बौद्धिक क्षमता बढ़ाने के लिए प्रशिक्षण एवं अनुभव सम्पादन के अनेकों साधन जुटाते हैं। यह विचारणा का काम-काजी पक्ष हुआ। इसके सहारे ही समृद्धि, प्रगति एवं प्रसन्नता के आधार बनते हैं। इस प्रक्रिया को 'सभ्यता' कहते हैं। नागरिकता, सामाजिकता, शिष्टता, व्यवहार कुशलता से सम्बन्ध रखने वाली आवश्यक मर्यादा से अवगत एवं उन्हें ठीक तरह क्रियान्वित कर सकने वालों को सभ्य कहते हैं। यह आवश्यकता भी स्वास्थ्य-रक्षा की तरह नितान्त उपयोगी है। इस प्रयास में यथा-सम्भव अधिकांश लोग प्रयत्नशील भी रहते हैं।

आत्मिकी—'आध्यात्म विद्या' विचारणा में उत्कृष्टता का समावेश कर सकने की विशिष्ट व्यवस्था है, जिसमें निर्धारण और अभ्यास दोनों का ही समावेश है। दृष्टिकोण इसी आधार पर विनिर्मित होता है। आत्मिकी का सीधा सम्बन्ध अन्तःकरण के उस मर्मस्थल से है जिसमें श्रद्धा-विश्वास रूपी उमा-महेश का निवास है। अन्तःकरण चतुष्टय की व्याख्या मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के रूप में की जाती है। मनोविज्ञान की भाषा में इन्हीं को आकांक्षा, आस्था, आदतें कहते हैं और व्यक्तित्व का मूलभूत आधार मानते हैं। यह क्षेत्र जिसका जिस स्तर का होता है, उनका व्यक्तित्व उसी ढाँचे में ढलता चला जाता है। घड़ी की चाबी ही उस मशीन के समस्त कल-पुर्जों को चलाती है। उसी प्रकार मनुष्य के अन्तराल से उठने वाली उमंगें ही मस्तिष्क को तदनुसार सोचने के लिए, शरीर को अभीष्ट साधन जुटाने के लिए, विवश करती है। मस्तिष्क सोचने के लिए स्वतन्त्र नहीं है और न अपनी मर्जी से कुछ करता है। इन दोनों का स्वामिभक्त नौकर की तरह अन्तःकरण से उठने वाली आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए विवश होकर कार्यरत होना पड़ता है।

मानवी सत्ता का मर्मस्थल केन्द्र-विन्दु उसका अन्तःकरण ही माना गया है । वह जिस भी भले-बुरे रूप में ढल जाता है—प्रत्यक्ष-जीवन का स्वरूप और प्रवाह तद्नुसार बनता चला जाता है । व्यक्तित्वों की उत्कृष्टता, निकृष्टता के रूप में जो कुछ भी घटित होता दीखता है, वस्तुतः उसे अन्तःकरण का स्तर ही समझा जाना चाहिए । एक शब्द में अन्तःकरण का आधारभूत उद्गम इसी रहस्यमय केन्द्र को समझा जाना चाहिए । दृष्टिकोण यहीं विनिर्मित होता है । नीति-निर्धारण एवं निर्देशन यहीं से होता है । बाकी शारीरिक और मानसिक ढाँचा तो गाड़ी के दो पहियों की तरह वजन ढोने में लगा रहता है । दिशा-निर्धारण करने एवं गति देने की सारी व्यवस्था जिस ड्राइवर को करनी होती है, उसे अन्तःकरण ही समझा जाना चाहिए । प्रगति, अवगति और दुर्गति की चित्र-विचित्र प्रतिक्रिया है । वह कठपुतली की तरह नाचती तो है, पर उनके धागे अन्तःकरण का बाजीगर अपनी उँगली से बाँधे हुए पर्दे के पीछे छिपा बैठा रहता है । मनुष्य का विश्लेषण-परीक्षण गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर होता है, पर वस्तुतः यह तीनों भी स्वनिर्मित नहीं होते वरन् अन्तःकरण के प्रजापति द्वारा बनाये गए चित्र-विचित्र आकृति के खिलौने भर होते हैं ।

भौंड़ी अक्ल से किसी के ठाट-बाट, चातुर्य, उपार्जन या पद-वैभव को देखकर गरिमा का मूल्यांकन किया जाता है, पर इस अवास्तविक निर्धारण की पोल तब खुलती है जब परिस्थितियाँ तनिक भी प्रतिकूल पड़ने पर, उथले आधार पर खड़ा हुआ बड़प्पन झाग बैठने, गुब्बारा फूटने और बबूले के अदृश्य हो जाने की तरह जादुई सरंजाम हवा में गायब होते दीखता है और तथा-कथित बड़ा आदमी छोटे लोगों से भी गई-गुजरी स्थिति में होने से मुँह मारा हुआ दिखाई पड़ता है । इसके विपरीत जिनके व्यक्तित्व उच्चस्तरीय आधार पर विनिर्मित हुए हैं, वे आन्तरिक प्रखरता के बलबूते अभावों-प्रतिकूलताओं का सामना करते हुए साहसपूर्वक आगे बढ़ते हैं । अपने निजी चुम्बकत्व से ये न केवल लोक, श्रद्धा, जन-सहयोग वरन् आत्म-सन्तोष और दैवी-अनुग्रह भी प्रचुर परिमाण में उपलब्ध करते हैं ।

शरीर एवं मस्तिष्कीय संरचना में, मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई भारी भेद नहीं है और न परिस्थितियाँ ही किसी के इतनी अनुकूल-प्रतिकूल होती हैं, कि प्रगति, प्रतिभा एवं प्रखरता की दृष्टि से जमीन-आसमान जितना अन्तर देखा जा सके । एक ही जंक्शन पर बराबर वाली पटरियों पर खड़ी हुई दो गाड़ियाँ, लीवर गिराने में अन्तर रहने के कारण दो भिन्न-भिन्न दिशाओं में चल पड़ती हैं और कुछ ही देर में उनके मध्य हजारों मील की दूरी बन जाती है । चाल दोनों ही एक जैसी, साधन, ड्राइवर आदि एक जैसे, फिर यह दूरी का अन्तर क्यों पड़ गया ? साथ-साथ क्यों नहीं चलती रही ? इसका एक ही उत्तर है, उनकी दिशा बदल गई । जीवन की दिशा धारा बदलने का आधार मात्र एक ही है—दृष्टिकोण । किस स्तर का जीवन जीया जाय ? उसे किस प्रयोजन के लिए प्रयुक्त किया जाय ? निर्धारित लक्ष्य तक पहुँचने के लिए किन मान्यताओं और गतिविधियों को अपनाया जाय ? यही है वह आधारभूत निर्धारण जिसके सहारे भली या बुरी दिशाओं में जीवन प्रवाह बहता है और पतन के गर्त या उत्थान के शिखर पर जा पहुँचता है ।

अमीबा से लेकर मनुष्य स्तर तक पहुँचने में विकास क्रम की जो लम्बी यात्रा करनी पड़ी है, उसमें विभिन्न स्तर के अनुभव-अभ्यास होते और उपार्जित सम्पदा की तरह जमा होते रहे हैं । यह पूँजी संचित-संस्कारों के नाम से जानी जाती है । मनोविज्ञानी इसी को मूल-प्रवृत्ति के नाम से निरूपित करते हैं । स्वभावतः यह मानवी गरिमा से तुलना करते हुए हेय-स्तर की होनी चाहिए । कृमि-कीटकों और पशु-पक्षियों को जिन आचार-संहिता का पालन और अनुभव-अभ्यासों का संचय करना पड़ा है, वे निश्चय ही मनुष्य स्तर के नहीं हो सकते । छोटे बालकों को जो कपड़े पहनाये जाते है, वे बड़े होने पर उसके उपयोग योग्य नहीं रहते । पशु-प्रवृत्तियाँ मनुष्य द्वारा अपनाई जाने पर उपहासास्पद एवं निन्दनीय बन जाती हैं । उन्हें बरबस ही छोड़ना पड़ता है । भले ही संचित अभ्यास उन्हें ही अपनाये रहने का आग्रह क्यों न करता रहे । इतना ही नहीं छोड़ने के अतिरिक्त पद एवं उत्तरदायित्व के अनुरूप कुछ नया ग्रहण भी करना पड़ता है । आध्यात्म विज्ञान की भाषा में इसी को तप कहते हैं । पदोन्नति करते-करते छोटे कर्मचारी जब बड़े अफसर बनते है, तो प्रगति के हर नये मोड़ पर उन्हें ट्रेनिंग

लेनी होती है । अन्यथा पद ऊँचा और अनुभव नीचा होने पर सारी व्यवस्था ही गुड़-गोबर हो जाती है ।

मनुष्य जीवन-सृष्टि के समस्त जीवधारियों की तुलना में सर्वोच्च पद है । प्राणी के लिए इससे बड़ा न कोई पद है और न गौरव । उसे ईश्वर प्रदत्त सर्वोपरि उपहार और उपलब्धकर्त्ता का अभूतपूर्व सौभाग्य कहा जा सकता है । ऐसे बड़े पद का कार्यभार सफलतापूर्वक चलाने के लिए किस रीति-नीति का, किस दिशाधारा का, अपनाया जाना आवश्यक है, इसके लिए कुछ ऐसा सोचना, मानना और अपनाना पड़ता है, जो भूतकाल की तुलना में सर्वथा भिन्न ही कहा जा सकता है । इस प्रक्रिया को आत्मिकी कहते हैं । उपयोगिता की दृष्टि से भौतिकी की तुलना में कम नहीं वरन् अधिक महत्त्व ही दिया जा सकता है । भौतिकी की उपलब्धियाँ मात्र शरीर की सुविधा एवं मन की गुदगुदी भर प्रदान करती हैं, किन्तु आत्मिकी के आधार पर जिस तरह समूचे व्यक्तित्व की गलाई-ढलाई होती है, उसे एक प्रकार से काया-कल्प ही कहना चाहिए ।

यह काया-कल्प द्विजत्व नाम से भी पुकारा जाता है । साधना की प्रक्रिया नरपशु को नर नारायण में किस प्रकार बदलती है, इसे जानने के लिए जिज्ञासु मनीषियों को आत्मिकी विद्या के गूढ़ तत्वदर्शन को भली-भाँति जानना चाहिए । उच्चस्तरीय साधना सोपानो को तुरन्त पाने का प्रयास करने वालो को इस एक तथ्य को समझ लेना बहुत अनिवार्य है कि अन्तःकरण का परिष्कार, वृत्तियों का शोधन ही समस्त सिद्धियो का राजमार्ग है ।

## सर्वतोन्मुखी सफल जीवन की साधना

जीवन रथ का संचालन सही रीति-नीति से किया जाय तो इसके प्रत्येक चरण पर प्रगति और समृद्धि के, प्रसन्नता और प्रफुल्लता के आधार उपलब्ध होते चले जायेंगे । मनुष्य जीवन से बढ़कर सुविधाओ की सम्भावनाओं से भरा-पूरा सौभाग्य और कुछ है ही नहीं ।

रुचिकर एवं सुविधाजनक वस्तुओ की बहुलता के साथ हम सुखी रहने की बात सोचते हैं और सम्बन्धित व्यक्तियों को आज्ञानुवर्ती इच्छानुकूल देखना चाहते है, पर यह दोनों ही बातें लगभग असम्भव हैं । रुचिकर वस्तुओं की एक सीमा तक ही प्राप्ति हो सकती है पर हमारी तृष्णा तो असीम है । अग्नि में घी डालने की तरह वह सफलताओं से तृप्त नहीं होती, वरन् और भी अधिक की कामना करके अभाव और असन्तोष यथावत् बनाये रहती है ।

लोग यह भूल जाते हैं कि जीवन को सुविधाओं और सफलताओं से भर देने वाली विभूतियाँ हमारे भीतर भरी पड़ी हैं । अपने गुण, कर्म, स्वभाव को परिष्कृत करके हम सच्चे अर्थों में विभूतिवान बन सकते हैं । अपने दृष्टिकोण को दूरदर्शिता और विवेकशीलता के आधार पर सुसंस्कृत बनाकर हम ऐसे व्यक्तित्व विकसित कर सकते हैं जिसके आगे अभावों और विद्वेष-विग्रहों की जड़ ही कट जाय । प्रतिकूलताओ को अनुकूलता में बदला जा सकता है । इसके दो उपाय हैं—एक यह कि, प्रबल पुरुषार्थ करके इच्छानुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त करें । दूसरा यह कि, उपलब्धियाँ और आवश्यकताओं का सन्तुलन मिलाकर सन्तोषपूर्ण निर्वाह क्रम बना लें । इन दोनों तथ्यों का समन्वय भी किया जा सकता है । एक ओर प्रगति के लिए पुरुषार्थ दूसरी ओर साधनों और आवश्यकताओं का सन्तुलन । इस प्रकार दायाँ-बायाँ कदम बढ़ाते हुए, प्रसन्नता भरा जीवन जी सकते हैं और क्रमिक प्रगति से सन्तुष्ट रह सकते हैं ।

भौतिकवादी दृष्टिकोण यह है कि हम सही हैं, गलती और कमी बाहर है । लोगों को, परिस्थितियों को हमारे अनुकूल बनना चाहिए । इसके विपरीत आध्यात्मवादी दृष्टिकोण यह है कि हमारे प्रयत्न पुरुषार्थों की, स्वभाव और चिन्तन की त्रुटियों से गुत्थियाँ उलझती हैं, समस्याएँ उत्पन्न होती हैं और विपन्न विपरीतताएँ सामने आ खड़ी होती है । अस्तु व्यक्तियों और परिस्थितियों को सुधारने के साथ-साथ अपनी दुर्बलताओं, विकृतियों और विसंगतियों को सुधारने पर जुट जाना चाहिए । हम सर्वथा सही ही हैं । यह मानना अत्यन्त हानिकारक, अवांछनीय, अवास्तविक और पाखण्डपूर्ण है जितनी कमियाँ हम दूसरों में सोचते हैं शायद उससे अधिक दूसरे हमारे सम्बन्ध में सोचते हैं । दोनों पक्ष अपनी-अपनी बात पर अड़े रहें, विपरीत मान्यताएँ बनाये रहें तो मिलन-समन्वय का कभी अवसर ही न आयेगा और खाई चौड़ी होती जायेगी ।

यही बात अभीष्ट साधनों के सम्बन्ध में है । जिस स्तर की, जितनी मात्रा में वस्तुएँ हमे अभीष्ट हैं वे इच्छा मात्र से तो नहीं मिल जातीं । सामयिक परिस्थितियों का हमारे स्तर एवं प्रयत्न का भी बहुत कुछ आधार उपलब्धियों के साथ जुड़ा रहता है । यह सब कुछ इच्छा करने मात्र से जादुई ढंग से पूरा नहीं हो सकता । साधना से सिद्धि मिलती है । अनवरत पुरुषार्थ, जिसमें उपलब्धियों के लिए श्रम और अपने स्तर का विकास दोनों ही बातें सम्मिलित हैं, यह ठीक प्रकार किया जाय तो समयानुसार उसका प्रतिफल अनुकूल साधन मिलने के रूप में सामने आ सकता है । सो भी सुनिश्चित नहीं क्योंकि हमारी आकांक्षाएँ अनियन्त्रित होती हैं, वे न अपने स्तर, प्रयास, साधन का अनुमान लगाती हैं और न परिस्थितियों की बात सोचती हैं । ऐसे ही आँधी तूफान की तरह उमड़ पड़ती हैं चाहने मात्र से ही यदि सब कुछ मिल जाया करे तो फिर मनुष्य-मनुष्य न कहलाये तब उसका नाम कल्पवृक्ष कहलाये । बुद्धिमान मनुष्य वस्तुस्थिति को देखता समझता है । तदनुकूल इच्छाओं को नियन्त्रित करता है । ऐसे ही लोग सुख सन्तोष की साँस लेते हुए हर्षोल्लास भरा समय गुजारते हुए हल्का-फुल्का, हँसता-हँसाता जीवन जीते देखे गए हैं । यही है जीवन-विद्या का स्वरूप और प्रतिफल जिसे पाकर मनुष्य जन्म की सफलता, सार्थकता अनुभव की जा सकती है ।

संजीवनी विद्या का आधार यह है कि हम अपने व्यक्तित्व को, दृष्टिकोण को परिष्कृत करने में जुट जायें और गुण, कर्म, स्वभाव का स्तर अधिकाधिक सुविकसित करते चले जायें ताकि सामान्य साधनों की, अनगढ़ साथियों की, स्थिति रहते हुए भी हर्षोल्लास को खोयें बिना शान्तिपूर्वक निर्वाह किया जा सके । जीवन विद्या का यह निर्वाह पक्ष है । प्रगति पक्ष यह है कि कैसे हमारी वे क्षमताएँ विकसित हों जो प्रगति का मूलभूत आधार सिद्ध होती रहेंगी ।

देवताओं के रूप में वस्तुतः हमारे सद्गुणों को ही चित्रित किया गया है । उन्हीं की साधना वास्तविक देव साधना है । अदृश्य, अविज्ञात और अनिश्चित अस्तित्व वाले देवता प्रसन्न होकर वरदान देते हैं या नहीं यह संदिग्ध हैं पर यह पूर्णतया सुनिश्चित है कि हमारे सद्गुण रूपी देव पग-पग पर आकाश कुसुम बरसाते और ऐसी उपलब्धियाँ प्रदान करते हैं जिन्हें देखकर दूसरे लोग दाँतों तले उँगली दबाएँ और हम स्वयं अपनी प्रगति पर गहरा सन्तोष अनुभव करें ।

जीवन के अनेक पहलू हैं । जिनमें मनःस्थिति को सन्तुलित बनाना सर्वप्रथम है । आलस्य और प्रमाद में कटने वाले समय को किस प्रकार अभीष्ट प्रगति की दिशा में सुनियोजित किया जाय ? मन में उत्साह और शरीर में स्फूर्ति कैसे पैदा हो ? मस्तिष्क को अशान्त बनाये रखने वाले उद्वेगों से छुटकारा कैसे मिले ? चिन्ता, भय, निराशा, आशंका, रोष, असन्तोष जैसे मनोविकारों से छुटकारा पाकर निर्भय निश्चिन्तता की मनःस्थिति कैसे सम्भव हो ? टूटे हुए मनोबल को शौर्य, साहस भरा कैसे बनाया जाय ? अकारण तुनकने, खीजने, चिड़चिड़ाने और आवेश-आक्रोश में भर जाने की, अपने को और दूसरों को जलाने वाली आग्नेय आदत से कैसे पिण्ड छूटे ? किसी भी काम में जम कर चित्त न लगने निरन्तर बन्दर की-सी उछल-कूद करने वाली चंचल अस्थिरता किस प्रकार निरस्त हो ? कठिन प्रसंगों में भी सन्तुलन बनाये रखने की, विपत्ति से छुटकारा पाने का उपाय सुझाने वाली विवेकशीलता का विकास कैसे हो ? अपनी समस्याओं को हल करने के लिए दूसरों के सामने नाक रगड़ने की दीनता के स्थान पर स्वाभिमान एवं स्वाभिमान भरा आत्मबल कैसे ऊँचा उठे ? वर्तमान ज्ञान परिधि को किस प्रकार निरन्तर समुन्नत बनाने का प्रवाह जारी रहे ? दिनचर्या निर्धारण करके उस पर सुदृढ़ कैसे रहा जाय ? निरर्थक नष्ट होने वाली शक्तियों को किस प्रकार सुनियोजित किया जाय और उन्हें उपयोगी दिशा में कैसे सुसंलग्न करके अभीष्ट सफलता को सुनिश्चित बनाया जाय ? यह मनःक्षेत्र से सम्बन्धित प्रश्न है जिनके हल खोजना और निकले हुए निष्कर्षों को तत्परतापूर्वक अपनाना ऐसा प्रयास है जिसके आधार पर कोई भी व्यक्ति मनस्वी, ओजस्वी, तेजस्वी और प्रचण्ड प्रतिभा सम्पन्न बन सकता है ।

हम में से अधिकांश लोग रुग्ण रहते हैं । सृष्टि में ऐसी विशेषताओं से भरा शरीर अन्य किसी प्राणी को नहीं मिला । मनुष्य शरीर की, उसके मस्तिष्क की मशीनरी ऐसी अद्भुत है जिस पर मनुष्यकृत अब तक की सारी यांत्रिक सफलताओं को निछावर करके फेंका

जा सके । सचमुच यह ईश्वर की अनुपम रचना है । यदि हम शरीर का ठीक से उपयोग कर सकें तो उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ पग-पग पर हर्षोल्लास से भरा-पूरा रख सकती है और कर्मेन्द्रियाँ समृद्धि के अनुदान दे सकती हैं, जिन पर कुबेर और इन्द्र को भी ईर्ष्या करनी पड़ी । सचमुच मनुष्य अद्‌भुत है, अनुपम है, असाधारण है, अभिनव है ।

शरीरगत दुर्बलता और रुग्णता निश्चित रूप से हमारी बनाई और बुलाई हुई है । मनुष्य बन्धनों में जकड़े हुए पशु-पक्षियों को छोड़कर उन्मुक्त प्रकृति की गोद में खेलने वाले वन्य-प्राणियों में से कोई भी बीमार नहीं पड़ता । मौत पर बुढ़ापा तो सबको आता है पर प्रकृति-पुत्र प्राणियों को रुग्णता नहीं सताती । अकेला मनुष्य ही है जिसने अपनी तथाकथित बुद्धिमता के अभिमान में चूर होकर आहार-विहार की सरल प्रक्रिया को अत्यन्त विकृत बना दिया । रहन-सहन की समस्त मर्यादाओं का अतिक्रमण करके ऐसा आचरण आरम्भ कर दिया, मानो वही सर्वतः स्वतन्त्र है । चाहे जो कर गुजरने में, इन्द्रियो का बुरे से बुरा दुरुपयोग करने में वह स्वतन्त्र है । इसी दर्प के चूर करने के लिए प्रकृति के हण्टर उसकी पीठ पर रुग्णता और दुर्बलता के रूप में पड़ते हैं । तिलमिला कर वह दवादारू के कुचक्र मे पड़ता है जहाँ जले पर नमक बुरकने की तरह शरीर गत विषाक्तता को और अधिक बढ़ाते हुए, रोगों की स्थिर जड़ जमाते हुए मात्र तात्कालिक कष्ट शमन का जादू भर दिख जाता है ।

स्वास्थ्य का संरक्षण, सम्वर्धन और स्थिरीकरण मनुष्य जीवन की एक महती आवश्यकता है । इसके बिना कुछ पाना, कमाना, भोगना तो दूर हर घड़ी रोते, कराहते, घर वालों को दुःखी बनाते, दवादारू के खर्च सहते भार-भूत जिन्दगी जीनी पड़ती है । इस नारकीय स्थिति से उबरने की चाबी मनुष्य के अपने ही हाथ मे है । दूसरा कोई यहाँ तक कि हकीम, डॉक्टर और जादू मन्त्र वाले भी अस्वस्थता निवारण में कुछ सहायता नहीं कर सकते । खान-पान, आहार-विहार, रहन-सहन मे अवांछनीय अप्राकृतिकता की जो भरमार हो गई है उसमें आमूल चूल परिवर्तन करने का साहस जिस सीमा तक जुटाया जा सकेगा उसी अनुपात से रोगों की निवृत्ति और स्वास्थ्य रक्षा का दैवी वरदान पाया जा सकेगा ।

हम खाते तो बहुत कुछ हैं—स्वाद भी विविध-विधि लेते हैं और व्यंजन पकवानों से विविधता में भी खूब रस लेते हैं, इस स्वाद लिप्सा पर पैसा और समय भी कम खर्च नहीं होता पर शरीर को शक्ति सामर्थ्य देने और उसे हरा-भरा बनाये रखने के लिए क्या, कितना, कब और कैसे खाया जाय ? इस सम्बन्ध में पूर्णतया अनाड़ी होते हैं । न खाने योग्य खाते हैं और खाने योग्य फेंकते हैं । कौरवों को पाण्डवों के एक घर में जल में थल और थल में जल दीखा था और उन्हें द्रौपदी द्वारा 'अन्धों के अन्धे ही होते है' का व्यंग-उपहास सहना पड़ा था । वह पौराणिक कथा है पर हमारे आहार-व्यवहार में यह घटना सर्वथा सही सिद्ध होती है ।

हर कार्य उल्टा, हर आदत उल्टी । कालिदास के आरम्भिक जीवन की यह घटना प्रसिद्ध है कि वे जिस डाली पर बैठे थे उसी को काट रहे थे । पीछे को गिरे और घायल हो गए । हम आज के पूरे और पक्के कालिदास हैं जिस शरीर रूपी पेड़ से हमें विविध सुख-सुविधाओं का उपार्जन करना है, उसी को विकृत आदतों के शिकार होकर बेतरह काटते हैं । पीछे जब बीमारियाँ घेरती हैं तो देवी-देवताओं से लेकर दुर्भाग्य तक को कोसते हैं । इस आत्म-प्रवंचना का नशा पीकर थोड़ा चैन, सन्तोष मिल सकता है पर गुत्थी तो जहाँ की तहाँ उलझी पड़ी रहेगी हम चारपाई पर लिटा देने वाले तीव्र रोगों के शिकार न सही, आये दिन कष्ट देने वाले जुकाम, कब्ज, सिरदर्द, अनिद्रा, बेचैनी जैसे रोग तो निरन्तर बने ही रहते हैं । वे तो अब सभ्यता के अंग भी बन गए है और 'बड़े आदमियों' के लिए फैशन जैसी एक आवश्यकता मानी जाने लगी है ।

इस दुर्भाग्यपूर्ण विडम्बना से छुटकारा कैसे पाया जाय, इसका अत्यन्त सरल किन्तु अत्यन्त कठिन, अत्यन्त स्पष्ट किन्तु अत्यन्त रहस्यमय मार्ग है जिसे हर जीने वाले को अनिवार्य रूप से जानना चाहिए । प्रयत्न किया जायेगा कि जीवन जीने की कला का, संजीवनी विद्या का जो दस दिवसीय प्रशिक्षण शान्ति कुंज में आरम्भ किया जा रहा है उसमें शरीर और मन जैसे महत्वपूर्ण उपकरणों का सुसंचालन सांगोपांग रीति से

सिखाया, समझाया जाय और बताया जाय कि कैसे अपनी शारीरिक, मानसिक स्वस्थता के लिए किस क्रम से क्या उपाय करने चाहिए ?

घर-परिवार मनुष्य को मिला हुआ एक सुरम्य उद्यान-उपवन है उसमें आनन्द और उल्लास के फल-फूल हर घड़ी उपलब्ध रहने चाहिए । उसकी शोभा, सुषमा से, सुगन्ध-सुन्दरता से मन में हर समय आनन्द, उल्लास की गुदगुदी उठनी चाहिए । परिवार एक छोटा-सा किन्तु समूचा राष्ट्र ही, समाज है । उसे बुद्धिमानी और दूरदर्शिता के साथ चलाया जाय तो हम कुशल राष्ट्रपति, लोकनायक सिद्ध हो सकते हैं । इस छोटी-सी प्रयोगशाला में ऐसे आविष्कार किए जा सकते हैं, ऐसे प्रतिफल प्राप्त किए जा सकते हैं जिनसे अपना मन प्रमुदित रहे, गर्व गौरव अनुभव करे, परिजनों में हर्षोल्लास फूटता रहे, वे सभी सुसंस्कृत और सुविकसित बनते चले जाये, बाहर के व्यक्ति उस परिवार को देखकर प्रेरणा ग्रहण करें, यह स्वप्न नहीं एक तथ्य है, जिसे कोई भी क्रिया-कुशल व्यक्ति सहज ही सँजो सकता है ।

परिवार के हर सदस्य का स्वार्थ और परमार्थ एक दूसरे के लिए घनिष्ठता एवं मधुरता भरे सम्बन्ध बनाये रहने में है पर देखने में आता है कि उनके बीच कटुता और मनोमालिन्य की चौड़ी खाई बनी रहती है । यहाँ तक कि पति-पत्नी, जिनके कि अनेक सहज स्वाभाविक कारणों से व्यक्तित्व अत्यन्त घुले-मिले होने चाहिए उनके बीच भी नारंगी की फाँकों की तरह पृथकता पायी जाती है—रोष, असन्तोष छाया रहता है जबकि दोनों के बीच गंगा-यमुना के संगम की तरह परम पवित्र स्नेह, सौजन्य निरन्तर उमगता रहना चाहिए । परस्पर दोनों को एक प्राण दो शरीर बनकर रहना चाहिए, पर ऐसा दिखाई कहीं कदाचित् ही किंचित् ही पड़ता है । इसका कारण दृष्टिकोण की, स्वभाव की—आदतों की मलीनता ही है । यदि इसे परिष्कृत किया जा सके तो पति-पत्नी के बीच अनेको असमानताएँ रहते हुए भी स्नेह सहयोग की सुदृढ़ता बनी रह सकती है और उसका लाभ पूरे परिवार को मिल सकता है । यह तो पति-पत्नी की बात हुई । बच्चो का शारीरिक, मानसिक और चारित्रिक दृष्टि से सुविकसित होना, वयोवृद्ध का सन्तोष, संयुक्त परिवार के अनेक वयस्क, अवयस्कों का समन्वय-सन्तुलन अपने आप में बहुत बड़ा काम है । जिसे परिवार का अध्यक्ष अथवा उसका प्रभावशाली सदस्य सुव्यवस्थित बनाये रहने में आसानी से सफल हो सकता है ।

घर की आर्थिक स्थिति, शोभा सज्जा, स्वच्छता, व्यवस्था इस बात पर निर्भर है कि परिवार का प्रत्येक सदस्य अपना कर्तव्य उत्तरदायित्व समझे और उसे ठीक तरह निवाहे । इसके लिए उन्हें निरन्तर प्रशिक्षित करने और जागरूक रखने की आवश्यकता पड़ती है । यह कार्य झल्लाने से नहीं वरन् अत्यन्त मधुर, मृदुल और सहज स्वाभाविक रीति-नीति से ही हो सकता है । इसके लिए एक आचार संहिता होनी चाहिए और परिपाटी जिसमें बँधकर हर परिजन को अनुशासन और कर्तव्य की धुरी पर घूमते रहने का अभ्यास होना चाहिए यह कार्य सहज है । कठिन वे कार्य दीखते हैं जो अभ्यास में नहीं आते । जब इस प्रयोग को अपनाने के लिए उतरा जायेगा तो प्रतीत होगा कि यह सब कुछ कितना सरल, सुखद और स्वाभाविक है ।

कहा जा चुका है कि परिवार संचालन एक राष्ट्र संचालन, समाज संरचना, उद्यान विकास जैसा कठिन किन्तु अधिक से अधिक विनोद-प्रमोद से भरा हुआ बहुत ही हल्का-फुल्का काम है । इस प्रयास में खाद पानी देने से लेकर नोंचने, उखाड़ने और काट-छाँट करने तक के अगणित उतार-चढ़ाव और क्रिया-कौशल सम्मिलित हैं । राजनेता, लोकनायक, मनोवैज्ञानिक, व्यवस्थापक, प्रशासक, चिकित्सक, सन्त और न्यायाधीश के समस्त गुणों का समन्वय परिवार के सफल संचालन में अभीष्ट होता है । जिन्हें इसका ज्ञान है उन्ही को परिवार बसाना चाहिए अन्यथा अनाड़ी कारखानेदार जिस प्रकार दुर्घटनाएँ करता है, दिवालिया बनता है और निन्दित, लांछित होता है, वही दुर्गति उसकी होती है जो कामवासना से प्रेरित होकर कौतुक, कौतूहलवश विवाह कर लेता है, परिवार बसा लेता है पर उसके संचालन की कला से सर्वथा अपरिचित होता है । हमारे परिवार आज इसी अनाड़ीपन की चट्टान से टकरा कर चूर-चूर हो रहे हैं, पर परिवार मे नरक की ज्वालाएँ जल रही है और हर परिजन अपने को प्रतिबन्धित कैदी की तरह बँधा जकड़ा दुःख भोगता अनुभव करता है ।

जिन्होंने अभी नया परिवार नहीं बसाया है उन्हें भी वर्तमान परिवार के प्रति अपनी वफादारी जिम्मेदारी तो निभानी ही चाहिए । व्यक्ति और समाज के बीच की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी ही परिवार है । उसे सुसन्तुलित रखने से घर के सदस्यों के व्यक्तित्व निखरेंगे और समाज को सुयोग्य नागरिकों का अनुदान मिलेगा । जिन्होंने अभी विवाह नहीं किया है, नया परिवार नहीं बसाया है, उन्हें तो उस उत्तरदायित्व का निर्वाह करने की कला का सांगोपांग अभ्यास करना नितान्त आवश्यक है ताकि श्रीगणेश ही श्रद्धा भरे वातावरण में किया जा सके । जिनके परिवार बन गए है, जो किसी परिवार के सदस्य हैं उन्हें भी यह जीवन-कला जाननी चाहिए ताकि नरक को स्वर्ग में, अवगति को प्रगति में, असन्तोष को स्नेह-सहयोग में बदलने की कुछ कहने योग्य सफलता प्राप्त की जा सके ।

जीवन कला, संजीवनी विद्या कितनी महत्त्वपूर्ण है, उसका माहात्म्य कह सुनकर समझाया नहीं जा सकता वह तो अनुभव करने की ही चीज है । जिसे हर आस्तिक नास्तिक को, हर शिक्षित-अशिक्षित को, हर नर-नारी को, हर मत सम्प्रदाय वाले को सीखना समझना ही चाहिए । शान्ति कुंज को इस प्रशिक्षण के शुभारम्भ का केन्द्र बनाकर वस्तुतः आध्यात्म, धर्म और तत्व ज्ञान के अति प्राचीन आधार को आज की परिस्थिति मे व्यवहार योग्य बनाने का अति नवीन प्रयत्न है । इस शिक्षा के आधार पर हमारे शरीर, मन और परिवार इस स्थिति में पहुँच सकते हैं, जिसे धरती पर स्वर्ग का अवतरण कहा जा सके । मनुष्य के गुण, कर्म, स्वभाव में उत्कृष्टता का समावेश हो सके तो उसे मनुष्य में देवत्व का उदय होने के रूप में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है । यह अभिशप्त मानव जीवन के लिए दैवी वरदान से कम उपलब्धि नहीं है । जीवन-कला वस्तुतः मनुष्य जीवन की सफलता, सरसता का सर्वोच्च सोपान है ।

आवश्यकताएँ बढ़ रही हैं—साथ ही महँगाई आकाश छू रही है ऐसी दशा में जनसाधारण का अर्थ सन्तुलन बिगड़ रहा है । पैसे की तंगी हर व्यक्ति अनुभव करता है । इतने पर भी यह कहा जा सकता है इस तंगी के लिए हम अपने को सर्वथा निर्दोष नहीं मान सकते । यदि अपनी अर्थव्यवस्था के आय और व्यय स्रोतों पर पुनर्विचार करें तो स्थिति में आशाजनक परिवर्तन हो सकता है । बचे हुए समय का घर के वयस्क लोग उपार्जन के लिए उपयोग करें उपार्जन का कला-कौशल सीखें, श्रम से प्यार करने की आदत डालें, अधिक आजीविका देने वाले कार्यों को तलाश करते रहें, अपनी उपार्जन योग्यता बढ़ाते रहें तो कोई कारण नहीं कि उन सामूहिक प्रयत्नों से अधिक उपार्जन में योगदान न मिले ।

अपने देश में केवल एक-दो व्यक्ति ही कमाते हैं और शेष सारा परिवार बैठकर खाता है । जो असमर्थ है, जो व्यस्त हैं वे न कमायें तो ठीक है पर यह बुरा है कि काम करने में बेइज्जती समझी जाय और ठाले-बैठे रहते हुए श्रम से जी चुराया जाय । इसी बुरी आदत ने ही अपने देश को दरिद्र बनाया है । उद्यमी, पुरुषार्थी, परिश्रमी और कमाऊ बनने की आदत समस्त परिवार में उत्पन्न करनी चाहिए । दूसरी ओर मितव्ययिता की बात सोचनी चाहिए । असावधानी से और अनावश्यक चीजों में नशेबाजी जैसी बुरी आदतों में हमारा ढेरों धन नष्ट होता है यदि अनावश्यक को छोड़ने और आवश्यक मदों में खर्च बढ़ाने की बात नये सिरे से सोची जाय तो वर्तमान मदों मे भारी हेर-फेर करने की आवश्यकता प्रतीत होगी । बजट बनाकर चला जाय । आमदनी और खर्च का, आवश्यक-अनावश्यक का, ध्यान रखते हुए किस मद में कितना खर्च किया जाय इसका सन्तुलन बनाया जाय तो कम आदमनी के लोग भी एक उपयोगी व्यवस्था बना सकते हैं और इस आधार पर कम आमदनी होते हुए भी प्रसन्नता और सन्तोष का जीवन जी सकते हैं ।

इन मोटी बातों को सिद्धान्ततः सभी लोग जानते हैं, पर ऐसे बहुत कम हैं जो साहसपूर्वक इन अनभ्यस्त सिद्धान्तों के वर्तमान ढर्रे को पलटकर फिर से नई अर्थ-नीति निर्धारित कर सकें और नया प्रयास, अभ्यास चालू कर सकें । जीवन जीने की विद्या के अन्तर्गत इस सन्दर्भ में शुभारम्भ से लेकर उसके क्रमिक विकास की प्रक्रिया उदाहरण देकर समझाने का प्रयत्न किया जाता है ताकि आर्थिक तंगी से, ऋणग्रस्तता से छुटकारा पाने का नैतिक एवं बुद्धि संगत और व्यावहारिक मार्ग प्राप्त किया जा सके । बाल बुद्धि के उपहासास्पद उपाय तो सट्टा, लाटरी, जुआ, चोरी से लेकर भाग्योदय, गढ़ा-

खजाना मिलने और लक्ष्मी देवी को सिद्ध करने जैसे अनेकानेक हैं, पर उनसे निरर्थक समय नष्ट होता है और निराशा ही हाथ लगती है । मंजिल तो दो पैरों से ही चली जाती है । उड़ानें और कुदाने मधुर तो लगती हैं, पर व्यावहारिक नहीं हैं ।

समाज व्यवहार—शिष्टाचार दूसरों के साथ निभना और उन्हें अपने साथ निभाना, प्रतिष्ठित, प्रामाणिक और सम्मानित होकर जीना सबसे बड़ा कला-कौशल है । जिसे लोग भावनापूर्वक सहयोग प्रदान करें, जो लोगों को सहयोग देकर अपनी गरिमा का गर्व अनुभव कर सके, वह सफल कलाकार है । जिसने हँसना सीखा और हँसना सिखाया उसका गौरव किसी सम्पत्तिवान से कम नहीं है । "टूटे को बनाना और रूठे को मनाना" जिसे आता है उसे सब कुछ आता है । जिसकी वाणी से मधुरता और व्यवहार से सज्जनता टपकती है वह सच्चे अर्थों में शालीन है । उदारता, आत्मीयता, सहृदयता, सज्जनता ऐसे गुण हैं जिनसे आकर्षित होकर हर कोई खिंचता और चिपकता चला आता है । जो अपने को प्रामाणिक-विश्वस्त और चरित्रवान सिद्ध कर सका मानो उसने सबका हृदय जीत लिया । ऐसे व्यक्तित्व हर काम में सफल होते हैं । जन-सहयोग प्राप्त कर सकना दूसरों पर अपनी छाप छोड़ सकना बहुत बड़ी उपलब्धि है । प्रगति और सफलता के अनेक द्वार इसी आधार पर खुलते हैं । कोई व्यक्ति एकाकी प्रयत्नों से कहने लायक उन्नति नहीं कर सकता । जन-सहयोग पग-पग पर चाहिए और वह प्रभावी एवं आकर्षक व्यक्तित्व के आधार पर ही मिलता है । उसे उपार्जित किया जा सकता है बशर्ते कि अपने आप का नये सिरे से निर्माण आरम्भ किया जाय । जीवन-कला के अन्तर्गत व्यक्तित्व को प्रतिभाशाली बनाने के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक आधारों को सीखने हृदयंगम करने एवं अभ्यास में लाने की प्रेरणा मिलती है । स्वभाव परिवर्तन वृद्ध शरीर को युवा बनाने वाले तथाकथित कायाकल्प विधान से कम नहीं कुछ अधिक ही महत्त्वपूर्ण है ।

देश, धर्म, समाज और संस्कृति के प्रति हर मनुष्य के कुछ परम पवित्र कर्तव्य हैं । आत्मा और परमात्मा के लिए बिना कुछ किए किसी को शान्ति नहीं मिल सकती । परमार्थ, लोक-मंगल और सर्वोत्कर्ष की आदर्शवादी रीति-नीति को जीवन में कोई स्थान न रहे तो वह सर्वथा नीरस और निरर्थक बन जायेगा भले ही उसके साथ कितनी ही बढ़ी-चढ़ी सम्पन्नता क्यों न जुड़ी हो । धर्म और आध्यात्म का विशालकाय ढाँचा इसीलिए खड़ा किया गया है कि मनुष्य न केवल व्यक्तिगत उत्कृष्टता प्राप्त करे वरन् सामाजिक क्षेत्र में भी आदर्शवादी क्रिया-कलापों में उत्साहपूर्वक बढ़े-चढ़े अनुदान प्रस्तुत करने का समुचित प्रयास करे । उभय-पक्षीय प्रयोजनों का सन्तुलन बनाये रहकर, स्वार्थ एवं परमार्थ का समन्वित क्रिया-कलाप क्या होना चाहिए, अपनी स्थिति में कौन क्या कर सकता है ? यदि इसकी समुचित जानकारी एवं प्रेरणा मिल सके तो मनुष्य सच्चे अर्थों में सुख-शान्ति पा सकता है और सुखी, सन्तुष्ट रह सकता है उसके चेहरे पर प्रसन्नता एवं प्रफुल्लता नाचती पायी जायेगी ।

ऊपर की पंक्तियों में सफल-जीवन की दिशा में कुछ विचारणीय आधारों की चर्चा है । इनकी सिद्धान्त रूप से पुस्तकों और सत्संगों में कभी-कभी अधूरी चर्चा पढ़ने-सुनने को भी मिल जाती है पर क्रमबद्ध सामयिक एवं व्यक्ति विशेष की स्थिति समस्या को ध्यान में रखते हुए तदनुकूल परामर्श मिलना कहीं कदाचित् ही सम्भव होता है । न लोग ठीक तरह अपनी स्थिति व्यक्त कर पाते हैं और न आदर्श एवं व्यवहार को मिलाकर चलने का चिन्तन अनुभव किन्हीं को होता है, फलतः यदि पूछने बताने की बात भी निरर्थक सिद्ध होती है । कई बार तो उल्टे परामर्श देकर भौड़े सलाहकार कई बार गुत्थी और भी अधिक उलझा देते हैं । आदर्शवादी सिद्धान्त जिनका आज बहुत ढोल पीटा जाता है, इन परिस्थितियों में किस हद तक, किस प्रकार, किस स्तर पर प्रयुक्त किए जा सकते हैं और क्रमिक पग बढ़ाने की प्रक्रिया क्या हो सकती है । इसे कोई विरले ही जानते हैं । आदर्श और व्यवहार की संगति न बैठ पाने के कारण अब उन्हें केवल कहने सुनने की, चर्चा विनोद की अव्यावहारिक प्रक्रिया भर मान लिया गया है । यह कितनी दुःखद विडम्बना है ।

जीवन जीने की कला, संजीवनी विद्या, आज की स्थिति में आज के मनुष्य के लिए पूर्णतया व्यवहार में आने योग्य है । उसमें किसी प्रकार की हानि होने की बात रत्ती भर भी नहीं है । हर दृष्टि से उसमे हर प्रकार का लाभ ही लाभ है । ऐसी जीवन विद्या को सीखना और सिखाना निश्चित रूप से अति महत्त्वपूर्ण और अति आवश्यक है ।

## सर्वतोन्मुखी प्रगति की सरल साधना

प्रगति पथ पर चलते हुए दो कदम बढ़ाने पड़ते हैं। पिछला एक पैर जिस जगह पर था उसे छोड़ता है और दूसरा जहाँ था उसे पीछे छोड़कर स्वयं आगे बढ़ता है। यह क्रम दूसरे को भी अपनाना पड़ता है। आगे बढ़ने के लिए पिछला छोड़ना पड़ता है छोड़ने के बाद साथी से आगे निकल जाने का प्रयास करना होता है। यही सामान्य यात्रा में भी होता है और यही जीवन-लक्ष्य की प्रगति यात्रा में भी करना होता है।

आत्मोत्कर्ष की दिशा में अग्रसर होने वाले को दो कदम बढ़ाने पड़ते हैं। एक वह जिसमें पूर्व-जन्मों की पिछड़ी योनियों में संचित हुए उन कुसंस्कारों का परिमार्जन करना होता है। जो उन परिस्थितियों में भले ही उपयुक्त रहे होंगे या मानवी कलेवर में प्रवेश करने के उपरान्त वे अनावश्यक ही बन जाते हैं। गरिमा की दृष्टि से ओछे भी जान पड़ते हैं और अपनाये रहने पर हानिकारक भी सिद्ध होते हैं। छोटे बच्चे की पोशाक बड़े होने पर बेकार हो जाती है। कोई उसी को पहने रहने का आग्रह करे तो न केवल उपहासास्पद ही बनेगा वरन् तालमेल बिठाने में भारी अड़चन भी अनुभव करेगा। जबरदस्ती करने पर मुसीबत में भी फँसेगा। पशु-पक्षी निर्द्वन्द्व होकर नंगे विचरते हैं जहाँ चाहे बिना किसी प्रतिबन्ध अनुशासन के मल-मूत्र भी त्यागते हैं, पर वैसा करना मनुष्य के लिए अशोभनीय है। वह जब उन योनियों में रहा होगा तब उसे प्रवृत्तियाँ सहज लगती थीं और अभ्यस्त थी पर अब उनके लिए आग्रह करना अबुद्धिमत्ता पूर्ण ही माना जायेगा। उन्हें छोड़ने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं।

न केवल पशु और मनुष्य के बीच भारी अन्तर पड़ता है वरन् मनुष्य की अविकसित और विकसित स्थिति में भी ऐसा ही फर्क पड़ जाता है। बच्चे जैसा स्वेच्छाचार बरतते हैं वैसी अनुशासनहीनता बड़े होने पर नहीं चल सकती। बचपन और प्रौढ़ता न केवल आयु के हिसाब से आँकी जाती है वरन् स्तर भी एक कसौटी है। अनगढ़, कुसंस्कारी, लालची, मोहग्रसित, निष्ठुर, कृपण, संकीर्ण, स्वार्थी, प्रकृति के व्यक्ति किसी भी आयु के क्यों न हो अनगढ़, अविकसित, बचकाने ही माने जायेंगे। ऐसे ही लोग ऐसी भूलें करते हैं, ऐसी कुचेष्टाएँ बरतते हैं जिन्हें अनैतिक अवांछनीय कहा जाय। पाप कर्मों का इसी स्थिति में उभार बाहुल्य रहता है। आत्मिक प्रगति की दिशा में बढ़ने वालों का यह पिछला कदम उस स्थान से हटाना पड़ता है, जहाँ वह जमा हुआ था। इसे परिशोधन, परिमार्जन भी कह सकते हैं।

दीवार चुनने से पूर्व नींव खोदनी पड़ती है। पोशाक सीने का प्रथम चरण काटना है, दूसरा सीना। बीज बोने से पहले खेत की जुताई होती है। उपकरण ढालने से पहले धातु को गलाना पड़ता है। सर्कस के कलाकार अच्छा सम्मान और वेतन पाते हैं या इससे पहले उनकी अच्छी-खासी कुटाई-पिटाई होती है। पकवान को पहले चूल्हे पर अग्नि परीक्षा देनी होती है। रोगग्रस्त को कड़वी औषधि पीने, सुई चुभने, ऑपरेशन की मेज पर लेटने जैसी नई आफतें ओढ़नी पड़ती हैं। इसे पिछला पैर उठाना कह सकते हैं। वाल्मीकि को डाकू से ऋषि बनने के मध्यान्तर में कठोर तप करना पड़ा था। इतिहास में ऐसे अगणित व्यक्तित्वों का उल्लेख है जो बहुत समय तक गई-गुजरी स्थिति में रहे अथवा हेय निन्दनीय जीवन जीते रहे। इसके उपरान्त पल्टा खाया तो कुछ से कुछ हो गए। इन परिवर्तनों की एक मध्य बेला भी रही है। उसमें उन्हें अभ्यस्त कुसंस्कारों से जूझना पड़ा है। साथ ही परिष्कृत जीवनचर्या अपनाने के लिए जिस अभिनव शासन एवं कठोर अनुशासन की आवश्यकता पड़ती है उसे भी जुटाना पड़ा है।

इन दो मोर्चों पर एक साथ लड़ने की प्रक्रिया को तपश्चर्या कहते हैं। महान परिवर्तनों में हर मध्यान्तर का यही स्वरूप रहा है उसको असुविधा भी होती है, कष्ट भी होता है और एक अच्छे-खासे अन्तरंग एवं बहिरंग विग्रह का सामना करना पड़ता है। अशुद्ध धातुओं का परिशोधन और उनका उपयोगी उपकरणों में परिवर्तन भट्टी की प्रचण्ड ऊष्मा ही सम्पन्न कर सकती है। बन्धन-ग्रस्त भ्रूण को उन्मुक्त वातावरण में गतिशील होने का अवसर मिले इसके लिए प्रसव पीड़ा की कष्ट साध्य प्रक्रिया में से गुजरने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं। जननी की तरह बालक को भी भयंकर त्रास सहना पड़ता है। तभी दोनों

अपने-अपने स्तर के लाभ उठा पाते हैं । गर्भवती को पुत्रवती होने का सौभाग्य मिलता है और उदरस्थ भ्रूण एक गाँठ के रूप में न रहकर खुले वातावरण में साँस लेता है, हाथ चलाता देखा जाता है । यह सुअवसर देने में प्रसव पीड़ा का स्वरूप कष्टकर होते हुए भी उसे सहन करना ही होता है ।

तपश्चर्या का दूसरा पक्ष है प्रगति के लिए पूर्वाभ्यास । इसे परिष्कार कह सकते है । प्रत्येक दुर्बल को सबल बनने के लिए व्यायामशाला में निर्धारित कसरतें करनी होती हैं । सभी जानते हैं कि अखाड़े की उठक-पटक कितना दबाव डालती और कितनी चोटें सहने को विवश करती है । आग की तपन सहन कर सामान्य-सा पानी ऐसा सशक्त भाप बनता है जिससे रेल का इंजन तूफानी गति से दौड़ सके । कच्ची मिट्टी की ईंटें भट्टे में लगने के उपरान्त पत्थर जैसी कठोर, सुन्दर एवं चिरस्थायी बन जाती हैं । यह प्रगति-पथ पर अग्रसर होते समय अपनाया जाने वाला दुस्साहस है । इसी रीति-नीति को अपनाकर सामान्य जन महामानव बनते रहे हैं । ऐसे लोगों को आत्मानुशासन, त्याग, बलिदान करना पड़ता है, और लोकहित में परमार्थ परायण रहकर अनेकानेक असुविधाओं का सामना करना पड़ा है । इस परीक्षा में से गुजरे बिना किसी को प्रामाणिकता एवं विशिष्टता परखी भी तो नहीं जा सकती । आदर्शों के लिए कष्ट सहने वाले तपस्वी ही जन-सम्मान पाते हैं । महत्त्वपूर्ण कार्य एवं पद उन्हीं के हाथों सौंपे जाते हैं । कष्ट से बचते रहने और बातों के छप्पर तानकर वरिष्ठता झटक लेने वाले प्रायः निराश खाली हाथ ही बने रहते हैं । परखे बिना सिक्के तक को कोई लेता नहीं । खोटी चवन्नी (२५ पैसे) देने वाले के सिर पर ही मार दी जाती है । आदर्शों की बकवास का कोई महत्त्व नहीं, उनके प्रति किसकी निष्ठा है इसकी जाँच-पड़ताल एक ही आधार पर की जाती है कि उच्चस्तरीय प्रतिपादन के निमित्त कौन कितनी कठिनाई सहन करने के लिए स्वेच्छापूर्वक अग्रगामी बना । तप साधना का सिद्धान्त यही है । उसमें प्रगति की दिशा में बढ़ाने के लिए आदर्शवादी त्याग-बलिदान करने की माँग पूरी करनी होती है । जीवनचर्या को सन्निहित सिद्धान्तों के सहारे अधिकाधिक पवित्र प्रखर एवं परिष्कृत करने का न केवल संकल्प करना पड़ता है । वरन् उसे निष्ठापूर्वक निभाना भी होता है ।

सद्गुणों का सम्वर्धन इस बात की पक्की गारण्टी है कि कुछ अपवादों को छोड़कर सम्पर्क क्षेत्र में सम्मान बढ़ेगा और सहयोग मिलेगा । आये दिन के क्लेश विग्रहों में परिस्थितियों की प्रतिकूलता ही कारण प्रतीत होती है पर वस्तुतः वैसा है नहीं । अपनी ही मनःस्थिति दोष-दुर्गुणों से भरी होती है तो सामने वाले भी तद्नुरूप अवांछनीय प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं । फलतः असहयोग, उपेक्षा के वातावरण पग-पग पर असमंजस खड़े करते [redacted] । कई बातों से उग्र प्रतिक्रियाएँ भी होती हैं और मारकाट जैसे झंझट भी खड़े हो जाते हैं । यों इनमें सर्वथा अपना ही दोष नहीं होता । संसार में भरी हुई दुष्टता भी कम त्रासदायक नहीं होती फिर भी इतना तो है ही कि आक्रमणों से सही एवं साहसपूर्ण तरीकों से निपटने में न्यूनतम हानि उठानी पड़ती है । कम से कम असन्तुलनजन्य त्रास से तो बचाव हो ही जाता है जो कि स्वनिर्मित होने पर भी दूसरों द्वारा किए गए आक्रमण जितना ही हानिकारक होता है ।

आत्मानुशासन बरतने वाले अपनी क्षमताओं को अवांछनीयताओं में नष्ट-भ्रष्ट होने पर बचाकर उन्हें सत्प्रयोजनों में लगाते और उच्चस्तरीय योजनाओं में समाहित किए रहते हैं । फलतः अपनाई गई दिशा में आशाजनक सफलता मिलती चलती है । ऐसी सफलताएँ बहुधा आश्चर्यजनक होती हैं और सामान्यजन उन्हें दैवी वरदान जैसा मानने लगते हैं, जबकि वस्तुतः वे उपलब्धियाँ अपने ही सद्गुणों की प्रतिक्रिया होती हैं ।

## अन्तर्मुखी आत्म निरीक्षण

मनुष्य की स्थूल संरचना बहिर्मुखी है । उसके अंग-अवयव बाहर की ओर निकले हुए हैं । हाथ, पैर धड़ से बाहर लटकते हैं । कान, नाक, होंठ आदि की बनावट भी ऐसी ही है । समूचा शरीर का बाहरी भाग ही दीख पड़ता है । आँखें बाहर के दृश्य देखती हैं । कान बाहर के शब्द सुनते है, नाक बाहर से आने वाली सुगंध को सूँघती है । मस्तिष्क बाह्य जगत की हलचलों, सुविधाओं और कल्पनाओं की उड़ानें उडता रहता है । हम बाहर के लोगों से निपटने और उनके साथ सम्बन्ध बनाने, बिगाड़ने की, उससे इच्छित लाभ

उठाने की बात सोचते रहते हैं । यह बहिर्मुखी प्रवृत्ति इतनी प्रगाढ़ हो जाती है कि उसके अतिरिक्त और कुछ करना तो दूर सोचना तक नहीं बन पड़ता ।

मनुष्य की वास्तविक सत्ता बाहर नहीं भीतर है । पेड़ की जड़ें जमीन में भीतर धँसी होती हैं । वे दीखती नहीं तो भी पेड़ का समग्र पोषण उन्हीं पर निर्भर रहता है । वे सुदृढ़ होती हैं । गहरी घुसी होती हैं । पर्याप्त खाद पानी जमीन से खींच सकने में समर्थ होती हैं, तो पेड़ का बाह्य कलेवर सुविकसित होता है । फलता-फूलता है । दीर्घजीवी बनता है । आँधी तूफानों का सामना करते हुए अपनी सत्ता बनाये रहता है, किन्तु यदि जड़ों की स्थिति दुर्बल हो, वे गहराई तक प्रवेश न करें और समुचित खुराक खींचने में असमर्थ रहें तो यह भी निश्चित है कि वृक्ष का विकास सम्भव न हो सकेगा । वह गई-गुजरी स्थिति में रह कर अपना असमय में ही दम तोड़ देगा । मनुष्य के सम्बन्ध में भी यही बात शत-प्रतिशत लागू होती है ।

हृदय, मस्तिष्क, अमाशय, यकृत, गुर्दे आदि धड़ के भीतर खोखले में हैं । उसी गह्वर में भ्रूण बनते और परिपक्व होते हैं । यह भीतर की स्थिति जब तक सही बनी रहती है । कायिक स्वास्थ्य और सौन्दर्य भी ठीक बना रहता है, किन्तु यदि भीतर गड़बड़ी रहे तो हाथ पैर जैसे बाह्य अवयवों के सहारे जीवन रथ की गाड़ी धकेलना कठिन पड़ेगा । चेहरे का सौन्दर्य भी पिलपिला जायेगा ।

व्यक्तित्व की विशिष्टता का, वरिष्ठता का, उत्कृष्टता का, सुसंस्कारिता का जहाँ तक सम्बन्ध है वे अंगों, अवयवों की सुदृढ़ता पर निर्भर नहीं है । प्रतिभावानों का शरीर मोटा-तगड़ा हो यह आवश्यक नहीं । स्कूल शिक्षा के सहारे क्लर्की मिल सकती है किन्तु महामानव स्तर की गरिमा का व्यक्तित्व के साथ जुड़ा होना ही अनेकानेक सफलताओं का आधारभूत कारण होता है । अन्तराल की गहराई में रहने वाली यह गरिमा यदि गए-गुजरे स्तर की हो तो व्यक्ति समर्थ और कुशल होने पर भी चोरी, ठगी, बेईमानी, बदमाशी के अतिरिक्त और कुछ कर न सकेगा । इस निकृष्टता के कारण उसे आये दिन अपने स्थान और मुखौटे बदलने पड़ेंगे । एक दिशा में, एक क्षेत्र में प्रामाणिकता, पारंगतता प्राप्त करने का जो सुयोग मिलना चाहिए उससे उसे वंचित ही रहना पड़ेगा । गुण, कर्म, स्वभाव ही मनुष्य के मूल्यांकन का एक मात्र सुनिश्चित आधार है ।

बाहरी जाल-जंजाल में तो सभी उलझे रहते हैं, पर ऐसे कोई विरले ही होते हैं जो अन्तर्मुखी होने की आवश्यकता अनुभव करते हैं । आत्म-समीक्षा में निष्पक्ष न्यायाधीश जैसी तीक्ष्णता बरतते हैं । जो त्रुटियाँ देख पाते हैं उनके सुधार में समग्र संकल्प शक्ति के साथ संलग्न होते हैं । जिन सत्प्रवृत्तियों की कमी है उन्हें महा-मानवों की जीवन-चर्या के साथ तुलना करते हुए समझने का प्रयत्न करते हैं कि किन अवरोधों के कारण व्यक्तित्व का ऐसा विकास न हो सका जो प्रामाणिक समझा जाता अभीष्ट सफलताओं का वरण करता । जिन सद्गुणों की अपने में कमी दीखती है उसका अभिवर्धन करते रहना ही आवश्यक है । मात्र दुर्गुणों को उखाड़ते रहना ही काफी नहीं है । खेत को जोतते तो रहा जाय पर उसमें उपयोगी बीज बोने, सींचने का प्रबन्ध न किया जाय तो बहुमूल्य धन-धान्य से कोठे किस प्रकार भर सकेंगे ।

क्षुद्र व्यक्ति मात्र संकीर्ण स्वार्थपरता की बात ही सोचते हैं । पेट-प्रजनन की मृग-तृष्णा में भटकते रहने के अतिरिक्त उनके श्रम, समय का उपयोग किन्हीं उच्च प्रयोजनों के लिए लग ही नहीं पाता । आत्म-विकास के सम्बन्ध में कहा-सुना तो बहुत कुछ जाता है, पर वास्तविकता यह है कि जिसका दृष्टिकोण उदात्त है, जिसे दूसरों का हित भी अपने हित के समान ही महत्त्वपूर्ण लगता है । जो छोटे परिवार की चिन्ता में ही निरत न रहकर विशाल मानव परिवार की-विश्व परिवार की बात सोचता है, उसी के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि वह दिव्य दृष्टि का अधिकारी बना । विश्व परिवार की अवधारणा वाला व्यक्ति ही संकीर्णता की परिधि से ऊँचा उठ कर परमार्थी बन सकता है । जिसने परमार्थ को ही सर्वोत्तम स्वार्थ बना लिया वस्तुतः वही आत्मवादी है । उसी का आत्म-विकास हुआ समझा जाना चाहिए ।

बहिर्मुखी दृष्टिकोण से हम प्रकृति के, पदार्थ के अनेकानेक पक्षों को जान सकते हैं । स्कूलों में यह सब पढ़ाया और पुस्तकों में यह सब बताया भी जाता है । पर्यटन एवं सम्पर्क परामर्श से इस दिशा में

अतिरिक्त जानकारी प्राप्त की जा सकती है । इन दिनों तो अखबार, रेडियो, टेलीविजन आदि के सहारे भी सांसारिक गतिविधियों, रीति-नीतियों के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ जाना जा सकता है, किन्तु मौलिक प्रश्न निजी व्यक्तित्व के विकास परिष्कार का है । इसके बिना किसी के लिए यह सम्भव नहीं कि प्रगति के पथ पर द्रुतगति से अग्रसर हो सके और किसी ऊँचे लक्ष्य तक पहुँच सके । चिन्तन, चरित्र और व्यवहार ही मनुष्य की चेतन सम्पदाएँ हैं । इन्हीं के सहारे किसी के लिए सर्वतोन्मुखी प्रगति की दिशा में अग्रसर बनना सम्भव हो सकता है ।

इस प्रयोजन के लिए अन्तर्मुखी होने की प्रवृत्ति का पनपना आवश्यक है । बाहर के किसी व्यक्ति, पदार्थ या घटनाक्रम की समीक्षा हो सकती है । उसके गुण, दोषों का निर्णय-निर्धारण किया जा सकता है । इस संदर्भ में दूसरों की सलाह भी काम दे सकती है पर अपने आप के सम्बन्ध में यह सम्भव नहीं है । कारण कि दूसरा किसी दूसरे की अन्तरंग वस्तुस्थिति को समझ नहीं सकता । बाह्य गतिविधियों का एक अंश ही सामने आता है । सदा किसी के साथ रहना और व्यक्तित्व की समग्र समीक्षा कर सकना सम्भव नहीं होता क्योंकि अक्सर लोग अपना बाहरी स्वरूप कुछ दूसरा रखते हैं । भीतर से वैसे नहीं होते जैसे कि अपने को प्रकट करते हैं । ऐसी दशा में समीक्षकों को गहराई तक प्रवेश न कर पाने के कारण बहुधा धोखा ही रहता है । जब वास्तविकता का पूरा पता ही नहीं लग पाता तो सही समीक्षा कैसे बन पड़े और सुधार, परिष्कार का परामर्श दे सकना कैसे बन पड़े ? फिर कोई किसी के परामर्श को किस हद तक स्वीकार, कार्यान्वित कर सकता है ? इसका निश्चय करना सहज नहीं बन पड़ता । इसके लिए अपनी ही परख और सलाह कारगर हो सकती है । अपने सम्बन्ध में अपना निर्णय ही सटीक बैठ सकता है ।

आत्मिक प्रगति के लिए ही अवलम्बन सर्वश्रेष्ठ है कि अन्तर्मुखी होकर आत्म-निरीक्षण की पद्धति को अपनाया और विकसित किया जाय । यह कार्य सरल नहीं कठिन है, पर अभ्यास से सब कुछ सम्भव हो सकता है । अपने रोग के लक्षण तो अनुभूतियों के आधार पर समझ में आते है पर उसका कारण, निदान, उपचार करने के लिए ऐसा परीक्षक चाहिए जो स्थिति को गहराई से समझ सके और उपचार कर सके । आत्मिक प्रगति के सम्बन्ध में रोगी को ही निदान, उपचार करना होता है । इसके लिए अन्तर्मुखी आत्म-निरीक्षण ही काम आता है ।

## देवाधिदेव : आत्मदेव की साधना

देवत्व और असुरत्व इस संसार में सर्वत्र विद्यमान है । वह मानवी अन्तरंग में भी मौजूद है । दोनों में से जो जिसे वरण करता है वह उसे प्राप्त कर लेता है । संसार में दुष्ट, अनाचारी तत्व भरे पड़े हैं यदि उन्हें ढूँढ़ा जाय-संपर्क बनाया और अपनाया जाय तो सहज ही अपने भीतर बाहर असुरता का ही बाहुल्य होगा । अभिरुचि का आकर्षण सब दिशाओं से अपने स्तर के व्यक्ति तथा साधन इकट्ठे कर लेता है और जिस रंग में मन रंगा था देखते-देखते उसी तरह का वातावरण पूरी तरह घिर जाता है । यही बात असुरता के सम्बन्ध में लागू होती है, यही देवत्व के सम्बन्ध में । आसुरी प्रकृति के मनुष्य को साधने, सहयोगियों तथा परिस्थितियों, सफलताओं की निरन्तर उपलब्धि होती जाती है और आकांक्षा के अनुरूप असुरता के सुदृढ़ दुर्ग मे अपने को विराजमान पाया जाता है । इसी प्रकार यदि अन्तरंग में दैवी आकांक्षाएँ प्रदीप्त हों, उसी दिशा में कदम बढ़ रहे हों तो सन्त, सज्जनों का सम्पर्क, सत्कर्म करने का वातावरण, सन्मार्ग प्रेरक साधन सहज ही बनने लगते हैं और जीवन-क्रम में देवत्व का सागर हिलोरें लेने लगता है ।

बाह्य जगत में संव्याप्त सत और तम-देवत्व और असुरत्व की तरह अन्तरंग में भी यह दोनों प्रवृत्तियाँ यथा स्थान विद्यमान रहती हैं । इनमें से जिसे अपनाया बढ़ाया जाय वही पनपती चली जाती है और विचारणा तथा क्रियाशीलता में वही आस्था सक्रिय बनकर झाँकने लगती है । आसुरी अभिरुचि वाले व्यक्ति उसी स्तर के विचारों में डूबे रहते है, जैसा सोचते हैं वैसे ही उपाय सूझते हैं, साधन ढूँढते हैं और प्रयास करते हैं । फलस्वरूप जीवन-क्रम उसी दिशा में चल पडता है । अन्तरंग में बोया हुआ आकांक्षाओं का बीज कुछ ही समय में विशाल जीवन वृक्ष बनकर खड़ा हो जाता है, यदि आस्थाएँ सतोगुणी हो, आकांक्षाएँ देव स्तर की हों

तो स्वभावतः मन और बुद्धि का प्रवाह उसी ओर बहेगा । बूँद-बूँद से घट भरने की तरह सत्-चिन्तन और सत्कर्मों की सम्पदा मनुष्य को स्वर्गीय विभूतियों से सुसज्जित कर देती है और क्रमशः व्यक्तित्व में देव मानव के अधिक स्पष्ट दर्शन होते चले जाते हैं ।

आध्यात्म क्षेत्र मे अनेक देवताओं की मान्यता और कल्पना है । हर देश, सम्प्रदाय, क्षेत्र वर्ग के प्रथक-प्रथक देवता हैं । आश्चर्य होता है कि ये विभिन्न आकृति-प्रकृति के देवता कैसे अपनी गतिविधियों में परस्पर तालमेल बिठा पाते होंगे, इस असमंजस का हिन्दू धर्म में भली प्रकार समाधान कर दिया गया है । यहाँ कभी ३३ करोड़ की जनसंख्या रही होगी तदनुसार ३३ कोटि देवताओं की संख्या घोषित कर दी गई । प्रत्येक नागरिक को एक देवता माना गया । यह मान्यता अत्यन्त प्रामाणिक है, गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से जिसमें देवत्व की प्रचुर मात्रा विद्यमान है, जिसने अपनी सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियो के आधार पर अन्तरंग और बहिरंग परिस्थितियों में स्वर्गीय वातावरण भर रखा है उसे देवता मानने में किसी को क्यों और क्या आपत्ति होनी चाहिए । इस देश का हर व्यक्ति कभी देव वर्ग में था, इसलिए सहज ही यहाँ की परिस्थितियाँ भी 'स्वर्गादपि गरियसी' बनी रहीं ।

पूजा प्रयोजन में प्रयुक्त होने वाले देवता साधनकर्त्ता की मानसिक सन्तान होते हैं । व्यक्ति अपनी श्रद्धा के अनुरूप एक देव प्रतिमा की कल्पना करता है, आस्था के आधार पर उसमें प्राण फूँकता है और तप-साधना द्वारा उसमें सक्रियता उत्पन्न करता है । वरदान, आशीर्वाद देने की, चमत्कार दिखाने की हर देवता में उतनी ही शक्ति रहती है जितनी कि उस उपासक की आस्था और निष्ठा में परिपक्वता रहती है । एक ही देवता एक साधक के लिए प्रचण्ड शक्तिशाली सिद्ध होता है और वही दूसरे के लिए बिल्कुल निर्जीव बनकर रह जाता है । इस अंतर का एकमात्र कारण साधनकर्त्ता की मनःस्थिति ही है । इस तथ्य को आध्यात्म विद्या के महामनीषियों ने कभी छिपाया नहीं है उन्होंने बराबर कहा है—'प्रतिमा में नहीं, भावना में देवता का निवास है ।' जिसकी जैसी भावना होगी उसे वैसी ही सिद्धि मिलेगी । इसी बात को यदि यों कहा जाने लगे कि श्रद्धालु साधक के मानस पुत्र ही देवता होते हैं और उनमें श्रद्धालु की आस्था ही प्राणवान रहती है तो उसे यथार्थ का ही प्रतिपादन माना जाना चाहिए ।

इस सच्चाई को वेदान्त दर्शन ने और भी स्पष्ट कर दिया है । देवाधिदेव परब्रह्म को अद्वैत तत्व विज्ञान ने आत्मदेव के रूप में देखा है । सोऽहम्, शिवोऽहम्, तत्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म जैसे सूत्रों में आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता का प्रतिपादन किया गया है । जीव स्थिति तो तभी तक है जब तक मल आवरण, विक्षेप और कषाय-कल्मष अन्तःकरण पर चढ़े हुए हैं । इन विकारों का शोधन हो जाने पर तो आत्मा निःसन्देह परमात्मा ही है । तत्वदर्शी सदा से यही कहते रहते हैं कि ईश्वरीय समस्त महत्ताएँ बीज रूप से जीव में विद्यमान हैं, यदि उन्हें विकसित किया जा सके तो नर में नारायण की झाँकी तत्काल देखी जा सकती है । साधन का एकमात्र प्रयोजन आत्म-शोधन है । अपनी शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक मलीनताओं को शुद्ध करने के लिए ही तपश्चर्या उपासना की जाती है । भौतिक विज्ञानी भी यही मानते है कि ब्रह्माण्ड की विशालता और परमाणु की लघुता में भारी अन्तर दिखते हुए भी मूलतः उनका क्रिया-कलाप एक है । मानव शरीर में काम करने वाली परमाणु, जीवाणु-परक सत्ता उन समस्त शक्तियों और हलचलों की प्रतिलिपि है जो इस विशाल ब्रह्माण्ड में संव्याप्त है । काय-कलेवर एक प्रकार से छोटा ब्रह्माण्ड ही है । यों वह नर कीटकों का घृणित घोंसला भर दीखता है पर यदि उसे व्यवस्थित और परिष्कृत बनाया जा सके तो शरीर भूलोक का, मन भुवः लोक का और अन्तरात्मा स्वः लोक का प्रतिनिधित्व करती प्रतीत होगी । तीनों लोकों की त्रिविध सम्पदाएँ अपने भीतर सार रूप से कूट-कूटकर भरी हुई हैं । जीवन का प्रबलतम पुरुषार्थ उस अप्रकट का प्रकटीकरण करना ही है उसी को साधना तपस्या आदि के नाम से पुकारते है ।

वेदान्त प्रतिपादित आत्म-ब्रह्म के तत्व दर्शन को साधना शास्त्र मे आत्मदेव के महात्म विस्तार एवं साधन विधान पर विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है । शरीर और मन के किन-किन अंग प्रत्यंगों में कौन-कौन से देवता, नदी, पर्वत, सागर, लोक, तत्व, तीर्थ, शक्तिपीठ आदि विद्यमान हैं इसकी चर्चा भली प्रकार की गई है और बताया गया है कि जो कुछ बहिरंग जगत मे

पाया जाता है उसकी बीज-सत्ता अन्तरंग में मौजूद है । अस्तु काय-कलेवर को तुच्छ नहीं समझा जाना चाहिए, वरन् उसमें श्रेष्ठतम सत्ता की झाँकी की जानी चाहिए । भौतिक सम्पदा का अहंकार तो हेय है पर आत्मदेव का गौरव हर किसी को अनुभव करना चाहिए और आत्मगौरव की रक्षा करने वाली, आत्मगरिमा को ज्योतिर्मय करने वाली रीति-नीति अपनानी चाहिए ।

आत्मदेव की साधना, उपासना के विधि विधानों का आध्यात्म विज्ञान के अन्तर्गत सुविस्तृत उल्लेख है। निराकार साधना में अपने कण-कण को नील वर्ण प्रभाज्योति से ज्योतिर्मय देखने का अभ्यास किया जाता है । आकाश में आत्म-सत्ता तनिक-सी नील आभा लिए हुए सूर्य के समान प्रकाशवान है और उसकी दिव्य एवं प्रखर किरणें शरीर के रोम-रोम में प्रवेश करके, बलिष्ठता बढ़ा रही हैं, मन मे प्रवेश करके मनस्विता को प्रखर कर रही हैं । अन्तरात्मा के भाव संस्थान (हृदय) में प्रवेश करके आत्म-शक्ति को ज्वलन्त बना रही [redacted] । अपना सब कुछ ज्योतिर्मय हो रहा है । प्रकाश के सागर में जल-मत्स्य की तरह स्वच्छन्द विचरण किया जा रहा है ।

प्रकाश ध्यान का अभ्यास करने के लिए आरम्भ मे आँख में दीपक की नील वर्ण—शुभ्र ज्योति की स्थापना की जाती और उस पर त्राटक की तरह पलक खोलते बन्द करते हुए ज्योति धारणा का अभ्यास किया जाता है । पीछे यह प्रकाश ध्यान बिना किसी दीपक आदि के स्वतः ही दृश्यमान होने लगता है । हल्का नील वर्ण शान्ति एवं सात्विकता का प्रतीक है । राम, कृष्ण आदि भगवान के सभी अवतार नीलकमल की आभा वाले शरीर धारण किए हुए हैं । दिव्यात्माओं का तेजोवलय भी ऐसा ही नीलिमा युक्त होता है । अस्तु आत्मदेव की ज्योति अवतरण साधना मे नील झलक युक्त प्रकाश को ही ध्यान चेतना में प्रतिष्ठापित किया जाता है । दीपक पर त्राटक करते समय उस पर नील आवरण चढ़ा लेते हैं ताकि प्रत्यक्ष प्रकाश भी उसी आभायुक्त दिखाई पड़े ।

साकार आत्म-साधना में अपने शरीर का चित्र ही देव स्थान पर प्रतिष्ठापित किया जाता है । उसी का पूजन-वन्दन और साधन करते हैं । तान्त्रिक विधान के अनुसार 'छाया पुरुष' की सिद्धि में अपने ही सूक्ष्म शरीर की सत्ता को प्रखर बनाया जाता है और वह उस साधना क्रम के कारण इतनी सत्तावान् हो जाती है कि एक सामर्थ्यवान् अदृश्य मित्र की तरह अभीष्ट सहायता करते रहने के लिए प्रस्तुत रहे । छाया पुरुष के द्वारा दूरवर्ती समाचार मालूम करना, वस्तुएँ मँगाना, कामों में सहायता करना जैसे प्रयोजन सिद्ध किए जाते हैं । विक्रमादित्य के पास 'पाँच वीर वैताल' बताए जाते हैं, आलादीन के चिराग के साथ सहायक 'जिन्नों' के सहयोग की किम्वदन्ती प्रचलित है । इस स्तर के कार्य छाया पुरुष कर सकता है । मनुष्य काया में अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश, आनन्दमय कोश, यह पाँच कोश आवरण हैं । इन पाँचों को ही स्वतन्त्र चेतनाओं के रूप में विकसित किया जा सकता है । पाँच देव यही हैं । जो इन्हें जागृत कर सके वह पाँच सशक्त सहायको की महत्त्वपूर्ण सहायता का लाभ निरन्तर उठाता रह सकता है । यह सभी प्रकारान्तर से छाया पुरुष की कहे जायेंगे । यों सच बात तो यह है कि प्रत्येक वरदानी देवता अपनी स्वविनिर्मित मानस सन्तान ही [redacted] । उसमें उतना ही बल रहता है जितनी अपनी निष्ठा प्रखर होती है । श्रद्धा विश्वास की प्रतिक्रिया का नाम ही देव अनुकम्पा है । देव अनुग्रह से जो कुछ प्राप्त किया जाता है तत्वतः वह आत्म-देवता का ही वरदान होता है । अपनी गरिमा से अपरिचित व्यक्ति को बहिरंग देवता की संरचना करके एक मनोवैज्ञानिक लाभ ही देव साधना द्वारा मिलता है । वस्तुतः उसे अपने लिए अपना अनुदान ही समझा जाना चाहिए ।

साकार आत्म-साधना के लिए दर्पण का उपयोग किया जाता है । बड़ा दर्पण सामने रखकर उसमे अपना आधा या सम्पूर्ण शरीर ध्यानपूर्वक देखते हैं और उसे परिष्कृत स्तर का देव मानकर उसका पंचोपचार पूजन, ध्यान, वन्दन, स्तवन करते है । साथ ही यह आस्था जमाते [redacted] कि इस काय-कलेवर में निवास करने वाली 'दिव्य ज्योति' यदि आत्म-भाव की भूमिका मे जागृत हो उठे तो निश्चित रूप से देव सत्ता सम्पन्न हो सकती है । विश्व वन्द्य महामानवों की पंक्ति में बैठने का उसे अवसर मिल सकता है । मल आवरण विक्षेपों के कषाय-कल्मषों से उसे मुक्ति मिलने ही वाली है, उसका परिष्कार परिशोधन अब सम्पन्न होने

ही वाला है । यह देव अपने अवतरण का पुण्य प्रयोजन पूरा करके ही रहेगा । इस भावना के साथ की गई आत्म देव उपासना अपना दिव्य प्रभाव तत्काल ही दिखाना आरम्भ कर देती है । अपने काय-कलेवर में परमेश्वर की सत्ता और महत्ता की अनुभूति जितनी गहरी होगी उतनी ही उत्कृष्ट रीति-नीति अपनाने की भावना उमड़ेगी । कहना न होगा कि अन्तःकरण में उत्कृष्टता का उभार ही नर को नारायण बनाया करता है ।

इस तथ्य को हजार बार हृदयंगम किया जाना चाहिए कि तप साधना का उद्देश्य किसी देवता से मनमानी मुराद पूरी करने के लिए ठाना गया दुराग्रह नहीं वरन् आत्म-शोधन और आत्म-परिष्कार के लिए तितीक्षा द्वारा प्रचण्ड ऊर्जा उत्पन्न करना है । स्मरण रखा जाय कि महान उपलब्धियाँ कहीं बाहर से प्राप्त नहीं होती वरन् भीतर से ही उभरती हैं । कुत्साएँ और कुण्ठाएँ ही अन्तः वैभव को दबाये पड़ी रहती हैं, इन पत्थरों को हटाने के लिए जो साहसिक कदम उठाने पड़ते हैं उन्हीं का नाम योगाभ्यास तपश्चर्या, व्रत, अनुष्ठान साधन-प्रक्रिया आदि हैं । इन क्रिया-कलापों द्वारा जितना आत्म-शोधन होता चले समझना चाहिए साधना उतनी ही सफल हो रही है । आत्म-परिष्कार का ही दूसरा नाम अनुग्रह अथवा सिद्धि वैभव है । नर कीट को देव-मानव में परिणत करने का सारा श्रेय इस आत्म सुधार प्रक्रिया को ही मिलना चाहिए । आध्यात्म क्षेत्र की समस्त सिद्धियाँ और विभूतियाँ उसी केन्द्र बिन्दु के इर्द-गिर्द चक्कर काटती हैं ।

याद रखना चाहिए कि कपड़े को रँगने के पूर्व उसका धोना आवश्यक है । जप, भजन आरम्भ करने पूर्व स्नान की जरूरत पड़ती है । भोजन से पूर्व हाथ मुँह धोने का औचित्य है । घाव पर मरहम चढ़ाने से पूर्व उसकी सफाई करनी पड़ती है । साधना, उपासना करने से पूर्व सबसे प्रथम कदम इस जन्म में बन पड़े पाप कर्मों का प्रायश्चित किया जाना चाहिए । यो कुविचार भी हानिकारक हैं और कालान्तर में वे भी परिपक्व होकर दुर्गति के कारण बनते हैं, पर कुकर्म तो प्रत्यक्ष है, उनके तत्काल संस्कार बनते है और उनका ऐसा भला बुरा कर्मफल विनिर्मित होता है जिसे भुगते बिना और कोई मार्ग नहीं । कर्म की गति अति गहन है । श्रवण कुमार को तीर मारने के फलस्वरूप दशरथ को पुत्र शोक का शाप लगा था और उन्हें राम वनवास के अवसर पर विलख-विलख कर प्राण त्यागने पड़े थे । वालि को छिपकर बाण मारने का कर्मफल राम को कृष्णावतार के समय भुगतना पड़ा था और वालि ने बहेलिया बनकर कृष्ण के पैर में तीर मारकर उन्हें मृत्यु मुख में पहुँचाया था । जब भगवान भी कर्मफल से नहीं बच सकते तो दूसरों की बात ही क्या है पुण्यात्मा पुरुषों को भी पूर्वकृत पापों के फलस्वरूप दुसह दुःख सहने के लिए बाध्य होना पड़ता है ।

भारतीय धर्म शास्त्रों में इस जन्म के किए पापों का प्रायश्चित करके उनके दण्ड को कर्मफल बनने से पूर्व ही भुगत लेने का आदेश किया है । यह मान्यता शत-प्रतिशत मिथ्या है कि नदी-सरोवर स्नान, तीर्थ दर्शन, कथा कीर्तन जैसे छुट-पुट कर्मकाण्डों से पाप फल में छुटकारा मिल सकता है । इन कृत्यों से भविष्य में दुष्कर्म न करने की प्रेरणा मिल सकती है । इसी अर्थ से पाप से छुटकारा पाने का कुछ तुक है । इतने सस्ते में यदि दुष्कर्मों के दण्ड से बचा जा सकता तो फिर न पाप से डरने की जरूरत थी और न उसे छोड़ने की । जब इतनी आसानी से पाप फल निरस्त हो सकता है तो उसके कारण प्राप्त होने वाले भौतिक लाभों को कोई क्यों छोड़ेगा ? यदि वस्तुतः ऐसा होता तो फिर भगवान की सारी न्याय-व्यवस्था ही गड़बड़ा जाती । सृष्टि में पूरा अन्धेर छा जाता है । पाप-पुण्य के बीच कोई खास अन्तर न रह जाता । अमुक मन्त्र, देवता, सम्प्रदाय, गुरु कर्मकाण्ड मे कर्मकाण्ड को अपनाने वाला पाप दण्ड से बच सकता है । इस तरह के प्रतिपादन जिन्होंने भी किए हैं उन्होंने ईश्वर की कठोर न्याय व्यवस्था के साथ निर्भय उपहास किया है । इस सस्ती झाँसे-पट्टी की निरर्थकता को जितनी जल्दी समझ लिया जाय उतना ही अच्छा है । भ्रान्ति की सुखद कल्पना में उड़ते फिरने की अपेक्षा यथार्थ को जानकर प्रस्तुत आपत्ति से जूझने के लिए कटिबद्ध होने का उत्तरदायित्व वहन करना लाख गुना श्रेयस्कर है ।

पिछले जन्मों के पाप कर्म इस जन्म के लिए प्रारब्ध बन चुके, उन्हे भुगतने के लिए आवश्यक धैर्य, साहस और सन्तुलन एकत्रित करना चाहिए । विवेकवान् आपदाओं को हँसकर सहते है और अधीर, अविवेकी

रोते-चिल्लाते उपहासास्पद बनते हैं और सम्बन्धित लोगों को विक्षुब्ध करते हैं । अकाट्य प्रारब्धों को भुगतते हुए ऑपरेशन प्रक्रिया के साथ तुलना करनी चाहिए और सोचना चाहिए फोड़ा चीर कर मवाद निकल जाने से दुसह वेदना से छुटकारा मिल जायेगा । गीता की सन्तुलन शिक्षा ऐसे ही प्रसंगों पर काम आती है । ऐसी मनःस्थिति में विपत्ति का बोझ एक चौथाई ही रह जाता है स्पष्टतः तीन चौथाई विपत्ति तो अधीरता और भीरुताजन्य हड़बड़ी की ही होती है ।

इस जन्म के पाप और पुण्यों का जमा खर्च बनता रहता है । अन्त में जो घटोतरी-बढ़ोतरी होती है । उस लेखे-जोखे के अनुसार भावी जीवन के लिए स्वर्ग नरक की—सुख-दुःख की—प्रारब्ध व्यवस्था बनती है । वर्तमान जीवन में हर किसी को यह अवसर उपलब्ध है कि अब तक के ज्ञात पापों का स्मरण करके उनका प्रायश्चित कर लें । यह एक स्वविनिर्मित दण्ड व्यवस्था है । इसमे सदाशयता का गहरा पुट है और ईमानदारी की स्पष्ट झाँकी है । बिना पुलिस के पकड़े कोई अपराधी स्वयं न्यायाधीश के सामने उपस्थित हो, अपने अपराधों का विवरण बताये और दण्ड की याचना करे तो निश्चय ही न्यायाधीश उससे प्रभावित हुए बिना न रहेगा और अपेक्षाकृत हल्का दण्ड देगा । ठीक यही बात प्रायश्चित विधान में भी लागू होती है । विधि व्यवस्थानुसार जितना दण्ड मिलना चाहिए प्रायश्चित के लिए साहस करने पर उससे कही कम में वह संकट निपट जाता है ।

पाप कर्मों का फल नारकीय दुःख दण्ड तक ही सीमित रहता हो केवल इतना ही नही वरन् उनके कारण सबसे बड़ा व्यवधान, अन्तःकरण की सत्प्रवृत्तियों की दिशा में उत्पन्न होता है । कुकर्म के फलस्वरूप कुसस्कार बन जाते हैं और वे सत्मार्ग पर चलने के प्रयास में हजार प्रकार से रोड़े अटकाते है । कुकर्म और उसके फलस्वरूप नारकीय यातना के दो सिरो के बीच की कड़ी यह कुसंस्कार ही है । वे ही अपने आप समयानुसार दैवी कोप की तरह सामने आ खड़े होते हैं । यह कुसंस्कार ही जप ध्यान के समय मन में उच्चाटन उत्पन्न करते हैं और एकाग्रता नहीं जमने देते । श्रद्धा विश्वास की जड़ें उन्ही के कारण जमने नहीं पातीं । तप साधना के अवसर पर अनेक प्रकार के विघ्न बनकर वे ही बाधक बनते हैं । सन्मार्ग पर चलने की उत्कट इच्छा होते हुए भी उस आकांक्षा को सफल न होने देने वाली परिस्थितियों के पीछे इन्हीं कुसंस्कारों का हाथ रहता है । अश्रद्धा और अरुचि के रूप में साधना को वे ही असफल बनाने वाले प्रधान कारण बने रहते हैं । जिस प्रकार गलित कुष्ठ का रोगी बहुमूल्य औषधियाँ खाने पर भी रोग मुक्त नहीं हो पाता उसी प्रकार संचित पाप कर्मों के फलस्वरूप उत्पन्न हुए कुसंस्कार साधना की सफलता में प्रधान बाधा बनकर खड़े रहते हैं । अस्तु आत्मिक प्रगति के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए सच्चे मन से तत्पर मनुष्य को प्रथम चरण इस जन्म में पाप कर्मों का परिशोधन करने वाले प्रायश्चित के रूप में उठाना पड़ता है ।

प्रायश्चित की प्रक्रिया इस प्रकार सम्पन्न होती है—(१) इस जन्म में अब तक बन पड़े पाप कर्मों की सूची बनाना । उसके लिए दुःख मनाना । भविष्य में उनकी पुनरावृत्ति न करने की प्रतिज्ञा करना । (२) किसी ऐसे उदात्त और विश्वस्त व्यक्ति के सामने अपने पाप कर्मों का विस्तृत वर्णन करना और प्रायश्चित विधान के लिए परामर्श लेना । (३) इसी प्रयोजन के लिए शास्त्रानुमोदित व्रत, तप, तितीक्षा, मौन, एकान्त सेवन आदि शारीरिक, मानसिक कष्टों के दण्ड उपचार सम्पन्न करना । (४) पाप कर्मों द्वारा व्यक्तियों की या समाज की जो हानि की है उनकी क्षतिपूर्ति के लिए शारीरिक मानसिक, आर्थिक अनुदान समाज को सुखी बनाने के लिए प्रस्तुत करना । (५) अपने अनाचार से जिन लोगों को कष्ट सहना पड़ा उनसे सच्चे मन से क्षमा याचना करना । यह पाँचों ही प्रक्रिया जुड़कर एक प्रायश्चित विधान बनता है । किसी कर्म का कोई निश्चित दण्ड निर्धारित नहीं है । किस स्थिति में पाप किया गया और उसके फलस्वरूप किसकी, किस स्तर की हानि हुई इसकी गहराई को समझ कर ही पाप का मूल्यांकन किया जायेगा और उसी के आधार पर दण्ड निर्धारण होगा । इसलिए उसका निर्णय कोई तत्वदर्शी ही कर सकता है । अस्तु इस सन्दर्भ में किसी सूक्ष्मदर्शी तत्ववेत्ता का ही परामर्श लेना चाहिए । किए हुए कुकर्मों की सूची बनाना, उन पर दु.ख प्रकट करना और भविष्य में उन्हें न दुहराने का संकल्प बिना किसी दूसरे की सहायता के एकाकी भी किया जा सकता

है । इसके बाद दूसरी प्रक्रिया के लिए किसी की सहायता की जरूरत पड़ती है । इसके लिए अत्यन्त प्रामाणिक और उदात्त प्रकृति का व्यक्ति ही होना चाहिए । आज लोगों का स्तर इतना घटिया हो गया है वे दूसरों की दुर्बलताएँ जानने पर उससे घृणा किए बिना नहीं रह सकते । उसे पचा भी नहीं सकते । अनुपयुक्त व्यक्तियों में उसकी चर्चा हर दृष्टि से अहितकर है । यदि व्यभिचार का रहस्योद्घाटन किया जाय तो अपनी तो सफाई हो सकती है पर जो दूसरा साथ में था उसका सम्मान समाप्त होता है, यह उसके साथ में एक प्रकार का विश्वासघात है । प्रायश्चित के सिलसिले में यदि किसी लड़की को बदनाम कर दिया जाय तो उसके जीवन स्तर का सत्यानाश ही होता है और यह उसकी हत्या कर डालने से बढ़कर पाप है । अस्तु अपना मन हल्का करने के लिए, अनाचार की ग्रन्थि खोलने के लिए जहाँ किसी विश्वस्त व्यक्ति के सामने अपने पाप कर्मों का संक्षिप्त नहीं सविस्तार वर्णन करना आवश्यक है वहाँ यह भली प्रकार परख लिया जाना चाहिए कि रहस्य जिसके आगे खोले जायें वह उतना उदार हो कि घृणा के स्थान पर सदाशयता का, आत्मीयता का मूल्य समझे और पूर्व की अपेक्षा भी अधिक सम्मान का भाव बनाए रह सके । केवल यह कह देना ही पर्याप्त नहीं वरन् उसके लिए दण्ड विधान की प्रायश्चित प्रक्रिया भी उसी के द्वारा बताई जानी है अतएव उसका सूक्ष्मदर्शी और शास्त्र मर्मज्ञ भी होना आवश्यक है ।

तीसरा चरण कुछ काल तक शारीरिक, मानसिक तप तितीक्षा की कष्ट साधना एवं असुविधाएँ स्वीकार करना है । इस सन्दर्भ मे शास्त्रकारों ने चान्द्रायण, कृच्छ चान्द्रायण, महाव्रत, सिर मुण्डन, सप्तासि व्रत, तप्तयान गव्योच्छेदन, शान्तापन, महाशान्तापन, कष्ट मौन, महा मौन, ऊर्ध्वबाहु, अधोपाद, रात्रि जागरण, पारि-परिभ्रमण आदि कितनी ही कष्ट साध्य तप तितीक्षाओं का उल्लेख किया है और विधि-विधान बताया है । बाल-वृद्ध, रुग्ण एवं गर्भ धारण जैसी विशेष परिस्थितियों मे उपरोक्त दण्ड विधानों की कठोरता को सरल बनाने के भी अपवाद रखे गए है । इनका विस्तृत विवेचन प्रायश्चित परक ग्रन्थो में बताया गया है । इन तपश्चर्याओं का आधार यह है कि व्यक्ति शारीरिक और मानसिक कष्ट सहकर वैसी ही दण्ड प्रताड़ना का अनुभव करे जैसी अपराधियों को न्यायालयों द्वारा दी जाती है । कारागार यातना सहकर जब बन्दी निकलते हैं तो समझा जाता है कि जो कुकृत्य उन्होंने किए थे उनका दण्ड भुगत लिया गया । धर्मानुमोदित प्रायश्चित करने वाले को भी अपने को उस प्रक्रिया में होकर गुजरा हुआ अनुभव करने का अधिकार है । निष्पक्ष न्यायाधीश की तरह यदि धर्माधिकारी ने उचित तितीक्षा बताई है तो उससे भी न्याय का प्रयोजन पूरा हो जाता है । अपराधी और न्यायाधीश गुप्त सन्धि करके यदि दण्ड हल्का कर लेते हैं तो उसमें अपराधी से अधिक दोषी न्यायाधीश होता है । इसी प्रकार प्रायश्चित को यदि अति सरल बनाया गया है तो उसका भार उस निर्धारणकर्त्ता पर पड़ेगा, जो प्रकारान्तर से उसे ही भुगतना पड़ेगा ।

पाप कर्मों में व्यक्ति को या समाज को आर्थिक अथवा शारीरिक, मानसिक नैतिक क्षति पहुँचाई गई होती है । इस अनाचार उत्पादन की खोदी हुई खाई को पाटना प्रायश्चित कर्त्ता का काम है । परशुराम जी ने अनेक शासकों का शिरच्छेद किया था । इसके प्रायश्चित में उन्हें प्रजापति ने आजीवन उद्यान लगाते रहने का आदेश किया था । चोरी करके धनवान बने लोगों को उचित है कि उस पाप भार में से धन का अधिक भाग लोक-मंगल के लिए वापिस कर दें । धन गबन करने वालों पर भारी रकम जुर्माने की, की जाती है ताकि उन्होंने जो कमाया है उसे वापिस लिया जा सके । अपने पाप पर सच्चे मन से शर्माने वाले के लिए यही उचित है कि उस अनीति उपार्जित सम्पदा को पूरे या अधूरे रूप में वापस करे । प्रायश्चितों में तरह-तरह के दान-विधानों का नियोजन इसी दृष्टि से हुआ है ।

जिस व्यक्ति को क्षति पहुँचाई गई थी वह हो सकता है, स्वर्गवासी हो चुका हो, ऐसी दशा में उसे आर्थिक वापिसी नहीं की जा सकती और न जो शारीरिक, मानसिक आघात लगाए थे उनकी भरपाई हो सकती है । कई बार जीवित होने पर भी वैसा किया जा सकना सम्भव नहीं । जैसे किसी लड़की को फुसला कर उसका सतीत्व नष्ट किया गया था अब उसका कौमार्य कैसे वापिस किया जाय । यदि उसे कुछ मुआवजा दिया जाय तो उसकी बदनामी होने से भी

भारी विपत्ति उस पर आयेगी और यह पहले से और भी बड़ा अपराध हो जायेगा । कोई व्यक्ति जब गरीब था तब उसकी पुरानी चप्पलें चुराई गई थीं । अब वह गरीब अमीर है यदि उसकी पुरानी चप्पल वापिस की जायें तो वह उसे अपना अपमान समझेगा और उस प्रायश्चित पर और भी अधिक क्रुद्ध होगा । इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए ऋषियों ने यह सिद्धान्त रखा है कि समस्त समाज को एक अंग माना जाय और उसके एक अंग या अनेकों अंगों को पहुँचाई हुई क्षति समस्त मानव समाज की क्षति मानी जाय । प्रायश्चित के बिना वह वापिसी ब्याज सहित, बिना ब्याज के अथवा आधी-अधूरी जितनी भी सम्भव हो सके वापिस करनी चाहिए । खोदी गई खायी को पाटने का यही तरीका है । समाज में सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने के किसी उपयोगी प्रयोजन के लिए यदि अपना समय, श्रम एवं साधन अर्पित किए जाते हैं तो उससे पाप कर्मों की क्षतिपूर्ति हो सकती है । यह प्रायश्चित का चौथा वर्ग है ।

पाँचवाँ वर्ग यह है कि भावना के बदले भावना को प्रस्तुत किया जाय । अनाचार पीड़ित व्यक्ति को निःसन्देह क्रोध, रोष उपजा होगा सम्भव है उसने विलाप क्रन्दन किया हो उत्पीड़न का अभिशाप अन्तरिक्ष में घुमड़ता है और क्रुद्ध सर्प की तरह अवसर पाते ही काटता है । प्रायश्चित कर्त्ता को उसकी घायल मनःस्थिति का अनुमान लगाना चाहिए और अपने मन में उसके लिए उतनी सम्वेदना सहानुभूति उपजानी चाहिए जो अन्तरिक्ष में घुमड़ कर उसे शान्ति प्रदान कर सके । भूल से अथवा आवेश में यदि अपने ही निकटवर्ती कुटुम्बी को कोई भारी आघात पहुँचा दिया जाय तो उस गलती के लिए भारी आत्मग्लानि उठती है, आहत के प्रति सम्वेदना का उफान उमड़ता है और अन्तःकरण का रोम-रोम उससे क्षमा माँगता है; तथा बदले में बड़ी से बड़ी क्षतिपूर्ति करने का भाव रहता है । यही मनःस्थिति यदि अपराधकर्त्ता अपने भीतर उदय कर सके और वह भी मात्र कल्पना बन कर न रह जाय वरन् इतनी सक्रिय हो उठे कि पश्चाताप के आँसू बनकर उस क्रूर निठुरता को, दुष्ट असुरता को अश्रु बिन्दुओं के साथ बहा दे ।

कहावत है कि जो अपनी सहायता आप करता है, उसी की सहायता ईश्वर भी करता है । सरकार केवल प्रतिभावानों को छात्रवृत्ति देती है । स्वयंवर में गुणवान और रूपवान युवकों के गले ही जयमाला पड़ती है । बादल की वर्षा का अधिक अनुदान गहरे सरोवरों को मिलता है । स्वांति की बूँदें उन्हीं सीपियों में मोती बनाती हैं जिनका मुँह खुला होता है । नीचे मुँह करके पड़ा रहने वाला मुर्दा तो अमृत वर्षा का भी लाभ नहीं उठा सकता । मधुमक्खियाँ, भ्रमर, तितलियाँ केवल खिले हुए फूलों के इर्द-गिर्द मँडराती हैं । किसी के सामने गिड़गड़ाने से काम नहीं चलता । दुर्बल का तो दैव भी घातक होता है । दीनता प्रदर्शित करके कुछ बड़ी उपलब्धि नहीं मिल सकती । कुत्ता पूँछ हिलाने और पैर चाटने पर भी जूठन के टुकड़े पाता है पर स्वाभिमानी हाथी की सशक्तता उसके लिए उचित भोजन अपने स्थान पर मँगा लेती है, भौतिक और आत्मिक प्रगति के लिए हमें किसी के सामने गिड़गिड़ाने नाक रगड़ने की आवश्यकता नहीं यहाँ तक कि देवता और ईश्वर के सामने भी नहीं । हम अपना सारा ध्यान प्रसुप्त आत्म गरिमा को सजग एवं बलिष्ठ बनाने में लगायें तो सहज की यह चुम्बकत्व प्रबल होगा जिसके आकर्षण से अभीष्ट सिद्धियाँ, सफलताएँ अनायास ही खिंचती हुई अपने पास चली आयेंगी ।

बहिर्मुखी प्रवृत्तियों का प्रवाह सहज ही तिनके जैसे हल्के स्तर के लोगों को बहा ले जाता है । मृगमरीचिका में भटकते हुए अज्ञानी ही मरते-खपते हैं । कस्तूरी की गन्ध के लिए लालायित अशान्त मूढ़ मृग ही दिशाओं में मारा-मारा फिरता है । यदि उसे पता हो कि कस्तूरी अपनी ही नाभि में है और उस सुगन्ध का लाभ आत्माभिमुख होने पर सहज ही मिल सकता है; वासना और तृष्णा को मृग-तृष्णा मात्र समझ लिया जाय तो शक्ति के अपव्यय को रोक कर जलाशय की यथार्थ खोज सम्भव हो सकती है । इस तथ्य को गीताकार ने अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है "उद्धरेदात्मनात्मानं" अपना उद्धार आप करो । अपनी प्रगति का पथ स्वयं प्रशस्त करो । जो माँगना है अपने आप से माँगो । क्योंकि जो कुछ बाहर रुचिर, मृदुल, सुखद दीखता है उसका उद्गम केन्द्र अपने ही अन्तरंग में विद्यमान है । आत्मदेव की साधना ही आध्यात्म तत्व ज्ञान का केन्द्र बिन्दु है । जिस प्रकार भौतिक सुखों को अज्ञानवश बाहर खोजा जाता है । उसी प्रकार आत्मिक विभूतियों के लिए मूढ़ मति हमें बाह्य

जगत के देवताओं, गुरुओं, तीर्थों, कर्मकाण्डों में भटकाती है। यदि हम अपनी बहिर्मुखी प्रवृत्ति को अन्तर्मुखी बना लें, देवाधि देव आत्म देव की साधना के लिए तत्पर हो तो वह सब कुछ निश्चित रूप से मिल सकता है जिसकी शान्ति और प्रगति के लिए आनन्द और उल्लास के लिए वास्तविक आवश्यकता है।

## सद्गुण साधना : सच्ची ईश्वर पूजा

सूर्य निकलता है। संसार में प्रकाश फैल जाता है। असंख्य लोग उसे देखते हैं। अब कोई यदि सूर्य की उपस्थिति में उसका प्रकाश नहीं देख पाता तो उसे अन्धा ही माना जायेगा। संसार में सब ओर ईश्वर की विद्यमानता है। जड़-चेतन में उसका दिव्य प्रकाश चमक रहा है। एक नहीं असंख्यों लोग ऐसे हुए हैं, जिन्होंने उस दिव्य प्रकाश को देखा है। उससे प्रेम किया है, उसका स्नेह, आनन्द और आलोक पाया है। अपनी आत्मा में उसका संकेत और सन्देश देखा-सुना है। जिसके आधार पर आध्यात्मिक लाभ पाया है। महात्मा, शिव और भक्त बने हैं। इस महान सत्य को अब जो नहीं देख पाता वह आँखों से न सही अन्तर से तो अन्धा है ही।

इस प्रकार का अनाध्यात्मिक अन्धत्व बुद्धि से, मन से और विवेक से सम्बन्धित होता है। परमात्मा का दर्शन आत्मा के नेत्र—'विवेक'—से होता है। जिन मनीषियों और महात्माओं ने ईश्वर की अनुभूति और उसका दर्शन पाया है, उन्होंने अपने विवेक को प्रखर और पवित्र बनाने के लिए प्रयत्न किया है। संसार के दोष और क्लेशों से अपने को मुक्त किया है। अपने मनोदर्पण को मलों से मुक्त करके ही वे उस परम ज्योति का प्रतिबिम्ब अन्दर देख सके हैं। उन भाग्यवान् परमात्म जिज्ञासुओं ने ईर्ष्या, द्वेष, छल-कपट आदि दोषों से दूर रह कर प्राणि-मात्र से प्रेम किया उन्हें अपना ही अंश और अपना ही स्वरूप माना। अपने जीवन की सारी विशेषताएँ, परोपकार और परमार्थ में यापन की और तब वे अपनी आध्यात्मिक जिज्ञासा में कृतकृत्य हो सके हैं।

यह सम्पूर्ण संसार परमात्मा रूप है—"पुरुष सवेदं सर्वम्"—यह सब कुछ परमात्मा रूप ही है। अर्थात् हम अपने आस-पास जो कुछ देखते और पाते हैं, वह सब परमात्मा का ही तो रूप है। हम स्वयं परमात्मा के एक अंश हैं और दूसरे जीव भी उसी का अंश हैं। इस प्रकार संसार में ऐसा कौन रह जाता है, जिससे हमारा आत्मीय सम्बन्ध न हो। किसी से विरोध करना अथवा वैर मानना अपनी आत्मा का विरोध करना है। आत्मा का विरोधी मनुष्य किसी भी श्रेय का अधिकारी नहीं हो सकता है। परमपिता परमात्मा का दर्शन उसकी अनुभूति तब ही प्राप्त हो सकती है, जब विवेक पर से संकीर्णता का आवरण उठा कर उसे व्यापक और विस्तृत बनाया जायेगा। अपने भीतर-बाहर और आस-पास एक परमात्मा को उपस्थित मान कर आचरण किया जायेगा।

संकीर्णता और परमात्मानुभूति परस्पर विपरीत विषय हैं। इसका अनुकरण करने से मनुष्य परमात्मा से दूर-दूर ही होता जाता है। गीता में भगवान ने स्पष्ट कहा है—"जो मुझ ईश्वर को सबमें और सबको मेरे अन्दर देखता है, वह योगी न मुझसे प्रथक है और न मैं उससे प्रथक हूँ।" इस प्रकार के व्यापक दृष्टिकोण वाला विवेकी पुरुष सब समय सर्वत्र परमात्मा का दर्शन पाता रहता है। उसके लिए वह वैसे ही स्पष्ट बना रहता है जिस प्रकार नेत्र वालों के लिए सूर्य का प्रकाश।

यह मान्यता कि ईश्वर का दर्शन ईश्वर की कृपा से ही होता है। जिसे वह चाहता है दर्शन देता है और जिसे नहीं चाहता दर्शन नहीं देता, सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है। इसका आशय तो यही है कि सूर्य का प्रकाश सबको स्वयं नहीं मिलता। यह सूर्य की कृपा पर निर्भर है कि वह किसे दीखता है और किसे नहीं दीखता। इस प्रकार के पक्षपात का दोष ईश्वर की समान और व्यापक कृपा पर लगाना ठीक नहीं। वह सबके लिए सब स्थानों पर समान रूप से उपलब्ध है। कोई भी पात्रतापूर्वक उसे किसी भी स्थान पर देख और पा सकता है। ईश्वर सबका पिता है। उसे अपने सारे पुत्र समान रूप से प्यारे हैं। जब संसार का एक साधारण पिता अपने सारे पुत्रों को बराबर प्रेम करता है, उन पर एक जैसी कृपा रखता है तो वह परमपिता ही अपने पुत्रों के बीच पक्षपात क्यों करेगा। तथापि जो पुत्र अपने गुणों द्वारा जितनी अधिक पात्रता प्राप्त कर लेगा, वह उसी के अनुसार

उसकी अधिक कृपा का अधिकारी बन जायेगा । इसमें ईश्वर की न्यूनाधिक कृपा की बात नहीं है, यह उसके जिज्ञासुओं की पात्रता की विशेषता है । उसका कृपा सागर तो सब ओर से परिपूर्ण, सबके लिए मुक्त पड़ा है, जो जितना बड़ा पात्र लेकर जायेगा, भर लायेगा । अपना अपात्रता का दोष पिता पर रखना अपनी एक और अपात्रता का प्रमाण देना है ।

ईश्वर को अन्यत्र खोजने की अपेक्षा यदि उसे अपने अन्दर खोजा जाय तो उसका दर्शन अधिक शीघ्रता से हो सकता है । मनुष्य के अन्दर आत्मा का निवास है और वही आत्मा ईश्वर का केन्द्र है । ईश्वर की अनुभूति ईश्वर का निर्देश इस आत्मा द्वारा ही प्राप्त होता है । मनुष्य की आत्मा ईश्वर का साक्षी भी है । उसकी जागरूकता में मनुष्य उन कर्मों से विरत रहता है, जो ईश्वरीय विधान के विरुद्ध होते हैं । मनुष्य जब कोई अपराध या पाप करने को उद्यत होता है तो उसे अपने अन्दर एक निषेध करती हुई आवाज सुनाई देती है । यह आवाज यद्यपि स्थूल रूप में नहीं होती तो भी स्पष्ट सुनाई देती है ।

पाप को उद्यत मनुष्य स्वयं अपने आपको तो मना करता नहीं और न कोई दूसरा ही उनके भीतर बैठा होता है, जो उस प्रकार मना करता है । तब यह आवाज किसकी होती है ? निश्चय ही वह आवाज आत्मा की होती है । परमात्मा का केन्द्र होने से उसका प्रतिनिधि अंश होने से वह जीव के कर्मों पर पहरा देने के लिए सदा जागरूक रहती है । ज्योंही मनुष्य कोई अपकर्म करने पर उतरता है, वह तुरन्त उसे टोक देती है । इसके विपरीत जब वह कोई सत्कर्म करता तो उसे शक्ति, साहस, उत्साह और प्रसन्नता प्रदान करती है ।

आत्मा को यह कर्तव्य ईश्वर की ओर से सौंपा गया है कि वह उसके बच्चो, मनुष्यों को दुष्कर्मों से रोक कर सत्कर्मों में प्रवृत्त करे । संसार का वह पिता बड़ा दयालु और करुणा सागर है । वह नहीं चाहता कि उसकी सृष्टि के प्राणी मात्र मे सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्य अपकर्मों द्वारा दुःख एवं यातनाओ का भागी बने । उस दयालु की सदैव ही यह इच्छा रहती है कि मनुष्य उसी की तरह सच्चिदानन्द स्वरूप बने । आप अकेले ही कर्माकर्म का बोध कर सकना मनुष्य के लिए सहज नहीं । इसीलिए उसकी सहायता करने के लिए ईश्वर ने उसे वह कर्तव्य सौंपा है ।

आत्मा में विश्वास करने वाला उसके निर्देशों का अनुसरण करने वाला बड़ी सरलता से एक श्रेष्ठ मानव बन जाता है । ईश्वर के आदेश से आत्मा मनुष्य को पुण्य-पथ पर चलने का ही निर्देश करती है । जिन मनुष्यों को संसार में विशेष व्यक्तियों के रूप में जाना जाता है । जो अन्य लोगों से ऊँचे और श्रेष्ठ होते हैं । वे निश्चय ही आत्मा के निर्देश पर चलने वाले होते हैं, आत्मा का अनुसरण करने वालों की बुद्धि विलक्षण हो जाती है । उनका विवेक प्रबल और हृदय निर्मल हो जाता है । मनुष्य की यह मंजुल स्थिति ही वह स्थिति है, जो परमात्म-दर्शन के लिए अपेक्षित होती है ।

ईश्वर की अनुभूति किसी एक रूप में नहीं होती । वह किसी ऐसे सद्‌रूप मे हो सकती है, जिसको मनुष्य सबसे अधिक चाहता है, प्यार करता है । उसका वह वांछित स्वरूप उसके सम्पूर्ण जीवन में ओत-प्रोत हो जाता है और उसी के द्वारा वह ईश्वरीय शक्ति और ईश्वरीय आनन्द का अधिकारी बन जाता है । महात्मा गाँधी ने अपना ईश्वर सत्य और प्रेम के रूप में देखा और पाया । वे स्वयं कहा करते थे—"मेरा ईश्वर तो मेरा सत्य और प्रेम है । नीति और सदाचार ईश्वर के ही रूप हैं । सद्‌कर्मों और सद्‌विचारों के परिणामस्वरूप मिलने वाला आनन्द ईश्वर है और मानवता का सर्वोत्कृष्ट गुण भी उस परमात्मा का ही एक स्वरूप है । ईश्वर के साक्षात्कार का मेरा प्रयत्न एकमात्र सच्चाई के साथ प्रेमपूर्वक मानवता की सेवा करना है । मैं तो ईश्वर को इन्हीं विशेषताओं मे देखता हूँ और एक सीमा तक पाता भी हूँ । इसके अतिरिक्त मैं उन विश्वासवादियों में नहीं हूँ जो ईश्वर को स्वर्ग आदि अनदेखे स्थानों का निवासी मानते हैं ।"

महात्मा गाँधी के कथन का सारा सार यही है कि ईश्वर का निवास मनुष्य की अपनी अन्तरात्मा में ही है और उसे किसी भी ईश्वरीय गुण के रूप में सिद्ध किया जा सका है । एक दर्शन-शास्त्री की उक्ति है कि—"ईश्वर सबमें है किन्तु सब लोग ईश्वर में नही हैं ।" इस सूक्ति का आशय परमात्मा की सार्वदेशिकता में सन्देह करना नहीं है । यों तो सत्य यह है कि

जहाँ ईश्वर अणु-अणु में समाया हुआ है वहाँ अणु-अणु उसमें निहित है, उसी में अवतस्थ है । न कोई ईश्वर से रिक्त है और न ईश्वर किसी से रिक्त है । सब उसमें और वह सबमें एक रूप से रमा हुआ है । उक्ति का तात्पर्य यही है कि ईश्वर तो सबको स्मरण रखता है किन्तु सभी लोग उसको स्मरण नहीं रखते । जिस प्रकार वह परमप्रभु हमें हर समय याद रखता है उसी प्रकार हम भी उसे रखें तो सारी समस्याएँ एक साथ ही हल होती चलें ।

ईश्वर को नाम लेना या कुछ देर उसकी पूजा कर देना मात्र ही उसका स्मरण नहीं है । यह तो एक साधारण क्रिया-कलाप है, जो लोग देखा-देखी या कहने-सुनने से करने लगते हैं । इसमें ईश्वरीय स्मरण का कोई उद्देश्य नहीं रहता । जो वास्तव में सच्चाई के साथ ईश्वर का स्मरण रखता है, वह कभी अपकर्मों और अपविचारों में प्रवृत्त नहीं होता । वह जानता है कि दुष्कर्मों और दुर्विचारों से ईश्वर अप्रसन्न होता है । ईश्वर को स्मरण रखने वाला, उससे प्रेम करने वाला और उसकी जिज्ञासा करने वाला भूलकर भी अपने आराध्य, अपने प्रभु को अप्रसन्न न करना चाहेगा । वह तो वही कर्म करेगा और उसी विचार-धारा में बहेगा, जो ईश्वर की कृपा उसकी प्रसन्नता सम्पादित करती है ।

पूजा-पाठ, जप-ध्यान करते रहना और दूसरी ओर असत्य, अपकार और अनीतिपूर्ण आचरण करते चलने वाला यदि यह कहता है कि वह ईश्वर का स्मरण रखता है तो वह मिथ्यावादी और मिथ्या विश्वासी है । एक बार यदि अलग से बैठ कर ईश्वर का नाम न जपा जाय, पूजा-पाठ न किया जाय, किन्तु अपने विचार और व्यवहार में सत्य, प्रेम, नीति और सदाशयों की रक्षा करते रहा जाय तो इसको भी यथार्थ ईश्वर-स्मरण कहा जायेगा । जो दुर्गुणी है वह 'भक्त' होकर भी ईश्वर को भूला हुआ है और जो न 'भक्त' होते हुए भी सद्गुणों का आश्रय करता है वह उसको याद करने वाला है । ईश्वर का स्मरण उसकी उपासना सद्गुणों के प्रकटीकरण से होती है, शारीरिक अथवा वाचिक सेवा साधना से नहीं ।

यदि ईश्वर की जिज्ञासा है । उसे पाने देखने और अनुभव की अभिलाषा है तो आत्मा के निर्देशित सद्गुणों की उपासना करिए । उन्हीं का विकास और अनुसरण करिए और उसी रूप में उसे पाने का प्रयत्न करिए । ईश्वर को पाने का यह सबसे सही, सरल और सुन्दर मार्ग है ।

ईश्वर का दर्शन चर्मचक्षुओं से नहीं अन्तरात्मा द्वारा होता है । सत्कर्मों द्वारा आत्मा को विस्तृत व्यापक और निष्कलुष बनाइए । ईश्वर की झाँकी स्वतः ही उसमें जगमगा उठेगी । आत्मा का विकास आत्म-विश्वास द्वारा होता है । अपने को शरीर न मान कर आत्मा मानिए और उस रूप में अपने को ईश्वर का केन्द्र, उसका निवास और उसी का अंश विश्वास कीजिए । ऐसा विश्वास दृढ़ होते ही आप में आत्म-गरिमा का भाव, अपने महत्त्व का गौरव, अपने उत्तरदायित्व की पुनीतिमा प्राप्त हो जायेगी । तब आप क्षुद्र से महान, तुच्छ से श्रेष्ठ बन कर जीवन से स्वयं ईश्वरत्व की ओर बढ़ने लगेंगे । वासनाएँ, विषमताएँ और अज्ञान की बाधक शृंखलाएँ आपसे-आप टूटकर गिर जायेंगी । सद्गुणों और सदाशयों से आपकी अन्तरात्मा विभूषित हो उठेगी और आप ईश्वर प्राप्ति के अपने लक्ष्य की ओर उन्मुख हो चलेंगे ।

## आत्म-परिष्कार की साधना दूरदर्शी बुद्धिमत्ता

परिष्कार की प्रवृत्ति सामाजिक क्षेत्र में सभ्यता और आन्तरिक क्षेत्र में संस्कृति कहलाती है । शिल्पी, कलाकार, चिकित्सक, शिक्षक, विज्ञानी, माली आदि वर्गों के लोग अपने श्रम और मनोयोग का उपयोग सृजनात्मक प्रयोजनों के लिए करते है । अनगढ़ को सुगढ़ बनाते हैं । यही धरती जिस पर हम रहते है, अपने जन्म काल में ऐसी न थी । इसे प्रयत्नपूर्वक वह रूप दिया गया है, जिसमें कि आजकल रह रहे [redacted] । प्राणियों के जन्म और जीवन की व्यवस्था बन जाने के समय भी यह धरती खार-खड्डों से, झाड़-झंखाड़ों से, जलाशयों, दलदलों और दुर्लघ्य अवरोधों से पटी पड़ी थी । उस पर किसी तरह वन्य जीवन ही जीया जा सकता था । मनुष्य ने अपने संकल्प, श्रम एवं कौशल के आधार पर उसे समतल किया, रास्ते बनाए, कृषि, पशु पालन, औजार, अग्नि, वाहन आदि के उपाय ढूँढ़े और क्रमशः सामाजिकता, शासन, शिक्षा, चिकित्सा, व्यवसाय, सुरक्षा

एवं सुविधा-साधनों के आधार खड़े कर दिए । मनुष्य को सृष्टि का मुकटमणि होने का लाभ इसी मार्ग पर चलते हुए मिल सका है । यह परिष्कार की प्रवृत्ति ही मानवी गरिमा और प्रगति का सार तत्व कही जा सकती है । पशुओं को प्रशिक्षित करके उन्हें अनुपयोगी से उपयोगी बनाया जाता है । सिंह, रीछ, सर्प जैसे हिंस्र प्राणी भी सधा लिए जाने पर सर्कसों में आश्चर्यजनक करतब दिखाते हैं । वे दर्शको के लिए मनोरंजन का और मालिकों के लिए आजीविका का साधन बनते है जबकि वे मूलतः सर्वथा हानिकारक ही होते हैं । विषों को रसायन बना लेने की कला ने आरोग्य क्षेत्र में नए अध्याय जोड़े हैं । होम्योपैथी, आयुर्वेद, ऐलोपैथी आदि चिकित्सा प्रणालियों में विषों से अमृत जैसे लाभ उठाने का प्रयत्न किया गया है । इसे संस्कार साधन ही कह सकते है ।

मानवीसत्ता इस सृष्टि से महत्त्वपूर्ण इकाई है । उसे ईश्वर के बाद दूसरा नम्बर दिया जा सकता है । उसका परिष्कार कर सकना इतना बड़ा प्रयोग है जिसे भौतिक प्रगति के लिए खड़े किए गए आधारों से कम नहीं अधिक ही महत्त्व दिया जा सकता है । प्रकृति जड़ है पदार्थों में अपनी-अपनी विशेषताएँ तो हैं, पर वे निर्जीव होने के कारण यथास्थिति ही पड़े रह सकते हैं । उनकी सामर्थ्य एवं उपयोगिता को समुन्नत बनाना मानवी प्रयत्नों से ही सम्भव होता है । अस्तु भौतिक साधनों की प्रगति का श्रेय भी अन्ततः मानवी सत्ता को ही जाता है । सुख-सुविधा की साधन सामग्री के अतिरिक्त, पारस्परिक सम्बन्धों में सहयोग एवं सद्भाव का होना भी प्रगति तथा सन्तोष का बहुत बड़ा कारण है । यह सभी कार्य मनुष्य की व्यक्तिगत मनःस्थिति पर निर्भर है । कुसंस्कारी मनुष्य उपलब्ध पदार्थों का अपव्यय और दुरुपयोग करके लाभ के स्थान पर हानि उठाते हैं । सम्पर्क क्षेत्र में मनुष्यों से द्वेष दुर्भाव बढ़ाते और कलह के बीज बोते हैं । ऐसी दशा में दुःख-दारिद्र्य और शोक-सन्ताप ही गले बँध सकता है । मनुष्य की निजी कुसंस्कारिता उसके लिए पग-पग पर अवरोध खड़े करती है, असहयोग और आक्रोश बँटोरती है, विकृत चिन्तन के कारण शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य भी चौपट हो जाता है । ऐसे लोग पिछड़े, असफल, असन्तुष्ट और उद्विग्न ही देखे जाते हैं । मनःस्थिति के अनुरूप परिस्थितियाँ बनती हैं, इस तथ्य को अमान्य नहीं ठहराया जा सकता । इसके विपरीत जो आत्मसत्ता को जितना परिष्कृत कर लेते हैं । वे अपने सुधरे हुए दृष्टिकोण तथा व्यवस्थित क्रिया-कलाप के आधार पर प्रखरता का परिचय देते हैं । सफलताएँ उनकी ओर खिंचती चली आती है । सहयोग और सम्मान उन पर बरसता है । स्तर की ऊँचाई के अनुरूप सन्तोष और उल्लास से उनका अन्तःक्षेत्र महकता रहता है जिसकी सुगन्ध से वातावरण में उमंगें भरती चली जाती हैं ।

बाह्य जगत से उपयुक्त सम्वेदनाएँ उपलब्ध कर सकना अन्तःजगत के चुम्बकत्व पर निर्भर है । पदार्थों की उपलब्धि ही समृद्ध नही है । इसके लिए सदुपयोग का कौशल भी चाहिए । सम्पर्क क्षेत्र में वंश का, रिश्ते का और स्वार्थों के आदान-प्रदान का उतना महत्त्व नहीं जितना सद्-व्यवहार का । बाह्य जीवन में कितनी ही अनुकूलता क्यों न हो, यदि अन्तःजीवन विकृत स्तर का होगा तो दुःखद परिस्थितियों की काली घटाएँ ही सिर पर घुमड़ती रहेंगी । सुखी जीवन के लिए साधनों की आवश्यकता समझी जाती है और सहयोग की अपेक्षा की जाती है, पर यह भुला दिया जाता है कि इन दोनों ही आकांक्षाओं की पूर्ति आन्तरिक उत्कृष्टता के बिना सम्भव नहीं । भीतर ओछापन भरा हो तो समुन्नत परिस्थितियाँ मिल न सकेगी । यदि संयोगवश अथवा दुष्ट प्रयासों से मिल भी जायें तो भीतर का पिछड़ापन उनका सदुपयोग न कर सकेगा । दुरुपयोग से तो अमृत भी विष बनता है । सुसम्पन्न लोग सुखी दीखते भर है, पर वास्तविक समृद्धि तो सुसंस्कृत लोगो के भीतर ही देखी जा सकती है । हँसता-हँसाता और हल्का-फुल्का जीवन जी सकना केवल उन्हीं के लिए सम्भव होता है । आनन्द भोगते और आनन्द बाँटते केवल वही पाये जायेंगे जिन्होंने अपनी अन्तःस्थिति को परिष्कृत बनाने में सफलता प्राप्त की है ।

भौतिक विज्ञान का कार्य, बाह्य जगत में बिखरी पड़ी पदार्थ सम्पदा को तथा अनुकूलता को बढ़ाना है । इस प्रयास की उपयोगिता सहज ही समझी जा सकती है । उसे समुचित श्रेय भी मिला है । प्रगति का कौशल प्राप्त करने की इच्छा भी सभी को रहती है और जिससे जितना बनता है उतना प्रयास भी करता

है । यह उचित है और बुद्धिमत्ता पूर्ण भी । यहाँ एक ही कमी अखरता है कि आत्म-चेतना का महत्त्व क्यों नहीं समझा जाता ? आन्तरिक उत्कृष्टता के कारण उत्पन्न होने वाले लाभों पर विचार क्यों नहीं किया जाता ? आत्म-परिष्कार की उपेक्षा क्यों होती है ? प्रगति की बात बाह्य जीवन एवं बाह्य जगत तक ही क्यों सीमित रखी जा रही है ? यह क्यों नहीं विचारा जाता कि जड़ से चेतन महत्त्वपूर्ण मनःस्थिति की परिस्थितियों का निर्माण करती है । प्रगति के आधार बाहर तो दीखते भर हैं वस्तुतः उसकी जड़ें व्यक्तित्व के अन्तःक्षेत्र से जुड़ी होती हैं । मनुष्य अपने भाग्य का निर्माण और भविष्य के निर्धारण करने लिए स्वयं ही उत्तरदायी है । यह मोटे तथ्य भी यदि समझे न जा सके और आत्म-निर्माण के प्रति उपेक्षा, अन्यमनस्कता छाई रहे तो इसे दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है ।

भौतिक विज्ञान ने आश्चर्यजनक प्रगति की है, किन्तु आत्म-विज्ञान बेतरह पिछड़ गया है । इससे सन्तुलन बना नहीं बिगड़ा है । वैभव के साथ-साथ उत्तरदायी दृष्टिकोण भी विकसित होना चाहिए । अन्यथा बन्दर के हाथ तलवार पड़ने पर अनर्थ ही हो सकता है ।

आत्म-विज्ञान का महत्त्व प्राचीन काल में समझा गया था । व्यक्ति चेतना से उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्शवादी कर्तृत्व की सघन स्थापना की गई थी । उत्कृष्ट चिन्तन की पृष्ठभूमि बनाने वाले तत्व ज्ञान का नाम है, आध्यात्म और आदर्श कर्तृत्व में निष्ठा उत्पन्न करने की प्रक्रिया धर्म कहलाती है । किसी समय आध्यात्म की—श्रद्धा और धर्म की—निष्ठा का गहरा आरोपण जन-मानस में करने के ऋषि प्रयास सफल हुए थे और अपने देश के नागरिक देवोपम जीवन जीने और अपनी सम्पर्क भूमि को 'स्वर्गादपि गरीयसी' बनाने में समर्थ हुए थे । आज एकांगी प्रगति की ललक गगनचुम्बी हो चली है, पदार्थ ही सब कुछ बन गया है । आदर्शवादी आस्थाओं के आधार पर चेतनात्मक परिष्कार की उपेक्षा की जा रही है । इस असन्तुलन से कुरूपता बढ़ रही है और समस्याएँ उलझ रही हैं । इस विषमता का अन्त होना चाहिए । भौतिक विज्ञान की ही तरह आत्म-विज्ञान को भी महत्त्व मिलना चाहिए ।

साधना प्रकृति की, की जा रही है सो ठीक है, पर चेतन पुरुष को परिष्कृत प्रगतिशील बनाने की उपयोगिता पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए । इसके बिना उज्ज्वल भविष्य का निर्माण हो नहीं सकेगा । इस तथ्य को जितनी जल्दी समझ लिया जाय उतना ही उत्तम है ।

## आत्मिक प्रगति के तीन सुनिश्चित आधार अवलम्बन

विद्यार्थी को अच्छे नम्बर से उत्तीर्ण होने और उस सफलता के आधार पर उच्च पद पाने के लिए कई बातों पर आश्रित रहना पड़ता है । अपना निजी मनोयोग एवं परिश्रम तो सर्वप्रथम है ही, उसके बिना तो गाड़ी एक कदम नहीं बढ़ती, पर इसके अतिरिक्त भी अन्य दो साधन चाहिए । इनमें एक है, उपयुक्त शिक्षक एवं सुनिश्चित पाठ्य-क्रम । दूसरा है, अभिभावकों का सहयोग, अनुदान । यह तीनों सुयोग जब बन पड़ते हैं तो सफलता सुनिश्चित हो आती है । इनमें से एक आधार भी लड़खड़ाने लगे तो समझना चाहिए कि प्रगतिक्रम रुका और सफलता संदिग्ध हो गई । अपवाद रूप में तो कोई एकाकी पात्र अपने बलबूते भी बहुत कुछ कर सकता है, पर साधारण क्रम यही है । निजी पुरुषार्थ के अतिरिक्त साधन और सहयोग की भी हर प्रसंग में आवश्यकता पड़ती है । उनके न मिल सकने पर सुयोग्यों को असफलता का दुःख उठाना पड़ता है ।

छात्र की सफलता का उदाहरण देकर यह बताया गया है कि भौतिक और आत्मिक प्रगति के लिए सर्वत्र उपरोक्त त्रिविध साधनों की आवश्यकता पड़ती है । जिन्हें मिल जाते हैं वे सफलता का श्रेय लेते हैं, जिन्हें इनसे वंचित रहना पड़ता है वे अपने प्रयत्न पुरुषार्थ में कोई कमी न पाते हुए भी दुर्भाग्यग्रसित रहते हैं । पुरुषार्थ का महत्त्व सर्वोपरि होते हुए भी वह एकाकी ऐसा नहीं है जो अभीष्ट प्रतिफल उपलब्ध कर सके । साधन और सहयोग के बिना प्रबल पुरुषार्थ भी असफल रहता पाया गया है । विद्यार्थी को उपयुक्त अध्यापन न मिले और अभिभावक उसके लिए भोजन, वस्त्र, पुस्तक, फीस आदि का प्रबन्ध न करें, तो पुरुषार्थी और मेधावी होते हुए भी उसे अभीष्ट प्रतिफल से वंचित रहना पड़ेगा ।

आत्मिक क्षेत्र की सफलता के सम्बन्ध में भी यही बात है । साधना पद्धति सही और सुनिश्चित होनी

चाहिए । दुर्भाग्य से भारतीय आध्यात्मिकता के क्षेत्र में इन दिनों अराजकता का साम्राज्य है । अन्य धर्मों में सुनिश्चित साधन पद्धतियाँ बनी हुई हैं । उन्हें श्रद्धापूर्वक अपना कर अनुयायी अपना प्रगति क्रम जारी रखते हैं । मुसलमानो में मौलवी और ईसाइयों में पादरी अपना-अपना नया मजहब नहीं चलाते । अपनी-अपनी नई साधना पद्धतियाँ नहीं गढ़ते । अपनी मनमर्जी के नये-नये मन्त्र और विधान नहीं उगाते, पर इस सम्बन्ध में हिन्दू समाज को दुर्भाग्यग्रस्त ही कहना चाहिए कि हर धूर्त गुरुनामधारी ने अपनी डेढ़ ईंट की अलग मस्जिद खड़ी की और ढाई चावल की खिचड़ी पकाई है । आठ कनौजिया नौ चूल्हे की कहावत व्यावहारिकतः कितनी सच है यह कहना कठिन है । पर उपासना के क्षेत्र में हर गुरु नामधारी ने अपना एक विशेष सम्प्रदाय शास्त्रों, आप्तवचनों एवं परम्पराओं की पूरी अवहेलना करते हुए गढ़ लिया है । पर्यवेक्षण में उसे हारना न पड़े इसलिए यह तुर्रा लगा दिया है कि जो विधि बताई गई है उसे प्रकट न किया जाय । जबकि समस्त संसार में विज्ञ-जन अपने प्रतिपादनों की प्रामाणिकता एवं विशिष्टता सिद्ध करने के लिए उन्हें साहसपूर्वक तर्क एवं प्रमाणों सहित प्रस्तुत करते हैं तब अपने यहाँ किसी को न कहने का प्रतिबन्ध लगाया जाता है । इसका और कोई कारण नहीं, उस मनगढ़ंत जाल-जंजाल की पोल खुल जाने का भय ही गोपनीयता का प्रतिबन्ध लगाता है । साधन विधियों की बहुलता और गोपनीयता की इस अराजकता के दिनों किसी सहज जिज्ञासु के लिए यह निर्णय करना कठिन पड़ता है कि इन तथाकथित गुरुजनों द्वारा बताई जाने वाली अनेकानेक उपासना विधियों में से किसे अपनाये, किसे छोड़ें । भ्रान्तियों, शंकाओं, सन्देहों और अनिश्चित दिशा धाराओं की मनःस्थिति साधक की निष्ठा में सबसे बड़ी बाधा है । इसके रहते किसी का अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचना कठिन है ।

इस कठिनाई के निवारण का गायत्री अभियान के सूत्र संचालकों ने प्राण-पण से प्रयत्न किया है और शास्त्र तथा आप्त परम्पराओं का लम्बे समय तक पर्यवेक्षण करने के उपरान्त वह राजमार्ग प्रस्तुत किया है, उसे चुनौती दे सकना किसी भी तर्क, तथ्य एवं प्रमाणों को मान्यता देने वाले लिए शक्य नहीं हो सकता । अध्ययन अन्वेषण ही नहीं, अनुभव भी इस राजमार्ग की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में प्रमाण स्वरूप किया गया है । 'साधना में सिद्धि' का उपलब्ध होना ही उसके सही होने की सबसे बड़ी साक्षी है । प्राचीन काल के उदाहरणों पर जिन्हे सन्देह हो वे गायत्री युग लाने वाले सूत्र संचालक की निजी साधना और सिद्धि का पर्यवेक्षण करते हुए भी प्रतिपादन की प्रामाणिकता का पता लगा सकते है । सन्देह निवारण की दृष्टि से यह साक्षी काफी वजनदार है ।

आत्मिक प्रगति के लिए सुनिश्चित साधना पद्धति में गायत्री के अवलम्बन से बढ़कर दूसरा मार्ग हो नहीं सकता इसे, भारतीय धर्मानुयायी क्रमशः अधिक अच्छी तरह समझते और अनुभव करते जा रहे हैं । उसके लिए उपयुक्त विधान क्या होना चाहिए, उसकी समुद्र मंथन जैसी लम्बी अनुसन्धान प्रक्रिया का जो निष्कर्ष नवनीत निकला है वह सर्व साधारण के सामने प्रस्तुत है । गायत्री महाविज्ञान या छोटी पुस्तिकाओं में उसे सरलतापूर्वक देखा, समझा जा सकता है । अब तो उनका प्रचलन भी इतना हो गया कि किसी नैष्ठिक साधक से पूछ कर निभ्रान्त साधना पद्धति को जाना जा सकता है । कोई सन्देह हो तो हरिद्वार, मथुरा के केन्द्र उनका निराकरण समाधान करने के लिए विद्यमान हैं । ऐसी दशा में साधना से सिद्धि प्राप्त करने के मार्ग में जो प्रथम अवरोध 'सही मार्ग-दर्शन' न मिलने का, सही अध्यापक, अध्यापन न मिलने का था, उसका समाधान मिल गया ही समझा जा सकता है ।

मार्ग-दर्शन के अतिरिक्त प्रगति पथ पर अग्रसर होने का दूसरा अवलम्बन है—पुरुषार्थ । पुरुषार्थ के दो पक्ष हैं एक श्रम, दूसरा मनोयोग । श्रम में स्फूर्ति और तत्परता होनी चाहिए । मनोयोग में तन्मयता, निष्ठा का समावेश होना चाहिए, अन्यथा इन दोनों का स्तर नहीं बनता और चिह्न पूजा होने जैसी स्थिति बनी रहती है । लकीर पिटते रहने का पुरुषार्थ नही बेगार भुगतना कहा जाता है । उसका प्रतिफल भी नगण्य ही मिलता है । साधना के क्षेत्र में भी उच्चस्तरीय पुरुषार्थ चाहिए । साधक की उपासना में साधन श्रद्धा और जीवन प्रक्रिया में उत्कृष्टता का अधिकाधिक समन्वय करना चाहिए । भजन-पूजन बेगार भुगतने की तरह क्रिया-कृत्य बनकर ही नहीं चलते रहना चाहिए वरन्

उसमें सघन निष्ठा का समावेश होना चाहिए । इन दिनों युग पुरश्चरण का जो महान संकल्प चल पड़ा है उसमें संख्या और समय स्वल्प है, पर निष्ठा का स्तर बढ़ाने पर पूरा जोर दिया गया है । कहा गया है कि उसकी नियमितता और आवश्यकता भोजन, शयन से कम नहीं वरन् अधिक ही अनुभव की जानी और व्रत लिया जाना चाहिए कि भोजन या शयन से पूर्व निर्धारित साधना क्रम पूरा किया जायेगा । किसी कारणवश वन नहीं पड़ा तो उसे छोड़ नहीं दिया जाना चाहिए, वरन् अगले दिनों साधन बढ़ाकर उसे पूरा किया जाना चाहिए । यह नैष्ठिक अनुशासन है । इसी को व्रत कहते हैं । व्रत के बिना साधना में शक्ति उत्पन्न ही नहीं होती । प्रत्यंचा खींचे बिना बाण की प्रखरता कहाँ दृष्टिगोचर होती है ?

साधनात्मक पुरुषार्थ में—(१) उपासना का नियमित और निश्चित होना । (२) व्यक्तित्व में पवित्रता एवं प्रखरता का समावेश बढ़ना । (३) तपश्चर्या की संयम एवं सेवा शर्तों को पूरा किया जाना—यह तीन चरण हैं । साधक इन्हीं के सहारे इतना सशक्त बनता है कि अन्तराल से सिद्धियों का उभार, संसार से सम्मान, सहयोग और अदृश्य जगत की दैवी अनुग्रह की विद्युत वर्षा होने लगे । इस वर्ष की नैष्ठिक उपासना में सप्ताह में एक दिन अस्वाद ब्रह्मचर्य एवं मौन की संयम साधना पर जोर दिया गया है । साथ ही नव सृजन के लिए अंशदान की उदारता बरतने में निष्ठावान रहना चाहिए । इन्हें तपश्चर्या की नीति अपनाने का अंगुलि-निर्देश समझा जाना चाहिए । इन्हें मात्र कृत्य की तरह पूरा ही नहीं कर लिया जाना चाहिए, वरन् उन्हें तपस्वी जीवन के आधारभूत सिद्धान्त समझा जाना चाहिए और निरन्तर यह प्रयत्न चलना चाहिए यह आदर्श व्यक्तित्व के अंग बनकर दबे देवत्व को उभारने का चमत्कार दिखा सकें ।

आध्यात्म क्षेत्र का आत्म-शोधन एवं आत्म-परिष्कार करना ही परम पुरुषार्थ है । इसी के लिए व्रत, संयम, तप के विभिन्न अनुशासन अपनाने पड़ते हैं । उपासना पद्धति मे भी निष्ठा और नियमितता का अधिकाधिक समावेश करना पड़ता है । जो इन तथ्यो पर जितना अधिक ध्यान देता है वह उसी अनुपात से सच्चा साधक माना जाता [redacted] और उसी परिमाण से चमत्कारी सिद्धियाँ प्राप्त करता है । जो उस ओर ध्यान नहीं देते मात्र उपासना कृत्यों को ही सब कुछ मान बैठते हैं उनको बाल बुद्धि की जादूगरी में रस लेने वाला कहा जा सकता है । हाथों की हेरा-फेरी और जीभ की लपालपी भर से तो बाजीगर ही चमत्कार दिखा सकते हैं । जो इतना भी नहीं समझते कि सस्ते उपचारों से बड़े चमत्कार दिखाने वाले बाजीगर वस्तुतः खोखले होते हैं और बाल मनोरंजन करके पेट भरने मात्र की कमाई कर पाते हैं । साधना को जो बाजीगरी भर मानते हैं और देवताओं को छुट-पुट उपहार मनुहार से बरगलाये जा सकने जैसे मूर्ख मानते हैं वे भारी भूल करते हैं । तत्वतः—आत्मिक क्षेत्र का पुरुषार्थ उपासना पद्धति और जीवन-प्रक्रिया से उच्चस्तरीय निष्ठा का समावेश करते चलना ही है ।

गायत्री परिवार के परिजनों ने अपनी साधना में निष्ठा का समावेश करने का प्रयत्न सदा से किया है अब युग सन्धि की वेला में वे उस प्रयास को और भी अधिक तत्परता के साथ सम्पन्न करने जा रहे हैं । इन दिनों जागृत आत्माओं के कन्धों पर जो विशिष्ट उत्तरदायित्व आये हैं उनका निर्वाह कर सकने में नैष्ठिक साधना अपनाने पर बहुत जोर दिया जा रहा है । जो इस दिशा में जितने शौर्य पराक्रम कर सकेंगे वे उतने ही बड़े पुरुषार्थी कहे जायेंगे और आत्मिक प्रगति के सुनिश्चित परिणाम उत्पन्न करने वाले त्रिविध अवलम्बनों में से एक अति महत्त्वपूर्ण पक्ष की पूर्ति करेंगे ।

भौतिक प्रगति एवं समृद्धि का जितना महत्त्व समझा और ध्यान दिया जाता है उतना ही यदि आत्मिक क्षेत्र की उपलब्धियों के सम्बन्ध में दृष्टि रही होती तो निश्चय ही सामान्य परिस्थितियो में रहने वाले व्यक्ति भी देव मानवों की भूमिका निभा सकने में समर्थ हो सके होते । चलता इतना ही है कि भौतिक सफलताओं के लिए छुट-पुट आध्यात्मिक उपचार-उपेक्षापूर्वक किए जाते है यदि आत्मबोध उगा और तत्व ज्ञान जगा होता तो आत्मिक प्रगति को प्रमुखता मिलती और भौतिक सुविधाओं की वैसी ही उपेक्षा बन पड़ती जैसी कि इन दिनो वैभव के निमित्त जीवनोद्देश्य की अवज्ञा होती रहती है । यह आन्तरिक परिवर्तन प्रस्तुत कर सकना ही सच्चे अर्थों में आत्मिक क्षेत्र का पुरुषार्थ है जो इसे जिस मात्रा में कर पाता है वह इसी काय-कलेवर में

रहते हुए अपने में दैवी विशिष्टताओं का अनुभव करता और परिचय देता है ।

आत्मिक प्रगति का तीसरा अवलम्बन है—वरिष्ठों का अनुदान। छात्र की सफलता का उदाहरण देते हुए कहा जा चुका है कि उसे अभिभावकों का बहुमुखी सहयोग मिलना चाहिए । भोजन, वस्त्र, पुस्तक, फीस, जेब खर्च आदि का सारा प्रबन्ध अभिभावक करते हैं । यदि वे न करें और यह सारा प्रबन्ध छात्र को स्वयं ही करना पड़े तो अधिकांश क्षमता उसी को जुटाने में नष्ट हो जायेगी और फिर पढ़ने के लिए न फुरसत मिलेगी, न ताजगी रहेगी । ऐसी दशा में अत्यधिक भार बढ़ जाने से न उसकी पढ़ाई ठीक प्रकार चलेगी न सफलता ही सुनिश्चित रहेगी । छोटे बच्चे को माता दूध भी पिलाती है और उसकी अन्य सुविधाओं को भी जुटाती रहती है । यदि यह लाभ न मिले तो नवजात शिशु के लिए अपनी स्वल्प सामर्थ्य के बल पर जीवन धारण किए रहना भी कठिन हो जायेगा ।

आत्मिक प्रगति के क्षेत्र में भी यही सिद्धान्त काम करता है । साधना के प्रति सच्चे अर्थों में जो निष्ठावान हैं, उन्हें सिद्ध पुरुषों के उच्चस्तरीय अनुदान मिलते हैं और वे स्वल्प पुरुषार्थ में भी उच्चस्तरीय सफलताएँ प्राप्त कर सकने में सफल होते हैं । विवेकानन्द को परमहंस का, शिवाजी को समर्थ का, चन्द्रगुप्त को चाणक्य का, विनोबा को गाँधी का अनुदान मिला और वे मूलतः अकिंचन होते हुए भी अन्ततः महान बन सकने में सफल हुए । हनुमान, अंगद और नल-नील को चमत्कारी उपलब्धियाँ उनकी अपनी उपार्जित नहीं थीं वे अनुदान में मिली थी । कुन्ती पुत्र पाण्डव जो पराक्रम दिखा सके वह उनका निज का नहीं देव प्रदत्त था । गंगा लायें तो भागीरथ ही थे, पर उस सफलता में उन्हें शिवजी का अनुदान कम नहीं मिला था । तपश्चर्याएँ ऐसे ही अनुदान, वरदान प्राप्त करने के निमित्त की जाती हैं ।

सर्वविदित है कि युग-निर्माण योजना के सूत्र संचालको की अपनी उपार्जित आत्मिक सम्पदा जितनी है उससे असंख्य गुनी अनुदान स्वरूप मिलती है । यदि ऐसा न होता तो गोवर्धन उठाने और समुद्र सेतु बनाने जैसे जो महान प्रयत्न चल रहे थे उनमे से एक भी अग्रगामी न हो सका होता ।

गुरु और शिक्षक में नैतिक अन्तर है । शिक्षक मार्गदर्शक भर होता है । बताने, पढ़ाने के उपरान्त उसकी जिम्मेदारी पूर्ण हो जाती है किन्तु गुरु की गरिमा इतनी सीमित नहीं हैं, उसे शिष्य को प्रशिक्षण से भी अधिक अनुदान देना पड़ता है । अध्यापक कोई भी हो सकता है, पर अनुदान देने वाले अभिभावक तो भाग्यवानो को ही मिलते हैं । यदि यह आवश्यकता पूर्ण न हो सके तो मार्ग-दर्शन और पुरुषार्थ के दोनों आधार बन पड़ने पर भी एक बड़े महत्त्व का अवलम्बन अनुपलब्ध ही रह जाता है और उच्चस्तरीय सफलता संदिग्ध बनकर रह जाती है ।

कई व्यक्ति ऐसे सिद्ध पुरुषों की तलाश में रहते हैं जिनके वरदान, आशीर्वाद से उनकी कठिनाई का हल निकले एवं अभीष्ट सफलताओं में सरलता हो सके । ऐसे सिद्ध पुरुष प्राचीनकाल में तो बहुत थे, पर अब भी उनका वंश नष्ट नही हुआ है । सत्पात्रों की उनकी सेवा सहायता अभी भी प्राचीनकाल की तरह उपलब्ध होती है । फिर क्या कारण है कि प्राचीन काल में साधकों को ऐसे अनुदान मिलते रहते थे और अब वैसे सुयोग नहीं बनते । सिद्ध पुरुषो के वरदान प्राप्त करके जो गुरु कृपा की सराहना कर सके ऐसे भाग्यशाली कठिनाई से ही कहीं दीखते हैं । इच्छुकों की कमी नहीं वे भाग-दौड़ भी कम नहीं करते-फिर भी जब निराशा हाथ लगती है तो अनेक प्रकार के सन्देह मन में उठते हैं । उनमें एक यह भी है कि सिद्ध पुरुषों की समाप्ति तो नहीं हो गई अथवा वे अनुदार तो नहीं बन गए ?

इस शंका के समाधान में इस तथ्य को भली प्रकार उजागर करना होगा कि महत्त्वपूर्ण अनुदान पात्रता के स्तर से सम्बन्धित है । पानी माँगने पर कहीं से भी मिल सकता है । मनुष्यता का तकाजा एक-दूसरे को सहयोग देते हुए जीवन-यापन करने का है, पर बड़ी सहायता देने जैसे बड़े कदम उठाने के लिए कोई तभी तैयार होता है जब प्राप्त करने वाले की पात्रता परख ली जाय । उदाहरण के लिए किसी के भी माँगने पर उसे बेटी नहीं दी जा सकती । जामाता को हर तरह ठोक-बजा कर देखना पड़ता है कि वह उसी सुयोग्य बेटी के उपयुक्त है या नहीं । बड़े अनुदान भी मिलते तो मुफ्त मे ही है, पर उसके लिए

पात्रता को कडी परीक्षा में उत्तीर्ण होना पड़ता है । माँगते ही मिल जाने की कोई परम्परा इस संसार में नहीं है । देवता या सिद्ध पुरुष भी इसके लिए तैयार नहीं होते । याचना पूरी हो ही जायेगी इसकी कोई गारण्टी नहीं । बैंकों से ऋण लेकर सभी चैक भुनाने वाले धन निकालते हैं, पर इस लाभ को पाने से पूर्व अपनी जमा राशि अथवा लौटाने की जमानत का प्रबन्ध करना होता है । हर किसी की मनोकामना पूरी करने वाले अनुदान बढ़ने लगे तो बैंकें ही नहीं देवता एवं सिद्ध पुरुष भी दिवालिया बन जायेंगे । पात्रता की कसौटी पर खोटे सिद्ध होने वाले याचकों को प्रायः खाली हाथ ही लौटना पड़ता है । ठीक यही बात देव मानवों द्वारा सामान्य-जनों को उपयोगी अनुदान देते समय भी ऐसी ही जाँच-पड़ताल करनी होती है और वैसी ही नीति बरती जाती है ।

बैंकों से पैसा उधार तो मिलता है, पर मजा उड़ाने या जमा करने के लिए नहीं । किसी ऐसे उपयोगी काम के लिए दिया जाता है, जिससे देश की समृद्धि बढ़े और अनेकों को रोजगार मिले । लेने वाले उस ऋण को ब्याज समेत वापिस लौटाते और देश का उत्पादन बढ़ाने का परमार्थ करते रहते हैं । कमीशन से अपना मध्यवर्ती लाभ कमाते और समृद्ध भी बनते हैं । ठीक यही तरीका दिव्य सत्ताओं से वरदान, अनुदान प्राप्त करने का है । वह किसी को भी अमीर बनने के लिए नहीं मिला । यदि देव सत्ताएँ ऐसा करतीं तो वे पक्षपाती और चापलूसी के इशारे पर नाचने वाली कहलातीं, फिर उनकी गरिमा के साथ जुड़ी हुई उत्कृष्टता का कोई आधार न रह जाता और पूरा भाई-भतीजावाद बिरादरीवाद पनपता । ऐसा लेन-देन ओछे मनुष्य ही निहित स्वार्थों से प्रेरित होकर कर सकते हैं । देवत्व की गरिमा अपनाने वाले दृश्य या अदृश्य सत्ताओं से कभी किसी की मनोकामना पूर्ति की नहीं-उच्च प्रयोजनों के लिए अनन्त रूप में अनुदान पाने की ही अपेक्षा करनी चाहिए । यह परम्परा अभी भी मौजूद है । आत्मिक प्रगति के लिए सत्पात्रों को उच्चस्तरीय अनुदान देने वाली दैवी बैंक अभी भी अपना लेन-देन प्राचीनकाल की भाँति ही चलाती रहती हैं । आत्मिक प्रगति का तात्पर्य है उच्चस्तरीय व्यक्तित्व और उसके साथ अविच्छिन्न रूप से जुडा हुआ लोक-मंगल परक कर्तृत्व । उच्च उद्देश्य के लिए उच्च अनुदान प्राप्त करने की सुविधा अभी भी जी चाही प्रसन्नतापूर्वक प्रचुर परिमाण में उपलब्ध कर सकता है ।

जीवात्मा के सामने दो क्षेत्र खुले पड़े हैं एक श्रेय दूसरा प्रेय । दोनों में से वह जिसे चाहे उसे प्रधान रूप से चुन सकता है । दोनों का सन्तुलन मिला सकता है । यही बुद्धिमत्ता की कसौटी है जो सामने चुनौती की तरह पड़ी रहती है । भूलभुलैया और यथार्थता में से किसे चुना गया, इसी प्रकार जीवन लक्ष्य की, दूरदर्शिता की परीक्षा है । जो उत्तीर्ण हो जाते हैं वे अनन्त ऐश्वर्य और आनन्द प्रदान करने वाली आध्यात्म विभूतियाँ प्राप्त करते हैं, स्वर्ग और मुक्ति के अधिकारी बनते हैं । आत्म-साक्षात्कार का, ईश्वरीय अनुग्रह का, अजस्र शक्ति वर्चस्व का, लाभ प्राप्त करके इस सुरदुर्लभ मानव अवतरण को धन्य बनाते हैं और जो भटक जाते हैं उन्हें चिरकाल तक पश्चात्ताप की आग में जलना पड़ता है ।

## आत्म-बोध, आत्म-निर्माण और आत्म-विकास की राह पर चल पड़ें

भ्रम जंजाल वह है जिसमें अप्रबुद्ध प्राणी आमतौर से भटकते रहते हैं । मछली आटे की गोली पर बेतरह टूट पड़ती है, बिना आगा-पीछा सोचे उसे निगल जाती है । उस भूल का परिणाम प्राणघातक पीड़ा के रूप में सहना पड़ता है । बहेलिया जाल को ढक कर दाना बिछाता है, जिन्हे सतर्कता बरतना नहीं आता वे पक्षी उन्हे खाने के लिए दौड़ पड़ते हैं, बड़ी मात्रा में, सहज ही मनमाना आहार पाने की आतुरता उन्हें जाल में फँसा देती है और उस नादानी का फल उन्हें जान गवाँने के रूप मे भुगतना पड़ता है । सँपेरा मधुर ध्वनि बजाकर साँपो को बिल में से बाहर निकालता है और उन्हें मोहित करके पिटारी में आजन्म कैदी बनाकर बन्द कर लेता है । हिरन की भी यही दुर्गति होती है । पुराने जमाने के वधिक वीणा की मधुर ध्वनि बजाने में प्रवीण होते थे, दौड़ते, उछलते हिरन अपनी चौकड़ी भूलकर उसे सुनने में तन्मय हो जाते थे । इस असर का लाभ उठाकर वधिक उन्हें पकड़ कर वध कर डालते थे । शोभा सौन्दर्य पर मुग्ध होने वाले भ्रमर का कमल पुष्प मे बन्द होना और फिर हाथी द्वारा उसे उदरस्थ कर लिया जाना प्रसिद्ध है ।

शीरे की चसक के लिए आतुर मक्खियाँ किस तरह बेमौत मरती हैं इसे कौन नहीं जानता । ऐसी ही आसुरी माया, अबोध मानव प्राणी को भटकाती है । वह भ्रान्ति और यथार्थता के बीच अंतर नहीं कर पाता और उसी दलदल मे गहरा घुसता चला जाता है जिससे निकलने के लिए यह मनुष्य जीवन जैसा सुरदुर्लभ अवसर मिला था ।

सुख की आकांक्षा जीव को स्वभावतः रहती है । वह आगे बढ़ना चाहता है, ऊँचा उठना चाहता है, अधिक पाना चाहता है और अपना क्षेत्र विस्तृत करना चाहता है । यह आकांक्षाएँ उचित भी हैं और आवश्यक भी । इनकी प्रेरणा से ही उत्कर्ष की दिशा में प्रगति होती है, पर दुर्भाग्य वहाँ अड़ जाता है जहाँ इन प्रयोजनों को पूरा करने का सही रास्ता नहीं मिलता और फिसलन की ओर प्राणी भटकता, घिसटता चला जाता है । कदाचित् लक्ष्य निर्धारण के अवसर पर थोड़ी सतर्कता बरती जा सके तो तुरन्त के तनिक से आकर्षक व्यामोह से सहज ही बचा जा सकता है जो जीवन लाभ की महान उपलब्धियों से वंचित ही किए रहता है ।

इन्द्रिय सुखों के पीछे मानसिक बचपन लालायित होकर अन्धी दौड़ लगाता है । पतंग लूटने में अति उत्साही लड़के अक्सर छतों से गिरकर हाथ-पाँव तोड़ते और जान गवाँते देखे जाते हैं । जिनके सामने जीभ का चटोरापन, जननेन्द्रिय की खुजली, आलस्य, आराम, सजधज का बचकाना प्रदर्शन, उद्धत अहंकार का पोषण, सम्पत्ति संग्रह में बड़प्पन का अनुभव, परिवार में अविवेकपूर्ण मोह, विनोद में अति रुचि जैसे प्रसंग ही सब कुछ हैं उन्हें आत्मिक उत्कर्ष की बात सूझती ही नहीं । सूझती भी हो तो उन्हीं प्रसंगों में इतनी व्यस्तता रहती है कि जीवन लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कुछ पुरुषार्थ कर सकना सम्भव ही नही रहता । न उसके लिए समय ही बचता है, न मनोयोग लगता है, न साधनों को उसके लिए प्रयुक्त करने का उत्साह उमड़ता है । ऐसी दशा में आत्मोन्नति की हल्की-फुल्की कामना, कल्पना मस्तिष्क के किसी कोने में पड़ी हुई भी हो तो उससे कोई महत्त्वपूर्ण प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । छुटपुट पूजा-पत्री द्वारा आत्मिक प्रगति की महान प्रक्रिया न सफल हो सकती है और न सम्भव ।

विवेक द्वारा जब आत्मिक और भौतिक उपलब्धियों की तुलनात्मक विवेचना की जाती है तब पता चलता है कि एक तराजू के एक पलड़े में काँच है और दूसरे में काँचन । शरीरगत इन्द्रिय लिप्सा, वासना और मनोगत लोभ, मोह जन्य तृष्णा जिनके व्यक्तित्व पर आच्छादित हो गई है जिन्हे इन दो के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं उनके लिए आत्मोन्नति का कोई महत्त्व भले ही न हो, पर जिन्होने महामानवों के उज्वल चरित्र, महान कर्तृत्व और उनके अनुदानों के प्रति उमगती लोक श्रद्धा का यदि मूल्यांकन किया है तो प्रतीत होगा कि पेट और प्रजनन के लिए मरते-खपते रहने वाले नर कीटकों की तुलना में आध्यात्मिक उपलब्धियों का महत्त्व कितना अधिक है । आन्तरिक सन्तोष, उल्लास एवं अजस्र बल की अनुभूति आत्म-तत्व की अभिवृद्धि से ही सम्भव है । सोचने की, पढ़ने-लिखने की, परिवार, उपार्जन, शासन एवं अगणित साधनों की जो सुविधाएँ मनुष्य को मिली हैं वे किसी और प्राणी को नहीं मिली, केवल एक ही जीव को इतना मिलना अकारण नहीं है । ईश्वर ने मनुष्य को अपने सहायक सहयोगी के रूप मे सृजा है और आशा की है वह उसकी सृष्टि को सुन्दर, समुन्नत, सुव्यवस्थित बनाने में योगदान करेगा । अन्य प्राणियों में अतिरिक्त जो भी अनुदान हैं वे मात्र इसी प्रयोजन के लिए हैं, पर यदि उस दिशा से मुँह-मोड़ लिया जाय तो अन्तरात्मा ईश्वरीय प्रयोजन को पूरा न करने की आत्म प्रताड़ना से निरन्तर पीड़ित रहेगी वह आन्तरिक विक्षोभ जीवन की हर दिशा में फूटेगा और हर घड़ी क्षुब्ध उद्विग्न, अशान्त एवं खिन्न रहना पड़ेगा । इस अन्तःविद्रोह को रोग, शोक, दारिद्रय, विक्षोभ, क्लेश-कलह, असन्तोष अनाचार के रूप में फूटता हुआ देखा जा सकता है । प्रचुर सम्पदा और सुख साधन होते हुए भी मनुष्य तब तक सुखी नहीं रह सकता जब तक वह जीवन लक्ष्य को पहचाने नहीं और अपनी दिशा जीवनोद्देश्य की पूर्ति के लिए निर्धारित न करे ।

विवेक का उदय होते ही मनुष्य अपने आपको एक ऐसे चौराहे पर खड़ा पाता है उसे दिशा निर्धारण करने की आवश्यकता अनुभव होती है । हवा के साथ उड़ते हुए पत्ते की तरह जहाँ परिस्थितियाँ ले जाये वहीं जा पहुँचना अपरिपक्वता का चिन्ह है । किधर

चलना चाहिए ? क्या करना चाहिए ? क्या बनना और क्या पाना चाहिए ? इन प्रश्नों का हल स्वतन्त्र चेतना से, दूरदर्शी विवेक बुद्धि के साथ किया जाना चाहिए । लोग क्या कहते हैं, और क्या करते हैं यदि इस आधार पर अन्धानुकरण भर करते रहा गया तो समझना चाहिए सुरदुर्लभ अवसर के साथ मखौल करने वालों की पंक्ति में अपने को भी खड़ा किया जा रहा है ।

भौतिकवादी जीवन लक्ष्य अपनाने वाला घोर परिश्रम और अनीति आचरण करने के उपरान्त थोड़ी-सी सम्पत्ति एवं सत्ता उपार्जित कर सकता है, पर दुर्बुद्धि उसका सदुपयोग नहीं करने देती फलतः प्राप्त सम्पदाएँ अगणित उलझनें उत्पन्न करती हैं और वे इतनी जटिल होती हैं कि उनका हल करने के असफल प्रयास में अपने को ही गलाँ-गला देना पड़ता है । इन्द्रिय लिप्सा बिजली की चमक जैसी कौंधती है और भोग को प्राप्त हो विलीन हो जाती है । कामनाएँ जब तक पूरी न हों तब तक वे बहुत आकर्षक लगती हैं पर जैसे ही वे प्राप्त हुई कि नीरस लगने लगी । न कोई वासनाएँ भोगने से तृप्त हुआ और न किसी को तृष्णा से सन्तोष हुआ । यह एक प्रकार की अग्नियाँ हैं जो मनुष्य को केवल जलाती हैं । आग में घी डालने से वह बुझती नहीं भड़कती ही हैं । विषय भोगों से लेकर वैभव वर्चस्व तक जिसे जितनी अधिकता प्राप्त होगी वह उतनी ही अतृप्त और उतना ही अशान्त दिखाई पड़ेगा । लोभ और मोह में अन्धा हुआ मनुष्य प्राप्त करने में तो एक हद तक सफल हो जाता है पर उसे सदुपयोग करना तनिक भी नहीं आता । फलतः सम्पदाएँ उसे झुलती, हूलती रहती हैं और उत्तराधिकारियों के लिए हराम की कमाई के साथ जुड़ी रहने वाली विपत्तियों की मेघ माला सिद्ध होती हैं । जो प्राप्त करना था उससे विमुख रहा गया और पापों की भारी पोटली लादकर अन्धकार मय भविष्य की ओर प्रयाण किया गया, यही है भौतिक जीवन की उपलब्धि । भूसी कूटने पर मिलता कुछ नहीं, कूटने वाले के हाथ में छाले भर स्मृति चिन्ह रह जाते हैं । वासना और तृष्णा की मृग-मरीचिका में भटकने वाले को मिलता कुछ नहीं, सुर दुर्लभ अवसर को कृमि कीटकों की तरह गवाँ देने का पश्चाताप भर शेष रहता है, इतना ही नहीं, साथ ही पाप पोटली के फल भुगतने के लिए चिरकाल तक चलने की नारकीय यन्त्रणा भी गले बँध जाती है ।

इसी भौतिक जीवन को जीया जाय तो कहना होगा कि बुद्धिमान कहलाने वाले ने अबुद्धिमता की रीति-नीति अपनाई । समझदारी का तकाजा यह है कि शरीर और मन के खिलौनों को सजाने-रिझाने में ही सारी शक्ति खर्च न कर दी जाय वरन् अपने आपे के हित अनहित पर भी कुछ विचार किया जाय और आत्म-सन्तोष, आत्म-निर्माण की, आत्म-कल्याण की भी बात सोची जाय । इस तथ्य पर अधिकतम गहराई में विचार कर सकना इस बात का चिन्ह है कि, प्रज्ञा का प्रकाश हो चला । सद्बुद्धि उदय हुई और आत्म-ज्योति का आलोक उभरा ।

जीवन सम्पदा का उपयोग दो ही दिशा में होता है एक को तमसाच्छन्न, भौतिक-आसुरी कहते हैं और दूसरी को ज्योतिर्मय, आत्मिक-दैवी कहा जाता है । इनमें से किसे अपनाया जाय किस मार्ग पर चला जाय इसका निर्णय करने में प्रत्येक मनुष्य पूर्णतया स्वतन्त्र है । हाँ, वह अपने निर्णय के भले-बुरे परिणाम से नहीं बच सकता, इस सन्दर्भ में वह पराधीन है । विष खाना या अमृत पीना अपनी इच्छा पर निर्भर है पर जब वह कदम उठा लिया गया तो मृत्यु या अमरता की प्रतिक्रिया से बचा नहीं जा सकता । यदि क्रिया और प्रतिक्रिया की अविछिन्नता को समझ कर चला जाय तो फिर रुदन-क्रन्दन के लिए विवश होने की आवश्यकता न पड़े । सन्मार्ग पर चलकर ही सुखद सत्परिणाम सम्भव हैं, सद्बुद्धि के सहारे ही आन्तरिक सन्तोष एवं आनन्द मिल सकता है इस आस्था का नाम ही आस्तिकता है । नास्तिकता इस विश्वास का नाम है कि दुर्भावनाओं और दुष्प्रवृतियों की रीति-नीति अपना कर भी उसके दुःखद प्रतिफल से बचा जा सकता है । स्वतन्त्र चेतना की प्रशंसा इस बात में है कि वह देव पथ का वरण करे और महान बनने की आकांक्षा प्रदीप्त करके आत्मवादी रीति-नीति अपनाने के लिए साहसपूर्वक अग्रसर हो । अन्ततः यही निर्णय सर्वोपरि बुद्धिमता का चिन्ह सिद्ध होता है । जिन्होंने देव-पथ चुना उन्हीं ने जीवन लक्ष्य की पूर्ति के साथ जुड़े हुए अजस्र आनन्द का लाभ लिया है ।

यह एक भयावह भ्रान्ति है कि जीवन लक्ष्य की पूर्ति छुट-पुट पूजा-पाठ करने या धार्मिक कर्म-काण्डों की लकीर पीट लेने से हो सकती है । साधना-उपासना भी एक सीमा तक ही इस प्रयोजन में सहायक हो सकती है । स्पष्ट है कि उपासनात्मक उपचारों को 'साधन' कहा जाता है, साध्य नहीं । साध्य है आत्मोत्कर्ष और उसके लिए चिन्तन एवं कर्तृत्व से प्रखर परिष्कृति का समावेश । जीवन लक्ष्य इसी का दूसरा नाम है । स्वर्ग मुक्ति इसी के प्रतिफल हैं आत्म-साक्षात्कार एवं ईश्वर दर्शन इस मनःस्थिति का नाम है । यदि अन्तरंग और बहिरंग व्यक्तित्व को उत्कृष्टता की रीति-नीति के साथ जोड़ा न जा सके तो समझना चाहिए कि भजन पूजन के सारे क्रिया-कलाप बाल-क्रीड़ा जैसे निरर्थक और उपहासास्पद ही सिद्ध होंगे ।

आत्मवादी जीवन क्रम का आरम्भ यहाँ से होता है कि हम काय-कलेवर और कूटस्थ आत्मा की भिन्नता समझें और उनके स्वार्थों का वर्गीकरण करना सीखें । माया मोहित अज्ञानी जीव अपने आपे को, शरीर एवं मन से विनिर्मित काय-कलेवर मात्र मानकर चलता है । अपने शुद्ध-बुद्ध रूप को एक प्रकार से पूर्णतया भूला रहता है । इन्द्रियों की वासना, मन की तृष्णाएँ ही उसे जीवन लक्ष्य प्रतीत होती हैं । आकांक्षाएँ सम्पत्ति संग्रह, अहंकार के पोषण और कुटुम्बियों के व्यामोह में ये इतनी घुली रहती हैं कि और कुछ सोचने के लिए न मन को उत्साह रहता है न शरीर को अवकाश । जब "अहं" का स्वरूप ही विस्मृत हो गया और कलेवर को ही आपा मान लिया गया तो स्वभावतः शरीर की वासना और मन की तृष्णा ही जीवन क्रम पर आच्छादित रहेगी । आत्म-चिन्तन, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण, आत्म-विकास की बात तब सूझेगी ही नही, और सूझेगी भी तो अत्यन्त फूहड़ ढंग से । आत्मवाद का अर्थ पूजा-पाठ तक सीमित कर देना, उसमे जीवन के समग्र परिष्कार की आवश्यकता को अविच्छिन्न न मानना एक प्रकार से परले सिरे की भ्रान्ति है ।

शारीरिक स्वस्थता के लिए व्यायाम का भी अपना स्थान है, पर आहार-विहार की मर्यादाओं का उल्लंघन करके कोई चाहे कि हम मात्र व्यायाम के सहारे बलवान बन सकते हैं तो यह उसकी भूल है । व्यायाम अपने आप में कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो पर वह समग्र नहीं है । जप, तप एक प्रकार के आध्यात्मिक व्यायाम हैं । वे करने ही चाहिए पर यह न भूल जाना चाहिए कि चिन्तन और कर्तव्य की महत्ता आहार-विहार से भी बढ़कर है । यदि उनकी उपेक्षा की गई तो हाथ कुछ भी लगने वाला नहीं है । आज यही हो रहा है । धर्म और आध्यात्म क्षेत्र में मन्त्र, जाप, स्तोत्र, पाठ, तीर्थ-दर्शन, स्नान-ध्यान, कथा-कीर्तन, आसन, प्राणायाम जैसे कर्मकाण्डो का महत्त्व आकाश-पाताल जितना बताया जा रहा है और कहा जा रहा कि इतने भर से ही समस्त आत्मिक और भौतिक मनोकामनाएँ पूर्ण हो जायेंगी । इस मूर्खतापूर्ण शिक्षा का परिणाम यह हुआ कि लोग आत्म-निर्माण की महान प्रक्रिया को तिलांजलि देकर सस्ते कर्मकाण्डों से आत्म-लाभ प्राप्त करने की आशा करने लगे । परिणाम यह हुआ कि आज आध्यात्मवाद की उपलब्धियाँ नगण्य है । ७० लाख साधु-बाबाओं से लेकर करोड़ों भजनानन्दी और कर्मकाण्डी लोगों में से उँगलियों पर गिनने जितने भी प्राणवान ऋषि तुल्य व्यक्तित्व दिखाई नहीं पड़ते । व्यायाम करने वाले पहलवान बन जाते हैं, व्यापार करने वाले धनवान, पढ़ने वाले विद्वान फिर क्या कारण है कि आत्मिक प्रयोजनों में संलग्न व्यक्ति सर्वथा छूँछ दृष्टिगोचर हो ? किसान का श्रम धान्य से कोठे भरता है, मजदूर अपना वेतन लेकर घर में घुसता है, व्यवसायी को अपना लाभ प्रत्यक्ष दीखता है । फिर आत्मवादी को मरने के बाद परलोक में कुछ मिलने की, आशा पर लटकाये रहा जाय, यह कहाँ तक उचित है । वस्तुतः आध्यात्म संसार का सबसे बड़ा लाभदायक व्यापार है । उसे जिसने अपनाया वह महामानव बना, लोकश्रद्धा उस पर निछावर हुई, सम्पदा और सफलता उसके पीछे-पीछे छाया की तरह फिरी, इतिहासकारों ने उसके गुण-गान करके अपनी लेखनी को धन्य बनाया, असंख्य भूले-भटकों ने उसके प्रकाश मे अपना पथ-प्रशस्त किया, स्वयं का अन्तःस्थल दिव्य विभूतियों से इतना ओत-प्रोत रहा कि उपलब्ध आनन्द को दोनो हाथों से चारों ओर उलीच कर सम्पर्क क्षेत्र को चन्दन वन जैसा सुरभित बनाया । आज ऐसे आत्मवादी व्यक्तित्व ढूँढें नहीं मिलते, इसका एकमात्र कारण वह भ्रान्त दर्शन है जिसने लोगों को, पूजा परक कर्मकाण्डों को सब कुछ बताया है । काश, लोगों ने आध्यात्म का यथार्थ स्वरूप समझा

होता और उन्हें वास्तविकता समझाई गई होती तो एक रुपये की लाटरी का टिकट खरीद कर लखपति बनने के सपने देखने वाले शेखचिल्ली शायद इस तरह भेड़िया घसान न मचाते, तब शायद आज के कागज के बने गगनचुम्बी रावण की तरह धर्म घटाटोप भी दिखाई न पड़ता, पर जो कुछ थोड़ा बहुत रह जाता उसमें शक्ति होती और उतनी सी छोटी चिनगारियाँ भी बहुत कुछ कर गुजरने की भूमिका सम्पादित कर रही होतीं ।

हमें हजार बार समझना चाहिए और लाख बार समझाना चाहिऐ कि आध्यात्मवाद जीवन नीति को ही कहते है । पूजा, उपासना उसका शोभा शृगार मात्र है । इस दिशा में आज तक जिन्होने भी कुछ कहने लायक प्रगति की है उन्होंने अनिवार्य रूप से आत्मबोध, आत्मशोधन और आत्मपरिष्कार की प्रक्रिया पूरी की है । हमें यदि खिलवाड़ का ही शौक हो तो हम तन्त्र-मन्त्रो के विधि-विधान मे सीमित रह सकते हैं, यदि कुछ पाना हो तो कदम आगे बढ़ाने ही होंगे ।

कहा जा चुका है कि आत्मबल सम्पादन के लिए, आत्मिक प्रगति के लिए, पहला कदम आत्मबोध के रूप मे उठाया जाना चाहिए । यह समझा ही नहीं अनुभव भी किया जाना चाहिए कि शरीर और मन हमारे वाहन उपकरण मात्र हैं । अपना यथार्थ स्वरूप आत्मा है । आत्मा ईश्वर का अंश है, परमेश्वर का उत्तराधिकारी राजकुमार । उसे अपना स्तर आत्म-गौरव के अनुरूप ही बनाना चाहिए । वही सोचना चाहिए वही करना चाहिए जो विश्व सम्राट के युवराज की गरिमा के अनुरूप हो । आत्मा के स्वार्थ, आत्मा के कर्तव्य, नर पशुओ के स्तर के नहीं हो सकते, उन्हें देवोपम होना चाहिए । मनुष्य शरीर ईश्वर ने जिस विशेष प्रयोजन के लिए दिया है, उसी में उसे लगाना चाहिए यदि इस बात का ध्यान बना रहे तो ओछी रीति-नीति नही अपनाई जा सकती । पेट और प्रजनन की आवश्यकता तो कीट-पतंगे भी पूरी कर लेते हैं मानव जीवन का उद्देश्य उससे ऊँचा है ।

यह बात समझ ली जाय तो शरीर और मन को वाहन उपकरण की तरह सन्मार्ग पर चलने के लिए सहायक के रूप मे प्रयुक्त किया जायेगा । उनकी गुलामी करके लोभ, मोह की घिनौनी कीचड़ में फँसते जाने से साहसपूर्वक इन्कार किया जायेगा । आत्म-भूमिका में जागृत व्यक्ति विनाश के गर्त में गिरने के लिए दौड़ी जा रही अन्धी भेड़ो के पीछे नहीं चलता वरन् अपने दूरदर्शी यथार्थवादी विवेक चिन्तन के आधार पर अपना मार्ग निर्धारण स्वयं करता है और स्वयं ही अपने साहस के बलबूते उस दिशा में चल पड़ने का साहस बटोरता है । वह जानता है कि मार्ग-दर्शन तो जीवित या दिवंगत महामानवों से ही ग्रहण किया जाना चाहिए । नर पशु तो कितनी ही बड़ी संख्या में क्यों न हों, भले ही वे अपने स्वजन, सम्बन्धियों में ही भरे पड़े हों, दया के पात्र हैं, उन्हें तो प्रकाश दिया जाना चाहिए, भटकने से बचाकर रास्ते पर लाया जाना चाहिए, सम्पर्क निकटता के कारण उन्हें यह अधिकार नहीं दिया जाना चाहिए कि उच्च आदर्शों से गिरा कर निरुद्देश्य जीने वाले नर कीटकों के रास्ते पर चलने के लिए बाध्य, विवश करे ।

जीवन के आत्मवादी क्षेत्र में प्रवेश करने वाले को आत्मबोध का प्रकाश ग्रहण करना चाहिए । निरन्तर यह विचार करना चाहिए कि वह स्वयं क्या है, क्यों है ? किस रीति-नीति को अपनाने में अपनी भलाई है ? विवेकशीलता, दूरदर्शिता और यथार्थता को अपनाने का साहस आत्मबोध की एक मात्र देन है । जिसे अपने आपे का ज्ञान हो गया होगा वह अज्ञानग्रस्त भीड़ का नेतृत्व अस्वीकार करेगा । प्रचलित परम्पराओ और मान्यताओ से नहीं वरन् उच्च आदर्शों से ही प्रभावित होगा, उन्हें ही स्वीकार अंगीकार करेगा । अपने को अल्पमत में पाने की उसे चिन्ता नहीं होती और न इसकी परवाह रहती है कि कोई उसका उपहास करता है या स्तवन, न वह विरोध को देखता है न समर्थन को । मात्र उसे उच्च आदर्श के लिए जीवन सम्पदा को नियोजित करने की चिन्ता होती है और इस प्रयोजन को वह विरोध-अवरोध की घनघोर घटाओ को चीरता हुआ भी पूरा करके रहता है । आत्मबल सम्पन्न महामानवो मे से हर किसी को इस प्रथम परीक्षा में होकर गुजरना पड़ता है । जिसे आत्मबोध हो गया वह इस दिशा मे प्रयाण करता हुआ ही दिखाई देगा ।

आत्मबोध को आत्मबल के रूप में देखा-परखा जा सकता है । आत्मबल जितनी मात्रा में उदय होता जाता है उतने ही उसके प्रयास आत्म-निर्माण की दिशा

में अग्रसर होते हैं। जन्म-जन्मान्तरों के कुसंस्कार, आज के घिनौने वातावरण, दुष्प्रवृत्तियों के प्रवाह अन्धड़ ने अपनी मनोभूमि को भी आच्छादित कर रखा हो यह नितान्त स्वाभाविक है। सुधार यहीं से आरम्भ होता है, निर्माण का प्रथम केन्द्र यही है, संसार को सुखी समुन्नत और सुन्दर बनाने का शुभारम्भ अपने को सुधारने की प्रक्रिया के साथ आरम्भ करना होता है। जीवन साधना विशुद्ध रूप से एक संग्राम है। जिसे लड़े बिना आगे बढ़ने का कोई उपाय नहीं।

गीता के कृष्ण—महाभारत के अर्जुन को गाण्डीव उठाने के लिए ललकारते हैं। स्वयं पांचजन्य बजाकर युद्ध की घोषणा करते हैं। यह एक ऐतिहासिक प्रसंग नहीं वरन् हर आत्मवादी को अनिवार्य रूप से अपनाने के लिए प्रस्तुत ईश्वरीय मार्ग दर्शन है। अपने कुसंस्कारों को, अवांछनीय आचरणों को, कुत्सित आकांक्षाओं को, मूढ़ विश्वासों को, भ्रष्ट अभ्यासों को बारीकी से ढूँढ़ना खोजना पड़ेगा और उसकी सूची बनानी पड़ेगी इन मल आवरण विक्षेपों से कैसे निपटा जाय, उन्हें निरस्त कैसे किया जाय, इसकी समग्र एवं सुव्यवस्थित योजना तैयार करनी होगी। अन्तरंग पर अधिकार किए बैठे सौ कौरवों से निपटने के लिए पाँच पाण्डवों को जो युद्ध करना पड़ा उसी में अपने मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और शरीर रूपी पाँचों योद्धाओं को जुटाना पड़ेगा। जिस किसी की भी आत्मा में जब कभी भी परमात्मा का प्रकाश आता है तब उसे महाभारत करने के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं, आत्म-परिष्कार उसका प्रथम कर्तव्य हो जाता है।

जिन मान्यताओं और गतिविधियों में अवांछनीयता अनुभव की जाय उनके कारण हो सकने वाली हानियों का सविस्तार चिन्तन करना चाहिए और उन्हें डायरी में नोट कर लेना चाहिए। इसी प्रकार व्यक्तित्व में घुसी हुई दुर्भावनाओं और दुष्प्रवृत्तियों को त्याग देने पर जो अपना परिष्कृत स्वरूप निखरेगा उसकी देव प्रतिमा ज्ञान-चक्षुओं के सम्मुख प्रस्तुत करनी चाहिए। दिव्य जीवन कितनी सिद्धियों और विभूतियों से सम्पन्न होता है उसका सुन्दरतम चित्र गढ़ना चाहिए और उसमें अपने को घुलाकर यह सोचना चाहिए कि जब हम उस दिव्य स्थिति में होंगे तो अपने लिए कितनी शान्ति अर्जित करेंगे और अपने सम्पर्क को किस दिव्य आलोक से प्रकाशित करेंगे। इस प्रकार का चिन्तन आन्तरिक महाभारत की सफलता का पथ प्रशस्त करता है। अवांछनीयता के दुष्परिणामों पर सत्प्रवृत्तियों के सत्परिणामों पर जिनका तर्कपूर्ण, तथ्यपूर्ण, उदाहरण सहित, भाव सिक्त चिन्तन जितनी गहराई के साथ किया जायेगा उतना ही यथार्थतावादी दृष्टिकोण परिष्कृत होगा और आत्म-शोधन की दिशा में योजनाबद्ध रूप से बढ़ चलना सम्भव हो जायेगा। मन मानता नहीं, बलपूर्वक मनाया जाता है। बैल को, घोड़े को, जिस तरह ठीक तरह काम करने का अभ्यास कराया जाता है और सख्त, सुस्त व्यवहार किया जाता है, उसी तरह मन से भी बरतना पड़ता है। साधना, तपस्या, तितीक्षा इसी का नाम है। अपनी आकांक्षाओं, अभिरुचियों और आदतों को परिष्कृत करने के प्रयास ही आत्म-सुधार या आत्म-निर्माण कहलाते हैं। साधना समर में विजय प्राप्त वीरव्रती आत्मोत्कर्ष की मंजिल पूरी करते हैं।

आत्म-विकास जीवन लक्ष्य प्राप्ति की तीसरी मंजिल है। अपनी लिप्सा, लालसा में निमग्न रहना, प्रजनन आकर्षण के फलस्वरूप जिन स्त्री, बच्चों के साथ मोह जुड़ गया है उन्हीं के लिए मरते-खपते रहना, यही है संकीर्ण स्वार्थपरता का अवरुद्ध जीवन। इसी को भव बन्धन कहते हैं, मायाबद्ध जीव की दयनीय दुर्दशा का जो चित्रण किया गया है उसे इसी बाधित जीवन की दु:खद प्रतिक्रिया समझना चाहिए। मुक्ति का अर्थ, लोभ और मोह से, स्वार्थ और संकीर्णता से, तृष्णा और वासना से छुटकारा पाना है। इसके लिए तत्ववेत्ताओं ने भक्ति भाव का, प्रेम प्रकाश का, सेवा साधना का मार्ग बताया है। उदारता, करुणा, आत्मीयता का विस्तार जब होता है तो स्वभावतः दूसरों का दुःख अपना प्रतीत होता है और दूसरों के सुख में अपने सुख की अनुभूति होती है। ऐसी मनःस्थिति में व्यापकता और उदारता की मात्रा बढ़ती चली जाती है। आत्म-विस्तार के साथ अपने-पराये का भेद-भाव मिटता जाता है और वसुधैव कुटुम्बकम् का आदर्श, व्यवहार में अधिकाधिक प्रविष्ट होता चला जाता है। तब मनुष्य को स्वार्थी न रहकर परमार्थी बनना पड़ता है। अपने विलास वैभव पर नियन्त्रण करना पड़ता है और परिवार के लिए उतना ही करना पर्याप्त लगता है जो कर्तव्य की माँग है। परिवार को सुयोग्य बनाया जाय

ठीक है पर उनके लिए धन सम्पदा छोड़कर मरना अपनी क्षुद्रता का परिचय देना है, इससे उत्तराधिकारी हरामखोर और व्यसनी बनते हैं । औलाद को श्रमजीवी बनने देना चाहिए । उनके भरण-पोषण की उचित आवश्यकता पूरी करने के बाद जो समय, श्रम, ज्ञान, प्रभाव, स्नेह, साधन बचता है, उसे लोक-मंगल के लिए, देश, धर्म, समाज, संस्कृति के लिए, संसार के पिछड़ेपन और अज्ञान को दूर करने के लिए खर्च किया जाना चाहिए । इस दिशा में जिसका जितना साहस, त्याग, उत्साह और कर्तृत्व बढ़ चला, समझना चाहिए आत्म-विकास की कसौटी यही है कि 'स्व' की परिधि को अधिकाधिक बढ़ाते चला जाय । दूसरों के शरीर मे भी अपनी ही आत्मा प्रतिष्ठापित दिखाई पड़े । जो सुख-सुविधा और उन्नति अपने लिए सोची, चाही और बढ़ाई जाती है उसी को दूसरो के लिए बढ़ाना भी आवश्यक प्रतीत होने लगे तो समझना चाहिए कि आत्म-विस्तार की, आत्मोन्नति की, आत्म-विकास की प्रक्रिया सम्पन्न हो रही है ।

आत्म-बोध, आत्म-निर्माण और आत्म-विकास की त्रिविध आत्मोत्कर्ष प्रक्रिया अपनाने के लिए जो साधना करनी पड़ती है उसका क्रम अहर्निश चलता है । जागने से लेकर सोने तक का प्रत्येक क्षण प्रयास में लगाना पड़ता है कि चिन्तन में उत्कृष्टता का और कर्तृत्व में आदर्शवादिता का परिपूर्ण समावेश रहे । अपनी कोई भाव तरंग उच्च गौरव से गिरी पिछड़ी न रहे, अपनी कोई हलचल ऐसी न हो जो ईश्वर के पुत्र की गरिमा के माथे पर कलंक कालिमा लगाएं । उचित अनुचित का, श्रेय और प्रेय का निरन्तर अन्तर करते रहने वाली, सन्मार्ग पर अग्रसर करने वाली ऋतम्भरा प्रज्ञा को जिन्होंने सर्वोपरि प्रतिष्ठा प्रदान की है, वस्तुतः वे ही आत्म-ज्ञानी हैं । आत्मोत्कर्ष उन्हीं का हो सकता है जिन्होंने अपने सोचने और करने की समस्त हलचलो में उच्च स्तरीय तत्व दर्शन का समावेश कर सकने में सफलता प्राप्त की है । इस महान प्रयास में पूजा उपासना भी एक अंग है । भोजन में नमक, शक्कर का जितना स्थान है उतना ही मूल्य जप, भजन का भी है । क्षुधा तो आहार से पूरी होती है, आत्म-कल्याण तो जीवन साधना की तत्परता पर निर्भर रहता है ।

हमें आत्म-कल्याण की राह ढूँढ़नी चाहिए । आत्म-बल सम्पादित करना चाहिए और आत्म-प्राप्ति के अजस्र आनन्द का लाभ लेकर मानव जीवन को धन्य बनाना चाहिए ।

इस प्रकार आत्मवादी चिन्तन यदि अन्तःकरण में स्थान प्राप्त कर सके तो समझना चाहिए जीवन साधना सार्थक हो गई । यदि कर्तृत्व में दिव्य क्रिया-कलाप का समावेश हो सके तो समझना चाहिए सुर दुर्लभ मानव-काया का ईश्वरीय अनुदान सार्थक हो गया । असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर यदि हम चल सके तो ही जीवन की महान उपलब्धि को धन्य माना जा सकेगा ।



# जीवन देवता की आराधना करें व्यक्तित्व सम्पन्न बनें

## जीवन मात्र शरीर यात्रा नहीं

जीवन यदि शरीर मात्र ही हो और प्रसव के समय उसका आदि और चिता के साथ अन्त माना जाय तो फिर कृमि कीटकों की तरह पेट प्रजनन की उधेड़ बुन में लगे रहना भी पर्याप्त हो सकता है । मनःसंस्थान अधिक विकसित रहने के कारण इन्हीं प्रवृत्तियों को विकसित रूप में लोभ-मोह में भी चरितार्थ होते रहने दिया जा सकता है । उद्धत अहंकारिता का त्रिदोष इसमें और मिल सके तो फिर प्रेत-पिशाचों जैसी स्थिति में भी रहा जा सकता है । वे खाते कम और खुतराते अधिक हैं । उपभोग उतना नहीं कर पाते जितना विनाश करते हैं । उसकी प्रसन्नता ध्वंस, पतन और दुर्गति के दृश्य देखने पर अवलम्बित रहती है । जलते और जलाते, कुढ़ते और कुढ़ाते दिन बिताते हैं । इन्हीं वर्ग समुदाय में से किसी में रहना जिन्हें भाया-सुहाया हो उनसे कोई क्या कहे ? जिन्हें कुछ आगे की बात सोचनी आती है उनसे तो कहने-सुनने जैसी ढेरों बातें हैं । उनमें से कुछ तो ऐसी है जिन्हें हीरे-मोतियों से तोला जा सकता है ।

किसी को यदि यह आभास हो कि हम मात्र शरीर नहीं हैं । आत्मा नाम की किसी वस्तु का भी अस्तित्व है और उसका थोड़ा बहुत सम्बन्ध आत्मा से भी है तो फिर ढेरों ऐसे प्रश्न उभर कर आते हैं जिनका स्वरूप और समाधान ढूँढ़े बिना गति नहीं । कुछ ऐसे ज्वलन्त प्रश्न हैं । जिनकी उपेक्षा वही कर सकता है जिसे लोक-परलोक से, आत्मा-परमात्मा से उत्थान-पतन से, कर्म-अकर्म से कुछ लेना-देना न हो । जिनकी दृष्टि लोभ और मोह से एक कदम भी आगे को नहीं जाती । जिसे तत्काल की सुख-सुविधा, आत्मश्लाघा, सस्ती वाह-वाही के अतिरिक्त और कुछ सुहाता न हो । जिसे न भूत का स्मरण हो और न भविष्य के भले-बुरे होने का अनुमान । ऐसे परमहंस जड़ भरत या अतिशय चतुर व्यक्ति ही इस स्थिति में रहते पाये गए हैं । जिन्हें तत्काल से आगे पीछे की कोई बात सोचने की न फुरसत मिले न आवश्यकता लगे ।

यदि गहरी न छानी हो और अपना अस्तित्व शरीर से भिन्न भी प्रतीत होता हो तो फिर सोचना होगा कि स्रष्टा ने जो सुविधाएँ किसी भी जीवधारी को नहीं दी हैं वे मात्र मनुष्य को ही क्यों प्रदान कर दीं । जबकि उसे समदर्शी, न्यायकारी और परमपिता कहा जाता है । इन तीनों विशेषताओं का तब खण्डन हो जाता है जब अन्य प्राणियों को वंचित रखकर कुछ असाधारण सुविधाएँ मनुष्य को ही देने की बात सामने आती है । सबको समान या किसी को नहीं—इसी में प्राणियों का पिता कहलाने वाले परमात्मा की न्यायप्रियता एवं समदर्शिता सिद्ध होती है । न्यूनाधिक वितरण करने पर तो उस पर पक्षपात का लांछन लगता है । ऐसा हो नहीं सकता, परमात्मा ही जब ऐसी अनीति बरतेगा तो उसकी सृष्टि में न्याय, नीति का अस्तित्व किस प्रकार बना रह सकेगा ?

निश्चित ही मनुष्य को जो मिला है, वह उसकी पात्रता देखते हुए किसी प्रयोजन के लिए धरोहर रूप में दिया गया है । खड़े होकर चलने वाले पैर, बीस उँगलियाँ और अनेक मोड़ों वाले हाथ, बोलने वाली जीभ, सूझ-बूझ वाला मस्तिष्क, दूरदर्शी विवेक अन्य किसी प्राणी के हिस्से में नहीं आया । परिवार बसाने, समाज बनाने, आजीविका कमाने, वाहनों का उपयोग करने, प्रकृति की रहस्यमयी परत कुरेदने, शिक्षा, चिकित्सा, कला, व्यवसाय, सुरक्षा जैसे साधन जुटाने में अन्य कौन प्राणी मनुष्य की समता कर सकता है । यह सभी विभूतियाँ ऐसी है जिनका महत्त्व उपभोक्ता

को तो प्रतीत नहीं होता पर जब वे छिन जाती हैं तो स्मरण आता है कि जो सौभाग्य अपने को हस्तगत हुआ था उसे प्राण जगत के साथ तुलना करने पर अनुपम या अद्‌भुत ही कहा जा सकता था। उसका सदुपयोग न कर सकने पर जो पश्चात्ताप होता है उसकी व्यथा और शृंखला इतनी लम्बी होती है कि जन्मान्तरों तक उस भूल की पीड़ा व्यथित करती रहे।

सृष्टा ने मनुष्य स्तर तक पहुँचने पर जीवधारियों की क्रमिक प्रगति और पात्रता को देखते हुए सोचा कि क्यों न इसे सृष्टि की सुव्यवस्था में सहयोगी बनाकर अपना थोड़ा-सा भार हल्का किया जाय ? इसी दृष्टि से उसे युवराज का पद प्रदान किया गया और तदनुरूप समर्थता से सम्पन्न किया गया कि सृष्टि की सुन्दरता, सुव्यवस्था, प्रगति एवं सुसंस्कारिता को बढ़ाने में वह विशेष योगदान भी कर सकेगा। इसी आशा, अभिलाषा के अनुरूप मनुष्य का सृजन हुआ है और उनके निर्माण में सृष्टा का समूचा कौशल दाव पर लगा है। उसे अपनी अनुकृति के स्तर का ही बनाया गया है। जो विभूतियाँ उसमें थीं उन सभी को बीज रूप में उसने काया के अनेकानेक कोश भण्डार में इस प्रकार भर दिया है कि वह जब चाहे तब उन्हें फलित प्रस्फुटित करके उच्चस्तरीय बना सके। संक्षेप में यही मनुष्य की सत्ता और महत्ता का सार संक्षेप है।

उपलब्ध वैभव का उपयोग एक ही है कि सृष्टा के प्रत्यक्ष कलेवर इस विराट् विश्व में सौन्दर्य सम्वर्धन, सत्प्रवृत्तियों के परिपोषण में अपनी क्षमता नियोजित किए रहे और सृष्टा का श्रम सार्थक करे—उसका मनोरथ पूरा करे। जो अनुशासन पालते और कर्तव्य-पालन में संलग्न रहते हैं, उन्हें अगले उपहारों के रूप में महामानव, ऋषि, मनीषी, देवता, सिद्ध पुरुष एवं भगवान का अवतार बनने जैसी पदोन्नतियों का लाभ मिलता है जो प्रमाद बरतते, विश्वासघात करते और उपलब्धियों को संकीर्ण स्वार्थपरता के लिए प्रयुक्त करते हैं, उन्हें सुविधा छिनने और प्रताड़ना सहने का दुहरा दण्ड भुगतना पड़ता है। नरक स्वर्ग की बात सभी जानते हैं। कुकर्मियों का चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करना सर्वविदित है। वह इसी प्रमाद का प्रतिफल है। जिसमें मनुष्य जीवन को लूट का माल समझा गया और उसे विलास, व्यामोह की निजी लिप्साओं के लिए प्रयुक्त किया गया। बैंक का खजांची यदि हस्तगत हुई राशि का अपने निज के लिए उपयोग कर ले, सरकारी शस्त्र भण्डार का स्टोर कीपर उन आयुधों को दस्युओं या शत्रुओं के हाथों थमा दे, मिनिस्टर अपने अधिकारों का प्रयोग सम्बन्धियों को लाभ देने के लिए करने लगे तो, निश्चय ही उसे अपराधियों के कटघरे में खड़ा किया जायेगा। मनुष्य भी यदि जीवन सम्पदा को वासना, तृष्णा, अहंता जैसे क्षुद्र प्रयोजनों में खर्च करता है तो समझना चाहिए कि आज जिसे अधिकार माना जा रहा है कल उसी को अपराध गिना जायेगा और ठीक वैसा ही दण्ड मिलेगा जैसा कि प्रमादी, विश्वासघाती सेनाध्यक्ष को कोर्ट-मार्शल द्वारा मिलता है।

अच्छा हो समय रहते भूल सुधरे और वह उपक्रम बने जो जिम्मेदारों और ईमानदारों को शोभा देता है। यदि ऐसा कुछ विचार-विश्वास मन में उभरे तो फिर अपनाने योग्य विधा एक ही है कि शरीर वाहन के लिए निर्वाह भर की व्यवस्था बनाने के उपरान्त शेष समूची क्षमता को उन प्रयोजनों में खपा दिया जाय *जिनसे विश्व-व्यवस्था का सन्तुलन बनता है* और सार्वभौम प्रगति का—सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन का सुयोग बनता है। मनुष्य इस भूमिका को निभा सकने की स्थिति में असंदिग्ध रूप से समर्थ है। उसकी निजी आवश्यकताएँ इतनी कम हैं और उसकी पूर्ति के साधन इतने अधिक हैं कि उस सन्तुलन को बिठाने में किसी को भी राई रत्ती भर कठिनाई अनुभव नहीं होनी चाहिए। अन्यान्य प्राणियों के पेट बहुत बड़े हैं, जबकि मनुष्य का छः इंच चौड़ाई का इतना पेट है जो मुट्ठी भर अनाज से भर सके। अन्य प्राणी केवल जो सामने है उसी को पाते और मुख के द्वारा खाते हैं। जबकि मनुष्य अगणित सुविधा-साधन अपने कौशल और पराक्रम से चुटकी बजाते उपार्जित कर सकता है। ऐसी दशा में किसी को भी अभाव ग्रस्त होने जैसी शिकायत करने की गुंजाइश नहीं है। मनुष्य जीवन अन्तिम सुविधाओं में भरा-पूरा है। उसकी दुनिया इतनी साधन सम्पन्न है कि अभाव जन्य कठिनाइयाँ अनुभव करने की किसी को कभी आवश्यकता ही न पड़े। दूषित अवस्था ही है जिसमें ग्रसित होकर उसे अभावों का रोना रोते हुए समय गुजारना पड़ता है।

शरीर और आत्मा की भिन्नता अनुभव करने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं। किसी श्मशान

में थोड़ी देर बैठकर वहाँ के दृश्य का अवलोकन करते हुए यह पाठ भली प्रकार पढ़ा जा सकता है कि आत्मा के पृथक होते ही हृष्ट-पुष्ट शरीर की भी कैसी दुर्गति होती है, इसे देखते हुए समझा जा सकता है कि शरीर ही आत्मा नहीं है । जीवधारी का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भी है, जो मरण उपरान्त भी बना रहता है । यही है वास्तविक 'स्व' इसी का हित साधन करने को स्वार्थ कहा जाता है जब आत्मा को संकीर्णता की कीचड़ से बाहर निकाल कर उसे व्यापक क्षेत्र में विचरण कर सकने की स्थिति में लाया जाता है तो उसे सब में अपनी ही आत्मा दीखती है । तब सर्व-जनीय हित साधन परमार्थ बन जाता है । जिससे न स्वार्थ सधता है न परमार्थ उसे अनर्थ ही कहना चाहिए । लगता है लोग अनर्थ को ही अपनाते और उसी के नियोजन में अपने चातुर्य को संलग्न रखे रहते हैं । अन्ततः यह तथाकथित बुद्धिमता मूर्खता से भी महँगी पड़ती है ।

करना क्या चाहिए ? यदि इस प्रश्न का उत्तर गम्भीरता और दूरदर्शिता के सहारे उपलब्ध करना हो तो एक ही निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि शरीर को जीवित रखने भर के साधन जुटा देने के उपरान्त जो सामर्थ्य शेष रहती है उसे आत्म-कल्याण कर सकने वाले परमार्थ में लगा देने का साहस करना चाहिए । मात्र औचित्य अपनाने की इस समझदारी को साहस इस अर्थ में कहा जा रहा है कि जन-समुदाय के अधिकांश सदस्य अनर्थ रत ही देखे जाते हैं उन्हें लोभ, मोह की आग भड़काने और उसे बुझाने के लिए ईंधन जुटाने में ही निरन्तर कार्यरत देखा जाता है ।

सुना है कि तेल या ईंधन डालने से आग भड़कती है, पर मनुष्य है जो तृष्णा को भड़काता और उसकी पूर्ति के लिए रावण जितना वैभव जुटाने के लिए अहर्निश श्रम करता है । अपना ही नहीं पड़ौसियों का सामान समेट कर भी उसी दावानल में झोंकता रहता है । यही है असफल और उद्विग्न जीवन का स्वरूप जिसे अपनाने के लिए अधिकांश लोग उन्मादियों की तरह दौड़-धूप करते रहते हैं । यही है प्रवाह जिसमें जन-समुदाय को तिनके पत्तों की तरह बहते देखा जाता है । ऐसी भगदड़ भेड़ चाल से भिन्न दिशा मे कोई अपना मार्ग निर्धारित करता है तो उसे साहस ही कहना चाहिए । दिग्भ्रान्तों के झुण्ड को चुनौती देकर सही रास्ते का सुझाव देने वाला मूर्ख कहलाता और उपहासास्पद बनता है । तथाकथित जन-समुदाय का विशेषतया कुटुम्बियों, हितैषियों का उपहास, तिरष्कार सहने की क्षमता संजोना निःसन्देह साहस भरा कदम है इसी से कहा जा रहा है कि आदर्शवाद को, सत्य और तथ्य को अपनाना भी इस अवांछनीयता के माहौल में साहस ही नहीं दुस्साहस भरा कदम है ।

औचित्य कहा जाय या साहस । जीवन की सार्थकता का रास्ता एक ही है कि अमीरी और लिप्सा पर अंकुश लगाकर औसत नागरिक स्तर का निर्वाह क्रम अपनाया जाय । उतना जुट जाने पर पूरा-पूरा सन्तोष किया जाय । इसके उपरान्त जो भी बच रहता है उस समूचे को ऐसे उपक्रम में नियोजित किया जाय जिससे मानवी गरिमा का अभिवर्धन होता हो । आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण का उभयपक्षीय प्रयोजन सधता हो । इस निर्धारण में भी यह देखना होता है कि सामयिक आवश्यकता पर ध्यान रखते हुए जो सर्वप्रथम सँभालने, सुधारने योग्य है उसी को हाथ में लिया जाय । पड़ोस में आग लगने पर भोजन पकाने जैसा आवश्यक काम भी पीछे कभी के लिए छोड़ना पड़ता है । कितने ही काम सामने हों तो उसमें बुद्धिमानी का कदम यह होता है कि प्राथमिकता देने और पीछे धकेलने की एक सुव्यवस्थित शृंखला बनाई जाय । सामने प्रस्तुत अनेकानेक कामों में से किन्हें किस क्रम से किया जाय, इसका निर्धारण ही सुव्यवस्था कहा जाता है । इस क्रम को बिगाड़ देने पर पूरा परिश्रम करने पर भी बात बनती नहीं और समस्याएँ सुलझने के स्थान पर और भी अधिक उलझ जाती हैं । इन दिनों प्रत्येक विज्ञजन के लिए करने योग्य सामयिक कार्य एक ही है कि लोक-मानस के परिष्कार का महत्त्व समझा जाय और आस्था संकट का निवारण करने के लिए प्राण-प्रण से जुट पड़ा जाय । इस एक ही व्यवधान के समाधान से समय की समस्त गुत्थियों का सुलझ सकना निर्भर है ।

यह सब अनायास ही सम्भव नहीं हो सकता । इस श्रेय पथ पर चल सकना मात्र उन्हीं के लिए सम्भव है जो अपनी आकांक्षा, उत्कंठा को तृष्णा से हटाएँ और उसे उतनी ही भावनापूर्वक श्रेय साधना के लिए लगायें । यह आन्तरिक परिवर्तन ही बाह्य क्षेत्र में वह

सुविधा उत्पन्न कर सकता है जिसके सहारे शरीर निर्वाह की तरह ही आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण का महान प्रयोजन बिना किसी के नितान्त सरलतापूर्वक सधता रहे । परमार्थ परायणों में से एक भी भूखा-नंगा नहीं रहे । उनके पारिवारिक उत्तरदायित्वों में से एक भी रुका नहीं पड़ा रहा । तरीके अनेकानेक हैं । अपना सोचा हुआ तरीका ही एक मात्र मार्ग नहीं है । नये सिरे से नये उपाय सोचने पर ऐसे समाधान हर किसी को उपलब्ध हो सकते हैं जिनमें से 'साँप मरे न लाठी टूटे ।' निर्वाह किसी के लिए समस्या नहीं । कठिनाई एक ही है—अनन्त वैभव की लिप्सा और कुटुम्बियों को सुविधा सम्पदा से लाद देने की लालसा । यदि परिवार के समस्त सदस्यों को श्रमजीवी, स्वावलम्बी बनाने की बात सोची जाय और नागरिक स्तर का निर्वाह स्वीकार किया जाय तो इतने भर से जीवन को सार्थक बनाने वाली राह मिल सकती है ।

प्रश्न एक ही है कि शरीर के लिए जीया जाय या आत्मा के लिए । दोनों में से एक को प्रधान, एक को गौण मानना पड़ेगा । यदि आत्मा की वरिष्ठता स्वीकार की जा सके तो उन प्रयोजनों को पूरा करना पड़ेगा जिनके लिए स्रष्टा ने यह सुर दुर्लभ अवसर उच्चस्तरीय उपयोग के निमित्त प्रदान किया है । यह समझा जा सके कि जीवन मात्र शरीर ढोना नहीं है तो यह गुत्थी सुलझ जायेगी कि किसके लिए जीना है ? यह मार्ग हर व्यक्ति के लिए खुला है कि वह आत्मिक विकास का परमार्थ परायणता वाला मार्ग चुने अथवा शरीर विकास का संचय स्वार्थ परायणता वाला ।

## सादा जीवन उच्च विचार का राजमार्ग हर दृष्टि से श्रेयस्कर

निर्वाह की दृष्टि से जीवन-क्रम हल्का-फुल्का होना चाहिए । लिप्सा-लालसाओं से लदी जिन्दगी बहुत भारी पड़ती है । महत्त्वाकांक्षी लोग न चैन से बैठते हैं न दूसरों को बैठने देते है । बड़प्पन का नशा, विज्ञात नशों में सबसे बुरा है । कुबेर और इन्द्र बनने की ललक में, रावण और हिरण्यकश्यप जैसा वैभव बटोरने की रट लगाते-लगाते कितने चंगेज खाँ और सिकन्दर इस दुनिया से हाथ मलते उठ गए, फिर अपने जैसे मक्खी-मच्छरों की क्या स्थिति जिनके पास न कौशल है, न पराक्रम, न साधन । वितृष्णा इतना ही कर सकती है कि इस चन्द दिन तक जीने के लिए मिले हुए सुयोग का अपहरण कर ले । मृग-तृष्णा में भटकने वाले दिवास्वप्न देखते और निराशा, खीझ, थकान भर पल्ले पड़ने से मूर्खता पर सिर धुनते हैं ।

यदि विलास और वैभव ही सब कुछ रहे और अहंता के प्रदर्शन बिना चैन न पड़े तो एक बात और भी गाँठ-बाँध लेनी चाहिए कि इस प्रयास में उन सभी सम्भावनाओं को समाप्त करना होगा जो हर घड़ी प्रसन्नता बनाये रहती है । जिसके कारण चेहरे पर मुस्कान और अन्तराल में सन्तोष भरे उल्लास को छलकते देखा जाता है । मानवी गरिमा को अक्षुण्ण और सुविकसित बनाये रहने के लिए कुछ सोचना और बहुत कुछ करना होता है । इस हेतु जिन साधनों की आवश्यकता पड़ती है उन्हें पूरी तरह वह व्यामोह अजगर की तरह निगल जाता है, जिसमें दर्प के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं ।

साथियों को नीचा दिखाकर अपनी गरिमा सिद्ध करने वाले ठाट-बाट तो बना लेते हैं पर जिस लोकसम्मान की आशा से वह सब किया गया था उसे मिलने की कोई आशा किरण दीखती नहीं । उल्टी ईर्ष्या भड़कती है । भूखों की मण्डली में बैठकर जब एक कोई रबड़ी चाटता है तो सौभाग्यशाली कहलाने का श्रेय कहाँ बटोर पाता है । उल्टा आक्रोश बरसता है और निष्ठुरता का लांछन लगता है । लगे हाथों कहने वाले यह भी कहते हैं कि यह अनीति उपार्जन है, अन्यथा ईमानदार होने पर तो यह हमारे जैसा ही रहता ।

जन मनोविज्ञान को समझने वाले जानते है कि साथियों की तुलना में बहुत अधिक विलास वैभव एकत्रित करना गरिमा अर्जित नहीं कर पाता वरन् ऐसा आक्रोश उत्पन्न करता है जिसकी चपेट में जाने कितने आक्रमण सहने और कष्ट उठाने पड़ते है । इसलिए दूरदर्शिता सदा यही कहती रही है कि सम्पन्नता अर्जित करने के अनेक खतरे हैं, जबकि सादगी अपनाने पर महानता उभरती है और जन-जन का स्नेह सहयोग घसीट लाती है ।

सादा जीवन उच्च विचार का सिद्धान्त ऐसा है जिसमें जीवन की सार्थकता, सफलता और जुड़ी हुई है एवं प्रसन्नता के समस्त सूत्रों का समावेश है । हल्का-फुल्का जीवन अर्थात् सादगी, मितव्ययिता और

बिना विलास वैभव का सीधा-सादा निर्वाह । इसके लिए औसत भारतीय स्तर को मापदण्ड मानकर चलना होता है अन्यथा यह पता ही न चलेगा कि जिस वैभव का उपभोग चल रहा है वह आवश्यक है या अनावश्यक, उचित है या अनुचित जिसकी अपनी तृष्णा आकाश चूमती हो उसके लिए यह अनुमान लगा सकना कठिन है कि औसत मनुष्य को किस स्तर का निर्वाह अपनाना पड़ता है । वे सदा धन कुबेरों के सपने देखते हैं और तस्करों, लोलुपों और निठुरों के द्वारा अपनाये जाने जैसे विलास-वैभव को स्वाभाविक मानते हैं । इस राह पर चलते तो अनेकों हैं, जो चल नहीं पाते वे भी ललक वैसी ही सँजाये रहते हैं । परिणति स्पष्ट है, साधनों के रहते हुए भी उनका इच्छित रसास्वादन तो कदाचित ही कोई कर पाते हों । मधुमक्खियों के वैभव को कौन सहन करता है । छत्ता तोड़ने के लिए बहेलिए ही नहीं, गीदड़ और बन्दर तक घात लगाये रहते हैं । यह अपहरण चापलूसी के औजार से किया गया या गला मरोड़ने वाले नागपाश से, यह बात दूसरी है ।

बढ़ा हुआ वैभव रुदन के अतिरिक्त और कुछ उत्पन्न नहीं कर सकता । उससे दुर्व्यसन और अहंकार समान रूप में बढ़ते हैं । यह दोनों ही ऐसे हैं जो शहतीर में लगे घुन की तरह उसे गुप-चुप खोखला करते और धराशायी करने तक अपने प्रयास में निरत रहते हैं । अधिक जोड़ने की, अधिक भोगने की ललक मे मनुष्य कुकृत्य तो करते ही हैं उसका खर्च भी सीधे रास्ते नहीं होता, या तो मनुष्य स्वयं उसे दुर्व्यसनों में उड़ाता है या फिर ईर्ष्यालुओं के आक्रमण का शिकार बनता है । पारा किसी को पचता नहीं ।

अनावश्यक वैभव की भी ठीक ऐसी ही दुर्गति होती है । यह स्वयं तो हजार छेद बनाकर अपनी बिरादरी वालो से मिलने दौड़ता ही है, साथ ही जहाँ भी भागता है वहाँ भी अनेकानेक रिसते घाव छोड़ जाता है जो जन्म-जन्मान्तरों तक रिसते और कसकते हैं । इसलिए आदर्शों की बात सोचने वालों को सर्वप्रथम वैभव विसर्जन की तैयारी करने का परामर्श दिया जाता है अन्यथा लिप्सा बनी रहने पर परमार्थ के नाम पर चित्र विचित्र विडम्बनाएँ रचते रहने के अतिरिक्त और कुछ बन नहीं पड़ेगा । महानता और सम्पन्नता में एक प्रकार से शत्रुता है, जहाँ एक के पैर जमेंगे वहाँ दूसरे को पलायन करना पड़ेगा । तथ्य की यथार्थता एवं गम्भीरता को समझने वाले वाजिश्रवा जैसे सर्वमेध यज्ञ रचाते और अपने शरीर के कपड़े तक उतारकर परमार्थ प्रयोजन के लिए दान करते रहे हैं । ऋषि परम्परा यही है । बुद्ध, गाँधी को ही नहीं, प्रत्येक साधु और ब्राह्मण परम्परा अपनाने वालों को अपना प्रथम प्रयास यहीं से आरम्भ करना पड़ा है । विसर्जन समर्पण बन पड़े तो ही यह आशा बँधती है कि महानता के साथ एकत्व अद्वैत की स्थिति बन सके । जिस त्याग वैराग्य की शास्त्रकारों ने श्रेय मार्ग पर चलने वालों के निमित्त पग-पग पर आवश्यकता बताई है उसमे यही रहस्य है कि जब तक तृष्णा से पिण्ड न छूटेगा तब तक श्रेष्ठता में न मन लगेगा और न तन जुटेगा । लगन कहीं लगी रहे तो फिर लकीर पीटने भर की विडम्बना ही शेष रह जाती है । उस झुनझुन से अपने आपको बहलाया-फुसलाया भर जा सकता है ।

परस्पर घोर मतभेद रखने वाले आध्यात्मवाद और साम्यवाद को इस केन्द्र पर सर्वथा एक मत देखा जा सकता है कि व्यक्ति को औसत नागरिक स्तर का निर्वाह क्रम अपनाने के लिए बाध्य किया जाय । आध्यात्म क्षेत्र में इसके लिए पुण्य परमार्थ का, त्याग वैराग्य का, स्वर्ग मुक्ति का दार्शनिक चक्रव्यूह रचा है । साम्यवाद ने झटके की नीति अपनाई है और आदमी की भलमनसाहत को अस्वीकार करते हुए गर्दन दबोचकर जो पास पल्ले है उसे समाज की सम्पदा मानने के लिए बाधित किया, तरीके अपने-अपने हैं । नीद की गोली खाकर मरा जाय या तलवार से गर्दन कटे, मात्र तरीको में ही भिन्नता है । आदर्शवाद की किसी भी धारा को यह स्वीकार नहीं कि मनुष्य विलासी संग्रही, अपव्ययी बने, उद्धत विडम्बना रचे और मुफ्तखोरों के लिए उत्तराधिकार छोड़ मरे । हर दृष्टि से यह अनैतिक है ।

कौशल, पराक्रम, श्रम, समय और वैभव यह सभी विभूतियाँ ईश्वर प्रदत्त है । इसी को समाज प्रदत्त भी कहा जा सकता है अन्यथा एकाकी स्थिति मे तो वन-मनुष्य जैसी आदिम स्थिति मे भी रहा जा सकता है । जिसने दिया है उसे कृतज्ञतापूर्वक लौटा देने में ही भलमनसाहत है । इसे अपनाने मे जो दुराचरण के प्रवाह प्रचलन को चीरकर अपनी शालीनता का परिचय दे पाता है

वह सराहा जाता है । यह औचित्य का निर्वाह भर है तो भी चोरों की नगरी में एक ईमानदार को भी देवता माना जाता है । आलसियों के गाँव में एक पुरुषार्थी भी मुक्त कंठ से सराहा जाता है । औसत नागरिक जैसा निर्वाह ऐसा ही औचित्य है जिसे अपनाने के लिए नीतिमत्ता, विवेकशीलता और सद्‌भावना का प्रत्येक प्रतिपादन विवश करता है ।

यहाँ चर्चा धन-वैभव की ही नहीं हो रही है । उसमें कौशल और पराक्रम को भी सम्मिलित रखा जाता है । विद्या, बुद्धि, कला-कौशल, प्रतिभा, बलिष्ठता आदि की दृष्टि से कितनों को ही विशिष्टता प्राप्त है । समय प्रत्यक्ष धन है । पसीने से ही सम्पदा कमाई जाती है या कमाई जानी चाहिए । लॉटरी से लेकर जुये, सट्टे का, जमीन में गड़ा, उत्तराधिकार से मिला या उजड्डपन से बटोरा वैभव औचित्य की मर्यादाओं से हटकर होने के कारण अग्राह्य एवं अवांछनीय है । वस्तुतः धन मनुष्य के श्रम, समय और कौशल का ही प्रतिफल होना चाहिए । इसलिए विभिन्न स्तर की विशेषताएँ विभूतियाँ भी वैभव में ही सम्मिलित होती हैं और वह अनुशासन उन पर भी लागू होता है । उसके अनुसार न्यूनतम अपने लिए और अधिकतम सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन के निमित्त लगना चाहिए । मानवी गरिमा इससे कम में सधती ही नहीं । मनुष्य की मान मर्यादा इससे कम में बनती ही नहीं । इससे कम निर्धारण में वह सुयोग बनता ही नहीं ।

जिस प्रकार सम्पन्नता उपार्जन के लिए अपना सब कुछ न सही बहुत कुछ नियोजित करना पड़ता है ठीक उसी प्रकार महानता अर्जित करने के लिए भी श्रम, समय एवं मनोयोग का बहुत बड़ा भाग नियोजित करना पड़ता है । यदि उन विभूतियों पर पहले से ही लोभ-लिप्सा ने आधिपत्य जमा रखा हो तो फिर महानता अर्जित करने के लिए, खरीदने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता पड़ती है वे पास में होंगे ही नहीं, तब फिर मनोरथ कैसे पूरे हो सकेंगे । मात्र कामना, कल्पना करने से, पूजा-पाठ करने भर से कोई भी श्रेष्ठता का वरण नहीं कर सका है । ईश्वर भक्त भी महामानवों की पंक्ति में बैठ सकने में समर्थ नहीं हुए हैं । उत्कृष्टता तो मूल्य देकर खरीदी जा सकती है । इस खरीद के लिए जो चाहिए उसे सम्पन्नता की ललक पर अंकुश लगाकर ही बढ़ाया जा सकता है ।

चुनाव दो में से एक का करना है । निकृष्ट विचार रखकर घिनौना जीवन जीया जाय—संकीर्ण स्वार्थपरता की सड़ी कीचड़ में कुलबुलाते-तिलमिलाते कीड़ों जैसा शिश्नोदर परायण बना जाय, या फिर उत्कृष्ट स्तर की विचारणा अपनाकर सादगी का सौम्य सात्विक निस्पृह रहकर महानता को वरण किया जाय । दोनों में मौलिक अन्तर एक ही है । निकृष्टता आरम्भ में आकर्षक लगती है किन्तु परिणाम की दृष्टि से विघातक विष जैसी कष्टदायक सिद्ध होती है । इसके विपरीत उत्कृष्टता का मार्ग है जिसका आरम्भ बीज की तरह गलने जैसा होता है किन्तु कुछ समय उपरान्त अंकुरित होने, लहलहाने एवं फूलने-फलने के अवसर निश्चित रूप में उपलब्ध होने लगते हैं । अदूरदर्शी तात्कालिक आकर्षण के लिए आतुर होते हैं और आटे के लोभ में गला फँसाकर बे-मौत मरने वाली मछली का उदाहरण बनते हैं । दूसरे वे हैं जो किसान, माली, विद्यार्थी या व्यवसायी की तरह अपनी श्रम साधना सत्प्रयोजन के लिए लगाते और अन्ततः बहुमूल्य फसल से अपने कोठे भरते हैं ।

सादा जीवन उच्च विचार का राजमार्ग हर किसी के लिए श्रेयस्कर है । उसमें आवश्यकताओं और सुविधाओं पर इतना अंकुश लगाना पड़ता है जिसमें शरीर को मात्र औसत नागरिक जितनी व्यवस्था जुट सके । वैयक्तिक आकांक्षाओं को इतना ही स्वल्प एवं सीमित रहना चाहिए ताकि संसार में जितने साधन हैं उन्हें मिल बाँटकर खाया जा सके । हर किसी के हिस्से में गुजारे जितना आ सके । ऊँची दीवार उठाने के लिए कहीं न कहीं गड्ढा करना पड़ता है । अमीर बनने में, विलास वैभव जुटाने में जिस सम्पदा की आवश्यकता पड़ती है, उसका संचय बिना दूसरों का रक्त पीये अपनी कोठी, तिजोरी की शोभा बढ़ाने के लिए जमा हो ही नहीं सकता ।

'जो अधिक उपार्जन करने योग्य है उनके ऊपर एक अतिरिक्त उत्तरदायित्व यह आता है कि सादगी से गुजारा करने के उपरान्त जो बचता है उसे सत्प्रयोजनों के लिए हाथों-हाथ लौटा दें । वरिष्ठता के बदले श्रेय मिलने का सौभाग्य ही पर्याप्त है । उपार्जन, अभिवर्धन

की कौशल, व्यवस्था और सूझ-बूझ की विशेषता का प्रतिफल इतना ही हो सकता है कि उन्हें सराहा, सम्मानित किया और श्रेय दिया जाय । इसके बदले उन्हें अधिक सम्पदा-सुविधाओं जैसे लाभों की न तो माँग ही करनी चाहिए और न वैसा कुछ उन पर लादकर गरिमा का अपहरण ही होना चाहिए ।

घर के बड़े या कमाऊ लोग मात्र अधिक श्रेय पाकर सन्तुष्ट हो जाते हैं । व्यक्तिगत उपभोग के लिए अधिक सम्पत्ति उड़ाते रहने की छूट नहीं माँगते । वे जानते हैं कि संयुक्त परिवार में सभी का समान हक है । कमाऊ हीरे-मोतियों से लदे और बिना कमाऊ चिथड़े लपेटकर घूमें तो यह संयुक्त परिवार कहाँ रहा ? यह समूचा समाज एक परिवार है । उसके वरिष्ठों को कनिष्ठों का अधिक ध्यान रखना चाहिए ।

अभिभावक स्वयं दूध न पीकर भी बच्चों के लिए उसे किसी प्रकार जुटाते हैं । मरीज के लिए फलों का प्रबन्ध किया जाता है जबकि समर्थ दाल और नमक के सहारे ही रोटी गले उतारते रहते हैं । यदि समर्थ का विशेष अधिकार माना जाय तो फिर असमर्थों का ईश्वर ही रक्षक है । उस आपाधापी के रहते मनुष्य समाज की सभ्यता, संस्कृति, नीति, उदारता जैसे आदर्शों की चर्चा करने का हक न रह जायेगा । जिसकी लाठी उसकी भैंस का जंगली कानून यदि मनुष्यों में भी चल पड़ा और सुयोग्यों ने अधिक सुविधा साधन हड़पना आरम्भ कर दिया तो समझना चाहिए कि मनुष्य ने अपनी नैतिक वरिष्ठता गँवा दी और प्रेत-पिशाच जैसी रीति-नीति अपना ली ।

सादा जीवन उच्च विचार का सिद्धान्त मानवी नैतिकता की सही व्याख्या करता है । जिसके विचार ऊँचे हों जो भावना के क्षेत्र में उत्कृष्टता संजोये हो, उसे अपने ऊपर यह अनुबन्ध कठोरतापूर्वक लागू करना चाहिए कि जीवनचर्या सादगी एवं मितव्ययिता से पूर्ण हो । मितव्ययिता का अर्थ कृपणता बरतना और कुपात्रों के लिए सम्पदा जमा करते जाना नहीं वरन् यह है कि औसत नागरिक का स्तर शिरोधार्य करते हुए पूरी सामर्थ्य के साथ श्रम किया जाय और जो निर्वाह से अधिक हो उसे हाथों-हाथ सत्प्रयोजनों के लिए लगा दिया जाय ।

# ईश्वर प्रदत्त सम्पदा को कौड़ी के मोल न गवाएँ

कौशल, मनोयोग और श्रम का अमुक गति से अमुक समय तक उपयोग करने की विधा ही समयानुसार सम्पदा बनकर सामने आती है । इस तथ्य को समझ लेने पर इस तथ्य का रहस्योद्घाटन होता है कि समय का सुनियोजन ही धन है । भ्रष्ट प्रचलनों ने जो अपवाद खड़े किए हैं वे मान्यता प्राप्त नहीं कर सकते । उन्हें तो बुहार फेंकने में ही गति है । यह प्रक्रिया आज नहीं तो कल सम्पन्न करनी ही है । अर्थ क्षेत्र की विकृतियाँ तो मानवी गरिमा सम्भावना और सौजन्य की सभ्यता को ही जड़मूल से उखाड़ देंगी । इसलिए जहाँ उस परिमार्जन की तैयारी करनी चाहिए, वहाँ उसके सम्बन्ध में कम से कम अपने चिन्तन और निर्धारण में समय रहते सुधार परिवर्तन कर ही लेना चाहिए ।

धन की आवश्यक ललक पर अंकुश लग सके और उसके उपार्जन में अपना तथा कुटुम्बियों का अधिक श्रम, मनोयोग लग सके तो समझना चाहिए कि अर्थ-समस्या का समाधान हुआ और एक ऐसा बड़ा व्यवधान हटा जो किसी उच्चस्तरीय प्रयोजन के लिए समय, श्रम और मनोयोग लग सकने जैसी स्थिति ही नहीं बनने देता । समझा जाना चाहिए कि समय ईश्वर प्रदत्त ऐसा अनुदान है जिसे श्रम के साथ संयुक्त कर देने के उपरान्त अपनी क्षमता प्रकट करता है । वह क्षमता ही मनुष्य की वास्तविक शक्ति सामर्थ्य है । उसके बदले किसी भी दिशा में चला जा सकता है और किसी भी लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है । मनुष्य को सर्वसमर्थ कहा गया है । वह सच्चे अर्थों में अपना भाग्य विधाता और भविष्य निर्धारक है पर यह तथ्य साकार तभी होता है जब समय के साथ श्रम और मनोयोग का समन्वय करके अभीष्ट प्रयोजन में संकल्पपूर्वक नियोजित किया जाय ।

कौन कितना जीया ? इसका लेखा-जोखा वर्ष, महीनें या दिनों को गिनकर नहीं करना चाहिए वरन् देखा जाना चाहिए कि जीने वाले ने उस अवधि को किन प्रयोजनों में कितनी तत्परतापूर्वक नियोजित किया ? हो सकता है कि कम समय जीने वाला भी शंकराचार्य और विवेकानन्द की तरह अपने अविस्मरणीय पद चिन्ह

छोड़े और सराहनीय कृतियों के पर्वत खड़े करे । साथ ही यह भी हो सकता है कि कोई शतायु होकर मरे किन्तु निरर्थक दिन विताये और असन्तोष उगाये ।

बहुमूल्य मानव जीवन का एक-एक क्षण अनमोल है । हर साँस को हीरे-मोतियों से तोला जा सकता है, जिसने इस तथ्य को जाना, समझना चाहिए कि उसने जो सबसे अधिक महत्त्व का था, उसे जान लिया । बुद्धिमत्ता की प्रशंसा तब है जब समय के सदुपयोग का उच्चस्तरीय निर्धारण बन सके । जिसकी भी प्रज्ञा ने इस प्रकार का अनुग्रह प्रदान किया है उसे सच्चे अर्थों में भाग्यवान कहना चाहिए अन्यथा लोग ऐसे ही नर-वानरों की तरह जीते और ज्यों-त्यों करके दिन गुजारते हैं ।

ईश्वर प्रदत्त समय सम्पदा को कौड़ी मोल गवाँ देने वाले तीन भूल करते हैं—एक यह कि आलस्य, प्रमाद, विलास-विनोद में समय काटते हैं । दूसरे ललक लिप्सा की पूर्ति के लिए धन बटोरने में लगे रहते हैं । आम आदमी का अधिकांश समय नियोजन प्रायः इन्हीं दो कामों के लिए होता है । तीसरे स्तर के कुछ उद्धत प्रकृति के ऐसे भी होते हैं जो विनाश विध्वंस में लगे रहते हैं अथवा दर्प दिखाते, ठाठ बनाने के लिए, प्रशंसा सुनने के लिए ऐसे कृत्य करते हैं जिसमें प्रवंचना और विडम्बना के अतिरिक्त और कोई सार तत्व नहीं होता ।

इन प्रयोजनों की परिणति पर ध्यान दिया जाय और महामानवों द्वारा अपनाई गई गतिविधियों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो प्रतीत होगा कि दोनों के मध्य जमीन आसमान जितना अन्तर है । दोनों की उपलब्धियों में इतना अन्तर है जिन्हें काँच और हीरे जैसा कहा जा सके ।

आलसी, प्रमादी, अनगढ़, पिछड़ी परिस्थितियों में पड़े हैं । तृष्णातुर उद्यमी तो होते हैं पर उनकी योग्यता उस अनावश्यक संचय और अवांछनीय उपभोग में लग जाती है जिसकी निरर्थकता को सहज समझा जा सकता था और देखा जा सकता था कि ललक में जिस सुखोपभोग की आशा की गई थी उसकी छाया ही दिवास्वप्न की तरह लुभाती रही । पल्ले खीज और थकान के अतिरिक्त और कुछ लगा नहीं । बड़प्पन और दर्प की विडम्बना और भी अधिक उपहासास्पद है । इस नक्कार-खाने में तूती की क्या बिसात ? एक से एक प्रतापी, कठपुतली जैसा नाच दिखाकर बाजीगर की झोली में घुस गए । यहाँ कौन, किसका बड़प्पन मानता है । अपनी चिन्ता समस्याओं से फुर्सत नहीं फिर कौन किसका दर्प देखे और किसलिए, किस-किस समय किसको सराहे । अपनी ओर ध्यान खींचने और चकाचौंध उत्पन्न करने की लिप्सा को बचकानी बाल-क्रीड़ा के अतिरिक्त और कुछ कहते नहीं बनता । यही हैं वे ललक लिप्साएँ जिसमें जिन्दगी का बहुमूल्य अवसर ऐसे ही गुम हो जाता है । विदाई के दिनों ईश्वर प्रदत्त अनुदान को किस निमित्त उपयोग किया यह सोचने का अवसर मिलता है तो प्रतीत होता है कि भूल ही भूल में उस वैभव को गवाँ दिया गया जिसके सही सदुपयोग की बात यदि सूझ पड़ी होती तो सार्थकता का स्वरूप ही दूसरा होता ।

दूरदर्शी विवेकशीलता, महाप्रज्ञा यदि किसी बड़भागी पर अनुग्रह करे तो उसका स्वरूप एक ही होना चाहिए कि वह जीवन-सम्पदा की गरिमा समझे और उसके सदुपयोग की बात सोचे । इस चिन्तन से एक ही निष्कर्ष उभरकर ऊपर आता है कि समय को प्रत्यक्ष सौभाग्य माना जाय और इसके उपयोग का जो सर्वश्रेष्ठ निर्धारण सम्भव हो उसे कर गुजरने का साहस अपनाया जाय ।

महामानवों के पराक्रम का उपयोग दो प्रयोजनों के निमित्त होता रहा है । एक में उन्होंने अपनी क्षमता एवं वरिष्ठता का अभिवर्धन किया है और दूसरे में उन्होंने विश्व वसुधा से साथ जुड़े हुए उत्तरदायित्वों को संकल्पपूर्वक निभाया है । इन्हीं दो कार्यों को आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण के नाम से जाना जाता है । कोई चाहे तो उसे आत्मा और परमात्मा को प्रसन्नता उपलब्ध कराने वाली साधना भी कह सकता है । उनमें से एक स्वार्थ है और दूसरा परमार्थ । इनके समन्वय से ही मनुष्य जन्म सार्थक और कृत-कृत्य होता है ।

आत्म-कल्याण का तात्पर्य है—व्यक्तित्व का निखार, परिष्कार । इसके लिए आन्तरिक संघर्ष करना पड़ता है और गुण, कर्म, स्वभाव की वरिष्ठता सम्पादित करने वाले निर्धारणों का जीवनचर्या में समावेश करना पड़ता है । संचित कुसंस्कारों का एक पहाड़ हर किसी के सामने है । प्रचलन, वातावरण, स्वजन और आदतों का एक ऐसा जाल-जंजाल है जिसके रहते न कुछ

उच्चस्तरीय सोचते बनता है और न करते-धरते । इससे बाहर निकल सकना परम पुरुषार्थ है । जीवन से सम्बन्धित समस्याओं का स्वरूप सही अर्थों में समझ सकना आत्म-बोध है । इसी को सत्य या ईश्वर की प्राप्ति कहते हैं । आत्म-साक्षात्कार भी यही है । इस स्थिति तक पहुँचने के लिए वर्तमान चिन्तन प्रवाह को एक प्रकार से उलटना ही पड़ता है । इसके लिए स्वाध्याय, सत्संग, चिन्तन, मनन जैसे उच्चस्तरीय पुरुषार्थों में मन को बलपूर्वक नियोजित करना पड़ता है । साधना-उपासना भी इसी एक प्रयोजन के लिए की जाती है । यह आध्यात्म क्षेत्र का मानसिक पराक्रम हुआ । जिसके लिए समय भी लगाना पड़ता है और श्रम भी करना पड़ता है ।

चिन्तन और आचरण के समन्वय से ही व्यक्तित्व बनता है । स्वभाव संस्कार इसी प्रक्रिया को अपनाने से विनिर्मित होते हैं । इसके लिए अपनी कार्य पद्धति इस प्रकार की निर्धारित करनी होती है जिसमे आदर्शवादी गतिविधियों में संलग्न रहना पड़े । साथ ही निर्वाह का उपक्रम भी बनता रहे । क्षमता सम्वर्धन—भी इसी प्रक्रिया का एक अंग है । शारीरिक और मानसिक योग्यताएँ जितनी बढ़ती हैं । उसी अनुपात से कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य बन पड़ते हैं । इस दृष्टि से आत्मनिर्माण के लिए परिस्थितियों के अनुरूप ऐसी विधि व्यवस्था बनानी पड़ती है जिसमें उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श कर्तृत्व के लिए उपयुक्त अवसर नियमित रूप से मिलता रहे ।

ईश्वर ने जिस आकांक्षा से इतनी बड़ी धरोहर सौंपी है उसका निर्वाह भी परमार्थ प्रयोजनों के सहारे ही सधता है । उज्ज्वल भविष्य के निर्माण में दान पुण्य ही काम आता है । इन्हीं की परिणति सुयोग सौभाग्यो के रूप में सामने आती है । इसी प्रकार सीमित 'स्व' को असीम ब्रह्म' के साथ जोड़ने की परम सिद्धि विराट् के साधन से ही सम्भव होती है । वसुधैवकुटुम्वकम् और आत्मवत् सर्वभूतेषु की दो कसौटियों पर खरा सिद्ध होने के लिए मनुष्य को परमार्थ परायण बनना पड़ता है । गुण, कर्म, स्वभाव मे उत्कृष्टता का अनुपात बढ़ाते चलने के लिए सेवाधर्म अपनाने की अनिवार्य आवश्यकता पड़ती है । ऐसे-ऐसे अनेक कारण है जो जीवनक्रम में आत्मोत्कर्ष की तरह लोकमंगल का समुचित समावेश करने के लिए बाधित करते हैं ।

उपर्युक्त दोनों ही उच्चस्तरीय प्रयोजनों की पूर्ति के लिए मात्र सोचते या पढ़ते-सुनते रहने से ही काम नहीं चलता । भजन भाव से भी उसकी आंशिक पूर्ति ही होती है । समग्रता तब मिलती है जब उन्हें दिनचर्या में सम्मिलित किया जाय और विधि-व्यवस्था ऐसी बनाई जाय जिसमें निर्वाह प्रयोजनों के साथ-साथ इन महान निर्धारणो का भी सुयोग बनता रहे । स्पष्ट है कि इसके लिए समय और श्रम लगाना पड़ेगा । व्यक्ति और समाज की, आत्मा और परमात्मा की मध्यवर्ती कड़ी-परिवार है । यह जब छोटा रहता है तो उसे कुटुम्ब कहते हैं और जब बढ़ता है तब विश्व-परिवार के रूप में सुविस्तृत बनकर सामने आता है । परिवार ही वह प्रयोगशाला-पाठशाला एवं कर्मशाला है जिसमे पौरुष को प्रकट करने और अभ्यासों को परिपक्व करने का अवसर मिलता है । अस्तु उत्कृष्टता की साधना के निमित्त ऐसी गतिविधियों का निर्माण करना पड़ता है । जिनमें समय के साथ श्रम और मनोयोग का समन्वय सत्प्रवृत्तियों के सम्वर्धन में लगा रहे । इसके लिए निजी जीवनचर्या में एक समन्वित कार्यपद्धति का निर्धारण करना पड़ता है ।

इस प्रक्रिया को कौन किस प्रकार सम्पन्न करे यह व्यक्ति विशेष की मनःस्थिति एवं परिस्थिति के साथ तालमेल बिठाकर ही एक सुनियोजित कार्यक्रम बन सकता है । जीवन साधना का तात्पर्य ही यह है कि दिशाधारा, रीति-नीति में उत्कृष्टता का समावेश करना और ऐसी दिनचर्या बनाना जिसमें उपर्युक्त तथ्यों का समुचित समन्वय हो सके । इसमें व्यक्तिगत दुर्बलताओं और अस्त-व्यस्तता को हटाने और उनके स्थान पर प्रगतिशील विधि-व्यवस्था अपनाने की आवश्यकता पड़ती है । आजीविका के औचित्य एवं स्तर को नये सिरे से निर्धारित करना होता है । परिवार में जो परम्परा चल रही है उसके ढर्रे में आवश्यक परिवर्तन करने होते हैं । साथ ही लोक-साधना के लिए नये सिरे से अधिक समय लगाने की गुंजाइश निकालनी होती है । ये सभी ऐसे काम हैं जो उथली कल्पना करते रहने से नहीं बन पड़ते वरन् अवांछनीयताओं के उन्मूलन और सत्परम्पराओ के प्रचलन परिपोषण के लिए ऐसा

ताना-बाना बुनना पड़ता है मानो कोई बड़ा उद्योग व्यवसाय खड़ा करने के लिए योजना बनाने, पूँजी जुटाने, शिल्पियों को कार्यरत करने तथा उत्पादन को खपाने का सरंजाम खड़ा किया जा रहा हो। राष्ट्रीय वक्त की पंचवर्षीय योजनाओं का ढाँचा खड़ा करने में जैसे कौशल की आवश्यकता पड़ती है प्रायः वैसी ही सूझ-बूझ प्रगतिशील जीवन के अभिनव निर्धारण के लिए आवश्यक होती हैं। इससे कम में बात ही नहीं बनती। यहाँ जादू चमत्कार जैसा कुछ है नहीं। जिसे जो कुछ उपलब्ध हुआ है वह उसके नियोजन, निर्धारण और पुरुषार्थ का ही प्रतिफल है। इसका समन्वय ही दैवी वरदान के नाम से जाना जाता है।

जीवनचर्या में परिवर्तन कायाकल्प में दृष्टिकोण और प्रयास में घुसी हुई अवांछनीयता को हटाकर इसके स्थान पर उत्कृष्टता को प्रतिष्ठापित किया जा सके तो समझना चाहिए कि महानता का श्रेय साधन हस्तगत हो गया, पर यह हो कैसे। इसका उत्तर एक ही है कि उच्चस्तरीय निर्धारणों को कार्यान्वित करने के लिए समय सम्पदा का नियोजन किया जाय। उसके साथ श्रम और मनोयोग को भी संयुक्त रखा जाय। इसके बिना समुन्नत जीवन क्रम का श्रेय साधन सम्पन्न कर सकने का और कोई मार्ग है नहीं।

अभीष्ट प्रयोजन के लिए समय निकालें कैसे? मनोयोग जुड़े कैसे? श्रम संलग्नता बने कैसे? इन समस्याओं का समाधान एक ही है कि जिन ललक लिप्साओं में इतने दिनों अपनी क्षमताएँ संलग्न रही हैं, उन्हें वहाँ से विरत किया जाय। वैराग्य इसी का नाम है। जिस त्याग संन्यास की चर्चा आध्यात्म क्षेत्र में होती है उसका तात्पर्य कर्तव्यों उत्तरदायित्वों को छोड़ बैठना नहीं वरन् यह है कि अवांछनीय ललक लिप्साओं से अपने समय, श्रम को बचाने छुड़ाने का प्रयास किया जाय ताकि उस बचत को सत्प्रयोजनों में लगाकर प्रगति के उच्च शिखर तक पहुँच सकना बन पड़े।

उत्थान और पतन के दो सर्वविदित राजमार्ग हैं। तृष्णा ग्रसित होकर वैभव, विलास और अहंता की परितृप्ति के प्रयास में संलग्न रहा जा सकता है। इसमें न समय बचने वाला है, न श्रम, न मनोयोग। इस मिट्टी को जितना प्रज्वलित किया जायेगा उतनी ही ऊँची लपटें उठेंगी और उतना ही अधिक ईंधन मागेंगी। इस स्तर की लालसा यदि आतुरता स्तर तक जा पहुँचे तो फिर उनका समाधान दो ही उपायों से सूझता है। जिसमें एक है आत्महत्या, दूसरा है ब्रह्महत्या। आत्महत्या का तात्पर्य है अपने स्तर और व्यक्तित्व को गिराकर हेय परिस्थितियों में प्रवेश करना और उनके साथ जुड़ी हुई नरक यन्त्रणाओं को निरन्तर सहन करना। दूसरा मार्ग इससे भिन्न है उसमें लिप्साओं पर नियन्त्रण रखना और संयम साधना होता है। निर्वाह को सादा, सरल और सौम्य बनाना होता है ताकि सीमित समय, श्रम में उसकी पूर्ति हो सके और बची हुई क्षमता उच्चस्तरीय प्रयोजनों में लग सके।

क्षमता से तात्पर्य है—ईश्वर प्रदत्त समय सम्पदा का उच्चस्तरीय उद्देश्यों के लिए नियोजन। इसी आधार पर क्षमता बढ़ती है और महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति में समर्थ होती है। दुष्प्रयोजनों में समय और श्रम लगा रहे तो उसे क्षमता की सार्थकता नहीं दुर्गति एवं विकृति ही कहा जायेगा।

## हल्का-फुल्का मस्ती भरा जीवन

*जिन्दगी हल्के-फुल्के ढंग से जीये जाने के लिए* मिली है। आये दिन का घटना-क्रम सीधा सरल ही रहता हो, सो बात नहीं है। उसमें कितने ही ज्वार-भाटे न सही, लहरों जैसे उतार-चढ़ाव तो आते ही रहते हैं। यहाँ सब कुछ सीधा सरल नहीं है। बहुत कुछ टेढ़ा-मेढ़ा और ऊबड़-खाबड़ भी है। उससे सर्वथा बच निकलना किसी के लिए भी सम्भव नहीं हो सकता दिन-रात की तरह अनुकूलता और प्रतिकूलता अपना-अपना रंग दिखाती रहती है। सम्पर्क क्षेत्र के व्यक्ति कभी सीधे चलते हैं कभी उल्टे। शरीर कभी नर्म रहता है तो कभी गर्म। सफलता और असफलता संयोग-वियोग, नफा-नुकसान जैसे न जाने कितने उतार-चढाव आते-जाते रहते हैं। यह सहज स्वाभाविक है। यह दुनिया हमारे ही लिए नहीं बनी है और परिस्थितियों पर अपना परिपूर्ण नियन्त्रण नहीं है। सब लोग हमारी मर्जी के अनुरूप ही व्यवहार करें, यह भी सम्भव नहीं। यहाँ सब कुछ मीठा ही नहीं बहुत कुछ कड़वा भी है। ऐसी दशा में जूझते, निपटते, सहते-संजोते हुए ही दिन काटने पड़ते हैं। ऐसा होता नहीं कि अपने को जो अनुकूल-उपयुक्त लगता है, वैसा

ही माहौल बना रहे । ऐसी दशा में एक ही उपाय रह जाता है कि तालमेल बिठाकर चलने जैसी स्थिति बनाई जाय । ऐसा रास्ता निकाला जाय जिसमें साँप मरे न लाठी टूटे । नियति व्यवस्था के अनुरूप परिस्थितियों की उलट-पुलट में भी सन्तुलन बना रहे । मुस्कान हाथ से जाने न पाये । धैर्य टूटे नहीं और निराशा, खीझ, उद्विग्नता का शिकार न बनना पड़े ।

हल्की-फुल्की जिन्दगी जीने वाले ही शान्ति से रहते और चैन सन्तोष के दिन काटते हैं । जीवन को एक खेल जैसा माना जाना चाहिए और उसे हार-जीत की बहुत परवाह किए बिना विनोद-मनोरंजन के लिए बहुत हुआ तो उसमें प्रवीणता पाने के लिए मण्डली में फुर्तीला अनुभव किए जाने की दृष्टि से खेला जाना चाहिए । नाटक के अभिनेता जैसा दृष्टिकोण भी सही है । कभी राजा कभी रंक बनने में पात्र को न कोई संकोच लगता है और न असमंजस होता है । वह अपनी निजी हैसियत और प्रदर्शन की खोखली वास्तविकता को समझता है । इसलिए सिंहासन हार जाने और मुकुट उतर जाने पर भी चेहरे पर मलीनता नहीं आने देता । रात को चादर तानकर गहरी नींद सोता है । वैसी ही मनःस्थिति अपनी भी होनी चाहिए । दिन में क्या किया ? कितना सोचा था, कितना पूरा हो सका, कल के लिए क्या जीवन-क्रम निर्धारित किया है, इतना पर्यवेक्षण तो सोने के पूर्व अवश्य कर लिया जाय, परन्तु विगत की घटनाओं, दिन में किसी के अपने साथ किए गए दुर्व्यवहार के चिन्तन-बदला आदि लेने की भावना के विचार सोते समय मन पर कतई न आने दिए जायें । मन हल्का रहे । कुछ घटा भी है, इसकी छाया मात्र भी मस्तिष्क पटल पर आने न दी जाय यही सच्ची जीवन-यापन शैली है । तनाव रहित मन तुरन्त निद्रा देवी का आह्वान करता है । ऐसी हल्की-फुल्की जिन्दगी ही निरोग काया की जन्म-दात्री बनती है । एकान्त सेवन, गुहा-प्रवेश, गर्भकाल की स्थिति जैसी मानसिकता यदि बनायी जा सके तो कोई कारण नहीं कि आये दिन के संकटों से जूझने योग्य सामर्थ्य मनुष्य में विकसित न हो सके । मन को साधकर अनुकूल दिशा में मोड़ लेना ही सच्चे अर्थों में जिन्दगी जीना है ।

बड़ी से बड़ी आशा रखें किन्तु बुरी से बुरी सम्भावना के लिए तैयार रहें । मनुष्य के हाथ में कर्तव्य करना भर है । यदि उसे ईमानदारी और जिम्मेदारी के साथ निभाया गया हो तो गर्व गौरव अनुभव किया जा सकता है । सफलता में असफलता का उत्तरदायित्व भी प्रत्यक्षतः कर्त्ता के सिर पर ही लदता है, यह नहीं समझना चाहिए कि परिस्थितियों का कुछ प्रभाव होता ही नहीं । कई बार जागरूक और सुयोग्य तक चपेट में आ जाते हैं । जबकि अंधे के हाथ बटेर लगती भी देखी गई है । हाथ के काम में पूरी तत्परता और तन्मयता बरतें और उसे प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर पूरी जिम्मेदारी के साथ सम्पन्न करें, इतने पर भी समय का ऊँट किस करवट बैठेगा, यह कहा नहीं जा सकता । जो अपने बस की बात नहीं उसके लिए क्यों तो सिर पटका जाय और क्यों उछलने-फुदकने का बचकानापन प्रदर्शित किया जाय ?

अपने से बड़ों को देखकर उन जैसे वैभव की अभिलाषा जगाना भी अनुपयुक्त है । इस संसार में एक से एक बड़े पड़े हैं । किस-किस से तुलना की जाय और किस-किस की समता का मनोरथ किया जाय ? तुलना ही करनी हो तो अपनों से छोटों के साथ करनी चाहिए और अनुभव करना चाहिए कि अपने को अपेक्षाकृत कितना अधिक सौभाग्य मिला हुआ है । अपंगों, दरिद्रों, अशिक्षितों, रोगियों, असहायों की तुलना में जब अपनी स्थिति कहीं अधिक अच्छी है तो उस पर सन्तोष व्यक्त करने में क्या हर्ज है । ऐसे भी असंख्यों हो सकते हैं जो उसके लिए भी तरसते हों जो अपने हिस्से में आया है । जिसे दोनों समय भोजन मिल जाता है, अपने पैरों खड़े रहने का अवसर है उसे सन्तोष की साँस लेनी चाहिए और भगवान को हजार बार धन्यवाद देना चाहिए, कृतज्ञता व्यक्त करनी चाहिए ।

प्रगति पथ पर अग्रसर होने में हर्ज नहीं । भौतिक और आत्मिक उन्नति करते रहने से साहस बढ़ता है और सम्मान मिलता है । सुविधा-साधन भी अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में उपलब्ध होते हैं, फिर भी स्मरण रखने योग्य तथ्य यह है कि वैभव का संग्रह न किया जाय और उसे कुटुम्बीजनों के लिए छोड़ मरने की बात न सोची जाय । सदुपयोग से हाथ रोककर फिर कभी के लिए जमा करते रहने पर वह संग्रह

अनेकानेक दुर्व्यसनों और विग्रहों का सृजन करता है। मुफ्त का माल भले ही उत्तराधिकारियों को ही क्यों न मिले, दुष्परिणाम ही उत्पन्न करेगा। हराम का माल किसी को भी नहीं पचता, कच्चे पारे की तरह बदन फोड़कर निकलता है। अच्छा हो उससे उत्तराधिकारियों को बचायें और परिजनों को स्वावलम्बी सुसंस्कारी बनने भर का कर्तव्य पालें। ऐसा मन और इतना निर्धारण बन पड़े तो समझना चाहिए उद्विग्नता उत्पन्न करने वाला आया जंजाल कट गया।

न अशुभ सोचें न दोष ढूँढ़ें, न अन्धकार में भटकें। उज्ज्वल भविष्य की आशा रखें। प्रकाश की ओर चलें। छाया के पीछे न दौड़ें। प्रकाश की दिशा में चलने वाले के पीछे-पीछे छाया चलती है। जबकि छाया पकड़ने के लिए दौड़ने वाले के हाथ थकान और निराशा ही लगती है। महानता प्रकाश है और अमीरी छाया। श्रेष्ठता, शालीनता और उदारता अपनाने वाले सामान्य स्तर का निर्वाह करते हुए भी गौरवास्पद बनते हैं जबकि सम्पदा के पीछे उतावले लोग उन सब श्रेय सौभाग्यों से वंचित ही बने रहते हैं जो उन जैसी स्थिति, योग्यता वालों को सहज ही मिल सकते थे। व्यक्तित्व को गरिमा सम्पन्न बना सकना ऐसा ही है जिस पर कुबेर की अमीरी न्यौछावर की जा सकती है। गुण, कर्म, स्वभाव की वरिष्ठता सम्पादित करने के लिए किया गया पुरुषार्थ हाथों-हाथ फल देता है जबकि सोने की लंका खड़ी करने की इच्छा करने वाले सिवाय हैरान होने और हैरान करने के अतिरिक्त कुछ पाते नहीं। महत्त्वाकांक्षाएँ महामानवों जैसे स्तर तक पहुँचने की तो ठीक हैं पर जब वह तृष्णा, वासना और अहंता की दृष्टि से इन्द्रासन पाने के लिए मचलती हैं तो समझना चाहिए, सर्वनाश के दिन निकट आ गए। ललक-लिप्सा के लिए आतुर-व्याकुल कमाते कम और गवाँते अधिक हैं।

औसत भारतीय स्तर का निर्वाह जिन्हें पर्याप्त लगता है वे ईश्वर चन्द्र विद्यासागर की तरह न्यूनतम निर्वाह में काम चलाते और अपनी कमाई का अधिकांश भाग परमार्थ में लगाते रहते हैं। ऐसों को यह पश्चात्ताप करते नहीं देखा गया कि गरीबी में दिन गुजारते हैं। बुरी तो कंगाली है जो आलसियों या अपव्यय विलासिताओं पर ललक-लिप्सा बनकर छायी रहती है। गरीबी ब्राह्मण की शान है। गाँधी जी प्राचीन काल के सन्तों की तरह अपरिग्रही जीवन जीते थे। जनक हल चलाकर पेट भरते थे। इससे उनकी गरिमा घटी नहीं। भर्त्सना के भाजन तो लालची होते हैं जो पेट भरा रहने पर भी अधिक की रट लगाये रहते हैं और उसे बटोरने के लिए अनीति अपनाने का कुकर्म करने तक से नहीं चूकते।

इस दुनिया में कुरूपता तो है पर इतनी नहीं जो सौन्दर्य से अधिक अनुपात में तोली जा सके। इस दुनिया में अन्धेरा भी है, अभाव और अनाचार भी किन्तु वे इतने नहीं जो प्रकाश के वैभव की शालीनता से भी भारी सिद्ध हो सकें। भ्रष्टों और दुष्टों की कमी नहीं किन्तु यह धरती सज्जनता और उदारता के सहारे ही टिकी हुई है। हम निकृष्ट पर ही दृष्टि जमाकर उद्यान में पाये जाने वाले गुबरीले का उदाहरण क्यों बने? फूलों पर मंडराने वाले और भाग्य की सराहना करने वाले भौंरों जैसा दृष्टिकोण क्यों न अपनायें। जब श्रेष्ठता से सम्बन्ध जोड़ते [illegible] तो वह खिंचती हुई अपने पास चली आती है। जिन्हें निकृष्टता के बीच रहना, वैसा ही सोचना और उन्हीं से जुड़ना सुहाता है वे ही अपने को नरक से घिरा देखते हैं। चिन्तन उलट जाने पर वाल्मीकि, विल्व मंगल, अंगुलिमाल, अजामिल जैसों का काया-कल्प हो गया तो फिर कोई कारण नहीं जो अपने भाग्य का नया निर्माण अपने हाथों न करे।

स्वर्ग और नरक मनुष्य के दाएँ-बाएँ हाथों में विधाता ने सुनियोजित ढंग से संजोकर रखे हुए हैं। मनुष्य चाहे जिस मुट्ठी को खोलकर अपने लिए अभीष्ट परिस्थितियों का सृजन कर सकता है। इस सम्बन्ध में अड़चन एक ही है कि निषेधात्मक चिन्तन के साथ जुड़े हुए पतन पराभव एवं विधेयात्मक विचारणाओं के साथ अविछिन्न रूप से जोड़े गए उत्थान को अलग नहीं किया जा सकता। यह दोनों युग्म जुड़वाँ भाइयों की तरह उत्पन्न होते हैं और अपने साथी को लेकर ही गतिशील रहते हैं।

कहते हैं कि विधाता मनुष्य का भाग्य ललाट के ऊपर लिखता है। यह सत्य भी है और तथ्य भी। जो जैसा सोचेगा वह वैसा बनेगा। मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है, इस उक्ति की संगति इसी प्रकार

बैठती है कि क्रिया का शुभारम्भ चिन्तन क्षेत्र से होता है । हाथ-पैर तो बहुत बाद में भीतर की खिचड़ी पक कर तैयार हो जाने के बाद अपना काम प्रारम्भ करते हैं । कर्त्ता कौन ? इस प्रश्न का उत्तर एक शब्द में देना हो तो कहना चाहिए कि मस्तिष्क । वही अपनी गतिविधियों—विचारणाओं के सहारे वर्तमान का ही नहीं, भविष्य का भी निर्माण करता है ।

जो घटिया सोचते रहे वे घटिया बनकर रहे । जिन्होंने उद्धत विचारा, वे पतन पराभव के गर्त में जा गिरे । जिन्होंने ऊँचा सोचा, ऊँचा निर्णय किया, ऊँचे प्रयासों में हाथ डाला, वे ही ऊँचे उठे और महामानवों के लिए निर्धारित महानता के उच्च शिखर पर जा विराजे । अभिवन्दनीय और अनुकरणीय बने । कृतकृत्य होकर रहे। यह मनुष्य का अपना रुझान और चुनाव है कि चौराहे से फटने वाली श्रेष्ठता और निकृष्टता के दो रास्तों में से किसे चुनें और किस पर कितनी तत्परता के साथ कदम बढ़ाए ।

चासनी में पर फँसा कर बे-मौत मरने वाली मक्खी की दुर्गति अनेकों ने देखी और सुनी है । इतने पर भी यह भुला दिया जाता है कि लिप्सा-लालसा की कभी शान्त न हो सकने वाली आग में क्यों कूदा जाय । किनारे पर बैठकर थोड़ा-थोड़ा चखने वाली मक्खी नफे में रहती है । पेट भी भर लेती है और जोखिम से भी बची रहती है । हल्की-फुल्की जिन्दगी इसी को कहते है । अमीरों जैसी ललक यदि हावी न हो और औसत नागरिकों जैसा निर्वाह पर्याप्त लगे तो फिर ऊँचा सोचने और ऊँचा करने का अवसर भी मिल सकता है । समझदारी इसी को कहते हैं कि चिन्तन की श्रेष्ठता अपनाने के लिए ताना-बाना बुनने दिया जाय । इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए भगवान से प्रार्थना करनी पड़ती है—

"साईं इतना दीजिए, जिसमें कुटुम्ब समाय ।
आप भी भूखा न रहे, साधु न भूखा जाय ॥"

दूरदर्शी कामना मे उस अंकुश को सजग पाया जा सकता है जो भौतिक लिप्साओं की मर्यादाओं में रहने के लिए प्रतिबन्ध लगाता है । निर्वाह भर मे सन्तोष करता है और बचत को, द्वार पर खड़े साधु को देने के लिए दबाव डालता है । इस अनुशासन में रहने वाले न केवल हँसती-हँसाती जिन्दगी जी सकते हैं । वरन् अपने वैभव, उपार्जन, पराक्रम को मिलजुल कर बाँट खाने की उदारता भी चरितार्थ कर सकते हैं । इसके विपरीत जिनकी लिप्सा समुद्र जितनी गहरी है और जिन्हें उसे पाटने की उतावली मची है, उनके लिए अनीति पर उतारु और कुकर्मरत रहने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं । निठुरता अपनाये बिना कोई इतना नहीं कमा-बचा सकता जिसके सहारे अमीरों जैसे ठाट-बाट बनाकर रहा जा सके । अपव्यय की फुलझड़ी जलाकर विलास का तमाशा देखने वालें सिर्फ वे ही हो सकते हैं जिन्हें अनुपयुक्त संग्रह की उद्धत अपव्यय की लगन लगी हो यह अर्धविक्षिप्तों जैसी गहरी छानने वालों, गुलाबी पीने वालों जैसी मनःस्थिति है जिसमें संग्रह और विलास के लिए अनुपयुक्त उपार्जन के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं । ऐसी स्थिति से तो समस्याएँ और आ खड़ी होती हैं । व्यक्ति स्वयं तो अन्त में त्रास पाता ही है अन्यों का शोषण कर भर्त्सना का पात्र भी बनता है । यह अदूरदर्शिता यदि समय रहते उलट दी जाय और समझदारी से जीने की बात मन में जड़ें जमा सके तो समझना चाहिए, मनुष्य को नया जन्म मिल गया । अच्छा हो, ऐसी समझदारी जल्दी ही साथ दे और समय रहते इस प्रचलन प्रवाह में बहने न देने के लिए रोकथाम लगाये, खींच, घसीट कर किनारे पर लगाये । जिसे ऐसा सुयोग मिलेगा उसी के लिए यह सम्भव होगा कि हँसती-हँसाती जिन्दगी जीयें और हिल-मिलकर सुख चैन के दिन बितायें ।

साथ ही अपनी मनमर्जी के अनुसार अपनी गतिविधियों का, आदतो का निर्माण करे । अपने जैसा ही सोचे यह कल्पना आदि से अन्त तक गलत है । इस संसार में हर किसी की आकृति अलग है । किसी का चेहरा किसी से नहीं मिलता । ठीक इसी प्रकार प्रकृति मे भी अन्तर रहता है । जन्म-जन्मान्तरों के संचित संस्कारों और वर्तमान में अपनाये गए अनेकानेक प्रभावों के कारण हर मनुष्य का चिन्तन और स्वभाव भिन्न-भिन्न है । इसे इतनी जल्दी नही बदला जा सकता कि वह चुटकी बजाते अपना सब कुछ छोड़कर हमारा आज्ञानुवर्ती बने और वही करे जो हम कहें । मशीनों को पशुओं को इच्छानुरूप चलाया जा सकता है किन्तु मनुष्य के सम्बन्ध में वैसा नहीं सोचा जाना चाहिए । कुटुम्बियों के सम्बन्ध में भी मौलिक भिन्नता

को मान्यता देते हुए तर्क, तथ्य, प्रमाण प्रस्तुत करते हुए स्नेह सद्भाव के सहारे किसी को औचित्य अपनाने को बात कहने में तो हर्ज नहीं फिर भी हर किसी को स्वतन्त्र निर्णय देने की गुंजाइश तो रखनी ही होगी। जिसके साथ जितनी पटरी बैठे उतना तालमेल बिठाकर चलना ही बुद्धिमत्ता है जिसे अपनाने वाले हर परिस्थिति में हँसती-हँसती जिन्दगी जीते देखे गए हैं।

## चिन्तन का स्तर एवं प्रवाह सही दिशा में चले

मोटर की ठीक प्रकार साज-सँभाल न रखी जाय तो मज़बूत और कीमती होने पर भी कुछ ही दिन में उसका कचूमर निकल जाता है। अच्छे खासे शरीरों की भी दुर्गति इसी कारण होती देखी गई है। यही बात हर उपकरण, प्राणी, पदार्थ आदि पर लागू होती है। वे सभी अपने सदुपयोग और रख-रखाव पर पूरा ध्यान रखे जाने की माँग करते हैं। उपेक्षा या अतिक्रमण के शिकार होने पर वे अपनी क्षमता गवाँ बैठते हैं और अन्ततः कष्टदायक बनते हैं।

मस्तिष्क मानवी सत्ता का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग है। समूचे शरीर पर उसी का शासन है। पेट, हृदय, गुर्दे आदि तो श्रमजीवी मात्र हैं उनका सूत्र संचालन एवं नियमन तो मस्तिष्क द्वारा ही होता है। यह निर्वाह की बात हुई। उत्थान पतन मे भी उसी के निर्धारणों को श्रेय दिया जाता है। राज्याधिकारी को मुकुट पहनाया जाता है। प्रतिष्ठा सिर की होती है। नियति ने जीवधारी को मस्तिष्क रूप मुकुट प्रदान किया है। यह उसकी मर्जी है कि यथास्थान रखे अथवा पैरों तले कुचले। पैरों तले कुचलने से तात्पर्य है—उसकी क्षमता को अविकसित स्थिति में पड़े रहने देना अथवा दुष्प्रयोजनों में प्रयुक्त करना। भाग्य विधान ललाट पर लिखा होता है, की उक्ति से यही तात्पर्य निकलता है कि विचार क्षेत्र के ऊपर ही यह अवलम्बित है कि व्यक्ति पिछड़ा, अभागा, उपेक्षित, तिरस्कृत होकर जीये, भर्त्सना और प्रताड़ना का पात्र बने अथवा अनुकरणीय, अभिनन्दनीय, श्रेय, समुन्नत एवं गौरवान्वित सुसम्पन्न होकर जीये।

इस महत्त्वपूर्ण अवयव को प्रदान करते समय सृष्टा ने उसकी भी जिम्मेदारी मनुष्य को सौंप दी है और यह अधिकार दिया है कि जो जब चाहे जिस तरह उपयोग करे। उसके पीछे एक अनुबन्ध भी है कि उसका भला-बुरा प्रयोग करने पर तद्नुरूप प्रतिफल वहन करने के लिए भी बाधित होना पड़ेगा।

शरीर के साथ अनाचार करने वाले ही आमतौर से दुर्बल रुग्ण, रहते हैं। स्वयं कष्ट सहते और साथियों को त्रास देते हैं। ठीक यही बात मस्तिष्क पर भी लागू होती है। विचारणा की भी एक विधा और मर्यादा है। पटरी पर चलने वाली रेल की तरह ही उसकी भी दिशाधारा होनी चाहिए। नदियाँ जब किनारों का अतिक्रमण करके उफनने लगती हैं तो बाढ़ के रूप में अपनी विकरालता का परिचय देती हैं। रेल भी पटरी छोड़कर बेहिसाब किधर को चल पड़े तो उससे होने वाले दुष्परिणाम की कल्पना कोई भी कर सकता है।

विचारों की शक्ति असीम है इस संसार पर अदृश्य शासन करने वाले दैत्य दानवों की पौराणिक मान्यता को यदि प्रत्यक्ष देखना हो तो एक शब्द मे उस समूचे परिवार को विचार प्रवाह कह सकते हैं। यही क्षेत्र है जिसका स्तर मनुष्य के उत्थान-पतन का आधारभूत कारण माना जाता है। आम आदमी का मस्तिष्क सम्बद्ध वातावरण के अनुरूप ढलता पाया गया है, किन्तु यह पत्थर की लकीर नहीं है, कोई चाहे तो उसका परिपूर्ण परिशोधन और उपयुक्त नव-निर्धारण कर सकने में भी समर्थ हो सकता है। आदिवासी वन प्रदेशों में रहते है पर उन पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है कि वे नगरों में प्रवेश नहीं कर सकते या वहाँ जाकर कोई काम-धन्धा नहीं कर सकते। गाड़िया लुहार जहाँ-तहाँ भटकते और लोहा पीटकर गुजारा करने के अभ्यस्त हैं। पीढ़ियों से इसी तरह रहते हैं फिर भी उनका स्वेच्छा निर्धारण ही कहा जायेगा। वे चाहें तो अन्य नागरिकों की तरह अपने निवास निर्वाह में बिना किसी कठिनाई के स्थायित्व भी ला सकते हैं। विचारणा के सम्बन्ध मे भी यही बात है। यों वह बनती और पकती तो वातावरण के चाक और आवें में ही है। फिर भी मनुष्य मिट्टी नहीं है वह घोंसले के पक्षी की तरह किसी भी दिशा में कभी भी

उड़ सकता है और अपने दायरे-क्षेत्र में असाधारण परिवर्तन कर सकने के लिए स्वतन्त्र है। हमें अपना वर्तमान सुधारने की जब उमंग उठे तो सर्वप्रथम इस मनःक्षेत्र का ही निरीक्षण परीक्षण करना चाहिए और उसकी दिशाधारा में, स्तर एवं अभ्यास में तदनुरूप परिवर्तन करना चाहिए।

जंक्शन पर गाड़ियाँ एक लाइन में खड़ी होती हैं। इनमें से किसे, किस दिशा में दौड़ना है, कहाँ पहुँचना है इसका निर्धारण प्वाइंट मैन, लीवर गिरा कर करता है। वह दो पटरियों को इस प्रकार मिला देता है कि गाड़ी की दिशा बन सके और फिर उस पर दौड़ते हुए वह अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँच सके। एक ही लाइन में खड़ी दो गाड़ियाँ साथ-साथ छूटती है पर उनकी दिशा अलग होने के कारण एक बम्बई पहुँचती है तो दूसरी कलकत्ता। दोनों के बीच भारी दूरी है। यह क्यों कर बन गई? इसका उत्तर लीवर गिराकर पटरियाँ जोड़ने वाला प्वाइंट मैन हर किसी को आसानी से समझा सकता है कि एक समय के उस छोटे से निर्धारण ने कैसा कमाल कर दिया। यह उदाहरण विचारणा को दिशा धारा मिलने के सम्बन्ध मे पूरी तरह लागू होता है।

मनुष्य जिस भी स्तर की विचारणा अपनाना चाहे उसे वैसे चयन की परिपूर्ण स्वतन्त्रता है। तर्क और तथ्य तदनुरूप ढेरों के ढेरों इकट्ठे किए जा सकते हैं। मित्र. सम्बन्धी साथ नहीं देंगे, परिस्थितियाँ प्रतिकूल बनेंगी, घाटा पड़ेगा और भविष्य अन्धकार से घिरा रहेगा। इस स्तर की निराशाजनक कल्पना के पक्ष में अनेको तर्क सोचे जा सकते हैं। संगति बिठाने वाले ढेरों ऐसे उदाहरण भी मिल सकते है जिनमे कल्पित निराशा का समर्थन करने वाले घटनाक्रम घटित हुए हों। निराशा को अंगीकार करने वाला अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिए अनेकानेक कारण ढूँढ़ सकता है। साथ ही जोर देकर कह भी सकता है कि उसने जो सोचा है गलत नहीं है।

रुख बदलते ही दूसरे प्रकार के तर्कों उदाहरणों का पर्वत खड़ा हो जायेगा। आशा और उत्साह की उमंगे उठें, उज्ज्वल भविष्य पर विश्वास जमे तो फिर उस स्तर के तर्कों की कमी न रहेगी। हेय परिस्थितियों में जन्मे और पले व्यक्तियों में से कितनो ने असाधारण प्रगति की ओर आशाजनक सफलता प्राप्त की है इसके उदाहरणों से न केवल इतिहास के पृष्ठ भरे पड़े हैं वरन् वैसे उदाहरणों से अपना समय एवं सम्पर्क क्षेत्र भी सूना नहीं मिलेगा। वैसा अपने लिए क्यों नहीं हो सकता? जो काम एक कर सका उसे दूसरा क्यों नहीं कर सकता? इस प्रकार के विधेयक विचारों का सिलसिला यदि मनःक्षेत्र में चल पड़े तो न केवल वैसा विश्वास बँधेगा वरन् प्रयत्न भी चल पड़ेगा और असम्भव न रहेगा कि उत्कर्ष की जो साध-संजोयी थी वह समयानुसार होकर रहे।

कहा जाता है कि शरीर बल, सूझ-बूझ, साधन और सहयोग से कठिनाइयों का हल निकलता है और प्रगति का द्वार खुलता है। यह कथन जितना सही है उससे भी अधिक सही यह है कि मनोबल बाजी जीतता है। वही सबसे बड़ा बल है। शरीर से दुर्बल और साधनों की दृष्टि से अभाव ग्रस्त होते हुए भी कितने ही व्यक्ति महत्त्वपूर्ण सफलताएँ प्राप्त कर सकने में समर्थ हुए हैं। इसमें उनके मनोबल ने ही प्रमुख भूमिका निभाई है। मनोबल को बढ़ाने और अक्षुण्ण रखने के लिए आवश्यक है कि सदा आशा भरे सपने देखे जायें। रचनात्मक दृष्टिकोण अपना कर वर्तमान परिस्थितियों मे भी आगे बढ़ने का, ऊँचा उठने का ढाँचा खड़ा किया जा सकता है और उस उत्साह भरे पराक्रम के सहारे सफलता के स्तर तक पहुँचा जा सकता है।

कल क्या होने जा रहा है यह किसी को भी विदित नहीं है। न वैसा कुछ नियति निर्धारण है। मनुष्य स्वयं ही किसी रास्ते का चयन करते हैं, अपने ही पैरों चलते हैं और अपनाये गए मनोरथ के अनुरूप किसी लक्ष्य तक पहुँचते हैं। कौन किस स्तर का चयन करे? किसके पैर किस राह पर चलें यह उसका अपना फैसला है। दूसरे तो हर बुरे-भले काम मे साथ देते और रोक-टोक करते देखे गए हैं। उनमें से किन्हें महत्त्व दिया जाय, किन्हें न दिया जाय यह फैसला अपना ही होता है।

यह सोचना व्यर्थ है कि परिस्थितियों या सम्बन्धियों ने उन्हें दबाया और ऐसा करने को विवश किया जैसा कि मन नहीं था। यह बात मात्र दुर्बल मनोबल वालों पर ही लागू होती है। मनस्वी जानते हैं कि कोई

किसी को बाधित नहीं कर सकता । मनुष्य की संरचना इतनी दुर्बल नहीं है कि उस पर दूसरों के फैसले लद सके और अपरिहार्य बन सकें । एक समय की भूल दूसरे समय सुधर भी सकती है । आज की सहमति को कल की असहमति में भी बदला जा सकता है । परिवर्तन काल की उथल-पुथल में कुछ अड़चन असुविधा तो होती है पर नया रास्ता बन जाने की भी संगति मुड़-तुड़ कर बैठ ही जाती है ।

दोष जिस-तिस को देने और गुण इस-उस के गाने से सिर्फ मन हल्का होता है । मूलतः चयन अपने ही रुझान का होता है । साथी और समर्थ तो बुरे से बुरे मार्ग पर चलने वालों को भी मिल जाते हैं और श्रेय पथ पर चलाने वाले ही कहाँ हर किसी का समर्थन प्राप्त करते हैं । उन्हें भी ढेरों लोग मूर्ख बनाते और रास्ते में रोड़े अटकाते हैं । अस्तु दूसरों को महत्त्व देना हो तो उतना ही देना चाहिए कि उनका अस्तित्व तो है पर इतना नहीं कि किसी को उनके पीछे चलने के लिए विवश ही होना पड़े । आखिर स्वतन्त्र चिन्तन भी तो कोई वस्तु है । मस्तिष्क तो अपना है । उस पर अपना अधिकार नहीं । संकल्प बल से विचारों को दिशा नहीं दी जा सकती है और जो चल रहा है उसमें परिवर्तन, प्रत्यावर्तन की सम्भावना नहीं है, ऐसा मानकर नहीं चलना चाहिए ।

विचारणा में जिस स्तर का अभ्यास पड़ गया है, एक बार उसके खरे-खोटे होने पर नये सिरे से पर्यवेक्षण करना चाहिए और जिन अनुपयुक्त अभ्यासों का कूड़ा-कचरा भरा पाया उसे साहसपूर्वक बुहार फेंकना चाहिए । लौट-लौट कर आने की कठिनाई तो घर में चमगादड़ों का घोंसला हटाने पर भी आती है । भगा देने पर भी वे लौटकर आती हैं । फिर भी वे इतनी प्रबल नहीं हैं कि गृह-स्वामियों के निश्चय को पलट सकें, उन्हें झक-मारकर अपना घोंसला अन्यत्र बनाना पड़ता है । कुविचारों की जड़ तभी तक जमी रहती है जब उन्हें उखाड़ने-उजाड़ने का कोई अन्तिम निर्णय नहीं होता । असमंजस का लाभ सदा विपक्षी को मिलता है । संशोधन के निश्चय और परिवर्तन के संकल्प में ही दुर्बलता हो, किसी अन्तिम निर्णय पर पहुँचना न बन पड़ रहा हो तो बात दूसरी है ।

कुविचारों में निषेधात्मक विचारों का एक बहुत बड़ा परिवार है । इनमें से कुछ ऐसे हैं जो व्यक्तित्व को दबोचे रहते हैं और दलदल में से उबरने ही नहीं देते । कुछ ऐसे हैं जो व्यवहार को विकृत उद्धत बनाकर साथियों से पटरी नहीं बैठने देते, कुछ ऐसे हैं जो दिशाधारा को प्रभावित करते हैं और कँटीली झाड़ियों में भटकाते हैं । इन सभी की अपनी-अपनी मण्डली और बिरादरी है । वे एक-एक के साथ एक जुड़े रहते हैं । रेलगाड़ी में जुड़े डिब्बे की तरह जंजीर की कड़ियों की तरह चींटी, दीमकों और टिड्डियों की तरह उन्हें झुण्ड बनाकर साथ-साथ चलते देखा जा सकता है, किन्तु साथ ही यह बात भी है कि रानी मक्खी के उड़ जाने के उपरान्त छत्ते की अन्य मधुमक्खियाँ भी इच्छा या अनिच्छा से अपनी अधिष्ठात्री के साथ चली जाती हैं उसी प्रकार विचारों के परिकर भी जड़ जमाते और सिर पर पैर रखकर उल्टे पावों पलायन करते भी देखे जाते हैं ।

निज के व्यक्तित्व को गर्हित करने वालों में निराशा, आलस्य, प्रमाद, भय, चिन्ता, कायरता, लिप्सा स्तर की दुष्प्रवृत्तियों की गणना होती है । दूसरों से सम्बन्ध बिगाड़ने में क्रोध, आवेश, अहंकार, अविश्वास, लालच, अनुदारता जैसी आदतों को प्रमुख माना जाता है । भविष्य को बिगाड़ने में चटोरेपन, प्रदर्शन, बड़प्पन, दर्प, अविवेक, अनौचित्य जैसी उद्दण्डताओं का परिकर आता है । मर्यादाओं की अवज्ञा करने और अनाचार पर उतारू होने वाले लोग प्रायः वे होते हैं जिन पर विलास, संग्रह, अहंता के उद्धत, प्रदर्शन का भूत सवार है । अनास्था या नास्तिकता इसी मनःस्थिति को कहते हैं । ईश्वर सद्भावना, सद्विचारणा एवं सद्प्रवृत्ति के समुच्चय को कहते हैं । उसी के सम्मिलित स्वरूप की एक ऐसे व्यक्ति विशेष के रूप में अवधारणा की गई है कि जो न्याय निष्ठ हैं और अपनी वरिष्ठता का उपयोग अनुशासन बनाये रहने के लिए करता है । न उसका कोई प्रिय है और न अप्रिय, न किसी से लगाव, न पक्षपात, न विद्वेष । कर्म और उसका प्रतिफल ही ईश्वरीय नियति है । मानवोचित गौरव-गरिमा का निर्वाह ही उसकी वास्तविक अर्चना है । इससे विमुख व्यक्तियों को नास्तिक कहा जा सकता है । शास्त्रों में जिन नास्तिकों की भर्त्सना की

गई है वे उस समुदाय में नहीं आते जो पूजा अर्चना से आना-कानी करते हैं । वरन् वे हैं जो उत्कृष्टता के प्रति अनास्था व्यक्त करते हैं ।

आस्था-अनास्था की परख किसी के चिन्तन के स्तर एवं प्रवाह की कसौटी पर ही हो सकती है । भगवान को मस्तिष्क में विराजमान माना गया है । शेषशायी विष्णु का क्षीर सागर यही है । कैलाशवासी शिव का निवास इसी मानसरोवर के मध्य में है । कमल पुष्प पर विराजमान ब्रह्मा जी का ब्रह्मलोक यही है । तिलक चन्दन इसी पर लगाते हैं । आशीर्वाद वरदान के लिए उसी का स्पर्श किया जाता है । विधाता को जो भाग्य में लिखना होता है उसी पटल पर लिखते हैं । विचार तन्त्र की गरिमा जितनी अधिक गाई जाय उतनी ही कम है । इसे ब्रह्माण्ड की, विराट् ब्रह्म की अनुकृति कहा गया है जिसने मनःसंस्थान का परिशोधन परिष्कार कर लिया, समझना चाहिए कि उसने तपश्चर्या और योगाभ्यास की आत्मा से सम्पर्क साध लिया । वह सिद्ध पुरुष बनेगा, स्वर्ग में रहेगा और जीवन मुक्तों की श्रेणी में सम्मिलित होकर हर दृष्टि से कृत-कृत्य बनेगा ।

स्मरण रहे शरीर के समस्त अंग-अवयवों का जितना महत्त्व है उसके संयुक्त स्वरूप की तुलना में अकेले मस्तिष्क की महत्ता कहीं अधिक है । मस्तिष्क को सही और स्वस्थ रखने का तात्पर्य है उसकी विचार प्रक्रिया को सही दिशा प्रदान करना । पागलों और अविकसित मस्तिष्क वालों की जिन्दगी निरर्थक होती है और वे ज्यों-त्यों करके दिन काटते हैं । उल्टी विचारणा अपनाने वाले—भ्रान्तियों और विकृतियों में ग्रसित होकर अनुपयुक्त सोचते रहने वाले उससे भी अधिक घाटे में रहते हैं । अनजान की तुलना में वे अधिक दु:ख पाते और दुःख देते हैं जो उल्टा सोचते और उल्टे रास्ते चलते हैं ।

## अस्त-व्यस्त मन को सुव्यवस्थित बनाइये

शरीरगत भली-बुरी विशेषताओं के लिए अब मनःस्थिति को ही प्रधानतया उत्तरदायी ठहराया गया है । भौतिक जीवन की सफलताओं के लिए उसी को आधारभूत माना जाता है । यही सामान्य दीखते हुए भी असामान्य निष्कर्ष है । पिछले दिनों परिस्थितियों एवं साधनों को मनुष्य की प्रगति-अवगति का कारण माना जाता था । उत्थान-पतन का निमित्त दूसरों के सहकार एवं आकार को समझा जाता था । कई बार शारीरिक स्थिति को ही सफलता-असफलता का श्रेयाधिकारी ठहराया जाता था । अब वैसी स्थिति नहीं रही । मनःशास्त्रियों द्वारा यह स्वीकार किया गया है कि व्यक्तित्व के प्रायः सभी क्षेत्र मानसिक स्थिति से प्रभावित होते हैं अस्तु यदि किसी को अपनी गई-गुजरी स्थिति सुधारनी है और महत्त्वपूर्ण प्रगति करनी है तो मुरझाये पेड़ के पत्ते धोने की अपेक्षा उसकी जड़ में पानी लगाना चाहिए ।

बुद्धि के केन्द्र चेतन मस्तिष्क को प्रशिक्षित करने के लिए स्कूल, कॉलेजों एवं अन्य ज्ञान-संस्थानों का प्रबन्ध है पर अब जाना यह गया है कि बुद्धिमत्ता से अधिक महत्त्वपूर्ण है आदतें । आदतों के सही होने पर स्वल्प बुद्धि से भी व्यवस्थित रीति-नीति अपनाकर उन्नति के उच्चशिखर पर पहुँचा जा सकता है । इसके विपरीत तीक्ष्ण बुद्धि व्यक्ति भी बुरी आदतों का शिकार बनकर समय और शक्तियों का अपव्यय करता है और घाटा उठाता तथा असफल रहता है । अब शोध का विषय है अतीन्द्रिय विज्ञान । जिसे पाश्चात्य देशों में परा-मनोविज्ञान कहा जाता है । इन अनुसंधानों में ऐसी घटनाओं की प्राथमिकता जाँची जाती है जो प्रकृति के सामान्य घटनाक्रम एवं मनुष्य के साधारण साधनों से भिन्न प्रकार की होती है । मानवी चेतना पर अवतरित होने वाली अद्भुत जानकारियों का स्रोत कहाँ है ? वे किस आधार पर घटित होती हैं ? वे अनायास ही—व्यक्ति विशेष पर ही घटित होती हैं, या प्रयत्नपूर्वक वैसी स्थिति पैदा की जा सकती है ? यह ऐसे ही अनेक प्रश्नों की शृंखलाएँ सामने प्रस्तुत हैं जिनके समाधान खोजने के लिए परा मनोविज्ञान के अनुसंधानकर्त्ता प्रयत्नशील हैं ।

इस प्रयास में अभी बहुत थोड़े ही निष्कर्ष निकल सके है जो जानना बाकी है उसे देखते हुए सफलताओं को नगण्य ही कहा जा सकता है । फिर भी कुछ निष्कर्ष ऐसे हैं जिनके आधार पर अतीन्द्रिय क्षमता के कारणों पर थोड़ा प्रकाश पड़ता है । यह माना गया है कि मस्तिष्क का अचेतन क्षेत्र शरीर संचालन की

गतिविधियों का सूत्रधार तो है पर उसकी सामर्थ्य उतने तक ही सीमित नहीं है । मन की दोनों परतों को जितनी मात्रा में विकसित होने का अवसर मिलता है उतना ही वे व्यक्तित्व को अधिकाधिक प्रतिभा सम्पन्न बनाती हैं और सफलताओं के नये-नये द्वार खोलती हैं । व्यक्तित्व के समग्र विकास में शरीरगत समर्थता की तुलना में मानसिक बलिष्ठता की भूमिका असंख्य गुनी बढ़ी-चढ़ी होती है । मनोबल सम्पन्न मनुष्य दुर्बल और रुग्ण होते हुए भी अपनी प्रखरता बनाये रह सकता है और उसी स्थिति में ऐसा कुछ करता या कराता रह सकता है जिसे आश्चर्यजनक एवं सराहनीय कहा जा सके इसके विपरीत शरीर से बलिष्ठ एवं सुगठित होते हुए भी मनोबल की दृष्टि से गए-गुजरे लोग सुविधा-साधनों के रहते हुए भी गई-गुजरी स्थिति में दिन काटते, पग-पग पर असफल होते और उपहासास्पद बनते देखे जाते है । दैनिक जीवन की अधिकांश समफलताएँ प्रायः विकसित मनःस्थिति की ही प्रतिक्रिया होती हैं । आदतें और कुछ नहीं अन्तर्मन की वर्तमान दृढ़ता ही उनका निर्माण करती है । इसी को व्यक्तित्व कहते हैं । प्रगति और अवगति इसी पृष्ठभूमि पर निर्धारित रहती है ।

कुछ समय पूर्व बीमारियों के कारण रोग कीटाणुओं के आक्रमण संग्रहीत विजातीय द्रव्य एवं अमुक अवयवों की टूट-फूट आदि माने जाते थे और इन्हीं को निरस्त करने के लिए चिकित्सकों द्वारा उपाय-उपचार किए जाते थे । अब गहराई तक जाने पर यह निष्कर्ष निकला है कि यह कारण गौण और अचिन्त्य चिन्तन की मानसिक विकृतियाँ प्रधान कारण हैं । अब मनोविकारों को न केवल मस्तिष्कीय रोगों का वरन् शारीरिक रोगों का भी सर्वोपरि कारण माना जा रहा है । यह पाया गया है कि मनोबल सम्पन्न, साहसी और सन्तुलित व्यक्ति सामान्य अथवा घटिया शारीरिक स्थिति में निरोग की तरह काम करता और प्रसन्नचित रहता है । जबकि अस्त-व्यस्त मनःस्थिति वाला अकारण ही गिरी-मरी स्थिति में पड़ा रहता है । कितने ही दर्द एवं रोग ऐसे होते हैं जिनकी जड़ शरीर मे नही मन में होती है । शरीर की जाँच पड़ताल करके डॉक्टर कहता है इसमें कोई रोग नहीं है, पर रोगी अपने को रुग्ण एवं पीड़ा ग्रसित अनुभव करता है । ऐसी बीमारियाँ विशुद्ध मानसिक रोग होने पर भी उतनी ही कष्टकारक होती है, जितनी कि वास्तविक रुग्णता ।

आँखों की चमक चेहरे का आकर्षण, होठों पर नाचती मुस्कराहट, वाणी में प्रभाव जैसे व्यक्तित्व को मनोरम बनाने वाली विशेषताएँ शारीरिक गठन पर नहीं मानसिक उत्साह पर निर्भर रहती हैं । रंग, रूप की दृष्टि से सुन्दर दीखने वाले वाले व्यक्ति भी मानसिक अस्त-व्यस्तता होने पर उपेक्षणीय एवं उपहासास्पद बने रहते हैं । प्रथम दर्शन में जो आकर्षण प्रभाव उत्पन्न हुआ था वह सम्पर्क में आने वाले व्यक्तित्व का परिचय मिलने के साथ ही समाप्त हो जाता है । इसके विपरीत काले, कुरूप मनुष्य भी आन्तरिक उत्साह के कारण बड़े तेजस्वी एवं आकर्षक प्रतीत होते हैं, उनकी कल्पना, सूझ-बूझ, वाणी, आकांक्षा, स्फूर्ति, साहसिकता एवं उमंग देखकर हर किसी को सम्पर्क मे आने की इच्छा होती है । ऐसे लोगों के सान्निध्य में हर कोई प्रसन्नता अनुभव करता है । आरोग्य से लेकर आकर्षण तक शरीर की सभी विशेषताएँ मनोबल पर निर्भर रहती है । सक्रियता से लेकर सफलता तक का सारा क्षेत्र मनःस्थिति से ही प्रभावित पाया जाता है ।

मनोबल भी यान्त्रिक विद्युत की तरह ही एक प्रभावशील तत्व है । उसका प्रभाव मनुष्यों एवं दूसरे प्राणियों पर होते हुए आये दिन देखा जाता है । एक प्रतिभाशाली व्यक्ति अपने समीपवर्ती लोगों को किस प्रकार अपना बनाता है, उसका प्रमाण सर्वत्र उपलब्ध होता है । अन्य प्राणियों को प्रभावित करने मे भी कुछ मनुष्य लोग असाधारण रूप से सफल होते हैं । सर्कस मे पशुओं के शिक्षक क्रूर प्रकृति के हिंसक प्राणियों को भी दुलार-फटकार के सहारे प्रशिक्षित करते और उन्हे कठपुतली की तरह नचाते हुए देखे जाते हैं । महावत का कहना हाथी मानता है और मनस्वी घुड़सवार के पीठ पर पहुँचते ही अड़ियल घोड़ा भी सीधा हो जाता है । कितने ही लोग भिन्न प्रकृति के प्राणियो की जन्मजात द्वेष बुद्धि को स्नेह-सहयोग से बदल देते है । ऋषियों के आश्रमो मे सिंह और गाय के साथ रहने की बात प्रसिद्ध है । अभी भी कइयों ने कुत्ते-बिल्ली इस प्रकार पाले होते है कि वे सहोदर भाई-बहिन की तरह रहते है । इटली का एक किसान अपनी मुर्गियों

के फार्म की रखवाली पालतू बिल्लियों से कराता था। कुत्ते और मनुष्यों की मित्रता एवं वफादारी के जो अनेक प्रसंग सुने जाते हैं, उनमें पालने वालों का मानसिक प्रभाव ही प्रधान रूप से काम करता है। पूरे परिवार में किसी व्यक्ति विशेष के साथ अतिरिक्त लगाव रखने वाले पालतू पशु वस्तुतः किसी की मनःस्थिति से प्रभावित हुए होते हैं।

ज्ञान सम्पदा का अपना महत्त्व है। बौद्धिक तीक्ष्णता के लाभ और चमत्कार सर्वविदित हैं, पर यदि आदतों का मूल्यांकन किया जा सके तो प्रतीत होगा कि उनका वजन मस्तिष्कीय तीक्ष्णता की सम्मिलित उपलब्धियों की तुलना में भी भारी पड़ता है। बुरी आदतें क्षति पहुँचाती हैं, उनकी भरपाई अन्य विशेषताओं से नहीं हो सकती। आलस्य को ही लें, वह देखने में छोटी-सी बुराई है पर उसकी प्रतिक्रिया हर काम को अधूरा, अस्त-व्यस्त और अनकिया हुआ पड़ा रहने के रूप में सामने आती है। फलतः सुयोग्य और साधन सम्पन्न व्यक्ति भी अपनी अकर्मण्यता के कारण पग-पग पर असफल होते हैं। ऐसी बहुमूल्य प्रतिभाएँ जो बहुत कुछ कर गुजरती थीं और अपनी विशेषताओं के कारण चमत्कार कर सकती थीं वे आलस्य और प्रमाद की दलदल में फँसे रहने के कारण अपंग, असमर्थों जैसी दयनीय स्थिति में पड़ी रहीं। इसके विपरीत कर्मनिष्ठ, श्रमशील, नियमित और व्यवस्थित लोग स्वल्प बुद्धि और स्वल्प साधनों की सहायता से ही अभीष्ट प्रयोजनों में तत्परतापूर्वक लगे रहने के कारण उन्नति के उच्च शिखर तक जा पहुँचे। कटु स्वभाव, अधीरता, चटोरापन, नशेबाजी, फिजूलखर्ची जैसी छोटी दीखने वाली आदतें धीरे-धीरे जितनी हानि पहुँचा देती हैं, उतनी भयंकर दुर्घटनाएँ एवं आकस्मिक विपत्तियाँ भी नहीं कर सकतीं। संसार के महामानव परिस्थितियोंवश यशस्वी नहीं हुए हैं और न साधन ही उन सफलताओं के कारण बने हैं। उस प्रकार मनस्विता ने ही उन्हें आगे बढ़ाया है जो आदतों के रूप में चिन्तन तथा क्रिया-पद्धति को उच्चस्तरीय बनाये रही।

स्मरण रहे आदतों का सीधा सम्बन्ध अचेतन मन से है। उनका आरम्भ भले ही भले-बुरे चिन्तन से अथवा अनुकरण से होता है, पर जब वे जड़ जमा लेती हैं फिर उन्हें उखाड़ना कठिन हो जाता है। नशेबाजी के सम्बन्ध में प्रायः यही होता है। दुष्परिणामों को देखते, समझते हुए भी नशेबाज अपनी आदत के सामने एक प्रकार से विवश हो जाता है और छोड़ने की कल्पना-जल्पना करते रहने पर भी कुछ बन नहीं पड़ता। आर्थिक, शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक एवं समाज-सम्मान की अपार क्षति सहन करते हुए वह दम तो तोड़ देता है, पर उस आदत से पिण्ड छुड़ाने में अपने को असमर्थ पाता है। यही बात अन्यान्य भली-बुरी आदतों के बारे में भी कही जा सकती है। हल्की-फुल्की हो तो बात अलग है अन्यथा स्वभाव का अंग बन जाने वाली—गहरी जड़ें जमा लेने वाली आदतें व्यक्तित्व का अंग बन जातीं और प्रगति-अवगति का महत्वपूर्ण कारण सिद्ध होती हैं।

आदतों का केन्द्र अचेतन मन है। उस क्षेत्र को यों सामान्य दृष्टि से उपेक्षित माना जाता है, पर वस्तुतः उसकी बुद्धि संस्थान से भी अधिक बढ़ी-चढ़ी है। विचार तो आदमी क्षणभर में बदल सकता है, पर स्वभाव को बनाना या बदलना उतना सरल नहीं है। चिन्तन का ढर्रा, इच्छाओं का रुझान, विश्वासों का गठन, अभ्यास का पुनरावर्तन जैसे तत्व ही मिलकर स्वभाव का सृजन करते हैं और उसी को व्यक्तित्व के साथ में प्रस्फुटित होते देखते हैं। इस प्रकार अचेतन मन ही वस्तुतः सारे जीवन पर छाया हुआ मिलता है। आदतें तो अचेतन मन में रहती हैं, पर उन्हें पूरी करने के लिए योजना बनाना, व्यवस्था करना एवं समर्थन तर्क गढ़ना, प्रमाण ढूँढ़ना, चेतन मन का काम है। समझने की सुविधा के लिए यह चेतन-अचेतन का विभाजन है वस्तुतः वह एक ही मनःतत्व की दुहरी क्रिया-पद्धति है। एक ही व्यक्ति विद्वान और पहलवान, चित्रकार और साहित्यकार बनता है और नर्तक हो सकता है। देखने में यह क्रियाएँ एक-दूसरे से असम्बद्ध लगती है पर पेड़ में फूल और फल आने की तरह यह दुहरी प्रक्रिया आसानी से चलती रह सकती है। मन वस्तुतः एक है। उसे स्थूल शरीर की सूक्ष्म संचालक शक्ति कह सकते हैं और समझने की सुविधा के लिए बिजली तथा मशीन के सहयोग से चलने वाली फैक्टरी का उदाहरण दे सकते हैं। शरीर को मशीन और मन को बिजली कहा जाय, तो यह उदाहरण ठीक ही होगा।

मन के दो भाग हैं एक अचेतन, दूसरा चेतन । अचेतन का काम आकुंचन-प्रकुंचन, श्वास-प्रश्वास निमेष-उन्मेष, पाचन-विसर्जन, क्षुधा-पिपासा, निद्रा-जागृति जैसी व्यवस्थाएँ जुटाते रहना होता है । तरह-तरह की आदतें तथा आस्थाएँ भी उसी में जड़ जमाये बैठी रहती हैं और अविज्ञात रूप में जीवनक्रम का परोक्ष संचालन करती रहती हैं । चेतन का काम इच्छा, ज्ञान और क्रिया का धारण तथा उनके सहारे आवश्यक व्यवस्थाएँ बनाते एवं जुटाते रहना होता है । आध्यात्म की भाषा में चेतन को बुद्धि और अचेतन को चित्त कहते हैं । इन्हीं दोनों के सहारे जड़ पदार्थों से बना पंच भौतिक शरीर चैतन्य सत्ता की तरह काम करता दीखता है ।

यों शरीर यात्रा के लिए भी प्राण चेतना को बहुत कुछ उपलब्धियाँ ब्रह्माण्ड चेतना से ही मिलती हैं किन्तु जब आत्मिक प्रगति की, चेतना की स्थिति आती है जिसमें मानवी गरिमा को चरितार्थ एवं गौरवान्वित होने का अवसर मिलता हो । भविष्य उज्ज्वल होता हो और महामानवों की पंक्ति में बैठने का सुयोग बनता हो । इस स्तर के विभूतिवान बनने का एक ही उपाय है कि चिन्तन को उत्कृष्ट और चरित्र-कर्तृत्व से आदर्श बनाया जाय । इसके लिए दो प्रयास करने होते हैं, एक संचित कुसंस्कारिता का परिशोधन-उन्मूलन । दूसरा अनुकरणीय अभिनन्दनीय दिशाधारा का वरण, चयन । व्यक्तित्वों में उन सत्प्रवृत्तियों का समावेश करना होता है । जिनके आधार पर ऊँचा उठने और आगे बढ़ने का अवसर मिलता है । कहना न होगा कि गुण, कर्म, स्वभाव की विशिष्टता ही किसी को सामान्य परिस्थितियों के बीच रहने पर भी असामान्य स्तर का वरिष्ठ अभिनन्दनीय बनाती है ।

यह मान्यता अनगढ़ों की है कि वैभव के आधार पर ही समुन्नत बना जा सकता है, इसलिए उसे हर काम छोड़कर हर कीमत पर अर्जित करने में अहर्निश संलग्न रहना चाहिए । सम्पन्नता से मात्र सुविधाएँ खरीदी जा सकती हैं और वे मात्र मनुष्य के विलास अहंकार का ही राई-रत्ती समाधान कर पाती हैं । राई-रत्ती का तात्पर्य है, क्षणिक तुष्टि । उतना जितना कि आग पर ईंधन डालते समय प्रतीत होता है कि वह बुझ चली, किन्तु वह स्थिति कुछ ही समय में बदल जाती है और पहले से भी अधिक ऊँची ज्वालाएँ लहराने लगती हैं । दूसरों की आँखों में चकाचौंध उत्पन्न करने में वैभव काम आ सकता है । दर्प दिखाने, विक्षोभ उभारने के अतिरिक्त उससे और कोई बड़ा प्रयोजन सधता नहीं है । अनावश्यक संचय से ईर्ष्या द्वेष से लेकर दुर्व्यसनों तक के अनेकानेक ऐसे विग्रह खड़े होते हैं जिन्हें देखते हुए कई बार तो निर्धनों की तुलना में सम्पन्नों को अपनी हीनता अनुभव करते देखा गया है ।

उत्कृष्टता के आलोक की आभा यदि अन्तराल तक पहुँचे तो व्यक्ति को नये सिरे से सोचना पड़ता है और अपनी दिशा धारा का निर्धारण स्वतन्त्र चिन्तन, एवं एकाकी विवेक के आधार पर करना पड़ता है । प्रस्तुत जन-समुदाय द्वारा अपनायी गई मान्यताओं और गतिविधियों से प्रयोजन के लिए तनिक भी सहायता नहीं मिलती । वासना, तृष्णा के लिए मरने-खपने वाले नर-पामरों की तुलना में अपना स्तर ऊँचा होने की अनुभूति होते ही परमार्थ के लिए मात्र दो ही मनीषियों का आश्रय लेना पड़ता है । इनमें से एक को आत्मा दूसरों को परमात्मा कहते हैं । इन्हीं को ईमान और भावना भी कहा जा सकता है । उच्चस्तरीय निर्धारणों में इन्हीं का परामर्श प्राप्त होता है । व्यामोह ग्रस्त तो कोढ़ी और संगाथी चाहने वाली बात ही कर सकते हैं । नरक में रहने वालों को भी साथी चाहिए । अस्तु वे संकीर्ण स्वार्थपरता की सड़ी कीचड़ में उन्हीं की तरह बुलबुलाते रहने में ही सरलता, स्वाभाविकता देखते हैं । तदनुसार परामर्श भी वैसा ही देते हैं, आग्रह भी वैसा ही करते हैं । इस रस्साकसी में विवेक का कर्तव्य है कि औचित्य का समर्थन करे । अनुचित के लिए मनचले वालों की बालबुद्धि को हँसकर टाल दे । गुड़ दे सकना सम्भव न हो तो, गुड़ जैसी बात कहकर भी सामयिक संकट को टाला जा सकता है लेकिन बहुधा ऐसा होता नहीं । निकृष्टता का अभाव सहज ही मानव को अपनी ओर खींचता है । किसका परामर्श माना जाय, किसे अपना हितैषी समझा जाय, इसका निर्धारण स्वयं औचित्य-विवेक के आधार पर करना होता है । निषेधात्मक परामर्शों को इस कान सुनकर दूसरे कान से निकाल देना अथवा ऐसा परामर्श देने वाले व्यक्ति के चिन्तन का परिष्कार करना भी

एक ऐसा प्रबल पुरुषार्थ है जो विरलों से ही बन पड़ता है, लेकिन यह सम्भव है क्योंकि मानवी गरिमा उसे सदा ऊँचा उठने, ऊँचा ही सोचने का संकेत करती है । कौन कितना इस पुकार को सुन पाता है, यह उस पर, उसकी मन की संरचना, अन्तश्चेतना पर निर्भर है ।

संतुलित मस्तिष्क की पहचान यह नही है कि वह शिथिलता, निष्क्रियता अपनाये और संसार को माया-मिथ्या बताकर बे सिर पैर की उड़ानें उड़ने लगे । विवेकवान उद्विग्नता छोड़ने पर पलायन नहीं करते । वे कर्तव्य क्षेत्र में अंगद की तरह अपना पैर इतनी मजबूती से जमाते है कि असुर समुदाय पूरी शक्ति लगाकर भी उखाड़ने मे सफल न हो सके । प्रलोभनों और दबावों से जो उबर सकता है उसी के लिए यह सम्भव है कि उत्कृष्टता को वरण करे और आँधी-तूफानों के बीच भी अपने निश्चय पर चट्टान की तरह अडिग रहे । इसके लिए उदाहरण—प्रमाण ढूँढ़ने हो—साथी, सहचर, समर्थक ढूँढने हों तो इर्द-गिर्द नजर न डालकर महामानवों के इतिहास तलाशने पड़ेंगे । अपने समय मे या क्षेत्र में यदि वे दीख न पड़ते हों तो भी निराश होने की आवश्यकता नहीं । इतिहास में उनके अस्तित्व और वर्चस्व को देखकर अभीष्ट प्रेरणा की जा सकती है और विश्वास किया जा सकता है कि महानता का मार्ग ऐसा नहीं है, जिस पर चलने से यदि लालची सहमत न हो तो छोड़ देने की बात सोची जाने लगे ।

वैभववानों की एक अपनी दुनिया है, किन्तु सोचना यह नहीं चाहिए कि संसार इतना ही छोटा है । इसमें एक क्षेत्र ऐसा भी जिसे स्वर्ग कहते हैं । उसमें सत्प्रवृत्तियों का वर्चस्व है और अपनाने वाले जो भी उसमें बसते हैं देवोपम स्तर का वरण करते हैं । दैत्यों के संसार में सोने की लंका बनाने और दस सिर जितनी चतुरता और बीस भुजाओं जैसी बलिष्ठता हो सकती है किन्तु उतना ही सब कुछ नही है । भागीरथों, हरिश्चन्द्रों, प्रह्लादों और दधीचियों जैसी भी एक बिरादरी है । बुद्ध, चैतन्य, नानक, कबीर, रैदास, गाँधी, विनोबा जैसे अनेकों ने उसमें प्रवेश पाया है । दयानन्दों और विवेकानन्दों का भी अस्तित्व रहा है । संख्या की दृष्टि से कमी पडते देखकर किसी को भी मन छोटा नहीं करना चाहिए । समूचे आकाश में सूर्य और चन्द्र जैसी प्रतिभाएँ अपने पराक्रम से संव्याप्त अन्धकार से निरन्तर लड़ती रहती हैं । हार मानने का नाम नहीं लेती । समुद्र में मणि मुक्तक तो जहाँ-तहाँ ही होते हैं, सीपों और घोंघों से ही उसके तट पटे पड़े रहते हैं । बहुसंख्यकों को बुद्धिमान अथवा अनुकरणीय मानना हो तो फिर उद्भिजों की बिरादरी को वरिष्ठता देनी पड़ेगी । यह बहुमत वाला सिद्धान्त मनुष्य समाज पर लागू नहीं हो सकता । श्रेष्ठता ही सदैव जीतती रही है, श्रेय पाती रही है । हमें अपनी दृष्टि नाव के मस्तूल, पर, प्रकाश स्तम्भ पर रखनी चाहिए । इस संसार में निकृष्टता है तो श्रेष्ठता भी अनुपलब्ध नहीं है । मात्र दृष्टिकोण ही है जो हमें उसके दर्शन नहीं करा पाता ।

स्वर्ग में देवता रहते हैं । उनके पास दैत्यों की तुलना में वैभव की कमी होती है । आक्रमण के क्षेत्र में भी पहल उन्हीं की होती है फिर भी गौरव देवत्व के हिस्से मे ही रहा है । वन्दन, अभिनन्दन और अनुकरण भी उन्हीं का होता रहा है । इस क्षेत्र मे प्रवेश करने में किसी को कठिनाई नहीं अड़चन इतनी भर है कि कुसंस्कारिता के चक्रव्यूह से निकलने का प्रयत्न सच्चे मन से किया जाय । इसके लिए आदर्शों की गरिमा समझने की आवश्यकता है । यदि हनुमान और अर्जुन का उदाहरण सामने न रहा—कठिनाइयों की कीमत पर गौरव खरीदने का साहस न उभरा तो क्षणिक आवेश की बबूले जैसी दुर्गति होती फिरेगी ।

सन्तुलित मस्तिष्क का प्रधान गुण है—दूरदर्शी विवेकशीलता । इसके प्रकट होते ही मनुष्य तत्काल की सीमा को तोड़कर भविष्य पर दृष्टि डालता है । किसान, विद्यार्थी, व्यवसायी की तरह पूँजी लगाकर समयानुसार अधिक लाभ उपार्जन का लाभ दीख सकता है । बीज गलता तो है पर इसमें वह कुछ खोता नहीं । भूमि के साथ आत्मसात् होकर उसे देखते-देखते अंकुरित, पल्लवित और फलित होने वाले विशालवृक्ष का सुयोग मिलता है । दूरदर्शिता इससे कम में सन्तुष्ट नहीं होती । उसका अनादिकाल से एक ही परामर्श रहा है—महान के लिए तुच्छ को त्यागा जाय । कामना को भावना पर उत्सर्ग किया जाय । क्षुद्रता का महानता के पक्ष में विसर्जन किया जाय । भक्त को भगवान की प्राप्ति के लिए यही करना पड़ता है । महानता इससे कम मे सधती नहीं ।

जीवन का एक रूप में जिसमें ललक-लिप्सा के लिए आदर्शों को गवाँना पड़ता है और महानता की ओर से मुँह मोड़ना पड़ता है । इतने पर भी यह निश्चित नहीं कि वाँछित कामनाओं की पूर्ति भी हो सकेगी या नहीं । जीवन का दूसरा रूप है, महानता का जिसमें महामानवों ने श्रद्धापूर्वक प्रवेश किया है और देवोपम गौरव और स्वर्ग जैसा सन्तोष सौजन्य का भरपूर रसास्वादन किया है । दोनों में से किसे चयन किया जाय । इसी के निर्धारण में उस सूझ-बूझ का परिचय मिलता है जिसे मनोजयी, धीर-वीर अपनाते और असंख्यों के लिए अनुगमन की पथ-रेखा विनिर्मित करते हैं ।

उत्कृष्ट व्यक्तित्व का एक ही पक्ष है—भौतिक महत्त्वाकांक्षाओं का दमन, न्यूनतम निर्वाह की अपरिग्रह परम्परा का वरण । जिनकी निजी महत्त्वाकांक्षाएँ अभिलाषाएँ, तृष्णा, लिप्साएँ असाधारण रूप से उभरी होती हैं, उनके लिए यह किसी भी प्रकार सम्भव नहीं हो सकता कि वे नीति-नियमों का व्यतिरेक न करें । इसी प्रकार यह भी नहीं बन पड़ता कि समय श्रम या साधनों का उपार्जन से कम उपयोग अपने लिए करें और उस बचत को उच्च स्तरीय प्रयोजनों के लिए नियोजित करें । लिप्सा में भौतिक दोष यह है कि उसकी तृप्ति की कोई मर्यादा नियत नहीं रहती । कभी दूर नहीं होती और अधिक कमाने, जोड़ने, उड़ाने की व्याकुलता उसी अनुपात से बढ़ती चली जाती है । फल यह होता है कि आदर्शवादिता की मात्र उथली चर्चा या खोखली विडम्बना ही बन पाती है । वैसा कोई ठोस प्रयत्न नहीं बन पड़ता जैसा कि उत्कृष्ट जीवन के लिए अपेक्षित है । अतएव निस्पृह जीवन के लिए यह अनिवार्य है कि भौतिक आकांक्षाओं और आवश्यकताओं को उतना नियन्त्रित किया जाय कि वे लगभग औसत नागरिक स्तर तक आ पहुँचे । आत्म-निर्माण का आत्म-परिष्कार का सुनियोजन इससे कम में नहीं बन पड़ता ।

आध्यात्म जीवन जीने की एक शैली है । पूजा उपचार उसके लिए भावनात्मक पृष्ठभूमि बनाने वाले उपचार हैं । उपासनात्मक क्रिया-कृत्यों को याचना, रिश्वत, जेबकटी, बाजीगरी के रूप में जो अपनाते हैं, वे भूल करते हैं । देवताओं को मन्त्र बल से वशवर्ती बनाकर उनसे उचित, अनुचित कुछ करा लेने की दुरभिसन्धि में नियत व्यक्ति जब अपनी दुरभिसन्धियों को भक्ति भावना, योग साधना आदि का नाम देते हैं, तब हँसी रोके नहीं रुकती । बाल-क्रीड़ाओं से यदि ऊँचा उठा जा सके तो आध्यात्म का एक मात्र यही स्वरूप रह जाता है कि व्यक्तित्व को अधिकतम पवित्र, प्रखर एवं उदात्त बनाया जाय । जो क्षमता, विभूतियाँ उपलब्ध है उन्हें सत्प्रवृत्ति सम्वर्द्धन के लिए लगाया जाय । वसुधैव कुटुम्बकम् का आदर्श हर घड़ी सामने रखकर अपनेपन का दायरा इतना बड़ा बना दिया जाय कि आत्मवत् सर्वभूतेषु की प्रतीति होने लगे । दूसरों को बटा लेने और अपने सुख को बाँट देने की उमग इतनी उमगें कि उसे रोक सकने में संकीर्ण स्वार्थपरता कोई व्यवधान प्रस्तुत न कर सके ।

सन्तुलित मस्तिष्क का तात्पर्य भावना रहित बन जाना नहीं है । भले बुरे को एक दृष्टि से देखने जैसी समदर्शिता की दुहाई भी देना भी सन्तुलन नहीं है । बुरे के प्रति सुधार और भले के प्रति उदार रहकर ही सन्तुलन बना रह सकता है । आँखों के सामने तात्कालिक लाभ का पर्दा उठ जाने—शरीर को ही सब कुछ मानकर उसी के परिकर को पोषित करते रहने की मोह-माया ही भ्रान्तियों के ऐसे भण्डार जमा करती है जिन्हें विकृतियों का रूप धारण करते देर नहीं लगती । यही वह आँधी और तूफान है जिसके कारण उठने वाले चक्रवात समस्वरता बिगाड़कर रख देते हैं और ऐसा कर गुजरते हैं जिनके कुचक्र में फँसने के उपरान्त मनुष्य न जीवितों मे रहे न मृतकों में, न बुद्धिमानों में गिना जा सके और न विक्षिप्तों में ।

मलीनताएँ हर कहीं कुरूपता उत्पन्न करती है । गन्दगी जहाँ भी जमा होगी वही सड़न उत्पन्न करेगी । इस तथ्य को समझने वालों को एक और भी जानकारी नोट करना चाहिए कि मनःक्षेत्र चढ़ी हुई मलीनता जिसे मल आवरण का कषाय-कल्मष के नाम से जाना जाता है । अन्य सभी मलीनताओं की तुलना में अधिक भयावह है । अन्य क्षेत्रों की गन्दगी मात्र पदार्थों को ही प्रभावित करती है पर मनःक्षेत्र की गन्दगी न केवल मनुष्य को स्वयं दीन, दयनीय, पतित और घृणित बनाती है वरन् उसका सम्पर्क क्षेत्र भी विषाक्त होता है । छूत की संक्रामक बीमारियों की तरह चिन्तन की निकृष्टता

भी ऐसी है जो जहाँ उपजती है उसका विनाश करने के अतिरिक्त जहाँ तक उसकी पहुँच है वहाँ भी विनाशकारी वातावरण उत्पन्न करती है ।

मानसिक स्वच्छता के लिए जागरूकता बरती जानी चाहिए और विचारणा को श्रेष्ठ कार्यों में, सदुद्देश्य में नियोजित करने की बात सोचनी चाहिए । इसी में दूरदर्शी और सराहनीय विवेकशीलता है ।

## महत्त्वाकांक्षी तो बनें, पर श्रेष्ठता के

मनुष्य की एक मौलिक विशेषता है—महत्त्वाकांक्षा । वह ऊँचा उठना चाहता है, आगे बढ़ना चाहता है । प्रगति के लिए उत्सुक और श्रेय पाने के लिए आतुर रहता है । इस मौलिक प्रवृत्ति को तृप्त करने के लिए कौन, क्या रास्ता चुनता है, किस निर्णय पर पहुँचता है और किन प्रयासों का आश्रय लेता है ? यह उसकी अपनी सूझ-बूझ पर निर्भर करता है ।

यहाँ कहा यह जा रहा है कि प्रवृत्ति को ऐसे सत्प्रयोजनों के साथ नियोजित किया जाय, जिनमें अपना और दूसरों का समान रूप से हित साधन होता हो, प्रतिद्वन्द्विता आवश्यक नहीं । यदि उसके बिना काम न चलता हो, तो स्वस्थ प्रतियोगिता में उतरा जा सकता है और सामान्यजनों की तुलना में अपने को श्रेष्ठ, उत्कृष्ट एवं वरिष्ठ सिद्ध किया जा सकता है । यह क्षेत्र उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता का होना चाहिए । चोर की तुलना में डाकू बनकर वरिष्ठता सिद्ध करना ही हुआ कि कोई पैरों को कुल्हाड़ी से काटे तो उसकी तुलना में दूसरा अग्नि में जलकर अपने बढ़े-चढ़े पराक्रम का परिचय दे । अधिक विनाश करना, अधिक गहरे पतन के गर्त में गिरना नहीं, प्रतिस्पर्द्धा का स्वतन्त्र कार्य क्षेत्र है—सृजन और उत्थान के अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत करना । इसी से प्रतिशोध शमन होता और सौजन्य बढ़ता है ।

किसी भी प्रगति क्षेत्र में कदम बढ़ाने से पूर्व यह सोचा और देखा जाना चाहिए कि इस प्रयास की आरम्भिक उपलब्धियाँ आकर्षक होते हुए भी क्या उसकी अन्तिम परिणति भी श्रेयस्कर है ? तात्कालिक लाभ के लिए भविष्य को गवाँ देना अदूरदर्शिता है । अदूरदर्शिता भी एक अपराधी दुष्प्रवृत्ति है, जिसका परिणाम राजदण्ड के रूप में न सही, आत्मा-दण्ड या ब्रह्म-दण्ड के रूप में भुगतना पड़ता है । तात्कालिक लाभ के लिए दूरगामी हित-अनहित का विचार छोड़ देने वाले प्रायः ऐसे कृत्य करते देखे गए हैं, जिनसे वे न केवल स्वयं विपत्ति में फँसते है, वरन् स्वजन सम्बन्धियों को भी साथ में ले डूबते हैं । इसलिए समग्र सौभाग्य का प्रतीक प्रतिनिधि विवेक को माना गया है । विवेक अर्थात् दूरगामी प्रतिफल का सही अनुमान और तदनुरूप किसान, विद्यार्थी जैसा व्यवस्था निर्धारण । इन कार्यों में आरम्भिक हानि को बीजारोपण जैसी अनिवार्य आवश्यकता माना जाता है और उसके लिए किसी प्रकार का खेद-असमंजस न करते हुए सुखद परिणति को ध्यान में रखा जाता है । यह भूल ही समस्त भूलों की जननी है । इस केन्द्र के साथ गुथी हुई चूक ऐसी है, जो पग-पग पर चूक कराती जाती है । फार्मूला गलत हो, तो अंकगणित, बीजगणित रेखागणित का एक प्रश्न हल नहीं हो सकता, परिश्रम निरर्थक चला जायेगा और दूसरों के सम्मुख उपहासास्पद बनना पड़ेगा । इसलिए गणित प्रयोजनों को हाथ में लेने से पूर्व हल करने में प्रयुक्त होने वाले फार्मूले सही कर लेने चाहिए ।

प्रगति का क्रम स्तर एवं प्रतिफल सही सुखद हो । इसके लिए—हर प्रयोजन के लिए दूरगामी परिणामों पर विचार करना चाहिए और आतुरता से विरत रह कर यह अनुमान लगाना चाहिए कि अन्तिम परिणति क्या होगी । चासनी में पंख फँसाकर बेमौत मरने वाली मक्खी का नहीं, पुष्प का सौन्दर्य विलोकन और रसास्वादन करने वाले भौंरे का अनुकरण करना चाहिए । बया घोंसला बनाती और परिवार सहित सुखपूर्वक रहती है । मकड़ी कीड़े फँसाने का जाल बनाती और उसमें खुद ही उलझ कर मरती है । हमारी विचारणा दूरदर्शी विवेकशीलों जैसी होनी चाहिए, किसी भी दिशा में प्रयास करने से पूर्व उसकी मध्यवर्ती स्थिति और पहुँचने की परिणति का भली-भाँति पर्यवेक्षण कर लेना चाहिए । आकर्षण में मोहान्ध होकर कुछ भी करने लगना भेड़िया-धसान में आँखें बन्द करके चल पड़ना, लगता तो सरल है किन्तु इस मानसिक आलस्य का प्रतिफल अगले ही दिनों दुष्परिणाम प्रस्तुत करने लगता है जो इस सम्बन्ध में जागरूक हैं, उन्हें बुद्धिमान कहना चाहिए । जो पत्ते की तरह प्रवाह में

बहते हैं, वे क्रमशः नीचे उतरते-गिरते और अन्ततः खारी समुद्र में जा पहुँचते हैं और दुर्गति पर पश्चात्ताप करते हैं। यही कारण है कि विवेक को तो सर्वोपरि सौभाग्य माना गया है। कहा गया है कि जिसे वह प्राप्त है, उसके लिए इस संसार में कुछ भी अप्राप्य नहीं है। भगवान का यही प्रमुख वरदान है। स्वर्ग लोक की अधिष्ठात्री महाप्रज्ञा गायत्री इसी को कहा गया है। एक शब्द में इसे उत्कृष्टता की पक्षधर दूरदर्शी विवेकशीलता कहा जा सकता है। जिसे यह उपलब्ध है, उसे भौतिक क्षेत्र की सिद्धियाँ और मन.क्षेत्र की ऋद्धियाँ अनायास ही प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होती रहती हैं। महत्त्वाकांक्षा की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया जाय और प्रगति के उच्च शिखर तक पहुँचने का गौरव अर्जित किया जाय। शर्त एक ही है कि उस निर्धारण में दूरदर्शी विवेकशीलता का समन्वय गम्भीरतापूर्वक किया जाय।

आमतौर से दो ललक सामान्य जनों पर छाई रहती हैं—एक सम्पन्नता की, दूसरी कामुकता की। प्रायः इन्हीं दो प्रयोजनों में जीवन सम्पदा की समूची पूँजी खप जाती है। इतना कुछ बचता ही नहीं जिससे पुण्य-परमार्थ जैसी विभूतियों को कमाया और उसके सहारे अपना तथा समाज का गौरव बढ़ाया जा सके। देखा जाना चाहिए कि क्या सम्पन्नता और कामुकता की उतनी ही महत्ता है, जितनी कि दिग्भ्रान्त दृष्टिकोण द्वारा आँकी जाती है। क्या उनके सहारे उस सुख-सुविधा का रसास्वादन किया जा सकता है, जिनकी कल्पना भ्रान्त धारणाओं के आधार पर सँजोई गई है।

मनुष्य का निर्वाह अत्यधिक स्वल्प साधनों से हो सकता है। उतना उपार्जन कुछ ही घण्टे के सामान्य श्रम से हर किसी के लिए सम्भव है फिर सम्पन्नता अर्जित करने के लिए मनोयोग और श्रम पराक्रम मे इस कदर क्यों खपा दिया जाय, जिसमे मानवी गरिमा के निर्वाह एवं विभूतियो के सम्पादन का सुयोग ही न बन सके। समय हर किसी के पास सीमित है, उसे किसी भी प्रयोजन के लिए लगाया जा सकता है। ललक में दोष यह है कि वह जिस निमित्त लगती है, उसी में सराबोर रहती है। भौतिक आकर्षणों में दोष यही है सम्पन्नता और कामुकता का नशा जिस पर भी छाया रहेगा, उसका मनोयोग एवं श्रम समय ऐसे प्रयोजनों के लिए न तो बचेगा ही और न लगेगा ही, जिससे उत्कृष्टता का श्रेय सम्पादन सम्भव हो सके। कौड़ी मोल हीरा गवाँ देना, इसी को कहते हैं।

शरीर यात्रा के लिए निर्वाह साधनों को जुटाने में किसी को कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। संकट धन कुबेर बनने में खड़े होते हैं। सोने की लंका खड़ी करने में रावण को क्या नहीं करना पड़ा था। हिरण्यकश्यप, वृत्तासुर, जरासन्ध, सिकन्दर जैसे पराक्रमी भी इस क्षेत्र में सन्तोषजनक अर्जन न कर सके और हाथ मलते चले गए। सोचा जाना चाहिए कि औसत नागरिक की तरह निर्वाह साधनों को पर्याप्त मानकर सम्पन्नता की ललक से पीछा क्यों न छुड़ाया जाय? कटौती मे जो समय श्रम बचता है, उसे उच्चस्तरीय महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए पुण्य-परमार्थ में क्यो न लगाया जाय।

स्मरण रहे, औसत निर्वाह से अतिरिक्त सम्पदा संचय अगणित विग्रहों को जन्म देता है। दुर्गुण दुर्व्यसन उन्हीं के खेत में पनपते हैं, जिन्होंने अनावश्यक धनराशि जमा कर रखी है। कम में खर्च चलाने और बचत को ईश्वरचन्द विद्यासागर की तरह परमार्थ के लिए हाथों-हाथ लगाते चलने की नीति ही सर्वोत्तम है। ठाठ-बाट बनाने से ईर्ष्या भड़केगी और असंख्य विग्रह खड़े होंगे। उत्तराधिकारियों की मुफ्तखोरी के लिए विपुल धनराशि छोड़ मरने का सीधा साधा अर्थ है, उन्हें हर दृष्टि से तबाह कर देना। परिवार को स्वावलम्बी सुसंस्कारी बनाने का कर्तव्य पालन ही पर्याप्त है। मोहवश उन्हे विलासी बनाना अथवा बैठे-ठाले गुलछर्रे उड़ाने की लानत लाद देना प्रकारान्तर से अपंग या विक्षिप्त बनाकर रख देने की कुचेष्टा है। यह स्नेह प्रदर्शन नहीं, उनका भविष्य बिगाड़ देने वाला अभिशाप ही सिद्ध होता है।

कामुकता की दिशा में बढ़ती हुई महत्त्वाकांक्षा, अनेकानेको के साथ सम्पर्क साधने के लिए मचलती है। वर्तमान समाज अनुशासन, गृहस्थ निर्धारण के अन्तर्गत यह सम्भव नही। पशु वर्ग में भी मादा के प्रस्ताव पर ही उत्साह उभरता है। फिर उनमें बलिष्ठता की प्रमुखता रहती है। ऐसे अनेक कारण हैं, जिससे स्वेच्छा रमण किसी नर-नारी के लिए सम्भव नही। आतुर कामनाओं की पूर्ति न बन पड़ने पर निराशा

और खीझ उत्पन्न होती है, जिनके कारण तनाव बढता है, मन उचाट रहता है, स्वेच्छाचारी चिन्तन अपनाने पर अन्यान्य नैतिक सामाजिक मर्यादाओ का अनुशासन शिथिल पड़ता है । फलतः अवांछनीय कृत्यो अपराधों के लिए स्थान बढ़ता है । बहिन-भाई, पिता-पुत्री, माता-बच्चे के पवित्र सम्बन्धों का व्यतिक्रम करने पर व्यभिचारी चिन्तन को छूट मिलती है । जबकि देव संस्कृति में ग्रहणी को भी धर्म-पत्नी सहचरी, सहधर्मिणी आदि नामों से सम्बोधित किया गया है ।

वंश वृद्धि की प्रकृति प्रेरणा से यौनाचार में आकर्षण तो है, पर वैसा उत्साह उभरना मात्र प्रजनन का निमित्त कारण होना चाहिए, उसे कौतूहल या मनोरंजन की तरह प्रयुक्त नहीं किया जा सकता । अतिवाद बरता जायेगा तो शारीरिक, मानसिक दुर्बलता बढ़ेगी और असमय बुढ़ापे का अनुभव होगा ।

नर-नारी में यौन संरचना की दृष्टि से राई-रत्ती अन्तर तो है, पर वह ऐसा नहीं, जिसके कारण किसी को किसी का वशवर्ती होना और नागरिक अधिकारो से वंचित रहना पड़े । दोनों मनुष्य हैं । दोनों को मनुष्यों के समान कर्तव्य, उत्तरदायित्व निबाहने चाहिए और मिल-जुलकर प्रगति के साधन जुटाने चाहिए । इस स्वाभाविकता को कामुकता बेतरह नष्ट-भ्रष्ट करती है । विलास साधनों की तरह समर्थ का अपने कब्जे में असमर्थ पक्ष को खींच कर रखने की आवश्यकता मनमाने उपभोग के लिए पड़ती है । यह विशुद्ध अवांछनीयता है । यौनाचार की अतिवादिता के फलस्वरूप अधिक बच्चे उत्पन्न होते हैं, जो आज की स्थिति मे हर दृष्टि से अवांछनीयता है ।

कामुकता एक प्रकार का मानसिक उन्माद है, जिसमे प्रतिपक्ष की माँसलता रमण चेष्टा की कुकल्पनाएँ मस्तिष्क में आवेश बनकर भ्रमण करती रहती है । फलस्वरूप वह तन्त्र इस प्रकार अस्त-व्यस्त हो जाता है, जिसमें किसी उचस्तरीय चिन्तन के लिए आवश्यक एकाग्रता जुट सकने जैसी स्थिति ही नहीं रहती । कामुक चिन्तन से उत्पन्न चंचलता एक आदत बन जाती है । फलतः उस स्तर के व्यक्ति विज्ञान, साहित्य, शोध जैसे गम्भीर चिन्तन से सम्बन्धित कार्यो के लिए मानसिक तीक्ष्णता गवाँ बैठते हैं । कामुकता भड़काने वाले चित्र छाप कर व्यवसाय-विज्ञापन का प्रयोजन पूरा करना बुरी बात है । विशेषतया नारी समाज का इसमें प्रत्यक्ष अपमान है । इस प्रकार उसकी स्वाभाविक गरिमा छीनी और कामिनी की कुत्सा, थोपी जाती है ।

शालीनता के रहते हर परिवार में युवा नर-नारी भी साथ-साथ रहते हैं । उनके बीच पवित्र रिश्ते निभते हैं, फिर क्या कारण है कि घर के बाहर की बात सोचते ही उन मर्यादाओं का व्यतिक्रम होने लगे । नैतिक अतिक्रमण की दिशा में उठने वाले चरण एक के बाद दूसरे का क्रम अपनाते हुए, अन्ततः उस अनुशासन की जड़ें खोखली करते हैं, जिन पर कि मानवी गरिमा, प्रगति और सुख-शान्ति के आधार खड़े हुए हैं । अच्छा हो हमारी प्रवृत्ति कामुकता की ओर से मुड़े और पारिवारिकता से जुड़े । पारिवारिकता और कलाकारिता की दो उच्चस्तरीय सरसताएँ ऐसी है, जिनका रसास्वादन यदि मिलने लगे तो कामुकता की ललक सहज ही शिथिल पड़ने लगेगी । जिस प्रकार सम्पदा की लिप्सा से विरत होकर मनुष्य नीतिवान् एवं परमार्थी बन सकता है । उसी प्रकार कामुकता पर नियन्त्रण होते ही उदार शालीनता निखरने लगती है ।

अहंता का परिपोषण शोभा, अमीरी, बलिष्ठता या आतंक प्रदर्शन के माध्यम से होता है । यह जंजाल बहुत महँगा और प्रवंचनापूर्ण है । चकाचौंध उत्पन्न करने के लिए अकारण छद्‌म बरतने और पाखण्ड रचने पड़ते है । अहंता जताने में ईर्ष्या भड़कती है । दूसरो को छोटा या मूर्ख सिद्ध किया जाने पर वह अपना अपमान अनुभव करता है और अवसर मिलते ही प्रतिशोध का डंक मारता है । सजधज पर व्यभिचार का और वैभव पर बेईमानी का आरोपण होता है । जिस प्रकार अनावश्यक सम्पदा जमा करने पर हजार विग्रह खड़े होते है, ठीक उसी प्रकार अहंकारी के अकारण शत्रु बढ़ते जाते हैं ।

उदर पूर्णा एवं परिवार व्यवस्था पर जितना समय और धन खर्च होता है । औसतन उतना ही अकारण अहंकार प्रदर्शन में खर्च हो जाता है । शादियों, पार्टियों में होने वाले खर्च को इसी मद में जोड़ा जाना चाहिए । फैशन तो विशुद्ध रूप से इसी विडम्बना की देन है । दूसरो की वाहवाही लूटने के लिए बुने गए जाल जंजाल से यदि पर्दा उघाड़ कर देखा जाय तो व्यंग, उपहासों से भरा होता है । ऐसे लोग ओछे, बचकाने, छोटे, उद्धत समझे जाते है और ललक के सर्वथा विपरीत विज्ञजनों की आँखो में गिरते चले जाते हैं । उनकी उपयोगिता एवं प्रामाणिकता तक संदिग्ध होती चली

जाती है । इन तथ्यों से यदि कोई गम्भीरतापूर्वक अवगत हो सके, तो 'सादा जीवन उच्च विचार' की नीति ही बुद्धमत्ता पूर्ण प्रतीत होगी ।

आम आदमी की तीन चौथाई सामर्थ्य, सम्पन्नता, कामुकता एवं अहंता की खाई खोदने और पाटते रहने में ही खप जाती है । तथ्यतः यह तीनों अनावश्यक ही नहीं अहितकर भी हैं । इनमें शक्तियों का अपव्यय ही नहीं, वरन् ऐसी अनुपयुक्त प्रतिक्रियाएँ भी उत्पन्न होती हैं । जिनमें भौतिक हानि और आन्तरिक ग्लानि असाधारण मात्रा में सहन करनी पड़ती है । जिस ओछी वाहवाही की अपेक्षा की गई थी, वस्तुतः वह और भी अधिक दूर हटती जाती है । इस भूल को यदि सुधारा जा सके, संयम और सादगी को शालीनता का अविच्छिन्न अंश माना जा सके, तो इतने भर से विपन्न दीखने वाली परिस्थितियों का कुहासा पूरी तरह छँट सकता है ।

वितृष्णा और व्यामोह के भव-बन्धनों से यदि छुटकारा मिल सके, तो दृष्टिकोण में स्वर्ग तैरता दिखाई पड़ेगा । इन्हीं तीन दुष्प्रवृत्तियों को हथकड़ी बेड़ी और तौक के नाम से भवबन्धन के रूप में चित्रित किया गया है । इनसे छुटकारा मिल सके तो समझना चाहिए जीवित रहते ही मुक्ति मिल गई । इसी स्थिति को सन्त कबीरदास जी ने सहज समाधि कहा है ।

दूरदर्शी विवेकशील इन त्रिविध नाग-पाशों से छुटकारा पाने और उज्ज्वल भविष्य का निर्धारण करने के लिए पुण्य परमार्थ के निमित्त परिपूर्ण उत्साह संकल्प और साहस के साथ अग्रसर होते हैं । ऐसे लोग ही धरती के देवता हैं उनकी उच्चस्तरीय महत्त्वाकांक्षाओं में से हर एक पूर्ण होकर रहती हैं । फलतः वे सदा सुखी, सन्तुष्ट दिखाई पड़ते हैं ।

## जीवन-सम्पदा का सुनियोजन आज का युगधर्म

स्व-उपार्जित धन-वैभव और ईश्वर प्रदत्त श्रम-समय का उपयोग शत-प्रतिशत शरीर सुविधा में ही नियोजित रहने लगे तो समझना चाहिए कि आत्म-पोषण का द्वार बन्द हो गया । ऐसी दशा में अन्तर्निहित देवत्व को भूख-प्यास से तड़पने जैसी स्थिति में पड़े रहना पड़ेगा । शरीर जीये, पर आत्मा न मरे, ऐसा सुयोग बन सके तो समझना चाहिए कि बुद्धिमत्ता काम आई । दूरदर्शिता को उपयोगिता दी गई । यह जीवन की सर्वोपरि समस्या है । दैनिक प्रयोजनों में आये-दिन कई उतार-चढ़ाव सामने आते हैं । उनका महत्व राई-रत्ती जितना है । राई को पर्वत और पर्वत को राई की तरह नहीं आँका जाना चाहिए । आये-दिन सामने आने वाली समस्याएँ अपने समाधान माँगती हैं और विवेक एवं पौरुष की जाँच-पड़ताल करने के बाद इधर या उधर लुढ़क जाती हैं । जिसका जितना महत्त्व है उसे उतना मान मिलना चाहिए । तिल का ताड़ नहीं बनाया जाना चाहिए ।

सर्वोपरि महत्त्व की समस्या एक ही है । उसी पर पूरी तरह अपना वर्तमान और भविष्य अवस्थित है । वह है—जीवन सम्पदा का सही सदुपयोग करा सकने वाला निर्धारण । जिसने इस गुत्थी को सुलझा लिया, समझना चाहिए कि उसकी प्रायः सभी साधारण समस्याएँ अनायास ही हल हो गईं । जीवन अजस्र सौभाग्य की तरह मिला है । इसका महत्त्व समझा जाना चाहिए और सार्थकता का उपाय खोजा जाना चाहिए । यों फिजूलखर्ची और बर्बादी हर वस्तु की बुरी मानी जाती है पर यदि जीवन सम्पदा के बारे में उस मूर्खता का उपयोग हुआ तो समझना चाहिए कि अनर्थ ही हो गया । ऐसा अनर्थ, जिसका भूल सुधार समय निकल जाने के उपरान्त किसी भी प्रकार सम्भव नहीं हो सकता ।

मनुष्य इस सृष्टि का मुकुटमणि है । तद्नुरूप ही उसे गौरव और वर्चस्व भी मिला है । उसके उपकरण एवं साधन न केवल असीम हैं वरन् उच्चस्तरीय भी हैं । इनका उपयोग भी यदि उसी प्रक्रिया में होता रहे जिसे कृमि कीट अनायास ही सम्पन्न करते रहते हैं, तो फिर समझना चाहिए कि हीरा घुमची के बदले बेच दिया गया, चन्दन को जलाऊ लकड़ी की तरह प्रयुक्त किया गया । पेट और प्रजनन का ताना बुन लेने जितनी कुशलता क्षुद्र स्तर के जीवधारियों को भी प्राप्त है । इसी कोल्हू में यदि मनुष्य भी पिसता रहा तो समझना चाहिए कि राजगद्दी के समय वनवास मिलने जैसी दुर्घटना घटित हो गई । यदि मनुष्य इतनी छोटी परिधि में जीये इसी कुचक्र में कोल्हू का बैल

बना रहे तो समझना चाहिए कि उपलब्ध गरिमा का श्राद्ध तर्पण हो गया ।

मनुष्य महान है । महान का ज्येष्ठ पुत्र—युवराज है । इसलिए स्वभावतः उसका उत्तरदायित्व भी महान है । उसकी उपेक्षा-अवज्ञा इसलिए नहीं होनी चाहिए कि लोभ-मोह के जाल-जंजाल में उलझे रहने के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं । महान प्रयोजनों की ओर ध्यान दिया ही नहीं जाता । हेय योनियों से ऊपर उठकर मनुष्य स्तर तक पहुँचने पर मंजिल पूरी नहीं हो जाती । अभी महामानवों, ऋषियों, सिद्ध पुरुषों, देवात्माओं और अवतारों की पदोन्नति के अनेकों अवसर विद्यमान हैं, उन सबसे मुख मोड़कर ललक लिप्सा की कीचड़ ही नहीं चाटते रहना चाहिए ।

विश्व उद्यान को अधिकाधिक सुरम्य, समुन्नत, सुव्यवस्थित बनाने की जिम्मेदारी मात्र मनुष्य की है । आदिम युग से लेकर अब तक के इतिहास में उसी की गरिमा का बोलवाला है । ऊवड़-खाबड़—खाई-खड्डों वाली इस कानी कुबड़ी धरती को चित्र जैसी सुन्दर कलाकृति के रूप में परिणत करने में उसकी सूझ-बूझ और तत्परता ने महती भूमिका निभाई है पर अभी समग्र प्रयोजन पूरा कहाँ हुआ, जो करना शेष है, जितना कराना बाकी है वह कहीं अधिक है । विगत की तुलना में आगत अधिक भारी है । उस जिम्मेदारी का वहन भी उसी को करना पड़ेगा ।

मनुष्य भी स्वभावतः वनमानुषों की बिरादरी का है । मानवी चेतना के विकास की अगणित मंजिलें पूरी हुई हैं । आदिम काल में न भाषा थी न लिपि, न वस्त्र थे न उद्योग । शिक्षा, चिकित्सा, परिवहन, संचार, शिल्प विज्ञान, कला जैसे प्रसंगों से नर वानरो का भला क्या सम्बन्ध रहा होगा । यह मानवी सूझ-बूझ ही है कि उसने परिवार, संस्थान, समाज और शासन का ढाँचा खड़ा कर दिया । नीति, दर्शन, आचरण और अनुशासन का ऐसा तन्त्र खड़ा किया कि मनुष्य को सभ्यता का दावेदार और सुसंस्कारिता का धनी कहा जा सकता है । इसमें ईश्वर की अनुकम्पा के उपरान्त यदि किसी की सराहना हो तो इसके लिए मनुष्य द्वारा चेतना क्षेत्र में प्रस्तुत की गई भूमिका को ही श्रेय दिया जायेगा ।

सुविधा सम्वर्धन और भावनात्मक परिष्कार के दो रचनात्मक क्षेत्र तो मानवी पुरुषार्थ को भाव भरे निमन्त्रण देते हैं । समय की चुनौती भी वरिष्ठता को झकझोरती है । इसके अतिरिक्त संव्याप्त विकृतियों की गन्दगी भी कम विषमता उत्पन्न नहीं कर रही है । अनाचार का प्रदूषण वातावरण में इतनी घुटन भर रहा है कि साँस लेते न बन पड़े । इससे जूझना एक तीसरा मोर्चा है, जिससे लड़ने के लिए भी मनुष्य को ही प्रत्यंचा चढ़ानी और तुम्बीर की फेंट बांधनी पड़ेगी । सर्वनाश की विषम विभीषिका में इस महाभारत के लिए गाण्डीवधारी को नियति ने आह्वान भेजा है । युगधर्म के निर्वाह से इन्कार करने की बात उनसे नहीं बन पड़ेगी जिनमें मानवी गरिमा के अनुपम ओजस् विद्यमान हैं ।

मनुष्य पेड़ नहीं है । उसकी सत्ता शिश्न के लिए समर्पित नहीं हो सकती । निर्वाह का तिल, लालच का पर्वत बन पड़े ऐसा भी क्या ? परिवार एक हँसता-हँसाता उद्यान है उसे भव-बन्धन बनाकर क्यों रखा जाय ? समाज के साथ जुड़कर उदात्त विशालता का अभ्यास किया जाता है । उनमें भेड़ियों जैसा परस्पर फाड़ खाने का प्रचलन, क्यों बढ़े ? करने योग्य वह नहीं है जो किया जा रहा है, सोचने योग्य वह नहीं है जो सोचा जा रहा है । मानवी गरिमा का न अस्त होना चाहिए और न अन्त होने जैसी विपन्नता से आक्रान्त होना चाहिए ।

तब करना क्या है ? इसका उत्तर एक ही है कि हममें से हरेक मानवी गरिमा का स्मरण करे । देखें कि उसके लिए गूलर का भुनगा, कुएँ का मेढक बनकर संकीर्णता की चाहरदीवारी में बैठा रहना ही पर्याप्त है या इससे आगे की भी कुछ बात हो सकती है । विचार की आवश्यकता ही न समझी जाय तो बात दूसरी है अन्यथा गहराई में उतरने पर हर सीढ़ी एक भाव-भरी प्रेरणा प्रस्तुत करती दिखाई देगी । नव-परिवर्तन के प्रभात पर्व पर उसे विशेष रूप से अपने महान उत्तरदायित्वों का स्मरण करना चाहिए और जो सम्भव हो उसके लिए अधिकाधिक साहस जुटाना चाहिए ।

कौन क्या करे ? यह निर्धारण अति सरल है । अपनी मनःस्थिति और परिस्थिति के अनुसार नवसृजन की त्रिवेणी की किसी भी धारा में स्नान अवगाहन करने लगें । सुव्यवस्था, स्वच्छता और शालीनता के

तीन मोर्चों में से किसी पर भी, तीनों पर भी जूझने का उपक्रम बन सकता है । अभाव, अज्ञान और अनाचार के त्रिविध असुर—महिषासुर, भस्मासुर और वृत्तासुर की तरह आलस्य, अहंकार और अनाचार की तरह अपनी दुर्दान्त दुष्टता का परिचय दे रहे हैं । ऐसे आपत्तिकाल में किसी भी जीवन्त को मूकदर्शक बनकर हाथ-पर-हाथ रखकर बैठे रहना अशोभनीय होगा । तिनके की आड़ में पर्वत नहीं छिपाना चाहिए । मनुष्य न विवश है, न पराधीन, न दुर्बल । आत्म-विस्मृति ही उस अभिशाप की तरह चढ़ दौड़ती है और राजा को रंक जैसी अनुभूति कराती है । जिस कच्चे धागे में गजराज को बांध रखा है वह लोहे का रस्सा नहीं है । पूँछ हिलाने, कान फड़फड़ाने भर से इधर-उधर किया जा सकता है ।

इस प्रयास का शुभारम्भ कैसे हो ? इसके लिए पट्टी पूजन की तरह छोटा श्री गणेश भी किया जा सकता है और एकाकी बड़ा साहस न बन पड़ने पर बच्चे की भाँति उँगली पकड़कर चलना भी सीखा जा सकता है । सब कुछ या कुछ नहीं वाली अतिवादिता कोई रास्ता नहीं निकालती वरन् असमंजस खड़ा करती है ।

युग निर्माण की सदस्यता में न्यूनतम शर्त जुड़ी हुई है कि नित्य नियमित रूप से दस पैसा ज्ञानघट में डाले जायें और एक घण्टा समय जन-सम्पर्क द्वारा युगान्तरीय चेतना के आलोक वितरण में लगाया जाय । ईमानदार सदस्यों में से प्रत्येक उसका निर्वाह नियमित रूप से कर रहा है । आलसी और अश्रद्धालु ही आना-कानी करते हैं । यह निर्धारण उद्देश्यपूर्ण था । जागृत आत्माओं को अपनी वरिष्ठता बकवास से नहीं सेवा साधना से प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत करते हुए सिद्ध करना चाहिए । स्व-उपार्जित धन और ईश्वर प्रदत्त समय के दोनों ही वैभव ऐसे हैं जिन्हें धरोहर माना जाय और सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन के लिए सदाशयतापूर्वक वापस लौटाया जाय । संक्षेप में यही है—प्रज्ञा परिवार की सदस्यता की पात्रता और वफादारी सिद्ध करने के लिए अनुदान प्रस्तुत करते रहने में आना-कानी न की जाय । परिमाण चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो पर उसका संकल्प तो उठे, अभ्यास तो बने, स्मरण तो रहे, उदारता की कली तो खिले, योगदान की उमंग तो जगे ।

अब समय बहुत आगे बढ़ गया । सैंतीस वर्ष पुराने उन संकल्प शिशुओं में प्रौढ़ता प्रकट होनी चाहिए और अनुदान का स्तर बढ़ना चाहिए । दस पैसा माँगने वाला नवजात शिशु अब एक महीने में एक दिन की आजीविका से कम में अपनी आवश्यकता की पूर्ति नहीं देखता । यह आर्थिक कठिनाई का नहीं आस्था की प्रौढ़ता का प्रश्न है । उन्तीस दिन की कमाई में भी महीना कट सकता है । इस कटौती में तीन प्रतिशत का अंशदान निकलता है । प्राचीनकाल में प्रत्येक भावनाशील अपनी आजीविका का दशांश पुरोहित के हाथ में धर्म-प्रयोजन के लिए निकालता था और उसमें कृपणता को किसी भी कारण व्यवधान उत्पन्न नहीं करने देता था । अब आवश्यकता तो हरिश्चन्द्र और भामाशाहों जैसी उदारता की है पर उतना न बढ़े पर तीन प्रतिशत की बात तो सोचना ही चाहिए अन्यथा नवसृजन की इतनी विशालकाय योजना जिसके साथ ४५० करोड़ मनुष्यों का भाग्य और भविष्य जुड़ा हुआ है किस प्रकार अपने लक्ष्य तक पहुँच सकेगी । स्मरण रहे, ध्वंस से सृजन महँगा पड़ता है । सर्वतोन्मुखी नव-निर्माण में भी तो आखिर कुछ न कुछ लगेगा ही । उसकी पूर्ति कहीं अन्यत्र न होते देखकर जागृत आत्माओं को ही अपनी रोटी पर कैंची चलानी चाहिए और उस बचत की श्रद्धांजलि युग चेतना की झोली में प्रस्तुत करना चाहिए ।

सृजनात्मक प्रवृत्तियों में सद्भाव सम्पन्नों का श्रम, समय प्रचुर मात्रा में लग सके इसका प्रबन्ध बिना देर लगाये इन्हीं दिनों होना चाहिए । प्रतीक-टोकन की तरह एक घण्टा आरम्भिक स्थापना में अब कई गुनी अभिवृद्धि होनी चाहिए । बीस घण्टे में निर्वाह साधन जुटाये जा सकते हैं । बचत के ४ घण्टे इस निमित्त नियोजित होने चाहिए कि उस आधार पर लोकमानस के परिष्कार एवं सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन से सम्बन्धित अनेकानेक रचनात्मक कार्यों का बीजारोपण "परिपोषण" अभिवर्धन सम्भव हो सके । भागीरथी, तप-साधना से ही स्वर्गस्थ गंगा को भूमि पर बहने और संव्याप्त पिपासा और शीतलता, सरलता से परितृप्त करने का सुयोग बना था । इन दिनों फिर से विश्वकर्माओं की जरूरत पड़ रही है जो टूटी सुदामापुरी को भव्य भवनों में बदले ।

श्रम समय के नियोजन से ही इस संस्कार का वह स्वरूप बना है जैसा कि सामने है । इसे विकृत बनाने में तथाकथित बलिष्ठों और शिष्टो ने कोई कमी नहीं रहने दी है । अपने युग में समर्थों, सुयोग्यों की यही देन है । नई बारी उनकी है जो प्रतिभा के धनी नहीं हैं, किन्तु विश्व मानव की सुसंस्कारिता अक्षुण्ण रखने के लिए प्रयत्नशील है । ऐसे भाव-निष्ठों को अपने समय में कटौती करनी चाहिए । आपत्तिकाल में खाना, सोना छोड़कर भी दुर्घटनाओं से निपटने में जुटा जाता है । इन दिनों इसी स्तर की उदार तत्परता बरती जानी चाहिए । जो जितना समय बचा सके उसे इसी सृजन प्रयोजन के लिए प्रस्तुत करे । जो सच्चे मन से इसके लिए प्रयत्नशील होंगे वे बीस घण्टे अपने लिए और चार घण्टे युगधर्म के लिए निकाल ही सकेंगे, इसमें सन्देह की गुंजाइश नहीं है ।

## जीवन सम्पदा का स्वरूप और सदुपयोग

इस विश्व ब्रह्माण्ड की अजस्र शक्ति और सम्पदाओं में से जीवात्मा के हिस्से में जो सर्वोपरि उपहार आता है उस वैभव को मनुष्य जीवन कहा जा सकता है । दृष्टि पसार कर देखने पर प्राणी के लिए इससे बड़ी उपलब्धि और कुछ हो ही नहीं सकती । अन्य जीवधारियों को जो काय-कलेवर मिला है उससे प्रकृति की इच्छा ही पूरी होती है । आत्मा या परमात्मा को कोई प्रसन्नता की या सम्भावना की आशा नहीं रहती । क्योंकि उन शरीरों की क्षमता मात्र इतनी ही है कि निर्धारित आयुष्य को पूरा करने के लिए अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति भर करते रह सकें ।

शरीर के लिए आहार—आहार के लिए श्रम—श्रम की प्रेरणा भूख से यह प्राणि-जगत की हलचलों का एक प्रयोजन है । दूसरा है—वंश रक्षा । प्रकृति चाहती है धरती प्राणियों से रहित न रहे । मरण की तरह जन्म की प्रक्रिया भी चलती रहे । इस कष्ट-साध्य कार्य का दबाव पड़ता है । इस व्यर्थ के कष्टकर झंझट को कोई क्यों वहन करे । इस उलझन को सुलझाने के लिए मनःक्षेत्र में एक ऐसी उमंग उत्पन्न की गई जिससे प्रेरित होकर प्राणी यौन-कर्म की ओर आकर्षित हो और परिवार बढ़ाये । यही है दो प्रयोजन जिनमें हर वर्ग और स्तर के प्राणी निरत पाये जाते हैं । इन्हीं दो उपक्रमों में उनकी जीवनचर्या घड़ी के पेण्डुलम की तरह झूले-झूलती रहती है । इन दोनों के लिए हर प्राणी में सामर्थ्य एवं कुशलता है । न इससे कम न अधिक ।

मनुष्य जीवन इस सामान्य की तुलना में कहीं अधिक असामान्य है । उसे ऐसी काय-संरचना तथा बुद्धि सम्पदा उपलब्ध है जिसके सहारे वह आगे की सोच सकता है और ऊँचा उठ सकता है । काया की संरचना भी ऐसी है जिसे न केवल असामान्य प्रयोजन के लिए प्रयुक्त किया जा सके वरन् कला-कौशल के ऐसे भाव-सम्वेदन भी हस्तगत कर सके जिसमें अन्तःकरण प्रफुल्लता से भर सके । अपना बहुमुखी हित साधन हो सके और उपलब्धियों का लाभ असंख्यों को वितरण करके कृत-कृत्य हो सके ।

मनुष्य ही है जिसने भाव-सम्वेदना एवं निर्धारण की क्षमता को सुसंस्कृत सुनियोजित बनाकर अपनी आन्तरिक गरिमा को उच्चस्तरीय बनाया है । महामानव से लेकर नर-नारायण बन सकने जैसी विभूतियों को करतल किया है । प्रसुप्त क्षमताओं को जाना, उभारा और लाभ उठाया है । शरीर की इन्द्रिय तृप्ति सर्वविदित है, किन्तु मनुष्य ही है जिसने भाव-सम्वेदना को परिष्कृत करके सन्तोष, आनन्द, उत्साह, उमंग जैसी अदृश्य भाव-सम्वेदनाओं से अपने आपको देवोपम बनाया है । स्वर्ग और मुक्ति उसकी अपनी उपलब्धियाँ हैं । तृप्ति, तुष्टि और शान्ति का आनन्द वही लेता है । श्रद्धा, प्रज्ञा और निष्ठा के कारण भाव-विभोर रहने और गर्व-गौरव अनुभव करने का अवसर उसी को मिला है । जबकि अन्यान्य प्राणी मात्र पेट प्रजनन के निमित्त कुछ करने और कुछ पाने का ही उथला-सा आनन्द ले सके ।

मनुष्य ही है जिसने प्रकृति को मथ डाला और उसके अन्तराल में गहरी डुबकी लगाकर रहस्यमयी रत्न-राशि पर कब्जा जमाया । प्रकृति ने हर प्राणी को उसके निर्वाह भर के अनुदान दिए हैं । शेष को किन्हीं अविज्ञात प्रयोजनों के लिए अपनी रहस्य भरी तिजोरी में सात तालों के भीतर छिपा रखा है । मनुष्य ने चाबी ढूँढ़ी और रहस्य भरे वैभव का भारी मात्रा में माल-असबाब अपने कब्जे में कर लिया ।

अभी भी उसका प्रयास यह है कि प्रकृति को नंगी करके छोड़े और उसकी समूची सम्पदा हस्तगत करके सृष्टा न सही अधिष्ठाता—अधिकारी कहाने का श्रेय तो प्राप्त कर ही ले। पौराणिक युग के रावण, वृत्तासुर, हिरण्यकश्यप, भस्मासुर, मारीच, सहस्रार्जुन आदि आज के मनुष्य की तुलना में बहुत पीछे रह गए हैं।

यह हैं मानवी उपलब्धियाँ। आत्मिक क्षेत्र का उसे बृहस्पति और भौतिक क्षेत्र का शुक्राचार्य दोनों का समन्वय कहा जाय तो कुछ भी अत्युक्ति न होगी। यह उस विश्वमानव का, समष्टि मानव का स्वरूप है जिसकी उपलब्धियों की मुक्त कण्ठ से सराहना करनी पड़ेगी। यों उसका एक विनाशकारी पक्ष भी है जिसमें उपलब्धियों के दुरुपयोग की दुःखद दुर्घटना भी सम्मिलित है। ऐसी दुर्घटना जिसके कारण वह स्वयं पिछड़ी, पतित और कष्टकर स्थिति में फँसा और समूचा वातावरण विषाक्त बनाकर रख दिया। अवांछनीय आकांक्षा और आदतों को अपनाकर जिस दुर्गति का वरण किया है उसे देखते हुए कई बार आश्चर्य होता है कि क्या यही मनुष्य है जिसने आत्मिक विभूतियों और भौतिक सिद्धियों का आश्चर्यजनक वैभव अर्जित करने में सफलता पायी।

ऊपर की पंक्तियों में जो कुछ भी ऊहापोह किया जा रहा है वह मनुष्य जीवन की समर्थता एवं सम्भावना की एक उथली-सी झाँकी है। मनुष्य जन्म सचमुच ही इतना बड़ा दैवी उपहार है जिसकी तुलना में अधिक मूल्यवान इस समूचे संसार में और कुछ मिल सकना कठिन है। मानवी सत्ता की वरिष्ठता को खोजने में यदि बढ़ते ही चला जाय तो वहाँ पहुँचना पड़ेगा जहाँ उसने ईश्वर की, देवताओं-तत्वदर्शन की, कला-कौशल की, धर्म-शासन की, भौतिकी-आत्मिकी की, शिक्षा-चिकित्सा की तथा और भी न जाने किस-किस की सृष्टि की है। ब्रह्माण्ड का स्रष्टा तो परमात्मा ही है, पर इस सृष्टि में जो कुछ भी शोभा-सज्जा, प्रगति एवं प्रसन्नता दिखाई पड़ती है, उसे प्रकारान्तर से मनुष्य का ही अर्जन-उपार्जन कहना चाहिए। इस सबका श्रेय मनुष्य के सर्व समर्थ जीवन को है। उसकी अनन्त सम्भावनाओं में से अभी कुछ ही चरितार्थ हुई हैं, जिनका प्रकटीकरण शेष है उनकी तो कल्पना करने भर से रोमांच हो उठता है।

असमंजस इस बात का है कि इतना समर्थ, इतना विशिष्ट होते हुए भी मनुष्य को इन दिनों ऐसी दुर्गति का सामना करना पड़ रहा है जिसमें शरीर दुर्बलता, रुग्णता से ग्रसित होकर आमतौर से अकाल मृत्यु का वरण करता है। मानसिक दृष्टि से तनाव, असन्तोष, खीज, भय, आशंका, चिन्ता, आक्रोश, जैसी उद्विग्नताओं के कढ़ाव में उबलता रहता है। जिस अद्भुत मन.संस्थान से हर घड़ी प्रसन्नता, प्रफुल्लता झरती रहनी चाहिए, उस पर श्मशान जैसी वीभत्स जुगुप्सा छाई रहे तो उसे दुर्भाग्य-दुर्विपाक ही कहना चाहिए। अन्य प्राणियों की तुलना में निर्वाह स्वल्प एवं सरल, उपार्जन की क्षमता अत्यधिक—इस स्थिति में उसे साधनों के सम्बन्ध में हर घड़ी प्रसन्न सन्तुष्ट रहना चाहिए। इतने पर भी यदि आर्थिक तंगी छाई रहे, दरिद्रता और कंगाली का अभिशाप लदा रहे तो समझना चाहिए कि कहीं न कहीं भयानक गल्ती हो रही है।

कहाँ तो मनुष्य की विशिष्टता, वरिष्ठता और कहाँ पशु-पक्षियों से भी गई बीती हेय-हीनता। आखिर यह आकाश, पाताल जैसा अभ्यन्तर बना कैसे? आया कहाँ से? लद पड़ा क्यों कर? इन अनबूझ पहेलियों को सुलझाते-सुलझाते, और छोर ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वहाँ पहुँचना पड़ता है, जहाँ विडम्बना के उद्गम केन्द्र को जाना पहचाना जा सके। असमंजसों की जन्मदात्री है—मानवी गरिमा के प्रति छाई हुई अनभिज्ञता। इस विभूति का सही मूल्यांकन न कर सकने और उसके सदुपयोग से अपरिचित होने की मूढ़ता।

समर्थता से, सम्पन्नता से लाभान्वित होने की बात तभी बनती है जब उसकी उपयोगिता समझी जा सके। साथ ही विभूतियों का सदुपयोग करा सकने वाली दूरदर्शिता उभरे, अन्यथा सामर्थ्य दुधारी तलवार है। वह जहाँ सुरक्षा का उद्देश्य पूरा करती है, आततायी आक्रमणों को रोकती है, वह वहाँ उलटकर आत्मघात का भी निमित्त कारण बनती है। ईश्वर प्रदत्त सर्वोपरि अनुकम्पा की प्रतीक जीवन सम्पदा है। इससे बढ़कर जीव को देने योग्य ईश्वर के खजाने में और कोई रत्न-राशि है नहीं। साथ ही यह भी निश्चित है कि प्राणी के समस्त अभावों को पूर्ण कर सकने में सर्व समर्थ उपादान प्राप्त करने के उपरान्त और कोई आवश्यकता रह भी नहीं जाती।

प्रश्न सदुपयोग कर सकने की क्षमता का है। वह न बन पड़े तो हर महत्त्वपूर्ण व्यक्ति पर उलट कर उतनी ही घातक भी सिद्ध होती है। आग, बिजली, बारूद, औषधि, अस्त्र की तरह ही वैभव की भी गरिमा माननी पड़ती है, किन्तु सर्वविदित है कि यदि इनका दुरुपयोग होने लगे तो कोई व्यक्ति देखते-देखते अपना और अपने परिवार का सर्वनाश कर सकता है। विभूतियाँ जितनी महत्त्वपूर्ण हैं, उनसे भी अधिक उस विवेक बुद्धि की गरिमा है जो उनके सदुपयोग की पृष्ठभूमि बनाती, व्यवस्था जुटाती और अग्रगमन की साहसिक मनोभूमि उत्पन्न करती है। वह न हो तो समझना चाहिए उपलब्धियाँ उलट कर विपत्ति ही बनेंगी।

ऐसी स्थिति में तो अभाव-ग्रस्त ही नफे में रहते हैं। वे स्वल्प से गुजारा तो करते हैं, पर साथ ही किसी विपत्ति में तो नहीं फँसते। पशु-पक्षी किसी प्रकार दिन काटने जितनी सुविधा ही प्राप्त कर सके है, किन्तु उतने भर से ही चैन की जिन्दगी जी लेते है। चहकते, फुदकते, उठते हैं, उछलते-फुदकते दिन बिताते हैं और दिन छिपते ही पैर फैला कर सोते हैं। मनुष्य जितना खिन्न उद्विग्न है उनमें से एक भी नहीं देखा जाता, फिर विभूतियाँ पाने का लाभ क्या हुआ? अपने को, सम्बन्धियों को जलाते-कुढ़ाते जी लेने और अन्त में पाप की गठरी सिर पर लद कर अँधेरे भविष्य की ओर चल पड़ने में क्या कुछ हाथ लगा? जिस सौभाग्य पर समस्त प्राणि जगत ईर्ष्या कर सकता है उसे भव-सागर के नाम से जानी जाने वाले सड़ी-कीचड़ मे धँसे-फँसे रहकर उजाड़ देने को क्या कहा जाय? दुर्भाग्य इसलिए कहते नही बन पड़ता कि जीवन ईश्वर का सर्वोपरि उपहार है। ऐसा उपहार जिसके लिए प्राणि जगत का प्रत्येक सदस्य लालायित रहता है। सौभाग्य कह सकना इसलिए कठिन है उससे न अपना भला हुआ और न किसी अन्य ने सुख पाया, सराहा।

इस विसंगति भरी विपन्नता-विडम्बना का कारण क्या हो सकता है, जिसके कारण उपलब्ध सौभाग्य की तरह भारभूत रहता और कष्ट कारक सिद्ध होता है। जबकि इतने ही साधन के सहारे असंख्यों को भौतिक एवं आत्मिक क्षेत्र की महान उपलब्धियाँ करतलगत करने का श्रेय सौभाग्य मिलता है।

परिस्थितियों और सुविधाओं की न्यूनता-प्रतिकूलता को आमतौर से प्रगति पथ का व्यवधान कहा जाता है, किन्तु वस्तुतः वैसा कुछ है नहीं। इतिहास साक्षी है कि अभाव ग्रस्त गई-गुजरी परिस्थितियों में जन्मे पले व्यक्ति अभीष्ट प्रयोजनों की दिशा में बढ़े और व्यवधानों को चीरते हुए सफलता के उच्च शिखर तक पहुँच हैं। मोटी बुद्धि कुछ भी समझती रहे, दुनिया कुछ भी कहती रहे पर यह तथ्य अपने स्थान पर चट्टान की तरह अडिग है कि मनःस्थिति ही परिस्थितियों को बनाती, सुधारती है। मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता इसी कारण है कि वह अपने दृष्टिकोण—स्वभाव एवं पराक्रम को उपयोगी बनाकर व्यक्तित्व की प्रचण्ड सृजनात्मक शक्ति का प्रमाण परिचय दे सकता है।

मनुष्य की उपलब्धियाँ महान हैं, पर भ्रान्तियाँ, अवांछनीयताएँ भी इतनी हैं जिन्हें किसी अभिशाप जैसी कहा जाना चाहिए। अभिशापों में सबसे दुरूह, सबसे दुस्तर, सबसे कष्ट कारक है जीवन की गरिमा न समझ पाना और उसका स्तर उभारने के सम्बन्ध में अन्यमनस्क रहना। इस एक गल्ती को सुधारा जा सके और किसी प्रकार यह हृदयंगम कराया जा सके कि "लोक प्रचलन एवं अभ्यस्त ढर्रा जीवन सम्पदा के सदुपयोग मे सहायक नहीं है। उसका नये सिरे से पर्यवेक्षण एवं निर्धारण की आवश्यकता समझी जानी चाहिए।"

उपेक्षा बरतने से कृषि, उद्योग, स्वास्थ्य, परिवार आदि सभी क्षेत्रों में घाटा सहना पड़ता है। जीवन की उपयोगिता—क्षमता, सम्भावना एवं सही प्रयोग प्रक्रिया के प्रति उपेक्षा भी ऐसी कष्टकारक है जिसे दूसरे शब्दों में अपने पैरों कुल्हाड़ी मारने या आत्म-हत्या करने जैसी स्वनिर्मित विपत्ति कहा जा सकता है। सर्वत्र फैले हुए पिछड़ेपन के कारणों में यों गिनाया तो बहुत कुछ जा सकता है पर उनमें प्रमुख एक ही है—जीवन के प्रति ही दृष्टिकोण एवं सदुपयोग की सही विधा के प्रति अज्ञान अथवा उपेक्षा भाव।

हममें से अधिकांश सर्जनात्मक शक्ति का महत्त्व ही नहीं समझ पाते तथा उस शक्ति की पूर्णतः अवहेलना कर देते है। कुछ लोग सोचते है 'सर्जनात्मक शक्ति' केवल कुछ प्रतिभाशाली लोगों को ही अनुदान स्वरूप

मिलती है । वस्तुतः ऐसी बात है नहीं । हर व्यक्ति में अपने व्यक्तित्व और भविष्य का इच्छित निर्माण कर सकने की क्षमता विद्यमान है ।

माइकेल ड्रूरी का कहना है कि सर्जनात्मक शक्ति प्रत्येक मनुष्य में जन्मजात रूप से निहित होती है, परन्तु इस सामर्थ्य का उपयोग करना साहसी, धैर्यवान और प्रयत्नशील लोगों से ही बन पड़ता है ।

ड्रूरी का कहना है कि जब हम किसी बड़े कार्य को हाथ में लेते हैं तो सृजनात्मक शक्ति का विकास होता है । सूर्य समय पर उगता पृथ्वी धीरे-धीरे घूमती है, किन्तु वे अपने कार्य को सुनिश्चित गति से व्यवस्थापूर्वक करते रहते हैं । यही सृजनात्मक शक्ति का स्वरूप एवं रहस्य है ।

यदि हम कोई काम प्रभावशाली ढंग से प्रारम्भ नहीं कर सकते तो उसे शुरू करना भी नहीं चाहते । यह सर्जनात्मक शक्ति के लिए घातक है । हेलेन केलर ने लिखा है, "जब हम किसी संकल्प को या अच्छे मनोभाव को बिना किसी उपयोग के नष्ट हो जाने देते हैं, तो उसका अर्थ होता है कि हमने सौभाग्य गवाँ दिया । इसी प्रवृत्ति के कारण यथार्थतः कामों की सफलता में रुकावट आती है ।"

दार्शनिक ड्रूरी का कहना है कि यदि हम कुछ करना, बनाना, या दिखाना चाहते हैं तो बिखरी हुई अनेकों सम्भावनाओं में से एक को अपना लक्ष्य चुनकर उसी के लिए संकल्प एवं धैर्यपूर्वक कार्य करना चाहिए । केवल लक्ष्य के प्रति ही नहीं, प्रतिदिन के क्रिया-कलापों में भी गहरी रुचि होनी चाहिए । प्रयत्नों की आरम्भिक असफलता के बावजूद हमे पूर्ण तन्मयता से अपने निर्धारित प्रयास मे तत्परतापूर्वक तब तक लगे रहना चाहिए, जब तक कि हम पूर्ण रूप से परिष्कृत होकर अपने उद्देश्य को न पा लें ।

स्वभावतः मनुष्य जीवन की आवश्यकताएँ बड़ी सीमित और स्वल्प हैं । उपार्जन में भी वह सरल है । बुद्धिहीन और अनगढ़ काया वाले प्राणी शरीर यात्रा के साधन सरलतापूर्वक जुटा लेते हैं फिर कोई कारण नहीं कि विलक्षण काय-संरचना और अद्भुत बुद्धिमत्ता से सम्पन्न मनुष्य अपने निर्वाह में किसी कठिनाई का अनुभव करे । उदर पूर्ति के लिए अन्न, तन ढकने को वस्त्र और ऋतु प्रभाव से बचने के लिए आच्छादन जैसी कुछ ही आवश्यकताएँ वास्तविक हैं, जिन्हें हँसते-खेलते कुछ ही घण्टों के प्रयास से हर कोई उपार्जित कर सकता है । न किसी के सामने अर्थसंकट होना चाहिए और न खिलाड़ी जैसी मनःस्थिति रखने वाले पर चिन्ता-परेशानियों का भार लदना चाहिए । ईश्वर ने मनुष्य-जीवन का उपहार, सुरदुर्लभ, अनुदान के रूप में प्रदान किया है, साथ ही उसके साथ उच्चस्तरीय उत्तरदायित्व लाद दिए हैं । स्पष्ट है कि बड़े पद या गौरव जिन्हें प्रदान किए जाते हैं, उन्हें बड़ी जिम्मेदारियों से भी लाद दिया जाता है । सेनापति का पद, दर्जा सम्मान, अधिकार, वेतन आदि अन्यान्यों से बढ़ा-चढ़ा होता है पर साथ ही उसके ऊपर जिम्मेदारियाँ भी इतनी अधिक होती हैं कि तनिक-सा प्रमाद करने पर भी क्षम्य नहीं समझा जाता, वरन् कोर्ट मार्शल के निर्णयानुसार गोली से उड़ाया जाता है । सफाई कर्मचारी के प्रमाद की छोटी चेतावनी या प्रताड़ना से भरपायी हो जाती है, पर सेनापति को उतने भर से छुटकारा नहीं मिल सकता । कारण स्पष्ट है । सफाई कर्मचारी की लापरवाही से थोड़ी-सी गंदगी बढ़ने भर की सीमित हानि होती है, किन्तु सेनापति की भूल से तो सारी सेना का ही नहीं पूरे देश का ही सर्वनाश हो सकता है । इसके विपरीत उसकी कुशलता एवं सूझ-बूझ के फलस्वरूप सारा देश सुरक्षित रह सकता है और समृद्धिवान बन सकता है । सेनापति को सम्मान, अधिकार, वेतन आदि का जो अनुदान मिलता है वह किसी का अनुग्रह नहीं वरन् सौंपी गई जिम्मेदारियो को ठीक तरह पालन कर सकने के लिए आवश्यक सुविधा भर है ।

यही बात अन्यान्य उच्च अधिकारियों के सम्बन्ध में भी है । उन्हें कितने ही ऐसे साधन और सहायक मिलते है जो साधारण कर्मचारियों को उपलब्ध नहीं होते । इसमे किसी पक्षपात का आरोपण करने की आवश्यकता नही है ।

मनुष्य जीवन की गरिमा न समझी जा सके तो उसे एक प्रकार से अभिशाप ही कहा जायेगा, क्योंकि वह अन्य प्राणियो की तुलना में अधिक रुग्ण, चिन्तित, उद्विग्न और समस्याओं से ग्रसित पाया जाता है । पग-पग पर दुर्गति भी उसी की होती है और मरणोत्तर जीवन में वही सबसे अधिक कष्ट सहता है । इसके

विपरीत यदि कोई यह समझ सके कि उसे ईश्वर के वैभव भण्डार का सर्वोपरि उपहार उपलब्ध है, इसके साथ असंख्य सम्भावनाएँ, अगणित विभूतियाँ जुड़ी हुई हैं तो उसके उत्साह का ठिकाना न रहेगा। साथ ही अनुभव भी होगा कि इतने बड़े पद का मिलना जहाँ अनुपम सौभाग्य है वहाँ उसके साथ जुड़े हुए उत्तरदायित्वों का भार भी कम नहीं है। मनुष्य जीवन ईश्वर का उपहार है, उसे सार्थक, सुखद और सफल बनाना मनुष्य का निजी उत्तरदायित्व है।

ईश्वर समदर्शी और न्यायकारी है; उसे न किसी से राग है न द्वेष, सभी को पात्रता में उत्तीर्ण-अनुत्तीर्ण होने का अवसर वह क्रमानुसार देता है। स्कूली छात्रों में से जो उत्तीर्ण होते हैं वह अगले दर्जे में चढ़ जाते हैं जो अधिक अच्छे नम्बर लाते हैं, वे छात्रवृत्ति पाते हैं, इतना ही नहीं बड़े चुनावों में भी उन्हीं को प्राथमिकता मिलती है। इसके विपरीत जो फेल होते रहते हैं वे साथियों में उपहासास्पद बनते, घरवालों की भर्त्सना सहते, अध्यापकों की आँखों में गिरते और अपना भविष्य अन्धकारमय बनाते हैं। इसमें ईश्वर की विधि-व्यवस्था को, अन्य किसी को कोसना व्यर्थ है। मनोयोग और परिश्रम में अस्त-व्यस्तता कर लेने से ही छात्रों को प्रगतिशीलता का वरदान अथवा अवमानना का अभिशाप सहना पड़ता है। यह बाहर से मिला हुआ सोचा तो जा सकता है पर असल में होता है स्व-उपार्जित ही। मनुष्य जीवन नि:सन्देह सुर-दुर्लभ उपहार और ईश्वरी वरदान है, पर साथ ही यह भी ध्यान रखने की बात है कि उसका दुरुपयोग करना ऐसा अभिशाप भी है जिसकी प्रताड़ना मरने के उपरान्त नहीं तत्काल हाथों-हाथ सहनी पड़ती है।

यह एक प्रकट रहस्य है कि बोलने, सोचने-कमाने, साधन जुटाने, घर बसाने, चिकित्सा, शिक्षा उपकरण, विज्ञान, वाहन, शासन, बिजली आदि की जो सुविधाएँ मनुष्य को मिली हैं वे सृष्टि के अन्य किसी प्राणी को नहीं मिलीं। अभ्यास में रहने के कारण इनका महत्त्व प्रतीत नहीं होता पर यदि उसे अन्य जीवों की आँख में बैठकर देखा जाय तो प्रतीत होगा कि स्वर्ग और देवता की सुविधा का जो वर्णन है, वह पूरी तरह मनुष्य पर लागू होता है। भगवान ने ऐसा पक्षपात क्यों किया कि अन्य प्राणी जिन सुविधाओं से वंचित रहे उन्हें मात्र मनुष्य को दिया गया? मोटी दृष्टि से यह अन्याय या पक्षपात समझा जा सकता है किन्तु वास्तविकता कुछ दूसरी ही है। जीवों में से लम्बी अवधि के उपरान्त हर किसी को यह अवसर मिलता है कि वह सुयोग का लाभ उठाये और अपनी इस पात्रता का परिचय दे कि वह बड़े अनुदानों को उन्हीं कामों में खर्च कर सकता है कि नहीं, जिनके लिए कि वे दिए गए थे। निश्चित रूप से वासना, तृष्णा और अहंता की पूर्ति के लिए यह अनुदान किसी को भी नहीं मिला है। यह पशु-प्रवृत्तियाँ हेय से हेय योनि में भली प्रकार पूरी होती रहती हैं। इन सुविधाओं के लिए ऐसा अनुदान देने की उसे कोई आवश्यकता न थी। मनुष्य जीवन तो विशुद्ध रूप से एक काम के लिए मिला है—"स्रष्टा के विश्व उद्यान का भौतिक पक्ष समुन्नत और आत्मिक पक्ष सुसंस्कृत बनाने में हाथ बँटाने के लिए।"

शासनाध्यक्ष अपना सुविस्तृत कार्य अकेले नहीं सँभाल पाते हैं इसके लिए सुयोग्य पार्षदों एवं अफसरों की सहायता से काम चलाना पड़ता है। मनुष्य की गणना ऐसे ही राजकुमारों में की गई है। उसे स्रष्टा ने मात्र इसलिए विभूतियों से सम्पन्न बनाया है कि अपनी विशिष्ट प्रतिभा एवं क्षमता के सहारे इस विश्व उद्यान को अधिक समुन्नत और सुसंस्कृत बनाने में उसकी सहायता करें। सहायता वही कर सकता है जिसे उपयुक्त सुविधाएँ उपलब्ध हों। इस दृष्टि से भगवान ने उसे ऐसी संरचना की काया प्रदान की है जैसी अन्य किसी प्राणी को नहीं मिली। ऐसी विलक्षण बुद्धि प्रतिभा दी है जिसका उदाहरण समस्त प्राणी समुदाय में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। इतनी प्रचुर साधन सामग्री प्रदान की है मानो सृष्टि सम्पदा का स्वामित्व ही उसे सौंप दिया गया हो। इसके अतिरिक्त पारस्परिक सहयोग, सद्भाव का अनुदान मानवी समाज व्यवस्था के अनुरूप उसे मिलता रहता है। ऐसा आदान-प्रदान किसी अन्य समुदाय में नहीं मिलता। आनन्द केवल मनुष्य ही उठाता है। वात्सल्य की इतनी लम्बी और इतनी सरस शृंखला अन्यत्र मिल सकनी सम्भव नहीं। अभिभावकों और पूर्वजों के प्रति कृतज्ञता का प्रदर्शन कौन करता है? मात्र मनुष्य ही है जिसे कर्मठता, विचारणा, भावना जैसे प्रत्यक्ष दैवी वरदान

मिले हैं, इसके लिए प्यार, करुणा उल्लास, उमंग, आनन्द, सेवा, आत्मीयता, उदारता जैसी भाव सम्वेदनाओं की एक दुनिया अनौखी है जिसका स्पर्श करके व्यक्ति कवि, कलाकार, दार्शनिक, योगी, और देवात्मा बनता है । इस सरसता के अमृत में डुबकी लगाकर वह अनुभव करता है कि अपनी काया वस्तुतः पंच-तत्वों से बनी धरती पर रहते हुए भी स्वर्गीय सम्वेदनाओं के भाव क्षेत्र में बिना पंख लगाये ही विचरण कर रही है । श्रद्धा और भक्ति ऐसे अनुदान हैं, जिसे निरन्तर बरसने वाले ईश्वरीय अनुदानों में बिना संकोच गिना जा सकता है । इसके अतिरिक्त उन दैवी सहायताओ का क्षेत्र अलग ही है जो समय-समय पर सत्प्रयोजनों के लिए कदम बढ़ाने वालों को मिलते रहते हैं । वे आश्चर्य जनक सफलताएँ पाते हैं और सिद्धि सम्पन्न महामानव कहलाते हैं । अज्ञानग्रस्त आँखें यदि उसे न देख सकें तो उस क्षेत्र के लिए अन्य किसी प्राणी के शरीर में प्रवेश करके उसकी आँखों से यह परखा जा सकता है कि उसकी और मनुष्य की स्थिति में जमीन-आसमान जैसा कितना बड़ा अन्तर है ?

यह अन्तर न तो अकारण है और न पक्षपात युक्त । ईश्वर ने मनुष्य को प्राणि जगत में सबसे अधिक सज्जन और जिम्मेदार माना है और विश्वास किया है कि उसे जिस प्रयोजन के लिए अतिरिक्त साधन मिले हैं, वह ईमानदारी के साथ उसी में उन्हें प्रयुक्त करेगा । बड़ों की विशेषता एक ही होती है कि वे बेईमान नहीं होते । विशिष्ट उपयोग के लिए मिले साधनो का उपयोग वे स्वार्थ सिद्धि के लिए नहीं करते । ऐसा रहा होता तो खजांची को अमीर बनने में मात्र एक घण्टे की हेराफेरी पर्याप्त होती । सेनाध्यक्ष शत्रु से मिलकर बादशाहत प्राप्त कर लेते, पर आमतौर से ऐसा होता नहीं । पिछड़े वर्ग के लोग अपनी क्षुद्रता और धूर्तता का परिचय देते रहते हैं पर संसार में एक वर्ग महानों का भी है । उन्हीं की विशेषताओं पर यह धरती टिकी हुई है और सृष्टि का व्यवस्थाक्रम चल रहा है ।

मनुष्य जीवन अपने इस लोक की सर्वोपरि कही जाने वाली सम्पदा है । इसके दो ही उपयोग है— आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण । आत्म-कल्याण यह कि वे सदुद्देश्य में निरत रहकर आत्म-सन्तोष, लोक-सम्मान, दैवी अनुग्रह प्राप्त करते हुए पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त करें । विश्व-कल्याण यह है कि ईश्वर की इच्छा पूरी करें, सृष्टि में सद्भावनाएँ और सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने में प्रयत्नशील रहें । चिन्तन की उत्कृष्टता और व्यवहार की आदर्शवादिता ही वे तत्व हैं जिनके सहारे इस धरती की सुख-शान्ति और प्रगति-समृद्धि, फलती-फूलती है । यदि उन्हें निरस्त कर दिया जाय तो फिर पदार्थ वैभव कितना ही प्रचुर क्यों न हो मात्र विनाशकारी दुष्परिणाम ही उत्पन्न करेगा । मूल्य वैभव का नहीं उसके उपयोग का है । दुरुपयोग से तो अमृत भी विष बन जाता है ।

यह जीवन के स्वरूप और सदुपयोग का चर्चा प्रसंग जागृत आत्माओं के सामने गीता बोध की तरह हैं । इसे विषम वेला में विशिष्ट प्रयोजन के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है । इन दिनों युग सन्धि का पावन पर्व है । ऐसा पर्व जो लाखों वर्ष उपरान्त ही आता है । ऐसा पर्व जिसमें भगवान स्वयं लीला संचार करते हैं और जागृतों को अपना सहचर बनाने का स्वर्ण सुयोग प्रदान करते हैं । इन दिनों मनुष्य जाति के महाविनाश या उज्ज्वल भविष्य का निर्धारण हो रहा है । इन दिनों जागरूकों के स्वल्प श्रम से ऐसा सुयोग पाने का अवसर मिल रहा है जैसा कि जन्म-जन्मान्तरों तक योग तप करने वालों में से कदाचित ही किसी को मिलता है । जो समय की प्रकृति को जानते हैं वे यह भी समझते हैं कि सुयोग, संयोग सदा नहीं आते वे बिजली की तरह कभी-कभी ही कौंधते और घटा की तरह कभी-कभी ही बरसते हैं, जो समय का लाभ उठा लेते हैं, वे अपने से हुई दूरदर्शिता को सराहते नहीं थकते ।

युग सन्धि की इस पावन वेला मे जो लोभ की हथकड़ी और मोह की बेड़ियाँ कुछ ढीली कर सकेंगे वे देखेंगे कि न व्यस्तता का बहाना ढूँढ़ना पड़ेगा और न चिन्ता, समस्याओ की दुहाई देनी पड़ेगी । निश्चिन्त इस दुनिया मे एक भी नही है । मकड़ी के जाल बुनते रहने का कोई अन्त नही । उस व्यस्तता से कैसे छूटा जा सकता है, जो आवश्यकता की सहज पूर्ति होते रहने पर भी तृष्णा की खाई पाटने के लिए बुना गया है । यह खाई रावण, कंस, हिरण्यकश्यप, सिकन्दर, नेपोलियन जैसे महा प्रतापियों से नहीं पटी तो बेचारे

क्षुद्रजनों से उसे पूरा करना और व्यस्तता से छुटकारा पा सकना सम्भव ही कैसे हो सकता है ?

निर्वाह की गुत्थी सुलझाने के ऐसे उपाय हैं । परिवार को सुसंस्कारी बनाने भर की आवश्यकता हो तो इसके ६६६ रास्ते हैं, पर यदि कुटुम्बियों को अपंग बनाकर विठा देने और उन्हें स्वर्ण अलंकारों से लादने का मन हो तो फिर कोल्हू के बैल की तरह हड्डियाँ निचोड़ने के अतिरिक्त दूसरा कोई चारा नहीं है । तब उतने से भी काम चलने वाला नहीं है । आत्मा और ईमान को भी उसी कोल्हू में पेलने के लिए अपनी समर्थता के साथ-साथ ही डालना पड़ेगा । इतने पर भी कहा नहीं जा सकता कि इतने भर से 'राधा का नाच' ठन सकने लायक 'नौ मन तेल' जुट पायेगा या नहीं ।

परिवार के सब लोग मिल-जुलकर परिश्रम करें । संचित पूँजी को भूमि में गाड़ने के स्थान पर उसी की हेरा-फेरी करें तो लालच घट सकता है, जो अर्थ संकट बनकर राक्षस की तरह मुँह बाँधे खड़ा रहता है । सादगी और मितव्ययिता अपनाने पर प्रायः आधे खर्च की कटौती हो जाती है । संचित पूँजी समर्थ उत्तराधिकारियों को मिलनी ही चाहिए यह लकीर कानूनी तो हो सकती है, पर उसमें नैतिकता और आध्यात्मिकता का रत्ती भर भी पुट नहीं है । जो संचय सन्तान को समर्थ बनाने के अतिरिक्त बच जाता है, वह न्याय और विवेक की दृष्टि से विशुद्ध समाज सम्पदा है । प्रजातन्त्री सरकारें मृत्युकर कड़ा कर रही हैं । श्राद्ध अर्थात् पूर्वजो की संचित सम्पदा का सत्प्रयोजनों के लिए नियोजन । साम्यवाद इस सन्दर्भ में और भी अनावश्यक संचय को बलपूर्वक समाज सम्पदा के रूप में अधिकृत करने के लिए कृत संकल्प है । किसी भी न्याय कसौटी पर पूर्वजों की संचित सम्पदा के लिए समर्थ उत्तराधिकारी अपना अधिकार नहीं जता सकते । सच तो यह है उन्होंने शिक्षा, पोषण, विवाह, व्यवसाय आदि माध्यम से पूर्वजों का जो ऋण अर्जित किया है उसे उन्हें वृद्धावस्था की सेवा सुविधा में अथवा उनके यश पुण्य की वृद्धि में वापस करने का निश्चय करना चाहिए । यदि वे आना-कानी करे तो उन्हें नैतिक दबाव से इसके लिए बाधित किया जाना चाहिए । बच्चों को शिक्षित, स्वावलम्बी, सुसंस्कारी बनाना तो अभिभावकों का कर्तव्य है पर इस प्रचलन का तनिक भी औचित्य नहीं है कि समर्थों को पूर्वजों की सम्पदा का उपभोग हरामियों की तरह करने का अवसर मिले ।

पर कुछ मौलिक प्रश्न हैं जिन्हें जीवन सम्पदा का सदुपयोग करने की बात सोचने वाले यदि समय रहते अपने दृष्टिकोण में समाविष्ट कर लें तो किसी को भी उस दबाव में पिसना न पड़ेगा, जो व्यस्तता, चिन्ता, समस्या आदि के नाम से जन-जन पर छाया हुआ है तथ्यतः किसी के सामने कोई ऐसी समस्या नहीं है जिसके कारण इन दिनों दिग्-दिगन्त में गूँज रहे महाकाल की प्रेरणा-युग साधना और समय की पुकार की अवहेलना करते हुए आत्म-प्रताड़ना सही जाय और इतिहासकारों की काया-कलंकियों की सूची में अपने नाम का उल्लेख करने दिया जाय ।

## परिष्कृत दृष्टिकोण ही स्वर्ग है

यह दुनिया जड़ पंचतत्वों की बनी हुई है । उसमें अपने गुण, धर्म तो हैं, पर कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न करने की क्षमता नहीं । यह अपना-अपना दृष्टिकोण ही है, जिसके आधार पर हर व्यक्ति अपने संसार की, अपने भाग्य भविष्य की संरचना स्वयं करता है । इस तथ्य को कोई विरले ही समझते हैं कि परिस्थितियों पर नहीं मनःस्थिति पर जीवन के उत्थान-पतन का, सुख-दुःख का, पूरा ढाँचा खड़ा हुआ है । यदि यह मोटी बात समझ में आ सकी होती तो हर व्यक्ति ने अपने जीवन के लिए भौतिक उपलब्धियों में श्रम करने के अतिरिक्त उन आन्तरिक आधारों को भी सही किया होता जिन पर प्रगति और अवगति की आधारशिला रखी होती है ।

साधनों की अनुकूलता एवं प्रचुरता की आवश्यकता समझी जा सकती है, पर यह भुला नहीं देना चाहिए कि वे दुधारी तलवारें आत्म-रक्षा ही नहीं आत्म-हत्या का साधन भी बन सकती हैं । साधारणतया सुविधा साधनों का उपार्जन पुरुषार्थी एवं सन्तुलित व्यक्ति पर अवलम्बित रहता है । सुयोग्य व्यक्ति विपरीत परिस्थितियों में भी अपनी कुशलता के सहारे प्रगति के साधन उत्पन्न अथवा एकत्रित कर लेते हैं । इसके विपरीत दुर्बुद्धिग्रस्त दुर्गुणी व्यक्ति उत्तराधिकार में अथवा अन्य किसी प्रकार अनायास मिली प्रचुर सम्पदा को

भी नष्ट करके रख देते हैं । इतना ही नहीं ऐसे संकट भी उत्पन्न करते हैं, जिनका सामना अभावग्रस्तों को, तथाकथित पिछड़े लोगों को नहीं करना पड़ता ।

व्यक्तित्व और साधनों के समन्वय से जो प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, उसी पर प्रगति एवं सुख-शान्ति निर्भर रहती है । मूलतः प्राणियों के शरीर तथा जड़ पदार्थों से बने साधन अपने आप में किसी प्रकार की सम्वेदना उत्पन्न नहीं कर सकते । जड़ होने के साथ-साथ वे सम्वेदना रहित भी हैं । नोटों की गड्डी अपने आप में रद्दी कागजों का पुलन्दा भर है । उसके द्वारा सत्कर्मों की उत्कण्ठा, बड़प्पन प्रदर्शन की आकांक्षा, संग्रह की ललक, उद्धत उपभोगों की आतुरता, ईर्ष्या, अहमन्यता जैसी परस्पर विरोधी प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न हो सकती है । इन इच्छाओं के कार्य रूप में परिणत होने पर व्यक्ति एवं समाज के लिए उपयोगी एवं विनाशकारी परिणाम सामने आ सकते हैं । इतने पर भी नोटों की गड्डी निर्जीव की निर्जीव ही रहेगी । उपयोग करने वाले व्यक्ति के दृष्टिकोण पर ही यह निर्भर है कि उस सम्पत्ति का उपयोग किस प्रयोजन के लिए किया जाता है ।

प्रयत्न और पुरुषार्थ के बल पर भौतिक उपलब्धियाँ उपार्जित किए जाने की बात सर्वविदित है, पर इस तथ्य को विरले ही जानते हैं कि आस्थाओं एवं मान्यताओं के अनुरूप गुण, कर्म, स्वभाव का समन्वय व्यक्तित्व बनता है और यह व्यक्तित्व का स्तर ही संसार के पदार्थों एवं व्यक्तित्वों के साथ अनुकूल-प्रतिकूल ताल-मेल बिठाता है । इस ताल-मेल की प्रतिक्रिया ही उत्थान-पतन, सुख-दुःख के रूप में सम्मुख आती है । बाहरी प्रगति एवं परिस्थितियाँ दिखाई पड़ती हैं और उनका कारण भाग्य, पुरुषार्थ, अनुदान आदि बताकर समाधान कर लिया जाता है । इतनी गहराई में उतरना किसी-किसी के लिए ही सम्भव होता है कि बाह्य जीवन की समस्त घटनाएँ, परिस्थितियाँ एवं उपलब्धियाँ व्यक्तित्व की आन्तरिक स्थिति के फलस्वरूप ही उत्पन्न होती हैं ।

एक ही परिस्थिति को दो व्यक्ति दो प्रकार सोचते हैं और उसकी परस्पर विरोधी प्रतिक्रियाएँ अनुभव करते हैं । द्रोणाचार्य ने एक गाँव में दुर्योधन को वहाँ के सज्जनों की सूची बनाकर लाने को भेजा, उन्होंने बहुत छानबीन के बाद सूचना दी कि यहाँ एक भी सज्जन नहीं रहता । सभी दुष्ट-दुराचारी भरे पड़े है । कुछ दिन बाद उसी गाँव में युधिष्ठिर को दुर्जनों की सूची बनाकर लाने के लिए भेजा । उन्होंने भी हर व्यक्ति से सम्पर्क बनाया और गतिविधियों की खोज की । वे यह निष्कर्ष लेकर लौटे कि दोषरहित तो केवल परमात्मा है, पर इस गाँव के लोगों में औसत स्तर की सज्जनता मौजूद है । इनमें से पूर्ण दुर्जन एक भी नहीं है । प्राणियों के शरीर और पदार्थ यही तो संसार है । इस सृष्टि की समस्त संरचना सत और तम, देव और दैत्य के सम्मिश्रण से बनी है । रात और दिन की तरह यहाँ शुभ और अशुभ दोनों का अस्तित्व है । अन्धकार और प्रकाश से मिलकर रात्रि और दिन की रचना हुई है, उसी से कालचक्र घूमता है । ताने और बाने के उल्टे-सीधे धागों से कपड़ा बुना गया है । संसार में वांछनीय और अवांछनीय दोनों ही तत्व हैं—उनमें से उचित को सदुपयोग के लिए और अनुचित को परिशोधन प्रयत्नों का अभ्यास करने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है । इस प्रकार दोनों ही अपने-अपने स्थान पर उपयोगी हैं । यह मानकर चला जाय तो दुष्टता खोजते फिरने पर उत्पन्न होने वाली खीझ से बचा जा सकता है । दुर्योधन और युधिष्ठिर के अपने-अपने दृष्टिकोण थे । उन्होंने अपने-अपने अनुरूप खोज करके अपने ढंग के निष्कर्ष निकाले थे ।

गुबरैला और भौंरा एक ही बगीचे में प्रवेश करके दो तरह की वस्तुओं के साथ सम्पर्क बनाते और दो तरह के निष्कर्ष निकालते हैं । भौंरा फूलों पर मँडराता, सुगन्ध लाभ लेता और उस वातावरण पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए गुंजन गीत गाता है । उसी बगीचे में पौधों में लगाने के लिए दुर्गन्धयुक्त गोबर का खाद भी किसी कोने पर जमा रहता है । गुबरैला कीड़ा अपनी प्रकृति के अनुरूप उसी खाद के ढेर को तलाश कर लेता है और अपने दुर्भाग्य पर रोते हुए कहता है—संसार में बदबू ही बदबू भरी पड़ी है । पुष्पोद्यानों में भी दिए तले अँधेरा मौजूद है । बात गुबरैले कीड़े की भी सच ही है । यों झुठलाया भौंरे को भी नहीं जा सकता ।

एक गुलाब का फूल कह रहा था कि ईश्वर ने हमारे साथ अन्याय किया कि इतनी पतली और कँटीली बेल पर लगाया, हमारा स्वरूप किसी चन्दन जैसे बड़े

वृक्ष की शोभा बढ़ाने योग्य था । दुर्भाग्य का रोना रोने वाले इस पुष्प के समीप उगे हुए दूसरे पुष्प ने कहा—मूर्ख, सोचने का तरीका बदल । पतली कँटीली बेल पर उगने के कारण छोटा-सा फूल होना चाहिए था, तू कितना सौभाग्यवान है कि तुच्छ स्थिति से उत्पन्न होने पर भी इतना बड़ा सौभाग्य पा सका । दृष्टिकोण के आधार पर ही लोग अपने सम्बन्ध में मान्यता बनाते और दुःख में खीझते एवं सुख में मुस्कराते पाये जाते हैं ।

संसार में बुराई और भलाई का, हानि-लाभ का, प्रिय-अप्रिय का अस्तित्व है और वह बना ही रहने वाला है । हमें किसी का भी प्रभाव अपने ऊपर ऐसा नहीं पड़ने देना चाहिए जो मानसिक सन्तुलन बिगाड़कर ही चिन्तन में हमें अपंग असमर्थ बनाकर रख दे । लाभ का, सुविधा-सम्पति का उपयोग यह है कि सफलता देखकर उत्साह प्राप्त करें और उपलब्धियों का अधिकाधिक सदुपयोग करके उनसे अपने सम्पर्क क्षेत्र को लाभान्वित करें । हानि, विपत्ति या विकृति सामने आने पर उससे दूसरी प्रकार का लाभ लिया जाना चाहिए । सोचा जाना चाहिए कि भूलें या दुर्बलताएँ तो इस कठिनाई में कुछ कारण नहीं रही हैं ? यदि रही हो तो इस प्रमाद को अविलम्ब हटा देने में तत्परता बरतनी चाहिए, ताकि वैसी दुर्घटना की पुनरावृत्ति भविष्य में न हो, ठोकर लगने का दण्ड भविष्य में अधिक सतर्कता बरतने की चेतावनी देता है । यदि ठोकर से एक कड़वा पाठ पढ़ा जाया करे तो उसे भविष्य मे सत्परिणाम देने वाला सस्ता सौदा ही कहा जा सकता है ।

ठण्ड लगने से शरीर में कँपकँपी उठती है और रक्त प्रवाह तेज होकर भीतर से गर्मी उत्पन्न होती है । ठण्ड लगने पर जो शरीरगत प्रकृति प्रतिक्रिया होती है वही मनःक्षेत्र में भी होनी चाहिए । संकट-उसकी कष्टकारक प्रतिक्रिया, उससे जूझने की तत्परता, उससे भूल का परिमार्जन, परिवर्तन के लिए आवश्यक साधनों का संचय—फलतः संकट की समाप्ति । यही प्रतिक्रिया चक्र उचित है । इसी नीति का अनुसरण करने वाले आपत्तिग्रस्त मनुष्य तपे सोने की तरह निरन्तर चले जाते हैं । विपत्ति का प्रत्येक धक्का उन्हें अधिक साहसी, पुरुषार्थी, बुद्धिमान और अनुभवी बनाता चला जाता है ।

पाप, अनाचार और विकृतियों को देखकर सन्तुलन खोने और बड़-बड़ाने की जरूरत नहीं है । उन्हें सज्जनता के लिए चुनौती समझा जाना चाहिए और यह मानकर चलना चाहिए कि परिपक्व होने का यही एक मात्र तरीका है कि वह अनाचार को देखकर उभरे और अवांछनीयता से टक्कर मारकर अपने वर्चस्व सिद्ध करे और गौरवान्वित बने ।

यदि रावण का आतंक न होता तो राम को रीछ-वानरों को यशस्वी बनाने का अवसर ही न आता । सही परिस्थितियाँ रही होतीं तो ऋष्यमूक पर्वत के निवासी रीछ-वानर ऐसे ही दूसरे वन्य प्राणियों की तरह जन्मे और मर-खपकर विस्मृति के गर्त में चले गए होते । रावण ने आतंक करके जहाँ अपने लिए पतन और अपयश का द्वार खोला वहाँ प्रतिपक्षियों को गौरवान्वित करने वाली परिस्थितियाँ भी उत्पन्न की । महामानवों की परख इसी आधार पर होती है कि वे विपन्नताओं से कट-कट कर जूझते हुए प्रेरणाप्रद आदर्श जनसाधारण के सम्मुख उपस्थित करते हैं ।

मरीज अपनी भूल के कारण स्वयं तो कष्ट उठाता है, पर डॉक्टर की आजीविका उपार्जन, कौशल वृद्धि सेवा का अवसर एवं यशस्वी बनाने वाली परिस्थितियाँ भी उत्पन्न करता है । हर विकृति के सम्बन्ध में इसी प्रकार सोचा जाना चाहिए कि उसके उत्पादनकर्त्ता कितने ही घिनौने क्यों न हों, इतना अच्छा तो वे भी करते हैं कि सज्जनता, सेवा-साधना, अनीति के प्रति आक्रोश एवं आदर्शों की रक्षा के लिए त्याग, बलिदान करने का अवसर उत्पन्न करते हैं ।

विपत्तियों में धैर्य, साहस और दूरदर्शिता का उदय होना, विकृतियों के प्रति रोष उत्पन्न होने से सज्जनता को प्रखर बनाना, दुष्टता की दुर्गति देखकर अन्यों का उस मार्ग पर चलने से विरत होना जैसे लाभों को सोचा जाय तो विपन्नताओं में भी सन्तुलन बनाये रखा जा सकता [illegible] और मनोबल गिराने की अपेक्षा उपयोगी प्रतिक्रिया का लाभ लिया जा सकता है । यदि सोचने का तरीका सही हो तो हर परिस्थिति में अनुकूलता सोची जा सकती है और सन्तुलन बनाये रखा जा सकता है । मानसिक दुर्बलता ही विक्षोभ का प्रधान कारण होती है । मनस्वी व्यक्ति संकट की घड़ी में और भी अधिक जागरूकता का परिचय देते हैं । फौज

का कप्तान घोर मारकाट की निर्णायक घड़ियों में सही निर्णय तभी ले पाता है, जब उसका मानसिक सन्तुलन सही बना रहे । घटनाक्रम को देखकर यदि वह आवेशग्रस्त हो जाय तो एक प्रकार से मानसिक रोगियों की स्थिति मे जा पहुँचेगा । अपना और सारी सेना का सर्वनाश करेगा । यही बात दैनिक जीवन में घटित होते रहने वाली सामान्य एवं असामान्य स्तर की घटनाओं के सम्बन्ध में लागू होती है ।

स्वर्ग नरक की चर्चा प्रायः होती रहती है । पौराणिक उपाख्यानों में कोई लोक अथवा स्थान विशेष में सुखद परिस्थितियों वाले स्वर्ग का उल्लेख हुआ है । वहाँ इन्द्रिय भोगों की प्रचुरता का आकर्षक वर्णन किया गया है । शरीर रहित मृतात्मा को इन्द्रिय भोगों का लाभ मिलना सन्देहास्पद है । तथ्य यह है कि स्वर्ग परिष्कृत दृष्टिकोण का नाम है । वह अपनी उत्कृष्टता के कारण विपन्नताओं के बीच भी प्रसन्नता भरे वातावरण का सृजन कर लेता है ।

सन्त इमर्सन कहा करते थे कि—"मुझे नरक में भेज दो, मैं वहीं स्वर्ग का सृजन कर लूँगा ।" युधिष्ठिर की कथा है कि वे कुछ समय के लिए नरक भेजे गए उन्होंने अपनी सज्जनता के कारण वहाँ भी स्वर्ग जैसा वातावरण उत्पन्न कर लिया । शंकरजी भूत-प्रेतों के बीच रहकर स्वयं पतित नही हुए, वरन् उन पिछड़े हुए साथियो को ऊँचा उठाया । रामप्रसाद विस्मिल और सरदार भगतसिंह का वजन फाँसी की सजा सुनाये जाने के बाद और अधिक बढ़ गया । गंग कवि ने हाथी के पैरों तले कुचले जाने के मृत्युदण्ड को उस कल्पना के कारण सुखद बना लिया था, जिसके अनुसार उन्होंने खूनी हाथी को स्वर्ग में होने वाले कवि सम्मेलन में अपने कन्धे पर बिठाकर ले चलने वाले गणेश देवता के रूप में अनुभव किया था ।

सन्तो ने स्वेच्छापूर्वक अपरिग्रह का व्रत लिया और गरीबों जैसा जीवन-यापन करते हुए भी सम्पन्नों से भी अधिक सुखी मानसिक स्तर बनाये रखा । इसके विपरीत कितने ही धनी मानी लोग अपनी विकृत मन स्थिति के कारण अनेकों कुकल्पनाओं से ग्रसित रहकर चिन्ता, उद्विग्नता की आग में जलते पाये जाते हैं ।

अभावों की सूची बनाई जाय तो प्रतीत होगा कि हम संसार के सबसे अधिक दरिद्र व्यक्ति हैं । अपने साथ हुए दुर्व्यवहारों का संग्रह इकट्ठा किया जाय तो प्रतीत होगा कि सारा सम्पर्क क्षेत्र दुष्ट आत्माओं से भरा हुआ है । दूर-दूर तक फैला विकृतियों का लेखा-जोखा लिया जाय तो प्रतीत होगा कि संसार में सर्वत्र पाप ही पाप भरा पड़ा है, पर यदि इससे विपरीत स्तर की सूचियाँ बनाई जायें, पिछड़े हुओं की तुलना में अपनी उपलब्धियों को आँका जाय तो प्रतीत होगा हमारी वर्तमान सम्पन्नता भी कम सन्तोषजनक नहीं है । अपने साथ हुए सद्व्यवहारों और उपकारों की सूची बनाई जाय तो प्रतीत होगा कि सम्बन्धियों में सज्जनता का ही बाहुल्य भरा पड़ा है । संसार में जो श्रेष्ठ गतिविधियाँ चल रही हैं उनका विवरण प्राप्त करने पर लगेगा कि इस दुनिया में श्रेष्ठता भी प्रौढ़ स्थिति में मौजूद है ।

मनुष्य क्या है ? इसके उत्तर में एक ही शब्द कहा जा सकता है—विचारों का पुंज । अपने दृष्टिकोण के आधार पर ही जीवन का बाह्य स्वरूप बना है और आन्तरिक स्तर का निर्माण होता है । सोचने के गलत ढंग का नाम ही दुःख है और सही चिन्तन को सुख कहा जा सकता है । उत्थान-पतन की दोनों धाराएँ अपनी ही मान्यताओं और रुचियो की चाल लेकर उल्टी-सीधी दिशाओं में प्रवाहित होती हैं । उन्हीं के कारण देवत्व प्राप्त होता है और वे ही हमें दानव स्तर का बना देती हैं ।

गीता की उक्ति है—'श्रद्धामयोयं पुरुष योगच्छ्रद्धा स एव स' अर्थात् यह मनुष्य श्रद्धा का रूप है जो जैसी श्रद्धा रखता है वह वैसा ही बन जाता है । अपनी आस्था, अपनी मान्यता, अपनी आकांक्षा एव अपनी दृष्टि ही अपने व्यक्तित्व का निर्माण करती है और उसी आधार पर उठने, गिरने की परिस्थितियाँ बनती हैं । विकृत दृष्टिकोण ही हमें नरक में धकेलता है और उसके परिष्कृत होने पर स्वर्ग हाथ बांधकर सामने आ खड़ा होता है । यही है चिन्तन का महत्व और माहात्म्य ।

## अपना स्वर्ग स्वयं बनाइये

स्वर्ग एक 'उपलब्धि' मानी गई है, जिसे प्राप्त करने की इच्छा प्रायः हर मनुष्य को रहती है । कई लोग उसे संसार से अलग भी मानते है और विश्वास करते हैं कि मरने के बाद वहाँ पहुँचा जाता है या

पहुँचा जा सकता है । इस मान्यता के अनुसार लोक स्वर्ग प्राप्त करने के लिए जप, तप, पूजा, पाठ, पुण्य, परमार्थ और साधना उपासना भी करते हैं । इस पृथ्वी से अलग लोक-विशेष में स्वर्ग जैसे किसी स्थान का अस्तित्व है, अथवा नहीं, यह विवाद का विषय है, पर उसे प्राप्त करने की इच्छा मनुष्य के आगे बढ़ने की आकांक्षा का द्योतक है, जिसे अनुचित नहीं कहा जा सकता ।

मनुष्य की यह इच्छा स्वाभाविक ही है कि जिस स्थान पर वह है, उससे आगे बढ़े । वह उन वस्तुओं को प्राप्त करे, जो उसके पास नहीं है । मनुष्य जन्म के रूप में उसे संसार तो मिल चुका, जहाँ सुख भी है और दुःख भी अनुकूलताएँ भी हैं तथा प्रतिकूलताएँ भी, लेकिन मनुष्य की इच्छा रहती है कि दुःख, कष्टों और प्रतिकूलताओं से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहे । वह अधिकाधिक सुखी, सन्तुष्ट और सुविधा-सम्पन्न स्थिति को प्राप्त करे । यह स्थिति जीते-जी प्राप्त की जाय अथवा मरने के बाद, यह अलग विषय है, लेकिन आस्तिक और सरल-विश्वासी व्यक्तियों से लेकर बुद्धिजीवी, हर वस्तु और विषय को तथ्य और तर्क की तराजू पर तोलने वाले परिष्कृत बुद्धि के, यहाँ तक कि नास्तिक और अश्रद्धालु लोग भी अधिक सुखी, अधिक प्रसन्न और अधिक सुविधा-सम्पन्न जीवन जीने की आकांक्षा रखते हैं ।

इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रकृति के अनुसार इस मिले हुए से आगे बढ़कर, जो अभी तक नहीं मिला है, उसे प्राप्त करने की आकांक्षा करते हैं । उस आकांक्षा की पूर्ति के लिए किए जाने वाले प्रयत्नों से पुरुषार्थ को श्रेय मिलता है, वृत्ति को सन्तोष होता है और उपलब्धि को गौरव प्राप्त हुआ है । स्वर्ग प्राप्त करने के लिए—जप, तप, पूजा, पाठ करने वाले लोगों को साधना के क्षेत्र में बल-बुद्धि इसी भूमि पर प्राप्त की जा सकती है । यदि इस लोक से हटकर कहीं स्वर्ग है भी सही, जो संदिग्ध है, तो उसे प्राप्त करने में वही लोग समर्थ हो पाते हैं, जो इसी जीवन में स्वर्ग को प्राप्त कर लेते हैं । यदि इस जीवन में वह स्थिति नहीं प्राप्त की जा सकी तो—मरने के बाद, जब मनुष्य की अधिकांश शक्तियाँ और सामर्थ्य नष्ट हो जाती है तो किस बलबूते पर उस स्वर्ग को प्राप्त किया जा सकता है ?

यदि वास्तव में किसी दूसरे लोक में स्वर्ग जैसा कोई स्थान है तो उसे प्राप्त करने के लिए इसी जीवन में पात्रता उपार्जित करनी पड़ती है । स्वर्ग की कल्पना इस रूप में की जाती है कि वहाँ मनुष्य के आस-पास आनन्द तथा प्रियता बनी रहती है । संसार के सारे धर्म-ग्रन्थों में स्वर्ग का वर्णन आता है । उसके सम्बन्ध में न जाने कितनी कथाएँ प्रचलित हैं और अनेकानेक विशेषताएँ बताई जाती हैं । किसी भी धर्म अथवा मत, सम्प्रदाय में स्वर्ग के सम्बन्ध में चाहे जो मान्यताएँ अथवा धारणाएँ क्यों न प्रचलित रही हों, उनमें विभिन्नता भी क्यों न मिलती हो, लेकिन एक बात सभी प्रतिपादनों में समान रूप से मिलती है कि वहाँ सब कुछ प्रिय तथा आनन्ददायक है । स्वर्ग में ऐसे कोई कारण नहीं है, जिनसे मनुष्य को कष्ट, क्लेश अथवा दुःख हो । ऐसा स्वर्ग जिसकी विशेषता आनन्द तथा प्रियता है, मनुष्य अपने इसी जीवन में रच सकता है । यदि अपनी मनःस्थिति को परिस्थितियों के अनुसार इस योग्य ढाल लिया जाय कि उसमें कहीं कोई प्रतिकूलताएँ हों भी तो उनका कोई प्रभाव न पड़े तथा न ही उनके कारण दुःख या शोक-सन्ताप की अग्नि में जलना पड़े । वरन् प्रतिकूलताओं के रहते हुए भी मनुष्य प्रियता तथा आनन्द की अवस्था में बना रहे ।

यह स्थिति प्राप्त करना मनुष्य के अपने वश की बात है । वह इस प्रकार का वांछित स्वर्ग अपने लिए यहीं पर निश्चित रूप से बना सकता है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है । आवश्यकता केवल अपने दृष्टिकोण में थोड़ा-सा परिवर्तन भर करने की है । दुःख और कष्ट क्यों उत्पन्न होते हैं, इसका कारण यदि ढूँढ़ा जाय तो एक स्थूल-सा कारण बाधा का विरोध समझ में आता है । मनुष्य जो कुछ चाहता है या जो चाहने की इच्छा करता है, वह पूरी न होने पर क्षोभ तथा निराशा होती है । यह क्षोभ और निराशा ही दुःख के रूप में अनुभव होती है । इस स्थिति में यह मानकर चलना चाहिए कि इस संसार में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जिसकी सभी इच्छाएँ पूरी हो जाती हों ।

इच्छाओं की पूर्ति में सन्तोष करने के स्थान पर यदि प्रयत्नों और कर्तव्यों का पालन ही ठीक ढंग से

सम्पन्न करने की रीति-नीति अपना ली जाय तो जिस स्वर्ग या आनन्द को परिस्थितियों पर निर्भर समझा जाता है, वह अपनी मुट्ठी में आ जाता है । गीता के कर्मयोग का यही तात्पर्य है कि हम अपनी प्रसन्नता को कर्तव्य-परायणता एवं प्रयत्नशीलता पर अवलम्बित रखें तो कुछ करें, वह उच्च आदर्शों से प्रेरित होकर करें और इस बात में सन्तोष मानें कि एक ईमानदार एवं पुरुषार्थी व्यक्ति को जो कुछ, करना चाहिए था, वह हमने पूरे मनोयोग के साथ किया । अभीष्ट वस्तु न भी मिले, किया हुआ प्रयत्न असफल भी हो जाय तो भी इसमें दुःख मानने, लज्जित होने या मन छोटा करने की कोई बात नहीं है, क्योंकि सफलता व्यक्ति के प्रयत्न, पुरुषार्थ के अतिरिक्त और भी कई बातों पर निर्भर करती है । इनमें से कई कारण तो ऐसे हैं, जिन पर मनुष्य का अपना कोई वश नहीं चलता । उदाहरण के लिए—अच्छी फसल प्राप्त करने के लिए खेत की भली-भाँति जुताई-बुवाई की जाय, उत्तम बीज बोया जाय चाक-चौबन्द रखवाली की जाय, लेकिन वर्षा पर तो किसान का नियन्त्रण नहीं है । बादल यदि अधिक बरस पड़ें अथवा बिल्कुल भी न बरसें तो इसके लिए क्या किया जा सकता है ?

किसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए पूरे मन से प्रयास किए जायें, लेकिन दूसरे व्यक्ति एक लक्ष्य-बिन्दु पर पहुँचते-पहुँचते आघात कर बैठे, अवरोध खड़े कर दें तो क्या किया जा सकता है ? अस्तु इच्छाओं की पूर्ति के स्थान पर कर्तव्य-पालन या प्रयत्नशीलता को ही अपने सुख का केन्द्र मान लिया जाय और अपने मन की बनावट भी ऐसी हो जाय कि सफलता-असफलता की चिन्ता किये बिना अपने कर्तव्य-पालन में ही वह सन्तुष्ट रहने लगे तो समझना चाहिए कि दृष्टिकोण सही हो गया और अपना आनन्द, अपनी प्रसन्नता अपने हाथों मे आ गई । यदि प्रसन्नता को कर्तव्य-परायणता पर आधारित कर लिया गया है तो अपनी प्रसन्नता भी अपने हाथ में है, उससे वह शक्ति स्वतः ही स्फूर्त होती रहेगी, जो चित्त को आनन्द, उत्साह और सन्तोष से भरे रह सकती है । इस प्रकार हर घड़ी प्रसन्न और प्रफुल्लित रहने का सूत्र हाथ आ जाने पर यह सोचना व्यर्थ है कि जब कभी सफलता मिलेगी या अभीष्ट वस्तु प्राप्त होगी, तभी प्रसन्न होंगे । इसकी प्रतीक्षा में न जाने कितना समय बीत सकता है और फिर भी निश्चित नहीं है कि सफलता मिलने पर प्रसन्न हुआ ही जा सकेगा ।

गीताकार की यह प्रेरणा है कि फल की प्रतीक्षा मत करो, उस पर बहुत ध्यान भी मत दो—न तो सफलता के लिए आतुर बनो और न ही इच्छापूर्ति के लिए परेशान होओ, अपना स्वर्ग आप बनाने का अचूक नुस्खा है । चित्त को शान्त और स्वस्थ रखकर अपने कर्तव्यों को एक पुरुषार्थी के समान भली-भाँति पूरा करने में ही सन्तुष्ट रहने वाले व्यक्ति उस सुख शान्ति, आनन्द और प्रिय परिस्थितियों को प्राप्त कर सकते हैं, जिसकी कल्पना स्वर्ग के रूप में की जाती है । चिन्तन की श्रेष्ठता ही स्वर्ग है एवं निम्न स्तरीय चिन्तन व्यावहारिक जीवन में ऐसी कई समस्याएँ नित्य आती रहती हैं जिन्हें यदि कुशलता से सुलझाया जाय तो उनका न केवल समाधान निकाला जा सकता है बल्कि उस स्थिति से भी बचा जा सकता है जिसे 'नरक जैसी यातना' कहा गया है । कुकल्पनाओं, बुरी सम्भावनाओं का प्राधान्य ही स्थिति को जन्म देता है । अपने कार्यकारी जीवन में लोग कई तरह की अशुभ आशंकाओं से आतंकित रहते हैं । रोजगार ठीक से चलेगा या नहीं, कहीं व्यापार में हानि तो नहीं हो जायेगी, नौकरी से हटा तो नहीं दिया जायेगा, अधिकारी नाराज तो नहीं हो जायेंगे जैसी चिन्ताएँ लोगों के मन-मस्तिष्क पर हावी होने लगती है तो वह जो काम हाथ में होता है, उसे भी सहज ढंग से नहीं कर पाता । इन अशुभ आशंकाओं के करते रहने से मन में जो स्थायी गाँठ पड़ जाती है उसी का नाम भय है ।

भय का एक सामान्य रूप यह भी होता है कि अन्धेरे में जाते ही डर लगने लगता है, अकेले यात्रा करने में किसी अनिष्ट की सम्भावना दिखाई देती है, रोगी होने बीमार पड़ने पर रोग ठीक न होने तथा उसी के कारण मृत्युद्वार तक पहुँच जाने का डर रहता है । यह भी भविष्य के प्रति अशुभ आशंकाओं का ही छोटा रूप है । अँधेरे में जाते समय जी काँपने लगता है । इसलिए कि आशंका होती है कि कहीं कोई कीड़ा-काँटा न बैठा हो या कोई भूत-प्रेत ही न पकड़ ले । अकेले यात्रा करने में भी चोर डाकुओं द्वारा सताए जाने, लूट लेने की आशंका ही डराती

है। इस तरह के डर भी एक तरह से भविष्य के प्रति अशुभ आशंकाओ के परिणाम ही हैं।

इस तरह की आशंकाएँ स्वभाव बन कर भय के रूप में परिणत हो जाती हैं और इन आशंकाओं या भयों का एक ही कारण है, मन की दुर्बलता। भय और कुछ नहीं मन की दुर्बलता से उत्पन्न हुआ भूत ही है। इस सम्बन्ध में एक जापानी लोककथा प्रचलित है। किसी व्यक्ति को एक डरावना जिन्न सताया करता था। वह जागता था तो भी जिन्न सामने खड़ा रहता था और उसे तरह-तरह से सताया करता था, सोता था तो सपने में डरावनी हरकतों से उसे परेशान करता था। एक दिन उसने हिम्मत कर जिन्न से पूछ ही लिया, "तुम कहाँ से आ गए हो ? क्यों मुझे इतना सताते रहते हो ? मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है ?"

इसके उत्तर में जिन्न ने कहा कि, "तुम्हीं ने मुझे बुलाया है और तुम्हीं ने मुझे डराने के लिए जिम्मेदार किया है। इसके लिए तुम्हीं जिम्मेदार हो, क्योंकि तुम्हीं ने मुझे उत्पन्न किया है।" जापान के बड़े बुर्जुग अपने बच्चे को यह कहानी सुनाते हुए बताते हैं कि यह जिन्न लोगों के बुलाने पर अब भी आता है तथा उन्हें तरह-तरह से परेशान करता है। इस जिन्न का नाम भय है। कुल मिलाकर यह है कि भय अपने ही मन की उपज है। कौन यह सोचने के लिए बाध्य करता है कि व्यापार में घाटा हो सकता है, परीक्षा में फेल हुआ जा सकता है, नौकरी में अधिकारी नाराज हो सकते हैं, काम-धन्धा चौपट हो सकता है। बिना किसी के कहने पर व्यक्ति स्वयं ही तो इस तरह की बाते सोचता है। अन्यथा क्या यह नहीं सोचा जा सकता है कि व्यापार में पहले की अपेक्षा अधिक लाभ होगा, नौकरी में तरक्की हो सकती है, परीक्षा में पहले की अपेक्षा अच्छे नम्बरों से पास हुआ जा सकता है। व्यक्ति इस तरह का शुभ और आशाप्रद चिन्तन क्यों नहीं करता, क्यों वह अशुभ ही अशुभ सोचता है ?

भविष्य की कल्पना करते समय शुभ और अशुभ दोनो ही विकल्प सामने हैं। यह अपनी ही इच्छा पर निर्भर है कि शुभ सोचा जाय अथवा अशुभ। शुभ को छोड़कर व्यक्ति अशुभ कल्पनाएँ करता है तो इसमें किसी और का दोष नहीं है, दोषी तो वह स्वयं ही है, इसलिए कि उसने शुभ चिन्तन का विकल्प सामने रहते हुए भी अशुभ चिन्तन को ही अपनाया।

अशुभ चिन्तन चुनने के पीछे भी कारण है। विगत के कटु अनुभवों, असफलताओं और कठिनाइयों से पीड़ित मन वर्तमान में भी लौट-लौटकर उन्हीं स्मृतियों को दोहराता रहता है और जाने-अनजाने अशुभ कल्पनाएँ करता रहता है। यह कल्पनाएँ ही व्यक्ति में भय उत्पन्न करती है। जबकि स्मरण के लिए अतीत के सुखद अनुभव, सफलताएँ और अनुकूलताएँ भी हैं। यदि उन्हें याद किया जाता रहे तो भविष्य के प्रति आशंकित होने के स्थान पर सुखद सम्भावनाओं से आशान्वित भी हुआ जा सकता है।

भय और मनोबल, अशुभ और शुभ चिन्तन, आशंकाएँ और आशाएँ सब मन के ही खेल हैं। इनमें पहले वर्ग का चुनाव जहाँ व्यक्ति को आत्मघाती स्थिति में धकेलता है वहीं दूसरे प्रकार का चुनाव उसे उत्कर्ष तथा प्रगति के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित करता है। सर्वविदित है कि आत्मघात व्यक्तित्व का हनन या असफलता का चुनाव व्यक्ति किहीं विवशताओं के कारण ही चुनता है अन्यथा अपना विकास, प्रगति और अपने अभियानों में सफलता चाहते हैं। जब सभी लोग सफलता और प्रगति की ही आकांक्षा करते हैं तो मन में समाये भय के भूत को जगाकर क्यों असफलताओं को आमन्त्रित करता है ? इसके लिए मन की उस दुर्बलता को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है जिसे आत्मविश्वास का अभाव कहा जाता है।

प्रथम तो अशुभ चिन्तन और अमंगलकारी आशंकाओं से ही बचा जाना चाहिए लेकिन यह स्वभाव में सम्मिलित हो गया है और अपने आपके प्रति अविश्वास बहुत गहरे तक बैठ गया है तो उसके लिए भी प्रयत्न करना चाहिए। इस दिशा में सचेष्ट होते समय यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि हम स्वयं ही भय की रचना करते हैं, उसे बुलाते और अपनी हत्या के लिए आमन्त्रित करते है। यह जान लिया गया तो यह समझ पाना भी कठिन नहीं है कि स्वयं ही भय को नष्ट भी किया जा सकता है। अपने लगाये पेड़ को स्वयं काटा भी जा सकता है और सन्दर्भों में यह बात लागू होती हो अथवा नहीं होती हो किन्तु मन के सम्बन्ध में यह बात शत-प्रतिशत लागू होती है कि वह तभी भयभीत होता है, जब जाने-अनजाने उसे भयभीत होने की आज्ञा दे दी जाती है। यह

आज्ञा अशुभ आशंकाओं के रूप में भी हो सकती है और अतीत के कटु अनुभवों तथा दुःखद स्मृतियों के रूप में भी। कहने का आशय यह है कि किसी भी व्यक्ति के मन में उसकी इच्छा और अनुमति के विपरीत भय प्रवेश कर ही नहीं सकता। तो भीरुता को अपने स्वभाव से हटाने के लिए पहली बात तो यह आवश्यक है कि भय को अपने मनःक्षेत्र में प्रवेश करने की अनुमति न दी जाय।

बहुधा नये कामों का आरम्भ करते समय एक किस्म का संकोच होने लगता है। कारण वही है—अशुभ आशंका। उस स्थिति में अशुभ आशंकाओं को अपने मन से झटक कर विचार किया जाना चाहिए। सफलता और असफलता दोनों ही सम्भावनाएँ खुली हुई हैं। फिर क्या जरूरी है कि असफल ही होना पड़ेगा। मन में आशा का यह अंकुर जमा लिया जाय तो असफलता भी पराजित नहीं कर पाती। उस स्थिति में भी व्यक्ति को यह सन्तोष रहता है कि असफलता कोई नये अनुभव दे गई है। इन अनुभवों से लाभ उठाते हुए आशावादी व्यक्ति दुबारा प्रयत्न करता रहता है और तब तक प्रयत्न करता रहता है, जब तक कि सफलता हस्तगत नहीं हो जाती।

असफलताओं और दुःखदायी घटनाओं को स्मृति पटल पर बार-बार लाने की अपेक्षा ऐसी घटनाओं का स्मरण करना चाहिए जो आपके प्रति आस्था और विश्वास को जगाती हैं। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में सफलता और असफलता के दोनों ही अवसर आते हैं, दोनों तरह की परिस्थितियाँ आती हैं जो अच्छी और बुरी होती हैं। सुख-दुःख के क्षण सभी के जीवन में आते हैं। असफलताओं, कठिनाइयों और कष्टों को याद रखने तथा याद करने की अपेक्षा सफलताओं और सुखद क्षणों को याद करना आशा तथा उत्साह का जनक होता है। ये स्मृतियाँ व्यक्ति मे आत्मविश्वास उत्पन्न करती हैं और जो व्यक्ति अपने आप में विश्वास रखता है, हर कठिनाई का सामना करने के लिए प्रस्तुत रहता है उसके लिए कैसा भय और कैसी निराशा ? आत्मबल सम्पन्न व्यक्ति सदैव स्वर्गोपम सुख-शान्ति भरी परिस्थिति मे जीते बताये गए हैं जबकि अशुभ का ही हमेशा सोचने वाले अपना नरक स्वयं चुन लेते हैं। हम भविष्य की न सोचें, वर्तमान को श्रेष्ठ बनाएँ तथा अपना स्वर्ग स्वयं सृजें।

## मानव जीवन एक कल्पवृक्ष के समान

जीवन को यदि मोटी दृष्टि से देखा जाय तो वह एक ऐसा खिलवाड़ जान पड़ता है जिसे ज्यों-त्यों करके काटा जाता है। निर्वाह की व्यवस्थाएँ जुटाने एवं प्रतिकूलताओं से मोर्चा लेने मे ही माथा-पच्ची करते-करते समय पूरा हो जाता है। चारों ओर अभाव एवं संकट ही नजर आते हैं। नीरस, निरर्थक जीवन जीते हुए—अपने दुर्भाग्य का रोना रोते हुए—व्यक्ति अपना समय समाप्त कर मौत के मुँह में चला जाता है। साधारण जीवन की यही एक छोटी-सी झाँकी है जो विपरीत परिस्थितियों में तो अन्य प्राणियों से भी इसे गया-बीता बना देती है।

इससे ऊपर की स्थिति वह है जिसे असामान्य जीवन कहते हैं। सफल, समर्थ और समुन्नत स्तर को प्राप्त व्यक्ति साधारण मनुष्यों को सौभाग्यशाली प्रतीत होते है, वैसी स्थिति प्राप्त करने को उनका मन भी ललचाता है। पिछड़े और समुन्नत मनुष्य समूहों के मध्य यह अन्तर देखने से आश्चर्य होता है कि एक जैसी काया में रहने वाले मनुष्य प्राणियों की स्थिति का इतना ऊँचा-नीचा होने का, इस असमानता का क्या कारण हो सकता है। स्रष्टा का पक्षपात—अविवेकपूर्ण व्यवहार भी इसे नहीं कह सकते। यदि वहाँ व्यतिक्रम रहा होता तो यह अव्यवस्था प्रकृति के हर घटक में उच्छृंखलता के रूप में दृष्टिगोचर होती।

मानव-मानव के बीच पाये जाने वाले इस अन्तर का जब कारण ढूँढ़ते हैं तो एक यह तथ्य हाथ लगता है कि जीवन की उथली पर्तों तक ही जिनका वास्ता रहा है, उन्हें हमेशा छिलका ही हाथ लगा है। जिन्होंने गहराई में प्रवेश किया है, वे बहुमूल्य रत्न पा सकने में सफल हुए हैं। गहराई में उतरने को ही आध्यात्म की भाषा में 'साधना' कहते हैं। साधना किसकी ? इसका उत्तर है उस देवता की जो मानव जीवन के रूप में हर व्यक्ति को सहज रूप में मिला है। इस कल्पवृक्ष की जो जितनी साधना कर लेता है, वह उतना ही समर्थ-सफल एवं ऊँचे स्तर का बनता चला जाता है। इसकी गरिमा न समझ पाना, 'स्व' का बोध न

होने से परावलम्बी स्वभाव का होना ही वस्तुतः वह अभिशाप है जो कई व्यक्तियों को गई-बीती, नर-पशु जैसी, स्थिति में रहने को विवश कर देता है । स्रष्टा ने बीज रूप में वैभव का भाण्डागार अपनी इस मानवी काया में सँजोकर रखा है । भूल इतनी ही होती है कि न इसे खोजा जाता है, न काम में लाने की बात ही बनती है । जब इस भूल के परिमार्जन के प्रयास चल पड़ते हैं तो इसे 'आत्म-ज्ञान' कहते है । यही जागृति जब सक्रिय होकर महानता की दिशा में मोड़ लेने लगती है तो इसे अत्मोत्कर्ष की साधना कहा जाता है ।

मनुष्य को यदि सबसे बड़ी विभूति प्राप्त है तो वह सुरदुर्लभ मानव जीवन । चाहे तुलना निम्न योनि के प्राणियों से करें अथवा देवताओं से मानव जीवन से श्रेष्ठ एवं बहुमूल्य सम्पदा ईश्वर के विभूति भण्डार मे और कोई है नहीं । शरीर संरचना एवं मनःसंस्थान की दृष्टि से मनुष्य अन्य प्राणियों की तुलना में बहुत आगे है । उसे प्रकृति रहस्यों को खोज निकालने और उनके आधार पर पदार्थ वैभव का मनचाहा उपयोग करने की अद्भुत क्षमता मिली है । ज्ञान और विज्ञान के दिव्य अस्त्र-शस्त्रों से उसकी सत्ता सुसज्जित है । क्रियाशीलता, विचारणा तथा भावना के तन्त्रों में इतनी उत्कृष्टता भरी पड़ी है कि उनके सहारे भौतिक एवं आत्मिक सम्पदाओं का प्रचुर परिमाण में उपार्जन कर सकना उसके बाएँ हाथ का खेल है । गृहस्थ आनन्द, आजीविका के सुनिश्चित आधार अन्य किसी प्राणी को उपलब्ध नहीं । ऐसा क्रिया-कौशल और किसी के भाग्य में बदा नहीं है । उपलब्धियों को देखते हुए उसे सृष्टि का मुकुटमणि कहा जाना सर्वथा सार्थक है ।

जीवन सत्ता का स्वरूप, लक्ष्य एवं सदुपयोग समझा गया या नहीं, समझने के उपरान्त उत्कर्ष का मार्ग अपनाया गया या नहीं । मार्ग पर उत्साह पुरुषार्थ सहित चला गया या नहीं ? इसी चयन निर्धारण पर उत्थान-पतन की आधारशिला रखी जाती है । मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है । अवांछनीयता अपनाकर पतन के गर्त में गिरने या उत्कृष्टता का वरण करके उत्कर्ष के चरम लक्ष्य तक जा पहुँचने की उसे पूरी छूट है । कोई परिस्थितियों का रोना रोता रहे और मनःस्थिति को न सुधारे तो उस विडम्बना रचे बैठे प्रमादग्रस्त से कोई क्या कहे ?

देवता अनेक हैं, पर तत्काल फलदायक, अत्यन्त निकटवर्ती और अनुदान देने के लिए आतुर—आत्मदेव से बढ़कर और कोई नही । जीवन को कल्पवृक्ष कहा गया है । उसकी गरिमा समझने वाले और निर्धारित लक्ष्य के लिए उसे प्रयुक्त करने वाले वह सब कुछ प्राप्त करते हैं जो पाने योग्य है । अन्य देवताओं की अनुकम्पा संदिग्ध है, पर जीवन देवता की साधना का प्रतिफल सर्वथा असंदिग्ध है । दुःख इसी बात का है कि जीवन का महत्व समझा ही नहीं गया और उसे ऋद्धि-सिद्धियों से सुसम्पन्न बनाने की ओर ध्यान गया ही नहीं । अन्यथा स्थिति वैसी न होती, जैसी सामने है ।

भूमि की साधना से किसान और माली फसल काटते और उद्यानों को सोना उगलने के लिए विवश करते है । विद्या की साधना करने वाले विद्वान कहलाते और उच्च पदासीन बनते हैं । व्यवसाय की साधना करने वाले धन कुबेर बनते हैं । शरीर साधने वाले बलवान, पहलवान अनेकों पर हावी रहते हैं । कला साधना से गायक, अभिनेता, मूर्तिकार, चित्रकार, कवि साहित्यकार आदि यशस्वी भी बनते हैं और सम्मानित-समृद्ध भी । देवताओं की साधना भी जब-तब कुछ वरदान अनुदान देती रहती है । इन सबसे बढ़-कर जीवन साधना है, जो उसके लिए अग्रसर हुआ सो निहाल हो गया । ढेले की तरह निरर्थक दीखने वाले जीवन को यदि गहराई में उतरकर कुरेदा जा सके तो उसके अन्तराल में ऐसे अगणित परमाणु भरे मिलेंगे जिनमे से एक-एक का विस्फोट ही धरती को हिला सकता है । उपेक्षा से तो हीरा भी काँच की तरह ठुकराया जाता है । फिर जीवन का स्वरूप और रहस्य न समझने पर उसकी साधना से विरत रहने पर कोई अभाव-दरिद्र से, शोक-सन्ताप से, पतन-पराभव से घिरा पड़ा रहे तो इसके लिए अन्य किसी को दोष कैसे दिया जाय ? जीवन की अवहेलना से बढ़कर पाप इस संसार में और कोई नही । अन्य पापों से कर्त्ता को तत्काल लाभ तो मिल ही जाता है, पर जीवन की उपेक्षा का पातक ऐसा है जिसमें उस छोर से इस छोर तक, आरम्भ से अन्त तक नरक ही नरक सड़ता देखा जा सकता है । भाग्योदय का एक ही चिन्ह है

कि जीवन के साथ जुड़ी हुई सम्भावनाओं को समझा जाय और उसे कषाय-कल्मषों के गर्त से उबार कर परिशोधन परिष्कार की प्रयोगशाला में भेजा जाय ।

प्रज्ञा युग में धरती पर स्वर्ग अवतरित होगा । इस स्मृति को प्रत्यक्ष करने की पूर्ण भूमिका होगी—मनुष्य में देवत्व का उदय । इसका स्वरूप संचित कुसंस्कारों का परिशोधन—दृष्टिकोण एवं स्वभाव व्यवहार का परिष्कार । इस प्रयास में संलग्न होने वाले योद्धा आत्मविजय करने के उपरान्त विश्व विजयी बनते हैं । गीताकार ने अपने को ही अपना भयंकर शत्रु और अपने को ही सर्व-समर्थ स्नेह सौजन्य से भरपूर मित्र कहा है । अनगढ़ जीवन ही वह अभिशाप है जिसके रहते कुबेर भी दरिद्रता से, इन्द्र भी असमर्थता से संत्रस्त पाया जायेगा । जिसे जीवन को निरखने में सफलता मिल गई वस्तुतः वही सच्चा कलाकार है । उसी की सूझ-बूझ और भाग्य रेखा को दसों दिशाएँ सराहती पायी जायेंगी ।

सर्प, बन्दर, भालू, शेर आदि भयानक पशुओं को सधाकर उपयोगी और कमाऊ बनाया जाता है । असभ्य, अनगढ़ और कुसंस्कारी एवं अभिशप्त जीवन को भी आत्म-साधना की भट्टी में गलाना और श्रेय सौभाग्य के ढाँचे में ढालना नितान्त सम्भव है । लोग जितना पुरुषार्थ साधन जुटाने, प्रतिपक्षी को हराने में करते हैं उससे आधा भी यदि अपने आपका परिशोधन, परिमार्जन करने मे कर सकें तो प्रतीत होगा कि यह सबसे अधिक बुद्धिमत्ता का—सबसे अधिक सम्पन्नता, सफलता, उपार्जन का काम बन पड़ा । व्यक्तित्व एक प्रकार का चुम्बक है जो अपने स्तर का सम्पर्क, समर्थन, सहयोग प्रचुर परिमाण में खींच बुलाता है । यह कठिन कार्य नहीं है । दूसरे कहना न मानें, पकड़ में न आयें तो बात समझी भी जा सकती है पर यह समझ से बाहर है कि अपना शरीर, अपना मन, कहना न माने और अपने दृष्टिकोण, स्वभाव, रुझान, अभ्यास को बदलना सुधारना भी अपने आप से न बन पड़े ।

पानी का नीचे ढलना, ढेले का नीचे गिरना स्वाभाविक है पर ऊँचा उठाने के लिए, आगे बढ़ने के लिए कुछ अतिरिक्त साहस करने, कोई नया मार्ग अपनाने की आवश्यकता पड़ती है । अवांछनीय ढर्रे को तोड़ना और चिन्तन तथा व्यवहार को उत्कृष्टता के साथ जोड़ना ही जीवन साधना के निमित्त किया गया सच्चा पराक्रम एवं तप साधना है ।

जीवन ही अपना घनिष्ठतम स्नेही, सहयोगी है । अन्यान्यों की सेवा, सहायता की बात सोचने से पहले देखना होगा कि इस अपने ऊपर सर्वथा आश्रित को सुखी समुन्नत बनाने का प्रयत्न हुआ या नहीं, उत्तरदायित्व निभाया या नहीं । यहाँ भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि साधना, सम्पदा मात्र शरीर यात्रा के काम आती है । जीवन को सुसम्पन्न, समुन्नत बनाने के लिए गुण, कर्म, स्वभाव में उत्कृष्टता भर देने वाली विभूतियों का संचय करना पड़ता है ।

समृद्धि सम्पादन के दो ही उपाय हैं कि पहला घाटा देने वाले छिद्रों को रोकना, दूसरा वैभव बढ़ाने वाले उपाय, उपचारों को अपनाना । शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, पारिवारिक क्षेत्रों में लोग दिवालिया होते और समुन्नत बनते देखे जाते हैं उनमें निमित्त कारण उन्हीं दो अवलम्बन को अपनाने, न अपनाने की सूझ-बूझ काम करती है । यही बात जीवन साधना के माध्यम से व्यक्तित्व को पवित्र, प्रखर बनाने और आत्मोत्कर्ष की आवश्यकता पूर्ण करने के सम्बन्ध में भी है । हर काम योजनाबद्ध ढंग से होता है । बिना सोचे, बिना कार्य की रूपरेखा बनाये कुछ भी करते-धरते रहने वालों की परिणतियाँ भी 'घुणाक्षर न्याय' जैसे संयोग मात्र होते हैं । कार्य छोटा हो या बड़ा उसके सभी पक्षों पर विचार करने के उपरान्त कदम उठाना ही बुद्धिमानी का चिन्ह माना जाता है यही बात आत्मिक प्रगति के सम्बन्ध में भी लागू होती है ।

जीवन साधना में मनन और चिन्तन को निदिध्यासन को आवश्यक माना गया है । हर दिन सूर्योदय से पूर्व या सूर्यास्त के बाद—जब चित्त शान्त एकान्त हो तब अपने अन्तरंग, बहिरंग स्थिति का लेखा-जोखा लेना चाहिए और भूलों को सुधारने, कमियों को पूरा करने तथा भावी प्रगति के लिए जो कदम उठाने आवश्यक है उनका दूरगामी एवं सामयिक निर्धारण करना चाहिए । निर्धारण ऐसा होना चाहिए जो वर्तमान स्थिति में बिना समय गवाँये कार्यान्वित हो सकें ।

(१) आत्म-समीक्षा, (२) आत्म-सुधार, (३) आत्म-विकास, (४) आत्म-निर्माण । यह चार चरण, चारपाई के चार पायों की तरह, कमरे की चार

दीवारों की तरह अनिवार्य रूप से आवश्यक माने गए हैं । आमतौर से अपने दोष-दुर्गुण समझ में न आने देने वाली पक्षपाती धारणा हर किसी पर चढी रहती है । निष्पक्ष पर्यवेक्षक की दृष्टि अपनाकर गौरवास्पद व्यक्तित्व को सामने रखते हुए उसके साथ तुलना करने पर ही यह जाना जा सकता है कि इन दिनों आप अपनी अन्तरंग और बहिरंग स्थिति में किन भूलों और अभावों का दौर है । निदान के उपरान्त ही उपचार बन पड़ता है । न केवल भूलें ढूँढ़ते रहना चाहिए वरन् उनके सुधार का उपाय भी खोजना चाहिए । यह मनन पक्ष हुआ ।

चिन्तन में दो बातें आती हैं—(१) परिमार्जन और परिष्कार (२) पथ्य और औषधि । व्यक्तित्व को पवित्र प्रखर बनाने वाली सत्प्रवृत्तियों को कैसे अपनाया जाय ? वर्तमान स्थिति को देखते हुए इस सन्दर्भ में क्या कदम उठाया जाय । इसका निर्धारण ही नहीं उसे अपनाने का तत्परतापूर्वक प्रयास भी अविलम्ब चलना चाहिए । गुण, कर्म, स्वभाव में शालीनता और प्रतिभा के दोनों उपायों का नियोजन रहना चाहिए । आत्म-निर्माण का यही रचनात्मक उपाय है । इसके उपरान्त चौथा चरण यह है कि जो उपलब्ध है उसे किस प्रयोजन के लिए, किस अनुपात में, कहाँ लगाया जाय ? उपलब्धियों का महत्त्व तभी है जब वे सत्प्रयोजन में लग सकें अन्यथा दुरुपयोग, अपव्यय ही चलता रहे तो सम्पन्नता, दरिद्रता से भी महँगी पड़ती है । आत्म-विकास का अर्थ है अपना दायरा बड़ा करना अर्थात् संकीर्ण स्वार्थपरता के लोभ-मोह के भव-बन्धनों को शिथिल करते हुए समष्टि के साथ अपने आपको जोड़ना । उस दृष्टिकोण को अपनाने पर वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना उमगती है और असीम के साथ जुड़ने को जी मचलता है । दूसरों का दुःख बाँटने अपना सुख बँटाने का आत्मभाव जब विस्तृत होगा तो उसका उपयोग लोक-मगल के कार्यों के लिए समयदान, अंशदान के रूप में प्रस्तुत किए बिना चैन पड़ेगा ही नहीं ।

मनन चिन्तन के निदिध्यासन को यदि नियमित रूप से गम्भीरतापूर्वक करते रहा जाय तो परिशोधन और परिष्कार के दोनों कदम उठते रहेंगे । परिस्थिति के अनुसार क्रमबद्ध कदम उठते रहेंगे और पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचने वाला उपक्रम सुनिश्चित रूप से बनता रहेगा ।

यहाँ एक बात और समझने की है कि मनुष्य पूर्ण से उत्पन्न होने के कारण पूर्ण ही है । जन्मजात रूप से उपलब्ध विभूतियों का दुरुपयोग, अपव्यय ही एकमात्र वह कारण है जिसके कारण कामधेनु का दूध छलनी में दुहने पर जमीन पर गिरता कपड़े चिकने करता और खेद, पश्चात्ताप का निमित्त कारण बनता है । इस दुष्प्रवृत्ति को असंयम कहते हैं । इसे रोक देने की दूरदर्शिता एवं साहसिकता को तपश्चर्या कहते हैं । तप से ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ उपलब्ध होने की बात सर्वविदित है ।

परमात्मा अदृश्य है । आत्मा का कोई दृश्य स्वरूप नहीं । स्रष्टा ने जीवन उपहार के साथ-साथ तीन ऐसे साधन भी दिए हैं जिनको मण्डी में भुनाकर कुछ भी खरीदा जा सकता है—(१) समय, (२) चिन्तन, (३) पराक्रम की क्षमताएँ सभी को उपलब्ध हैं । इनके बदले हर स्तर के साधन खरीदे जा सकते हैं । प्रश्न इतना ही है कि इनका उपयोग कौन, कितनी समझदारी के साथ करता है । बुद्धिमानी की परीक्षा किसी की सम्पन्नता या सफलता नहीं है । वह तो अनीतिपूर्वक तथा भाग्य विधान के सहारे भी उपलब्ध हो सकती है । समझदारी खर्च करने में है । किसी की विवेकयुक्त दूरदर्शिता परखनी हो तो देखना पड़ेगा कि वह उपलब्धियों का खर्च, किस प्रयोजन के लिए, किस प्रकार करता है ।

संयमशील ही सच्ची सम्पदा एवं समर्थता उपार्जित करते हैं । चारों विभूतियों के सम्बन्ध में हर विचारशील को संयमी होना चाहिए । समय का एक क्षण भी निरर्थक नहीं जाने देना चाहिए । दिनचर्या बनानी ही चाहिए । आलस्य प्रमाद में एक क्षण का भी अपव्यय नही होना चाहिए । हर साँस को हीरे-मोतियों से बढ़कर मूल्यवान मानना चाहिए और कार्य पद्धति अपनाकर उसमें तत्पर-तन्मय रहना चाहिए । विश्राम आलस्य का प्रतीक न बने, उसके लिए स्थान तो रहे पर ऐसा न हो कि टालटूल, अनख, आलस्य में समय गुजरता रहे । रावण ने काल पाटी से बाँधकर सफलताएँ अर्जित की थीं । यही मार्ग हर विवेकवान को अपनाना पड़ा है । उन्होंने समय का एक क्षण भी बर्बाद नही होने दिया । योजनाबद्ध रूप से व्यस्त दिनचर्या बनाकर उसका सदुपयोग किया है ।

समय का सदुपयोग पराक्रम के सहारे बन पड़ता है । पराक्रम का अर्थ है—तत्परता और तन्मयता । तत्परता अर्थात् उत्साह भरा परिश्रम । तन्मयता अर्थात् रुचिपूर्वक मनोयोग । दोनों का संयोग जहाँ भी होगा चमत्कारी प्रतिफल हस्तगत होंगे । पसीने में लक्ष्मी निवास करती है । व्यस्तता से ही आरोग्य और मनोबल स्थिर रहता है । आलस्य और दारिद्रय अभिन्न मित्र बनकर साथ-साथ रहते हैं, जैसे सूत्रों को स्मरण रखना चाहिए । हाथ में लिए कामों को प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर उसे श्रेष्ठतम स्तर का बनाने के लिए अपनी समूची प्रतिभा, कुशलता का नियोजन करना चाहिए । जो समय और श्रम की संगति बिठा लेगा उसे कुशल व्यवस्थापकों की तरह हर क्षेत्र में श्रेय सम्मान मिलेगा । जिसका समय आलस्य से और मस्तिष्क प्रमाद से घिरा रहेगा वह पतन पराभव के गर्त में गिरेगा । पिछड़ी और दुर्गति ग्रस्त परिस्थितियों से जकड़ा रहेगा । इसलिए पराक्रम में व्यस्तता का नियोजन रहना ही चाहिए ।

तीसरा वैभव है चिन्तन । शरीर काम करता है किन्तु उसमें रस न लिया जाय । बेगार भुगती जाय तो उसमें मनोयोग न लगेगा । मात्र शरीर काम करता रहेगा । ऐसी दशा में खाली दिमाग शैतान की दुकान बने बिना न रहेगा । विचार ही कर्म की पूर्व भूमिका बनाते हैं । उन्हीं का स्तर उत्थान-पतन के लिए उत्तरदायी होता है । विचार दीखते नहीं वस्तुतः वे ही सौभाग्य और दुर्भाग्य की दिशाधारा का नियोजन करते हैं । विचारों को दिशाधारा देना ही वह बहुचर्चित मनोनिग्रह है जिसे एकाग्रता कहा जाता है और जिसका दैवी वरदान जैसा माहात्म्य बताया जाता है ।

विचारों को आवारा कुत्ते की तरह जहाँ-तहाँ झूठे पत्ते चाटते-फिरने की, अनगढ़ विचारों को कीचड़ में लोटते रहने की छूट नहीं देनी चाहिए । उन्हें सृजनात्मक सज्जनोचित चिन्तन का अभ्यास कराना चाहिए । अवांछनीय कल्पना करते रहने पर प्रतिबन्ध लगाना चाहिए । बुरे विचार मस्तिष्क में प्रवेश करते ही उनमें मल्ल युद्ध करने के लिए प्रतिपक्षी सद्विचारों को जुटा देना चाहिए । काँटे से काँटा निकाला जाता है और अवांछनीय विचारों को उत्कृष्टता, आदर्शवादिता की मान्यताओं को उभार कर निरस्त करना चाहिए । चिन्तन के लिए विषयों का पूर्व निर्धारण हो । वैज्ञानिकों, दार्शनिकों एवं महापुरुषों की तरह अपना चिन्तन निरन्तर अभीष्ट प्रयोजनों के लिए सीमित एवं सुनिश्चित रहना चाहिए ।

चौथी सम्पदा है धन । यह है तो पराक्रम की उपलब्धि, पर उसे भी ईश्वर प्रदत्त समय, पराक्रम और चिन्तन के ईश्वरीय सम्पदा के बदले खरीदी हुई विभूति मानना चाहिए । धन नीतिपूर्वक कमाया जाय और सत्प्रयोजनों में खर्च किया जाय यही है सच्ची और समझदारी की अर्थ नीति । धन को अपने परिवार की एवं समाज की सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने में खर्च करना चाहिए । दुर्व्यसनों में एक छटांक भी खर्च न होने देने का नियन्त्रण बरता जा सके तो असंख्यों दुर्व्यसनों और अनाचारों से सहज ही छुटकारा मिल सकता है । बजट बनाकर खर्च किया जाय । अपव्यय को पास न फटकने दिया जाय तो थोड़े से धन से भी अपनी तथा परिवार की सर्वतोन्मुखी प्रगति के अनेक रास्ते खुल सकते हैं । समय, श्रम, चिन्तन की ही तरह अर्थ साधनों का भी संयम बरता जाना चाहिए । स्मरण रहे संयम तप है । व्यावहारिक जीवन में उपरोक्त चार सम्पदाओं का श्रेष्ठतम सदुपयोग करने के लिए उन्हें अपव्यय दुरुपयोग से बचाने की सावधानी बरती जानी चाहिए । इन चारों सम्पदाओं का सतत स्मरण कर उनको सोद्देश्य प्रयुक्त करने की बात हमेशा विचारनी चाहिए । इसी में मानव का गौरव है ।

## जीवन देवता की आराधना कभी व्यर्थ नहीं जाती

जीवन प्रत्यक्ष देवता है । उसकी साधना कर सकने वाले सुनिश्चित रूप से भौतिक सिद्धियाँ और आत्म-ऋद्धियाँ उपलब्ध करते हैं । दूसरे, भ्रमग्रस्त तो कल्पित देवी देवताओं के सामने नाक रगड़ते, मनुहार करते, दाँत निपोरते और अन्ततः निराश होकर खीझते अनास्था व्यक्त करते देखे जाते हैं । विवेकवानों को वास्तविकता ही वरण करनी चाहिए भले ही वह कठोर या कष्टसाध्य ही क्यों न हो । नियति की व्यवस्था एक सुसंचालित सत्ता के हाथ में है । उसे किसी आतुर लालची की इच्छानुसार नहीं बदला जा सकता । प्रतिभा अर्जित किए बिना बहुमूल्य सफलताएँ यदि ऐसे ही पूजा-पाठ जैसे 'शार्ट कटों' से मिल जाया करें तो फिर

संसार में एक भी मनुष्य व्यक्तित्व उभारने—उत्कृष्टता अपनाने का कष्टसाध्य मार्ग अपनाने का साहस न करेगा। अपना आपा ही सब कुछ है। यदि इसे साथ लिया, इसकी उपासना कर ली तो सब कुछ पाया जा सकता है। इस तथ्य को जितनी गहराई से समझा जा सके, उत्तम है। जो इस सनातन सत्य को जितना जल्दी अंगीकार कर सके, उन्हें उतना ही बड़भागी माना जायेगा। मनुष्य जन्म से जुड़े हुए अनेकानेक उपहारों से लाभान्वित हो सकने का अवसर मात्र ऐसे ही लोगों को मिलता रहा है। भविष्य में भी उन्हीं के लिए सुनिश्चित रहेगा.।

देवता भीतर से उगते हैं। सामने तो वे खड़े भर दीखते हैं। मनःस्थिति अदृश्य है, आन्तरिक है। परिस्थिति उसकी दृश्यमान परिणति है। विषाक्तता रक्त में रहती है। व्रण-अर्बुद के रूप में वह फूटती भर है। पेड़ के पल्लव, फल-फूल ऊपर आसमान से नहीं टपकते, वे दृष्टि से ओझल रहने वाली जड़ों द्वारा भूमि से रस रूप में खींचे जाते हैं। विभूतियाँ-अन्तर में से निकलती हैं। आज तक कभी ऐसा नहीं हुआ कि कुपात्रता के रहते किसी देवी शक्ति के मात्र पूजा पत्री से प्रसन्न होकर किसी के साथ पक्षपात किया हो और योग्यता से अधिक अनुपात में अनुग्रह उड़ेल दिया हो।

मनुष्य की संरचना कुछ ऐसी विशिष्ट है कि वह आत्म-सम्पदा के सहारे सजातीय परिस्थितियों एवं व्यक्तित्वों को अनायास ही अपने निकट जमा कर लेता है। पेड़ अपनी आकर्षण शक्ति से बादलों को खींचते हैं और बरसने के लिए विवश कर देते हैं। खदानें अपने सजातीय कणों को दूर-दूर तक आमन्त्रण भेजती हैं और उन्हें अपने निकट खींच बुलाती हैं। यह चुम्बकत्व है जो जहाँ जितना अधिक होगा, सजातियों को उसी स्तर का आवाहन-निमन्त्रण मिलेगा। फलतः वे तेज गति से दौड़कर उससे आ मिलते हैं। खिलते फूल का चुम्बकत्व मधुमक्खियों, तितलियों और भौरों को आमन्त्रण देता है। खिलते-उभार की ओर अग्रसर यौवन से अनेकों आँखें आकर्षित होती हैं। प्रतिभा अनेकों को प्रशंसक एवं अनुयायी बनाती है। यह चुम्बकत्व का चमत्कार है। ठीक इसी प्रकार साधक का चुम्बकत्व दैवी शक्तियों को अदृश्य रूप में आमंत्रित करता है और उन्हें अनुग्रह बरसाने के लिए सहमत, विवश करता है।

जीव का छोटा अन्तराल लगभग उतना ही समर्थ है जितना ब्रह्म का विराट् विस्तार। जानकारों को पता होता है कि पेड़ तो मात्र कलेवर है, उसकी शोभा-समर्थता का स्रोत तो अदृश्य जड़ों में ही पूर्णतया सन्निहित है। सौर-मण्डल की समस्त प्रक्रिया सूक्ष्म रूप में नन्हें से परमाणु में यथावत् गतिशील रहती है। वृक्ष का विशालकाय ढाँचा छोटे से बीज में सुनिश्चित रूप में विद्यमान रहता है। ठीक इसी प्रकार मानवी काया के जर्रे-जर्रे में विराट् विश्वात्मा की झाँकी मिलती है। हर-कण कितना सामर्थ्यवान है, असीम सम्भावनाओं से भरपूर है, यह जानकर आश्चर्य होता है। पर विडम्बना यह है कि इसी आत्म-गरिमा से—असंख्य व्यक्ति अनभिज्ञ होते हैं। इसी कारण गई-बीती जिन्दगी जीते हुए इस अनमोल रत्न को कौड़ी के मोल तक में बेचने को तैयार रहते हैं।

इस स्थिति से मुक्ति पाकर, मानवी गरिमा का बोधकर एवं इसकी समुचित, सुनियोजित व्यवस्था बनाकर चलने वाला व्यक्ति सामान्य से असामान्य की स्थिति में जा पहुँचता है। परावलम्बन से आत्मावलम्बन की ओर चिन्तन का चलने लगना इसी प्रगति का चिन्ह है। दैवी अनुकम्पा चाहने वाला व्यक्ति जब 'स्व' परायण होकर अपने 'सुपर चेतन' को जगाने का पुरुषार्थ आरम्भ करता है तो उसका महामानव बनने का पथ-प्रशस्त होता चला जाता है। सिद्धान्त सब मिलाकर एक ही है कि व्यक्ति स्वयं को जाने, अपनी प्रसुप्त क्षमता को जगाये एवं आत्म-परिष्कार की, व्यक्तित्व निर्माण की प्रक्रिया से अपनी जीवन साधना आरम्भ करे। हर दृष्टि से फलितार्थ इसी तथ्य के रूप में निकलकर आता है कि जिसने व्यक्तित्व के विकास को, अन्तः की सामर्थ्यों को, जगाने-विकसित करने की साधना कर ली, वही 'सिद्ध पुरुष' बन गया।

अभी मानवी मस्तिष्क की जितनी भी जानकारी वैज्ञानिकों को है—वह मात्र उसका दस प्रतिशत भाग है। इसी सक्रिय भाग की विद्युत का समापन कर मस्तिष्क रूपी कम्प्यूटर को विलक्षण माना जा चुका है। प्रसुप्त जो है, वह कितना सामर्थ्यवान होगा, उसकी तो मात्र कल्पना ही की जा सकती है। गुणसूत्रों की

बनावट व क्रिया-कलापों के विषय में जो भी कुछ जाना जा सकता है, विलक्षण है । जीव-कोष, उसकी संरचना, प्रक्रियाएँ, डी. एन. ए., आर. एन. ए. इनकी जब गौरव गाथा पढ़ते हैं तो आश्चर्यचकित रह जाते हैं । परमाणु के नाभिक की असीम सम्भावनाओं की तरह शरीर का हर जर्रा अपरिमित विशेषताओं से भरा हुआ है । इन्हीं काय-घटकों के माध्यम से व्यक्तियों ने ऐसे-ऐसे असम्भव काम कर दिखाये हैं जिन्हें देखकर आश्चर्य से दाँतों तले अंगुली दबानी पड़ती है । ऐसे व्यक्ति जो प्रारम्भ में घटिया स्तर के थे 'स्व' की गरिमा का बोध होने से आगे कुछ से कुछ बन गए । यह दुस्साहस, असम्भव को कर दिखाने की ललक जहाँ से उठती है, वह मूल स्रोत अपना अन्तःकरण ही है । जहाँ से वे हिलोरें सतत उठती रहती हैं जो जीवात्मा को उठने, जागने और ध्येय तक पहुँचने के लिए गतिशील होने को प्रेरित करती हैं । इसे ही अन्तरात्मा की पुकार, भगवान की आवाज, 'कन्साइन्स' या 'जमीर' नाम से अलंकृत किया जाता है । इसे सुनकर जो अपने पराक्रम को सही मोड़ दे देता है, वही महानता का पथ पा लेता है ।

शरीर की दृष्टि से बली-दुस्साहसियो की यहाँ चर्चा नहीं हो रही है । जीवन के धनी, मनःस्थिति से परिस्थिति को बदलने वाले, अपने अन्तः की साधना से अपना नया संसार बनाने वाले, ऐसे नर पुंगव इतिहास मे अनेकों हुए हैं । महात्मा गाँधी शरीर की दृष्टि से तो क्षीण-दुर्बल थे । मात्र ९६ पौंड की काया, पर प्रचण्ड मनोबल के धनी इस महामानव ने अपनी जीवन साधना से भारत का नव-निर्माण कर दिखाया । अब्राहम लिंकन, मार्टिन लूथर एवं जार्ज वाशिंगटन भी ऐसे ही सामान्य व्यक्तियों में से थे । जीवनोद्देश्य को पहचान कर जब उन्होंने अपनी दिशा को मोड़ा तो ऐसे चले कि फिर पलटकर नहीं देखा । सारी प्रतिकूलताओ से अकेले ही मोर्चा लेने की यह सामर्थ्य उनके भीतर से ही तो उपजी ।

वैज्ञानिकों, अर्थशास्त्रियों, समाज सेवियों को जो यश-सम्मान मिलता है वह उनकी प्रतिभा, साधना, मनोयोग पूर्वक श्रम से अर्जित उपलब्धियों के कारण । इसके लिए उन्हें दैवी मनुहार नहीं करनी पड़ी । अपने अन्दर उन्होंने स्वयं को टटोला—एक विपुल रत्नराशि का भण्डार पाया तथा स्वयं को उसके सदुपयोग की ओर नियोजित कर दिया । हम्फ्री, डेवी, अलेक्जेण्डर फ्लेमिंग, मेडम क्यूरी, एडीसन, आइन्स्टीन, कार्ल मार्क्स, सी. वी. रमन, जगदीशचन्द्र वसु, बाबा साहब आप्टे, बाबा राघवदास जैसे कुछ उदाहरण ऐसे व्यक्तियों के है जिन्होने वास्तविक अर्थों में जीवन देवता की साधना की ।

चौराहे पर खड़ा हुआ मनुष्य यदि अपनी निजी विवेक-बुद्धि जगा सके और उसकी सहायता से दूरदर्शी निर्णय कर सके तो जीवन सम्पदा के दिव्य अनुदान का समग्र लाभ भी मिलता है और आनन्द उल्लास भी । इसके विपरीत यदि लोक प्रवाह में तिनके की तरह बहने की सरलता अपनाई गई तो फिर क्रमशः अधिकाधिक ढलान में उतरते-उतरते उस खारे समुद्र मे जा गिरना होता है जिसका एक चुल्लू भी किसी की प्यास बुझाने के काम नही आता ।

किसे छोड़ें, किसे अपनायें ? यह निर्णय करने की स्वतन्त्र चेतना मनुष्य को मिली है । वह उत्थान या पतन में से किसी का भी चयन व वरण कर सकता है । कौशल की परीक्षा का केन्द्र बिन्दु यही है । इसी कसौटी पर बुद्धिमत्ता और मूर्खता की परख होती है, तद्नुरूप प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा भी मिलती है । भविष्य की सम्भावना भी विनिर्मित होती है । स्वर्ग और नरक में से कौन किस पथ पर चल पड़ा उसी मे उसकी प्रतिभा का प्रमाण मिलता है । आमतौर से व्यक्ति अन्धी भेड़ों की तरह लोक प्रवाह में बहते और पतन-पराभव के दुर्दिन देखते है । कम ही हैं जो वस्तुस्थिति को समझने योग्य विवेक विकसित करते और अपनी स्वतन्त्र चेतना का उपयोग करके अन्धकार से विमुख होकर प्रकाश की ओर चलते हैं ।

सामान्य जन आत्म-निर्धारण के प्रसंगो पर कभी गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं करते । प्रमुख समस्या कभी सामने नहीं आती । मनचले बालकों की तरह वे खेल-खिलवाड में मस्त रहते देखे जाते है । इतने मस्त कि घर स्कूल तक की याद न आये । असामान्य जन आत्म-चिन्तन, आत्म-निर्णय और आत्म-विकास की महत्ता समझते और अनुभव करते है । उन्हे वयस्कों की तरह उत्तरदायित्व का निर्वाह और भविष्य का निर्माण यही दो कार्य प्रमुख लगते हैं, फलतः वे किसी का अनुकरण नही करते, इतना नहीं किसी का परामर्श

भी नहीं लेते हैं। अपनी दिशाधारा का निर्धारण उस उच्चस्तरीय दूरदर्शिता के आधार पर करते हैं जिसे 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' कहा गया है।

परिवर्तित नवयुग में जन-जन को सतयुग के देव मानवों की तरह प्रज्ञा का वरण करना होगा। परिष्कृत दृष्टिकोण उपलब्ध होते ही किसी के सामने भी यह असमंजस न रहेगा कि श्रेष्ठता का मार्ग-दर्शन अपनाया जाय अथवा असुरता के नागपाश में गला फँसाया जाय। आज का दिग्भ्रान्त मनुष्य इस कसौटी पर खोटा सिद्ध हो रहा है, पर कल की प्रतिभाएँ अपना स्वतन्त्र विवेक इस स्तर तक विकसित कर चुकेंगी कि उन्हें उत्कृष्टता अपनाने में किसी असमंजस का सामना न करना पड़े।

बुद्धि की तो संरचना ही ऐसी है कि वह सदा उथले स्वार्थों का ही समर्थन करती और लालची मन को सहयोग देती रहती है। मात्र प्रज्ञा ही दूरदर्शिता और आदर्शवादिता का समन्वय रहने से विवेकयुक्त निर्णय करती और उन्हें साहसपूर्वक अपनाने योग्य आत्मबल उत्पन्न करती है। इस प्रेरणा का उदय होने पर जो कार्य सुविधा सम्पन्न नही कर पाते उसे अभावग्रस्त और कठिनाइयों में उलझे लोग कर गुजरते हैं परन्तु ढर्रे का जीवन जी रहे जन-सामान्य को देखकर अनायास ही यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि नवयुग की स्वर्गीय परिस्थितियाँ विनिर्मित करने वाले देवमानव आखिर आयेंगे कहाँ से ? वे क्या सोचेंगे ? क्या करेंगे ? आज के प्रचलित ढर्रे में हेरफेर करना उनके लिए किस प्रकार सम्भव होगा ? यह जानने की सहज जिज्ञासा उठती है क्योंकि सोचा यह जाता है कि "स्वार्थपरता, सुविधापरस्ती और महत्त्वाकांक्षाओं की गुलामी छोड़ना किसी के लिए भी सम्भव नही है। बातों का जमा-खर्च करते रहना, पढ़ना-लिखना एक बात है और आदर्शों को जीवन में उतारना दूसरी। कल्पना की उड़ानें तो कोई भी भरता रह सकता है।"

किन्तु इस असमंजस को तोड़े बिना लोकमानस को बदलने और पुरोगामी प्रवाह उत्पन्न करने की योजना साकार न हो सकेगी। असमंजस को तोड़ने का एक ही उपाय है कि जागृत आत्माएँ स्वयं वैसा साहस जुटायें। वे अपने को बदलें और सिद्ध करें कि ऐसा साहस न तो असम्भव है, न अव्यावहारिक, न हानिकारक। उसे अपनाने में मात्र आन्तरिक भीरुता, दुर्बलता और कायरता ही बाधक है। संकीर्ण स्वार्थपरता को थोड़ा उदार करते ही वह कृपणता बिस्तर समेटने लगती है जो सरल को कठिन बताती, अग्रगमन में अनेकों खतरे जताती तथा जोखिमों के काल्पनिक घटाटोप खड़े करके डराती रहती थी।

पराक्रमी एक से-एक बड़े पुरुषार्थ करके दिखाते रहते हैं। इस वर्ग के लोगों के लिए अपनी निजी जीवनचर्या में ऐसा आदर्शवादी परिवर्तन करना भी सहज सम्भव हो सकता है जो दूसरों में अनुगमन का उत्साह भर सके। अग्रगामी ही सदा से नई-नई परम्पराएँ प्रारम्भ करते रहे हैं। भविष्य में यह उत्तरदायित्व उदारचेताओं को ही उठाना पड़ेगा कि वे जिस मार्ग पर दूसरों को चलाना चाहते हैं उस पर सर्वप्रथम स्वयं कदम बढ़ायें। इतना किए बिना आदर्शवादी प्रचलनों की सम्भावना अवरुद्ध ही पड़ी रहेगी।

देवमानव अगले युग का प्रधान घटक होगा। उसे ढालने के लिए वर्तमान युगशिल्पी अपने आपको नमूना प्रस्तुत करें तभी काम चलेगा। पुर्जे ढालने से पहले साँचे की जरूरत पड़ती है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए स्वयं ही श्रेष्ठ व्यक्तित्वों को आगे आना होगा। इस दिशा में चलने का प्रथम चरण होगा अनियन्त्रित लोभ-लिप्सा पर अंकुश लगाना और औसत भारतीय स्तर के निर्वाह पर सन्तुष्ट रहना। दूसरा कदम होगा सौम्य निर्वाह के अतिरिक्त बचने वाली क्षमता को सदुद्देश्यों के लिए नियोजित करना।

इन दो कदमों को अनवरत क्रम से उठाते चलने वाले ही महानता के लक्ष्य तक पहुँचते रहे हैं। अब या भविष्य में इसके अतिरिक्त कोई रास्ता ऐसा निकलेगा नहीं जिसमें लिप्सा और कृपणता तो यथास्थान बनी रहे पर महानता की उपलब्धि सहज ही हस्तगत हो सके।

यदि औसत भारतीय स्तर का निर्वाह सन्तोषजनक बन सके तो लिप्सा बटोरने मे लगी हुई बुद्धि को परमार्थ प्रयोजनों के सम्बन्ध में विचार करने के लिए पर्याप्त अवकाश मिल सकता है। मकड़ी की तरह जाले बुनने और उलझते रहने की विडम्बना से यदि अपने श्रम समय को बचाया जा सके तो हर व्यक्ति अपनी सामर्थ्य का बहुत बड़ा अंश इतना फालतू देखेगा कि उतने भर से युगधर्म के लिए बहुत कुछ कर सकना

सम्भव हो सके । उपलब्ध साधनों से मात्र निर्वाह की बात सोची जा सके और उन्हें विलासी तथा संग्रही लालच से बचाकर सदुद्देश्य के लिए लगाने का नया निर्धारण किया जा सके तो कुछ अत्यन्त दीन-दरिद्रों को छोड़कर अधिकांश व्यक्ति ऐसे मिलेंगे जो परमार्थ प्रयोजनों के लिए इतना कुछ कर सकते हैं जिस पर सहस्रों धनाध्यक्षों को निछावर किया जा सके । जीवनदेव के आराधक इस तथ्य को जानते स्वयं की दिव्य सामर्थ्यों की महत्ता को पहचानते हैं । वे निरोध और सुनियोजन, तप और योग की व्यवहारिक साधना कर असामान्य बनने की दिशा में चल पड़ते हैं । तब—

प्रसुप्त शक्तियों के जगने-उभरने-उफनने पर उसी तरह की प्रवाहधारा बहने लगती है जैसी कि यमुना, नर्मदा जैसी नदियाँ कुण्डों से निकलकर भू-तल पर प्रवाहित होती हैं । इतना होने पर ब्रह्म की दिव्य शक्तियाँ व्यक्ति पर अन्तरिक्ष से घटाओं की तरह बरसती हैं । यह दोनों ही सौभाग्य हर किसी के लिए सहज-सुलभ हैं । स्वयं को इस योग्य बनाकर इस संसार में कुछ भी पाया जा सकता है । सामान्य स्थिति में तो सब कुछ अनगढ़ सा, बेढंगा-सा बना रहता है । जीवन देवता की साधना अन्तरंग और बहिरंग दोनो पक्षों को स्वस्थ समुन्नत बनाती है । झाड़ियों के स्थान पर उद्यान लगाना, वन्य पशुओं को पालतू बनाना, अनगढ़ को सुगढ़ में बदल डालना, ही संस्कृति है । इसी का चमत्कार इस दृश्य जगत में सर्वत्र बिखरा पड़ा है । अपने आपे को सद्गुणों की सम्पदा से लाद लेना—यही जीवन साधना का एक मात्र उद्देश्य है । यही वह तत्वदर्शन है जो एक नितान्त सामान्य जीवन जीने वाले को एक मात्र एक ही मोड़ मिलते ही असामान्य बना देता है ।

## छोटी-छोटी बातें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण

असाधारण कहे जाने योग्य अवसर जीवन में कम ही आते हैं जिनसे लाभ उठा कर चमत्कारी प्रगति की जा सके । ऐसा कोई अवसर यदा-कदा ही लाटरी खुल जाने या खजाना मिल जाने की तरह ही आता है अन्यथा प्रगति का लक्ष्य तो छोटे-छोटे कदम बढ़ाकर ही प्राप्त किया जा सकता है । यात्राओं में द्रुतगति से बढ़ चलने और रेल मोटरों या वायुयानों से जल्दी ही दूरी तय कर लेना भले ही सम्भव हो किन्तु जीवन यात्रा में द्रुतगति से बढ़ चलने का कोई उपाय नहीं है वहाँ तो प्रगति क्रमशः और धीरे-धीरे ही होती है । इसीलिए जीवन कला के प्रशिक्षक इस बात पर जोर देते हैं कि व्यक्ति को किन्हीं बड़े अवसरों और बड़े कामों के लिए अपनी प्रतिभा तथा क्षमता का परिचय देने के लिए हाथ पर हाथ धरे बैठे नहीं रहना चाहिए वरन् छोटे-छोटे कामों तथा छोटी-छोटी बातों में ही पूर्ण सजगता, सावधानी तथा तत्परता का परिचय देना चाहिए । चार्ल्स डिकेन्स ने तो प्रतिभाशाली उसे ही माना है जो अपने जीवन की छोटी-छोटी बातों पर ध्यान देता है । स्वेट मार्डन ने लिखा है कि "यह एक ठोस तथ्य है कि दुनिया में जितने भी व्यक्ति महान बने हैं, उन सबने अपने जीवन में छोटी-छोटी बातों को महत्त्व दिया है क्योंकि हमारे जीवन में असाधारण घटनाएँ तो बहुत कम आती हैं । छोटी-छोटी बातें और साधारण घटनाएँ, छोटे-छोटे अनुभव जो दीखने में बहुत मामूली लगते हैं, वे ही कुल मिलाकर हमारे जीवन को नया रूप देते हैं ।"

छोटे से तथ्य अपने आप में कितना विराट् सत्य समाहित किए रहते हैं यह गणित के द्वारा भी बड़ी सरलता से समझा जा सकता है । विश्वास नहीं होता कि गेहूँ का एक दाना पूरी पृथ्वी को भोजन दे सकता है, लेकिन गणना की गई है कि गेहूँ के एक दाने से बारह वर्ष में इतना गेहूँ पैदा हो सकता है कि उसके द्वारा पूरी पृथ्वी को भोजन दिया जा सकता है । गेहूँ के एक दाने से एक वर्ष में पचास दाने उगते हैं और उन पचास दानों से प्रति दाने के हिसाब से पचास-पचास दाने प्रतिवर्ष उगाये जाये तो १२ वर्ष में एक ही दाने से २४,४१,६२,५०,००,००,००,००,००० दाने उत्पन्न होंगे और इतने दानों का भण्डार इतना बड़ा होगा कि उसके द्वारा संसार के सभी मनुष्य भरपेट भोजन कर सकें । छोटी बातों का महत्त्व इस तथ्य से भी समझा जा सकता है कि आठ लाख छियासी हजार मील व्यास वाला सूर्य आँख की पुतली के आगे आ गए एक बाल की ओट में छुप सकता है । तिनके की ओट में पहाड़ छुप जाने वाली उक्ति तो सर्वविदित ही है ।

खैर यह प्रतिपादन तो तर्कों के आधार पर दिए गए हैं किन्तु ऐसे उदाहरण भी हैं जिनमें सचमुच लोगों

ने छोटे-छोटे अवसरों का उपयोग कर महान सफलताएँ प्राप्त कीं । न्यूटन ने एक बाग में बैठकर सेब को पेड़ से टपकते हुए ही तो देखा था । इस साधारण-सी घटना ने उन्हें गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का पता लगाने की प्रेरणा दी और वे इसमें सफल भी हुए । जेम्सवाट ने रसोईघर में चाय की केतली के ढक्कन को उठती हुई भाप से खड़-खड़ करते हुए ही देखा था और इसी छोटी-सी बात ने उन्हें भाप की शक्ति के सम्बन्ध में और अधिक जानने के लिए प्रेरित किया था । इस छोटी-सी घटना से प्रेरणा लेकर ही जेम्सवाट ने रेल के इंजन का आविष्कार किया । पेड़-पौधों में भी प्राण होते हैं । यह पता लगाने की प्रेरणा जगदीश चन्द्र बसु को एक छोटी-सी घटना से मिली थी । हुआ यह था कि बचपन में वे शाम के समय एक पेड़ पर चढ़कर उछलकूद मचा रहे थे । माँ ने मना किया कि शाम के समय पेड़ों को तंग मत करो, उनके सोने का वक्त हो गया है । माँ की इसी समझाइश ने उन्हें इतना मथ डाला कि वे सोचने लगे क्या सचमुच पेड़-पौधों में भी प्राण होते हैं । यह छोटा-सा प्रश्न बीज ही आगे चलकर विकसित वनस्पति विज्ञान की नींव रख गया ।

छोटी-छोटी बातों पर ध्यान देना कितना आवश्यक है, यह उन प्रसंगों से भी समझा जा सकता है । जिनमे साधारण बातों की उपेक्षा करने पर बड़े दुष्परिणाम सामने आये । माचिस की एक जलती हुई तीली कहीं भी डाल देने से बड़े-बड़े अग्निकाण्ड हो जाते हैं । पिछले दिनों की ही बात है । नेमेथी (हंगरी) के एक परिवार में कोई बच्चा माचिस जलाकर खेल रहा था । तीली किसी ज्वलनशील घरेलू पदार्थ पर जा गिरी और उससे आग भड़क उठी । इस आग से गाँव के २३१ घर जल गए । इस तरह की घटनाएँ आये दिन घटती ही रहती हैं । सड़क पर जरा-सी नजर चूक जाने पर भीषण दुर्घटनाएँ हो जाती हैं । गाड़ी का ब्रेक लगाने में थोड़ी-सी चूक हुई नहीं कि कई व्यक्तियों का जीवन खतरे में पड़ जाता है ।

आपसी व्यवहार में, आचरण में थोड़ी-सी असावधानी भी जीवन स्वास्थ्य और सामाजिक शान्ति व्यवस्था तक के लिए खतरा उत्पन्न कर देती है । कहा जाता है कि इंग्लैण्ड की राजकुमारी एलाइस की मृत्यु इसी प्रकार एक छोटी-सी गल्ती से हो गई थी । उसके छोटे बच्चे को डिप्थीरिया हो गया था, बच्चे ने अपनी माँ से प्यार करने के लिए कहा । माँ ने चुम्बन लिया और परिणामस्वरूप उसी रोग के कारण एलाइस को भी प्राण गँवाने पड़े । वैसे भी अधिकांश बीमारियाँ इसी तरह की छोटी-छोटी भूलों और असावधानियों के कारण होती हैं । संक्रामक रोग तो विशेषतया इन्हीं कारणों से फैलते हैं कि लोग उनसे बचने के लिए आवश्यक सावधानी नहीं बरतते ।

इतिहास प्रसिद्ध तथ्य है कि सन् १६०५ ई. में मुडेना तथा बोलोना राज्य का युद्ध मात्र एक छोटी गल्ती के कारण छिड़ा था और इसमें भीषण नर संहार हुआ, हजारों लोग मारे गए और उजड़ गए । हुआ यह था कि मुडेना देश के सैनिक बोलोना राज्य की सीमा से लगे एक सार्वजनिक कुएँ पर से बाल्टी उठा लाये थे । इस छोटी-सी घटना ने सीमावर्ती सैनिकों के बीच तनाव पैदा कर दिया जिसका परिणाम भयंकर युद्ध हुआ ।

अब से कोई सौ-डेढ़ सौ वर्ष पहले तक ब्रिटेन में पत्र लिखने वाले को नहीं, पत्र पाने वाले को डाक खर्च देना पड़ता था । पत्र लिखने वाले बिना टिकट चिपकाए चिट्ठियाँ लिखकर डाक के डिब्बे में छोड आते थे, जहाँ से उन्हें निर्धारित स्थानों पर पहुँचा दिया जाता और पाने वाला डाक शुल्क देकर चिट्ठियाँ ले लेता था । एक बार इंग्लैण्ड के संसद सदस्य रोलैण्ड हिल किसी छोटे से गाँव की सराय में ठहरे । वहाँ की मालकिन ने डाकिए को वह चिट्ठी वापस कर दी, जो उसे उसके पति ने लिखी थी । पूछने पर बताया कि उन दोनों पति-पत्नी ने निश्चय कर रखा है कि वे लिफाफों पर एक फूल बना दिया करेंगे । लिफाफे पर फूल देखकर यह समझ लेंगे कि सब कुशलतापूर्वक है और इसके बाद चिट्ठी वापस कर देंगे । डाक खर्च उठाने की इससे कोई जरूरत नहीं रहेगी । इस घटना से प्रेरित होकर ही रोलैण्ड हिल ब्रिटिश संसद में यह प्रस्ताव लाये, जिसके पास होने पर डाक खर्च पत्र लिखने वाले को ही देना आवश्यक हो गया । एक छोटी-सी घटना से समूची डाक-व्यवस्था में परिवर्तन कर दिया ।

सैन फ्रांसिस्को से प्रकाशित होने वाली पत्रिका में एक घटना का उल्लेख छपा था । जिसमें बताया गया कि एक साधारण सी बात ने किस प्रकार एक कम्पनी के लेखा कर्मचारी से लेकर उसके व्यवस्थापकों तक को परेशान कर दिया । हुआ यह कि लेखा कर्मचारी जब भी हिसाब करने बैठता नौ-सौ डॉलर का हिसाब नहीं मिलता । ध्यान से देखने पर एक स्थान पर भूल पकड़ी गई । भूल, हुई नहीं थी उसे संयोग ही कहा जा सकता है । कैशबुक के पृष्ठों में एक मक्खी मर गई थी और उसकी टाँग एक हजार डॉलर के सैकड़े वाले शून्य पर इस प्रकार चिपक गई थी कि वह एक हजार के स्थान पर उन्नीस सौ दिखाई दे रहा था ।

जीवन छोटी-छोटी बातों और छोटी-छोटी घटनाओं से मिलकर ही बना है । कहा जा चुका है कि महान और असाधारण कहे जाने वाले अवसर तो बहुत कम आ पाते हैं अक्सर तो छोटी बाते ही किसी व्यक्ति को उसके जीवन में निर्णायक स्थिति में पहुँचाती है । अस्तु छोटी-छोटी बातों और घटनाओं पर पूरा-पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए, उनकी यो ही उपेक्षा नहीं कर देना चाहिए । जो व्यक्ति अपने स्वभाव, प्रकृति और आदतों की छोटी-छोटी बातों पर ध्यान नहीं देता वह किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता । जीवन साधना में इस तथ्य को भी उतना ही महत्त्व दिया जाना चाहिए जितना कि कठिन समझे जाने वाले गुण, कर्म, स्वभाव के परिष्कार हेतु अनिवार्य सूत्रों को दिया जाता है ।

## ध्येय के प्रति अटूट निष्ठा : सफलता की एक अनिवार्य शर्त

परमात्मा ने संसार के अन्य प्राणियों के साथ मनुष्य को भी मुक्त हस्त से जो सम्पदा वितरित की है, वह है जीवन । अन्य प्राणियों से मनुष्य इस अर्थ में भले ही भिन्न हो कि उसके पास बुद्धि है, प्रखर उर्वर मस्तिष्क है, सम्वेदनशील हृदय है तथा स्वतन्त्र स्वयंभू आत्मा है परन्तु अन्य प्राणियों के साथ वह जीवन सम्पदा में साम्य ही रखता है । यह बात दूसरी है कि कई प्राणी मनुष्य की अपेक्षा कम ही जीवित रहते हैं और कई प्राणी उससे अधिक । प्रश्न आयु का नहीं है । समस्या यही है कि जहाँ अन्य प्राणी अपने थोड़े या अधिक जीवनकाल में सन्तुष्ट रह लेते हैं, वही मनुष्य निरन्तर असन्तोष की आग में जलता-दहकता रहता है । इस असन्तोष के कारण उसे दुःखी भी होना पड़ता है और वह हमेशा उद्विग्न, बेचैन बना ही रहता है ।

क्यों है यह असन्तोष ? क्यों है यह खिन्नता, क्यों है यह क्षोभ ? आदि प्रश्नों के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में कोई ध्येय निर्धारित करता है, उसकी अपनी कुछ महत्त्वाकांक्षाएँ होती हैं, जिनकी पूर्ति होने पर ही उसे सुख सन्तोष मिलता है । अन्य प्राणियों के पास वैसा कोई न तो ध्येय होता है और न ही उनकी कोई महत्त्वाकांक्षाएँ होती हैं, इसलिए वे प्रकृति प्रेरणा से ढर्रे का जीवन बिताकर ही सुखी रह लेते है, जबकि मनुष्य का सुख-दुःख इसके अपने ध्येय की प्राप्ति और महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति होने न होने पर निर्भर है ।

ध्येय कोई भी निर्धारित किया जाय, प्रत्येक व्यक्ति की अपनी परिभाषा के अनुसार ध्येय की प्राप्ति ही जीवन की सफलता है और उसका प्राप्त न होना ही असफल जीवन जीना है । व्यक्ति की अपनी बुद्धि और चेतना के स्तर के अनुसार ध्येय छोटे-बड़े हो सकते हैं, मुख्य बात उनको प्राप्त करना ही है और वही उसके लिए जीवन की सफलता की कसौटी है । उस ध्येय को प्राप्त करने में थोड़े ही व्यक्ति सफल हो पाते हैं, अधिकांश व्यक्तियों को असफलता का मुँह देखना पड़ता है । उसे आवश्यकता से या सफलता न मिलती दिखाई पड़ने पर जो खीझ उत्पन्न होती है, उसके कारण लोग अपने आप से, अपने परिवार, परिवेश, परिस्थितियों तथा समाज से शिकायत करने लगते हैं । यह मनःस्थिति उसे और भी विपण्ण कर देती है ।

सफलता न मिलने पर या मिलती हुई नहीं दीख पड़ने पर परिस्थितियों या व्यक्तियों से शिकायत करने की अपेक्षा विचार यह किया जाना चाहिए कि ऐसा क्यों हो रहा है ? सफलता प्राप्ति की आकांक्षा रहते हुए भी बहुत से व्यक्ति यही सोचते हैं कि या तो उनके पास उपयुक्त प्रतिभा नहीं है अथवा ऐसे अवसर नहीं मिल पाते जिनके द्वारा सफलता को हस्तगत किया जाय । पहले चिन्तन का कारण जहाँ व्यक्ति में आत्मविश्वास का अभाव है वही दूसरी धारणा पर्याप्त

परिश्रम किए बिना ही अनायास लक्ष्य प्राप्ति की दुराशा से जन्म लेती है ।

प्रतिभा का न होना या अवसर का न मिलना असफलता का कारण है अथवा कोई और कारण है, जो सफलता की प्राप्ति में अवरोध बन कर आड़े आ रहे हैं, यह विचारणीय है । प्रतिभा के सम्बन्ध में आमतौर पर लोग एक गलत धारणा के शिकार होते हैं । इस सम्बन्ध में उनकी मान्यता होती है कि प्रतिभा कोई ऐसा गुण है जो ईश्वर कुछ ही व्यक्तियों को देता है और उसके बल पर लोग साधारण व्यक्तियों की अपेक्षा सामान्य प्रयासों से ही बड़ी सफलताएँ अर्जित कर लेते हैं ।

वास्तव में ऐसा कुछ है नहीं । प्रतिभा न तो किसी में जन्मजात होती है और न ही किसी व्यक्ति में चमत्कार की तरह उभरती है । प्रतिभा यदि कोई जन्मजात विशेषता जैसा गुण है भी सही तो उसका लाभ तभी उठाया जा सकता है जब व्यक्ति अपने लक्ष्य की दिशा में निरन्तर एकाग्रता और तन्मयतापूर्वक प्रयास करता रहे अन्यथा अपने आस-पास के परिचित व्यक्तियों में से ही ढेरों उदाहरण ऐसे देखे जा सकते हैं, जिनमें कोई व्यक्ति बचपन में अपनी आयु, स्थिति के व्यक्तियों से अधिक मेधावी दिखाई देता था, किन्तु सामान्य जिन्दगी व्यतीत कर रहा है । यदि प्रतिभा ही किसी सफलता का आधार रही होती तो बचपन में मेधावी दिखाई देने वाले उन व्यक्तियों को आज उन्नति के शिखर पर होना चाहिए था ।

इसके विपरीत ऐसे व्यक्ति भी देखे जा सकते हैं जो बचपन में दब्बू और मन्दबुद्धि के व्यक्ति रहे हैं, किन्तु अब प्रचलित परिभाषा के अनुसार सफल जीवन व्यतीत कर रहे हैं । इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध गणितज्ञ श्री निवास रामानुजम् का उदाहरण सर्वविदित है । मद्रास के एक बहुत ही गरीब घराने में उनका जन्म हुआ । पढ़ने-लिखने में बेहद कमजोर पन्द्रह वर्ष की आयु मे उन्हें अगली कक्षा में इसलिए प्रवेश नहीं मिल सका कि अंग्रेजी में उन्होंने वांछित योग्यता प्राप्त नहीं की थी । पढ़ाई बन्द हो गई । निराशा और हताशा की इन्हीं घड़ियों में उनके हाथ कहीं से गणित की कोई पुस्तक लग गई । उस पुस्तक के सहारे ही उन्होने गणित का अभ्यास बढ़ाया और इस विषय में इतनी पारंगतता प्राप्त कर ली कि कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय ने उन्हें अपने यहाँ अध्ययन के लिए आमन्त्रित किया । इसके बाद तो उनकी जीवन पुस्तक में सफलता के इतने अध्याय जुड़ते गए कि आज भी जब कहीं दुनिया भर में किसी भी स्थान पर गणित के विकास मे योगदान देने वालों की चर्चा चलती है तो रामानुजम् का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है ।

रामानुजम् के पास कहाँ थी वह प्रतिभा, जिसे जन्मजात गुण कहा जाता है और कहाँ थे वे अवसर जिन्होंने उन्हें आगे बढ़ाया वे आगे बढ़े अपने ही निरन्तर प्रयासों द्वारा और एकाग्रतापूर्वक निश्चित दिशा में लग जाने से वे अपने भीतर वह क्षमता विकसित कर सके, जिसने उन्हें सफलता के द्वार तक पहुँचाया । इसी तथ्य की ओर इंगित करते हुए प्रसिद्ध विचारक सी.डब्ल्यू. बेण्डेल ने लिखा है "जीवन में सफलता प्राप्त करना प्रतिभा और अवसर की अपेक्षा, एकाग्रता तथा निरन्तर प्रयास पर अधिक अवलम्बित है ।"

सफलता की आकांक्षा सभी करते हैं, प्रगति करना सभी चाहते हैं किन्तु कितने व्यक्तियों के मन में इतना धैर्य होता है कि जब तक अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति न हो जाय तब निरन्तर प्रयास किया जाता रहे । कुछ व्यक्ति तो इतने जल्दी अपने प्रयत्नों को छोड़ देते हैं कि लगता है उनके मन में सफलता प्राप्ति की कोई विशेष आकांक्षा थी ही नहीं । यों ही, औरों की देखादेखी उन्होंने अपने मन में सफल होने की महत्त्वाकांक्षा पाल ली थी और जब सरलता से वह प्राप्त न हो सकी तो अंगूर खट्टे हैं सोच कर उस दिशा में प्रयास छोड़ दिए या भाग्य को दोषी बता कर, दैव को प्रतिकूल मानकर, अवसर न मिलने की बात सोचकर लक्ष्य से हाथ जोड़ लिए ।

ध्येय कोई भी क्यों न हो, किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्ति को अपना लक्ष्य क्यों न चुना जाय, अभीष्ट तक पहुँचने की एक ही शर्त है उसके प्रति सर्वतोभावेन समर्पण और अटूट निष्ठा । सफल व्यवसायी अपने व्यवसाय में ही जीते हैं, वे खाते हैं तो व्यवसाय के सम्बन्ध में सोचते रहते हैं, बोलते हैं तो चिन्तन वहीं केन्द्रित होता है, कोई भी काम करते हैं तो उनके सोच-विचार व्यवसाय को लेकर ही चलते रहते हैं । सफल राजनेता, वैज्ञानिक, कलाकार, दार्शनिक, चिन्तक,

साहित्यकार सभी व्यक्ति, जिन्होंने सफलता प्राप्त की उन्होंने अपने ध्येय को ही जीया है, उस ध्येय की हवा में ही साँस ली है, तब उन्हें सफलता मिली है ।

मनुष्य के सन्तोष का केन्द्रबिन्दु किसी विशेष क्षेत्र में सफलता प्राप्त करना है तो उसे भी यही नीति अपनानी पड़ेगी । जगन्नियन्ता ने प्रत्येक उपलब्धि या उपहार का मूल्य निर्धारित कर रखा है, उसे चुकाये बिना कुछ भी प्राप्त नहीं किया जा सकता । बिना चुकाये प्राप्त करने की आशा की जाती या सस्ते में प्राप्त कर लेने की कामना उठती है तो असफलता का सामना करना ही पड़ेगा और तज्जनित असन्तोष का संत्रास भोगना पड़ेगा । इन प्रयासों के लिए नियन्ता ने पर्याप्त समय, जीवन के रूप में उपलब्ध कराया है, जिसे निरन्तर व्यस्तता और प्रयत्नपूर्वक किया जाना चाहिए ।

## सफल और सन्तोषी जीवन की रीति-नीति

एक जैसी क्षमताएँ जन्म से ही प्राप्त करते हुए भी कुछ व्यक्तित्व जिस भी क्षेत्र में उतरते हैं—सफलताएँ अर्जित करते जाते और कुछ जीवन-पर्यन्त, दीन-हीन, गई-गुजरी परिस्थितियों में बने रहते हैं और किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं हो पाते । ऐसे लोग परावलम्बी बने जीवन को घसीटते और किसी तरह अवशेष दिन पूरे करते हैं । एक की सफलता और दूसरे की असफलता को देखकर मन में यह प्रश्न सहज ही उठता है कि सफल और असफल होने के मूलभूत कारण कौन-कौन से हैं ? किन विशेषताओं के रहने से कुछ व्यक्ति जिस भी क्षेत्र में उतरते हैं अपने लक्ष्य में सफल हो जाते जबकि दूसरों के द्वारा उनकी उपेक्षा कर देने से असफलता ही हाथ लगती है ।

किसी भी क्षेत्र से सफल होने के लिए प्रायः तीन सूत्रों का अवलम्बन लेना होता है—(१) लक्ष्य का निर्धारण, (२) अभिरुचि का होना, (३) क्षमताओं का सदुपयोग । ये तीन सिद्धान्त ऐसे है जिन्हे अपनाकर किसी भी क्षेत्र में सफल होना सम्भव है ।

समाज के अधिकांश व्यक्तियों का जीवन-क्रम लक्ष्य विहीन होता है । सफल व्यक्तियों को देखकर उनका मन भी वह सौभाग्य प्राप्त करने के लिए ललचाता रहता है । कभी एक दिशा में बढ़ने की सोचते हैं और कभी दूसरी । विद्वान को देखकर विद्वान, कलाकार को देखकर कलाकार बनने की ललक उठती है । कभी धनवान होने और कभी बलवान बनने की बात सोचते हैं । अपना कोई एक सुनिश्चित लक्ष्य नहीं निर्धारित कर पाते । बन्दर की भाँति उनका मन भटकता रहता है । फलतः एक दिशा में क्षमताओं का नियोजन नहीं हो पाता । बिखराव के कारण कोई प्रयोजन पूरा नहीं हो पाता । असफलता ही हाथ लगती है ।

जिस तरह देशाटन के लिए नक्शा और जहाज चालक को दिशा सूचक की आवश्यकता पड़ती है । उसी प्रकार मनुष्य जीवन में लक्ष्य का निर्धारण अति आवश्यक है । क्या बनना और क्या करना है यह बोध निरन्तर बने रहने से उसी दिशा में प्रयास चलते हैं । एक कहावत है कि "जो नाविक अपनी यात्रा के अन्तिम बन्दरगाह को नहीं जानता उसके अनुकूल हवा कभी नहीं बहती ।" अर्थात् समुद्री थपेड़ों के साथ वह निरुद्देश्य भटकता रहता है । लक्ष्य विहीन व्यक्ति की भी यही दुर्दशा होती है । अस्तु सर्वप्रथम आवश्यकता इस बात की है कि अपना एक निश्चित लक्ष्य निर्धारित किया जाय ।

सफलता का दूसरा सूत्र है—अभिरुचि का होना । जो लक्ष्य चुना गया है उसके प्रति उत्साह और उमंग का जगाना—मनोयोग लगाना । लक्ष्य के प्रति उत्साह, उमंग न हो, मनोयोग न जुट सके तो सफलता सदा संदिग्ध बनी रहेगी । आधे अधूरे मन से, बेगार टालने जैसे काम करने पर किसी भी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि की आशा नहीं की जा सकती । मनोविज्ञान का एक सिद्धान्त है कि "उत्साह और उमंग शक्तियों का स्रोत है । इनके अभाव में मानसिक शक्तियाँ परिपूर्ण होते हुए भी किसी काम मे प्रयुक्त नही हो पाती ।"

उत्साह किसी भी कार्य का प्राण है । शरीर में प्राण वायु की भाँति वह लक्ष्य की ओर गतिशील करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है । उत्साह रूपी अग्नि ही कार्य संचालन के लिए भाप तैयार करती है । वह युवावस्था का लक्षण है । अतएव अभिरुचि का अर्थ है जो भी लक्ष्य निर्धारण किया गया है उसमें पूर्ण मनोयोग जुड़ा हो और उत्साह में कमी न आने पाये ।

प्रायः किसी भी काम के आरम्भ में जितनी अभिरुचि दिखाई पड़ती है उतनी बाद में नहीं रह पाती । फलस्वरूप जितनी तत्परता और तन्मयता लक्ष्य के प्रति सतत बनी रहनी चाहिए उतनी न होने से आधी अधूरी सफलता ही मिल पाती है ।

सफलता अर्जित करने का तीसरा सूत्र है—अपनी क्षमताओं का सुनियोजन—सदुपयोग । समय उपलब्ध सम्पदाओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है । शरीर, मन और मस्तिष्क की क्षमता का तथा समय रूपी सम्पदा का सही उपयोग असामान्य उपलब्धियों का कारण बनता है । निर्धारित लक्ष्य की दिशा में समय के एक-एक क्षण के सदुपयोग से चमत्कारी परिणाम निकलते हैं । शरीर से श्रम करना ही पर्याप्त नहीं है वरन् मस्तिष्क की क्षमता का उसमें पूर्ण योगदान होना आवश्यक है । मस्तिष्क में असीम सम्भावनाएँ भरी पड़ी है । विचारों की अस्त-व्यस्तता और एक दिशा में सुनियोजन न बन पाने से ही उसकी अधिकांश शक्ति व्यर्थ चली जाती है । शक्तियों के बिखराव से कोई विशिष्ट उपलब्धि नही हासिल हो पाती । सूर्य की किरणें बिखरी होने से उनकी शक्ति का पूरा लाभ नहीं हो पाता । आतिशी-शीशे पर केन्द्रीभूत होकर वे प्रचण्ड अग्नि का रूप ले लेती हैं । मस्तिष्क की सामर्थ्य के सन्दर्भ में भी यही बात लागू होती है ।

सफल और असफल व्यक्तियों की आरम्भिक क्षमता, योग्यता और अन्य बाह्य परिस्थितियों की तुलना करने पर कोई विशेष अन्तर नहीं दीखता । फिर भी दोनों की स्थिति में आसमान और धरती का अन्तर आ जाता है । इसका एकमात्र कारण है एक ने अपनी क्षमताओं को एक सुनिश्चित लक्ष्य की ओर सुनियोजित किया, जबकि दूसरे के जीवन में लक्ष्यविहीनता और अस्त-व्यस्तता बनी रही । सफल एवं श्रेष्ठ जीवन के लिए यह भी हृदयंगम करना जरूरी है किन्तु मनुष्य जिन परिस्थितियों में जन्म लेता है उसमें पूर्ण रूप से गुण युक्त बने रहना प्रायः असम्भव सा है । दैनिक व्यवहार और लोकाचार मे भूले, त्रुटियाँ और अपराध होने भी सम्भव हैं । अच्छे बुरे का विवेक सदैव नहीं रहता । मनोविकार उठते हैं तो मनुष्य दुष्कर्मों की ओर प्रेरित होता है । कुछ न कुछ दोष तो सभी में होते हैं । पूर्ण रूप से सद्गुणी और सदाचारी व्यक्ति बहुत ही थोड़े मिलेंगे । अधिकांश व्यक्तियों के स्व में कुछ न कुछ बुराइयाँ जरूरी होती हैं । यह सं गुण दोषमय है, एक सी स्थिति यहाँ कहीं नहीं है

दोष मनुष्य जीवन की स्वाभाविक प्रक्रिया है नि निन्यानवें प्रतिशत अवस्थाओ में कोई भी मनुष्य अ को दोषी नहीं ठहराता, चाहे उससे कितनी ही भ भूल क्यो न हुई हो ।

भूल को स्वीकार कर लेने में हानि कुछ भी न है । अपना मन निर्मल हो जाता है और आगे जी के लिए स्वस्थ चित्त एवं जागरूक हो जाता है, वि दोष को जब दोष मानकर स्वीकार नहीं किया जा तो मनुष्य दुस्साहस उद्दीप्त होता है और उसे अपर करने में ही आनन्द आने लगता है । छिपाई हुई भू भी अनेकों दूसरे प्रकार के अनर्थों को जन्म देती हैं इस तरह पाप और दोष-दुष्कर्म से प्रत्यक्ष में उत विषैला वातावरण नही बनता जितना उसे छिपाने होता है ।

छिपाये हुए अस्वीकृत दोषो की जड़ें मनुष्य मस्तिष्क मे गहराई तक प्रवेश करके मजबूत स्थि बना लेती हैं । जो एक बार, क्या बार-बार दण्ड दे से भी दूर नहीं होती, । बाँध लगाकर रोके गए पा की तरह उसे जिधर से असावधानी और कमजो दिखाई पड़ती है उधर ही बार-बार फूट पड़ता है इससे मनुष्य की अशान्ति बढ़ती है । सारी शक्ति इ शक्ति अपव्यय की चौकसी में ही खर्च होती रहती और रचनात्मक या गुणात्मक जीवन के सारे सुख औ आनन्द तिरोहित हो जाते हैं । आत्म-कल्याण के इच्छु को मनोगत दोषों को सुधारने में बहुत परेशान होन पड़ता है, किन्तु यदि इन दोषों को प्रकट कर दिय जाय तो मस्तिष्क का बहुत सा बोझ हल्का हो जात है और आत्म-विकास का नैतिक पथ प्रशस्त होने लगत है ।

अपने दोष स्वीकार कर लेने का अर्थ है सच्चाइ के प्रति प्रेम । सच्चाई मनुष्य के बाह्य आन्तरिक विकास में परमोपयोगी गुण है, अगर सच्चाई न हो तो मनुष्य एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता । सच्चाई प्रथम आवश्यक वस्तु है उसका परित्याग कर देने से विश्वात्मा की अनुभूति सम्भव नहीं हो सकती है । मनुष्य डरा-डरा सा रहेगा । झूठ मे हृदय काँपता है । चारों ओर

से कोई न कोई उँगली ही उठाता जान पड़ता है। हर संकेत पर, प्रत्येक इशारे पर यहीं संशय होता है कि वह कोई अपनी बुराई कर रहा है चाहे वहाँ बात किसी अन्य पुरुष की चल रही हो। निर्भीकता सच्चाई में होती है। जिसे सच बोलने का अभ्यास होगा वह भला किसी की निन्दा से क्यों घबरायेगा। सच्चे आदमी सदैव साहसी होते हैं। सन्त सुकरात कहा करते थे कि—जो अपने आपको व्यक्त कर सकता है उसे मैं सर्वोपरि साहसी मानता हूँ। मुझे विश्वास हो जाता है कि वह एक दिन जरूर अपना जीवन-लक्ष्य प्राप्त कर लेगा क्योंकि अब उसका हृदय साफ हो गया है और परमात्मा को धारण करने की स्थिति बन गई होती है।

पाप जब तक मनुष्य के मन में ही चक्कर काटते रहते हैं, वह उन्हें प्रकट कर नहीं पाता तो उसकी दशा बहुत गिरी-गिरी सी दुर्बल और दिग्भ्रान्त जैसी बनी रहती है। किसी सही निष्कर्ष पर पहुँच सकने की उसकी शक्ति नहीं होती। विचार नहीं उठते, जो उठते भी हैं वे टूटे-टूटे, बिखरे-बिखरे। ऐसा गतिशील विचार प्रवाह इसमें नहीं आता जो वह कुछ विशेष कार्य कर सके।

इसलिए मनुष्य के मन में जब तक दोषों की विचार तरंगें उठती हैं, तब तक वह उतने ही सीमा क्षेत्र में घूमता रहता है। उसकी दृष्टि अन्तर्मुखी नहीं हो पाती। बाह्य जीवन के सुखोपभोग की चाह पर ही टकराया करता है। इस स्थिति के रहते मनुष्य का सामान्य जीवन-क्रम भी व्यस्त और विशृंखलित ही बना रहता है। उसके जीवन में सच्चा आनन्द नहीं उमड़ पाता है। अतः अपनी बात को भी प्रकट होने का अवसर देना चाहिए। अपने दावों को भी कबूल कर लेना चाहिए ताकि यह स्पष्ट हो जाय कि सच्चाई के प्रति आप में साहस है और दुर्गुणों को आप अच्छी दृष्टि से नहीं देखते, चाहे वह अपने ही क्यों न हो। बुराई के लिए लज्जा की अनुभूति होनी ही चाहिए।

अपनी बातों को ठीक मानने का अर्थ तो यही होता है कि दूसरे सब झूठे हैं। इस प्रकार अहंकार, अज्ञान का द्योतक है। इस असहिष्णुता से घृणा और विरोध बढ़ता है, सत्य की प्राप्ति नहीं होती। सत्य की प्राप्ति तभी सम्भव है, जब हम अपनी त्रुटियों, भूलों और कमियों को निष्पक्ष भाव से देखें। अपने विश्वासों का निरीक्षण भी करना चाहिए। मनुष्य का मन ऐसा हो जैसा किसी बाग का रखवाला माली होता है। माली का काम केवल पौधा लगाना नहीं, वरन् फूलों के पौधों के आस-पास उगने वाली अनावश्यक झाड़-झंखाड़ को भी उखाड़ कर फेंकना है। गुणों की पौध भी तभी अंकुरित एवं पल्लवित हो सकती है, जब मानसिक विद्वेषों को समय-समय पर मस्तिष्क से निकाला जाता रहे। इससे चित्त, मन, स्वास्थ्य प्रसन्न और मस्तिष्क विकासशील बना रहता है।

मनुष्य जीवन की पवित्रता के लिए शारीरिक स्वच्छता ही काफी नहीं है आन्तरिक सफाई भी चाहिए। शास्त्र मर्यादा में इसे यों कहा गया है—

> वसतां न पवित्रः सन् बाह्यतोऽभ्यन्तः तथा।
> यतः पवित्रतायां हि रिजतेऽति प्रसन्नता॥

अर्थात्—"मनुष्य को भीतर और बाहर सभी ओर से पवित्र होना चाहिए। पवित्रता में ही प्रसन्नता समाविष्ट है।"

अपने दोष व्यक्त करते हुए आन्तरिक निष्कपटता पा लेना जितना ज़रूरी है, उतना ही दोषान्वेषण की प्रवृत्ति के त्याग में भी सावधान रहना चाहिए। मन की भरी हुई बुराइयों की सड़ांध से कुछ कम घातक प्रभाव पर दोष दर्शन का नहीं होता। यह ठीक पहली स्थिति जैसी ही खतरनाक बात है। मन को दोषो मे रस नहीं लेने देना चाहिए फिर वे चाहे अपने हों चाहे पराये। दूसरों मे दोष न निकालना, दूसरों को इतना उन दोषों से नहीं बचाता जितना अपने को बचाता है।

गुणों का चिन्तन न करे केवल अवगुणों पर ही दृष्टिपात करें तो अपना प्रत्येक परिजन भी अनेको बुराइयों, दोषों से ही ग्रस्त दिखाई देगा, अतः स्नेह, आत्मीयता, सौजन्यता तथा प्रेम पूर्ण व्यवहार में कमी आयेगी, जिससे जीवन के सुखों का अभाव हो जायेगा। अपने बच्चों के छोटे-मोटे दोष भूल जाने की पिता की दृष्टि ही सच्ची होती है। माँ यदि बेटों की गल्तियो को ढूँढ़ा करे तो उसे दण्ड देने से ही फुर्सत न मिले। दूसरो के अवगुणों को उपेक्षा की दृष्टि से ही देखना उचित है, जबकि स्वयं के सम्बन्ध मे अत्यन्त ही कड़ा रुख होना चाहिए। अपनी बुराइयाँ देखते

रहना एवं उनके निराकरण का प्रयास करना नित्य अनिवार्य माना जाय ।

जीवन में कई बार ऐसी परिस्थितियाँ सामने आती हैं जो असह्य होती हैं और मन को खिन्न, विषण्ण, दुःखी तथा उदास बना देती हैं । इसी तरह की परिस्थितियों में एक है किसी के द्वारा आलोचना या निन्दा किया जाना । सामान्यतः मनुष्य अपने लिए प्रशंसा ही सुनना चाहता है । किसी व्यक्ति में लाख कितने ही दोष-दुर्गुण भरे हों, उसे अपनी कमियाँ दिखाई नहीं देतीं । दिखाई देती भी हैं तो वह उसके लिए अपने स्वभाव की नहीं, परिस्थितियों को ही जिम्मेदार ठहराता है । गल्तियाँ होती हैं तो कारण बताया जाता है कि परिस्थितियाँ ही अमुक प्रकार की थीं जिनमें ऐसा होना स्वाभाविक था । गल्तियाँ करने और स्वभाव में त्रुटियाँ होने के बावजूद भी मनुष्य उन्हें स्वयं तो नजर अन्दाज करता ही है, अपने साथियों, मित्रों-परिचितो और अन्य लोगों से भी यह अपेक्षा करता है कि वह भी उन परिस्थितियों को नजर अन्दाज कर दें ।

एक तो मनुष्य को अपनी कमियाँ, त्रुटियाँ कम ही दिखाई देती हैं और दूसरे दिखाई भी देती है तो वह इतना असहिष्णु अनुदार होता है कि किसी और के द्वारा उनकी ओर इंगित किया जाना सह नहीं पाता । इसे व्यक्ति का अहंकार भी कह सकते हैं कि वह दूसरो को अपने दोष दर्शन का अधिकार देना नहीं चाहता और यदि कोई उसके दोष देखता या बताता है तो न केवल दु.खी होता है, वरन् उनका प्रतिकार करने के लिए भी कटिबद्ध हो जाता है । अपनी निन्दा आलोचना को न सह पाना एक कमजोरी ही कही जायेगी । उसी तरह की कमजोरी कि व्यक्ति सुखकर अनुकूल परिस्थितियों की कामना करता है और दुःखदायी प्रतिकूल परिस्थितियों से घबड़ाकर दूर भागता है । उसी प्रकार मनुष्य अपनी प्रशंसा सुनना तो पसन्द करता है, किन्तु निन्दा या आलोचना से बचना चाहता है । जबकि निन्दा-आलोचना प्रशंसा का ही दूसरा पक्ष है । दोनों एक सिक्के के दो पहलू हैं । जो व्यक्ति जितने प्रशंसित और चर्चित होते हैं उनकी उतनी ही निन्दा-आलोचना भी होती है । बुरे कामों में लगे अपराधी प्रकृति के व्यक्तियों की निन्दा अलग बात है, उसे भर्त्सना और प्रताड़ना कहा जा सकता है । यहाँ निन्दा से आशय व्यक्ति की कमियों और त्रुटियों की चर्चा ही लगाना चाहिए ।

इस स्तर की निन्दा-आलोचना को सहज भाव से लिया जा सके तो व्यक्ति को अपने आपका सुधार करने के लिए भारी मदद मिलती है और यदि व्यक्ति दूसरों के द्वारा की गई आलोचना को रचनात्मक दृष्टि से देखने लगे तो उसे अपने उत्कर्ष मे इतनी सहायता मिलती है कि सहज ही अपने सुधार की दिशा मिल जाती है । अपने में कौन-सी खामियाँ या त्रुटियाँ हैं, कौन-सी कमजोरियाँ हैं, क्या दोष हैं ? इनका स्वयं इतना पता नहीं चलता जितना कि दूसरे लोग अनुभव कर सकते हैं, क्योंकि व्यक्ति स्वयं तो अपनी दृष्टि से अपने लिए हितकर आचरण ही करता है दूसरों पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है ? अथवा दूसरों का उससे हित हो रहा है या अहित ? इसकी नाप-जोख करने का कहाँ अवकाश रहता है और कहाँ इसकी आवश्यकता समझी जाती है ? जबकि आवश्यक यह भी है कि अपनी रीति-नीति का आचरण, व्यवहार का दूसरों पर भला-बुरा क्या प्रभाव पड़ता है ? दूसरो का हित होता है अथवा अहित ? यह भी ध्यान रखा जाय । अपने व्यवहार या आचरण की परख दूसरों के द्वारा की गई आलोचना और निन्दा के प्रकाश में भली-भाँति की जा सकती है । इसीलिए कहा गया है—

निन्दक नियरे राखिए, आँगन कुटी छवाय ।
बिन पानी साबुन बिना निर्मल करै सुभाय ॥

अर्थात्—निन्दा, आलोचना दुराग्रह वश भी की जा सकती है । यदि उससे भी उद्विग्न न हुआ जाय तो अपनी सहनशीलता बढ़ती है, उससे कुछ घाटा नही होता । बल्कि मनीषियों ने तो यहाँ तक कहा है कि इस प्रकार की निन्दा से मनुष्य वन्दनीय स्थिति को प्राप्त हो सकता है । पाणिनि ने तो निन्दा को भी एक रस मानते हुए कहा—

भूमि निन्दा प्रशंसा सु नित्य योगेऽतिशायने ।
सम्बन्धेऽस्ते विवक्षायां भवन्ति मातुवादय : ॥

—*रसानामानन्द: रसानन्द:*

अर्थात्—जैसे शृंगार, वीर आदि रस के साथ यथा सामायिक दृश्य एवं भावो के प्रदर्शन मे आनन्दानुभूति होती है, उसी प्रकार निन्दा रस के प्रवाह में भी

रसास्वादन होता है । निन्दा को ग्यारहवाँ रस बताते हुए उसको स्थायी भाव-द्वेष कहा गया है । ईर्ष्या और किसी का यथोचित मार्गदर्शन करने के लिए की गई आलोचना उसके संचारी भाव बताये गए हैं ।

सचमुच व्यक्ति यदि अपनी निन्दा को सकारात्मक भाव से स्वीकार करने लगे तो इसमें हित और उत्कर्ष साधन ही होता है । कई बार यह निन्दा अपने प्रकट-अप्रकट दोषों की ओर इंगित करती है तथा उन्हें सुधारने की प्रेरणा देती है तो कई बार जब अतिरंजित ढंग से आलोचना निन्दा की जाती है तो वह उन दोषों की ओर से सतर्क करती है । भगवान श्रीकृष्ण ने प्रकारान्तर से अर्जुन की आलोचना करते हुए ही, उसमें युद्ध के सम्बन्ध में उत्सुकता और कर्मयोग के प्रति जिज्ञासा जागृत की थी । अर्जुन की भर्त्सना-सी करते हुए भगवान कृष्ण कहते हैं—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्य जुष्टमस्वर्ग्यम कीर्तिकरमर्जुन ॥
क्लैव्यं मा स्मगमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥

—*गीता २/२,३*

अर्थात्—हे अर्जुन ! तुम्हें इस विषमस्थल में यह अज्ञान किस कारण उत्पन्न हुआ ? क्योंकि यह न तो श्रेष्ठजनों द्वारा आचरण किया गया है तथा न स्वर्ग और कीर्ति को देने वाला है । इसलिए हे अर्जुन ! नपुंसकता को मत प्राप्त हो, तुम्हारे लिए यह उचित नहीं है । तुम्हारे हृदय मे जो तुच्छ दुर्बलता उत्पन्न हो गई है, उसे त्याग कर तुम युद्ध के लिए खड़े हो जाओ ।

भगवान श्रीकृष्ण ने यह मित्रतापूर्ण परामर्श और मन को कचोट देने वाले शब्द नपुंसकता, क्षुद्र हृदय की दुर्बलता, श्रेष्ठजनों द्वारा असमर्थित आचरण बताकर अर्जुन को यह प्रश्न करने के लिए ही प्रेरित किया और तैयार किया कि—

"कार्पण्यदोषोपहत स्वभावः पृच्छामि त्वां धर्म समूढ़ चेताः।"

—*गीता २/७*

अर्थात्—"कायरता रूप दोष से उपहत हुआ धर्म के विषय में मोहित चित्त हुआ आपको पूछता हूँ, जो कुछ निश्चय किया हुआ कल्याणकारक साधन हो वह मेरे लिए कहिए !" धर्मशास्त्रों और पुराण ग्रन्थों में ऐसे कई प्रसंग आते हैं, जिनमें चरित नायकों को किसी ने ऐसी कोई बात कह दी कि उससे उनका सोया हुआ पौरुष, पराक्रम जागृत हो उठा तथा जिस कार्य को नायक असम्भव समझ रहे थे, उसे आनन-फानन में ही कर गए ।

लोकतन्त्र इसलिए अन्य सब शासन प्रणालियों से श्रेष्ठ है और सफल सिद्ध हुआ है कि उसमें सत्तारूढ़ पक्ष के अतिरिक्त एक सबल विपक्ष भी होता है जो शासकों की त्रुटियों और गल्तियों को बताता रहता है । उसकी आलोचना करता रहता है और उस आलोचना का अंकुश, विरोध का भय शासकों को मनमानी करने से रोके रहता है ।

इसलिए निन्दा, आलोचना से रुष्ट होने, दुःखी होने या प्रतिकार लेने की भावना, रखने की अपेक्षा रचनात्मक उपयोग करने की ही बात सोचनी चाहिए । इसी में भला है और इसी में हित । यदि निन्दा आलोचना को सहज भाव से स्वीकार किया जाय तो मनीषियों का कथन है कि इससे दुर्गुणों का विनाश हो जाता है । "ज्योतिषा बाधते तमः निन्दया बाधते दोषः ।" *संस्कृत की प्रसिद्ध सूक्ति है* । तदनुसार निन्दा, आलोचना का उपयोग अपने उत्कर्ष, आत्म-परिष्कार के लिए भी किया जा सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है । चाहिए वह दृष्टि जो निन्दा के प्रकाश में अपने दुर्गुणों-दोषों को ढूँढ़ सके और चाहिए वह सहिष्णुता जो निन्दा, आलोचना को सह सके ।

## वाक्शक्ति एक दिव्य विभूति

घटना महाभारत काल की है । राजसूय यज्ञ समाप्त हो चुका था, किन्तु सांस्कृतिक समारोहों की अब तक हस्तिनापुर में धूम मची हुई थी । ऐसी ही एक रात दुर्योधन नाट्य शाला से वापस लौट रहा था । मार्ग मे स्फटिक का बना जल कुण्ड था । चन्द्रमा के प्रकाश से उसका रंग इस तरह मिलता था कि पर्याप्त प्रकाश होने पर भी जल कुण्ड स्पष्ट नहीं हो पा रहा था । भ्रम वश मार्ग सीधा जानकर दुर्योधन सीधा चलता गया और जल से भरे उस हौज में जा गिरा । पाण्डवों का अन्तःपुर समीप ही था । राजरानी द्रौपदी मणि के प्रकाश में किसी ग्रन्थ का अध्ययन कर रही थी । कुण्ड में गिरने की आवाज से उनका ध्यान उधर

आकर्षित हुआ तो देखा दुर्योधन गिर पड़ा है । कौरवों के प्रति भीतर की घृणा वाणी में उतर आयी और उसके मुख से यह निकल ही गया "अन्धों के अन्धे ही होते हैं ।"

शब्द दुर्योधन के कान तक पहुँचे । उसने इसे अपना अपमान समझा एवं प्रतिशोध की आग में उसका शरीर जलने लगा । दुर्योधन ने वहीं प्रतिज्ञा की "द्रौपदी को भरी सभा में नग्न न किया तो मेरा नाम भी दुर्योधन नहीं ।" इतिहास बताता है कि इन छः शब्दों—दस अक्षरों की ही प्रतिक्रिया स्वरूप महाभारत का भयंकर युद्ध हुआ ।

समर्थ गुरु रामदास कहा करते थे कि 'संसार भर में हमारे मित्र मौजूद हैं और सारे संसार में शत्रु भी । परन्तु उन्हें प्राप्त करने की कुंजी जिह्वा के कपाट में बन्द है ।' इस कथन का अर्थ यह है कि व्यक्ति का परिचय, सम्पर्क और प्रभाव क्षेत्र उसके वाक्-कौशल पर निर्भर है । वाणी व्यक्तित्व को प्रकट करने का एक ऐसा प्रत्यक्ष माध्यम है जिसके द्वारा मित्र शत्रु दोनों ही बनाये जा सकते हैं । जो इसका सदुपयोग करते हैं हर जगह अपने मित्र खोज लेते तथा घनिष्ठता स्थापित कर लेते हैं । अनजाने व्यक्ति भी वाणी के जादू से अपने घनिष्ठ बनते देखे जाते हैं, जबकि वाणी की कटुता से मित्रों को भी शत्रु बनते देरी नहीं लगती ।

परिष्कृत, संयत, विनम्र और अपनत्व से अनुप्राणित वाणी किस तरह बिल्कुल ही अजनबी व्यक्ति को भी अपना बनाकर सहयोग करने के लिए बाध्य करती है इसकी एक प्रसिद्ध घटना है । स्वामी रामतीर्थ वेदान्त का प्रचार-प्रसार करने अमेरिका जा रहे थे । अमेरिका पहुँचने पर जहाज से नीचे उतरने ही वाले थे कि एक अमेरिकन ने पूछा स्वामी जी आपका कोई मित्र है, किसके यहाँ आप रुकेंगे ? स्वामी रामतीर्थ मुस्कराये तथा बोले—'पूरे अमेरिका में मेरा केवल एक अपना और घनिष्ठ मित्र है, और वह मित्र तुम हो । ऐसा कहते हुए उन्होंने अपनत्व भरा हाथ उसके कंधे पर रख दिया । जाने क्या जादू था उस वाणी में कि वह अमेरिकी अत्यन्त प्रभावित हुआ । उसने आग्रहपूर्वक न केवल स्वामी जी को ससम्मान अपने घर पर ठहराया अपितु जब तक वे अमेरिका में रहे हर तरह से वह सहयोग करता रहा । स्वामी रामतीर्थ ही नहीं संसार के जितने भी महापुरुष हुए हैं अपनी ओजस्वी वाणी के सहारे उन्होंने महान कार्यों के लिए अनेकों का सहयोग व श्रद्धा अर्जित की है ।

महान कार्यों में ही नहीं व्यावसायिक क्षेत्र में भी सफल होने वाले व्यक्ति वाक् कौशल का सदुपयोग करके ही अभीष्ट सफलताएँ प्राप्त करते हैं । समाज में जीभ की कमाई खाने वालों का एक स्वतन्त्र वर्ग भी है । वक्ता, गायक, प्रचारक से लेकर औद्योगिक व्यावसायिक प्रतिष्ठानों के कार्यकर्त्ता व प्रतिनिधि तक अपनी वाक् चातुरी के बल पर जिन व्यक्तियों से सम्पर्क साधते हैं, अपनी बात उनसे मनवा लेते हैं । जीवन बीमा निगम व अन्यान्य निजी बीमा संस्थाओं के व्यापक विस्तार एवं बढ़ती लोकप्रियता का एक सबसे बड़ा कारण है—उनके एजेन्ट्स का वाक् कौशल, जिसका उपयोग करके वे अपने लक्ष्य में सफल होते हैं । व्यावसायिक सफलताओं में वाणी का ही सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान होता है । व्यापारियों और दुकानदारों के यहाँ प्रायः देखा जाता है कि ग्राहक उनके पास किसी वस्तु का नमूना देखने और भाव जानने के लिए जाता है और माल खरीद कर ही लौटता है । यह वाणी के कौशल का प्रभाव है ।

वाक् कौशल के आधार पर जब व्यापारिक और व्यावसायिक क्षेत्र में लोग सफल हो जाते हैं तो कोई कारण नहीं कि निःस्वार्थ भाव से सम्पर्क एवं प्रभाव क्षेत्र विस्तृत न किया जा सके । असफलता का एक ही कारण है कि अधिकांश व्यक्तियों को बातचीत करने का सही ढंग नहीं मालूम होता है । फलस्वरूप दूसरों पर अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ता । मित्र बनाने ही नहीं कर्म क्षेत्र में सफल होने तथा अन्य व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त करने के लिए व्यक्ति का व्यवहार कुशल होना अत्यन्त आवश्यक है, जिसका प्रथम सोपान है व्यक्ति का वार्त्तालाप में कुशल होना ।

प्रायः देखा यह जाता है कि अधिकांश व्यक्ति जिसमें पढ़े-लिखे और सुशिक्षित भी आते हैं, अपनी वाणी में अभीष्ट प्रभाव नहीं उत्पन्न कर पाते जबकि कितने ही अनपढ़ व्यक्ति भी अपने भीतर यह विशेषता विकसित करके असाधारण सफलताएँ प्राप्त करते अथवा अपना सम्पर्क क्षेत्र बढ़ाते देखे जाते हैं । योग्यता, शिक्षा और प्रतिभा के होते हुए भी कितनों को इसी

कारण सफलताओं के लिए ठोकरें खानी पड़ती हैं और अपने वांछित लक्ष्य की तुलना में अत्यन्त अल्प सफलताएँ मिलती हैं। निःसन्देह शिक्षा, प्रतिभा और ज्ञान का अपना महत्त्व है, अपना स्थान है पर व्यावहारिक जीवन मे व्यक्ति को सफल होने में वाणी की प्रभावोत्पादकता विशेष सहायक सिद्ध होती है। कारण यह है कि जिन व्यक्तियों को अपनी विशिष्टताओं से अवगत कराना है उनसे परिचय का माध्यम तो बातचीत ही है। वाणी में प्रभावित करने की क्षमता का अभाव रहने पर तो कितने ही योग्यता, प्रतिभा के रहते हुए भी असफल होते देखे जाते हैं।

कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि वाक् चातुर्य ही समस्त सफलताओं का एक मात्र आधार है वरन् यह है कि शिक्षा, योग्यता, प्रतिभा के साथ-साथ व्यक्ति का व्यवहार-कुशल होना भी आवश्यक है और व्यवहार कुशलता के लिए वाक् कौशल आवश्यक क्यों है इसके लिए विद्वान की यह उक्ति उल्लेखनीय है—"आप भले ही अच्छे गायक हों पर हो सकता है सारे संसार की यात्रा करने के बाद भी अपनी कला का प्रदर्शन करने का अवसर न मिले। आप कहीं भी जायें, किसी भी समाज में रहें, जीवन और प्रतिभा के क्षेत्र में आपकी कितनी भी अच्छी स्थिति क्यों न हो फिर भी आपको अपनी कला के प्रदर्शन का अवसर बातचीत के द्वारा ही प्राप्त करना होगा।"

वाक् कौशल का विकास न तो पुस्तकों के अध्ययन से होता है और नहीं किसी के उपदेश सुनकर। यह स्वविवेक द्वारा ही विकसित होता है, फिर भी कुछ सूत्र ऐसे हैं जिनका आश्रय लेने पर स्व-विवेक को जागृत कर सकना सम्भव है। वार्तालाप में जिन बातों का सर्वाधिक ध्यान रखना आवश्यक है उनमें प्रथम है हमारी भाषा शिष्ट, मृदु और रोचक हो। शिष्ट का अर्थ है कि ऐसे शब्दों का प्रयोग न किया जाय जो अभद्र, गन्दे और भद्दे न हों। उदाहरणार्थ कुछ व्यक्तियों की आदत होती है कि बातचीत में अपशब्दों का प्रयोग करते हैं। यह आदत उनके स्वभाव का एक अंग बन जाती है। कितने ही जान-बूझकर भी मनोरंजक वातावरण बनाने की दृष्टि से अश्लील शब्दों का प्रयोग करते देखे जाते हैं। यदि इनमे किसी तरह का उथला मनोरंजन हो जाय तो भी बात-चीत की स्वाभाविक गम्भीरता समाप्त हो जाती है। फलतः कर्त्ता के लिए छेड़ी गई चर्चा का अपेक्षित परिणाम नहीं निकल पाता। यह सामाजिक शिष्टाचार के अन्तर्गत भी नहीं आता। वाणी का उथलापन प्रकारान्तर से स्वभाव मे समाहित होकर व्यवहार में टपकने लगता है जिससे व्यक्तित्व का वजन गिरता है और मनुष्य सामाजिक प्रतिष्ठा अर्जित करने से वंचित रह जाता है। सुसंस्कृत समाज में फूहड़, अश्लील हँसी-मजाक को असभ्यता का द्योतक माना जाता है।

वाक् कौशल विकसित करने के अभ्यास में सर्वप्रथम मनुष्य की यह कमजोरी ही आड़े आई है। यदि वाक् चातुर्य प्राप्त करने वाले अभ्यासियों को यह आदत लग गई हो तो उस पर तुरन्त नियन्त्रण और परिष्कार करना चाहिए। नियन्त्रण के लिए दूसरा महत्त्वपूर्ण सूत्र सहायता देता है—वह है सोच समझकर बोलना। जिन अवसरों पर चुप एवं गम्भीर रहना चाहिए अथवा अपनी बात नहीं छेड़नी चाहिए उन अवसरों पर मर्यादाओं का उल्लंघन मनुष्य को हास्यास्पद और निन्दा का पात्र बनाता है। प्रायः देखा यह जाता है कि कितने ही व्यक्तियों को जिन विषयों में जानकारी नहीं होती उनमें भी अपनी बातूनी आदत के कारण टाँग अड़ाते हैं तथा 'जैक ऑफ ऑल' बनने की कोशिश करते हैं। ऐसा प्रायः वे ही करते हैं जो अल्पज्ञ हैं और स्वयं को सर्वज्ञ सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। कभी-कभी उन्हें इसमें सफलता भी मिल जाती है पर विचारशील समुदाय एवं श्रोताओं के बीच वास्तविकता की कलई खुलते देरी नहीं लगती। फलतः अधिक वाचालता अन्ततः उन्हे उपहास एवं निन्दा का पात्र बनाती है।

ऐसे अनेकों अवसर आते है जिनमें गम्भीर रहना ही अनिवार्य होता है। जैसे कोई शोकाकुल हो अथवा किसी का कोई सम्बन्धी मर गया हो। उसके पास शोक सम्वेदना व्यक्त करने के लिए जाते समय गम्भीरता एक अनिवार्य आवश्यकता है, पर यदि कोई व्यक्ति अपनी खुशमिजाजी दिखाने के लिए अप्रासंगिक चर्चा छेड़ दे तो उसे निन्दा ही मिलेगी। इन अवसरो पर भी जबकि दूसरा व्यक्ति अपनी बात कह रहा हो तो पहले के लिए यह जरूरी है कि उसकी बात ध्यानपूर्वक सुने। बिना बात पूरी हुए बीच में अपनी ढपली बजाते रहना उचित नहीं है।

वाक् कौशल के लिए तीसरा प्रमुख सूत्र है दूसरों की रुचि का ध्यान रखना । आवश्यक नहीं कि जो सम्पर्क में आते हैं सबकी रुचियाँ एक जैसी हों । प्रायः उनमें भिन्नता पायी जाती है । कोई कला का शौकीन होता है तो कोई संगीत का । किसी को सामाजिक विषयों पर चर्चा अच्छी लगती है तो कोई राजनैतिक विषयों पर बातचीत करना पसन्द करता है । खाली समय में जब वाक् साधना की जा रही हो तब प्रतिपक्षी की अभिरुचि का ध्यान रखना आवश्यक है । जहाँ तक हो सके अपनी जानकारी के अनुसार उन विषयों पर बात आरम्भ की जाय जिनमें दूसरों की रुचि हो पर साथ ही यह भी ध्यान रखा जाय कि विषय ऐसे न हों जिन पर चर्चा से निकृष्ट विचार प्रकट होते हों । यदि ऐसा नहीं है तो ज्ञान संचय की दृष्टि से भी दूसरों को रुचि के अनुरूप विषयों पर बात-चीत आरम्भ करना तथा उनकी बातें सुनना श्रेयस्कर है । वार्तालाप के समय अपनी बात को संक्षिप्त करने अथवा विस्तार करने की सूझ-बूझ होना भी आवश्यक है । जहाँ तक हो सके अपनी बात को संक्षिप्त और अर्थ पूर्ण बनाया जाय । इससे गल्तियाँ होने की सम्भावना भी नहीं रहती और अनावश्यक ऊब भी पैदा नहीं होती, पर इसका अर्थ यह भी नहीं है कि बात इतनी संक्षिप्त हो जो मन्तव्य स्पष्ट करने में असमर्थ हो जाय । कहाँ, कब, किस सीमा तक बात को विस्तार दिया जाय इसके लिए प्रत्युत्पन्नमति एवं सूझ-बूझ का अवलम्बन लेना चाहिए । यह भ्रान्ति भी मन से निकाल देना चाहिए कि वाक् चातुर्य के लिए वाचालता आवश्यक है । अधिक बोलने का वाक् कुशलता से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात वाक् कौशल के लिए यह है कि "जिससे बात की जा रही हो उसके हृदय में सद्भाव, आत्मीयता को जागृत करना । मात्र कथनी द्वारा नहीं वरन् करनी द्वारा स्वयं को उसके अन्तःकरण में एक शुभ चिन्तक के रूप में प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए । इसके लिए उसकी व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं आर्थिक समस्याओं को जानने का प्रयास किया जा सकता है । व्यक्तिगत सम्बन्धों में रुचि लेने मात्र से नहीं, उचित परामर्श एवं समाधान देते रहने भर से दूसरे व्यक्ति सच्चे मित्र हितैषी बन जाते हैं ।

## आप हँसिये तो, दुनिया आपके साथ चलेगी

मानवी सद्गुणों में प्रसन्न रहना मूर्धन्य है । इससे चित्त हल्का रहता है और प्रतिकूलताओं के कारण उत्पन्न होने वाले तनाव से सहज ही बचाव होता रहता है । उत्तरदायित्व को पूरी तरह निबाहते हुए भी चिन्तन का स्तर इतना परिष्कृत होना चाहिए कि परिस्थितियों को अनावश्यक महत्त्व न दिया जाय, जो तिल का ताड़ बनाते हैं । सामान्य सी प्रतिकूलता देखकर चिन्तित, भयभीत, निराश होने लगते हैं, उन्हें वास्तविक कठिनाई से कई गुना कष्ट उठाना पड़ता है । मनःस्थिति को यदि सन्तुलित और हल्की-फुल्की रखा जा सके तो फिर जीवन में आते-जाते रहने वाले प्रिय एवं अप्रिय प्रसंग इतना दबाव नहीं डाल सकते कि प्रसन्नता और सरलता से रहित भार-भूत जीवन के लिए विवश होना पड़े ।

यों सामान्यतया सफलता में और अनुकूलता में प्रसन्नता होती है और असफलता एवं प्रतिकूलता में अप्रसन्नता का सहज उभार आता है, किन्तु साथ ही इतना भी है कि वह चमक बिजली कौंधने की तरह क्षणिक होती है और घटना-क्रम पुराना होते ही अभ्यस्त आदत चरितार्थ होने लगती है । जिनका स्वभाव खीझने का है वह सफलता का आनन्द तक नहीं उठा पाते, कुछ ही घड़ियाँ बीतने पर मुँह लटकाये दीखने लगते हैं । इसके विपरीत जिसने अपने दृष्टिकोण में प्रसन्नता ढूँढ़ते रहने की कलाकारिता का समन्वय किया है वे कठिनाइयों के बीच भी अपनी विनोदी वृत्ति के कारण मुस्कराने से लेकर खिलखिलाने तक के अवसर खोज लेते हैं ।

हँसने-हँसाने की आदत एक दैवी वरदान है । जिसे वह मिला हो उसे बड़भागी ही माना जाना चाहिए । उदार लोग दूसरों को कुछ उपहार देकर उनका दुःख हरते और आनन्द बटाते देखे गए हैं । यह कार्य निर्धन व्यक्ति भी सरलतापूर्वक कर सकते हैं । अपनी हँसी का उपहार सहज ही दूसरों तक जा पहुँचता है उनके मन का बोझ हल्का करने में इतनी सहायता करता है जितना मुफ्त में अन्न, वस्त्र बाँटने वाले भी नहीं कर सकते । मानसिक स्वास्थ्य का मूल्य

शारीरिक आरोग्य से भी बढ़कर है । प्रसन्न रहना अमीरो के वैभव से किसी भी प्रकार कम नहीं है ।

हास्य को विद्वान स्टैनिसलार ने आत्मा का गुण कहा है । उनका कथन कितना उपयुक्त है—"अच्छा हास्य आत्मा का हास्य है, उदासीनता उसके लिए विष है" आत्मा के परिष्कार, मनःसन्तुलन एवं स्वस्थ रहने के लिए हास्य नि.सन्देह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है ।

दार्शनिक जे. गिल्बर्ट ओकले ने आदमी के लिए हँसना अनिवार्य बताया है । न हँसने एवं मुस्कराने वाला व्यक्ति वस्तुतः रोगी होता है । उत्तम शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य के लिए हँसना भोजन की तरह ही आवश्यक है । मार्शियल ने कहा है—"आप यदि बुद्धिमान हैं तो हँसिये । एक छोटी से छोटी खुशी मनुष्य के बड़े से बड़े दुःख को भी ढँक लेती है ।"

'अंग्रेजी के प्रसिद्ध साहित्यकार ड्राइडन का कहना है कि "हँसना एक बहुत ही अच्छी विशेषता है चाहे उसका कारण कुछ भी हो ।"

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तो जी खोलकर हँसना स्वयं में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्वास्थ्यप्रद टॉनिक है और हँसते रहने वाले, प्रसन्न चित्त रहने वाले व्यक्तियों का शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है ।

ह्यूफलैण्ड ने खूब खिल-खिलाकर हँसना पाचन के लिए सर्वश्रेष्ठ व्यायाम बतलाया है । 'डेनी' का कहना है कि "मनुष्य के पास देने के लिए बहुत कुछ है । *हँसी के फूल और प्रेम का सागर इन दोनों की कोई* कीमत नहीं लगती । स्वयं खिलो और अन्यो को खिलाते चलो ।"

चित्त की प्रसन्नता के सम्बन्ध में गीता के अध्याय दो के ६५वें श्लोक में कहा गया है—

"प्रसादे सब दुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसौ ह्याशुबुद्धि पर्यवतिष्ठते ॥"

अर्थात्—"चित्त प्रसन्न रहने से सब दुःखो की निवृत्ति हो जाती है—उनकी हानि हो जाती है । जिसको आन्तरिक प्रसन्नता, चित्त की प्रफुल्लता, उल्लास प्राप्त हो जाता है उसकी बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है ।" मानसिक सन्तुलन, स्थिरता, समस्वरता बनाये रखने के लिए मन की प्रसन्नता आवश्यक है ।

गाँधी जी ने प्रसन्नता एवं हँसी के सम्बन्ध मे लिखा है—"हँसी मन की गाँठें खोल देती है—हमारे मन की ही नहीं सभी के मन की । हँसी हृदय की ऐसी पवित्र उमंग भरी गंगा है जो सबको शीतलता प्रदान करती है । भीतर का विषाद और अवसाद हँसी के तेज झोंकों से रुई के कतरों की भाँति नष्ट *हो जाता है ।"*

खिल-खिलाकर हँसने की आदत से शरीर निरोग रहता है । हँसने से फेफड़े मजबूत होते हैं । रक्त संचार ठीक होता है । मन के विकार हँसने से दूर होते हैं । श्री केरीवोर ने तो हँसी व उल्लास को यौवन की संज्ञा दी है, उनका कथन है—"हास्य यौवन का शृंगार है । जो व्यक्ति यौवन का शृंगार नही कर सकता उसके पास यौवन कैसे टिक सकता है ? हँसने का—प्रफुल्ल रहने का स्वभाव बनाइये, यौवन सदा आपके साथ रहेगा ।"

जार्ज बर्नार्ड शॉ ने एक जगह कहा है—"हँसी की सुन्दर भूमि पर जवानी के पुष्प खिलते हैं और जीवन को सुगन्ध से भर देते हैं । जवानी को *अक्षुण्ण* बनाये रखने के लिए आप खूब जी खोलकर हँसा कीजिए ।"

अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियाँ सभी के जीवन में आती है । ऐसा किसी महापुरुष के जीवन में भी कभी नहीं हुआ कि सदैव उनको अनुकूलताएँ, सुविधाएँ ही मिली हों । वास्तविकता तो यह है कि महामानवों को अत्यधिक प्रतिकूल विकट स्थिति का सामना करना पड़ा है । उसी से उनकी प्रतिभा निखरी है । भयंकर प्रतिकूलता की स्थिति में भी वे हँसते-हँसते उनका सामना करते हुए आगे बढ़े हैं ।

*आज मनोविज्ञान की आधुनिकतम शोधों ने यह* सिद्ध कर दिया है कि मुक्त रूप मे हँसना शारीरिक स्वास्थ्य के लिए तो आवश्यक है ही मानसिक स्वास्थ्य एवं मनःसन्तुलन के लिए भी वह उतना ही आवश्यक है । *जीवन में रोग, चिन्ता, उद्वेगों तथा तनावों से* मुक्त रहकर आनन्दित रहने के लिए सन्तोष वृत्ति का होना जरूरी है । अधिकांश रोगों एवं दुःखो का मुख्य कारण अधिकतर लोगों में असन्तोष का होना है । *इस असन्तोष की आग से बचने का रास्ता है*—जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण और उसे हास्य एवं प्रफुल्लतापूर्वक

खेल मानकर चलने वाली मनःस्थिति । स्वास्थ्य की कुन्जी प्रफुल्ल जीवनचर्या में ही निहित है ।

आध्यात्मिक जीवन-पथ पर चलने वाले साधकों को विनोदी एवं प्रफुल्ल प्रकृति का होना प्रथम चरण है । प्रत्येक बात में हास्य-विनोद का एक पहलू होता है । *यह एक दैवी गुण है जो आस-पास के लोगों* तक को प्रफुल्लता से आनन्दित कर देता है । रोग उत्पन्न होने पर मनुष्य कभी अपने भूत, कभी भविष्य के बारे में विश्लेषण करने लगता है । बेसिर-पैर की कुकल्पनाएँ करने लगता है और चिन्ताओं को अपने मस्तिष्क में डेरा डालने के लिए आमन्त्रित कर लेता है । परिणाम यह होता है कि निश्चिन्त, उन्मुक्त जीवन बनकर रह जाता है । सूक्ष्मता से अवलोकन किया जाय तो चिन्ताएँ अस्तित्वहीन होती हैं और चिन्ता एक भयानक मनोरोग है जो अन्यान्य अनेकों शारीरिक, मानसिक कष्टों को भी ले आता है । इससे मुक्त होने का उपचार एक ही है कि परिस्थितियों के दूसरे पक्ष को देखना जो हास-परिहास से परिपूर्ण हैं । पर्यवेक्षण करने पर पता लगेगा कि जिन्हें बहुत बड़े अवरोध के रूप में कल्पित कर लिया गया वे मात्र छोटे-मोटे कंकड़-पत्थर थे और 'खोदा पहाड़ निकली चुहिया' वाली कहावत चरितार्थ होती दीखती है । महत्त्वहीन बातों को बहुत महत्त्व दे दिया गया, जिनका न कोई आधार रहा होता और न उद्‌गम ।

तथ्य को समझा जाय तो किसी भी परिस्थिति में आशावादी दृष्टिकोण, सन्तोष वृत्ति एवं उत्साह को अपनाते हुए प्रसन्न और प्रफुल्ल रहा जा सकता है । विपरीत *परिस्थितियों में ही तो मानसिक समस्वरता बनाये रखने* में चित्त की प्रसन्नता की कसौटी है । अनुकूल परिस्थितियों में तो सभी मोद मनाते रहते है । मन की प्रफुल्लता से जीवनी-शक्ति में वृद्धि होती है, रोगों से संघर्ष करने की क्षमता बढ़ती है ।

कैलीफोर्निया की एक अमीर महिला सिम्पसन बहुत समय तक चिन्तित एवं उद्विग्न रहने के परिणामस्वरूप अनिद्रा रोग से ग्रसित हो गई । उसका जीवन उसे असह्य लगने लगा था । उसको एक मनोचिकित्सक ने भारी फीस वसूल करने के उपरान्त एक रामबाण उपचार बताया कि वह दिन में कम से कम तीन बार खूब खिलखिलाकर हँसा करें । चिकित्सक के निर्देशानुसार बिना किसी कारण कई बार खिलखिलाना शुरू कर दिया । केवल इसी से कुछ ही दिनों में उसे ठीक प्रकार से नींद आने लगी और स्वास्थ्य में आश्चर्यजनक लाभ हुआ ।

प्रसन्नता प्रकृति की दी हुई सबसे महत्त्वपूर्ण पुष्टाई है । *शारीरिक स्वस्थता एवं मानसिक उत्साह बढ़ाने में* यह अचूक उपचार है ।

"सैटरडे रिव्यू" के सम्पादक नार्मन कजिन्स ने अपने गम्भीर लकवे से ग्रस्त शरीर को हास्य एवं जिजीविषा के सहारे नियन्त्रित करने में सफलता पायी । कजिन्स महोदय ने मात्र विटामिन 'सी' के कुछ इन्जेक्शन भर दवा के नाम पर लिए थे । उनका कथन है—"औषधि विज्ञान के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहा है और औषधियों के सहयोगियों में हास्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है ।" वस्तुतः मुक्त कण्ठ से हँसना शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त उपयोगी है ।

मनोवैज्ञानिकों का भी कथन है कि विनोद-वृत्ति आत्म-उपचार का सर्वोत्तम माध्यम है । वस्तुतः निर्मल हास्य आन्तरिक उत्कृष्टता से घनिष्ठ रूप से जुड़ा है । दुनिया में जितने भी श्रेष्ठ एवं क्रियाशील पुरुषार्थी लोग हुए हैं, उनमें अनवरत सक्रियता, स्वाभाविक स्फूर्ति और सहज विनोद की प्रवृत्ति सभी में समान रूप से पायी जाती है ।

महात्मा गाँधी और महान वैज्ञानिक चिन्तक आइन्स्टाइन की हँसी को उनके सम्पर्क में आने वाले लोग कभी भी भूल नहीं पाते थे । डॉक्टर राममनोहर लोहिया की बाँकी हँसी उनके अनुयायियों को मुग्ध कर लेती थी । *रवीन्द्रनाथ ठाकुर की मुस्कराहट के बारे* में भी लोगों का यही कथन है । जवाहरलाल नेहरू कई बार आवेश में साथियो से बहुत कुछ कह जाते और हड़बड़ी में गलत समझ बैठते थे, किन्तु उनके सभी प्रशंसक साथियों का कहना था कि ऐसी किसी भी घटना के थोड़ी ही देर बाद, वे कोई विनोद कर, इतनी खुली हँसी हँस उठते थे कि सामने वाले का समस्त रोष-क्षोभ धुल-बह जाता । चन्द्रशेखर आजाद का भी विनोद पूर्ण निर्मल हास्य प्रसिद्ध है ।

श्री गोलवलकर गुरु जी की विनोदी हँसी न केवल उनके संगी-अनुयायी स्वयंसेवकों को आकर्षित करती थी, अपितु उनके कट्टर विरोधी श्री खुशवन्त सिंह

जैसे पत्रकार तक ने उनसे मिलने के बाद इस स्वस्थ परिहास एवं निर्मल हँसी की मुग्धभाव से चर्चा की ।

इससे यही स्पष्ट होता है कि आन्तरिक प्रसन्नता से जुड़ी निश्छल हँसी तथा स्वस्थ विनोद वृत्ति सुसंस्कारों का सत्परिणाम है और उससे सम्पर्क क्षेत्र का प्रत्येक व्यक्ति प्रफुल्लता का अनुभव करता है । ऊपर जिन महापुरुषों की चर्चा की गई है, उनके सम्पर्क में आने वालो मे जहाँ ऐसे लोग रहे, जिन्होंने उनसे सहयोग-अनुदान-मार्ग-दर्शन प्राप्त कर जीवन धन्य बनाया, वहीं ऐसे लोग भी कम नहीं थे, जिन्होने उनकी प्रसन्नता को देखकर ही कुछ पा लेने का अनुभव किया । एक तरह ताजगी और शुचिता से वे भर उठे ।

सच्ची प्रसन्नता वह पवित्र भागीरथी-प्रवाह है, जिसके समीप कुछ देर बैठ लेने भर से नवीन स्फूर्ति रग-रग में भर जाती है, चित्त हल्का हो जाता है और कषाय-कड़वाहट से उत्पन्न व्यग्रता-भरी गर्मी तथा भार धुल-बह जाता है ।

कहा जा सकता है कि यह तो सब ठीक है, किन्तु विपन्नता, अभाव और प्रतिकूलता में विनोद-भाव एवं प्रसन्नता कैसे बनी रहे ? वस्तुस्थिति यह है कि साधन-सम्पन्नता और सुविधा-संरक्षण से प्रसन्नता का कोई अनिवार्य सम्बन्ध नही है । ऐसा आये दिन देखने मे आता है कि रूखा-सूखा खाने, पहनने वाले भी प्रसन्न और धन-वैभव से सज्जित लोग भी चिडचिड़े, बेचैन, अधीर, अशान्त हो । अस्थिर अनमन आँखें, तने तेवर, फूलती नसें और खिंची मुखाकृति—बड़े अफसरो, धनपतियों और साधन-सम्पन्नो के बीच भी कोई दुर्लभ दृश्य नही है । दूसरी ओर आर्थिक कठिनाइयो और तीखे संघर्षों के बीच भी जी खोलकर हँसने वाले व्यक्तियो की संख्या कुछ कम नहीं है ।

सत्यता तो यह है कि परिस्थितियों की जटिलता नहीं, मनोभूमि की जटिलता ही व्यक्ति से उसकी सहजता और हँसी छीनती है । उद्विग्नताजन्य मानसिक तनाव, मानसिक दुर्बलता का परिणाम है । सशक्त मन मे अनुकूलन की स्वाभाविक प्रवृत्ति तथा सामर्थ्य होती है ।

प्रसन्नता का सम्बन्ध उपभोग-तन्त्र से नहीं, सम्वेदना-तन्त्र मे है । उपभोग-तन्त्र की विषमता, क्रूरता तथा जटिलता के प्रति सात्विक रोष भिन्न बात है और निरन्तर खीझ, तनाव, चिड़चिड़ेपन से भिंचे-तने रहना भिन्न बात है । सही बात तो यह है कि सामाजिक अशुभ को भी ठीक से वही समझ सकेगा, जो शुभ को देख-समझ सकता है । जिन्हें मात्र अशुभ-चिन्तन, दोष-दर्शन, अभाव-अनुभव और अवरोध-अन्वेषण की ही आदत है, वे खिन्नता, उद्विग्नता, क्षोभ और आवेश से ही इतने भरे रहेंगे कि सामाजिक मंगल का सन्तुलित-चिन्तन और प्रवाहपूर्ण कर्म उनके वश की बात नहीं । वैसे भी सामाजिक हित की चिन्ता करने वालों में आन्तरिक प्रसन्नता की भी स्वाभाविक प्रवृत्ति सर्वत्र देखी-पायी जाती है । चिड़चिड़ापन, अवसाद, असमंजस और कुण्ठा तो उन्हें ही अधिक घेरती है, जो अपनी ही भौतिक सुविधाओं की चिन्ता एवं अनुकूलताओं की कामना में दिन-रात डूबे रहते हैं ।

अनुकूलताएँ और प्रतिकूलताएँ दोनों प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में आती हैं । जो मात्र प्रतिकूलताओ की ही बाबत विचार करता रहेगा, उसे हताशा और पीड़ा ही दबोचे रहेगी । अधिक सुविधा-सम्पन्न लोगों से अपनी तुलना कर कुढ़ते रहने वाला व्यक्ति सदा ही क्षुब्ध दिखाई पड़ेगा । जबकि अपनी अनुकूलताओ पर विचार करने वाला यह देखेगा कि उसके पास जो कुछ है, वह भी अनेकों के लिए दुर्लभ है । अतः कुढ़ने-खीझने की कोई आवश्यकता है नहीं । हाँ, विषमता के सामाजिक आधारों को समझने और उन्हें ध्वस्त करने की आवश्यकता अवश्य है, पर जो अपने ही अभावों को लेकर रो रहा है । उसमें ऐसी श्रेष्ठ तत्परता आने की नहीं । उसे तो बस अपना अभाव और अधिक सम्पन्न लोगों का आमोद-हर्ष, दो ही बाते दिखाई देती हैं । उसका चित्त सदा बोझिल ही बना रहता है ।

बार-बार आशा भंग होने से, श्रम के न्यूनतम पुरस्कार से भी वंचित रहने से या सतत शारीरिक पीड़ा से मनुष्य की भावनात्मक प्रकृति पर गहरे घाव हो जाते है, किन्तु इन घावों को गहरा करने मे व्यक्ति की बढ़ी-बढ़ी अपेक्षाएँ अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं । यदि ये घाव सामाजिक कु-व्यवस्था के परिणाम है तो उन्हे एक-दो नही, करोड़ो को सहना-भोगना पड़ता होगा । उनके विरुद्ध सगठित-सुव्यवस्थित प्रयास ही सम्भव है । यदि ये विफलताएँ अपनी अक्षमताओ-दुर्बलताओं से सामने आई हैं, तो शान्त-चित्त से उन्हें दूर करने में जुट जाना चाहिए । किसी भी स्थिति

में; जो घटित हो जाय उसके लिए पछताते बैठने से कैसा भी लाभ होने वाला नहीं । वह अपनी प्रचण्ड आत्म-सत्ता का अपमान मात्र है । अपने को इतना छोटा नहीं मान बैठना चाहिए कि परिस्थितियों के प्रतिकूल झकोरे जड़े ही हिलाकर रख दें ।

प्रसन्नता एक दैवी विभूति है । उससे स्वयं को वंचित न होने दें । वह अन्य अनेक उपलब्धियों से बढ़-चढ़कर है । प्रतिकूलताओं के प्रचण्ड-आघातों को हँसकर झेलने से बड़ी वीरता क्या हो सकती है ? सभी जीवट वाले लोगों में परिस्थितियों की विडम्बनाओं पर तथा स्वयं अपनी विसंगतियों पर हँस सकने की समान क्षमता देखी जाती है । वस्तुतः यही सच्ची विनोद-वृत्ति है । सच्चा विनोदी अपने ऊपर भी हँस सकता है, किन्तु पड़ोसी पर, साथी पर विष-बुझे व्यंग-बाण कभी नहीं छोड़ता ।

विनोद-वृत्ति जहाँ स्वस्थ चित्त की द्योतक है, वहीं बात-बात पर व्यंग करने की प्रवृत्ति, हीन-भावना एवं रुग्ण मनःस्थिति का परिणाम है । हास-परिहास स्वस्थ होता है, किन्तु दूसरों का उपहास सदा कलहकारी एवं हानिकर होता है । खिल्ली उड़ाना तथा विनोद करना—दो सर्वदा भिन्न प्रवृत्तियाँ है । खिल्ली उड़ाने वाली प्रवृत्ति प्रारम्भ में भले ही रोचक नोंक-झोंक प्रतीत हो, किन्तु उसका अन्त सदा आपसी दरार, तनाव और कटुता में होता है । ऐसी ही प्रवृत्ति के लिए कहा गया है—"लड़ाई की जड़ हाँसी और रोग की जड़ खाँसी ।"

विनोद और उपहास का अन्तर ऐसा नहीं है, जो हर किसी की समझ में न आ सके । इसके विपरीत उनके शब्दों, शैलियों, मन्तव्यो और परिणामों में इतना अधिक अन्तर होता है कि प्रत्येक व्यक्ति उसे आसानी से समझ लेता है । उपहास दूसरों की कमजोरियों पर उँगली रखना है । इससे वह व्यक्ति तिलमिला उठता है । जबकि विनोद अपनी खुशी को बँटाना है, जिससे दोनो को आनन्द मिलता है ।

जिस प्रकार तेज हवा कूड़ा-करकट उड़ा ले जाय, वैसे ही मुक्त हास्य मन का सारा दबाव-भार उड़ा देता है । जो हँस सकता है, वह दबावों से विक्षुब्ध नहीं बना रहता । "बच्चों जैसी हँसी" विशेषण का प्रयोग प्रायः निश्छल हास्य के लिए किया जाता है । वह उपयुक्त ही है । बच्चों के मन पर घटनाक्रमों का बोझ नहीं रहता । यद्यपि प्रत्येक घटना के प्रति उनकी प्रतिक्रिया जीवन्त एवं तीव्र होती है । विनोदी वृत्ति के व्यक्तियों का चित्त हल्का रहता है, इसलिए वे प्रस्तुत क्षण के प्रति प्रत्यक्ष एवं तात्कालिक प्रतिक्रिया करते हैं । किसी पूर्ववर्ती घटना-प्रतिक्रिया का दबाव-बोझ उन पर नहीं रहता । इसलिए विनोद-वृत्ति का अगम्भीरता या छिछोरेपन से कोई सम्बन्ध नहीं । छिछोरापन भी वस्तुतः एक प्रकार का मानसिक बोझ ही है, जो हरदम चित्त पर लदा रहता है और सामने घट रही घटना को पैनेपन से देखने-समझने नहीं देता ।

विनोद-वृत्ति तो भीतरी खुशी का अजस्र झरना है । निरन्तर चलने वाला फव्वारा है । बाहर खुशियों की तलाश के नतीजे अनिश्चित रहते हैं । बाहरी परिस्थितियाँ सदा व्यक्ति के वश में नहीं होतीं । उत्तम मार्ग यही है कि खुशियों का स्रोत भीतर ही प्रवाहमान, गतिशील रखा जाय । बाहर खुशी ढूँढ़ना, प्यास लगने पर कुएँ या प्याऊ की तलाश करना है । कुआँ सूखा या खारे जल वाला हो सकता है । प्याऊ में पानी नहीं मिले, यह भी हो सकता है, पर भीतर बहने वाला निर्मल हास्य का झरना तो तृप्ति के लिए सदा ही उपलब्ध रहता है । पाश्चात्य देशों में जहाँ सुविधा, सम्वर्धन, सभ्यता, सिविक सेन्स आदि पर कड़ाई से ध्यान दिया जाता है, वहाँ मुक्त हल्का-फुल्का जीवन भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है । पेरिस के एक सभा भवन में प्रति रविवार को १० बजे एक गोष्ठी आयोजित होती है । जिसमें वहाँ के वैज्ञानिक हँसी पर भाषण देते हैं । अन्त में सभी कक्षों में अन्धकार हो जाता है और लोगो के कह-कहे गूँजने लगते हैं । मन के सुखद भावों को बाहर लाने के लिए हँसी सर्वोत्तम उपाय है जो स्वयं को ही प्रसन्न नही करती वरन् आस-पास के लोगों और मित्रो को भी प्रफुल्लित कर देती है । हास्य शरीर की स्वाभाविक तथा आवश्यक क्रिया है जो दैनन्दिन जीवन में आने वाले व्याघातों का कुप्रभाव नष्ट करती है ।

जब किसी के व्यवहार से दुःख पहुँचता है, कोई नैराश्यपूर्ण स्थिति आ जाती है और संयोग से उसी समय हँसी आ जाय तो सारा क्रोध और चिन्ता दूर होकर मन झूम उठता है । यह प्रत्यक्ष अनुभूत किया जा सकता है । मुस्कान और हँसी के द्वारा अन्तर्जगत

में एक ऐसा स्निग्ध वातावरण बनता है जो अन्दर ही अन्दर हृदय को शीतलता प्रदान करता है ।

इस शुभ प्रभाव का कारण हँसी की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया है । व्यथा, क्रोध, चिड़चिड़ापन थके हुए मन में ही ज्यादा उत्पन्न होता है, जबकि हास्य, मन के सारे तनावों और ग्रन्थियों को दूर कर देता है, खोल देता है । एक फ्रान्सीसी मनोरोग चिकित्सक डॉ. पौस्किड ने लम्बे समय तक इस विषय में अन्वेषण किया । लगभग १५० प्रयोगों के द्वारा वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हँसने से मनुष्य के मन और मज्जा तन्तुओं को स्फूर्ति और संजीवता प्राप्त होती है तथा थकान और चिन्ता का भार कम हो जाता है । हँसी एक ऐसा मनोविज्ञानिक व्यायाम है जो मन को ही नहीं शरीर के अवयवों तथा माँसपेशियों को भी अनावश्यक दबाव से मुक्त कर देता है ।

हँसी के बारे में सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि इससे खून बढ़ता है । यह केवल कल्पना मात्र ही नहीं है । अमेरिका के डॉक्टरों ने इस सिद्धान्त की सच्चाई को परखने के लिए बालकों के दो समूह किए और दोनों को अलग-अलग रखा । एक समूह को दोपहर के भोजन के बाद एक मसखरा तरह-तरह से हँसाता रहता । दूसरे समूह के लिए कोई व्यवस्था नहीं की गई । एक मास बाद दोनों समूहों के बच्चों का परीक्षण किया गया तो पता चला कि हँसने वाले बच्चों का स्वास्थ्य पहले की अपेक्षा और अच्छा हो गया है । वे पढ़ने-लिखने में भी और तेज हो गए हैं ।

परन्तु यह सब होता तब है जब दिल खोलकर हँसा जाय । बहुत से अवसरों पर हम औपचारिक रूप से ही हँस पाते हैं । अपने साथी मित्रों का मन रखने के लिए अथवा आस-पास के लोगों का साथ देने के लिए ऐसी हँसी का कोई परिणाम नहीं होता ।

मुस्कान भी हँसी का ही एक स्वरूप है । यह सदा बनी रहने वाली स्थिति है । चौबीसों घण्टे खिलखिलाते रहना असम्भव हो सकता है परन्तु सदा मुस्कराते रहना ज्यादा कठिन नहीं है । दर्पण में खिला हुआ मुख कमल देखकर मन आह्लादित हो उठता है । मुस्कराते हुए व्यक्तियों के समीप क्रोध, ईर्ष्या और प्रतिहिंसा फटकती तक नहीं । प्रतिहिंसा की अग्नि को शान्त करने वाली यह अचूक औषधि है । कभी-कभी घर में पति-पत्नी के बीच कलह होती है, या कोई मित्र रूठ जाता है तो मुस्कराने का नुस्खा आजमा कर इस दुःस्थिति को आसानी से सँभाला जा सकता है । मन पर जमा हुआ सारा मैल मुस्कान के जल-प्रवाह में बह जाता है ।

मनोवैज्ञानिकों का मत है कि मुस्कान के द्वारा आन्तरिक मन को एक स्वस्थ संकेत मिलता है, विद्युत प्रभाव पड़ता है । इसका दूसरा अर्थ यह है कि हमारा मन मधुर कल्पनाओं, सद्भावनाओं तथा पवित्र विचारों से ओत-प्रोत है । मानसिक स्वास्थ्य का शरीर, आयु और आरोग्य पर निःसन्देह प्रभाव पड़ता है । इसी तथ्य की ओर इंगित करते हुए श्रीमती एलिजाबेथ सैफोर्ड ने लिखा है कि "सौ वर्ष जीने के लिए चारों ओर से जवान और हँसमुख मित्रों से घिरे रहो ।" यही है सफल जीवन के कुछ स्वर्णिम सूत्र जिन्हें हर किसी को हृदयंगम कर जीवन जीना सीखना चाहिए । जिसे आने वाली सफलता उसके कदम चूमती है ।

## जीवन साधना के चार अनिवार्य चरण

जीवन साधना में आगे बढ़ने का क्रम यह है कि एक कदम पीछे से उठा कर आगे रखा जाय और जो आगे रखा था उसे और आगे बढ़ाया जाय । इसी प्रकार चलने की क्रिया सम्पन्न होती है और लम्बी मंजिल पार की जाती है । आत्मिक प्रगति का मार्ग भी यही है । पिछड़ी योनियों में रहते समय जो पिछड़े संस्कार चेतना भूमि में जड़ जमाकर जहाँ-तहाँ बैठे हुए हैं उनका उन्मूलन किया जाय और दैवी प्रवृत्तियाँ, जो अभी तक समुचित परिणाम में प्राप्त नहीं हो पायी हैं, उन्हें प्रयत्नपूर्वक अपनाया और बढ़ाया जाय । किसान यही करता है । खेत को जोतता है, उसमें से पिछली फसल के पौधों की सूखी हुई जड़ों को हल चला कर उखाड़ता है । कंकड़-पत्थर बीनता है और नई फसल उगाने में जो भी अवरोध थे, उन्हें समाप्त करता है । इसके उपरान्त उर्वरता बढ़ाने के लिए खाद पानी का प्रबन्ध करता है और बीज बोने के उपरान्त नई फसल अच्छी होने की आशा करता है । आत्मिक प्रगति के मार्ग को कृषि कर्म के समतुल्य गिना जा सकता है । मनुष्य पद के लिए अनुपयुक्त पिछले

कुसंस्कारों को उखाड़ कर उन्मूलन करना एक काम है और जो इस पद को सफल सार्थक बना सके ऐसे उत्कृष्ट स्तर के गुण, कर्म, स्वभावों को अभ्यास में लाना, यही है वह उभय-पक्षीय क्रिया-कलाप जिसमें आत्मिक प्रगति का उद्यान विकसित होते और फलते-फूलते देखा जा सकता है । प्रगतिशीलता अपनाने का उपाय एक ही है कि अवांछनीयताओं को निरस्त करते चला जाय और जो अभीष्ट आवश्यक है उसे अपनाने के लिए पूरे उत्साह का प्रयोग किया जाय । उत्कर्ष के उच्च शिखर पर चढ़ने के लिए इस रीति-नीति को अपनाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग है नहीं ।

आत्मिक प्रगति का भवन चार दीवारों से मिलकर बनता है । इस तख्त में चार पाये हैं । चारो दिशाओं की तरह आत्मिक उत्कर्ष के भी चार आधार है । ब्रह्माजी के चार मुखों से निकले हुए चार वेदों में इसी ज्ञान-विज्ञान का वर्णन है । चार वर्ण—चार आश्रमों का विभाजन इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया गया है । इन्हें (१) आत्म-चिन्तन, (२) आत्म-सुधार, (३) आत्म-निर्माण और (४) आत्म-विकास के नाम से पुकारा जाता है । इन्हें एक-एक करके नहीं वरन् समन्वित रूप से सम्पन्न किया जाता है । रोटी, साग, चावल, दाल का आहार मिला-जुला कर करते हैं । ऐसा नहीं होता कि कुछ समय दाल ही पीते रहे—कुछ दिन शाक खाकर रहे, फिर चावल खाया करे और बहुत दिन बाद केवल रोटी पर ही निर्भर रहे । स्कूली पढ़ाई में भाषा, गणित, भूगोल, इतिहास की पढ़ाई साथ चलती है, ऐसा नहीं होता कि एक वर्ष भाषा, दूसरे वर्ष गणित, तीसरे वर्ष भूगोल और चौथे वर्ष केवल इतिहास ही पढ़ाया जाय । धोती, कुर्त्ता, टोपी, जूता चारों ही पहन कर घर से निकला जाता है । ऐसा नहीं होता के कुछ वर्ष मात्र जूता पहन कर रहे और पीछे जब धोती पहनना आरम्भ करें तो उतना ही पर्याप्त समझे तथा जूता, कुर्त्ता, टोपी को उपेक्षित कर दे । लिखने में कागज कलम, स्याही और उँगलियों का समन्वित प्रयोग होता है । एक बार में एक ही वस्तु का प्रयोग करने से लेखन कार्य सम्भव न हो सकेगा । शरीर मे पाँच तत्व मिलकर काम करते है और चेतन को पाँचों प्राण मिलकर गति देते हैं । एक तत्व पर या एक प्राण पर निर्भर रहा जाय तो जीवन का कोई स्वरूप ही न बन सकेगा । भोजनालय में आग, पानी, खाद्य पदार्थ एवं बर्तन उपकरणों के चारों ही साधन चाहिए । इसके बिना रसोई पक सकना कैसे सम्भव होगा ? आत्म-उत्कर्ष के लिए (१) अपनी अवांछनीयताओं को ढूँढ़ निकालना, (२) कुसंस्कारों के प्रति प्रबल संघर्ष करके उन्हें परास्त करना, (३) जो सत्प्रवृत्तियाँ अभी स्वभाव से सम्मिलित नहीं हो पायी हैं उन्हें प्रयत्नपूर्वक सीखने का, अपनाने का प्रयत्न करना, (४) उपलब्धियों का प्रकाश दीपक की तरह सुविस्तृत क्षेत्र में वितरित करना, यह चार कार्य समन्वित रूप से सम्पन्न करते चलने की आवश्यकता पड़ती है । इन्हीं चारों को तत्ववेत्ताओं ने आत्म-चिन्तन, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण और आत्म-विकास एक नाम से निरूपित किया है ।

इन चारों प्रयोजनों को दो भागों में बाँट कर दो-दो के युग्म बनते हैं । एक को मनन दूसरे को चिन्तन कहते हैं । मनन से आत्म-समीक्षा का और अवांछनीयताओं का परिशोधन आता है । चिन्तन से आत्म-निर्माण और आत्म-विकास की प्रक्रिया जुड़ती है ।

इन दोनों को आत्म-साधना का अविच्छिन्न अंग माना गया है । प्रातःकाल उठते समय—रात्रि को सोते समय अथवा अन्य किसी निश्चित, शान्त, एकान्त स्थिति में न्यूनतम आधा घण्टे का समय इस प्रयोजन के लिए निकाला जाना चाहिए । मनन को प्रथम और चिन्तन को द्वितीय चरण माना जाना चाहिए । दर्जी पहले कपड़े काटता है, पीछे उसे सींता है । डॉक्टर पहले नश्तर लगाता है, पीछे मरहम-पट्टी करता है । पहले नींव खुदती है और पीछे इमारत चुनी जाती है । यों यह दोनों ही कार्य मिले-जुले है और तनिक से अन्तर के साथ प्रायः साथ-साथ ही चलते हैं, फिर भी यदि प्रथम, द्वितीय का प्रश्न हो तो मनन को पहला और चिन्तन को दूसरा चरण कहा जायेगा । इस प्रक्रिया के लिए पूजा उपचार की तरह कोई विशेष शारीरिक, मानसिक स्थिति बनाने की या पूजा उपचार जैसी कोई साधन सामग्री एकत्रित करने की आवश्यकता नहीं है । चित्त का शान्त और स्थान का कोलाहल रहित होना ही इसके लिए पर्याप्त है । प्रातः सायं का समय खाली न हो तो सुविधा का कोई अन्य समय निर्धारित किया जा सकता है । आधा घण्टा की सीमा भी अनिवार्य

नहीं है । यह काम चलाऊ मापदण्ड है । इसे आवश्यकतानुसार कम या अधिक भी किया जा सकता है, पर अच्छा यही है कि उसमें क्रम, समय का निर्धारण रहे । नियत समय पर नियमित रूप से अपनाई गई कार्यपद्धति अस्त-व्यस्त एवं अव्यवस्थित क्रिया-प्रक्रिया से कितनी अधिक फलदायक होती है इसे हर कोई जानता है ।

आत्म-चिन्तन वस्तुतः अपने आपकी समीक्षा है । अपने दोष-दुर्गुणों को ढूँढ निकालने का प्रयास भी इसे कहा जा सकता है । प्रयोगशालाओं में पदार्थों का विश्लेषण वर्गीकरण होता है और देखा जाता है कि इस संरचना में कौन-कौन तत्व मिले हुए हैं ? शवच्छेद की प्रक्रिया में देखा जाता है कि भीतर के किस अवयव की क्या स्थिति थी, उनमें कहीं चोट या विषाक्तता के लक्षण तो नहीं थे । रोगी की स्थिति जानने के लिए उसके मल-मूत्र, ताप, रक्त, धड़कन आदि की जाँच-पड़ताल की जाती है । निदान के उपरान्त ही सही उपचार बन पड़ता है । ठीक यही बात आत्म-विश्लेषणों के सम्बन्ध में है । आत्म-चिन्तन का—आत्म-समीक्षा का यही उद्देश्य है ।

एक सज्जन, शालीन, सम्भ्रान्त, सुसंस्कृत नागरिक का स्वरूप क्या होना चाहिए ? उसके गुण, कर्म, स्वभाव में किन शालीनताओं का समावेश होना चाहिए । इसका एक ढाँचा सर्वप्रथम अपने मस्तिष्क में खड़ा किया जाय । मानवी मर्यादा और स्थिति क्या होनी चाहिए ? इसका स्वरूप निर्धारण कुछ कठिन नहीं है । दिनचर्या की दृष्टि से सुव्यवस्थित, श्रम की दृष्टि से स्फूर्तिवान, मानसिक दृष्टि से सक्षम, व्यवहार की दृष्टि से कुशल, चिन्तन की दृष्टि से दूरदर्शी, विवेकवान्, आत्मानुशासन की दृष्टि से प्रखर, व्यक्तित्व की दृष्टि से आत्मावलम्बी और आत्म-सम्मानी हर श्रेष्ठ मनुष्य में यह विशेषताएँ होनी चाहिए । चरित्र की दृष्टि से उदार और स्वभाव की दृष्टि से मृदुल एवं हँसते-हँसाते रहने वाला उसे होना चाहिए । सादगी और सज्जनता मिले-जुले तत्व है । आन्तरिक विभूतियों और बाह्य साधन सम्पत्तियों का सुव्यवस्थित सदुपयोग कर सकने वालों को सुसंस्कृत कहते हैं । अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों को समझने वाले और उनके पालन को प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर चलने वालो को सभ्य कहा जाता है । ऐसी ही विशेषताओं से सम्पन्न व्यक्ति को सच्चे अर्थों में 'मनुष्य' कहा जा सकता है । 'मानवता' से, मानवी सद्गुणों से विभूषित व्यक्ति ही, मानव समाज का सभ्य सदस्य कहला सकता है । ऐसे सद्गुण सम्पन्न मनुष्य को मापदण्ड मानकर उसके साथ तुलनात्मक समीक्षा करने से ही आत्म-चिन्तन का उद्देश्य पूरा हो सकता है । मानदण्ड न हो तो अपने दोषों और गुणों का कुछ पता ही न चलेगा । दुष्टों से अपनी तुलना की जाय तो जो कुछ हम हैं वह भी आत्मिक श्रेष्ठता की अनुभूति होगी और यदि अत्यधिक उच्च स्थिति के महामानवों से तुलना की जाय तो सामान्य स्थिति रहते हुए भी अपनी स्थिति असन्तोषजनक और गई-गुजरी प्रतीत होती रहेगी । नाप-तोल को बाँट, गज, मीटर आदि की जरूरत पड़ती है । तुलनात्मक आधार अपनाने पर ही समीक्षा सम्भव होती है अन्यथा वस्तुस्थिति का निरूपण सम्भव ही न हो सकेगा । शरीर का तापमान कितना रहना चाहिए, यह विदित रहने पर ही बुखार चढ़ने या शीत दबाने की बात जानी जा सकती है । मध्यवर्ती रक्त चाप का ज्ञान रहने पर ही नापने वाला यह बता सकता है कि 'ब्लड प्रेशर' घटा हुआ है या बढ़ा हुआ । इसी प्रकार एक सज्जनता एवं मानवतावादी मनुष्य का जीवन स्तर निर्धारित करने और उसके साथ अपने को तोलने में ही अपनी हेय, मध्यम एवं उत्तम स्थिति का विवेचन, विश्लेषण, निर्धारण सम्भव हो सकेगा ।

हम जिन दुष्प्रवृत्तियों के लिए दूसरों की निन्दा करते हैं, उनमें से कोई अपने स्वभाव में सम्मिलित तो नहीं है, जिनके लिए हम दूसरों से घृणा करते हैं वैसी दुष्प्रवृत्तियाँ अपने में तो नहीं हैं ? जैसा व्यवहार हम दूसरों से अपने लिए नहीं चाहते वैसा व्यवहार हम दूसरों के साथ तो नहीं करते ? जैसे उपदेश हम आये दिन दूसरों को करते रहते है वैसे आचरण अपने हैं या नहीं ? जैसी कि हम प्रशंसा एवं प्रतिष्ठा चाहते हैं वैसी विशेषताएँ अपने में हैं या नहीं ? ऐसे प्रश्न अपने आप से पूछने और सही उत्तर पाने की चेष्टा की जाय तो अपने गुण-दोषों का वर्गीकरण ठीक तरह हो सकना सम्भव हो जायेगा ।

यो यह कार्य है अति कठिन । हर मनुष्य में अपने प्रति पक्षपात करने की दुर्बलता पायी जाती है । आँखे बाहर को देखती हैं, भीतर का कुछ पता नही ।

कान बाहर के शब्द सुनते हैं, अपने हृदय और फेफड़ों से कितना अनवरत ध्वनि प्रवाह गुंजित होता है, उसे सुन ही नहीं पाते । इसी प्रकार दूसरों के गुण-अवगुण देखने में रुचि भी रहती है और प्रवीणता भी, पर ऐसा अवसर कदाचित ही आता है जब अपने दोषों को निष्पक्ष रूप में देखा और स्वीकारा जा सके । आमतौर से अपने गुण ही गुण दीखते हैं दोष तो एक भी नजर नहीं आता । कोई दूसरा बताता है तो वह शत्रुवत् प्रतीत होता है । जिस कार्य को कभी भी न किया हो वह बन ही नहीं पड़ता । आत्म-समीक्षा कोई कब करता है ? अस्तु वह प्रक्रिया ही कुंठित हो जाती है । अपने दोष ढूँढ़ने में काफी कठोरता बरतने की क्षमता उत्पन्न हो जाय तो वस्तुस्थिति समझने और सुधार के लिए प्रयत्न करने का अगला चरण उठाने में सुविधा होती है ।

दोष-दुर्गुणों के सुधार के लिए अपने आप से संघर्ष करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं । गीता में जिस महाभारत का उल्लेख और जिसमें भगवान ने हठपूर्वक जो कार्य नियोजित किया था वह अन्तःसंघर्ष ही था । भगवान के अवतरण में अधर्म के नाश और धर्म के संस्थापन की प्रतिज्ञा जुड़ी हुई है । अवतार इसी प्रयोजन के लिए होते हैं । अन्तःकरण में जब भी भगवान अवतरित होते हैं तब विचार और व्यवहार के साथ लिपट कर सम्बन्धियों जैसी प्रिय लगने वाली असुरता से लड़ने के लिए कटिबद्ध होना पड़ता है । हर अवतार को असुरों को परास्त करने और देवत्व को जिताने का कार्य अनिवार्य रूप से करना पड़ा है । इस प्रक्रिया को वैयक्तिक जीवन की दुष्प्रवृत्तियों का निराकरण और सत्प्रवृत्तियों का सम्वर्धन कह सकते हैं । ईश्वर की दिव्य ज्योति जिस भी अन्तरात्मा में प्रकट होगी उसमें प्रथम स्फुरणा यही होगी कि जीवन के जिस भी क्षेत्र में दुष्ट-दुर्बुद्धि छिपी पड़ी है और दुष्कर्मों के लिए ललचाती है उसे ताड़का, सूर्पणखा, पूतना की तरह निरस्त कर दिया जाय ।

बुरे विचारों को अच्छे विचारों से काटा जाता है और बुरी आदतों के स्थान पर नई आदतों को अभ्यास में लाना पड़ता है । इस कार्य में एक प्रकार से अन्तःयुद्ध जैसी परिस्थिति उत्पन्न होती है । यह परिवर्तन अनायास ही—इच्छा मात्र से—हो सकना सम्भव नहीं । प्रचण्ड मनोबल और संकल्पशक्ति का उपयोग करने से ही यह हेर-फेर होता है । विष को विष से मारा जाता है—काँटे को काँटे से निकाला जाता है और घूँटे का जवाब घूँसे से दिया जाता है । सेना के साथ सेना लड़ती है । टैंक तोड़ने के लिए तोप के गोले बरसाने पड़ते हैं । संघर्ष में समतुल्य बल का प्रयोग करना पड़ता है । मस्तिष्क में भरे हुए कुविचारों को सद्विचारों से काटना पड़ता है । निकृष्टता की ओर आकर्षित करने वाले वातावरण के प्रभाव को निरस्त करने के लिए उत्कृष्टता के लोक में अपने को पहुँचाना होता है । यह कार्य स्वाध्याय और सत्संग की सहायता से ही सम्भव हो सकता है । अपने समीपवर्ती लोग प्रायः स्वार्थपरता और निकृष्टता की दिशा में ही प्रेरणा देते हैं । इसका प्रतिद्वन्द्वी वातावरण अपने इर्द-गिर्द कठिनाई से ही दीख पड़ेगा । ऐसी दशा में यही उचित है कि श्रेष्ठ सज्जनों के, महामानवों के विचार उनके सद्ग्रन्थों के सहारे पढ़ने, ग्रहण करने का प्रयत्न करें । उनके जीवन चरित्र पढ़ें और आदर्शवादी प्रेरणाप्रद प्रसंगों एवं व्यक्तियों को अपने सामने रखें । उस स्तर के लोग प्रायः सत्संग के लिए सदा उपलब्ध नहीं रहते । यदि होते भी हैं तो उनके प्रवचन और कर्म में अन्तर रहने से समुचित प्रभाव नहीं पड़ता । ऐसी दशा में सरल और निर्दोष तरीका यही है कि ऐसे सत्साहित्य का नित्य-नियमित रूप से अध्ययन किया जाय जो जीवन की समस्याओं को सुलझाने, ऊँचा उठाने और आगे बढ़ाने में सहायक सिद्ध होता हो । ऐसा साहित्य न केवल पढ़ा ही जाय वरन् प्रस्तुत विचारधारा को व्यावहारिक जीवन में उतारने के लिए उत्साह भी उत्पन्न किया जाय और सोचा जाय कि इस प्रकार की आदर्शवादिता अपने में किस प्रकार उत्पन्न की जा सकती है । इसके लिए योजनाएँ बनाते रहा जाय और परिवर्तन काल में जो उलट-पुलट करनी पड़ेगी उसका मानसिक ढाँचा खड़ा करते रहा जाय । यही है आन्तरिक महाभारत की पृष्ठभूमि । प्रत्यक्ष संग्राम तब खड़ा होता है जब अभ्यस्त गन्दे विचारों को उभरने न देने के लिए कड़ी नजर रखी जाती है और जब भी वे प्रबल हो रहे हों तभी उन्हें कुचलने के लिए प्रतिपक्षी सद्विचारों की सेना सामने ला खड़ी की जाती है । व्यभिचार की ओर जब मन चले तो इस मार्ग पर चलने की हानियों का फिल्म चित्र मस्तिष्क में घुमाया जाय और

संयम से हो सकने वाले लाभों का—उदाहरणों का—सुविस्तृत दृश्य आँखों के सामने उपस्थित कर दिया जाय । यह कुविचारों और सद्विचारों की टक्कर है । यदि मनोबल प्रखर है और न्यायाधीश जैसा विवेक जागृत हो तो कुविचारों का परास्त होना और पलायन करना सुनिश्चित है । सत्य में हजार हाथी के बराबर बल होता है । आसुरी तत्व देखने में तो बड़े आकर्षक और प्रबल प्रतीत होते हैं, पर जब सत्य की अग्नि के साथ उनका पाला पड़ता है तो फिर उनकी दुर्गति होते भी देर नहीं लगती । काठ की हाँडी की तरह जलते और कागज की नाव की तरह गलते हुए भी उन्हें देखा जा सकता है ।

अभ्यस्त कुसंस्कार आदत बन जाते हैं और व्यवहार में अनायास ही उभर-उभर कर आते रहते हैं । इनके लिए भी विचार संघर्ष की तरह कर्म संघर्ष की नीति अपनानी पड़ती है । थल सेना से थल सेना लड़ती है और नभ सेना के मुकाबले नभ सेना भेजी जाती है । जिस प्रकार कैदियों को नई बदमाशी खड़ी न करने देने के लिए जेल के चौकीदार उन पर हर घड़ी कड़ी नजर रखते हैं वही नीति दुर्बुद्धि पर ही नहीं दुष्प्रवृत्तियों पर भी रखनी पड़ती है । जो भी उभरे उसी से संघर्ष खड़ा कर दिया जाय । बुरी आदतें जब कार्यान्वित होने के लिए मचल रही हों तो उसके स्थान पर उचित सत्कर्म ही करने का आग्रह खड़ा कर देना चाहिए और मनोबलपूर्वक अनुचित को दबाने और उचित को अपनाने का ही हठ ठान लेना चाहिए । मनोबल दुर्बल होगा तो ही हारना पड़ेगा अन्यथा सत्साहस जुटा लेने पर श्रेष्ठ स्थापना से सफलता ही मिलती है । घर में बच्चे जाग रहे हों—बुड्ढे खाँस रहे हों तो भी मजबूत चोर के पाँव काँपने लगते हैं और वह उल्टे पैरों लौट जाता है । ऐसा ही तब होता है जब दुष्प्रवृत्तियों की तुलना में सत्प्रवृत्तियों को साहसपूर्वक अड़ने और लड़ने के लिए खड़ा कर दिया जाता है ।

छोटी बुरी आदतों से लड़ाई आरम्भ करनी चाहिए और उनसे सरलतापूर्वक सफलता प्राप्त करते हुए क्रमशः अधिक कड़ी, अधिक पुरानी और अधिक प्रिय बुरी आदतों से लड़ाई आरम्भ करनी चाहिए । छोटी सफलताएँ प्राप्त करते चलने से साहस एवं आत्म-विश्वास बढ़ता है और इस आधार पर अवांछनीयताओं के उन्मूलन एवं सत्प्रवृत्तियों के संस्थापन में सफलता मिलती चली जाती है । यह प्रयास देर तक जारी रहना चाहिए । थोड़ी-सी सफलता से निश्चिंत नहीं हो जाना चाहिए । लाखों योनियों के कुसंस्कार विचार मात्र से समाप्त नहीं हो जाते । वे मार खाकर अन्तर्मन के किसी कोने में जा छिपते हैं और अवसर पाते ही छापामारों की तरह घातक आक्रमण करते हैं । इनसे सतत सजग रहने की आवश्यकता है । आजन्म यह सतर्कता अनवरत रूप से बरती जानी चाहिए कि कहीं बेखबर पाकर दुर्बुद्धि और दुष्प्रवृत्ति की घातें फिर न पनपने लगें ।

आत्म-निर्माण का तीसरा चरण इस प्रयोजन के लिए है कि श्रेष्ठ सज्जनों में गुण, कर्म, स्वभाव की जो विशेषताएँ होनी चाहिए उनकी पूर्ति के लिए योजनाबद्ध प्रयत्न किया जाय । दुर्गुणों की प्रतिष्ठापना भी तो होनी चाहिए । कँटीली झाड़ियाँ उखाड़ कर साफ कर दी गईं यह तो आधा ही प्रयोग पूरा हुआ । आधी बात तब बनेगी जब उस भूमि पर सुरम्य उद्यान लगाया जाय और उसे पाल-पोस कर खड़ा किया जाय । बीमारी दूर हो गई यह आधा काम है । दुर्बल स्वास्थ्य को बलिष्ठता की स्थिति तक ले जाने के लिए जिस परिष्कृत आहार-विहार को जुटाया जाना आवश्यक है । उसकी ओर भी तो ध्यान देने और प्रयत्न करने में लगना चाहिए ।

आलस्य दूर करने की प्रतिक्रिया श्रम-शीलता में समुचित रुचि एवं तत्परता के रूप में दृष्टिगोचर होना चाहिए । प्रमाद से पिण्ड छूटा हो—लापरवाही और गैर जिम्मेदारी हटा दी तो उसके स्थान पर जागरूकता, तन्मयता, नियमितता, व्यवस्था जैसे मनोयोग का परिचय मिलना चाहिए । मधुरता, शिष्टता, सज्जनता, दूरदर्शिता, विवेकशीलता, ईमानदारी, संयमशीलता, मितव्ययिता, सादगी, सहृदयता, सेवा भावना जैसी सत्प्रवृत्तियों में ही मानवी गरिमा परिलक्षित होती है । उन्हें अपनाने, स्वभाव का अंग बनाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहा जाना चाहिए । आमतौर से लोग धन उपार्जन को प्रमुखता देते हैं और उसी के लिए अपना श्रम, समय, मनोयोग लगाये रहते हैं । उत्कर्ष के इच्छुकों को सम्पत्ति से भी अधिक महत्त्व सद्गुणों की विभूतियों को देना चाहिए । परिष्कृत व्यक्तित्व ही वह कल्पवृक्ष है जिस तक जा पहुँचने वाला भौतिक और आत्मिक

दोनों ही क्षेत्रों की सफलता प्राप्त करता है । धन उपार्जन में जितनी तत्परता बरतनी पड़ती है उससे कम नहीं वरन् कुछ अधिक ही तत्परता सद्गुणों को स्वभाव का अंग बनाने में बरतनी पड़ती है । धन तो उत्तराधिकार में, स्वल्प श्रम से, संयोगवश अथवा ऋण अनुदान से भी मिल सकता है, पर सद्गुणों की सम्पदा एकत्रित करने में तो तिल-तिल करके अपने ही प्रयत्न जुटाने पड़ते हैं । यह पूर्णतया अपने ही अध्यवसाय का प्रतिफल है । उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श कर्तृत्व अपनाये रहने पर यह सम्पदा क्रमिक गति से संचित होती है । चंचल बुद्धि वाले नहीं, संकल्पनिष्ठ, सतत प्रयत्नशील और धैर्यवान् व्यक्ति ही इस वैभव का उपार्जन कर सकने में समर्थ होते हैं । चक्की के दोनों पाटों के बीच में गुजरने वाला अन्न ही आटा बनता है । सद्विचार और सत्कर्म के दबाव से व्यक्तित्व का सुसंस्कृत बन सकना सम्भव होता है । अपना लक्ष्य यदि आदर्श मनुष्य बनना हो तो इसके लिए आवश्यक उपकरण अलंकार जुटाएँ जाते रहेंगे । इन्हीं प्रयत्नों का परिणाम समयानुसार आत्म-निर्माण के रूप में परिलक्षित होता दिखाई देगा ।

आत्मोत्कर्ष की अन्तिम सीढ़ी आत्म-विकास है । इसका अर्थ होता है आत्म-भाव की परिधि का अधिकाधिक विस्तृत क्षेत्र में विकसित होना । जिनका स्वार्थ अपने शरीर और मन की सुविधा तक सीमित है उन्हें नर-कीटक कहा जाता है जो इससे कुछ आगे बढ़कर ममता को परिवार के लोगो तक सीमाबद्ध किए हुए हैं, वे नर-पशु की श्रेणी में आते है । आमतौर से सामान्य मनुष्य इन्हीं वर्गों में गिने जाने योग्य चिन्तन एवं क्रिया-कलाप अपनाये रहते हैं । उनका स्वार्थ इस परिधि से आगे नहीं बढ़ता । जीवन सम्पदा को इसी कुचक्र मे भ्रमण करते हुए कोल्हू के बैल जैसी जिन्दगी पूरी कर लेते हैं । मनुष्य का पद बड़ा है । अन्य प्राणियो की तुलना में ईश्वर ने उसे अनेकों असाधारण क्षमता दिव्य धरोहर की तरह दी है और अपेक्षा की हैं कि उन्हें इस संसार को समुन्नत, सुसंस्कृत बनाने के लिए प्रयुक्त किया जाय । मानवी कलेवर ईश्वर की इस संसार की सबसे श्रेष्ठ कलाकृति है । इसका सृजन उच्च उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हुआ है । इस निर्माण के पीछे जो श्रम लगा है उसमें स्रष्टा का यह उद्देश्य है कि मनुष्य उसके सहयोगी की तरह सृष्टि की सुव्यवस्था में संलग्न रह कर उसका हाथ बटाये । यदि इस जीवन रहस्य को भुला दिया जाय और पेट प्रजनन के लिए, लोभ-मोह के लिए, वासन-तृष्णा के लिए ही इस दिव्य अनुदान को समाप्त कर दिया जाय तो समझना चाहिए पिछड़ी योनियों के तुल्य ही बना रह गया और जीवन का उद्देश्य नष्ट हो गया ।

सृष्टि के मुकटमणि कहे जाने वाले मनुष्य का गौरव इसमें है कि उसकी चेतना व्यापक क्षेत्र में सुविस्तृत हो । शरीर और परिवार का उचित निर्वाह करते हुए भी श्रम, समय, चिन्तन और साधनों का इतना अंश बचा रहता है कि उससे परमार्थ प्रयोजनों की भूमिका निबाही जाती रह सके । आत्मीयता का विस्तार होने से शरीर और कुटुम्बियों की ही तरह सभी प्राणी अपनेपन की भावश्रृंखला में बँध जाते हैं और सबका दुःख अपना दुःख और सबका सुख अपना सुख बन जाता है । वसुधैव कुटम्बकम् की, विश्वपरिवार की आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावनाएँ बलवती होने पर मनुष्य का स्वार्थ, परमार्थ में परिणत हो जाता है जो अपने लिए चाहा जाता था वही सबको मिल सके ऐसी आकांक्षा जगती है । जो व्यवहार, सहयोग दूसरों से अपने लिए पाने का मन रहता है, उसी को स्वयं दूसरों के लिए देने की भावना उमंगती रहती है । लोक-मंगल की, जन-कल्याण की, सेवा साधना की इच्छाएँ जगती हैं और योजनाएँ बनती हैं । ऐसी स्थिति में पहुँचा हुआ व्यक्ति ससीम न रह कर असीम बन जाता है और उसका कार्यक्षेत्र व्यापक परिधि में सत्प्रवृत्तियों का सम्वर्धक बन जाता है । ऐसे व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं को पैरों तले कुचल कर फेंक देते हैं । अपनी आवश्यकताओं को घटाते हैं और निर्वाह को न्यूनतम आवश्यकताएँ पूरी करने के उपरान्त अपनी समस्त क्षमताओं और सम्पदाओ को विश्व-कल्याण के सत्प्रयोजनों में लगाए रहते हैं । देश, धर्म, समाज, संस्कृति के उत्कर्ष के लिए किए गए प्रयत्नों में उन्हे इतना आनन्द आता है जितना स्वार्थ परायण व्यक्तियों को विपुल धन प्राप्त करने पर भी नहीं मिल सकता । संसार के इतिहास मे—आकाश के महामानवों के जो उज्जवल चरित्र झिलमिला रहे है वे सभी इसी आत्म-विकास के मार्ग का अवलम्बन करते हुए महानता

के उच्चशिखर पर पहुँचे थे । सन्त, सुधारक, शहीद यह तीन सामाजिक जीवन के सर्वोच्च सम्मान हैं । महात्मा, देवात्मा और परमात्मा यह तीन आध्यात्म जीवन की समग्र प्रगति के परिचायक स्तर हैं । इन्हें प्राप्त करने के लिए आत्म-विकास के सिवाय और कोई मार्ग नहीं । व्यक्तिवाद को समूहवाद में विकसित कर लेना विश्वशान्ति का आधार माना गया है । अपनेपन को हम जितने व्यापक क्षेत्र में विस्तृत कर लेते हैं उतने ही विश्वास पूर्वक यह कह सकते हैं कि मनुष्य जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने का सुनिश्चित मार्ग मिल गया ।

## सुर दुर्लभ काया का सार्थक एवं सुनियोजित उपयोग हो

शरीर उपयोग के लिए विविध साधनों की आवश्यकता होती है । इसके लिए सम्पत्ति का उपार्जन और सुविधाओं का सम्वर्धन करने में प्रायः सभी लोग स्वभावतः निरत रहते हैं । व्यक्ति इसके लिए स्वयं प्रयत्न करता है । उचित से लेकर अनुचित प्रकार के अगणित उपाय अपनाता है । मूर्धन्य प्रतिभाएँ भी साधन सुविधाओं को बढ़ाने के लिए सामर्थ्य भर प्रयत्न करती हैं । अर्थशास्त्री, विज्ञानी, बुद्धिजीवी, सत्ताधारी आदि सभी वर्ग के व्यक्ति अपनी प्रतिभाएँ इसी क्षेत्र में नियोजित किए रहते हैं । इस सम्मिलित प्रयत्न का लाभ भी मिला है । आदि काल की तुलना मे मनुष्य की वर्तमान स्थिति की सुसम्पन्नता में जो आकाश-पाताल जैसी प्रगति हुई है वह इसी सम्पत्ति साधना का प्रतिफल है ।

भौतिक प्रगति की उपयोगिता रहते वह भी एकांगी है । उपयोग कर्ता व्यक्ति की अन्तः चेतना का समुचित परिष्कार न होने से साधन सामग्री का ठीक तरह उपयोग नहीं हो पाता । दुरुपयोग से तो अमृत भी विष बन सकता है और आत्म-रक्षा के लिए बनाये गए शस्त्र उल्टे आत्मघाती सिद्ध होते है । बुद्ध का अभाव उतना हानिकारक नहीं जितना उसका दुरुपयोग । निर्धनता का अभिशाप उतना भयकर नही है जितना कि सम्पत्ति के दुरुपयोग से अनाचार । शरीर से दुर्बल या रुग्ण व्यक्ति उतना दयनीय, निन्दनीय नही है जितना दुष्टता पर उतारू दैत्य दानव । अपंगों को सहन किया जा सकता है किन्तु उद्दण्डो के कारण जो विक्षोभ उत्पन्न होते है उससे तो शान्ति और स्थिरता ही चली जाती है ।

शरीर ही सब कुछ माना जाय तो बात दूसरी है अन्यथा जीवन में आत्मा की भी कोई साझीदारी मानी जाय तो यह आवश्यक हो जाता है कि चेतना की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए ध्यान दिया जाये और प्रयास किया जाये । काया सुख चाहती है और आत्मा को शान्ति चाहिए । शान्ति का ही दूसरा नाम सन्तोष है । अभीष्ट साधन सामग्री और अनुकूल परिस्थितियों के आधार पर सुख मिलता है और उत्कृष्ट चिन्तन तथा आदर्श कर्तृत्व अपनाने पर शान्ति की अनुभूति होती है । सुख और शान्ति दोनों के समन्वय की आवश्यकता है । दोनों के लिए समान प्रयास होने चाहिए । दोनों को समान महत्त्व देने में ही दूरदर्शिता है ।

एकांकी प्रगति अपर्याप्त हैं । सदाचारी, ज्ञानी तपस्वी को भी पेट भरने और तन ढकने को साधन चाहिए । निर्वाह के अभाव में शरीर ही लड़खड़ाने लगेगा और अस्तित्व ही संकट में पड़ जायेगा । अस्तु चेतना के परिष्कार का प्रयास करने वालों को भी निर्वाह के साधन जुटाने पड़ते हैं । ठीक इसी प्रकार सम्पत्ति उपार्जन में संलग्न तत्परता का एक भाग आत्मिक प्रगति के लिए लगना चाहिए । स्मरण रखा जाय कि जीवन के सुचारु रूप से चलने में सुविधा साधनों की तरह ही उत्कृष्टता की गतिविधियों को अपनाया जाना भी आवश्यक है । दोनों पहियों से ही गाड़ी ठीक तरह चलती है । भौतिक और आत्मिक प्रगति का समान स्वरूप में ध्यान रखने और सन्तुलित कार्यक्रम बनाने में ही दूरदर्शिता है ।

चेतना के परिष्कार की दो धाराएँ हैं एक सुसंस्कृत अन्तरंग और सद्व्यवहार सम्पन्न बहिरंग । अन्तरंग की श्रेष्ठता को संस्कृति कहते हैं और बहिरंग की सज्जनता को सभ्यता । संस्कृति और सभ्यता के समन्वय से ही व्यक्तित्व का स्तर परिष्कृत होता है । परिष्कृत व्यक्तित्व की शालीनता उसे निरन्तर आत्म-सन्तोष प्रदान करती है । सम्पर्क क्षेत्र में उस पर सम्मान और सहयोग की वर्षा होती है । भीतर से सन्तुष्ट और बाहर से सम्मानित व्यक्ति अपने आप में गर्व अनुभव करता है । आन्तरिक दृष्टि से बलिष्ठ परिपुष्ट होता

हैं । आत्मबल का धनी कहलाता है । ऐसा व्यक्ति जिस दिशा में चलता है, जिस भी क्षेत्र में प्रवेश करता है उसमें सफलता ही सफलता मिलती जाती है । ऐतिहासिक महामानवों में से प्रत्येक की सफलता का यही रहस्य है । परिस्थितियों ने तो कदाचित ही किसी को बहुत बड़ी सफलता दिलाई है, पर स्थायी और वास्तविक प्रगति तो उच्चस्तरीय मनःस्थिति से ही बन पड़ती है । अनैतिक एवं आकस्मिक रीति से किसी को समृद्धि सफलता मिली हो तो भी इतना निश्चित है कि वह न तो उससे समुचित लाभ उठा सकेगा और न धारण क्षमता के अभाव में उसे देर तक सुरक्षित रख सकेगा । पात्रता के अभाव में उपलब्धियों के संचय मात्र से किसी की समस्याएँ हल नहीं होतीं वरन् उलझनें और भी बढ़ जाती हैं । अभाव की तुलना में दुरुपयोग की प्रतिक्रिया और भी अधिक भयावह होती है ।

स्वार्थ साधन एवं हित साधन को महत्त्व तो कितने ही लोग देते हैं, पर यह भूल जाते हैं कि, वास्तविक स्वार्थ एवं हित किसमें है । इसी निर्णय निर्धारण में सबसे बड़ी चूक होती है । समझा यह जाता है कि सम्पन्नता बढ़ने मात्र से सुख-शान्ति की समस्या हल हो जायेगी किन्तु तब यह नितान्त भ्रम ही सिद्ध होता है जब अन्तरंग में दोष दुर्गुण भरे पड़े हों, ओछा दृष्टिकोण अपनाया गया हो और आचरण पर से मर्यादाओं का अंकुश उठ गया हो ।

सन्तुलित जीवन अपनाने की अपनी आकांक्षा और चेष्टा बन सके तो समझना चाहिए कि समग्र प्रगति का सुव्यवस्थित आधार बन गया । जीवन व्यवसाय को दो साझीदारों की सम्मिलित दुकान समझा जाय । यों पूँजी, समय और मेहनत चेतना भाग की ही अधिक है, फिर भी काम इतने से भी चल सकता है कि शरीर और आत्मा दोनों को ही समान स्तर का भागीदार मान लिया जाय । दोनों के स्वार्थ साधन को ध्यान में रखकर योजना बनाने, नीति निर्धारित करने और गतिविधियाँ अपनाने का बुद्धिमतापूर्ण मार्ग अपनाया जाय । शरीर की निर्वाह आवश्यकताएँ पूरी होती रहें—परिवार की पाठशाला में आत्म-निर्माण की शिक्षा और उस उद्यान के प्रत्येक पौधे की सुसंस्कारिता बढ़ती रहे । यह दोनों ही अपने शारीरिक कर्तव्य हैं । परिवार से हमें अपने तरह की सुविधाएँ मिलती हैं । उचित है कि उनके प्रति उचित कर्तव्य-पालन किया जाय । परिवार, संस्था के किसी घटक के साथ न तो अन्याय हो और न कोई अनावश्यक सुविधा प्राप्त करके अनुचित लाभ उठाने पावे । किसी को प्रसन्न करने के लिए उसे अनुचित लाभ देने की नीति जिन घरों में अपनाई जाती है वे कुटुम्ब आन्तरिक विक्षोभ से जलने लगते हैं और अन्ततः बिखरते, विद्रोह करते और बिगड़ते ही देखे जाते हैं । आवश्यकताएँ न्यूनाधिक हो सकती हैं और उनकी व्यवस्था न्यायोचित दृष्टि से की जा सकती है । हर बात में समानता नहीं चल सकती । औचित्य का ध्यान रखते हुए अन्तर भी करना पड़ सकता है पर न्याय और कर्तव्यों को ध्यान में रखा जाय और वस्तुस्थिति सबको बताते रह कर भ्रान्तियों का निराकरण करते रहा जाय तो उतने मात्र से पारिवारिक कर्तव्य ठीक तरह पूरे हो सकते हैं । परिवार की सुविधा बढ़ाते रहने से काम नहीं चलेगा उसके प्रत्येक सदस्य को सुसंस्कारी बनाने वाले व्यवहार में लगाए रहना चाहिए ।

शरीर को विलासी और आलसी न बनने दिया जाय । जीवन धारण के लिए अपने देश के औसत नागरिक की स्थिति को ध्यान में रखते हुए निर्वाह की सीमा निर्धारित की जाय तो इतने भर से शरीर यात्रा ठीक तरह चल सकती है । इसके आगे का मूल प्रश्न है साधन । उसे मानव जन्म का सुर दुर्लभ अनुदान, उपहार के रूप में नहीं सदुद्देश्यों की पूर्ति के लिए अमानत के रूप में मिला है । ध्यान यह रखा जाना चाहिए कि उस मूल प्रयोजन की पूर्ति हो रही है या नहीं । इस सन्दर्भ में प्रायः मूर्छना ही छाई रहती है । आमतौर से उधर ध्यान ही नहीं जाता । जिस बात की आवश्यकता ही नहीं समझी जाती उसकी व्यवस्था कैसे बनेगी ? वह भूल है जिसके कारण यह अमूल्य अवसर हाथ से निकलता चला जाता है । गल्ती का आभास तब होता है जब जीवन सम्पदा बाल-विनोद से ही नष्ट हो जाती है । मरण की घड़ी सामने आ खड़ी होती है तब ध्यान आता है कि जो किया जाना चाहिए था वह हो नहीं सका और जिसे करने की कोई खास आवश्यकता नहीं थी । उन विडम्बनाओं में सारा समय चला गया ।

कुटिल दृष्टिकोण अपनाने से ही ईर्ष्या द्वेष का, छल-प्रपंच का, असन्तोष-विक्षोभ का वातावरण बनता है और घात-प्रतिघात की उलझनें खड़ी होती हैं । सम्पन्नता या बड़प्पन पाने के लिए लालायित व्यक्ति ही निरन्तर उद्विग्न और विक्षुब्ध रहते पाये जाते हैं । ललक और लिप्सा ही मनुष्य को अशान्त बनाये रहती है। यदि उचित आवश्यकताएँ ही सन्तोष का केन्द्र रह सकें तो किसी को भी भारयुक्त जीवन नहीं जीना पड़ेगा । सामान्य श्रम और सामान्य मनोयोग से ही निर्वाह क्रम सरलतापूर्वक चलता रह सकेगा ।

जो इतना कर सकेगा उसी के लिए आत्मिक प्रगति की दिशा में कुछ ठोस कदम बढ़ा सकना सम्भव हो सकेगा । अन्यथा उल्टी-तिरछी पूजा-पत्री कर लेने की आत्म-प्रवंचना से ही मन बहलाना पड़ेगा । एक भारी भ्रम लोगों पर यह भी छाया हुआ है कि आत्म-कल्याण के लिए थोड़ा बहुत भजन-पूजन कर लेना ही पर्याप्त है । आत्म-कल्याण और ईश्वर अनुग्रह का महान उद्देश्य इतनी सी टण्ट-घण्ट कर लेने पर पूरा हो जाता है । उपासना, आध्यात्मिक जीवन का प्रवेश द्वार है । द्वार खुले बिना भवन में प्रवेश नहीं होता इसलिए ताला कुँजी ढूँढ़ने की, साँकल उतारने की, दरवाजा खोलने की आवश्यकता होती है । उपासना यही है । दफ्तर, कारखाना या घर में प्रवेश करने के उपरान्त वहाँ के साधनों के सहारे विभिन्न प्रकार के पुरुषार्थ करने होते हैं । भवन प्रवेश का द्वार खुलने का लाभ इन्हीं प्रयत्नों के फलस्वरूप मिलता है । उपासना एक प्रेरणा एवं प्रकाश ज्योति है जिसके सहारे अन्तस् का अन्धकार दूर होता है और लक्ष्य की दिशा में चलने का उत्साह एवं साहस उत्पन्न होता है ।

गुण, कर्म, स्वभाव में संचित कुसंस्कारों का निराकरण और सुसंस्कारों का संस्थापन यही है जीवन साधना का उद्देश्य । इसके लिए थोड़े समय तक कुछ विशिष्ट क्रियाकृत्य कर लेने भर से बात नहीं बनती । दिन भर के क्रिया-कलापों और उनके साथ जुड़े हुए विचार प्रवाह को कड़ाई के साथ निरखना-परखना पड़ता है । उत्कृष्टता की कसौटी पर कसने और चिन्तन की जाँच-पड़ताल करते रहने की आवश्यकता रहती है । इसके अतिरिक्त एक काम और भी करना पड़ता है कि समय, श्रम, प्रभाव, चिन्तन एवं धन के रूप मे मिली पाँच विभूतियो में से एक अंश नियमित रूप से ईश्वर के लिए लौटाना पड़ता है । यदि न लौटाया जाय, सारा शरीर ही उसके स्वामियों को सौंप दिया जाय तो यह अनुचित ही होगा । साझीदार के साथ अन्याय और विश्वासघात भी । आध्यात्मिक ईमानदारी की स्पष्ट परख अंश दान के रूप में ही होती है । सब कुछ शरीर ही हड़प ले आत्मा को उपलब्धियों का एक अंश भी न मिले तो इसे आत्म-द्रोह ही कहा जायेगा । पूजा पाठ करने मात्र से इस पाप से छुटकारा नहीं मिलता ।

प्राचीन काल में आधा जीवन शरीर के लिए, संसार के लिए विभाजित था और आधा परमार्थ प्रयोजनों के लिए सुरक्षित रखा जाता था । पूर्वार्द्ध मे ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आता है । उत्तरार्द्ध में वानप्रस्थ और संन्यास । पूर्वार्द्ध स्वार्थ के लिए है, उत्तरार्द्ध परमार्थ के लिए । ब्रह्मचर्य से शरीर और मस्तिष्क को बलिष्ठ, परिपुष्ट बनाया जाता है । गृहस्थ में उस क्षमता का उपयोग भौतिक उपार्जन के लिए किया जाता है । परिवार परिपोषण का उत्तरदायित्व इन्हीं दिनों आता है । नये बच्चे पैदा करना नहीं प्रत्युत परिवार को हर दृष्टि से सुयोग्य बनाना वस्तुतः यही गृहस्थ धर्म है जिसे बिना विवाह किए या बिना बच्चे पैदा किए भी भली प्रकार पाला जा सकता है । सच तो यह है कि घर के वयोवृद्धों, समवयस्कों और छोटों की सुव्यवस्था के लिए जितने साधनों की कमी रहती है उसकी पूर्ति वही कर सकता है जो नया परिवार बढाने के लिए आतुर नहीं है । सीमित उपार्जन क्षमता को यदि बड़े-बूढ़ों से लेकर भाई-भतीजों तक खपाया जा सके तो सच्चे अर्थों में गृहस्थ धर्म का पालन तभी बन पड़ता है । सम्पत्ति का उपार्जन अपने लिए ही नहीं पूरे समाज के लिए करना अभीष्ट है । यह प्रौढ़ावस्था में ही ठीक प्रकार हो सकता है ।

आधी आयु भौतिक प्रयोजन के लिए लगा लेने के उपरान्त तीसरा भाग वानप्रस्थ के लिए सुरक्षित रखा गया है । इस अवधि तक बच्चे वयस्क हो जाने चाहिए । यदि कुछ छोटे रह गए हैं तो उनका उत्तरदायित्व बड़े बच्चों को सौंपा जाना चाहिए । सत्ता के हस्तान्तरण में कुछ समय लगता है इसलिए इस अवधि मे थोड़ा पारिवारिक मार्ग-दर्शन और थोड़ा परमार्थ प्रयोजन साधा जाता है । वानप्रस्थ अवधि के पारमार्थिक कार्य तीन हिस्सों मे बँटे हुए हैं— (१) उपासना तपश्चर्या, (२) ब्रह्मविद्या की तप साधना,

(३) परमार्थ-परायणता । इन तीनों में ढलती आयु का अधिकांश समय लगाया जाना वानप्रस्थ है । इससे स्थानीय क्षेत्रीय सेवा साधना ही सम्भव होती है । उत्तरार्द्ध का चौथा भाग संन्यास है इसमें पारिवारिक उत्तरदायित्वों से पूरी तरह निवृत्त होकर परिव्राजक जीवन जीया जाता है ।

वर्तमान स्थिति को देखते हुए शारीरिक जीवन की अवधि का अनुमान लगाया जाय और उसे चार भागों में विभक्त करके उपर्युक्त चार आश्रमों के लिए उसका निर्धारण किया जाय, चार के स्थान पर दो भी किए जा सकते हैं । आधी आयु शरीर, परिवार के लिए, आधी आत्म-कल्याण और लोक-मंगल के लिए । भारतीय संस्कृति की महान गरिमा इसी विभाजन पर अवस्थित रही है । सामान्य मनुष्यों को देवोपम उत्कृष्टता प्राप्त करने का अवसर इसी आधार पर मिला है । अपने देश धर्म, समाज और संस्कृति का गौरव बढ़ाते रहने और समस्त विश्व में सुख शान्ति बनाये रहने की वरिष्ठता का गौरव अपने देश के नागरिकों को इसी मर्यादा का पालन करते रहने के कारण उपलब्ध होता है । आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण का उद्देश्य पूरा कर सकने वाली महान जीवन साधना के लिए शरीर और आत्मा के बीच इस विभाजन सीमा का निर्धारण अतीव आवश्यक है ।

यह विभाजन आयुष्य के आधार पर हुआ । दूसरा विभाजन सामान्य स्थिति के दैनिक जीवन का है । चौबीस घण्टे में से ८ घण्टे उपार्जन के लिए ७ घण्टा सोने के लिए ५ घण्टा अन्य आवश्यक कामों के लिए । इस प्रकार यदि २० घण्टे शरीर और परिवार के लिए व्यवस्थित रीति से लगाए जा सकें तो गृहस्थ जीवन का क्रम बहुत ही सुविधा और व्यवस्थापूर्वक चलता रह सकता है । शेष चार घण्टे परमार्थ प्रयोजनों के लिए लगाए रहने में किसी भी भावनाशील व्यक्ति को तनिक भी कठिनाई नहीं होनी चाहिए ।

## तुच्छ से तुच्छ और महान से महान

मनुष्य क्या है.? इसे स्थूल दृष्टि से देखा जाय, तो वह बन्दर, वन मानुष जाति का एक नरपशु प्रतीत होता है । जरा बारीकी से किसी शरीर विज्ञानी की दृष्टि से देखें तो वह हाड़-माँस, मल-मूत्र का पिटारा भर मालूम पड़ता है । जिसके ऊपर चमकदार चमड़ी की परत चढ़ा दी गई है । इस चमड़ी को उतार देने पर जो रह जाता है वह लगभग वैसा ढाँचा शेष रह जाता है जैसा कि मरे हुए पशु का चमड़ा उतार लेने पर सियार, कौओं का दुर्गन्धित भोजन पड़ा रहता है ।

इसके भीतर एक आत्मा है । जो चेतना के, जीवन के, आत्मा के रूप में, इसके भीतर विद्यमान है । उसी के कारण शरीर की विभिन्न गतिविधियाँ चलती हैं । मस्तिष्क सोचता है । भावनाएँ उभरती हैं । अवयवों की गतिविधियाँ अपना-अपना काम करती हैं । इसी को प्राण भी कहते हैं । जब प्राण निकल जाता है तो उपरोक्त सारी गतिविधियाँ समाप्त हो जाती हैं । शरीर अपने पुराने रूप को स्वयं ही नष्ट करने पर उतारू हो जाता है । यह भीतर सड़ने लगता है । भीतर ही कृमि पड़ जाते हैं और वे उसे खाकर समाप्त कर देते हैं । इस दुर्गति से बचने के लिए स्वजन सम्बन्धी उसे जला देते, गाड़ देते या पानी में बहा देते हैं ।

इस शरीर में अन्य अंग तो कुछ आकर्षक नहीं है पर चेहरे की बनावट ऐसी है जिसे साज-सज्जा के साथ—शृंगार प्रसाधनों द्वारा कुछ और साज सँभाल लिया जाय तो वह और भी सुहावना दीख पड़ता है । हाथों की, उँगलियों की, हथेली की कोमलता भी ध्यान खींचती है । चेहरे में लगी ज्ञानेन्द्रियाँ तथा उँगलियो की, हथेली की चंचलता चूँकि उसमें प्राण शक्ति की विशेष मात्रा भरी रहती है, इसलिए वह भीतरी विशेषता और भी आकर्षक लगती है । वंश परम्परा में व्यतिक्रम न होने पाये, कोई नासमझ अकारण उत्तेजित न होने पाये, इसलिए उन्हें विशेषतया आवरण में ढक कर रखते हैं । यही है काया की मोटी रूपरेखा । यदि उसका वैज्ञानिक विवेचन-विश्लेषण किया जाय तो उसके भीतर और भी छोटे-बड़े अवयव दीख पड़ते हैं, जीवकोष रसायन आदि भी, किन्तु इन सब में गतिविधि तभी तक रहती है जब तक कि उनमें प्राण सव्याप्त रहता है । जहाँ वह प्रवाह समाप्त हुआ होगा वहीं समझना चाहिए कि जादू के तमाशे भरा खेल समाप्त हुआ ।

जीवन कितने समय टिकेगा इसका कोई निश्चय नहीं । यों पूर्ण आयु सौ वर्ष की मानी जाती है, किन्तु अनेक बार छोटी-मोटी बीमारियाँ या दुर्घटनाएँ ही इस सारे सरंजाम को समेट लेती हैं । दुध मुँहे बच्चों से

लेकर जवान बालकों तक को मृत्यु के मुँह में जाते देखा गया है । इसलिए कुछ कहा नहीं जा सकता कि किसका जीवन कितने समय टिकेगा ।

पूर्णायु तो कदाचित ही कोई पूरी कर पाते हैं । साठ-सत्तर तक पहुँच जाय तो उसे पूर्णायु तक पहुँचा मान लिया जाता है अन्यथा अधिकांश तो उठती उम्र में ही दम तोड़ देते है । इस थोड़े से जीवन की आधी आयु तो रात्रि के सोने में ही निकल जाती है । जो जागृति का समय बचता है उसमें से मुश्किल से आधा भाग उपयोगी सार्थक कामों में लगता है । आधा समय तो आराम, विश्राम, आलस्य, प्रमाद, हँसी-मजाक, मनोरंजन आदि के ऐसे कामों में व्यतीत हो जाता है जिसे एक प्रकार से समय काटना ही कह सकते हैं । गुजारे के लिए रोटी कमाना और परिवार का भरण-पोषण करते रहना भी, मूलतः सम्बन्धित शरीर से ही रहता है । ऐसे शरीर से जिसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता कि यह कितने दिन स्वस्थ स्थिति में रहेगा और साथ देगा । इसी मोटे ढर्रे पर अधिकांश लोगों का मानव जीवन व्यतीत होता है । कोल्हू के बैल की तरह वे इसी चक्र मे चलते रहते हैं और जरा-सी ठोकर लगने पर पैर पसारकर जीवन की इति श्री कर देते हैं । इस धुरी पर घूमने वाले जीवन-क्रम की पशु प्रक्रिया से तुलना की जाय तो कुछ अत्युक्ति न होगी । हममें से अधिकांश की जीवन गाथा यही है ।

पर जब उसे दूसरी दृष्टि से देखा जाय तो यह अद्भुत और असाधारण प्रतीत होता है । मनुष्य की शरीर संरचना ऐसी है, जिसे देखने पर मन मुग्ध होता है । उसकी कलात्मक क्रिया शक्ति भी ऐसी है जिसके कर्तृत्व को देखकर चकित रह जाना पड़ता है । चिन्तन की विलक्षणता को क्या कहा जाय ? वह न केवल वर्तमान की योजना बनाती है वरन् भूतकाल में अनुभवों से भी बहुत कुछ सीखती है और भविष्य निर्धारण के लिए योजनाबद्ध प्रयास बने तो वह सफल होकर भी रहती है । उत्कंठा-आकांक्षा न हो तो बात दूसरी है । प्रकृति ही पेट की भूख और मस्तिष्क की काम वासना के आधार पर परिवार खड़ा कर लेती है और उसी में मकड़ी के जाल की तरह उलझती-सुलझती समय काट लेती है, पर यदि उसकी चेतनात्मक विशेषता पर ध्यान दिया जाय तो प्रतीत होता है कि यह जादू का पिटारा है । इसकी क्षमताओं का कोई आदि अन्त नहीं । वे बीज रूप में प्रसुप्त पड़ी रहती है पर यदि उन्हे थोड़ा-सा प्रयास करके जगाया जा सके तो इसी कलेवर में ऐसी बहुमूल्य फसलें उगती हैं जिनके प्रतिफलों की हीरे मोतियों से तुलना की जा सकती है ।

महामानव विचारशीलों को कहते है व्यावसायिक विचारशीलता नहीं वरन् यहाँ आत्म-निरीक्षण और मूल्यांकन की चर्चा चल रही है । मनुष्य में एक दोष है कि वह शरीर के साथ बुरी तरह गुँथ गया है । यहाँ तक कि अपनी आत्म-सत्ता की यदाकदा चर्चा कर लेने के अतिरिक्त यह भी अनुभव नहीं करता कि कलेवर रूपी कठपुतली का सूत्र संचालन कोई अदृश्य बाजीगर करता है और वह आत्मा ही इस सारे संसार की अधिष्ठाता है । उसका कोई अस्तित्व है और साथ ही उद्देश्य भी । इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने का अवसर ही नहीं मिलता और शरीर को ही अपना सर्वस्व मानकर उसी के निमित्त विभिन्न प्रकार के क्रिया-कलाप करने में लगा रहता है । समय का लेखा-जोखा लिया जाय तो वह सारे का सारा ही शरीर के निमित्त बीत जाता है । विचारणा की गतिविधियों को परखा जाय तो वे भी शरीर के इर्द-गिर्द घूमती रहती हैं । इसी में प्रसन्नता और स्वार्थ साधना का ताना-बाना बुनती हैं । चिन्तन और कर्तव्य प्रायः समूचा ही शरीर के निमित्त लग जाता है इसी कुचक्र में वह बहुमूल्य जीवन व्यतीत हो जाता है जिसे सुरदुर्लभ माना गया है । आत्मा के हितों का ध्यान ही नहीं रहता जिनके निमित्त कृपापूर्वक परमेश्वर ने यह अनुपम उपहार प्रदान किया है ।

जीवन को सही रूप से बिताने का तरीका अपनाने का प्रारम्भिक सूत्र यह है कि अपने आपको पहचानना चाहिए और यह अनुभव किया जाना चाहिए कि हमारी मूल सत्ता सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा है । उसका ज्योतिर्मान अंश जीवन का सूत्र संचालन और अधिष्ठाता है । इसे इस प्रकार जीया जाय तो आत्मा के गौरव के अनुकूल हो । पशु और मनुष्य मे मौलिक अन्तर यही है कि पशु का आत्मबोध शरीर की सीमा में ही होता है । वह शरीर को ही सब कुछ समझता है और उसी की रक्षा और प्रसन्नता को ध्यान मे रखकर वह सब कुछ करता है । आत्मा का स्वरूप, उद्देश्य

और शौर्य स्तर बनाते हुए उसे किन सिद्धान्तों के अनुरूप किन आदर्शों की मर्यादा में जीया जाना चाहिए यह वह कभी जानने का प्रयास नहीं करता । उचित और अनुचित का भेद उसे नहीं होता और शरीर की इच्छा एवं आवश्यकता के अनुरूप जो कुछ भी करने की इच्छा होती है उसे कर डालता है, किन्तु मनुष्य की उत्कृष्टता उस पर दबाव डालती है कि अपनी गरिमा को गिरने न दें । उस मार्ग पर न चलें जिसका अनुकरण करने पर दूसरे लोग भी कुमार्ग पर चल पड़ें । उसे अपने गौरव का ज्ञान होता है और वह करता है जिसे करने के लिए उसका अन्त:करण अनुमति देता है । जो हेय है उसे करने से इतना सकुचाता है कि प्रत्यक्षतः शारीरिक हानि होती हो तो उसे सहन कर सके । जिसके भीतर यह विवेक जागृत है उसे ही सच्चा मनुष्य कहा जाता है अन्यथा आकृति की दृष्टि से वन मानुष, बन्दर आदि मनुष्यों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं । क्रिया की दृष्टि से यन्त्र मानव रोबोट और भी अच्छी तरह कार्य करते, आदेश पालते हैं ।

विचारणीय यह है कि किसने मानवी गरिमा को अनुभव किया और उसका निर्वाह करने के लिए अपनी इच्छाओं को किस हद तक सीमित किया । जिसकी शारीरिक आकांक्षाएँ जितनी प्रबल हैं उसकी अन्तरात्मा उतनी ही दब जाती हैं और ऐसे कृत्य करती हैं जैसे कि नर-पशु भी नहीं, नर पिशाच ही करते हैं । शाकाहारी जीव-जन्तुओं को दया धर्म और दूसरों के हितों का ज्ञान रहता है पर जिनकी आत्मा पिशाच स्तर की होती हैं, वह स्वार्थ के लिए भेड़िया का और क्रोध का आवेश ठंडा करने लिए साँप-बिच्छू की तरह अपना आवेश प्रकट करते हैं ।

हमें शरीर से नहीं, मन से भी मनुष्य होना चाहिए । खान-पान में उन्हीं वस्तुओं का उपयोग करना चाहिए, जिनका कि शाकाहारी प्रयोग करते हैं । वे किसी का प्राण हरण नहीं करते और न ऐसी वस्तुएँ सेवन करते है, जो नशीली कहलाती हैं और विचारणा को विचलित करके विक्षिप्तों की, उन्मादियों की पंक्ति में ला बिठाती हैं । शरीर के पोषण के लिए वस्तुएँ तो उपार्जित करते हैं; पर उसमें न्याय-अन्याय का ध्यान रखते हैं । जिसमे अनीति प्रतीत होती है, उसे नही करते, भले ही अपना मन मसोसना या स्वार्थ दबोचना पड़ता हो । इसी औचित्य बोध को दूसरे शब्दों में मनुष्यता कहते हैं ।

आत्मिक उन्नति की परिभाषा इस अर्थ में की जा सकती है कि किसे अपने कर्तव्य का कितना अधिक ज्ञान है । वह उसके परिपालन में कितना अधिक जागरूक है । उसमें कितनी तत्परता बरतता है । इसी के साथ ही एक और तथ्य इसमें जुड़ता है कि दूसरों का अधिकार, अपहरण करने के लिए कितनी कोमलता का प्रयोग करता है । इसका अर्थ यह नहीं है कि अपने उचित अधिकारों का जानबूझ कर परित्याग किया जाय और दूसरो को उद्धत बनने का अवसर दिया जाय । यह प्रकारान्तर से अनीति का परिपोषण है । मनुष्य को जितना अपने कर्तव्य पालन में जागरूक रहना चाहिए उतना ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कोई उद्दण्डतापूर्वक अपने या दूसरे निर्बल के अधिकारों का अपहरण न कर रहा हो । रक्षा न्याय की होनी चाहिए । पालन न्याय का होना चाहिए । समर्थता के कारण यदि असमर्थों को अनीति सहने के लिए बाधित किया जाने लगेगा तो यह जंगल का कानून होगा । उसे मत्स्य न्याय कहा जायेगा । उसके कारण मानवीय सभ्यता को, जिसे दूसरे शब्दों में न्यायशीलता कहा जा सकता है, सुरक्षित नहीं रहने दिया जायेगा ।

क्षमा शब्द का उपयोग भी कई बार अच्छे अर्थों में होता है और उसे सद्गुण कहा जाता है; पर उसका औचित्य तभी है जब आततायी को समुन्नत दण्ड देने की सामर्थ्य अपने में हो । आमतौर से छोटे बच्चे दुर्बुद्धि से नही, अनाड़ीपन से गल्तियाँ करते हैं । उन्हे बहुत अबोध या अशक्त होने पर प्रेमपूर्वक समझा-बुझाकर ही फिर गल्ती न करने के लिए सहमत कर लिया जाता है, पर यदि कोई गल्ती समझते हुए ढीलापन या उद्दण्डता बरते तो शालीनतायुक्त आक्रोश व्यक्त करते हुए यह भी समझा/दिया जाता है कि सीमा के आगे बढ़ने पर उसका दण्ड भी भुगतना पड़ सकता है और घाटा भी सहना पड़ता है । अनीति के निवारण में मात्र क्षमा या प्रेम ही काम नहीं आता । कई बार उद्दण्डता को यह अनुभव भी कराया जाता है कि इस राह पर आगे कदम बढ़ाने पर लाभ की अपेक्षा हानि अधिक उठानी पड़ सकती है ।

प्रेम, दया, करुणा, क्षमा आदि शब्द आमतौर से भलमनसाहत के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं; पर कई बार झंझट से बचने की कायरता भी इसी आड़ में छिपी रहती है । तब तो वे सद्गुण भी अवांछनीय हो जाते हैं । बुद्धकाल में अहिंसावाद का अत्युक्तिपूर्ण प्रयोग हुआ, फलतः मध्य एशिया में आततायी आक्रमणकारियों का तांता लग गया और देशवासियों को भारी हानि उठानी पड़ी व चाणक्य के नेतृत्व में चन्द्रगुप्त ने जब उन्हें कठोरतापूर्वक रोका तब कहीं सन्तुलन बना । हमें इस तथ्य को भुला नहीं देना चाहिए कि अतिवाद सदा हानिकारक होता है, चाहे वह क्षमा, अहिंसा जैसे उच्च आदर्शों का ही क्यों न हो ।

विरोध, प्रतिहिंसा या प्रतिरोध में भी अपनी नम्रता और सज्जनता का व्यतिरेक नहीं करना चाहिए । किसी हत्यारे को मृत्यु दण्ड देते हुए भी उपस्थित अधिकारी अपनी टोपी उतार लेते हैं और काली पट्टी बांधते हैं । यह इस बात का प्रतीक है कि एक व्यक्ति का इस प्रकार अन्त होना उन्हें खेदजनक लगा है । तथ्यों और तर्कों द्वारा अपना पक्ष प्रतिपादित करना चाहिए और झूठे लांछन सहन नहीं करने चाहिए पर इसका अर्थ यह नहीं है कि अपनी भलमनसाहत की मर्यादा गवाँ दी जाय ।

जैसे को तैसा व्यवहार करना उचित हो सकता है; पर साथ में इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि स्वाभाविक सज्जनता का परित्याग करके खुद को भी उसी हेय श्रेणी में न रखा जाय । शेखनबी कहते थे कि कोई कुत्ता मनुष्य की टाँग काट ले तो यह नहीं कहा जाता कि बदले में मनुष्य को भी कुत्ते की टाँग काटनी चाहिए । कुत्ते को हरकत से बाज आने की शिक्षा कड़ाई से दी जा सकती है, पर वह कड़ाई ऐसी न हो जिसमें व्यक्ति अपनी मनुष्यता ही खो बैठे ।

सामान्य व्यवहार में अपनी नीति सज्जनता गवाँने की होनी चाहिए । भले आदमी की शत्रु भी प्रशंसा करते हैं । बड़प्पन कायम रहने पर आत्म-सन्तोष भी होता है, समाज में एक अच्छी परम्परा भी चलती है उद्दण्डता का उत्तर उद्दण्डता में देने से दोनों पक्षों का दर्जा एक जैसा हो जाता है । जो सहज सहानुभूति मिलनी चाहिए, वह नहीं मिलती । इस लाभ को गँवा बैठना एक बड़ा घाटा है, जिसे नहीं गँवाना चाहिए ।

मिलन-समागम में दूसरे के सद्गुणों और सत्कर्मों की ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए और जो श्रेष्ठ है, उसकी प्रशंसा हर किसी को प्रिय लगती है । यदि बिना कुछ जेब से खर्च किए, मात्र प्रशंसा से ही दूसरों को खुश किया जा सकता है, तो इतना सस्ता अवसर क्यों गवाँया जाय ? किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं कि झूठी खुशामद या चापलूसी करके अपना उल्लू सीधा किया जाय ।

यह दृष्टिकोण भर का अन्तर है । यदि किसी के दोष देखने की दृष्टि हो तो वे हर किसी में अवश्य न्यूनाधिक मात्रा में मिल जायेंगे; किन्तु यदि सद्गुण ढूँढने का मन हो तो भी कोई ऐसा न मिलेगा, जिसमें कुछ न कुछ अच्छाई न मिले । एक बार एक नगर में द्रोणाचार्य ने युधिष्ठिर और दुर्योधन दोनों को भेजा कि इनमें रहने वालों के गुण-दोष ढूँढ़ कर लाओ दोनों गए । युधिष्ठिर का उत्तर था कि इस नगर में कोई बुरा आदमी नहीं; पर इसके विपरीत दुर्योधन ने कहा यहाँ एक भी भला आदमी नहीं, सब बुरे-ही-बुरे रहते हैं । वस्तुस्थिति यह थी कि उस नगर में दोनों ही प्रकार के आदमी थे; पर दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण एक को सभी बुरे दिखाई पड़े, जबकि दूसरे को भले । हम अपने जीवन और सम्बद्ध वातावरण के बारे में भी इसी प्रकार का दृष्टिकोण अपना सकते हैं ।

अनीति के विरुद्ध संघर्ष करना और अपनी सज्जनता बनाये रहना प्रतीत तो कठिन होता है; पर यह असम्भव नहीं है । एक हाथ में ढाल लेकर अपना बचाव भी किया जा सकता है और दूसरे हाथ में तलवार लेकर अनीति के विरुद्ध संघर्ष भी । डॉक्टर रोगी के गहरे ऑपरेशन करते समय व्यवहार कसाई जैसा करता है; पर उसकी भावनाएँ विशुद्ध दयालु जैसी होती हैं । वह रोगों को मारता है और रोगी को बचा लेता है । न्यायाधीश भी ऐसा ही करते है । कठोर दण्ड भी देते हैं और मृत्यु दण्ड तक का फैसला सुनाते हैं; पर यह निर्णय करते समय उनके मन में अपराधी के प्रति निजी द्वेष नहीं होता, वरन् समाज मे सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए ही उन्हे ऐसा करना पड़ता है । प्रचलित दुष्प्रवृत्तियों के विरुद्ध संघर्ष करने में सत्प्रवृत्तियों को जीवन्त रखने का ही भाव होता है । भगवान के अवतार, अधर्म का नाश और धर्म का संस्थापन करने

के निमित्त ही होते हैं । देखने में यह दोनों क्रियाएँ एक-दूसरे के विपरीत होती हैं; पर वास्तव में ऐसा है नहीं, दोनों एक दूसरे के पूरक हैं । जहाँ प्रकाश होगा वहाँ अन्धकार का उन्मूलन होगा ही । यह स्वाभाविक प्रक्रिया है । इसमें राग द्वेष का समावेश होना आवश्यक नहीं । न्याय की रक्षा के लिए अवांछनीय को हटाना और औचित्य का संस्थापन करना पड़ता है । यह प्रक्रिया बहिर्जगत में ही नहीं होती, वरन् अन्तःक्षेत्र में भी अपनानी पड़ती है । अपनी सज्जनता बढ़ाने के लिए गुण, कर्म, स्वभाव में छिपे हुए दोष, दुर्गुणों को खोजना पड़ता है और उन सभी को बुहार कर बाहर फेंकना पड़ता है । लोग हमारे सम्बन्ध में क्या कहते हैं, इस सम्बन्ध में न अधिक ध्यान देना चाहिए और न उनका भला बुरा मानना चाहिए, क्योंकि हर व्यक्ति की प्रकृति और परख अपनी है । उन्हें जो घटना, व्यवहार दृष्टिगोचर होता है उन्हीं को आधार मान भला-बुरा निर्णय कर लेते हैं । किसी के पास इतना अवकाश नहीं कि दूसरों की भलाई-बुराई का गहराई तक निरीक्षण करें और वह यह देख सकें कि जिस घटना को उसने महत्त्व दिया है वह किस स्थिति में, किस उद्देश्य से, किन परिस्थितियों में सम्पन्न की । उथली दृष्टि से देखने पर गहराई तक घुसी हुई जड़ों को न ही देखा, न ही नापा जा सकता है ।

अपनी आँखों से अपने आपका आन्तरिक निरीक्षण करना चाहिए कि जो किया गया वह किस स्थिति में और किस कारण किया गया । इस आधार पर भलाई-बुराई की वास्तविक परख हो सकती है, क्योंकि अपना आपा ही अपने आप को ठीक तरह पहचानने और परखने में समर्थ हो सकता है । ऐसी दशा में दूसरे की समीक्षा को बहुत अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता । सम्भव हो और उचित अवसर हो तो दूसरों को वस्तुस्थिति बताई जा सकती है । इतने भर से ही अपने कर्तव्य की इतिश्री हो जाती है । दूसरा इससे सन्तुष्ट हुआ या नहीं इसकी चिन्ता करने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है । दूसरो की निन्दा स्तुति के आधार पर न कोई अब तक न नीचे गिरा न ऊँचा उठा है । अपने सम्बन्ध मे अपनी अन्तरात्मा का जो निर्णय है वही वास्तविक उस समीक्षा को महत्त्वपूर्ण देना चाहिए और यदि कहीं कुछ खोट है तो उसके निराकरण का स्वयं भी तत्परता पूर्वक प्रयत्न करना चाहिए । सुधर जाने पर दूसरों का अभिमत भी देर-सवेर में बदल जाता है । न भी बदले तो बुराई के बदले बुराई करने की अपेक्षा यही उचित है कि उस मान्यता की उपेक्षा की जाय । उससे न तो चिढ़ा जाय और न बदले में उसी स्तर पर उतरा जाय । दूसरों का अभिमत हवाओं में उड़ने वाले पत्तों की तरह उलटता और पलटता रहता है । पत्ते हवा के साथ इधर-उधर होते रहते हैं किन्तु जड़ें अपनी मजबूती और गहराई के कारण जहाँ की तहाँ बनी रहती हैं । व्यक्ति के बारे में लोकमत प्रचार साधनों में नहीं वरन् उसकी आन्तरिक वास्तविक स्थिति के कारण बनता रहा है । जो प्रशंसा पर फूलता और निन्दा पर आवेशग्रस्त होता है उसके सम्बन्ध में लोग यही अनुमान लगाते हैं कि यह उथला और ओछा आदमी है । उसका अपना निजी अभिमत, अस्तित्व एवं निर्धारण कुछ है नहीं । होना यह चाहिए कि अपने सम्बन्ध में निजी अभिमत के अतिरिक्त और किसी को महत्त्व न दिया जाय, हँसकर टाल दिया जाय ।

अपनी समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी और बहादुरी पर यदि अपना विश्वास है, अपनी राह को सज्जनता और सदाशयता की कसौटी पर सही कसा गया है तो दूसरों के विरोध या अपयश को कोई महत्त्व नहीं देना चाहिए । लोगों ने गलतफहमी मे पड़कर ईसा, सुकरात, मंसूर, गाँधी, दयानन्द आदि के प्राण हरण कर लिए और जो वे कह सकते थे—भला-बुरा कहने से भी न चूके, किन्तु उनके निष्कलंक जीवन पर कोई दाग धब्बा लग नहीं सका । वे अगणित लोगों का विरोध सहते हुए भी अपनी गरिमा को सदा के लिए अक्षुण्ण बनाये रहे ।

यह चिन्ता करने की भी आवश्यकता नहीं है कि किसके साथी, सहयोगी, समर्थक एव साधन कितने अधिक हैं । इसलिए उससे डरा जाय और उसके विरोध में अपनी आवाज धीमी या बन्द कर दी जाय । स्मरण रखने योग्य तथ्य यह है कि 'सत्य में हजार हाथियों के बराबर बल होता है ।' रावण का कितना बड़ा कुटुम्ब, कितना बड़ा सम्प्रदाय था पर वह अनीति पर आधारित होने के कारण देर तक टिक नही सका । प्रह्लाद आदि की कथाएँ भी ऐसी हैं जिनसे प्रकट होता

है कि आदर्शों के सम्मुख अनीति टिक नहीं सकी, भले ही उसके लिए लम्बा संघर्ष करना या विशेष कष्ट सहन करना पड़ा हो। अंग्रेजी शासन के राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता था फिर भी वह गाँधी के निहत्थे सत्याग्रहियों के सामने ठहर न सका। ईसा के मरते समय तक कुल १३ शिष्य बन पड़े थे पर उनके न रहने पर भी आँधी चलती रही और इन दिनों प्रायः १५० करोड़ ईसाई संसार भर में हैं। यदि शक्ति, संख्या और साधन ही सब कुछ रहे होते तो असुरता का निरन्तर परास्त होते रहने का इतिहास न बनता।

हम अपनी इज्जत आप करें। कोई ऐसा काम या विचार न करें जो आत्मा के दरबार में हमें दोषी ठहरायें। यदि हमारी विचारणा, चरित्र निष्ठा और कार्य पद्धति आदर्शों की कसौटी पर खरी होती रहे तो किसी से हमे डरने की आवश्यकता नहीं है और न व्रत से पीछे कदम हटाने की। अग्नि की एक चिन्गारी ढेरों घास-फूँस को जलाकर खाक कर देती है। कुप्रथा एवं अनीतियाँ भले ही कितनी ही पुरानी और बहु समर्पित क्यों न हों विवेकयुक्त विचारों के सामने वे टिक नही सकेंगे। उनकी पराजय और पलायन निश्चित है। औचित्य के समर्थन में कोई न कोई, कहीं न कहीं से सहायता करने आ ही जाते हैं। रावण जैसे साधन सम्पन्न के सामने रीछ, वानरों का डट जाना इस बात का प्रमाण है कि व्यक्ति हो अथवा आन्दोलन जिसके पीछे सच्चाई होगी, वह अड़ा रहेगा और सफल होकर रहेगा।

अपने बारे में दूसरों की सम्मति में दिलचस्पी लेना व्यर्थ है। अपनी अन्तरात्मा से ही यह पूछते रहना चाहिए कि अपनी आँखों में अपना मूल्य गिरा तो नहीं? संकीर्ण स्वार्थपरता और लोभ, मोह, अहकार के आवेगों से ग्रसित होकर कोई ऐसे कदम तो नहीं उठ रहे हैं जो मानवता का मूल्य गिराते हों। मानवता का मूल्य ही अपना निजी मूल्य मानना चाहिए। लोग तो लालच और दवाव से भी प्रशंसा या निन्दा करने लगते हैं। परिस्थितियाँ बदलते ही उनकी सम्मति भी बदल जाती है। ऐसे वेपेंदी के लोटे किधर लुढक रहे हैं इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए किन्तु विचारशील विज्ञ और आदर्शवादी लोगों के अभिमत को अवश्य महत्त्व देना चाहिए चाहे वे अकेले ही क्यो न हों। किसी व्यक्ति का मूल्य गिराने और बढ़ाने मे उसकी अन्तरात्मा का—भावना, विचारणा एवं क्रिया पद्धति का ही वास्तविक मूल्य होता है। यदि वह स्तर ऊँचा बना रहा तो समझना चाहिए कि उस ऊँचाई से नीचे गिराने की और किसी की सामर्थ्य नहीं है। मनुष्य को गिराने में ऐसे आकर्षण और प्रलोभन ही निमित्त कारण होते हैं जो आदर्शों की परवाह किए बिना किसी भी प्रकार अपना मतलव गाँठने के लिए प्रेरित करते हैं।

जिन बातों को हम अनुचित समझते [redacted] उन्हें स्वीकार करें और किसी भी खिंचाव या दवाव के आगे अपनी स्थिरता को डाँवाडोल नहीं होने दें। हमें सिद्धान्तों का मूल्य समझना चाहिए, आदर्शों की महानता अंगीकार करनी चाहिए और उनके प्रति आस्था को इतनी मजवूत बनाना चाहिए कि दृढ़ता के संकल्प डगमगाने न पायें। मनुष्य की दृढ़ता ही उसकी वास्तविक शक्ति है। इस दृढ़ता को अपनाने से पूर्व अपने निश्चय और संकल्प को अनेक बार इस कसौटी पर कस लेना चाहिए कि उसमें दूरदर्शी विवेकशीलता का समुचित समावेश है या नहीं। इस सन्दर्भ में सम्बन्धियों, कुटुम्बियों, मित्रों या तथाकथित शुभचिन्तकों से भी समझौता नहीं करना चाहिए क्योंकि इन दिनों लोक मानस की धारणा यह है कि किसी भी प्रकार स्वार्थ सिद्ध करना चाहिए, लाभ उठाना चाहिए, फिर उसके लिए छल-प्रपंच या कुकर्म ही क्यों न अपनाने पड़ें। हमारा अपना निश्चय इतना कमजोर नहीं होना चाहिए कि स्वार्थपरायण निकटवर्ती लोग अपने जैसा बनाने के लिए सहमत कर सकें।

अपने समाज में अनेक प्रकार की प्रथाएँ, मान्यताएँ प्रचलित है। सभी अपने मन्तव्य के पक्ष में कुछ न कुछ तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं। यह भी हो सकता है कि परिवर्तन के लिए कदम उठाने पर विरोध सहने, घाटा पड़ने, अड़चन उत्पन्न होने, अनिष्ट होने जैसी डराने वाली बाते कहकर उच्च आदर्शों से विचलित करने का प्रयत्न किया जाय। यह सब एक ओर चलता रहे और अपनी निष्ठा चट्टान की तरह सुदृढ़ बनी रहे तो ही किसी व्यक्ति को मान्यता मिल सकती है। जो सहज ही अपना अभिमत बदल लेते [redacted] उनका मूल्य उनकी अपनी या दूसरों की आँखो में गिर जाता है।

अहंकार और स्वाभिमान का अन्तर समझना चाहिए। नम्रता और दीनता एक बात नहीं है।

प्रज्ञा प्रचारकों को स्वाभिमान होना चाहिए क्योंकि वे इतने बड़े मिशन का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसका स्तर और प्रभाव संसार भर में अनोखा है पर साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अहंकार लगता भर स्वाभिमान जैसा है पर उससे मिलता-जुलता होते हुए भी प्रतिकूल। घमंडी और उद्धत व्यक्ति अपनी गरिमा बढ़ाने के लिए ऐसी भाषा बोलते या मुद्रा बनाते हैं जिसमें अहंकार की क्षुद्रता स्पष्ट झलके। हमें अपनी गरिमा का स्वरूप बनाये रहना चाहिए, किन्तु दूसरे के स्वाभिमान को किसी भी प्रकार चोट न पहुँचे। इसका सदैव ध्यान रखना चाहिए। दीनता के भाव फटकने न दें पर नम्रता और सज्जनता में तनिक भी कमी न आने दें। वस्त्र, हजामत, जूते आदि सभी परिधान साफ-सुथरे और कायदे करीने के होने चाहिए। इस सम्बन्ध में उपेक्षा बरती गई तो प्रथम परिचय में ही सामने वाला अपनी उपेक्षा, शिथिलता और असावधानी को ताड़ लेगा और व्यक्तित्व की ही नहीं प्रतिपादन की भी उपेक्षा करेगा। यह घाटा आरम्भ में ही उठा लेने का अर्थ है कि जिस प्रयोजन के लिए सम्पर्क साधा गया है उसका भी श्रीगणेश ही गलत ढंग से किया गया है। स्वच्छता सबसे बड़ी कलाकारिता है। अपनी सज्जा बढ़ाने के लिए बहुमूल्य वस्तुओं का प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं है, पर वे जिस भी मूल्य के हों साफ-सुथरे, लोहा किए हुए और करीने से पहने हुए होने चाहिए। शरीर या परिधान में कहीं भी ऐसा प्रतीत न होता हो कि व्यक्ति सुसंस्कारी नहीं है। इसे फूहड़ लोगों के समुदाय या सम्पर्क मे रहना पड़ा है। अपने जिस घर में आगन्तुकों का आना-जाना हो उसे साफ-सुथरा रखा ही जाना चाहिए। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि आगन्तुकों की दृष्टि जितने क्षेत्र तक हो वह सब भी ऐसा हो जहाँ कूड़ा-करकट या अव्यवस्था के चिन्ह दीख न पड़ें। बातें छोटी-सी हैं पर इनसे मनुष्य के स्वभाव और चरित्र का पता चलता है। जहाँ गन्दगी है वहाँ लापरवाही होनी ही चाहिए और जहाँ लापरवाही होगी वहीं अनेकों भूलें और कुप्रथाएँ स्वयं प्रकट होकर चुगलखोरी करने लगेगी।

वार्त्तालाप में कटुता, विरोध, आक्षेप, व्यंग, तिरस्कार जैसे प्रकट करने वाले दुर्गुणों की भरमार नहीं होनी चाहिए। वार्त्ता आरम्भ करते हुए सर्वप्रथम उन विषयों को लेना चाहिए जिसमें सहमति हो। सहमति में प्रेम और एकता झलकती है। सम्मान का अनुभव भी होता है। जिन बातों में मतभेद हो, उनमें पहले विरोधी पक्ष के प्रतिपादन को आगे रखना चाहिए और उनके तर्क तरकस खाली कर देना चाहिए। इसके बाद अपने पक्ष की मान्यताएँ सम्मुख रखनी चाहिए और उनके कारण होने वाले लाभों अथवा अपनाये रहने पर होने वाली हानियों की चर्चा करनी चाहिए। इसके लिए अपना अभिमत प्रकट कर देना या उपदेश करना काफी नहीं है वरन् जो कहना है या जिसका विरोध करना है उसके पक्ष-विपक्ष में तर्क, प्रमाण, उदाहरण, संस्मरण आदि का क्रम इस प्रकार रखना चाहिए कि निजी अभिप्राय तो प्रकट हो जाय पर यह प्रतीत न होने पाये कि हमें उपदेश दिया जा रहा है, या मानने के लिए बाधित किया जा रहा है। सहमत करने के लिए जो भूमिका बनानी पड़ती है वह कुछ लम्बी तो हो जाती है पर उससे तथ्यों का संक्षिप्त समावेश भी इस प्रकार किया जा सकता है कि सुनने वाला ऊबने न लगे। बात को संक्षेप में किन्तु तर्क, तथ्य, उदाहरण समेत कहने की कला ऐसी है जिसका आश्रय लेने पर संक्षेप में सारगर्भित प्रतिपादन किया जा सकता है। वार्त्तालाप का आरम्भ या अन्त इस रूप में नहीं होना चाहिए कि उसमें हार-जीत की झलक हो और बात मानापमान तक जा पहुँचे। कोई व्यक्ति एक बार में अपना मत छोड़ने को तैयार न हो तो उसे इतना अवसर देना चाहिए कि वह कथन पर शान्त चित्त से विचार कर सके और दुराग्रह के कारण उत्पन्न हुए पक्षपात पर पुनर्विचार कर सके।

दूसरों को उपदेश देना और उसे प्रभावशाली बनाने के लिए इतना पर्याप्त नहीं है कि जो कहना हो उसे भाषा की दृढ़ता अथवा रोचकता के रूप में व्यक्त किया जाय। प्रत्येक श्रवणकर्त्ता यह परखता है कि जो कहा जा रहा है वह कहने वाले ने अपने जीवन में उतारा या नहीं। जिन बातों को सब अपने स्वभाव या चरित्र में सम्मिलित नहीं कर सकें उसे यदि न कहा जाय या हल्के-फुल्के शब्दों में कह दिया जाय तो ही ठीक है। अन्यथा परिचितों में से जिनको यह प्रतीत होता है कि कथनी और करनी में प्रतिकूलता है तो वह उस व्यक्ति के सम्बन्ध में अपने विचार ही

विरोधी बना लेता है । कथनी और करनी की प्रतिकूलता सदा ही खटकती है किन्तु विशेषतया जब ऊँचे आदर्शों की बात कही जाय और उसका स्वयं पालन न किया जाय तो लोग उसे पाखण्डी और अप्रामाणिक ठहराते हैं । इसलिए उपयुक्त यही है कि किसी को आदर्शवादिता के पक्ष में जोर देना हो तो साथ ही अपनी ओर भी नजर डाल ली जाय कि यह हम स्वयं करते हैं या नहीं । जो नशा पीता है वही यदि नशेबाजी के विरुद्ध धुआँधार भाषण करने लगे तो वस्तुस्थिति के जानकार उसका कहना तो क्या मानेंगे उल्टे मन ही मन मुसकराने या खीझने लगेंगे और अन्य अवसरों पर भी उसकी प्रवंचना को ध्यान में रखते हुए सभी बातों पर अविश्वास करने लगेंगे । इसलिए महत्त्वपूर्ण विषयों में अपनी कथनी और करनी के अन्तर का ध्यान रखना चाहिए और यदि अपने में परिवर्तन हुआ हो तो उस प्रसंग को प्रकट कर देना चाहिए कि भूतकाल में हमसे यह गल्तियाँ होती रही हैं पर अब उस विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया तो अपने आप को पूरी तरह बदल दिया । स्मरण रहे नीतिवादी उपदेश देने का प्रभावी अधिकार उसी को है जो स्वयं भी उस मार्ग पर चले ।

दुनिया में अनेक प्रकार के विचार और अनेकों मान्यताएँ प्रचलित हैं । मनुष्य को उनमें से जिनके साथ वास्ता पड़ता है उन्हीं को सही मान बैठता है । यह विशेषता किन्हीं बिरलों में ही होती है कि अपनी मान्यताओं के सम्बन्ध में भी विचार कर सकें और जो सत्य के अधिक निकट हों, उसे स्वीकार कर सकें । अधिकतर लोग, ऐसे होते हैं जो अपनी मान्यता को ही सही और अन्य सब विचारों को गलत मानते हैं । इसी को दुराग्रह या हठवादिता कहते हैं । अधिकांश लोग इसी प्रकृति के भरे पड़े हैं । विचार विनिमय में निष्पक्ष होकर पक्ष विपक्ष की बातें ध्यानपूर्वक सुनना और जो विवेक संगत हो उसे स्वीकार करना किसी विरले से ही बन पड़ता है । दोनों पक्ष अपनी बात पर जोर दें और विरोध को ही प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर बैर बांध लें तो यह उचित न होगा । अधिकांश लोग अपने-अपने सम्प्रदायों के सम्बन्ध में बहुत कट्टर होते हैं क्योंकि उसके साथ चिरकालीन संस्कार जुड़े होते हैं । ऐसे प्रसंगों की उपेक्षा करनी चाहिए और तालमेल मिलाकर चलने की नीति अपनानी चाहिए इसी को सहिष्णुता कहते हैं । इसी को अपनाने से काम चलता है । यदि सभी लोग अपनी बात पर अड़ जायें और दूसरों को झूठा मानने लगें तो फिर विग्रह का कोई अन्त न रहेगा । जिन बातों पर सहमति है उसी की चर्चा की जाय और नैतिक प्रश्नों को छोड़ कर विचार भिन्नता को किसी प्रकार सहन किया जाय तो ही ठीक है । मिल-जुलकर चलने का व्यावहारिक तरीका यही है । हमें सहिष्णुता का भी महत्त्व समझना चाहिए और मतभेदों को इतनी प्रधानता नहीं देनी चाहिए कि पारस्परिक सद्भाव और सहयोग से भी वंचित होना पड़े । विचार भिन्नता के इस युग में भी एक व्यवहार कुशलता है कि शत्रुता और कट्टरता की खाई को यथासम्भव कम गहरी करने का प्रयत्न किया जाय । उत्कृष्टता के नाम पर अड़ जाने की नीति छोड़ी जाय ।

अपना सम्मान लोगों की आँखों में हो । इसका एक बुद्धिमत्तापूर्ण तरीका यह कि अपनी आमदनी के अनुरूप खर्च किया जाय । अधिक योग्यता बढ़ाने और अधिक परिश्रम करने से प्रामाणिक व्यक्ति इतनी आजीविका कमा सकते हैं कि एक सम्पन्न मनुष्य की तरह सादा जीवन उच्च विचार की नीति अपनाकर सफल जीवन जी सकते हैं । आमदनी से खर्च कम रखा जाय । दूसरों पर अमीरी की छाप डालने के लिए अपनी हैसियत से अधिक खर्च करना यह बताता है कि या तो व्यक्ति चोर है या अव्यावहारिक । कोई समय था जब अधिक पैसे वाले और उसका प्रदर्शन फिजूलखर्ची को ठाट-बाट में खर्च करने वाले बड़े आदमी माने जाते थे, पर अब वह समय गया । ईमानदारी की एक ही कसौटी है । "औसत भारतीय स्तर का निर्वाह ।" इसी में सादा जीवन उच्च विचार का सिद्धान्त समाहित है । जो इसे जीवन नीति बना कर चलेगा उसे न चोरी करनी पड़ेगी न ऋणी होना पड़ेगा और न यह कहलाना पड़ेगा कि गरीबी में भी अमीरी का स्वांग रचा जा रहा है । अच्छा तो यह है कि समय पड़ने पर काम आने के लिए कुछ बचत करते रहा जाय ताकि आड़े वक्त में दूसरों के आगे हाथ न पसारना पड़े । बचत ही असली आमदनी है । जो सौ कमाता है और निन्यानवे खर्च कर देता है उसकी

तुलना में वह बुद्धिमान है जो पचास कमाता है और दस बचा लेता है । मितव्ययिता ईमानदारी का एक बड़ा कारण है । इसे अपनाने वालों की गरिमा गिरती नहीं, कहीं अधिक बढ़ती है ।

कई व्यक्ति अत्यन्त भावुक होते हैं । वे लालच दिखाकर उपयोगिता पर रंग चढ़ा कर अथवा दीन-दुखियों की स्थिति को करुणामयी बताकर लोगों से दान के नाम पर बुरी किस्म की ठगी करते हैं । अपने देश में भिक्षा एक व्यवसाय बन गया है । सीधे माँगने में तो कुछ लज्जा भी हो सकती है पर किसी आदर्शवादिता की अथवा अधिक लाभ होने की बात कहकर आसानी से ठगा जा सकता है और इस निमित्त दान की बात सबसे सरल है ।

पिछड़ों की सहायता के लिए प्रयास न किया जाय, अनुदार न बना जाय, यह नहीं कहा जा रहा है । यह तो अनैतिकता और निष्ठुरता होगी, किन्तु उदारता और सदाशयता का पोषण करते हुए भी यह ध्यान रखना चाहिए कि भावुकता से लाभ उठाने वाले कोई जाल रचकर अपनी जेब तो नहीं काट रहे हैं । उदारता, दानशीलता, सहायता, दया, करुणा, धैर्य आदि सभी बातें सराहनीय हैं पर यह भूल नहीं जाना चाहिए कि किसी ठग द्वारा भावुकता का शोषण न किया जाय । धैर्य और प्रेम के नाम पर इन दिनों प्रायः ठगी का व्यवसाय पूरे जोरों पर चलता है । ऐसे प्रसंगों में किसी को अत्यधिक भावुक नहीं होना चाहिए; वरन् औचित्य की कसौटी पर वस्तु स्थिति समझने के उपरान्त ही कोई ऐसा कदम उठाना चाहिए जिससे सत्पात्रों के हाथों ही सत्प्रयोजनों के लिए अपनी सहायता पहुँचे और उसका सदुपयोग हो ।

धर्म-धारणा के जिन मानवीय सद्गुणों की चर्चा ऊपर की पंक्तियों में की गई है, उन्हें प्रज्ञा परिजनों को, सर्वप्रथम अपने जीवनक्रम में उतारना चाहिए ताकि दूसरों को उन्हें अपनाने का साहस मिले । इन दिनों उपदेशों की तो कमी नहीं, लेखक भी ऐसे ढेरों हैं, जो आदर्शवादी प्रतिपादन पर अच्छे से अच्छा लिख सकते हैं, पर उनके भाषण और लेखन इसलिए बेअसर होते हैं कि वे उन प्रतिपादनों को अपनी जीवनचर्या में ढाल नहीं पाते । स्पष्ट है कि साँचा भोंड़ा होगा तो उसमें ढली हुई वस्तुएँ भी वैसी ही अनगढ़ बनेंगी । सही ढलाई के लिए सर्वप्रथम साँचा सही बनाना पड़ता है । आज की यही सबसे बड़ी कठिनाई कि आदर्शों का उपदेश और प्रतिपादन करने वाले दूसरों को मूर्ख समझते हैं और सोचते हैं कि जो कहा गया है उसी को सुनने वाले अनुसरण करने लगेंगे, जबकि सही बात यह है कि लोग सादगी और सज्जनता का, सेवा और उदारता का आदेश करने वालों को बड़ी तीखी नजर से उनके अन्तराल तक उतर कर देखते हैं कि इसके निजी जीवन में उन उपदेशों के लिए कितना मान है, जिसे वे दूसरों से कराये जाने की आशा करते हैं । चरित्र अपने आप में ऐसी विशेषता है कि सात तालों के भीतर बन्द करने के बाद भी छिपता नहीं और कस्तूरी या हींग की गंध की तरह अनायास ही दसों दिशाओं में फैलता है । बिना पूछे-बताये भी वस्तुस्थिति को सर्वसाधारण के सम्मुख प्रकट कर देता है । आज लेखनी और वाणी की प्रतिभा उसी प्रकार नष्ट हो गई, जिस प्रकार दवात कलम तो हो, पर उसमें स्याही न हो ।

सर्वविदित है कि यह युगान्तर की संधि वेला है । बीसवीं शताब्दी का अन्तिम भाग घोर परिवर्तनों से भरा पड़ा है । इस अवधि के सम्बन्ध में आत्मवेत्ता, शास्त्रज्ञ, तपस्वी, दैवज्ञ आदि मिलकर एक स्वर से यह कहते रहे हैं कि यह समय मनुष्यकृत संकटों और प्रकृति प्रकोपों से भरा पड़ा है । मनुष्यकृत दुष्कृतों से अदृश्य वातावरण क्षुब्ध हो उठता है । प्रत्यक्ष रूप में भी दुष्कृतों के प्रतिफल अपने अनर्थकारी प्रभावों को प्रकट किए बिना नहीं रहते । मानवी चिन्तन और चरित्र सामूहिक रूप से ऐसा बन पड़ा है, जिसके कारण यदि विपत्तियों के बादल घटाटोप की तरह बरसें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं । बाइबिल का "सैविन टाइम्स", कुरान की चौदहवीं सदी, भविष्य पुराण का महाविनाश इन्हीं दिनों से सम्बन्धित है और प्रकट करता है कि निकटवर्ती समय घोर विपत्तियों से घिरा हुआ हो सकता है ।

आधुनिक विचारशील व्यक्ति भी ऐसे ही निष्कर्षों पर पहुँचते हैं । परमाणु युद्ध, विषाक्त रासायनिकों का प्रहार, लेसर किरणों, स्टार वार आदि की घमासान तैयारियाँ बताती हैं कि धरती पर महाप्रलय जैसी विभीषिकाएँ उतर पड़ीं । समुद्री तूफान या हिमयुग आ धमके तो कोई आश्चर्य की बात नहीं । वायुमण्डल

को विषाक्त बना रहा प्रदूषण, अणु ऊर्जा का विकिरण, जनसंख्या की बेहिसाब अभिवृद्धि, मनुष्य का भ्रष्ट चिन्तन और दुष्ट आचरण जिन अपराधी परम्पराओं को जन्म दे रहा है, उसकी प्रतिक्रिया प्रकृति प्रकोपों या उलझी हुई विभीषिकाओं के रूप में इस प्रकार सामने आ सकती है कि यह धरती प्राणियों के रहने योग्य ही न रहे । संकटों का वर्तमान स्वरूप और भावी आंकलन दोनों ही ऐसे हैं जो भविष्य के भयानक होने का संकेत करते हैं ।

किन्तु एक सुनिश्चित तथ्य भी इसी के साथ जुड़ा हुआ है कि स्रष्टा अपनी इस सुन्दर कलाकृति धरती को इस प्रकार नष्ट नहीं होने देते । वे मानवी सभ्यता और गरिमा का विनाश सहन नहीं कर सकते हैं । भूतकाल में ऐसी परिस्थितियाँ आती रही हैं और उनका शमन करने के लिए नियन्ता की वे प्रतिक्रियाएँ अन्तरिक्ष से उतरती रही हैं, जो बिगड़ते संतुलन को बना सकें । इस बार भी वैसी पुनरावृत्ति होने की आशा की जा सकती है । स्पष्ट है कि मर्यादाओं के प्रति अनास्था की चरम सीमा तक पहुँच कर मनुष्य ने विनाशकारी संकट न्यौत बुलाये हैं । इनको निरस्त करने वाला जो तूफानी प्रवाह अवतरित होने वाला है वह प्रज्ञावतार कहा जायेगा और मानवी दुष्कृतों का उल्टापन उलट कर सीधा करेगा ।

निराकार भगवान जब कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन प्रस्तुत करते हैं, तो देवात्मा, ऋषिकल्प महामानव, उत्पन्न करते हैं । प्रत्यक्ष कार्य प्रत्यक्ष देहधारी ही कर सकते हैं । बदलते परिवेश मे महामानवो की एक नयी पीढ़ी का उदय होने जा रहा है, जो अपने उच्चस्तरीय क्रिया-कलापों से सूक्ष्म वातावरण और स्थूल वायुमण्डल को उलट कर ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करें जो दृश्यमान विनाश को अभिनव विकास में परिणत कर सके ।

इन्हीं तथ्यों को इन शब्दों में भी कहा जा सकता है कि आज सामान्य स्तर के दीखने वाले लोगो मे से ही कल ऐसे महामानव प्रकट होंगे । जिनके द्वारा युग का, समय का काया कल्प हो सके ।

हनुमान बन्दर थे । भगोड़े सुग्रीव के ही यहाँ सुग्रीव के सेवक के रूप में किसी प्रकार दिन गुजार रहे थे, किन्तु जब उनकी अन्तःप्रेरणा जगी तो वे शक्ति पुंज हो गए । समुद्र लाँघने, पर्वत उखाड़ने, लंका जलाने जैसे असम्भव कार्य खिलवाड़ की तरह कर दिखाने लगे । अर्जुन, द्रौपदी को जुए में हार चुके थे, अज्ञातवास में जिस-तिस की नौकरी करते फिर रहे थे, किन्तु जब अन्तःचेतना उभरी तो धनुर्धर कहलाने लगे और कौरवों की अट्ठारह अक्षौहिणी सेना को फाड़-चीर कर रख दिया । गाँधी और बुद्ध की चमत्कारी शक्तियाँ हम इन्हीं आँखों से देख या पढ़ चुके हैं । अगस्त्य का समुद्र सोखना और भगीरथ का स्वर्ग से गंगा को धरती पर उतारना प्रसिद्ध है । मनुष्य मलमूत्र का पिटारा है—यह सही है, पर इससे ज्यादा सही है कि उसकी अन्तरात्मा जब उभरती है तो वामन अंगुल की काया लेकर भी धरती को तीन पगों में नाप लेती है । उसके लिए गोवर्धन उठा लेने वाला चमत्कार सहज हो जाता है ।

अदृश्य द्रष्टाओं का प्रत्यक्षतः अभिमत है कि युग बदल रहा है । विडम्बनाओं और विभीषिकाओ से भरी प्रस्तुत परिस्थितियो का कायाकल्प होने जा रहा है और प्रज्ञा युग का अवतरण प्रभातकालीन सूर्य की तरह उषा के गर्भ से निकलकर सर्वत्र युग चेतना का आलोक वितरण करने जा रहा है ।

परिवर्तन के पीछे अदृश्य चेतना होती है, पर उसे क्रियान्वित करने का कार्य प्रत्यक्ष शरीर धारी नर-नारायणों को ही करना पड़ता है । यह सम्भावना क्रमशः अधिकाधिक स्पष्ट होती जा रही है । प्रज्ञा आन्दोलन पौराणिक मत्स्यावतार की तरह व्यापक होता चला जा रहा है । बिना प्रत्यक्ष सहयोग और साधन के वह अनायास ही सुविस्तृत होता चला जा रहा है । सामान्य परिवारों मे जन्मे, सामान्य परिस्थितियो में पले और सामान्य शिक्षा वाले प्रज्ञा परिजन इतनी बड़ी संख्या और इतनी प्रचण्ड प्रखरता के साथ उदय हो रहे हैं, मानो काली अंधेरी रात उदीयमान नक्षत्रों से जगमगाने लगी हो ।

इतनी बड़ी संख्या में भव्य महलो की समानता करने वाली गायत्री प्रज्ञा पीठें अंगुलिनिर्देशन पाते ही दो वर्षों के भीतर २४०० की संख्या मे बन गईं । स्वाध्याय संस्थान २४ हजार के लगभग जा पहुँचे । प्रज्ञा पुत्रों की संख्या २४ लाख बन गई है । यह सब असम्भव जैसे कठिन कार्य हैं जिसका विशाल काय कलेवर देखते-देखते कुछ ही वर्षों के अन्दर बनकर खड़ा हो गया । असम्भव लगने वाले एक से एक बड़े और महत्त्वपूर्ण कार्य इस प्रकार सम्भव हो गए कि उन

पर विश्वास करने के लिए कान तक तैयार नहीं होते । दैत्यों का प्रतिनिधि विज्ञान और देवताओं का पक्षधर आध्यात्म सदा का वैर छोड़कर समुद्र मंथन जैसा प्रयत्न करने लगे और ऐसे रत्न निकालने लगे जिनका इससे पहले धरती पर अस्तित्व नहीं था, यह अकल्पनीय है ।

युग परिवर्तन के निमित्त २४ करोड़ गायत्री जप का अनुष्ठान सुनियोजित ढंग से चल रहा है । इस वर्ष से २४०० लाख गायत्री चालीसा पाठ का एक नया पुरश्चरण चल पड़ा और इस संकल्प की पूर्ति इस समय सम्पन्न दीख रही है ।

अब इस वर्ष एक लाख धर्म प्रचारकों की सेना खड़ी की जा रही है और उसके लिए वक्ताओं, गायकों की ही नहीं चरित्र एवं व्यक्तित्व के धनी युग प्रवर्तकों की एक बड़ी सेना खड़ी की जा रही है और उनके समग्र प्रशिक्षण की एक ऐसी योजना बन पड़ी है जिसकी तुलना नालन्दा तथा तक्षशिला विश्वविद्यालय से की जा सकती है ।

इसके साथ दूसरा कदम है युग चेतना का आलोक भारत के ७ लाख गाँवो में पहुँचाना । विचारणाओं को अनेक भाषाओं में अनुवादित करना और भारत की सीमाओं से आगे बढ़कर समस्त विश्व में वह वातावरण बनाना जिसके तूफानी प्रवाह में अवांछनीयता उड़ती नजर आये और उसी के साथ बरसने वाली जल राशि से संतप्त धरातल जलाशयों में भरा-पूरा और हरितिमा से सुशोभित नजर आये ।

मनुष्य शरीर क्या है—मलमूत्र का पिटारा और जरा सा आघात लगते ही बिखर जाने वाला; किन्तु जब उसकी चेतना अपने मूल उद्गम के साथ जुड़ती है तो ऐसे पराक्रम कर दिखाती है जिसे असम्भव का सम्भव होना कहा जा सके । इस परिवर्तन की पृष्ठभूमि में उन सद्प्रवृत्तियों की चर्चा की गई है जो क्षुद्र को महान बना देने में समर्थ है ।

## मानवी काया आत्मविज्ञान की बहुमूल्य प्रयोगशाला

संसार में अब तक मनुष्य कृत जितने भी यन्त्र उपकरण बने हैं उन सबकी तुलना में सृष्टा की अनुपम संरचना 'मानवी काया' हर दृष्टि से अत्यधिक अद्भुत एवं आश्चर्यजनक है । इसका एक-एक कण इतनी
विशेषताओं से युक्त है कि उसी गरिमा बखानने, ग
गाथा गाने का कभी अन्त नहीं हो सकता । कर्म-कौश
और बुद्धि वैभव में अपनी विशिष्टता सिद्ध करने व
असंख्यों व्यक्ति समय-समय पर होते रहते हैं उन
सूझ-बूझ, साहसिकता एवं तत्परता देखकर दाँतों त
उँगली दबानी पड़ती है । इसी प्रकार जिस सृजनक
के इस कलेवर के हर घटक को जितनी क्षमताओं
भर दिया है उसे देखकर उसकी कलाकारिता को देख
दंग रह जाना पड़ता है । विज्ञान के उच्चस्तरी
प्रयोजनों में काम आने वाले कम्प्यूटर—अणु विखण्ड
अन्तरिक्षीय सम्प्रेषण सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं, पर इन स
में प्रयुक्त हुए समन्वित कौशल की तुलना में मान
काय कलेवर की संरचना हर दृष्टि से अनुपम है
शरीर का प्रत्येक अवयव असाधारण रूप से लचील
तालमेल बिठाकर चलने वाला, सहनशील एवं सक्षम
कि उसे अपने ढंग का अनोखा ही कह सकते हैं
मस्तिष्कीय विशेषताएँ तो और भी अधिक अनिर्वचनी
हैं । लोक व्यवहार में चतुर प्रतिभाशाली लोगों क
बुद्धिमत्ता, योग्यता उन्हे कहाँ से कहाँ उठा ले जा
हैं । असंख्यों को अपने प्रभाव में बहाती है वातावर
को आश्चर्यजनक परिवर्तन प्रस्तुत करती है । इत
पर भी मनःशास्त्रियों के अनुसार तीक्ष्ण से तीक्ष्ण बुि
वाले की विशिष्टता समूची मस्तिष्कीय क्षमता का मा
सात प्रतिशत ही होता है । मस्तिष्कीय संरचना ए
विशेषताओं के बारे में जो खोजा गया है उसे अधि
से अधिक तेरह प्रतिशत कहा जा सकता है । इस
आगे के रहस्य अभी पर्दे के पीछे छिपे पड़े है । प्रकृ
के भण्डार से अभी बहुत कुछ खोजना बाकी है इस
प्रकार मस्तिष्क के रहस्यों, कौशलों एवं शक्ति स्रोत
के सम्बन्ध में भी अभी अटकलें ही लगायी जा सक
है । समझा यह जाता है कि पदार्थ जगत की मूर्धन
संरचना मनुष्य की काया है और ब्रह्माण्डीय चेतना
परोक्ष वैभव का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि मानवी मस्तिष्क है
इससे श्रेष्ठता और अगणित स्तर की सम्भावनाओं
भरे-पूरे यन्त्र उपकरण बनाने में मनुष्य कदाचित सद
ही असमर्थ रहेगा । अणु और विभु के मध्यान्तर क
कोई सीमा नहीं । इसी प्रकार मनुष्य और परब्रह्म के
वर्चस्व और कर्तव्य को भी समकक्ष होने का अवस
सम्भवतः कभी भी नहीं आ सकेगा ।

यह चर्चा इसलिए की जा रही है कि भौतिकी की तरह जब आत्मिकी की खोज और प्रक्रिया में बहुमूल्य यन्त्रों वाली प्रयोगशाला की आवश्यकता पड़ेगी तो वह कहाँ से जुटाई जायेगी ? प्रसन्नता की बात है कि इस प्रयोजन की आवश्यकता उपयोगिता हर व्यक्ति के लिए अनुभव करते हुए एक समूचा संयन्त्र उसके सुपुर्द कर दिया है । समूचा संयन्त्र और उसके विभिन्न अवयवों के माध्यम से वे सभी प्रयोग पराक्रम सम्भव हो सकते हैं जो आध्यात्म ऊर्जा उत्पन्न करने से लेकर उसे अभीष्ट प्रयोजनों में कार्यान्वित किये जाते हैं । इसके लिए कहीं अन्यत्र से कोई स्थापना करने, साधन जुटाने की किसी को भी आवश्यकता नहीं है । इसी यन्त्र में थोड़ी फेर-बदल करके थोड़ा सधा, समझाकर इस योग्य बनाया जा सकता है कि उसमें आत्मिक प्रगति के लिए आवश्यक सभी प्रयत्न उतने में ही सम्पन्न होते रहें ।

उदाहरण के लिए प्रेत विद्या में काम आ सकने योग्य यदि कायिक प्रयोगशाला में ढालना हो तो उसके लिए अपने आहार-विहार, रहन-सहन, चिन्तन, कृत्य, व्यवहार, रुझान इस प्रकार का बनाना पड़ेगा, जिससे वह उपयुक्त प्रयोजन में ठीक तरह काम दे सकने योग्य बन सके । प्रेत आह्वान उतना कठिन नहीं है जितना कि उसके लिए अनुकूल वातावरण का निर्माण । यदि शरीर और मन का स्तर तदनुकूल बना लिया गया तो समझना चाहिए कि तीन चौथाई मंजिल पार हो गई । अघोरी या पालिक प्रेत-सिद्ध अपने प्रयोग का आरम्भ यहीं से करते हैं कि उनकी काय सत्ता प्रेतों के लिए आकर्षक अनुकूल एवं अनुरूप बन सके । साधना अपने आपे की करनी पड़ती है । जिस स्तर की सफलता पानी है उसी प्रकार का सरंजाम जुटाना पड़ता है, वातावरण ढूँढ़ना पड़ता है और मन का रुझान तथा दिनचर्या का निर्धारण तदनुरूप करना पड़ता है । पहलवान, कलाकार, वैज्ञानिक, फौजी स्तर से विशिष्ट उद्देश्य वाले व्यक्ति अपने ही गोरख-धन्धे में उलझे रहते हैं । मन और शरीर को उन्हीं कार्यों में जोते रहते हैं । महत्त्वपूर्ण सफलताओं का मार्ग भी यही है ।

'साधना से सिद्धि' के सिद्धान्त का रहस्य उतना ही है कि साधक अपनी शारीरिक और मानसिक गतिविधियों को इस प्रकार की बनाता है जिससे उसका व्यक्तित्व शक्तिशाली चुम्बक की तरह अभीष्ट सफलता को अपनी ओर खींच घसीट लाने में समर्थ हो सके । इस संसार में हर पदार्थ या हर जीव अपने लिए जहाँ भी अनुकूलता, सुविधा देखता है उसी ओर खिंचता दौड़ता चला जाता है । फूलों के उद्यान में ये तितलियाँ, भौंरे, मधुमक्खियाँ न जाने कहाँ से पता लगाते, रास्ता नापते, बिना बुलाये दौड़ते चले आते हैं । मरी लाश को पड़ी देखकर आसमान से चील, कौए, उतरते और जमघट लगाते देखे गए हैं । कुत्ते और सियार भी न जाने कहाँ से आकर उसी लाश पर चढ़ दौड़ते हैं । नाले नदी में, नदी समुद्र में पहुँचने के लिए स्वयं दौड़ लगाते हैं क्योंकि उन्हें वहाँ अपने लिए अनुकूल आश्रय दीखता है । शराब की दुकानों पर नशेबाज जमे रहते हैं और जुआ घरों में जुआरी, साधू-संतों की भी जमातें जुड़तीं और सत्संग चलते हैं । कुचक्री तक अपने गिरोह बनाते और षड्यन्त्र रचते रहते हैं । पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण आकाश से न जाने क्या-क्या पकड़ता, घसीटता रहता है । बादलों को बरसने के लिए विवश करने से लेकर उसकी पर्त पर जमते रहने वाले पदार्थ यह बताते हैं कि वे स्वेच्छापूर्वक यहाँ नहीं आये वरन् उन्हें किसी ने खींचा, घसीटा है ।

साधना के पीछे यही सिद्धान्त काम करता है । उच्चस्तरीय दैवी शक्तियों का किसी व्यक्ति विशेष की ओर आकर्षित करना, अनुग्रह बरसाना, सहयोग देना, अनुकूल होना केवल एक बात पर निर्भर है कि उनके स्तर की अनुकूलता उत्पन्न हुई या नहीं ।

मनुष्य की संरचना एवं समर्थता महान है तो भी वह पूर्ण नहीं है । जीवनचर्या में पग-पग पर उसे दूसरों की सहायता लेकर चलाना पड़ता है । अन्न, वस्त्र, पुस्तक, कलम, माचिस, लैम्प जैसी छोटी-छोटी आवश्यकताओं की पूर्ति में वह स्वावलम्बी नहीं है । आत्मिक प्रगति के लिए तो उच्चस्तरीय सहयोग की यह अपेक्षा और भी अधिक रहती है । स्वाध्याय, सत्संग में गुरुजनों का अनुग्रह चाहिए । अदृश्य लोक की देव शक्तियाँ भी उस उत्थान में अपना भाव भरा सहयोग प्रस्तुत करती [illegible] । ब्रह्म चेतना की अनुकूलता एवं अनुकम्पा आवश्यक होती है । वह ऊपर से बरसती है या भीतर से उछलती है यह प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण

नहीं है जितना कि यह निर्धारण कि ऊँचा उठने के लिए कोई न कोई सहारा चाहिए भले ही वह नीचे से उचका कर दिया गया हो या ऊपर से खींचकर। साधना से सिद्धि प्राप्त करने में जो जिन विभूतियों का सहयोग मिलता है वे निश्चय ही सामान्य स्तर की होती हैं।

साधना अर्थात् जीवन साधना। जीवन साधना अर्थात् आदतों, मान्यताओं एवं आकांक्षाओं को साध लेना। वैसा जैसा कि घोड़े, बैल आदि को सधाकर अनगढ़ आदतों से विरत किया और उपयोगी कार्यों में लगने के लिए अभ्यस्त किया जाता है। शेर, हाथी, रीछ, बन्दर, साँप भी प्रकृति मनुष्य के सहयोगी कहाँ होते हैं। उन्हें नर्म-गर्म करके सर्कस, तमाशों में ऐसे कौतूहल दिखाने में प्रवीण कर लिया जाता है जो आश्चर्यचकित करते और उनकी मूल प्रकृति के सर्वथा विपरीत होते हैं। पेड़-पौधों में कलम लगाना। उन्हें काट छाँट कर नयनाभिराम बनाना एक प्रकार से माली की साधना ही कही जायेगी। आदिकाल की ऊबड़-खाबड़ धरती और आज की समतल उपजाऊ स्थिति के बीच आश्चर्यजनक अन्तर देखकर यही कहा जायेगा कि धरती को मनुष्य के लिए अधिक उपयोगी बनाने के लिए प्रयत्नपूर्वक सधाया गया है। अन्न, फल, शाक, जूट, कपास आदि खाद्य स्वभावतः इस प्रकार नहीं उगते थे और वैसे नहीं होते थे जैसे कि आज हैं। वनस्पतियों को सुव्यवस्थित बनाने में मनुष्य को लम्बी अवधि से साधना करनी और करानी पड़ रही है। वही सब कुछ मनुष्य को अपने आपे की साधना में भी करना पड़ता है। चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करते हुए—विकास क्रम को एक के बाद दूसरी सीढ़ी पार करते हुए—मनुष्य आगे उठता ऊँचा चढ़ता तो आया है कि किन्तु अभी उस स्तर तक नहीं पहुँचा है कि सभ्य संसार का सुसंस्कृत नागरिक कहला सके। ऐसी दशा में उसे बौना, कुबड़ा, पिछड़ा, उथला बनकर रहना पड़ रहा है। मानवी गरिमा के उपयुक्त उसका व्यक्तित्व ढले इसके लिए वैसा ही प्रयत्न करने की आवश्यकता पड़ेगी जैसी कि कुशल माली, मदारी अपने-अपने यजमानों से निपटते हैं और उन्हें बलपूर्वक इच्छित स्थिति में बदलने के लिए साधते हैं।

जन्म-जन्मान्तरों की संग्रहीत पशु-प्रवृत्तियाँ बड़ी हठीली होती हैं। समझाने-बुझाने पर भी किसी न किसी बहाने अपना ढर्रा अपनाये रहने के लिए रास्ता बना लेती हैं। इनसे निपटना, अनगढ़ को सुगढ़ बनाना इतना महत्त्वपूर्ण कार्य है कि उसके कष्टसाध्य होते हुए भी करने के लिए दूरदर्शिता को भरसक प्रयत्न करना पड़ता है। वह कदम ऐसा है जो हर प्रगतिशील को अनिवार्यतः उठाना ही चाहिए।

लौकिक जीवन में सफल सम्मानित रहने के लिए ही नहीं व्यक्तित्व को वजनदार, बहुमूल्य बनाने के लिए जीवन साधना अनिवार्य रूप से आवश्यक है। यों अनगढ़ लोग भी अपनी कुसंस्कारिता बनाये रहकर, अनैतिक तरीकों से कुछ न कुछ कमा ही लेते हैं किन्तु स्मरणीय यह है कि वे बड़े आदमी कहलाने पर भी आत्म-सन्तोष, लोक-सम्मान एवं दैवी अनुग्रह तीनों ही विभूतियों से वंचित रहते हैं। अनीति उपार्जन एवं उद्धत उपभोग उनके लिए आत्म-प्रताड़ना से लेकर आदि-व्याधि तक भर्त्सना और ईश्वरीय दण्डों से आये दिन पीड़ित ही होते रहते हैं। इस प्रकार दूसरों की आँखों में चकाचौंध उत्पन्न करने वाला होते हुए भी वह वैभव अन्ततः बहुत महँगा पड़ता है और सिकन्दर, रावण, हिरण्यकश्यप आदि की तरह उस पर पश्चात्ताप ही करना पड़ता है।

जीवन देवता की, गौरवशाली व्यक्तित्व की साधना करने से मनुष्य को इसी हाड़-माँस की काया में रहते हुए देव स्तर का बन सकने का सुयोग मिलता है। परीक्षा में अच्छे नम्बर लाने के अतिरिक्त प्रामाणिकता सिद्ध करना और तदनुरूप पद पाना कठिन है। महामानवों, सिद्ध पुरुषों, ऋषियों, देवदूतों की बिरादरी का हर सदस्य उसी परीक्षा में उत्तीर्ण होने के उपरान्त गौरव भरी विशिष्टता उपलब्ध करता रहा है।

ॐॐॐ

# आत्मोत्कर्ष का प्रमुख आधार : श्रद्धा

## व्यक्तित्व : परिष्कार में श्रद्धा ही समर्थ

जीवात्मा ने तीन कलेवर ओढ़ रखे हैं, इन्हे स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर कहते हैं । स्थूल शरीर की शक्ति क्रिया है । इसके माध्यम से विभिन्न प्रकार के उपार्जन होते हैं । श्रम का महत्त्व हम सभी जानते हैं जो कुछ कमाया, उगाया जाता है उसका प्रमुख आधार श्रम ही होता है । सक्रियता के अभाव में अभीष्ट उपलब्धियाँ तो प्राप्त करना दूर, जीवित रह सकना तक सम्भव न हो सकेगा ।

दूसरा कलेवर है सूक्ष्म शरीर, जिसे मनःसंस्थान कहा जा सकता है । चिन्तन इसी की शक्ति है । कल्पना, निर्णय, विश्वास के नाम से—बुद्धि, चित्त के नाम से—चेतन-अचेतन, उच्च चेतन के नाम से—इस चिन्तन को चित् शक्ति के नाम से जाना जाता है । शरीर में सक्रियता, मन में सूझबूझ यही दो प्रमुख आधार भौतिक जीवन की विभिन्न क्षेत्रों की प्रगतियों और समृद्धियों को उपलब्ध करते हैं । श्रम और बुद्धि का ही वह सब उत्पादन है, जिसे हम सम्पदाओं और सुखानुभूति के साधनों की तरह देखते हैं । भौतिक उपलब्धियों का रथ इन्हीं दो चक्रों के सहारे घूमता है। इन्ही की न्यूनता से पिछड़ापन बना रहता है और जब वे पर्याप्त मात्रा मे होते हैं तो सफलताओं के अम्बार लगते चले जाते हैं । इस तथ्य को सभी जानते हैं और क्रियाशक्ति बढ़ाने के लिए शरीर को तथा बुद्धिमत्ता बढ़ाने के लिए मन को परिपुष्ट बनाने के लिए यथासम्भव प्रयत्न भी करते हैं ।

शरीरों में क्रमशः एक के बाद दूसरा अधिक श्रेष्ठ है, अति श्रेष्ठ है । शरीरगत श्रम से थोड़ा-सा ही पारिश्रमिक प्राप्त किया जा सकता है किन्तु बुद्धि बल के सहारे प्रबुद्ध व्यक्ति प्रचुर परिमाण में धन और यश प्राप्त करते है । आलस्य से होने वाली हानि की तुलना में प्रमाद द्वारा प्रस्तुत हानि अत्यधिक होती है। इस प्रकार श्रमजीवी की तुलना में बुद्धिजीवी को अधिक श्रेय मिलता है । स्पष्ट है कि स्थूल शरीर का महत्त्व होते हुए भी सूक्ष्म शरीर की क्षमता का मूल्य अधिक है । श्रम की तुलना में चिन्तन की गरिमा का स्तर ऊँचा है ।

तीसरा कारण शरीर है । इसे अन्तःकरण, अन्तरात्मा आदि नामों से पुकारा जाता है । भाव सम्वेदनाओं का क्षेत्र यही है । विश्वासों की नींव इसी में जमती है । आस्थाएँ और निष्ठाएँ इसी मर्मस्थल मे जमीं रहती हैं । समूचा व्यक्तित्व इसी क्षेत्र से उद्भूत होने वाली प्रेरणाओं के आधार पर ढलता है । आकांक्षाएँ, अभिलाषाएँ यहीं से उभरती हैं । व्यक्तित्व को हिला डालने वाली और मनुष्य को कहीं से कहीं घसीट ले जाने वाली सम्वेदनाओं की गगोत्री इसी केन्द्र को कह सकते हैं । व्यक्ति जैसा कुछ है इसी अन्तःकरण की प्रतिमूर्ति है । क्या पिछड़े, क्या प्रगतिशील, क्या सुर, क्या असुर इसी क्षेत्र की स्थिति के अनुरूप ढलते हैं ।

जीवन की दिशाधारा को मस्तिष्क निर्धारित नहीं करता और न शरीर की क्रियाशीलता स्वतन्त्र है । इन दोनों को अन्तःकरण का गुलाम कह सकते है । उनका अपना अस्तित्व निर्दिष्ट दिशा में चलता रहता है । किधर चलना है इसका निर्धारण आकाक्षाओं का क्षेत्र अन्तःकरण ही करता है । जैसी आकांक्षाएँ उभरती हैं, उसी के अनुरूप मस्तिष्क की सारी मशीन सोचने मे लग जाती है और शरीर के कल-पुर्जे इसी निर्देश का पालन करने मे जुट जाते हैं । मन और शरीर ही काम करते दिखाई पड़ते हैं, पर वस्तुतः वे यन्त्रवत् हैं और अपने असली मालिक अन्तःकरण की प्रेरणाओं के अनुरूप उसकी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए ही निरन्तर काम करते है । व्यक्तित्व के मूल में आस्थाएँ ही काम करती हैं । गतिविधियों का संचालन आकांक्षाओं के अनुरूप होता है । यही है मानव तत्व का सार । मनुष्यों की शारीरिक सरचना लगभग एक जैसी ही है। उनके बीच नगण्य-सा ही अन्तर पाया जाता है किन्तु

पतित, प्रखर और उत्कृष्ट स्तर के मनुष्यों के बीच जो अन्तर पाया जाता है, उसे जमीन, आसमान जैसा कहा जा सकता है । सौभाग्य एवं दुर्भाग्य की आधारशिला यहीं रखी जाती है । व्यक्तित्व की ढलाई इसी दिव्य संस्थान में होती रहती है ।

अन्तःकरण की उत्कृष्टता को श्रद्धा के नाम से जाना जाता है, उसका व्यावहारिक स्वरूप है भक्ति । यों साधारण बोलचाल में दोनों का उपयोग पर्यायवाची शब्दों के रूप में होता है, फिर भी कुछ अन्तर तो है ही, श्रद्धा अन्तरात्मा की आस्था है । श्रेष्ठता के प्रति असीम प्यार के रूप में उसकी व्याख्या की जा सकती है । भक्ति उसका व्यावहारिक रूप है । करुणा, उदारता, सेवा, आत्मीयता के आधार पर चलने वाली विभिन्न गतिविधियों को भक्ति कहा जा सकता है । देश भक्ति, आदर्श भक्ति, ईश्वर भक्ति आदि के रूपों में त्याग बलिदान के, तप-साधना के, अनुकरणीय आदर्शवादिता के अनेकों उदाहरण इसी भक्ति-भावना की प्रेरणा से बन पड़ते है ।

आस्थाएँ, आकांक्षाएँ जब परिपक्व स्थिति में पहुँचती हैं और निश्चयपूर्वक अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती हैं तो उन्हें संकल्प कहते हैं । संकल्प की प्रखरता मस्तिष्क और शरीर दोनों को अभीष्ट दिशा में घसीट ले जाती है और असंख्य अवरोधों से टकराती हुई उस लक्ष्य तक पहुँचाती है, जिसे आरम्भ मे असम्भव तक समझा जाता था । पुरुषार्थियों की यश-गाथा से इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं । वस्तुतः उन्हे संकल्प शक्ति का चमत्कार ही कह सकते है । यहाँ इतना और समझने की आवश्यकता है कि संकल्प उभर कर आने से पूर्व विश्वास बनकर मन क्षेत्र मे अपनी जड़ें जमाता है या उस बीज का प्रत्यक्ष पौधा संकल्प रूप में प्रकट होता है । विश्वास की प्रतिक्रिया ही संकल्प है । यही कारण है कि अन्तःकरण की उच्चस्तरीय आस्थाओं को श्रद्धा, विश्वास का रूप दिया गया है । वे उत्कृष्ट स्तर की होने पर शिव-पार्वती का युग्म बनते हैं और निकृष्ट होने पर आसुरी क्रूर कर्मों में इस प्रकार निरत दिखाई पड़ते हैं जैसा कि उपाख्यानों मे दानवों एव शैतानों का चित्रण किया जाता है ।

जीवात्मा के उच्चतम आवरण-कारण शरीर की, अन्तःकरण की, स्थिति एवं शक्ति को यदि ठीक तरह समझा जा सके तो मात्र उसी को व्यक्तित्व का सारतत्व कहा जायेगा ।

गीताकार ने इस तथ्य को और भी अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा है—"श्रद्धा मयोयं पुरुष, यौ यच्छ्द्धः स एवस" अर्थात् जीव की स्थिति श्रद्धा के साथ लिपटी हुई है । जिसकी जैसा श्रद्धा है वह वैसा ही है । क्रिया, विचारणा और भावना यही चेतना की तीन शक्तियाँ हैं । श्रेष्ठता की दिशा में जब वे बढ़ती हैं तो सत्कर्म, सद्ज्ञान एवं सद्भाव के रूप में उन्हें काम करते देखते हैं । इन्हें सुविकसित करने के विज्ञान को आध्यात्म कहते हैं । ब्रह्मविद्या का विशालकाय ढाँचा इसी के निमित्त खड़ा किया गया है । चेतना को श्रेष्ठता के साथ जोड़ देने के प्रयास को ही योग कहते हैं । योग साधना की तीन ही प्रमुख धाराएँ हैं—कर्म योग, ज्ञान योग, भक्ति योग इन्हीं के सहारे जीवन लक्ष्य प्राप्त होने की स्थिति बनती है । इसी त्रिवेणी में स्नान करने से परम पद की प्राप्ति का लाभ मिलता है ।

उपर्युक्त विवेचना के सहारे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मानव-जीवन में सबसे बड़ी, सबसे ऊँची, सबसे समर्थ शक्ति 'श्रद्धा' की ही है । मनःस्थिति को परिस्थितियों का सृजनकर्ता कहा गया है । शरीर को जन्म तो माता-पिता के प्रयत्न से मिलता है, पर आत्मा को उत्कृष्टता, श्रद्धा और विश्वासरूपी दिव्य-जननी और जनक की अनुकम्पा का फल माना जा सकता है । विधाता द्वारा भाग्य लिखे जाने के अलंकार में तथ्य इतना ही है कि अपना अन्तःकरण अपने स्तर के अनुरूप मनुष्य की प्रगति, अवनति आदि का ताना-बाना बनता है । अदृश्य कृपा, दैवी अनुग्रह आदि का सात्विक स्वरूप समझना हो तो उन्हे अन्तःकरण के ही वरदान, अभिशाप कह सकते हैं । लोक-व्यवहार में कहा जाता है कि 'मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है ।' गीता कहती है—"आत्मैवह्यात्मन् बन्धु-आत्मैव रिपुरात्मनः" अर्थात् मनुष्य स्वतः ही अपना मित्र और शत्रु है । उत्थान और पतन की कुँजी पूरी तरह उसके अपने हाथ में है और वह सुरक्षित एवं सुनिश्चित रूप मे अन्तःकरण में रखी रहती है । इसी चाबी को शास्त्रकारों ने आस्था, निष्ठा, श्रद्धा, भक्ति, विश्वास, संकल्प आदि के नामों से पुकारा है । भावनाओं और

आकांक्षाओं के रूप में भी इसी तथ्य की अलग-अलग ढंग से व्याख्या की जाती है ।

उल्लसित वर्तमान और उज्ज्वल भविष्य का निर्धारण पूर्णतया सत् श्रद्धा के हाथ में है । उसी का महत्त्व, मर्म, उपार्जन, अभिवर्धन सिखाने के लिए भूतकाल की कथा-गाथाओं को पुरातन उपाख्यानों में पुराण के नाम से जाना और जनाया जाता है । भूत, भविष्य और वर्तमान की सुखद सम्भावनाओं का निर्माण अन्तःकरण के जिस क्षेत्र में विनिर्मित होता है, उसका स्वरूप समझना हो तो एक 'श्रद्धा' शब्द का उपयोग करने से वह प्रयोजन पूरा हो सकता है ।

बीज ही वृक्ष बनता है और श्रद्धा ही व्यक्तित्व का रूप धारण करती है, मनुष्य जो कुछ बनता है, जो कुछ पाता है वह समूचा निर्माण 'श्रद्धा' शक्ति के चमत्कार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । यदि इस ब्रह्म विज्ञान के, आत्म-विज्ञान के गूढ़ रहस्य को समझा जा सके तो प्रतीत होगा कि तत्वदर्शियों ने वेदान्त प्रतिपादन सनातन सत्य को अयमात्मा ब्रह्म—प्रज्ञानं ब्रह्म, तत्वमसि, सोऽहम्, शिवोऽहम्, सच्चिदानन्दोऽहम् आदि सूत्र में घोषित किया है । पतन से बचने और उत्थान अपनाने का सुनिश्चित उपाय बताते हुए शास्त्रकार इस उत्तरदायित्व को मनुष्य के कन्धे पर ही लाद देते हैं—वे कहते हैं । "उद्धेरत् आत्मनात्मानं नात्मानभवसादयेत" अर्थात्—अपना उद्धार आप करो, अपने को गिराओ मत । उनका सुनिश्चित मत है कि उत्थान पतन की मुहिम हर मनुष्य स्वतः ही सँभालता है । परिस्थितियाँ तो उसका अनुगमन भर करती हैं । दिशा निर्धारण और प्रगति प्रयास अपना होता है, साधन और सहयोग तो उसी चुम्बकत्व के सहारे खिंचते भर चले जाते हैं । उत्थान या पतन में से जो भी अपना गन्तव्य हो, व्यक्तियों, साधनों एवं परिस्थितियों का सरंजाम भी उसी स्तर का जुटता चला जाता है । श्रद्धा की इसी गरिमा को देखते हुए आध्यात्म शास्त्र ने मानवी सत्ता में विद्यमान साक्षात् ईश्वरीय शक्ति के रूप में अभिवन्दन किया है । उसी की उपलब्धि को आत्मोपलब्धि कहा गया है और जीवन लक्ष्य की पूर्ति का केन्द्र विन्दु माना है । न केवल आत्मिक वरन् भौतिक प्रगति का आधार भी सजग और समर्थ व्यक्तित्व ही रहता है । उसका निर्माण भी उस स्तर की निष्ठाएँ करती हैं । इतना ही नहीं दुष्ट, दुरात्मा, क्रूरकर्मी और दुःसाहसी समझे जाने वाले लोग भी अपनी दानवी क्षमताओं का विकास इसी श्रद्धा तत्व के अहंकारी आसुरी स्तर का सहारा लेकर सम्मान करते हैं । ईश्वर ने अपने संसार का स्वामित्व अपने हाथ में रखा है, किन्तु एक छोटी दुनिया को निजी व्यक्तित्व के रूप में मनुष्य के हाथ में ही सौंप दी है । कर्म फल पाने की व्यवस्था में तो वह पराधीन है, किन्तु कर्म कुछ भी करते रहने की पूरी छूट ही है । इसी स्वाधीनता के सहारे वह अपने भाग्य का विधाता और स्तर का निर्माता बन सकने में पूर्णतया सफल होता है । वह जैसे व्यक्तित्व एवं लक्ष्य के प्रति अपनी आस्था एवं श्रद्धा सुदृढ़ कर लेगा, वैसा ही बनता जायेगा । 

## जीवन श्रद्धा और शालीनता युक्त जीयें !

हमारे चिन्तन में गहराई हो, साथ ही श्रद्धायुक्त नम्रता भी । अन्तरात्मा में दिव्य-प्रकाश की ज्योति जलती रहे । उसमें प्रखरता और पवित्रता बनी रहे तो पर्याप्त है । पूजा के दीपक इसी प्रकार टिमटिमाते हैं । आवश्यक नहीं कि उनका प्रकाश बहुत दूर तक फैले । छोटे से क्षेत्र में पुनीत आलोक जीवित रखा जा सके तो वह पर्याप्त है ।

अल्बर्ट श्वाइत्जर कहते थे—आदर्शों को चरितार्थ करने के लिए मुहूर्त की प्रतीक्षा आवश्यक नहीं । उसके लिए सदा सुअवसर है । वह अभी भी है और कभी भी । सबसे अच्छा समय तब है जब परिस्थितियाँ सर्वथा प्रतिकूल जा रही हों ।

हम आकाश में बिखरी सुविस्तृत महानता को देखें । साथ ही समुद्र जैसी गहराइयों को भी । मनुष्य इन सबसे बड़ा है उसका वजन पर्वत से भारी है । पर्वत बेजान हैं और आदमी जानदार । संसार को बनाया तो भगवान ने है, पर उसे सुधारा और सँभाला आदमी ने है । इस पृथ्वी की शोभा, सज्जा और उपयोगिता आज जिस रूप में दीख पड़ती है वैसी पहले नहीं थी, यह आदमी की सूझ-बूझ और मेहनत है, जिसने इतने प्रभावशाली परिवर्तन प्रस्तुत किए और प्रगति के चरण उठाये हैं । इतने पर भी ध्यान रखने योग्य बात यह भी है कि वही जेलखानों और पागलखानों में भी बन्द है । कुकृत्यों से वही सृष्टा की इस कलाकृति मानवी काया को कलंकित करने में भी पीछे नहीं है ।

अपने आपको तो पूरी तरह नष्ट कर सकता है, साथ ही दूसरों को भी क्षति पहुँचा सकता है ।

जीवन का सम्मान ही आचार शास्त्र है । अनीति ही जीवन को नष्ट करती है । मूर्खता और लापरवाही से तो उसका अपव्यय भर होता है, बुरी तो बर्बादी भी है पर विनाश तो पूरी विपत्ति है । बर्बादी के बाद तो सुधरने के लिए कुछ बच भी जाता है, पर विनाश के साथ तो आशा भी समाप्त हो जाती है । अनीति अपनाने से बढ़कर जीवन का तिरस्कार और कुछ हो नहीं सकता । पाप अनकों हैं उनमें प्रायः आर्थिक अनाचार और शरीरों को क्षति पहुँचाने जैसी घटनाएँ ही प्रधान होती हैं । इनमें सबसे बड़ा पातक जीवन का तिरस्कार है । अनीति अपनाकर हम उसे क्षतिग्रस्त, कुण्ठित, हेय और अप्रामाणिक बनाते हैं.दूसरों को हानि पहुँचाना जितनी बुरी बात है, दूसरों के ऊपर पतन और पराभव थोपना जितना निन्दनीय है उससे कम पातक यह भी नहीं है कि हम अपने जीवन का गला अपने हाथों घोटें और उसे कुत्सित, कुण्ठित, बाधित, अपंगों एवं तिरस्कृत स्तर का ऐसा बना दें जो मरण से भी अधिक कष्टदायक हो ।

अन्तरात्मा में यदि किसी दिव्यवाणी को सुनने की शक्ति हो तो अपने भीतर बैठा हुआ कोई 'नैतिक' यह कहते हुए पाया जायेगा कि जो सुख-साधन समाज के अनुग्रह से मिले हैं उन्हें लूट का माल न समझा जाय । अपने पास जो स्वस्थता, शिक्षा, प्रतिभा, योग्यता, सुविधा, सम्पदा, प्रतिष्ठा उपलब्ध है, वह अनेकों ज्ञात एवं अज्ञात, जीवित एवं दिवंगत मनुष्यों के सहयोग से ही सम्भव हुई है । उसे ऐसे हजम नहीं कर जाना चाहिए और न परिवार वालों के लिए यह सब कुछ संग्रह करके रखना चाहिए । इसमें अन्यों को भी हिस्सेदार बनाया जाय—विशेषतया जो अपने पैरों से दूर तक चल नहीं सकते, जिन्हें किसी की सहायता की अपेक्षा है, यदि इस आत्मा की पुकार को न सुना जाय तो उसका प्रतिफल यह होगा कि ऋण-ग्रस्तों की तरह अपना अन्तःकरण भारी होता चला जायेगा और उस उल्लास की अनुभूति न हो सकेगी जो जीवन देवता के अनुग्रह से हर घड़ी होती रहनी चाहिए ।

मानव-देह में एक चिरन्तन आध्यात्मिक सत्य छुपा हुआ है, जब तक वह मिल नहीं जाता इच्छाएँ उसे इधर से उधर भटकाती, दुःख के थपेड़े खिलाती रहती हैं । सत्यामृत की प्राप्ति नहीं होती तब तक मनुष्य बार-बार जन्मता और मरता रहता है, न कोई इच्छा तृप्त होती है न आत्म-सन्तोष होता है, जबकि मनुष्य की सारी क्रियाशक्ति प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उसी की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहती है ।

अपने आपको, अपनी चेतन सत्यता को पहचानना आसान बात नहीं है । विद्यमान परिस्थितियाँ ही धोखा देने के लिए पर्याप्त होती हैं, फिर जन्म-जन्मान्तरों के प्रारब्ध इतने भले नहीं होते जो मनुष्य को साधारणतः ही क्षमा कर दें । हमारा असली व्यक्तित्व इतना स्पष्ट है कि उसकी भावानुभूति एक क्षण में हो जाती है, वह पर्दों में नहीं रहता फिर भी वह इतना जटिल और कामनाओं के पर्दों में छुपा हुआ है कि उसके असली स्वरूप को जानना टेढ़ा पड़ जाता है । साधना-उपासना करते हुए भी बार-बार पथ से विचलित होना पड़ता है । ऐसी असफलताएँ ही जीवन लक्ष्य में बाधक हैं ।

श्रद्धा वह प्रकाश है जो आत्मा को, सत्य की प्राप्ति के लिए बनाये गये मार्ग को दिखाती रहती है । जब भी मनुष्य एक क्षण के लिए लौकिक चमक-दमक, कामिनी और कंचन के लिए मोहग्रस्त होता है तो माता की तरह ठण्डे जल से मुँह धोकर जगा देने वाली शक्ति यह श्रद्धा ही होती है । सत्य के सद्गुण ऐश्वर्य-स्वरूप एवं ज्ञान की थाह अपनी बुद्धि से नहीं मिलती, उसके प्रति सविनय प्रेम भावना विकसित होती है और उसी को श्रद्धा कहते हैं । श्रद्धा सत्य की सीमा तक साधक को साधे रहती है, सँभाले रहती है ।

श्रद्धा के बल पर ही मलिन चित्त अशुद्ध चिन्तन का परित्याग करके बार-बार परमात्मा के चिन्तन में लगा रहता है । बुद्धि भी जड़-पदार्थों में तन्मय न रहकर परमात्म ज्ञान में अधिक से अधिक सूक्ष्मदर्शी होकर दिव्य भाव में बदल जाती है । स्वयं का ज्ञान और तार्किक शक्ति इतनी बलवान नहीं होती कि मनुष्य निरन्तर उचित-अनुचित, आवश्यक-अनावश्यक के यथार्थ और दूरवर्ती परिणामों को आत्मा के अनुकूल होने का विश्वास दे सके । तर्क प्रायः व्यर्थ से दिखाई देते हैं । ऐसे समय जब अपने कर्मों के औचित्य या अनौचित्य को परम प्रेरक शक्ति के हाथों में सौंप देते हैं तो एक

प्रकार की निश्चिन्तता मन में आ जाती है । मन का बोझ हल्का हो जाता है । जिसकी जीवन पतवार परमात्मा के हाथ में हो उसे किसका भय ? सर्वशक्तिमान से सम्बन्ध स्थापित करके ही मनुष्य निर्भय हो जाता है, उसके स्पर्श से ही मनुष्य में अजेय बल आ जाता है । व्यक्तित्व में सद्गुणों का प्रकाश और दिव्यता झरने लगती है । जीवन में आनन्द झलकने लगता है । यह सम्बन्ध और स्पर्श जब तक कि पूर्णता प्राप्ति नहीं होती तब तक श्रद्धा के रूप में प्रकट और विकसित होता है । वह एक प्रकार से पाथेय है इसलिए उसका मूल्य और महत्त्व उतना ही है जितना अपने लक्ष्य का, गन्तव्य का, अभीष्ट का, आत्मा, सत्य अथवा परमात्मा की प्राप्ति का ।

परमात्मा के प्रति अत्यन्त उदारतापूर्वक आत्म-भावना पैदा होती है, वही श्रद्धा है । सात्विक श्रद्धा की पूर्णता में अन्तःकरण स्वतः पवित्र हो उठता है । श्रद्धायुक्त जीवन की विशेषता से ही मनुष्य-स्वभाव में ऐसी सुन्दरता बढ़ती जाती है जिसको देखकर श्रद्धावान् स्वयं सन्तुष्ट बना रहता है । श्रद्धा सरल हृदय की ऐसी प्रीतियुक्त भावना है जो श्रेष्ठ पथ की सिद्धि कराती है । इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—

भवानी शङ्करौ वन्दे श्रद्धा-विश्वास रूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरम् ॥

—*रामायण, बाल काण्ड*

"हम सर्वप्रथम भवानी और भगवान, प्रकृति और परमात्मा को श्रद्धा और विश्वास के रूप में वन्दन करते है जिसके बिना सिद्धि और ईश्वर दर्शन की आकांक्षा पूर्ण नहीं होती ।"

ज्ञान-भक्ति का निरूपण करते हुए तुलसीदास जी उत्तरकाण्ड में लिखते हैं—

सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई ।
जो हरि कृपा हृदय बस आई ॥
जप तप व्रत जम नियम अपारा ।
जो श्रुति कह शुभ धर्म अधारा ॥
तेई तृन हरित चरै जब गाई ।
भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई ॥
एहि विधि लेसै दीप तेजराशि विज्ञानमय ।
जातहि जासु समीप जरहिं मदादिक सुलभ सब ॥

जब तक मनुष्य के अन्तःकरण में श्रद्धारूपी गाय का जन्म नहीं होता तब तक जप, तप, नियम, व्रत आदि जितने भी धर्माचरण हैं उनमें मनुष्य की बुद्धि स्थिर नहीं रहती । यह श्रद्धा ही जीवन की कठिनाइयों में मनुष्य को पार लगाती है और आत्म-गुणों का विकास करती हुई उसे विज्ञानयुक्त परमात्मा के प्रकाश तक जा पहुँचाती है ।

श्रद्धा का आविर्भाव सरलता और पवित्रता के संयोग से होता है । पार्थिव वस्तुओं से ऊपर उठने के लिए सरलता और पवित्रता इन्हीं दो गुणों की अत्यन्त आवश्यकता होती है । इच्छा में सरलता और प्रेम में पवित्रता का विकास जितना अधिक होगा उतनी ही अधिक श्रद्धा बलवान होगी । सरलता द्वारा परमात्मा की भावानुभूति होती है और पवित्र प्रेम के माध्यम से उसकी रसानुभूति । श्रद्धा दोनों का सम्मिलित स्वरूप है । उसमें भावना भी है रस भी । जहाँ उसका उदय हो वहाँ लक्ष्य प्राप्ति की कठिनाई का अधिकांश समाधान तुरन्त हो जाता है । अविश्वस्त व्यक्तियों के आगे थोड़ा-सा भी काम आ जाता है तो उससे उन्हें बड़ी हड़बड़ाहट होती है, किन्तु यदि उसी काम को साहस और भावना के साथ हाथ में लिया जाता है तो घबराहट और कठिनता भी आनन्द में बदल जाती है । जो बोझ का काम प्रतीत होता था वही सरलता से प्राप्त कर लेने योग्य बन जाता है ।

प्राचीन काल में पवित्र अन्तःकरण वाले महान पुरुषों द्वारा अज्ञान अन्धकार में भटकते हुए लोक-जीवन को सत्य मार्ग पर अग्रसर करने का माध्यम उनके द्वारा जगाई हुई श्रद्धा से ही होता रहा है । शिष्यों की श्रद्धा का पूर्ण पाठ तथा साधना की स्थिरता के लिए तप भी आवश्यक था, युग और परिस्थितियाँ बदल जाने पर आज भी आवश्यक है । परमात्मा सत्य है उसके गुण और स्वभाव अपरिवर्तनशील है इसी तरह वहाँ तक पहुँचने का मार्ग और माध्यम भी अपरिवर्तित ही है । उसे आज भी पाया और अनुभव किया जा सकता है, पर उस स्थिति की परिपक्वता के बीच में जो साधनाएँ, परिवर्तन, हलचल, कठिनाइयाँ और दुरभिसन्धियाँ आती हैं उनके लक्ष्य प्राप्ति की भावना की स्थिरता के लिए श्रद्धा आवश्यक है ।

श्रद्धा तप है । वह ईश्वरीय आदेशों पर निरन्तर चलते रहने की प्रेरणा देती है । आलस्य से बचाती है । कर्तव्य-पालन में प्रमाद से बचाती है । सेवा-धर्म सिखाती है । अन्तरात्मा को प्रफुल्ल, प्रसन्न रखती है । इस प्रकार के तप और त्याग से श्रद्धावान् व्यक्ति के हृदय में पवित्रता एवं शक्ति का भण्डार अपने आप भरता चला जाता है । गुरु कुछ भी न दे तो भी श्रद्धा में वह शक्ति है जो अनन्त आकाश से अपनी सफलता में तत्व और साधन को आश्चर्यजनक रूप मे खींच लेती है । ध्रुव, एकलव्य, अज, दिलीप की साधनाओं में सफलता का रहस्य उनके अन्तःकरण की श्रद्धा ही रही है । उनके गुरुओं ने तो केवल उसकी परख की थी । यदि इस तरह की श्रद्धा आज भी लोगों में आ जाये और लोग पूर्ण रूप से परमात्मा की इच्छाओं पर चलने को कटिबद्ध हो जायें तो विश्वशान्ति, चिर-सन्तोष और अनन्त समृद्धि की परिस्थितियाँ बनते देर न लगे । उसके द्वारा सत्य का उदय, प्राकट्य और प्राप्ति तो अवश्यम्भावी हो जाता है । इसी बात को शास्त्रों में संक्षेप में इस प्रकार कहा गया है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञान लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

—*गीता*

"जितेन्द्रिय तथा श्रद्धावान् पुरुषों को ही ज्ञान मिलता है और ज्ञान से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है । सत्य समुपलब्ध होता है ।"

## भवानी शङ्करो वन्दे श्रद्धा विश्वास रूपिणी

आदि शक्ति गौरी को श्रद्धा और देवाधिदेव परमात्मा को विश्वास के रूप में भजन करने वाला सिद्धि प्राप्त करता है । बाइबिल की मान्यता है कि विश्वासपूर्वक की गई प्रार्थना बीमार को भी स्वस्थ कर देती है (एण्ड दि प्रेयर ऑफ फेथ शैल सैव दि सिक) ।

हमारे देश में यह विश्वास जनजीवन में गहराई तक घुला हुआ है कि विश्वासपूर्वक की गई ईश्वरीय प्रार्थनाएँ चमत्कारिक लाभ देती हैं तथापि आज का तर्कवादी जगत पश्चिम के उदाहरण देकर कहता है कि यह मान्यताएँ विभ्रम है । लोग यह नहीं जानते कि जिन बातों को इस देश का अन्धविश्वास कहा जाता है उन्हीं को पश्चिम में विज्ञान की भाँति मानते और लाभ प्राप्त करते हैं ।

अमेरिका के सीनेटर एडवर्ड डिक्शन के जीवन की एक घटना है । १८४७ में अचानक उनकी दायीं आँख की रोशनी जाती रही । डॉक्टरों ने उस आँख को निकलवा देने की सलाह दी । डिक्शन को यह शब्द बाण की तरह हृदय में चुभ गये । सोचने लगे यदि मनुष्य इतना बेवश है तो भगवान ने उसे बनाया ही क्यों ? दुःख और निराश्रित अवस्था न आती तो मनुष्य आध्यात्मिक सत्यों को कहाँ समझता ? भगवान की याद आते ही उन्हें याद आये यह शब्द—"प्रेयर इज ए डाइरेक्ट पाइपलाइन टु गॉड" प्रार्थना परमात्मा तक पहुँचने का सीधा मार्ग है । उन्होंने डॉक्टर की बात अमान्य कर दी । एक दिन रात में वे अत्यन्त दुःखी होकर भगवान की प्रार्थना के लिए बैठे । एक क्षण के लिए आत्मा परमात्मा में विलीन हो गई । एक क्षण की सुखद अनुभूति को जब तक स्मरण करें समाधि टूट गई और उन्होंने एक सुखद आश्चर्य अनुभव किया कि उनकी आँख की रोशनी लौट आयी है और अब वे पहली आँख से भी अधिक साफ देख सकते थे ।

कैंटकी के एशबरी कॉलेज के एक छात्र को समाचार मिला—तुम्हारी माँ मरणासन्न स्थिति में है । डॉक्टरों ने घोषित कर दिया है कि मृत्यु दो-ढाई घण्टे से अधिक नहीं टल सकती । डॉ. एलान इस घटना का विवरण देते हुए लिखते हैं—यह समाचार पाते ही लड़का वहाँ गया जहाँ अपने राष्ट्रपति के जीवन काल में श्री आयजन होवर और उनकी धर्मपत्नी नित्य प्रार्थना किया करते थे । युवक ने भरे अन्तःकरण से परमात्मा से प्रार्थना की—प्रभो ! माँ को अब आप ही अच्छा कर सकते हैं । जिस समय विद्यार्थी इधर प्रार्थना कर रहा था ठीक उसी समय उधर उसकी माँ की स्थिति में सुधार हुआ, डॉक्टरों ने परीक्षा की । सब कुछ अस्वाभाविक गति से बदल रहा है । शरीर का कष्ट दूर हो रहा है । डॉक्टर एक-दूसरे का मुँह ताक रहे थे और कह रहे थे "गॉड इज दि वेरी बिग डॉक्टर" (भगवान बहुत बड़ा डॉक्टर है ।) माँ अच्छी हो गई और काफी दिन तक स्वस्थ जीती रही ।

"दि मैन इन दि नेक्स्ट रूम" (बगल के कमरे का आदमी) शीर्षक अध्याय में अपनी पुस्तक "सत्य की खोज" (ए सर्च ऑफ ट्रुथ) में श्रीमती रूथा मान्ट गुमरी ने लिखा है—मैं अस्पताल में थी । मेरे बगल

के कमरे में एक मरीज के जोर-जोर से खाँसने की आवाज आ रही थी । नर्स ने बताया—"बेचारा यक्ष्मा से पीड़ित है आज रात किसी भी समय उसकी मृत्यु हो सकती है ।" यह सुनते ही मुझे बड़ा दुःख हुआ । लेटे-लेटे परमात्मा से प्रार्थना करने लगी—हे प्रभु ! इस बीमार को नया जीवन दो, प्रार्थना करते-करते न जाने कब नींद आ गई । प्रातःकाल उठी तो रोगी की खाँसी की आवाज नहीं सुनाई दी । नर्स को बुलाकर पूछा—नर्स ने बताया, रोगी अच्छा हो रहा है । जिस दिन मैं अस्पताल से छूटी, उसी दिन उसे भी ओ. के. सार्टीफिकेट देकर अस्पताल से छुट्टी दे दी गई ।

श्रद्धा विश्वासपूर्वक की गई ईश्वर-प्रार्थना से कुछ भी असम्भव नहीं ।

### श्रद्धा सत्यमाप्यते

जीवन को किसी निर्दिष्ट ढाँचे में ढाल देने वाली सबसे प्रबल एवं उच्चस्तरीय शक्ति श्रद्धा है । यह अन्तःकरण की दिव्यभूमि में उत्पन्न होकर समस्त जीवन को हरियाली से सजा देती है । श्रद्धा का अर्थ है, श्रेष्ठता के प्रति अटूट आस्था । यह आस्था जब सिद्धान्त एवं व्यवहार में उतरती है तो उसे निष्ठा कहते हैं । यही जब आत्मा के स्वरूप, जीवन एवं ईश्वर भक्ति के क्षेत्र में प्रवेश करती है तो श्रद्धा कहलाती है ।

आत्म-कल्याण चाहने वाले के लिए और ईश्वर प्राप्ति के विभिन्न प्रयासों के लिए इस शक्ति का उभार एवं अवलम्बन आवश्यक है । इसके बिना उस महान लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता । अपने अन्तरात्मा मे बैठे हुए परमात्मा को देखने, उसे प्राप्त करने का उपाय बताते हुए मनीषियों ने इसी श्रद्धा की गरिमा को प्रस्तुत किया है । रामचरितमानस में श्रद्धा को भवानी और विश्वास को शंकर बताया गया है इन्हीं दोनों की सहायता से भगवान को प्राप्त किया जा सकता है ।

श्रद्धा के अभिसिंचन से पत्थर में देवता का उदय किया जा सकता है । हिन्दू संस्कृति में प्रतिमा प्रतिष्ठापित करने तथा उनकी पूजा-उपासना करने का दर्शन इसी श्रद्धा तत्व पर आधारित है । अपने इष्ट के प्रति अटूट श्रद्धा आरोपित करके ही उपासक, उसके साथ अनन्य एकता स्थापित कर लेते हैं । ईश्वर, कर्मफल, जीवनोद्देश्य कर्तव्यपालन, आत्मा की गरिमा जैसे सत्य तथ्यों पर सघन श्रद्धा रखने वाले लोग ही सामान्य जीवन से उठकर, महामानवों, देवदूतों की पंक्ति में बैठ सकते हैं ।

आध्यात्मिक क्षेत्र की उच्चस्तरीय साधनाओं में श्रद्धा की ही अपरिमेय शक्ति काम करती है । श्रद्धाहीन कर्मकाण्ड तो सामान्य अंग संचालन के व्यायाम के समान ही लाभप्रद हो सकते हैं किन्तु वे ही श्रद्धा और विश्वास के आधार पर साधना के लक्ष्य प्राप्ति में सिद्धिदायक सिद्ध होते हैं । श्रद्धा भावना न केवल उपासनात्मक क्षेत्र में वरन् जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण तथा उद्देश्य को भी प्रभावित करती है ।

जिन लोगों की आस्था मानवीय जीवन की श्रेष्ठता तथा महानता में नहीं होती, वे इसे पशुवत् पेट भरने एवं प्रजनन के सुखों तक ही सीमित रखते हैं । उनकी यह अनास्था मानवीय समाज के प्रति अविश्वास ही उत्पन्न करती है ।

आस्थाओं की कमी के कारण ही अगणित समस्याएँ तथा विविध-विधि उलझनें खड़ी होतीं और समाज व्यवस्था को विचलित करती हैं । आदर्शों और मर्यादाओं की उपेक्षा होने से ही व्यक्तिगत जीवन में दुष्टता, उद्दण्डता और सामाजिक जीवन में भ्रष्टता, अनैतिकता, अव्यवस्था पनपती जा रही है । इस विकट परिस्थिति में समाज में रहने वाला हर व्यक्ति स्वयं को विपन्न तथा असुरक्षित पाता है । साधनों की विपुल मात्रा और सुखोपभोग के कुबेर जैसे भण्डार भी उसे तृप्त नहीं कर सकते, क्योंकि शरीर की अपनी सीमा मर्यादा है । केवल उसके ही सुखों की तृष्णा की पूर्ति में जुट पड़ने वालों का भौतिक जीवन तो व्याधि ग्रस्त बनता ही है, अन्तःकरण क्षेत्र भी शुष्क, नीरस, भावना विहीन, चिन्ताग्रस्त, द्वेष और आवेशग्रस्त हो जाता है । इस तरह के व्यक्तियों की स्थिति प्रेत-पिशाच से कम नहीं होती । स्पष्ट है, यह स्थिति कितनी भयंकरता उत्पन्न कर सकती है । आज पश्चिमी देशों में यही सब हो रहा है ।

मनुष्य स्थूल कम, सूक्ष्म अधिक है । वह भावनाओं के सहारे पैदा होता, भावनाओं में ही जीवित रहता और भाव जगत में ही विलीन होता है । भावनाओं के प्रति सम्मान ही श्रद्धा है । यह सम्वेदना जहाँ भी

होगी वहीं सन्तोष की निर्झरिणी प्रवाहित हो रही होगी । भगवान कृष्ण ने कहा है—

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धा मयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्ध स एव सः ॥

—गीता १७/३

अर्थात्—हे अर्जुन ! यह सृष्टि श्रद्धा से विनिर्मित है जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वह पुरुष वैसा ही बन जाता है अर्थात् बुराइयों के प्रति श्रद्धा व्यक्ति को समस्याओं में कैद कर देती है तो आदर्शों के प्रति आस्था मनुष्य जीवन को सुख-शान्ति और प्रसन्नता से भर देती है । श्रद्धा में ही व्यक्तित्व के परिष्कार की वास्तविक सामर्थ्य है ।

## श्रद्धाहीन बुद्धिवाद अभिशाप ही है

आज का युग बुद्धि-युग कहा जाता है । मनुष्य पूरी तरह से बुद्धिवादी बन गया है । प्रत्येक व्यवहार को बुद्धि की कसौटी पर कस कर ही स्वीकार करना चाहता है । यह बुरा नहीं । बुद्धिमान होना मनुष्य की शोभा है । अन्य प्राणियों से बुद्धि में बढ़ा-चढ़ा होने से ही मनुष्य उन सबसे श्रेष्ठ माना गया है किन्तु आज के बौद्धिक चमत्कारों के जो फल हमारे सामने आ रहे हैं, वे बड़े ही निराशाजनक तथा भयप्रद हैं ।

बुद्धिमान होना अच्छा है किन्तु बुद्धिवादी होना उतना अच्छा नहीं है । आज हम अपने को विगत युगों के मानवों से अधिक बुद्धिमान तथा सभ्य मानते है । आज हम अपनी वैज्ञानिक उपलब्धियों पर गर्व करते हैं और कहते हैं कि हमने अपने पूर्वकालीन पूर्वजों से अधिक उन्नति और विकास किया है । यह ठीक है कि आज के मनुष्य ने उन्नति की है, किन्तु यान्त्रिक क्षेत्र में, मानवता के क्षेत्र में नहीं । जब तक हम बुद्धि के बल पर मानव मूल्यों की प्रतिस्थापना नहीं करते, सही मानो में बुद्धिमान कहलाने के अधिकारी नहीं हो सकते ।

किसी ओर भी दृष्टि डालकर देख लीजिए, प्रश्नों, परेशानियों, समस्याओं तथा असमाधानों के ही दृश्य दिखाई देते हैं । न कोई प्रसन्न दीखता है और न निश्चिन्त । संशय, भय, आशंका मानव अस्तित्व को घेरे हुए दृष्टिगोचर होंगे । सुबह से शाम तक यन्त्र की तरह काम करता हुआ भी मनुष्य न तो आश्वस्त दीखता है और न अभावमुक्त ।

लोग बड़े उत्साह से जीवन क्षेत्र में उतरते हैं, किन्तु कुछ ही समय में उन्हें अनुभव होने लगता है । कि उनके उत्साह के लिए संसार में कोई मार्ग नहीं है और तब वह उतरे हुए ज्वार की तरह सिमट कर एक संकुचित सीमा में धीरे-धीरे थका-थका, रेंगता हुआ चलने लगता है । मानो न वह जी रहा है और न जीना चाहता है । ज्यों-त्यों मिली हुई श्वासों का बोझ उतार रहा है । यह सब निराशा एवं अवसाद, बुद्धि का फल नहीं है बल्कि बुद्धिवादिता की देन है । केवल बुद्धिवादी बने रहने से मनुष्य में एक नीरसता, शून्यता का आ जाना स्वाभाविक ही है ।

किन्तु इस मानवीय क्षति की ओर किसी का भी ध्यान नहीं जाता । साक्षरता, शिक्षा, विद्या, विद्यालयों, विश्वविद्यालयों, प्रशिक्षण केन्द्रों तथा वैज्ञानिक संस्थानों को दिनोंदिन बढ़ाया जा रहा है । किसलिए ? जिससे कि मनुष्य अधिक से अधिक बुद्धिमान बने, अपने जीवन में विकास करे और समाज की उन्नति में सहायता दे, किन्तु इन प्रयत्नों के परिणामों पर कोई सोचने को तैयार नहीं दीखता । भौतिक उपलब्धियों के पीछे मनुष्य को इस सीमा तक डाल दिया गया है कि यह सोच सकना उसकी शक्ति के परे की बात हो गई है, कि इन भौतिक उपलब्धियों का उद्देश्य केवल उपलब्धि ही नहीं है । इनका उद्देश्य है, इनके द्वारा मानवता का दुःख-दर्द दूर करना, उसके अभावों तथा समाधानों का निराकरण करना, किन्तु इस वांछित बुद्धि को जगाने के बजाय जगायी गई है । एक सर्वभक्षी होड़, एक आर्थिक प्रतिस्पर्धा जिसका फल यह हो रहा है कि मनुष्य, मनुष्य को कुचल कर भौतिक उन्नति में आगे निकल जाना चाहता है । जीवन के मूल उद्देश्य मानव के प्रति मानव का स्नेह, अनुशासन, सेवा, सहयोग, सहायता तथा बन्धुभाव का सर्वथा अभाव होता जा रहा है । संसार में दीखने वाली व्यग्रता, व्यस्तता तथा आपाधापी इसी अभाव की विकृतियाँ हैं । विद्यार्थी पढ़ते हैं अपने लिए, मनुष्य परिश्रम करता है अपने लिए, व्यापारी व्यवसाय करता है तो अपने लिए । तात्पर्य यह है कि वह जो कुछ करता है सब अपने लिए, जो कुछ चाहता है सब अपने लिए । इस "अपने

लिए' ने मनुष्य को इतना शुष्क तथा संकीर्ण बना दिया है कि उसकी सारी मनबुद्धि अपने तक ही सीमित हो गई है, जिससे स्वार्थ संघर्षों के फलस्वरूप समाज में शोक-सन्तापों की वृद्धि होती जा रही है । आज आपा बढ़ाना ही मनुष्य ने अपनी बुद्धि-विकास का लक्ष्य बना रखा है । यह सब स्वार्थपूर्ण बुद्धिवाद का ही विकार है ।

जिस परमात्मा के सर्वोत्कृष्ट प्रसाद बुद्धि का उपयोग मानव मूल्यों को बढ़ाने में किया जाना चाहिए था, उसका उपयोग निकृष्ट से निकृष्ट स्वार्थ-साधनों में किया जाने लगा है । अनैतिकता पर पर्दे के रूप में दूसरों के अधिकार अपहरण करने में पटुता के रूप में अपने अनधिकृत स्वार्थ सिद्धि में, सकुशलता के रूप में, आय के अनुचित साधन बढ़ाने के लिए चतुराई के रूप में बुद्धि का उपयोग कर सकना ही बुद्धिमत्ता की परिभाषा बन गई है । ऐसा नहीं कि इस अमानवीय मान्यता के कुफल न भोगने पड़ते हों । खूब अच्छी तरह भोगने पड़ रहे है, किन्तु युग की विशेषता बुद्धिवादिता के कारण धारणा बदलने को तैयार नहीं । अपने ही कारण अपने पर आये दुःख कष्टों का हेतु दूसरों को मान लेना और उसका बदला तीसरे से लेने का प्रयत्न करना बुद्धिवादिता की विशेष प्रेरणा बन गई है ।

आज एक ओर सौभाग्य से जहाँ मनुष्य की बुद्धि ने विस्मयकारक विकास किया है, वहाँ दूसरी ओर दुर्भाग्य से उनका नियन्त्रण तथा सदुपयोग का भाव शिथिल हो गया है । बुद्धि का तीव्र विकास जितना लाभकारी है, उससे कहीं अधिक हानिकारक उसका अनियन्त्रण तथा असंयमित होना है । यही कारण है कि आज बुद्धि के चमत्कारी वैज्ञानिक अनुसन्धान मनुष्य के सिर पर मृत्यु की छाया की तरह मँडराते नजर आते हैं । यहीं पर यदि मनुष्य की विचारधारा नियन्त्रित भी हो सकी होती तो यह वैज्ञानिक उपलब्धियाँ सुख और सन्तोष के वरदान सिद्ध होतीं, पर बुद्धिवाद से अभिशापित मनुष्य का विश्वास मनुष्य पर से उठता जा रहा है ।

पूर्व-कालीन मानवों से अपने को अधिक बुद्धिमान मानने तथा सभ्य एवं विकासशील कहने वाले यह नहीं सोच पाते कि अपेक्षाकृत कम बुद्धिमान होने पर भी वे एक दूसरे की तरह आज की भाँति खतरा नहीं बने हुए थे । उनमें आपस में कितना सौहार्द्र, स्नेह तथा सहयोग रहा है ? उनका समय आज के समय से कितना निश्चित तथा समाधान पूर्ण था ? यही कारण है कि उस समय जिस प्रकार आध्यात्मपूर्ण मानवता का विकास हुआ है, उसका शतांश भी आज देखने को नहीं मिल रहा है । जो सभ्यता, संस्कृति, कला-कौशल तथा परोपकार एवं पारस्परिकता की भावना पूर्वकालीनों ने संसार को दी थी, हम बहुत कुछ उसी के आधार पर चलते हुए आज इतना बढ़ पाये है । जहाँ पूर्व-कालीनों ने विचार करके सभ्यता के सन्देश सारे संसार को देकर प्रबुद्ध बना दिया था, वहाँ आज लगभग पूरा संसार सभ्य होकर मानवीय सभ्यता के विनाश पर तुल गया है । संसार के अधिक सभ्य एवं प्रबुद्ध होने से तो सुख-शान्ति की सम्भावनाओं की वृद्धि होनी चाहिए थी, वहाँ भय, शोक और सन्ताप ही बढ़े है । यह सब नीरस एवं अनियन्त्रित बुद्धिवाद का ही कुपरिणाम है ।

अब प्रश्न यह है कि आज के इस बुद्धि-विकास के युग मे इन विकृतियों का कारण क्या है और क्या है इनके समाधान का उपाय ? अब वह समय आ गया है, जबकि मनुष्य को रुक कर सोचना, विचार करना है अन्यथा बुद्धिवाद से हाँका हुआ संसार शीघ्र ही अपना विनाश कर लेगा ।

इसी आत्मिक अश्रद्धा के कारण उसके हृदय से आत्मीयता का भाव उठ गया है । उसे किसी दूसरे के प्रति न तो सहानुभूति रह गई है और न स्नेह, उसमें एक शुष्क स्वार्थ का बाहुल्य हो गया है । अधिक बुद्धि पाकर यदि वह अपने से कम बुद्धि वालों के प्रति अपना कर्तव्य समझ उनको अपने साथ ले चलने की नैतिकता के प्रति श्रद्धावान हो सकता तो निश्चय ही जहाँ ससार मे आज संशय, भय, अविश्वास एवं असमाधान दीखता [redacted] वहाँ आश्वासन, प्रसन्नता, विश्वास तथा सुख समाधान की ही परिस्थितियाँ दीखतीं ।

अश्रद्धावान व्यक्ति मे स्वभावतः ही स्वार्थ, असन्तोष तथा अतृप्त का दोष उत्पन्न हो जाता है । श्रद्धा ही एक ऐसा प्रकाश है, जो मनुष्य को अनात्मिक-अन्धकार में खोने से बचाये रहता है । श्रद्धावान को जहाँ अपने प्रति स्नेह रहता है, वहाँ दूसरों के प्रति भी आज के बुध्यातिरेकता के युग में इसी श्रद्धा नामक मानव मूल्य

का अभाव हो गया है । जिस दिन मनुष्य में श्रद्धा के भाव की बहुलता हो जायेगी, बुद्धिवादिता का नियमन होगा, तब आज के ध्वंस सूचक बौद्धिक चमत्कार सृजन सम्बन्धी वरदान बन जायेंगे ।

## बुद्धि का नियमन कीजिए

मनुष्य को परमात्मा ने बुद्धि नामक एक अतुलनीय शक्ति प्रदान की है इसी के आधार पर मनुष्य लाखों करोड़ों अन्य प्राणियों के बीच सृष्टि का अप्रतिम स्वामी बना है । इतना ही नहीं, मनुष्य ने बुद्धि बल पर संसार को सुन्दर से सुन्दर बनाया है । बिना किसी के बतलाये उसने सृष्टि के गोपनीय रहस्यों को बुद्धि के बल पर खोज निकाला है । जीवन में न जाने कितनी सुख-सुविधाओं का समावेश किया है ।

मनुष्य ने अतीत का अध्ययन कर उसके व्यवहारों, मान्यताओं एवं धारणाओं के हानि-लाभ को समझकर नित्य नये भविष्य के लिए पथ-प्रशस्त करते हुए महान से महानतर सभ्यताओं एवं संस्कृतियों का सृजन किया है । संसार में प्रत्यक्ष सुन्दर कला-कृतियाँ, ऊँचे-ऊँचे महल, दुर्ग, प्रासाद तथा अट्टालिकाएँ, यान, जलयान, वायुयान जो कुछ भी विस्मयकारक तथा लाभकारक दिखाई दे रहा है, वह सब मनुष्य की बुद्धि शक्ति का ही चमत्कार है ।

बुद्धि ने मानव को केवल भौतिक विभूतियों तक ही ले जाकर नहीं छोड़ दिया, बल्कि उसने उसे आत्मा-परमात्मा, पुरुष और प्रकृति के रहस्यों तक भी पहुँचा दिया है । सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय चेतनाएँ, पारस्परिक व्यवहार, कर्तव्य एवं अधिकारों का ज्ञान बुद्धि ने ही कराया है ।

बुद्धि की शक्ति का एक उज्ज्वल पक्ष तो यह रहा । इस शक्ति का एक अन्धेरा पक्ष भी है । आक्रमण, अत्याचार, अन्याय, उत्पीड़न, शोषण, लाभ-लोभ, छल-कपट, वंचना-प्रताड़न, विजय, आतंक, अभियान, नोंच-खसोंट, लूट-मार, छीना-झपटी, चोरी-मक्कारी, ध्वंस अथवा विनाश की आसुरी वृत्तियाँ भी मनुष्य, बुद्धि-बल पर ही सफल करता है ।

मनुष्य शारीरिक बल से नहीं, बुद्धि-बल से ही अभियानों का संचालन और सेनाओं का नियन्त्रण करता है । बड़ी-बड़ी लड़ाइयों की हार-जीत बुद्धि-बल पर ही निर्भर करती है । राष्ट्रों के नेतृत्व और राज्यों की शासन व्यवस्था के काम भी बुद्धि शक्ति से ही चलते हैं । व्यापार, व्यवसाय, उद्योग, योजनाएँ एवं उपाय सब बुद्धि के अधीन रहते हैं । तात्पर्य यह है कि संसार में जो कुछ सृजनात्मक अथवा ध्वंसात्मक क्रिया-कलाप होता दिखाई देता है, वह सब बुद्धि से ही संचालित एवं नियन्त्रित होता है । बुद्धि एक अनुपम एवं अतुलनीय सर्व समर्थ शक्ति है ।

आज के वैज्ञानिक युग में तो मानव-बुद्धि चमत्कारिक क्षमता से सम्पन्न हो गई है । असम्भव जैसे कार्य आज सम्भव होते दिखाई दे रहे हैं । मनुष्य की बुद्धि आज जीवन-मृत्यु के रहस्यों को खोज निकालने पर तुली हुई है । संसार के कारण भूत पंच-तत्वों पर विजय प्राप्त कर उन्हें अपना आज्ञाकारी बना रही है । प्रकृति की पराधीनता से मुक्त होकर मानव आज बुद्धि-बल पर स्व-निर्भर होने का प्रयत्न कर रहा है । प्रगति देखते हुए यह बात असम्भव नहीं दिखाई देती कि जब वह जिस ऋतु को चाहे उत्पन्न कर ले और जब जिस वातावरण को चाहे निर्माण कर ले । आज का युग मानवीय बुद्धि-शक्ति का प्रमाण सूचक साक्षी बना हुआ है ।

ऐसी अमोघ है मानव बुद्धि की शक्ति । यदि यह चाहे तो संसार को दो दिन में ही नष्ट कर दे और चाहे तो इसे स्वर्ग बना दे, किन्तु आज की परिस्थितियाँ देखते हुए ऐसा नहीं लग रहा है कि बुद्धि-शक्ति संसार को स्वर्ग रूप में परिणत करेगी । इसके अधिकाधिक नरक बनने की सम्भावनाएँ अवश्य दृष्टिगोचर होने लगी हैं । आगे की बात तो छोड़ दीजिए, आज के दिन भी संसार एक नरक से क्या कम बन गया है ? जिधर देखो—दुःख पीड़ा, शोक-सन्ताप, आवश्यकता एवं अभाव का ही ताण्डव होता दृष्टिगोचर हो रहा है । मनुष्य, मनुष्य के लिए भूत-प्रेतों की तरह शंका का स्वरूप बना हुआ है । सुख-सुविधा के अगणित साधन संचय हो जाने पर भी मनुष्य को उनका कोई लाभ नहीं मिल रहा है । जिस एक आश्वस्तता एवं निश्चिन्तता प्राप्त करने के लिए मनुष्य की बुद्धि तन-मन से लगी हुई है, उसके दर्शन भी सम्भव नहीं हो रहे हैं । निःसन्देह आज के युग का बुद्धि बलिष्ठ मनुष्य की यह दुर्दशा तरस का ही विषय है ।

अब एक प्रश्न मन में उठे बिना नहीं रहता । क्या कारण है कि जो समर्थ बुद्धि आकाश-पाताल को मिला देने की क्षमता रखती है, उस बुद्धि का मानव-मस्तिष्क में आज चरम-विकास हो रहा है, किन्तु वह वंचित उन सुखों से भी होता जा रहा है, जो उसने कम बुद्धि के युग में उपभोग किये थे । वह उल्टा परिणाम कुछ कम विस्मयकारक नहीं है । इस पर शान्त मस्तिष्क से विचार करने की नितान्त आवश्यकता है ।

बात वास्तव में यह है कि मनुष्य ने आज बुद्धि को तो विकट रूप से बढ़ा लिया है, किन्तु उस पर नियन्त्रण करना नहीं सीखा है, उचित नियन्त्रण के अभाव में यह निरंकुश मातंगिनी अथवा अतट-तटिनी की भाँति चारों और ध्वंस के दृश्य उपस्थित करती दृष्टिगोचर हो रही है । बुद्ध-शक्ति में कोई मर्यादा तो होती नहीं, स्वयं मनुष्य को ही अपनी इस शक्ति को नियन्त्रित करना होता है ।

बुद्धि का अनियन्त्रित विकास केवल दूसरों के लिए ही दुःखदायी नहीं होता, स्वयं अपने लिए भी हानिकर होता है । अति बुद्धि मानव को चिन्तन, असन्तोष की ज्वाला में ही जलना होता है । वह बहुत कुछ पाकर भी कुछ नहीं पाता । एक बुद्धिवादी कितना ही शास्त्रज्ञ, विशेषज्ञ, दार्शनिक, वैज्ञानिक, तत्ववेत्ता आदि क्यों न हो बुद्धि का अहंकार उसके हृदय में शान्ति को न ठहरने देगा । वह दूसरों को ज्ञान देता हुआ भी आत्मिक शान्ति के लिए तड़पता ही रहेगा । बुद्धि की तीव्रता पैनी छुरी की तरह किसी दूसरे अथवा उसको दिन रात काटती ही रहती है । मानव की अनियन्त्रित बुद्धि शक्ति मनुष्य ज़ाति की बहुत बड़ी शत्रु है । अतएव बुद्धि के विकास के साथ-साथ उसका नियन्त्रण भी आवश्यक है ।

किसी शक्तिशाली का नियन्त्रण तो उससे अधिक शक्ति से ही हो सकता है । तब भला समग्र सृष्टि को अपनी मुट्ठी में शक्ति बुद्धि का नियन्त्रण करने के लिए कौन-सी दूसरी शक्ति मनुष्य के पास हो सकती है ? मनुष्य की वह दूसरी शक्ति है, श्रद्धा ! जिससे बुद्धि जैसी उच्छृंखल शक्ति पर अंकुश लगाया जा सकता है, उसका नियन्त्रण किया जा सकता है । ध्वंस की ओर जाने से रोक कर सृजन के मार्ग पर अग्रसर किया जा सकता है । श्रद्धा के आधार के बिना बुद्धि एक बावले बवण्डर से अधिक कुछ भी नहीं है । श्रद्धा रहित बुद्धि जिधर भी चलेगी उधर दुःखद परिस्थितियाँ ही उत्पन्न करेगी ।

विशुद्ध बुद्धिवादी के पास स्नेह, सौजन्य, सौहार्द, सहानुभूति, भ्रातृत्वभाव जैसी कोमलताएँ नहीं होतीं । इन मानवीय गुणों की जननी श्रद्धा ही है । श्रद्धालु अन्तःकरण वाला मनुष्य सेवा-सहयोग, क्षमा-दया, परोपकार तथा परमार्थ में विश्वास करता है, न्याय और नियम उसकी विशेषताएँ हुआ करती हैं ।

मानवता के इतिहास में दो परस्पर विरोधी ख्याति के व्यक्तियों के नाम पाये जाते हैं । एक वर्ग तो वह है, जिसने संसार को नष्ट कर डालने, जातियों को मिटा डालने तथा मानवता को जला डालने का प्रयत्न किया है । दूसरा वर्ग वह है जिसने मानवता का कष्ट दूर करने, संसार की रक्षा करने, देश और जातियों को बचाने के लिए तप किया है, संघर्ष किया है और प्राण दिया है । इतिहास के पन्नों पर आने वाले यह दोनों वर्ग निश्चित रूप से बुद्धि-बल वाले रहे हैं । अन्तर केवल यह रहा है कि श्रद्धा के अभाव में एक की बुद्धि शक्ति अनियन्त्रित होकर बर्बरता का सम्पादन कर सकी है और दूसरे का बुद्धि-बल श्रद्धा द्वारा नियन्त्रित होने से सज्जनता का प्रतिपादन करता रहा है ।

यदि आज की चमत्कारिणी बुद्धि का ठीक दिशा में उपयोग करना है, संसार से दुःख-दर्दों को मार भगाना है, अपनी धरती-माता को स्वर्ग बनाना है, मानव सभ्यता की रक्षा के साथ-साथ उसका विकास करना है तो अन्तःकरण में श्रद्धा की प्रतिस्थापना करनी होगी । बिना श्रद्धा के मनुष्य की बुद्धि-शक्ति उसकी ये शत्रु बनकर मानवता का विनाश किये बिना नहीं मानेगी । आज अवसर है, साधन है, मनुष्य चाहे तो सृजन का देवदूत बन सकता है और चाहे तो शैतान का अनुचर !

## भावनात्मक गरिमा की मापदण्ड : श्रद्धा

बौद्धिक क्षमता को किन्हीं गणितीय सूत्रों से किसी सीमा तक आँका-नापा भी जा सकता है । उसकी उपलब्धियों के नियम आँकड़ों की भाषा में भी समझे जा सकते हैं । स्मरण-शक्ति, रचना-शक्ति, क्रिया-शक्ति, भाषागत क्षमता, भाषण क्षमता, लेखन क्षमता, संगठन क्षमता, अनुसन्धान-विश्लेषण क्षमता तथा युक्तियों

को सुलझाने वाली क्षमताएँ माप की परिधि में नहीं मापी जा सकतीं । श्रद्धा-आस्था, भावना की क्षमताएँ गणितीय रूप में नहीं मापी जा सकतीं । उनके परिणाम भी गणितीय नियम-सूत्रों के अनुसार नहीं होते । इसलिए वे चमत्कारिक लगती हैं ।

अपने किसी मित्र की मृत्यु हुई । डॉक्टर की दृष्टि में उसके दिल का धड़कना बन्द हुआ अथवा दिमाग की नस फट गई । रासायनिक विश्लेषणकर्त्ता की दृष्टि से मरण का अर्थ शरीरगत रासायनिक प्रक्रिया में असन्तुलन और अवरोध उत्पन्न हो गया, पर उस मरण से अपने अन्तःकरण पर जो मार्मिक प्रतिक्रिया हुई उसके फलस्वरूप भावी जीवन का सारा चिन्तन एवं क्रिया-कलाप ही बदल गया, इसका आधार क्या है इसे बता सकने में न तो डॉक्टर समर्थ है और न रसायनवेत्ता । भौतिक विज्ञानी केवल पदार्थों की स्थिति का विवेचन विश्लेषण करते हैं । वे उस भावनात्मक उथल-पुथल की व्याख्या करने में अपने को असमर्थ पाते हैं, जो मानव जीवन को अत्यधिक प्रभावित करती है ।

कोई यात्री सुदूर समुद्र पार किसी जलयान या वायुयान पर चढ़कर चला गया । यातायात विभाग के अधिकारी और वाहन कर्मचारी इसे एक व्यक्ति का स्थानान्तर मात्र कहेंगे और उसे यान्त्रिक अथवा आर्थिक प्रयोजनों के लिए घटित हुई एक मध्यवर्ती क्रिया मात्र कहेंगे, पर उस यात्री और उसके स्नेही को जो वियोग-व्यथा आन्दोलित किये डाल रही है उसकी व्याख्या इन लोगों के पास क्या है ? और वे उस अन्तर्वेदना के समाधान का क्या उपाय प्रस्तुत कर सकते हैं ?

चन्द्रमा एक निर्जीव पिण्ड है पर चकोर से लेकर कवियों तक पर जो भावनात्मक प्रतिक्रियाएँ होती हैं, वे क्या हैं, और क्यों हैं ? पुष्प की व्याख्या कोई बनस्पति विज्ञानी एक पादप अवयव के रूप में ही कर सकता है । उसकी समीपता से दृष्टि को जो सौन्दर्य बोध होता है वह एक दूसरे के उपहार प्रस्तुत करते समय वह पुष्प किन भाव सम्वेदनाओं का आदान-प्रदान करता है, इनका विवेचन विज्ञानी के बस से बाहर की चीज है ।

तरुण नारियों में से एक के साथ पवित्र तथा दूसरी के साथ वासनात्मक दृष्टि क्यों उभरती है, उसका उत्तर शरीर विज्ञानी क्या दे सकते हैं ? आदर्शों के लिए आत्म-रक्षा और स्वार्थ संग्रह को छोड़कर लोग प्राण संकट तक का स्वागत करते हुए त्याग-बलिदान के उदाहरण क्यों उपस्थित करते हैं, इसका उत्तर मनोविज्ञान वेत्ताओं के पास, प्राणी की मूल प्रवृत्तियों का विवेचन करने वालों के पास क्या हो सकता है ?

सौन्दर्य क्या है ? आँखें जिन वस्तुओं और प्राणियों को सुन्दर या कुरूप मानती हैं, उनका कुछ आधार विज्ञान नहीं बता सकता । नैतिकता, कर्त्तव्यनिष्ठा, सौन्दर्य, धर्म, आदर्श, संयम, उदारता जैसी आस्थाओं के लिए विज्ञान की उपलब्धियाँ कुछ प्रकाश डाल सकने में अपने को असमर्थ पाती हैं ।

विज्ञान की दृष्टि से मनुष्य शरीर मात्र कुछ रासायनिक तत्वों का, जीवाणुओं का, संयोजन, उत्पादन मात्र है । उसका संयोग-वियोग ही जीवन अथवा मृत्यु है । इस मान्यता के आधार पर वे टैस्टट्यूबों में कृत्रिम जीवधारियों के निर्माण में संलग्न हैं । इतना सम्भव होने पर भी यह प्रश्न बना ही रहेगा कि उस प्राणधारी उत्पादनों में मात्र वैज्ञानिक आधार पर व्यक्तित्व, चरित्र, विवेक एवं उत्कृष्ट चिन्तन का समावेश हो सकेगा । यदि नहीं तो क्या वे मात्र चलते-फिरते खिलौने भर नहीं रह जायेंगे ।

मनुष्य तत्व वस्तुतः भावनात्मक स्तर पर खड़ा है । उसकी गरिमा को नापना देखना हो तो गहराई में उतर कर देखना होगा कि किसका चिन्तन और दृष्टिकोण क्या है, उसकी आस्था, निष्ठा और आकांक्षा किस केन्द्र बिन्दु पर टिकी है । उच्चस्तरीय दृष्टिकोण के आधार पर ही मनुष्य की महानता निर्भर है । फिर भले ही उसे अभावग्रस्त साधनों से ही जीवन-यापन क्यों न करना पड़ रहा हो ।

श्रद्धा ही व्यक्ति को वह सम्बल प्रदान करती है कि वह अपने आदर्शों के लिए बड़े से बड़े कष्ट सहकर भी प्रसन्न ही रहा आता है । जिसकी आकांक्षा और आस्था का केन्द्र जितना उच्च होगा, उसकी श्रद्धा उतनी ही प्रगाढ़, परिष्कृत समझनी चाहिए ।

ईश्वर के प्रति या धर्म के प्रति श्रद्धा की भी प्रगाढ़ता का परिचय इसी से मिलता है कि ईश्वर या धर्म से श्रद्धालु की आकांक्षा का स्तर एवं स्वरूप क्या है ? सच्ची और गहनतम श्रद्धा तो वह है जिसमें

ईश्वर से कोई भी अपेक्षा नहीं की जाती, ईश्वर की ही अपेक्षा के अनुसार स्वयं को ढाला जाता है ।

ईश्वर-श्रद्धा का सच्चा स्वरूप ईश्वर की आकांक्षा में स्वयं को घुला मिला लेना है । यही श्रद्धा की सही परिणति और आस्तिकता की कसौटी है ।

यदि आप सचमुच आस्तिक हैं, तो परमेश्वर को अपनी इच्छानुसार चलाने के लिए विवश न करें । वरन् उसकी इच्छा पूर्ति के निमित्त स्वयं बनें । अब तक के उपलब्ध अनुदान कम नहीं, उन पर सन्तोष करना चाहिए और यदि अधिक की अपेक्षा है तो बुद्धि और पुरुषार्थ के मूल्य पर उसके लिए प्रयत्न करना चाहिए ।

इच्छाओं और कामनाओं की पूर्ति के लिए भगवान के सम्मुख गिड़गिड़ाना अशोभनीय है । जो मिला है उसी का सदुपयोग कहाँ कर सके जो और अधिक माँगने की हिम्मत करें । कर्मफल भोगने के लिए हमें साहसी और ईमानदार व्यक्ति की तरह रहना चाहिए । गल्ती करने में कभी भी जो दुस्साहस दिखाया था, आज उसका एक अंश प्रस्तुत कर्मफल को भोगते समय भी दिखाना चाहिए । विशेषतया तब जबकि कर्मफल अनिवार्य है । उस विधान से कोई छूट नहीं सकता । स्वयं भगवान तक न छूट सके, तो हम ही क्यों साहस खोकर दीनता प्रकट करें, जो सहना ही ठहरा, उसे हँसते हुए बहादुरी के साथ क्यों न सहें ।

कर्मफल के छुटकारे के लिए, पात्रता से अधिक उपलब्धियों के लिए प्रायः लोग ईश्वर का दरवाजा खटखटाते हैं और पूजा-परिचर्या की व्यवस्था बनाते हैं । यह भक्ति नहीं है, न इसमें श्रद्धा का पुट है, ऐसी ओछी दृष्टि से की गई उपासना से आत्म-कल्याण का पथ-प्रशस्त नहीं होता और न वह परमेश्वर को ही प्रभावित करती है ।

ईश्वर को अपना आज्ञानुवर्ती बनाने की अपेक्षा यह उचित है कि हम ईश्वर के आज्ञानुवर्ती बनें । ईश्वर को अपनी इच्छानुसार चलाने और अपने नियम व्यवस्था बिगाड़ देने के लिए कहने की अपेक्षा यह उचित है कि हम ईश्वर की इच्छानुसार चलें और अपनी वासना, तृष्णाओं का ताना-बाना समेट लें । ईश्वर को अपना अनुचर बनाने की अपेक्षा यही उचित है कि हम उसके अनुचर बनें । मालिक की तरह ईश्वर पर हुक्म चलाना उचित नहीं । उपयुक्त यही है कि हम उसके आदेशों को समझें और तदनुरूप अपनी गतिविधियों का पुनःनिर्माण, पुनःनिर्धारण करें ।

आस्तिकता का अर्थ केवल ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास करना ही नहीं, वरन् यह भी है कि उसके निर्देशों का पालन यथावत् किया जाय, उपासना का अर्थ समृद्धि और सुविधा के लिए गिड़गिड़ाना नहीं वरन् यह है कि हमारा यह शौर्य सजग हो जिसमें अन्धकार में भटकते लोगों का अनुकरण छोड़कर ईश्वर के पीछे एकाकी चल सकें ।

अच्छा हो हम ईश्वर के लिए जीयें—उसके बनकर रहें और उसकी प्रेरणाओं का अनुकरण करें । उपासना का अर्थ है, पास बैठना । पास बैठें और बिठायें । जीवन के उद्देश्य और सदुपयोग का मार्ग पूछें और उस पर चलने की अपनी तत्परता बनायें । बैठने की दूरी क्रमशः घटनी चाहिए और निकटता इतनी बढ़ानी चाहिए कि अपना आपा परमेश्वर में तल्लीन हो जाय और उस परमज्योति से अपना कण-कण जगमगाने लगे ।

अपनी आकांक्षाओं में ईश्वरीय आकांक्षा घुली रहे । हम वही चाहना करें, वही सोचें जो ईश्वरीय प्रेरणा प्रवाह के अनुकूल हो । हम वही करें जो ईश्वर को अपेक्षित है । मन का शासन अस्वीकार करके, ईश्वर के हाथों अपने को सौंप दें और उसी के संकेतों पर अपने चिन्तन और कर्तृत्व की दिशा का निर्धारण करें ।

अपने लिए नहीं हम ईश्वर के लिए जीयें । यह घाटे का नहीं सबसे अधिक लाभ का कदम है । यह निश्चित है कि जो ईश्वर का होकर रहता है ईश्वर भी उसी का हो जाता है ।

परमात्मा तो हमें अपनी गोदी में लेने के लिए, छाती से लगाने के लिए दोनों भुजाएँ पसार कर खड़ा है । एक भुजा है पीड़ितों, पतितों और पिछड़े हुओं का क्रन्दन । दूसरी भुजा है सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्धन की पुकार । यह निनाद दिशाओं के अन्तराल में गूँजता रहता है । बहरे कान उसे सुन नहीं पाते, जो इन निनादों को सुन सके समझना चाहिए, उसके कानों ने ईश्वर का सन्देश सुन लिया ।

परमात्मा के पास एक ही सर्वोपरि उपहार था, मानव शरीर । इससे बढ़कर और कोई बड़ी सम्पदा

उसके भण्डार में है नहीं । जिस प्राणी को यह उपहार मिला, समझना चाहिए वह कृतकृत्य हो गया । सृष्टि के किसी भी जीवधारी को जो सुविधाएँ हैं, वे मनुष्य को मिली हैं । यह उसी का काम है कि इस विभूति का बुद्धिमत्तापूर्ण उपयोग करके उस उच्चस्तर तक आ पहुँचे जहाँ स्वयं परमात्मा विराजमान है । चेतना के साथ जुड़े हुए बहुमूल्य साधनों का मूल्यांकन न कर पाने और उनके सदुपयोग की व्यवस्था न बना पाने के कारण ही हमें दुःख-दैन्य की कँटीली झाड़ियों में भटकना पड़ता है । जीवन-लक्ष्य को समझना और उसके लिए समुचित प्रयास करना यदि किसी के लिए सम्भव हो सके तो निश्चित रूप से उसे नर-पशु से आगे बढ़कर नर-देव की दिव्य भूमिका में प्रवेश करने का सुअवसर मिल सकता है ।

मनुष्य शरीर का अनुपम उपहार देने के उपरान्त परमात्मा अपने अन्तिम अनुग्रह का एक और अनुदान देने का इच्छुक है । इसी के लिए वह अपने लाड़लों को पास बुलाना चाहता है, गोदी में लेना चाहता है, छाती से लगाना चाहता है और उस अनुदान को देना चाहता है जिसे प्राप्त करने के बाद और कुछ पाना शेष नहीं रह जाता, इसी आमन्त्रण के लिए उसने अपनी भुजाएँ पसारी हुई हैं । जो उनमें आबद्ध हो सका वही प्रभु की समीपता और उसकी दुलार भरी मनुहार का अधिकारी बन सका ।

पतन और पीड़ा से ग्रसित पिछड़े हुए मनुष्य भले ही अपने अकर्म या अज्ञान का फल भुगत रहे हों, पर वे हमारी दृष्टि में इसी उद्देश्य से आते हैं कि सहानुभूति और सेवा, भावुकता, सहयोग द्वारा उन्हें ऊँचा उठाने सहारा देने, का प्रयास करते हुए अपनी बहुमूल्य आत्मिक चेतना को उभारें । दया, करुणा, उदारता, सेवा जैसी दिव्य सम्पदाओं में अपने को सुसज्जित करें । इस प्रकार के प्रयासों में जो समय, श्रम, मनोयोग एवं धन खर्च होता है । उसकी तुलना में लाखों गुने मूल्य का आत्म-बल और आत्म-सन्तोष मिलता है । व्यक्तित्व में देवत्व का उदय होता है । प्रयत्नों में हुए खर्च और परिणाम में मिले लाभ को यदि ठीक तरह तोला जा सके तो प्रतीत होगा कि जो खोया गया, उससे लाखों गुना पा लिया ।

भगवान की पहली भुजा संसार में व्याप्त अधःपतन के प्रति अधिकाधिक सहृदय होने का आमन्त्रण लेकर पसरी हुई है । दूसरी भुजा का आह्वान यह है कि इस विश्व वसुधा को सुन्दर समुन्नत बनाने वाली सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्धन में योगदान दिया जाय । कोई व्यक्ति एकाकी सुख सम्पदा एकत्रित करके सुखी नहीं बन सकता । कुटुम्ब, परिवार को सुखी बनाने का प्रयत्न करते हुए मनुष्य अपनी सुखानुभूति को कई गुना बढ़ाता है । यदि ऐसा न हो तो परिवार-पालन में जो कष्ट उठाना पड़ता है और त्याग करना पड़ता है उसके लिए कोई कदापि तैयार न हुआ होता । इस सुख का जितना अधिक विस्तार करना अभीष्ट हो उतना ही अधिक विस्तृत क्षेत्र में अपनी आत्मीयता को विस्तृत करना पड़ता है । यह आत्म-विस्तार, सहज ही अधिक लोगों का अधिक सुख किस प्रकार सम्भव हो यही सोचता है और अपनी क्षमता का बड़ा भाग इसी के लिए नियोजित करता है । कहना न होगा कि सत्प्रवृत्तियों और सद्भावनाओं के अभिवर्धन से ही व्यक्ति और समाज की सर्वतोन्मुखी प्रगति का पथ-प्रशस्त होता है ।

ईश्वर को पाने के लिए हमें अपनी ओर से कुछ नहीं करना है । केवल उसकी पसारी हुई भुजाओं मे प्रवेश करना है । उसके आह्वान को सुनाना और उसके आमन्त्रण को स्वीकार करना भर ईश्वर मिलन का प्रयोजन पूरा करने के लिए पर्याप्त है ।

जिसने ईश्वर की भावनात्मक पुकार सुन ली, उसका जीवन धन्य हो गया । उसकी भावनाएँ पीड़ा और पतन के निवारण की व्याकुलता से भर उठती हैं । वह ईश्वरीय कार्य के लिए स्वयं को समर्पित कर देता है । वही व्यक्ति भक्त कहलाने का अधिकारी है जिसने पतितों, पीड़ितों के क्रन्दन और सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्धन आह्वान के रूप में फैली भगवान की भुजाओं का आमन्त्रण स्वीकार कर लिया । जिसने अपनी भावनाओं को बिखरने नहीं दिया और उनको उत्कृष्टता की दिशा में केन्द्रित कर दिया वही भक्त है, उसी की भक्ति में शक्ति होती है ।

## भावनाएँ भक्ति मार्ग में नियोजित की जायें

भावनाओं की शक्ति भाप की तरह है, यदि उसका सदुपयोग कर लिया जाय तो विशालकाय इंजन चल सकते हैं पर यदि उसे ऐसे ही खुला छोड़ दिया

जाय तो वह बर्बाद ही होगी किसी के काम न आ सकेगी ।

भावनाओं में भक्ति का स्थान ऊँचा है । उसका सहारा लेकर मनुष्य नर से नारायण बन सकता है, किन्तु उसे एक कल्पना आवेश मात्र मन बहलाव रहने दिया जाय तो उससे किसी का कुछ प्रयोजन सिद्ध न होगा ।

रविशंकर महाराज ने आज के भक्तों को तीन रोगों से ग्रसित गिनाया है—(१) गाना (२) रोना (३) दिखावा ।

भजन कीर्तन के नाम पर दिन-रात झाँझ बजती और हल्ला होता है । गाना वही सार्थक [redacted] जो विवेकपूर्वक गाया जाय जिसमें प्रेरणा हो और उसे हृदयंगम करने का लक्ष्य सामने रखा गया हो । जहाँ केवल कोलाहल ही उद्देश्य हो वहाँ भक्ति का प्रकाश कैसे उत्पन्न होगा ?

रोना—अर्थात् संसार को शोक-संताप से भरा भव सागर मानना । इस दुनिया से छुटकारा पाकर, किसी अन्य लोक में जा बसने की कल्पना, अपने आप से भागने के बराबर है । भगवान के सुरम्य उद्यान का सौन्दर्य निहार कर आनन्द विभोर होने की भक्ति भावना यदि विश्व के कण-कण में संव्याप्त भगवान को देखने की अपेक्षा सर्वत्र दुःख और पाप ही देखें तो इसे बुद्धि विपर्यय ही कहा जायेगा भक्ति भाव नहीं । पलायन नहीं, भक्ति का तात्पर्य दुःखों का निराकरण एवं दुःखियों की सहायता करना है । जहाँ केवल घृणा का विषाद छाया रहे वहाँ भक्ति की आत्मा जीवित कैसे रहेगी । अपने को आर्त और दुःखी के रूप में प्रस्तुत करने वाला इस कुरूप चित्रण से अपने सृष्टा को ही अपमानित करता है ।

भक्ति का तीसरा छन्द है—दिखावा । इन दिनों धार्मिक आडम्बर पहाड़ जितना बढ़ चला है पर उसकी मर्म सम्वेदनाएँ हृदयंगम कर सकने वाले लोग कितने हैं ?

धर्म का आडम्बर अब इतना अधिक बढ़ता चला जा रहा है कि कई बार तो यह भ्रम होने लगता है कि हम धर्मयुग में रह रहे है । कथा, कीर्तन, प्रवचन, सत्संग, पारायण, लीला, सम्मेलन आदि के माध्यम से जगह-जगह विशालकाय आयोजन होते [redacted] और उनमें एकत्रित विशाल भीड़ को देखने से प्रतीत होता है कि धर्म रुचि आकाश छूने जा रही है, पर जब गहराई में उतर कर देखते हैं तो लगता है कि यह धर्म दिखावा बहुत से लोग अपना आन्तरिक अधार्मिकता को झुठला कर आत्म-प्रवंचना करने के लिए अथवा लोगों की दृष्टि में धार्मिक बनने के लिए रच कर खड़ा करते हैं । यह आवरण इसलिए खड़े किये जाते हैं ताकि उनकी यथार्थता पर पर्दा पड़ा रहे और लोग उन्हें उस ऊँचे स्तर का समझते रहें जिस पर कि वे वस्तुतः नहीं हैं ।

कुछ लोग वस्तुतः इन आयोजनों को सद्भावना के साथ सदुद्देश्य के लिए भी करते [redacted] पर वे यह भूल जाते हैं कि धर्म आवरण का आरम्भिक प्रयोग भक्ति-भावना जागृत करने के लिए ही हो सकता [redacted] । उसका वास्तविक लाभ तो तभी मिलेगा जब आस्थाओं और क्रिया-कलापों में उच्च स्तरीय परिवर्तन सम्भव हो । इस कार्य के लिए उपयुक्त पथ प्रदर्शक वे हो सकते हैं जिन्होंने अपने को मन, वचन, कर्म से सच्चा भक्त बनने में सफलता प्राप्त की हो और इस श्रेय पथ में प्रगति का प्रकाश वे ही पा सकते हैं जिन्होंने आवरण से आगे बढ़कर अपने आपको सुधारने सँभालने के लिए उत्कट प्रयास किया हो ।

भावनाओं की शक्ति को भक्ति मार्ग में यदि नियोजित किया जा सके तो मनुष्य इतनी प्रगति कर सकता है जिससे उसकी अपूर्णता, चरम पूर्णता में परिणत हो सके।

## श्रद्धा : सम्वर्धन में समर्थ ब्रह्मविद्या

सांसारिक सुखों की उपलब्धि के लिए शरीर-बल आवश्यक [redacted] । धन हो तो प्रत्येक मनोवांछित वस्तु सरलतापूर्वक प्राप्त कर सकते [redacted] । जन-शक्ति के आधार पर अयोग्य व्यक्ति तक सत्तारूढ़ हुए हैं । चातुर्य, पद, सत्ता आदि से कोई भी व्यक्ति मन चाही इच्छाएँ पूरी कर सकता है, किन्तु ज्ञान के अभाव में यह सारी शक्तियाँ लघु प्रतीत होती हैं । ज्ञान संसार का सर्वोत्तम बल है । इसी के आधार पर दूसरी सफलताएँ प्राप्त की जा सकती हैं । अज्ञान वश मनुष्य तन-धन-जन सभी का नाश कर लेता है । दुष्कर्म में लगे व्यक्ति का कहाँ तो शरीर ठीक रहेगा, कितने दिन धन ठहरेगा और कब तक दूसरे का सहयोग-सहानुभूति व आत्मीयता मिलेगी ? मनुष्य ज्ञान के अभाव में ही बुरे कर्मों की

ओर प्रेरित होता है। इसलिए संसार में ज्ञान को ही सर्वश्रेष्ठ बल कहा गया है।

बुद्धिमान व्यक्ति कम से कम साधनों मे भी सुखी दिखाई देते हैं इसका कारण यह है अज्ञानता के दुष्परिणामों से बचे रहते हैं। उनके प्रत्येक कार्य में विवेक होता है, जो कुछ करते हैं उसे पहले भली प्रकार सोच समझ लेते हैं। पूरी तरह विचार करने के बाद किए गए कार्यों से हानि की सम्भावना प्रायः समाप्त हो जाती है और उस कार्य में पड़ने वाली बाधाओं, परेशानियों और मुसीबतों से बचने का रास्ता मिल जाता है। ज्ञान मनुष्य को जीवन का सही रास्ता प्रदर्शित करता है जिससे उसे कठिनाइयाँ कम होती और सफलताएँ अधिक मिलती हैं। कदाचित् परिस्थितिवश कोई विघ्न आ भी जाय तो अपनी दूरदर्शिता के कारण बुद्धिमान व्यक्ति उसे आसानी से हल कर लेते हैं।

ओछे कर्म करने वाले लोगों का अध्ययन करें तो पता चलता है कि ऐसे कार्य वे अधिकांश अज्ञानतावश ही करते हैं। जीवन की सही दिशा निर्माण करने की क्षमता न तो धन में है, न पद और प्रतिष्ठा में। आत्म-निर्माण की प्रक्रिया सत्कर्मों से पूरी होती है। सन्मार्ग में भी कोई स्वतः प्रवृत्त होता हो यह भी नहीं कहा जा सकता। यह प्रेरणा हमें औरों से मिलती है। दूसरों की अच्छाइयों का अनुकरण करते हुए ही महानता की मंजिल तक पहुँचने का नियम बना हुआ है। ऐसी बुद्धि किसी को मिल जाय तो उसे यही समझना चाहिए कि परमात्मा की उस पर बड़ी कृपा है। ज्ञान से मनुष्य की ऐसी ही धर्म बुद्धि जागृत होती है। इसलिए ज्ञान को परमात्मा का सर्वोत्तम वरदान मानना पड़ता है।

अज्ञानता के दुष्परिणाम से बचने का यह तरीका सबसे अच्छा है कि हम अपनी मानसिक चेष्टाओं को संसार का रहस्य समझने में लगायें। विचार करने की शक्ति हमें इसलिए मिली है कि हम सृष्टि की वस्तु-स्थिति को समझें और इसका लाभ अपने सजातियों को भी दें, किन्तु यह सब कुछ तभी सम्भव है जब हमारा ज्ञान बढ़े। जब तक हम ज्ञानवान् नहीं बनते, अज्ञानता का शैतान हमारे पीछे पड़ा रहेगा, ऐसी अवस्था मे हमारी मोह-ग्रन्थियाँ ज्यों की त्यों बँधी रहेंगी। अज्ञानता का अन्धकार और विश्व-रहस्य की जानकारी के लिए ज्ञान के प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है। इसी से भव-बन्धन टूटते हैं।

व्यक्ति के पात्रत्व की सच्ची कसौटी उसके ज्ञान से होती है। समाज में अधिक देर तक सम्मान व प्रतिष्ठा उन्हीं को मिलती है जो शीलवान, शिष्ट व विनम्र होते हैं। उद्दण्ड दुराचारी व अशिष्ट व्यक्तियों को सभी जगह तिरस्कार ही मिलता है। इन आध्यात्मिक सद्गुणों का आन्तरिक प्रतिष्ठान ज्ञान से होता है इससे सदाचार में रुचि बढ़ती है। आप्त वचन है "विद्या ददाति विनयम्, विनयम् ददाति पात्रत्ताम्" अर्थात् विद्या के ज्ञान से विनयशीलता आती है। विनयशील ही पात्रत्व के सच्चे अधिकारी होते हैं।

मानवीय प्रतिभा का विकास ज्ञान से होता है। संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं उन सभी के महान व्यक्तित्व का विकास ज्ञान से हुआ है। भगवान राम, कृष्ण, गौतमबुद्ध, ईसामसीह, सुकरात आदि सभी महापुरुषों ने ज्ञान की श्रेष्ठता को स्वीकार किया है। सांसारिक दुःखों से परित्राण पाने के लिए मानव जाति को सदैव ही इसकी आवश्यकता हुई है। शास्त्रकार ने ज्ञान की महत्ता प्रतिपादित करते हुए लिखा है—

मोक्षस्य न हि वासेऽस्ति न ग्रामान्तर मेव वा।
अज्ञान हृदयग्रन्थिर्नाशो मोक्ष इति स्मृत॥

—*शिव-गीता*

अर्थात् मोक्ष किसी स्थान विशेष में उपलब्ध नहीं होता। इसे पाने के लिए गाँव-गाँव भटकने की भी आवश्यकता नहीं। हृदय की अज्ञान ग्रन्थि का नष्ट हो जाना ही मोक्ष है। दूसरे शब्दों में स्वर्ग, मुक्ति का साधन है—ज्ञान। इसे पा लिया तो इसी जीवन में जीवन-मुक्ति मिल गई समझनी चाहिए।

इस युग में विज्ञान की शाखा प्रशाखाएँ सर्वत्र फैली हैं। प्रकाश, ताप, स्वर, विद्युत चुम्बकत्व और पदार्थों की जितनी वैज्ञानिक शोध इस युग में हुई है उसी को ज्ञान मानने की आज परम्परा चल पड़ी है। इसी के आधार पर मनुष्य का मूल्यांकन भी हो रहा है। तथाकथित विज्ञान को ही ज्ञान मान लेने की भूल सभी कर रहे हैं किन्तु यह जान लेना नितान्त आवश्यक है कि ज्ञान, बुद्धि की उस सूक्ष्म क्रियाशीलता का नाम है जो मनुष्य को सन्मार्ग की दिशा में प्रेरित

करती है । विज्ञान का फल है इहलौकिक कामना पूर्ति और ज्ञान का सम्बन्ध है अन्तर्जगत से । ज्ञान वह है जो मनुष्य को आत्म-दर्शन में लगाए ।

इसके लिए प्रमाद को त्याग कर विनम्र बनना पड़ता है जो केवल अपनी ही अहंता प्रतिपादित करते हैं, जिन्हें केवल अहंकार प्यारा है वे अपने संकुचित दृष्टिकोण के कारण ज्ञान के आनन्द और अनुभूति को जान नहीं पाते । छोटे-से-छोटे बन जाने पर ही महानता की पहचान की जा सकती है । गल्ले के भारी ढेर बाँटों से तौले जाते हैं । कपड़ों के थान मीटरों से नापते हैं । अमुक स्थान कितनी दूर है, यह किलोमीटर के पत्थर बताते हैं । ऐसे ही विराट के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए महानता से गठबन्धन करने के लिए, हमें विनम्र बनना पड़ता है । भय, लज्जा और संकोच को त्यागकर तत्परतापूर्वक अपनी चेष्टाओं को उस ओर मोड़ना पड़ता है । तब कहीं *ज्ञानवान् बनने का सौभाग्य प्राप्त होता है ।*

अपने पास धन हो तो संसार की अनेकों वस्तुएँ क्रय की जा सकती हैं । शारीरिक शक्ति हो तो दूसरों पर रोब जमाया जा सकता है । इससे दूसरों पर शासन भी कर सकते है औरो के अधिकारों का अपहरण भी कोई बलशाली कर सकता है, किन्तु विद्या किसी से खरीदी नहीं जा सकती, दूसरों से छीनी भी नहीं जा सकती । इसके लिए एकान्त में रह कर निरन्तर शोध, अध्ययन और परिवेक्षण की आवश्यकता पड़ती है । अपनी मानसिक चेष्टाओं को सरस व मनोरंजन कार्यक्रमों से मोड़कर इसमें लगाना पड़ता है । ज्ञानार्जन एक महान तप है । इसे प्राप्त करने के लिए दृढ़ता, मनस्विता और अध्ययनशीलता अपेक्षित हैं । इसे प्राप्त कर लेने के बाद खो जाने का भय नहीं रहता ।

किन्हीं बालकों में किशोरावस्था में ही अलौकिक बौद्धिक क्षमता या प्रतिभा देखते हैं तो यह सोचने को विवश होना पड़ता है कि एक ही वय, स्थान व वातावरण में अनुकूल स्थिति प्राप्त होने पर भी दो बालकों की मानसिक शक्ति में यह अन्तर क्यों होता है ? तब यह मानना पड़ता है कि एक में पूर्व जन्मों के ज्ञान के संस्कार प्रबल होते हैं दूसरे में क्षीण । भरत, ध्रुव, प्रह्लाद, अभिमन्यु आदि में जन्म से ही प्रखर ज्ञान के उज्ज्वल संस्कार पड़े थे । जगद्गुरु शंकराचार्य ने थोड़ी ही अवस्था में पूर्णता प्राप्त कर ली थी । यह उनके पिछले जन्मों के परिपक्वज्ञान के कारण ही हुआ मानना पड़ता है । इससे इस मत की पुष्टि होती है कि चिर-सहयोगी के रूप में जन्म जन्मान्तरों तक साथ रहने वाला अपना ज्ञान ही है । ज्ञान का नाश नहीं होता । वह अजर है, अमर है ।

सार्थक-जीवन की आधार-शिला ज्ञान है । बुद्धिमत्ता की सच्ची कसौटी यह है कि मनुष्य अपनी सच्ची जीवन दिशा निर्धारित करे । कुछ न कुछ करते रहें चाहे वह अहितकर ही क्यों न हो, यह बात तर्क-संगत प्रतीत नहीं होती । कर्म का महत्त्व तब है जब उससे हमें अपना जीवन लक्ष्य प्राप्त करने में सफलता मिलती है । यह प्रक्रिया मानव जीवन में सन्मार्ग पर चलने से पूरी होती है और सन्मार्ग पर देर तक टिके रहना ज्ञान-प्राप्ति से ही सम्भव है । ज्ञान ही इस संसार की सर्वोपरि सम्पत्ति है ।

## आत्मिक प्रगति के लिए उत्कृष्ट शिक्षा की आवश्यकता

हमारे जीवन-यापन की क्रियाओं में पाप का पुट प्रवेश न करने पावे, इस सावधानी के लिए ज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता है । ज्ञान से दृष्टिकोण परिमार्जित होता है, विचार-शक्ति बढ़ती है और युक्तायुक्त निर्णय की क्षमता प्राप्त होती है । क्या पाप है, क्या पाप नहीं है, इसका ज्ञान जीवन एवं कर्म-दर्शन सम्बन्धी पुस्तकों से ही प्राप्त हो सकता है और वे सद्ग्रन्थ हैं, वेद-शास्त्र गीता, उपनिषद, रामायण आदि आध्यात्मिक एवं धार्मिक पुस्तकें इन आर्ष ग्रन्थो के अतिरिक्त लौकिक विद्वानों द्वारा लिखा हुआ, एक से एक बढ़कर नैतिक साहित्य भरा पड़ा है, योग्यता तथा युग के अनुसार उसका लाभ भी उठाया जा सकता है ।

ज्ञान-गुण प्राप्त करने के लिए जिस वस्तु की प्रथम एवं प्रमुख आवश्यकता है, वह है—शिक्षा । शिक्षा ज्ञान की आधार भूमि है । जो अशिक्षित है, पढ़ा-लिखा नहीं है, वह किसी भी जीवन अथवा कर्म-दर्शन सम्बन्धी पुस्तक का अध्ययन किस प्रकार कर सकता है, किस प्रकार उनकी शिक्षाओ को समझ सकता है और किस प्रकार हृदयंगम कर सकता है ? उसके लिए तो ज्ञान से भरी पुस्तकें भी रद्दी कागज से अधिक कोई मूल्य न रखेंगी ।

अनेक लोग कबीर, दादू, नानक, तुकाराम, रैदास, नरसी यहाँ तक कि सुकरात, मुहम्मद और ईसा जैसे महात्माओं एवं महापुरुषों का उदाहरण देकर कह सकते हैं कि ये लोग शिक्षित न होने पर भी पूर्ण ज्ञानवान् तथा आध्यात्मिक सत्पुरुष थे । इनका सम्पूर्ण जीवन आजीवन निष्पाप रहा और निश्चय ही इन्होंने आत्मा को बन्धन मुक्त कर मोक्ष पद पाया है । इससे सिद्ध होता है कि निष्पाप जीवन की सिद्धि के लिए शिक्षा अनिवार्य नहीं है । ऐसा कहने वाले यह भूल जाते हैं कि अनायास ज्ञान प्राप्त कर लेने वाले महापुरुष अपने पूर्वजन्म के संस्कार साथ लेकर आते हैं ।

एक ही शरीर में जीवन की इतिश्री नहीं हो जाती । इसका क्रम जन्म-जन्मान्तरों तक चला करता है और तब तक चलता रहता है, जब तक जीवात्मा पूर्ण निष्पाप होकर मुक्त नहीं हो जाती । अनायास ज्ञानों का उदाहरण देने वालों को विश्वास रखना चाहिए कि उक्त महात्माओं ने अपने पूर्वजन्मों में ज्ञान पाने के लिए अथक पुरुषार्थ किया होता है । उसके इतने अनुपम एवं उर्वर बीज बोये होते हैं, अपने मन, मस्तिष्क एवं आत्मा को इतना उज्ज्वल बनाया होता है कि किसी समय भी पुनर्जीवन में आँख खोलते ही उनका संस्कार रूप में साथ आया हुआ ज्ञान खुल-खिलकर उनके आदर्श व्यक्तित्व में प्रतिबिम्बित एवं मुखरित हो उठता है । ज्ञान प्राप्ति का प्रारम्भिक चरण शिक्षा ही है । शिक्षा के अभाव में कोई भी व्यक्ति ज्ञानवान् नहीं बन सकता ।

जीवन पद्धति को आध्यात्मिक मोड़ दिए बिना आत्मा के विकास की सम्भावनाएँ उज्ज्वल नहीं हो सकतीं । जीवन में आध्यात्मिक गुणों की, उदारता, त्याग, सदिच्छा, सहानुभूति, न्याय-परता, दयाशीलता आदि को जागृत करने का काम शिक्षा द्वारा ही पूरा किया जा सकता है । शिक्षा मनुष्य को ज्ञानवान् ही नहीं, शीलवान् बनाकर निरामय मानवता के अलंकरणों द्वारा उसके चरित्र का शृंगार कर देती है । शिक्षा सम्पन्न व्यक्ति ही वह विवेक शिल्प सिद्ध कर सकता है, जिसके द्वारा गुण, कर्म एवं स्वभाव को वांछित रूप में गढ़ सकना सम्भव हो सकता है । अशिक्षित व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन, क्या बाह्य और क्या आन्तरिक विकारों एवं विकृतियों से भरा हुआ ऊबड़-खाबड़ बना रहता है । अशिक्षित व्यक्ति न तो जीवन की साज सँभाल सकता है और न उसका उद्देश्य ही समझ सकता है ।

अशिक्षित व्यक्ति जब सामान्य जीवन की साधारण परिस्थितियों तक का निर्वाह सफलता एवं कुशलतापूर्वक नहीं कर सकता तब वह आत्मोद्धार के प्रवीणतापूर्ण प्रयत्नों को किस प्रकार कार्यान्वित कर सकता है । कर्म कुशल एवं आध्यात्मिक कर्म-कुशलता केवल शिक्षा के बल पर ही खोजी, पायी और प्रयोग की जा सकती है, जो अशिक्षित व्यक्ति एक पत्र पढ़वाने के लिए दूसरों पर निर्भर रहता है, जो यह नहीं समझ पाता कि जिस कागज पर उसने अँगूठा छापा है, उसमें क्या लिखा है, जिस मनीआर्डर को वह प्राप्त कर रहा है, उसमें कितने रुपये लिखे हैं । वह भला आत्मिक विकास के सूक्ष्म उपायों को क्या जान सकता है ? उसके लिए आत्मा-परमात्मा, प्रकृति-पुरुष, मोक्ष-मुक्ति, कर्म-अकर्म, पाप-पुण्य आदि की परिभाषाएँ ऐसी अनबूझ ही रहती हैं जैसे किसी बालक के लिए पक्षियों का कलरव । वह केवल इतना ही अनुभव कर सकता है यदि वह जान सके, यह कुछ है तो अच्छा, किन्तु वह यह नहीं समझ सकता कि इन सबका अर्थ और उद्देश्य का सम्बन्ध उसके जीवन से क्या है ?

पशु क्या है ? एक प्राणी और मनुष्य—वह भी एक प्राणी है । एक चतुष्पद और दूसरा द्विपद । दोनों खाते खेलते और एक से अनेकता सम्पादित करते हैं । दोनों भूख प्यास अनुभव करते हैं और दोनों नींद से निमीलित होते हैं । दोनों स्वार्थ के लिए लड़ते-झगड़ते और दोनों ही समान रूप से अपने सामान्य हित-अनहित को जानते हैं । जैसे अन्य पशु-पक्षियों को दुःख-सुख की अनुभूति होती है, उसी प्रकार मनुष्य को भी । जीवों के असंख्यों आकार-प्रकारों में से एक मनुष्याकार भी है । हाथ-पैर, नाक-कान, पेट-पीठ सम्बन्धी कायिक कौतूहल पशु और मनुष्य प्राणी के बीच किसी मूल एवं महत्त्वपूर्ण भेद की प्रवक्ता नहीं है ।

संसार के अन्य प्राणियों से भिन्न मानव-प्राणी मनुष्य की यथार्थक संज्ञा का अधिकारी तब ही बनता है, जब वह प्रकृत प्रेरणाओं एवं प्रवृत्तियों का परिष्कार कर आध्यात्मिक आलोक में उनका प्रयोग कर सकने की योग्यता विकसित कर लेता है अन्यथा, अन्य प्राणियों और मानव प्राणी में कोई अन्तर नहीं है । जिस प्रकार

जीव जगत् में किसी को गाय, बैल, घोड़ा, गधा, हाथी, हिरन आदि अभिधानों से सम्बोधित किया जाता है, उसी प्रकार इस द्विपदगामी को मनुष्य भी नर पशु नाम से पुकारा जाता है ।

अन्य जीव-जन्तुओं तथा मनुष्य के बीच जो मूल एवं महत्त्वपूर्ण अन्तर है, वह यह कि मनुष्य 'आत्म-जीवी' है, जबकि अन्य जीव 'शरीर जीवी' होते हैं । उनकी सारी इच्छाएँ, अभिलाषाएँ एवं आवश्यकताएँ केवल शरीर तक ही सीमित रहती हैं, जबकि मनुष्य की अभिलाषाएँ आध्यात्मिक और आवश्यकताएँ आत्मिक स्तर तक जा पहुँची हैं । वह विवेक-बुद्धि अन्य प्राणियों में नहीं होती, जिसके प्रसाद से मनुष्य ने आत्मा को जाना-पहचाना और उसके उद्धार के लिए प्रयत्न पथ का प्रस्तुतन किया ।

आत्मा की परिचायक इस विवेक, बुद्धि का विकास जड़तापूर्ण स्थिति में नहीं हो सकता । इसके लिए मनुष्य को साक्षर ही नहीं, शिक्षित होना होगा । अशिक्षा का अभिशाप पाप की प्रेरणा देकर मनुष्य जीवन का उद्देश्य ही नष्ट कर देता है । कर्माकर्म का ज्ञान न होने से अशिक्षित व्यक्ति की अधिकाश क्रियाएँ अंधकार की ओर ही ले जाने वाली सिद्ध होती हैं । जड़ता जन्य प्रेरणाओं में काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार के विकार तथा ईर्ष्या द्वेष स्वार्थ, अदय एवं अनाधिकारिता का विष व्याप्त रहता है । जिससे मनुष्य की आत्मा प्रबुद्ध होने के स्थान पर अधिकाधिक निश्चेष्ट होती जाती है । अन्धकार में चलने वाला व्यक्ति जिस प्रकार कदम-कदम पर ठोकर खाता चलता है, उसी प्रकार अन्तर में अज्ञान का अन्धकार लेकर चलने वाला अशिक्षित व्यक्ति संसार पथ पर अविस्खलित गति से नहीं चल सकता । प्रतिपल पतन का भय उसे कभी भी आत्मोद्धार की दिशा में बढ़ने देगा, ऐसी आशा कर सकना सम्भव नहीं ।

जो अशिक्षित है, अज्ञानी है और इस अभिशाप को मिटा डालने में रुचि नहीं रखता उसे उस आत्मा का अमित्र ही कहा जायेगा, जो परमात्मा का पावन अंश है और शरीर साधन को सक्रिय रखने के लिए चेतना रूप से मनुष्य में इस उद्देश्य से स्थापित की गई है कि वह उसे जाने और उसके माध्यम से विश्व-ब्रह्माण्ड के कारण भूत परमात्मा को पहचान कर मुक्ति पद का अधिकारी बने ।

जो आत्मा की जिज्ञासा नहीं करता और उसे मुक्त करने के प्रयत्नों की ओर से विमुख है, वह जन्म-जन्मान्तरों तक इस प्रकार ही दुःख भोगता रहेगा, जिस प्रकार वर्तमान में भोग रहा है । ज्ञान के अतिरिक्त इस भ्रामक भव रोग की अन्य औषधि नहीं, जिसकी प्राप्ति विद्या बल पर ही की जा सकती है ।

लोक की सफलता और परलोक की संराधना के लिए शिक्षितों को ज्ञान और अशिक्षितों को शिक्षा की ओर अग्रसर होना ही चाहिए । परिस्थितिवश जिन्हें शिक्षा का अवसर न हो, वे जिस प्रकार भी हो सकें साक्षरता के अक्षत तो डाल ही लें । इससे उनके सूक्ष्म अन्तःकरण में विद्या के बीज पड़ जायेंगे, जोकि संस्कार रूप में उनके साथ जाकर पुनः अथवा पुनरपि जन्म में पुष्पित एवं पल्लवित होकर रहेंगे ।

शिक्षण का दूसरा क्षेत्र है—आत्म-ज्ञान, धर्म, अध्यात्म । इसे विद्या के नाम से सम्बोधित किया जाता है । शिक्षा और विद्या में मौलिक अन्तर है । शिक्षा उसे कहते हैं जो जीवन के ब्राह्य प्रयोजनों को पूर्ण करने में सुयोग्य मार्गदर्शन करती है । साहित्य, शिल्प, कला, विज्ञान, उद्योग, स्वास्थ्य, समाज आदि विषय इसी शिक्षा परिधि में आते है । विद्या का क्षेत्र इससे आगे का है—आत्म-बोध, . आत्म-निर्माण, कर्त्तव्य-निष्ठा, सदाचार, समाज-निष्ठा आदि वे सभी विषय कहे जाते हैं जो वैयक्तिक चिन्तन, दृष्टिकोण एवं सम्मान में आदर्शवादिता और उत्कृष्टता का समावेश करते हो । स्वार्थपरता को घँटाते और लोक निष्ठा को बढ़ाते हो । धर्म और आध्यात्म का सारा ढाँचा मात्र इसी प्रयोजन कि लिए तत्वदर्शियों ने खड़ा किया है ।

ईश्वर भक्ति, उपासना, योग-साधना, धर्मानुष्ठान, कथा-कीर्तन, स्वाध्याय, सत्संग, दान, पुण्य आदि का जो जितना कुछ भी धर्म कलेवर खड़ा है, इस सबके पीछे एक ही उद्देश्य है मनुष्य व्यक्तिवादी पशु-प्रवृत्तियों से छुटकारा पाये और समाज-निष्ठा के परमार्थ मार्ग को अपनाकर उदार एवं लोक सेवी प्रक्रिया अपनाये । इस मूल प्रयोजन की ओर मनुष्य को अग्रगामी बनाने के लिए अनेक कथा-पुराण बनाये गए, धर्म शास्त्र रचे गए, साधन विधान बनाये गए, स्वर्ग नरक के भय प्रलोभन प्रस्तुत किए गए, अदृश्य जगत के लोक-लोकान्तरों के, देव-दानवों के प्रतिपादन किए गए ।

मत-मतान्तरों के बीच इन प्रतिपादनों में भारी अन्तर पाया जाता है पर मूल प्रयोजन सबका एक है, मनुष्य की पशु प्रवृति को, व्यक्तिवादी स्वार्थपरता को, समाजनिष्ठ परमार्थ को धर्म धारणा में विकसित करना ।

इसे एक दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि शिक्षा क्षेत्र की तरह विद्या क्षेत्र में भी रूढ़िवादिता का साम्राज्य है । धर्म पुरोहित अब केवल आवरण की प्रतिष्ठा कर रहे हैं और मूल उद्देश्य को भुला रहे है । अमुक धर्मानुष्ठान का कर्मकाण्ड पूरा कर देने से, कथा-कीर्तन के श्रवण, नदी-सरोवर के स्नान, तीर्थ, मन्दिर दर्शन, जप-तप मात्र को स्वर्ग मुक्ति का आधार घोषित कर दिया गया है । आन्तरिक दृष्टि से मनुष्य घोर व्यक्तिवादी, समाज विरोधी रह कर भी इस धर्मावरण की सहायता से सद्गति प्राप्त कर सकता है, ईश्वर का कृपापात्र बन सकता है । आज इसी प्रतिपादन की धूम है । इसे ज्ञान के नाम पर अज्ञान का प्रसार ही कहना चाहिए । प्राण रहित लाश की तरह धर्म का आवरण भर खड़ा रखा जा रहा है और यह भुलाया जा रहा है कि यह विशाल आवरण आखिर खड़ा किस लिए किया गया था ।

आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा के साथ-साथ विद्या के क्षेत्र में भी क्रांति उपस्थित की जाय । ढर्रे की शिक्षा भारभूत है । भौतिक जीवन की गुत्थियों को सुलझाने की क्षमता जो शिक्षा हमे प्रदान न कर सके उसे उपयोगी कैसे कहा जा सकता है ? इसी प्रकार जो विद्या मनुष्य के गुण, कर्म, स्वभाव में उत्कृष्टता एवं आदर्शवाद का समावेश न करे, व्यक्तिवादी स्वार्थपरता से विरत कर समूहवादी परमार्थ में संलग्न न करें, उसे भी भारभूत ही कहना चाहिए । इस निष्प्राण धर्म कलेवर से केवल व्यवसायियों का लाभ हो सकता है । जन साधारण को तो उल्टे अज्ञान में भटकते हुए अपने धन और समय की बर्बादी का घाटा ही उठाना पड़ेगा । विद्या क्षेत्र को इस विडम्बना का भी अब अन्त ही किया जाना चाहिए । दिवा स्वप्नों में भटकने भटकाने की प्रवृत्ति को आगे नहीं बढ़ने देना चाहिए ।

आत्म-विद्या का धर्म धारणा का स्वरूप सार्थक और सोद्देश्य होना चाहिए । कथा पुराण एवं धर्मानुष्ठान भले ही किसी रूप मे हो पर उनका लक्ष्य उतने भर से आत्म-लाभ मिल जाने के प्रतिपादन से ऊँचा उठकर यह रहना चाहिए कि विश्व मानव को भगवान मान कर उसकी स्थिति ऊँची उठाने में योगदान देकर सच्ची भक्ति भावना का परिचय दिया जाय । प्रेरणा युक्त धर्म कलेवर की उपयोगिता ही मानवीय विवेक को स्वीकार हो सकती है । अनास्था के वातावरण को बदल कर आस्तिकता की ओर जन-मानस को तभी मोड़ा जा सकता है जब आत्म-विद्या का, धर्म धारणा का स्वरूप रूढ़िवादी न रह कर मनुष्य के आन्तरिक उत्कर्ष में सहायक सिद्ध हो सके । चिर अतीत में तत्वदर्शियों ने इस समस्त प्रक्रिया का सृजन इसी प्रयोजन के लिए किया था, बहुत भटक लेने के बाद अब हमे बदलना चाहिए और धर्म धारणा को परमार्थ प्रयोजन पर केन्द्रित करना चाहिए ।

धर्म के आधार पर विकसित होने वाली परमार्थ प्रवृत्ति को लोक-मंगल में नियोजित करना आत्म-विद्या का मूलभूत प्रयोजन है । उसे इन दिनों पूरी तत्परता के साथ इसी भूल सुधार में लगना चाहिए । पिछले दिनों के भटकाव को सुधारना ही इन दिनों धर्म क्षेत्र के लिए सर्वोत्तम प्रायश्चित होगा । खोई हुई आस्था और प्रतिष्ठा को वह इसी आधार पर पुनः वापस लाने में समर्थ होगा ।

जिन्हें सचमुच विद्या से प्रेम है उन्हें वर्तमान धर्म शिक्षा मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करने के लिए आगे आना चाहिए । बुद्धि, प्रतिभा, समय, श्रम और धन का जो जितना बड़ा अंश लोक-मंगल के लिए नियोजित कर सके । उसे उतना ही बड़ा धर्मात्मा माना जाय । पिछले अन्धकार युग की सामाजिक एवं बौद्धिक विकृतियाँ इतनी अधिक अभी भी भरी हुई हैं कि उनकी सफाई में भारी प्रयत्न करने की आवश्यकता है । उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्शवादी कर्तृत्व को जन-साधारण के दृष्टिकोण, स्वभाव एवं अभ्यास में ध्यान दिलाने के लिए घनघोर प्रयास करने होंगे । इसके लिए प्रत्येक धर्म प्रेमी को सामयिक कर्तव्य समझ कर सर्वतो भावेन संलग्न होना चाहिए । धर्म शिक्षा का, आत्म-विद्या का प्रशिक्षण इन दिनों इसी केन्द्र पर केन्द्रित रहना चाहिए । इसी प्रयास को आत्म-कल्याण, स्वर्ग-मुक्ति एवं ईश्वर प्राप्ति की सर्वोत्तम युग साधना बनाया जाना चाहिए । धर्म और ईश्वर के नाम पर खर्च होने वाला प्रत्येक पैसा और समय का प्रत्येक क्षण इसी केन्द्र पर केन्द्रित किया जाना चाहिए ।

वानप्रस्थ परम्परा इसीलिए थी कि अधेड़ होने तक मनुष्य अपने पारिवारिक उत्तरदायित्वों से निवृत्त हो ले और जीवन का उत्तरार्द्ध लोक-मंगल के लिए उत्सर्ग करे । इस परम्परा को पुनर्जीवित करने की आवश्यकता है ताकि सुयोग्य, अवैतनिक, भावनाशील, अनुभवी, सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं की सेना का उद्‌भव फिर शुरू हो जाय और उसके द्वारा सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति की सर्वतोमुन्खी नव निर्माण की आवश्यकता को पूरा किया जाना सहज ही सम्भव हो सके ।

शिक्षा और विद्या में परिवर्तन और सुधार ही मानवीय प्रगति का मूलभूत आधार है । विश्व-कल्याण और विश्व-शान्ति के उभयपक्षी, प्रयोजन, शिक्षा और विद्या के परिष्कार पर अवलम्बित हैं । इस तथ्य को जितनी जल्दी समझ लिया जाय उतना ही उत्तम है ।

शिक्षा हमें विद्योपार्जन के योग्य बनाती है-। व्यक्तित्व विकास का प्राथमिक सोपान है । विद्या का उद्देश्य सूक्ष्म जगत में प्रवेश की अनुभूति, सम्वेदना की सामर्थ्य उत्पन्न करना है । शिक्षा स्थूल जगत के व्यावहारिक क्रिया-कलापों की विधि सिखाती है । विद्या सूक्ष्म जगत के भावनात्मक विस्तार का परिचय कराती और आस्थाओं को उत्कृष्ट परिपक्व बनाती है । शिक्षा पदार्थ से सम्बन्धित जानकारी देती है । विद्या चेतना की अनुभूति, ज्ञान में समर्थ बनाती है । शिक्षा का क्षेत्र है भौतिक जगत विद्या का क्षेत्र इस भौतिक जगत से परे का कोई रहस्यमय संसार नहीं, इसी भौतिक जगत के अन्तराल में निरन्तर क्रियाशील सूक्ष्म जगत है जो चेतना, भावना एवं आस्था द्वारा ही श्रेय है ।

सूक्ष्म जगत के जीवन पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थों में सी. डब्ल्यू. लैड बीटर की "दि अदर साइड ऑफ डैथ" और श्रीमती ऐनी बीसेन्ट की 'लाइफ आफ्टर डैथ' अधिक प्रख्यात है । उन्होंने भौतिक जगत के अन्तराल में विद्यमान सूक्ष्म लोक के अस्तित्व पर विस्तार-पूर्वक प्रकाश डाला है और कहा है कि उसमें आत्माएँ सूक्ष्म शरीर में उसी प्रकार निवास करती हैं जैसे कि हम लोग स्थूल शरीर से इस प्रत्यक्ष संसार में जीवन-यापन करते हैं । मैडम ब्लावटस्की, कर्नल आल्काट आदि ने इस सन्दर्भ में अपनी मान्यताओं का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है ।

सात लोकों की तरह आत्मा के भी सात शरीर हैं । स्थूल शरीर को क्रिया लोक कह सकते हैं । सूक्ष्म शरीर को विचार लोक और कारण शरीर को भावना लोक । ये मोटी तीन पर्तें हैं, पर यदि इनका बारीकी से विश्लेषण किया जाय तो वे तीन न रहकर सात हो जाती हैं । इनके विभिन्न नाम हैं । इनमें से प्रत्येक पर्त अधिक शक्तिशाली और अधिक सम्वेदनशील है । हम स्थूल से सूक्ष्म की पर्तों में जितना अधिक प्रवेश करते हैं उतना ही अधिक गहरी सशक्तता का समुद्र लहलहाता दीखता है ।

चेतना के विकास का लक्षण यही है कि ससीम से आगे बढ़कर असीम में प्रवेश करें । चिन्तन की दृष्टि से इसे आत्म-विस्तार कह सकते हैं । संकीर्ण स्वार्थपरता की परिधि तोड़कर "आत्मवत् सर्व भूतेषु" की मान्यता बना लेने वालों का आचरण विश्व नागरिक जैसा होता है और वे परमार्थ प्रयोजनों को ही वास्तविक स्वार्थ साधन मानते हैं । वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना से ओत-प्रोत होकर वे अपना क्रिया-कलाप इस स्तर का बनाते है । जिसके आधार पर लोक-मंगल के महान प्रयोजनों में अपनी क्षमता संलग्न रह सके । यह आत्म-विकास या आत्म विस्तार हुआ । आध्यात्मवादी इसी दिशा में प्रयत्नशील रहते और आगे बढ़ते हैं ।

बात जानने तक ही सीमित नहीं है । सूक्ष्म प्रकृति पर जितनी मात्रा में आधिपत्य होता जाता है । उसी अनुपात से उसकी विचित्र शक्तियों का उपयोग करने का अधिकार भी मिल जाता है । जिस प्रकार स्थूल सम्पत्ति का लाभ दूसरे को दिया जा सकता है उसी प्रकार सूक्ष्म जगत की विभूतियों से भी अपने प्रिय पात्रों को लाभान्वित किया जा सकता है । यह सामर्थ्य वरदान की शक्ति कहलाती है । इसी प्रकार कुपित स्थिति में अपनी मानसिक चेतना का प्रहार करके किसी की हानि भी की जा सकती है । इसे शाप की शक्ति कहते हैं । अभिशप्त व्यक्तियों अथवा पदार्थों की दुर्गति के कितने ही उदाहरण समय-समय पर मिलते रहते हैं ।

ब्रह्म चेतना में प्रवेश करके हम उच्चस्तरीय अतिमानवी, उत्कृष्ट भाव, चिन्तन उपलब्ध कर सकते हैं । इस आधार पर मनुष्य को उन श्रद्धा सम्वेदनाओं

का अनुदान मिलता है जिन्हें देव स्तर ही कहा जाता है । इस अवतरण में व्यक्ति अधिकाधिक पवित्र एवं सुसंस्कृत बनता जाता है । आत्मीयता का विस्तार होने से संकीर्ण स्वार्थपरता झड़ने लगती है और उसके स्थान पर "सब को अपने में और अपने को सब में" देखने का दृष्टिकोण विकसित होता है । ऐसी स्थिति में दूसरों के दुःखों को बँटा लेने और अपने सुखों को बाँट देने की नीति अपनाने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह जाता । दया, करुणा, उदारता जैसी सद्भावनाएँ अन्तःकरण में उपजती हैं और सद्भावनाओं का विस्तार होने, लोक-मंगल के प्रति अधिकाधिक रुचि बढ़ने, परमार्थ परायण सेवा सहकारिता चरितार्थ करने में रस लेने की प्रवृत्ति स्वयंमेव बढ़ती चली जाती है । ऐसे व्यक्तियों में सहृदयता, सज्जनता, आदर्शवादी चरित्र निठा भरती और बढ़ती चली जाती है । सत्प्रयोजनों को अपनाने में एकाकी बढ़ चलने का शौर्य साहस विकसित होता है । अनीति अपनाने वाली दुनिया का बहुमत एक ओर और उसकी नीति निठा एकाकी अपने स्थान पर अंगद के पैर की तरह अड़ी रह सकती है । अविवेक का अन्धकार उसे प्रभावित नहीं करता । कौन क्या कहता है । उसे इसकी तनिक भी परवाह नहीं होती । ईमान और भगवान का अनुकूल रहना उसे अपने क्रिया-कलाप को अपनाने में पर्याप्त प्रतीत होता है, अन्य लोग समर्थन करते है या विरोध इसकी उसे रत्ती भर भी चिन्ता नहीं रहती । ब्रह्मपरायण व्यक्ति की आत्म-चेतना उच्चस्तरीय सद्भावनाएँ और सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ती और भरती चली जाती है । अति मानव में यही विशेषताएँ होती है । देवात्माओं में यही गुण पाये जाते है ।

मनुष्य अन्य प्रणियों से ऊँचा अपनी शरीर रचना अथवा बुद्धिकौशल के कारण नहीं बना है । उसकी प्रगति का मूल कारण सहकारिता, सद्भावना एवं उदार चरित्र निठा जैसी सद्भावनाओं में सन्निहित है । इन्हीं विशेषताओं के कारण उनके लिए परिवार समाज एवं शासन की संरचना करना सम्भव हुआ । सामूहिक प्रयत्नों का ही फल है कि शिक्षा, चिकित्सा व्यवस्था, उत्पादन, व्यवसाय, विज्ञान जैसी उपलब्धियाँ सम्भव हो सकीं । पारस्परिक आदान-प्रदान की विशेषता ने पूर्वजों के अनुभवों से अगली पीढ़ियों को लाभान्वित किया है । उपार्जन का लाभ सबने मिल-जुल कर उठाया है । स्वार्थपरता, लिप्सा और उच्छृंखलता को नैतिक अनुशासन के सहारे कुचला और उदार सहकारिता को कष्ट सहकर स्वीकार किया है । मानवी प्रगति के यही आधार हैं । ऐसी ही उत्कृष्ट भाव सम्वेदनाओं को मानवता कहा जाता है ।

शरीर, बल और बुद्धि कौशल की दृष्टि से अन्य प्राणी भी अपनी-अपनी स्थिति और आवश्यकता के अनुरूप पर्याप्त सामर्थ्य व सम्पन्न है । हाथी, ह्वेल और सिंह की तुलना में मनुष्य का शरीर बल तुच्छ है । हिंस्र पशुओं की आक्रमण चतुरता और शाकाहारियों की आत्म-रक्षण कुशलता के दाँव-पेचों को देखकर लगता है उस क्षेत्र में उनका बुद्धि वैभव मनुष्य से पीछे नहीं आगे ही है । ऋतु प्रभावों एवं क्षुधा पिपासा जैसी शारीरिक आवश्यकताओं को सहन करने की तितीक्षा शक्ति अपेक्षाकृत पशुओं में अधिक है । बन्दर की तरह पेड़ पर चढ़ना, हिरन की तरह कुलाँच भरना, पक्षियों की तरह आकाश में उड़ना, मनुष्य से कहाँ बन पड़ता है । चींटी, दीमक, मकड़ी, मधुमक्खी जैसे छोटे-कीड़ो में ऐसी कितनी ही विशेषताएँ पायी जाती हैं, जो मनुष्य को शायद कभी भी उपलब्ध न हो सकेंगी । कितने ही पक्षी अपने नियत समय पर हजारों मील लम्बी यात्राओं पर निकलते हैं और बिना राह भूले अभीष्ट स्थानों पर प्रवास की अवधि पूरी करके अपने पूर्व स्थानों पर वापस आ जाते हैं । मनुष्य इन विशेषताओं की दृष्टि से काफी पीछे है । फिर अन्य प्राणी क्यों प्रगति पथ पर आगे न बढ़ सके और मनुष्य सृष्टि का मुकुटमणि बन गया ? इस प्रश्न का एक ही उत्तर है—उसकी सद्भाव, सम्पन्नता, आत्मिक उत्कृष्टता ।

आध्यात्म विज्ञान का, ब्रह्मविद्या का एक मात्र लक्ष्य इस सद्भाव सम्पदा की मात्रा बढ़ाते चलना है । ईश्वर का अधिकाधिक सघन सम्पर्क इसी प्रयोजन के लिए अभीष्ट होता है । ईश्वर प्राप्ति के लिए की जाने वाली विविध साधनाएँ किस मात्रा में सफल हो रही हैं इसकी एक मात्र कसौटी यही है कि उस व्यक्ति में अन्तःकरण मे निर्मलता एवं कोमल सम्वेदनाओं का परिमाण कितना बढ़ा, यदि भीतरी स्वार्थपरता और निष्ठुरता यथावत् बनी रहे तो समझना चाहिए कि

ईश्वर प्राप्ति के लिए किए जाने वाले साधनात्मक प्रयत्नों का कोई परिणाम नहीं निकला । मनुष्य की श्रेष्ठता का यदि आधार ढूँढ़ा जाय तो वह उसकी उन प्रदीप्त सद्भावनाओं में ही देखा जा सकता है जो अपनी प्रखरता के कारण सत्प्रवृत्तियों में परिणत हुए बिना रह ही नहीं सकती । ब्रह्म के असंख्य क्रिया-कलाप हैं पर जब परमात्म-चेतना का आत्म-चेतना के साथ सम्बन्ध होता है तो बिजली के दोनों तार छूने पर चिंगारियाँ निकलने की तरह उस श्रेष्ठता के ही लक्षण प्रकट होते हैं जिन्हें उत्कृष्ट आदर्शवादिता कहा जाता है । पशु और मनुष्य के बीच इसी विशेषता के अभिवर्धन का अन्तर होता है । इसे अतिरिक्त ईश्वरीय अनुग्रह या अनुदान कह सकते हैं ।

बुद्धि कौशल ने सद्भावों को बढ़ाया या सद्भावों से बुद्धि कौशल बढ़ा इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ते समय बुद्धि चमत्कार का पक्ष लेने को जी करता है क्योंकि प्रत्यक्ष उपयोग उसी का अधिक होता है । सुविधा साधनों के उपार्जन अभिवर्धन में बुद्धि ही अग्रिम मोर्चे पर खड़ी दीखती है इसलिए उसको प्रमुखता दी जाय ऐसा जी करता है किन्तु अधिक गम्भीरता से चिन्तन करने पर तथ्य सर्वथा उलट जाते हैं । जितनी गहराई में उतरते हैं उतनी ही यह सच्चाई सामने आती है कि मनुष्य की मौलिक विशेषता सद्भावना है इसीलिए उसकी इस प्रधानता-महत्ता को मनुष्य का नाम दिया जाता रहा है ।

सच्चे ब्रह्म परायण व्यक्ति की सत्ता सन्त, सज्जन, परमार्थ परायण ब्राह्मण, आदर्श के मूर्तिमान प्रतीक ऋषि, युग साधना में निरत महामानव लोक-मंगल के लिए अपना सर्वस्व लुटा देने वाले भूसुर के रूप मे अपनी प्रखर उत्कृष्टता का परिचय देती है । विडम्बना रचने वाले और भ्रम जंजालों में उलझे रहने वालों की बात दूसरी है, वे चित्र-विचित्र कर्मकाण्डों में स्तवन उपहारों से ईश्वर को प्रसन्न करने और उससे तरह-तरह की मनोकामनाएँ पूरी कराने के ताने-बाने बुनते रहते हैं । इन दिनों अन्य क्षेत्रों में फैले हुए बुद्धि विभ्रम की तरह आध्यात्म क्षेत्र में भी ऐसी ही विडम्बना चरम सीमा पर पहुँची हुई है और लोग ईश्वर को अपनी चालबाजियों से फुसला लेने के लिए नित-नये जाल बुनते रहते हैं । इस बाल-बुद्धि से किसे कितना प्रतिफल मिलता है । इसे तो वे ही जानें पर तथ्य यह है कि यथार्थवादी ईश्वर भक्ति का परिणाम एक ही है अन्तःकरण की सद्भाव सम्पदा का अधिकाधिक विस्तार और परिष्कार । यह वैभव जिन्हें भी प्राप्त होता है वे देव-मानव होकर जीते हैं । अपने समीपवर्ती वातावरण को स्वर्ग तुल्य सुख-शान्ति से घिरा-भरा बनाते हैं । स्वयं असीम आत्म-सन्तोष और सघन जन-सम्मान प्राप्त करते हैं । समस्त विश्व उनकी कृतियों का कृतज्ञ रहता है । जन-मानस को उनके द्वारा प्रबल प्रेरणा होती है और सामयिक विकृतियों के समाधान में वे आशातीत योगदान देते हैं । जीवन को सच्चे अर्थों में धन्य बनाने की यही सफल साधना है ।

ऐसे व्यक्तियों की चेतना मल आवरण विक्षेपों से रहित होकर जो निर्मलता प्राप्त करती है उससे ब्रह्म चेतना की यथेच्छ मात्रा अपने में धारण कर लेना सम्भव हो जाता है । इस सम्पदा का परिचय देवात्माओं के ऐसे महान कृत्यों द्वारा मिलता है जिन्हें सामान्य स्तर के व्यक्ति असामान्य, असम्भव और चमत्कारी मानते हैं । कभी-कभी वे भौतिक क्षेत्र में भी अपनी विशिष्टता के ऐसे परिचय देते हैं जिन्हें ऋद्धि-सिद्धि की विशिष्टता कहा जा सके ।

अन्तरात्मा में बढ़ती हुई विवेकशीलता जब दूरदर्शिता अपनाने और दृष्टिकोण को परिष्कृत करने में सफल होने लगे तो जानना चाहिए ब्रह्म चेतना का अवतरण हो रहा है और मनुष्य आत्मिक प्रगति की दिशा में निश्चित रूप से बढ़ रहा है । ऐसे व्यक्तियों की इच्छा, आकांक्षाएँ, वासना, तृष्णा की क्षुद्रता से ऊपर उठती ही हैं । उन्हें लोभ, मोह की कीचड़ में सड़ते रहने की दयनीय दुर्दशा असह्य हो उठती है । पेट और प्रजनन तक जीवन सम्पदा को नियोजित किए रहने मे उन्हें घाटा दीखता है अस्तु वे अपनी गतिविधियों का नये सिरे से निर्धारण करते है । विश्व मानव की सेवा साधना में ही उन्हें जीवन सम्पदा की सार्थकता दीखती है अस्तु निर्वाह की आवश्यकताओं को सीमित करते हैं, सादगी से रहते हैं और मितव्ययिता बरतते है । परिवार के पिछले उत्तरदायित्वों के निर्वाह में ही जब कमी रह जाती है तो नये बच्चे-कच्चे पैदा करते जाने की मूर्खता तो उनसे बन ही नहीं पड़ती । भौतिक एषणाओं को निग्रहीत करने के उपरान्त ही इतनी कुछ

सामर्थ्य बच सकती है जिसके सहारे आत्मिक प्रगति के लिए, ईश्वर प्राप्ति के लिए, अनिवार्य रूप में आवश्यक आदर्शवादी परमार्थ परायणता को अपनाया जाना सम्भव हो सके । सच्ची ईश्वर भक्ति इसी प्रकार किसी सच्चे भक्त पर अवतरित होती है और जीवन की दिशा धारा बदल डालने के रूप में अपने अस्तित्व का परिचय देती है ।

जीवनधारा को उत्कृष्टता की इस दिशा में मोड़ देना ही विद्या का लक्ष्य है । उसे ही ब्रह्म-विद्या या आत्म-विज्ञान कहा जाता है ।

## जीवन को भव्य बनाने वाली, विद्या

ईश्वर उपासना का प्रभाव मनुष्य के जीवन निर्माण में किस प्रकार होता है इसको समझने के लिए आत्मा के स्वरूप और उसका परमात्मा के साथ क्या सम्बन्ध है यह जानना बहुत जरूरी है । जब मनुष्य अपने आपको शरीर तथा इन्द्रियों से पृथक देखता है और आत्मिक दृष्टिकोण से समझने का प्रयत्न करता है तो उसकी बुद्धि में एक नये ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न होता है । वह समझता है कि यह इन्द्रियाँ यह शरीर आत्मोत्थान के महत्त्वपूर्ण साधन मात्र हैं अतः इनका सदुपयोग भी करना चाहिए, पर इनके विषय में आसक्त न होना चाहिए । इस प्रकार की धारणा जब तक नहीं बन जाती तब तक मनुष्य को विचार-विभ्रम होता रहता है, पर जैसे ही इस प्रकार की निश्चयात्मक बुद्धि बनी कि यह शरीर तो कोई नष्ट हो जाने वाली वस्तु है, वहीं मृत्यु का भय छूट जाता है, भय और प्रलोभनों से मुक्त होना अथवा आत्मा के स्ववश होना ही जीवन-मुक्ति है इसी का नाम ब्रह्म-विद्या है ।

वेद और उपनिषदों में जो ज्ञान संग्रहीत है उससे मालूम पड़ता है कि ऋषियों ने इसी विद्या के प्रकाश में अनन्त ऐश्वर्यशाली परमात्मा का साक्षात्कार किया । मनुष्य के साथ उस परमात्मा का क्या सम्बन्ध है इसे भी स्थान-स्थान पर प्रकट किया है । परम्परा, प्रतिपादन पद्धति तथा ज्ञातव्य आदि के भेद से इन वर्णनों में अनेक रूपता तो हैं, पर उनमें विरोधाभास नहीं है । कुछ अंश तो एक-दूसरे के पूरक हैं, कुछ में केवल साधना पद्धति की भिन्नता है, तथापि ब्रह्म-विद्या के इन अनेक स्वरूपों के अन्तस्तल में स्वरूपगत एकता बनी हुई है । ब्रह्म की शक्ति और उसके जीवन को भव्य बनाने के सम्बन्ध में उनमें कहीं भी मतभेद नहीं है । परमात्मा की उपासना चरित्र निर्माण का अत्यन्त आवश्यक अंग है, यह बात सब स्वीकार करते हैं ।

परमात्मा की दिव्य-शक्ति का अवतरण मनुष्य के जीवन में किस प्रकार होता है इस सम्बन्ध में ऋषियों की सैद्धान्तिक मान्यता यह है—

या आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासतेप्रशिषं यस्य देवाः
यस्यच्छाया अमृतयस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
—यजु.२५।१३

"यह परमेश्वर उपासनीय है क्योंकि उसके चिन्तन से मनुष्य को आत्मा के स्वरूप को समझने में सहायता मिलती है । आत्म-ज्ञान उसके अन्दर महान बल पैदा करता है सारे विश्व में उसका महत्त्व आच्छादित है पर उसे पाते वही हैं जो उसके प्रशासन में रहते हैं अर्थात् उसकी आज्ञाओं का पालन करते हैं ।"

ब्रह्म-विद्या का सम्पूर्ण गूढ़ तत्व इस मन्त्र में निचोड़ कर रख दिया है । यह सच बात है कि जब तक लोगों में ऐसा विश्वास या जिज्ञासा नहीं पैदा होती कि इस विश्व का अन्तिम निर्णायक कोई परमेश्वर है तब तक वे केवल सांसारिक कर्मों में, लौकिक और भौतिक सुखों की उपलब्धि में ही लगे रहते हैं ईश्वर की बात और उसके अस्तित्व पर विश्वास होते ही भौतिक दृष्टिकोण का एकाएक विराम होता है और उसकी मानसिक चेष्टाएँ अन्तर्मुखी होने लगती है । मनुष्य के विचार और अनुभव का क्षेत्र जितना अधिक विकसित होता है उतना ही उसे इन्द्रियों और उसके विषयों की निस्सारता समझ में आने लगती है । जिन कार्यों में लोग प्रमादवश अपनी शक्ति और सामर्थ्य ही गवाँया करते है वह उन्हें रोक कर आत्म-शोधन की साधना में लगता है । फलस्वरूप उसकी आत्मिक प्रगति होती है और वह अपने सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप को भी समझने लगता है ।

आत्मा की मान्यता जितनी ही दृढ़ होती जाती है मृत्यु का भय उतना ही दूर होता जाता है इससे उसके हृदय में बल का संचार होता है किन्तु इस समय मन की अधोगामी प्रवृत्तियाँ भी चुप नहीं रहतीं । संसार के दूषित तत्व भी उसे अपनी ओर आकर्षित करते हैं । इसलिए कहा है कि इस संघर्ष काल में जो जागृत पहरेदार की तरह सदैव सावधान रहते हैं

और ईश्वरीय आदेशों का पालन करते हैं, ईश्वर की पूर्ण कृपा उसे ही प्राप्त होती है । उसी का जीवन भव्य बनता है ।

ईश्वर की आज्ञाएँ क्या हैं ? हमारे समझने के लिए यह सबसे कठिन बात नहीं है । आमतौर पर हमारे जीवन की प्रत्येक गतिविधि का संचालन मन करता है और अपना अच्छा बुरा जैसा भी कुछ मन है उसकी बातों को ही ईश्वर की आज्ञाएँ मान कर पूरा किया करते हैं किन्तु जब कभी मन कोई बुरा कर्म करता है तो उससे अन्तःकरण में दुःख प्रकट होता है । परमात्मा का आदेश समझने की सीधी कसौटी यह है कि जिन कार्यों से आत्म-हीनता असन्तोष और अशान्ति उत्पन्न होती हो उन्हें न करना और जिनसे दिव्य तत्वों की वृद्धि होती हो आत्म-सुख, सन्तोष और शान्ति मिलती हो उनका विकास करना ही ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करना है ।

मन की प्रवृत्ति आमतौर पर अधोमुखी होती है । इसलिए आत्मा को अपनी बुद्धि और सामर्थ्य का प्रयोग करना चाहिए । मन को बुरे कर्मों से बार-बार हटाने और उसे शुभ कर्मों में लगाये रखने से कुछ दिन में उसकी प्रवृत्ति भी सतोगुणी हो जाती है । पाप करने या बुद्धि का दुरुपयोग करने से ईश्वर की व्यवस्था के अनुसार उसको लज्जित होना पड़ेगा और उसका सिर झुका रहेगा पर सतकर्म लौकिक या आत्मिक सभी दृष्टियों से मनुष्य को सुख प्रदान करने वाले ही होते हैं और उनसे अपना आत्माभिमान भी विकसित होता है तथा शक्तियों और सामर्थ्यों का विकास भी उसी क्रम से होता जाता है ।

यह बात तो सभी चाहते हैं कि हमारे मन में बुरे विचार कभी न आयें । हम सदा शान्त और आनन्दमय रहें, दुःख का भान न हो । इसके लिए लोग प्रयत्न भी करते हैं किन्तु संसार की गति भी कुछ ऐसी है कि मन को आघात पहुँचाने वाली घटनाएँ यहाँ घटती रहती हैं, उन घटनाओं को सहते हुए भी जो मन को वश में रखता है और उसे शुभ संकल्पों से रिक्त नहीं होने देता ईश्वर की आज्ञाओं का सच्चे मन से वही पालन कर सकता है । जो मन को चंचल, अस्थिर या विकारपूर्ण नहीं होने देते वह सच्चे साहसी वीर और गम्भीर होते हैं । इन दैवी सत्प्रवृत्तियों के आधार पर निरन्तर उसे परमात्मा की कृपा प्राप्त होती रहती है और वह आत्म-विकास की साधना में उत्तरोत्तर सफल होता हुआ आगे बढ़ता रहता है ।

आत्मा के विकास और ईश्वर की प्राप्ति के लिए केवल दैवी गुण भी चिरकाल तक नहीं टिक सकते, ईश्वर-भक्ति, जप, उपासना आदि आवश्यक हैं किन्तु जहाँ भक्ति हो वहाँ श्रद्धा, प्रेम, विश्वास, दया, करुणा, उदारता, त्याग, सहयोग, सहानुभूति, क्षमा आदि दैवी गुण भी अवश्य होने चाहिए । कर्म चाहे जैसे करो, ईश्वर सब क्षमा करेगा, इस मान्यता ने व्यक्ति और समाज दोनों का बड़ा अहित किया है । ईश्वर को मानने का दावा करने वाले लोग दैवी गुणों की परवाह न करके इस भ्रम में पड़ गए हैं कि गुणों का विकास चाहे हो या न हो ईश्वर भक्ति से हमारा सब कुछ ठीक हो जायेगा । इस संकीर्ण दृष्टिकोण ने ब्रह्म-विद्या के सच्चे स्वरूप की आस्थाओं को भी नष्ट कर दिया है और बुद्धि प्रधान लोग इसे सन्देह की दृष्टि से देखने लगे हैं । यह स्वाभाविक भी है । ब्रह्म-विद्या का वास्तविक उद्देश्य व्यक्तित्व का उत्कर्ष मनुष्य में देवत्व का उदय, ईश्वरीय प्रकाश का अन्तःकरण में अवतरण और जीवन में दैनन्दिन आचरण में उसकी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है ।

सूक्ष्म और कारण शरीर को परिष्कृत-विकसित करना ब्रह्म-विद्या का उद्देश्य है । यह विकास-परिष्कार निश्चय ही स्थूल-शरीर पर भी प्रभाव डालेगा । सत्परिणाम उत्पन्न करेगा । श्रद्धा आस्था की भाव-सम्वेदना, शरीर, मन वचन और कर्म पर सुनिश्चित एवं सुस्पष्ट प्रभाव डालती हैं और व्यक्तित्व का स्वरूप विनिर्मित करती है ।

## आत्म-शक्ति संचय के चार आधार

भौतिक बलों से भौतिक साधन मिलते हैं और आत्मबल के सहारे आत्मिक प्रगति के साधन बनते हैं । आत्मवादी साधक जिस स्वर्गीय भूमिका में निवास करते हैं और जिन विभूतियों के कारण लोकवन्दित होते हैं वे सभी आत्मबल के सहारे उपलब्ध होती हैं । बल से साधन, साधन से सफलता का सिद्धान्त हर क्षेत्र में लागू होता है आत्मिक प्रगति के लिए भी यही प्रक्रिया अपनानी पड़ती है । साधन का उद्देश्य आत्मबल

सम्पादित करना है । यही वह पूँजी है जिसके मूल्य पर दैवी अनुग्रह आकर्षित करना और दिव्य वरदान उपलब्ध करना सम्भव होता है । यदि ऐसा न किया जाय और गिड़गिड़ाने फुसलाने की नीति पर विश्वास किया जाय तो निश्चित रूप से आत्मिक क्षेत्र की कोई बड़ी उपलब्धि अर्जित कर सकना सम्भव न हो सकेगा ।

शरीर-बल उपार्जित करने के लिए आहार, विहार, संयम, उत्साह जैसे साधन जुटाने पड़ते हैं । धन-बल बढ़ाने में पूँजी, योग्यता, श्रम एवं कुशलता नियोजित करनी होती है । ज्ञान-बल के लिए अध्यवसाय, शिक्षक, शिक्षा संस्थान एवं प्रशिक्षण सामग्री जुटानी पड़ती है । यह सरंजाम एकत्रित न किए जा सके तो शरीर-बल, धन-बल, ज्ञान-बल में से एक भी संचित न हो सकेगा । ठीक इसी प्रकार आत्मबल सम्पादित करने के लिए— (१) संकल्प, (२) संयम, (३) विश्वास, (४) श्रद्धा । इन चार आधारों को खड़े करना आवश्यक होता है । साधनों का उद्देश्य इन्हीं साधनों को एकत्रित करना है । ईश्वर अनुग्रह को घसीट बुलाना इसी चुम्बकत्व के सहारे सम्भव होता है । इसी कुदाली से अन्तःक्षेत्र को खोदते, कुरेदते हुए विभूतियों के मणि-माणिक उपलब्ध किये जाते है ।

संकल्प का तात्पर्य है ऐसा मनोबल जिसके सहारे निश्चय को कार्यान्वित करने की साहसिकता अक्षुण्ण बनाए रखी जाय । आमतौर से घटिया स्तर के लोग बाल-बुद्धि एव बानरी प्रवृत्ति के होते हैं । चंचलता एवं अस्थिरता उनके स्वभाव में पड़ी होती है । बन्दर इस डाली से उस डाली पर उचकता-मचकता रहता है । बालकों की चंचलता प्रसिद्ध है, वे देर तक एक काम पर टिके नहीं रह सकते हैं । किसी कार्य में लगे तो क्षणिक उत्साह के कारण उस पर टिके नही रहते और एक को छोड़कर दूसरा काम बदलते रहते है । कुविचारों और कुकर्मों का आकर्षण सर्वविदित है । पानी फैलते ही नीचे की ओर बिना किसी प्रयास के बहने लगता है, पर यदि ऊँचा उठाना हो तो अनेकों साधन जुटाने पड़ते हैं । निम्नकोटि की गतिविधियों में मन देर तक लगा रह सकता है क्योंकि उनके फलस्वरूप अधिक मात्रा में और अधिक जल्दी मनोरथ पूरे होने की तृष्णा जुड़ी रहती है । उत्कृष्टता के मार्ग पर चलने पर अदृश्य आन्तरिक सफलता मिलने की बात स्थूल बुद्धि को कुछ से कुछ विशेष आकर्षक प्रतीत नहीं होती । फिर क्षणिक आवेश के रूप में उस दिशा में कुछ कदम बढ़ाए भी जायें तो तत्काल फल मिलने की उतावली में धैर्य टूट जाता है और विलम्ब होते देखकर वह मार्ग छोड़ते ही बनता है । आत्म-सुधार और आत्म-निर्माण का मार्ग श्रम-साध्य और समय-साध्य है । वह जादुई छड़ी घुमाने से सम्भव नहीं हो सकता । माली को फले-फूले उद्यान की, विद्यार्थी को उपाधि की और व्यवसायी को सम्पदा की प्रतीक्षा धैर्यपूर्वक करनी पड़ती है और अपनी दीर्घकालीन साधना में अटूट धैर्य और मनोबल के साथ लगा रहना पड़ता है । इसी मार्ग पर चलते हुए आत्मोत्कर्ष का जीवन-लक्ष्य प्राप्त कर सकना सम्भव होता है । साधक की प्रथम परीक्षा इसी कसौटी पर होती है ।

आत्मिक प्रगति के मार्ग पर चलने वाले को कई व्यवधानों से जूझने के लिए मनोबल की, संकल्प-बल की आवश्यकता पड़ती है । संचित कुसंस्कारों को निरस्त करके उनके स्थान पर सत्प्रवृत्तियों की स्थापना में खड़ा किया जाने वाला संघर्ष प्रचण्ड मनोबल के सहारे ही लड़ा जा सकता है । धैर्यपूर्वक चिरकाल तक बिना उत्साह गिराए निर्धारित मार्ग पर चलते रहने के लिए भी संकल्प-शक्ति चाहिए । बहकाने वाले आकर्षण प्रलोभनों से, विरत करने वाले दबावों से, जूझ सकने वाला ही इस लम्बे मार्ग पर बिना विचलित हुए चलता रह सकता है । यह दृढ़ता मनस्वी लोगों में ही होती है । इसके लिए शूरवीरो जैसी पराक्रमी मनःस्थिति चाहिए उतना सरंजाम जुटाए बिना किसी के लिए भी यह सम्भव नहीं हो सकता कि हिमालय की चोटी चढ़ने जैसी आत्मिक प्रगति, कीर्तिमान स्थापित करे । चंचलताग्रसित, बाल कौतुकों के अभ्यस्त और जादुई खेल-तमाशे देखने के आतुर लोग प्रायः इस मार्ग पर देर तक टिक ही नहीं पाते । दूसरी ओर कठिनाई यह है कि बीज को विशाल वट-वृक्ष के रूप में विकसित कर देने का कोई विधि-विधान भी इस संसार में नहीं है । हथेली पर सरसों जमाने वाले बाजीगर 'नजर बंध' की कला भर दिखाते हैं । उस सरसों से घड़ा भर तेल प्राप्त कर सकना उनके लिए भी सम्भव नहीं होता । ऐसी सरसों तो किसान के खेत में ही उगती है और वह सुनिश्चित समय प्रक्रिया के अनुसार ही

उगती, फलती है । तुर्त-फुर्त की वहाँ कोई गुंजाइश नहीं है ।

चंचलता को ठुकराने वाला, प्रलोभनों और दबावों से बचाने वाला, दुष्प्रवृत्तियों से जूझने वाला प्रचण्ड मनोबल आत्म-साधना के पथ पर चलने वाले साधक का सर्वप्रथम आधार है । इसके उपार्जन, अभ्यास के लिए उपासना परक कर्मकाण्डों में पूरी तरह समावेश किया गया है । प्रातःकाल जल्दी उठना, तत्परतापूर्वक नित्यकर्म से निवृत्त होना, नियत स्थान पर, नियत मर्यादाओं का पालन करते हुए, उपासना पर बैठना, सुखासन लगाना, मेरुदण्ड का सीधा होना जैसा शारीरिक अनुशासन, नियत स्थान, नियत समय, नियत मात्रा में नियत विधान से उपासना-क्रम सम्पन्न करने की तत्परता बरतने के पीछे संकल्प-बल के अभिवर्धन की प्रक्रिया जुड़ी हुई है । अस्त-व्यस्तता और अव्यवस्था को इसी कठोरता के आधार पर निरस्त किया जाता है । बाल चंचलता को हटाकर दृढ़ निश्चयी प्रौढ़ता उत्पन्न करने में प्रचण्ड मनोबल की ही प्रधान भूमिका रहती है । व्रत, उपवास, तप, तितीक्षा, मौन, ब्रह्मचर्य आदि के अनेकों विधि-निषेध अनुशासन साधना में पालन करते हैं । साधना विधि में ढील-पोल नहीं चलने दी जाती है, वरन् निर्धारित क्रिया-कृत्यों को राई-रत्ती पूरा करना पड़ता है । इस फौजी अनुशासन को ठीक तरह निबाहते चलने पर मनोनिग्रह की सफलता मिलती है और उस आत्म-विजय पर गर्व-गौरव अनुभव करता हुआ साधक जीवन-संग्राम में बढ़े-चढ़े आदर्शवादी पुरुषार्थ, पराक्रम, कर सकने में समर्थ होता है ।

संकल्प-बल के प्रयोग अभ्यास का सुविस्तृत क्षेत्र संयम के मैदान में करना पड़ता है । परीक्षा स्थल भी यही है । पूजा-उपासना के समय पर निर्धारित विधि-विधान का पालन आत्मानुशासन का प्रथम चरण है उसे व्यायामशाला में होने वाले अभ्यास एवं प्रयोगशाला में किए गए प्रयोग के समतुल्य माना जा सकता है । उसकी प्रौढ़ता, प्रखरता, गुण, कर्म, स्वभाव में घुसी हुई अव्यवस्था को सुसन्तुलन में बदलने से ही सम्भव होती है । 'संयम' शब्द इसी के लिए प्रयुक्त होता है । इन्द्रियाँ अपने विषयों में अतिवाद बरतने को मचलती हैं और खुला छूट चाहती हैं । उन पर अंकुश न लगाया जाय तो फिर वासनाओं की उच्छृंखलता, शरीर, मन, धन और सम्मान में आग लगाते चली जायेगी और जो कुछ हाथ में है उस सबको जला कर स्वाहा कर देगी । जीभ का चटोरापन किस प्रकार पेट को खराब करता है और पेट की सड़न किस प्रकार चित्र-विचित्र रोग उत्पन्न करती है, यह किसी से छिपा नहीं है । जननेन्द्रिय का असंयम किस प्रकार मनुष्य को निस्तेज और खोखला बना देता है इसके उदाहरणों से यह संसार भरा पड़ा है । तृष्णा के वशीभूत लोग किस प्रकार पाप संचय में लगे हैं और उसे संकीर्ण दुष्प्रयोजनों में लगाये रख कर किस प्रकार अनर्थ सम्पादन कर रहे हैं । यह किसी से छिपा नहीं है । अहंता की उच्छृंखलता किस प्रकार मिथ्या प्रदर्शन के आडम्बर रचती और कैसे ईर्ष्या-द्वेष के विष बीज बोती है, उसका अवांछनीय नग्न नृत्य कहीं भी देखा जा सकता है । शारीरिक और मानसिक असंयम का ही एक रूप धन का अपव्यय है । व्यसनों में, विलासिता में, ठाट-बाट में, आतंक अनाचार में जितना धन व्यय होता है, उतना यदि रोका जा सका होता और उसे सत्प्रयोजनों में लगाया जा सकना सम्भव हुआ होता तो स्वल्प साधनों से ही स्व पर-कल्याण का महत्त्वपूर्ण प्रयोजन सम्भव हो सकता है । वासना और तृष्णा को, लोभ और मोह को, यदि संयत किया जा सके और इन प्रयोजनों में होने वाली सामर्थ्य की बर्बादी को रोककर योजनाबद्ध रूप से सत्प्रयोजनों में लगाया जा सके तो उसका सत्परिणाम हर दृष्टि से कल्याणकारक प्रतिफल प्रस्तुत करेगा ।

फूटे बर्तन में दूध दुहने से दुधारू गाय पालने का सौभाग्य निरर्थक चला जाता है । शरीर और मन में कषाय-कल्मषों के अगणित छिद्र हो रहे हों तो फिर स्वउपार्जित, सम्पत्तियों और ईश्वर प्रदत्त विभूतियों का कोई कहने लायक परिणाम न निकलेगा । वे समस्त उपलब्धियाँ निरर्थक चली जायेंगी और उल्टा अनर्थ उत्पन्न करेंगी । समझा जाना चाहिए कि उपार्जन का लाभ तभी है जब उसे संयमपूर्वक अनर्थ प्रवाह से रोका जा सके । जिस विवेक ने अनर्थ अपव्यय को रोका था यदि उसी को थोड़ा और प्रखर बनाया जा सके तो इतना भी बन पड़ेगा कि उस बचत को सदुद्देश्यों के लिए लगाया जा सकना सम्भव हो सके । पानी के प्रवाह को रोककर बाँध बनाए जाते हैं और उस भण्डार

का सदुपयोग करके सिंचाई, बिजली आदि के कितने ही लाभ प्राप्त किए जाते हैं । ठीक यही बात संयम बरतने से होती है । शरीर, मस्तिष्क और धन की तीनों क्षमताएँ भले ही किसी के पास स्वल्प मात्रा में हो, पर यदि वह उन्हें अपव्यय से बचाकर सदुपयोग कर सकने की कला में प्रवीण हो गया है तो उसका प्रतिफल बलवानों, विद्वानों एवं धनवानों की सम्मिलित शक्ति से भी अधिक श्रेयस्कर हो सकता है । इसे संयम का ही चमत्कार कह सकते हैं ।

एकाग्रता की शक्ति सर्वविदित है । ध्यान में चिन्तन के बिखराव का केन्द्रीकरण किया जाता है । एकाग्रता की शक्ति का सदुपयोग करने वाले ही अपने-अपने विषय में प्रवीण, पारंगत, निष्णात एवं विशेषज्ञ बनते हैं । कलाकार, साहित्यकार, वैज्ञानिक, शिल्पी, व्यवस्थापक, योगी अपने-अपने विषय में उच्चस्तरीय प्रगति मुख्यतया एकाग्रता के अभ्यास से ही कर पाते हैं । एकाग्रता और कुछ नहीं मस्तिष्कीय संयम है । इन्द्रिय संयम, विचार संयम, समय संयम, वाणी संयम, धन संयम आदि के रूप में यदि अपव्यय को रोकना और सामर्थ्यों को सत्प्रयोजनों में एक निष्ठा भाव से लगाना सम्भव हो सके तो समझना चाहिए कि प्रगति का राजमार्ग मिल गया और उस पर चलते हुए आत्मोत्कर्ष का उद्देश्य भी उसी प्रकार सम्भव हो सकता है । जिस प्रकार भौतिक सफलताओं के मार्ग पर चलते हुए उत्साहवर्धक प्रतिफल प्राप्त किया जाता है । इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रहते हुए तत्वदर्शी मनीषियों ने आत्मोत्कर्ष की दिशा में बढ़ने इच्छुकों के लिए संकल्प-बल बढ़ाने के साथ-साथ संयम बरतने में कठोरता अपनाने का निर्देश दिया है । अपने साथ कड़ाई और दूसरो के साथ नर्मी यही शालीनता की नीति है । तपश्चर्या, तितीक्षा की अनेकानेक साधनाएँ संयम का ही प्रयोजन पूरा करती है । योग साधना में कितनी ही चमत्कारी सिद्धियों का वर्णन है उन सबको प्रकारान्तर से चित्तवृत्तियो के संयम से उत्पन्न उपलब्धियाँ ही कहा जा सकता है ।

संकल्प और संयम यह दोनों शरीर और मन की संयुक्त उपलब्धियाँ हैं । इन्हें आत्म-साधना का पूर्वार्द्ध कह सकते हैं । कारण यह कि इनका सीधा सम्बन्ध और प्रभाव भौतिक गतिविधियों के साथ जुड़ा रहता है । अस्तु इन दोनों को स्थूल वर्ग का गिना गया है और इनके सत्परिणामों को उन सिद्धियों के रूप में देखा जाता है जिनका आधार एवं प्रभाव लौकिक होता है और जिन्हे चमत्कारी कहा जाता है । उत्तरार्द्ध के रूप में विश्वास और श्रद्धा इन दो भाव सम्वेदनाओं की गणना होती है । इन्हें अन्तरात्मा के गहन स्तर से निकलते हुए अमृत स्रोत कहा जा सकता है ।

विश्वास से अस्थिरता, चंचलता, सन्देह, आशंका आदि का बिखराव समाप्त होता है और दृढ़ निश्चय की स्थिति उत्पन्न होती है । यह बात इस तरह है इस सम्बन्ध में कोई सुस्थिर स्थापना न हो सके तो मन शंकाशील बना रहता है । ऐसी दशा में उस सन्दर्भ में कोई स्थिर कदम भी नहीं उठ पाता । विश्वास उस अनिश्चितता का अन्त करता है और पूरे मनोयोग से कुछ करने गुजरने की तत्परता उत्पन्न करता है ।

भौतिक मान्यताओं के सम्बन्ध में अनेक कसौटियाँ, परीक्षण प्रतिक्रियाएँ ऐसी हैं जिसके आधार पर परीक्षण विश्लेषण करके यथार्थता का निश्चय किया जा सकता है, पर मान्यताओं-आस्थाओं के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है । उन्हें तर्क, विवेक, प्रमाण आदि के आधार पर एक सीमा तक ही सिद्ध किया जा सकता है । सन्देह की गुंजाइश फिर भी बनी रहती है । प्रतिपक्षी दलीलों और प्रमाणों को भी उतने ही बलपूर्वक प्रस्तुत किया जा सकता है । हिन्दू धर्म उत्तम है या ईसाई धर्म ? दोनों में से किसे चुनना चाहिए इसका निर्णय दलीलों के आधार पर न हो सकेगा । दोनों पक्षों से इतने प्रबल तर्क उपस्थित किए जा सकते हैं कि इसको या उसको अपनाने योग्य, चुनने में सामान्य व्यक्ति हतप्रभ रह सकता है । संदिग्ध मनःस्थिति में इनमें से किसी एक को अपनाया जाये तो निष्ठा के अभाव में उसे अपनाने की वैसी दिव्य प्रतिक्रिया उत्पन्न न हो सकेगी जैसी कि अगाध विश्वास के आधार पर किसी स्वीकृति या प्रक्रिया की होती है । आध्यात्मिक मान्यताओं को प्राणवान बनने और फलित होने की शक्ति विश्वास से ही उत्पन्न होती है ।

विश्वास क्षेत्र में एक बड़ी कठिनाई यह है कि उसमें अन्ध-विश्वास घुस पड़ने की पूरी गुंजाइश बनी रहती है । सामाजिक साम्प्रदायिक अन्ध-मान्यताएँ,

अन्ध-परम्पराएँ लोगों के मस्तिष्कों पर किस बुरी तरह छाई हुई हैं—दुराग्रह के रूप में पत्थर-की लकीरें बन गई हैं और लोगों की शक्ति किस बुरी तरह बर्बाद कर रही हैं, यह किसी से छिपा नहीं है । आध्यात्म क्षेत्र में भी ऐसा ही हो सकता है । अन्धता तो सर्वत्र दुष्परिणाम ही उत्पन्न करती है । आत्मिक क्षेत्र में अन्धविश्वास भी कम हानिकारक नहीं होते हैं । अस्तु विवेक युक्त विश्वासों को ही मान्यता मिलनी चाहिए, जिन आदर्शों, सिद्धान्तों, आस्थाओं की मान्यता दी जानी है उनके बारे में आवश्यक छानबीन कर ली जाय और यथार्थता एवं उपयोगिता के सम्बन्ध में पक्ष-विपक्ष का मंथन करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचा जाय कि जो स्वीकार किया जा रहा है वह नैतिकता एवं उच्चस्तरीय आदर्शवादिता का तथ्यपूर्ण समर्थन करती है या नहीं । रामायण की दो चौपाइयाँ इस सम्बन्ध में उपयोगी मार्ग-दर्शन करती हैं । कहा है—

जाने बिनु न होहि परतीती ।
बिन प्रतीति होहि किमि प्रीती ॥
बिना प्रीति किमि भक्ति दृढ़ाई ।
जिमि खगेश जल की चिकनाई ॥

विश्वासपूर्ण वस्तु स्थिति को जानना आवश्यक है । सुनिश्चित विश्वास होने पर ही किसी प्रसंग में उत्साह बढ़ता और लगन लगती है, यही भक्ति है । यदि विश्वास ही न जम सका तो प्रीति और भक्ति की दृढ़ता कैसे सम्भव होगी ? इसी तथ्य को तुलसीदास जी ने प्रकट किया है । उच्च आदर्शों की उपयोगिता पर हमें विश्वास नहीं होता और सोचते हैं अनैतिकता अपनाने का लाभ अधिक है । जीवन के अनादि और अनन्त स्वरूप को स्वीकार करने के लिए आस्था तैयार नहीं होती । जो जीया जा रहा है उतना ही सीमित जीवन है यही माना जाता है और उतनी ही परिधि की लाभ-हानि को सब कुछ समझा जाता है । ईश्वर का भजन तो होता है, पर उस पर विश्वास का कोई लक्षण नहीं दीखता । यदि उसके अस्तित्व को सच्चे मन से स्वीकारा जाता तो उसके सुनिश्चित विधि-विधान कर्मफल को भी हृदयंगम किया गया होता और अनीति के मार्ग पर एक कदम भी आगे बढ़ सकना सम्भव न होता । सर्वव्यापी, न्यायकारी, निष्पक्ष कर्म कसौटी पर खरे-खोटे की परख करने वाले परमेश्वर पर जो विश्वास करेंगे और "सियाराम मय सब जग जानी" की मान्यता अपनाकर हर किसी से सद्व्यवहार करने के अतिरिक्त और कोई चारा ही न रह जायेगा । नगण्य से सत्ताधारियों, सम्पत्ति वालों और कलाकारों के पीछे हम मधुमक्खी की तरह चिपके फिरते हैं और उनकी मनुहार करते हैं फिर ईश्वर का स्वरूप और अस्तित्व को समझने वाला उसके समीप बिठाने की प्रक्रिया उपासना को निरानन्द और उपेक्षणीय कदापि अनुभव न करता । साधना के सत्परिणामों पर हमारा पक्का विश्वास रहा होता तो अन्य लाभदायक उद्योगों में जितनी तत्परता रहती है उससे भी अधिक इस दिशा में रही होती । उपेक्षा और अन्यमनस्कता के कारण ही हम उखड़ी-उखड़ी साधना करते रहते हैं और विश्वास की परिपक्वता के अभाव में सत्परिणामों से वंचित रहते हैं । विश्वास के फलस्वरूप झाड़ी का भूत, रस्सी का साँप और आशंका का आतंक रोमांचकारी भय संचार कर सकता है तो उसकी उच्चस्तरीय प्रतिष्ठापना से पत्थर में से देवता भी प्रकट हो सकता है । मीरा के गिरधर गोपाल, रामकृष्ण परमहंस की काली, एकलव्य के द्रोणाचार्य मात्र उनके गहन विश्वास द्वारा किए गए चमत्कारी उत्पादन भर कहे जा सकते हैं ।

मन्त्र शक्ति के, ईश्वर भक्ति के जो चमत्कार दिखाई पड़ते हैं उसका प्रादुर्भाव सघन विश्वास के फलस्वरूप ही होता है । यान्त्रिक और तान्त्रिक अपने कर्मकाण्डों पर, विधानों और उनके परिणामों पर असंदिग्ध विश्वास करते हैं फलतः उनकी आस्थाएँ परिपक्व होकर देवताओं के रूप में केवल मूर्तिमान होती हैं वरन् वरदान भी प्रस्तुत करती हैं । छाया पुरुष अपनी भीतरी सत्ता की प्रतिच्छाया है और अपनी ही सुदृढ़ आस्था द्वारा विनिर्मित होकर अपने से कम नहीं वरन् अधिक ही समर्थ सिद्ध होती है । आध्यात्म मार्ग के पथिकों को विवेकपूर्वक अपने आदर्शों की यथार्थता और लक्ष्य की प्रखरता के सम्बन्ध में असंदिग्ध मन:स्थिति का अन्त करना चाहिए और लक्ष्य एवं साधन पर इतना प्रगाढ़ विश्वास का प्रचण्ड चुम्बकत्व उत्पन्न करना चाहिए कि सफलता स्वयं ही खिंचती हुई अपने तक चली आये ।

आत्मिक सफलताओं का अन्तिम, सबसे प्रबल और समर्थ आधार ही श्रद्धा है । श्रद्धा का तात्पर्य है

उत्कृष्टता के प्रति इतनी गहन सम्वेदना और भावभरी उत्सुकता का उद्भाव जिसके कारण उसके पाने के लिए सब कुछ निछावर कर देना भी कठिन दिखाई न पड़े । यहाँ दीपक और पतंगों का, चन्द्र-चकोर का, पपीहा स्वाँति बूँद का उदाहरण ठीक बैठता है । प्यार तो बराबर वालों और छोटों से भी किया जा सकता है । उत्सुकता तो व्यसन और विनोद के लिए भी हो सकती है । उमंग तो दुष्कर्मों के लिए भी उठती हैं । इन सम्वेदनाओं से श्रद्धा की तुलना नहीं हो सकती । वह तो मात्र ऐसे उच्च आदर्शों के लिए उत्कृष्ट व्यक्तित्वों पर ही केन्द्रित हो सकती है । जिनका अनुसरण करने पर आत्म-कल्याण हो सकता हो ।

ईश्वर पर, उपासना प्रक्रिया पर, लक्ष्य पर, मार्ग दर्शक पर जितनी गहन श्रद्धा होगी उसी अनुपात से आत्म-साक्षात्कार का, ईश्वर प्राप्ति का उद्देश्य पूरा होगा । श्रद्धा और विश्वास अन्तरात्मा की वे दिव्य स्थितियाँ हैं जिन पर आत्मिक प्रगति की समस्त सम्भावनाओं का आधार खड़ा होता है । लोग शरीर-बल, मनो-बल, बुद्धि-बल और धन-बल के आधार पर मिलने वाली लौकिक सफलताओं से ही परिचित हैं । यदि किसी प्रकार यह जाना जा सके कि व्यक्तित्व का स्वरूप एवं भविष्य निर्धारण करने में आस्थाओं, आकांक्षाओं एवं सम्वेदनाओं की ही सर्वोपरि भूमिका होती है तो यह भी समझ में आ जायगा कि जो बनना है उसके अनुरूप श्रद्धा को ढालने की अनिवार्य आवश्यकता होगी ।

मन और शरीर दोनों ही आन्तरिक आस्थाओं से प्रेरित और संचालित होते हैं । आकांक्षाओं की उमंगें उस उपलब्धि के लिए योजना बनाने का आदेश देती हैं । यह बिना ननुनच के उसी प्रकार का ताना-बाना बुनना आरम्भ कर देती है । शरीर उसी के अनुरूप काम करने में जुट जाता है । शरीर अपने आप में कुछ नहीं, जड़ उपकरण मात्र है । मन भी समुचित इन्द्रिय में चेतना का विद्युत प्रवाह चल पड़ने से अपना काम करता है । ट्रान्जिस्टर में जिस प्रकार 'क्रिस्टल मैंगनेट' की शक्ति काम करती है उसी प्रकार व्यक्तित्व के निर्माण, निर्धारण एवं परिवर्तन में एक मात्र श्रद्धा की शक्ति ही काम करती है वह आसुरी प्रयोजनों को अपना ले तो फिर सर्वनाशी अन्ध-पतन सुनिश्चित है । यदि उसे उत्कृष्टता के साथ जोड़ दिया जाय तो उच्चस्तरीय प्रगति की दिशा में द्रुतगति से बढ़ते जाना सुनिश्चित है ।

रामायण में श्रद्धा विश्वास की उपमा भवानी और शंकर से दी है । "भवानी शंकरौ वन्दे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ" का तात्पर्य यही है । गीता का कथन है—"श्रद्धा मनोऽयं पुरुष यो यच्छ्रद्धः स एव स" यह पुरुष (आत्मा अथवा परमात्मा) श्रद्धा तत्व से ओत-प्रोत है, जो जिस स्तर की श्रद्धा अपनाये हुए है वह ठीक उसी प्रकार का है । "श्रद्धावान लभते ज्ञानं" आत्म-ज्ञान मात्र श्रद्धावान को मिलता है । आत्मिक क्षेत्र की सर्वोपरि शक्ति श्रद्धा है । इसको जो जितनी परिष्कृत, विकसित बना सकेगा वह उतनी ही मात्रा में आध्यात्मिक सफलताओं को सामने करबद्ध, खड़ी हुई देखेगा ।

आत्मोत्कर्ष के चारों शक्ति साधन जुटाये जाने आवश्यक हैं । संयम से शरीर और संकल्प से मन सधता है । विश्वास से चित्त और श्रद्धा से अहं की, आत्मा की, शक्ति निखरती है । इसी चतुर्विधि शक्ति संचय के लिए विविध प्रकार के योग साधना एवं तप विधान में विनिर्मित किये गये हैं । इन्हीं चारों का तत्व दर्शन समझाने को ब्रह्माजी ने चार मुखों से चार वेदों की सुविस्तृत ब्रह्म विद्या का उपदेश दिया है । इसी अवलम्बन को ग्रहण करते हुए साधकों को जीवन लक्ष्य के हिमालय शिखर पर पहुँच सकने का सौभाग्य प्राप्त होता है ।

ॐॐॐ

# ब्रह्मविद्या का रहस्योद्घाटन

## विचारों की पवित्रता और सुव्यवस्था के लाभ !

मानव शक्तियों के दो भाग हैं एक स्थूल, दूसरा सूक्ष्म अथवा एक दृश्य, दूसरा अदृश्य । दृश्य शक्तियों स्पष्ट और प्रकट होती हैं । बलवान मनुष्य का शरीर मोटा-ताजा, हट्टा-कट्टा, गठा हुआ और भारी साफ दिखाई पड़ता है, दिमागी बल खुद तो आँखों से दिखाई नहीं पड़ता पर उसे पहचाना आसानी से जा सकता है । डॉक्टर, वकील, पंडित, जज, अध्यापक, उपदेशक छिपते नहीं, ये योग्यताएँ थोड़ी खोज करने पर प्रकट हो जाती हैं । इसी प्रकार शिल्प, गीत, वाद्य, व्यापार, कला-कौशल आदि की योग्यताएँ कार्यों को देखकर या पूछ कर जानी जा सकती हैं । मस्तिष्क सहित शरीर के अंग-प्रत्यंगों की योग्यताएँ स्थूल या दृश्य कही जाती हैं । वे प्रकट हैं और आसनी से उनका परिचय प्राप्त किया जा सकता है ।

सूक्ष्म शक्तियाँ वे हैं जो आँखों से दिखाई नहीं पड़तीं और न मोटी बुद्धि से पहचानी जाती हैं, स्थूल शरीर दिखाई पड़ता है इसलिए उसकी शक्तियाँ भी दिखायी देती हैं, किन्तु सूक्ष्म शरीर अदृश्य है, इसलिए उसकी योग्यताएँ भी अदृश्य ही होती हैं, उनका पता सूक्ष्म परीक्षण द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है । मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार यह चार अंग सूक्ष्म शरीर के माने गए हैं, पाठकों को सुविधा के लिए इनका विभाजन दो में किए देते हैं, एक विचार दूसरा विश्वास । इस युग के मनोविज्ञान विशारद दो भागों में ही हम उसे बाँट रहे हैं, डॉक्टर फ्राइड प्रभृत विद्वानों ने अन्तः चेतना के दो खण्ड किए हैं एक बाह्यमन (Objective mind) दूसरा अन्तर्मन (Subjective mind) संख्या में कमी हो जाने से सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना पाठकों को अधिक सरल होगा । स्थूल शरीर की विवेचना के लिए शरीर-शास्त्र, स्वास्थ्य-शास्त्र, नीति-शास्त्र मौजूद हैं । दिमाग को शिक्षित करने के लिए अध्यापक, उपदेशक, कला-कौशल सिखाने के लिए शिक्षक, शरीर को बलवान एवं निरोग बनाने के लिए 'चिकित्सक' मौजूद हैं, शारीरिक उन्नति का दायरा बहुत विस्तृत हो गया है और उसकी शोध, विवेचना एवं शिक्षा-दीक्षा के लिए अनेक प्रयत्न हो रहे हैं ।

जिस प्रकार दृश्य शरीर सम्बन्धी अनेकानेक छोटी-बड़ी समस्याओं को सुलझाने का सुविस्तृत विज्ञान मौजूद है उसी प्रकार अदृश्य शरीर की गुत्थियों को समझने और सुलझाने के लिए जो शास्त्र है उसे आध्यात्मवाद कहते है । हमारे बुद्धिमान पूर्वजों ने चिरकालीन अनुसंधान के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला था, कि बाह्य परिस्थितियों पर सुख-दु.ख या उन्नति-अवनति का होना निर्भर नहीं है, वरन् उनका मूल कारण आन्तरिक योग्यताओं में निहित है । एक मनुष्य सब प्रकार की सुख सामग्री होते हुए भी दुखी रहता है, उन्नति करने योग्य परिस्थिति में भी नीचे ही गिरा रहता है, उत्तम स्वभाव के लोगों को भी शत्रुता करता हुआ पाता है, इसके विपरीत दूसरा मनुष्य अभाव में भी सुख का अनुभव करता है, बुरी परिस्थितियों में भी आगे बढ़ जाता है और मूर्ख एवं दुष्ट लोगों को भी अपने लिए लाभदायक बना लेता है । इसका कारण आन्तरिक योग्यता, अयोग्यता है । शारीरिक स्थिति अच्छी होने पर दूध, घी बलवर्द्धक सिद्ध होते हैं, किन्तु आँतें कमजोर होने पर वे ही अतिसार, कोष्ठ बद्ध या अजीर्ण उत्पन्न करते हैं । इसी प्रकार आन्तरिक स्थिति अच्छी नहीं होने पर साधारण परिस्थितियाँ भी सुखदायक एवं उन्नति मे सहायक सिद्ध होती हैं और भीतरी खोट होने पर भले अवसर भी दुःखदायी अनुभव होते है ।

संसार में जिन सुखों की इच्छा की जाती है, वास्तव में वे किसी अन्य पदार्थ में नहीं वरन् अपने अन्दर ही हैं, उनकी प्राप्ति अपना दृष्टिकोण सुधार लेने से ही सम्भव है । इस महान सत्य को भली प्रकार परख लेने के उपरान्त दुःखों में वृद्धि करने की इच्छा से तत्वदर्शी ऋषियों के आध्यात्मक शास्त्र की. विशद विवेचना की है । पिछले कुछ समय में भौतिक

विज्ञानवादियों ने आत्मा के अस्तित्व से इन्कार करके आध्यात्म शास्त्र की उपयोगिता को स्वीकार कर दिया था, पर कुछ अधिक खोज करने पर उन्हें अपनी भूल प्रतीत हो गई और 'मनोविज्ञान शास्त्र' के नाम के आध्यात्मवाद का नवीन संस्करण करना पड़ा । अब 'मनोविज्ञान शास्त्र' उन्नति करता जा रहा है और वह उन्नति निरन्तर प्राचीन आध्यात्मवाद की पुष्टि की ओर ही बढ़ती जा रही है ।

विचार और विश्वास इन दो विभागों में विभाजित करते हुए आन्तरिक शरीर का कुछ परिचय पाठकों को पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं । आध्यात्मवाद की सारी रचना इन्हीं दो तथ्यों पर अवलम्बित है । दृष्टिकोण का निर्माण और साधना यह दो कार्य प्रणालियाँ विचार और विश्वासों को पुष्ट करने वाली हैं । स्वाध्याय, कथा श्रवण, पुस्तक पाठ, उपदेश ग्रहण, सत्संग की व्यवस्था, विचारों को परिमार्जित करने के लिए हैं और तीर्थयात्रा, यज्ञ, दान, संध्या, पूजा, जप, अनुष्ठान की व्यवस्था विश्वासों को दृढ़ बनाने के लिए है । दृश्य जगत् में शरीर और मस्तिष्क को पुष्ट करने के लिए नाना प्रकार के आयोजन हैं उसी प्रकार विभिन्न तरह की आध्यात्मिक प्रक्रियाएँ, विचार और विश्वासों को शक्ति सम्पन्न बनाने के उद्देश्य से निर्मित हुई हैं ।

आपने रेडियो यन्त्र अवश्य देखा होगा । दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई, लन्दन, न्यूयार्क आदि स्थानों पर उच्चारण किए हुए शब्द पलक मारते-मारते यहाँ तक दौड़ आते हैं । रेडियो यन्त्र अपनी बिजली के कारण उन शब्दों को पकड़ कर मशीन के भीतर ले जाता है और उन्हें ज्यों का त्यों सुना देता है । नाच-गाने, बात-चीत, हँसी-रोना आदि सब ध्वनियाँ ज्यों की त्यों सुनाई देती हैं । 'बेतार के तार' के निर्माता मार्कोनी ने मालूम किया था, कि अखिल ब्रह्माण्ड मे 'ईथर' नामक एक महातत्व व्याप्त है, उसमें शब्दो की लहरे बहती रहती हैं । जैसे किसी तालाब में पत्थर फेंकने पर पानी उछलता है और फिर वह लहरों का रूप धारण करके वहाँ तक चलता है जहाँ तक कि पानी का छोर होता है; समस्त ब्रह्माण्ड में 'ईथर' तत्व व्याप्त है, उसमे शब्दों की लहरें चलती हैं और वह बड़ी तीव्र गति से एक सेकण्ड में हजारों मील की चाल से बहती रहती हैं । इतना जान लेने के बाद मार्कोनी को एक आधार मिल गया, उसने दो प्रकार के यन्त्र बनाये, एक तो ऐसा जो शब्द के साथ में कुछ विशेष प्रकार के विद्युत परमाणुओं को अपनी शक्ति से पकड़ लेता था । मार्कोनी का कहना था, कि इस कार्य में कोई बहुत बड़ा आश्चर्य नही है, बेतार के तार का यन्त्र भी कोई बहुत कीमती चीज नहीं है, यह सब काम बहुत मामूली कल-पुर्जों से होता है, आश्चर्यजनक खोज केवल 'ईथर' तत्व और उसकी क्रियाशीलता के बारे में जानकारी प्राप्त करने की थी ।

यह तो हुई जड़ रेडियो की बात । अब चैतन्य रेडियो की बात सुनिये—यह मनुष्य का मस्तिष्क है । यह चैतन्य रेडियो जड़ रेडियो की अपेक्षा कई दृष्टियों से उत्तम है । मामूली रेडियो दूसरी जगह के शब्दों को सुना सकता है, पर उसके द्वारा दूसरी खबर नहीं भेजी जा सकती किन्तु मनुष्य का मस्तिष्क दोनों काम करता है, टेलीफून के द्वारा जैसे आवाज को कहा जाता है और सुना भी जाता है, इसी प्रकार मस्तिष्क द्वारा अखिल ईश्वर तत्व में बहने वाले विचारों को ग्रहण भी किया है और अपने विचारों को उसमें फेंका भी जाता है । मस्तिष्क विचारों का यन्त्र है, इसमें अनेक प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं और वे ढेला फेंकने से पानी में उत्पन्न होने वाली लहर की तरह विश्वव्यापी अखिल ईथर तत्व में बहने लगते हैं और चारों ओर फैल जाते हैं । वैज्ञानिकों ने विचारों की लहरों को देखने का यन्त्र निकाल लिया है यह फोटो खींचने के कैमरे की तरह है, एक नवयुवक किसी सुन्दरी के चिन्तन में डूबा हुआ था उसके मस्तिष्क के पास यन्त्र रखकर फोटो लिया गया तो उसी सुन्दरी की तस्वीर खिंच गई । इसी प्रकार क्रोध, क्षोभ, शान्ति, प्रेम, विरह, खुशी, निराशा आदि भावनाओ के फोटो खिंचने लगे हैं । रंग और आकृतियों की भिन्नता के कारण उन विचारों को साफ-साफ पहचान लिया जाता है, फोटो को देखकर यह भली-भाँति प्रकट हो जाता है कि वह व्यक्ति क्या सोच रहा था ।

गर्मी पाकर पानी भाप बनता है, यह भाप हवा में इधर-उधर उड़ती हुई अन्य भाप के साथ मिलकर बादल का रूप धारण करती है । इसी प्रकार मस्तिष्क में से निकले हुए विचार ईथर में उड़ते हैं और लोगों के छोड़े हुए अपने समान अन्य विचारों के साथ मिलकर

एक प्रकार के बादल का रूप धारण कर लेते हैं। यह विचार बदलियाँ इधर-उधर उड़ती-फिरती हैं जैसे ही कोई व्यक्ति कहीं उसी प्रकार के विचार करता है और उस विचार में कुछ सोचता है वैसे ही मस्तिष्क में आकर्षण शक्ति उत्पन्न होती है और उसके खिंचाव से वे उड़ती हुई विचार बदलियाँ उस मनुष्य के पास दौड़ आती हैं। कोई आदमी किसी बात को सोचता है तो उसे उस सम्बन्ध में अनेक नई बातें मालूम होने लगती हैं जितना गहरा सोच-विचार किया जाता है उतना ही ज्ञान अपने आप मिलता जाता है। यह नयी बातें कैसे मालूम हुई ? बात यह है कि जिसने *अपने मस्तिष्क को अधिक आकर्षण शक्तियुक्त बनाया* उसके पास बहुत से उसी प्रकार के विचार खिंच आये और उसने उन्हें अपना लिया। सोचने पर जो नयी-नयी बातें मालूम होती हैं। वह कितने ही मनुष्यों की विभिन्न अवसरों पर सोची हुई चीजें होती हैं, मस्तिष्क उन्हें पकड़ लेता है और ख्याल करता है कि मेरी समझ में यह नयी बात आ गई। मस्तिष्क में जहाँ विचार फेंकने की शक्ति है वहाँ ऐसी भी शक्ति पर्याप्त मात्रा में मौजूद है जो अपनी इच्छित विचार सामग्री को ईथर में से खींच सके।

रेडियो एक सावधानी से काम लेने की वस्तु है। जिन चीजों की सावधानी रखना आवश्यक है उनके लिए लाइसेन्स लेना पड़ता है, जहर, बन्दूक, बारूद, हथियार, नशीली चीजें, रेडियो, इन सबका लाइसेन्स लेना पड़ता है और सरकार को विश्वास दिलाना पड़ता है कि इन वस्तुओं का सदुपयोग करेंगे, जो इन चीजों का दुरुपयोग करता है उसका लाइसेन्स जब्त कर लिया जाता है और सजा भुगतनी पड़ती है। जर्मनी, जापान से भेजे हुए खराब समाचारों को फैलाने में रेडियो का उपयोग करें तो सरकार लाइसेन्स जब्त कर लेगी और दण्ड देगी, इसी प्रकार मस्तिष्क रूपी बहुमूल्य और अपार शक्ति वाले रेडियो का ईश्वर ने आपको लाइसेन्स दिया है उसका ठीक-ठीक उपयोग करने के लिए पूरी सावधानी रखनी चाहिए अन्यथा अनर्थ हो जायेगा और भारी हानि उठानी पड़ेगी।

आप जैसे भले-बुरे विचार करते हैं वे चिरकाल तक जीवित रहते हैं और *अपनी शक्ति से दूसरों को* प्रभावित करते रहते हैं, यदि आप ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, घात-प्रतिघात, छल-कपट के विचार किया करते हैं तो उनकी जो तरंगें बनेंगी वे संसार में अनेक लोगों को उसी दशा में उकसायेंगी। मान लीजिए एक मनुष्य क्रोध युक्त विचार उसके पास आ पहुँचे, दोनों के मिल जाने से उसका क्रोध उमड़ पड़ा और क्रोध आवेश में आकर उसने किसी की हत्या कर डाली, तो समझ लीजिए ईश्वर के यहाँ आप भी उसकी हत्या में भागीदार ठहराये जायेंगे। इसी प्रकार यदि दया, प्रेम, उदारता, दान, ईमानदारी, सेवा के विचार करते हैं तो उनकी तरंगें किसी न किसी को प्रभावित करेंगी ही, धर्म के थोड़े विचार किसी के मन में उठ रहे थे उसी समय *आपके विचारों ने उसे और अधिक उत्साहित किया,* उस उत्साह में उसने जो धर्म कार्य किया है, उसमें से आपको भी हिस्सा मिलेगा। शरीर से जो भले-बुरे काम किए जाते है उनका फल मिलता है, इसी प्रकार मन से जैसे विचार किए जाते हैं उनका भी परिणाम भुगतना पड़ता है। कई महात्मा शरीर से अधिक *सेवा कार्य नहीं करते परन्तु विचार विज्ञान के गुप्त* रहस्य को समझ कर आध्यात्मिक बल के साथ उच्चकोटि की पवित्र विचारधारा प्रवाहित करके मौन रूप से संसार की बड़ी भारी सेवा करते हैं। यदि आप विचारों को सात्विक बना लेते हैं, दुर्भावनाओं को हटा देते हैं, अपने आपको सच्चा, ईमानदार, भला, निष्कपट, सेवा-भावी, परोपकारी, न्याय-परायण, सत्यनिष्ठ बना लेते हैं, दूसरो के लिए हितचिन्ता, कल्याण-कामना, सद्बुद्धि रखते है तो निःसन्देह एक महान यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं यह अदृश्य साधना अत्यन्त पुण्यमय है, विचारों का पवित्र रखना, बुरी भावनाओं को भीतर प्रवेश न करने देना ऐसा पुनीत कर्म है जिसकी तुलना में बड़ी-बड़ी खैरातें तुच्छ गिनी जायेंगी।

आध्यात्मवाद विचारों की शक्ति के इस महान रहस्य का उद्घाटन करता है और बताता है कि पुण्य और पाप का सर्वोच्च केन्द्र अपना मस्तिष्क है। बाहरी कार्य अच्छे करता हुआ दिखाई दे किन्तु उसका मन नीच वासनाओं से भर रहा हो तो उन अच्छे कर्मों का तात्विक दृष्टि से कुछ भी महत्त्व नहीं है इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति पवित्र भावना से, सदिच्छा से *ऐसा काम करता है जो देखने में पुण्य नहीं है तो* भी तत्वतः वह पुण्य ही गिना जायेगा। एक गरीब

आदमी जो जीवन भर में सम्भव है एक-दो रुपया भी दान न कर पाया हो यदि पवित्र अन्तःकरण वाला है तो दंभ एवं स्वार्थ वृत्ति से लाखों रुपया दान करने वाले की अपेक्षा श्रेष्ठ है; परलोक में उस गरीब की कमाई ही अधिक भारी बैठेगी ।

*ध्यान को एकाग्र करना, चित को रोकना, मन का* संयम यह सब विचार वृतियों को कुपंथ पर जाने से रोक कर पवित्रता में तल्लीन रखने के लिए हैं । उससे जो असाधारण लाभ होते है वे साधको के सामने हैं, विचारों की पवित्रता से (१) अपार मात्रा में पुण्य संचय होता है (२) विचारों के अनुसार स्वभाव और कार्य भी अच्छे बनते हैं (३) संसार की नश्वरता समझ में आने से वैराग्य भाव उत्पन्न होता है और मानसिक दुःखों का अन्त हो जाता है (४) अच्छे विचारों से आत्म सन्तोष रहता है । इन लाभों के कारण लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के आनन्दों में वृद्धि होती है । क्रोध, चिन्ता, शोक, उद्विग्नता आदि मानसिक अवेशों से दिमाग सुरक्षित रहता है, दूषित विचारधारा के कारण चित्त में घर पड़ी भय, आशंका, चिन्ता, व्याकुलता के उफान आते रहते हैं, जिससे दिमाग स्थिर नहीं रह पाता । ऐसी दशा में किसी विषय पर ठीक-ठीक निर्णय करने की योग्यता उसमें नहीं रहती । कल्पना शक्ति, धारणा शक्ति, स्मरण शक्ति, निर्णय शक्ति, विवेचन शक्ति सभी अस्त-व्यस्त हो जाने के कारण मनुष्य अर्ध-विक्षिप्त दशा को पहुँच जाता है, इस प्रकार के मनुष्यों का जीवन अपने लिए और दूसरों के लिए आनन्ददायक नहीं हो सकता ।

आवेश रहित मस्तिष्क ही आनन्दमय जीवन का पथ-प्रदर्शन कर सकता है । स्थिर और स्वस्थ चित्त से ही भीतरी और बाहरी समस्याओं को ठीक स्वरूप समझा जा सकता है और उन्हें सुलझाया जा सकता है, सफलता के पथ बढ़ने के लिए धैर्य, साहस, उत्साह, दृढ़ता, लगन, परिश्रम एवं प्रतिज्ञा की आवश्यकता होती है यह सद्‌गुण स्वस्थ चित्त वाला ही अपने में रख सकता है, विकारों की उत्तेजना क्षण-क्षण में जिसे अस्थिर बनाये रहती है, उस अनिश्चित व्यक्ति में इन गुणों का टिकना मुश्किल है, वह बार-बार इधर-उधर ढुलकता है, नियत लक्ष्य पर बढ़ने में मानसिक आवेश बार-बार विक्षेप उत्पन्न करते है और वह सफलता से वंचित रह जाता है ।

महर्षि पातंजलि ने 'चित्तवृत्तियों के निरोध' को योग कहा है । इस निरोध का तात्पर्य यह है कि सांसारिक अनुभूतियों के कारण जो मानसिक आवेश उत्पन्न होते है उनको काबू से बाहर न होने दिया जाय, ऐसा न हो कि क्रोध, शोक, लाभ आदि का इतना आधिपत्य हो जाय कि विवेक बुद्धि का उनके आगे कुछ वश न चले और इन आवेशों के वशीभूत सारे कार्य होने लगे, इस प्रकार जो कार्य होंगे वे निश्चय ही बड़े दुःखदायी और क्लेश कारक होंगे । यदि आवेशों पर नियन्त्रण रखा जाय, उनको जितना चाहें उतना बढ़ा देने और जब चाहे तब रोक देने की योग्यता अपने अन्दर हो । घोड़े की लगाम की तरह आवेशों का शासन हाथ में रहे तो ऐसा सुखकर परिणाम निकल सकता है कि जीवन मे चारों ओर आनन्द ही आनन्द उमड़ पड़े ।

राजा जनक, तुलाधार वैश्य आदि अनेक साधारण गृहस्थ उच्चकोटि के योगी हुए हैं और अब भी हैं, इन गृहस्थों से बड़े-बड़े संन्यासियों को शिक्षा ग्रहण करने की आवश्यकता होती है, जैसी श्री शुकदेव जी ने राजा जनक से ब्रह्म-विद्या की शिक्षा प्राप्त की थी । मन को वश मे करने का और कुछ प्रयोजन नहीं है, यह समझना भूल है कि मन सदैव एक ही बात को सोचता रहेगा, एक ही स्थान पर स्थिर रहेगा । कुछ क्षणों के लिए ऐसी स्थिति प्राप्त की जा सकती है पर एक ही स्थान पर रहे ऐसा नहीं हो सकता । उसकी रचना ही ऐसी हुई है कि विभिन्न दिशा में उसका दौड़ना आवश्यक और अनिवार्य है । मन का निरोध यह है कि सांसारिक घटनाओं के प्रभाव की उत्तेजना से दिमाग को बे-काबू न होने दिया जाय । कैसी ही विपत्ति आयी हो, कैसी ही अप्रिय परिस्थिति हो पर मानसिक स्थिरता को कायम रखा जाय और जो कुछ कहा जाय या किया जाय आवेशपूर्वक नहीं वरन् भली प्रकार सोच-समझ के साथ, विवेक बुद्धि के साथ हो ।

आन्तरिक शरीर की स्वस्थता पुष्टि और उन्नति का पहला मार्ग यह है कि विचारों को भली-भाँति नियन्त्रण में रखा जाय । ठगी, बेईमानी, शोषण, हिंसा, अन्याय, अत्याचार, धोखा आदि पाप पूर्ण इच्छाएँ मन में न आने दी जाये । काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक

के आवेशों को काबू से बाहर न जाने दिया जाय तो यह मानसिक नियन्त्रण अनेकानेक गुप्त-प्रकट, दृश्य-अदृश्य मार्गों से जीवन के सुखों में आशातीत वृद्धि कर सकता है । योग-साधना आनन्द वृद्धि के लिए है, यह प्रत्यक्ष ही प्राप्त होता है । सुख का उद्‌गम स्थान मन है, मन को सुखदायक स्थिति में रखना यही योग है । चित्तवृत्तियों के ऊपर काबू रखने से, विवेक बुद्धि के शासन में मन के आवेशों को रखने से, वही आनन्द दायक स्थिति प्राप्त होती है, जिसका रसास्वादन योगी जन करते हैं ।

आप बाहरी शरीर को उन्नतिशील बनाना चाहते हैं, उस उन्नति की प्रेरणा भीतरी शरीर की स्वस्थता द्वारा मिलती है । विचारों की पवित्रता और सुव्यवस्था आन्तरिक स्वास्थ्य का प्रथम मार्ग है, इससे आप अपने मस्तिष्क के ऊपर काबू पाने का प्रयत्न करिए, मन को वश में करिए, ऐसा करने से निःसन्देह अपने बाह्य जीवन को आनन्दमय बना सकेंगे ।

पवित्र विचारों से हमारा अणु-अणु प्रबल बनता है शरीर में छिपे हुए विष, रोग कीटाणुओं की अपवित्रता दूर होती है, बुद्धि की मलीनता हटती है, चित्त के ऊपर अधिकार जमाए हुए काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, चिन्ता आदि आन्तरिक शत्रुओं की सत्ता मिटती है । भीतर और बाहर जो मलीनता छायी रहती है वह अनेक प्रकार के रोग, शोक की जड़ है, उसी से ब्रह्म-तेज नष्ट होता है । यदि हम विचारों की अपवित्रता को हटा दें तो अनेकों प्रकार की मलीनताएँ, अयोग्यताएँ, कमजोरियाँ, बाधाएँ अपने आप दूर हो जाती हैं । अपवित्रता के प्रतिरोधों का शमन होते ही आध्यात्मिक विकास बड़ी तेजी से होता है और मनुष्य ब्राह्मी स्थिति को सरलतापूर्वक प्राप्त कर लेता है । विचारों की पवित्रता, अन्तःकरण की निर्मलता, ब्रह्म-विद्या का सर्वोपरि रहस्य है ।

## ब्रह्म प्राप्ति के दो साधन एकाग्रता और निराकुलता

ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करने के लिए, जीवन लक्ष्य को बेधने के लिए, चित्त की स्थिरता बहुत ही आवश्यक है । बन्दूक चलाने वाले जानते हैं कि लक्ष्य पर पूर्ण एकाग्रता के साथ निशाना साधने से ही गोली ठीक स्थान पर बैठती है । इस समय यदि जरा भी चित्त इधर-उधर चला गया तो निशाना चूकने में देर नहीं लगती । द्रोणाचार्य जब कौरव और पाण्डवों को धनुष-विद्या सिखाते थे तो एक दिन परीक्षा के लिए उन्होंने अपने सब शिष्यों को बुलाया और एक लकड़ी की चिड़िया पेड़ पर बिठाकर उस पर निशाना सधवाया । तीर छोड़ने से पहले गुरु जी उस शिष्य से पूछता—बेटा ! बताओ तो तुम्हें निशाने के स्थान पर क्या-क्या दिखाई पड़ता है ? निशाना साधने वाला कहता—गुरु जी ! मुझे पेड़ की डाली, पत्ते और चिड़िया दीखती है । गुरु जी उससे धनुष, रखवा लेते और दूसरों को बुलाते । सन्तोषजनक उत्तर न मिलने पर उनसे भी धनुष रखवा लेते । अन्त में अर्जुन की बारी आयी, उससे भी वही प्रश्न पूछा गया । अर्जुन ने उत्तर दिया—गुरु जी ! मुझे केवल चिड़िया की गरदन दीखती है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं दीखता । गुरुजी ने कहा—निशाना लगाओ ! बाण छोड़ा गया और निशाना ठीक लगा । तब गुरु जी ने शिष्यों को लक्ष्य वेध का गुप्त रहस्य बताते हुए कहा—चित्त की स्थिरता ही सफलता की कुंजी है । जिसका ध्यान एक वस्तु पर केन्द्रित होगा, वह उसे प्राप्त कर लेगा । जिसका मन अस्थिर होगा वह अभीष्ट स्थान तक न पहुँच सकेगा ।

आतिशी-शीशे के द्वारा एक केन्द्र-बिन्दु पर सूर्य की किरणें एकत्रित की जाती हैं । फलस्वरूप वह बिन्दु अत्यन्त गर्म हो जाता है और उस बिन्दु के नीचे जो चीज रखी हुई हो वह जलने लगती है । फैली हुई निर्मल वस्तु का भी केन्द्रीकरण कर देने से उसमें प्रचण्ड शक्ति उत्पन्न हो जाती है । मन में भरी हुई अनेकानेक शक्तियों को एक स्थान पर केन्द्रीभूत कर देने का भी ऐसा ही चमत्कारपूर्ण प्रभाव होता है । जिस काम को पूरे मन से स्थिरतापूर्वक किया जाता है, वह असाधारण रूप से चमकने लगता है । एक स्थान पर चित्तवृत्तियों के केन्द्रीभूत हो जाने से वहाँ चतुरता, बुद्धिमता, सफाई, सुन्दरता, शीघ्रता, सावधानी का जमघट इकट्ठा हो जाता है । एक से एक अच्छी युक्ति एवं कार्य प्रणाली सूझ पड़ती है । नयी-नयी पगडण्डियाँ निकल आती हैं । सफलता प्राप्त करने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता है, उन्हें उपलब्ध करने के लिए कई मार्ग सामने आ जाते हैं । परन्तु यदि मानसिक एकाग्रता न हो तो नयी युक्तियाँ नहीं सूझ पड़तीं और कुशलता एवं उत्तमता

प्रकट करने वाली क्रियाशक्ति प्रस्फुटित नहीं होती। फलस्वरूप सफलता की सम्भावना कुंठित हो जाती है।

"एक समय में एक काम" करने का सुनहरा सिद्धान्त जिसने अपना लिया, समझिए कि जीवन संग्राम में विजय प्राप्त करने का एक बहुत ही मूल्यवान शस्त्र उसके हाथ आ गया।

एक अंग्रेजी कहावत है, कि अर्थात्—"जब तुम काम करो तब केवल काम करो और जब खेलो तब केवल खेलो।"

भावार्थ—यह है कि एक समय में एक काम करो, एक समय में कई काम करने से शक्तियाँ कई तरफ बँट जाती हैं और एक भी काम ठीक तरह नहीं हो पाता। काम कुछ हो रहा है, और मन कहीं पड़ा है, यह स्थिति मनुष्य को लुंज-पुंज कर देती है। इसके कामों को फूहड़पन, अपूर्णता एवं सदोषता में मार देती है। चित्त की अस्थिरता एवं चंचलता एक ऐसा ऐब है जो कितने ही सद्गुणों को निरर्थक बना देता है। आँधी या तूफान के वेग में जैसे कागजपत्र पत्तों की तरह उड़ जाते है वैसे ही मन में अस्थिरता की लहरें उठते रहने से चिर संचित योग्यता अस्त-व्यस्त हो जाती है। कुशल से कुशल कारीगर जब अस्थिर चित्त से काम करते हैं तो उनकी बनायी हुई चीजें गिरे दर्जे की तैयार होती हैं। इस प्रकार कोई साधारण दर्जे का कारीगर जब पूर्ण मनोयोग के साथ एकाग्र होकर जुटता है तो साधारण साधनों की सहायता से भी ऊँचे दर्जे की प्रशंसनीय वस्तुएँ बना सकने में सफल होता है।

मन और शरीर इन दोनों के संयोग हो जाने से १ और १=११ की उक्ति चरितार्थ होती है। एक शरीर + एक शरीर=दो शरीर होते हैं परन्तु एक मन और एक शरीर का समन्वय कम से कम ग्यारह गुनी अधिक शक्ति का निर्माण करता है। पूरा काम पूरे मनुष्य से होता है। पूरा मनुष्य तब बनता है, जब वह मन और शरीर एकत्रित होकर काम कर रहे हो। जब शरीर और मन दोनों निद्रा मे निमग्न होते हैं, तब वह 'मृतक' जैसी अवस्था होती है। जब शरीर सो रहा हो, मन जाग रहा हो तो वह 'तन्द्रा' है। जब शरीर और मन जागते तो हों पर असम्बन्ध हों तो वह अवस्था पूर्ण अवस्था है, किन्तु जब चित्त और देह का पूर्ण एकीकरण एवं सहयोग होता तो वह चैतन्य या जागरूक दशा कहलाती है। उस स्थिति में मनुष्य जो भी काम करता है, उसमें प्राय: सफलता ही मिलती है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर 'एक समय में एक काम' करने का सिद्धान्त निर्धारित किया गया है।

यह स्वर्णिम सिद्धान्त हर एक को सदा याद रखना चाहिए कि एक समय में एक काम करेंगे। जब भोजन करना हो तो सारी चित्तवृत्तियों को एकत्रित करके सामने परोसे हुए भोजन के मधुर स्वाद का आस्वादन करते हुए, उसके स्वास्थ्यप्रद गुणों का स्मरण करते हुए, प्रसन्नतापूर्वक उसे उदरस्थ करना चाहिए। जब बाल-बच्चों में खेलना हो तो सारी दिलचस्पी से उनकी मधुर बातें सुनो और अपनी कहो, जब हिसाब-किताब करने बैठो तो पूरे अर्थशास्त्री बन जाइये। जब भजन का समय आये तो सम्पूर्ण एकाग्रता उसी कार्य में होनी चाहिए। खेलते समय पक्के खिलाड़ी और भाषण काल में प्रभावशाली वक्ता होना आवश्यक है और यह तभी हो सकता है, जब चित्त स्थिर हो, वह कूद-फाँद न कर रहा हो। कई वक्ता किसी अच्छे विषय पर भाषण देते हैं, पर बीच-बीच में उनकी प्रवाह शृंखला टूट जाती है। अभी एक बात की व्याख्या कर रहे थे, वह बात पूरी न हो पायी कि दूसरी बात चल पड़ी और फिर वह भी अधूरी रह गई। इस प्रकार अनेकों अधूरी बातों से भरा हुआ भाषण एक बकवास मात्र रह जाता है। श्रोताओं पर उनका कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। इस अधूरेपन के दोष के कारण कितने ही वक्ताओं की वक्तृत्व शक्ति का महत्व नष्ट हो जाता है। यह दोष चित्त की अस्थिरता का प्रतीक है। मन बार-बार उचट जाता है। कहीं से कहीं पहुँचता है। नियत निर्धारित क्षेत्र से छलांग मार कर वह कुछ से कुछ विषय उपस्थित कर देता है। बेचारा वक्ता मन को एक स्थान पर केन्द्रीभूत रखने की कला से अनभिज्ञ होने के कारण मन के पीछे-पीछे इधर-उधर भागता फिरता है और अपना उपहास कराता है।

न केवल वक्ताओं के ऊपर वरन् हर एक दिशा मे काम करने वालों के ऊपर यह बात लागू होती है। चंचल चित्त वाला व्यक्ति सदा असावधान, भुलक्कड़ एवं गलती करने वाला होता है। इन दोषों वाला डॉक्टर अपने रोगी के लिए एक खतरा हो सकता है। ऐसा व्यापारी भारी घाटे के चक्कर मे फँस सकता है।

ऐसा वकील मुकदमे को हरा सकता है । ऐसा विद्यार्थी फेल हो सकता है । भिखारी से लेकर राजा तक और चोर से लेकर ब्रह्म-ज्ञानी तक, जितनी भी स्थितियो के आदमी हैं वे अपने-अपने काम को तभी सुचारु रूप से चला सकते हैं, तभी समृद्ध एवं सफल हो सकते हैं, जब शरीर के साथ-साथ उनका मन भी नियत कार्य मे समान रूप मे सहयोग करता है ।

चित्त की एकाग्रता कोई बहुत बड़ी एवं बहुत कड़ी बात नही है । यदि नित्यप्रति छोटे-छोटे कार्यों को दिलचस्पी से करने का प्रयत्न किया जाय तो कुछ दिनों मे वैसी आदत बन सकती है । जिनको एक नियत प्रकार की दिनचर्या के साथ अपना दिन व्यतीत करना पड़ता है, उन्हे अपना दैनिक कार्यक्रम बना लेना चाहिए और जब जो काम करना नियत हो, इस समय पर शरीर और मन को साथ-साथ प्रवृत्त करना चाहिए, जब मन को छुट्टल रखा जाता है तो उसे इधर-उधर उछलने-कूदने की आदत पड जाती है । यदि मन को सुसंत रखना है, उसे एकाग्र रहने के लिए साधना है तो जब जो कार्य शरीर को करना हो, उसमें दिलचस्पी के साथ मन को लगाने का प्रयत्न करना चाहिए । कुछ दिन मे ऐसी आदत पड़ जाती है कि मन शरीर के साथ काम करने लगता है । फिर उस व्यक्ति के सब काम सुस्थिरता के साथ सुचारु रूप से होने लगते हैं और समृद्धि की दिशा मे उसके कदम तेजी से बदलने लगते है ।

अकुलाना, बेचैन होना, घबराना, मानसिक सन्तुलन को डॉवाडोल कर देना एक प्रकार से मस्तिष्कीय तूफान उत्पन्न करना है । जैसे तूफान के गर्द-गुबार मे आँखे ठीक काम नहीं करती, रास्ता ठीक प्रकार नहीं दीखता, वैसे ही मन की बेचैनी की दशा में, वास्तविक स्थिति को समझने और उसके निराकरण का समुचित मार्ग ढूँढ़ने मे बुद्धि सर्वथा असमर्थ रहती है । जैसे ज्वार-भाटा के समय उछलते हुए पानी का स्तर डॉवाडोल रहता है, वैसे ही आकुलता के समय विवेक का स्तर अस्थिर रहता है । ऐसी दशा मे उसके द्वारा उचित निर्णय नही किया जा सकता, उचित कार्यक्रम निर्धारित नही हो सकता । उछलते हुए पानी मे सूर्य, चन्द्र आदि का भी प्रतिबिम्ब दिखाई नही पड़ता, पर ठहरे हुए पानी मे अपने चहरे का भी प्रतिबिम्ब ठीक प्रकार देखा जा सकता है । इसी प्रकार से आकुल अवस्था में मोटी बातें भी नहीं सूझ पड़तीं, जबकि निराकुल अवस्था में बारीकियों का भी निराकरण हो जाता है ।

किसी आदमी को उछाला, पटका, गिराया, उठाया, घसीटा, दबाया या तनाया जाय तो उस दशा में उसे कष्ट ही कष्ट होगा । सुख, शान्तिपूर्ण निद्रा तो ऐसी दशा मे आ ही नही सकती, जब इन्द्रियो पर से अनावश्यक दबाव हट जाता है तभी तो शरीर आराम का अनुभव करेगा । आत्मा की भी यही स्थिति है, जब वह भय, शोक, उद्वेग, क्रोध, द्वेष, चिन्ता, अहकार, हर्ष आदि आवेशों में ग्रसित होती है तो इन आघातो के कारण उसे क्षण भर भी चैन नहीं मिलता, वरन् हर घड़ी व्यथा एवं वेदना से भरी हुई कराह उठती रहती है । आवेशों की आकुलता एक प्रकार की आध्यात्मिक जूड़ी-ताप है, जिसके चढ़ आने पर मनुष्य अण्ड-बण्ड बकता है । अन्धाधुन्ध पानी पीता है, पीला मूत्र आता है, भूख सर्वथा उड़ जाती है, चेहरा लाल हो जाता है, निद्रा गायब हो जाती है, मन में न जाने क्या-क्या कल्पनाएँ आती है, उसमें विशेष प्रकार के भयकर लक्षण प्रकट हो जाते है । शोक, क्रोध, द्वेष, अहकार, अमीरी आदि की आध्यात्मिक जूड़ी चढ आने की दशा में भी मनुष्य अर्ध-विक्षिप्त हो जाता है । ऐसी दशा में वह न सोचने लायक बाते सोचता है और न करने लायक काम करता है । निजारी के रोगी की गाँठ-गाँठ मे जैसी हड़फूटन होती है, आवेशों से बेचैन मनुष्य के मनोलोक मे ऐसी ही हड़फूटन होती है, जिससे उसकी समस्त आत्मिक शान्ति नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है ।

आवेशों की अशान्त दशा मे कोई व्यक्ति न तो सांसारिक उन्नति कर सकता है और न आध्यात्मिक । कारण यह है कि उन्नति के लिए, ऊँचा उठाने के लिए, आगे बढने के लिए जिस बल की आवश्यकता होती है, वह बल मानसिक अस्थिरता के कारण एकत्रित नही हो पाता । जब हाथ काँप रहा हो उस समय बन्दूक का ठीक निशाना नही साधा जा सकता । आवेश की दशा मे मानसिक कम्पन की अधिकता रहती है । उस उद्विग्नता की दशा में यह नही सूझ पड़ता कि क्या करना चाहिए, क्या न करना चाहिए ।

अधीर होना, हृदय की संकीर्णता और आत्मिक बालकपन का चिन्ह है । बच्चे जब बाग लगाने का खेल खेलते हैं तो उनकी कार्य प्रणाली बड़ी विचित्र होती है । अभी बीज बोया, अभी उसमें खाद पानी लगाया, अभी दो-चार मिनट के बाद ही बीज को उलट-पलट कर देखते हैं कि बीज में अंकुर फूटा या नहीं । जब अंकुर नहीं दीखता तो उसे फिर गाड़ देते हैं और दो-चार मिनट बाद फिर देखते हैं । इस प्रकार कई बार देखने पर भी जब वृक्ष उत्पन्न होने की उनकी कल्पना पूरी नहीं होती तो दूसरा उपाय काम में लाते हैं । वृक्षों की टहनियाँ तोड़कर मिट्टी में गाड़ देते हैं और उससे बाग लगाने की लालसा को बुझाने का प्रयत्न करते हैं । उन टहनियों के पत्ते उठा-उठा कर देखते हैं कि फल लगे या नहीं । यदि दस-बीस मिनट में फल नहीं लगते तो कंकड़ों को डोरे से बांध कर उन टहनियों में लटका देते हैं । इस अधूरे बाग से उन्हें तृप्ति नहीं मिलती । फलतः कुछ देर बाद उस बाग को बिगाड़-बिगूड़ कर चले जाते हैं । कितने ही जवान और वृद्ध पुरुष भी उसी प्रकार की बाल-क्रीड़ाएँ अपने जीवन क्षेत्र में किया करते है । किसी काम को बड़े उत्साह से आरम्भ करते हैं, इस उत्साह की अति 'उतावली' बन जाती है । कार्य आरम्भ हुए देर नहीं होती कि वह देखने लगते हैं कि सफलता में अभी कितनी देर है । जरा भी प्रतीक्षा उन्हें सहन नहीं होती । जब उन्हें थोड़े ही समय में रंगीन कल्पनाएँ पूरी होती नहीं दीखतीं तो निराश होकर उसे छोड़ बैठते हैं । अनेकों कार्यों को आरम्भ करना और उन्हें बिगाड़ना, ऐसी ही बाल-क्रीड़ाएँ वे जीवन भर करते रहते हैं । छोटे बच्चे अपनी आकांक्षा और इच्छा पूर्ति के बीच में किसी कठिनाई, दूरी या देरी की कल्पना नहीं कर पाते, इन बाल-क्रीड़ा करने वाले अधीर पुरुषों की भी मनोभूमि ऐसी ही होती है । यदि हथेली पर सरसों न जमी तो खेल बिगाड़ते हुए उन्हें कुछ देर नहीं लगती ।

प्राचीन समय में जब शिष्य विद्याध्ययन के लिए जब गुरु के पास जाता था तो उसे पहले अपने धैर्य की परीक्षा देनी होती थी । गायें चरानी पड़ती थीं, लकड़ियाँ चुननी पड़ती थीं, उपनिषदों में इस प्रकार की अनेकों कथाएँ हैं । इन्द्र को भी लम्बी अवधि तक इसी प्रकार तपस्या पूर्ण प्रतीक्षा करनी पड़ती थी, जब वह अपने धैर्य की परीक्षा दे चुका, तब उसे आवश्यक विद्या प्राप्त हुई । प्राचीनकाल में विज्ञ पुरुष जानते थे कि धैर्यवान् पुरुष ही किसी कार्य में सफलता प्राप्त कर सकते हैं, इसलिए धैर्यवान् स्वभाव वाले छात्रों को ही विद्याध्ययन कराते थे क्योंकि उनके पढ़ाने का परिश्रम भी अधिकारी छात्रों द्वारा ही सफल हो सकता था । चंचल चित्त वाले, अधीर स्वभाव के, मनुष्य का पढ़ना न पढ़ना बराबर है । अक्षर ज्ञान हो जाने या अमुक कक्षा का सर्टिफिकेट ले लेने से कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । प्रमाण प्रत्यक्ष है । आज लाखों करोड़ों 'पढ़े गधे' इधर से उधर घूरे के तिनके चरकर लदते-मरते रहते है । कोई कहने लायक पुरुषार्थ उनसे नहीं हो पाता ।

आतुरता एवं उतावली का स्वभाव जीवन को असफल बनाने वाला एक भयंकर खतरा है । कर्म को परिपाक होने में समय लगता है । रुई को कपड़े के रूप तक पहुँचने के लिए कई कड़ी मंजिलें पार करनी होती हैं और कठोर व्याभिधानों में होकर गुजरना पड़ता है । संक्रांति काल के मध्यवर्ती कार्यक्रम को धैर्यपूर्वक पूरा होने देने की जो प्रतीक्षा नहीं कर सकता, उसे रुई को कपड़े के रूप में देखने की आशा न करनी चाहिए । किया हुआ परिश्रम एक विशिष्ट प्रक्रिया के द्वारा फल बनता है । इसमें देर लगती है और कठिनाई भी आती है । कभी-कभी परिस्थितिवश यह देरी और कठिनाई आवश्यकता से अधिक भी हो सकती है । उसे पार करने के लिए समय और श्रम लगाना पड़ता है । कभी-कभी तो कई बार का प्रयत्न भी सफलता तक नहीं ले पहुँचता, तब अनेक बार अधिक समय तक अविचल धैर्य के साथ जुटे रह कर अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त करना होता है । आतुर मनुष्य इतनी दृढ़ता नहीं रखते, जरा-सी कठिनाई या देरी से वे घबरा जाते हैं और मैदान छोड़कर भाग निकलते हैं । यही भगोड़ापन उनकी पराजयों का इतिहास बनता जाता है ।

चित्त का एक काम पर न जमना, संशय और संकल्प-विकल्पों में पड़े रहना एक प्रकार का मानसिक रोग है । यदि काम पूरा न हो पाया तो, यदि कोई आकस्मिक आपत्ति आ गई तो, यदि फल उल्टा निकला तो, इस प्रकार की दुविधापूर्ण आशंकाएँ मन को डाँवाडोल

बनाये रहती हैं । पूरा आकर्षण और विश्वास न रहने के कारण मन उचटा-उचटा सा रहता है, जो काम हाथ में लिया हुआ है, उस पर निष्ठा नहीं होती । इसलिए आधे मन से वह किया जाता है । आधा मन दूसरे नये काम की खोज में लगा रहता है । इस डाँवाडोल स्थिति में एक भी काम पूरा नहीं हो पाता । हाथ के काम में सफलता नहीं मिलती । बल्कि उल्टी भूल पर भूल होती जाती है, ठोकर पर ठोकर लगती जाती है । दूसरी ओर आधे मन से जो नया काम तलाश किया जाता है, उसके हानि लाभों को भी पूरी तरह नहीं विचारा जा सकता । अधूरी कल्पना के आधार पर नया काम वास्तविक रूप में नहीं वरन् अलंकारिक रूप में दिखाई पड़ता है । पहले काम को छोड़कर नया पकड़ लेने पर फिर उस नये काम की भी वही स्थिति होती है जो पुराने की थी । कुछ समय बाद उसे भी छोड़कर नया ग्रहण करना पड़ता है । इस प्रकार 'काम शुरू करना और उसे अधूरा छोड़ना' इस कार्यक्रम की बराबर पुनरावृत्ति होती रहती है और अन्त में मनुष्य अपने असफल जीवन पर पश्चात्ताप करता हुआ, इस दुनिया से कूच कर जाता है ।

भूतकाल की बीती हुई दुखदाई घटनाओं का स्मरण कर-करके कितने ही मनुष्य अपने आपको बेचैन बनाये रहते हैं । किसी प्रियजन की मृत्यु, पैसे की हानि, अपमान, बिछोह आदि की कटु स्मृतियों को वे भुला नहीं पाते और सदा कुढ़ते एवं जलते रहते हैं । इसी प्रकार कितने ही मनुष्य भविष्य की कठिनाइयों को हल करने की चिन्ता में जला करते हैं । लड़की के विवाह के लिए इतना रुपया कहाँ से आयेगा ? बुढ़ापे में क्या खायेंगे ? लड़के कुपात्र निकले तो प्रतिष्ठा कैसे कायम रहेगी ? गरीबी आ गई तो कैसे बीतेगी ? इतना धन इकट्ठा न हो पाया तो अमुक कार्य कैसे पूरा होगा ? अमुक ने सहारा न दिया तो कैसी दुर्दशा होगी ? अमुक आपत्ति आ गई तो भविष्य अन्धकारमय हो जायेगा आदि अनेकों प्रकार के भावी संकटों की चिन्ता में रक्त, माँस को सुखाते रहते हैं । भूत का शोक और भविष्य का भय इतना त्रासदायक होता है कि मस्तिष्क का अधिकांश भाग उसी में उलझा रहता है । वर्तमान समय की गुत्थियों को सुलझाने और सामने पड़े हुए कार्य को पूरा करने के लिए शक्तियों का बहुत थोड़ा भाग बचता है । उस बचे-खुचे, आंशिक मनोबल से जो थोड़ा-सा काम हो पाता है, उतने मात्र से व्यवस्था क्रम यथावत नहीं चल सकता । फलस्वरूप गति अवरोध उत्पन्न होकर जीवन की बधिया बैठ जाती है । इस उलझन भरी दशा में किंकर्तव्यविमूढ़ होकर कितने ही मनुष्य आत्महत्या कर लेते हैं, पागल हो जाते हैं, घर-बार छोड़कर भाग जाते हैं या और दुखदायी कार्य कर बैठते हैं । कितने ही घोर निराशावादी या सनकी हो जाते, कितने ही कुसंग के भार से कुछ देर के लिए तनाव पाने का, अपने आपको भूलने का, नशेबाजी का सत्यानाशी प्रयत्न करते हैं ।

आवेशों से मानसिक तन्तुओं को सदा उत्तेजित रखना, अपने आपको जलती मशाल से झुलसाते रहने के समान है । आवेश-जीवन की अस्वाभाविक दशा है, उसमें शक्तियों का भयंकर रूप से नाश होता है । डॉक्टरों ने पता लगाया है कि यदि मनुष्य ४$\frac{१}{२}$ घण्टे लगातार क्रोध में भरा रहे तो लगभग ८ औंस खून जल जायेगा और इतना विष उत्पन्न हो जायेगा जितना कि १ तोला (१ तोला = ११.६६४ ग्राम) कुचला से उत्पन्न होता है । चिन्ता की अधिकता से हड्डियों के भीतर रहने वाली मज्जा सूख जाती है, फलस्वरूप निमोनियाँ, इन्फ्लुऐन्जा सरीखे रोगों के आक्रमण का अंदेशा बढ़ जाता है । ऐसे लोगों की हड्डियाँ टेढ़ी पड़ जाती हैं और नियत स्थान से ऊपर आ जाती हैं । कनपटी की, गले की, कन्धे की, कान के पीछे की हड्डियाँ यदि ऊपर उभर आई हों तो कहा जा सकता है कि यह व्यक्ति चिन्ता में घुला जा रहा है । लोभी और कन्जूसों को कब्ज की शिकायत बनी रहती है और आये दिन जुकाम बना रहता है । भय और आशंका से जिनका कलेजा काँपता रहता है, उनके शरीर में लौह और क्षार की मात्रा कम हो जाती है । बाल झड़ने लगते हैं और सफेद होने लगते हैं । शोक के कारण नेत्रों की ज्योति-क्षीणता, गठिया, स्मरण शक्ति की कमी, स्नायुविक दुर्बलता, बहु मूत्र, पथरी सरीखे रोग हो जाते हैं । ईर्ष्या, द्वेष एवं प्रतिहिंसा की जलन के कारण तपेदिक, दमा, बहरापन, कुष्ठ सरीखी व्याधियाँ उत्पन्न होती देखी जाती हैं । कारण स्पष्ट है कि इन मानसिक आवेशों के कारण एक प्रकार का अन्तर्दाह उत्पन्न होता है । अग्नि जहाँ रहती है, वहाँ जलाती

है । अन्तर्दाह की अग्नि में जीवन के उपयोगी तत्व ईंधन की भाँति जलते रहते हैं, जिससे देह भीतर ही भीतर खोखली हो जाती है । जहाँ अग्नि जलती है, वह ऑक्सीजन (प्राण वायु) खर्च होती है और कार्बन गैस (विष वायु) उत्पन्न होती है । अन्तर्दाह की प्रक्रिया से भी अनेकों प्रकार के विष उत्पन्न होते हैं, जिनके कारण शरीर तरह-तरह के रोगों का घर बन जाता है और कुछ ही समय में इतना सड़-गल जाता है कि जीवात्मा को असमय में ही उसे छोड़कर भागने के लिए विवश होना पड़ता है ।

आवेशों का तूफान व शारीरिक स्वास्थ्य को कायम रहने देता है और न मानसिक स्वास्थ्य को । वैद्य को नाड़ी पकड़ने से कोई रोग भले ही न मालूम पड़े पर वस्तुतः आवेश की अवस्था में जीवन की उतनी ही क्षति होती रहती है, जितनी कि बड़े-बड़े भयंकर रोगों के समय होती है । यह सर्वविदित है कि रोगी मनुष्य न तो शारीरिक श्रम कर सकता है और न मानसिक । आवेश का रोगी शारीरिक दृष्टि से एक प्रकार का अपाहिज बन जाता है । चाहता है कि काम करूँ पर होता कुछ नहीं । जरा देर काम करने पर थक कर चूर हो जाता है, मन वहाँ जमता ही नहीं, काम को छोड़कर लेट जाने या कहीं चले जाने की तबियत करती है, करता कुछ है किन्तु हो कुछ जाता है, जरा देर के काम में काफी समय खर्च हो जाता है, सो भी ठीक तरह होता नहीं, जब निरीक्षण किया जाता है तो भूल पर भूल निकलती हैं । इस तरह अण्ड-बण्ड काम करने वाला एक प्रकार से अपाहिज ही है, क्योंकि उसके किए काम से कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, जितना काम होता है, उससे अधिक हानि हो जाती है । ऐसी स्थिति मे बाहर से स्वस्थ दीखते हुए भी वह वस्तुतः शय्या-सेवी रोगी जैसी अवस्था में ही गिना जा सकता है, मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में भी यही दशा होती है । आवेश में भरा हुआ मनुष्य आधा पागल बन जाता है, जिनके कहने और सुनने से विचारवान् मनुष्य लज्जा के मारे जमीन में गढ़-सा जाता है । ऐसी-ऐसी ऊटपटांग बाते सोचता है जिनका कहीं सिर-पैर नहीं, ऐसे-ऐसे काम कर डालता है, जिन्हें पागल के अतिरिक्त कोई भला चंगा आदमी नहीं कर सकता । कभी सर्प की तरह फुसकारता है, कभी व्याघ्र की तरह मुँह फाड़कर खाने दौड़ता है, कभी ऐसा दीन और कातर हो जाता है कि कातर रोने, विलाप करने, विरक्त बनने, आत्महत्या करने के अतिरिक्त और कुछ समझ ही नहीं पड़ता । मेरे इस आचरण का भविष्य में क्या परिणाम होगा, यह सोचने में उसकी बुद्धि बिल्कुल असमर्थ हो जाती है । इस प्रकार के आवेश ग्रस्त उन्मत्त दशा वाले मनुष्य को पागलपन का डॉक्टरी सर्टिफिकेट भले ही प्राप्त न हो सके पर वस्तुतः उसकी दशा अर्ध-विक्षिप्त से जरा भी अच्छी नहीं होती । ऐसे शारीरिक और मानसिक दृष्टि से बीमार मनुष्य अपने जीवन को किसी प्रकार भार रूप में काट तो सकते हैं, पर उनके लिए यह सम्भव नहीं कि कोई महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकें, महापुरुष बन सकें, अथवा समृद्धि-समुन्नत अवस्था प्राप्त कर सकें ।

जीवन को समुन्नत दिशा की ओर ले जाने के लिए यह आवश्यक है कि विवेक बुद्धि ठीक प्रकार काम करे । विवेक बुद्धि की स्थिरता के लिए निराकुलता आवश्यकता है । दर्पण या पानी में प्रतिबिम्ब तभी दिखाई पड़ सकता है जब वह स्थिर हो, यदि दर्पण या पानी हिल रहा हो तो उसमें प्रतिबिम्ब भी ठहर न सकेगा । मस्तिष्क में जब उफान आ रहे हों तो विवेक स्थिर नहीं रह सकता । ठीक पथ-प्रदर्शन कराने वाली बुद्धि तभी उद्भूत होगी जब मन शान्त हो, स्थिर हो, निराकुल हो । किसी काम की अच्छाई-बुराई, हानि-लाभ, सुविधा-कठिनाई आदि की ठीक-ठीक कल्पना करने और अनेक दृष्टियों से विचार करके किसी अन्तिम निर्णय पर पहुँचने की क्षमता रखने वाला विवेक तभी मस्तिष्क में रह सकता है, जब आवेशों की उद्विग्नता न हो, जो कार्य भली प्रकार आगा-पीछा सोचकर आरम्भ किए जाते हैं, वे ही पार पड़ते हैं । जोश और उतावली में बिना-बिचारे जिन कार्यों को आरम्भ किया जाता है । प्रायः उन्हें बीच में ही छोड़ने को विवश होना पड़ता है ।

आध्यात्म विद्या के प्रायः सभी ग्रन्थों में मन को रोकने, चित्तवृत्तियों को एकाग्र करते, मन को वश में करने का पग-पग पर आदेश किया है । अनेको साधनाएँ मन को वश में करने की बताई गई हैं । यह मन को बश में करना और कुछ नहीं, निराकुलता ही है । दुःख-सुख, हानि-लाभ, जय-अजय के कारण उत्पन्न

होने वाले आवेशों से बचना ही योग की सफलता है। गीता कहती है—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
सम दुःखं सुखं धीरं सोऽमृत्वाय कल्पते ॥२-१५॥
सुखे दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापम वाप्स्यसि ॥२-३८॥
दुःखे ष्वनुद्विग्न मनः सुखेषु विगत स्पृहः।
वीत राग भय क्रोधः स्थित धी र्मुनिरुच्यते ॥२-५६॥
न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य च प्रियम्।
स्थिर बुद्धि रसं मूढ़ो ब्रह्मविद ब्रह्मणि स्थितः ॥५-२०॥

आदि अनेक स्थलों पर निराकुलता को येग सफलता बताया गया है। आवेश सुख प्रधान और दुःख प्रधान दोनों प्रकार के हैं। शोक, हानि, बिछोह, रोग, दण्ड, भय, विपत्ति, मृत्यु, क्रोध, अपमान, कायरता आदि हानि प्रधान आवेश हैं। कुछ आवेश लाभ प्रधान भी होते हैं—लाभ, सम्पत्ति, मिलन, कुटुम्ब, बल, सत्ता, पद, धन, मैत्री, विद्या, बुद्धि, कुल, कला, विशेषता आदि के कारण एक प्रकार का नशा चढ़ आता है। इस प्रकार की कोई सम्पत्ति जब बड़ी मात्रा में यकायक मिल जाती है तब तो मनुष्य हर्षोन्मत्त हो जाता है। उसकी दशा अर्ध-विक्षिप्त जैसी हो जाती है। सुख के मारे लोग फूले नहीं समाते व कस्तूरी के हिरन की तरह इधर-उधर दौड़ते फिरते हैं, चित्त बल्लियों उछलने लगता है। जब कोई सम्पत्ति स्थायी रूप से प्राप्त हो जाती है तो उसका अहंकार चढ़ आता है उसे ऐसा मालूम पड़ता है मानो मैं साधारण मनुष्यों की अपेक्षा सैकड़ों गुना भारी हूँ। वैभव के मद में वह इतराता है, दूसरों का अपमान करके अपनी महत्ता का प्रदर्शन करता है, मुँह लटका कर, भौह चढ़ाकर, उपेक्षा भाव से बात करता है, बार-बार अपने मुँह अपनी प्रशसा करता है, दूसरों के मुँह यदि अपनी प्रशंसा न सुनी जाय तो वह चिढ़ जाता है, खुशामदी और चापलूसों के अतिरिक्त किसी से उसकी नहीं पटती।

सम्बन्धित व्यक्तियों पर, नौकरों पर, घर वालों पर, यहाँ तक कि कभी-कभी अपने पर भी रोब जमाता है, अहंकार का मद, वैभव का घमण्ड, एक बोतल के नशे की तरह चढा रहता है। अपने "बड़प्पन" की रक्षा के लिए भारी फिजूलखर्ची का बोझ अपनी पूंछ से बांधे फिरता है। अमीर, उमराव, राजा, रईस, महन्त, मठाधीश, अफसर, अहलकार, सिद्ध, कलाकार कहे जाने वाले लोगों में इस प्रकार के अहंकारी नशे में चूर व्यक्ति अधिक मात्रा मे मिल सकते है। गर्दन-फुलाये, मुँह लटकाये, भौंहें चढ़ाये, अकड़-अकड़ कर उपेक्षा और अपमानपूर्ण ढंग से बात करने के स्वभाव को देखकर यह आसानी से पहचाना जा सकता है कि यहाँ अहंकार का नशा चढ़ा हुआ है।

ऐसे अहंकार के नशे में मदहोश पड़े हुए लोगों को अपनी प्रेस्टेज, पोजीशन, मान, बड़ाई, बड़प्पन, खातिर की बड़ी चिन्ता रहती है। इसके लिए हर काम में बहुत अधिक फिजूलखर्ची करती पड़ती है। उस फिजूलखर्ची की सामग्री को जुटाने के लिए अनुचित साधन जुटाने पड़ते है, अनेकों प्रकार की बुराई ओढ़नी पड़ती है। इस प्रकार एक तो अहंकार के नशे की जलन, दूसरे उस नशे को बनाये रहने के साधनों की चिन्ता, दोनों प्रकार की आकुलताएँ मन में कुहराम मचाये रहती हैं और दुःख प्रधान आवेशों से अन्तःकरण में जैसी अशान्ति रहती है वैसी ही सुख प्रधान आवेशो में भी उत्पन्न हो जाती है। इन दोनों से ही बचना आवश्यक है। शराब का नशा और अफीम का नशा आपस में अलग-अलग प्रकार के अवश्य है परन्तु मस्तिष्क को बिगाड़ने में दोनो में से कोई किसी से पीछे नही रहता। यही बात सुख प्रधान और दुःख प्रधान आवेशो के बारे में है। दोनों से ही स्वास्थ्य एवं विवेक की क्षति होती है। गीता आदि शास्त्रों में इसीलिए ही दोनों प्रकार के आवेशों, द्वन्द्वों से दूर रहने का जोरों से प्रतिपादन किया गया है।

जीवन को समुन्नत देखने की इच्छा करने वालों के लिए यह आवश्यक है कि अपने स्वभाव को गम्भीर बनाये। उथलेपन, लड़कपन, छछोरपन की जिन्हें आदत पड़ जाती है वे गहराई के साथ किसी विषय में विचार नहीं कर सकते। किसी समय मन को गुद-गुदाने के लिए बाल-क्रीड़ाएँ की जा सकती है, पर वैसा स्वभाव न बना लेना चाहिए। आवेशों से बचे रहने की आदत बनानी चाहिए। जैसे समुद्र तट पर रहने वाले पर्वत, नित्य टकराते रहने वाली समुद्र की लहरों की परवाह नहीं करते। इसी प्रकार अपने को भी उद्वेगों की उपेक्षा करनी चाहिए। खिलाड़ी खेलते हैं, कई बार हारते हैं, कई बार जीतते हैं। कई बार हारते-हारते

जीत जाते हैं, कई बार जीतते-जीतते हार जाते हैं । कभी-कभी बहुत देर हार-जीत के झूले में यों ही झूलते रहते हैं, परन्तु कोई खिलाड़ी उसका अत्यधिक असर मन पर नहीं पड़ने देता । हारने पर कोई सिर धुनकर क्रन्दन नहीं करता और जीतने पर न कोई अपने को बादशाह मान लेता है । हारने वालों के होठों पर झेंप भरी मुस्कराहट होती है और जीतने वाले के होठों पर जो मुस्कराहट रहती है उसमें सफलता की प्रसन्नता मिली होती है । इस थोड़े से स्वाभाविक भेद के अतिरिक्त और कोई विशेष अन्तर जीते हुए तथा हारे हुए खिलाड़ी में नहीं दिखाई पड़ती । विश्व के रंगमंच पर हम सब खिलाड़ी हैं । खेलने में रस है, वह रस दोनों दलों को समान रूप से मिलता है । हार-जीत तो उस रस की तुलना में नगण्य चीज है ।

"फल की इच्छा त्याग कर कर्म करो" गीता के कर्म योग का यही मूल मन्त्र है । इसका भावार्थ यह है कि अपने काम करने की कार्य प्रणाली में आनन्द अनुभव करो । फल मिलने की प्रतीक्षा तक आनन्द की प्रतीक्षा करना बुद्धिमानी नहीं है । अभीष्ट फल मिलने में देर हो सकती है । कई बार बड़े-बड़े विघ्न बीच में आ सकते हैं, कभी-कभी उल्टा परिणाम भी निकल सकता है । कर्म करना अपने हाथ है, फल मिलना दैवाधीन है । इसलिए कर्म में ही रस अनुभव करना चाहिए जैसा कि खिलाड़ी लोग खेलने के समस्त क्षणों में प्रसन्नता अनुभव करते रहते हैं । जब सम्पत्ति मिले, वैभव प्राप्त हो तब घमण्ड के नशे में इतराना न चाहिए जब विपत्ति का सामना करना पड़े तो सिर न धुनना चाहिए । धैर्यवान् पुरुषों का सिद्धान्त कहता है कि "जब जैसी (सम्पत्ति या विपत्ति) आ पड़ेगी तब तैसी करेंगे ।" विपत्ति में से छुटकारा पाने और सम्पत्ति को बढ़ाने का प्रयत्न निरन्तर जारी रहना चाहिए, क्योंकि ऐसा करना पुरुषोचित कर्तव्य है । अधीरता कायरता है, और कायरता एक सच्चे पुरुष के लिए सबसे बड़ी लज्जा की बात है ।

जिस सुख को प्राप्त करने के लिए लोग अधीर रहते हैं, जिस सुख के अभाव में लोग अपना सिर धुनते हैं और न करने योग्य कार्य कर बैठते हैं, उस सुख को दुःख निवारण और सुख प्राप्ति के प्रयत्न में भी प्राप्त किया जा सकता है । कर्तव्य का पालन, उचित दिशा में काम, लक्ष्य की ओर पूरा प्रयत्न, ईमानदारी, निष्ठा और एकाग्रता का समन्वय, इन सब बातों में पूरा-पूरा आनन्द भरा हुआ है । जब अपने हाथ में अमृत का घट मौजूद है तो प्यास-प्यास रट कर तालू को क्यों सुखाया जाय ? जब कस्तूरी अपने पास मौजूद है तो सुगन्ध के लिए इधर-उधर क्यों भटका जाय ? जब कर्तव्य-पालन के साथ-साथ हर घड़ी प्रसन्नता अनुभव की जा सकती है तो "जब फल मिले तब आनन्द अनुभव करें" इतनी बड़ी एवं अनिश्चित प्रतीक्षा के लिए अपने आपको क्यों बाँधे रखा जाय ?

सुनहरे भविष्य की आशा करनी चाहिए, अधिक उत्तम स्थिति को प्राप्त करने की आकांक्षा करनी चाहिए, उन्नति के लिए जी-तोड़ प्रयत्न करना चाहिए, यह सब करते हुए भी अति लोभ से आतुर होकर हथेली पर सरसों जमने की उद्विग्नता न करनी चाहिए । मन में इतना धैर्य रहना चाहिए कि प्रलय तक का समय लगे तो भी प्रयत्न उसी उत्साह से जारी रखेंगे, दृढ़ता इतनी होनी चाहिए कि वज्र जैसे विघ्न आयें तो भी उन्हें पार करेंगे । इसी प्रकार जब मृत्यु, शोक, हानि, रोग, कलह, अन्य किसी प्रकार के संकट आयें तो उनके निवारण करने के उपाय सोचने और कार्य करने में शक्ति को लगाना चाहिए । यदि कष्ट में पड़ना पड़े तो उसे हँसते हुए सहकर अपनी वीरता का परिचय देना चाहिए । इन्द्रियभोगों को प्राप्त करने की आतुरता भी कभी-कभी बेचैन बना देती है, उस पर भी नियन्त्रण करने की आवश्यकता है । स्वादेन्द्रिय को जीतना चाहिए, व्रत उपवास द्वारा स्वाद रहित भोजन करने की आदत डालकर चटोरेपन पर विजय प्राप्त करनी चाहिए । सिनेमा, नाटक, नाच, रंग जैसे हानिकर मनोरंजनों से हठपूर्वक मन को रोकना चाहिए । काम-वासना की सीमा मर्यादित रखनी चाहिए । यदि मन असमय चंचल हो तो उसका दमन करना चाहिए । स्वादेन्द्रिय और कामेन्द्रिय से छोटे-छोटे युद्ध समय-समय पर बार-बार टालते रहने चाहिए । जैसे किसी दिन निश्चय किया कि आज शाम तक मिठाई न खायेंगे, उस दिन उस प्रतिज्ञा को पूरी तरह निभा ही देना चाहिए । किसी दिन नमक न खाने की, किसी दिन दूध न पीने की, किसी दिन उपवास की, किसी दिन कुछ समय मौन रहने का निश्चय करना चाहिए और उसे पूरा

ही कर लेना चाहिए । जिस दिन जो इच्छा प्रबल हो उस दिन उसका जरूर दमन करना चाहिए । इस प्रकार अभ्यास करने से कुछ दिन में आत्मनिग्रह की शक्ति बढ़ जाती है और इन्द्रिय वश में आ जाती है । इन्द्रियों को उनके भोग देने आवश्यक हैं, पर वह उन्हें विवेकपूर्वक, चिकित्सक बुद्धि से देने चाहिए । रोगी जो माँगता है वह उसे नहीं खिलाया जाता, परन्तु यदि डॉक्टर रोगी की रुचि के विपरीत कड़वी औषधि दे तो भी उसे वह खानी पड़ती है । यही दृष्टिकोण इन्द्रिय भोगों के सम्बन्ध में होना चाहिए । इन्द्रियों की स्थिति रोगी की है, उनकी इच्छा केवल रसास्वादन के आधार पर होती है, हानि-लाभ की दूरदर्शिता का विचार, उनमें नहीं होता । रसास्वादन के चटोरेपन मे मर्यादा का अतिक्रमण करती है, जिससे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को भयंकर हानि होती है । उसके अतिरिक्त जब इन्द्रियाँ बहुत प्रबल हो जाती हैं, विवेक उन्हें परास्त नहीं कर सकता तब वे जब चाहें तब मन में भयंकर हलचल मचा देती हैं और शांति के स्थान पर चंचलता का साम्राज्य स्थापित कर देती हैं । ऐसी स्थिति सर्वथा अवांछनीय है । स्थिरता को नष्ट करने वाली है । इसलिए इन्द्रियजन्य मनोवेगों को रोकने, लड़ने, प्रतिबन्ध लगाने एवं परास्त करने के लिए नित्य कोई न कोई छोटे-बड़े अवसर तलाश करते रहने चाहिए । कुछ दिनों के प्रयत्न से वासना शक्ति निर्बल हो जाती है, उसमें वह प्रबलता नहीं रहती कि जब चाहे तब मानसिक शांति को नष्ट करो ।

निराकुलता में अनन्त शान्ति भरी हुई है । योगी जन विचारों को हटाकर चित्त को शून्य बनाने का अभ्यास किया करते हैं, यह निराकुलता का अभ्यास है । कैवल्य, निर्विकल्प, समाधि क्या है ? निराकुलता की सर्वोच्च सफलता है । इस मार्ग में जो जितना आगे बढ़ जाता है, उसे उतना ही आनन्द आता है, उसकी शक्ति उतनी ही बढ़ जाती है, विवेक बुद्धि में उतनी ही स्वच्छता आ जाती है । केवल योगियों के लिए ही नहीं हर व्यक्ति के लिए निराकुलता की आवश्यकता है । इस निराकुल अवस्था को प्राप्त करना संसार की सबसे बड़ी सफलता है, क्योंकि इसी से आत्मतेज उदय होता है । यही ब्रह्म विद्या का रहस्य है ।

# वैराग्य की विवेचना

वैराग्य का अर्थ है—*रागों को त्याग देना । राग* मनोविकारों को, दुर्भावों और कुसंस्कारों को कहते है । अनावश्यक मोह, ममता, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, शोक, चिन्ता, तृष्णा, भय, कुढ़न आदि के कारण मनुष्य जीवन में बड़ी अशांति एवं उद्विग्नता रहती है । कितने ही लोग अपने को बड़ा दीन-दुःखी, अभावग्रस्त, संतृप्त, अभागा समझते हैं और यह रोना रोते रहते हैं कि हमारे पास अमुक वस्तु नहीं, अमुक स्थिति अनुकूल नहीं, अमुक त्रास है । परन्तु असली बात दूसरी होती है । अन्तःकरण में रहने वाले राग-द्वेष भीतर से उठते हैं और मन में घुमड़ाते हैं उन्हीं की विषैली गर्मी से मनुष्य संतृप्त रहता है ।

तत्वदर्शी सुकरात का कथन है कि, "संसार में जितने दुःख हैं, उनमें तीन चौथाई काल्पनिक है ।" मनुष्य अपनी कल्पना शक्ति के सहारे उन्हें अपने लिए गढ़कर तैयार करता है और उन्हीं से डर-डर कर खुद दुःखी होता रहता है । यदि वह चाहे तो अपनी कल्पना शक्ति को परिमार्जित करके, अपने दृष्टिकोण को शुद्ध करके, इन काल्पनिक दुःखो के जंजाल से आसानी से छुटकारा पा सकता है । आध्यात्म शास्त्र में इसी बात को सूत्र रूप में इस प्रकार कह दिया है कि, "वैराग्य से दुःखों की निवृत्ति होती है ।" हम मनचाहे भोग नही भोग सकते । धन की, सन्तान की, अधिक जीवन की, भोग की एवं मनमानी परिस्थिति प्राप्त होने की तृष्णा किसी भी प्रकार पूरी नहीं हो सकती, एक इच्छा पूरी होने पर दूसरी नई दस इच्छाएँ उठ खड़ी होती हैं । उनका कोई अन्त नहीं, कोई सीमा नहीं । इस अतृप्ति से बचने का सीधा-साधा उपाय अपनी इच्छाओं एवं भावनाओं को नियन्त्रित करना है । इस नियन्त्रण द्वारा, वैराग्य द्वारा ही दुःखों से छुटकारा मिलता है । *दुःखों से छुटकारे का वैराग्य* ही एक मात्र उपाय है ।

वैराग्य हिन्दू-धर्म की शिक्षाओं में आदि से अन्त तक ओत-प्रोत है । जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त हर मनुष्य को वैरागी रहने का आदेश है, क्योंकि वैरागी मनुष्य ही अपने मानसिक सन्तुलन को ठीक रख सकता है, जीवन के सच्चे आनन्द का उपभोग कर सकता है । उन्नत, समृद्धि,· यशस्वी, प्रतापी एवं पारलौकिक

सम्पन्नता के लिए भी वैराग्य की प्राथमिक आवश्यकता हैं । एक शब्द मे यों कह सकते हैं, "जीवन को सुसम्पन्न बनाने का एक मात्र आधार वैराग्य है ।" गीता का कर्म-योग, वैराग्य का ही दूसरा नाम है ।

हर स्थिति के व्यक्ति को सदैव अपना दृष्टिकोण वैराग्य मय रखना चाहिए, यह भारतीय दर्शन शास्त्र का सर्वमान्य सिद्धान्त है । इस सिद्धान्त की चर्चा प्राचीन ग्रन्थों में हमें सविस्तार मिलती है, पर कितने दुःख की बात है कि आज वैराग्य के अर्थ का अनर्थ कर दिया गया है । उसका तात्पर्य कुछ से कुछ निकाला जाने लगा है । आज हमें वैरागी कहलाने वालों की एक भारी जनसंख्या निरुद्देश्य बेकारी में समय काटती हुई, मुफ्त की रोटियाँ खाती हुई, इधर से उधर मारी-मारी फिरती दीखती है । आज के वैराग्य का अर्थ यह समझा जाता है घर छोड़कर चल देना, कुटुम्ब के महान उत्तरदायित्व को तिनके के समान तोड़ कर फेंक देना, संसार को मिथ्या बताना, फिर भी संसार के अन्न, वस्त्र, मकान, धन आदि का उपभोग करना, लोक सेवा से सर्वथा दूर रह कर अपनी निजी मुक्ति या स्वर्ग प्राप्ति की खुदगर्जी की बातें सोचते रहना । भांग, चरस, गाँजा, तम्बाकू आदि नशीले पदार्थों की भरमार रखना, पात्र-कुपात्र का विचार न करके दीनतापूर्वक भीख माँगना, भाग्यवादी अकर्मण्यता का उपदेश करना, विचित्र प्रकार का वेश बना लेना आदि ।

आज के वैरागियों ने वैराग की दुर्दशा कर रखी है । आइये ! उस पर विचार करें और यह देखें कि उनकी कार्य पद्धति ठीक है या नहीं ? छोटे-छोटे बाल-बच्चों को अनाथ बनाकर, तरुण पत्नी, वृद्ध माता-पिता को छोड़कर कई लोग घर से भाग खड़े होते हैं, यह "कार्य परित्याग" किसी भी दृष्टि मे उचित नहीं ठहराया जा सकता । प्राचीन समय मे ऐसे उदाहरण हमें देखे नहीं मिलते । साधारण जनता अपना साधारण गृहस्थ जीवन बिताते हुए ही वैराग्य का दृष्टिकोण अपनाने का प्रयास करती थी, पर जो विशेष रूप से वैराग्य साधन का कार्यक्रम बनाते थे, वे भी कुटुम्ब को त्यागते न थे । योगेश्वर भगवान शंकर ने दो बार विवाह किया, उनकी पहली स्त्री सती और दूसरी पार्वती थी । गणेश और स्वामिकार्तिक दो पुत्र उनके थे । गीता के प्रवक्ता योगिराज श्रीकृष्ण के कई स्त्रियाँ और कई सन्तानें थीं । शुकदेव जी को ब्रह्म-विद्या सिखाने वाले राजा जनक की एक सौ पत्नियाँ थीं । याज्ञवल्क्य ऋषि की कात्यायनी और मैत्रेयी दो स्त्रियाँ थीं । गौतम ऋषि की अहिल्या पत्नी थीं । जमदग्नि की रेणुका स्त्री और परशुराम पुत्र थे । च्यवन ऋषि की सुकन्या पत्नी थी । अत्रि ऋषि की स्त्री अनसूया थी, जिन्होंने सीताजी को पतिव्रत धर्म का उपदेश किया । व्यासजी की पत्नी मत्सोदरी ने शुकदेव जी को जन्म दिया । वशिष्ठ जी के शत पुत्रों को विश्वामित्र जी ने मार डाला । लोमश ऋषि के पुत्र शृंगी ऋषि ने परीक्षित को शाप दिया । दुर्वाशा ऋषि के शकुन्तला कन्या थी । पुलिस्त ऋषि के पुत्र रावण हुआ । उद्दालक ऋषि के पुत्र नचिकेता थे । उद्दालक, वाजिश्रवा के पुत्र थे । द्रोणाचार्य का पुत्र अश्वत्थामा था । छान्दोग्य उपनिषद में उपमन्यु के पुत्र प्राचीनशाल, पुलुष के पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लव के पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्ष के पुत्र जन और अश्वतराश्विका के पुत्र बुडिल इन पाँचों को महाशाल अर्थात् वेद पढ़ाने वाले महा अध्यापक लिखा है, वे पाँचों ऋषिकुमार थे । अरुण के पुत्र आरुणि उद्दालक के श्वेतकेतु पुत्र था । इन सबकी माताओं के नाम अविदित हैं तो भी उनकी माताएँ रही अवश्य होंगी । इस प्रकार उन ऋषियों का सपत्नीक होना निश्चित है । यह आम प्रथा थी । गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए ऋषि लोग वैराग्य मय जीवन बिताते थे । इसमें न तो कोई दोष है और न कभी कोई दोष समझा गया है । आज का वैराग्य तो विचित्र वैराग्य है, उसमें उत्तरदायित्व और कर्तव्य कर्मों का त्याग ही, त्याग समझा जाने लगा है ।

आज के वैरागी दुनिया को मिथ्या बताते हैं और लोक सेवा से नाक-भौं सिकोड़ कर अपने निजी स्वर्ग मुक्ति की तरकीबें लड़ाते हैं, पर प्राचीनकाल में यह विचारधारा बहुत बुरी दृष्टि से देखी जाती थी । यह तो एक विशुद्ध खुदगर्जी है । व्यापारी लोग अपने निजी लाभ के लिए धन कमाते हैं ऐसी दशा मे उनके लिए भिक्षा माँगने का कोई अधिकार नहीं और न वे माँगते ही हैं । इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने निजी स्वर्ग या मुक्ति की साधना में लगे हुए हैं उन्हें दूसरों से भिक्षा माँगने या दूसरों पर अपना किसी प्रकार का कोई भार डालने का अधिकार नहीं है । प्राचीनकाल में ऋषि गण इस प्रत्यक्ष सत्य को भली-भाँति जानते

थे और वे अपने जीवन को लोकोपयोगी कार्यों में लगाये रहते थे। जब अपना सारा जीवन जनता जनार्दन के चरणों में अर्पण कर दिया तो प्रसाद स्वरूप दान या भिक्षा के रूप में निर्वाह साधन लेने का भी उन्हें अधिकार था। आज तो वैरागी कहे जाने वाले लोग लोक सेवा से कोसों दूर भागते हैं और दूध मलाई उड़ाने के लिए तैयार रहते हैं।

प्राचीनकाल में ऋषिलोग लोक सेवा में तल्लीन रहते थे। धन्वन्तरि, अश्विनीकुमार, चरक, सुश्रुत, बाणभट्ट, शार्ङ्गधर आदि ऋषियों के शरीर विज्ञान स्वास्थ्य, औषधि, अन्वेषण और चिकित्सा में अपने सारे जीवन लगाये। जनता को रोग मुक्त करके उसे सुखी बनाने के लिए उन्होंने अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया। नागार्जुन सरीखे कितने ही वैज्ञानिक रसायन विद्या की शोध करके जनता के लिए उपयोगी ज्ञान सामने लाये। आर्य भट्ट सरीखे ऋषि खगोल विद्या के अन्वेषणों में लगे रहे और ग्रह, नक्षत्रों की गतिविधि की महत्त्वपूर्ण जानकारी जनता के सामने रखी। नालन्दा, तक्षशिला जैसे पचासों विश्वविद्यालय उन्हीं के द्वारा चलते थे और संसार में विद्या का प्रकाश किया जाता था। वात्स्यायन जैसे कामशास्त्र के अन्वेषक वैरागी ही थे। बाणविद्या द्रोणाचार्य सिखाते थे। नारद जी सदा भ्रमण ही करते रहते थे और एक स्थान के समाचारों से दूसरे स्थान की जनता को अवगत कराते थे। विश्वकर्मा ऋषि शिल्प विद्या के आचार्य थे। चाणक्य राजनीति के अनुपम महारथी थे। समय पड़ने पर परशुराम जी ने अत्याचारी शासकों के विरुद्ध स्वयं फरसा उठाया और उन्हें मिटा कर जनता को अभय किया। असुरों के नाश के लिए दधीचि ने अपनी अस्थियाँ तक निकाल कर दे दीं। व्यासजी ने अनुपम काव्य पुराण लिखे, सूत जी कथा और उपदेशों द्वारा धर्म प्रचार करते थे। संगीत, साहित्य, व्याकरण, सर्पविद्या, विमान विद्या, शस्त्र विद्या, अर्थशास्त्र, युद्ध विद्या, मन्त्र विद्या, रसायन विद्या, पशु विद्या आदि अनेकानेक प्रकार के वैज्ञानिक अन्वेषण ऋषियों के आश्रमों में होते थे और वहाँ से बड़ा महत्त्वपूर्ण ज्ञान संसार को मिलता था। वे एकान्त सेवी नहीं थे वरन् संसार की गतिविधि पर अपना पूरा नियन्त्रण रखते थे, राजाओं के शासन उनकी इच्छानुसार चलते थे। दशरथ के गुरु वशिष्ठ जी, असुरों के गुरु शुक्राचार्य, देवताओं के गुरु बृहस्पति जी निमन्त्रण जीम कर दक्षिणा लेने वाले गुरु नहीं थे। उनके नियन्त्रण में ही राजसत्ता की सारी गतिविधि चलती थी।

आज के तथा कथित वैरागी "दुनिया से हमें क्या मतलब" की रट लगाते हैं, पर प्राचीनकाल में इस दूषित, ओछे, संकीर्ण दृष्टिकोण को कोई सच्चा वैरागी पास भी नहीं फटकने देता था। भगवान बुद्ध कहा करते थे कि "मैं तब तक स्वर्ग या मुक्ति नहीं चाहता जब तक कि संसार का एक भी प्राणी बन्धन में है।" कहाँ वह बोधितत्वमयी ऋषी उचित भावनाएँ? कहाँ आज के वैरागियों का खुदगर्ज दृष्टिकोण? दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर है। आज देश और जाति की जो दुर्दशा है उसे देखकर सच्चे सन्त का हृदय पानी की तरह पिघल पड़ता है। प्रतिवर्ष लाखों गौएँ के सिर-धड़ से अलग हो जाते हैं, असंख्यों स्त्री, बच्चे उदर की ज्वाला शान्त करने के लिए विधर्मी बन जाते हैं। बीमारी, गरीबी, विदेशी शासन की रक्त शोषक दासता, अविद्या, साम्प्रदायिक कलह, आदि के कारण भारत माता जर्जर हो रही है। जिसके हृदय में सन्तपन का एक कण भी मौजूद है वह चुप नहीं बैठ सकता, अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार पीड़ित जनता की सेवा के लिए कुछ न कुछ किए बिना उससे रहा ही नहीं जा सकता। ५६ लाख वैरागी जिस काम को भी हाथ में ले लें उसे बात की बात में पूरा कर सकते हैं, पर करें तब न जब सन्तपन या वैराग्य की सच्चाई उनके पास हो।

वेश की नकल करने से कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। सिंह की खाल ओढ़ कर गधा सिंह नहीं बन सकता। जिस वेश की नकल करके आज लोग वैरागी कहलाते हैं, वह प्राचीन समय में सर्वसाधारण का गृहस्थों का वेश था। प्राचीन समय के महापुरुषों के या देवताओं की तस्वीरें या मूर्तियाँ जो आजकल प्राप्त होती हैं उनमें हम देखते हैं कि वे प्रायः नंगे बदन रहते थे, धोती और बहुत हुआ तो कन्धे पर दुपट्टा यही भारतीय पहनावा था। सिर पर सब कोई लम्बे बाल रखते थे। आबादी कम थी, जंगल अधिक थे। छोटे-छोटे गाँवों में झोंपड़ी बनाकर वनवास करना पड़ता था। लकड़ी की खड़ाऊँ आसानी से बिना खर्च और कठिनाई के बन जाती थी। वस्त्रों के अभाव में

अपने आप मरे हुए मृग आदि पशुओं का चर्म आसन आदि के काम में ले लिया जाता था । दियासलाई उस वक्त थी नहीं, जंगली हिंसक पशुओं को डराने के लिए अग्नि जलती रखी जाती थी, लकड़ियों की कमी थी नहीं यह धूनी हर घर में सदा ही जलती रहती थी । यह सब रहन-सहन आम जनता का था । सन्तों का वैरागियों का भी वही रहन-सहन था । आज स्थिति बदल गई है, पुरानी रहन-सहन की नकल करना उतना उपयोगी नहीं रहा है, पर आज तो वह नकल वैरागी होने के साइनबोर्ड की तरह काम में लायी जाती है । इस अनुकरण में क्या विवेकशीलता है, इसे वे नकलची ही समझ सकते हैं । जबकि न तो हिंसक पशुओं के आक्रमण का भय है न लकड़ियो की बहुतायत, दियासलाई से अग्नि प्राप्ति की असुविधा भी नहीं रही ऐसी दशा में धूनी जलाने का क्या प्रयोजन है इसे वे ही समझ सकते हैं ।

विवेकशीलता हमें पुकारती है । प्राची से प्रकाश ही उदय हो रहा है । हमें हर समस्या पर विवेक के आधार पर विचार करना पड़ेगा । वैराग्य जैसे महातत्व को दैनिक व्यवहार में उपयोग करके जीवन को सच्चे अर्थ में आनन्दित बनाना लाभदायक है या वैराग का ऊटपटांग आडम्बर करना उचित है ?

## गृहत्याग क्यों ?

एक भ्रमपूर्ण ख्याल है कि, "घर में प्रेम न करना चाहिए, स्त्री-बच्चों के प्रेम में फँस जाने से नरक मिलता है ।" इस ख्याल के अनुसार कई मनुष्य अपने ऊपर पड़े हुए गृहस्थ कर्तव्य को छोड़कर भाग खड़े होते है और ईश्वर-भक्ति की रट लगाते है । कई नौजवान जो अपनी जिम्मेदारी निवाहने में नालायक साबित होते हैं, घर-बार से मुँह मोड़कर गेरुआ कपड़ा पहन लेते हैं और इधर-उधर भीख माँगते फिरते है । इनके आश्रित जो परिवार था, वह नाना प्रकार के कष्ट पाता हुआ बिलख-बिलख कर उन्हें कोसता है । पति रहित होकर स्त्री को अपमानित, अभावपूर्ण और अशान्तिमय जीवन व्यतीत करना पड़ता है । यूरोप जैसे देशों में ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देना किसी अंश तक बहुत बुरा नहीं है, क्योंकि वहाँ स्त्री को दुबारा घर बसा लेने की मंजूरी है, किन्तु भारतवर्ष में हिन्दू-धर्म के अनुसार जहाँ स्त्रियों को इस प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं है, वहाँ उन्हें घुट-घुटकर मरने के लिए विवश करने वाला संन्यासी पति निश्चय ही प्रथम श्रेणी का अविवेकी है । स्वेच्छाचारिणी स्त्री को स्वतन्त्र कर देना बात दूसरी है पर बेचारी अबला का एकमात्र अवलम्बन तोड़ देना बहुत ही बुरी बात है । इसी प्रकार जिन बालकों के भरण-पोषण एवं शिक्षा-दीक्षा का भार प्रभु ने सौंपा है, उस भार को एक ओर पटक कर ईश्वर की रट लगाने के लिए निकल पड़ना कैसी भक्ति है ? यह समझ में नहीं आता । वृद्ध माता-पिता की सेवा, भाइयों की सहायता, स्त्री-पुत्रों का पूरा विकास, निकटवर्ती बान्धवों की सेवा, यह सब त्याग कर धृष्टता पूर्वक गेरुआ कपड़े पहन कर भिखारी बनने वाला व्यक्ति उस सेवक का उदाहरण बनता है जो अपने स्वामी के सौंपे हुए काम को तो तोड़-फोड़ कर चकनाचूर कर देता है और स्वामी का नाम जपने के लिए माला ले बैठता है । स्वामी किसी भी प्रकार उससे प्रसन्न नहीं हो सकता । भला ऐसे मूढ़ सेवक पर प्रसन्न हो भी कौन सकता है, जो कर्तव्य की तो कायरतापूर्वक उपेक्षा करता है और स्वामी को खुश करने की शेखचिल्ली जैसी अन्य युक्तियाँ सोचता है । रात को मालिक के घर की रखवाली के समय दुम दबाकर छिपे रहने वाला और दिन में मालिक के सामने दुम हिलाने वाला और पांव चाटने वाला कुत्ता क्या कभी अपने स्वामी का प्रिय पात्र बन सकता है ?

किसी अत्यन्त महान कार्य को पूर्ण करने में गृह, कुटुम्ब, धन तथा प्राणों की बाजी लगा देना दूसरी बात है । विश्व सेवा का उच्चतम कार्य करने का किसी व्यक्ति में साहस हो और उस यज्ञ में आहुति देने के लिए अपनी प्राणप्रिय वस्तुओं को भी समर्पित कर देना दूसरी बात है । वह बहुत ऊँची और सराहनीय स्थिति है, किन्तु साधारण जीवन बिताने में घर की अपेक्षा बाहर को महत्त्व देना, ईश्वर प्रेम के नाम पर आश्रित जनों को फांसी पर टांगना कायरता, बुझदिली, नपुंसकता और निकम्मेपन के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता । ईश्वर ऐसा क्रूर और निर्दयी नहीं है जो मनुष्यों को यह आदेश करे कि तुम अपने सांसारिक उत्तरदायित्वों को छोड़कर मेरे सामने नाक रगड़ो ।

ज्ञान से परिपूर्ण होकर मानसिक संन्यास ग्रहण करना और अपने जीवन को अधिक से अधिक लोगों की सेवा में लगा देना बहुत ही प्रशंसनीय कार्य है । ऐसी उच्चतम दशा जब परिपक्व हो जाय तो पके हुए

फल की तरह डाली से टूट पड़ना असम्भव है । यही संन्यास की दशा स्वाभाविक है । ऐसा संन्यासी बहुत काल पूर्व से अपनी साधना आरम्भ करता है और अपने आश्रितों को मानसिक और भौतिक दृष्टि से ऐसा स्वावलम्बी बना देता है कि घर में रहने या घर छोड़ने में कुछ अन्तर नहीं रह जाता । उसे किसी कारणवश परिव्राजक बनाना पड़े तो घर वालों को कष्ट नहीं होता । आवेश में आकर किंकर्तव्य विमूढ़ होकर किसी समस्या को सुलझाने मे असमर्थ होने पर गेरुआ कपड़ा पहन कर भिखारियों की श्रेणी में मिल जाना न तो ईश्वर भक्ति है, न मुक्ति साधना है, न त्याग है और न संन्यास है । यह तो एक प्रकार की आत्महत्या ही कही जायेगी ।

यह भ्रम पूर्ण विचार है कि घर में प्रेम न करना चाहिए, केवल इस बात का बोधक है कि पारिवारिक ममता में इतना लिप्त न हो जाना चाहिए कि जिससे परमार्थ का ध्यान भी न रहे । मोह और ममता का विस्तार होना घातक है । बच्चों में कभी-कभी इसकी अति आसक्ति देखी जाती है, इस अति पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए ही यह प्राचीन मत उपस्थित किया जाता है । वैराग्य, उदासीनता, निर्लिप्तता का भावार्थ मानसिक निष्काम भाव है । मन में विषयों को चिन्तन करता हुआ बाहर से त्याग के आडम्बर करने वाला तो गीता के मत से मिथ्याचारी ही कहा जायेगा । राजा जनक इतने बड़े योगी थे कि उनसे बड़े-बड़े ऋषि योग-विद्या सीखने आते थे । गृहस्थ रह कर ही संन्यासी बनने का अभ्यास करना चाहिए । निष्काम भाव से कर्तव्य धर्म का पालन करते हुए निःस्वार्थ प्रेम की उपासना करनी चाहिए ।

कर्तव्य भावना से प्रेम प्राप्त करने का हर एक प्राणी अधिकारी है, फिर यह कैसे उचित कहा जा सकता है कि स्त्री-बच्चों के साथ सुस्नेह का परिचय न दिया जाय ।

## अपना स्वभाव उत्तम बनाइये !

दार्शनिक इमर्सन कहा करते थे कि, "यदि मुझे नरक मे रहना पड़े तो मैं अपने उत्तम स्वभाव के कारण वहाँ भी स्वर्ग बना लूँगा ।" जिनकी मनोभावनाएँ, विचारधाराएँ, मान्यताएँ उच्चकोटि की सात्विक है उसके लिए सर्वत्र स्वर्ग ही स्वर्ग है, आनन्द, प्रेम, सद्व्यवहार ही उसे चारों ओर उमड़ पड़ता हुआ दीखता है, उसके लिए इस लोक में या परलोक में कहीं भी नरक नहीं है, किन्तु जिसका दृष्टिकोण निकृष्ट है, नीति अच्छी नहीं है, भावनाएँ संकुचित हैं, उसके लिए नरक का दावानल ही चारों ओर जल रहा है, न तो उसे इस लोक में सन्तोष है और न परलोक में ही रहेगा । नरक उसके हृदय में भरा हुआ है इसलिए जहाँ कही भी वह जायेगा छाया की तरह नरक उसके पीछे-पीछे लगा फिरेगा । सब लोग उसे धोखेबाज, दुष्ट, सताने वाले और स्वार्थी दिखाई देंगे, मनुष्य भी ऐसे ही, और स्वर्ग के देवता भी ऐसे ही ।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमारा तात्पर्य यह बताने का है कि अपनी विचारधारा और मानसिक अव्यवस्था के ऊपर संसार का प्रिय और अप्रिय होना निर्भर है । इसलिए हम अपने जीवन को जैसा बनाना चाहते है स्वेच्छापूर्वक बना सकते है । जिन परिस्थितियों में हम रहना चाहते हैं, जो वस्तुएँ प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें निःसन्देह प्राप्त किया जा सकता है । इस प्राप्ति का सर्व प्रधान उपाय यह है कि अपने आपको अनुकूल बनायें, अपने अन्दर वह बल, योग्यता और आकर्षण पैदा करें जिसके द्वारा इच्छित वस्तुओं को प्राप्त किया जा सके । किसी वस्तु को प्रचुर मात्रा में प्राप्त करने और उसे अधिक समय तक टिकाये रखने के लिए व्यक्तिगत विशेषताओं की आवश्यकता है । किसी की कृपा से कुछ सुख-सुविधा प्राप्त हो भी जाय तो वह न तो अधिक समय ठहरती है और न वह उसकी उन्नति में सहायक होती है, वरन् उल्टी विपत्ति में फँसा देती है । दुर्गुणी मनुष्य को यदि कहीं से एक लाख रुपया अनायास ही मिल जाय तो वह फैशन-परस्ती आदि दुष्कर्मों में थोड़े ही समय में उसे फूँककर बराबर कर देगा । उसके हाथ बीमारी, बदनामी, दुश्मनी, शोक, पश्चात्ताप ही रहेंगे । उस रुपये से जितना सुख उठाया था उसकी अपेक्षा अनेकों गुना दुःख, शोक उसके पल्ले बंध जायेगा, इस प्रकार अन्ततः वह एक लाख रुपया उस दुर्गुणी मनुष्य की भीतरी और बाहरी अशान्ति का ही कारण बनेगा । उसका लोक और परलोक उससे बनेगा नहीं उल्टा बिगड़ेगा ।

एक उत्तम प्रकृति का, भले स्वभाव का आदमी छोटे घर में पैदा होकर भी अपने सद्गुणों के कारण

लोगों के हृदयों में अपने लिए स्थान प्राप्त करता है। रुपया कमाता है, बड़ा बनता है, यशस्वी होता है, प्रतिष्ठा प्राप्त करता है, चारों ओर से उस पर सहायता बरसती है, सच्चे मित्र उसके स्वभाव सुगन्ध के कारण उसके आस-पास सदा ही मँडराते रहते हैं। ऐसी प्रकृति के मनुष्य के लिए उसकी गरीबी भी अमीरी से बढ़कर है जो आनन्द और उल्लास बदमिजाज अमीरों को कभी स्वप्न में भी प्राप्त नहीं होता उसे वह अपनी मामूली दशा में भी प्राप्त करता है।

सुखों की कुँजी लोग बाहर तलाश करते हैं। अमुक देवी-देवता, ग्रह-नक्षत्र, भूत-पलीत, जन्त्र-तन्त्र, राजा-रईस, सन्त-महन्त की कृपा से जो लोग अपने को सुखी बनाने की आशा करते हैं वे भारी भूल में हैं। दुनिया में केवल एक ही शक्ति है जो मनुष्य का उत्थान पतन करती है। वह है—"अपनी मानसिक स्थिति।" जो कोई महत्त्व को प्राप्त हुआ है इसी महाशक्ति की कृपा से हुआ है, जिसका नाश हुआ है इसी के श्राप से हुआ है। दूसरों की सहायता से हम अपनी इस शक्ति को उत्तमता के द्वारा स्थायी महत्त्व को प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु ऐसा नहीं हो सकता कि हमारी अयोग्यताएँ जहाँ की तहाँ बनी रहें और अनायास ही सुख सौभाग्य प्राप्त हो जाय। चोरी, जुआ, बेईमानी आदि के द्वारा कोई व्यक्ति थोड़े समय में अयोग्यताएँ होते हुए भी धनी बन सकता है, परन्तु स्मरण रहे वह धन उसे आन्तरिक सुख जरा भी न दे सकेगा, उल्टी उसे अशान्ति और क्लेश की जलती ज्वाला में धकेल देगा। ऐसी सम्पत्ति का होना, न होने से भी बुरा है।

यदि आप चाहते हैं कि समाज में आपका आदर हो, हर जगह आपकी बात पूछी जाय, सर्वत्र आपकी प्रशंसा हो, सब लोग आपके ऊपर स्नेह रखें, सच्चे मित्रों और सहायकों की वृद्धि हो, स्वास्थ्य उत्तम रहे, किसी वियोग या विपत्ति का सामना न पड़े, घरवाले सिर आँखों पर रखें, बड़े-बूढ़े आशीर्वाद दिया करें, छोटे आज्ञा पालन में खड़े रहें, पत्नी प्राण के समान प्रिय समझे, बराबर वालों की भुजा समझे जायें, समाज आपको अपना नेता माने, आपके चेहरे पर प्रसन्नता नाचती रहे, अन्तःकरण आनन्द में डूबा रहे, व्यापार आपका खूब चमके, मजदूर दूसरी जगह की अपेक्षा आपके यहाँ काम करना पसन्द करें, ग्राहक आपको छोड़ना न चाहे, यह सब बातें आपको प्राप्त हो सकती हैं, निश्चय हो सकती हैं। हम शपथपूर्वक कहते हैं कि उपर्युक्त सिद्धियों को प्राप्त करना मनुष्य के लिए बिल्कुल आसान है। यदि तीव्र इच्छा और दृढ़ साधना किसी में मौजूद है तो उसके लिए उपर्युक्त स्थिति को प्राप्त करना एक हँसी खेल के समान है।

शास्त्र कहता है "सत्यं सुखं संजयति" सत् से सुख उपजता है। यदि आप अपने को सुखी बनाना चाहते हैं तो अपने अन्दर दृष्टि डालिए, बुराइयों का सुधार कीजिए, अपने में सद्गुण उत्पन्न कीजिए। 'स्व' को सँभालते ही 'पर' सँभल जाता है। दुनिया दर्पण है, इसमें अपनी ही शक्ल दिखाई पड़ती है। पक्के मकान में आवाज गूँजकर प्रतिध्वनि उत्पन्न होती है इसी प्रकार अपने गुण, कर्म, स्वभावों के अनुरूप प्रत्युत्तर संसार से मिलता है। हम जिधर चलेंगे छाया भी पीछे-पीछे उधर ही चलेगी। इसलिए उचित है कि सुख प्राप्त करने का अपने को अधिकारी बनायें; अपने आचरण और विचारों में समुचित संशोधन करें यही सफलता का मार्ग है।

स्वभाव की उत्तमता में सहृदयता का बहुत ऊँचा स्थान है। अरस्तू का कथन है कि सच्चे अर्थों मे मनुष्य वही कहा जा सकता है जो सहृदय है। सहृदयता में ही सच्चा सौन्दर्य छिपा हुआ है।

रूखापन, जीवन की सबसे बड़ी कुरूपता है। कई आदमियों का स्वभाव बड़ा नीरस, रूखा, शुष्क, निठुर, कठोर और अनुदार होता है। उनका आत्मीयता का दायरा बहुत ही छोटा और संकुचित होता है। उस दायरे से बाहर के व्यक्तियो तथा पदार्थों में उन्हें कुछ दिलचस्पी नहीं होती, किसी की हानि-लाभ, उन्नति-अवनति, खुशी-रंज, अच्छाई-बुराई से उन्हें कुछ मतलब नहीं होता। अपने अत्यन्त ही छोटे दायरे में स्त्री, पुत्र, तिजोरी, मोटर, मकान आदि में उन्हें थोड़ा रस जरूर होता है बाकी की अन्य वस्तुओं के प्रति उनके मन में बहुत ही अनुदारतापूर्ण रुखाई होती है। कोई-कोई तो इतने कंजूस होते हैं कि अपने शरीर के अतिरिक्त अपनी छाया पर भी उदारता या कृपा नहीं दिखाना चाहते। इससे भी महाकंजूस इतने बढ़े-चढ़े होते हैं कि ये कजूसी में ही तन्मय हो जाते हैं, आत्मा के साथ कृपा करना तो दूर, शरीर के साथ में भी उदारता दिखाना

नहीं चाहते । अच्छे भोजन, अच्छे वस्त्र, अच्छे मकान आदि आवश्यक वस्तुओं में भी आवश्यकता से अधिक कठोरता करते हैं । ऐसे रूखे आदमी यह समझ ही नहीं सकते कि मनुष्य जीवन में कोई आनन्द भी है, अपन रूखेपन के प्रत्युत्तर में दुनिया बड़ी रूखी, नीरस, कर्कश, खुदगर्ज, कठोर और कुरूप मालूम पड़ती है ।

रूखापन जीवन की बड़ी भारी कुरूपता है । रूखी रोटी में क्या मजा है, रूखे बाल कैसे खराब लगते हैं, रूखी मशीन में बड़ी आवाज होती है और पुर्जे जल्दी ही टूट जाते हैं । रूखे रेगिस्तान में जहाँ रेत का सूखा हुआ समुद्र पड़ा है कौन रहना पसन्द करेगा । वैसे तो प्राणीमात्र ही विशेष रूप से ऐसे तत्वों से निर्मित है, जिसके लिए सरसता की, स्निग्धता की आवश्यकता है । मनुष्य का अन्तःकरण रसिक है, कवि है, सौन्दर्य उपासक है, कला प्रिय है, प्रेममय है । "हृदय का यही गुण है, सहृदयता का अर्थ कोमलता, मधुरता, आर्द्रता है जिसमें यह गुण नहीं उसे हृदयहीन कहा जाता है ।" हृदयहीन का तात्पर्य है जड़-पशुओ से भी नीचा। नीतिकार का कथन है कि—"संगीत साहित्य कला विहीन; साक्षात् पशुः पुच्छविषाण हीनः" इस उक्ति में कला विहीन नीरस मनुष्य को पशुओं से भी नीचा ठहराया गया है, क्योंकि पशुओं में तो सींग और पूछ की दो विशेषताएँ तब भी हैं उस मनुष्य में तो इनका भी अभाव है ।

जिसने अपनी विचारधारा और भावनाओं को शुष्क, नीरस और कठोर बना रखा है, वह मानव जीवन के वास्तविक रस का आस्वादन करने से वंचित ही रहेगा । उस बेचारे ने व्यर्थ ही जीवन धारण किया और वृथा ही मनुष्य शरीर को कलंकित किया । आनन्द का स्रोत सरसता की अनुभूतियों में है । परमात्मा को आनन्दमय कहा जाता है । क्यों ? इसलिए कि वह सरस है, प्रेममय है । श्रुति कहती है—"रसौवैसः" अर्थात्—वह परमात्मा रसमय है । भक्ति द्वारा, प्रेम द्वारा, परमात्मा की प्राप्ति करना सम्भव बताया गया है । निःसन्देह जो वस्तु जैसी हो उसको उसी प्रकार प्राप्त किया जा सकता है । परमात्मा दीनबन्धु, करुणासिंधु, रसिक बिहारी, प्रेम का अवतार, करुणानिधान, भक्त वत्सल है । उसे प्राप्त करने के लिए अपने अन्दर वैसी ही लचीली, कोमल, स्निग्ध, सरस भावनाएँ पैदा करनी पड़ती हैं । भगवान भक्ति के वश में हैं, जिनका हृदय कोमल है, भावुक है, परमात्मा उनसे दूर नहीं हैं ।

आप अपने हृदय को कोमल, द्रवित, पसीजने वाला, दयालु, प्रेमी और सरस बनाइये । संसार के पदार्थों में जो सरसता का, सौन्दर्य का अपार भण्डार भरा हुआ है उसे ढूँढ़ना और प्राप्त करना सीखिए । अपनी भावनाओं को जब आप कोमल बना लेते हैं, तो आपको अपने चारों ओर अमृत झरता हुआ अनुभव होने लगता है । जड़ वस्तुओं पर दृष्टि डालिए हर एक वस्तु अपने-अपने ढंग की अनूठी है, वह अपने कलाकार की अमर कीर्ति का अपनी मूकवाणी द्वारा बड़ी ही भावुक भाषा में वर्णन कर रही है । मखमल सी घास, दूध के फेन से उज्ज्वल नदी नाले, हँसते हुए पुष्प, खिलौनों से सुन्दर कीट पतंगे, माता सी दयालु गायें, भाई से साथी बैल, वफादार सेवक से घोड़े, स्वामि-भक्त कुत्ते, जापानी खिलौनों से चलते-फिरते पक्षी, आप अपने चारों ओर देख सकते हैं । सिनेमा की सी चलती-बोलती तस्वीरें सब तरफ घूम रही है, नाटक का सा अभिनय स्थान-स्थान पर हो रहा है । प्रकृति के कोमल दृश्यों का कवित्वमय भावुकता के साथ यदि आप निरीक्षण करें तो सौन्दर्य की अजस्र धाराएँ बहती हुई दिखाई देंगी । तस्वीर सा यह सुन्दर संसार आपके दिल की मुरझाई हुई कला को हरी कर देने की परिपूर्ण क्षमता रखता है । भोले-भाले मीठी-मीठी बातें करते हुए बालक; प्रेम की प्रतिमाएँ देवियाँ, करुणामय मातृत्व की मूर्तियाँ—माताएँ, अनुभव, ज्ञान और शुभ-कामनाओं के प्रतीक—वृद्ध-जन । यह सब ईश्वर की ऐसी आनन्दमय विभूतियाँ हैं जिन्हें देखकर मनुष्य का हृदय कमल के पुष्प के समान खिल जाना चाहिए । पग-पग पर आनन्द और उल्लास के ढेर हमारे सामने लगे हुए हैं, इन दिव्य तत्वों के द्वारा हम अपने को रात-दिन आनन्द में सराबोर रख सकते हैं, फिर भी हाय ! हम कैसे अभागे हैं कि जीवन को दुःख शोकों से भरा रखते हैं । मनुष्य अपनी कोमल भावनाओं को जैसे-जैसे जागृत करता जाता है, वैसे-वैसे ही उसे अमृत तत्व का रसास्वादन होने लगता है । जिनके लिए सत् चित् आनन्दस्वरूप आत्मा इस हाड़-माँस के शरीर में रहने को रजामन्द हुआ है, जिसके लोभ को संवरण न करके उमने मनुष्य शरीर धारण किया है । जीवन की सार्थकता उन कोमल वृत्तियों की मधुरता का रसास्वादन करने में है ।

# सबको आत्मभाव से देखिए !

"आत्मवत् सर्व भूतेषु" की शिक्षा ब्रह्म विद्या की व्यावहारिक प्रक्रिया है । श्रेष्ठ नागरिक बनने का मर्म इसमें है कि अन्य लोगों को अपने समान समझा जाय । दूसरे शब्दों में, इसी बात को यों कह सकते हैं कि 'दूसरों से वैसा व्यवहार करना चाहिए जैसा कि आप अपने लिए चाहते हैं ।' आप जैसा व्यवहार अपने साथ होता हुआ देखकर प्रसन्न होते हैं, जिस आचरण की दूसरों से आशा करते हैं वैसा ही आप स्वयं भी दूसरों के साथ में कीजिए । दूसरों के सुख में सुखी होने से मुफ्त में ही वह सुख प्रचुर मात्रा में मिल जाता है जिसको प्राप्त करने में बहुत खर्च करना पड़ता है । सुख के लिए बहुत प्रयत्न करने की आवश्यकता होती है यदि आप दूसरों को सुखी देखकर प्रसन्न हुआ करें, दूसरों को बढ़ता देखकर आनन्द अनुभव किया करें तो अनायास ही सुखी होने के असंख्य अवसर प्राप्त होते रह सकते हैं । पास-पड़ौस में, सगे-सम्बन्धियों में, परिचितों-अपरिचितों में ईश्वर की कृपा से सुखदायक घड़ियों का आगमन हुआ ही करता है । यदि उनकी बढ़ती को देखकर उदार हृदय व्यक्ति की तरह खुश होने की आदत पड़ जाय तो निःसन्देह अपने आनन्द की सीमा अनेक गुनी बढ़ सकती है । जिसके घर में मुफ्त का माल आकर जमा होता रहता है उसका अमीर बन जाना स्वाभाविक है, जिसको दूसरों के सुख में आनन्द आता है उसका हर घड़ी प्रसन्नता से सम्पूर्ण रहना स्वाभाविक है । आनन्द और सुख की प्राप्ति के लिए आप लालायित हैं यदि 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' का मन्त्र हृदयंगम करके अपना आत्मभाव दूसरों के साथ जोड़ दें, उनके सुख में अपने को सुखी करने का अभ्यास करें तो जिसके लिए आप लालायित हैं उस वस्तु को आसानी से पा सकते हैं । वाटिका में खिले हुए पुष्पों को देखकर, सुन्दर चित्रों को देखकर, मनमोहक प्राकृतिक दृश्यों को देखकर, आपका चित्त प्रसन्न हो जाता है । जड़ पदार्थों का वैभव देखकर दिल की कली खिल उठती है तो क्या कारण है कि चैतन्य स्वजातीय प्राणियों के उत्कर्ष पर हृदय आनन्द से पुलकित नहीं होता ? ईर्ष्या, डाह, कुढ़न, जलन के दुर्गुणों को यदि आपने अपना नहीं लिया है तो कोई कारण नहीं कि अपने सुखी मित्रों के सौभाग्य पर आनन्द प्रकट न करें ।

दूसरों के दुःख में दुःखी होने की वृत्ति को अपनाकर आप दया, करुणा, उदारता, सेवा, सहायता जैसी अमूल्य निधियों को प्रचुर मात्रा में संचय कर सकते हैं । यह संचय कुछ कम मूल्यवान नहीं है । दूसरों के दुःख में दुःखी होने से तामसी कष्ट नहीं होता, जो कष्ट होता है उसे पीड़ा नहीं कहते, पराये दुःख में दुःखी होने की वृत्ति को शब्दों में दुःख अवश्य कहा जाता है पर यथार्थ में वह एक प्रकार का आर्द्र सुख है । दूसरों को कष्ट में देखकर फोड़े के समान दर्द, ज्वर के समान तापनाशाधन की तरह वेदना या पुत्र मृत्यु की तरह हाहाकारी क्रन्दन उत्पन्न नहीं होता । वरन् कर्तव्य की प्रेरणा करने वाली एक कसक उठती है जो प्रेम की तरह मीठी, श्रद्धा की तरह पवित्र और करुणा की तरह तरल होती है । वह दुःख स्वर्गीय शान्ति को अपने अन्दर छिपाये रहता है । पराये दुःख को देखकर जो आँसू गिरता है वह भीतर के अनेक पापों को बहा ले जाता है और हृदय को हल्का तथा पवित्र बना देता है ।

पराये सुख में सुखी और पराये दुःख में दुःखी होने की वृत्तियाँ परम सात्विक एवं उच्चकोटि की हैं । इनका संचार जिसके अन्दर होने लगता है उसको भीतर ही भीतर शान्ति और सन्तोष की आनन्ददायक सरिता बहती हुई दृष्टिगोचर होती है । अन्य सद्गुणों और उत्तम स्वभावों की खेती इस शीतल जल को प्राप्त करके फलने-फूलने लगती है । केवल अपने ही हानि-लाभ से प्रभावित होने वाले और दूसरों की स्थिति में कुछ भी दिलचस्पी न लेने वाले स्वार्थी लोग बहुत ही सीमित क्षेत्र में बंधे रहते हैं । वे ऐश आराम, या दुःख-दर्द की निकृष्ट कोटि का हर्ष विषाद अनुभव करते रहते हैं । सात्विक और उच्च आध्यात्मिक अनुभूतियाँ स्वार्थ में नहीं परमार्थ में मिलती हैं । जिनको पराये सुख-दुःखों में दिलचस्पी है वे ही उस ऊँचे आनन्द का अनुभव कर सकते हैं ।

आप दूसरों से यह आशा करते होंगे कि यदि कोई व्यक्ति कुछ चीज उधार ले जाय तो उसे अच्छी हालत में ठीक समय पर वापस कर दे । यदि किसी ने कुछ वचन दिया है तो उसे यथोचित रीति से पालन करे । सभ्य व्यवहार की, समय की, पाबन्दी की, दूसरों से आशा की जाती है और यह ख्याल किया जाता

है, यदि कुछ कष्ट हमारे ऊपर आ पड़ेगा तो अन्य लोग हमारी सहायता करेंगे । जिस प्रकार की आशाएँ आप दूसरे लोगों से करते है ठीक वैसी ही दूसरे आपसे करते हैं । यह भलमनसाहत का तकाजा है । मनुष्यता के प्रारम्भिक कर्तव्यों का पालन करना हर मनुष्य का फर्ज है । सार्वजनिक स्थानों का उपयोग करते समय इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि हमारे व्यवहार से किसी को अनुचित कष्ट न पहुँचे । छत के ऊपर से सड़क पर कूड़ा फेंकना, आम रास्ते पर केले या नारंगी के छिलके फेंकना, छड़ी या छाता हिलाते चलना, रेल, धर्मशाला या पार्क में बैठने के स्थान को जूठन से गन्दा करना, नल आदि के निकट थूकना या नाक साफ करना, इस प्रकार के कार्य करते समय लोग यह परवाह नहीं करते कि हमारे इन कार्यों से अन्य लोगों को कितना कष्ट होगा । छत पर से फेंका गया कूड़ा रास्ते चलते आदमी पर गिर कर उसे गन्दा कर सकता है, सड़क पर पटके गए केले के छिलके पर से चलने वाले का पैर फिसल सकता है, छाता या छड़ी हिलाते चलने से किसी की आँख फूट सकती है, टिकट खरीदते समय या सभा मण्डप में प्रवेश करते समय धक्का-मुक्की करके आगे घुस जाने के प्रयत्न में सबको कठिनाई बढ़ सकती है, सार्वजनिक जगह पर जूठन, कूड़ा या नाक थूक डालने से और लोगों के चित्त में घृणा और रोष उत्पन्न होता है, क्या यह व्यवहार सभ्योचित है ? कोई नहीं चाहता कि ऐसे बेढंगे बर्ताव का उसे सामना करना पड़े, इसलिए उसे भी चाहिए कि इस प्रकार का बुरा आचरण स्वयं भी न करे ।

संसार की हर एक जड़ चेतन वस्तु चाहती है कि मेरे साथ सद्व्यवहार हो । जिसके साथ दुर्व्यवहार करेंगे वही बदला लेगी । छाते को लापरवाही से पटक देंगे तो जरूरत पड़ने पर उसकी तानें टूटी और कपड़ा फटा पायेंगे । जूते के साथ लापरवाही बरतेंगे तो वह या तो काट लेगा या जल्दी टूट जायेगा । सुई को जहाँ-तहाँ पटक देंगे तो वह पैर में चुभ कर अपनी उपेक्षा का बदला लेगी, कपड़े उतार कर जहाँ-तहाँ डाल देंगे तो दुबारा तलाश करने पर वे मैले, सलवट पड़े हुए, दाग-धब्बे युक्त मिलेंगे । यदि आप घर की सब वस्तुओं को सँभाल कर रखेंगे तो वे समय पर सेवा करने के लिए हाजिर मिलेंगी । ढूँढ़ने में बहुत-सा समय बर्बाद न करना पड़ेगा और न उसे नष्ट-भ्रष्ट दशा में देखना पड़ेगा । इसी प्रकार यदि अपने समान सबको समझकर यथोचित नीति बरता करेंगे तो अन्य लोगों से भी आप बहुत अंशों में वैसे ही व्यवहार की आशा कर सकते हैं । स्त्री, पुरुष, भाई, बहिन, माता, पिता, मित्र, सम्बन्धी, परिचित, अपरिचित यदि आपमें भलमनसाहत का व्यवहार पायेंगे तो बदले में उसी प्रकार का बर्ताव लौटा देंगे ।

"वचन का पालन करना" इस पवित्र कर्तव्य को जहाँ तक हो सके पूरा करने का शक्ति भर प्रयत्न करना चाहिए । अक्सर देखा जाता है कि मोची, दर्जी, धोबी आदि को कोई काम दिया जाय तो इसका भरोसा नहीं रहता कि वह समय पर काम कर देगा, इसी प्रकार उसे भी यह भरोसा नहीं रहता कि मेरी मजदूरी का पैसा समय पर मिल जायेगा । फलतः दोनों ही अनिश्चित रहते हैं और झूठी आवश्यकता बताकर तकाजे पर तकाजा जारी रखते हैं । कभी-कभी तो जितने पैसे का काम नहीं होता उससे अधिक कीमत का समय काम कराने वाले महाशय से मजदूरी के पैसे प्राप्त करने में खर्च हो जाता है । निमन्त्रण देने वाले को यह विश्वास नहीं होता कि निमन्त्रित महानुभाव ठीक समय पर उपस्थित होंगे और न निमन्त्रित व्यक्ति को यह यकीन होता है कि ठीक समय पर पहुँच जाऊँगा तो भोजन तैयार मिलेगा । यही हाल सभाओं का होता है सुनने वाले यह नहीं समझते कि ठीक समय पर सभा की कार्यवाही आरम्भ होगी और न सभा का आयोजन करने वाले यह इत्मीनान रखते है कि सुनने वाले समय पर आयेंगे । परस्पर अविश्वास की भावना और लापरवाही की सम्भावना का ख्याल करके दोनों पक्ष देर करते हैं और इस मराठी घिस-घिस में बहुत-सा बहुमूल्य समय बर्बाद हो जाता है । हमारे चरित्र की यह भारी कमी है । आध्यात्मवाद का उपदेश है कि दूसरों को अपने समान समझिए यदि दूसरों से 'वचन का पालन' कराना चाहते है तो पहले उसका आरम्भ अपने ऊपर से कीजिए ।

दूसरों को अपने समान समझने का तात्पर्य इतना ही है कि शून्य लोगों के सुख-दुःख को भी उसी दृष्टि से देखिए मानो वह अपने ऊपर बीत रहा हो । इस प्रकार विचार करने से आत्मभाव विस्तृत होता है,

न्याय बुद्धि जागृत होती है और कर्तव्य की प्रेरणा ऊँची उठने लगती है । अपने लिए किस प्रकार का व्यवहार चाहते हैं इस आवश्यकता को अनुभव करते रहिए और जब कभी ऐसा प्रसंग उपस्थित हो कि अमुक व्यक्ति के साथ किस प्रकार व्यवहार करें तब यह देखना चाहिए हम इस व्यक्ति की परिस्थिति में होते और यह व्यक्ति हमारी स्थिति में होता तो इसका क्या कर्तव्य था ? जो उसका कर्तव्य निर्धारित करना ठीक प्रतीत हो उसे अपना कर्तव्य मानकर पालन करना आपके लिए उचित एवं आवश्यक है ।

यदि आपका बच्चा मेले में खो जाय तो आप यह आशा करेंगे कि मेले वाले लोग अपना काम हर्ज करके इतनी कृपा करें कि उसे आपके घर तक पहुँचा जायें । यदि दूसरे का बालक आप कहीं खोया हुआ पायें तो ठीक वैसा ही कार्य करें, अपने निजी काम में थोड़ा हर्ज करके भी उस बालक को यथा स्थान पहुँचाने का प्रयत्न करें । यह कार्य "आत्मवत् सर्व भूतेषु" के अनुसार पवित्र आध्यात्मिक कर्तव्य होगा । इसी प्रकार दूसरों की सेवा सहायता के अन्य अवसरों पर जहाँ तक सम्भव हो अपना कर्तव्य-पालन करना न चूकना चाहिए । साथ ही उचित और आवश्यक होने का भी ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि चाहने को तो लोग यहाँ तक चाहते हैं कि कोई ग्रास तोड़कर उनके मुँह में रख जाय, अपने कपड़े-लत्ते उनके सुपुर्द कर जाय, ऐसी इच्छाएँ अनुचित, अनावश्यक एवं अन्याय मूलक हैं, उनको पूरा करने से अकर्मण्यता बढ़ती है, इसलिए ऐसी इच्छाओं को पूरा करने में सहयोग देना ठीक नहीं । अपनी जिस सहायता से दूसरों की ज्ञान वृद्धि होती है, आगे का मार्ग प्रशस्त होता है, अकस्मात आयी हुई आपत्ति का निवारण होता है । उनमें नि.स्वार्थ भाव से सहायता करना कर्तव्य है ।

जिन लोगों से कुछ सहयोग मिलता है उसका बदला चुकाना तो आवश्यक है ही क्योंकि ऋण चुकाए बिना छुटकारा नहीं मिल सकता । यदि किसी ने आपके ऊपर उपकार किया है तो, या तो उसी को उसका प्रत्युपकार कीजिए अन्यथा किसी अन्य ऐसे व्यक्ति के साथ में उपकार करके बदला चुकाइये जिससे आपको कोई निजी स्वार्थ न हो । निजी स्वार्थ का तात्पर्य यह है कि अपनी स्त्री को साड़ी खरीद कर देने से उपकारी नहीं कह सकते यह तो स्त्री की सेवा का पुरस्कार है, यह उससे कुछ चाहने के लिए दिया हुआ कर्ज है । यदि शीत से ठिठुरते हुए किसी अनाथ बालक को एक पुराना कपड़ा देते हैं और उससे बदले की कुछ आशा नहीं करते तो वह उपकार है । दूसरों ने आपके ऊपर कुछ उपकार किए हैं और वे उपकारी महानुभाव अब सामने नहीं हैं अथवा प्रत्युपकार नहीं लेते तो उसका बदला किसी निःस्वार्थ उपकार द्वारा चुकाया जा सकता है । दूसरों के द्वारा जो उपकार आपके ऊपर हुए हैं उनका स्मरण कीजिए ढूँढ़-ढूँढ़कर उनकी एक सूची बनाइये और अपने ऊपर रखे हुए इन भारों को हल्का करने के लिए सदैव व्यग्र रहिए । जो भारी है वह वेग के साथ नीचे को गिरता है जिसे ऊँचे पर्वतों पर चढ़ना है उसे अपने बोझों की संख्या जितनी भी हो सके कम करनी चाहिए तभी तो सत्य के ऊर्ध्व मार्ग पर चढ़ना सरल हो सकेगा । कर्ज आज नहीं तो कल आपको चुकाना ही है, बिना उस कर्ज को चुकाए काम चल नहीं सकता इसलिए आज की समर्थ स्थिति में ही उसे चुकाने का प्रयत्न करिए अन्यथा सम्भव है भविष्य में शक्तियाँ कम हो जाये और उस निर्बल दशा में बलात् वसूल किए जाने पर अधिक कष्ट उठाना पड़े ।

दूसरे लोगों के साथ जैसा आप व्यवहार करते हैं प्रत्यक्षतः ठीक वैसा ही बदला उन व्यक्तियों द्वारा प्राप्त न हो तो उतावला न होना चाहिए और न भलाई के सिद्धान्त पर अविश्वास करना चाहिए । जिसके साथ में उपकार किया गया है वह बदला देने की स्थिति में न हो तो भी वह अकारथ न जायेगा । सम्पूर्ण आत्माएँ एक ही परम आत्मा की अणु सत्ताएँ हैं, एक प्याले में पानी भरा हो और उसके किसी भी भाग में नमक या शक्कर डाल दें तो प्याले का पानी नमकीन या मीठा हो जायेगा । इसी प्रकार यदि एक आत्मा के प्रति जो व्यवहार किया गया है वह सामूहिक आत्मसत्ता, परम आत्मा को प्रभावित करता है, वह व्यक्ति यदि न रहे तो भी परमात्मा तो सदैव मौजूद रहता है और वह उसके लिए वैसा ही फल उपस्थित करता है । सम्पूर्ण पृथ्वी एक है पर अपने खेत में जिसने जो पाया है उसे वही अनाज मिल जाता है । परमात्मा की सत्ता में आपने उपकार के जो बीज बोए हैं वह अन्य घटना को लेकर वैसा ही फल उपस्थित करते हैं ।

है, यदि कुछ कष्ट हमारे ऊपर आ पड़ेगा तो अन्य लोग हमारी सहायता करेंगे । जिस प्रकार की आशाएँ आप दूसरे लोगों से करते हैं ठीक वैसी ही दूसरे आपसे करते हैं । यह भलमनसाहत का तकाजा है । मनुष्यता के प्रारम्भिक कर्त्तव्यों का पालन करना हर मनुष्य का फर्ज है । सार्वजनिक स्थानों का उपयोग करते समय इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि हमारे व्यवहार से किसी को अनुचित कष्ट न पहुँचे । छत के ऊपर से सड़क पर कूड़ा फेंकना, आम रास्ते पर केले या नारंगी के छिलके फेंकना, छड़ी या छाता हिलाते चलना, रेल, धर्मशाला या पार्क में बैठने के स्थान को जूठन से गन्दा करना, नल आदि के निकट थूकना या नाक साफ करना, इस प्रकार के कार्य करते समय लोग यह परवाह नहीं करते कि हमारे इन कार्यों से अन्य लोगों को कितना कष्ट होगा । छत पर से फेंका गया कूड़ा रास्ते चलते आदमी पर गिर कर उसे गन्दा कर सकता है, सड़क पर पटके गए केले के छिलके पर से चलने वाले का पैर फिसल सकता है, छाता या छड़ी हिलाते चलने से किसी की आँख फूट सकती है, टिकट खरीदते समय या सभा मण्डप में प्रवेश करते समय धक्का-मुक्की करके आगे घुस जाने के प्रयत्न में सबको कठिनाई बढ़ सकती है, सार्वजनिक जगह पर जूठन, कूड़ा या नाक थूक डालने से और लोगों के चित्त मे घृणा और रोष उत्पन्न होता है, क्या यह व्यवहार सभ्योचित है ? कोई नहीं चाहता कि ऐसे बेढंगे बर्ताव का उसे सामना करना पड़े, इसलिए उसे भी चाहिए कि इस प्रकार का बुरा आचरण स्वयं भी न करे ।

संसार की हर एक जड़ चेतन वस्तु चाहती है कि मेरे साथ सद्व्यवहार हो । जिसके साथ दुर्व्यवहार करेंगे वही बदला लेगी । छाते को लापरवाही से पटक देंगे तो जरूरत पड़ने पर उसकी तानें टूटी और कपड़ा फटा पायेंगे । जूते के साथ लापरवाही बरतेंगे तो वह या तो काट लेगा या जल्दी टूट जायेगा । सुई को जहाँ-तहाँ पटक देंगे तो वह पैर में चुभ कर अपनी उपेक्षा का बदला लेगी, कपड़े उतार कर जहाँ-तहाँ डाल देंगे तो दुबारा तलाश करने पर वे मैले, सलवट पड़े हुए, दाग-धब्बे युक्त मिलेंगे । यदि आप घर की सब वस्तुओं को सँभाल कर रखेंगे तो वे समय पर सेवा करने के लिए हाजिर मिलेंगी । ढूँढ़ने में बहुत-सा समय बर्बाद न करना पड़ेगा और न उसे नष्ट-भ्रष्ट दशा में देखना पड़ेगा । इसी प्रकार यदि अपने समान सबको समझकर यथोचित नीति बरता करेंगे तो अन्य लोगों से भी आप बहुत अंशों में वैसे ही व्यवहार की आशा कर सकते हैं । स्त्री, पुरुष, भाई, बहिन, माता, पिता, मित्र, सम्बन्धी, परिचित, अपरिचित यदि आपमें भलमनसाहत का व्यवहार पायेंगे तो बदले में उसी प्रकार का बर्ताव लौटा देंगे ।

"वचन का पालन करना" इस पवित्र कर्त्तव्य को जहाँ तक हो सके पूरा करने का शक्ति भर प्रयत्न करना चाहिए । अक्सर देखा जाता है कि मोची, दर्जी, धोबी आदि को कोई काम दिया जाए तो इसका भरोसा नहीं रहता कि वह समय पर काम कर देगा, इसी प्रकार उसे भी यह भरोसा नहीं रहता कि मेरी मजदूरी का पैसा समय पर मिल जायेगा । फलतः दोनों ही अनिश्चित रहते हैं और झूठी आवश्यकता बताकर तकाजे पर तकाजा जारी रखते हैं । कभी-कभी तो जितने पैसे का काम नहीं होता उससे अधिक कीमत का समय काम कराने वाले महाशय से मजदूरी के पैसे प्राप्त करने में खर्च हो जाता है । निमन्त्रण देने वाले को यह विश्वास नहीं होता कि निमन्त्रित महानुभाव ठीक समय पर उपस्थित होंगे और न निमन्त्रित व्यक्ति को यह यकीन होता है कि ठीक समय पर पहुँच जाऊँगा तो भोजन तैयार मिलेगा । यही हाल सभाओं का होता है सुनने वाले यह नहीं समझते कि ठीक समय पर सभा की कार्यवाही आरम्भ होगी और न सभा का आयोजन करने वाले यह इत्मीनान रखते हैं कि सुनने वाले समय पर आयेंगे । परस्पर अविश्वास की भावना और लापरवाही की सम्भावना का ख्याल करके दोनों पक्ष देर करते हैं और इस मराठी घिस-घिस मे बहुत-सा बहुमूल्य समय बर्बाद हो जाता है । हमारे चरित्र की यह भारी कमी है । आध्यात्मवाद का उपदेश है कि दूसरों को अपने समान समझिए यदि दूसरों से 'वचन का पालन' कराना चाहते हैं तो पहले उसका आरम्भ अपने ऊपर से कीजिए ।

दूसरो को अपने समान समझने का तात्पर्य इतना ही है कि शून्य लोगों के सुख-दुःख को भी उसी दृष्टि से देखिए मानो वह अपने ऊपर बीत रहा हो । इस प्रकार विचार करने से आत्मभाव विस्तृत होता है,

न्याय बुद्धि जागृत होती है और कर्तव्य की प्रेरणा ऊँची उठने लगती है । अपने लिए किस प्रकार का व्यवहार चाहते हैं इस आवश्यकता को अनुभव करते रहिए और जब कभी ऐसा प्रसंग उपस्थित हो कि अमुक व्यक्ति के साथ किस प्रकार व्यवहार करें तब यह देखना चाहिए हम इस व्यक्ति की परिस्थिति में होते और यह व्यक्ति हमारी स्थिति में होता तो इसका क्या कर्तव्य था ? जो उसका कर्तव्य निर्धारित करना ठीक प्रतीत हो उसे अपना कर्तव्य मानकर पालन करना आपके लिए उचित एवं आवश्यक है ।

यदि आपका बच्चा मेले में खो जाय तो आप यह आशा करेंगे कि मेले वाले लोग अपना काम हर्ज करके इतनी कृपा करें कि उसे आपके घर तक पहुँचा जाये । यदि दूसरे का बालक आप कहीं खोया हुआ पायें तो ठीक वैसा ही कार्य करें, अपने निजी काम में थोड़ा हर्ज करके भी उस बालक को यथा स्थान पहुँचाने का प्रयत्न करें । यह कार्य "आत्मवत् सर्व भूतेषु" के अनुसार पवित्र आध्यात्मिक कर्तव्य होगा । इसी प्रकार दूसरो की सेवा सहायता के अन्य अवसरो पर जहाँ तक सम्भव हो अपना कर्तव्य-पालन करना न चूकना चाहिए । साथ ही उचित और आवश्यक होने का भी ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि चाहने को तो लोग यहाँ तक चाहते है कि कोई ग्रास तोड़कर उनके मुँह में रख जाय, अपने कपड़े-लत्ते उनके सुपुर्द कर जाय, ऐसी इच्छाएँ अनुचित, अनावश्यक एवं अन्याय मूलक हैं, उनको पूरा करने से अकर्मण्यता बढ़ती है, इसलिए ऐसी इच्छाओं को पूरा करने में सहयोग देना ठीक नहीं । अपनी जिस सहायता से दूसरों की ज्ञान वृद्धि होती है, आगे का मार्ग प्रशस्त होता है, अकस्मात आयी हुई आपत्ति का निवारण होता है । उनमें निःस्वार्थ भाव से सहायता करना कर्तव्य है ।

जिन लोगों से कुछ सहयोग मिलता है उसका बदला चुकाना तो आवश्यक है ही क्योंकि ऋण चुकाए बिना छुटकारा नहीं मिल सकता । यदि किसी ने आपके ऊपर उपकार किया है तो, या तो उसी को उसका प्रत्युपकार कीजिए अन्यथा किसी अन्य ऐसे व्यक्ति के साथ में उपकार करके बदला चुकाइये जिससे आपको कोई निजी स्वार्थ न हो । निजी स्वार्थ का तात्पर्य यह है कि अपनी स्त्री को साड़ी खरीद कर देने से उपकारी नहीं कह सकते यह तो स्त्री की सेवा का पुरस्कार है, यह उससे कुछ चाहने के लिए दिया हुआ कर्ज है । यदि शीत से ठिठुरते हुए किसी अनाथ बालक को एक पुराना कपड़ा देते हैं और उससे बदले की कुछ आशा नहीं करते तो वह उपकार है । दूसरों ने आपके ऊपर कुछ उपकार किए हैं और वे उपकारी महानुभाव अब सामने नहीं हैं अथवा प्रत्युपकार नहीं लेते तो उसका बदला किसी निःस्वार्थ उपकार द्वारा चुकाया जा सकता है । दूसरों के द्वारा जो उपकार आपके ऊपर हुए हैं उनका स्मरण कीजिए ढूँढ़-ढूँढ़कर उनकी एक सूची बनाइये और अपने ऊपर रखे हुए इन भारों को हल्का करने के लिए सदैव व्यग्र रहिए । जो भारी है वह वेग के साथ नीचे को गिरता है जिसे ऊँचे पर्वतों पर चढ़ना है उसे अपने बोझों की संख्या जितनी भी हो सके कम करनी चाहिए तभी तो सत्य के ऊर्ध्व मार्ग पर चढ़ना सरल हो सकेगा । कर्ज आज नहीं तो कल आपको चुकाना ही है, बिना उस कर्ज को चुकाए काम चल नहीं सकता इसलिए आज की समर्थ स्थिति में ही उसे चुकाने का प्रयत्न करिए अन्यथा सम्भव है भविष्य में शक्तियाँ कम हो जायें और उस निर्बल दशा में बलात् वसूल किए जाने पर अधिक कष्ट उठाना पड़े ।

दूसरे लोगों के साथ जैसा आप व्यवहार करते हैं प्रत्यक्षतः ठीक वैसा ही बदला उन व्यक्तियों द्वारा प्राप्त न हो तो उतावला न होना चाहिए और न भलाई के सिद्धान्त पर अविश्वास करना चाहिए । जिसके साथ में उपकार किया गया है वह बदला देने की स्थिति में न हो तो भी वह अकारथ न जायेगा । सम्पूर्ण आत्माएँ एक ही परम आत्मा की अणु सत्ताएँ हैं, एक प्याले में पानी भरा हो और उसके किसी भी भाग में नमक या शक्कर डाल दें तो प्याले का पानी नमकीन या मीठा हो जायेगा । इसी प्रकार यदि एक आत्मा के प्रति जो व्यवहार किया गया है वह सामूहिक आत्मसत्ता, परम आत्मा को प्रभावित करता है, वह व्यक्ति यदि न रहे तो भी परमात्मा तो सदैव मौजूद रहता है और वह उसके लिए वैसा ही फल उपस्थित करता है । सम्पूर्ण पृथ्वी एक है पर अपने खेत में जिसने जो पाया है उसे वही अनाज मिल जाता है । परमात्मा की सत्ता में आपने उपकार के जो बीज बोए है वह अन्य घटना को लेकर वैसा ही फल उपस्थित करते हैं ।

दयावान् और भले मनुष्यों के साथ अपरिचित मनुष्य भी उचित व्यवहार करते हैं, कारण यह है कि उनके चेहरे पर जो भलमनसाहत की रेखाएँ खिंची रहती हैं उनसे अन्य व्यक्तियों को अनायास ही आकर्षित होना पड़ता है । दो-चार अपवादों को छोड़कर अधिकतर भले आदमियों को परिचित और अपरिचितों से भलमनसाहत का व्यवहार ही प्राप्त होता है ।

पाठक पिछली पंक्तियों में 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' सिद्धान्त के दो स्वरूप देख चुके हैं । एक यह कि दूसरों के सुख-दुःख में अपना सुख-दुःख संमिश्रित करना दूसरा यह कि जैसा व्यवहार होने की आशा अन्य लोगों से करते हैं वैसा ही स्वयं भी दूसरों के साथ करना । तीसरा स्वरूप एक और भी है वह यह कि वास्तविकता को समझना और तदनुसार आसानी से उनका हल ढूँढ़ निकालना ।

जिन लोगों में साधारणतः कोई मनमुटाव या संघर्ष नहीं होना चाहिए उनमें भी अक्सर मनोमालिन्य पाया जाता है । दोनों पक्ष यह चाहते हैं कि झगड़ा न करें और मेल-जोल से सब काम चलता रहे फिर भी झड़पें होती रहती हैं, एक-दूसरे पर दोषारोपण का सिलसिला चलता रहता है । कारण यह है कि दूसरे का दृष्टिकोण समझने में गल्ती की जाती है । लोग एक भारी भूल यह करते हैं कि अपने जैसे स्वभाव, विचार, ज्ञान, इच्छा आदि संस्कार को दूसरों को मानकर आशाएँ बांधते हैं, लेकिन हर आदमी का स्वभाव, विचार, संस्कार, ज्ञान और विवेक प्रथम होता है उनके बीच जमीन-आसमान का गहरा अन्तर देखा जाता है, ईश्वर ने कोई दो व्यक्ति एक समान नहीं बनाये हैं । हर एक में अपना निजी व्यक्तित्व, निजी स्वभाव और निजी ज्ञान होता है । जिसका दायरा जितना है वह उसी मर्यादा के अनुसार इच्छा और रुचि रखता है अपने ज्ञान की मर्यादा के अनुसार ही प्रभाव ग्रहण करता है । यदि इस विभिन्नता के तथ्य को भली प्रकार समझ लिया तो बहुत-सी गुत्थियाँ सुलझ सकती है । अपने ज्ञान एवं स्वभाव का दूसरे को समझ लेने से उसके कार्य और विचार मनमर्जी के न होने पर क्रोध उत्पन्न होता है या दुर्भावों की जड़ जमती है किन्तु यदि सब धान बाईस पसेरी मान लेने की गल्ती न की जाय तो आधे से अधिक लड़ाई-झगड़े शान्त हो सकते हैं ।

जिनके स्वार्थों में विरोध है, जिनसे एक-दूसरे को नष्ट करके स्वयं प्रभुत्व जमाने की इच्छाएँ प्रबल हो रही हैं उनका मामला दूसरी प्रकार का है, पर जिनमें स्नेह और मनमुटाव साथ-साथ रहते हैं, अनिष्ट न चाहते हुए भी कुढ़ते रहते हैं, मन में वास्तविक, स्वाभाविक एवं न मिट सकने वाला संघर्ष नहीं होता वरन् भ्रम जन्य धारणाओं के मनोभावों को ठीक तरह न समझने के कारण, एक गलतफहमी उपज पड़ती है जिसके हृदय एक होने चाहिए थे उनमें कपट और असन्तोष बढ़ने लगता है । आप अपने ज्ञान स्वभाव और संस्कार के आधार पर हर बात को सोचते हैं उसी प्रकार दूसरे भी अपने ढंग से सोचते [redacted] । जैसे अपने स्वभाव संस्कार और विवेक द्वारा आप कुछ इच्छा आशा करते हैं वैसे ही दूसरे लोग भी अपनी योग्यताओं के अनुसार स्वतन्त्र रीति से इच्छा आशा करते हैं, 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' सिद्धान्त की प्रतिध्वनि है कि अपने गज से सब कीमत नापिए वरन् उसकी स्वतन्त्र मनःस्थिति को भाप कर तब कुछ धारणा बनाइये, उसी के अनुसार उतनी ही मात्रा में उससे आशा कीजिए ।

किसी मनुष्य की मानसिक धारा समझने के लिए अपने को उसकी स्थिति में रख कर तब फिर विचार करने का प्रयत्न किया कीजिए । यह अभ्यास अधिक दिनो मे होता है । अपने आपको बिल्कुल भुला दीजिए इसका जरा भी स्मरण मत आने दीजिए कि हमारी भीतरी और बाहरी स्थिति क्या है ? जिस-जिस आदमी की मनोदशा जानना चाहते हैं अपने को उसकी स्थिति में ले जाइये, ज्ञान, स्वभाव और संस्कार जो उसके है उन्हे ही अपने ऊपर आरोपित कर लीजिए । नाटकों में अभिनय करने वाले पात्र नकल बनाने की पूरी-पूरी कोशिश करते है । वे वेश-भूषा और बोल-चाल की नकल करते हैं । आपको मानसिक दशा की नकल करनी है, यह नकल इतनी स्वच्छ होनी चाहिए कि आप करीब-करीब असलियत तक पहुँच जायें । अनायास अकारण ऐसे अभ्यास किया कीजिए । जब आपका चित्त शान्त हो और फुर्सत का वक्त हो तो पास में दिखाई पड़ने वाले किसी आदमी की स्थिति में पहुँचने का अभ्यास करिए । तब आप देखेंगे कि वह आदमी जो कार्य कर रहा है वह अपनी दृष्टि से ठीक कर रहा है । मन की परख करने और विभिन्न अन्तःकरणो

वालों को निराशा का सामना करना पड़ता है जो असम्भव मनसूबे बांधता है उसे भी निराशाजन्य खिन्नता का सामना करना पड़ता है ।

जिनमें आपके लिए हित कामना हो, जो कपटी या घातक न हों, जिनमें समझदारी और भलमनसाहत हो, जिनके विचार और कार्यों में बहुत कुछ समता हो, उन्हें अपना मित्र बना लीजिए और मित्रता को कायम रखने के लिए एक-दूसरे को सहन करने की नीति पर चलते रहिए । यदि आपकी पत्नी ऐसे रीति-रिवाजों में विश्वास रखती है जो आपको पसन्द नहीं आते तो अनावश्यक संघर्ष मोल मत लीजिए । पत्नी परमेश्वर की आज्ञा नहीं मानती, मूर्ख और जिद्दन है, घर की हानि को नहीं देखती । इस प्रकार के दोषारोपण करके अपने और उसके मन में अग्नि सुलगाना उचित न होगा, यदि शान्तिपूर्वक समझाने से उसकी मनोभूमि को बदला नहीं जा सका तो दबाव और बलात्कार मैत्री, कायम रखने का तरीका नहीं है । कुटुम्ब-परिवार, सगे-सम्बन्धी, ग्राहक-अनुग्राहक सभी की विचार भिन्नता से समझौता करके आप इस दुनिया में अपना काम चला सकते है, जिसको अपनी मर्जी का नहीं पाया उसी पर बरस पड़े यह तरीका गलत है, दुःखदायी है, दुश्मनी बढ़ाने वाला है और ऐसा है जिसके कारण हर दिशा में निराशा एवं असफलता उत्पन्न होती है ।

मित्र मण्डली में अपने विचार और आचरणो का प्रवेश किया कीजिए और जितना हो सके अपनी ओर झुकाने के प्रयत्न में रहा कीजिए, किन्तु ऐसी आशा मत रखिए कि वे अपनी निजी भिन्नता को बिल्कुल मिटा डालें । अधिक सहयोग प्राप्त कीजिए और अधिक सहयोग दीजिए । उदारता और सहनशीलता के आधार मैत्री को दृढ़ बनाइये । समझौते की नीति से एक दूसरे की त्रुटियों को सहन करते चलिए, इस प्रकार आप संसार में अधिक-लोगों का स्नेह सद्भाव प्राप्त करके उसे कायम रख सकेंगे ।

## तीनों ओर ध्यान रखिए !

यह सृष्टि त्रिगुणात्मक है, सत्, रज, तम, तीनों गुणों को मिलाकर संसार का निर्माण हुआ है, हर प्राणी में तीनों गुणों का समावेश है, न्यूनाधिक मात्रा में इन गुणों की स्थिति होने के कारण स्वभावों में भिन्नता होती है, एक-दूसरे से भिन्न रुचि रखने का कारण इन तीनों गुणों की मात्रा में हेर-फेर होता है । यह मात्रा प्रयत्नों द्वारा घटती-बढ़ती रहती है, जिस तत्व की ओर कार्य और विचारों की प्रगति होती है वह बढ़ने लगता है जिस ओर उपेक्षा की जाती है वह घट जाता है । तो भी हर शरीर धारी में कम या अधिक तीनों ही गुण विद्यमान रहते हैं । जिनमें जो तत्व अधिक होता है उन्हें उस प्रधानता के कारण उसी गुण का कहा जाता है जिसमें तम अधिक है उन्हें तामसिक स्वभाव का और जिनमें सत् अधिक है उन्हें सात्विक स्वभाव का कहा जाता है । तीन प्रकृतियों के मनुष्य देखे जाते हैं कोई भलाई, ईमानदारी या सच्चाई में रुचि रखते हैं, कोई ऐश आराम पसन्द करते हैं । किन्हीं का झुकाव दुष्कर्मों की ओर होता है । प्रधान रुचि तो एक ही होती है पर अन्य दोनों का सर्वथा अभाव नहीं होता, वे भी किसी न किसी अंश मे स्थित रहते हैं । एक ही मनुष्य के विचार तथा कार्यों में कभी-कभी जमीन-आसमान का अन्तर आ जाता है । यह भी उन गुणों के परिवर्तन के कारण ही होता है ।

धर्मशास्त्र के अधिकांश उपदेश भलाई और सन्मार्ग की ओर चलने को कहते है । दया, प्रेम, सहानुभूति, त्याग, उदारता का उपदेश करते हैं । इसका कारण यह है कि मनुष्य में तामसिक वृत्तियाँ अधिक होती हैं, अधिक लोग तामसी स्वभाव के पाये जाते है, निकृष्ट श्रेणी का होने के कारण 'तम' स्वभावतः आकर्षक होता है । निचाई की ओर पानी अपने आप बह चलता है नीच कार्यों की ओर प्रवृत्तियाँ भी आसानी से झुक जाती हैं, इन बातों को ध्यान मे रखकर धर्मशास्त्र ने सत् तत्व की ओर बढ़ने का उपदेश दिया है । बुराई को कम करने के लिए भलाई का और असत्य को कम करने के लिए सत्य का, उपदेश दिया गया है । जहाँ बुराई अधिक है उसको दूर करने के लिए अधिक भलाई की जरूरत है इसी कारण शास्त्रो का प्रधान उपदेश सत् तत्व की वृद्धि के लिए है ।

इसका अर्थ यह नहीं है कि सर्व साधारण का व्यवहारिक कार्य इस एक ही मार्ग पर चलने से पूरा हो सकता है, त्रिगुणात्मक सृष्टि मे तीन प्रकार का व्यवहार रखने से ही काम चलेगा, आत्मा की शुद्धि करके उसे ईश्वर तक पहुँचने के योग्य बनने के लिए

आन्तरिक विचारधारा स्वच्छ, पवित्र, निष्पाप एवं सात्विक होनी चाहिए, शरीर में निरोग, दीर्घजीवी, प्रफुल्ल एवं क्रियाशील रखने के लिए राजसिक सुखों की आवश्यकता है। दुष्ट, दुराचारी, आततायी एवं परपीडकों को नियन्त्रण में रखने, उनसे आत्मरक्षा करने के लिए तमोगुण का उपयोग करना पड़ता है, केवल सत् तत्व के द्वारा आततायियों से आत्मरक्षा नहीं हो सकती। जब असुरों के उत्पातों से बचाव का कोई उपाय न रहा तो लाचार होकर विश्वामित्र को दशरथ के पास जाना पड़ा और राम लक्ष्मण को लाकर ताड़का आदि का वध कराना पड़ा। रावण ने असंख्य ऋषियों को मार-मार कर जब उनकी हड्डियों के पहाड़ जमा कर दिए तो राम के पैने बाणों द्वारा ही उसका अन्त किया जा सका। समुद्र जब विनय द्वारा न माना तो लक्ष्मण को लाल-पीली आँखें करनी पड़ीं। परशुराम जी राम के विवाह में विघ्न खड़ा करने पर तुले हुए थे पर जब उन्हें पता चला कि कड़ा मुकाबला मौजूद है तो उन्होंने अपना रुख बदल दिया।

प्रार्थना, दया, विनय, भलमनसाहत बहुत अच्छी वस्तु है, इनसे वे लोग सहज ही झुक जाते हैं जिनमें कुछ अधिक मात्रा में सत् गुण मौजूद हैं। परन्तु सब जगह उपर्युक्त तत्वों के आधार पर सफलता नहीं मिल सकती, दुष्ट स्वभाव के लोग इनकी जरा भी परवाह नहीं करते तथा विनय करने वाले को दबा हुआ समझकर और भी अधिक उद्दंडता करते हैं। ऐसी दशा में काँटे से काँटा निकालना पड़ता है, कूटनीति से काम लेना पड़ता है, शठ के प्रति शठता का आचरण करना पड़ता है। तमोगुण को दण्ड, भय या लोभ से झुकाया जा सकता है। लोभ देना न तो सदैव सम्भव है और न उचित। एक बार रिश्वत देकर उनसे कर्तव्य-पालन करा लिया जाय तो आगे के लिए उनकी डाढ़ लपकती है हराम मुँह लग जाने पर सदैव उसी की इच्छा किया करते हैं। ऐसे अनेक व्यक्तियों को आप जानते होंगे जो केवल कर्तव्य-पालन के लिए रिश्वत माँगते हैं, ऐसे लोगों के मार्ग में यदि बाधा उपस्थित न की जाय तो वे और भी अधिक कठोर होते जाते हैं, अपनी तृष्णा को अत्यन्त उग्र गति से बढ़ाते हुए लोभ लालसा से घोर अनीति पर उतारू हो जाते हैं, जैसे-जैसे उनकी लोभ पिपासा का पोषण होता है, वैसे ही वैसे वह और भी उग्र रूप में प्रकट होती है। अग्नि में घृत डालने से वह और अधिक भड़कती है। तामसिक वृत्ति वाले को लोभ द्वारा तृप्ति नहीं किया जा सकता उसकी माँग दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ने लगती है।

कोई अत्यन्त पेचीदा, नाजुक एवं असाधारण अवसर आने पर लोभ देकर दुष्ट की दुष्टता से छुटकारा प्राप्त करना ठीक हो सकता है पर सामान्यतः दण्ड और भय ही उसे सही मार्ग पर लाने के लिए उचित उपाय हैं, अनाड़ी आदमी जिसे सत्पुरुषों के संगति में रहने का नहीं वरन् मूर्ख और दुर्जनों के संसर्ग में रहने का अवसर मिला है वह अन्तःकरण के विकसित न होने के कारण भलमनसाहत से प्रभावित होकर अपनी दुष्ट वृत्ति को त्यागने के लिए तैयार नहीं होता, भय से जब उसके होश उड़ने लगते हैं या दण्ड की करारी चोट पीठ पर पड़ती है। तभी उसे 'अक्कल' आती है और तभी कुछ होश की बात करता है अन्यथा अपने नशे के खुमार में किसी को कुछ गिनता ही नहीं।

आदर्श धर्म की शिक्षा यह है कि केवल सत् तत्व की आराधना करो, भीतर और बाहर से अपने और पराए से अहिंसा, क्षमा आदि का व्यवहार करो। यह ऊँची शिक्षा ऊँची कक्षा के विद्यार्थियों के लिए है। आरम्भिक या माध्यमिक कक्षाओं के छात्रों का इनमें गुजारा नहीं हो सकता वे इसे ग्रहण नहीं कर सकते और न कुछ लाभ ही उठा सकते हैं। आज अनेक लोग ऐसा कहते सुने जाते है कि 'धर्म' जो साधु सन्तों, विरक्त वैरागियों के पालन करने योग्य वस्तु है। घर गृहस्थी वालो से वह नहीं सध सकता। लेकिन बात ऐसी नही है, जैसे-जैसे आत्मिक स्थिति ऊँची होती जाती है वैसे ही वैसे धर्म की मर्यादा भी बढ़ती जाती है। सिंह गाय जिनके निकट पहुँच कर एक घाट पानी पीयें ऐसी स्थिति प्राप्त करना सब किसी के लिए सम्भव नहीं है। जब इतना उच्चकोटि का आत्मिक बल तो है नहीं जिसके द्वारा दृष्टि भाव से अनाचारी परास्त हो जायें तब उसी पद्धति से जीवन क्रम चलाने के लिए कहना बुद्धिमत्ता न होगी। जिसमें सिंह को परास्त कराने वाला आत्मतेज नहीं है उसे अन्य साधनों द्वारा सिंह से अपने को बचाना चाहिए। आत्मशक्ति तो है नहीं अन्य साधनों का उपयोग नहीं किया ऐसी

दशा में भारी हानि की सम्भावना रहती है । एक बार जिसे ऐसी हानि सहनी पड़ी या दूसरों को सहते देखा तो बस फिर उसका विश्वास धर्म पर नहीं जमता है, वह समझता है वह अव्यावहारिक है, काल्पनिक है, निस्सार है, कोरा आदर्शवाद है, इस मार्ग पर चल कर दैनिक समस्याओं को उलझनों को नहीं सुलझाया जा सकता ।

इन सब कठिनाइयों के कारण धर्म ग्रन्थ अब कहने सुनने की वस्तु रह गए हैं । कथा कह कर पंडित जी समझते हैं कि येजमान ने धर्म लाभ कर लिया यजमान समझता है सुनने में कुछ घण्टे का समय तथा दक्षिणा में कुछ धन देकर मैंने स्वर्ग द्वार में प्रवेश पा लिया । शास्त्रों की आज्ञाओं का मर्म समझने और उन्हें व्यावहारिक रूप से जीवन में उतारने का प्रयत्न बहुत कम लोग करते हैं क्योंकि अब आमतौर से यह समझा जाने लगा है कि यह आदर्शवाद की ऊँची सीढ़ी है साधारण लोग इस तक नहीं पहुँच सकते, पहुँच भी जायें तो अधिक समय तक दृढ़तापूर्वक जमे नहीं रह सकते ।

जैसा कि समझा जाता है वास्तव में धर्म का पालन उतना दुरूह नहीं है । अधिकांश में उच्च आदर्शों की शिक्षाएँ इसलिए दी गई हैं कि इधर आकर्षण कम होने और परिश्रम अधिक पड़ने के कारण, लोगों का झुकाव अधिक नहीं होता इसलिए बार-बार बलपूर्वक आदेश करके नीचे से ऊपर को प्रोत्साहित किया जाय । व्यावहारिक और वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो त्रिगुणमयी सृष्टि में त्रिगुणमय आचरण करने की पूरी-पूरी आवश्यकता है, बिना उस आवश्यकता की पूर्ति किए सांसारिक एवं सामाजिक जीवन सुचारु रूप से चल नहीं सकता । लिखे हुए का तात्पर्य समझने में उसका व्यावहारिक उदाहरण देखना पड़ता है, कानून की किसी धारा का ठीक-ठीक आशय समझने के लिए हाईकोर्ट के फैसलों की नजीरें देखनी पड़ती हैं कि कानून के विशेषज्ञ, जजों ने उस धारा का क्या अर्थ निकाला है और उसे किस रूप में प्रयोग किया है । धर्म शास्त्रों की आज्ञाओं का व्यावहारिक रूप क्या है यह परखने के लिए हमें धार्मिक महापुरुषों के, अवतारी देवताओं के आचरण को टटोलना पड़ेगा । भगवान राम को लीजिए वे पिता की आज्ञापालन के लिए अपने को घोर आपत्तियों में डाल कर वन को जाते हैं, विश्वामित्र की यज्ञ रक्षा के लिए अपने ऊपर जोखिम लेते हैं । कैकेयी के लिए भी दुर्भाव नहीं लाते, यह उनके आध्यात्मिक कार्य हैं । भरत के लिए, लक्ष्मण के लिए, हनुमान के लिए, जटायु के लिए, विभीषण के लिए उनका व्यवहार प्रेम से परिपूर्ण है । पेड़ के पीछे छिपकर बालि को मारने की कूटनीति भी वे चलते हैं और राक्षसों को दण्ड देने के लिए खून की नदियाँ भी बहा देते हैं । भगवान कृष्ण को लीजिए वे योगिराज की पदवी से विभूषित हैं, योग में उनकी बहुत ही ऊँची स्थिति है, गीता जैसे सर्वश्रेष्ठ आध्यात्म शास्त्रों के उपदेष्टा हैं यह उनका आध्यात्मवाद है । गोपियों से, गोपों से, विदुर से, अर्जुन से, सुदामा से, अन्य भक्तों से दिल खोलकर प्रेम करते हैं, साथ ही महाभारत में अठारह अक्षौहिणी सेनाओं का वध कराते हैं, बालकपन से ही दुष्टों का ध्वंस आरम्भ करते हैं । कूटनीति तो इनकी इतनी विस्तृत है कि उस पर एक स्वतन्त्र विशद् ग्रन्थ लिखा जा सकता है । राम और कृष्ण दोनों ही हिन्दू जाति के महान अवतार हैं । उनमें ईश्वरीय सत्य बहुत अधिक है, राजसिक जीवन भी दोनों का रहा है, आनन्द उल्लास का मिठास भी उनके जीवन में है, साथ ही घोर कठोर एवं भयंकर कृत्यों की मात्रा भी कम नहीं है ।

हिन्दू धर्म में जितने भी अवतार हुए हैं उनमें से सभी का कार्यक्रम त्रिगुणात्मक है, लोक संग्रह के लिए उन्होंने तीनों गुणों से युक्त कार्य किए हैं, हाईकोर्ट की इन नजीरों से प्रतीत होता है कि सत्य अहिंसा का आचरण तो प्रधान है ही, उस ओर तो खास तौर से ध्यान दिया ही जाना चाहिए किन्तु यह भी आवश्यक है कि रज और तम का यथोचित उपयोग करके आत्म रक्षा एवं लोक कल्याण की साधना की जाय । हर चीज अपने स्थान पर उपयोगी है, कमल पुष्प अपने स्थान पर बहुत अच्छा है पर नागफनी का कंटीला पौधा भी निरर्थक नहीं है, उसकी आवश्यकता और उपयोगिता भी साधारण नहीं है ।

त्रिवेणी का संगम होने के कारण प्रयाग को तीर्थराज का पद मिला है । शरीर मे वात, पित्त, कफ तीनों की स्थिति समान होती है तो स्वास्थ्य कायम रहता है, तीनों पृथक स्वभाव के देवता ब्रह्मा, विष्णु, महेश मिलकर सृष्टि की उत्पत्ति, विकास और विनाश की व्यवस्था

करते हैं, ईश्वर जीव, प्रकृति के समन्वय से चैतन्य जगत् क्रियाशील हो रहा है । इस विश्व को उचित स्थिति में रखने के लिए तीन प्रधान तत्वों की यथोचित मात्रा का रखना आवश्यक है । अकेला नमकीन या अकेला मीठा ही खाते रहें तो चित्त ऊब जायेगा, रसों को बदल कर सेवन करने से भोजन मे जो स्वाद आता है केवल एक रस पर निर्भर रहने से वह नहीं मिल सकता है ।

लौट फेरकर अपनी-अपनी शैली से सभी धर्मों ने त्रिगुणात्मक धर्म का उपदेश दिया है । अपनी शैली के अनुसार हम उन्हीं तीन तत्वों को सत्य, प्रेम, न्याय इन तीन नामों से उपस्थित करेंगे । पूर्वकाल में ऋषियों द्वारा उसे योग, यज्ञ, तप के नाम से ज्ञान, भक्ति, कर्म के नाम से ऋग्, यजु, साम के नाम से सत्, चित्, आनन्द नाम से, सत्य, शिव, सुन्दर नाम से पुकारा है, आज जनता की जो मानसिक स्थिति है और जिस भाषा का उपयोग होता है उसके अनुसार तीन तथ्यों को सत्य, प्रेम, न्याय नाम देना अधिक उपयोगी दिखाई देता है । आत्मा, हृदय और मस्तिष्क इन तीनों की जो माँग है उसे सत्, रज, तम के नाम से कहा जाता है । इन्हें ही सत्य, प्रेम, न्याय इन नामों से भी पहचान सकते हैं ।

यह अनादि सत् धर्म एक है उसको विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से वर्गीकरण किया है । मनु ने धर्म के दस लक्षण बताए हैं, योग शास्त्र ने यम नियमों में उनका विभाजन किया है, किसी ने उनकी संख्या पाँच, किसी ने आठ, किसी ने ग्यारह, किसी ने सत्रह बतायी है । संख्याओं का यह वर्गीकरण उपदेष्टाओं की अपनी शैली है वास्तव में तथ्य एक ही है, एक गोले का स्वरूप समझाने के लिए कोई कहता है कि आगा, पीछा यह दो भाग हैं, कोई कहता है आगा, पीछा, नीचे, ऊपर यह चार भाग होने चाहिए, किसी को दसों दिशाओं के अनुसार दस भाग करना पसंद है । गोले का स्वरूप समझाने के लिए, समझाने वाली उसके दो, चार, दस चाहे जितने विभाग नियत करके शिक्षा दे, पर इससे उस गोले की स्थिति में कुछ भी अन्तर नहीं आता, वह एक था और आगे भी एक ही रहेगा । जिस पद्धति का अवलम्बन करने से जीवन सुखी, शान्त और उन्नतिशील बनता है उसे 'धर्म' कहते हैं । यह सदा से एक है और आगे भी एक ही रहेगा, समझने और समझाने में सुविधा हो इसलिए उस एक ही अखण्ड वस्तु का त्रिविध वर्गीकरण करना हमें ठीक जँचा है इसलिए सत्य, प्रेम, न्याय के नाम से उसकी त्रिविध व्याख्या की जा रही है ।

सतोगुण आत्मोन्नति का प्रधान साधन है । यह आत्मा को ईश्वर तक पहुँचाने वाला है, आत्मबल बढ़ाने वाला और आन्तरिक शान्ति की सृष्टि करने वाला है । अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिए सत् तत्व को अधिकाधिक मात्रा में बढ़ाना चाहिए । निजी दृष्टिकोण को परिमार्जित करना, आत्मा को पवित्र करना, आत्मनिर्भर होना, नश्वर वस्तुओं पर मोहित न होना, आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ना, शरीर भाव को भूलकर आत्मभाव में जागृत रहना यह सत् की उपासना है इससे अन्तःकरण में बड़ी शीतल शान्ति विराजती रहती है, कठिन से कठिन परिस्थिति आने पर भी विचलित होने का अवसर नहीं आता शोक, चिन्ता, बेचैनी, व्याकुलता की परेशानी उसे नहीं उठानी पड़ती, तूफानी समुद्र में रहने वाले सुदृढ़ पर्वत की भाँति इस अशान्त और हाहाकारी संसार में स्थिर चित्त से खड़ा रहता है और बुरी से बुरी घड़ी में भी मधुर-मधुर मुस्कराता रहता है ।

रजोगुण से सांसारिक सुख, शान्ति, वैभव, मैत्री, आदर, भोग, ऐश्वर्य मिलता है । प्रेम रजोगुण का प्रतिनिधि है । सेवा, सहायता, स्नेह, भलमनसाहत, उदारता का व्यवहार करने के बदले में दूसरों का हार्दिक रस प्राप्त होता है । गौ के शरीर से निकला हुआ गोरस-दूध हमें शक्ति और तृप्ति प्रदान करता है, मनुष्य की अन्तरात्मा से निकला हुआ रस-प्रेम जीवन की मुरझाई हुई डालियों में नव जीवन का संचार कर देता है । मनुष्य सामाजिक प्राणी है, जीवन-क्रम में उसका सुख-दुःख बहुत कुछ दूसरों पर निर्भर रहता है, संगी साथियों के भले-बुरे व्यवहार से भौतिक आनन्द में कमीवेशी हुआ करती है, हर एक यह इच्छा करता है कि अन्य व्यक्तियों का सहयोग मुझे प्राप्त हो, उनका व्यवहार मेरे मनोनुकूल हो, ऐसा हो सकता है और अवश्य हो सकता है बशर्ते अपने मन में प्रेम की भावनाएँ भर ली जायें । प्रेम एक ऐसा अदृश्य आकर्षण है जिसके द्वारा कठोर हृदयों को जीत लेना भी आसान

होता है। स्वेच्छा सहयोग से अधिक मिलता है और जो मिलता है उसमें अधिक आनन्द होता है। अपहरण और अन्याय से भी सुख सामग्री जुटाई तो जा सकती है पर वह बेलज्जत होती है, जिससे लिया गया है उसकी आहें दुर्भावनाएँ भोग का सारा मजा मिट्टी कर देती हैं, उसे भोगने वाला दिल किसी अज्ञात आशंका से धक-धक करता रहता है। संसार में सुखी, प्रफुल्ल एवं आनन्दमय जीवन बिताने का यह अचूक मन्त्र है कि प्रेम भावना को हृदय में पर्याप्त स्थान दिया जाय। रजोगुण का स्थान हृदय है, हृदय की प्यास है प्रेम, यह अभिन्न सम्बन्ध एक-दूसरे की पूर्ति के लिए है, जो प्रेम करना जानता है उसे ही केवल उसे ही इस संसार के रजोगुण का, सुख सम्पत्ति का आनन्द मिलेगा।

तमोगुण यद्यपि स्वयं अपने अन्दर कोई देने योग्य तत्व नहीं धारण किए हुए हैं तो भी अनीति का निवारण और आक्रमण से आत्मरक्षा की शक्ति उसमें है। स्वभावतः विष मनुष्य के लिए कुछ उपयोगी वस्तु नहीं है स्वस्थ दशा में उसका कोई विशेष उपयोग नहीं है परन्तु यदि शरीर में गठिया आदि कोई विषैला रोग हो जाय तो उसे निवारण करने के लिए विषगर्भ तेलों की जरूरत पड़ती है। यदि दुष्ट, दुराचारी, अन्यायी, अत्याचारियों से पाला न पड़े, भले और सज्जन पुरुषों का ही सहवास रहे तो क्रोध करने और तमोगुण प्रकट करने की कुछ भी जरूरत नहीं है। न्याय का उपयोग इतना ही है कि अन्याय न होने दिया जाय। ज्यादती, बेईमानी, बेइन्साफी को रोका जाय, यदि अन्याय नहीं होता है तो न्याय की कोई जरूरत नहीं है। तमोगुण अपनाने की कोई आवश्यकता नहीं है, मस्तिष्क में उसके लिए अधिक स्थान छोड़ देने से अपने लिए हानि होती है, विष को खुला हुआ घर में पड़ा रहने देने से अनिष्ट की सम्भावना अधिक है। इसलिए बुद्धिमान लोग जहर को दूर रखते हैं। खुला हुआ जहाँ-तहाँ नहीं पड़ा रहने देते, जब जरूरत पड़ती है तभी दवा के रूप में उसकी नियत मात्रा का उपयोग करते हैं। तमोगुण की भी आवश्यकता है वह यदि साधारण अवसर पर विष है तो किसी विशेष अवसर पर अमृत के समान लाभदायक सिद्ध होता है। अपने दैनिक कार्यक्रम मे तमोगुण का उपयोग करेंगे तो बने हुए काम बिगड़ जायेंगे, विरोधियों की संख्या बढ़ेगी और रास्ता चलते हुए नित नये विघ्न आ खड़े होंगे। इसलिए विष की तरह उसे अलग रखना चाहिए अपने को उसमें डुबो नहीं देना चाहिए वरन् जरूरत के समय के लिए उसे सुरक्षित रखना चाहिए, तलवार रोज काम में नहीं आती उसे तो कभी-कभी मौके पर ही चलाया जाता है। इसी प्रकार न्याय की रक्षा के योग्य, तामसिक दण्ड देने योग्य शक्तियों का संग्रह करना चाहिए पर उनका प्रयोग आवश्यकता पड़ने पर विवेकपूर्वक ही करना चाहिए।

आप सत् तत्व की उपासना के लिए योग साधना का अवलम्बन कीजिए, अपने को पवित्र, अविनाशी, और निर्लिप्त आत्मा मानिये, आत्मा को दुष्ट, दुराचारी, तुच्छ, दीन-दुःखी, असमर्थ मत समझिए वरन् अपनी महानता पर, सत्यनिष्ठा पर विश्वास रखिए, 'मैं पवित्र हूँ' इस मन्त्र को सदैव दुहराते रहिए। इससे आपके अन्तःस्तल से एक विद्युन्मयी प्रतिध्वनि उत्पन्न होती है जो रोम-रोम में पवित्रता का संचार करती है। 'सोऽहं' सिंह की दहाड़ सुनकर अपवित्रता और कुभावना रूपी शशक शृंगाल डर के मारे भाग जाते हैं। आत्म-सम्मान की ज्योति अपने अन्दर जलाते ही वास्तविक मनुष्यता का उदय होता है जो अपने मे पवित्र दैवी अंश का अनुभव करता है वह चक्रवर्ती सम्राट की तरह महान बन जाता है उसका दृष्टिकोण इतना ऊँचा हो जाता है कि पापमय कार्यों की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता वह एक उद्देश्य पूर्ण जीवन जीता है। 'मैं अविनाशी हूँ।' 'मैं निर्लिप्त आत्मा हूँ।' यह आध्यात्मिक हुंकारें जिसे सुनाई पड़ती हैं जो इनको श्रवण करता है और हृदय पटल पर अंकित करता है वह बहुत शीघ्र अपनी अपूर्णताओं को हटाता हुआ पवित्र अविनाशी निर्लिप्त आत्मा-परमात्मा बन जाता है।

सतोगुण-सूक्ष्म, आन्तरिक, आध्यात्मिक उन्नति का संचालक है, रजोगुण-बाह्य, सांसारिक, सामाजिक जीवन को आगे बढ़ाने वाला है। प्रेम, सेवा, सहायता, भलमनसाहत, नम्रता, शिष्टता, त्याग, उदारता का पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक प्रश्नो से सीधा सम्बन्ध है। दूसरो को अपने वश में रखने का यही जादू है, वशीकरण विद्या इससे बढ़कर और कुछ हो नहीं सकती, भलाई, परोपकार, मधुर भाषण, मुस्कराहट, नम्रता आदि प्रेममय गुणों को अपनाना असंख्य लोगों को अपना

सच्चा मित्र और भला सहयोगी बनाने का वैज्ञानिक तरीका है। जिसे दूसरों के सच्चे सहयोग की आवश्यकता न हो वरन् अनेक प्रकट अप्रकट शत्रुओं से अपने को घिरा रखना चाहता हो, राजसिक आनन्द में दिलचस्पी न रखता हो, उसके लिए इन प्रेममय गुणों की आवश्यकता नहीं है वह चाहे जैसा स्वतन्त्र आचरण रख सकता है परन्तु जिसे दूसरों का सहयोग चाहिए उसके लिए 'भलमनसाहत का व्यवहार' यह एक ही तरीका है। सब कोई जानते हैं कि थैली खरचने से थैला मिलता है, पूँजी लगाने से व्यापारिक लाभ प्राप्त होता है, बीज बोने से खलियान् बटोरने का सौभाग्य हाथ आता है, त्याग करना एक प्रकार का आध्यात्मिक व्यापार है। जिसका फल इसी लोक में हाथों हाथ मिल जाता है, जो अपने स्वार्थों को दूसरे के हक में छोड़ देता है गम्भीर परीक्षण करके देखा जाय तो वह घाटे में नहीं रहता, जितना त्याग किया गया है वह किसी न किसी प्रकार से फिर उसके पास वापस लौट आता है साथ में आश्चर्यजनक ब्याज लाता है सो अलग। अशिक्षित किसान इस ईश्वरीय अटल नियम को भली प्रकार जानता है और विश्वासपूर्वक, बिना किसी को जमानतदार बनाये, खेत में जाकर चुपचाप बीज बो आता है, दूसरे समय दूसरे रूप में उसका त्याग ब्याज समेत उसको मिल जाता है। हम लोग जितने ही शिक्षित होते जाते हैं, बुद्धिमान बनते जाते हैं उतने ही उन ठोस एवं अटल नियमों से दूर हटते जाते हैं, उनको अविश्वास की दृष्टि से देखते जाते हैं। हमें पीछे लौटना होगा, आनन्द की प्राप्ति के लिए जो उल्टे प्रयत्न हो रहे हैं उन्हें छोड़ना होगा वह देखिए अशिक्षित किसान एक विद्वान प्रोफेसर की भाँति हमें अपनी मौन वाणी में कह रहा है कि ऐ! कुछ चाहने की इच्छा करने वालो! त्याग करना सीखो। देने से मिलता है, त्याग करने से प्राप्त होता है, बोने से उगता है।'

तमोगुण के दो स्वरूप हैं. एक आत्म रक्षात्मक दूसरा आक्रमण निवारक। आत्म रक्षात्मक तमोगुण की निरन्तर वृद्धि करनी चाहिए। स्वास्थ्य सम्पादन व्यायाम परिश्रम, उपार्जन, संग्रह, वृद्धि यह आत्म रक्षात्मक है। शक्तियों का अधिकाधिक सम्पादन करना जीवन-यापन के लिए बहुत जरूरी है यह उन्नति की प्रारम्भिक सीढ़ी है न्याय की रक्षा, शक्ति से ही हो सकती है। शरीर परिश्रम करता है उसे भोजन देना न्याय है यह न्याय तभी सम्भव है जब उपार्जन की शक्ति हो। जीवन स्थिर रखने ठीक तरह चलते रहने उन्नत करने के लिए शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, बौद्धिक, सामाजिक, राजनैतिक शक्तियों की आवश्यकता है। इनके बिना अपने ईश्वरदत्त अधिकारों की रक्षा नहीं हो सकती इसलिए जहाँ तक हो सके जितना भी हो सके सब प्रकार शक्तियों को एकत्रित करना चाहिए। तमोगुण का यह पहलू जिसका सार, घोर परिश्रम करना, निरन्तर कर्म में प्रवृत्त रहना, भरपूर शारीरिक और मानसिक परिश्रम करना नितान्त आवश्यक और अनिवार्य है।

तमोगुण का आक्रमण निवारक पहलू यह है कि दूसरों में बदमाशी का जो अंश है उसे दृष्टि से ओझल न किया जाय। दुनिया में बुराइयाँ काफी हैं कभी-कभी तो वे भलाइयों के बराबर हो जाती हैं या उससे भी अधिक बढ़ने लगती हैं। पाप की इस जमाने में खूब बढ़ोत्तरी है यदि उससे सावधान न रहा जाय और भूल के कारण उसका आक्रमण सहना पड़े तो यह कोई बुद्धिमानी न होगी। लोगों की बेवकूफियों, बुराइयों, बदमाशियों, चालाकियों से अपरिचित मत रहिए उनसे अपने को बचाने में होशियार रहिए, ऐसा न हो कि आपकी भलमनसाहत का लोग नाजायज फायदा उठायें और उल्लू समझ कर मजाक उड़ायें। ठग, धूर्त, चोर, दगाबाज, क्रूर और पर-पीड़क लोगों की नस-नस से आपको परिचित होना चाहिए और उनसे अपना बचाव करने के लिए कूटनीतिक बुद्धिमानी, तीव्र दृष्टि एवं अवसरवादिता की जरूरत है, जो व्यवहार-भले आदमियों के साथ उचित है उसे दुष्टों के साथ नहीं किया जा सकता। दूध पिलाकर मित्र सम्बन्धियों, पूज्य अतिथियों का सत्कार किया जाता है पर सर्प का वैसा सत्कार करने से घर में रहने वालो का जीवन खतरे में पड़ जायेगा। बदमाशी के निवारण के लिए तमोगुण का निवारक पहलू काम में आता है। उचित शिक्षा देने के लिए, न्याय मार्ग पर लाने के लिए दंड और भय की आवश्यकता है, जिस हिंसा से अहिंसा का मार्ग साफ हो वह अहिंसा ही है, जिस अशान्ति से शान्ति की सृष्टि होती है तथ्यतः वह शान्ति ही है। जिस बुराई से भलाई की बढ़ती हो उसे भलाई ही कहा

जायेगा । तमोगुण का दूसरा पहलू भी आवश्यक तो है पर इसका उपयोग विशेष अवसरों पर दुष्टता निवारण के लिए ही करना चाहिए सो भी अन्धे होकर नहीं विवेकपूर्वक । न्याय की रक्षा के लिए तम तत्व का आचरण करना अनुचित नहीं है पर यह अनुचित है कि जरा सी उत्तेजना के कारण क्रोध में पागल होकर अनर्थ के लिए तत्पर हो जाया जाय ।

सत्य, प्रेम और न्याय की त्रिवेणी में स्नान करने से तीर्थराज का पुण्य फल प्राप्त होता है । तीन पहलुओं में जीवन बँटा हुआ है उसका संचालन तीन तत्वों से हो रहा है यदि उसे ठीक प्रकार सर्वांगपूर्ण सुखी-सम्पन्न बनाना है तो त्रिविध दृष्टिकोण को अपनाना होगा । सत्य, प्रेम, न्याय का त्रिविध धर्म, सत्य है, सनातन है शाश्वत सम्पूर्ण सफलताओं का सार इसी धर्म के अन्तर्गत निहित है । आइये, इस व्यावहारिक धर्म की उत्तमता पर विचार कीजिए और भले प्रकार हृदयंगम करके इस शान्तिदायक सत्पथ पर अग्रसर होइये ।

## उद्देश्य के लिए जीवित रहिए !

जीवन का साधारण क्रम चलाते रहने से मनुष्य का काम नहीं चल सकता । पशु बुद्धि तो आहार, निद्रा, भय की शारीरिक इच्छाओं की पूर्ति के उपरान्त शान्त हो सकती है परन्तु मानव आकांक्षा तृप्त नहीं हो सकती । हम उद्देश्यमय जीवन जीना चाहते हैं, कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य करना चाहते हैं, ईश्वर के सामने अपनी सच्चाई साबित करना चाहते हैं, जीवन जैसे बहुमूल्य कोष का सदुपयोग करना चाहते हैं । निरुद्देश्य जीवन किस काम का ? जिन्होंने मनुष्यता में प्रवेश नहीं किया है वे शूद्र श्रेणी के नर पशु चाहे जिस तरह अपने को अव्यवस्थित पड़ा रहने दें पर जिनमें मनुष्यता की चेतना उत्पन्न हो गई है वे उद्देश्य के लिए जीवित रहना पसन्द करते हैं । हिन्दू धर्म में द्विजत्व प्रभुत्वता का सूचक माना गया है, जो लोग पशुता से ऊँचे उठकर मनुष्यता में प्रवेश करते हैं उन्हें द्विज कहा जाता है ।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यह तीन प्रमुख वर्ण हैं । असल में मानव जीवन के यह तीन उद्देश्य हैं । संसार में सबसे बड़ा काम दुःखों का निवारण करना है जिससे अविच्छिन्न सुख की प्राप्ति हो सके । दुःखों के तीन कारण हैं—(१) अभाव (२) अन्याय (३) अविद्या । चौथा और कोई कारण नहीं है जिसके कारण दुःख उत्पन्न होता हो । अमुक वस्तुओं के न होने से, किसी के द्वारा सताए जाने से, अथवा ज्ञान न होने से नाना प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं । दुःखों का अन्त करना यह सबसे बड़ा काम सामने है, इस कार्य की तीन श्रेणियाँ होने के कारण, रुचि भिन्नता के अनुसार तीन प्रकार के लोगों में इस कार्य को बाँट दिया गया है । जो लोग वस्तुओं के अभाव को कला कौशल, शिल्प, कृषि, व्यापार से पूरा करते हैं, जनता के अभाव जन्य कष्ट को मिटाते हैं उनकी वैश्य संज्ञा ठहरायी गई । जो राजनीति में भाग लेते हैं, राष्ट्र रक्षा, व्यवस्था, दुष्टों को दण्ड देना, वेतन मात्र लेकर शारीरिक और मानसिक श्रम करना, बल वृद्धि के साधन जुटाना, अन्याय निवारक शक्तियों का उत्पादन एवं संचय करना आदि के द्वारा अन्याय जन्य कष्टों का निवारण करना अपना कार्यक्रम बनाते हैं । वे क्षत्रिय हैं, जो विद्या की उन्नति करना, ज्ञान का प्रसार करना, रहस्यों का उद्घाटन करना, सच्चाई से परिचित करना, पथ प्रदर्शन करना, अनिष्ट पथ से सावधान करना आदि मार्गों द्वारा जो अविवेक जन्य कष्टों को दूर करना अपना उद्देश्य बनाते हैं वे ब्राह्मण वर्ग के कहे जाते हैं । तीन कष्टों का निवारण करने के लिए वर्ण-व्यवस्था की रचना हुई है, मानव जीवन के यह तीन उद्देश्य हैं, इन्हीं उद्देश्यों में से एक को प्रधान रूप से चुनना पड़ता है दूसरे तो गौण रूप से उसे अपनाने पड़ते हैं ।

'आप अपना क्या उद्देश्य नियत करें, इस प्रश्न की विवेचना करना ही यहाँ हमें इष्ट है । वर्ण-व्यवस्था की गहराई में जाने का यह अवसर नहीं है उस पर फिर कभी प्रकाश डालेंगे । सेवा का उद्देश्य परमात्मा-विश्वात्मा की पूजा उसकी दृश्य प्रतिमाओं, शरीर धारी आत्माओं की सेवा सहायता द्वारा ही हो सकती है । विश्व सेवा का व्यावहारिक रूप अपने निकटस्थ लोगों की सेवा करना है, शुभ संकल्पों द्वारा प्राणिमात्र के साथ सद्व्यवहार हो सकता है पर शारीरिक और क्रियात्मक सहयोग उन्हीं लोगों तक सम्भव है जिन तक अपनी पहुँच हो सकती है, जो भाषा, वेश, भाव की समानता के कारण अपने निकट हैं । आप यदि विश्व सेवा के लिए अफ्रीका को अपना कार्यक्षेत्र चुनें तो वहाँ जाने की सरकारी आज्ञा प्राप्त करना, यात्रा

का प्रबन्ध करना, नई भाषा सीखना, नया समाज अपनाना, रीति-रिवाजों में उनके समान बनना आदि असंख्य कठिनाइयों के पश्चात अफ्रीका निवासियों की थोड़ी-सी सेवा करने के समर्थ होंगे, किन्तु यदि अपने देश में ही कार्य आरम्भ करें तो एक भी अनावश्यक झंझट न उठाना पड़ेगा और समय तथा शक्ति का अच्छा उपयोग हो सकेगा । इन्हीं सब बातों पर विचार करते हुए अनुभवी महापुरुषों ने देश, जाति की सेवा करना, विश्व सेवा का, ईश्वर पूजा का व्यावहारिक रूप बताया है । जो पुर्जा जिस मशीन का है वह उसी में जुड़कर अपना जीवन सार्थक कर सकता है, दूसरे मॉडल की बनी मशीन में वह फिट न बैठेगा, जबरदस्ती लगाया गया तो या तो खुद टूट जायेगा या मशीन को तोड़ देगा । समान विचार के लोगों की जाति और निर्बाध आवागमन को एवं शासन की राजनैतिक परिधि को देश कहते हैं । देश जाति के मर्यादित क्षेत्र में अपने लक्ष्य के अनुसार कार्य करते हुए ईश्वर को प्राप्त करना एवं जीवन को सफल बनाना सम्भव है । पाठकों को इसी मार्ग का अवलम्बन करना उचित है ।

वर्तमान समय असाधारण समय है युगान्त की सान्ध्यवेला इसे कहा जा सकता है, अन्धकार पूर्ण निशा समाप्त होकर ऊषा की स्वर्णिम लालिमा प्रकट हो रही है, सत्य का सूर्य अब उदय होना ही चाहता है, ऐसे संक्रान्ति काल में देश जाति में अनेक नयी समस्याएँ, अनेक नयी गुत्थियाँ उत्पन्न हो रही [redacted] उन्हें सुलझाने के लिए नया दृष्टिकोण चाहिए । तीनों वर्णों के लिए एक नवीन चुनौती सामने आ रही है, पिछली शताब्दियों में वैज्ञानिक उन्नति ने ऐसी टेढ़ी-मेढ़ी उलझनें उत्पन्न कर दी हैं जिनके जाल में फँस कर मानव बुद्धि विचलित हो गई है, कर्तव्य और अकर्तव्य के अन्तर को पहचानना अब बहुत कठिन हो गया है वह विकट जंजालों में भरा हुआ समय अब अधिक देर न ठहर सकेगा; मनुष्य इससे ऊब गया [redacted] और सीधा सच्चा रास्ता तलाश कर रहा है, तलाश करने से सब कुछ मिलता है । कुकर्म और दुर्बुद्धि के फलस्वरूप अकाल, महामारी, चिन्ता, युद्ध आदि के भयंकर दुःख भोगने पड़ रहे हैं, इन दुःखों से छुटकारा पाने की तीव्र उत्कण्ठा उत्पन्न होते हुए देखकर यह नि.सकोच कहा जा सकता है कि बहुत ही शीघ्र इच्छानुकूल समय का आगमन होगा ।

वर्तमान काल में जीवन-यापन करने वाले, विवेकवान् आध्यात्म पथ के अनुयायियों को जीवन लक्ष्य पूरा करने के लिए सामायिक कार्यक्रम निर्धारित करते समय वर्तमान परिस्थितियों का ध्यान रखना होगा । आर्य जाति के प्राचीन वैदिक सिद्धान्त इस समय बड़े ही सड़े-गले और विकृत रूप में आ गए हैं, विदेशी आक्रमणों ने हमारी शुद्ध संस्कृति में इतना अधिक विष घोल दिया है कि वर्तमान समय में जो प्रथाएँ और विचारधाराएँ प्रचलित हैं वे मूल सिद्धान्तों से करीब बिल्कुल उल्टी पड़ती है, मिलावट इतनी अधिक हुई है कि तीन-चौथाई नकलीपन आ गया है । समय परिवर्तन के साथ-साथ जातीय विचारधाराओं और प्रथाओं में जो परिवर्तन होते रहना आवश्यक है, इस तथ्य को भली-भाँति समझते हुए विवेकवान आध्यात्मवादियों का परम पवित्र कर्तव्य है कि युग निर्माण में हाथ बटाएँ । राजनैतिक दासता के कारण जितना कष्ट उठाना पड़ता है उससे भी अधिक बौद्धिक दासता के कारण सहन करना होता है । सामाजिक राजनैतिक, आर्थिक, शारीरिक सुखों का मूल साधन मानसिक परिवर्तन है ।

गीता ने 'ऊर्ध्वमूलमधः शाखा, के श्लोक में यह बताया है कि मस्तिष्क जीवन की जड़ है और शरीर के अन्य अंग शाखाएँ हैं, कार्मिकी जड़ विचारों में होती है और उसके पत्र, पुष्प बाहर दीख पड़ते हैं । मनुष्य जाति को दुर्भाव, दुर्बुद्धि, और दुष्कर्मों से बचाकर सत्कर्मों की ओर ले चलने के लिए सबसे प्रथम और सबसे अधिक आवश्यकता बौद्धिक क्रान्ति की है, जिन विचारों से समाज इस समय ओत-प्रोत है यदि उनमें परिवर्तन न हुआ तो कोई भी ऊपरी उपचार फलप्रद न होगा । ब्राह्मण वर्ण को सर्वोच्च माना गया है क्योंकि प्रेरक शक्ति उसी के अन्दर है, बुद्धि की उत्तमता पर जवन की उत्तमता निर्भर है इसी प्रकार विचारों की रचना के अनुसार समाज की स्थिति होती है । हमारे देश जाति का चतुर्मुखी पतन जिन कारणों से हुआ है उनमें बौद्धिक पतन सबसे प्रधान है । जिस हेतु से आधःपात है उसे दूर करके ही पुनः उन्नत दशा को प्राप्त किया जा सकता है ।

आप उद्देश्यमय जीवन जीने की इच्छा करते हैं मानव जीवन को ईश्वर की इच्छा के अनुसार व्यतीत करना चाहते हैं, तो अभाव अन्याय या अज्ञान को दूर

करने का अन्तःग्रहण करना होगा । जिस वर्ण में आपकी स्थिति है उसके अनुसार कार्य करना चाहिए साथ ही युग परिवर्तन की वर्तमान सन्ध्या का ध्यान रखते हुए सामयिक धर्म का पालन भी करना चाहिए । अग्नि को बुझाने के लिए, कुँए में गिरे हुए को निकालने के लिए, शत्रु का मुकाबला करने के लिए जैसे अपने-अपने नियत कार्यों को छोड़ कर सब लोग उस सामयिक आवश्यकता को पूरा करने में लग जाते हैं उसी प्रकार अपने समाज को अवनति के गर्त में से निकालने के लिए जुट जाइए । आज युग की पुकार यह है कि जबर्दस्त बौद्धिक परिवर्तन किया जाय यह कार्य ब्राह्मण वर्ग का है, किन्तु इस समय वह वर्ण निर्बल हो रहा है, अथवा यों कहिए कि जितने बड़े कार्य को पूरा करना है उसे इतनी सीमित शक्ति से पूरा नहीं किया जा सकता अतएव सब लोगों को मिलाकर उस भार को उठाना चाहिए । आज ब्राह्मणत्व निर्बल हो रहा है अथवा अधिक भार ग्रस्त है, अज्ञान की पीड़ा को दूर करने के लिए सब किसी को उसकी सहायता करनी चाहिए ।

आप जरा उदार और दयार्द्र होकर स्वजाति बन्धुओं की दुर्दशा का निरीक्षण कीजिए, बीमारी, गरीबी, बेकारी, अभाव, चिन्ता, कलह, क्लेश, वियोग, पाप, ममता, मोह के कारण दुःखों की घोर घटाएँ छायी हुई हैं । बेचारा मानव, प्राणी नाना कलह कष्टों में पिसा जा रहा है, इन दुःखों को देख कर जिसका हृदय नहीं पसीजता, आँखों से आँसू नहीं आते, और इन्हें मिटाने के लिए जिसकी भुजाएँ नहीं फड़कतीं उसमें और पाषाण में कुछ विशेष अन्तर नहीं रह जाता । हम मानते हैं कि आप प्रेमी, दयालु और सेवा भावी हैं, दुःखियों का दुःख मिटाने में अपने जीवन को सार्थक करना चाहते हैं ।

सामने देखिए, एक बीमार पड़ा हुआ है, आप उसकी दवा-दारू, सेवा-सुश्रूषा करके अच्छा कर देते हैं, लेकिन अभी दस दिन भी नहीं बीतने पाते कि वह फिर बीमार पड़ जाता है । बेचारा स्वास्थ्य के नियमों से परिचित न था, बीमारी से उठने के बाद कुपथ्य करने लगा फिर बीमार पड़ गया । इसकी तो रोज ही ऐसी सेवा करनी पड़ेगी आप कहाँ तक अच्छा करेंगे ।

सामने देखिए, एक बड़ा दरिद्र भिक्षुक आ रहा है उसकी सहायता करना आपका कर्तव्य है । अपनी थाली में जो भोजन आया है आप उसे खिला देते हैं और स्वयं भूखे रह जाते हैं, पर अरे, यह देखिए, आपका प्रयत्न तो व्यर्थ रहा । कल आपने स्वयं भूखे रहकर जिसकी भूख मिटाई थी वह तो आज फिर भूखा का भूखा ही है । बेचारा उपार्जन के परिश्रम पूर्ण मार्ग की महत्ता से अनभिज्ञ है, ऐसे ही भीख टूक माँग कर जीवन बिताता है, जिन्दगी भर उसे बिठाकर आप कहाँ तक खिलायेंगे ?

सामने देखिए, एक मनुष्य को किसी दूसरे दुष्ट ने सताया है आप उसकी रक्षा के लिए चलते हैं, उसकी आपत्ति अपने सिर लेते हैं, बलवान से उलझ कर किसी प्रकार उस बेचारे निर्बल मनुष्य को दुष्ट के पंजे से छुड़ाते हैं, पर ओफ, आपका सारा प्रयत्न व्यर्थ चला गया, कल उसे एक जालिम के पंजे से छुड़ाया था आज दूसरे का शिकार बन गया । यह तो जहाँ जायेगा वहीं अपने दब्बू स्वभाव के कारण जुल्म का शिकार बन जायेगा, यह तो रोज का काम है, आप कहाँ तक इसे बचाते फिरेंगे ?

सामने देखिए एक आदमी का धन चोरी चला गया है, बेचारा धाड़ मार कर रो रहा है । आप इसे अपना धन दे देते हैं जिससे उसे सन्तोष हो जाय । शायद अब यह बहुत दिनों प्रसन्न रहेगा । अरे, यह क्या ? अभी चार दिन भी नहीं हुए, इसे अपना धन देकर सन्तुष्ट किया था आज तो यह फिर उसी तरह रोता है, जरा पूछिए तो कारण क्या है ? कहता है आज मेरे घर की दीवार टूट गई है । यह तो बड़ा बखेड़ा है, दुनिया की नाशवान चीजें तो रोज-रोज नष्ट होने वाली हैं, यह तो हर नाश पर रोयेगा । इसे सन्तोष कराना आपके बस की बात नहीं है ।

इस बेचारे अभावग्रस्त को देखिए, कितनी प्रार्थना के साथ एक पैसा माँग रहा है । आप कहते हैं चल भाई, ऐसे एक-एक पैसा क्या माँगता है, मेरे साथ चल, जिस वस्तु की आवश्यकता हो मुझसे ले लिया करना । वह गरीब आदमी साथ चल देता है । पहले भोजन माँगता है, वह देते है । फिर वस्त्र मांगता है, वह देते हैं । अब घर चाहिए वह भी दिया फिर स्त्री, नौकर, घोड़ा-गाड़ी, धन, सन्तान, कीर्ति,

भोग-विलास, वैभव, राज-पाठ आदि की मांगें क्रमशः उत्पन्न होती गईं । आप तो मामूली आदमी हैं इन बढ़ती हुई इच्छाओं को कहाँ तक पूरा करेंगे ? तृष्णा तो सात समुद्रों को पाकर भी शान्त नहीं हो सकती ।

दो व्यक्तियों में झगड़ा हो रहा है, आप उसे निपटाने के लिए चलते हैं, अपनी सारी बुद्धि लगाकर उस समय मामले को तय करा देते हैं पर दूसरे दिन वह विग्रह दूसरे रूप में फिर उपस्थित हो जाता है । एक व्यक्ति अनुचित काम कर रहा है आज उसे धिक्कार कर या समझा-बुझाकर अपने प्रभाव से या बलपूर्वक आप उसे रोक देते हैं, किन्तु कल वह फिर उसी प्रकार के कार्य पर उतारू है । एक मनुष्य एक प्रकार के भ्रम में उलझ कर अपने को दुःखी बनाये हुए है । आप उस समय भ्रम को हटा देते हैं पर दूसरे क्षण दूसरी सनक उस पर सवार हो जाती है । उत्तम व्यवस्था चलाने और बुराई रोकने के लिए आप कोई कानून या प्रस्ताव पास कराते हैं लोग कोई न कोई बहाना ढूँढ़कर प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से तोड़ने लगते हैं ।

आपको सारी समस्या पर नये सिरे से विचार करना होगा । संसार के दुःखों के कारण तथा उनको दूर करने के उपाय पर गम्भीरतापूर्वक मनन करना होगा । मानव जाति के अनेकानेक कष्टों का कारण वे अभाव नहीं हैं जो प्रत्यक्षतः दिखाई पड़ते हैं । समस्त दुःखों की जननी अविद्या है । बीमार को दवा देकर सदा के लिए अच्छा नहीं किया जा सकता यदि उसे निरोग बनाना है तो उसकी ज्ञानचेतना में यह बात बिठा देनी होगी कि किन उपायों से स्वास्थ्य ठीक रह सकता है । यदि वे बातें मन में भर जायें तो वह वर्तमान बीमारी को बहुत ही अल्प समय में खोकर सदा के लिए निरोग और स्वस्थ बन सकता है । भिक्षुक को परिश्रमपूर्वक जीविका उपार्जन करने के मार्ग पर प्रवृत्त कर दिया जाय तो उसको रोज-रोज की अपमानित याचना से छुटकारा मिल सकता है । निर्बलों को बलवान बनने और बलवानों को दया करने की भावना से भर दिया तो आये दिन होने वाले जुल्म सहज ही मिट सकते हैं । कमजोर मनुष्य जब तक अन्याय का विरोध करने के लिए स्वयं कुछ करने को तत्पर नहीं होते तब तक उन्हें ईश्वर भी बेइन्साफी में पिसने से नहीं बचा सकता । दिन-दिन बढ़ने वाली तृष्णा और नाशवान वस्तुओं की बिछोह वेदना, ज्ञान द्वारा ही दूर की जा सकती है अन्यथा इनका निवारण किसी प्रकार हो ही नहीं सकता, इस आनी-जानी दुनिया में एक न एक वस्तु का बिछोह नित्य होगा। आज भाई मरा तो कल बेटा मरने वाला है, आज धन गया तो कल घर फूटने वाला है, इसके लिए रोया जाय तो निरन्तर रोते रहने पर भी शान्ति नहीं मिलेगी इन अवसरों पर केवल ज्ञान द्वारा ही धैर्य धारण किया जा सकता है । भूतकाल का शोक, आने वाले कष्ट मनोविकार, पाप, आकर्षण यह सब तात्कालिक प्रतिबन्ध तो रोके नहीं जा सकते, इनका निवारण ज्ञान द्वारा ही होना सम्भव है । दुनिया को एक ही दुःख है—'अज्ञान' । उसे सुखी बनाने का एक ही उपाय है 'ज्ञान प्रसार' ।

माना कि पीड़ितों को कुछ तात्कालिक सहायता की भी आवश्यकता होती है पर पीड़ा का अन्तत निवारण ज्ञान द्वारा ही हो सकता है । आप रुपया पैसा देकर किसी की इतनी सहायता नहीं कर सकते जितनी कि उसे विषम स्थिति में से निकालने का मार्ग बता कर करते हैं मनुष्य के पास किसी वस्तु की कमी नहीं है । परमात्मा ने उसे अनन्त शक्तियों का खजाना सौंप कर इस लोक में भेजा है, उसके अन्दर ऐसी-ऐसी योग्यताएँ छिपी पड़ी हैं कि जिनके एक-एक कण का उपयोग करके वह सम्राटों का सम्राट बन सकता है । राजा को एक कंकड़ देकर, आत्मा को रुपया, पैसा, भोजन, वस्त्र देकर आप उसका क्या उपकार करते हैं ? उसे इन टुकड़ों की जरूरत नहीं है, जरूरत केवल एक है और वह यह कि मानव जाति के अन्तःस्थल में सोई हुई महान शक्तियों को जगाया जाय ।

समुद्र लांघते समय हनुमान जी अपनी अशक्ति अनुभव करते हुए बड़े दीन हो रहे थे, जामवन्त ने उन्हें बोध कराया कि—'हे पवन पुत्र ! सत्य को समझो, ऐसे दीन वचन न बोलो, तुम्हारे अन्दर तो अकूत बल भरा हुआ है ।' जामवन्त के उद्‌बोधन से हनुमान जी का सोया हुआ बल जाग पड़ा और वे एक ही छलांग में समुद्र पार कर गए । आज कोटि-कोटि हनुमान अपनी अशक्ति प्रकट करते हुए दीन वचन बोलते हैं और असफलता के तट पर बैठे-बैठे हाथ मलते हैं । इस समय ऐसे जामवन्तों की जरूरत है जो इन्हें इनके

आत्मबल का उद्बोधन करके आपत्तियों का समुद्र लाँघने के लिए तत्पर कर दे ।

संसार मे सद्ज्ञान का प्रसार हुए बिना कलह, पाप, दुराचार, हत्या, चोरी, अशान्ति आदि का अन्त नहीं हो सकता । जब तक मनुष्य के मन में शैतान बैठा रहेगा तब तक अन्य प्रकार के दान उसका कुछ भी भला न कर सकेंगे इसलिए यदि आप ऐसा दान करना चाहते हैं जिससे संसार की सच्ची सेवा हो, सच्चा उपकार ही स्थायी रूप से दुःखो का निवारण हो तो ज्ञान का अमृत बाँटिए, विवेक का दान दीजिए । सद्ज्ञान प्रसार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि हर मनुष्य बड़ा भारी विद्वान, वक्ता या लेखक ही हो । सच्चाई इतनी ठोस, खरी, प्रभावपूर्ण, तर्क संगत होती है कि उसको समझाने में विशेष कठिनाई नहीं पड़ती, सीधी सच्ची बात को कहने में न तो किसी होशियारी की जरूरत है और न किसी बनावट की, सद्भावपूर्वक जो बात हृदय से निकलती है उसको समझाने का ढंग सीखने की जरूरत नहीं पड़ती । सरलता के साथ वह कही तथा समझी जा सकती है ।

आप अपने अन्दर ज्ञान की किरणें आकर्षित करिए और उन्हें दूसरों को बाँटने में उद्यत होइये । अक्षर ज्ञान एवं पोथी की विद्या बहुत दिनों में आती है उसको समझने-समझाने के लिए हजारों स्कूल-कॉलेज खुलते जा रहे हैं । यह कार्य दूसरे लोगों का है आप तो जीवन के मूलभूत दृष्टिकोण को समझने और समझाने का प्रयत्न करिए । स्कूली शिक्षा से जानकारी बढ़ती है, उससे आदमी होशियार और चालाक हो जाता है, पर 'ज्ञान' दूसरी बात है । जिस प्रकार बिना पढ़े लोग 'ज्ञान' से वंचित रहते हैं, वैसे ही पढ़े-लिखे लोग भी उससे शून्य पाये जाते हैं । किताबें दिमाग को बढ़ा सकती हैं पर हृदय को परिवर्तन करने की शिक्षा तो दूसरी ही है । जीवन की वास्तविक महत्ता को समझाना और उसका सदुपयोग करना जिस शिक्षा के द्वारा सीखा जाता है उसे 'ज्ञान' कहते हैं । ज्ञान देने वाले और लेने वाले के लिए यह आवश्यक नहीं कि वे अमुक कक्षा तक पढ़े-लिखे ही हों जिनका अन्तःकरण स्पष्ट है वे गुरु शिष्य बिल्कुल अशिक्षित होते हुए भी ज्ञान को सिखा सकते हैं और सीख सकते हैं ।

संघ बद्ध रीति से यह कार्य और भी सुन्दरता पूर्वक हो सकता है । कई व्यक्ति मिलकर एक संघ द्वारा इस कार्य को और भी उत्तमता से कर सकते हैं । दूसरा तरीका यह है कि जो लोग इस ज्ञान प्रसार के कार्य में प्रवृत्त हैं उनके कार्य में अपनी शक्ति, सहायता को जोड़ कर अधिक से अधिक बल प्रदान किया जाय । अखण्ड ज्योति जैसे संस्थान की यदि आप जैसे उत्साही एवं कर्तव्य-परायण महानुभावों का सहयोग प्राप्त हो तो वह अब की अपेक्षा हजारों गुनी शक्ति एवं सफलता के साथ सद्ज्ञान का विस्तार कर सकता है । अकेला व्यक्ति भी अपनी शक्ति के अनुसार बहुत कुछ कार्य कर सकता है ।

आप इस समय ब्राह्मण धर्म की सहायता कीजिए देश जाति की गिरी हुई दशा को सुधारने के लिए स्वदेश बान्धवों की विचारधारा पलटने में लग जाइये । अपने घर मे, सम्बन्धियों में, मित्रों में, ग्राहकों में, परिचितों में, अपरिचितों में, ज्ञान के बीज बोते चलिए, उन्हें सन्मार्ग पर चलने के लिए प्रोत्साहित करते रहिए । पुरानी प्रथा और परिपाटियाँ मिलावट होने के कारण तथा समय से पीछे की हो जाने के कारण बहुत अंशों में अनावश्यक हो गई हैं उन्हें सुधारना अत्यन्त आवश्यक है, संशोधन परिमार्जन की, विचार और कार्य दोनों दिशाओं में जरूरत है । नवयुग निर्माण का पवित्र यज्ञ कार्य करने के लिए आपको बढ़ना है, पुराने यज्ञ कुण्ड में स्वाहा करनी है ताकि नवीन सुगन्धित यज्ञधूम उत्पन्न होकर देवताओं को प्रसन्न करे ।

उद्देश्य पूर्ण जीवन बिताइये, लक्ष्य को लेकर जीवित रहिए । आज अज्ञान निवारण का महान कार्य सामने पड़ा हुआ है । आप ब्राह्मणत्व की सहायता कीजिए और पापों से जलती हुई मनुष्यता को ज्ञान का अमृत पिलाइये, ईश्वर की पूजा देश जाति की सेवा में है उसे सुखी बनाने का एकमात्र उपाय ज्ञान प्रसार है, अभाव और अन्याय के दुःख भी ज्ञान से ही दूर हो सकते हैं, सर्वतो भावेन आप ज्ञान प्रसार में जुट जाइए, इसी में सच्चा कल्याण है ।

## कुशल समालोचक बनिये !

दूसरो की समालोचना करना सुगम है, पराये दोष देखने में प्रवीण लोगों की अपार सेना चारों ओर घूम रही है, दुर्गुणों की वास्तविकता को जानने वाले थोड़े हैं पर उन्हें बढ़ा-चढ़ा कर देखने की वृत्ति बहुतों में पायी जाती है । दूसरों को दोषी देखकर आपको उससे

ऊँचा अनुभव करने का एक हल्का-सा अवसर मिलता है, इस हल्के से लाभ का लोभ संवरण न करके सत्य-असत्य तथ्यों के आधार पर अथवा केवल कल्पना द्वारा दोषारोपण करके अपनी आत्म गौरव आकांक्षा को भद्दे रूप से तृप्त करते हैं । ऐसे लोग बहुत हैं जो अधर्म सत्य तथ्यों को कल्पना का रंग देकर दूसरों को दोषी ठहराने में और उस दोषारोपण को लच्छेदार भाषा में वर्णन करने में रस लेते हैं ।

मनुष्य की पहचान करना एक आध्यात्मिक कला है जिसके आधार पर प्रसन्नता के साथ संसार में रहना और लोक व्यवहार में चतुर होना सम्भव है । एक आदमी कैसा है इसकी वास्तविक जानकारी होने पर तदनुकूल व्यवहार करना सरल होता है, अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए व्यक्तियों की बाहरी रूपरेखा जानने से ही काम नहीं चलता वरन् उनकी भीतरी स्थिति समझना भी आवश्यक होता है । अपने को दूसरे के प्रभाव से किस हद तक जाने दिया जाय ? इस प्रश्न का ठीक-ठीक निर्णय उपर्युक्त जानकारी के द्वारा ही हो सकता है, सत्संग का लाभ उठाने एवं ठगों के चक्कर से बचे रहने की असाधारण सफलताएँ इस आध्यात्मिक कला द्वारा ही सम्भव हैं ।

दूसरों की मानसिक स्थिति समझने से भी अधिक उपयोगी एवं आवश्यक बात अपने आपको ठीक सही और सच्चे रूप में समझना है । जिस प्रकार दूसरों में दोष निकालने की लत का बाहुल्य देखा जाता है वैसे ही अपनी योग्यताओं के बारे में बढ़ी-चढ़ी भ्रम पूर्ण धारणाएँ बनाकर वास्तविकता से दूर हट जाते हैं, ऐसी दशा में अपनी योग्यता के अनुरूप कार्य चुनने में भारी बाधा उपस्थित होती है और आत्म-सुधार तो करीब-करीब असम्भव हो जाता है, किसी बात की वास्तविकता को अपना हृदय जब तक स्वीकार न करे तब तक दूसरों के कहने से कुछ प्रभाव नही पड़ता । मस्तिष्क हृदय का गुलाम है, जो बात मन में बस रही है उसको उल्टे-सीधे तर्कों से पुष्ट करने का दिमाग प्रयत्न करेगा । यदि बहस में हार जाय तो वितंडा खड़ा करेगा या चुप हो जायेगा पर किसी भी दशा में उस तथ्य को स्वीकार न करेगा जो हृदयगत मान्यता के विरुद्ध है, अपनी स्थिति के बारे में नब्बे प्रतिशत लोग दुराग्रही होते हैं, अपने को जैसा कुछ उल्टा-सीधा उन्होंने समझ लिया है उसमें कोई संशोधन उन्हें ठीक नही जान पड़ता ।

'कोरी कल्पना के आधार पर अपनी स्थिति को अत्यधिक घटा-बढ़ा कर समझ बैठना और फिर उसको मानते रहने का दुराग्रह करना' यह ऐसी भयंकर मानसिक बीमारी है जो मनुष्य को आधा पागल बना देती है और आत्मिक उन्नति के स्रोतों को बिलकुल नष्ट कर देती है । झूठ-मूठ अपनी शेखी बघारने वाले लोग आपने देखे होंगे यह केवल झूठे ही नहीं होते वरन् उपर्युक्त मानसिक रोगों से भी बहुत अंशों में ग्रसित होते हैं उनके मन में एक ऐसी कल्पना घर बना लेती है कि वे कोई बड़े आदमी हैं और उस बड़प्पन की पुष्टि के लिए अन्तर्मन की अदृश्य प्रेरणा के अनुसार शेखी बघार कर अपने भ्रम को पुष्ट करते हैं । यदि उन्हें समझाया जाय कि तुम शेखी मारते हो, झूठ बोलते हो तो वे लज्जित नहीं होते वरन् प्रतिरोध करने को तैयार हो जाते हैं । इससे प्रतीत होता है कि वह शेखी कोरा मनोरंजन या मसखरापन ही नहीं है वरन् उसके पीछे कोई गहरा कारण भी है, यह कारण वही उपर्युक्त मानसिक बीमारी है, जिससे ग्रसित रोगी अपने बारे में उल्टी-सीधी कल्पनाएँ कर बैठता और फिर उन्हें दुराग्रहपूर्वक सब समझने को हठ करने लगता है ।

हमने इन पुस्तकों में कई बार अपनी योग्यताओं और शक्तियों के उन्नत होने पर विश्वास करने को कहा है उसका अर्थ आध्यात्मिक सद्गुणों पर विश्वास करना है, शेखी खोर लोग आत्मिक उन्नति पर विश्वास नही करते वरन् शारीरिक एवं भौतिक स्थिति के बारे में उल्टी-सीधी धारणा बना लेते हैं जो कि बहुत ही घातक है । अपनी आत्मिक योग्यता और महत्ता की सम्भावना पर विश्वास करना उचित है पर उसका अर्थ वर्तमान कालीन स्थिति की ओर से आँखें बन्द कर लेना नहीं है । ईश्वर उपासना के लिए, आत्मोन्नति के लिए, आत्म-निरीक्षण, एवं आत्म-संशोधन आवश्यक है, उन्नति के मार्ग पर चलने के लिए यात्रा की विघ्न बाधाएँ हटाते चलने का भी ध्यान रखना पड़ता है ।

आप कुशल समालोचक बनिये, तत्वदर्शी बनिये, दृष्टा बनिये, सत्य को समझने की योग्यता प्राप्त कीजिए । एक निष्पक्ष परीक्षक की तरह अपने विवेक को अलग खड़ा कीजिए और उसके द्वारा अपने वर्तमान शारीरिक और मानसिक शरीर की वैज्ञानिक परीक्षा कराया

कीजिए । 'एक्स-रे' यन्त्र द्वारा शरीर के भीतरी भागों का फोटो ले लिया जाता है आपकी परीक्षक दृष्टि 'एक्स-रे' के समान विशुद्ध एवं यथार्थ होनी चाहिए । वर्तमान समय में शारीरिक और मानसिक कौन-कौन से गुण-दोष घट-बढ़ रहे हैं, उसका ठीक ज्ञान आपको होना चाहिए । आत्मा महान है, सर्वगुण सम्पन्न है, पर शरीर और मन वैसे नहीं हैं, शरीर स्वस्थ हो तो भी कपड़े का मैला, फटा या अशुद्ध होना सम्भव है, मन और शरीर आत्मा के वस्त्र हैं, इन वस्त्रों के मैलेपन पर तीव्र दृष्टि रखना और बार-बार धोते रहना आवश्यक है ।

आत्म-निरीक्षण से अपनी मानसिक स्थिति को ठीक समझा जा सकता है । अपूर्णता न मानना, अपनी निर्दोषता या सर्वोपरि बुद्धिमत्ता का दुराग्रह करना बहुत ही घातक मानसिक रोग है इससे जितनी जल्दी छुटकारा पाया जा सके पाने का प्रयत्न करना चाहिए । अपनी समालोचना बिना पक्षपात किए न्याय मूर्ति जज की तरह किया कीजिए इसी दृष्टि से दूसरों की मानसिक स्थिति पर स्थिर चित्त से परीक्षण किया कीजिए । इस प्रकार वास्तविकता की ओर आप बढ़ेंगे, सत्य के अधिक समीप पहुँचेंगे, तात्विक ज्ञान से अधिक सम्पन्न होंगे । यही तरीका है जिससे दुनिया को अपने लिए उपयोगी और अपने को दुनिया के लिए उपयोगी बनाया जा सकता है दूसरे का ठीक स्वरूप जानकर ही उससे ठीक काम ले सकते हैं और अपना ठीक स्वरूप जान कर उसमें से दोष निकालने और गुण बढ़ाने की व्यवस्था कर सकते हैं ।

अपनी आलोचना करने और कराने में रुचि रखिए, दोषों को बारीक दृष्टि से देखकर उन्हें हटाते चलिए और गुणों को बढ़ाते रहिए । अपने विचारों और विश्वासों पर भी गम्भीर दृष्टि डालते रहिए कि कहीं वे दुराग्रह के कारण वास्तविकता से दूर तो नहीं हट रहे हैं । खुली बुद्धि से हर पाप पुण्य की वास्तविकता पर विचार किया कीजिए, पक्ष-विपक्ष की दलीलों को सावधानी के साथ सुनकर विवेक के द्वारा उचित-अनुचित का निर्णय किया कीजिए । किसी के हाथ अपनी बुद्धि मत बेचिए किसी भी परम्परा के गुलाम मत बनिये, बौद्धिक दासता स्वीकार करने से इन्कार कर दीजिए, हर भलाई-बुराई पर स्वयं अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से गम्भीर विचार करने के पश्चात् ही स्वीकार करने न करने का फैसला करिये । दूसरों की मानसिक स्थिति देख कर तब उसके सम्बन्ध में कोई धारणा बनाइये, केवल कार्यों का बाह्य रूप देखकर कुछ निर्णय मत कीजिए । अपने विचार, विश्वास, स्वभाव, कार्य इन चारों पर निष्पक्ष समालोचक की दृष्टि डालकर सत्य के अधिक निकट चुनने का प्रयत्न कीजिए जिससे संशोधन और सुधार के द्वारा आगे बढ़ते चलें ।

आत्म-निरीक्षण की योग्यता से, अपनी और दूसरों की भीतरी वास्तविक स्वरूप समझने का सदैव अभ्यास किया कीजिए, जीवन को सरल और समुन्नत बनाने वाली यह एक कला है जिसे सीखने का हम हर एक आध्यात्मिक पथ पर चलने वाले साधक से आग्रहपूर्वक अनुरोध करते हैं ।

## सिद्धि के सिद्धान्त

आध्यात्म-विद्या में जिन्होंने थोड़ा बहुत भी प्रवेश किया है वे जानते हैं कि साधना से सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । अष्ट सिद्धि और नव निद्धि प्रसिद्ध हैं । विभिन्न योगों द्वारा विभिन्न शक्तियों का मिलना प्रकट ही है । इन्द्रियों के आकर्षक भोगों को, सुख-सुविधा को, ऐश आराम को, छोड़कर कोई व्यक्ति कष्टदायक, कठोर, नीरस, श्रम-साध्य साधना में प्रवृत्त होता है तो वह ऐसा करने के लिए यों ही उद्यत नहीं हो जाता । ज्यादा कीमती चीज के लिए कम कीमती चीज का त्याग किया जाता है । साधना का कष्ट इसलिए सहन करते हैं, कि जिन सुखों का त्याग किया गया है उससे अधिक मूल्यवान सुख प्राप्त हो । यदि ऐसा न होता तो कोई भी व्यक्ति साधना का कष्ट सहने को तैयार न होता ।

अनेक अवसरों पर अनेक व्यक्तियो द्वारा ऐसे कार्य करते हुए किन्हीं व्यक्तियों को देखा जाता है, जैसे कि कार्य साधारण आदमी आमतौर पर नहीं कर सकता । आम जनता के साधारण दायरे से बाहर की जो चीज होती है वह सिद्धि कहलाती है । जैसे हवा में उड़ने वाला मनुष्य सिद्ध कहा जायेगा, किन्तु पक्षी को कोई सिद्ध न कहेगा । पक्षी आमतौर से उड़ते हैं, इसलिए उनके उड़ने में कुछ अचम्भा नहीं है । मनुष्य के उड़ने में इसलिए अचम्भा है, क्योंकि आमतौर से मनुष्य प्राणी

उड़ा नहीं करता । पानी में रहना हमारे लिए सिद्धि है, मछली के लिए नहीं । एक घण्टे में बीस मील की चाल से दौड़ना हमारे लिए सिद्धि है, पर घोड़े के लिए नहीं । हाथी को कोई मनुष्य पछाड़ दे तो उसे सिद्ध कहा जायेगा, किन्तु सिंह जो अक्सर हाथियों को पछाड़ता रहता है सिद्धि नहीं कहलाती । कहने का तात्पर्य यह है कि इस समय जो बातें सब किसी में दिखाई नहीं पड़तीं, वह बातें किसी विशेष व्यक्ति में हों तो उसे आध्यात्मिक भाषा में 'सिद्ध' शब्द से पुकारा जायेगा । आश्चर्यजनक और असाधारण कार्यों का ही दूसरा नाम 'सिद्धि' है ।

एक समय में जो बात साधारण होती है, वही बात समय और परिस्थिति के प्रभाव से असाधारण हो जाती है । सतयुग, त्रेता आदि प्राचीन युगों में अब की अपेक्षा मनुष्य अधिक ऊँचा, लम्बा, चौड़ा, अधिक खाने वाला और अधिक काम करने वाला होता था, किन्तु इस समय में तब की अपेक्षा आदमी की काया, खुराक और मजबूती बहुत घट गई है । सतयुग के लम्बे तड़ंगे आदमी को अवलाकर दिखाया जाय या अब के आदमियों को तब सतयुग वालों को दिखाया जाता तो निःसन्देह आश्चर्य की सीमा न रहती । एक देश वाले दूसरे देश वालों के रीति-रिवाज, खान-पान, वेश-भूषा और भाषा को आश्चर्यजनक समझते हैं, लेकिन अपने देश की प्रथा प्रणाली किसी को अचरज की मालूम नहीं देतीं । सिद्धियाँ हमें आश्चर्य में डालती हैं । क्यों ? इसलिए कि वे आम लोगों में वर्तमान समय में नहीं देखी जातीं । जो वस्तु सब किसी के पास नहीं है वह आश्चर्य है, चमत्कार है, वैभव है । पीतल के बर्तन हर किसी के घर में होते हैं, उन्हें देखकर कुछ कौतूहल नहीं होता । परन्तु सोने की थाली में किसी को भोजन करते हुए देखते हैं तो बार-बार उसकी ओर ध्यान आकर्षित होता है । यदि सोना इतनी अधिक मात्रा में निकलने लगे कि घर-घर में सोने के बर्तन हो जायें तो पीतल की भाँति ही वह सोना भी आकर्षण हीन हो जायेगा । यदि सभी धनी, बँगले वाले, मोटर वाले, अमीर हो जायें तो फिर उनकी ऐसी पूछ न रहेगी जैसी कि अब है । सिद्धियों को देखकर आश्चर्य का होना ऐसा ही है । अधिक लोगों के पास जो योग्यताएँ नहीं हैं उन्हें किसी खास व्यक्तियों में देखकर विचित्रता प्रतीत होती है । चमत्कारों को देखकर हम अचम्भा करते हैं तो भी वास्तव में स्वतः उनमें अचम्भे की कोई बात नहीं है ।

मनुष्य अनन्त शक्तियों का महा भण्डार है, उसके अन्दर ऐसी महा सत्ताएँ सन्निहित हैं, जिनके एक-एक कण द्वारा एक-एक जड़ जगत का निर्माण हो सकता है । जितना बल उसके अन्दर मौजूद है, उसका लाखवाँ भाग भी अपने प्रयोग में प्रायः नहीं ला पता है । इस छिपे हुए महा भण्डार में अगणित, अतुलित रत्न राशि छिपी पड़ी है, जो कोई जितना कुछ उसमें से निकाल लेता है वह उतना ही धनी बन जाता है । परमात्मा का अमर राजकुमार अपने पिता की सम्पूर्ण शक्तियों का सच्चा उत्तराधिकारी है । इच्छा और प्रयत्न करते ही सब कुछ उसे मिल सकता है । कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसे वह अपने पिता के खजाने से पा न सके । जितनी सिद्धियाँ अब तक सुनी या देखी गई हैं वे सब बहुत थोड़ी हैं । अभी इनसे भी अनेक गुनी, अनन्त गुनी तो वे छिपी ही पड़ी हैं । तब मनुष्य विकसित होते-होते परमात्मा को ही प्राप्त कर सकता है, स्वयं परमात्मा बन सकता है, तो उन सब महानताओं और शक्तियों को भी पा सकता है, जो परमात्मा के हाथ में हैं । परमात्मा की इच्छा से हर एक असम्भव बात सम्भव हो सकती है फिर परमात्मा की स्थिति में पहुँचा हुआ मनुष्य भी वैसा ही असम्भव को सम्भव करके दिखा देने वाला हो सकता है । सिद्धियाँ असम्भव हैं, ऐसा कहना भ्रम मूलक है । एक से एक आश्चर्यजनक चमत्कारी कार्य मनुष्यों द्वारा हुए हैं, हो रहे हैं और आगे होंगे । हमारी क्षमताओं की सम्भावना इतनी ऊँची है कि साधारण बुद्धि से उसकी कल्पना करना भी कठिन है । हर एक असम्भव बात मानव प्रयत्न के द्वारा सम्भव हुई है और हो सकती है ।

जलते हुए अंगार के ऊपर जब राख जमा हो जाती है तो वह राख से ढका हुआ अंगार बाहर से छूने पर गर्म नहीं मालूम पड़ता, किन्तु जैसे-जैसे उस राख को हटाया जाता है वैसे-वैसे गर्मी बढ़ने लगती है जब वह पूर्ण रूप से हट जाती है तो अंगार इतना गर्म निकल आता है कि उसे छूना कठिन होता है । एक जलती हुई बिजली की बत्ती को कपड़े के अनेक पर्तों से ढक दिया जाय तो उसका प्रकाश कपड़ों से बाहर न आ सकेगा, किन्तु जैसे उन पर्तों को हटाते

जाते हैं वैसे ही वैसे प्रकाश बढ़ता जाता है जब सारे पर्त अलग हो जाते हैं तो स्वच्छ बिजली की बत्ती निकल आती है और उसके प्रकाश से चारों ओर जगमग होने लगता है । जलाने वाला अंगार वही था उसके अन्दर दाहक शक्ति सदा से मौजूद थी परन्तु राख ने उसे ढक दिया था बिजली की बत्ती वैसी ही जल रही थी परन्तु कपड़े के पर्तों से ढके होने से प्रकाश बन्द था । यही बात मनुष्य की है वह अनन्त शक्तियों का भण्डार है किन्तु दुर्वासना, दुर्भावना, कुविचार, भोग लिप्सा, अनीति आदि आवरणों के पर्तों से वे ढक जाती हैं । यह पर्त इतनी अधिक मात्रा में जमा हो जाते हैं कि मनुष्य एक बहुत ही तुच्छ, निर्बल, असहाय, बेबस और दीन-हीन प्राणी मात्र रह जाता है पशु-पक्षियों और कीट पतंगों की अपेक्षा भी उसका बल, साहस और सुख कम रह जाता है । तरह-तरह के कष्टों से रोता-कलपता रहता है, अपने छोटे-मोटे दुःख-दरिद्रों को भी वह हटा नहीं पाता । ऐसी पतित अवस्था में पड़ा हुआ जीव यदि आध्यात्मिक सिद्धि को देखकर हैरत में पड़ जाता है और उसके अस्तित्व पर अविश्वास करने लगता है तो इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं है ।

जब हम अपनी कुवासना और दुर्भावनाओं को हटाकर सद्वृत्तियों और सद्भावनाओं को निखारते हैं तो आत्मतेज निर्मल होकर अपनी अनन्त महत्ताओं को प्रकट करने लगता है । यह प्राकट्य ही सिद्धि है । पातंजलि योग सूत्र जिन्होंने पढ़ा है वह जानते हैं कि "यम-नियम (अहिंसा, सत्य, आस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान) यह सिद्धियों के मूल स्रोत है । अहिंसा पालन करने से, उसके समीप पहुँचने वाले आपस का वैर-भाव भूल जाते हैं गाय, सिंह पास-पास बैठे रहते हैं । सत्य का पालन करने से वाणी सत्य होती है, जो श्राप, वरदान दिया जाय सफल होता है । आस्तेय का पालन करने से सब रत्नों की प्राप्ति होती है, लक्ष्मी की कमी नहीं रहती । परिग्रह से पूर्व जन्मों का हाल मालूम होता है । तप से शरीर हल्का और दूरदृष्टि मिलती है आदि ।" पातंजलि के इस कथन पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से प्रतीत होता है कि यह सिद्धियाँ बाहर से प्राप्त नहीं होतीं । कोई पुरस्कार की तरह इन्हें प्रदान नहीं करता वरन् यह सब अपनी आन्तरिक योग्यताओं का निखार मात्र है । हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार, लोभ, मलीनता, तृष्णा, आलस्य, अविद्या, नास्तिकता आदि दुर्गुणों के कारण भीतर की दिव्य शक्तियाँ निर्बल, कुंठित और नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं । जैसे-जैसे इन कमजोरियों को हटाकर हम अपनी स्वाभाविक, सात्विक अवस्था की ओर चलते हैं वैसे-वैसे हम सफल, विजयी, समृद्ध, सिद्ध और महान बनते जाते हैं ।



# अमृत, पारस और कल्पवृक्ष की प्राप्ति

## आध्यात्म : अमृत, पारस, कल्पवृक्ष

ब्रह्मविद्या की, आध्यात्म की तुलना अमृत, पारस और कल्पवृक्ष से की गई है । इस महान तत्व ज्ञान के सम्पर्क में आकर मनुष्य, अपने वास्तविक स्वरूप को, बल और महत्त्व को, पक्ष और प्रयोजन को ठीक तरह समझ लेता है । इस आस्था के आधार पर विनिर्मित कार्य पद्धति को दृढ़तापूर्वक अपनाये रहने पर वह मानव बन जाता है, भले ही सामान्य परिस्थितियों का जीवन जीना पड़े । आध्यात्मवादी की आस्थाएँ और विचारणाएँ इतने ऊँचे स्तर की होती हैं कि उनके निवास स्थान अन्तःकरण में अमृत का निर्झर झरने जैसा आनन्द और उल्लास हर घड़ी उपलब्ध होता रहता है ।

आध्यात्म निःसन्देह पारसमणि है । जिसने उसे छुआ वह लोहे से सोना हो गया । गुण, कर्म और स्वभाव में महत्तम उत्कृष्टता उत्पन्न करना आध्यात्म का प्रधान प्रतिफल है । जिसकी आन्तरिक महानता विकसित होगी, उसकी बाह्य प्रतिभा का प्रखर होना नितान्त स्वाभाविक है और प्रखर प्रतिभा जहाँ कहीं भी होगा वहाँ सफलताएँ और समृद्धियाँ हाथ बाँधे सामने खड़ी दिखाई देंगी । लघु को महान बनाने की सामर्थ्य और किसी में नहीं, केवल अन्तरंग की महत्ता, गुण-कर्म स्वभाव की उत्कृष्टता में है । इसी को आध्यात्म उगाता, बढ़ाता और सँभालता है । फलस्वरूप उसे पारस कहने में किसी को कोई आपत्ति नहीं उसे पाकर अन्तरंग ही हर्षोल्लास में निमग्न नहीं रहता, बहिरंग जीवन भी स्वर्ग जैसी आभा से दीप्तिमान होता है । इतिहास का पन्ना-पन्ना इस प्रतिपादन से भरा पड़ा है कि इस तत्व-ज्ञान को अपना कर कितने कलुषित और कुरूप लौह-खण्ड स्वर्ण जैसे बहुमूल्य, महान, अग्रणी एवं प्रकाशवान् बनने में सफल हुए हैं ।

कल्पना की ललक और लचक ही मानव-जीवन का सबसे बड़ा आकर्षण है । कल्पना लोक में उड़ने वाले ही कलाकार कहलाते है । सरसता नाम की जो अनुभूतियाँ हमें तरंगित, आकर्षित एवं उल्लसित करती हैं, उसका निवास कल्पना क्षेत्र में ही है । भावनाओं में ही आनन्द का उद्गम है । आहार निद्रा से लेकर इन्द्रिय तृप्ति तक की सामान्य शारीरिक क्रियाएँ भी मनोरम तब लगती हैं, जब उसके साथ सुव्यवस्थित भाव कल्पना का तारतम्य जुड़ा हो, अन्यथा वे नीरस एवं भार रूप क्रिया-कलाप मात्र बनकर रह जाती हैं । उच्च कल्पनाएँ अभाव ग्रस्त, असमर्थ जीवन में भी आशाएँ और उमगें संचारित करती रहती हैं । संसार में जितने शरीर सम्पर्क से उत्पन्न सुख हैं, उससे लाख करोड़ गुना कल्पना, विचारणा एवं भावना पर अवलम्बित है । उस दिव्य संस्थान को सुव्यवस्थित करने और परिस्थितियों के साथ ठीक तरह तालमेल मिला लेने की पद्धति का नाम आध्यात्म है । इसलिए उसे कल्पवृक्ष भी कहते हैं ।

अलंकारिक रूप से कल्पवृक्ष उस पेड़ का नाम है, जिसके नीचे बैठकर हर कल्पना, कामना को पूर्ण करने का अवसर मिल जाता है । मोटे अर्थ में जैसा कि कल्पवृक्ष को समझा जाता है, यदि उस तरह का अस्तित्व नहीं रहा होता तो सारे संसार में तबाही उत्पन्न हो जाती है । सामान्य मनुष्य वासना, तृष्णा, द्वेष, लोभ, मोह का पुतला होता है और वे लिप्साएँ ऐसी हैं जो कभी तृप्त नहीं होतीं । जितना मिलता है उतनी ही बढ़ती जाती हैं । यदि कथित कल्पवृक्ष कहीं होता और ओछा मनुष्य कुछ घण्टे के लिए भी उसके नीचे बैठ जाता तो सारी विश्व वसुधा को अपनी मुट्ठी में करके सबका सुख, सौभाग्य छीन लेता और स्वयं निरंकुश स्वेच्छाचार बरतता । इसी से इस पृथ्वी पर कल्पवृक्ष नहीं और सामान्य मनुष्य उसका लाभ नहीं ले सकते ।

पृथ्वी का कल्पवृक्ष-आध्यात्म है । उसकी छाया में बैठने पर अनावश्यक, अवांछनीय, अनुपयुक्त कल्पनाएँ स्वयमेव तिरोहित हो जाती हैं जो उचित उत्तम एवं उपयुक्त हैं, वे ही शेष रह जाती हैं । उनकी पूर्ति के लिए आवश्यक पुरुषार्थ करने की तत्परता आध्यात्मवादी में उत्पन्न होती है, तदनुसार वह अभीष्ट मनोरथ सरलतापूर्वक पूर्ण करता चला जाता है । बाधा केवल लोभ, मोह की पूर्ति में आती है । सरल सौम्य

और शुभ कल्पनाएँ, संयम सेवा और सज्जनता से ओत-प्रोत सद्भावनाएँ हर परिस्थिति में हर मनुष्य तृप्त करता रह सकता है । आध्यात्म निःसन्देह कल्पवृक्ष है, वह जिस अन्तःकरण में उगेगा, वहाँ न अवांछनीय कल्पनाएँ उगेंगी और न उनकी पूर्ति में बाधा उत्पन्न होने से असन्तोष उत्पन्न होगा । आध्यात्मवादी व्यक्ति सदा सब परिस्थितियों मे अपनी आन्तरिक उत्कृष्टता के कारण हँसता, मुस्कराता, तृप्त और सन्तुष्ट देखा जा सकता है । कल्पवृक्ष का यही तो प्रतिफल होना चाहिए सो आध्यात्म मार्ग पर चलने वाला कोई भी, कभी भी, यह लाभ परिपूर्ण मात्रा में ले सकता है ।

पुरुष को पुरुषोत्तम, आत्मा को परमात्मा, नर को नारायण और लघु को महान बनाने की विद्या का नाम आध्यात्म है । धन और बल पाकर लोक में बड़े आदमी बन सकते हैं पर महापुरुष बनने का श्रेय केवल आत्मबल सम्पन्न को मिलता है । ऐसे व्यक्ति की आन्तरिक विभूतियाँ इतनी स्थिर और प्रकाशवान होती है कि चिरकाल तक दूरवर्ती लोगों तक उनका उत्कर्ष-प्रद प्रकाश पहुँचता रहता है । अपन को तो असीम शान्ति एवं तृप्ति मिलती ही है ।

महापुरुष स्वयं धन्य और चन्दन वृक्ष की तरह अपनी सुगन्ध से समीपवर्ती सारे वातावरण को सुगन्धित कर देते हैं । दीपक की तरह वे स्वयं प्रकाशवान् होते हैं और अपने समीपवर्ती क्षेत्र का अन्धकार दूर कर वहाँ दूसरों की आँखें सार्थक बनाने वाली रोशनी उत्पन्न करते हैं । बड़प्पन की इच्छा ओछे व्यक्ति करते है पर जिनका दृष्टिकोण विशाल है, उन्हें महापुरुष बनने की ही आकांक्षा रहती है और आध्यात्मवादी आस्थाएँ उन्हें उस लक्ष्य तक सफलता एवं सरलतापूर्वक पहुँचा भी देती हैं । बड़प्पन अगणित उलझनें लेकर आता है किन्तु महानता से सारी गुत्थियाँ सुलझती हैं । बड़प्पन में विकृतियों की आशंका पग-पग पर विद्यमान है पर महानता का पथ निर्द्वन्द्व है । इसी से दूरदर्शी लोग बड़प्पन को तिलांजलि देकर महानता का अवलम्बन लेते हैं और मनुष्य जीवन की सार्थकता का आनन्द लेते हैं ।

भारत की एकमात्र विशालता एवं सम्पदा उसकी आध्यात्मवादी आस्था ही रही है । इसी से उसे 'पृथ्वी का स्वर्ग' और देवताओं का निकास-स्थल कहलाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और समस्त संसार के सामने हर क्षेत्र में हर दृष्टि से सम्मानित अग्रणी बना रहा । जहाँ आन्तरिक उत्कृष्टता होगी, वहाँ वाह्य सामर्थ्य एवं समृद्धि की कमी रह ही नहीं सकती । यही विशेषताएँ हमें समस्त विश्व का मार्गदर्शन करने एवं विविध अनुदान दे सकने योग्य बनाये रह सकीं । अपनी इस विशेषता को खोया तो मणिहीन सर्प की तरह खोखले हो गए ।

संसार वालों ने आध्यात्म का प्रथम पाठ पढ़ा है और वे सांसारिक-उन्नति की दिशा में बहुत आगे बढ़ गए । साहस, पुरुषार्थ, श्रम, तन्मयता, स्वावलम्बन, नियमिता, व्यवस्था, स्वच्छता, सहयोग जैसे गुण आध्यात्म के प्रथम चरण में आते हैं । इन्हें यम, नियम की परिभाषा में अथवा धर्म के दस लक्षणो में गिना जा सकता है । पाश्चात्य देशों ने उतना भर सीखा है । इन्हीं गुणों ने उन्हें शारीरिक बौद्धिक, संगठनात्मक एवं वैज्ञानिक उपलब्धियों से भरपूर कर दिया । जो देश कुछ समय पहले तक गई गुजरी स्थिति में पड़े थे, उन्होंने आध्यात्म का प्रथम चरण सद्गुणों के रूप में अपनाया और आश्चर्यजनक भौतिक उन्नति कर सकने में सफल हो गए । यदि वे दूसरे चरण उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता की भूमिका में प्रवेश कर सके होते, आस्तिकता एवं आत्मवादी तत्व-ज्ञान को भी अपना सके होते, आध्यात्मवाद का अगला चरण भी बढ़ा सके होते तो उनकी भी वही महानता विकसित हुई होती, जो कभी इस भारतभूमि के निवासी महामानवों में निरन्तर प्रस्फुटित होती थी ।

आध्यात्म का तत्व-ज्ञान मनुष्य को आदर्शवादिता एवं उत्कृष्टता की विचारणा से ओत-प्रोत भावनाओं से विभोर एवं प्रक्रिया से तत्पर बनाये रखने वाला दार्शनिक अवलम्बन है । हम ईश्वर के सत्, चित, आनन्द स्वरूप अविनाशी अंग हैं, अस्तु अपनी महानता को अक्षुण्ण बनाये रखें । मानव जीवन महान प्रयोजन के लिए चिरकाल उपरान्त मिला है, उसका उपयोग उच्च प्रयोजनों के लिए करें । ईश्वर सर्वव्यापी, निष्पक्ष एवं न्यायकारी है, उसके दण्ड एवं क्रोध से बचने के लिए दुर्भावनाएँ एवं दुष्प्रवृत्तियाँ त्यागें । समस्त प्राणी ईश्वर के पुत्र अपने भाई हैं, इसलिए उनके साथ सद्व्यवहार करें । अपने पाशविक कुसंस्कारों को हटाने के लिए संघर्ष साधना, तितीक्षा, संयम एव तपश्चर्या का अभ्यास करें । फैली हुई दुष्प्रवृत्तियों को हटाने का पुरुषार्थ कर अपने आत्मबल को विकसित करें । आदर्श जीवन जीकर दूसरों के लिए प्रकाश प्रदान करने वाले उज्ज्वल नक्षत्र सिद्ध हों । उन विचारों से ओत-प्रोत रहें जिनसे

शान्ति मिले । इन्हीं आस्थाओं को हृदयंगम कराने के लिए सारा धर्म कलेवर खड़ा किया है । समस्त कर्मकाण्डों के पीछे इन्हीं आस्थाओं को जीवन में उतारने का मनोवैज्ञानिक उद्देश्य छिपा है ।

पर आज के प्रचलित तथा कथित आध्यात्म की दिशा बिल्कुल उल्टी है । वह व्यक्ति को भावनात्मक उत्कर्ष की ओर उठाने की अपेक्षा पतनोन्मुख बनाने में सहायक हो रहा है । भगवान की कृपा प्राप्त करने के लिए तीर्थ स्थान, देव-दर्शन, भजन-कीर्तन आदि के कर्मकाण्ड ही पर्याप्त मान लिए गए हैं, लोगों ने यह सोचना छोड़ दिया है कि इन कर्मकाण्डों का उद्देश्य भगवान की न्यायकारी सर्वव्यापक सत्ता का हर घड़ी स्मरण दिलाते रहना मात्र है । इस स्मरण का प्रयोजन यह है कि व्यक्ति सबमें ईश्वर की झाँकी करके हर किसी से सद्-व्यवहार में निरत रहे । न्यायकारी के न्याय से डरे और कुछ का कुछ करके फल भोग से बच जाने की बात न सोचे । यदि देव-दर्शन, भजन-कीर्तन आदि के द्वारा उपर्युक्त सदाचरण एवं परमार्थ की भावना उदय हो तो ही इन कर्मकाण्डों का महत्त्व है अन्यथा प्रशंसा करके या प्रसाद खिलाकर परमेश्वर के वरदान, आशीर्वाद पाने की ललक एक भ्रम भरी विडम्बना ही कही जायेगी ।

भाग्य एवं ईश्वर की इच्छा से सब कुछ होता है जैसी मान्यता विपत्ति में असन्तुलित न होने एवं सम्पत्ति में अहंकारी न होने के लिए एक मानसिक उपचार मात्र है । हर समय इन मान्यताओं का उपयोग आध्यात्म की आड़ में करने से तो व्यक्ति कायर अकर्मण्य और निरुत्साही हो जाता है । सोचता है, अपने करने से क्या होगा, जो भाग्य में होगा, ईश्वर की इच्छा होगी वही होगा । पुरुषार्थ की दौड़-धूप करने से क्या लाभ ? इस प्रकार की मान्यता वाले की प्रगति का क्रम समाप्त हो गया ही समझना चाहिए ।

देव शक्तियों से लोग अपने देवत्व मे अवतरण की माँग करते, उनकी विशेषताओं, प्रेरणाओं एवं महानताओं को अपने में जागृत करने की आशा रखते तो देव-पूजन का प्रयोजन सिद्ध होता, पर अब तो लोग देव पूजन इस शर्त पर करते हैं कि हमारी अमुक मनोकामना बिना पुरुषार्थ किए अथवा योग्यता उत्पन्न किए ही देव कृपा से अनायास ही पूरी हो जाय । इस विकृति का परिणाम यह हुआ कि लोग अपनी योग्यता बढ़ाने एवं पुरुषार्थ करने में जो प्रयत्न करते उन्हें छोड़कर परावलम्बी होते चले गए और उन्हें दीन-दरिद्र रहना पड़ा । उल्टी और विकृत मान्यताएँ किसी को कुछ लाभ नहीं दे सकतीं केवल दुर्बलता और हानि ही प्रस्तुत कर सकती हैं ।

आध्यात्म का तात्पर्य है आत्मा की परिधि का विस्तार । अपने अहम् को, स्वार्थ परता की संकीर्ण परिधि को विश्व-मानव के लिए, परमात्मा के लिए उत्सर्ग कर देना आत्मिक प्रगति का एकमात्र चिन्ह [illegible] । अनादिकाल से यही परम्परा चली आ रही है कि जो अपने व्यक्तिगत लोभ-मोह, यश एवं सुख को जिस हद तक विश्वमंगल के कृत्य में परित्याग करता है, वह उसी सीमा तक परमात्मा के सान्निध्य में पहुँचा माना जाता है, पर अब तो ठीक उल्टा है जो जितना स्वार्थी, संकीर्ण, अनुत्तरदायी अकर्मण्य है, वह उतना ही त्यागी-तपस्वी है । सबके सुख-दुःख को अपना सुख-दु.ख समझकर, आत्म-सुख को लोक-मंगल में घुला देने की प्रवृत्ति अब आध्यात्मवादियों में दिखाई नहीं पड़ती वरन् लोग अपनी भौतिक सुख-सुविधाओं की अभिवृद्धि के लिए ईश्वरीय सहायता की याचना-कामना किया करते हैं और उसी तराजू पर दैवी कृपा या अकृपा का—अपनी पूजा-पत्री की सफलता, असफलता का मूल्यांकन करते हैं । फलस्वरूप अब आध्यात्म व्यक्तिवाद का पोषक बनता जाता है और ऋद्धि-सिद्धियों से लेकर स्वर्ग मुक्ति तक विभिन्न स्तर के स्वार्थों की पूर्ति के लिए लिप्साएँ उत्पन्न करता है । यह स्तर बदला न गया तो तत्व-ज्ञान का महान दर्शन मानव जाति के लिए और अधिक विपत्ति उत्पन्न करने वाला बनता चला जायेगा ।

आध्यात्म दर्शन में उत्पन्न हुई विकृतियों ने हमारा मानसिक और सामाजिक ढाँचा चरमरा कर रख दिया है । विद्या, सदाचार, लोक-सेवा और उदात्त मनोभूमि के कारण पूजे-जाने वाले साधु-ब्राह्मण जब वंश और वेश के आधार पर पूजा-प्रतिष्ठा प्राप्त करने लगे तो उन महान गुणों की ओर ध्यान देना ही बन्द हो गया । ओछे लोग जहाँ भी पूजे जायेंगे, वहाँ विकृतियाँ ही बढ़ेंगी, कर्म के आधार पर आरम्भ हुआ वर्णाश्रम धर्म जब वंश पर अवलम्बित हो गया और उसमें नीच-ऊँच का भेद-भाव घुस गया तो ब्राह्मण दुर्गुणी होने पर भी पूजा जाने लगा और शूद्र सद्‌गुणी होने पर भी दुत्कारा जाने लगा । जहाँ गुणों का वर्चस्व समाप्त हो जाय और अकारण ही लोगों को मान या अपमान मिलने

लगे तो वह समाज अपनों की और दूसरों की दृष्टि में अधःपतित होगा ही ।

ओछा तत्व-दर्शन अपनाये रहने वाला व्यक्ति और समाज कभी भी ऊँचा नहीं उठ सकता । दर्शन ही प्रेरणाओं का आधार है । उसी के अनुरूप विचारणाएँ, आकांक्षाएँ और क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं । दर्शन ही व्यक्ति को ढालता है और उसी ढाँचे में सामाज का कलेवर खड़ा होता है । हम अपने समाज और संसार को समर्थ, समृद्ध और सुविकसित बनाना चाहते हों तो उसका सर्व प्रमुख उपाय यही है कि वर्तमान विकृतियों का परिशोधन किया जाय ।

यदि इस स्थिति को सुधारा, सँभाला और बदला न गया तो भावी परिस्थितियाँ दिन-दिन अधिक भयावह होती चली जायेंगी । वैयक्तिक जीवन में आदर्शवादिता और उत्कृष्टता उत्पन्न करने वाला जब प्रकाश ही बुझ जायेगा तो अन्धकार में भटकने वाला दुर्दशा ग्रस्त ही होगा ।

आज की महत्तम आवश्यकता यह है कि हमारा तत्व-ज्ञान और दर्शन अपने सौम्य पथ से भ्रष्ट होकर जिस अवांछनीयता की दिशा में चल पड़ा है, उसे रोका और टोका जाय । दिग्भ्रान्त जन-मानस को वस्तु-स्थिति से परिचित कराया जाय और आध्यात्म के महान स्वरूप, उपयोग एवं प्रतिफल से भली-भाँति अवगत कराया जाय ।

## अमृत की प्राप्ति

मनुष्य की सबसे प्रिय वस्तु उसका जीवन है । जब जीवन नष्ट होने की घड़ी आती है तो वह उसके बदले में बड़ी से बड़ी वस्तु देने को तैयार हो जाता है । चाहे कोई कैसा भी दीन-हीन दशा में क्यों न हो परन्तु यदि मृत्यु का भय उसके सामने उपस्थित हो तो वह उससे बचने का उपाय करता है । कहते हैं कि एक लकड़हारा जंगल में लकड़ियाँ इकट्ठी कर रहा था । उसके सिर में फोड़े थे शरीर बीमार था, गट्ठा भारी था, इतनी लकड़ियाँ उसे दूर के गाँव से सिर पर रख कर बेचने के लिए ले जानी थीं, बिना इसके उसका गुजारा नहीं था । जब लकड़हारा गट्ठा बांध चुका तो उसने एक लम्बी साँस ली और कहा—अच्छा था कि इस दुःख की बजाय मुझे मौत आ जाती । लकड़हारे का इतना कहना था कि चट से मौत उसके सामने आ खड़ी हो गई और कहने लगी—कहो भाई ! तुमने मुझे क्यों बुलाया है ? जो कहो सो तुम्हारा काम करने को तैयार हूँ । मृत्यु को देखकर लकड़हारे के होश उड़ गए । उसने गिड़गिड़ाकर कहा—देवी जी, आपका आह्वान मैंने इसलिए किया है कि लकड़ियों का गट्ठा भारी है, यहाँ उठवाने वाला कोई है नहीं, इसलिए आप यह कृपा करें कि इस गट्ठे को उठाने में मेरा सहारा लगा दें जिससे इसे सिर पर रखकर अपने गाँव को चला जाऊँ । मृत्यु ने उसका गट्ठा उठवा दिया और मन ही मन मुस्कराती हुई अन्तर्धान हो गई ।

यह कथा एक महान सत्य पर थोड़ा-सा प्रकाश डालती है । हर आदमी अपने जीवन से इतना प्यार करता है जितना और किसी वस्तु से नहीं करता । इसीलिए मनुष्य अतीत काल से यह इच्छा करता चला आया है कि मैं अधिक दिन जिऊँ, मृत्यु से बचा रहूँ, अमर जीवन का उपभोग करूँ । इस इच्छा ने उससे एक ऐसे पदार्थ की कल्पना कराई है जिसे पीने से अमरता प्राप्त होती है । अमृत, सुधा, आवेहयात आदि अनेक नाम उस पदार्थ के दिए गए हैं । ऐसी कथाएँ और किम्वदन्तियाँ हर देश में परिचित हैं जिनमें कहीं अदृश्य देवताओं या महापुरुषों के अमर होने का वर्णन है, परन्तु प्रत्यक्षतः प्रामाणिक रूप से अभी तक एक भी ऐसा जीव कहीं भी नहीं देखा गया है, जो अमर हो । इस संसार की रचना ऐसे परमाणुओं से हुई है जो हर घड़ी चलते, गति करते और परिवर्तित होते हैं । विकास और विनाश यह दोनों इसी प्रकार आपस में सम्बन्धित है जैसे कि रात और दिन । यदि मृत्यु न हो तो नया जीवन भी न होगा । अमरता का अर्थ है—गति हीनता । गति का नाम ही जीवन है । यह जीवन यदि अचल हो जाय तभी उसका नष्ट न होना सम्भव है । जो वस्तु चलेगी—वह घिसेगी, बिगड़ेगी और नष्ट होगी, यह अवश्यम्भावी है । इसलिए जिस रूप में मनुष्य जीवन आज है उसमें कोई अमर नहीं हो सकता । राम, कृष्ण, ईसा, बुद्ध, मुहम्मद आदि अनेक योगी, यती, अवतार, देवदूत इस पृथ्वी पर हुए हैं, परन्तु कोई एक भी अमर न हो सका । अन्ततः सबको मृत्यु की शरण लेनी पड़ी । अति प्राचीन काल से मनुष्य अमरता की इच्छा कर रहा है । कल्पनाओं, कथाओं की रचना उसने इस दिशा में बहुत कुछ की है, परन्तु अभी तक न तो कोई अमर हो सका और न किसी को अमृत ही मिला ।

तो क्या 'अमृत' नामक कोई पदार्थ संसार में नहीं है ? हमारा कहना है कि, है और अवश्य है । अत्यन्त उग्र आध्यात्म साधनाओं द्वारा हमारे पूजनीय ऋषियों ने उस अमृत की खोज की है ढूँढ़ा है और ढूँढ़कर हमारे सामने उपस्थित कर दिया है । इसे सब कोई सरलतापूर्वक प्राप्त कर सकता है और यह प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है, कि—मैं अमर हूँ । अमर होने पर जो सन्तोष, शान्ति, प्रसन्नता और साहस प्राप्त होने को था वह सबका सब इस ऋषि कल्प-अमृत द्वारा प्राप्त हो सकता है । इस अमृत का दूसरा नाम है—"ब्रह्म ज्ञान" ।

ब्रह्म विद्या, वह मानसिक शिक्षा है जो शरीर की सीमा से उठाकर मनुष्य को आत्मा के भाव में ले जाती है । नश्वरता की सीमा से उठाकर अमरता की भूमिका में जागृत करती है । ब्रह्म विद्या, यह सिखाती है कि मनुष्य शरीर नहीं वरन् आत्मा है । शरीर के साथ उसकी मृत्यु नहीं होती वरन् पीछे भी वह अनन्त काल तक जीवित रहता है । गीता ब्रह्म विद्या का महान ग्रन्थ है । उसमें मानव प्राणी से कहा गया है—"तुम ऐसा विश्वास करो कि मैं आत्मा हूँ, अविनाशी हूँ, शरीर के मरने से मेरी मृत्यु नहीं होती । देह एक प्रकार का कपड़ा है जिसे समय पर बदलने की आवश्यकता होती है । जैसे कपड़े को बदलने में दु:ख शोक नहीं किया जाता वैसे ही शरीर बदलने में भी नहीं होना चाहिए ।" आत्मा की अमरता के इस सिद्धान्त को साधारणतः सभी आदमी कहते और सुनते हैं, किन्तु जो कोई गम्भीरतापूर्वक इस ओर ध्यान देता है और दृढ़तापूर्वक यह विश्वास कर लेता है कि, "मैं वास्तव में आत्मा हूँ वास्तव में अविनाशी हूँ" तो उसके समस्त दृष्टिकोण और कार्यक्रम में एक दम आश्चर्यजनक परिवर्तन हो जाता है । उसे लगता है कि मैं प्रत्यक्षतः अमृत पिए हुए हूँ । मरने का, नष्ट होने का, जीवन से हाथ धोने का, उसके सामने कभी प्रश्न ही नहीं उठता, कपड़े के पुराने होने या फटने से कोई आदमी बेचैन नहीं होता । कपड़ा बदलते समय कोई मनुष्य न तो डरता है और न रोता पीटता है । क्योंकि ? इसीलिए कि उसका दृढ़ विश्वास है कि कपड़ा एक मामूली वस्तु है, जो फटता और बदलता जाता रहता है, कपड़ा फटने या बदलने से शरीर का कुछ अनिष्ट नहीं होता वरन् पुराने की अपेक्षा नया मजबूत और सुन्दर कपड़ा मिल जाता है । शरीर और कपड़े बदलने के सिद्धान्त को जिस भली प्रकार पूर्ण विश्वास के साथ मनुष्य ने अपना लिया है यदि वह ठीक प्रकार उतना ही दृढ़ता, निष्ठा, और गम्भीरता के साथ मन में जमा ले तो निश्चय समझिए उसकी मनोभूमि ठीक वैसी ही हो जायेगी जैसी वास्तविक अमृत पीने वाले की हो सकती है । मृत्यु का डर जो मानव जीवन में सबसे बड़ा डर है ब्रह्म विद्या के द्वारा मिट सकता है और कोई उपाय ऐसा नहीं है जो इस कलेजे में काँटे की तरह सदा चुभते रहने वाले भय से छुटकारा दिला सके ।

ब्रह्म विद्या, अमर आत्मा का विश्वास सचमुच भू-लोक का अमृत है । इसे पान करने के उपरान्त मनुष्य की दिव्य दृष्टि खुलती है । वह कल्पना करता है कि मैं अतीत काल से, सृष्टि के आरम्भ से, एक अविचल जीवन जीता चला आ रहा हूँ । अब तक लाखों करोड़ों शरीर बदल चुका हूँ । पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े, जलचर, थलचर, नभचरों के लाखों मृत शरीरों की कल्पना करता है और अन्तर्दृष्टि से देखता है कि ये इतने शरीर समूह मेरे द्वारा पिछले जन्मों में काम में लाये एवं त्यागे जा चुके हैं । उसकी कल्पना भविष्य की ओर भी दौड़ती है । अनेक नवीन सुन्दर, ताजे शक्ति सम्पन्न शरीर सुसज्जित रूप से सुरक्षित रखे हुए उसे दिखाई पड़ते हैं । जो निकट भविष्य में उसे पहनने हैं । यह कल्पना, यह धारणा ब्रह्म विद्या के विद्यार्थी के मानस लोक में सदैव उठती, फैलती और पुष्ट होती रहती है । यह विचारधारा धीरे-धीरे निष्ठा और श्रद्धा का रूप धारण करती जाती है, जब पूर्ण रूप से, समस्त श्रद्धा के साथ साधक यह विश्वास करता है कि यह वर्तमान जीवन, मेरे महान अनन्त जीवन का एक छोटा-सा परमाणु मात्र है तो उसके समस्त मृत्यु जन्य शोकों की समाप्ति हो जाती है । उसे बिल्कुल ठीक वही आनन्द उपलब्ध होता है जो किसी अमृत का घट पीने वाले को होना चाहिए ।

"मै पवित्र अविनाशी और निर्लिप्त आत्मा हूँ" इस महान सत्य को स्वीकार करते ही मनुष्य अमरत्व के समीप पहुँचा जाता है । उसका दृष्टिकोण अमर, सिद्ध, महात्मा और देवताओं जैसा हो जाता है । वह परिस्थिति के भव बन्धन में बँधा हुआ इधर-उधर नाचता नहीं फिरता, वरन् अपने लिए वैसे ही संसार का जान-बूझ कर निर्माण करता है, जैसा आत्मविश्वास और आत्म- परायणता का मार्ग है । यदि आप अपना सम्मान करते हैं, अपने को आदरणीय मानते हैं अपनी श्रेष्ठता और पवित्रता पर विश्वास करते हैं तो सचमुच

वैसे ही बन जाते हैं । योगशास्त्र पुकार कर कहता है कि, जो समझता है कि मैं शिव हूँ, वह शिव है । जो समझता है कि मैं जीव हूँ, वह जीव है । एक मीठी कहावत है कि "लड़के का नाम घर से रखा जाता है ।" अपने लड़के का नाम यदि आप बुरा रखेंगे, तो यह आशा रखना व्यर्थ है कि बाहर वाले उसे किसी अच्छे नाम से पुकारेंगे । मनोविज्ञान शास्त्र साक्षी है कि जिस बालक को उनके माता-पिता, अध्यापक या अभिभावक सदा मूर्ख बेवकूफ, नालायक आदि कह कर उसे अपमानित और लांछित किया करते हैं, उस बालक के लिए बड़ा होकर महत्त्व प्राप्त करना कठिन है । मनुष्य गीली मिट्टी के समान है जो संस्कारों द्वारा भला या बुरा बनाया जाता है । हमारा बाह्य मस्तिष्क जिस प्रकार के विश्वास अपने अन्दर धारण करता है, पिछला गुप्त मस्तिष्क उसे उसी प्रकार स्वीकार करके सूक्ष्म चेतना में ग्रहण कर लेता है, इसका मर्म मेस्मेरिज्म और हिप्नोटिज्म के जानकार भली प्रकार समझते हैं । जो व्यक्ति बार-बार अपने सम्बन्ध में बुरे विचार लायेगा, हीनता और तुच्छता के भाव रखेगा, वह निःसन्देह कुछ समय में वैसा ही बन जायेगा । मैं नीच हूँ, पापी हूँ, दुष्ट हूँ, कुकर्मी हूँ, नरकगामी हूँ, आलसी हूँ, अकर्मण्य हूँ, तुच्छ हूँ, दास हूँ, असमर्थ हूँ, दीन हूँ, दुःखी हूँ, इस प्रकार के मनोभाव रखने का स्पष्ट फल यह होता है कि हमारे जीवन की अन्तःचेतना उसी ढाँचे में ढल जाती है और रक्त के साथ दौड़ने वाली विद्युत शक्ति में ऐसा प्रवाह उत्पन्न हो जाता है, जिसके द्वारा हमारे सारे काम काज ऐसे होने लगते हैं, जिनमें उपर्युक्त भावनाएँ करने वालों के कामों को देख कर यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि यह नीच वृत्ति का अकर्मण्य, आलसी, दास, दीन और अपाहिज है । अपने आपका तिरस्कार करने वाले आत्म हत्यारे अपना यह लोक भी बिगाड़ते हैं और परलोक भी । उनकी उन्नति के स्रोत रुक जाते हैं और दीनता की सड़ी हुई कीचड़ में कीड़ों की तरह बुजबुजाते रहते हैं । यह कीड़े सदैव दुःख दरिद्र से घिरे रहेंगे । उनका उद्धार किसी दूसरे से भी न हो सकेगा क्योंकि कृपा करके उन्हें कीचड़ से बाहर कोई निकाल भी दे तो वे फिर अपने उन्हीं पूर्व संस्कारों की नाली में फिसल पड़ेंगे । राजनैतिक स्वतन्त्रता और आर्थिक सुविधा की आज प्रधान माँग सुनाई पड़ती है, परन्तु जहाँ के निवासियों के मस्तिष्क हीनता, दासता और तुच्छता के विचारों से भरे हुए हैं, उन्हें यह स्वर्गीय फल प्राप्त नहीं हो सकते । एक के बाद दूसरा शोषक उत्पन्न हो जायेगा ।

यदि आप अपने को अमर बनाना चाहते हैं, तो अपनी आत्मा को महान स्वीकार कीजिए, यदि संसार में सम्मानपूर्वक जीना चाहते हैं, तो आत्मा का सम्मान कीजिए, यदि परमात्मा के साथ आत्मा को जोड़ना चाहते हैं तो अपने को इस रिश्तेदारी के योग्य स्वीकार कीजिए । एक चमार और ब्राह्मण की रिश्तेदारी नहीं जुड़ सकती, आप परमात्मा को तब तक प्राप्त नहीं कर सकते जब तक कि अपनी आत्मा को उसी की बिरादरी का न बनायें । नीचता से उच्चता की ओर, तुच्छता से महानता की ओर बढ़ने का एक मात्र उपाय यह है कि आप अपनी आत्मा को ईश्वर का अंश समझते हुए पवित्र मानें और उसका पूरा-पूरा सम्मान करें । सम्मान का अर्थ घमण्ड करना, अहंकार में भर जाना, ऐंठे रहना, अकड़कर चलना, उद्धत हो जाना या दूसरों को नीच समझना नहीं है, वरन् यह है कि अपने अन्दर ईश्वर को, उसके पवित्रतम अंश को बैठा हुआ देखकर उसकी पूजा अर्चन करें, उसके आदेशों को ध्यानपूर्वक सुन कर ऐसे श्रेष्ठ आचरण करें, जैसे कि परमात्मा के दरबार में जाकर करना उचित है । राजा के सामने जाकर लोग अच्छे से अच्छा आचरण करते हैं, कोई गुस्ताखी या बदतमीजी न हो जाये, इसका पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं । इसी प्रकार पवित्र परमात्मा को अन्दर बैठा हुआ देखकर ऐसे आचरण करने चाहिए जो कि उसके सम्मुख करके योग्य हैं । "मैं पवित्र हूँ" इसके साथ ही अन्तस्तल से एक विद्युत्मयी प्रतिध्वनि उत्पन्न होती है, जो हमारे रोम-रोम में पवित्रता का संचार करती है । "सोऽहम्" सिंह की दहाड़ सुन कर अपवित्रता और कुभावना रूपी शशक शृगाल डर के मारे ऐसे भाग जाते हैं कि फिर उनका कहीं ढूँढ़े भी पता नहीं चलता । आत्म-सम्मान की ज्योति को अपने अन्दर जलाते ही वास्तविक मनुष्यता का उदय होता है । जो अपने में पवित्र दैवी अंश का अनुभव करता है, वह चक्रवर्ती सम्राट की तरह महान बन जाता है, उसका दृष्टिकोण इतना ऊँचा हो जाता है कि फिर तुच्छता और पापमय कार्यों की ओर आँख उठाकर देखना भी उसे पसन्द नहीं होता । वह एक उद्देश्य पूर्ण जीवन जीता है ।

आत्मा की अमरता पर विश्वास करना ही अमृत है । "मैं अविनाशी हूँ" पग-पग पर दिखाई देने वाले

भयों को मार भगा कर निर्भयता प्रदान करने वाला यह मृत्युंजय बीज मन्त्र है। अपने अन्दर पवित्रता अनुभव करने में आत्म-सम्मान है और अपने को अविनाशी समझने से आत्मविश्वास का प्रादुर्भाव होता है। मेरा छोटा-सा जीवन है, इसमें क्या हो सकता है; कितना ज्ञान सीखूँ, क्या करूँ, क्या न करूँ, इस तरह जीवन को क्षणभंगुर समझने से अस्थिरता चंचलता और उदासीनता उत्पन्न होती है। किसी अधिक समय में पूरे होने वाले कार्य के लिए थोड़े जीवन का ध्यान करके एक निराशा-सी आती है। इसी प्रकार जीवन को परम प्रिय समझने से पग-पग पर भय आते हैं, रोग का भय, मृत्यु का भय, दुर्घटना का भय, शत्रु का भय, विपत्ति का भय, न जाने कितने भय, प्रतिदिन हमें डराते, चिन्तित करते और दुःखी बनाते हैं। किसी भय की जरा-सी छाया दिखाई दी कि कलेजा धक्-धक् करने लगता है, क्योंकि जीवन नश्वर मालूम देता है। "यदि हम मर गए तो ऐसा अवसर फिर कहाँ मिलेगा।" ऐसे विचार उस शरीर के प्रति असाधारण ममता उत्पन्न करते हैं और भयाक्रान्त एवं ममता ग्रस्त मनुष्य से महान कर्तव्य धर्म का पालन हो नहीं सकता। जीवन को भस्मीभूत समझने वाले व्यक्ति के सम्मुख "ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत" का सिद्धान्त ही रह सकता है वह बीमारों की सेवा करते हुए डरता है कि कहीं छूत लग कर मैं मर न जाऊँ, वह यात्रा करने से डरता है कि कहीं सवारी में दुर्घटना न हो जाये, वह चोर डाकुओं और अत्याचारियों का मुकाबला करने में डरता है कि कहीं मैं मर न जाऊँ। ऐसे ही नाना प्रकार के भय मनुष्य को बेचैन बनाये रहते हैं और उसे भीरु, डरपोक, कायर, बुजदिल और सशंकित बना देते हैं। इस प्रकार निराशा और भय के झूले में झूलने वाले लोगों को "मैं अविनाशी हूँ" यह मन्त्र जीवन सन्देश देता है। वह कहता है—"उठो! कर्तव्य पर प्रवृत्त होओ। तुम्हारा जीवन अखण्ड है, कपड़े बदल जायेंगे, पर तुम नहीं बदलोगे, शरीर बदल जायेंगे पर जीवन नहीं बदलेगा। अपने ऊपर विश्वास करो, अपने जीवन पर विश्वास करो, आत्मा और परामात्मा पर विश्वास करो। तुम्हें कोई नष्ट नहीं कर सकता। हे अजर, अमर, अविनाशी और अखण्ड आत्मा! उठ, अपने कर्तव्य पर प्रवृत्त हो, गाण्डीव उठा और धर्म-युद्ध में पांचजन्य का तुमुल नाद कर! मृत्यु कोई वस्तु नहीं है। जीवन अखण्ड है। शरीर बदलने से हमारी मृत्यु कदापि नहीं हो सकती।" मैं जो पेड़ लगा रहा हूँ, उसका फल मुझे खाने को मिलेगा, यह सोचना नास्तिकता है। अपने महान कार्य को विना किसी प्रकार का भय या संकोच किए आरम्भ करो, कई जन्मों में तो वह पूरा हो ही जायेगा। उसका फल तुम्हें ही मिलना है, अपने जीवन को अखण्ड समझो, अपने को अमर समझो, अविनाशी मानो, निर्भय रहो, निर्द्वन्द्व विचारो।

अपनी अमरता के साथ-साथ आपको विश्वास होना चाहिए कि "मैं निर्लिप्त आत्मा हूँ।" संसार की हर वस्तु प्रतिक्षण परिवर्तित हो रही है। कोई भी भौतिक वस्तु अधिक समय तक एक-सी दशा में नहीं रह सकती। धन सम्पत्ति हमेशा रहेगी ही ऐसा नहीं मानना चाहिए। परिस्थितियों के अभाव से वह एक दिन में इधर से उधर हो सकती है। हमारा शरीर सदा इस हालत में नहीं रह सकता, वह भी रोगी या वृद्ध होगा। मित्र, कुटुम्बी और परिजन सदा जीवित रहने वाले नहीं हैं। उनकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। इन नाशवान वस्तुओं को जो जोर से पकड़ता है वह उनके साथ स्वयं भी नष्ट हो जाता है। धन या स्त्री पुत्रों के नष्ट होने पर आत्महत्या कर लेने वाले, पागल हो जाने वाले या सिर धुन-धुन कर रोने वाले अखण्ड जगत का मर्म नहीं समझते। इन्हें जानना चाहिए कि माया छाया है। इसके पीछे भागने से कुछ हाथ न आयेगा। आत्म-निर्भर होना, अपने को कमल पत्र की तरह निर्लिप्त मानना, ब्रह्म विद्या का तीसरा चरण है, जो माया की ममता छुड़ाता है और नष्ट होने वाली वस्तुओं के कारण घड़ी-घड़ी पर जो दुःखों के पर्वत टूटते हैं, उनको हटाकर दूर कर देता है। संसार की नाशवान वस्तुओं पर अवलम्बित मत रहिए, उनके सम्पर्क में रहिए, पर लिप्त मत होइये, आत्म-निर्भर होना सीखिए, अपने अन्दर ऐसी योग्यता धारण कीजिए कि हर एक परिस्थिति का मुकाबला कर सकें और हर मौके पर प्रसन्न रह सकें। आपत्ति आने पर भी आपके होठों पर मुस्कराहट नाचती रहे, ऐसी आत्म-निर्भरता को हृदयंगम करना चाहिए।

सुरलोक के जिस अमृत की कल्पना की गई है उसका आरम्भिक छोर कुछ आकर्षक मालूम होता है, परन्तु अन्तिम छोर बहुत ही रूखा और कर्कश है। मुसलमानी धर्म-ग्रन्थों में एक कथा है कि—ख्वाजा खिजर की कृपा से सिकन्दर आवेहयात (अमृत) के चश्मे तक पहुँचा। सिकन्दर उस अमृत को पीने को ही था।

कि पास बैठे हुए एक कौए ने चिल्लाकर कहा—ए बदनसीब इन्सान ! खुदा के वास्ते इस पानी को न पीना । सिकन्दर ने हैरान होकर पूछा—क्यों ? कौए ने उत्तर दिया—मैंने एक बार बदनसीबी से इस पानी की एक बूँद पी ली थी । अब बुड्ढा और कमजोर हूँ । साथी संगी सब मर गए पर मैं अकेला उनकी याद करता हुआ रात-दिन बैठा-बैठा रोया करता हूँ । अकेला भटकता हूँ, नये पैदा होने वाले बच्चों के उल्लास को देख-देखकर मन मसोस कर रह जाता हूँ । जीने से मेरा दिल भर गया है, पर प्राण नहीं निकलते । सो, ऐ बादशाह ! अगर तू इस पानी को पी लेगा तो तेरा भी यही हाल होगा । सिकन्दर कुछ देर स्तब्ध खड़ा हुआ कौए की बातों पर गौर करता रहा और आबेहयात (अमृत) को बिना पीये ही उल्टे पाँव वापिस लौट आया ।

यदि मनुष्य शरीर से अमर हो भी जाय तो यह बात उसके लिए अन्ततः दुःख का कारण ही बनेगी । वह अमरता, जो मनुष्य को सन्तोष और शान्ति प्रदान करने की क्षमता रखती है, आध्यात्मिक अमृत ही है । ब्रह्म ज्ञान का अमृत ऐसा अनुपम है जिसके आगे देवताओं वाला अमृत अत्यन्त तुच्छ है । ब्रह्म विद्या से मनुष्य को निर्भयता, स्वतन्त्रता, प्रसन्नता एवं प्रफुल्लता प्राप्त होती है । जीवन के दृष्टिकोण में एक ब्रह्म तेज भर जाता है, वह शारीरिक भोगों को, भौतिक वस्तुओं के परिग्रह को महत्त्व नहीं देता, वरन् आत्मा को ऊँचा उठाने वाले, जीवन को सरस, निर्मल एवं पवित्र बनाने वाले, हृदय को सन्तोष देने वाले कार्यों को महत्त्व देता है । उच्च, सात्विक और परमार्थिक कार्यों में उसकी रुचि होती है, उन्हीं में मन लगता है और उन्हीं में उसे रस आता है । ऐसे शुभ विचार और शुभ कर्म करने वाले मनुष्य को इसी जीवन में स्वर्ग है क्योंकि उसकी हर एक क्रिया स्वर्गीय क्रिया होती है ।

अमृत पीकर अमर होने वाले मनुष्य की चिन्ताएँ और तृष्णाएँ अधिक बढ़ेंगी, क्योंकि जब सौ पचास वर्षों के जीवन के लिए मनुष्य इतने सरंजाम इकट्ठे करता है, तो अमर जीवन के लिए वह असंख्य गुने सरंजाम जोड़ने और जमा करने की फिक्रें करेगा, और वे फिक्रें ही उसे खाने लगेंगी । इसके विपरीत ब्रह्म ज्ञान का अमृत समस्त चिन्ता और तृष्णाओं को समाप्त कर देता है । मृत्यु और जीवन को वह एक ही जुए में जोत देता है, दोनों का यह जोड़ा कितना भला मालूम पड़ता है । जो मृत्यु और जीवन को समान दृष्टि से देखता है, वह धन्य है । शोक, मोह, चिन्ता, क्लेश, पश्चात्ताप, पाप आदि की छाया भी ऐसे मनुष्यों तक नहीं पहुँच पाती । ब्रह्म ज्ञान का अमृत पीकर तृप्त हुए स्थितिप्रज्ञ ही वास्तव में अमर हैं, जो आध्यात्म ज्ञान को उच्च एवं उत्तम बनाने की प्रेरणा करती है, वास्तव में वही अमृत की निर्झरिणी है । इस सुधा धारा को पान करने वाला ही सच्चे अमृतत्व का आस्वादन करता है ।

## पारस कहाँ है ?

जिस वस्तु के स्पर्श मात्र से लोहे जैसी निम्न कोटि की धातु स्वर्ण जैसी बहुमूल्य बन जाये, ऐसे किसी पदार्थ को प्राप्त करने के लिए दुनिया बहुत इच्छुक है । प्रयत्नशील मनुष्य की इच्छाओं में तीन इच्छाएँ सर्वोपरि हैं—(१) जीवन इच्छा, (२) धन इच्छा, (३) सफलता की इच्छा । इन तीनों का मनमानी मर्यादा में पूर्ति होते हुए देखने का स्वप्न मनुष्य बहुत प्राचीन काल से देखता चला आ रहा है । जीवन को स्थायी रखने के लिए अमृत की कल्पना की गई । समस्त मनोवांछाओं की पूर्ति के लिए कल्पवृक्ष की मानसिक रचना हुई । धन के, स्वर्ण के, बाहुल्य के लिए पारस नामक किसी वस्तु तक मस्तिष्क ने दौड़ लगाई । क्षण भर में बिना अधिक समय और परिश्रम किए इच्छित वस्तुएँ प्राप्त करने की आकांक्षा मनुष्य को इतनी बेचैन कर रही हैं कि जब वह इन वस्तुओं को प्राप्त न कर सका तो किन्हीं काल्पनिक पदार्थों के अस्तित्व का सपना देखना आरम्भ किया और अपनी लालसाओं को किसी प्रकार बहलाया ।

कहते हैं कि पारस पत्थर किन्हीं पहाड़ों पर होता है पर उसे कोई पहचान नहीं पाता । पहाड़ी चरवाहे बकरी में खुरों में लोहे की कीलें ठोंके देते हैं जब कभी वे बकरियाँ पारस पत्थर के ऊपर से निकलती हैं, तो वे कीलें सोने की हो जाती हैं । चरवाहे उन्हें निकाल लेते हैं और फिर नयी लोहे की कीलें उसी जगह लगा देते हैं । नानी की कहानियों में कहा जाता है कि मादा सूअर जब अपने बच्चों को दूध पिलाये तब अगर कुछ बूँदें इधर-उधर ईंट पत्थरों पर गिर पड़ें तो वे सोने की हो जाती हैं । कहा जाता है कि बुन्देलखण्ड के राजा चन्देल के यहाँ पारस पत्थर था । इस प्रकार की और भी अनेक किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं । साधु महात्मा लोग ताँबे को किसी विधि से सोना

बना देते हैं, ऐसे विश्वास भी लोगों में फैले हुए हैं। रसायनी विद्या का लटका दिखाकर तथा कथित साधु लोग बेचारे भोले-भाले लोगों की चुटिया मूड़ते हैं। उन्हें अपने चेला पन्थी चंगुल में फँसाए रहते हैं, परन्तु भली प्रकार ढूँढ़ खोज करने पर अब इस नतीजे तक पहुँचा गया है कि ऐसी न तो कोई वस्तु है जिसे छूने से लोहा सोना बन सके और न ऐसी कोई विद्या है, जो ताँबे को सोना बना सके। यदि किसी एक भी आदमी को ऐसी कोई वस्तु या विद्या मिली तो उसी दिन सोना-सोना न रहेगा, वह पीतल और काँसे की तरह एक साधारण धातु रह जायेगी। सोना इसीलिए सोना है कि वह कठिनाई से और थोड़ी मात्रा में मिलता है। जब वह आसानी से और बड़ी मात्रा में तैयार होने लगेगा तो उसकी कोई कीमत न रहेगी, तब शायद एक रुपये का दो सेर (१ सेर = ९३३ ग्राम) सोना बिकने लगे।

हमें उस काल्पनिक, अस्तित्व रहित, पारस के लिए ललचाने और मुँह में पानी भरने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इस संसार में एक ऐसा पारस बहुत पहले से मौजूद है जिसके स्पर्श मात्र से कम मूल्य की रद्दी-सद्दी चीजें क्षण भर में बहुमूल्य बेश-कीमती बन जाती हैं। यह पारस परमात्मा ने अपने हर एक पुत्र को दिया ताकि उसे हीन वस्तुओं से या हीन वातावरण से ही काम चलाना पड़े तो इस पारस को उनसे छुआकर तुरन्त ही उन्हें बहुमूल्य बना ले। यह वस्तु अदृश्य, अप्राप्त काल्पनिक, या अवास्तविक नहीं है। अनेक व्यक्तियों के पास वह आज भी मौजूद है। उसे काम में लाते हैं और लाभ उठाते है। इस दुनिया में दौलतमन्दों की कमी नहीं है। ऐसे लोग अब भी भारी संख्या में मौजूद हैं जिनके पास एक विशेष प्रकार का पारस पत्थर मौजूद है और उसके द्वारा वैसे ही वैभवशाली, सुखी, सन्तुष्ट तथा प्रसन्न हैं जैसा कि लोहे को सोना बनाने वाले पारस के पास में होने पर कोई होता है।

यह पारस क्या है ? यह है—प्रेम ! एक काला कलूटा आदमी जिसे आप पूर्णतया कुरूप, गँवार या असभ्य कह सकते हैं अपनी स्त्री के लिए कामदेव-सा रूपवान और इन्द्र के समान सामर्थ्यवान है। जैसे शची अपने इन्द्र को पाकर प्रसन्न है उसकी सेवा करती है और अपने को सौभाग्यशाली मानती है। वैसे ही एक भीलनी अपने अर्धनग्न और धनहीन भील को पाकर प्रसन्न है। विचार कीजिए कि इसका कारण क्या है ? जो आदमी सबको कुरूप और गन्दा लगता है वह एक स्त्री को इतना प्रिय क्यो लगता है ? इसका कारण है—प्रेम ! प्रेम एक प्रकार का प्रकाश है, अँधियारी रात में आप अपनी बैटरी की बत्ती से किसी वस्तु पर रोशनी फेंकें तो वह वस्तु स्पष्ट रूप से चमकने लगेगी। जबकि पास में पड़ी हुई दूसरी अच्छी-अच्छी चीजें भी अँधियारी के कारण काली कलूटी और श्रीहीन ही मालूम पड़ेंगी, तब वह वस्तु चाहे सस्ती या भद्दी क्यों न हो, बैटरी का प्रकाश पड़ने के कारण स्पष्ट तथा चमक रही होगी, अपने रंग-रूप का भला प्रदर्शन कर रही होगी, आँखों मे जँच रही होगी। प्रेम में ऐसा ही प्रकाश है। जिस किसी से भी प्रेम किया जाता है वही सुन्दर, गुणकारी, लाभदायक, भला, बहुमूल्य मनभावन मालूम होने लगता है। माता का दिल जानता है कि उसका बालक कितना सुन्दर है। अमीर अपने हीरे-जवाहरात और महल तिवारी की जैसी कीमत अनुभव करते हैं, गरीबों को अपने टूटी-फूटी झोंपड़ी, फटे-पुराने कपड़े और मैले-कुचैले सामान से भी वैसी ही ममता होती है।

दार्शनिक दृष्टि से विवेचना करने पर मालूम होता है कि वस्तुएँ स्वतः न हो बहुमूल्य हैं और न अल्पमूल्य। मनुष्य का जो प्रिय विषय होता है उसकी पूर्ति जिन साधनों से होती है उन्हें ही वह सम्पत्ति समझता है। जिस सीमा तक अपनी मनोवांछा की पूर्ति होती है, उतना ही वह साधन-सम्पत्ति प्रिय लगती है। यह प्रियता ही बहुमूल्य होने की कसौटी है। धन-सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र आदि वस्तुएँ साधारणतः विशेष मूल्यवान मालूम पड़ती हैं, किन्तु जब इनकी ओर से वैराग्य उत्पन्न होता है, त्याग भाव आता है, तो धूल के समान निरुपयोगी और व्यर्थ मालूम पड़ने लगती हैं। गृह-त्यागी महात्मा जब संन्यास में प्रवेश करते हैं तो उन्हें अपना सारा वैभव तुच्छ घास के तिनके जैसा मालूम पड़ने लगता है, उसे त्यागने में वे रत्ती भर भी दुःख-शोक अनुभव नहीं करते। बड़े परिश्रम से मनुष्य रुपया कमाता है, परन्तु प्रतिष्ठा, विपत्ति आदि का अवसर आने पर उस रुपये को कंकड़ी की तरह बहा देता है। परिश्रम करते समय उसे रुपया मूल्यवान लगता था, तब वह बचा-बचाकर जमा करता था। जब विपत्ति का अवसर आया तो बिना किसी हिचकिचाहट के वह सारा रुपया उसने खर्च कर डाला। इससे

प्रतीत होता है कि रुपया बहुमूल्य नहीं वरन् अपनी रुचि को, आवश्यकता को, पूरा करने वाले साधन बहुमूल्य हैं । यदि किसी उपाय से साधारण वस्तुओं को अपनी रुचि पूर्ण करने वाला, प्रसन्नता देने वाला, बनाया जा सके तो उस उपाय को पारस कहने में हिचक न होनी चाहिए । जिस वस्तु के द्वारा साधारण कोटि की जैसी-तैसी वस्तुएँ भी रुचिकर आनन्ददायक बहुमूल्य बन जाती हैं । वह पारस नहीं तो और क्या है ?

किसी वस्तु को कुछ से कुछ बनाने के लिए एक शक्तिशाली धारा की आवश्यकता है । लोहे को स्वर्ण, लघु को महान बनाने के लिए एक बलवान सत्ता चाहिए ; मनुष्य जीवन में भी एक ऐसी सत्ता मौजूद है जो नीरस उदासीन और तुच्छ वातावरण को दिव्य एवं स्वर्गीय बना देती है । यह सत्ता है—प्रेम । निर्जीव मशीनें बिजली की धारा का स्पर्श करते ही धड़धड़ाती हुई चलने लगती हैं, अँधेरे में पड़े हुए बल्ब बटन दबाते ही प्रकाशित हो जाते हैं, बन्द रखा हुआ पंखा विद्युत की धारा आते ही फर-फर करके घूमने लगता है और अपनी हवा द्वारा लोगों को शीतल कर देता है । प्रेम एक सजीव बिजली है वह जिसके ऊपर पड़ती है उसे गतिशील बना देती है । निराश, उदास, रूखे, गिरे हुए और झुँझलाए झल्लाए हुए लोगों को एक दम परिवर्तित कर देती है । वे आशा, उत्साह, उमंग, प्रसन्नता और प्रफुल्लता से भर जाते हैं । देखा गया है कि उपेक्षा और तिरस्कार ने जिन लोगों को दुर्जन बना दिया था वे ही प्रेम की डाली चखकर बड़े उदार सद्‌गुणी और सज्जन बन गए । दीपक स्नेह की चिकनाई को पीकर जलता है । मनुष्य का जीवन भी कुछ ऐसा ही है जिसे स्नेह से सींचा गया है । उसका दिल हरा-भरा और फला-फूला रहेगा । जो स्नेह से वंचित है वह रूखा, झुँझलाया हुआ, निराश और अनुदार बन जायेगा । इसलिए दूसरों को यदि अपना इच्छानुवर्ती, मधुर-भाषी, प्रिय-व्यवहारी बनाना है तो इस निर्माण कार्य के लिए प्रेम चाहिए । अन्धकार को प्रकाश में, निर्जीवता को जीवन में, मरघट को उद्यान मे, बदल देने की शक्ति का नाम प्रेम है । इतनी चमत्कार पूर्ण, सजीव, परिवर्तन कर सकने वाली शक्ति को यदि पारस कहा जाता है तो कुछ अत्युक्ति की बात नहीं है ।

वह पारस जो लोहे को सोना बना सकता है न तो इस दुनिया के लिए उपयोगी है और न आवश्यक । क्योंकि अर्थशास्त्र के नियमानुसार "पैसा" और कुछ नहीं, श्रम और योग्यता का स्थूल रूप है । यदि श्रम और योग्यता के बिना ही असीम स्वर्ण राशि मिलने लगे तो संसार का आर्थिक सन्तुलन बिल्कुल नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा । जिनके पास वह वस्तु होगी ईर्ष्या के कारण उनके प्राण भी संकट में पड़े बिना न रहेंगे । कोहनूर हीरे का इतिहास जिन्होंने पढ़ा है वे जानते हैं कि यह बेशकीमती हीरा जिस-जिस के पास गया है । उसे ईर्ष्या की आग ने बुरी तरह झुलसाया है । फिर पारस जैसी अद्‌भुत वस्तुओं को प्राप्त करने वाले का कुछ क्षण के लिए भी इस संसार में सही सलामत रहना कठिन है । कहते हैं कि एक गरीब आदमी ने किसी देवता को प्रसन्न करके यह वरदान प्राप्त किया कि वह जिस वस्तु को छू ले वही सोने की हो जाय । जब उसे यह वरदान मिल गया तो अपनी लड़की की गुड़िया छू ली, वह सोने की हो गई । लड़की ने जब धातु की गुड़िया देखी तो रोती हुई पिता के पास गई और कहने लगी—पिता जी मुझे तो कपड़े की गुड़िया चाहिए । पिता ने सांत्वना देने के लिए लड़की को गोद में उठा लिया वह भी ठोस सोने की हो गई, लड़की को मरी देख कर उसकी माता दौड़ी आई, वह भी जरा-सा छू गई, छूने की देर थी कि वह भी सोने की हो गई । वह आदमी घबराया जो कुछ भी हाथ में आता सब सोने का हो जाता, रोटी और पानी भी सोने का, भूखों मरने की नौबत आ गई । तब उसने उसी देवता से प्रार्थना करके वह वरदान वापस करवाया ।

परमात्मा ने अपने पुत्रों को किसी ऐसी वस्तु से वंचित नहीं किया है, जो वास्तव में उसके लिए उपयोगी और आवश्यक है । यह काल्पनिक पारस मनुष्य के लिए हानिकारक और दुःखदाई है इसलिए उसका अस्तित्व उपलब्ध नहीं है । हाँ, आध्यात्मिक पारस-प्रेम जिसकी चर्चा इन पंक्तियों में की जा रही है, उपयोगी भी है और आवश्यक भी । जिसने इस पारस को प्राप्त किया है । वह अपने चारों ओर स्वर्गीय वातावरण की सृष्टि कर लेता है, सोने का उपयोग यही है कि उससे मानसिक तृप्ति के साधन उपलब्ध होते हैं । इसीलिए सोने को महत्त्व दिया जाता है, किन्तु जितनी मानसिक तृप्ति सोने द्वारा खरीदी हुई वस्तुओं से होती है, उससे अनेक गुनी इस आध्यात्मिक अमृत, पारस से हो जाती है ।

प्रेम-चैतन्य आत्मा के सर्वोत्तम गुणों का प्रतिनिधित्व करता है । जड़ वस्तुओं का यह नियम है कि वे

खिंचकर आपस में एक-दूसरे से मिलने का प्रयत्न करती हैं, धूल में मिले हुए धातुओं के कण आपसी आकर्षण शक्ति के बल से खिंचकर एक स्थान पर इकट्ठे होने शुरू होते हैं और एक दिन बड़ी-बड़ी खानें जमा हो जाती हैं । यह आकर्षण शक्ति चैतन्य तत्वों में और भी तीव्र होती है । जड़ तत्वों को देखिए उनका जीवन एक-दूसरे को कुछ दान करने और प्रेम से निकटस्थ होने के लिए हर घड़ी क्रियाशील हो रहा है। नाले, नदियों के साथ अपने को आत्मसात कर देने के लिए दौड़ रहे हैं और नदियाँ सागर की ओर भागी जा रही हैं । इनमें से कोई अपने संकुचित स्वार्थ में तल्लीन नहीं है, वरन् अपने से अधिक के साथ तल्लीन होकर "अधिकस्य अधिकम् फलम्" का लाभ उठाने के लिए उद्योगशील है । जब पानी के छोटे-बड़े सभी स्रोत समुद्र के लिए सर्वतो भावेन दौड़ते हैं तो समुद्र भी उसी रीति का अनुसरण करता है । बादल को वह अपनी सम्पत्ति देता है और वे प्रेमी बादल उस भार को अपने कन्धे पर लाद कर सृष्टि के ऊपर बरसा देते हैं । इस प्रकार उन नदी नालों का तारतम्य यथावत् जारी रहता है । यह अखण्ड प्रवाह जिस दिन खण्डित हो जायेगा, उसी दिन संसार में त्राहि-त्राहि मच जायेगी । अपनी योग्यताओं को जड़ जगत में कोई भी अपने लिए नहीं रोक रखता, वरन् पवित्र हृदय से दूसरों के देने के लिए निरन्तर उद्योगशील रहता है । आत्मा सबसे चैतन्य तत्व है, यह आकर्षण उसमें सबसे अधिक है । दूसरों के पक्ष में अपने क्षणिक स्वार्थ का त्याग कर उसके साथ आत्मसात् होने का ईश्वर दत्त स्वभाव उसमें शाश्वत काल से चला आ रहा है । एक मनुष्य दूसरे को अपनी योग्यताएँ सदैव देता है । घर-घर में देखिए माता-पिता अपनी सन्तान के लिए कितना आत्म-त्याग करते हैं । पति-पत्नी आपस मे कितने उदार दानी होते हैं । यह अखण्ड प्रवाह सृष्टि को सुव्यवस्थित रखे हुए है । जिस दिन आत्म-दान की शृंखला टूट जायेगी, उसी दिन प्रलय के दृश्य उपस्थित हो जायेंगे ।

संसार में विभिन्न आकृति के प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं, फिर भी उनकी आत्मीयता अखण्ड है । पराया इस दुनिया में कुछ नहीं सब अपना है, या अपना कुछ नहीं सब पराया है, चाहे जैसे कहिए भाव एक ही है । परिवार का सबसे बड़ा और उत्तरदायी वृद्ध पुरुष सारे परिवार को सुव्यवस्थित रखने की अपनी जिम्मेदारी को समझता है । इसलिए उसे अपना ध्यान बहुत ही कम रहता है और कुटुम्ब वालों की समस्याएँ सुलझाने में सारी शक्ति खर्च करता है, वह बीमार है, दवा चाहिए, उसे स्कूल जाना है, फीस चाहिए, उसका विवाह है, कपड़े चाहिए आदि सब किसी का ध्यान रखता है और यथावत् सारी व्यवस्था करता है । इस प्रकार सारी सृष्टि के साथ आत्मीयता जोड़ लेने से दूसरों का सुख-दुःख अपना बन जाता है । वह जानता है कि सारी जाति एक ही सूत्र में बँधी हुई है, जब तक संसार में पाप बढ़े हुए हैं तब तक मेरा भी छुटकारा नहीं हो सकता । हम में से हर एक इस उत्तरदायित्व से बँधा हुआ है कि पड़ौसियों को शान्ति और सुव्यवस्था मे अधिक से अधिक सहयोग दे । जो अपने इस कर्तव्य को भूल कर दूसरों को पाप-पंक में फँसने देता है, वह स्वयं ही उसके लिए उत्तरदायी बनता है और उसका फल भोगता है । किसी के पड़ौस में आग लगे और वह खड़ा-खड़ा तमाशा देखता रहे तो कुछ देर बाद वह अग्नि उसके घर की तरफ भी बढ़ेगी और पड़ौसी के समान उसे भी वैसे ही जला देगी । दैवी दुर्घटनाएँ ऐसे ही सामूहिक पापों का परिणाम होती हैं । जब संसार में पाप अधिक बढ़ते है तो उनकी दुर्गन्ध से अखिल आकाश भर जाता है । फिर उसकी प्रतिक्रिया से जब दुर्भिक्ष, भूकम्प, महामारी, युद्ध आदि दैवी दुर्घटनाएँ होती हैं तो उसका फल सभी को भोगना पड़ता है । बहुत से निर्दोष व्यक्ति भी इस चक्र में पिस जाते हैं । वास्तव में वे निर्दोष नहीं हैं, क्योंकि एक के पापों का फल दूसरों को भी भोगना पड़ता है । पिता का कर्ज उसके पुत्र से वसूल कर लिया जा सकता है । प्रभु ने हमें अपना राजकुमार बनाकर इस सृष्टि से सुव्यवस्था रखने के लिए भेजा है । यदि हम अपना कर्तव्य भुला दें और पाप-तापों को बढ़ा दें तो पिता के दरबार में हमें वैसा ही दोषी ठहराया जायेगा जैसा कि भागी हुई सेना के सेनापति को अपमानित किया जाता है । जिसके बगीचे में पेड़ों की दुरावस्था हो रही हो, अच्छे पेड़ सूख रहे हों और कँटीले झाड़-झंकाड़ बढ़ रहे हों, उस माली को उसका मालिक कभी अच्छी दृष्टि से नहीं देखेगा । परमात्मा को प्रसन्न करने का यही तरीका है कि हम उसकी फुलवारी को हरा-भरा रखें और अधिक से अधिक सुन्दर बनाने में अपनी सारी शक्ति लगा दें । दूसरों को अपना समझकर हम उन्हें एक प्रकार से खरीद लेते

हैं, जिसे हम अपना समझते हैं वह अवश्य ही हमें अपना समझेगा । इस प्रकार जितना ही हम प्रेम सम्बन्ध अधिक बढ़ाते है, उतना ही खुदगर्जी को दूर करके अपनी महत्ता का अभ्यास बढ़ाते हैं । परमात्मा से प्रेम का यही तरीका है कि उसकी चलती-फिरती प्रतिमाओं से प्रेम करें । जो चैतन्य नर-नारायणों की सेवा करना छोड़कर जड़ पदार्थों के टुकड़ों पर सिर पटकता फिरता है, उसकी बुद्धि को जड़ ही कहा जायेगा । दूसरों को अपना समझना और उनके साथ आत्मीयता का व्यवहार करना इसमें धर्म का सारा मर्म छिपा हुआ है ।

साधारण शुभ-कर्मों में और यज्ञ में यह अन्तर है कि साधारण कर्मों को तो सब लोग स्थूल नेत्रों से देख लेते हैं और उसकी भलाई-बुराई का मोटी बुद्धि से निर्णय कर लेते हैं, पर यज्ञ के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है । अग्निहोत्रों को यज्ञ कहा जाता है पर केवल वे ही यज्ञ नहीं हैं, दूसरे यज्ञ भी हैं । गीता में ज्ञान-यज्ञ, ब्रह्म-यज्ञ, जप-यज्ञ अनेक प्रकार के यज्ञ बताये गए हैं । हाँ, अग्निहोत्रों से यज्ञ के वास्तविक स्वरूप का निर्णय किया जा सकता है । अग्नि में बहुमूल्य सामग्री को हवन करना स्थूल बुद्धि वालों की दृष्टि में एक प्रकार का व्यर्थ काम है, इसमें उन्हें शायद ही कुछ लाभ प्रतीत हो परन्तु विवेकवान तत्वदर्शी जानते हैं कि इससे अधिक लाभप्रद और कोई कार्य शायद ही हो । हवन किए हुए पदार्थ सूक्ष्म होकर उच्चरित मन्त्रों की सद्भावना के साथ मिश्रित होकर अखिल आकाश तत्व में व्याप्त हो जाते है और सृष्टि के अगणित जीवों को नाना प्रकार के सुख पहुँचाते है । इस प्रकार एक रुपये की हवन सामग्री से संसार का जितना लाभ हो सकता है, वह स्थूल प्रकार के हजारों रुपये के लाभ से अधिक है पर इस महत्त्व को समझने वाले बहुत ही कम होते हैं । इसी प्रकार शुभ-संकल्पों का यज्ञ इतना उच्च कोटि का है कि इसकी समता में बड़े-बड़े सेवा उपकार और दान-पुण्य तुच्छ हैं । सदैव शुभ विचारों की सामग्री को जीवन यज्ञ में होमने का ब्रह्मयज्ञ विश्व के सम्पूर्ण यज्ञो में ऊँची से ऊँची कोटि का है । विचार एक मूर्तिमान पदार्थ है, जो भाप की तरह उड़ता है और बादलों की तरह बरसता है । जब हमारे मस्तिष्क मे से कोई भला या बुरा विचार निकलता है तो वह आकाश में उड़ जाता है और इधर उधर घूमता फिरता है । रेडियो स्टेशन से ब्रॉडकास्ट की हुई लहरें उन स्थानों पर साफ-साफ सुनाई देती हैं, जहाँ रेडियो सैट लगे हुए हों । इसी प्रकार ये विचार उन लोगों के मस्तिष्कों से टकराते हैं, जिनके मन में कुछ-कुछ वैसे ही भाव उठ रहे हों । यदि हम सदैव भले विचार करते हैं तो वे विचार उन लोगों को बहुत बड़ा प्रोत्साहन देंगे, जो भलाई करने की बात कुछ-कुछ सोचते हैं । विचारों का कभी नाश नहीं होता और उनकी दौड़ने की शक्ति इतनी तेज है कि कुछ ही क्षण में पृथ्वी के एक सिरे से दूसरे सिरे तक पहुँच जाते हैं । कोई व्यक्ति सत्य मार्ग पर चलने का विचार करता है, उसी समय आपका किसी अन्य समय में फैलाया हुआ शुभ विचार उसके पास पहुँचता है, उसे दूना उत्साहित कर देता है । फलस्वरूप वह शुभ कर्म करता है और आगे का अभ्यासी हो जाता है । उसके प्रयत्न से अन्य लोगों का ऐसे ही उपकार होता है, यह बेल बढ़ती है और संसार में दैवी सम्पत्ति का विकास होता है । धर्म की उन्नति होती है, दुनिया में सुख-शान्ति बढ़ती है । इतना बड़ा काम आपके उस छोटे से विचार से ही हुआ था, इसलिए उसका बहुत बड़ा पुण्य-फल आपको मिलेगा ।

स्वयं सदैव शुभ विचार करना, सत्य, प्रेम, न्याय, उदारता, सहानुभूति, दया आदि की भावनाएँ मन मे धारण करना और ऐसे ही विचार दूसरों के मन मे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से भरने का प्रयत्न करते रहना ब्रह्मयज्ञ है । अखण्ड शब्द उसके साथ में इसलिए जोड़ा गया है कि कभी शुभ और कभी अशुभ, कभी भले कभी बुरे विचार करने से उतना लाभ नहीं होता । जैसे भले विचार ससार का कल्याण करते हैं, वैसे ही बुरे विचार अनिष्ट भी करते हैं । कभी इष्ट कभी अनिष्ट, कभी पूरब को कभी पश्चिम को, यह तो कोई अच्छी बात नहीं हुई । इसलिए जो कार्य करना चाहिए, उसमें न तो ढील होनी चाहिए और न उपेक्षा । जैसे हम रोज शौच जाते हैं, स्नान करते हैं, भोजन करते हैं, सोते है, वैसे ही स्वयं अच्छे विचार करें और दूसरो को अच्छे-अच्छे उपदेश दें । विचारो की अनन्त शक्ति का अनुभव करे और उनके प्रचार करने को जब भी अवसर मिले तभी प्रयत्न करें । घर का, बाहर का, परिचित-अपरिचित, विद्वान, मूर्ख जो मिले उससे सत्य, प्रेम और न्याय की चर्चा करें । उसे बुराइयाँ छोड़ने और भलाइयों सीखने की सलाह दें । इस सुधार द्वारा हम उसके साथ सच्चे प्रेम का परिचय दे सकेंगे ।

किसी को मिठाई दी जाय तो वह समझेगा कि इसने मुझसे प्रेम किया, किन्तु बुद्धिमान इस मूर्खता को पहचानता है और वह मिठाई के द्वारा उसे ठोस लाभ पहुँचाना चाहता है । दुनिया यज्ञ का महत्त्व नहीं समझती, न समझे, पर एक आध्यात्मवादी व्यक्ति को उसके अन्दर बड़ा भारी लाभ दृष्टिगोचर होता है । हम अखण्ड ब्रह्मयज्ञ को निरन्तर चालू रख कर प्राणी मात्र के साथ सर्वोच्च कोटि का प्रेम प्रदर्शन करते हुए अपना कल्याण कर सकते हैं ।

क्या आपने कभी सोचा है कि मल-मूत्र की इस गठरी से बँधने के लिए यह सत्य, शिव, सुन्दर आत्मा क्यों रजामन्द हुआ ? जन्म मरण की इन दुःखदायी ग्रन्थियों में उलझकर नाना प्रकार की यातनाएँ सहने के लिए वह क्यों तत्पर हो गया ? सुनिए, हड्डियों की इस अपवित्र ठठरी में बँधने के लिए वह इसलिए तैयार हुआ कि परमात्मा की पुण्य सृष्टि में प्रेम का जो अमृत हिलोरे ले रहा है, उसका रसास्वादन करूँ । इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को दौड़ती हैं, कान मधुर संगीत सुनना चाहते है, आँखें सुन्दर दृश्य देखना चाहती हैं, जिह्वा सुस्वादु भोजन चाहती है, स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श सुख चाहती हैं । इसी प्रकार आत्मा का भी एक विषय है, वह प्रेम के अमृत में गोते लगाकर अविरल आनन्द लूटना चाहती है । इसीलिए तो यह स्वर्ग, अपवर्गों के सुख को छोड़ कर इस भूलोक में अवतार लेती है । रीछ अपनी झाड़ी में से बाहर तब निकलता है, जब उसे शीतल वायु का आनन्द लाभ करने की इच्छा होती है, सर्प अपने बिल से बाहर ओस चाटने के लिए आता है, कोयल वसन्त सुख लूटने आती है, खन्जन पक्षी शरद ऋतु में देखे जाते हैं । उद्भिज जीव वर्षा ऋतु मे प्रकट होते हैं, अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए ही हर कोई प्रकट होता है । आत्मा का भोजन प्रेम है, मछली जल में प्रसन्न रहती है, आत्मा का आनन्द प्रेम में है । ईश्वर के राजकुमार अपने पिता के राज्य का सौन्दर्य देखने के लिए भ्रमण करते हैं, प्राणधारी आत्माएँ, परमात्मा की सृष्टि का प्रेम-सौन्दर्य निहारने आती हैं और इच्छित वस्तु को प्राप्त कर लेने पर अपने स्वस्थान को लौट जाती हैं ।

हमारा जीवन बड़ा ही ऊबड़-खाबड अनिश्चित बेढंगा संघर्षमय, विपत्ति और असुविधाओं से घिरा हुआ, कष्टपूर्ण, श्रमसाध्य एवं अस्थिर है । यदि इसके अन्तरंग में कोई सुदृढ़ पृष्ठभूमि न होती तो सचमुच हमारा जीवन घृणित, व्यर्थ एवं त्याज्य बन जाता । कितने ही प्राणी ऐसा जीवन जीते हैं जिसकी अपेक्षा आत्म-हत्या सुखद है, किन्तु जीवन की समस्त बाधा विपत्तियों के बीच एक स्थिर आकर्षण है, जो जीव और जीवन को चुम्बक जैसे खिंचाव से जकड़े रहता है । यह स्थिर सत्य है—'प्रेम' हमारे जीवन का मेरुदण्ड है जिसके आधार पर संसार में ठहरना और समस्त कार्य-कलापों का वहन करना सम्भव हो सका है । उस प्राणी की मनोभूमि की जरा कल्पना तो कीजिए, जिसका अन्तःकरण प्रेम से सर्वथा शून्य है । ऐसी कल्पना यदि किसी प्राणी की मनोभूमि के बारे में की जा सके तो वह ग्रीष्म ऋतु की दोपहरी मे धधकती हुई दावानल जैसी अनुभव होगी, जिसमें अपने को और दूसरों को भस्म कर देने का ही एक मात्र गुण होगा ।

खूँखार हिंसक पशु भी प्रेम से रहित नहीं हैं, वे अपने बच्चों से कितना प्यार करते हैं, दम्पत्ति में कितना प्रेम होता है । डाकू, हत्यारे, चोर, व्यभिचारी भी किन्हीं अंशों में प्रेम के बिन्दु चाटते रहते हैं, अन्यथा वे विस्फोटक बम और तोप के गोले जैसे ही सर्वभक्षी बन जाते । किसी प्राणी में किन्हीं अन्य गुणों का अभाव होना सम्भव है पर यह हो नहीं सकता कि उसके अन्तःकरण में किसी के लिए कुछ भी, प्रेम न हो । जैसे आग का गुण उष्णता है, उसी तरह आत्मा का गुण प्रेम है । अविद्या की अँधेरी रात्रि में भी प्रेम के प्रकाश की कुछ किरणे विद्यमान रहती हैं, चाहे वे कितनी ही धुँधली और न्यून क्यों न हों ।

निःसन्देह आत्मा प्रेममय है । उसे सुख अपने विषय में ही प्राप्त होता है । मछली को पानी में आनन्द आता है, इसके अतिरिक्त अन्य कहीं चैन नहीं । प्राणी का मन तब तक शान्ति लाभ नहीं कर सकता जब तक कि वह प्रेम में निमग्न न हो जाय । जब तक प्यास नहीं बुझती तब तक हम इधर-उधर भटकते हैं और जब ठण्डा शीतल जल भरपेट पीने को मिल जाता है तो चित्त ठिकाने आ जाता है, सन्तोष लाभ करके एक स्थान पर बैठ जाते हैं । सर्प का जब पेट भर जाता है तो वह अपने बिल में प्रवेश कर पाता है, बाहर घूमने की उसे कुछ जरूरत नहीं रहती, सीप समुद्र के ऊपर उतराती फिरती है, पर जब स्वांति की

बूँद उसमें पड़ जाती है तो मोती को प्राप्त करके समुद्र की तली में बैठ जाती है । आत्मा प्रेम का आनन्द लूटने इस भूमण्डल पर आई है, अपनी प्रिय वस्तु को ढूँढ़ने के लिए इधर-उधर भटकती फिरती है जिस दिन उसे इच्छित वस्तुएँ प्राप्त हो जायेंगी, उसी दिन तृप्ति लाभ करके अपने परम धाम को लौट जायेगी । भवभ्रमण और मुक्ति का मर्म यही तो है ।

हमें बार-बार जन्म इसलिए धारण करना पड़ता है कि प्रेम की प्यास बुझा नहीं पाते । मोह-ममता की मृगतृष्णा में मारे-मारे फिरते हैं और भव-बन्धन में उलझते फिरते हैं । जिस दिन हमें सद्गुरु की कृपा से यह समझ आ जायेगी कि जीवन का सार प्रेम है उस दिन हम शाश्वत प्रेम को अपने अन्तःकरण में से ढूँढ़ निकालेंगे । हमारे अन्तःकरण में जिस दिन प्रेम का, भक्ति का, अविरल स्रोत फूट निकलेगा, जिस प्रेम नदी में आत्मा स्नान कर लेगी, जिस दिन प्रेम का सागर हमारे चारों ओर लहरायेगा, उसी दिन आत्मा को तृप्ति मिल जायेगी और वह अपने मुक्ति धाम को लौट जायेगी ।

प्रेम का मर्म है—त्याग और सेवा । सच्चा प्रेमी अपने सुखों की तनिक भी इच्छा नहीं करता वरन् जिस पर प्रेम करता है उसके सुख पर अपने को उत्सर्ग कर देता है । लेने का उसे ध्यान भी नहीं आता, देना ही एकमात्र उसका कर्तव्य हो जाता है । जिसके हृदय में प्रेम की ज्योति जलेगी वह गोरे चमड़े पर फिसल कर अपने चमारपन का परिचय न देगा और न व्यभिचार की कुदृष्टि रखकर अपनी आत्मा को पाप-पंक में घसीटेगा । वह किसी स्त्री के रूप-रंग, चमक-दमक, हाव, भाव या स्वर कण्ठ पर मुग्ध नहीं होगा, वरन् किसी देवी में उज्ज्वल कर्तव्य का दर्शन करेगा तो उसके चरणों पर झुककर प्रणाम करेगा । स्त्रियों से प्रेम करने वाले के कमरे में अभिनेत्रियों के अधनंगे चित्र नहीं होंगे वरन् सीता और सावित्री की प्रतिमाएँ विराजेंगी । प्रेमी, कमर लचकाकर गलियों में छैल-छिकनियाँ बना हुआ न फिरेगा, वह माँ बहिनों को सती साध्वी बनाने के लिए उनमें धर्म प्रेरणा करेगा । उसकी जिह्वा पर आशिक-माशूकों के गन्दे अफसाने न होंगे वरन् वह राम-भरत के प्रेम की चर्चा करता हुआ गद्गद् हो जायेगा । प्रेमी का दिल तो बेकाबू हो सकता है पर दिमाग मुट्ठी में रहेगा, वह दूसरों के सुख के लिए आत्म-त्याग करने में अपने को बेकाबू करेगा, किन्तु किसी को पतन के मार्ग पर घसीटने का स्मरण आते ही उसकी आत्मा काँप जायेगी । इस दिशा में उसका एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता । अपने प्रेमपात्र को बदनामी, पतन, दुःख, भ्रम और नरक में घसीटने वाला व्यक्ति किसी भी प्रकार प्रेमी नहीं कहा जा सकता, वह तो नरक का कीड़ा है जो अपनी विषम ज्वाला में जलाने के लिए दूसरे पक्ष को घसीटता है ।

"मैं लूँगा, दूसरे को न दूँगा" की नीति कलह, द्वेष, ईर्ष्या और असन्तोष की जड़ है, मनुष्य की नीति यह होनी चाहिए कि, "मुझे नहीं चाहिए, आप लीजिए" यही नीति है जिसके आधार पर सुख और शान्ति का होना सम्भव है । "मैं लूँगा, आपको न दूँगा" की नीति को कैकेई ने अपनाकर अयोध्या को नरक बना दिया था । सारी नगरी विलाप कर रही थी । दशरथ ने तो प्राण ही त्याग दिए । राममवन मरघट की तरह शोक पूर्ण हो रहा था । राम जैसे निर्दोष तपस्वी को वनवास ग्रहण करना पड़ा, किन्तु जब "मुझे नहीं चाहिए, आप लीजिए" की नीति व्यवहार में आई तो दूसरे ही दृश्य उपस्थित हो गए । राम ने राज्याधिकार को त्यागते हुए भरत से कहा—बन्धु तुम्हें राज्य सुख प्राप्त हो, मुझे यह नहीं चाहिए । सीता ने कहा—नाथ यह राज्य, भवन मुझे नहीं चाहिए, मैं तो आपके साथ रहूँगी । सुमित्रा ने लक्ष्मण से कहा—

जौ पै राम सीय बन जाहीं ।
अवध तुम्हार काम कछु नाहीं ॥

पुत्र ! जहाँ राम रहें वहीं अयोध्या मानते हुए उनके साथ रहो । कैसा स्वर्गीय प्रसंग है । भरत ने तो इस नीति को और भी सुन्दर ढंग से चरितार्थ किया । उन्होंने राजपाट को लात मारी और भाई के चरणों से लिपट कर बालकों की तरह रोने लगे । बोले—भाई, मुझे नहीं चाहिए इसे तो आप लीजिए । राम कहते हैं—भरत ! मेरे लिए तो वनवास ही अच्छा है, राज्य सुख तुम भोगो । त्याग और प्रेम के इस सुनहरी प्रसंग में स्वर्ग छिपा हुआ है, एक परिवार के कुछ व्यक्तियों ने त्रेता को सतयुग से परिवर्तित कर दिया । सारा अवध राज्य सतयुगी रंग गया । वहाँ के सुख-सौभाग्य का वर्णन करते-करते वाल्मीकि और

तुलसीदास अघाते नहीं हैं । इस प्रकार के स्वर्गीय प्रसंग, जीवन को सच्ची तृप्ति में सराबोर कर देने की क्षमता प्रेम में ही है और उसे ही इस भू-लोक का पारस कहा जा सकता है ।

आप अपने कुटुम्बियों से, मित्रों से, परिचितों से, अपरिचितों से प्रेम किया कीजिए । सबके लिए उचित आदर, स्नेह, उदारता और आत्मीयता का भाव रखा कीजिए । किसी से लड़ना पड़े तो आत्मीयता का उदार भाव लेकर लड़िए । अपने निकटवर्ती वातावरण में प्रेम की सुगन्ध फैलाइए, स्नेह, नम्रता और सज्जनता के वचन बोलिए.ऐसे ही विचार रखिए, ऐसा ही आचरण कीजिए । आपका मन, वचन और कर्म प्रेम से सराबोर होना चाहिए । सद्व्यवहार आपकी प्रधान नीति हो, मधुर भाषण आपका स्वभाव हो, सद्भाव आपका व्रत हो, आपका जीवन-प्रेम, भ्रातृभाव, सदाचार, ईमानदारी, सफलता और आत्मीयता की दिशा में अग्रसर हो रहा हो । इस ओर जितनी आप प्रगति करते जायेंगे उतने ही पारस पत्थर के निकट पहुँचते जायेंगे ।

लोहे को सोना बनाने के तुच्छ प्रलोभन पर से अपना ध्यान हटाइये, लोहे जैसे कलुषित हृदयों को स्वर्ण-सा चमकदार बनाने की विद्या सीखिए । यह विद्या सच्ची रसायनी विद्या है, यह पारस-सच्चा पारस है । जिसके पास यह है उसके पास सब कुछ है ।

## मर्त्यलोक का कल्पवृक्ष

सुरलोक में एक कल्पवृक्ष है । इस कल्पवृक्ष में ऐसा गुण है कि जिसके नीचे बैठकर जैसी कुछ इच्छा की जाय वह पूरी हो जाती है । जैसे कोई आदमी उस वृक्ष के नीचे इच्छा करे कि मुझे एक सहस्र अशरफी मिल जाय तो उसे अशर्फियाँ मिल जायेंगी । कोई दूसरी वस्तु चाहे तो वह भी उसे प्राप्त होगी । ऐसे कल्पवृक्ष की मानव जाति बहुत दिनों से इच्छा करती चली आ रही है । जिस दिन से इस बात का पता चला कि इस विश्व में कल्पवृक्ष का अस्तित्व है उसी दिन से मर्त्यलोक के निवासी पता लगाने और प्राप्त करने की कोशिश करने लगे । कारण यह है कि हर एक इच्छा को पूरी करने की, हर एक मनचाही वस्तु को देने की शक्ति जिसमें है ऐसे बहुमूल्य पदार्थ की आकांक्षा भला कौन न करेगा ? सुख प्राप्त करने के लिए समस्त विश्व लालायित है । जिस कल्पवृक्ष के द्वारा सुख की इच्छा आसानी से पूरी हो सकती है, उसे चाहना, उसकी उत्कट अभिलाषा करना, स्वाभाविक है । कल्पवृक्ष की खोज करते हुए मनुष्य जाति को लाखों करोड़ों वर्ष बीत गए, परन्तु अभी तक वह उस रूप में कहीं भी नहीं पाया जा सकता जैसा कि सुरलोक वाले कल्पवृक्ष के बारे में पुराणों में बताया गया है ।

आध्यात्म विद्या के वैज्ञानिकों ने उस कल्पवृक्ष को ढूँढ़ निकाला है और प्रमाणित कर दिया है कि वह सर्वसुलभ है । उसे जो चाहे सो आसानी से पा सकता है । सुरलोक की वस्तुएँ जब मर्त्यलोक में आती हैं तो उनका रूप कुछ ऐसा हो जाता है कि हमारी आँखों से दिखाई नहीं पड़ती या यों कहिए कि स्वर्ग लोक की चीजों को हमारे चर्म-चक्षु ठीक उसी रूप से नहीं देख पाते । देवता लोग अपने लोक में शरीर सहित रहते होंगे किन्तु मर्त्यलोक में कोई देवता शरीर सहित विचरण करता हुआ नहीं देखा गया । देवता लोग मर्त्यलोक में आते जाते हैं परन्तु वे आँखों से दिखाई नहीं पड़ते । इसी प्रकार कल्पवृक्ष हमारी दुनिया में है तो सही परन्तु उसे आँखों से नहीं देखा जा सकता, किन्तु वह अदृश्य होते हुए भी अपने सम्पूर्ण गुणों से युक्त है । जो कार्य उसके द्वारा सुरलोक में होता है वही कार्य इस लोक में भी हो सकता है । अदृश्य होने के कारण उसकी शक्ल देखने से हम जरूर वंचित रहते हैं, परन्तु उसके द्वारा प्राप्त होने वाले लाभों को उसी प्रकार पा सकते हैं जैसे कि देवता लोग पाते हैं ।

मर्त्यलोक का कल्पवृक्ष है—'तप' । तप का अर्थ है—कष्ट सहन करना, परिश्रम एवं प्रयत्न करना । प्राचीन काल में अनेक व्यक्तियों ने तप करके वरदान प्राप्त किए थे । उन वरदानों के बल से वे तपस्वी लोग बड़ी-बड़ी चमत्कारी सिद्धियाँ प्राप्त कर चुके हैं । पौराणिक कथाओं से प्रतीत होता है कि देवताओं को प्रसन्न करने का एकमात्र उपाय तप था । तपस्वी लोगों से ही वे सन्तुष्ट होते थे । क्योंकि ऐश्वर्य को भोगने का अधिकारी केवल तपस्वी-परिश्रमी ही है । खीर और मोहनभोग वही पचा सकता है जिसकी जठराग्नि प्रदीप्त हो, मन्दाग्नि वाले को गरिष्ठ भोजन देना तो मानो उसके मारने का प्रबन्ध करना है । कहते हैं कि सिंहनी का दूध स्वर्ण के पात्र में दुहा

जाता है, दूसरे पात्र में इतनी शक्ति नहीं होती कि उसमें वह दूध रह सके। इसी प्रकार जो तपस्वी नहीं है उसमें ऐश्वर्य को धारण करने की क्षमता नहीं होती। ऐसे अयोग्य आदमियों को यदि कुछ मिल जाय तो वे उसे पाकर करीब-करीब पागल हो जाते हैं। बच्चों के हाथ में बन्दूक और बारूद पड़ जाय तो वे खेल-खेल में ही अपना या दूसरों का भयंकर अनिष्ट कर लें। अतएव परमात्मा ने यह सुनिश्चित नियम बना दिया है कि सम्पदाएँ उन्हीं के पास रहें जो उन्हें रखने के अधिकारी हैं। अधिकारी होने की सबसे प्रधान कसौटी यह है कि उसमें पुरुषार्थ है या नहीं ? इच्छित वस्तु को प्राप्त करने योग्य प्रयत्नशील, उत्कट अभिलाषा रखता है कि नहीं ? देवता लोग जब इस बात की परख कर लेते हैं तो उसे वह वस्तु खुशी-खुशी दे देते हैं जिसका कि वह अधिकारी है।

भागीरथ जी तप करके गंगा को मर्त्यलोक में लाये, पार्वती जी ने तप करके शिव को वर रूप मे पाया, ध्रुव ने तप करके अचल राज्य पाया, एक नहीं अनेकानेक प्रमाण इस बात के मौजूद हैं कि तप से ही सम्पदा मिलती है। मनोवांछाएँ पूर्ण करने का एक मात्र साधन तप ही है—परिश्रम एवं प्रयत्न ही है। क्या देव क्या असुर जिसने भी ऐश्वर्य पाया है, वरदान उपलब्ध किए हैं तप के द्वारा पाये हैं। अनन्त सम्पदाओं का ढेर अपने चारों ओर बिखरा पड़ा हो तो भी उसे तप बिना नहीं पा सकता। समुद्र के अन्दर अतीतकाल से अनेक रत्न छिपे पड़े थे। उनका अस्तित्व किसी पर प्रकट न था किन्तु जब देवता और असुरों ने मिलकर समुद्र मन्थन किया तो उसमें से चौदह अमूल्य रत्न निकले। यदि मन्थन न किया जाता तो चौदह क्या चौथाई रत्न भी किसी को न मिलता। प्रयत्न, परिश्रम और कष्ट सहन करने से ही किसी ने कुछ प्राप्त किया है। अक्सर छप्पर फाड़कर मिल जाने के कुछ अपवाद कहीं-कहीं देखे और सुने जाते हैं परन्तु यह इतने कम होते हैं कि उन्हें सिद्धान्त रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। पूर्व जन्मों का संचित पुण्य एक दम कहीं प्रकट होकर कुछ सम्पदा अकस्मात् उपस्थित कर दें ऐसा होना असम्भव नहीं है। कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि किन्हीं व्यक्तियों को बिना परिश्रम के भी कुछ चीज मिल जाती है परन्तु इसे भी मुफ्त का माल नहीं कहा जा सकता। पूर्व संचित पुण्य भी परिश्रम और कष्ट सहन द्वारा ही प्राप्त हुए थे। इन भाग्य से अकस्मात् प्राप्त होने वाले लाभों में भी अप्रत्यक्ष रूप से परिश्रम ही मुख्य होता है।

परमात्मा की इस सुव्यवस्थित रचना में सब कार्य नियमित रूप से, व्यवस्थापूर्वक हो रहे हैं। इसमें "पो-पो बाई" का राज नहीं है जहाँ से हर कोई लूट का मूसल उठा ले जाय। यहाँ अनियमित रूप से किसी को एक कण भी नहीं मिलता। कबीर की एक अनुभव पूर्ण वाणी है कि—

राम झरोखे बैठकर सबको मुजरा लेय।
जैसी जाकी चाकरी तैसो ताको देय॥

झरोखे में बैठे हुए राम सबकी जाँच पड़ताल करते हैं, जिसका जितना परिश्रम है उसको उतना ही देते हैं। संसार के बाजार में "इस हाथ दे उस हाथ ले" की नीति चल रही है। जो जितना देता है वह उतना पाता है। उद्योगी पुरुष सिंहों को लक्ष्मी प्राप्त होती है और निखट्टू पुरुष दैव-दैव भाग्य-भाग्य बकते-झकते हुए हाथ मलते रहते हैं।

तप करने से, एक निष्ठा के साथ विवेकपूर्ण प्रयत्न करने से बड़े-बड़े दुर्लभ पदार्थ प्राप्त होते हैं। फावड़े के बल से वीर फरियाद ने पहाड़ तोड़ कर एक लम्बी नहर खोद निकाली। कालिदास ने भरी जवानी में ओनम बाराखड़ी सीखना शुरू किया और भारत के चमकते हुए साहित्य सितारे कुछ ही दिनों में बन गए। एक नहीं असंख्य उदाहरणों को हम अपने आस-पास फैला हुआ देख सकते हैं। तपाने से सोना चमकता है, माँजने से धातुएँ निखरती हैं, घिसने से हथियार तेज होता है, रगड़ने से आग पैदा होती है। परिश्रम और प्रयत्न से मनुष्य के भीतर छिपी हुई अनेकानेक शक्तियाँ और योग्यताएँ प्रस्फुटित होती हैं फिर उनके द्वारा वह सब सम्पदाएँ प्राप्त हो जाती हैं जोकि कल्पवृक्ष द्वारा प्राप्त होनी चाहिए।

यदि आप अपने घर, कपड़े, शरीर आदि को सुन्दर देखना चाहते हैं तो उनकी सफाई में जुट जाइए। धूल में मिलकर मकान को लीप पोत डालिए, टूट-फूट को ठीक कीजिए, सजावट में परिश्रम कीजिए, बस आपकी चीजें स्वच्छ, सुन्दर और आकर्षक बन जायेंगी। शारीरिक स्वास्थ्य को अच्छा बनाना चाहते हैं तो व्यायाम

मालिश आत्म-संयम आदि के लिए मेहनत कीजिए थोड़े ही दिनों में शरीर बलवान होने लगेगा । ज्ञान, पैसा, कीर्ति, नेतृत्व, मनोबल, स्वर्ग, मुक्ति, सुख-शान्ति जो कुछ भी आप चाहते हैं उसके लिए यत्न कीजिए । कठिन प्रयत्न ! निष्ठापूर्ण प्रयत्न !! अटूट प्रयत्न !!! सफलता का यही मूल मन्त्र है । आज के कष्टों को भविष्य की स्वर्णिम आशा पर निछावर कर देना तप है । यह तप प्रत्यक्ष फलदायक है । सिद्धियाँ तपस्या की चेरी हैं । पुरुषार्थी के गले में विजय माला पड़ने का ईश्वरीय सुनिश्चित विधान है उसको कोई नहीं पलट सकता, कोई नहीं बदल सकता । प्रयत्न करने वाले को आज नहीं तो कल मनोवांछित वस्तु मिलकर रहेगी । जो अपनी मदद आप करता है परमात्मा उसकी मदद जरूर करता है ।

मुफ्त में मन चाहा माल लूटने की सुविधा देने वाला यदि कोई कल्पवृक्ष होता भी हो तो वह सर्व साधारण के लिए कुछ लाभदायक न होगा । क्योंकि लूट के माल में मनुष्य की बुद्धि अव्यवस्थित हो जाती है । नाना प्रकार के उचित अनुचित अनियन्त्रित संकल्पों का ऐसा जमघट मन में जमा होने लगता है जिसका परिणाम सर्वनाश जैसा निकलता है । कहते हैं कि एक बार कोई आदमी कल्पवृक्ष के पास पहुँच गया । उसने इच्छा की कि शीतल जल पीने को होता तो बड़ा अच्छा था । इच्छा करने की देर थी कि ठण्डा जल सामने हाजिर हो गया । अब उसने स्वादिष्ट भोजन चाहे वह भी हाजिर । इसी प्रकार उसने क्रमशः पलंग, बिस्तर, दास, दासी, महल, खजाने, राजपाट माँगे वह सब भी मिले । अब जबकि सम्पत्तियों की ओर से मन भर गया तो उसका चित्त दूसरी ओर को चला, उसे भय लगा कि कहीं कोई हिंसक जन्तु न आ जाय । सोचने की देर थी दहाड़ते हुए सिंह देवता सामने आ खड़े हुए । अब वह भय के मारे काँपने लगा और मन ही मन ऐसा डरने लगा मानो यह सिंह मुझे अभी खाये जा रहा है । यह विचार आया ही था कि सिंह ने उसे धर दबोचा और अपने पेट में पहुँचा दिया । बिना उचित परिश्रम योग्यता के कुछ मिलने का विधान न्यायकारी परमात्मा ने अपनी सुव्यवस्थित सृष्टि में नहीं रखा है । यदि किसी को किसी प्रकार ऐसा कुछ मिल भी जाय तो वह उसके पास ठहरता नहीं वरन् असह्य पीड़ाएँ देता हुआ वह सब वैसे ही चला जाता है जैसा कि आया था ।

यह बात भली-भाँति हृदयंगम कर लेनी चाहिए कि "शक्ति बिना मुक्ति नहीं ।" गरीबी से, गुलामी से, बीमारी से, ईमानदारी से, भव बाधा से, तब तक छुटकारा नहीं मिल सकता जब तक कि शक्ति का उपार्जन न किया जाय । आर्य जाति सदा से शक्ति का महत्त्व स्वीकार करती रही है और उसने शक्ति पूजा को ऊँचा स्थान दिया है । अनेक महापुरुषों ने तो शक्ति को ही सर्वोपरि धर्म मानकर "शक्ति धर्म" की स्वतन्त्र स्थापना की । पहले वह वैदिक धर्म का ही एक अंग था, पीछे मद्य माँस की वाममार्गी छाया इस पर पड़ने के कारण तिरस्कृत बन गया । शक्ति की अधिष्ठात्री देवी को दुर्गा, देवी, चण्डी, भवानी आदि नामों से पुकारा जाता है, यह असुरों से धर्म युद्ध करती है और उनका रक्त पान करके प्रसन्न होती है ।

एक महापुरुष का कथन है—सत्य ही शक्ति है । इसलिए शक्ति ही सत्य है । अविद्या, अन्धकार और अनाचार का नाश सत्य के प्रकाश द्वारा ही हो सकता है । शक्ति की विद्युतधारा में ही वह शक्ति है कि वह मृत व्यक्ति या समाज की नसों में प्राण संचार करे और उसे सशक्त एवं सतेज बनाये । शक्ति एक तत्व है जिसको आह्वान करके जीवन के विभिन्न विभागों में भरा जा सकता है और उसी अंग में तेज एवं सौन्दर्य का दर्शन किया जा सकता है । शरीर में शक्ति का आविर्भाव होने पर देह कुन्दन जैसी सुगन्धित एवं अष्टधातु सी निरोग बन जाती है, बलवान शरीर का सौन्दर्य देखते ही बनता है । मन में शक्ति का उदय होने पर साधारण से मनुष्य कोलम्बस, लेनिन, गाँधी, सनयातसेन जैसी हस्ती बन जाते हैं और ईसा, बुद्ध, राम, कृष्ण, मुहम्मद के समान असाधारण कार्य अपने मामूली शरीरों के द्वारा ही करके दिखा देते हैं । बौद्धिक बल की जरा-सी चिन्गारियाँ बड़े-बड़े तत्व ज्ञानों की रचना करती है और वर्तमान युग के वैज्ञानिक आविष्कारों की भाँति चमत्कारिक वस्तुओं के अनेकानेक पदार्थ निर्माण कर डालती हैं । अधिक बल का थोड़ा-सा प्रसाद हमारे आस-पास चकाचौंध उत्पन्न कर देता है । जिन सुख साधनों के स्वर्ग लोक में होने की कल्पना

की गई है, पैसे के बल से वे इस भू-लोक में भी प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं और संगठन, बल, अहा ! वह तो गजब की चीज है । "एक और एक मिलकर ग्यारह" हो जाने की कहावत पूरी सच्चाई से भरी हुई है । दो व्यक्ति सच्चे दिल से मिल जायें, तो उनकी शक्ति ग्यारह गुनी हो जाती है । सच्चे कर्मवीर थोड़ी संख्या में भी आपस में मिलकर काम करें तो वे आश्चर्यजनक कार्य कर सकते हैं । कलियुग में तो संघ को ही शक्ति कहा गया है । निःसन्देह गुटबन्दी, गिरोह, एका, मेल, संगठन एक जादू है, जिसके द्वारा सम्बन्धित सभी व्यक्ति एक-दूसरे को कुछ देते हैं और उस आदान-प्रदान से उनमें से हर एक को बल मिलता है ।

आत्मा की मुक्ति भी ज्ञान शक्ति एवं साधना शक्ति से ही होती है, अकर्मण्य और निर्बल मन वाला व्यक्ति आत्मोद्धार नहीं कर सकता है । लौकिक और पारलौकिक सब प्रकार के दुःख-द्वन्द्वों से छुटकारा पाने के लिए शक्ति की ही उपासना करनी पड़ेगी । निःसन्देह शक्ति के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती, अशक्त मनुष्य तो दुःख-द्वन्द्वों में ही पड़े-पड़े बिलबिलाते रहेंगे और कभी भाग्य को, कभी ईश्वर को, कभी दुनिया को, दोष देते हुए झूठी विडम्बना करते रहेंगे । जो व्यक्ति किसी भी दिशा में महत्त्व प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि अपने इच्छित मार्ग के लिए शक्ति सम्पादन करें ।

(१) सच्ची लगन और (२) निरन्तर प्रयत्न, यही दो महान साधनाएँ हैं, जिनसे भगवती शक्ति को प्रसन्न करके उनसे इच्छित वरदान प्राप्त किया जा सकता है । आपने जो भी अपना कार्यक्रम बनाया हो, जो भी जीवनोद्देश्य बनाया हो, उसे पूरा करने में जी-जान से जुट जाइए । सोते-जागते उसी के सम्बन्ध में सोच विचार करते रहिए और आगे का रास्ता तलाश करते रहिए । परिश्रम ! परिश्रम !! और घोर परिश्रम !!! आपकी आदत में शामिल होना चाहिए । मत सोचिए कि अधिक काम करने से थक जायेंगे, वास्तव में परिश्रम एक स्वयं-चालक शक्ति है, जो अपनी बढ़ती हुई गति के अनुसार कार्य-क्षमता उत्पन्न कर लेती है । उदासीन, आलसी और निकम्मा व्यक्ति दो घण्टा काम करके एक पर्वत पार करने की थकान अनुभव करता है, किन्तु उत्साही, उद्यमी और अपने कार्य में दिलचस्पी लेने वाले व्यक्ति सोने के समय को छोड़कर अन्य सारे समय लगे रहते हैं और जरा भी नहीं थकते । सच्ची लगन, दिलचस्पी, रुचि और सुझाव एक प्रकार का डायनुमा है, जो काम करने के लिए क्षमता की विद्युत शक्ति हर घड़ी उत्पन्न करता रहता है ।

स्मरण रखिये कि आपका कोई भी मनोरथ क्यों न हो, वह शक्ति द्वारा ही पूरा हो सकता है । इधर-उधर बगलें झाँकने से कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा, दूसरों के भरोसे सिर भिगोने पर तो निराशा हाथ लगती है । अपने प्रिय विषय में सफल होने के लिए अपने पाँवों पर उठ खड़े होइये, उसमें सच्ची लगन और दिलचस्पी पैदा कीजिए, एवं मशीन की तरह जी-तोड़ परिश्रम के साथ काम पर जुट जाइए, अधीर मत होइए, शक्ति की देवी आपके साहस की परीक्षा लेगी, बार-बार असफलता और निराशा की अग्नि में तपायेगी, तथा असली, नकली की जाँच करेगी, यदि आप कष्ट, कठिनाई, असफलता, निराशा, विलम्ब आदि की परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए, तो वह प्रसन्न होकर प्रकट होगी और इच्छित वरदान वरन् उससे भी कई गुना अधिक फल प्रदान करेगी ।

एक बार, दो बार नहीं, हजार बार इस बात को गिरह में बांध लीजिए कि "शक्ति के बिना मुक्ति नहीं" दुःख दारिद्र की गुलामी से छुटकारा शक्ति उपार्जन किए बिना कदापि नहीं हो सकता । आप अपने लिए कल्याण चाहते हैं, तो उठिए, शक्ति को बढ़ाइए बलवान बनिए, अपने अन्दर लगन कर्मण्यता और आत्मविश्वास पैदा कीजिए । जब आप अपनी सहायता खुद करेंगे, तो ईश्वर भी आपकी सहायता करने के लिए दौड़ा-दौड़ा आयेगा ।

सिंह सड़े हुए माँस की ओर मुँह उठाकर नहीं देखता, क्या हम तुच्छ विषय भोगों की वेदी पर अपनी श्रेष्ठता को बलिदान कर देंगे ? एक सम्राट क्या कभी भिखमंगों के से आचरण करता है ? हमें यह शोभा नहीं देता कि ऐसे कामों पर उतारू हो जो मनुष्यता को कलंकित करते हैं । हंस प्यासा मर जायेगा पर दूध में से पानी छाँट देने का गुण न छोड़ेगा । हमें न्याय और अन्याय का अन्तर करके केवल न्याय को स्वीकार करना होगा, ताकि हमारी महत्ता सुरक्षित रहे । चकवा वर्ष, दिन तक प्यासा मरता है, पर सूखे हुए गले को स्वांति के जल से ही भिगोता है । हम

गरीबी का जीवन बितायेंगे, कष्ट सहेंगे पर अन्याय से उपार्जित धन ग्रहण न करेंगे । भौंरा सुगन्धित पुष्पों के आस-पास रहता है, हम भी सज्जनों और सद्विचारों के बीच अपना स्थान बनायेंगे । मानव जीवन की महत्वपूर्ण जिम्मेदारियाँ हमें इस बात के लिए बाध्य करती हैं, कि ऐसा जीवन जीयें जो जीने योग्य हो, जिससे हमारे पद के गौरव पर कलंक न आये ।

धिक्कार है इस जिन्दगी पर जो मक्खियों की तरह पापों की विष्ठा के ऊपर भिनभिनाने में और कुत्ते की तरह विषय भोगों की जूठन चाटने में व्यतीत होती है । उस बड़प्पन पर धिक्कार है, जो खुद खजूर की तरह बढ़ते हैं पर उनकी छाया में एक प्राणी भी आश्रय नहीं पा सकता । सर्प की तरह धन के खजाने पर बैठकर चौकीदारी करने वाले लालची किस प्रकार सराहनीय कहे जा सकते हैं ? जिनका जीवन तुच्छ स्वार्थों को पूरा करने की उधेड़ बुन में निकल गया, हाय, वे कितने अभागे हैं, सुर दुर्लभ देह रूपी बहुमूल्य रत्न, इन दुर्बुद्धियों ने काँच और कंकड़ के टुकड़ों के बदले बेच दिया, किस मुख से वे यह कहेंगे कि हमने जीवन का सद्व्यय किया । इन कुबुद्धियों को तो अन्त में पश्चाताप ही पश्चाताप प्राप्त होगा, एक दिन उन्हें अपनी भूल प्रतीत होगी, पर उस समय का अवसर हाथ से चला गया होगा और सिर धुन-धुन कर पछताने के अतिरिक्त और कुछ हाथ न रहेगा ।

मनुष्यो ! जीओ, और जीने योग्य जीवन जीओ । ऐसी जिन्दगी बनाओ जिसे आदर्श और अनुकरणीय कहा जा सके । विश्व में अपने ऐसे पद चिन्ह छोड़ जाओ जिन्हें देखकर आगामी सन्तति अपना मार्ग ढूँढ़ सके । आपका जीवन सत्य से, प्रेम से, न्याय से भरा हुआ होना चाहिए । दया, सहानुभूति, आत्मनिष्ठा, संयम, दृढ़ता, उदारता आपके जीवन के अंग होना चाहिए । शारीरिक और मानसिक बल का संचय और उसका सदुपयोग, यह प्रथम कर्तव्य है, जिसकी ओर हर घड़ी दत्तचित्त रहना चाहिए । बिना इसके जीवन "जीवन" नहीं हो सकता ।

न केवल उच्च जीवन स्वयं जीओ, वरन् दूसरों को भी वैसा ही जीवन जीने दो । परमात्मा का आत्मा के प्रति आदेश है कि "जीओ और जीने दो" अपनी निर्बलता, वासना, स्वार्थपरता एवं कुभावनाओं को हटाकर गौरवपूर्ण पद प्राप्त करो और सिर ऊँचा उठाकर जीने योग्य जिन्दगी जीओ और उस सात्विक जीवन की शक्ति का प्रयोग दूसरे निर्बलों को शक्ति प्रदान करने में करो । यह प्रक्रिया अत्यन्त ही नीच श्रेणी की होगी कि तुम स्वयं तो ऊँचे उठो पर दूसरों को नीचे दबाओ । स्वयं स्वतन्त्रता की इच्छा करो और दूसरों को बन्धनों में जकड़ो, यह तो अपने बल का दुरुपयोग करना होगा । दूसरों की छाती पर खड़े होकर ऊपर बढ़ने की भावना इतनी सत्यानाशी और नारकीय है कि इसके द्वारा विश्व का बहुत भारी अहित हुआ है । बलवान व्यक्ति जब जालिम का रूप धारण करता है, तो वह प्रभु की इस सुरम्य वाटिका में निर्दय कुल्हाड़े का काम करता है । ऐसा क्रूर जीवन पिशाच ही बना सकता है, मनुष्य के लिए वैसा सम्भव नहीं है ।

जीओ, दूसरों को भी स्वतन्त्रतापूर्वक जीने दो । जो भूले भटके हों उन्हें राह पर लाओ, पर खबरदार किसी के मूलभूत अधिकारों पर हस्तक्षेप मत करो । अमुक व्यक्ति, अमुक परिवार में उपन्न हुआ है, इसलिए उसके मानवोचित अधिकार दबाये जायें यह सोचना बड़ी ही निर्दयता होगी । एक सच्चा मनुष्यता का उपासक यह नहीं कह सकता कि स्त्रियों पर पुरुषों की अपेक्षा अधिक बन्धन लगाने चाहिए । शूद्रों के मानवोचित अधिकारों का अपहरण पाषाण हृदयों से ही होना सम्भव है । सत्य का प्रेमी, न्याय का उपासक अपने अन्तःकरण की ग्रन्थियों को खोल डालता है । वह स्वयं उच्च जीवन जीता है, इसलिए दूसरों के जीवन की भी कद्र करता है । टुच्चा आदमी स्वयं सड़ी हुई नालियों की रूढ़ियों में बुजबुजाता हुआ गर्हित जीवन बिताता है, इसलिए वह दूसरों को भी टाँग पकड़ कर नारकीय पराधीनता में सड़ने के लिए पीछे घसीटता है । वह दूसरों को तुच्छ समझता है, क्योंकि स्वयं तुच्छता में पड़ा हुआ है, वह दूसरों से घृणा करता है, क्योंकि उसने स्वयं अपनी आत्मा को घृणित बना रखा है ।

आप टुच्चे मत बनिये, आप बढ़ रहे हैं, उन्नति के पथ पर चल रहे हैं, इसलिए दूसरों को भी बढ़ने दीजिए । आप अपनी आत्मा को मुक्त बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं, इसलिए दूसरों को भी स्वतन्त्रता का आनन्द लेने दीजिए । स्वयं बढ़िए और दूसरों को बढ़ने के लिए

प्रोत्साहित कीजिए । आप महान बनिये एवं दूसरों में महानता लाने का प्रयत्न कीजिए । पाठकों ! तुम ईश्वर के राजकुमार हो, इसलिए वैसा जीवन जीओ जो राजकुमारों के योग्य है । संसार के दूसरे प्राणी तुम्हारे भाई हैं, इसलिए उनके साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा एक भाई दूसरे के साथ करता है । जीओ, प्रसन्नतापूर्वक जीओ, पर दूसरों को भी उसी तरह जीने दो ।

भू-लोक का कल्पवृक्ष—तप है । उत्साह, स्फूर्ति, लगन, धन, परिश्रम-प्रियता, साहस, धैर्य, दृढ़ता और कठिनता को देखकर विचलित न होना यह तप के लक्षण हैं । जिसने तप द्वारा इन गुणों को पैदा किया, अपने मनोवांछित तत्व को पाने के लिए खून-पसीना बहाना सीखा, वह एक प्रकार का सिद्ध है । कल्पवृक्ष की सिद्धि उसके आगे हाथ बांधे खड़ी रहती है । ऐसे आदमी जो चाहते हैं कर गुजरते हैं, जो चाहते हैं प्राप्त कर लेते हैं । नेतृत्व, लोक सेवा, धन उपार्जन, प्रतिष्ठा, ज्ञान, भोग आदि सम्पदाएँ पाने की जिनके मन में लालसाएँ उठती हों उन्हें सबसे पहले अपने को तपस्वी बनाना चाहिए । आलस्य, प्रमाद, समय का अपव्यय, बकवाद, ठलुआपन्ती, निराशा, निरुत्साह, अस्थिरता आदि दुर्गुणों को हटाकर तपश्चर्या के सद्‌गुणों को अन्दर धारण करना चाहिए ।

याद रखिए तप ही कल्पवृक्ष है । जिस किसी ने इस दुनिया मे कुछ पाया है परिश्रम से पाया है । आप भी कुछ पाना चाहते है तो अदम्य उत्साह के साथ घोर परिश्रम करना अपना स्वभाव बनाइये । इस साधना के फलस्वरूप आपको कल्पवृक्ष जैसी प्रतिभा मिलेगी और उसके द्वारा आपकी सब प्रकार की इच्छा आकांक्षाएँ आसानी से पूरी हो जाया करेंगी ।

## इन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करो

अमृत, पारस और कल्पवृक्ष यह तीनों महान तत्व सर्वसाधारण के लिए सुलभ है । हम जितना उनसे दूर रहते हैं उतने ही ये भी हमारे लिए दुर्लभ हैं परन्तु जब हम इनकी ओर कदम बढ़ाते हैं तो यह अपने बिलकुल पास, अत्यन्त निकट आ जाते है । जिस ओर मुँह न हो उधर की चीजो का कोई अस्तित्व दृष्टिगोचर नहीं होता, पीठ पीछे क्या वस्तु रखी हुई है । इसका पता नहीं चलता, किन्तु उलट कर जैसे ही हम मुँह फेरते हैं वैसे ही पीछे की चीज जो कुछ क्षण पहले तक अदृश्य थी, दिखाई देने लगती है । यह स्पष्ट है कि जिधर हमारी प्रवृत्ति होती है, जैसी हम इच्छा और आकांक्षाएँ करते हैं उसी के अनुरूप, वस्तुएँ भी उपलब्ध हो जाती हैं ।

कहने को तो सभी कोई सुखदायक स्थिति में रहना और दुःखदायक स्थिति से बचना चाहते हैं, परन्तु यह हीन वीर्य चाहना, शेखचिल्ली के मनसूबों की तरह निष्फल और निरर्थक सिद्ध होती है । सच्ची चाहना की कसौटी यह है कि अभीष्ट वस्तु को प्राप्त करने की लगन अन्तःकरण की गहराई तक समाई हुई हो । आकांक्षा की तीव्रता का स्पष्ट सबूत अभीष्ट वस्तु को प्राप्त करने के प्रयत्न में जी जान से जुट जाना है । धुन का पक्का, निश्चित मार्ग का दृढ़ प्रतिज्ञ पथिक अपनी अविचल साधना के द्वारा ऊँचे से ऊँचे सुदूर लक्ष्य तक आसानी से पहुँच जाता है । इस विश्व में कोई वस्तु ऐसी नहीं है कि मनुष्य सच्चे मन से इच्छा करने पर भी उसे प्राप्त न कर सके । लोभवश अनावश्यक वस्तुओं के संचय की लालसा में प्रकृति के नियम कुछ बाधक भले ही बनें परन्तु आत्मिक सद्‌गुणो के विकास द्वारा सात्विक आनन्द प्राप्त करने की आकांक्षा तो सर्वथा उचित और आवश्यक होने के कारण पूर्णतया सरल है, उसकी पूर्ति में ईश्वरीय सहायता प्राप्त होती है । आत्म-कल्याण करने वाले सत् प्रयासों में भगवान सदा ही अपना सहयोग देते हैं ।

अमृत, पारस और कल्पवृक्ष मनुष्य के लिए पूर्णतया सुलभ हैं बशर्ते कि उन्हें प्राप्त करने का सच्चे मन से प्रयत्न किया जाय । अपने अविनाशी होने का दृढ़ विश्वास चिन्तन और मनन द्वारा अपनी अन्त. चेतना में भली प्रकार बिठाया जा सकता है । यह विश्वास इतना मजबूत होना चाहिए कि जीवन के किसी भी प्रश्न पर जब विचार किया जाय तो उस समय यह विश्वास स्पष्ट रूप से बीच में आ उपस्थित हो कि—यह जीवन, हमारे महा जीवन, अनन्त जीवन का अंश मात्र है । महा जीवन के लाभ-हानि को प्रधानता देने की नीति के आधार पर जीवन की गुत्थियों को सुलझाना चाहिए, उसी के अनुसार कार्यक्रम बनाना चाहिए । जब इस प्रकार का हमारा दृष्टिकोण निश्चित हो जाता

है तो जीवन अत्यन्त पवित्र, निर्मल, निष्पाप, शान्तिदायक एवं आनन्दमय हो जाता है । यही अमृत है ।

प्रेम की दृष्टि से सबको देखना, आत्मीयता, उदारता, सहानुभूति, सेवा, क्षमा, दया, सुधार, कल्याण, परमार्थ, त्याग के भाव रखकर लोगों से व्यवहार करना ऐसा उत्तम कार्य है जिसकी प्रतिक्रिया बड़ी उत्तम होती है, जो भी अपने सम्पर्क में आता है वही इच्छानुवर्ती, आज्ञाकारी, प्रशंसक, सहायक और सेवक बन जाता है । प्रेम मनुष्य जीवन का पारस है, इसका स्पर्श होते ही नीरस, शुष्क, तुच्छ व्यक्तियों में भी महानता उद्‌भूत होने लगती है । रोती हुई दुनिया को हँसती सूरत में बदल देने का जादू प्रेम में ही है । इसीलिए उसे पारस कहते हैं ।

परिश्रम से, उद्योग से, कष्ट सहन से, अध्यवसाय से, कठिन से कठिन लक्ष्य तक मनुष्य पहुँच जाता है । तप से सारी सम्पदाएँ मिलती हैं । शक्ति संचय, परिश्रम, उत्साह, दृढ़ता, लगन यही तप के लक्षण हैं । जिसे तप की आदत है कल्पवृक्ष उसकी मुट्ठी में है, उसकी कोई इच्छा अधूरी न रहेगी, वह जो चाहेगा सो ही प्राप्त कर लेगा ।

## लौकिक अमृत

साधारणतः अमृत का अर्थ वह पदार्थ समझा जाता है जो समुद्र मन्थन के समय निकला था । जो देवताओं के पास है और जिसे पीने वाला अमर हो जाता है, कभी मरता नहीं ।

वह देवताओं का अमृत है, पर मनुष्य लोक भी अमृत से रहित नहीं है, ऐसा प्राचीन ग्रन्थों मे देखने से पता चलता है । एक प्रकार के नहीं अनेकों प्रकार के अमृतो का वर्णन उपलब्ध होता है ।

मेदिनी कोश में दूध को पीयूष या अमृत कहा है । "पीयूषं सप्त दिवसावधि क्षीरे तथामृते" आयुर्वेद का मत भी ऐसा ही है "अमृतं क्षीरं भोजनम्" दूध मर्त्यलोक का अमृत है । राज निघण्टु ने भी दूध को ही अमृत कहा है—"क्षीरं पीयूष मूधस्यं दुग्धं स्तन्य पयोऽमृतम्" ।

जल को भी अमृत कहा गया है । अमर कोश में "पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं बनं" इस श्लोक में पानी का नाम अमृत बताया गया है ।

"अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा । अमृतापिधानमसि स्वाहा ।" इन श्रुति वचनों में जल को अमृत की समता दी गई है । अथर्ववेद में पानी को सब रोगों की दवा माना है—"अप्सु मे सामोऽब्रवीदन्त विश्वानि भेषजं ।"

राज निघण्टु में घृत को अमृत बताया है—"अमृतंचाभिघोराश्च होम्युमायुश्च्तेजसम् ।"

मट्ठा या छाछ (तक्र) के लिए भी अमृत की उपमा प्रयोग की जाती है—"यथा सुराणाममृतं हिताय तथा नराणामिह तक्रमाहुः ।" जैसे देवताओं के लिए अमृत है वैसे ही मनुष्यों के लिए मट्ठा हितकर है ।

पौष्टिक-घृत शर्करा युक्त-भोजन भी अमृत है । भाव प्रकाश में हलुवे को अमृत कहा है—

"संयापममृतं स्वादु पिसच्चं मधुरं स्मृतम् ।" चरक में एक स्थान पर लिखा है—"अमृतं स्वादु भोजनम् ।" अर्थात् स्वादिष्ट भोजन अमृत है ।

कुछ औषधि द्रव्यों को भी अमृत की समता दी गई है । "अमृतं वै हिरण्यमित्युक्तं" अर्थात् स्वर्णमिश्रित औषधि अमृत हैं । रस तन्त्र में पारे के संयोग से बनी हुई रसायन को अमृत बताया है ।

"अभ्रकस्तवजीवन्तु मम बीजन्तुपारदः ।
अनयोर्मेलनं देवि मृत्यु दारिद्रय नाशनम् ॥"

इस श्लोक के अनुसार अभ्रक और पारे का संयोग मृत्यु को दूर करने वाला है । शुद्ध किए हुए विष भी अमृत कहे जाते [redacted] । यथा—"क्ष्वेडाहेमामृतं गरदं गरलं कालकूटकम् ।"

छांदोग्य उपनिषद् में मधु को अमृत कहा है—"ताएवास्यामृतामधुनाड्यः ।" नासपाती को "अमृतफल" कहा जाता है । आँवले के भी ऐसे गुण कहे गए हैं ।"

मल्लि यादव ने सूर्य की किरणों को अमृत कहा है । चन्द्र किरणों को भी अमृत की तुलना में प्रयुक्त किया है—"चन्द्रे अमृत दीधि तिरेष विदर्भजे भजसि तापममुष्यवै ।"

ब्रह्मचर्य पालन और तप करना अमृत है—"अमृतंशुक्र धारम्" देवताओं ने भी ब्रह्मचर्य रूपी अमृत से ही मृत्यु को जीता है—"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्यु मुपाघ्नत ।"

ब्रह्मज्ञान अमृत है । कहा गया है—"ब्रह्मणहि प्रतिष्ठाहममृतस्या व्ययस्यच ।" समता, निराकुलता, मानसिक शान्ति भी अमृत है । गीता के १५वें अध्याय में लिखा है—'सम दुःख सुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।" योगी लोग खेचरी मुद्रा के साधन से सहस्रार में से ब्रह्मरन्ध्र द्वारा टपकने वाले अमृत का पान करते हैं । देव मन्दिरों में चरणामृत या पंचामृत तो प्राप्त होता ही है ।

मधुर भाषण अमृत कहलाता है । उव्वट का मत है—"अप्यायतोऽवचनामृतेन" हितोपदेश में बालकों की मधुर बोली को अमृत कहा है—"अमृतं बाल भाषणम् ।"

मनु भगवान की सम्मति में भीख माँग कर लिया हुआ अन्न 'मृत' और बिना माँगे अपने बाहुबल से कमा कर खाया हुआ अन्न "अमृत" है । यथा—"मृतंस्याद्याचितं भैक्ष्यममृतंस्या दयाचितं ।"

आप्त वचन है—"विद्ययामृत मश्नुते" अर्थात् विद्या से अमृत प्राप्त होता है । अमर कोश का आरम्भिक श्लोक—"स श्रिये चामृताय च" भी ज्ञान में अमृत की उपस्थिति का संकेत करता है । इन ऊपर कहे हुए सब अमृतों की अपेक्षा एक अमृत सर्वोपरि है जिसका गीता के अध्याय ४ श्लोक ३१ में भगवान कृष्ण ने वर्णन किया है—"यज्ञ शिष्टामृत भुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्" अर्थात् "यज्ञ से बची हुई वस्तु को भोगने वाले सनातन परमात्मा को प्राप्त करते है ।" मनुस्मृति के अध्याय २ श्लोक २८५ में भी "यज्ञ शेषमथामृतम्" यही भाव प्रकट किया है । यज्ञ अर्थात् परमार्थ के लिए त्याग । जो कुछ भी हमारे पास शक्ति, सामर्थ्य और सम्पदा है उसका अधिकांश भाग परमार्थ के लिए, लोक सेवा के लिए, आत्म-कल्याण के लिए, सात्विकता की वृद्धि के लिए लगाये, इन्हीं को प्रथम स्थान दें । तत्पश्चात बची हुई शक्ति का स्वल्प भाग अपने शारीरिक भोगों में खर्च करें । इस प्रकार परमार्थपूर्ण दृष्टिकोण रखकर जीवन का सदुपयोग करने वाला मनुष्य "अमृताशी" अर्थात् अमृत पीने वाला कहलाता है । वह जिस आनन्दमयी अमरता को प्राप्त कर लेता है वह समुद्र मन्थन वाला अमृत पीकर शरीर से अमर हुए देवताओं के लिए सर्वथा दुर्लभ है ।

## पारस और कल्पवृक्ष का स्थान

पारस और कल्पवृक्ष भौतिक तृष्णाओं की पूर्ति करते हैं । तृष्णा अनन्त है, उनकी कहीं समाप्ति नहीं । एक को पूर्ण होते देर नहीं हुई कि दूसरी नयी तृष्णा उपज पड़ती है । उसे तृप्त किया जाय तब तक नई आ धमकती है । इस प्रकार यह चक्र कभी समाप्त नहीं हो सकता । पारस और कल्पवृक्ष द्वारा कितनी ही भोग सामग्री धन सम्पदा मनुष्य को दी जाये, उसका सन्तोष न होगा । चाहना-मिलना यह क्रम चलता ही रहेगा । हर घड़ी आवश्यकता बनी रहेगी ।

इच्छित वस्तुओं के प्राप्त होते रहने से भी इच्छाएँ शान्त नहीं हो सकतीं । उनकी शान्ति का मार्ग है—विवेक, मनोनिग्रह, संयम, त्याग, सन्तोष । इन तत्वों का अन्तःकरण में विकास होने से इच्छाएँ शान्त हो जाती हैं और स्वल्पसाधन होते हुए भी मनुष्य अपने आपको कुबेर से बड़ा धनपति और इन्द्र से बड़ा सुखी अनुभव करता है । जब आत्मज्ञान का उदय होता है तो भौतिक सम्पदाओं की निरर्थकता भली-भाँति प्रकट हो जाती है तब मनुष्य विविध वस्तुओं की लालसा करने की अपेक्षा आत्मानन्द की ओर मुड़ता है । इस दिक् परिवर्तन से उसकी समस्त मनोवांछाएँ पूरी हो जाती हैं । आत्मानन्द, ब्रह्मानन्द, प्राप्त करने के बाद उसे और कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता ।

स्थूल जगत में पारस और कल्पवृक्ष को मत ढूँढ़िए । अपनी अन्तरात्मा में सन्निहित सद्वृत्तियों को टटोल डालिए, उन्हें पहचानिए और विकसित कीजिए । उस दिव्य क्षेत्र मे आपको ऐसी तृप्ति लाभ होगी जिस पर पारस के पहाड़ और कल्पवृक्ष के वन निछावर किए जा सकते हैं । आत्मीय क्षेत्र में उत्पन्न हुई अन्तोगुणी वृत्तियाँ ऐसे अक्षय सुख प्राप्त करती हैं जिनसे सदा के लिए आत्मा तृप्त हो जाती है । आइए, अपनी आन्तरिक भूमि में सतोगुण के बीज बोयें, उससे जो सद्प्रवृत्तियों के लता गुल्म उगेंगे उनसे हमारे भीतरी और बाहरी जीवन में हरियाली छा जायेगी और उसकी सुरम्य गन्ध से दसो दिशाएँ सुवासित हो जायेंगी ।

米米米

# लोक आराधना की आवश्यकता और उसका स्वरूप

## जीवन साधना में सेवा-आराधना का महत्त्व

प्राणी मात्र की सेवा करना मनुष्य का परम कर्तव्य है, इसे ही विराट ब्रह्म की आराधना कहते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्व भूत हिते रताः।' जो सब जीवों का हित-चिन्तन करते हैं, वे मुझे प्राप्त होते हैं। अतः साधक के लिए तो यह और भी आवश्यक हो जाता है कि वह लोक-आराधक बनें, सेवा भावी बने।

विभिन्न दुर्गुणों का त्याग करने पर ही सेवा व्रत का पालन किया जा सकता है। स्वार्थ को छोड़े बिना सेवा का कार्य नहीं हो सकता। जिन्हें अपने इन्द्रिय सुखों की चिन्ता रहती है, वे व्यक्ति सेवा कार्य में कभी भी सफल नहीं हो सकते।

सेवा-व्रती का हृदय करुणा और दया से ओत-प्रोत होता है। वह विषयों के प्रति आसक्त नहीं रहता। वह सब भोगों से निवृत्त रहता है। त्याग के कारण उसमें गुण-ग्राहकता बढ़ती जाती है।

दुःखियों की सेवा, निर्बल की रक्षा और रोगियों की सहायता सेवा का मुख्य लक्ष्य है। सेवाव्रती साधक किसी की हानि नहीं करता, किसी का निरादर नहीं करता। वह निरभिमानी, विनयी और त्यागी होता है। उसका अन्तःकरण पवित्र होने से मन की चंचलता भी नष्ट हो जाती है।

सेवाव्रती का शरीर स्वच्छ रहना आवश्यक है। उसे अपने स्वास्थ्य का भी ध्यान करना चाहिए। अपवित्र और रोगी मनुष्य की प्रवृत्ति कभी स्वच्छ नहीं रहती। उनमें क्रोध, ईर्ष्या आदि की उत्पत्ति हो जाती है। इससे विभिन्न वासनाएँ भड़क उठती हैं। फिर मनुष्य अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण नहीं रख पाता।

जब असंयम का अधिकार बढ़ता है तब दुष्कर्मों की वृद्धि होती है। सुख की कामना से की गई सेवा भोग में परिवर्तित हो जाती है तब साधक में अहंकार जागृत होता है। सत्य का लोप हो जाता है, पाप-वृत्तियाँ अपना पंजा कठोर करती हुई उसे बुरी तरह जकड़ लेती हैं।

स्थूल शरीर की इच्छाएँ मनुष्य के धर्म का अपहरण कर लेती हैं, उस समय अन्याय और दुराचार का बोलबाला होता है। यदि अपने मन पर नियन्त्रण नहीं हो तो सेवा, कुसेवा बन जायेगी और जीवन की सुख-शान्ति का लोप हो जायेगा।

मन शुद्ध हो तो अपने पराये में भेद नहीं रहता। वस्तुओं का लोभ नष्ट हो जाता है, पुत्र, पत्नी आदि का मोह भी मिट जाता है, फिर सत् को अपनाना और शुद्ध संकल्पों में लीन रहना साधक के अभ्यास में आ जाता है। उसमें कर्तव्य-परायणता का उदय होता है और विषमता मिट जाती है। भेदभाव दूर होकर परमतत्व के अस्तित्व का बोध होता है।

अहं का शोधन होने पर मानापमान की चिन्ता नहीं रहती, असत्य से मोह मिट जाता है, अनित्य वस्तुओं के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो जाती है और राग-द्वेष, तेरा-मेरा का झंझट समाप्त हो जाता है। जीवन में निर्विकल्पता का आविर्भाव हो जाता है।

सेवा द्वारा सुखोपभोग की आसक्ति समाप्त हो जाती है अतः सब प्राणियों में परमात्मा की स्थिति मानते हुए जो तुम्हारी सेवा चाहे, उसी की सेवा करो। सबको अपना स्वरूप मान कर सेवा कार्य में लग जाओ, परन्तु देश, काल और पात्र का विचार कर सेवा करनी चाहिए।

बालक, वृद्ध और रोगी मनुष्यों को संकट में पड़ा देखकर उनकी उपेक्षा न करो। दुःखी व्यक्तियों का

दुःख दूर करना मनुष्य का परम कर्तव्य है । जिन्हें तुम्हारी सेवा की आवश्यकता नहीं, उनकी सेवा करने से कोई लाभ नहीं है ।

सेवा के लिए कोई निश्चित स्थान नहीं होता । उसके लिए किसी दिखावे की भी आवश्यकता नहीं है । सच्चा सेवक वही है जो बिना प्रदर्शन अपना कार्य करता रहे । सेवा कार्य किसी से प्रशंसा प्राप्त करने के लिए नहीं बल्कि अपना कर्तव्य समझ कर किया जाता है ।

सेवा कार्य में जब बाधा पड़े, आलस्य के कारण कार्य न होता हो, मन में विश्राम करने की इच्छा उत्पन्न हुई हो, तब समझना चाहिए कि यह वासनात्मक शरीर की इच्छा है । इनकी पूर्ति अपने कर्तव्य से गिर जाने के समान होगी और उससे शरीर में प्रमादादि अवगुण बढ़ते जायेंगे ।

स्थूल देह का पक्ष मत लो ।'शरीर तुम्हारा वाहन है, तुम शरीर के वाहन नहीं हो । इसलिए उसका उपयोग अपनी विवेक पूर्ण बुद्धि के द्वारा करो । उसे मिथ्या मार्ग पर चलने से रोको । परन्तु, इसकी अनिवार्य आवश्यकताओं की उपेक्षा भी मत करो, अन्यथा शरीर की शक्ति निर्बल हो जायेगी और वह तुम्हारा साथ देने मे समर्थ न रह सकेगा ।

सेवा के मार्ग में आने वाले विघ्नों की परवाह न करो, उन्हें धकेलते हुए बढ़े चले जाओ । उस समय अपने दुःख को दुःख मानकर दुःखियों की सेवा को ही अपना सुख समझो । तुम्हारे जिस सुख में किसी दूसरे का अहित छिपा हो, उस सुख का त्याग कर देना सच्ची सेवा है ।

सेवा के बदले में धन या सम्मान की इच्छा वाला सेवक अपनी सेवा का विक्रय करता है और यह सेवा-विक्रय वह जघन्य कर्म है, जिससे सद्‌गुणों का लोप हो जाना सम्भव है । सेवक का कर्म तो सेवा है, मान-अपमान का उसे कोई भय नहीं होता । जिसका मन यह समझे कि मैं अपना कर्तव्य ही कर रहा हूँ अथवा मैं अपने मार्ग से विचलित नहीं हुआ हूँ तो दूसरे लोग चाहे उसकी निन्दा ही करें, सेवक का उससे कोई अनिष्ट नहीं होगा ।

जो व्यक्ति सत्य मार्ग से हटकर सेवा का आडम्बर करते है, वे अपने भ्रमपूर्ण विचारों के कारण सेवा का यथार्थ भाव नहीं समझ पाते, स्वार्थ भाव से की जाने वाली सेवा सेवक के लिए अपमान का कारण होती है और उससे उसका कोई आत्मिक लाभ भी नहीं होता ।

साधक की साधना का प्रारम्भ सेवा से होता है, आगे चल कर त्यागी बन जाता और अन्त सिद्धि को प्राप्त होकर परमात्मा में मिल जाता है, परन्तु प्रपंची सेवक प्रारम्भ में स्वामी फिर रागी और अन्त में मोह को प्राप्त होकर संसार सिन्धु में डूब जाता है ।

सच्ची सेवा वह है जो संसार के आसक्ति पूर्ण सम्बन्धों को समाप्त कर देती है, इसलिए किसी को अपना मान कर सेवा न करो, बल्कि सेवा को कर्तव्य मान कर अपने और पराये सभी की सेवा करो । परमात्मा के अंश भूत होने के नाते सब प्राणियों को अपना समझना ही सद्‌बुद्धि है ।

अपने जिस दुःख से दूसरों का हित होता हो, उसे सहन कर लो । अनेक साधु, सन्तों, ऋषियों और महापुरुषों ने परहित पर अपने प्राण तक न्यौछावर कर दिए । यह देह नाशवान है, किसी न किसी दिन इसका अन्त तो होना ही है, इसलिए दूसरों के हित में इसका उपयोग होता हो तो उससे अधिक पुण्य और क्या होगा ?

सांसारिक मनुष्य जब किसी से मिलते हैं तो वे कुछ प्राप्त होने की आशा से ही मिलते हैं । जहाँ मिलते हैं, वहाँ उन्हें कुछ पाने की आशा नहीं होती, तो वे वहाँ नहीं जाते । परन्तु, सेवा-भावी व्यक्ति जब किसी से मिलता है तो वह यही सोच कर मिलता है कि 'मुझे सेवा करने का भी एक अवसर मिला है, क्या मैं इसे कुछ दे सकता हूँ ?' क्योंकि देने की वृत्ति उसके स्वभाव में आ गई होती है ।

यदि वह किसी को धन देने में समर्थ नहीं है तो इससे सेवा का महत्व तो कम नहीं हो जायेगा । वह धन नहीं दे पाता तो श्रेष्ठ विचार तो दे ही सकता है । उसके द्वारा जो सेवा-कार्य होता है, वह बड़े से बड़े धन-दान की अपेक्षा श्रेष्ठ है ।

सेवा व्रती का कर्तव्य है कि वह छोटी-छोटी सेवाओं द्वारा भी प्राणियो का बहुत उपकार कर सकता है और कुछ नहीं तो सद्‌भावना के दो शब्द भी कभी-कभी मनुष्य को धैर्य प्रदान करते है और उससे अत्यन्त हित-साधन होता है ।

कोई भावुक व्यक्ति अपने जीवन से निराश होकर आपके पास आकर अपने भावों को व्यक्त करे तो उस समय आपके सान्त्वना भरे दो शब्द ही उसे आत्म-हत्या करने से रोक सकते हैं । विचार कीजिए कि आपके वह दो शब्द क्या किसी बहुत बड़े सम्पत्तिदान से कुछ कम महत्त्व रखते हैं । जीवन से निराश हुए मनुष्य की प्राण-रक्षा में योग देना एक बहुत बड़ी सेवा है । इससे कौन इन्कार कर सकता है ?

## सेवा मनुष्य का आवश्यक धर्म कर्तव्य

परमात्मा ने मनुष्य को संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी बनाया है । काम करने लायक समर्थ शरीर, सोचने समझने के लिए विचारशील बुद्धि, एक दूसरे से सम्पर्क करने तथा अपने भाव और विचार दूसरों तक पहुँचाने के लिए वाणी प्रदान की है । यदि एक-एक विशेषताओं को देखें तो संसार का कोई प्राणी उसकी तुलना का नही बैठता । बौद्धिक प्रतिभा के द्वारा मनुष्य ने उन्नत सभ्यता और संस्कृति का निर्माण किया, जबकि अन्य प्राणी भोजन और प्रजनन से आगे नही बढ़ सके । उसे जो वाणी मिली है, जिसके द्वारा वह अपने सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव भी दूसरों तक सम्प्रेषित कर सकता है । वैसी क्षमता दूसरे प्राणियों में कहाँ ? ऐसी ही अगणित विशेषताएँ, विभूतियाँ मनुष्य को उपलब्ध हैं । वह प्रकृति की सम्पदा का भरपूर उपयोग कर सकता है, दूसरे प्राणियों को वैसी सुविधा नहीं है ।

इतनी विशेषताओं को देखकर लगता है कि परमात्मा ने मनुष्य के साथ पक्षपात किया हो । मात्र अधिकारों को ही देखा जाय तो यही धारणा बनती है लेकिन गहराई से विचार किया जाय तो समझ में आता है कि विशेष अधिकारों के साथ विशेष कर्तव्य भी जुड़े होते हैं । एक बैंक मैनेजर और एक चपरासी को बैंक से मिलने वाली सुविधाओ में जो अन्तर है वह उत्तरदायित्व की गम्भीरता और विशेषता के कारण ही है । परमात्मा की ओर से मनुष्य को जो अतिरिक्त अनुदान मिले हैं वह पक्षपात नहीं है और न ही अन्य जीवों के साथ अन्धेर अन्याय । उसे जो विशेष सुविधाएँ मिली हैं, वे इसलिए कि मनुष्य उनकी सहायता से अधिक काम कर सके । जिस दायित्व की पूर्ति को सरल साध्य बनाने के लिए मनुष्य को यह सुविधाएँ मिली हैं वह दायित्व है परमात्मा के इस विश्व उद्यान को सुन्दर बनाना ।

घर में पिता अपने जवान और समझदार बड़े बेटे को घर की विशेष जिम्मेदारियाँ सौंपता है तो उसे दूसरों की अपेक्षा अधिक अधिकार-अनुदान भी देता है । ऐसा करना उचित भी है और आवश्यक भी । परमात्मा ने अन्य जीवों की तुलना में मनुष्य को अपना वरिष्ठ पुत्र मानकर विशेष अनुदान दिए हैं । उद्देश्य यही है कि जब वह अपने विशेष उत्तरदायित्व पूरे करने के लिए आगे आये तो उन्हें सँभाल भी सके, पूरा कर सके ।

किन्तु देखा यह जाता है कि मनुष्य अनेक साधन, अनुदान पाकर भी अपने वरिष्ठ पुत्र के उत्तरदायित्व पूरे नहीं कर पाता । क्यों ? क्योंकि वह उनका ठीक-ठीक उपयोग ही नहीं करता । वह मोह ग्रस्त होकर सोचने लगता है कि जो विभूतियाँ मिली हैं, उन्हें अपने व्यक्तिगत स्वार्थ पूरे करने के लिए ही प्रयुक्त करें । विश्व उद्यान को हरा-भरा रखने, जन-कल्याण में उन्हें लगाने से वह कतराता है अपने लिए ही सुरक्षित रखने की सोचता है । यह मोहग्रस्त, अज्ञानग्रस्त स्थिति होती है । वह यह तथ्य भूल जाता है कि इस सृष्टि में ऐसी व्यवस्था है कि देने का क्रम अपनाये बिना प्रगति सम्भव नहीं है । सृष्टि का प्रत्येक घटक बिना किसी प्रतिदान का आशा अपेक्षा किए अपने पास की उपलब्ध विभूतियाँ लुटाता रहता है । बादल धरती को पानी देता है, धरती प्राणियों को आहार देती है, पवन जीवों को श्वास लेने के लिए अपने को समर्पित करता है, पेड़-पौधे फल और फूल देते हैं । कहने का अर्थ यह कि जीव-जन्तु से लेकर वृक्ष वनस्पति तक कुछ न कुछ देते रहते हैं ।

मनुष्य को भी इस परम्परा का निर्वाह करना चाहिए तब वह इस संसार का, सृष्टि समाज का, वसुधा परिवार का सम्मानित और ईमानदार सदस्य बना रह सकता है । सेवा धर्म इस दृष्टि से भी अनिवार्य है कि मनुष्य के पास जो कुछ है वह समाज के दूसरे सदस्यों तथा अन्य प्राणियों का भारी उपकार स्वरूप है । मनुष्य जो कुछ भी प्राप्त करता है उसे जुटाने में समाज का भारी योगदान रहता है यदि वह न रहे

तो एकाकी मनुष्य पेट भरने और तन ढकने की आवश्यकता भी शायद ही पूरी कर पाये । बुद्धि तो उसमें बहुत है पर शरीर इतना अशक्त है कि वह बिना दूसरों के सहयोग के अपनी बढ़ी-चढ़ी इच्छाओं की पूर्ति किसी भी प्रकार नहीं कर सकता । इस दृष्टि से मनुष्य अन्य जीवों की तुलना में काफी पिछड़ा हुआ है ।

गाय, हिरण, लोमड़ी, खरगोश आदि के बच्चे जन्म लेने के कुछ ही देर बाद अपने पाँवों पर खड़े हो जाते हैं । माता को दूध अपने प्रयत्नों से पीने लगते है और कुछ ही दिनों में चल फिर कर घास आदि ढूँढ़ने और पेट भरने लगते हैं । मनुष्य के बच्चे में यह योग्यता बहुत वर्ष बीतने पर भी नहीं आती । माता दूध न पिलाये तो वह भूखा ही मर जायेगा । अपने पुरुषार्थ से माता को या उसके स्तन को ढूँढ़ने में समर्थ न होगा, सोने, खाने, नहाने, मल-मूत्र विसर्जन जैसे छोटे कामों के लिए भी बहुत दिनों तक उसे अपने अभिभावकों पर निर्भर रहना होता है । अपने पैरों पर खड़े होने की, अपना गुजारा आप करने की योग्यता तो कहीं पन्द्रह सोलह वर्षों में आती है ।

आजीवन साथ रहने के लिए प्रस्तुत सुयोग्य पत्नी, मनुष्य की अपनी उपार्जन नहीं होती । माँ-बाप उस लड़की को सुयोग्य बनाते और उदारतापूर्वक ब्याह कर देते है । यह सामाजिक योगदान है । अन्य प्राणी कामोद्देश्य के लिए क्षणिक दाम्पत्य-जीवन बनाते और बिछुड़ जाते है । मनुष्य को जो सुव्यवस्थित दाम्पत्य-जीवन मिला है उसमें समाज का अनुग्रह ही मुख्य है । भोजन के लिए अन्न, पहनने के लिए वस्त्र, निवास के लिए घर, शिक्षा के लिए विद्यालय, आजीविका के लिए उद्योग, यात्रा के लिए वाहन, बीमारी में दवा क्या यह सब उपलब्धियाँ मनुष्य की निजी कमाई हैं ? यदि समाज का सहयोग प्राप्त न होता तो कितना ही परिश्रम करके हम उस स्तर की चीजें प्राप्त नहीं कर सकते थे ।

लेकिन हमें समाज के इस अनुदान का महत्त्व अनुभव नही होता, क्योंकि वह सहज उपलब्ध है । सहज सुलभ वस्तु का मूल्य तब तक नहीं मालूम होता जब तक कि हम उससे विलग नहीं हो जाते । सूर्य का प्रकाश, वायु, जल आदि हमें इतनी मात्रा में उपलब्ध है कि हम उनके द्वारा लाभ उठाते रहते है फिर भी कुछ विशेष अनुभव नहीं करते हैं, किन्तु कभी ऐसी स्थिति आ जाय कि हम उनसे वंचित हो जायें तब इनके महत्त्व का पता चलेगा । समाज के अनुदानों को अनुभव करने का भी यही कारण है । सहज सुलभ होने के कारण उस ओर किसी का ध्यान नहीं जाता । पानी में रहने वाली मछली को पानी की महत्ता तब मालूम होती है जब वह जाल में फँसकर पानी से अलग हो जाती है । ठीक यही तथ्य मनुष्य तथा समाज के बीच भी लागू होता है । मनुष्य यदि समाज से विलग कर दिया जाय तो उसे पशुओं से भी गया गुजरा जीवन जीना पड़ेगा ।

एक मनुष्य पर समाज का कितना ऋण है यह सही-सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता है । कुछ एक बातों के लिए ही हम विचार करें तो पता चलेगा कि समाज का यह ऋण भी इतना भारी है कि उसे चुकाने के लिए कितने ही जन्म लेने पड़ेंगे । जो भोजन हम खाते है, जो वस्त्र हम पहनते है, जो पुस्तकें हम पढ़ते हैं तथा नित्यप्रति के जीवन में जिन वस्तुओं का उपयोग हम करते हैं उसमें कितने ही मनुष्यों का श्रम व सहयोग लगा हुआ है । एक माचिस की डिब्बी दस-बारह पैसे में मिलती है जिससे पचास बार आग जलाई जा सकती है । दस-बारह पैसे में मुश्किल से पाँच या दस मिनट लगते होंगे लेकिन वही डिब्बी हम पूरा दिन लगाकर भी नही बना सकते । विचार किया जाना चाहिए कि एक माचिस की डिबिया के लिए ही हम समाज के कितने ऋणी है । मनुष्य ने विभिन्न क्षेत्रों मे जो प्रगति की है, जो असाधारण लाभ उठाए है तथा जिनके बल पर मनुष्य सृष्टि का मुकुटमणि बना हुआ है, वह समाज का ही अनुदान है । निजी पुरुषार्थ तो उन उपलब्धियों मे नगण्य ही समझा जाना चाहिए ।

जिस समाज का इतना उपकार और अनुदान लेकर मनुष्य सुख सुविधाएँ प्राप्त करता है, उसका वह ऋणी है । इस ऋण को चुकाना कृतज्ञता की, प्रत्युपकार की और सामाजिक शृंखला की परम्परा बनाये रखने की दृष्टि से नितान्त आवश्यक है । यदि लोग समाज के कोष से लेते तो रहें पर उसका भण्डार भरने की बात न सोचे तो वह सामूहिक कोष खाली हो जायेगा । समाज खोखला और दुर्बल हो जायेगा उसमे व्यक्तियों की सुविधा बढाने एवं सहायता करने की क्षमता न

रहेगी फलतः मानवीय प्रगति का पथ अवरुद्ध हो जायेगा । "प्राप्त तो करें पर लौटाएँ नहीं" की नीति अपना ली जाय तो बैंक दिवालिए हो जायेंगे, सरकार खोखली रह जायेगी, जमीन का उपार्जन बन्द हो जायेगा, व्यापार की शृंखला ही बिगड़ जायेगी । इस संसार में 'लो और दो' की नीति पर सारी व्यवस्था चल रही है । 'लो' के लिए तैयार, 'दो' के लिए इन्कार, की परम्परा यदि चल पड़े तो सारा क्रम ही उलट जायेगा, तब हमें असामाजिक आदिम युग की ओर वापस लौटना पड़ेगा ।

आधा भाग मनुष्य की बुद्धि और श्रमशीलता का और आधा भाग सामाजिक अनुदान का माना गया है । तदनुसार तत्वदर्शियों ने यह व्यवस्था बनाई है कि उसे अपनी जीवन सम्पदा का आधा भाग अपनी शरीर यात्रा के लिए रखना चाहिए और आधा सामाजिक उत्कर्ष के लिए लगा देना चाहिए । दूसरे शब्दों में इसे सेवा धर्म की प्रेरणा भी कहा जा सकता है । मनुष्य को ईश्वर ने इतनी विभूतियाँ दीं, इतने विशेष अधिकार दिये उनके साथ जुड़े हुए दायित्वों की पूर्ति सेवा धर्म अंगीकार करने से ही सम्भव है । समाज का जो इतना भारी ऋण उसके ऊपर है उससे आंशिक मुक्त भी सेवा धर्म अपनाने से प्राप्त की जा सकती है ।

सेवा, जीवन का उत्कृष्ट और पूर्ण बनाने का एक महत्त्वपूर्ण साधन भी है, ऐसे मनुष्यों का समाज में सर्वथा अभाव नहीं है जिन्होंने अपनी प्रतिभा, पुरुषार्थ, प्रयत्न एवं प्रारब्ध को सांसारिक सुख उपलब्ध कर लिए हैं । स्वास्थ्य, सन्तान, सामाजिक प्रतिष्ठा, सम्पन्न परिवार, विद्वता आदि उपलब्धियों से सम्पन्न व्यक्ति काफी संख्या में मिल सकते हैं जिन्हें पर्याप्त मात्रा में भौतिक सुख सुविधाएँ प्राप्त है ।

किन्तु ऐसे सुखियों से भी यदि सच्चाई के साथ बतलाने का अनुरोध किया जाय तो निश्चित ही वे यही कहेंगे कि उन्हें दुःख तो अवश्य नहीं है फिर भी इस सुख में एक अभाव एक अतृप्ति खटकती रहती है । कुछ ऐसा अनुभव होता रहता है जैसे हमें वह सुख तृप्ति नहीं मिल रही है, जो मिलनी चाहिए और मिल भी सकती है । इस अभाव, इस खटक और इस अतृप्ति का कारण खोजने पर भी नहीं मिलती है ।

निःसन्देह इस प्रकार की एक अतृप्ति बड़े से बड़े सुखी व्यक्ति में रहा करती है । यह अभाव, अतृप्ति उसकी आत्मा की माँग होती है जो पूरी नहीं की जाती । संसार के सारे सुख इन्द्रिय जन्य शारीरिक ही होते हैं । शरीर का अंश न होने से आत्मा की तृप्ति उससे नहीं होती । आत्मा की यही अतृप्ति सुखी व्यक्ति को भी अभाव बनकर खटकती है ।

शरीर को जहाँ भौतिक सुविधाओं और साधनों का सुख मिलता है । वहीं आत्मा को परमार्थ में सुखानुभूति होती है । जब तक परमार्थ द्वारा आत्मा को सन्तुष्ट न किया जायेगा, उसकी माँग पूरी न की जायेगी तब तक सब सुख-सुविधाएँ होते हुए भी मनुष्य को एक अभाव, एक अतृप्ति-व्यग्र करती ही रहेगी । शरीर अथवा मन को सन्तुष्ट कर लेना भर ही वास्तव मे सुख नहीं है वास्तविक सुख है—आत्मा को सन्तुष्ट करना उसे प्रसन्न करना ।

आत्मा को सुख का अनुभव, आनन्द की अनुभूति का एक मात्र साधन है परमार्थ । परमार्थ का व्यावहारिक स्वरूप है सेवा । जो काम उच्च और उज्ज्वल उद्देश्य की पूर्ति के लिए किए जाते हैं वे परमार्थ हैं । जिन कार्यों से आत्मा का विकास सधता हो, वह परमार्थ है । यद्यपि परमार्थ का क्षेत्र बहुत विस्तृत है पर सामान्यतः उसका सर्व सुलभ रूप किसी न किसी रूप में दूसरों की सेवा ही माना जाता है । इसलिए सेवा भावी का जीवन ही सफल और सार्थक कहा जाता है ।

सेवा कार्यों से केवल दूसरों का ही हित होता हो अपना कुछ भी भला न होता हो यह सोचना भ्रान्तिपूर्ण है । आत्मिक सन्तोष, प्रफुल्लता और सद्भावनाओं के अनेक गुण अपने व्यक्तित्व में विकसित होते हैं । आत्मसन्तोष के रूप में आध्यात्मिक उपलब्धि तो होती ही है सद्गुणों का विकास होने पर कई प्रत्यक्ष लाभ भी होते हैं । व्यक्तित्व ही मनुष्य की मूल सम्पदा है । भौतिक सफलताएँ भी उन्हीं के द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं । सेवाभावी अनिवार्य रूप से उदार, दयालु, सहिष्णु, मृदुभाषी और करुणावान होगा । सेवा करते समय कुछ न कुछ त्याग भी करना ही पड़ता है । सेवा करने का मन हुआ, कुछ खर्च करना पड़ा तो उदारता का भाव उदय हुआ । निस्वार्थ भाव से सेवा करते समय कुछ लोग टीका टिप्पणी भी करते

हैं, तो उन्हें सहन भी करना पड़ता है । इस प्रकार सेवा के विभिन्न चरणों की साधना करते हुए कई सद्‌गुणों का प्रादुर्भाव और विकास होता है । जिनके कारण मनुष्य अन्य सामान्य लोगों की अपेक्षा द्रुतगति से सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ते चले जाते हैं, क्योंकि उन्हें अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक सहयोग सद्‌भाव मिलता है । व्यक्तित्व में महानता भी सेवाधर्म अपनाने से ही आती है । महापुरुष जितने भी हुए हैं उन्होंने दूसरों का सहयोग सद्‌भाव सेवा के मूल्य पर ही प्राप्त किया है । महात्मा गाँधी अपने अत्यन्त व्यस्त कार्यक्रमों में भी सेवा का अवसर निकाल ही लेते थे और उनकी सेवा निष्ठा ने ही उन्हें मोहन दास कर्मचन्द गाँधी से महात्मा गाँधी के स्तर तक पहुँचाया ।

सेवा साधना द्वारा जहाँ व्यक्तित्व का विकास होता है वहीं उसे आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति भी होने लगती है । समस्त आध्यात्म साधनाओं का मूल उद्देश्य जीव को ब्रह्म तक पहुँचाना, आत्मा को परमात्मा में विलीन करना और भक्त को भगवान से मिलाना है । सेवा द्वारा व्यक्ति जब सबमें अपनी आत्मा को ही देखने का अभ्यास कर लेता है तो अपनी आध्यात्मिक मंजिल के निकट पहुँच जाता है । गीता ने तो सब प्राणियों के हित में लगे रहने वाले को सर्वश्रेष्ठ योगी की संज्ञा दी है और सेवा को योगी का प्रमुख लक्षण माना है—'सर्वभूत हिते रता' यह भी कहा गया है कि सबमें अपनी आत्मा का दर्शन करते हुए योगी को सबसे उतना ही प्रेम करना चाहिए । जितना कि सर्व साधारण अपने से करते हैं—

आत्मानं सर्व भूतेषु सर्व भूतानिचात्मनि ।
ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

अर्थात्—योगी सबमें अपनी ही आत्मा संव्याप्त देखता है । सबको आत्मा से सम्बद्ध देखता है अतः समदर्शी होता है ।

योगी की यह सिद्धि, आत्मा का यह विकास सेवा और केवल सेवा साधना से ही सम्भव है । दूसरों के प्रति आत्मीयता बरतने, स्नेह व्यक्त करने और अपनी जिम्मेदारियों का पालन करने से जो सन्तोष अनुभव होता है, वह इसी कारण कि तब हम अपनी आत्मा का विस्तार कर रहे होते हैं । स्नेह सौजन्य से भावनात्मक सम्बन्ध कर भले ही आनन्दित हुआ जाय पर उसकी अनुभूति आत्मा को होती है—स्व के विस्तार से । मनुष्य की आत्मा अपने क्षुद्र अहं के सीमित दायरे में बँधे रहना नहीं चाहती । जब भी कभी ऐसा अवसर आता है जिसमें आत्मा अपनी चेतना को विस्तीर्ण हुआ अनुभव करती है तो आत्मिक आनन्द की अनुभूति होती है । सेवा भावना द्वारा उस आनन्द को स्थायी बनाया जा सकता है । इसलिए महापुरुषों, मनीषियों और सन्तों ने सेवा धर्म को सर्वोपरि धर्म और आध्यात्मिक साधन बताया है ।

महर्षि व्यास ने महाभारत में कहा है—

*'जीवितं सफलं तस्य यः परार्थोद्यतः सदा'*—'उसी का जीवन सफल है जो सेवा में परोपकार में प्रवृत्त रहता है ।' सेवा अपने आप में जीवन की बहुत बड़ी साधना है जो मनुष्य को क्रमशः उसके लक्ष्य तक पहुँचा देती है । पाश्चात्य विद्वान विक्टर ह्यूगो ने लिखा है—"हम परोपकार के लिए जितना अपने आपको लुटाते हैं उतना ही हमारा हृदय भरता जाता है ।" परमार्थ साधना से मनुष्य की चेतना असाधारण रूप से विकसित हो जाती है और वह महान बन जाता है, जिससे जीवन में अपार और अनन्त आनन्द का लाभ प्राप्त होता है, जो परमार्थ में लीन है उनके लिए संसार में कुछ भी तो दुर्लभ नहीं है ।

पर हित बस जिनके मन माहीं ।
तिन कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥

इतना ही नहीं सन्त तुलसीदास ने यहाँ तक कह दिया है—"पर हित सरिस धर्म नहि भाई ।" परमार्थ के समान संसार में कोई धर्म नहीं है । "परोपकार. पुण्याय" परोपकार ही पुण्य का जनक है ।

जो परमार्थ में लीन है, मनसा, वाचा, कर्मणा से परोपकार में जिनका जीवन लगा हुआ है, वे ही सज्जन, सन्त महात्मा हैं—

पर उपकार बचन मन काया ।
सन्त सहज सुभाव खगराया ॥

सज्जनों की पहचान भी यही है उनका जीवन परमार्थ मय होता है ।

सेवा साधना सभी दृष्टि से मनुष्य मात्र के लिए आवश्यक है । नैतिक, सामाजिक, भौतिक और आत्मिक उन्नति के लिए सेवा मार्ग अपनाना मनुष्य मात्र का

धर्म कर्तव्य है । इसकी आवश्यकता भी हर कोई अनुभव करता है, महत्त्व भी सभी समझते हैं और सेवा करने के भाव भी समय-समय पर हृदय में उठते रहते हैं । फिर भी अधिकांश लोग सेवा मार्ग पर आरूढ़ होने के लिए प्रयत्न नहीं करते । इसके अनेकों कारण हो सकते हैं पर सबसे मुख्य कारण स्वार्थ लिप्सा की पूर्ति में ही लगे रहना है ।

आवश्यकता इस बात की है कि हमारा जीवन, हमारे प्रत्येक कर्म-कलापों का आधार व्यक्तिगत न होकर समष्टिगत होना चाहिए । आजकल अधिकांश मनुष्यों की मुख्य प्रवृत्तियाँ धनोपार्जन करने, समाज में प्रतिष्ठित उच्च स्थान प्राप्त करने, सुखोपभोग करने तथा शक्तिशाली और सामर्थ्यवान बनने की दिशा में अग्रसर हैं, प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी रूप में इन्हीं बातों में लगा रहता है । उसके जीवन की गतिविधियाँ बाह्य जगत में इन्हीं तथ्यों पर आधारित हैं । जबकि होना यह चाहिए कि मनुष्य अर्थ और सामग्री का संचय स्वयं के उपभोग अथवा संग्रह के लिए न करके सदुपयोग के लिए करे । उसका आधार सेवा-पुण्य परमार्थ हो । आम्रवृक्ष कुछ ही व्यक्तियों से श्रम सेवा और पोषण सामग्री प्राप्त करता है किन्तु जो कुछ भी वह अर्जित करता है उसे जन-जन के लिए लुटा देता है । मिली विभूतियों के सदुपयोग का भी यही आधार होना चाहिए ।

किसी क्षेत्र में शक्ति सामर्थ्य अर्जित करके मिला हुआ उच्च पद या प्रतिष्ठा बुरी नहीं है । जीवन के सर्वांगीण विकास में इनकी आवश्यकता भी है, किन्तु शक्ति, सामर्थ्य, पद तथा सत्ता का उपयोग गिरे हुओं को उठाने के लिए, जीवन रथ में अटके हुओं को निकाल कर आगे बढ़ाने और आगे वालों को सहारा देने में हो तभी इनकी सार्थकता है । दीपावली मनाई जाती है, घर-घर दिए जलाये जाते हैं, प्रत्येक व्यक्ति दीपक जला सकता है । कदाचित् कोई नहीं जला पावे तो गृह-वधुएँ पड़ौस में घर-घर दीपक रखती हैं । कोई घर दीपोत्सव से, दीपावली से वंचित न रहे । यही आदर्श हमारे आत्मोपभोग का भी होना चाहिए ।

सेवा प्रत्येक व्यक्ति का आवश्यक धर्म कर्तव्य है । प्रत्येक को उसे अपनाना चाहिए । मनस्वी और विचारशील व्यक्ति इस पथ का अवलम्बन कर अपना जीवन भी धन्य बना लेते हैं और सामाजिक उत्कर्ष का पथ भी प्रशस्त करते हैं । बहुत से व्यक्ति उन महापुरुषों के आदर्श को सामने रखकर अपना सारा जीवन सेवा परायण बनाने की जीवन नीति बनाते हैं पर सफलतापूर्वक उस नीति को कम ही क्रियान्वित कर पाते हैं । जो सफल नहीं हो पाते उनमें से सभी की निष्ठा अपरिपक्व या स्वार्थ पर आधारित नहीं होती बल्कि इस साधना की सूक्ष्म बातों से अनभिज्ञता ही उन्हें सेवा मार्ग से विचलित कर देती है ।

लोक सेवी समाज का सर्वाधिक हितैषी और सर्वाधिक प्रमुख अंग होता है । लेकिन तब जबकि वह अपना सेवा कार्य निर्बाध और निर्दोष रूप से जारी रख सके । जिस प्रकार के कवि की साधना अलग है, एक कलाकार अलग ढंग से कला की उपासना करता है, एक वैज्ञानिक दूसरे ढंग से विज्ञान की खोज करता है । सब समाज का काम कर रहे हैं लेकिन पद्धति और मार्ग में काफी अन्तर है । लोक सेवी भी समाज का अंग है और प्रमुख अंग है, वह भी समाज के लिए समर्पित जीवन जीता है पर उसकी साधना में भी कुछ विशिष्ट बातें होती हैं, जिनका ध्यान रखना पड़ता है, अवरोध होते हैं जिन्हें दूर करना पड़ता है । कार्य-पद्धति होती है जिसे अपनाना होता है और रहन-सहन तथा आचार-विचार होते हैं जिन्हें साधना होता है ।

सेवा धर्म में महत्त्व प्रतिपादन और आवश्यकता की चर्चा कई स्थानों पर की जाती है, जिससे प्रभावित होकर लोगों में उस मार्ग पर प्रवृत्त होने की उमंग उठती है । कुछ लोग उस दिशा में प्रवृत्त भी होते हैं, पर प्रायः देखा गया है कि अधिकांश उस पथ पर अधिक समय तक नहीं चल पाते, क्योंकि सेवा धर्म की बारीकियाँ समझी हुई नहीं रहतीं और न यही मालूम रहता है कि उसके लिए क्या-क्या तैयारियाँ की जानी चाहिए । सेवा धर्म का समग्र रूप जीवन साधना है । उसके लिए लोक सेवियों को अपना दृष्टिकोण तदनुरूप बनाने से लेकर अपने आचार-विचार और रहन-सहन को भी सेवा धर्म के अनुरूप ढालना पड़ता है । साथ ही उन बाधाओं की भी जानकारी रखनी पड़ती है जो लोक सेवी को दिग्भ्रान्त कर सकती हैं या करती हैं ।

सेवा धर्म के इस स्वरूप पर आज तक कहीं स्पष्ट चर्चा नहीं हो सकी है । किन्हीं विचारकों ने इस विषय पर कुछ चिन्तन भी किया है तो वह अस्पष्ट और अव्यावहारिक सा ही है । यह स्मरण रखा जाना चाहिए कि सेवा धर्म अपनाने के लिए सम्यक तैयारी भी आवश्यक है । सेवा की उपयोगिता आवश्यक समझने के बाद उसके लिए अन्तःकरण में उमंग और उत्साह उठना स्वाभाविक है । वह उत्साह प्रशंसनीय भी है पर सम्यक तैयारी के अभाव में उस ओर समुचित कदम नहीं उठाये जा सकते, न प्रगति ही की जा सकती है ।

## सेवाधर्म की बाधाएँ और भटकाव

सेवा का महत्त्व और जीवन विकास के लिए उसकी अनिवार्य आवश्यकता समझ लेने के बाद सेवा धर्म की उमंग उठना स्वाभाविक है । अधिकांश लोगों में इस तरह की उमंग उठती है वे उस उमंग के अनुरूप सेवा मार्ग में प्रवृत्ति भी होते हैं किन्तु उस पथ पर अधिक समय तक नहीं चल पाते । इसका कारण यह है कि लोक सेवा के प्रति आवश्यक उत्साह और निष्ठा का जागरण नहीं हो पाया । कुछ लोग प्रवृत्त भी होते हैं पर कठिनाइयाँ आती देख कर उसे झमेला समझ कर छोड़ बैठते हैं अथवा असफलता से डर कर चुप बैठ जाते हैं ।

बहुत से कारण हैं जिनसे सेवा मार्ग में सन्तोष-जनक प्रगति नहीं हो पाती । लोग या तो गलत बातों को सही समझ कर विचलित हो जाते हैं अथवा सफलता का अहंकार उन्हें दिग्भ्रान्त कर देता है । इन सब बाधाओं और भटकाव की परिस्थितियों को पहले से जान समझ कर चला जाय तो सेवा धर्म का निर्बाध पालन किया जा सकता है । होता यह भी है कि सेवा धर्म अपना लेने के बाद उसे अपना जीवन लक्ष्य बनाने तथा उसे साधना स्तर पर करने में भूल हो जाती है । वे भूलें स्वभावगत हों अथवा परिस्थितियों के कारण लोक सेवी को उसके साधन पथ से दूर हटाती हैं ।

उन सभी कारणों को ध्यान में रखना और समझना चाहिए जिनके कारण लोक सेवी अपने मार्ग से विचलित हो जाते हैं ? क्या है वे परिस्थितियाँ ? जिनमें लोक सेवी के भटकाव की सम्भावना रहती है । प्रत्येक लोक सेवा के सामने अलग-अलग परिस्थितियाँ आती हैं । उनका स्वरूप भिन्न हो सकता है और प्रायः साधारण-सी परिस्थितियाँ भी कमजोर मनोभूमि के व्यक्तियों को विचलित कर देती हैं । उदाहरण के लिए व्याप्त दुःस्थितियों को देखकर विचारशील व्यक्ति के मन में यह आकांक्षा उठती है कि इन्हें बदला जाय । लोग सोचते हैं कि जन-जीवन में सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ें और लोगों को समझाया जाय कि वे इन दुष्प्रवृत्तियों को छोड़े परन्तु वह देखता है कि लोग अपनी प्रत्यक्ष हानि को देखकर भी इन्हें छोड़ रहे हैं तो वह सोचने लगता है कि मैं यदि इनसे कहूँगा तो ये मेरी क्या सुनेंगे, उल्टे मेरा मजाक उड़ायेंगे ।

यह सोचकर ही अधिकांश लोग सेवा की भावना होते हुए भी उसके लिए कदम नहीं उठाते उन्हें सोचना चाहिए कि प्रत्येक कार्य का अनुकूल-अपेक्षित परिणाम हो ही यह आवश्यक नहीं है । कार्य भी कोई इस उद्देश्य से नहीं किए जाते कि असफलता मिले, पर असफलता की सम्भावना से तो काम रोक नहीं दिया जाता । विद्यार्थी जानता है कि हम फेल भी हो सकते हैं, व्यापारी के लिए भी घाटा होने की सम्भावना हर घड़ी मौजूद रहती है लेकिन इस कारण विद्यार्थी परीक्षा नहीं छोड़ देता और न ही व्यापारी अपने व्यवसाय से हाथ खींच लेता है । सफलता और असफलता दोनों ही सम्भावनाये प्रत्येक कार्य के साथ जुड़ी होती है इसे सब जानते हैं, पर असफलता के डर से कोई निष्क्रिय निश्चेष्ट नहीं हो जाता । यह तो हुई जनसामान्य की बात लोक सेवी का दृष्टिकोण तो जनसामान्य से ऊँचा ही रहना चाहिए । उसे सफलता-असफलता की चिन्ता न करते हुए अपनी सेवा साधना चुपचाप जारी रखनी चाहिए । इस सम्बन्ध में भगवान बुद्ध और उनके शिष्य का प्रसंग बड़ा ही प्रेरणादायक है । भगवान बुद्ध ने अपने उस शिष्य से पूछा—तुम धर्म प्रचार के लिए जा रहे हो, अगर लोगों ने तुम्हारी बातें नहीं सुनी तो ।

शिष्य ने कहा—'मैं उनका कृतज्ञ होऊँगा कि उन्होंने मुझे गाली तो नहीं दी ।' बुद्ध ने आगे पूछा—अगर वे तुम्हें गाली देने लगे तो ? तब शिष्य ने कहा—'मैं फिर भी उनका कृतज्ञ होऊँगा कि उन्होंने मुझे मारा नहीं ।'

बुद्ध शिष्य के निष्ठा की अन्त तक थाह लेना चाहते थे । उन्होंने फिर पूछा 'अगर वे तुम्हें मारने

भी लगें तो ।' तब शिष्य ने कहा—'फिर भी हृदय से उनके प्रति कृतज्ञ होऊँगा कि उन्होंने मेरे प्राण नहीं लिए बुद्ध ने फिर भी पूछा—'यदि वे तुम्हें मार भी डालें तो ।'

तब शिष्य ने कहा—"फिर भी वे मेरा उपकार ही करेंगे कि मुझे इस दुःखमय संसार से उन्होंने त्राण दिला दिया ।" इस स्तर की निष्ठा का विकास ही सेवा धर्म को अंगीकार करने में सफल बना सकता है । प्राचीनकाल से अब तक के इतिहास में जितने भी लोक सेवी हुए हैं उन्होंने निष्ठा को सान पर चढ़ाया और उसे चमकाया प्रखर बनाया है । लोक सेवियों में निष्ठा का सर्वथा अभाव होता हो ऐसा बात भी नहीं है । निष्ठा न होती तो वे सेवा के क्षेत्र में आते ही क्यों ? परन्तु प्रश्न निष्ठा का नहीं प्रश्न है निष्ठा की प्रखरता का । कई परिस्थितियाँ ऐसी भी आती हैं । जिनमें दुर्बल निष्ठा वाले व्यक्ति सेवा धर्म को कष्ट साध्य या दुःसाहस समझ कर बीच में ही छोड़ देते हैं ।

उदाहरण के लिए प्रारम्भिक असफलताओं को ही लें । बहुत से लोग प्रारम्भिक असफलताओं के कारण सेवा धर्म से विमुख हो जाते हैं । जबकि यही असफलताएँ यदि जीवन के अन्य क्षेत्रों में आये तो उनकी कार्यविधि मे कोई अन्तर नहीं आता न वे रुकते ही हैं । फिर सेवा में मिलने वाली असफलता से ही असन्तोष क्यों । यदि कार्य को ही अपना जीवन ध्येय बिना लिया जाय और सफलता असफलता की चिन्ता न की जाय तो सेवा मार्ग पर निर्बाध बढ़ते रहा जा सकता है । सफलता और असफलता प्रत्येक कार्य के दो पहलू हैं और उनमें से कोई सा भी पहलू सामने पड़ सकता है । महापुरुषों को अपने जीवन काल मे शायद ही आशाजनक सफलता मिल सकी हो । महात्मा ईसा ने चालीस वर्ष तक धर्म का प्रचार किया और इस पूरे समय मे अनेक केवल १२ शिष्य भी ऐसे बने कि उनमें से एक ने तो ईसा को पकड़वाने के लिए-उन्हे गिरफ्तार कराने के लिए पैसे ले लिए तथा उन्हें पकड़वा दिया और उन्हें सूली हो गई । बाकी शिष्यों ने भी अन्य समय मे ईसा का साथ छोड़ दिया । यदि ईसा अपने जीवन-काल में इन असफलताओ या नाम-मात्र की सफलता को देखकर हतोत्साहित हो जाते तो ईसाई धर्म शायद ही आज संसार का प्रमुख धर्म हो पाता ।

असन्तुलन भी सेवा धर्म की एक बड़ी बाधा है । अपेक्षित सफलता न मिलने के कारण व्यग्रता और खीझ तो होती ही है कभी-कभी वह उत्तेजित भी हो उठता है । उससे लोक सेवी की प्रतिमा बिगड़ती है । जैसे दो व्यक्तियों में झगड़ा हो रहा है । तीसरा व्यक्ति उन्हें अलग-अलग करने के लिए बीच बचाव करता है तो यह आशा भी रखता है कि वे उसकी बात मान जायेंगे । हो सकता है वह व्यक्ति अपने क्षेत्र का प्रभावशाली पुरुष हो और लोग उसकी बात को मानते भी हों, परन्तु झगड़े के समय झगड़ने वाले दो व्यक्ति इतने उत्तेजित हैं कि बीच बचाव करने वाले की बात पर जरा भी ध्यान नही देते । ऐसी दशा में मध्यस्थ व्यक्ति भी उत्तेजित हो उठता है और वह भी लड़ाई मे शामिल हो जाता है । परिणाम यह होता है कि मध्यस्थता करने वाले व्यक्ति का प्रभाव कम हो जाता है उसकी अपनी इमेज बिगड़ती है । ऐसी स्थिति का यदि विश्लेषण किया जाय तो असन्तुलन का मूल कारण अपने 'अहं' को अनावश्यक महत्त्व देना ही है । यदि बीच बचाव करते हुए दोनों पक्ष नहीं मानते तो न मानते स्वयं उत्तेजित न हुआ जाता तो उसमें व्यक्तित्व की गरिमा सिद्ध होती है ।

इसी असन्तुलित मनःस्थिति के कारण लोग विरोध सहन नही कर पाते और स्वयं भी विरोध करने वाले के स्तर पर उतर कर उसी भाषा में उत्तर-प्रत्युत्तर देने लगते है । परिणाम यह होता है कि सेवा कार्य तो गौण हो जाता है और फिर आपसी लड़ाई-झगड़े ही मुख्य बन जाते हैं ।

किसी भी नये कार्य का विरोध होना स्वाभाविक है । कार्य की उपयोगिता परखने वालों का अपना भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण होता है । किसी को एक काम अच्छा लगता है तो किसी को वही बुरा, परन्तु जिन्हें अपने स्वार्थ पर चोट पहुँचती दिखाई देती है वे विरोध निन्दा आलोचना तक उतर आते हैं । उस स्थिति मे विरोधों के समाधान का एक ही उपाय है कि उन पर कोई ध्यान न दिया जाय । यदि ध्यान दिया जाने लगा तो हम अपने लक्ष्य से भटक जायेंगे । जैसे कुछ कार्यकर्त्ता किसी गाँव मे कोई स्कूल चलाने के लिए पहुँचे, इस तरह की तैयारियाँ भी कर ली गयी और स्कूल आरम्भ भी हो गया । निस्वार्थ भाव से आरम्भ

किए गए इस कार्य का प्रभाव गाँववासियों पर होना स्वाभाविक ही है । लोक सेवियों के बढ़ते हुए प्रभाव से कुछ व्यक्ति ईर्ष्या अनुभव कर उनका विरोध करने लगे । लोगों से उनके बारे में तरह-तरह की बातें फैलायें या विरोध का कोई और ढंग अपनायें । ऐसी दशा मे यदि प्रतिकार अथवा प्रतिशोध लेने का विचार किया जाने लगा । तो स्वाभाविक ही पाठशाला चलने की ओर ध्यान कम होगा तथा उस कार्य में शक्ति भी कम लगेगी । धीरे-धीरे सारा ध्यान, सारी शक्ति और सारा मनोयोग विरोधियों को परास्त करने में ही लग जायेगा और मूल उद्देश्य बहुत पीछे छूट जायेगा ।

सेवा का व्यक्तिगत स्वार्थ पूर्ति का माध्यम बनाने की वृत्ति भी लोक सेवी को अपने साधना मार्ग से विचलित कर देती है । लोक सेवी चूँकि जनहित के कार्य करता है इसलिए लोग उसके कार्यों से प्रभावित भी होते हैं और उसका सम्मान भी करने लगते हैं । कई बार इस प्रभाव का लाभ व्यक्तिगत रूप से उठाने की आकांक्षा जगती है । जैसे किसी कार्यकर्त्ता को सेवा क्षेत्र में आने के बाद विभिन्न वर्ग के व्यक्तियों से सम्पर्क करना पड़ता है । सम्पर्क में आये व्यक्ति उससे प्रभावित होते और उसकी बात भी मानते हैं । इस सम्पर्क या प्रभाव का लाभ उठाने के लिए वह अपनी ग्राहकी बढ़ाने की बात सोचे, लोगों से उस तरह का आग्रह करने लगे जिससे उसको लाभ हो, उस प्रभाव से अपने को किसी लोकतान्त्रिक संस्था का सदस्य या अधिकारी बनाने का प्रयत्न करने लगे तो यह प्रवृत्ति सेवा मार्ग से विचलित कर देने वाली सिद्ध होगी । फिर लोक सेवी का ध्यान सेवा की ओर नहीं अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने पर केन्द्रित हो जायेगा ।

व्यावसायिक मनोवृत्ति आने पर लोक सेवियों के लिए विशुद्ध सेवा गौण हो जाती है और अपना लाभ प्रमुख हो जाता है । ऐसे व्यक्ति कोई ऐसा ही कार्य भी तलाशने का प्रयत्न करते हैं जिसमें आर्थिक दृष्टि से कुछ लाभ होता हो या लाभ उठाने की गुंजाइश हो—जैसे किसी कार्य के लिए चन्दा उगाहना । व्यावसायिक मनोवृत्ति के लोग किसी स्कूल के लिए, किसी मन्दिर के लिए या किसी सार्वजनिक संस्था, कल्पित योजना को क्रियान्वित करने के लिए आर्थिक सहयोग प्राप्त करने हेतु चन्दा इकट्ठा करने निकल पड़ते हैं । वहाँ न तो ऐसी कोई योजना होती है और न ही कोई सार्वजनिक उद्देश्य । केवल अपने प्रभाव का आर्थिक लाभ उठाना ही प्रमुख उद्देश्य रह जाता है । कहने का अर्थ यह नहीं है कि जनसहयोग प्राप्ति करने वाले सभी कार्यकर्त्ता इसी स्तर के हों, पर जिनकी मनोवृत्ति मे लाभ उठाने का दृष्टिकोण आ जाता है उनके लिए ऐसे कृत्य अस्वाभाविक नहीं रह जाते ।

लोक सेवा नहीं अपना लाभ ही प्रमुख हो जाने के कारण फिर वास्तविक जनहित की ओर ध्यान नही जा पाता । क्योंकि वहाँ कार्य की सफलता अपने प्रयोजन की पूर्ति की कसौटी पर ही कसी जाती है और कोई व्यक्ति चन्दा उगाहने न भी निकले तो भी उसके कार्यकलाप व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति को ही लक्ष्य बना कर चलते हैं—जैसे मान-सम्मान की आकांक्षा । यह एक आम मान्यता है कि जो व्यक्ति जितने महत्वपूर्ण पद पर है वह उतना ही सम्मानित है । उस सम्मान को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति कूटनीतिक चालें चलने लगता है अधिकार की माँग करता है । बहुत से विद्यालय, शिक्षण संस्थान, औषधालय, चिकित्सालय और अन्यान्य सार्वजनिक संस्थाएँ जो जन सेवा के उद्देश्य से आरम्भ की गई थीं, इसी कारण विघटित हुई हैं कि उनमें विकृत महत्त्वाकांक्षा के व्यक्ति घुस गए अथवा उनमें जो कार्यकर्ता कार्यरत थे उनकी महत्त्वाकांक्षा विकृत हो गई । महत्त्वाकांक्षाओं में जब पद की अधिकार की और उनसे लाभ उठाने की मनोवृत्ति आ जाती है तो कार्यकलाप में और भी तरह के विकार उत्पन्न होते है, जिनसे सेवा साधना ही कलंकित हो जाती है ।

महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उधेड़ बुन मे लगे रहने पर सेवा की बात मन मस्तिष्क से हट जाती है तथा पद, अधिकार और वर्चस्व की बात रह जाती है । फलस्वरूप लोक सेवी अपने समर्थक ढूँढ़ता है, उनके गुट बनाता है, दलबन्दी करता है और तरह-तरह के षड्यन्त्र रचता है ताकि उसका वर्चस्व बना रहे या बन सके और इसके लिए वह उचित-अनुचित के विवेक को छोड़कर षड्यन्त्र व कुचक्र रचने मे लग जाता है ।

यह सभी कृत्य खुले रूप मे नहीं किए जाते । इनके लिए सिद्धान्तो की आड़ ली जाती है, नैतिकता की दुहाई दी जाती है । प्रतिपक्षी को नीचा दिखाने

के लिए उसे अनैतिक दोषी ठहराने का प्रयत्न किया जाता है ताकि अपना पक्ष नैतिक और उचित दिखे। छिद्रान्वेषण की यह दृष्टि से इतना विकृत रूप धारण कर लेती है कि दूसरों के राई बराबर दोष पहाड़ बराबर दीखने लगते हैं तथा अपने में कितने ही दोष भरे पड़े हों उनकी ओर कोई उँगली उठाये यह भी सहन नहीं होता। निःसन्देह यह वृत्ति वैर भाव और ईर्ष्या द्वेष को जन्म देती है। फिर लोक सेवी अपने मार्ग से एकदम विरत हुए बिना नहीं रहता। उदाहरण के लिए लोक सेवियों में इतना बैर वैमनस्य उत्पन्न हुआ कि वे अपने शत्रु को विनष्ट हुआ ही देखना चाहते हैं। एक लोक सेवी, लोगों को करुणा, कष्ट पीड़ितों को उबारने की प्रेरणा देता है, लेकिन कभी प्रतिद्वन्द्वी के मकान में आग लग जाती है तो उसके हृदय में आग बुझाने के लिए सहायता करने के स्थान पर यही भाव उठता है कि मेरे इस प्रतिद्वन्द्वी का घर पूरी तरह ही जल जाय तो अच्छा, उसके परिवार की भी हानि हो तो अच्छा। इस दुर्भावना में लोक सेवी की सेवा-निष्ठा और उसके चरित्र की सद्भावना परक विशेषता कहाँ रह जाती है.?

सेवा क्षेत्र में आने वाली कठिनाइयों के परिणाम स्वरूप मनोबल में होने वाली कमी या लड़खड़ाहट भी लोक सेवी को अपने मार्ग से विचलित कर देती है। ऐसा तभी होता है जब लोक सेवी अपने स्वरूप को दूसरों से बढ़ा-चढ़ा मानने लगता है। सेवा साधना गौरव गरिमा पूर्ण तो है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उसके कारण हम अपने अहंकार का पोषण करते चलें। उसे भगवान की इच्छा और स्वयं को ईश्वरीय इच्छा की पूर्ति का निमित्त मान कर चला जाय तो अहंकार और तज्जनित कठिनाइयों से बचा जा सकता है.।

बहुत से लोगों के मन में सेवा की उमंग उठती है पर वे यह सोचकर चुप रह जाते हैं कि अभी हम उस योग्य नहीं। जब हम पूर्णतः योग्य और सक्षम हो जायेंगे तब सेवा करेंगे। स्मरण रखा जाना चाहिए कि आज तक संसार में पूर्णतः योग्य न कोई हुआ है और न होगा, क्योंकि जो पूर्ण होता है वह भवबन्धनों से ही मुक्त हो जाता है। उस पूर्ण पुरुष को इस संसार में आने की आवश्यकता ही कहाँ रह जाती है। संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं उनके व्यक्तित्व में कहीं न कहीं कोई न कोई त्रुटि अवश्य रहती है। उन त्रुटियों के सुधार का प्रयत्न करते हुए भी वे सेवा के पथ पर निरन्तर अग्रसर रहे होते हैं।

यह सुविदित तथ्य है कि संसार में योग्यता, क्षमता, स्तर और परिस्थिति की दृष्टि से सभी समान नहीं, एक व्यक्ति की समता का दूसरा व्यक्तित्व भी नहीं खोजा जा सकता। योग्यता, क्षमता, स्तर और परिस्थिति की दृष्टि से न्यूनता अधिकता का अन्तर प्रत्येक व्यक्ति में रहता है। अतः अधिक योग्यता का व्यक्ति कम योग्य का शिक्षण कर सकता है, अधिक सक्षम व्यक्ति कम क्षमता वाले की क्षमता बढ़ाने में सहायता कर सकता है। व्यावहारिक जीवन में भी जहाँ दूसरों को शिक्षित करने और सहायता देने की बात आती है। यही नियम काम करता है। प्राथमिक कक्षाओं को पढ़ाने वाला अध्यापक अनिवार्य रूप से उच्च शिक्षित कहाँ होता है। ग्यारहवीं कक्षा पास करने वाले छात्र प्रायः प्राथमिक कक्षा में अध्यापक बना दिए जाते हैं। पाँचवी छठवीं तक पढ़ी हुई माँ अपने बच्चों को अक्षर ज्ञान करा देती है। छोटे पहलवान अपने से छोटे पहलवान को पहलवानी का अभ्यास कराते हैं। यहाँ तक कि अगर कोई चोरी भी सिखाना चाहे, समझाना चाहे तो डाकू को मारकाट करने, हत्याएँ और अपहरण करने की बुराइयाँ तथा दोष समझा सकता है, क्योंकि वह स्वयं का उदाहरण दे सकता है, चोरी करने में वैसी बुराइयाँ न होने की बात कह सकता है। कहने का अर्थ यह है कि कम बुराई वाला व्यक्ति अधिक बुराइयों वाले व्यक्ति को शिक्षा दे सकता है।

लोक सेवी यदि अपने आस-पास के वातावरण को देखे तो पता चल सकता है कि कहाँ किस स्तर की सेवा आवश्यक है और वह उस आवश्यकता को पूरा कर सकता है। सेवा से यहाँ इतना ही प्रयोजन है कि अपने से निम्न स्थिति के व्यक्तियो को ऊँचा उठाने, उनकी उन्नति के लिए, पतन को उत्थान में बदलने और पीड़ा का निवारण करने के लिए प्रयत्न करें।

सेवाभावी कार्यकर्त्ताओं का अभाव हो ऐसी बात नहीं है। अभाव है उनकी वृत्तियों के परिष्कार का। यदि वृत्तियों का परिष्कार किया जा सके तो उनकी

सृजनात्मक क्षमता का सहज और प्रभावशाली उपयोग हो सकता है । प्रायः देखा जाता है कि वृत्तिशोधन के अभाव में लोक सेवियो की दिशा बहक जाती है और वे प्रचारात्मक अथवा ध्वंसात्मक कार्यों में संलग्न हो जाते हैं । आज के समय मे सृजनात्मक कार्यों मे संलग्न लोक सेवियों का लगभग अभाव ही है ।

बहुत से तथाकथित लोक सेवी तो सेवा के बहाने आत्मविज्ञप्ति के अवसर ही ढूँढ़ा करते हैं । कोई मीटिंग रख ली, सभा बना ली, थोड़ा बहुत चन्दा इकट्ठा कर लिया और तीन चार दिन का कोई कार्यक्रम कर उस एकत्रित राशि को ठिकाने लगा दिया, साथ ही अपना भी प्रचार कर लिया । मुख्यतः इस तरह की प्रवृत्तियाँ लोकेषणा से प्रेरित होकर ही अपनायी जाती हैं और आत्म-विज्ञापन से उनका समापन हो जाता है । सेवा से न कोई प्रयोजन होता है और न कोई सम्बन्ध ।

इसलिए लोक सेवी को व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा से सदैव बचना चाहिए । जहाँ भी मान सम्मान की भूख जागती है वहाँ सेवा मार्ग से भटकाव आरम्भ हो जाता है और लोक सेवी अपनी सेवा साधना से भी अधिक मान सम्मान की चिन्ता करने लगता है । उसका सारा ध्यान प्रसिद्धि और प्रचार पर ही चला जाता है । अनेक संस्थाएँ जिनमें बहुत से पदाधिकारी होते हैं, चुनाव चक्कर और प्रोपेगेण्डा होते हैं राजनीति परक हो जाती हैं और उनका सेवा सम्बन्ध समाप्त होता चला जाता है । अतएव जो लोकसेवा के प्रति निष्ठा रखते हैं और उसे अपने जीवन धर्म में अंगीकार करते हैं, तो उन्हें चाहिए कि वे किसी सार्वजनिक संस्था में रहते हुए पद और अधिकार से बचें । उत्तरदायित्वों से विमुख होने की बात यहाँ नहीं कहीं जा रही है । उत्तरदायी बनने के बाद स्वाभाविक ही अधिकार भी मिलेंगे पर उन अधिकारों को न अपने व्यक्तिगत प्रचार का साधन बनाया जाय और न ही उनका प्रयोग किसी पर दबाव डालने या अपनी बात मनवाने के लिए किया जाय ।

जो वृत्ति आत्म प्रचार के लिए काम करती है उसी वृत्ति से प्रेरित होकर लोग ध्वंसात्मक रुख भी अपनाते [redacted] । इसका उद्देश्य भी लोगो पर अपना प्रभाव डालना तथा उन्हें अपनी ओर आकर्षित करना है । बहुत मे श्रमिक संगठनों में श्रमिक हितों के लिए लड़ने वाले मजदूर नेता अपना प्रभाव सिद्ध करने के लिए मजदूरों को तरह-तरह से भड़काते हैं और बिना कारण ही हड़तालें करवा देते हैं । कोई महत्त्वपूर्ण कारण हो जिसके लिए अधिकार सम्मत लड़ाई लड़ी जाय तो बात भी समझ में आती है, पर ऐसा कोई कारण न होने पर भी ऊल-जलूल माँगों को लेकर हड़तालें करवा देना, फिर स्वयं पंच बन कर उनका फैसला करवाना या समझौते के लिए मध्यस्थ का काम करना किसी भी दृष्टि से सेवा स्तर का कार्य नहीं हो सकता । अपने वर्चस्व को बढ़ाने के लिए लोक सेवियों में निन्दात्मक या आलोचनापरक प्रवृत्तियाँ भी दिखाई देती हैं । निन्दा आलोचना की नीति को अपने प्रचार का माध्यम बनाने वाली अनेक सामाजिक संस्थाएँ भी खड़ी हुई हैं, जिनका मूल आधार ही दूसरों के प्रति घृणा है । दूसरों के प्रति घृणा पैदा करने से कोई रचनात्मक उपलब्धि तो होती नहीं थोड़े बहुत रचनात्मक कार्य जो चल रहे होते हैं उनके प्रति भी लोगों में वितृष्णा का भाव उत्पन्न होता है ।

लोक सेवी को अपना दृष्टिकोण रचनात्मक रखना चाहिए । आत्म प्रचार के झमेले से दूर ऐसे रचनात्मक कार्यक्रमों को ही हाथ में लिया जाय जिनसे लोगों का वास्तव में हित होता हो । समाज की उल्लेखनीय सेवा करने में अब तक वे ही लोग सफल हो सके [redacted] जिन्होंने रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाया तथा आत्म प्रचार और निन्दा आलोचना से दूर रह कर सेवा करते रहे । इस तरह के अनेक उदाहरण है । हीरा लाल शास्त्री का वनस्थली विद्यालय इसी प्रकार आरम्भ हुआ । शास्त्री जी ने अपनी योजना न किसी अखबार में छपवायी और न उसके लिए कहीं प्रचार करने गये । अपने पास उपलब्ध साधनों से ही उन्होंने विद्यापीठ का कार्य छोटे रूप में शुरू किया और धीरे-धीरे जन-सहयोग भी मिलता चला गया । फलस्वरूप विद्यापीठ देश की प्रतिष्ठित संस्थाओ में से एक है । हाथरस के कन्या गुरुकुल की स्थापना भी इसी प्रकार हुई । स्वामी केशवानन्द अनपढ़ थे और चरवाहे का काम करते थे । उनमें सेवा बुद्धि जागी और शिक्षा के प्रसार को उन्होंने अपना जीवन ध्येय बना लिया । उन्हीं के रचनात्मक प्रयासों से साँगरिया विद्यापीठ उन्नत और समृद्ध रूप में खड़ा है । कुष्ठ रोगियों के उपचार और उनकी सेवा के लिए बाबा साहब आप्टे ने पूना में कुष्ठ आश्रम खोला । साधारण व्यक्ति कोढ़ियो से दूर-दूर रहता है, उन्हे अपने पास भी नही आने देता । पर बाबा साहब आप्टे ने आत्म प्रचार से दूर रहकर चुपचाप

अपना सेवा कार्य आरम्भ किया और आज उनका कुष्ठ आश्रम देश में कुष्ठ रोगियों की सेवा का प्रमुख केन्द्र बना हुआ है। झाँसी का लक्ष्मी व्यायाम मन्दिर भी इसी प्रकार की रचनात्मक सेवा का उदाहरण है। झाँसी के पास जंगल में बहुत-सी खाली जमीन पड़ी हुई थी। अन्नाजी ने स्वास्थ्य सम्वर्धन के लिए वहाँ एक व्यायाम मन्दिर चलाने की बात सोची। इसका श्रीगणेश भी किया। बाद में कई अवरोध आये पर अन्नाजी उनका दृढ़तापूर्वक सामना करते रहे। उनके प्रयासों के फलस्वरूप लक्ष्मी व्यायाम मन्दिर अपने समृद्ध और साधन सम्पन्न व्यायाम केन्द्र के रूप में खड़ा हुआ है। बुलन्दशहर जिले में हरिबाबा ने इसी प्रकार व्यक्तिगत प्रयासों द्वारा अर्जित जन-सहयोग और श्रमदान से एक बाँध तैयार करा दिया था।

कहने का अर्थ यह है कि प्रोपेगेण्डा और ध्वंसात्मक क्रिया-कलापों की अपेक्षा आज सृजनात्मक कार्य खड़े करना अधिक आवश्यक है। प्रचार के लिए स्टण्ट खड़े करने अथवा अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए किए गए ध्वंसात्मक क्रिया-कलापों से थोड़ी देर की वाहवाही या कुछ समय तक कायम रहने वाला यश भले ही मिल जाता हो, सेवा का, सृजन का प्रयोजन पूरा नहीं होता। सृजनात्मक कार्यों से यश या प्रसिद्धि नहीं मिलती हो, ऐसी बात नहीं है। सृजनशील क्रिया-कलापों से तो और अधिक यश तथा प्रगाढ़ जन-श्रद्धा मिलती है। लेकिन लोक सेवी का ध्येय यथार्थ रूप में सेवा रहता है। इसलिए उसे इन उपलब्धियों की आकांक्षा नहीं रहती,' न इनकी आकांक्षा की ही जानी चाहिए।

वास्तव में लोक सेवा के क्षेत्र में प्रवेश करने वाले को अपनी मान्यता एवं दृष्टिकोण विशेष ढंग के बनाने होते हैं। व्यक्तित्व और व्यवहार में तदनुकूल हेर-फेर करने होते हैं। यदि उन्हें ठीक प्रकार समझ कर अपना लिया तो भटकाव एवं पतन की सम्भावनाएँ बहुत अंशों में मिट जाती हैं।

## लोक सेवी का दृष्टिकोण और जीवन-नीति

लोक सेवा के लिए मन में उमंग और उत्साह उठने के बाद तत्काल उस ओर प्रवृत्त नहीं हुआ जा सकता। इसके लिए अपना दृष्टिकोण बदलना पड़ता है। मान्यताओं में आवश्यक परिवर्तन करना पड़ता है तब कहीं जाकर सेवा साधना सम्भव होती है। मनुष्य के पास थोड़ी-सी शक्तियाँ हैं और छोटा-सा जीवन है, उसे लौकिक प्रयोजनों में लगा दिया जाय अथवा पारमार्थिक प्रयोजनों में यह निश्चय स्वयं ही करना पड़ता है। अपने स्वार्थों के लिए हर कोई प्रयत्न करता है। लोक सेवी अपनी शक्तियों का नियोजन जन-सेवा के लिए परमार्थ कार्यों के लिए करता है अतः उसे अपनी आवश्यकताओं और सुविधाओं के लिए दूसरे से भिन्न दृष्टिकोण अपनाना चाहिए और अपना जीवन स्तर, आवश्यकताओं तथा साधनों के उपयोग की रीति-नीति भिन्न रखनी चाहिए।

प्रायः दृष्टिकोण न बदलने के कारण ही सेवा धर्म कठिन जान पड़ता है और उसका निर्वाह नहीं हो पाता। उदाहरण के लिए आवश्यकताओं को ही लें। बहुत से व्यक्ति यह सोचते [redacted] कि सम्पन्नता और समृद्धि ही जीवन का लक्ष्य है और उसे प्राप्त करने में जो सफल हो गया वही धन्य है। लोक सेवी का दृष्टिकोण इससे भिन्न होना चाहिए। उसे साधनों की विपुलता नहीं व्यक्तित्व की श्रेष्ठता को बड़प्पन का आधार मानना चाहिए। यदि ऐसा न हो सका तो लोक सेवी उन्हीं गोरख धन्धों में उलझ कर रह जायेगा जिसमें कि दूसरे लोग उलझ जाते हैं। सर्व साधारण की दृष्टि से सुविधाएँ और विलासिता के साधन ही जीवन की सार्थकता है। यद्यपि वे सभी को उपलब्ध नहीं होते परन्तु उनकी गतिविधियों का केन्द्रीय आधार यही रहता है। इच्छित स्तर की साधन सम्पन्नता हर कोई अर्जित नहीं कर पाता लेकिन लक्ष्य सभी का यही रहता है। लोक सेवी को सर्व साधारण से भिन्न रीति-नीति अपनानी चाहिए।

अपने निर्वाह के लिए लोक सेवी को कम से कम आवश्यकताएँ रखने का दृष्टिकोण विकसित करना चाहिए। समझा जाता है कि हम जितनी शान-शौकत और मौज मजे के विलासिता पूर्ण साधनों का उपयोग करेंगे उतना ही बड़प्पन मिलेगा। वस्तुतः यह सोचना गलत है। इसके लिए अपने बड़प्पन की परिभाषा बदलनी चाहिए। बड़प्पन धन सम्पत्ति, या शान-शौकत से नहीं उत्कृष्ट और आदर्श व्यक्तित्व तथा महान बनाने वाले सद्गुणों से मिलता है। प्राचीनकाल में लोक सेवी परम्परा के अन्तर्गत जितने भी सन्त, ऋषि, विचारक, मनीषी और महापुरुष हुए उन्होंने यही दृष्टिकोण

अपनाया । ऋषियों के रहन-सहन की सादगी इतनी सुविख्यात है कि उस सम्बन्ध में कुछ भी कहना पुनरुक्ति ही कहलायेगा । चाणक्य—जिन्होंने भारत को एक राष्ट्र के रूप में संगठित करने के लिए चन्द्रगुप्त का मार्ग-दर्शन किया, हमेशा एक कुटिया में रहे । यदि वे चाहते तो अपने लिए प्रचुर साधन सुविधाएँ जुटा सकते थे और सुविधा सम्पन्न जीवन व्यतीत कर सकते थे । लेकिन लोकसेवियों की आदर्श परम्परा की रक्षा के लिए उन्होंने न्यूनतम आवश्यकता की मर्यादा का ही पालन किया ।

इस युग में भी न्यूनतम आवश्यकताओं को रखते हुए जीवन-व्यतीत करने वाले महापुरुष हुए हैं और उन्हें भरपूर जन श्रद्धा मिली है । गोपाल कृष्ण गोखले, महर्षि अरविंद, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, गाँधी आदि मनीषी महामानवों का जीवन तो तीस चालीस वर्ष पूर्व की ही बात है । उन्होंने अच्छी सम्पन्न स्थिति में रहते हुए भी न्यूनतम साधनों का उपयोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया ।

गोपाल कृष्ण गोखले अच्छी सम्पन्न स्थिति के थे और आमदनी भी उन्हें पर्याप्त होती थी, पर उन्होंने अपने लिए यह मर्यादा बना ली थी कि परिवार के लिए तीस रुपये से अधिक खर्च नहीं करेंगे । उन्होने आजीवन इसी मर्यादा का पालन किया ।

महर्षि अरविन्द जब इंग्लैण्ड से शिक्षा प्राप्त कर लौटे तो उनकी नियुक्ति बड़ौदा के एक कॉलेज में ५०० रुपये माहवार पर हुई । चाहते तो वे अच्छा ठाट-बाट का जीवन-व्यतीत कर सकते थे । लेकिन उन्होंने निश्चय किया कि पिचहत्तर रुपये में ही अपना गुजारा चलायेंगे और वास्तव में उन्होंने अपने निश्चय के अनुसार ही जीवन स्तर रखा । ईश्वरचन्द्र विद्यासागर को पाँच सौ रुपये प्रतिमास मिलते थे लेकिन उन्होंने अपने लिए पचास रुपये की ही व्यय सीमा रखी और आजीवन उसी स्तर को कायम रखते हुए सेवा धर्म का पालन करते रहे ।

महात्मा गाँधी एक सस्ता-सा कपड़ा-धोती ही पहनते थे और सादे से सादा भोजन करते थे । इसी मे उन्हें सन्तोष की अनुभूति होती थी और जन-साधारण से निकट की आत्मीयता की अनुभूति भी प्राप्त होती रही थी । अपने बीच का, अपनी स्थिति का व्यक्ति मानकर लोगों ने उन्हें जो सम्मान दिया वह बीसवीं शताब्दी में शायद ही किसी व्यक्ति को मिला है ।

यहाँ दो चार महापुरुषों की ही चर्चाएँ की गई हैं अन्यथा संसार में जितने भी महान व्यक्तित्व हुए हैं उन्होंने आवश्यकताओं के सम्बन्ध में अनिवार्यता का दृष्टिकोण अपनाया । सुकरात के सम्बन्ध में कहते हैं जबकि वे कोई वस्तु खरीदते या कोई नया साधन जुटाते तो उसके पहले अपने आप से यह प्रश्न करते कि क्या इस वस्तु के बिना मेरा काम नहीं चल सकता है ? यदि उत्तर हाँ में मिलता तो वे खरीदते अन्यथा उस विचार को छोड़ देते थे । कम साधनों में निर्वाह गौरव और गरिमा की बात है यह दृष्टिकोण विकसित किया जा सके तो न अभावों की समस्या रह जाती है और न किसी बात की कमी होने की शिकायत रह जाती है ।

यह समझा जाता है कि यदि साधारण स्तर का जीवन व्यतीत किया जाय तो लोग हमें घटिया, दरिद्र या कंजूस समझेंगे । लोगों की मान्यताएँ कभी-कभी बनती और बिगड़ती रहती हैं, अन्यथा न सादगी का कभी अपमान हुआ है और न उसके प्रति किसी में घृणा उत्पन्न हुई है, बल्कि सादगी से कम आवश्यकताओं में ही अपना गुजारा चला लेने वाले व्यक्तियों को असाधारण सम्मान मिला है । महात्मा गाँधी खद्दर की एक धोती भर पहनते थे और जन-साधारण जिन्हें अनुपयोगी और निम्नस्तरीय साधन उपकरण समझते हैं, उनका प्रयोग करते थे, लेकिन इससे उनके सम्मान में कोई कमी नहीं आई, अपितु सर्वसाधारण भी उन्हीं साधनों को अपनाने में गौरव अनुभव करने लगे ।

सामान्य रूप से लोग फूहड़पन और गन्दा रहन-सहन को जरूर घृणा की दृष्टि से देखते हैं, किन्तु सादगी को सम्मान देते हैं । छोटे तबके के लोगों को लोग गिरी हुई निगाह से इसलिए नहीं देखते कि उनके पास पर्याप्त वस्त्र नहीं होते अथवा और दूसरे साधनों का अभाव रहता है । उनके प्रति असम्मान की भावना तब उभरती है जब वे आलसी होने के कारण गन्दे और मूर्ख होने के कारण अव्यवस्थित रहते हैं । कम वस्त्र या कम साधन होने से कोई छोटा या गिरा हुआ नहीं हो जाता । गिरावट आती है अस्वच्छता और अव्यवस्था से । इस प्रकार लोक सेवी को बड़प्पन की मान्यता परिष्कृत करनी चाहिए । अपना जीवन स्तर

सादा, स्वच्छ तथा सुव्यवस्थित रखना चाहिए । सादगी पूर्ण वेश-भूषा और न्यूनतम आवश्यकताएँ—यह सिद्धान्त अपने जीवन में समाविष्ट कर लेना चाहिए । सुरुचिपूर्ण सादगी को ही अपनी गौरव गरिमा समझने की दृष्टि से विकसित की जानी चाहिए ।

लोक सेवियों को अपने स्वरूप की गौरव गरिमा का ध्यान रखने के लिए उज्ज्वल चरित्र और धवल व्यक्तित्व की आवश्यकता अनुभव करनी चाहिए । इस सम्बन्ध में यह मान्यता बनाई और अपनायी जाय कि हम जो कुछ भी कहना चाहें, जो कुछ भी शिक्षा दें वह वाणी से कम और व्यक्तित्व से अधिक उद्‌भूत हो । कहने का अर्थ यह कि लोक सेवी अपनी गरिमा को समझें और उसे अक्षुण्ण बनायें । अपने स्वरूप और वेश के गौरव को प्राचीन काल में साधु ब्राह्मण लोक सेवियों की परम्परा में ही मानते थे किन्तु आजकल ये शब्द रूढ़ हो गए हैं और वर्ग विशेष का अर्थ-बोध कराते हैं, क्योंकि इस नाम से सम्बोधित व्यक्तियों ने भी वही रीति-नीति अपनाना आरम्भ कर दिया जिसे कि सर्वसाधारण अपनाता रहा । बल्कि एक दृष्टि से तो उनकी रीति-नीति और भी विकृत हो गई । कारण कि यह वर्ग जन-श्रद्धा का भी दोहन करने लगा, अन्यथा एक समय था जबकि साधु वेश का अर्थ ही निस्पृह, अपरिग्रही और सेवाभावी व्यक्ति समझा जाता था । उस बहुरूपिए की कहानी प्रसिद्ध है जिसने एक राजा के कहने पर कोई बड़ा कमाल दिखाने और बड़ा इनाम लेने की बात कही थी । उस कमाल के लिए बहुरूपिया साधु बन कर बैठ गया था और राजा ने उस साधु के सामने सिक्के, अशर्फियों तथा मुहरों का ढेर लगा दिया पर साधु बने बहुरूपिए ने उस ओर आँख तक उठा कर नहीं देखा । बाद में जब रहस्य खुला और राजा ने पूछा—तुम्हारे सामने इतनी सम्पदा का ढेर लगा हुआ था, यदि तुम चाहते तो उसे ले सकते थे । अब तुम्हें कितना इनाम मिल सकता है ? इनाम की तुलना में तो वह भेंट कई गुना ज्यादा थी ।

बहुरूपिए ने तब यही उत्तर दिया था कि—"यदि मैं वह भेंट स्वीकार कर लेता तो उससे साधु वेश की मर्यादा समाप्त हो जाती और अब लोगो के हृदय में साधु के प्रति जो श्रद्धा है वह कम हो जाती । कहने का अर्थ यह कि साधु ब्राह्मण लोक सेवा ही जिनका जीवन लक्ष्य था अपनी मर्यादाओं और नियमों के प्रति इतनी दृढ़ निष्ठा रखते थे और उनका पालन करते थे कि जन-सामान्य उस वेश को देखकर ही श्रद्धानत हो उठता था । लोक सेवी को भी अपना स्वभाव, अपना रहन-सहन और अपना आचरण इस स्तर का रखना चाहिए कि उसे देखकर ही लोगों मे लोक सेवी के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो ।

इसके लिए आत्म-निर्माण की साधना करनी पड़ेगी । अपनी कमियों को खोजना और दूर करना, कमजोरियों को हटाना तथा सत्प्रवृत्तियों को अपने स्वभाव का अंग बनाना होगा । व्यक्तित्व की दृष्टि से लोक सेवी को अपना विकास इतना प्रखर और उच्च करना चाहिए कि उसकी वाणी से अधिक उसके कर्म प्रेरक बनें ।

व्यक्तिगत रूप से अपने दृष्टिकोण को साफ करने और उसमें उज्ज्वलता धवलता का समावेश करने के साथ ही परिवार के सम्बन्ध में भी अपने दृष्टिकोण और रीति-नीति को परिष्कृत कर लेना चाहिए । कहा जा सकता है कि हम तो कष्ट साध्य जीवन जी लेंगे रूखा-सूखा खा लेंगे, लेकिन परिवार के लिए तो पर्याप्त साधन चाहिए । लोकसेवा का व्रत ग्रहण करने के नाते अपनी आवश्यकताओं को तो कम किया जा सकता है लेकिन बच्चों की सुविधाओं में तो कटौती नहीं की जानी चाहिए ।

यदि यह दृष्टिकोण अपनाया गया तो सादगी नाम मात्र की चिन्हपूजा बनकर रह जायेगी । सेवा साधना के लिए सादगी जिन कारणों से आवश्यक है वे कारण भी पूरे नहीं हो सकेंगे-जैसे सादगी के कारण जन-साधारण में अपनत्व की भावना जागती है । कहना नहीं होगा कि लोग लोक सेवी के साथ-साथ परिवार के सम्पर्क में भी आयेंगे परिवार के सम्पर्क में आने पर जब ठाट-बाट और वैभव विलास ही दिखाई देगा तो लोक सेवी की निष्ठा पर लोगों को सन्देह होने लगेगा और वे लोक सेवी के रहन-सहन को नाटकीय समझने लगेंगे । यह भी हो सकता है कि वे सोचेंगे अपने और अपने परिवार के लिए तो इन्होंने सारे साधन जुटा लिए हैं और हमें सादगी से रहने का उपदेश दे रहे हैं ।

वैसे भी परिवार के लिए साधन सम्पत्ति इकट्ठी करना या पर्याप्त सुविधाएँ जुटाना अनावश्यक है । न

केवल अनावश्यक वरन् अनेक दृष्टि से तो घर के बच्चों और स्वजनों के संस्कार बिगाड़ने जैसा है । उदाहरण के लिए आज परिवार में इतनी सम्पत्ति है या इतना धन इकट्ठा कर लिया गया कि बच्चों को कभी पैदल चलने की जरूरत ही न पड़े । साइकिल रिक्शा या स्कूटर जैसे साधन जुटा दिए गए, सभी सुविधाएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने से एक तो बच्चों को शरीर श्रम से जी चुराने की आदत पड़ेगी दूसरे कभी संघर्ष-पूर्ण परिस्थितियाँ आईं तो उन परिस्थितयों में निर्वाह बड़ा मुश्किल हो जायेगा ।

परिवार के लिए सुविधा साधन जुटाने और धन सम्पत्ति इकट्ठी करने के स्थान पर घर के सदस्यों में सद्गुणों का सम्वर्धन और उत्कृष्टता का अभिवर्धन किया जाय तो अधिक श्रेयस्कर है । धन संचय और सम्पत्ति संग्रह कर घर के बच्चों को निकम्मा और आलसी बना देने की अपेक्षा अच्छा है कि उन्हें परिश्रमी पुरुषार्थी जीवट वाला तथा सद्गुणी बनाया जाय । सन्तान यदि सुयोग्य हो तो, सन्तान यदि अयोग्य हो तो दोनों ही स्थिति में उनके लिए धन सम्पत्ति एकत्रित कर छोड़ जाना व्यर्थ है । किसी सन्त ने इसी को लक्ष्य कर कहा है—

पूत सपूत तो क्यों धन संचै ।
पूत कपूत तो क्यों धन संचै ॥

अर्थात्—सन्तान यदि सुयोग्य है तो उसके लिए सम्पत्ति संग्रह की क्या आवश्यकता क्योंकि अपने निर्वाह लायक उपार्जन तो वह अपनी योग्यता द्वारा ही कर लेगी और सन्तान यदि अयोग्य है तो उसके लिए भी सम्पति का संग्रह व्यर्थ है क्योंकि वह सारी सम्पत्ति अपनी अयोग्यता के कारण शौक-मौजों में नष्ट कर देगी ।

अपना आदर्श परिवार के लिए भी प्रेरक बनता है । प्रायः अभिभावक स्वयं अपनी आवश्यकताओं मे कटौती कर बच्चो के लिए सुविधा साधन एकत्रित करते हैं । यदि बच्चों को अपने आदर्शों के अनुरूप ढालने के चेष्टा की जाय, उनके व्यक्तित्व को परिष्कृत और संस्कारित बनाने के लिए प्रयास किए जायें तो उनके सुखद भविष्य की सम्भावना अधिक रहती है । धन सम्पत्ति से नहीं गुण और योग्यताओं से ही भविष्य का निर्माण होता है । इस दृष्टि से परिवार के सदस्यों को परिमार्जित करने मे समय लग सकता है । उसके लिए मूर्तिकार का सा धैर्य रखना चाहिए । एक साधारण से पत्थर को मूर्ति का रूप देने के लिए मूर्तिकार लम्बे समय तक परिश्रम करता है और मनोकल्पित स्वरूप को साकार हुआ देखने के लिए धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करता है । लोक सेवी को चाहिए कि वह अपनी सन्तान को, परिवार के सदस्यों को आदर्शों के साँचे में ढालने के लिए धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करता रहे ।

व्यक्तित्व का निर्माण और जीवन की दिशा निर्धारित करने का काम क्षण भर में नहीं हो जाता । स्वयं अपना निर्माण भी अनवरत प्रयासों से कई फिसलनों और भटकावों के बाद हुआ है तो अपने निकटवर्तियों से शीघ्रता की आशा कैसे की जा सकती है । खास तौर से उस स्थिति मे जबकि लोक सेवी का अपना रुझान आदर्शों की ओर था, टीस भी थी और लगन भी थी और परिवार वालो मे तो आदर्शों की प्रेरणा भी जगानी है, टीस भी उत्पन्न करनी है और लगन निष्ठा भी पैदा करनी है । इसके लिए क्रमबद्ध शिक्षण और धैर्यपूर्वक प्रयास आवश्यक है ।

आदर्शों पर दृढ़ रहने की निष्ठा परिवार वालों में भी आदर्शों के वरण की ललक जगाती है । लोक सेवी अपने आदर्शों की कीमत पर परिवार का स्नेह प्राप्त न करे तो उन्हें प्रेरणा प्रदान करने का कार्य प्रभावशाली ढंग से सम्पन्न नहीं होता है । जैसे लोक सेवी पिता ने यह व्रत ले रखा है कि हम सूती या खादी के वस्त्र ही पहनेगे । स्वयं तो वह नहीं खरीदेगा । लेकिन स्वावलम्बी और कमाऊ लड़के स्नेह श्रद्धावश टेरिकॉट या पोलिस्टर के कपड़े ले आयें तो असमंजस की सी स्थिति उत्पन्न हो जाती है, परन्तु ऐसा तभी होता है जब अपना दृष्टिकोण परिवार वालों के सामने साफ न रहा हो । यदि स्वजन सम्बन्धियों को सादगी मे शान समझने और व्यक्तित्व की उज्ज्वलता को गौरवास्पद अनुभव करने की प्रेरणा दी जाय, स्वयं अपना व्यक्तित्व भी उसी स्तर का रखा जा सके तो ऐसी असमंजस पूर्ण स्थिति आ ही नहीं सकती । क्योंकि तब घर के लोग भी लोक सेवी की मान्यताओं और दृष्टिकोण के महत्त्व को समझने स्वीकारने लगेंगे तथा वे भी उन्हीं आदर्शों को अपनाने, उस व्रत पर दृढ़ रहने की निष्ठा विकसित कर सकेंगे ।

अपने व्रत पर दृढ़ रहने की निष्ठा को प्रखर अभिव्यक्ति देने से लोग भले ही वैसा व्रत न अपनायें

पर वे व्रत के महत्त्व को तो समझेंगे । परिवार के लोगों को शिक्षित करने के लिए परिस्थिति के अनुसार इस प्रकार के कितने ही तरीके खोजे जा सकते हैं ।

परिवार के सदस्यों में उत्कृष्टता और सद्गुणों की अभिवृद्धि के साथ-साथ लोक सेवी को चाहिए कि वे अपनी पारिवारिक जिम्मेदारियों को और ज्यादा न बढ़ायें । प्राचीन काल में जिन्हें लोकसेवा का व्रत लेना होता था वे तो ब्रह्मचर्याश्रम से सीधे ही लोक सेवा के क्षेत्र में उतर पड़ते थे और गृहस्थ व्यक्ति यदि लोक सेवा करना चाहते तो पारिवारिक उत्तरदायित्वो से मुक्त हो जाते थे । इसका अर्थ यह नहीं है कि घर परिवार छोड़कर संन्यासी हो जाते थे । लोक सेवा के क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए वे अपनी जिम्मेदारियो को इस प्रकार पूरा कर देते या ऐसी व्यवस्था कर देते थे जिससे कि वे परिवार के प्रति कम से कम उत्तरदायी हों । उदाहरण के लिए बच्चे बड़े हो गए तो घर परिवार की व्यवस्था उनके हाथ में सौंप कर माता-पिता ने वानप्रस्थ ले लिया और निकल पड़े समाज सेवा के लिए अथवा परिवार के उत्तरदायित्वों को इतना कम रखा कि उसके लिए अपना अधिकांश समय और श्रम न देना पड़े ।

आज की स्थिति मे युवा लोक सेवियो को चाहिए कि वे सन्तान की संख्या न बढ़ायें । अच्छा तो यही है कि लोक सेवा के क्षेत्र में रहते हुए सन्तानोत्पादन से बचा जाय । सन्तान आखिर ममता और वात्सल्य भावना की अभिव्यक्ति के लिए ही तो आवश्यक समझी जाती है । ममता और वात्सल्य लुटाने के लिए समाज में बहुत से बच्चे हैं । यह कोई आवश्यक नहीं है कि बच्चा अपनी ही सन्तान हो, जो विवाह की आवश्यकता अनुभव न करते हों वे अविवाहित ही रह लें और जो विवाह करना चाहे तथा लोक सेवी का जीवन भी जीना चाहे उन्हें तो सन्तान की आवश्यकता ही नहीं समझनी चाहिए या जिनके बच्चे हैं वे वहीं तक सीमित रखें । पारिवारिक उत्तरदायित्वों को हल्का रखने से लोक सेवा के लिए अधिक समय बच सकेगा और अपनी प्रतिभा तथा योग्यता का अधिकाधिक लाभ समाज को दे सकेंगे ।

सेवा के अनेक क्षेत्र है और उसके व्यापक स्वरूप को पूरी तरह स्पर्श कर सकना सम्भव नही है । यह सोचकर लोग अन्तःकरण मे सेवा की उमंग उठते हुए तथा सेवा धर्म के लिए हर दृष्टि से योग्य होते हुए भी पीछे हट जाते हैं । वे सोचते हैं संसार में इतनी विकृतियाँ हैं, समस्याएँ इतनी विकराल हैं या हजारों लोग बाढ़ की चपेट में आ गए हैं हम क्या कर सकते हैं ? सेवा कार्य तो आरम्भ हुआ नहीं कि उसके परिणाम पर दृष्टि पहले गई यदि अन्य लोग जो सार्वजनिक समस्याओ के समाधान के लिए निकलते हैं—वे भी ऐसा सोच लें तो संसार में सेवापरक गतिविधियाँ चलेंगी ही नही ? परिणाम क्या होगा—यह सोचे बिना अपनी सामर्थ्य और स्थिति के अनुसार प्रयास प्रारम्भ कर देना सेवा भाव की पहली शर्त है । गिलहरी जानती थी कि रीछ, वानरों को समुद्र पर पुल बनाने मे कोई महत्त्वपूर्ण योगदान नहीं दे सकती । फिर भी उसने सागर में डुबकी लगाना और रेत पर लोटने के बाद फिर सागर मे डुबकी लगाना जारी रखा । उसका योगदान परिणाम की दृष्टि से भले ही न्यून रहा हो पर भगवान का कार्य करने वालों में उस गिलहरी को अग्रणी स्थान मिला ।

व्यावहारिक दृष्टि से भी एकाकी योगदान निष्फल नहीं जाते । रीछ वानर जानते थे कि हमारी शक्ति कितनी है फिर भी उन्होंने लंका पर विजय की योजना बनाई और उस पर काम किया । साधनहीन और शक्तिहीन रीछ वानरो ने समर्थ शक्तिशाली प्रतिपक्ष को किस प्रकार परास्त किया उदाहरण सामने है । इन्द्र के क्रोधित होने पर जब ब्रज का डूबना लगभग निश्चित लगने लगा तो कृष्ण ने गोप बालो के सामने गोवर्धन पहाड़ उठाने की योजना रखी । कहाँ गोप-बाल और कहाँ गोवर्धन पर्वत का उठाना । कार्य की गुरुता के आगे सभी अपने को असमर्थ मान रहे थे फिर भी पीछे नहीं हटे और गोवर्धन पर्वत उठाकर ही रहे । लोक सेवी की उमंग अनुभव करने और उस मार्ग पर कदम बढ़ाने वाले को चाहिए कि वह बूँद-बूँद से घट भरने की बात सोचे ।

प्रत्यक्ष देखने पर सेवा कार्य में घाटा जान पड़ता है जबकि वस्तुतः ऐसा नहीं है । कृषि विज्ञान से एकदम अनभिज्ञ व्यक्ति यदि किसी किसान को खेत में बीज डालते देखकर यह सोचने लगे कि किसान बीजों को यो ही गँवा रहा है तो कोई आश्चर्य नहीं, पर उसके परिणाम हमेशा सुखद लगते हैं । सेवा साधना

के परिणाम भी सामाजिक सुव्यवस्था और व्यक्तिगत आत्मसन्तोष एवं आनन्द के रूप में प्राप्त होते हैं । वह अनुभूति आन्तरिक है, लेकिन जिनकी दृष्टि बाहरी परिणामों पर ही टिकी रहती है वे सेवा को घाटे का सौदा समझते हैं ।

समाज में यह स्थिति सदैव बनी रहने वाली है । जन-साधारण स्थूल दृष्टि से ही हर वस्तु का मूल्यांकन करते हैं । इसीलिए सेवा साधना के असाधारण लाभों को समझ नहीं पाते और उसके लिए आगे आने में, सहयोग देने में झिझकते हैं । जब कोई साहसी लोक सेवी उस क्षेत्र में पहल करता है, प्रसन्नतापूर्वक अकेला ही आगे बढ़ता जाता है तो लोगों का भ्रम दूर होता है । सेवा साधना के लाभ सबको दीखने लगते हैं और लोक सेवी को सम्मान से लेकर सहयोग समर्थन तक दिया जाने लगता है ।

परन्तु यदि लोक सेवी का दृष्टिकोण शुद्ध तथा प्रखर नहीं है तो वह बीच में मिलने वाली उपेक्षा और कठिनाइयों से विचलित हो जाता है । उसे लगता है कि सेवा का लाभ सारे समाज को मिलता है, फिर भी समाज उसके लिए सहयोग नहीं देता, तो हम ही क्यों मरें खपें ? और यह भाव आते ही लोक सेवी की प्रखरता घटने लगी है ।

यह चिन्तन उभरने का अर्थ है कि लोक सेवी की दृष्टि खो जाना । ऐसा चिन्तन उस मस्तिष्क में ही उभरेगा जो सेवा कार्य को कर्तव्य नहीं किसी पर किया गया अहसान मानता है । सेवा भाव से सन्तोष बढ़ता है और अहसान के भाव से अहंकार पनपता है । उसके बढ़ने पर पतन निश्चित है । अस्तु सेवाभावी का दृष्टिकोण सेवा के प्रति शुद्ध रहना ही चाहिए । वह सेवा कार्य को कर्तव्य पूर्ति का, सामाजिक ऋण से मुक्त होने का, भगवान का प्रेम पाने का एक अलभ्य अवसर मानता है । उसे खोना नहीं चाहता । उसे सौभाग्य मानकर अपनाने के लिए दौड़ पड़ता है । कोई साथ आ रहा है या नहीं यह देखने की उसकी इच्छा ही नहीं होती । यदि कोई आ गया तो प्रसन्नतापूर्वक उसके सहयोग से कार्य को और भी प्रखर कर देता है । सहयोगी के अभाव में उसका मनोबल नहीं घटता है और सहयोगी के आने पर उसे यह भी नहीं लगता कि कोई उसके श्रेय में हिस्सा बँटाने क्यों आ गया । उसकी दृष्टि तो सेवा कार्य को अधिक से अधिक कुशलता से करने पर रहती है । इसलिए उसकी प्रखरता एवं उसे मिलने वाले सन्तोष में जरा भी कमी नहीं आने पाती ।

अस्तु सेवा क्षेत्र में प्रविष्ट होने वाले हर व्यक्ति को अपना दृष्टिकोण शुद्ध एवं प्रखर बनाकर रखना चाहिए, तभी वह सही अर्थों में अपनी शक्ति उस कार्य में लगा सकेगा । आत्मोत्कर्ष एवं समाजोत्कर्ष का संयुक्त लाभ इसी आधार पर प्राप्त हो सकेगा ।

## लोक सेवी का व्यक्तित्व और स्तर

जीवन-यापन और जीवन की रीति-नीति को आदर्शों के अनुरूप ढालने के लिए लोक सेवी की गरिमा को सुरक्षित और स्थिर रखने के लिए अपने गुण कर्म स्वभाव के परिष्कार की आवश्यकता पड़ती है । इस सम्बन्ध में कोई समग्र रूपरेखा निश्चित नहीं की जा सकती परन्तु कुछ मोटी बातों को समझ लिया जाय और उन्हें अभ्यास में शामिल कर लिया जाय तो लोक सेवी का व्यक्तित्व अपने आदर्शों के अनुरूप ढलने लगता है । लोक सेवी का व्यक्तित्व ही इतना उत्कृष्ट और जीवन्त होना चाहिए कि जो भी उसके सम्पर्क में आये वह उससे प्रभावित हुए बिना न रहे ।

सेवा परक क्रिया-कलापों का अभीष्ट प्रभाव इसी कारण नहीं मिलता कि प्रायः प्रभावित करने वाले उन गुणों का अभाव रहता है जिनकी तुलना पारस से की जाती है और उनके संस्पर्श से ही क्षुद्र से क्षुद्र व्यक्ति नर से नारायण, पशु से मानव और निम्न स्तर से उच्च श्रेणी का व्यक्ति बनने लगता है । अपने विचार अच्छे ढंग से प्रतिपादित कर लच्छेदार वक्तव्यों द्वारा लोगों को कुछ देर के लिए चमत्कृत तो किया जा सकता है परन्तु उसका स्थाई प्रभाव नहीं पड़ता । स्थायी प्रभाव के लिए तो व्यक्ति को स्वयं अपने भीतर चरित्र बल भी उत्पन्न करना पड़ता है । एक प्रसिद्ध विचारक का कथन है—"विचारों में तो सभी आदर्शवादी होते हैं । योग्य अयोग्य का ज्ञान या पुण्य पाप की अनुभूति तो मूर्ख और पापी को भी होती है, किन्तु व्यावहारिक जीवन में हम उसे भूल जाते हैं । धर्म को जानते हुए भी उसमें प्रवृत्त नहीं होते और अधर्म को जानते हुए भी उससे निवृत्त नहीं होते ।" दुर्योधन

ने यही बात भगवान कृष्ण से तब कही थी जब वे शान्तिदूत बनकर गए थे । अर्थात्—धर्म, अधर्म का विवेक सभी को रहता है, सभी उन बातों को जानते हैं । लोक सेवी भी यदि उन्हीं बातों की कोरी चर्चा करते हुए घूमें तो कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । इसलिए लोक सेवी को अपने व्यक्तित्व के माध्यम से सर्वसाधारण की स्थिति को शिक्षित करना चाहिए ।

लोक सेवी यदि अपने चरित्र का निर्माण नहीं करते और जन-सामान्य को सत्प्रेरणाएँ देने लगते हैं तो उनके प्रयत्नों का अपेक्षित परिणाम नहीं होता । लोक सेवी को अपना व्यक्तिगत जीवन आदर्श साँचे में ढालना चाहिए । सामाजिक कार्यकर्त्ता अक्सर यह तर्क देते हैं कि, हम जो काम कर रहे हैं वह जनहित के लिए है । लोगों को हमारे कार्य देखना चाहिए न कि व्यक्तिगत जीवन । यह तर्क अनुचित और असंगत है माता-पिता अपने बच्चों को मधुरभाषी बनाना चाहते हैं, इसके लिए वे समझाते भी हैं—पर उस समझाने का तभी प्रभाव होता है जबकि अभिभावक स्वयं मधुरभाषी हो । बच्चों को मीठा बोलने की शिक्षा दी जाय और स्वयं कटु कर्कश बोलते रहा जाय तो उसका रत्ती भर भी असर नहीं पड़ता । यदि बच्चे भयवश अपने अभिभावकों की बात मान भी लें, तो भी उस सिखावन को वे अपने जीवन मे उतार नहीं सकते, क्योंकि उस आज्ञा निर्देश के प्रति उनके मन में कोई श्रद्धा नहीं होती । बच्चों को चरित्रवान बनाने के लिए अभिभावकों को उनके हृदय में अपने प्रति श्रद्धा उत्पन्न करनी पड़ती है । जन-साधारण पर भी लोक सेवी का तभी प्रभाव होता है । जब वह अपने उज्ज्वल व्यक्तित्व और धवल चरित्र द्वारा अपने प्रति श्रद्धा पैदा करें ।

सेवा और व्यक्तिगत जीवन को अलग-अलग कर देखने वालों को समझना चाहिए कि लोक सेवा उनकी साधना है, व्यवसाय नहीं । सेवा को व्यवसाय के रूप मे अपनाने वालों की बात और है । कर्मचारी, नौकर, अधिकारी वर्ग भी जन-सेवक की गणना में आते हैं पर जन सेवा के प्रति न उनमें टीस होती है और न लगन । जिन्होंने सेवा को ही अपना पाथेय चुना है उन लोक सेवी कार्यकर्त्ताओं को तो सेवा का स्तर साधना की तरह ही रखना चाहिए ।

अपना व्यक्तिगत जीवन यदि निकृष्ट रहा तो सेवा साधना के प्रयासों का कोई प्रभाव नहीं होगा । स्वामी रामतीर्थ का यह वचन "लोकसेवियों को याद रखना चाहिए कि सामाजिक कार्यकर्त्ता की वाणी ही नही उसका पूरा व्यक्तित्व ही बोलता है और वाणी की अपेक्षा उसका व्यक्तित्व सुना जाता है । वाणी और कर्म जब मिल जाते हैं तो व्यक्तित्व प्रखर बन जाता है । लोक सेवी ही नहीं अन्य प्रकृति के व्यक्तियो का भी तभी प्रभाव होता है जबकि उनके विचार और कर्म एक हों । एक वेश्या किसी साधारण व्यक्ति को आकर्षित करती है तो उसमे वेश्या की वाणी ही सफल नहीं होती उसके कर्म भी उसी स्तर के होते हैं । मानसिक वासना मनुष्य के मन की कमजोरी है इसलिए वह व्यभिचार की ओर आकर्षित होता है, लेकिन शराबी में भी प्रभावित करने की यही क्षमता रहती है । वह भी अपने विचार और कर्म के द्वारा अपने साथियों को प्रभावित करता है तथा इन्हें भी मद्यपान का व्यसन डाल देता है ।

लोक सेवी के विचार और उसके क्रिया-कलापो में समानता हो तो उसका व्यक्तित्व भी इतना प्रभावशाली बन सकता है कि वह अपने सेवा क्षेत्र मे अभीष्ट परिणाम प्राप्त कर सके । आरम्भ में अपने आचरण और विचारों को पूर्णतः एकात्म कर लेना, एक दम चरित्र को आदर्श बना लेना भी आसान नहीं है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि इसके बहाने विचार और आचार में साम्य स्थापित करने की बात नजर अन्दाज की जाती रहे । इनमें स्तर का अन्तर हो सकता है लेकिन दिशा भिन्न नहीं होनी चाहिए । उदाहरण के लिए लोक सेवी खर्चीले और दान-दहेज वाले विवाहों का विरोध करता है । लोगों को अपनी सामर्थ्य से अधिक खर्च न करने की प्रेरणा देता है । उसके घर मे कभी विवाह हो रहा हो और परिवार काफी बड़ा हो तो थोड़ी धूमधाम तो रहेगी, पर इसके लिए खूब ठाट-बाट और शान-शौकत का प्रदर्शन किया जाय यह सर्वथा अनुचित है । कोई कार्यकर्त्ता दूसरों को सादगी से रहने और मितव्ययी जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देता है तथा स्वयं अपने जीवन स्तर को तथाकथित रूप से उच्च बनाये रहता है तो इसका कोई प्रभाव नहीं होगा । पास में पैसा हो तो भी सादगी और

मितव्ययी जीवन के उपदेष्टा को अपव्ययी व फैशनेबल जीवन व्यतीत नहीं करना चाहिए ।

लोक सेवी को उपार्जन के उपयोग की यही नीति बनाकर चलनी होती है । वह शक्ति जो व्यक्तिगत सुविधाएँ बढ़ाने, विलासिता के साधन जुटाने में खर्च होती है उसे बचाना पड़ता है । यदि अपनी शक्तियाँ सुविधा साधन बढ़ाने में ही खर्च होती रहें तो लोक सेवा के कार्य को न समय मिलेगा और न शक्ति ही पास में बची रहेगी ।

इसलिए प्राचीन काल से अब तक लोक सेवियो की यह परम्परा रही है कि आवश्यकताएँ कम से कम रखी जायें । आवश्यकताओं का विस्तार किया जाय तो उनका अन्त नहीं है । सुविधाएँ कितनी ही बढ़ाई जाये, कोई भी सुविधा अनावश्यक नहीं जँचती । रहने के लिए जैसे साधारण से मकान में गुजारा हो सकता है पर सुविधा की दृष्टि से सोचें तो उसमें तमाम सुविधाएँ आवश्यक प्रतीत होंगी । गर्मी के कारण जी को बड़ी बैचेनी होती है, कूलर चाहिए, एयरकण्डीशन कमरे चाहिए । कूलर के द्वारा गर्मी से तो बचा जा सकता है पर एयरकण्डीशन व्यवस्था नहीं होगी तो सर्दियों में क्या करेंगे ? ऐसा इन्तजाम चाहिए जिससे सर्दियों में भी गरम रहा जा सकता हो । जो भी सुविधाएँ प्राप्त होती हैं आवश्यकताओ का अप्रतिबन्धित रूप से औचित्य ढूँढ़ा जाय तो सभी जरूरी लगेंगी । लोक सेवी को इस सम्बन्ध में औसत और न्यूनतम का दृष्टिकोण अपनाना चाहिए । उन्हें कम करते चला जाय तो हम देखेंगे कि हमारी आवश्यकताएँ कितनी कम है । एक सामान्य व्यक्ति को खाने के लिए पौष्टिक आहार, पहनने के लिए वस्त्र और रहने के लिए मकान उपलब्ध हो, साथ ही शिक्षा और स्वास्थ्य का प्रबन्ध हो तो समझना चाहिए कि इतने साधन हमारे लिए पर्याप्त हैं । इससे अधिक की कल्पना आकांक्षा प्रायः दिग्भ्रमित करने वाली होती है । महापुरुषों ने तो इतने साधनों की अपेक्षा भी नहीं की थी । अमेरिका के सर्वधर्म सम्मेलन में जाने से पूर्व स्वामी विवेकानन्द भारत में कई-कई दिनों तक भूखे रह कर प्रचार करते रहे थे । वस्त्र के नाम पर एक बार तो उनके पास लँगोटी भर रह गई थी । नदी में जब कहीं स्नान किया और लँगोटी सूखने को डाला तो बन्दर उठा कर ले गया और स्वामी जी ने किसी तरह जंगल में ही अपने तन को ढका ।

कहने का अर्थ यह कि लोक सेवी आवश्यकताओं के सम्बन्ध में साधनों पर निर्भर न रहे । वरन् उपलब्ध साधनों से अपनी आवश्यकतायें पूरी कर लें । साधनों पर निर्भर रहा जाय और अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाते रहा जाय तो सेवा साधना का प्रयोजन पूरा नहीं होगा । इसके विपरीत अनिवार्यता की दृष्टि से अपनी आवश्यकताओं पर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि हम जिनके सम्बन्ध में सोचते थे कि इसके बिना तो काम ही नही चलेगा अनिवार्यता की दृष्टि से वह एकदम व्यर्थ है । लोक सेवी सदा से अपनी आवश्यकताएँ न्यूनतम रखते आये हैं । प्राचीनकाल में ऋषि मुनियों के आश्रम जंगल में होते थे । पत्तों और लकड़ी से बनी कुटियाओं में वे निवास करते थे । राजा महाराजा जो उनका सम्मान करते थे, उनके चरणों में बैठते थे ऋषियों की इच्छाओं का आभास होते ही आश्रम को सुविधा सम्पन्न बना सकते थे, लेकिन ऋषियों ने सुविधाओं की हमेशा उपेक्षा की और कष्ट साध्य जीवन ही अपनाया । आवश्यकता हुई भी तो कुछ तो उसे अपने परिश्रम से ही पूरा किया और उसका स्तर भी तपस्वियों जैसा ही रखा । जैसे कणाद ऋषि खेतों में फसल कट जाने के बाद बिखरा हुआ अनाज इकट्ठा कर ही अपना गुजारा करते थे । पिप्पलाद ऋषि पीपल के फलों से ही अपना निर्वाह चलाते थे । प्रचीनकाल में जितने भी ऋषि-मुनि और साधु-ब्राह्मण थे, सब कम से कम साधनों में अपना गुजारा चलाते थे । साधु ब्राह्मण के लिए तो यह मर्यादा थी कि उसे तीन दिन से अधिक का धान्य भी अपने पास नही रखना चाहिए । उसे अपरिग्रही रहना चाहिए । अपरिग्रही अर्थात् कम से कम साधनों से अपना गुजारा चलाना और पास में यदि कुछ हो तो उसे भी लोक-मंगल के लिए अर्पित कर देना ।

लोक सेवी यदि अपरिग्रह का सिद्धान्त अपना कर चले तो उनकी वह शक्ति जो उपार्जन और धन संचय तथा सम्पत्ति की सुरक्षा में खर्च होती थी वह तो बचेगी ही जन-साधारण को भी उससे प्रेरणा मिलेगी, उसके प्रति अपनत्व का भाव उत्पन्न होगा प्रायः समान स्थिति के लोगों में ही परस्पर सम्पर्क और अपनत्व के

सम्बन्ध स्थापित हो पाते हैं । यदि अपने जीवन स्तर को ऊँचा रखा जाय, सुविधाओं से उत्पन्न और सजधज का जीवन व्यतीत किया जाय और जन-सामान्य के बीच जाया जाय तो उनमें सम्पर्क स्थापित नहीं हो सकते, क्योंकि ठाट-बाट से सजाये हुए व्यक्तित्व को देख कर जन-साधारण उसके और अपने बीच अमीरी की एक दीवार देखता है । यह सोचकर वह लोक सेवी की प्रेरणाओं को अव्यावहारिक भी समझने लगते हैं कि आप तो बड़े आदमी हैं आपको क्या मालूम कि हमारी कठिनाइयाँ क्या हैं और हम उनका समाधान किस प्रकार करें ?" इसके विपरीत यदि लोक सेवी सादगी से रहे तो जन-सामान्य में न केवल उसके प्रति अपनत्व की भावना जगती है वरन् वह यह भी अनुभव करता है कि सम्मुख उपस्थित कार्यकर्ता के माध्यम से हमारी अपनी ही अन्तरात्मा बोलती है ।

सादगी से रहने, अपनी आवश्यकताएँ घटाने पर लोक सेवियों को यह भय होने लगता है कि कहीं लोग उन्हें गरीब और कंगाल न समझ लें । यह न सोच लें कि इस व्यक्ति के पास कोई काम-धन्धा नहीं है इसलिए यह लोक सेवा के बहाने कमाने-धमाने निकल पड़ा है । ठाट-बाट और टीम-टाम से रहने पर तो यह आशंका और भी प्रबल हो जाती है । लोग सोचते हैं कि यह कार्यकर्ता दिन रात तो समाज सेवा में लगा रहता है फिर इसके पास ठाट-बाट से रहने लायक आर्थिक साधन कहाँ से आते हैं ? अवश्य ही यह कहीं न कहीं कोई गड़बड़ी करता है ।

और दूसरे कारणों से भी अपनी आवश्यकताओं को कम करने से संकोच हो सकता है । कम साधन और न्यूनतम सुविधाओं में रहने पर अपनी प्रतिष्ठा गिरती दिखाई दे सकती है, लेकिन यह हमारी भ्रांति ही है । वस्तुतः हमने बड़प्पन की कुछ ऐसी परिभाषाएँ बना ली हैं और उस सम्बन्ध में ऐसी मान्यताएँ गढ़ ली हैं कि हमें ठाट-बाट से रहने पर ही अपनी प्रतिष्ठा बनती दिखाई देती है, लेकिन सादगी के कारण प्रतिष्ठा कम नहीं होती उससे तो और भी बड़प्पन मिलता है । महात्मा गाँधी का उदाहरण अभी नया ही है । एक साधारण-सी धोती को अर्ध शरीर पर लपेट कर, कुटिया मे रहने और तीसरी श्रेणी में सफर करने तक उनके जीवन का हर क्रिया-कलाप सादगी से भरा हुआ था । जन-साधारण ने भी उन्हें अपना हृदय साम्राज्य सौंप दिया इसलिए कि उनकी वेशभूषा और रहन-सहन को देखकर हर व्यक्ति यह अनुभव करता था कि गाँधी जी हमारे बीच के हमारी समस्याओं को समझने और अनुभव करने वाले व्यक्ति हैं उनकी महानता की छाप जन मानस पर इसलिए भी पड़ी कि वे सादगी से रहते थे । अर्थात् सादगी के कारण उनकी प्रतिष्ठा और भी निखरी ही ।

वेशभूषा के बाद मुख्य रूप से आती है लोक सेवी की आहार व्यवस्था, सेवा साधना में प्रवृत्त कार्यकर्ताओं को अपनी आहार व्यवस्था भी सादगी पूर्ण और औसत स्तर की ही रखनी चाहिए । इससे एक तो स्वास्थ्य की सुरक्षा हो जाती है, दूसरे लोगों पर उसका प्रभाव भी पड़ता है । भोजन के सम्बन्ध में कुछ व्रत भी लिए जा सकते हैं । घर में रहते हुए तो सादा भोजन सभी करते हैं पर लोक सेवी बाहर जन सम्पर्क या सेवा कार्यों के लिए निकलता है तो लोग सम्मान और श्रद्धा के वशीभूत होकर कई तरह की स्वादिष्ट वस्तुओं की व्यवस्था करते हैं । उनकी सद्भावना को उपेक्षित न करते हुए भी इस बात का ध्यान रखा जाय कि हमारा चटोरापन न बढ़ जायँ । इसके लिए लोगों को पहले से बता दिया जाय कि हम लोग सादा भोजन ही करेंगे, इसके लिए कोई विशेष व्यवस्था न की जाय तो अच्छा रहता है । आतिथ्य करने वाला व्यक्ति तो अतिथि की व्यवस्था अतिथि की तरह करता है । इसलिए विशेष व्यवस्था भी की जाती है लेकिन अतिथि स्वयं जब सामान्य व्यवस्था का आग्रह करता है तो उससे पूरे परिवार में अतिथि के प्रति आत्मीयता और पारिवारिकता की भावना उद्भूत हो जाती है ।

स्वाद लिप्सा से बचाव तो अपने आप में ही एक सद्गुण है जिसकी गणना संयम साधना में होती है, इसके लिए एक नियम बना कर चला जाय । जैसे रोटी के साथ एक लगावन साग ही खायेंगे या एक ही दाल खायेंगे । थाली में भोज्य पदार्थों की संख्या दो या तीन से अधिक नहीं होने देंगे । बाहर क्षेत्रो में सेवा कार्य करने निकलने पर लोग श्रद्धा और स्नेह के वशीभूत होकर कुछ न कुछ-चीजें बनाकर खिलाने के लिए आते है । यहाँ यह धर्म संकट भी उत्पन्न होता है कि यदि उन्हें लेने से एकदम इन्कार कर दिया

जाय तो उनकी भावनाओ को ठेस पहुँचती है और ले लिया जाय तो अपना व्रत टूटता है मर्यादा भंग होती है । ऐसी स्थिति में लायी गई वस्तुओं का नाम मात्र अंश लिया जा सकता है । साथ ही यह व्यक्त भी हो कि कार्यकर्त्ता उन वस्तुओं में कोई रुचि नहीं रखता है । अभिव्यक्ति आन्तरिक होनी चाहिए । यदि प्रस्तुतकर्त्ता सारी ही ग्रहण करने का आग्रह करें तो उसे लेकर अपने आस-पास बैठे व्यक्तियों को वितरित कर दें ।

स्वाभाविक है कि लाने वाला स्नेहपूर्वक लाया था । प्रतिदान स्वरूप उसकी प्रशंसा भी की जानी चाहिए । पर लोग अक्सर उस वस्तु की प्रशंसा करने लगते हैं । जिससे यह ध्वनि निकलती है कि उस वस्तु में उनकी रुचि है । वस्तु की प्रशंसा न करते हुए लाने वाले के स्नेह भाव को सराहा जाय तो ज्यादा अच्छा रहता है । सराहा भी उसे ही जाना चाहिए, क्योंकि प्रस्तुतकर्त्ता स्नेहवश ही तो अमुक वस्तु लाया है ।

बाहर सम्पर्क पर निकलते समय व्रतधारी लोग भी अपनी पसन्द की या व्रत की वस्तुऐं ही प्रस्तुत करने का आग्रह करते देखे जाते हैं । इससे लोक सेवी की अमुक रुचि का आभास होता है, जिसका प्रभाव अच्छा होता है । बिना नमक का भोजन करते है, ऐसा नियम ले रखा है तो ठीक है पर इस तरह के भोजन के साथ दही, दूध या और कोई वस्तु ले रहे हैं तो इसका अर्थ यह नहीं है कि आप अपने आतिथ्यकर्त्ता को वैसी ही फर्माइश करें । लोक सेवियों को जहाँ तक हो सके अपनी ओर से फर्माइश करने, इच्छा व्यक्त करने की आदत से बचना चाहिए । न केवल बचना चाहिए, वरन् कोई फर्माइश ही नहीं करनी चाहिए ।

खानपान की तरह ही लोक सेवी को और दूसरी बातों में भी इतना सतर्क रहना चाहिए कि उन्हें असुविधा हो रही है ऐसा किसी को आभास ही न हो, अपनी आदतों को इतना लचीला बना लिया जाय कि हर परिस्थिति में, हर स्थान पर किसी प्रकार की असुविधा न लगे । जैसे बहुत से व्यक्तियो को रात में सोने से पूर्व या दिन में किसी खास समय पर दूध पीने की आदत है । इस अभ्यास विशेष को बाहर रहते हुए स्थगित कर दिया जाय यही ठीक है । कई स्थानों पर ऐसी स्थिति रहती है कि उस समय दूध उपलब्ध न होता हो तो लोगों को व्यर्थ ही परेशानी उठानी पड़ेगी और लोक सेवी के व्यक्तित्व का भी गलत प्रभाव पड़ेगा । इसी प्रकार किसी को दस बजे भोजन करने की आदत है । बाहर रहते हुए भोजन बनने में विलम्ब हो रहा हो तो अपने अभ्यास और नियम को इतना कठोर न बना लिया जाय कि इस समय भोजन मिलना ही चाहिए । स्वभाव में नियमितता और अनुशासन हो यह बात तो ठीक है लेकिन इनके लिए दूसरों को बाध्य किया जाय इसे उचित नहीं कहा जा सकता ।

दिनचर्या में स्वावलम्बन नियमितता और अनुशासन भी लोक सेवी की एक मर्यादा है । स्वावलम्बन, नियमितता और अनुशासन मनुष्य के व्यक्तित्व को संवारता तथा उसे उज्ज्वल बनाता है । स्वावलम्बन का अर्थ है अपने काम अपने हाथ से ही किए जायें । घर में हों अथवा बाहर इन गुणो को अपने स्वभाव में सम्मिलित करना कोई कठिन नहीं है । परिवार में रहते हुए भी जहाँ तक हो सके अपने काम अपने हाथ से ही किए जाने चाहिए । अपने हाथ से कपड़े धोने, स्वयं हजामत बनाने और दूसरे जरूरी काम भी स्वय ही करने जैसे काम स्थूल दृष्टि से किसी के लिए भले ही महत्व न रखते हों पर इनसे व्यक्तित्व मे स्वावलम्बन की जो सद्‌वृति आती है वह व्यक्तित्व को प्रखर बनाती है । अपने आवश्यक कार्यों को स्वयं न करने वाला व्यक्ति एक दृष्टि से दूसरों पर निर्भर ही कहा जायेगा । कुछ काम ऐसे हो सकते हैं जिनमें लगने वाला समय बचाया जा सकता है और उस समय को दूसरे महत्त्वपूर्ण कामों में लगाया जा सकता है । पर कोई काम ऐसे भी होते है जिन्हे दूसरों से करवाया जाय तो और भी ज्यादा समय लगता है । उदाहरण के लिए हजामत को ही ले । यदि अपने ही हाथों मे शेव किया जाता है तो शेव मे मुश्किल से पाँच मिनट लगते है, परन्तु सैलून में जाकर हजामत बनवाने के लिए पन्द्रह मिनट इन्तजार करना पड़ेगा, समय नष्ट करना पड़ेगा और पैसा भी खर्च करना पड़ेगा ।

सुविधा सम्पन्न और भौतिक जीवन को ही अपनाने वाले लोग अपने दैनिक कार्यों के लिए दूसरों की सेवा ग्रहण करे । यह बात अलग है, परन्तु लोक सेवी जिसने कि सेवा को ही अपने जीवन का लक्ष्य माना है और उसके लिए सादा सरल तथा औसत स्तर का

जीवन व्यतीत करते हुए समाज के सम्मुख अपने माध्यम से आदर्श उपस्थित करने का रास्ता अपनाया है उन्हें तो दिनचर्या के विषय में स्वावलम्बी ही होना चाहिए ।

दिनचर्या में स्वावलम्बन, व्यक्ति को अपना जीवन नियमित बनाने में भी सहायक होता है, पर निर्भर व्यक्ति को अपनी छोटी-छोटी जरूरतों लिए प्रायः दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है और उस कारण होने वाले विलम्ब से अपने नियत कार्यक्रम स्थगित करने पड़ते हैं, उनमें फेर बदल करना पड़ता है जैसे कहीं जाना है, स्टेशन पर गाड़ी पकड़नी है और कोई महत्त्वपूर्ण चीज तैयार न हो पायी या धोबी ने कपड़े धोकर नहीं दिए । ऐसे-ऐसे बहुत से प्रसंग होते हैं जिनमें स्वावलम्बी न होने के कारण अव्यवस्था आ जाती है । अपने महत्त्वपूर्ण और आवश्यक कार्यों की व्यवस्था स्वयं करने के साथ-साथ लोक सेवी को नियमितता भी अपने जीवन का एक अंग बनाना चाहिए ।

नियमितता अर्थात् प्रत्येक कार्य को सुव्यवस्थित रूप से नियमपूर्वक करने की आदत । यदि व्यवस्था बुद्धि जागृत हो तो स्वल्प साधनों और साधारण वस्तुओं को भी इस ढंग से सजाया और सँवारा जा सकता है कि उसकी गरिमा वैभव सम्पन्नता से लाख गुना बेहतर लगे । महँगी वस्तुएँ भी फूहड़ ढंग से रखी जायें तो कबाड़ खाने सरीखी लगती हैं और थोड़े से उपकरणों को भी स्वच्छता से सुरुचिपूर्वक सजाया जाय तो देखने वाले का मन बरबस ही आकृष्ट कर लेती हैं । सुव्यवस्था और सुरुचि की वृत्ति सर्वसाधारण के लिए शिक्षण का भी माध्यम बनती है । जिसे देखकर लोग यह सीखते हैं कि कम साधनों और अभावों में भी किस प्रकार कलात्मक ढंग से रहा जा सकता है ।

समय की पाबन्दी, अनुशासन की नियमितता के अन्तर्गत आ जाती है । लोक सेवी को समय के पालन और क्रमबद्ध दिनचर्या का बड़ी कड़ाई से ध्यान रखना चाहिए और उनका पालन करना चाहिए । हमारा ढेरों समय इसी कारण व्यर्थ चला जाता है कि हमारी दिनचर्या व्यवस्थित और क्रमबद्ध नही होती । घर में रहते हुए भी और सेवा कार्यों के लिए बाहर निकलते समय भी नियत समय पर नियत कार्य करने, समय की पाबन्दी का ध्यान रखने की आदत प्रत्येक लोक सेवी को अपने स्वभाव में सम्मिलित करनी चाहिए । इसके लिए स्वयं सजग रहते हुए अपने साथियों और सहयोगियों को भी समय की पाबन्दी का पालन करने के लिए प्रेरणा दी जाय ।

बाहर सेवा के लिए निकलते समय लोक सेवियों को चाहिए कि वे अभीष्ट कार्य स्वयं सम्पन्न करने के लिए आगे बढ़ें । आमतौर पर होता यह है कि लोक सेवी स्वयं कोई कार्य करने की अपेक्षा स्वयं सेवकों को उसके लिए निर्देश देते हैं, आदेश करते है और उनसे यह अपेक्षा करते हैं कि जैसा वे चाहते हैं वैसा ही कार्य वे कर लेंगे । जैसे श्रमदान या स्वच्छता सम्वर्धन का कार्य करना है । इसके लिए कार्यकर्त्ता गाँव में गए और वहाँ के निवासियों को सफाई का महत्त्व तथा श्रमदान की आवश्यकता समझाने लगे, केवल समझाने पर ही कोई तैयार हो जायेगा यह तो अपेक्षा नही की जा सकती । ठोस परिणाम के लिए श्रमदान से गन्दगी निवारण का कार्यक्रम भी बनाना पड़ेगा । उसका व्यावहारिक कार्यक्रम प्रस्तुत करने पर कुछ उत्साही लोग तैयार हो सकते है । उन्हें साथ लेकर सफाई के लिए निकल पड़ें और स्वयं उसमे भाग नहीं लिया तो लोगो पर उसका जरा भी प्रभाव न होगा । लोग समझेंगे कि हमारे ऊपर हुक्म चलाया जा रहा है और उससे कार्य के प्रति महत्त्व बोध भी कम होगा तथा लोक सेवी के प्रति श्रद्धा भी घटेगी । ऐसे समय पर उचित यही रहता है कि लोक सेवी स्वयं पहले उस काम में जुट जाय और लोगों को सहयोग देने लगे । स्मरण रखना चाहिए कि लोक सेवी अपने आपको विशिष्ट व्यक्ति कदापि व्यक्त न करे । जन-साधारण से उसके व्यक्तित्व का स्तर ऊँचा है अवश्य पर उसे स्वयं अपनी ओर से विज्ञापित नहीं करना चाहिए । महात्मा गाँधी जब विश्व-विख्यात हो गए थे तब भी उन्होंने अपनी ओर से कभी व्यक्त नहीं किया कि वे बड़े आदमी हैं और बड़े आदमी होने के कारण अमुक काम नहीं करेंगे अथवा उसके लिए केवल मार्ग-दर्शन भर देंगे । उनके जीवन की दो घटनाएँ उल्लेखनीय हैं जो यह व्यक्त करती हैं कि छोटे समझे जाने वाले कार्यो के प्रति उनका दृष्टिकोण कैसा था और वे अपने सहयोगियों का हृदय किस प्रकार जीत लिया करते थे ।

एक बार गाँधी जी अफ्रीका से ब्रिटेन गए । उस समय वे दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह आन्दोलन का संचालन कर रहे थे । जिस समय वे इग्लैण्ड पहुँचे

उन्हीं दिनों इंग्लैण्ड में पढ़ रहे भारतीय छात्रों ने एक समारोह का आयोजन किया । उन्होंने किसी भारतीय व्यक्ति को ही इस समारोह का अध्यक्ष बनाने की बात सोची । कुछ लोगों ने गाँधी जी का नाम सुझाया और निश्चित कर लिया कि गाँधी जी को ही अध्यक्ष बनाया जाय । गाँधी जी ने अध्यक्ष बनना स्वीकार कर लिया और समारोह आरम्भ होने से पूर्व ही वहाँ पहुँच गए ताकि आयोजन की व्यवस्था में कुछ सहयोग दे सकें । इस समय समारोह में आमन्त्रित अतिथियों के लिए स्वल्पाहार तैयार किया जा रहा था । गाँधी जी भी उसमें जुट गए । छात्रों ने गाँधी जी को देखा तो था नहीं, जो उन्हें पहचानते । पर जब उन्हें निमन्त्रित करने वाले छात्र समारोह आरम्भ होने के समय आये और उन्होंने गाँधी जी को पहचाना तो अपने साथियों को डाँटने लगे । गाँधी जी ने उन्हें समझाते हुए कहा कि—इसमें गलत क्या बात हुई । क्या मैं इस लायक भी नहीं हूँ कि जो काम मैं कर रहा हूँ वह न कर सकूँ ।

सभी छात्र महात्मा गाँधी की इस महानता के सामने अभिभूत हो गए । इसी प्रकार की एक और घटना साबरमती आश्रम की है । आश्रम मे एक लड़का रहता था उसके पास ओढ़ने के लिए साधारण-सी चादर मात्र थी । गाँधी जी ने उसका बिस्तर देखा तो पूछा—"क्या तुम्हें इस बिस्तर में नींद आ जाती है ठण्ड नही लगती ।" लड़के ने कहा—"बापू ठण्ड तो लगती है ।" गाँधी जी ने अगले दिन ही उसे अपने हाथ से एक रजाई बनाकर दी । अपने पास समय होते हुए उन्होंने यह नहीं सोचा कि इस काम को किसी दूसरे से कराया जा सकता है ।

अपने सहयोगियों का हृदय जीतकर ही गाँधी जी महात्मा हो सके और हृदय जीतने का एक ही उपाय है कि सेवापरक कार्यों में जरा भी संकोच न करना । परामर्श और निर्देश तो सभी दे सकते हैं । किसी गाँव मे सड़क नहीं है, यह तो हर कोई कह सकता है, कि यहाँ सड़क बननी चाहिए । कैसे बने, सरकार को बनाना चाहिए, गाँव के लोगों को श्रमदान द्वारा बनाना चाहिए आदि के सुझाव भी हर कोई दे सकता है, लेकिन उसके आगे कोई नहीं बढ़ता । लोक सेवी भी उसी तरह का परामर्श दे, वैसे ही सुझाव दे तो इसमें उनकी क्या गरिमा रही ? लोक सेवी की गरिमा इसी में है कि वह अपने माध्यम से, व्यावहारिक रूप से, स्वयं पहल करके जन-साधारण का मार्ग-दर्शन करें ।

## व्यवहार कुशलता अर्थात् आदर्श व्यवहार

सम्पर्क में आते ही मनुष्य के जिस कृत्य का सर्वप्रथम प्रभाव पड़ता है, वह व्यवहार ही है । किसी व्यक्ति की वेशभूषा, आकृति और उसके बोलने करने का ढंग ही प्रथम सम्पर्क में सामने आता है । खान-पान की आदतें, रहन-सहन, प्रकृति, स्वभाव और आचार-विचार तो बाद में मालूम पड़ते है । मनुष्य के व्यक्तित्व का पहला परिचय व्यवहार से ही मिलता है । इसीलिए कहा गया है कि व्यवहार मनुष्य की आन्तरिक स्थिति का विज्ञापन है । दीखने में कोई बड़े सौम्य दिखाई देते हैं, आकृति बड़ी शान्त और सरल होती है लेकिन जैसे ही कोई उनसे सम्पर्क करता है तो उनकी वाणी से वे सभी बातें व्यक्त हो जाती हैं जो उनके स्वभाव में दुर्गुणों के रूप में शामिल है ।

असंस्कृत मन अशिष्ट, भद्दे और फूहड़ व्यवहार के लिए प्रेरित करता है । कुसंस्कारी चित्त उसी प्रकार व्यवहार के माध्यम से अपना परिचय दे देता है और पहले सम्पर्क की प्रतिक्रिया अन्त तक अपना प्रभाव कायम रखती है, यहाँ तक कि वह बाद के सभी अच्छे प्रभावों को भी धूमिल कर देता है । इसलिए लोक सेवी को अपने व्यक्तित्व का गठन करते समय आचरण, रहन-सहन और स्वभाव को आदर्श रूप में प्रस्तुत करने के साथ-साथ व्यवहार के द्वारा भी अपनी आदर्शवादिता का प्रभाव छोड़ना चाहिए ।

शिष्टता और शालीनता सद्व्यवहार के प्राण हैं । व्यवहार में इन गुणों का समावेश होने पर ही पता चलता है कि व्यक्ति कितना सुसंस्कारी है । प्रायः लोग आत्मीयता जताने या अपने को दूसरों से बड़ा सिद्ध करने के लिए अन्य व्यक्तियों से आदेशात्मक शैली तू-तेरे का सम्बोधन करते देखे जाते है इसका यह अर्थ होता है कि व्यक्ति में सेवा-भावना होते हुए भी अच्छे संस्कारों की कमी है अथवा वह केवल अपने अहंकार का पोषण करने के लिए इस क्षेत्र में आया है । हर किसी से आप या तुम का

सम्बोधन तथा बात-चीत करने में निर्देशात्मक शैली के स्थान पर सुझाव शैली का उपयोग सिद्ध करता है कि लोक सेवी कोई सन्देश लेकर पहुँच रहा है, न कि अपने बड़प्पन या विद्वता की छाप छोड़ने के लिए । शिष्टता का अर्थ है । *प्रत्येक के साथ सम्मानपूर्ण व्यवहार और* शालीनता अर्थात् प्रत्येक के प्रति स्नेह और आत्मीयता की स्तरीय अभिव्यक्ति ।

स्नेह और आत्मीयता तो सर्वत्र व्यक्त की जाती है । असंस्कृत वर्ग के दो मित्र मिलते हैं तो वे भी स्नेह प्रदर्शन और प्रेम की अभिव्यक्ति करते हैं । लेकिन उनकी भाषा मे जो फूहड़पन होता है वह अभिव्यक्ति के स्तर में गिरावट ला देता है । लोक सेवी को तो अपने आचरण और व्यवहार द्वारा भी लोक-शिक्षण करना है, साथ ही अपने व्यक्तित्व का स्तर भी ऊँचा उठाना है । अतः यह आवश्यक है कि व्यवहार में स्नेह, प्रेम का समावेश करने के साथ-साथ शिष्टता और शालीनता भी समाविष्ट की जाय ।

शिष्टता के साथ शान्तिपूर्वक बोलने और आवेशग्रस्त न होने की आदत भी लोक सेवी के स्वभाव का अंग होना चाहिए । वैसे बहुत से लोग स्वाभाविक रूप से ही कठोर और कटुभाषी होते हैं । जोर से बोलने या कटूक्तियाँ कहना उनके स्वभाव में ही रहता है, लेकिन यह भी सम्भव है कि वे अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ रहने की दृष्टि से कठोर व्यवहार कर रहे हों । स्वभावगत कटुता तो लोक सेवी के स्वभाव में होनी ही नहीं चाहिए । सिद्धान्तो के प्रश्न पर भी लोक सेवी का व्यवहार कटु कर्कश न हो । दृढ़ता बात अलग है और कटुता बात अलग है ।

दृढ़ता का अर्थ है अपने सिद्धान्तों और मर्यादाओं पर अडिग रहने की निष्ठा । कई अवसर ऐसे आते है जब सिद्धान्तों से विचलित होने का भय उपस्थित हो जाता है । लोग अपने स्नेह और श्रद्धावश उस तरह का आग्रह भी करते हैं । लोगों की श्रद्धा व्यक्ति के प्रति केन्द्रीभूत होकर उसे सम्मानित करने, अभिनन्दित करने के लिए भी उमड़ सकती है और व्यक्तिपूजा का क्रम चल पड़ता है । ऐसी स्थिति में अपने आदर्शों पर दृढ़ रहने, मर्यादाओं का पालन करने के लिए दृढ़ रहना तो आवश्यक है पर कटु होने की कहीं भी आवश्यकता नहीं है ।

अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ होते हुए भी लोगों के आग्रह को, जिनसे कि मर्यादा टूटने का डर रहता है, विनम्रतापूर्वक बचा जा सकता है । महात्मा गाँधी के जीवन में ऐसे कई प्रसंग आये जबकि उन्हें अपने सिद्धान्तों *की रक्षा के लिए दृढ़ता बरतने की आवश्यकता हुई ।* परन्तु गाँधी जी बिना किसी प्रकार की कटुता व्यक्त किए अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ बने रहे । उनके विदेशी मित्रों ने एक बार प्रीतिभोज का आयोजन किया । उस समय गाँधी जी विदेश मे पढ़ रहे थे । प्रीतिभोज का आयोजन करने वाले मित्र उनके सहपाठी ही थे, भोज में माँस भी पकाया गया और परोसा जाने लगा तो उन्होने मना करते हुए कहा कि मै इसका इस्तेमाल नहीं करता ।

मित्रों ने समझाया कि—इसमें क्या नुकसान है । डॉक्टर लोग तो इसे स्वास्थ्यवर्धक बताते हैं ।

गाँधी जी ने कहा—"परन्तु यह मेरा व्रत है मैं कभी माँसाहार न करूँगा ।" मित्र वाद-विवाद पर उतर आये और तर्क देने लगे । बहुत सम्भव था कि गाँधी जी भी वाद-विवाद करने लगते । मित्रों ने यह कहकर तर्क-युद्ध छेड़ने का प्रयास किया कि, "उस व्रत की क्या उपयोगिता जिससे लाभदायक कार्यो को न किया जा सके ।" तो गाँधी जी ने यह कहकर विवाद को एक ही वाक्य मे समाप्त किया । इस समय मैं व्रत की आवश्यकता, उपयोगिता का भी ख्याल नहीं कर रहा हूँ, बल्कि मेरे लिए तो अपनी माँ को दिया गया वह वचन ही काफी है जिसमें कि, "मैने माँस न खाने और शराब न छूने का संकल्प लिया था ।"

गाँधी जी के मित्र वहीं चुप रह गए । यहाँ सिद्धान्त रक्षा भी हो गई और कटुता भी उत्पन्न न हुई । लोक सेवी को अपनी बात नम्रता और शालीनतापूर्वक कहनी चाहिए । यह नम्रता और शालीनता अन्तःस्थल से व्यक्त होनी चाहिए अन्यथा व्यवहार में बनावटीपन भी हो सकता है । आन्तरिक क्षेत्र में द्वेष-दुर्भाव रहते हुए भी लोग मीठा बोलने और अपने को हितैषी जाहिर करने का अच्छा अभ्यास कर लेते है । ठग और जालसाज अपने मन में दूसरे व्यक्ति को ठगने, उसका धन छीनने की भावना रखते हुए भी बाहर से ऐसा व्यक्त करते हैं कि चतुर से चतुर व्यक्ति भी उनसे धोखा खा जाते है, लेकिन इस

बनावटीपन का प्रभाव कुछ देर तक ही रहता है । उस क्षणिक प्रभाव में ही ठग, जालसाज अपना मतलब हल कर चलते बनते हैं ।

लोक सेवी का उद्देश्य तो स्थायी प्रभाव छोड़ना और व्यक्ति की जीवन क्रिया मोड़ना है । इसलिए उसका व्यवहार आन्तरिक भावनाओं से संयुक्त होना चाहिए । सोचा जा सकता है कि हमारे अन्तःकरण में जब सद्भावनाएँ, विनयभाव, स्नेह और प्रेम सौजन्य उत्पन्न होगा तब लोगों से अच्छा व्यवहार करेंगे । यह भी एक आत्म प्रवंचना है । लोक सेवी को अपने व्यवहार मे आन्तरिक गहराई तो लानी चाहिए, पर उसके लिए अन्तःकरण में सद्भावनाओं के उदय तक अपने व्यवहार का स्तर गिरा ही नहीं रहने देना चाहिए, क्योंकि व्यवहार का उद्देश्य प्रभाव उत्पन्न करने के साथ-साथ शिक्षण करना भी तो है । व्यवहार-कुशलता प्राप्त करने के साथ-साथ आन्तरिक निष्ठा के समावेश की साधना भी नियमित रूप से चलती रहे ।

यदि आन्तरिक एकात्मता उत्पन्न करने के प्रयास न किए गए तो व्यवहार में बनावटीपन बना ही रहेगा और एक न एक दिन वास्तविकता सामने आने से न रुकेगी । बनावटीपन के लिए, मिथ्याचरण के लिए कितना ही अभ्यास किया जाय, पर व्यक्ति का अपने मस्तिष्क पर मे जैसे ही नियंत्रण थोड़ा कम होता है वैसे ही वास्तविकता प्रकट हो जाती है । एक छोटी-सी घटना है—उत्तर प्रदेश के प्रमुख राजनेता जो पर्वतीय क्षेत्रों में पैदा हुए थे एक बार गम्भीर रूप से बीमार पड़े । उन्होंने आरम्भ से ही हिन्दी और अंग्रेजी बोलने का अभ्यास कर रखा था । प्रायः वे अपने मित्रों और मिलने वालों से हिन्दी तथा अंग्रेजी मे बातें किया करते थे । विशेषतः पढ़े-लिखे व्यक्तियों से तो अंग्रेजी में ही बात करते थे । बीमार पड़ने पर काफी समय तक तो वे डॉक्टरों से अंग्रेजी में बातें करते रहे, लेकिन थोड़ी देर में हिन्दी बोलने लगे । स्वास्थ्य जैसे-जैसे बिगड़ता गया वैसे-वैसे मस्तिष्क पर से उनका नियन्त्रण कम होने लगा और एक स्थिति तो ऐसी आ गई कि वे अपने क्षेत्र की प्रचलित भाषा-पर्वतीय भाषा में बोलने लगे । सुनने वाले लोग उनके मुँह से वह भाषा सुनकर बड़े आश्चर्यचकित हुए क्योंकि उन लोगों ने जो काफी समय से उनके साथ काम करते रहे थे कभी वह भाषा उनके मुँह से नहीं सुनी थी ।

कहने का अर्थ यह कि बाहरी अभ्यास मस्तिष्क पर नियन्त्रण रहने तक ही साथ देते हैं । मस्तिष्क पर से जैसे ही नियन्त्रण हटा या कम हुआ व्यक्ति के आन्तरिक भाव दुर्गुण उभर कर सामने आ जाते हैं । नौकर मालिक के सामने अपने आपको बड़ा नियन्त्रित रखता है । यदि न रखे तो मालिक की डाट-फटकार से वह क्षणभर में उत्तेजित हो उठे और सामना करने लगे । क्लर्क अपने अधिकारी के सम्मुख भी वैसा ही नियन्त्रण रखता है । उनके मन में अधिकारी के प्रति कोई श्रद्धा नहीं होती, फिर भी अपने हित के लिए या काम निकालने के लिए साहब का सम्मान करता है अथवा चापलूसी में लगा रहता है । लोक सेवी भी यदि विनय, सद्व्यवहार, सुसंस्कृत आचरण और करुणा को अपने अन्तःकरण में विकसित न कर सके तो उनका व्यवहार भी बनावटी और मिथ्या हो जाता है । उस व्यवहार की जब कलई खुलती है तो सेवा कार्य के विपरीत परिणाम सामने आने लगते है ।

लोक सेवी को दूसरों से सम्पर्क करते समय, उन्हें सत्प्रेरणाएँ प्रदान करते समय निन्दा आलोचना से हमेशा बचना चाहिए । हो सकता है वह आलोचना सुधार की भावना से की गई हो पर सुनने वाले के मन पर उसकी उल्टी ही प्रतिक्रिया होती है । वह उसे अपना अपमान समझने लगता है और बैर को बांध लेता है । जैसे किसी से कहा जाय—"आप बड़े गलत आदमी हैं ऐसे काम क्यों करते हैं ।" तो इस वाक्य में व्यक्ति के प्रति घृणा की भावना ही व्यक्त होती है । कहने वाला भले सदाशयी हो पर वह अपने मन में शत्रुता की गाँठ बना लेगा । यदि सुधार की भावना से कहना था तो यों कहना ज्यादा ठीक रहता कि—"इस काम में तो हानियाँ हैं, ये दोष हैं, ये दुष्परिणाम हैं । आपने भूल के कारण ऐसा कर लिया भविष्य में बचे तो अच्छा है ताकि इससे होने वाली हानियाँ न उठानी पड़ें ।" आवश्यक लगने पर उस भूल को सुधारने के लिए मार्ग-दर्शन भी दिया जा सकता है ।

लेकिन ऐसे सुझाव भी किसी के सामने दिए जाये तो वह भी सुनने वाले को ठेस पहुँचायेंगे । इसलिए निन्दा आलोचना तो की ही न जाय, सुधार के उद्देश्य से त्रुटियों

भी अकेले एकांत में जहाँ लोक सेवी और वह व्यक्ति ही हो ऐसे स्थान पर ही बतायी जायें । निन्दा आलोचना से बचते हुए समीक्षा और सुझाव एकांत में दिए जायें पर प्रशंसा सराहना करने का कोई भी अवसर हाथ से न जाने दिया जाय । सेवा कार्यों में जो भी व्यक्ति कोई सहयोग देने के लिए आते हैं उनमें अच्छे तत्वों की, परमार्थ निष्ठा की मात्रा रहती ही है । प्रशंसा करने पर व्यक्ति के कार्यों और उसकी निष्ठा को सराहा जाने पर उसे उन अच्छे तत्वों के विकास की प्रेरणा मिलती है प्रशंसा सबके सामने की जाय, पर उस प्रशंसा के साथ यह सतर्कता रखी जाय कि किन्हीं प्रशंसित व्यक्ति में मिथ्याभिमान न आने लगे ।

अनावश्यक प्रशंसा से व्यक्ति में मिथ्याभिमान भी उत्पन्न होता है और वह प्रशंसा चापलूसी के स्तर की बन जाती है । प्रशंसा और चापलूसी में वही अन्तर है जो अमृत और विष में । प्रशंसा से व्यक्ति को प्रोत्साहन मिलता है और वह अपना उत्कर्ष करने की ओर बढ़ने लगता है जबकि चापलूसी व्यक्ति में मिथ्याभिमान जगा देती है जो उसे पतन के गर्त में धकेल देती है और दिग्भ्रमित कर देती है । प्रशंसा और चापलूसी की एक कसौटी है । जब किसी व्यक्ति के गुणों को सराहा जाता है, उसके कार्यों के साथ ही उसकी निष्ठा भावना को भी सम्बोधित किया जाता है तो वह प्रशंसा होती है । उससे साधारण से साधारण व्यक्ति भी यह अनुभव करने लगता कि हमें इन गुणों के कारण प्रशंसा मिल रही है । अतः इन गुणों का विकास करना चाहिए । चापलूस व्यक्ति के स्वर में प्रायः दीनता का भाव रहता है तथा वह जिसकी प्रशंसा की जा रही है उसकी तुलना उसी स्तर के व्यक्ति से भी करता है और तृतीय पुरुष को हर दृष्टि से घटिया सिद्ध करने की चेष्टा करता है । जैसे कोई विद्यार्थी अमुक अध्यापक की चापलूसी करता है तो वह अमुक अध्यापक की सारी विशेषताओं को अतिरंजित रूप में तो चित्रित करेगा ही, उसके दोषों को भी नितांत स्वाभाविक बतायेगा और साथ ही किसी तीसरे अध्यापक से उसकी तुलना करते हुए उसे सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने की कोशिश करेगा ।

प्रशंसा से प्रोत्साहन तो मिले पर उसके कारण अहंकार न जागे इसलिए प्रशंसित व्यक्ति की न किसी से तुलना की जाय और न ही उसके दोषों को गुणों के रूप में बखाना जाय । इस तरह की प्रशंसा व्यक्ति को अभीष्ट दिशा में आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है ।

कमियाँ और विशेषताएँ सभी में होती हैं । स्वयं लोक सेवी भी पूर्णतः निर्दोष या समस्त विशेषताओं से युक्त नहीं होता । अपनी कमियों को हम जिस प्रकार दूर करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, साथ ही यह भी पसन्द नहीं करते कि उनकी चर्चा सार्वजनिक रूप से हो, उसी प्रकार कोई भी अपनी कमजोरियों को सार्वजनिक रूप से चर्चित होना या सबके सामने सुनना पसन्द नहीं करता । जहाँ तक हो सके अपनी ओर से उन्हें व्यक्तिगत लक्ष्य कर न कहा जाय तो ही अच्छा रहता है । सामान्य सिद्धान्त के रूप में उनका विश्लेषण अलग बात है, अन्यथा व्यक्तिगत टीका टिप्पणी के रूप में उनकी चर्चा करना सम्बन्धित व्यक्ति के मन में कटुता उत्पन्न कर देता है । कार्यकर्ताओं को अपने दोषों को सुधारने के साथ गुणों के विकास की दिशा भी देनी चाहिए । उन गुणों के विकास को सबके सामने प्रोत्साहन दिया जाय तो लोक सेवी की सुधार चेष्टा में और भी प्रखरता आ जाती है ।

जन-सम्पर्क के समय शिष्ट और शालीन व्यवहार तथा प्रशंसा और प्रोत्साहन के साथ-साथ लोक सेवी को चर्चा सम्वाद में धैर्यवान भी होना चाहिए । लोक सेवी को निश्चित रूप से लोगों तक अपनी बात पहुँचानी है । वह एक सन्देश लेकर पहुँचता है पर लोग उसे अपने प्रतिनिधि तथा मार्गदर्शक के रूप में देखते हैं । इसलिए वे अपनी समस्याओं और कठिनाइयों को उसके सामने रखना चाहते हैं और लोक सेवी से यह आशा करते है कि वह उनकी बातों को धैर्यपूर्वक सुनेगा, उसकी कठिनाइयों पर ध्यान देगा तथा उनका समाधान सुझायेगा । इस जन-अपेक्षा की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए तथा न ही अपनी बात कहने के लिए उतावलेपन से काम लिया जाय । लोक सेवी, जन-सामान्य के पास एक सन्देश लेकर पहुँचता है, सन्देश सुनाया जाये, अपनी बात कही जाय पर कहने की सार्थकता तभी सिद्ध होगी जब सुनने वाला सुनने के लिए तैयार हो ।

लोगों की बात न सुनकर लोक सेवी अपनी बात कहने का ही उतावलापन करता है तो सुनने की भावस्थिति नहीं आ पाती, क्योंकि चित्त में तो वे समस्याएँ घुमड़ रही होती हैं जो व्यक्ति को आकुल-

व्याकुल बनाये हुए है । उन्हें तात्कालिक आवश्यकता उन समस्याओं के समाधान की है । भगवान बुद्ध के शिष्य एक बार किसी व्यक्ति को धर्मोपदेश दे रहे थे । वह व्यक्ति उन उपदेशों को सुन तो रहा था पर उसका ध्यान कहीं और ही बँटा हुआ था । शिष्यों ने बार-बार उस व्यक्ति को ध्यान देने के लिए कहा पर वह ध्यान दे ही नहीं पाता । शिष्यों को लगा कि हमारी शिक्षण पद्धति में कहीं त्रुटि है । इसलिए वे उस व्यक्ति को बुद्ध के पास ले गए और सारा विवरण कह दिया । बुद्ध ने उस व्यक्ति से पहले कुशल-क्षेम पूछा तो उसने बुद्ध से अपनी समस्याएँ कहीं । बुद्ध ने पहले उनका समाधान किया । समस्याओं के समाधान का रास्ता मिल गया है यह सन्तोष होने के बाद उस व्यक्ति ने पूछा कि आपके शिष्य मुझे आपके पास क्यों लाये हैं ? तब बुद्ध ने उसे धर्मोपदेश दिया । जहाँ लोगों को लोक-मंगल की दिशा देनी हो, किसी पुण्य अभियान में संलग्न करना हो या उस अभियान में संलग्न व्यक्तियों को अगले चरण की दिशा बोध कराना हो तो आवश्यक है कि उन लोगों को पहले अपनी स्थिति बता लेने दी जाये, समस्याओं को शान्त चित्त से सुन लिया जाय । जब उसे आत्मीयता का बोध होने लगे तब अपनी बात कही जाय ।

इस सम्बन्ध में कोई सुझाव देने की व्यावहारिक पद्धति भी यही है । कोई सुझाव देने से पहले अपनत्व के सम्बन्ध स्थापित किए जायें, आत्मीयता की अनुभूति कराई जाय । तब कहीं कही गई बात का प्रभाव होगा । अन्यथा जो कुछ कहा गया है वह अपरिचितों से किए गए वार्तालाप की तरह ही प्रभावहीन होगा । परिवार मे अपनत्व की भावना होने के कारण ही घर के सदस्य एक-दूसरे की छोटी से छोटी बात और छोटे से छोटा सुझाव मानते हैं, जबकि बाहर अपनत्व का संस्पर्श न मिलने के कारण महत्त्वपूर्ण से महत्त्वपूर्ण बात तक अस्वीकार कर दी जाती है । लोक सेवी को भी अपनत्व पैदा कर अपनी बात कहने का अभ्यास करना चाहिए । यह दृष्टिकोण नहीं बनाया जाय, कि राजनैतिक प्रत्याशी तो अपने स्वार्थ के लिए चिकनी-चुपड़ी बातें बनाता है । हम तो उन लोगों के भले की बात ही करते हैं, वे सुनें तो सुनें, समझें और मानें तो मानें, हमे क्या ?

यह दृष्टिकोण अपनाया गया तो सेवा का साधना स्तर कहाँ रहा ? फिर तो वह उन वेतन भोगी कर्मचारियों जैसा काम हो गया जो केवल वेतन के लिए ही काम करते हैं और उस काम के सफल-असफल होने से अपना कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ते । सफलता-असफलता की चिन्ता तो लोक सेवी को भी नहीं करनी चाहिए लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि सेवा के साथ अपना मनोयोग भी न जोड़ा जाय । मनोयोग इसी का नाम है कि आप अपने कार्य में कितनी दिलचस्पी ले रहे हैं ।

स्थानीय कार्यकर्त्ताओं से बातचीत करते समय मार्गदर्शन देते समय उनकी रुचि और क्षमता का ध्यान रखा जाय तो उनका सफल उपयोग हो सकता है । जैसे श्रमदान के द्वारा कहीं सड़क का निर्माण हो रहा है या गाँव में सफाई के लिए नालियाँ खोदी जा रही हैं तो अनेकों स्वयं सेवक उसमें जुटेंगे । किसी की रुचि खुदाई करने में है, शरीर भी अच्छा हट्टा-कट्टा और मजबूत है तो उसे दूसरे काम में न लगाया जाय । यदि उसे दूसरे काम में लगा दिया गया तो जिस काम में यह लगता था उस काम में उसकी क्षमता लगेगी नहीं और दूसरे काम में वह वांछित मनोयोग जुटा नहीं पायेगा या किसी समारोह की ही बात लें । एक समारोह का आयोजन करने में बहुत से पक्षों से व्यवस्था और तैयारी करनी पड़ती है । अतिथियों को आमन्त्रित करने, प्रचार करने, पण्डाल बनाने और लोगों को बिठाने जैसे ढेरों काम करने पड़ते हैं । लोक सेवी को कभी यदि ऐसे कार्यों का नेतृत्व या संचालन करना पड़े तो उसे इतनी सूझ-बूझ से काम लेना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी रुचि और क्षमता के अनुसार काम मिले । यदि ऐसा नहीं हो सके तो कम से कम यह भी नहीं होना चाहिए कि जो व्यक्ति जिस काम मे अरुचि रखता है उसे काम मे लगा दिया जाय । इससे व्यक्ति की क्षमता और प्रतिभा का सही-सही उपयोग नहीं हो पाता ।

कई अवसरों पर ऐसा होता है कि एक ही विषय को लेकर कार्यकर्त्ताओं मे मतभेद होते हैं । उन मतभेदों का सद्भावनापूर्ण समाधान होना चाहिए । न तो जबर्दस्ती एक होने के लिए आग्रह किया जाय और न ही विलगाव को प्रोत्साहन होने दिया जाय । जबर्दस्ती एकता होने के आग्रह का आशय यह है कि उस स्थिति

में वह तथ्य उपेक्षित कर दिया जाता है जिसके कारण कि मतभेद उत्पन्न हुआ है । उदाहरण के लिए आर्थिक साधन जुटाने सम्बन्धी मतभेद को ही लिया जाय । एक पक्ष यह कहता है कि जन-सहयोग प्राप्त किया जाय और दूसरा पक्ष यह कहता है कि चन्दा माँगने से हमारी प्रतिष्ठा गिरती है, लोग हमें इस बहाने पैसा कमाने और चन्दा जमा करने वाले समझेंगे । बात दोनों की ही ठीक है । जब सहयोग का भी महत्त्व है तो उसके साथ जुड़ी हुई जन-आशंका की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती । अब दोनों में तालमेल बिठाने के लिए ऐसा कोई उपाय किया जाय जिससे आगे चलकर मतभेद भी समाप्त हो जाय और दोनों पक्षों की बात भी रह जाय ।

ऐसी दशा में जन-सहयोग प्राप्त करने का आग्रह रखने वाले पक्ष से अपना स्वरूप स्पष्ट रखने की बात ध्यान में रखने के लिए कहते हुए स्वयं सहयोग प्रस्तुत करने वाले को दोनों का परस्पर पूरक बनकर काम करने के लिए कहना चाहिए । स्वयं या परस्पर सहयोग अनुदान द्वारा किसी सार्वजनिक कार्य की व्यवस्था करना भी अच्छी बात है तथा उसके लिए जन-सहयोग जुटा कर काम करना भी अच्छा है क्योंकि इससे जन-साधारण उस कार्य के प्रति अपनापन अनुभव करता है, लेकिन अनर्थ मूलक परिणाम वहीं होते हैं जबकि उस कार्य में धन सम्बन्धी व्यवहार अस्वच्छ हों । तब व्यक्तिगत आधार पर कार्य करने वाले के सामने व्यवहार की स्वच्छता भी कार्य द्वारा समझायी जा सकती है । आरम्भ में ही दोनों को जबर्दस्ती एक करने की चेष्टा उनके मन में गाँठ बना देती है, पर दोनों को अपनी-अपनी रुचि का कार्य अच्छे ढंग से करने दिया जाय तो लक्ष्य की समानता दोनों को एक-दूसरे का पूरक बना देती है ।

ऐसे कई प्रसंग हो सकते हैं, जिनमें मतभेदों का दूरदर्शितापूर्ण समाधान किया जाना चाहिए । स्वयं से किसी का मतभेद हो तो लोक सेवी को चाहिए कि वह सहनशीलता अपनाये । जो प्रभाव सहनशीलता का पड़ता है वह प्रतिवाद या विवाद का नहीं हो सकता । भगवान बुद्ध का यह प्रसंग विख्यात है जिसमें उन्हें किसी व्यक्ति ने सैकड़ों गालियाँ दी थीं और बुद्ध ने उनका कोई प्रतिवाद न करते हुए केवल इतना ही कहा था—भाई ! तुम बहुत देर से कुछ कह रहे हो । बड़ी देर से खड़े हो । खड़े-खड़े थक गए होंगे । जरा बैठ भी जाओ ।

इस पर भी उस व्यक्ति ने कहा—"मैं तुम्हारी चालाकियों को जानता हूँ । तुम मुझे बनाना चाहते हो ।" यह कह कर उस व्यक्ति ने पुनः गालियाँ देना शुरू कर दिया । गाली देते-देते जब वह थक गया तो यह देखकर वह बड़ा विस्मित हुआ कि बुद्ध ने उसकी एक भी बात का जवाब नहीं दिया । उसने कहा—"आपने मेरी कोई भी बात नहीं सुनी क्या ? उसका क्रोध कुछ ठण्डा पड़ने लगा था । बुद्ध ने कहा—सुना तो है ।"

फिर वह व्यक्ति बोला—फिर जवाब क्यों नहीं देते । बुद्ध ने कहा—"तुम्हारे घर कोई अतिथि आये और तुम उनके लिए स्वादिष्ट पकवान तैयार करो । यदि वह व्यक्ति उन पकवानों को ग्रहण न करे तो वे किसके पास रहेंगे ।" उस व्यक्ति ने अपने पास ही रहने का उत्तर दिया । तब बुद्ध ने कहा—"उसी प्रकार मैं भी तुम्हारी गालियों को स्वीकार नहीं कर रहा हूँ ।" बुद्ध की यह सहनशीलता और चातुर्यपूर्ण उत्तर सुनकर वह व्यक्ति पानी-पानी हो गया ।

विरोधों का समाधान किया जाय । अपने पक्ष को सुदृढ़ बनाया जाय । जहाँ विरोधियों और आलोचकों के उत्पन्न होने से अपना पक्ष सुदृढ़ बनाने की चेतना प्रखर होती हो वहाँ तो आलोचक की आलोचना भी उपयोगी सिद्ध होती है । आलोचक या विरोधी भले ही दुर्भावना से विरोध कर रहा हो पर समझदार व्यक्ति उससे आत्म-निरीक्षण के लिए भी तैयार हो जाते हैं ।

ऐसी स्थिति में अवांछनीय और व्यर्थ आलोचना की भी उल्टी प्रतिक्रिया नहीं होती । लोग तो अपने-अपने स्वभाववश या नासमझी के कारण निन्दा, बुराई करते हैं, पर उससे अपना यही हित होता है कि हमें अपनी कार्य पद्धति को पुनः निरीक्षण करने की सूझती है तथा उसके दोषों को निकालने की बात दिमाग में उठती है । कार्यपद्धति सर्वथा निर्दोष हो तो भी आत्म-निरीक्षण एक अच्छी आदत है और जहाँ यह लगे कि विरोधी व्यर्थ के लांछन और निराधार आरोप लगा रहा है तो वह विरोध या प्रतिकार का नहीं दया का पात्र बन जाता है । उसे स्वयं नहीं मालूम कि वह क्या कर रहा है । पागल व्यक्ति किसी को गालियाँ देता है

जीवन देवता की साधना-आराधना १०.३०

तो कोई उसका बुरा नहीं मानता, बच्चों की चंचलता और हुड़दंगबाजी देखकर लोग हँसते हैं तो फिर ऐसे व्यक्तियों के विरोध की चिन्ता ही क्यों की जाय जिन्होंने यह विचारने की ही कोशिश नहीं की कि हम किस बात का विरोध कर रहे हैं, जिस काम को रोकने की सोच रहे हैं, उस काम से क्या लाभ और क्या हानियाँ है। ऐसे विरोधियों के प्रति प्रतिक्रिया हो तो भी करुणा मूलक प्रतिक्रिया होनी चाहिए, प्रतिशोध मूलक नहीं। ईसा को जब उनके शिष्य ने पकड़वा दिया और उन्हें सूली पर चढ़ाने की सजा हुई तो जिन लोगों ने उन्हें सूली पर चढ़ाया उनके प्रति भी ईसा के मन में कोई प्रतिशोध नहीं था। उल्टे ईसा ने सूली पर चढ़ाने वालों के लिए ईश्वर से प्रार्थना की—हे प्रभु ! इन लोगों को क्षमा करना। ये नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं, इसलिए ये निर्दोष है।

वस्तुतः प्रतिशोध के मूल में अहंकार की भावना रहती है। अन्यथा किसी के द्वारा की गई निन्दा या आलोचना उतना नुकसान नहीं पहुँचाती जितना कि उसके प्रतिकार में व्यय की गई शक्ति। विरोध सुनने पर व्यक्ति का अहंकार प्रतिपक्षी को आक्रमणकारी के रूप में देखने लगता है और सोचता है कि यदि इसका प्रत्युत्तर न दिया गया तो यह हमारे सारे अस्तित्व को ही नष्ट कर देगा। जिन्हें सहनशील बनना हो, अपने लक्ष्य की ओर ही अपनी शक्ति लगाये रहनी हो उन्हें चाहिए कि वे अपने अहंकार को विसर्जित करने का प्रयास करें। अहंकार की भावना नष्ट होते ही व्यक्ति में विनम्रता आ जाती है और वह शत्रु को भी मित्र की भाँति प्रयुक्त कर सकता है, विरोध को भी सहयोग में बदल सकता है। अपमानजनक प्रसंगों को भी सामान्य परामर्श जैसे मानने लगता है। सच्ची सहनशीलता तभी आती है जब व्यक्ति का अहंकार नष्ट हो जाय। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है—जो व्यक्ति अपने अहंकार को जीत लेता है उसकी कटुता, कर्कशता, कठोरता और असहिष्णुता जैसे दुर्गुण अपने आप नष्ट हो जाते है। उसे कोई काम न छोटा लगता है और न बड़ा। वस्तुतः काम तो कोई भी छोटा बड़ा होता नहीं है हम अपने अहंकार के कारण ही उन्हे छोटा बड़ा बना लेते है। सफाई का काम कभी छोटा-घृणित माना जाता था, पर महात्मा गाँधी ने उसी को श्रेय का साधन बना लिया। कार्य के पीछे जो भाव है उसी के आधार पर कार्य हीन या श्रेष्ठ बनता है।

लोक सेवी चूँकि प्रत्येक कार्य सेवा भाव से करता है अतः उसके दृष्टिकोण में किसी काम के छोटे-बड़े होने की धारणा ही नहीं आनी चाहिए। इस भ्रान्त धारणा से बचे रहने का एक ही उपाय है निरहंकारिता। महापुरुषों ने निरहंकारिता को ही लोक सेवी की सबसे बड़ी कसौटी माना है। सिख धर्म के गुरु रामदास जब अपने जीवन की सान्ध्यवेला में चल रहे थे तो उन्हें अपना उत्तराधिकारी चुनने की चिन्ता हुई। एक से एक बढ़ कर विद्वान और योग्य शिष्य थे। लोग अनुमान भी लगा रहे थे कि किसे उत्तराधिकारी बनाया जायेगा पर सब अनुमान झूठे साबित हुए जब गुरु रामदास ने एक बर्तन माँजने वाले को अपना उत्तराधिकारी बनाया। गुरु रामदास ने अपने जिस शिष्य को उत्तराधिकारी बनाया वह थे, अर्जुन देव और उनकी निरहंकारिता ने ही गुरु रामदास को प्रभावित किया था जो चुपचाप अपने काम में बस लगे रहते थे। जबकि दूसरे शिष्य एक दूसरे पर अपना सिक्का जमाने के लिए विभिन्न विषयों पर वाद-विवाद किया करते थे।

लोक सेवी को निरहंकारी होने के साथ-साथ निर्लोभ भी होना चाहिए यह लोभ ही है जिसके वशीभूत होकर अनेकों व्यक्ति सार्वजनिक सम्पत्ति का उपयोग अपने स्वार्थ के लिए करते हैं। लोक सेवी को ऐसे सार्वजनिक कार्यों का नेतृत्व भी करना पड़ सकता है जिनमें कि आर्थिक साधन जुटाये जाते हैं और लोक सेवी को उनका उत्तरदायित्व सँभालना पड़ता है। ऐसी स्थिति में लोक सेवी को अपनी प्रामाणिकता बनाये रखना चाहिए। प्रामाणिकता साबित करने भर से काम नहीं चल सकता। सिद्ध तो झूठ भी किया जा सकता है। लोक सेवी को अपनी ईमानदारी और प्रामाणिकता के प्रति सघन निष्ठा रखनी चाहिए। लोगों को उस सम्बन्ध में कोई सन्देह न रहे इसके लिए धन के हिसाब-किताब से लेकर उपयुक्त कार्यों में खर्च करने तक सभी बातें सार्वजनिक रूप से प्रकाशित की जाय। यदि किसी बड़ी संस्था के लिए कार्य किया जा रहा है तो उसके प्रति उत्तरदायी रहने का कर्तव्य निबाहा जाय। वहाँ व्यक्तिगत रूप से भी कुछ दिया जाय

जैसे मार्ग-व्यय आदि के लिए तो उसे भी संस्था को दिया गया समझें और उसके एक-एक पैसे का हिसाब दे ।

धन सम्बन्धी प्रामाणिकता के बाद चरित्र सम्बन्धी प्रामाणिकता को भी समान महत्त्व दिया जाय । लोगों की निगाह इस सम्बन्ध में बड़ी बारीक होती है और वे चारित्रिक मर्यादाओं को धन-सम्बन्धी मर्यादाओं से भी अधिक महत्त्व देते हैं । इसलिए लोक सेवी यदि पुरुष है तो स्त्रियों के प्रति और स्त्री है तो पुरुषों के प्रति अपनी दृष्टि को पवित्र रखें । पुरुषों के साथ व्यवहार में मर्यादा का अधिक ध्यान रखना चाहिए । पुरुष कार्यकर्ता स्त्रियों के साथ एकान्त में तो चर्चा न ही करें, सबके सामने भी उनसे अनावश्यक बातें न कहें । जो कार्य पुरुष ही कर सकते हैं, उनके लिए महिलाओं से न कहा जाय । महिलाओं को उनके निर्धारित कार्य करने दिए जाय और पुरुष अपने नियत काम करे । इसमे व्यतिक्रम न आने देना चाहिए । साथ ही स्त्रियों से बार-बार सम्पर्क को भी टालना चाहिए । जरूरी बातें एक ही बार में समझा देनी चाहिए । बार-बार उनसे सम्पर्क करने में लोगों की दृष्टि जाती है और कोई बुरी भावना न होते हुए भी लोग उसमें टीका-टिप्पणी करने लगते हैं ।

अपने देश में चरित्र के इस पक्ष को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है । अतः लोक सेवी का चरित्र इस पक्ष की दृष्टि से टीका टिप्पणी का शिकार न हो इसके लिए उसे विशेष रूप से सतर्क रहना चाहिए । इसका अर्थ यह नहीं है कि महिलाओं को उपेक्षणीय ही समझ लिया जाय । प्रत्येक व्यक्ति को हर स्त्री के लिए पवित्र और सम्मानपूर्ण दृष्टि रखनी चाहिए । व्यवहार में भी यह बात न दिखाई दे कि स्त्रियों की उपेक्षा की जा रही है, न व्यवहार में ही, न अन्तःकरण में । पर चारित्रिक मर्यादाओं की रक्षा के लिए और सर्वसाधारण के सामने अपना स्पष्ट, स्वच्छ और उज्ज्वल प्रतिबिम्ब स्थापित करने के लिए ऐसे नाजुक मौकों से सदैव बचा जाय । स्त्रियों के प्रति सम्मान तो व्यक्त किया जाय पर कहीं भी ऐसा अनुभव न होने दिया जाय कि लोक सेवी उनकी ओर आकर्षित हो रहा है ।

व्यवहार या वार्तालाप के द्वारा किसी विषय का प्रतिपादन करते समय अपनी शैली में मौलिकता होनी चाहिए । प्रायः कार्यकर्ता दूसरे वक्ताओं की नकल या उनके विचार शब्दशः व्यक्त करने लगते हैं । ऐसी स्थिति में प्रतिपादन की मौलिकता का जो प्रभाव होना चाहिए वह नहीं हो पाता और बात ज्यों की त्यों ही रह जाती है, उसका कोई प्रभाव नहीं होता । कई बार तो यह भी देखा गया है कि न केवल कोई प्रभाव हुआ वरन् प्रतिपादन हास्यास्पद भी हो गए । ऐसे प्रतिपादनों, सिद्धान्तों का भी मखौल होता है और लोक सेवी के व्यक्तित्व का भी हल्कापन जाहिर होता है । इस हास्यास्पद स्थिति से बचने के लिए वक्ता को अपनी शैली में मौलिकता का विकास करना चाहिए और उसमें अपनी अन्तरंगता का समावेश करना चाहिए । अर्थात् जो कहा जाय हमारा व्यक्तित्व भी उसका समर्थन करे ।

आज की स्थिति में सेवा कार्यों तथा उसमें प्रवृत्त होने वाले सेवाव्रती लोगों की भारी आवश्यकता अनुभव होती है । यदि उसकी पूर्ति की जा सके तो निश्चित रूप से समाज में सुखद परिस्थितियाँ पैदा करना जरा भी कठिन न रहे, किन्तु यह होगा तभी जब लोग सेवा धर्म का महत्त्व समझें उसके अनुरूप अपने दृष्टिकोण, व्यक्तित्व एवं व्यवहार को ढालें तथा साहसपूर्वक उल्लसित होकर उस मार्ग पर चल पड़ें । सेवा के महत्त्व के साथ-साथ उसके लिए आवश्यक मनोभूमि एवं व्यक्तित्व बनाने का क्रम चल पड़े तो इस मार्ग पर सफलताओं के ढेर लग जायें तथा सर्व-साधारण में उस दिशा में चलने का उत्साह जाग पड़े । तब यह दृष्टि भी विकसित करनी होगी कि किस स्थिति तथा परिस्थिति का व्यक्ति किस ढंग का सेवा कार्य हाथ में लें । यह एक स्वतन्त्र विषय है जिसकी चर्चा इन पृष्ठों पर सम्भव नहीं । यह मार्ग-दर्शन भिन्न पुस्तक में दिया जाना ही उचित है । यहाँ तो यही अपेक्षा की जाती है कि सेवा का महत्त्व समझ कर जो सेवाभावी आगे आये वे ऐसा व्यक्तित्व बनाने में समक्ष हों कि उनका भी गौरव बढ़े तथा समाज का भी हित साधन हो ।

## सेवा की आवश्यकता और स्वरूप

जन-साधारण की गतिविधियाँ और क्रिया-कलाप केवल अपने तक ही सीमित रहते है । सामान्य व्यक्ति अपना सुख और हित देखना ही पर्याप्त समझता है । वह सोचता है कि अपने लिए पर्याप्त साधन सुविधाएँ

जुट जायें अपने लिए सुखदायक परिस्थितियाँ हों, इतना ही काफी है । शेष सब चाहे जिस स्थिति में पड़े रहें । स्वार्थपरता इसी का नाम है स्व के संकुचित दायरे में पड़े व्यक्तियों की रीति-नीति इसी स्तर की होती है । जब उसकी परिधि विस्तृत होती चलती है, व्यक्ति अपनेपन का विकास करता है तो उसमें दूसरों के लिए भी कुछ करने की उमंग उठने लगती है और व्यक्ति सेवा मार्ग पर अग्रसर होने लगता है ।

जीवन साधना से आत्मिक चेतना का विकास जैसे-जैसे होने लगता है सेवा की टीस उसी स्तर की उठने लगती है और व्यक्ति स्वयं की ही नहीं सबकी सुख-सुविधाओं और हित-अहित की चिन्ता करने लगता है, उनका ध्यान रखने लगता है । परमार्थ साधन में लगे व्यक्तियों को उससे भी उत्कृष्ट आनन्द और आत्म-सन्तोष अनुभव होता है जो स्वार्थ पूर्ति में ही लगे व्यक्तियों को प्राप्त होता है ।

पुण्य परमार्थ, लोक-मंगल, जन-कल्याण, समाज-हित आदि सेवा-साधना के ही पर्यायवाची नाम हैं और इसी में मनुष्य जीवन की सार्थकता है । जिन व्यक्तियो ने भी इस पद्धति से जीवन सार्थकता की साधना की, मनुष्य और समाज का स्तर ऊँचा उठाने के लिए योगदान दिया, सामाजिक सुख-शान्ति में बाधक तत्वों का उन्मूलन करने के लिए प्रयत्न किए समाज ने उन्हें सर आँखो पर उठा लिया । महापुरुषों के रूप में आज हम उन्हीं नर-रत्नों का स्मरण और वन्दन करते हैं ।

मानवी सभ्यता और संस्कृति के विकास में सबसे बड़ी बाधा है व्यक्ति और समाज को त्रस्त करने वाली समस्याएँ । आज जिधर भी देखा जाय उधर अभाव, असन्तोष, चिन्ता, क्लेश व कलह का ही बाहुल्य दिखाई देता है । यों पिछले सौ पचास वर्षों में वैज्ञानिक प्रगति इतनी तीव्र गति से हुई है कि उनसे कुछ पहले उनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी । जीवन को सहज और सुविधामय बनाने के लिए विज्ञान ने एक से बढ़कर एक उपाय किए हैं और वे सफल भी रहे हैं परन्तु उनसे न व्यक्ति सुखी हुआ है न समाज में शान्ति आई है । सुविधा बढ़ाने और पीड़ाओं को दूर करने के लिए अनेकानेक प्रयास किए गए हैं पर उनसे समस्याएँ कम होने के स्थान पर बढ़ी ही है । पहले कहीं सूखा और अकाल पड़ता था तो सौ-दो सौ मील दूर पर रहने वालों को भी उसकी खबर नहीं चलती थी । फलस्वरूप जरा-सी अधिक बारिश होने पर फसलें बिगड़ जाने से एक क्षेत्र के लोग भूखों मर जाते तो दूसरे क्षेत्रों में अन्न की प्रचुरता रहती । आज दुनिया के किसी भी कोने में अकाल पड़ता है तो यातायात के साधन इतने बढ़ गए हैं कि दूसरे कोने से तुरन्त सहायता पहुँचायी जा सकती है । एक दूसरे के सुख-दु.ख में सहायता करने की ऐसी व्यवस्था बन जाने पर भी लोग समस्याग्रस्त और संकटग्रस्त देखे जा सकते हैं । यदि कहा जाय कि समस्याएँ पहले की अपेक्षा कहीं ज्यादा बढ़ गई हैं तो अत्युक्ति न होगी ।

आज से हजार वर्ष पहले का मनुष्य जिनके बारे में कल्पना भी नहीं कर सकता था वे सुविधाएँ और साधन उपलब्ध होने पर भी लोग अपने आपको पूर्वापेक्षा अधिक अभावग्रस्त, रुग्ण, चिन्तित, एकाकी, असहाय और समस्याओं से घिरा हुआ अनुभव करते हैं । भौतिक प्रगति के बढ़ जाने पर, साधन सम्पन्नता पहले की अपेक्षा अधिक होने पर तो यह होना चाहिए था कि हम सुखी और सन्तुष्ट रहते लेकिन गहन आत्म-निरीक्षण करने पर इस अवधि में हम अपने को पहले से अधिक गिरा, पिछड़ा और बिगड़ा पाते है । शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक सन्तुलन, पारिवारिक सौजन्य, सामाजिक सद्भाव, आर्थिक सन्तोष और आन्तरिक उल्लास के सभी क्षेत्रों में हमारा स्तर गिरा है । इस दृष्टि से आज की सुविधा सम्पन्नता और पूर्वकाल की सुविधा परिस्थितियों की तुलना की जाय तो भी यही लगता है कि उस असुविधा भरे समय के निवासी आज के हम लोगों की तुलना में असंख्य गुने सुखी और सन्तुष्ट थे । तब की और अब की परिस्थितियों में साधन सुविधा की दृष्टि से भले ही विकास हुआ हो परन्तु सुख-शान्ति की दृष्टि से हमारा पतन ही हुआ है ।

लोक-सेवियों को इस पतन का निराकरण करने के लिए प्रस्तुत होना चाहिए तथा समस्याओं की जड खोजकर उन्हें खोदने में अपनी सेवा साधना आरम्भ करनी चाहिए । परिस्थितियों के कारण यह दीन-हीन दुर्दशा नहीं हुई है । परिस्थितियाँ तो पहले की अपेक्षा अब कहीं बहुत अधिक अच्छी हैं । वस्तुतः इस पतन के लिए हमारे आन्तरिक स्तर की विकृति ही उत्तरदायी

है। व्यक्ति और समाज में इन दिनों जो दुःख दारिद्रय की काली घटाएँ घुमड़ रही हैं उसका कारण भावना स्तर में अवांछनीय विकृतियों का आ जाना ही है। इनका समाधान करना हो, आसन्न पतन का यदि निराकरण करना हो तो अमुक समस्या के अमुक समाधान से काम नहीं चलेगा, वरन् सुधार की प्रक्रिया वहीं से आरम्भ करनी होगी जहाँ से कि ये विभीषिकायें उत्पन्न होती हैं।

इस स्तर की सेवा प्रत्येक व्यक्ति नहीं कर सकता और न इस तथ्य को ही समझ पाता है। फिर भी सेवा की उमंग तो हो, उसे अन्य रूपों में भी किया जा सकता है। विभिन्न तरह से सेवा साधना की जाती है और की जानी चाहिए। मोटे रूप में इन सेवाओं को (१) जन-जीवन की जटिलताएँ सुलझाने, सुविधाएँ बढ़ाने तथा (२) पीड़ा का निवारण करने के रूप में विभाजित किया जा सकता है। जो लोग जन-जीवन की जटिलताओं और उत्पीड़न का कारण मानवीय स्तर में आई विकृतियों या पतन को मानते हैं। वे इस महत्त्वपूर्ण कार्य में लगे हैं, पर जिन्हें यह तथ्य ठीक से समझ नहीं आता और जो असुविधा तथा पीड़ा को ही मनुष्य व समाज की मुख्य समस्या समझते हैं, वे उस स्तर की सेवा में लगते हैं। वह सेवा भी प्रशंसनीय और सराहनीय है।

## सुविधा सम्वर्धन

जीवन-यापन के लिए अनेकों साधनों और सुविधाओं की आवश्यकता पड़ती है। मनुष्य को छोड़कर अन्य प्राणी तो अपने ढंग से अपनी आवश्यकताएँ पूरी कर लेते है पर मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी है अतः उसकी आवश्यकताओं और उनकी पूर्ति के तौर तरीकों में भी एक सुघड़ता है। सभ्यता के विकास के साथ ही जीवन पद्धति भी दिनों दिन सुसंस्कृत होती जाती है। उदाहरण के लिए जंगली आदिवासी एक लंगोटी पहनकर ही शरीर की वस्त्र सम्बन्धी आवश्यकता पूरी हुई मान लेते है लेकिन सभ्य नागरिक के लिए सुडौल, करीने से सिले हुए और साफ-सुथरे उजले वस्त्र ही शोभा देते हैं। रहने के मकान, शिक्षा, स्वास्थ्य सुविधाएँ मनोरंजन आदि की व्यवस्थाएँ भी सभ्यता के साथ-साथ अधिक विकसित होती हैं।

आवश्यकताओं और साधनों के स्तर की सभ्यता से संगति का यह एक पक्ष हुआ। इसका दूसरा पक्ष है सर्वसाधारण के लिए इनके उपलब्ध होने या न होने की सम्भावना। सभी व्यक्तियों के लिए जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुएँ ही सुलभता से नहीं मिल पातीं तो उनके अच्छे स्तर की अपेक्षा कहाँ से की जा सकती है। उदार और सेवाभावी व्यक्तियों द्वारा इन सुविधाओं के सम्वर्धन के जो प्रयास किए जाते हैं वे इसीलिए आवश्यक और उपयोगी सिद्ध होते हैं कि सर्वसाधारण भी उपलब्ध सुविधाओं का उपयोग कर औसत स्तर के सभ्य बन सके। शिक्षा को ही लिया जाये, मध्यकाल में शिक्षा केवल सम्पन्न और धनीमानी वर्ग के लोगों के लिए ही सम्भव थी। तब उसकी इतनी आवश्यकता भी अनुभव नहीं की जाती होगी क्योंकि तब ज्ञान-विज्ञान का इतना विकास नहीं हुआ था। आज तो स्थिति यह है कि यदि व्यक्ति ज्ञान-विज्ञान की सामायिक धाराओं से एकदम अलग कटा रहे तो उसका जीना ही दूभर हो जाय। इन दिनों ज्ञान-विज्ञान का बड़ी तीव्रता से विकास हुआ है और ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न धाराओं ने जीवन के सभी पक्षों में इस तरह हस्तक्षेप किया है कि उनकी व्यावहारिक जानकारी प्राप्त किए बिना कोई सभ्य सुसंस्कृत बन ही नहीं सकता। इसके लिए शिक्षा पहले से अधिक आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी हो गई है परन्तु प्रत्येक व्यक्ति के लिए वह सुलभ भी नहीं है। शहरों, नगरों, कस्बों और कुछ बड़े देहातों को छोड़ दें तो गाँवों देहातों में शिक्षा की कोई व्यवस्था ही नहीं है। ऐसी स्थिति में साधन सम्पन्न लोग यदि शिक्षा के लिए स्कूल खोलें, शिक्षा का प्रचार करें तो उसे सेवापरक कार्य ही कहा जाना चाहिए।

शिक्षा प्रचार की सेवा को सुविधा सम्वर्धन वर्ग में ही रखा जा सकता है। सुविधा अर्थात् जिससे जीवन की जटिलताएँ कम हों। यद्यपि सुविधा का सामान्यतः यह अर्थ किया जाता है कि मनुष्य के श्रम को घटाने वाले साधनों का उपयोग। उस ढंग की सुविधा न आवश्यक है और न उपयोगी वरन् वह जीवन की जटिलताओं को सुलझाने के स्थान पर और भी उलझा देती है। शिक्षा मनुष्य जीवन की जटिलताओं को कम करती है, उन्हे सुलझाने का प्रयोजन पूरा

करती है इसलिए उस दिशा में किए गए कार्य सेवा स्तर के ही कहे जा सकते हैं ।

जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुएँ सामान्य स्थिति के व्यक्तियों को सुगमता से उपलब्ध कराना अपने आप में एक बड़ा कार्य है । रोजमर्रा के जीवन में काम आने वाली ऐसी बहुत-सी चीजें है जिनके लिए सहकारी स्टोर खोले जा सकते हैं अथवा उनकी सरल उपलब्धियों के लिए अन्य व्यवस्थाएँ बनाई जा सकती है । इनके लिए नियमित रूप से समय और श्रम लगाने की आवश्यकता है । बहुत से कार्य ऐसे भी हैं जिनमें एक बार निश्चित समय लगा देने पर स्थायी व्यवस्था हो जाती है । तालाब खोदने, कुँआ बनाने, सड़क तैयार करने व्यायामशाला खोलने जैसे कार्य इस तरह के काम हैं जिनमें एक बार लगने के बाद उन्हें दुबारा देखने की जरूरत बहुत दिनों-वर्षों बाद पड़ती है ।

गाँवों में प्रायः पानी का अभाव रहता है । यदि वहाँ पास ही कोई नदी, नाला या तालाब हो तो ठीक अन्यथा गाँव के कुएँ गर्मियों में सूखकर जलाभाव पैदा कर देते हैं । नदी, नालों और तालाबों की भी यही दशा होती है । कुछ सेवाभावी लोग इस ओर भी ध्यान देते हैं और गाँव वालों का जल संकट दूर हो सकता है । पानी जीवन का मुख्य आधार है । अन्य प्राणियों को भी अपनी प्यास बुझाने के लिए पानी की जरूरत पड़ती है, पर मनुष्य को तो उसकी सबसे ज्यादा ही आवश्यकता पड़ती है । जलचरों की बात छोड़ें, उनका तो जीवन ही पानी है परन्तु मनुष्य का काम भी पानी के बिना नहीं चलता । पानी पीने से लेकर कपड़े धोने, नहाने, मकान बनाने, इमारत तैयार करने, अन्न उपजाने, सिंचाई करने जैसे सभी कार्य पानी के बिना नहीं होते ।

गाँवों या कस्बों में कुछ सेवाभावी लोग यदि चाहें तो श्रमदान द्वारा तालाब खोद सकते है । बहुत से तालाब गर्मियों मे सूख जाते हैं । उनमें काफी मिट्टी भर जाती है । बरसात में पानी के साथ बहकर आई हुई मिट्टी भी उसमें जमा होती रहती है । गर्मियों में उसे निकाल देने पर उनमें कई वर्ष तक तालाब में गर्मियों के समय भी पानी भरा रह सकता है । उससे सिंचाई का काम लिया जा सकता है । पशुओं और ढोरों को पानी पिलाया जा सकता है । यही दुर्दशा कुओं की भी होती है । कम गहरे कुएँ गर्मी में जल्दी सूख जाते हैं उन्हें श्रमदान द्वारा गहरा किया जा सकता है, नये कुएँ खोदे जा सकते हैं ।

गाँवों मे आवागमन की सुविधाजनक व्यवस्था बहुत कम उपलब्ध हो पाती है । कारण वहाँ वाहन चलने लायक सड़कें न होना ही है । गाँव में कुछ विचारशील और सेवाभावी व्यक्ति तैयार हो जायें तो बिना किसी बाहरी सहयोग के सड़कें तैयार की जा सकती हैं तथा शहरों से उनका सीधा सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है ।

शहरों में आना-जाना बड़ा महँगा सिद्ध होता है । सम्पन्न स्थिति के व्यक्ति तो उस खर्च को बर्दाश्त कर लेते हैं परन्तु जिनकी आर्थिक स्थिति साधारण स्तर की है उनके लिए यह खर्च कमर तोड़ देने वाला सिद्ध होता है । आने-जाने से अधिक वहाँ ठहरना और खाना महँगा पड़ता है । यदि इस प्रयोजन के लिए धर्मशालाएँ बनाई जा सकें तो साधारण स्थिति के व्यक्ति भी उस सुविधा से लाभ उठा सकते हैं । आजकल धर्मशालाओं का जो स्वरूप प्रचलित है उसमे सुधार की आवश्यकता है । कई शहरों में धर्मशालाएँ केवल ठहराने का ही काम करती हैं । धनवान व्यक्ति अपने यश के लिए धर्मशाला बनवा देते हैं और लोगों को उनमें मुफ्त ठहरने देते हैं । ठहरने वाले जो अपने-अपने काम से शहर आते हैं उस व्यवस्था का लाभ उठाते और मुफ्त में ठहरते हैं । नैतिकता की दृष्टि से यह अनुचित है । जब मुफ्त का खाना नहीं खाया जाता, मुफ्त के कपड़े नहीं पहने जाते तो मुफ्त में कहीं ठहरा क्यों जाय ? पैसा देकर भोजन करने और पैसे से ही वस्त्र खरीदने की तरह ही पैसा देकर ठहरने की आदत डाली जाय । व्यापारिक उद्देश्यों अथवा सरकारी काम-काज से कहीं जाने पर स्वार्थ अपना सिद्ध होता है और लाभ परमार्थ की व्यवस्था का उठाया जाता है । इसे अनुचित और अनैतिक कहा जाना चाहिए । सम्पन्न व्यक्ति होटलों में ठहरें और जो साधारण स्थिति के हों वे भी मुफ्त में धर्मशाला मे नहीं ठहरें । सामाजिक कल्याण के लिए-परमार्थ सेवा के लिए कहीं जाया जाय तो धर्मशाला में निःशुल्क ठहरना भी उचित है, अन्यथा व्यक्तिगत कार्य से कहीं जाने पर धर्मशाला में ठहरने की परम्परा बन्द की जानी चाहिए ।

धर्मशालाओं में साधारण शुल्क लेकर ठहराने का नियम बनाया जाना चाहिए और वह भी केवल दुर्बल या असमर्थ आर्थिक स्थिति वालों के लिए हो। यदि उन्हें सस्ते होटल का रूप दिया जाय और बिना लाभ-हानिरहित के सिद्धान्त पर चलाया जाय तो गरीब और मध्यम वर्ग के व्यक्तियों को उनसे लाभ मिलेगा लोगों को इससे पर्यटन की प्रेरणा भी मिल सकती है। सम्पन्न व्यक्ति अधिक खर्च कर सकते हैं इसलिए वे सैर और देशाटन का लाभ भी उठा लेते हैं। निर्धन और मध्यम श्रेणी के व्यक्ति आने-जाने तथा ठहरने खाने में अधिक खर्च नहीं कर पाते इस कारण पर्यटन के लाभों से वंचित रह जाते हैं। यदि धर्मशालाओं को सस्ते होटलों का रूप दिया जाय और उनके ठहरने खाने-पीने की सुविधाएँ लगभग उसी मूल्य पर उपलब्ध कराई जायें जितनी कि घर पर उपलब्ध हो पाती हैं तो धर्मशालाओं का सही उपयोग हो सकता है।

धर्मशालाओं की तरह ही नामवरी और पुण्य लाभ के उद्देश्य से अन्न-क्षेत्र भी चलाये जाते हैं। अन्न-क्षेत्र अर्थात् साधु, भिखारियों के लिए भोजन देने का स्थान। निर्धन व्यक्तियों को तो उनसे कोई लाभ नहीं मिलता क्योंकि उनमें भी आत्म-सम्मान रहता है और आत्म-सम्मान उन्हें साधु-भिखारियों की पंक्ति में किसी हालत में खड़ा नहीं होने देता। नामवरी और पुण्य लाभ के लिए स्थापित अन्न-क्षेत्र निठल्ले साधु बाबाओं तथा अकर्मण्य भिखारियो के लिए आश्रय स्थान बन जाते है। इससे थोड़ी देर के लिए वाहवाही भले ही मिल जाय परन्तु वास्तविक पुण्य लाभ नही मिलता। दान की जो प्रक्रिया पात्र-अपात्र का विचार किए बिना ही आरम्भ की जाती है। वह बड़ी अविवेकपूर्ण है। निठल्ले और अकर्मण्य लोगो को भोजन कराना पुण्य नहीं पाप है। आत्म-हत्या के इरादे से कोई व्यक्ति चाकू या छुरी माँगे और यह जानते हुए उसे चाकू छुरी दे दी जाय तो कौन उसे समझदार कहेगा। वल्कि वह व्यक्ति आत्म-हत्या करने मे सहयोग देने के कारण पाप के परिणाम और न्याय के दण्ड का पात्र बनेगा। अन्न-क्षेत्र खोल कर मुफ्त भोजन बाँटते फिरने से मुफ्त खोरी को ही प्रोत्साहन मिलता है। यह व्यक्तित्व की हत्या नहीं तो क्या है।

इसलिए अन्न क्षेत्रों को भी सस्ते होटलों का रूप दिया जाय। मुफ्त खोरी में अपनी सम्पत्ति लगाने की अपेक्षा तो बेहतर यह है कि उसमें कोई लाभ न उठाने की नीति अपनायी जाय और लागत मूल्य में ही भोजन दिया जाय। इससे न किसी को संकोच होगा और न निर्धन असमर्थ लोगों के आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचेगी। मुफ्त-खोरी की जड़ कट जायेगी वहाँ अन्न-क्षेत्रों के रूप में स्थापित सस्ते होटलों का अतिरिक्त लाभ भी होगा।

इस तरह की सुविधाएँ विकसित करने के लिए साधन व्यवस्था कहाँ से जुटे यह भी एक अहम् प्रश्न है। सेवा भावना हृदय में हो, उसके लिए टीस और कसक हो परन्तु उसके लिए व्यवस्था न जुट पाये तो भी कोई लाभ नहीं है। साधन जुटाने के लिए भी गम्भीरता से विचार करना चाहिए। जिनकी स्थिति ऐसी है कि वे साधन व्यवस्था स्वयं उपार्जित सम्पदा से जुटा सकते है तो उन्हें करने में वैसे कोई अड़चन नहीं है। प्रश्न उन व्यक्तियों का है जिनके मन में सेवा भावना तो है पर साधनों की दृष्टि से वे इतने सम्पन्न नहीं हैं। सेवा बुद्धि वाले अधिकांश व्यक्ति इस तरह के मिलेंगे। वे अपने उपार्जन का एक अंश इस प्रयोजन के लिए निकालते हैं। होना तो यह चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आमदनी में से एक हिस्सा समाज सेवा के लिए निकालता रहे। स्मरण रखा जाना चाहिए कि जो कुछ हम कमाते हैं उस पर केवल हमारा ही हक नही होता, क्योंकि जो कुछ कमाया गया है उसमें समाज का भी बड़ा भारी योगदान छुपा हुआ है। इसलिए उस पर समाज का भी हक है। समाज के उस हक को समाज के लिए ही देने का शुभारम्भ कम से कम ३ प्रतिशत हिस्से से तो किया ही जाना चाहिए। इससे अधिक अंशदान भी किया जा सकता है, परन्तु इससे कम तो किसी भी दशा में न हो।

अंशदान की तरह ही समयदान भी किया जाता है। अपना सारा समय प्रयोजनों में लगाया जा सके ऐसी स्थिति तो बहुत कम लोगो की होती है। जन-सामान्य के लिए व्यावहारिक नियम यह हो सकता है कि वे दिन रात के २४ घण्टों में से न्यूनतम निश्चित समय निर्धारित कर लें। साधारणतः एक व्यक्ति ८

घण्टे सोता और ८ घण्टे जीवकोपार्जन के लिए श्रम करता है। नित्य कर्म, शौच-स्नान और भोजन-भजन में तीन-चार घण्टे से अधिक नहीं लगते। शेष समय खाली ही रहता है उसे समाज सेवा के लिए लगाया जा सकता है। अवकाश का समय सेवा कार्यों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है।

अपना खाली समय लोक सेवा में लगाने के अतिरिक्त श्रमदान द्वारा भी सेवापरक गतिविधियाँ चलायी जा सकती हैं। समयदान मे यद्यपि श्रम भी आ जाता है। परन्तु यहाँ श्रमदान से तात्पर्य विशुद्ध शारीरिक सहयोग से है। जैसे कहीं गाँव में सड़क बनी, स्कूल बना या सहकारी स्टोर के लिए वस्तुएँ जुटाने और खपत बढ़ाने के लिए भागदौड़ करनी पड़ी तो उसे श्रमदान समझना चाहिए। अंशदान, समयदान या श्रमदान में से कोई भी स्थिति किसी के पास न हो ऐसा नहीं हो सकता। जो तीनों तरह से योगदान दे सकें उन्हें तो देना ही चाहिए परन्तु तीनों में से एक भी क्रिया न अपनायी जाय तो यह सेवाभावना के अभाव और निष्ठा की कमी का ही प्रमाण होगा।

प्रभावशाली और बुद्धिजीवी व्यक्ति अपने प्रभाव तथा प्रतिभा का उपयोग सेवा कार्यों के लिए कर सकते हैं। कई कार्य ऐसे होते हैं जिनमें व्यक्ति का प्रभाव बड़ा उपयोगी सिद्ध होता है। उदाहरण के लिए कोई स्कूल बनवाया जा रहा हो तो उसके लिए जन-सहयोग इकट्ठा करने की आवश्यकता पड़ सकती है। थोड़े से सेवाभावी व्यक्ति यदि जन-सहयोग जुटाने निकल पड़ें तो सम्भव है कि अपेक्षित सफलता न मिले, परन्तु किसी प्रभावशाली प्रतिष्ठित व्यक्ति को साथ ले लिया जाय तो उसका व्यक्तित्व लोगों को सहयोग प्रस्तुत करने के लिए प्रेरित ही नहीं प्रभावित भी कर सकता है।

प्रतिभाशाली व्यक्ति साधन सहयोग और प्रभाव का उपयोग प्रस्तुत न करने पर भी अपनी प्रतिभा सेवा कार्यों में लगा सकते हैं। कई व्यक्तियों की बुद्धि इतनी पैनी होती है कि वे बड़ी गुत्थियाँ भी आसानी से सुलझा सकते हैं। सुविधा सम्वर्धन की व्यवस्था बनाने और गतिविधियाँ आरम्भ करने से पूर्व तैयारियाँ भी आवश्यक हैं। तैयारियाँ किस स्तर पर आरम्भ की जायें, योजना का प्रारूप और स्वरूप किस तरह निर्धारित किया जाय, आदि बातों के लिए सूक्ष्म और पैनी बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। इसमें प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति बड़ा योगदान कर सकते हैं।

अपनी सेवा भावना को दिशा देने और कार्यरूप में परिणत करने के लिए यह एक क्षेत्र है। जन-जीवन की जटिलताओं को सुलझाना भी महत्त्वपूर्ण सेवा है। अपने परिवार के लिए जिस प्रकार हम व्यग्र और आकुल हो उठते हैं, उसी प्रकार जन-जीवन की जटिलताओं को हल करने के लिए उमंग उठे तो समझना चाहिए सेवा बुद्धि और सेवा निष्ठा का विकास आरम्भ हो रहा है, लेकिन सेवा का यह स्वरूप पूर्ण नहीं कहा जा सकता क्योंकि सुविधाएँ मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकता नहीं हैं, मूल आवश्यकता मनुष्य का सुख और उसका सन्तोष है। यह आन्तरिक स्थिति पर निर्भर करते हैं। मन:स्थिति यदि परिमार्जित न हो तो अनेकों सुविधाएँ भी व्यर्थ और निरुपयोगी हो जाती हैं।

सुविधा सम्वर्धन को अनावश्यक तो नहीं कहा जा सकता है, पर उसे सेवा बुद्धि का पूर्ण परिपक्व विकास भी नहीं कहा जा सकता। उससे भी ज्यादा आवश्यक मनुष्य की पीड़ाएँ और समस्याएँ हैं। हमारा समाज तथा समाज के सदस्य विभिन्न समस्याओं से, कष्टप्रद स्थितियों से ग्रस्त हैं। उन्हें दूर करने के लिए तत्पर हुआ जाय तो वह सुविधा सम्वर्धन से भी उत्कृष्ट स्तर की सेवा होगी। पीड़ा जनक परिस्थितियों और कष्टदायक समस्याओं से यदि छुटकारा मिल सके तो विकास करना और सुविधाएँ बढ़ाना मनुष्य का नैसर्गिक स्वभाव है। इसे विकसित करने के लिए सेवा निष्ठा में निखार लाने के लिए पीड़ित मानवता की पुकार सुननी चाहिए।

पाठशालाओं, कुटीर उद्योगों तथा अन्यान्य ढंग की सुविधाओं को बढ़ाने के लिए अन्य तन्त्र भी खड़े किए जा सकते हैं, परन्तु सेवा भावना का वास्तविक निखार मनुष्य की समस्याओं कठिनाइयों तथा पीड़ाओं को समझने, उनसे अनुभूति जताने और उन्हे दूर करने के लिए प्रयत्न करने पर आता है। सुविधा सम्वर्धन मे एक प्रमुख बाधा यह भी है कि उसमें व्यक्ति के विचलित होने की सम्भावना अधिक रहती है। सहकारी स्टोर खोलने से लेकर स्कूल चलाने और औद्योगिक प्रशिक्षण देने तक के कार्य ऐसे है जिनमें व्यवसाय और सेवा का अन्तर करना सहज नही है। सहकारी स्टोर

सेवा भावना से भी चलाये जा सकते हैं और व्यावसायिक उद्देश्यों से भी । इसी तरह अन्य कार्य भी हैं । बहुत से व्यक्ति ऐसे भी हैं जो जनता की सेवा के बहाने घर भरने का स्वार्थ बुरी तरह सिद्ध कर रहे हैं और बाहर से कोई पता नहीं चलता । कहने का अर्थ यह है कि वही विकृति यदि अपने भीतर भी घुस पड़ी तो व्यक्तित्व ही नष्ट हो जाने का डर उत्पन्न होता है ।

जहाँ आवश्यक होता है वहाँ परिस्थितियों के अनुसार सुविधा सम्वर्धन के कार्यक्रम भी चलाये जाते हैं, परन्तु उन्हें ही सर्वांगसम्पूर्ण सेवा नहीं समझ लेना चाहिए अपनी सेवा निष्ठा का विकास करने के लिए पीड़ा और पतन के निवारण को अधिक महत्त्वपूर्ण समझना चाहिए ।

## पीड़ा निवारण

बहुतों को यह लगता है कि अभाव ग्रस्त कठिनाइयों को दूर करने के स्थान पर उत्पीड़न जनित क्षोभ और पीड़ा का निवारण अधिक महत्त्वपूर्ण है उन्हें अपनी करुणा का उपयोग पीड़ा निवारण के लिए ही अधिक सार्थक लगता है । पीड़ा निवारण के लिए किए गए प्रयास भी सेवा साधना का सराहनीय स्वरूप हैं । यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति की समस्याएँ उसी की अपनी उत्पन्न की हुई होती हैं । उनकी जड़ मस्तिष्क, बुद्धि दृष्टिकोण विचारणाओं और भावनाओं में रहती है, लेकिन राहत कार्य की तरह सहायता के रूप में पीड़ा निवारण के प्रयास किए जा सकते हैं । पीड़ाओं से पूर्णतया मुक्ति तो स्वयं प्रयत्न किए बिना नहीं पायी जा सकती लेकिन व्यक्ति के प्रति इतना सहयोग किया जा सकता है कि उसे तत्काल राहत मिल जाय और आगे लिए दिशा भी ।

कई स्थितियाँ ऐसी आती हैं जिनमे सहायता के रूप मे ही सेवा की जा सकती है । जैसे कोई बड़ी दुर्घटना घट जाय, भूकम्प आ जाय तो बाढ़ सूखा अकाल महामारी आदि स्थितियों में राहत कार्य चलाये जा सकते हैं । उस समय कष्टपीड़ितों को जितनी आवश्यकता तात्कालिक सहायता की है उतनी आवश्यकता अन्य बातो की नहीं होती । इस स्तर की परिस्थितियों में समय, श्रम और धन को पीड़ित मनुष्यो के लिए लगाना चाहिए ।

अकाल, बाढ़, सूखे आदि के समय उनके शिकार हुए लोगों के लिए भोजन आदि की व्यवस्था करते हैं । यह सराहनीय है । अपने परिवार में किसी को खाना न मिलने पर जिस प्रकार चिन्ता व्यक्त की जाती है उसी प्रकार भावनाशील उदार और सेवाभावी व्यक्ति अकाल तथा बाढ़ के समय सामूहिक रूप से विपत्तिग्रस्तों के लिए चिन्तत हो उठते हैं और महामारी आदि दुर्घटनाओं के समय लोगों के लिए तत्काल राहत पहुँचाने की व्यवस्था करते हैं । इससे अनेकों व्यक्ति असमय काल कवलित होने से बच जाते हैं । दुर्घटनाओ में घायल हुए व्यक्तियों को तुरन्त अस्पताल पहुँचाना, *जिन्हे कम चोट लगी हो उन्हें प्राथमिक चिकित्सा उपलब्ध* कराना आदि कार्य समय और परिस्थिति के अनुसार किए जा सकते हैं ।

प्राथमिक चिकित्सा की जानकारी रखना भी इतना आवश्यक है कि उसके अभाव में कोई भी छोटी-सी घटना बड़ी हानि का कारण बन जाती है । उदाहरण के लिए चोट लगने पर पट्टी बाधना और मरहम पट्टी करना नहीं आया तो घाव में लगे धूल के कण सेप्टिक से लेकर टिटनिस जैसी प्रतिक्रियात्मक बीमारी खड़ी कर देते हैं । इसलिए विशेषज्ञ व्यक्तियों को सेवा भावना से ऐसा प्रशिक्षण क्रम चलाना चाहिए जिसमें समझदार व्यक्तियों और पढ़े-लिखे लोगों को फर्स्ट एड का प्रशिक्षण मिल सके । गाँवों में बहुत से लोग सर्पदंश के कारण मर जाते हैं *और बिच्छू काटने तथा कनखजूरा काटने के कारण मर्मान्तक* वेदना भोगते हैं । यदि इन कीड़ों के काटने का उपचार कुछ समझदार व्यक्ति प्रत्येक गाँव में जानने लगें और यह चिकित्सा कार्य सेवा भावना से आवश्यकता पड़ने पर करने लगें तो वह भी सराहनीय है ।

गाँवों में तथा निर्धन परिवारों के लिए भी रोग बीमारी में चिकित्सा सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हो पातीं । इसी कारण साधारण-सा बुखार निमोनियाँ और साधारण खाँसी ही टी. बी. में बदल जाती है । आमतौर पर लोगों को यह भी मालूम नहीं होता कि इनके इलाज के लिए कहाँ जाया जाय व क्या किया जाय । कई व्यक्तियों ने उनके लिए सस्ते चिकित्सा केन्द्र खोलने के प्रयास किए हैं तथा उनसे निर्धन परिवारों को रोग बीमारी से निबटने में सहायता पहुँचायी जाती है । बीमारियों के लिए पैथोलॉजी सेण्टर भी खोले जाते

हैं । जहाँ मल-मूत्र, रक्त आदि की जाँच की जाय और लोगों को चिकित्सकीय परामर्श दिया जाय । प्रायः इन जाँचों में भी बड़ा भारी खर्च होता है । कई सेवाभावी डॉक्टर इस तरह के सेवा कार्य निःशुल्क या नाम मात्र का शुल्क लेकर चलाते हैं और निर्धन रोगियों के लिए महत्त्वपूर्ण सहायता करते हैं ।

लेकिन यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इस तरह की सेवा सहायता से अयोग्य व्यक्ति अनुचित लाभ न उठा पायें । इसकी परीक्षा कैसे हो ? यह सेवा सहायता के स्वरूप पर निर्भर है । उदाहरण के लिए सफर में कुछ लोगों की जेब कट जाती है या सामान चोरी चला जाता है । वास्तव मे उन्हें सहायता की जरूरत रहती है, परन्तु इस संकट के बहाने चालाक धूर्त व्यक्ति ठगने का काम भी करते हैं । लोग अब इस तरह की बातों से काफी सतर्क रहते हैं और वास्तव में संकटग्रस्त व्यक्ति की सहायता करने में भी हिचकिचाते हैं । फलस्वरूप संकट मे फँसे व्यक्तियों को बड़ी परेशानी उठानी पड़ती है । करुणा का शोषण, दोहन न हो और संकट ग्रस्त व्यक्तियों को सहायता भी मिल जाय इसका बेहतर तरीका उपरोक्त, परिस्थिति में यह हो सकता है कि उन लोगों को कोई काम देकर तात्कालिक उपार्जन के लिए सुविधा उपलब्ध करायी जाय । अन्य परिस्थितियों में भी इस स्तर की व्यवस्थाएँ खोजी जा सकती हैं और ऐसे तरीके निकाले जा सकते है जिनके द्वारा करुणा का शोषण न हो सके ।

पीड़ितो के लिए सूचना केन्द्र स्थापित करना भी पीड़ा निवारण की सेवा साधना का एक स्वरूप है । बहुत लोगों को इस बात का ही पता नही होता कि किस रोग का इलाज कहाँ होता है । बिगड़े और आवारा अनाथ बच्चों के लिए सुधारगृह, अनाथालय, असहाय गर्भवती स्त्रियों के लिए प्रसूति केन्द्र, पाशविक प्रवृत्तियों की शिकार विधवा परित्यक्ता या कुंवारी स्त्रियाँ जो नर पशुओं के हाथ पड़ कर गर्भवती हो गई हैं तथा गर्भवती है उनके लिए नारी निकेतन, पागल व्यक्तियों के उपचार हेतु मानसिक चिकित्सा आदि बातो की जानकारी यदि उपलब्ध करायी जा सके तो कई जीवन नष्ट होने से बचाये जा सकते हैं ।

अवांछनीय प्रवृत्तियों के कारण अवैध सन्तानें और नाजायज गर्भ होते हैं । उन प्रवृत्तियों को जड़ मूल से उखाड़ने के तौर-तरीके अलग हैं और सेवा साधना का यह क्षेत्र भी अलग है । यहाँ चर्चा केवल उत्पीड़ित व्यक्तियों की सेवा सहायता के विषय में की जा रही है । कई समाज सेवी संस्थाएँ इस तरह के काम करती हैं । उनका सेवाक्षेत्र ही यही है कि पीड़ित की सहायता की जाय । जैसे रेडक्रॉस के कार्यकर्त्ता युद्ध के समय युद्ध के मैदान मे जाते हैं और दोनों पक्षों के घायल सैनिकों की समान भाव के सहायता करते हैं । वे गोली चलाना बन्द कराने या समझाने का काम नही करते । उनका काम केवल पीड़ितों की सहायता, सेवा सुश्रुषा भर करना है ।

पीड़ा निवारण के पुण्यकार्य मे लगे सेवाभावी व्यक्तियों को उत्पीड़न का अन्त करने के स्थान पर पीड़ित व्यक्तियों की सेवा सुश्रुषा पर अधिक ध्यान देना चाहिए । उत्पीड़न के अन्त का मार्ग संघर्ष का है और उसकी प्रकृति रीति-नीति भी भिन्न है । वह प्रक्रिया समय साध्य है, तत्काल तो पीड़ित व्यक्ति को राहत पहुँचाना ही आवश्यक है । जैसे गाँव में दो पक्षों में झगड़ा हुआ और मारपीट हो गई उसमे लोग घायल भी हुए । कमजोर पड़ जाने वाला पक्ष आगे घात लगाने की योजना बनाने लगा । दोनों पक्षों में शान्ति स्थापित करने और समझौता कराने का कार्य बाद का है । पहले तो घायल व्यक्तियों को अस्पताल पहुँचाना तथा उनके उपचार की व्यवस्था करना ही आवश्यक है ।

कामुकता जन्य व्यभिचार अनाचार के कारण अधिक उपेक्षा निन्दा और भर्त्सना नारी पक्ष को ही सहनी पड़ती है । कई बार तो इसकी प्रतिक्रिया इतनी भीषण होती है कि पीड़ित नारी को आत्महत्या करनी पड़ती है अथवा वेश्यालय की शरण लेनी पडती है । उस समय कामलोलुपता को कोसने और उसके दुष्परिणाम सिद्ध करना ही पर्याप्त नही है । आवश्यक यह हो जाता है कि तात्कालिक परिस्थितियो को ध्यान में रखकर पीड़ित पक्ष की सहायता की जाय । वह दोषी हो तो भी उसे आत्म-ग्लानि के कारण अथवा समाज के दबाव से आत्मघात या जीवित मृत्यु के नर्क में न गिरने दे ।

इस स्तर के उत्पीड़न में सहायता सुश्रूषा करने के अतिरिक्त रोगियो के लिए भी सूचनाएँ एकत्र करनी

चाहिए । कुष्ठ रोग, कैंसर, नेत्र चिकित्सालय, नेत्र के बड़े अस्पताल, क्षय रोग के उपचार केन्द्र सभी स्थानों पर नहीं होते, लेकिन रोगी कहीं भी हो सकते हैं । उपचार व्यवस्था की जानकारी के अभाव में लोग उन रोगों के शिकंजे में फँस कर मौत की गोदी मे जा पहुँचते हैं । ऐसे व्यक्तियों के लिए उपचार केन्द्रो की जानकारी उपलब्ध करायी जा सके और उन्हें केन्द्रों से लाभ उठाने का मार्ग-दर्शन दिया जा सके तो उनका बड़ा हित हो सकता है ।

अवैध सन्तानों के लिए संरक्षण गृह, परित्यक्ता नारियों के लिए नारी आश्रम, अनाथालय, नारी निकेतन खुले होते हैं । उन केन्द्रो की जानकारी रखने पर यथा समय उन केन्द्रों की सहायता पात्रों को उपलब्ध करायी जा सकती है । सामान्यतः लोगों को इस तरह के आश्रमों, निकेतनों की जानकारी नहीं रहती फलतः पीड़ित व्यक्ति इधर-उधर भटकते और धक्के खाते रहते हैं । माना कि अवैध सन्तानें अवांछनीय सम्बन्धों के कारण जन्मती हैं, पर उसमें उनका क्या दोष है, दोषी तो उन्हें जन्म देने वाले माता-पिता और वह वातावरण है जिसमें कि इस तरह की दुष्प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिला ।

किसी के पाप दोष का दण्ड दूसरे ही उठाएँ यह अनुचित ही है । इसलिए समाज में उस स्थिति को उत्पन्न करने वाले कारण दूर तो किए जाने चाहिए परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि पीड़ित व्यक्ति को और उत्पीडन दिया जाय तो गलत आदमी को जिसका कोई दोष नहीं है सजा या दण्ड मिले ।

इसी प्रकार पालतू जानवरों के बूढ़े, रोगी या कमजोर होने पर उनके साथ भी उपेक्षा बरती जाती है । मनुष्यता का तकाजा है कि जिन जानवरो से फायदा उठाया जाय उनकी समुचित सेवा-सुश्रुषा की जाय । सेवा भावी व्यक्तियों को चाहिए कि वे पशु-स्वामियों को इस आधार पर समझाएँ । लोग अपाहिज और बीमार जानवरों को व्यर्थ समझ कर छोड़ देते है । वे बेचारे जहाँ-तहाँ गिरते-पड़ते हैं । इसे पशु-स्वामियों की निर्दयता तो कहा ही जाना चाहिए, परन्तु सेवा भावी व्यक्ति उन पशु मालिकों को कोस कर ही अपना कर्तव्य पूरा नहीं कर देते हैं । बहुत से लोग पशुओ के लिए ऐसे आश्रय केन्द्र भी खोलते हैं जहाँ उनके इलाज की व्यवस्था हो । निःसन्देह इस तरह के पशु चिकित्सालयों से कोई लाभ नहीं होता परन्तु सेवा कार्य लाभ कमाने के उद्देश्य से तो नहीं किए जा सकते । वह तो कारुणिक स्वभाव के सम्वेदनशील व्यक्तियों द्वारा अपनायी जाने वाली मनुष्यों और प्राणियों के पीड़ा निवारण की क्रिया पद्धति है । इसमें अन्य सेवा कार्यों की तरह लाभ-हानि का नहीं दूसरों के हित अहित का ही ध्यान रखा जाना चाहिए ।

यदि स्थिति इस योग्य न हो कि सेवा कार्य के उद्देश्य से संस्थापित किसी भी प्रक्रिया को लगातार जारी रखा जा सके तो उसके लिए लाभ न उठाने का नियम बना लिया जाय । निर्धन रोगियों की चिकित्सा, पशु-चिकित्सालय, अपाहिज पशुओं के लिए पशुशालाएँ आदि से इतना भर लाभ लिया जा सकता है कि किसी पर आर्थिक दबाव न पड़े ।

सेवा साधना में पीड़ा निवारण का महत्त्व है, पर तात्कालिक राहत पहुँचाने के रूप में ही किया जा सकता है । ऐसी कोई स्थायी व्यवस्था बनाना न तो व्यावहारिक है और न सम्भव ही है कि जहाँ रहकर व्यक्ति की समस्याओं का सम्पूर्ण समाधान निकाला जा सके । रोगी को इलाज के समय तक तो कहीं आश्रय दिया जा सकता है पर वह दुबारा बीमार न पड़े इसका कोई प्रबन्ध पीड़ा निवारण के रूप में नहीं किया जा सकता । उस समस्या का समाधान तो दूसरे ही ढंग से करना पड़ेगा और सर्वोपरि-सर्वोत्कृष्ट सेवा भी उसे ही कहा जायेगा ।

कहते है कि किसी सन्त के पास कोई गरीब व्यक्ति गया जिसको कई दिनों से खाना नहीं मिला था । सन्त ने उस समय तो खाना खिला दिया पर साथ ही उसका लोटा बेचकर एक कुल्हाड़ी खरीद कर भी दे दी और लकड़ी काट कर बेचने तथा उससे पेट भरने का रास्ता भी सुझाया । तात्कालिक सहायता के रूप में खाना खिला देने की बात उचित कही जा सकती है पर लोटा बेचकर कुल्हाड़ी देने तथा कमाकर खाने की दिशा बताना सर्वश्रेष्ठ सेवा कही जायेगी । सुविधा सम्वर्धन और पीड़ा निवारण भी उचित है पर श्रेष्ठ स्तर की सेवा उसे ही कहा जायेगा जिससे समस्याओं को स्वयं हल करने की दिशा मिलती है । जिससे व्यक्ति स्वयं अपनी गुत्थियो को सुलझाने की सामर्थ्य

विकसित कर सके । इस उद्देश्य को पूरा करने वाली सेवा ही आध्यात्मिक स्तर की सेवा मानी जानी चाहिए । अन्य को अनावश्यक तो नहीं बताया जा रहा, उनकी भी समय और परिस्थिति के अनुसार आवश्यकता है, परन्तु सेवा का वह अभ्यास सदैव जारी रखा जा सके वैसे अवसर कम ही आते हैं । विचार सेवा या पतन के उन्मूलन का अवसर सदैव प्रस्तुत है । वह श्रेष्ठ भी है और सहज भी ।

इसके विपरीत पीड़ा निवारण के प्रचण्ड प्रयास किए जायें और व्यक्ति का स्तर वही रहे तो उन प्रयासों तथा सम्बन्धित सुविधाओं का लाभ भी नहीं उठाया जा सकता । अस्तु विचारकों ने मानवीय व्यक्तित्व में आये पतन को दूर करना ही श्रेष्ठ सेवा माना है ।

## समस्याओं के स्वरूप और कारण

जन-जीवन को सहज और सरल बनाने के लिए सुविधाओं को बढ़ाना तथा पीड़ित जनों की सहायता सुश्रुषा करना सेवा धर्म के अन्तर्गत ही आते हैं । यह प्रयास किए जायें, फिर भी कई स्थितियाँ ऐसी आती हैं कि इनके लाभ स्थायी नहीं रह पाते । जैसे भूखे व्यक्ति को एक बार भोजन करा दिया जाय, उस समय तो उसका पेट भर जायेगा लेकिन दुबारा जब फिर भूख लगेगी तो पहले की गई सेवा व्यर्थ हो जायेगी । इसी समस्या को गहराई से देखा जाय और उसके कारणों को दूर किया जाय तो वह अधिक श्रेष्ठ है । देखा जा सकता है कि वह व्यक्ति बेकार तो नहीं है, निकम्मा या कमजोर होने के कारण भिक्षा जीवी तो नहीं बन गया है । अन्य समस्याओं के सन्दर्भ में भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार कर उनके कारणों का पता लगाना और उन्हें दूर करना उत्कृष्ट स्तर की सेवा है ।

मनुष्य की और समाज की स्थिति इन दिनों समस्या ग्रस्त और संकट ग्रस्त है । इन विभिन्न समस्याओं के कारण ही समाज की प्रगति यात्रा अवरुद्ध रहती है । लोक सेवियों का महत्व और वर्चस्व समाज में इसीलिए रहता है कि वे समाज को आगे बढ़ाने में अपना योगदान देते हैं और उसके लिए उत्कर्ष में आने वाली बाधाओं को हटाते हैं । आज समाज के उत्कर्ष और मानवीय संस्कृति के विकास में सबसे बड़ी बाधा व्याप्त समस्याएँ ही हैं अतः लोक सेवियों को प्रमुख रूप से उस ओर ही ध्यान देना चाहिए ।

व्याप्त समस्याओं के समाधानों और मानवीय सभ्यता संस्कृति के पतन को उत्थान की दिशा में अग्रसर करने के लिए उनके स्वरूप और कारणों को समझ लेना चाहिए । सामाजिक क्षेत्र में जिधर भी दृष्टि डालकर देखा जाय उधर अभाव, असन्तोष, चिन्ता, क्लेश एवं कलह का ही बाहुल्य देखा जाता है आज का व्यक्ति दिनों-दिन समस्याओं के जाल में जकड़ता चला जा रहा है । धनवान और निर्धन, शिक्षित और अशिक्षित, रुग्ण और स्वस्थ सभी स्तर के मनुष्य अपने को अभाव ग्रस्त और संकट ग्रस्त स्थिति में अनुभव करते हैं । उनकी समस्याएँ भी अलग हैं, स्वरूप भी भिन्न दिखाई देता है, इससे कारणों की खोज करते समय बरबस ही यह लगता है कि उनके कारण भी भिन्न-भिन्न होने चाहिए जबकि वस्तुतः ऐसा होता नहीं । स्वरूप को देखकर यदि कारण का पता लगाया जाय और उसका उपचार खोजा जाने लगे तो भ्रान्ति ही उत्पन्न होने की सम्भावना अधिक रहती है और समाधान की दिशा भी भटक जाती है ।

चेचक, फोड़े-फुंसियों के रूप में ही दिखाई देता है । आजकल तो प्रत्येक व्यक्ति उसे समझने लगा है । यदि उसके कारण पर ध्यान नहीं गया हो तो यही उपचार सही लगता है कि एक-एक फोड़े-फुंसी की मरहम पट्टी की जाय और चेचक को ठीक किया जाय । स्पष्ट ही यह उपचार अनर्थकारी होगा और रक्त में आये विकार को दूर करने के अतिरिक्त कोई उपचार नहीं है । समस्याएँ अनेक हैं चेचक के फोड़े-फुंसियों की तरह उनकी कोई निश्चित संख्या नहीं पर मूल कारण उनका एक ही हो सकता है और उस मूल कारण को हटाए बिना समस्याओं से त्राण नहीं पाया जा सकता । रक्त विकार के शोधन की बात पर ध्यान न देकर फोड़े-फुंसियों की मरहम पट्टी की जाय तो उससे चेचक के रोग की स्थिति में सुधार होने की अपेक्षा और भी बिगाड़ हो जाता है । समस्याओं के मूल कारण को ढूँढ़ कर उन्हें दूर करना मुख्य बात है । समस्याओं के ऊपरी स्वरूप को तोड़ने के लिए माथा पच्ची करने से कोई लाभ नहीं है ।

किसी स्थान पर पानी इकट्ठा हो जाने या बहाव रुक जाने के कारण मच्छर पैदा होते हैं । लगता तो यह है कि मच्छरों को मार देने से काम चल जायेगा परन्तु एक-एक मच्छर को पकड़ना न तो सम्भव है और न उससे मच्छरों को रोका जा सकता है । मच्छरों को मारने वाली दवा छिड़कने से भी मच्छरों का बढ़ना बन्द नहीं होता । जब तक दवा का असर रहे तब तक मच्छर भले ही उस स्थान पर न आयें । असर मिटते ही मच्छर फिर पैदा होने लगेंगे । मच्छरों से निबटने का एक ही तरीका है कि उनका स्रोत वह कारण जिससे कि वे बढ़ते हैं बन्द कर दिया जाय । हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में आने वाली असंख्य समस्याओं का अलग-अलग समाधान न सम्भव है और न व्यावहारिक उसके लिए तो समस्याओं की जड़ को ही टटोलना पड़ेगा और उसे खत्म करना पड़ेगा ।

पेड़ के पत्ते तब हरे होते हैं जब कि उनकी जड़ मजबूत, सुदृढ़ और धरती से पोषक रस खींचने में समर्थ हों । जड़ के मर जाने से या कमजोर हो जाने पर पेड़ भी मर जाता है और पत्ते भी सूख जाते है । बड़े-बड़े विशाल वृक्ष आँधी तूफान में भी खड़े रहते है तो उसका कारण जड़ों का मजबूत होना ही है । जड़ खोखली होने पर उनसे छोटे पेड़ भी गिर जाते हैं और बड़े पेड़ मजबूती के साथ खड़े रहते हैं । यदि मनुष्य की जीवनी-शक्ति जिसे जीवन-चेतना कहना अधिक उपयुक्त होगा सुदृढ़ और मजबूत हो तो बाहर से कितनी ही विपत्तियाँ और कठिनाइयाँ क्यों न आयें मनुष्य सुखी और शान्त रह सकता है । इसके विपरीत जीवन-चेतना और अपने प्रति दृष्टिकोण यदि दुर्बल रहा तो परिस्थितियाँ भी बड़ा संकट उपस्थित कर देती हैं । दृष्टिकोण को परिस्थितियो की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता की जड़ कहा जा सकता है ।

यदि जड़ें मजबूत हो तो वृक्ष का ऊर्ध्वमुखी विकास होता है और यदि जड़े छोटी और कमजोर हो तो वे वृक्ष जिन्हे प्रकृति ही स्वयं विशाल और गगनचुम्बी बनाती है छोटे रह जाते हैं । जापान में देवदार के छोटे वृक्ष इसी प्रकार तैयार किए जाते हैं । सामान्यतः देवदार वृक्षो की लम्बाई बीस-पच्चीस फुट तक रहती है लेकिन जापानी लोग उन्हें गमलों में उगाते हैं ताकि उनकी जड़ें अधिक गहरी न जा सकें । इसी कारण वे ज्यादा बढ़ नहीं पाते और छोटे रह जाते हैं ।

देवदार के छोटे वृक्षों को देखकर कोई यह अनुमान भले ही लगाने लगे के उसके कारण कुछ और हैं परन्तु वास्तविक कारण जड़ों का विकास रुक जाना ही है । समस्याओं के वास्तविक कारण पर ध्यान न देने से भी उसी प्रकार की भ्रान्ति हो सकती है । जैसे दो व्यक्ति लड़ रहे हों एक-दूसरे को मार डालने पर उतारू हों और उस लड़ाई में कोई व्यक्ति मारा भी जाय तो लगता है कि यदि दूसरे के पास शस्त्र नहीं होता तो वह व्यक्ति नहीं मरता, पर उस हत्या में शस्त्र का कोई दोष नहीं है, मूल कारण है उन व्यक्तियों के मन में बसा हुआ द्वेष ।

द्वेष भावना के कारण ही तमाम झगड़े-झंझट और मारपीट होती है । परिस्थितियों के कारण होती हो ऐसा नही है । परिवार में किसी बच्चे को खिलाते समय अपने ही स्वजन के हाथों से वह गिर पड़े और गिर कर मर जाय तो लोग यह सोचकर क्षमा कर देते हैं कि भूल हो गई, लेकिन हृदय में यदि द्वेष भावना होती है तो दूसरों को हँसते देखकर भी मेरी खिल्ली उड़ाई जा रही है यह सोचकर झगड़ने की इच्छा होती है । समस्याओं का कारण परिस्थितियाँ अथवा बाहरी वातावरण नहीं है, उनका कारण हमारे आन्तरिक जीवन की विसंगतियाँ और विकृतियाँ हैं ।

आन्तरिक जीवन की मान्यताओं और आस्थाओं के अनुरूप ही हम परिस्थितियों को सुखद या दुःखद बन लेते हैं । दृष्टिकोण के अनुसार हमारी जीवन धारा बहती है । एक ही स्टेशन से चलने वाली रेलगाड़ी थोड़ी दूर जाकर पटरियाँ बदलने से दो विभिन्न दिशाओ मे चल पड़ती है । पटरी बदलने वाले एक छोटे से यन्त्र का यह प्रभाव होता है कि दिल्ली से चली एक गाड़ी कलकत्ता पहुँच जाती है और दूसरी उससे सर्वथा विपरीत दिशा में बम्बई पहुँच जाती है । इसी प्रकार दृष्टिकोण बदल जाने पर एक ही परिस्थिति किसी को हतोत्साहित कर देती है तो किसी को आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है ।

हिमालय पर्वत से ही निकली सिन्धु और ब्रह्मपुत्र नदियाँ भिन्न सागरों मे जाकर मिल जाती हैं, केवल इस कारण कि पहाड़ी की ढलान दो भिन्न दिशाओं मे

है । मनुष्य का दृष्टिकोण, उसकी आस्थाएँ और उनके विचार ही उसे दूसरों से भिन्न बताते हैं । कोई सन्त महापुरुष बन जाता है तो कोई चोर डाकू । अन्यथा शरीर में तो सभी व्यक्ति एक जैसे हैं । इसलिए स्थिर परिवर्तन विचारों, आस्थाओं और मान्यताओं के परिष्कार द्वारा किए जा सकते हैं ।

पिछले समय विश्व के कतिपय राजनेताओं ने परिवर्तन का आधार दमन और बाहरी दबाव बताया, किन्तु वह नीति असफल ही सिद्ध हुई । जहाँ कहीं थोड़ी सफलता मिली भी है वह इस कारण कि बाहरी दबाव बराबर बना रहा । उन दिखाई देने वाले परिवर्तनों के साथ यह सम्भावना तो बराबर जुड़ी रही है कि बाहरी दबाव हटते ही लोग फिर अपने पहले रूप में आ जायेंगे । इसीलिए किसी विचारक ने माओ के इस सिद्धान्त का खण्डन किया है कि—'क्रान्ति बन्दूक की नली से निकलती है ।' पहले भी बन्दूक या रक्तपात के आधार पर परिवर्तन की जितनी प्रक्रियाएँ चलीं सब असफल हुईं । कुछ देर के लिए श्मशान की सी शान्ति भले ही छायी रही परन्तु जिन लोगों ने दमन किया और हिंसा की, अपने शत्रुओं या विपक्षियों को दबाया, बाद में उनके साथी ही उन्हें दबाने लगे । रक्तपात या हिंसा का चाव कुछ ऐसा है कि वह कोई शिकार न मिलने पर अपने ही साथियों को दबाने, फाड़ने लगता है ।

भेड़िया हिंसक जानवर है । दूसरे जानवरों का शिकार कर वह अपना उदर पोषण करता है परन्तु जब कोई शिकार नहीं मिलता तो वह अपने ही स्वजातीय भेड़ियों को मारकर खाने लगता है । इसके विपरीत भेड़ें चारा पानी न मिलने पर एक-दूसरे की गर्दन पर गर्दन रख कर मर जाती है । उनके मरने में जो सौम्यता है वह भेड़ियों के आपसी संघर्ष में कहाँ ? हिंसा और रक्त का स्वाद भी भेड़ियों के रंग-ढंग सरीखा है । इसीलिए आन्तरिक जीवन में परिवर्तन करने के बाद बदली गई परिस्थितियाँ अधिक सुखद, अधिक शीतल और अधिक स्थाई होती हैं ।

समस्याओं का मूल समाधान आन्तरिक परिवर्तन द्वारा ही सम्भव है । बाहरी दबाव से उन्हें हल करने की चेष्टा की गई तो अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर वे फिर खड़ी हो जायेंगी । बारिश के दिनों में चारों ओर हरियाली दिखाई देती है, गर्मी में वह घास सूख जाती है और लगता है कि घास खत्म हो गई, किन्तु फिर जब गर्मी होती है तो दूब फिर हरी हो जाती है । चोरों, उठाईगीरों और ठगों को जेल में बन्द कर समझ लिया जाय कि अब इन अपराधों की जड़ कट गई तो यह भ्रान्तिपूर्ण होगा । कहने का अर्थ यह नहीं है कि अपराधियों को दण्ड ही न दिया जाय । दण्ड प्रक्रिया आवश्यक और उपयोगी है परन्तु समस्या का मूल कारण तो दूसरा है । हो सकता है वह कारण बेकारी हो, चोर ठगों को अपनी बेकारी, आवश्यकता पूर्ति के साधनों का अभाव महसूस हो रहा हो अन्यथा बुरा काम का बुरा परिणाम होगा यह जानकर भी लोग अपराध कर्म में क्यों प्रवृत्त होने लगे ।

हमारे जीवन में व्याप्त समस्याओं और कठिनाइयों के कारण अलग-अलग नहीं हैं । उनका स्वरूप भिन्न-भिन्न भले हो परन्तु स्वरूप भिन्न होने से ही कारण अलग नहीं हो जाते । कब्ज, एलर्जी, अपच, खट्टी डकारें आना, वायुविकार होना आदि बीमारियाँ पेट की खराबी से होती हैं । इन बीमारियों की जड एक ही है । अब तो जैसे-जैसे चिकित्सा विज्ञान में नयी-नयी शोध होती जा रही है और विभिन्न रोगों के कारणों का पता लगाने के लिए प्रयोग हो रहे हैं उनसे सिद्ध हो रहा है कि विभिन्न समस्याओं की जड़ पेट की खराबी है । पेट की खराबी अनुपयुक्त आहार-विहार और असयमित रहन-सहन से आती है । पेट में पहुँचे और पचे अन्न से ही शरीर के अन्यान्य अगों को पोषण मिलता है अथवा क्षति पहुँचती है और उसी कारण विभिन्न रोग उत्पन्न होते हैं । मानवीय समस्याओं के सम्बन्ध में यदि विचार किया जाय तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि उनका कारण चिन्तन पद्धति का दूषित होना ही है । उसी कारण परिस्थितियाँ विकराल लगती हैं तथा प्रतिकूलताएँ रास्ता रोक कर खड़ी हो जाती हैं । विचारों में आई गिरावट और आन्तरिक स्तर में आये पतन से ही व्यक्तिगत जीवन में असुविधाएँ तथा सामाजिक जीवन में अवाछनीयता बढ़ती हैं । उस मूल कारण को दूर कर, चिन्तन विकृति को हटाकर मनुष्य तथा समाज की समस्याओं को हल किया जा सकता है ।

## सेवाधर्म का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप

व्याप्त समस्याओं के समाधान का एकमात्र उपाय यह है कि उनके मूल कारण को ही हटाया जाय। जैसा कि देखा जाता है स्वरूप कुछ और रहता है और कारण कुछ और। उसी प्रकार विभिन्न समस्याओं का कारण हमारे चिन्तन में बैठी विकृतियाँ तथा दृष्टिकोण में आई गिरावट और विचारों में आई विसंगतियाँ हैं। व्यक्तिगत समस्याओं का सामूहिक रूप ही सामाजिक समस्याएँ हैं और एक ही तरह के चिन्तन दृष्टिकोण को ही जनमानस के प्रवाह की दिशा कहा जा सकता है। चिन्तन और दृष्टिकोण को परिष्कृत किया जा सके तो बाह्य जीवन में भी सुखद परिवर्तन किया जा सकता है। यही स्थिति जनमानस के प्रवाह की है। उसे जैसी दिशा दी जायेगी उसी स्तर के सामाजिक परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगेंगे।

मनुष्य की आस्थाएँ, उसकी भावनाएँ और उसकी मान्यताएँ ही उसकी नियन्त्रण कर्त्री शक्तियाँ है। उसके विचार ही उसके मर्मस्थल हैं, उसकी आस्थाएँ ही उसके प्राण हैं और उन्हें प्रभावित कर ही मनुष्य तथा समाज को अभीष्ट दिशा दी जा सकती है। प्राचीन काल से अब तक के इतिहास पर दृष्टि दौड़ाने पर इस तरह के ढेरों उदाहरण मिल जायेंगे जिनमें कि इन मर्मस्थलों को छूकर व्यक्ति के जीवन की दिशा ही बदल दी गई।

पुराण साहित्य में नारद तो मानो लोगों की जीवन दिशा बदलने के ही प्रतीक हैं। हिरण्यकश्यप असुर राजा था। उसके कारण सारे राज्य की जनता भयभीत थी और उसका कहा मानने के लिए विवश थी। नारद ने हिरण्यकश्यप के पुत्र प्रह्लाद को ही अपने पिता के अनुचित कार्यों का समर्थन न करने तथा स्वतन्त्र विवेक से कार्य करने के लिए तैयार किया। सर्वविदित है कि प्रह्लाद के विरोध और असहयोग ने ही आतताई हिरण्यकश्यप के अत्याचारों का उन्मूलन किया।

ध्रुव को उनकी सौतेली माँ ने उनके पिता की गोद से उतार दिया था। इससे खिन्न और निराश ध्रुव अपनी बालबुद्धि से प्रतिशोध लेने की बात सोच ही रहे थे कि नारद ने उन्हें संसार के पिता-परम पिता परमात्मा की गोदी में बैठने की दिशा दी। यों ध्रुव अधिक से अधिक अपने पिता के उत्तराधिकारी ही बन पाते परन्तु देवर्षि नारद ने उन्हें अमृतत्व प्राप्त करने की दिशा दी। यह ध्रुव के मर्मस्थल को छूकर उनके जीवन का कायाकल्प ही कहा जा सकता है।

वाल्मीकि जब डाकू थे तो उनके उत्पातों को रोकने के सभी प्रयास विफल हुए। न उसका दमन सम्भव हुआ और न उससे त्रस्त व्यक्तियों की पीड़ा मिटी। नारद ने ही वाल्मीकि को समझाकर उसकी आस्थाओं को बदल कर नरपशु से नररत्न बना दिया। वही वाल्मीकि जो अपने पूर्व जीवन मे हजारों व्यक्तियों का वध निर्ममता से कर चुके थे इतने कारुणिक बन गए कि एक पक्षी का मारा जाना तक न देख सके।

इसी प्रकार अंगुलिमाल और आम्रपाली के जीवन में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। अंगुलिमाल भी भयंकर दस्यु था। गौतम बुद्ध ने उसकी आस्थाओं में परिवर्तन लाकर उसे महाभिक्षु-महान सन्त बना दिया। आम्रपाली एक वेश्या थी और जीवन भर लोगों को वासना के मलीन पाप पंक में लथोड़ने का काम करती रही, परन्तु बुद्ध से क्षण भर के वार्तालाप ने उसे श्रेष्ठ साध्वी बना दिया। कहते हैं आम्रपाली बुद्ध धर्म का प्रचार करने वाली सर्वप्रथम महिला थी। इससे पूर्व महिलाओं को भिक्षु संघ में सम्मिलित ही नहीं किया जाता था।

### संन्यासी की व्यथा

विचार और शिक्षण के द्वारा ऐसे व्यक्तित्व भी तैयार किए गए हैं जिन्होंने अपनी प्रतिभा और योग्यता के बल पर समाज से पतन के कारणों को दूर किया। उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय समाज धार्मिक दृष्टि से बड़ा ही मूढ़, सकीर्ण और अन्धविश्वासी था। इन विडम्बनाओं की फलश्रुति जीवन के अन्य पक्षों पर भी होती, फलतः भारतीय समाज आस्थाओं और क्रिया-कलापों की दृष्टि से दीन-हीन दरिद्र और निष्क्रिय ही बना पड़ा था। इस स्थिति को देखकर स्वामी रामकृष्ण परमहंस रोया करते। उन्होंने स्वामी विवेकानन्द को इस दृष्टि से तैयार करना आरम्भ किया। स्वामी विवेकानन्द पूर्व जीवन मे प्रतिभाशाली किन्तु बेकार युवक थे। स्वामी रामकृष्ण के शिक्षण ने उनकी जीवन दिशा ही बदल दी और उन्होंने धार्मिक तथा सामाजिक पुनर्जागरण का ऐसा शंखनाद किया कि उसकी प्रतिध्वनि

विदेशों में भी सुनाई दी । रामकृष्ण मिशन के रूप में स्वामी विवेकानन्द ने ऐसी सेवा प्रक्रिया आरम्भ की जो आज तक चली आ रही है ।

इसी प्रकार भारतीय समाज का पुनर्जागरण करने के लिए उसी युग में प्रज्ञा चक्षु स्वामी विरजानन्द जी ने स्वामी दयानन्द को तैयार किया । तब भारतीय समाज में हजारों हजार देवी देवताओं, धर्म के नाम पर ठगी, भूतप्रेत, पीर औलिया आदि को ही धर्म समझा जाता था । धर्म के वास्तविक अर्थों को लोग भूलते जा रहे थे । धर्म के वास्तविक स्वरूप को आगे लाने और उस माध्यम से व्यक्ति का उत्कर्ष करने के लिए स्वामी दयानन्द ने एक धार्मिक आन्दोलन का सूत्रपात किया । उसके फलस्वरूप समाज में ऐसी जागृति आई कि लोग सच्चे धर्म को अपनाने के लिए कटिबद्ध होने लगे ।

उस समय विदेशी आक्रांताओं के आक्रमण बढ़ते जा रहे थे और भारतीय राजा आपसी लड़ाई-झगड़ों में ही उलझे रहते थे । पृथ्वीराज एक समर्थ और शक्तिशाली राजा थे । उन्होंने आक्रमणकारी मोहम्मद गोरी को पराजित किया । इससे पूर्व उन्हें आक्रमणकारी का सामना करने की सूझती ही नहीं थी और वे अन्य राजाओं की तरह विलास मौज में मस्त रहते थे । पृथ्वीराज की जीवन दिशा तब बदली जब कवि चन्दबरदाई ने कुछ पद्य कह कर उनकी विचारतन्त्री को झकझोर कर रख दिया ।

विचार पोषण और शिक्षण के द्वारा जीवन दिशा को मोड़ने तथा ऐतिहासिक उपलब्धियों में आधार भूमिका निभाने के और भी कई उदाहरण है । हर्षवर्धन, जिसने बौद्ध धर्म को दिग्-दिगंत में फैलाया, आरम्भ में राज्यसत्ता के कारण उत्पन्न होने वाली विकृतियों से ही ग्रस्त थे । उसके प्रभाव स्वरूप राज्य की जनता में वही विकृतियाँ और अधिक वीभत्स रूप में पनप रही थीं । उनकी बहन राजश्री ने हर्षवर्धन को समझाया और उनके जीवन को नयी दिशा दी । हर्ष ने उस दिशा को अपनाया, फलस्वरूप बौद्ध धर्म के अग्रणी प्रचारकों में गिने जाने लगे ।

## महिलाओं की दूरदर्शिता

संसार में कई महापुरुष ऐसे भी हुए जिन्हें उनकी माताओं ने दिशा दी और समाज में व्याप्त विकृतियों के निराकरण अथवा सत्प्रवृत्तियों का अभिवर्धन करने योग्य क्षमताएँ विकसित कीं । मदालसा ने वेदशास्त्रों की प्रगतिशील व्याख्या तथा जन-साधारण को धर्म आध्यात्म का ही सही स्वरूप समझाने के लिए अपने प्रत्येक पुत्र को उसी प्रकार शिक्षित किया । फलतः मदालसा का प्रत्येक पुत्र ब्रह्मवेत्ता बना और उन्होंने जनमानस में सत्प्रवृत्तियो, सद्भावनाओ का अभिवर्धन किया ।

मध्यकाल की जनता के दीन-हीन बने रहने का एक कारण राजतन्त्र की विकृतियाँ भी थीं । शिवाजी की माता जीजाबाई ने जब लोगों की दीनदुर्दशा को देखा तो निश्चय किया कि वे अपने पुत्र को इस प्रकार प्रशिक्षित करेंगी कि वह धर्मराज्य की स्थापना कर सके । शिवाजी के पिता शाहजी एक मुगल नवाब के यहाँ नौकर थे । शिवाजी की माँ जीजाबाई यह नहीं सहन कर सकीं कि उनके पति की तरह उनका बेटा भी किसी आततायी के मातहत काम करे और रोजी, रोटी तक ही अपने जीवन का उद्देश्य सीमित रखे । अस्तु उन्होंने शिवाजी को इस ढंग से प्रशिक्षित करना आरम्भ किया कि उनके हृदय में देशभक्ति की भावना कूट-कूट कर भर गई और आगे चलकर उन्होंने अपने आपको मातृभूमि का सेवक और स्वतन्त्रता के लिए लड़ने मरने वाला वीर योद्धा बना लिया ।

विनोबा की माँ ने अपने तीनों पुत्रों को इस प्रकार तैयार किया कि विनोबा अपने तीनों भाइयों सहित समाज सेवा के कार्य मे जीवन अर्पित करने वाले महापुरुष बन गए ।

इस प्रकार के और भी ढेरों उदाहरण हैं जो विचार पोषण, आस्थाओं के निर्माण और भावनाओं के शिक्षण द्वारा जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रस्तुत करने के सिद्धान्त को प्रभावित करते हैं । अपने देश में प्राचीन काल के गुरुकुलों द्वारा यही आवश्यकता पूरी की जाती थी । उनमें सामान्य जीवन के लिए उपयोगी जानकारी शिक्षा के रूप में तो दी ही जाती थी, जीवन दिशा को निर्धारित करने तथा उसे और अग्रसर करने का उपक्रम 'विद्या' द्वारा भी पूरा किया जाता था ।

इन दिनों व्यक्ति की समस्याओं और संकटों का हल खोजने के लिए उसी स्तर का विचार पोषण, आस्था, निर्माण और मान्यताओं के विकास की

आवश्यकता है । विचार शक्ति के उपयोग द्वारा न केवल व्यक्तियों के जीवन में परिवर्तन आये हैं वरन् जनमानस के प्रवाह की दिशा भी बदली है । गत ढाई हजार वर्षों में ऐसी ही कई धार्मिक क्रान्तियाँ हुईं जिन्हें विचार बल के द्वारा सफलता मिली । बुद्ध धर्म के अनुयायी प्रारम्भ में थोड़ी संख्या में थे । उन्होंने प्रचार द्वारा बुद्ध धर्म का विस्तार किया । बुद्ध के जीवन काल में उनके अनुयायियों की संख्या तो बहुत ही कम थी पर उनके बाद बौद्ध भिक्षुकों ने जत्थे बनाकर एशिया के समस्त देशों का भ्रमण किया । फलस्वरूप एक हजार वर्ष में ही अधिकांश एशियायी जनता बौद्ध हो गई । कुछ समय पूर्व तक चीन, तिब्बत, जापान, इण्डोनेशिया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, लंका आदि देश पूरी तरह बौद्ध थे । भारत के एक बड़े भाग में भी बौद्ध धर्म प्रचलित था । इस धार्मिक विजय का श्रेय बौद्ध दर्शन तथा उसकी प्रचार पद्धति को ही दिया जा सकता है । इन धर्म प्रवर्तनों द्वारा जनमानस को एक नयी दिशा मिली और उनके व्यक्तित्व का स्तर ऊँचा उठा ।

इसी प्रकार की विचार क्रान्ति ईसाई धर्म के प्रचारकों ने भी की है । आज दुनिया में लगभग एक अरब ईसाई हैं, एक अरब अर्थात् संसार की आबादी का एक तिहाई हिस्सा । ईसा के जीवनकाल में कुल बारह व्यक्ति उनके शिष्य बन सके । कई सौ वर्ष में ईसाई धर्म में कुछ सौ व्यक्ति दीक्षित हुए, लेकिन इसके बाद सेण्टपाल ने ईसाई धर्म का प्रसार करने के लिए ऐसा प्रचारतन्त्र खड़ा किया कि विगत चार पाँच सौ वर्ष की अवधि में ही संसार के एक तिहाई हिस्से में ईसाई धर्म छा गया । यह प्रचार युद्ध के बल पर नहीं विचार विस्तार के आधार पर सम्भव हो सका ।

## परिवर्तन और परिष्कार

भारत तो इस प्रकार की धार्मिक क्रान्तियों का गढ़ ही रहा है । यहाँ विचारों के द्वारा ही संस्कृति का सन्देश और धर्म, आध्यात्म की सामयिक परिभाषाएँ की जाती रही हैं । बुद्ध ने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' की रूढ़ मान्यता को निरस्त किया तो आगे चलकर बौद्ध दर्शन में आयी शून्यवाद की विकृति को शंकराचार्य ने मिटाया । 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के आधार पर जीवन की कठोर यथार्थताओं को भुलाया जाने लगा तो गुरु नानक, गुरुगोविन्द सिंह आदि सन्त महापुरुषों ने जीवन की समस्याओं से संघर्ष की प्रेरणा दी । यह सारे कार्य विचार-प्रसार द्वारा ही सम्पन्न किए जाते रहे ।

अन्य देशों में भी समय-समय पर इस प्रकार की धार्मिक क्रान्तियाँ होती रहीं और जन-मानस का स्तर ऊँचा उठाती रहीं । चीन में असभ्य और अशिक्षित लोगों को नैतिकता मानवता का सन्देश देने के लिए कन्फ्यूशियस प्रणीत एक वैचारिक आन्दोलन ही चल पड़ा था । बुद्ध के समकालीन कन्फ्यूशियस के विचारों ने तब जन-साधारण से लेकर राजसत्ता तक को प्रभावित किया ।

पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में ईसाई धर्म कई विकृतियों और अन्ध परम्पराओं से ग्रस्त हो चुका था । फलस्वरूप लोग धर्म के वास्तविक स्वरूप को भुलाकर चिह्न पूजा को ही सब कुछ समझने लगे । स्पष्ट है उसका प्रतिफल नैतिक पतन और तज्जनित समस्याओं के रूप में सामने आया । मार्टिन लूथर नामक एक विद्वान ने इसके विरुद्ध वैचारिक क्रान्ति का शंखनाद किया था । उसके फलस्वरूप केवल ईश्वरीय सत्ता को ही सर्वोच्च मानने वाले विचारशील व्यक्तियों का प्रगतिशील वर्ग तैयार हुआ । अन्यथा उससे पूर्व धर्म गुरुओं के प्रत्येक आदेश को बिना किसी विवेक के स्वीकार कर लेने की जड़ता ईसाई-मतावलम्बियों में प्रवेश कर चुकी थी और उन्हें अपने शिकंजे में अच्छी तरह कस चुकी थी ।

आधुनिक सभ्यता के विकास की प्रक्रिया जब से आरम्भ हुई वह भी विचार क्रान्ति के फलस्वरूप ही थी । उस समय यूनान कला और संस्कृति का केन्द्र था । इस्तम्बोल से कुछ यूनानी विचारक इटली चले गए और वहाँ से अपने साथ कला व संस्कृति की विचारधारा भी साथ लेते गए । उन्हीं दिनों प्रेस का भी आविष्कार हुआ फलस्वरूप पुस्तकें सर्वसाधारण के लिए भी सुगमता से उपलब्ध होने लगीं । यूनानी विचारकों ने अपने विचार पुस्तकों के रूप में छपवा कर जन-जन तक पहुँचाना आरम्भ किया फलस्वरूप एक अभूतपूर्व जन-जागृति आई । विश्व इतिहास में इस जन-जागरण को 'रिनेसाँस' के नाम से जाना जाता है । पुस्तकों के प्रचार से ही लोगों में स्वतन्त्र दृष्टि

से विचार करना सीखा और एक ऐसा वर्ग तैयार हुआ जो स्वतन्त्र रूप से अपने विवेक के आधार पर किसी बात को अपनाने या न अपनाने का निर्णय लेता था ।

सन् १७८९ में फ्रांस की राज्य क्रान्ति का आधार भी वैचारिक परिवर्तन से ही पुष्ट हुआ । उस समय फ्रांस की जनता कई समस्याओं और राष्ट्रीय संकटों से त्रस्त थी । इसका कारण लुई सोलहवें का स्वेच्छाचारी शासन ही समझा गया । उसे न जनहित का ख्याल था और न जन-सुविधाओं की चिन्ता । जनता उसके अत्याचारों को चुपचाप सहती जा रही थी । उस समय फ्रांस की जनता राजसत्ता को बदलने की बात सोच भी नहीं सकती थी । मिराबो जिरोदिस्टो, मारा, दांते आदि विचारकों और जन-नेताओं ने परिवर्तन का नारा दिया तथा बताया कि बिना यह परिवर्तन किए आसन्न समस्याओं के समाधान का और कोई उपाय नहीं है । फलस्वरूप जनता में ऐसी चेतना उत्पन्न हुई कि सम्राट लुई के स्वेच्छाचारी निरंकुश शासन का अन्त हो गया ।

## राज्यक्रान्तियों का आधार परिणाम

कुछ शताब्दियों पूर्व तक संसार के सभी देशों में राजतन्त्र था । यूनानी दार्शनिक सुकरात के शिष्य प्लेटो ने प्रथम बार जनतन्त्र की कल्पना की तथा उसके सिद्धान्तों को अपनी पुस्तक रिपब्लिक में विश्लेषित किया । रूसो आदि विचारकों ने इस सिद्धान्त की व्याख्या की और लोगों को बताया कि राजतन्त्र के स्थान पर जनतन्त्र की स्थापना की जाय उसका स्वरूप, व्यावहारिक कार्यक्रम तथा प्रतिफल भी उन्होने लोगों को बताया । यह विचार जनमत को प्रिय लगा फलस्वरूप एक के बाद एक राजक्रान्तियाँ होती चली गईं । जनता विद्रोही बनी और राजतन्त्रो को उखाड़ कर उनके स्थान पर प्रजातन्त्र स्थापित कर लिए । यूरोप, अमेरिका, एशिया,- अफ्रीका के अनेक देशों में एक के बाद एक प्रजातन्त्र का उदय होता चला गया । जनता ने सशक्त राजसत्ताओं को जिस बल-बूते पर पलट डालने में सफलता पायी, वह उनकी विचारणा ही थी । प्रजातन्त्र की उपयुक्तता पर विश्वास करके साधारण लोगों ने राजतन्त्र उलट दिए, इसे विचार शक्ति की विजय ही कहा जायेगा ।

एक दूसरी राजनैतिक विचार क्रान्ति पिछले ही दिनों हुई है । कार्लमार्क्स प्रभृति दार्शनिकों ने बताया कि साम्यवादी सिद्धान्त ही जनता के कष्टों को दूर करके उसकी प्रगति का पथ प्रशस्त कर सकते है ।उन्होंने साम्यवाद का स्वरूप आधार और प्रयोग प्रस्तुत किए, जनता ने उसे समझा । यह विचारधारा लोकप्रिय हुई, विचारशील लोगों की दृष्टि में वह उपयुक्त जँची । फलस्वरूप उसका विस्तार होता चला गया । आज संसार की एक तिहाई से अधिक जनता इसी साम्यवादी शासन-पद्धति को अपना चुकी है और एक तिहाई जनता ऐसी है जो उस विचारधारा से प्रभावित हो चली है । कोई युद्ध इतनी जनता को इतने कम समय में, इतनी सरलतापूर्वक इस तरह की समस्या का समाधान करने को तैयार नहीं कर सकता था, जितनी इन विचार क्रान्तियों के द्वारा सफलता उपलब्ध कर ली गई ।

जन स्तर पर वैचारिक क्रान्ति का सफल आयोजन हम भारत में बौद्ध काल के समय से ही देख सकते हैं । बौद्धमत का प्रचार किस प्रकार हुआ इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है । उस समय ईश्वर को मनोकामना पूरी करने वाली शक्ति भर समझा जाता था । स्थिति यह थी कि इन अन्धे विश्वासों के कारण लोग निठल्ले और निकम्मे ही बनते जा रहे थे, फलस्वरूप व्यक्ति और समाज की प्रगति अवरुद्ध पड़ी थी । बुद्ध ने इस स्थिति को उलटने के लिए विवेकशीलता का उपदेश दिया और उनके अनुयायियों ने यह सन्देश जन-जन तक पहुँचाकर व्यापक परिवर्तन प्रस्तुत किया उसके लिए न लड़ाइयाँ लड़ी गईं और न लोगों को डरा-धमका कर दबाव डाल कर अपनी बात मनवायी गई । कुमारजीव पहले व्यक्ति थे जिन्होंने चीन जाकर वहाँ की जनता को बौद्ध धर्म का, विचार शीलता का सन्देश दिया तथा बुद्ध की शरण में जाने का 'बुद्धम् शरणं गच्छामि' का मन्त्र सिखाया । उनके इस बौद्धिक अभियान के फलस्वरूप, ही चीन में जन-साधारण से राज्याधिकारियों और राजाओं-शासकों तक बौद्धमत का प्रचार हो सका । अशोक की पुत्री संघमित्रा तथा पुत्र महेन्द्र ने अपने-अपने पैतृक उत्तराधिकारों की परवाह न करते हुए लंका मे जाकर वैचारिक क्रान्ति का सूत्रपात किया । उन्होंने यह अच्छी तरह समझ लिया था कि राज्य करते हुए वे लोगो को उतना नहीं सुधार सकते जितना कि लोगों के पास जाकर परिवर्तन के प्रयास

करते हुए उन्हें सुधार सकते [redacted] । इसी निष्ठा से प्रेरित होकर उन्होंने लंका सहित कई देशों की यात्रा की ।

विचार क्रान्ति के लिए प्रयत्न करने वाले और उसके माध्यम से समाज में अभीष्ट परिवर्तन की स्थिति निर्मित करने वाले महापुरुषों में सुकरात का नाम भी अग्रणी रहेगा । सुकरात ने ग्रीस की जनता को 'अपने को जानो' मन्त्र दिया तथा उसके प्रकाश में आत्म-निरीक्षण-व्यक्तित्व निर्माण की प्रेरणा दी । सुकरात का समकालीन ग्रीक समाज कषाय-कल्मषों से ग्रस्त था । सुकरात के विचार इतने प्रखर होते थे कि उनका तुरन्त प्रभाव हुआ । निहित स्वार्थी लोगों को जब अपने स्वार्थों पर आँच आती दिखाई दी तो उन्होंने सुकरात को मरवा दिया । सुकरात की हत्या भले ही कर दी गई हो परन्तु उनके विचार इतने पैने थे कि आगे चलकर उसी परम्परा में अरस्तू, प्लेटो जैसे मनीषी उत्पन्न हुए और ग्रीक समाज का नवीन कायाकल्प हो सका ।

आधुनिक युग में टॉल्सटाय, कागावा, लार्ड बेडेन पॉवेल, एलिजाबेथ फ्राई, मार्ग रेट सेंगर, प्रिंस क्रोपाटकिन, हैरियट स्टो तथा भारत के महात्मा गाँधी, तिलक, राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, विनोबा, हृदय नाथ कुँजरू डॉ. हेडगेवार जैसे महापुरुषों ने विचार क्रान्ति द्वारा द्वारा समाज के पुनर्निर्माण की कल्पना को साकार रूप देने के लिए प्रयत्न किए ।

रूस में साम्यवाद की स्थापना और जन-साधारण के शोषण की समाप्ति का श्रेय लेनिन को दिया जाता है परन्तु समता, न्याय और प्रत्येक नागरिक को रोजगार के अवसर प्राप्त करने का अधिकार देने के लिए विचार बीज टॉल्सटाय और प्रिंस क्रोपाटकिन ने ही बोना आरम्भ किए थे । टॉल्सटाय ने रूसी जनता को शिक्षित और सभ्य बनाने के लिए एक प्रबल वैचारिक आन्दोलन चलाया । जिसके सत्परिणाम आगे चलकर समय-समय पर दिखाई दिए ।

एक समय था जब जापान के लोगों को न ठीक ढंग से रहना आता था और न सही तरह से गुजर-बसर करना । वहाँ के एक विश्वविद्यालयीन छात्र ने अपने देश के नागरिकों को सभ्य सुसंस्कृत और सम्पन्न बनाने के लिए विचार अभियान छेड़ने का निश्चय किया उस छात्र का नाम था कागावा, जिन्हें जापान में वही सम्मान प्राप्त है तो अपने देश में महात्मा गाँधी को मिला है । कागावा ने पुस्तक लिखी, भाषण दिए, जनसम्पर्क किया और लोक सेवियों की एक सेना खड़ी की । फलस्वरूप वहाँ एक ऐसा वातावरण बना जिसके परिणामस्वरूप भारत के प्रान्त से भी छोटे देश जापान ने अपनी प्रगति से दुनिया भर को चमत्कृत कर रख दिया ।

## मानवीयता की प्रतिष्ठा

संसार भर में अब से कुछ दशाब्दियों पूर्व तक कैदियों के साथ बड़ा अमानवीय व्यवहार किया जाता था । उन्हें मनुष्य तो समझा ही नहीं जाता था, पशु से भी बदतर दण्ड और कठोर यातनाएँ उन्हें दी जातीं । यह सब देखकर एलिजाबेथ फ्राई नामक एक महिला की आत्मा दहल उठी और कैदियों के साथ मानवीय व्यवहार करने की आवश्यकता का इतना सशक्त प्रतिपादन किया कि हजारों व्यक्ति उनकी माँग के समर्थन में उठ खड़े हुए । अन्ततः सरकार को भी यह स्वीकार करना पड़ा और एक के बाद दूसरे देशों में कैदियों को भी मनुष्य समझा जाने लगा तथा उनसे मनुष्यता का व्यवहार आरम्भ हुआ । फलस्वरूप सारे संसार में कैदियों की दशा सुधरी ।

अमेरिका की सामान्य ग्रहिणी हैरियट-स्टो का हृदय भी वहाँ के गुलामों की दुर्दशा देखकर पिघल उठा । स्टो ने लेखनी उठायी और एक उपन्यास लिखा 'केबिन ऑफ दी अंकल टॉम' (टॉम काका की कुटिया) इस उपन्यास में गुलामों की पीड़ा और उनकी अनुभूतियों, भावनाओं, प्रतिक्रियाओं का इतना मार्मिक चित्रण किया गया कि समूचे अमेरिका राष्ट्र में विचारशील व्यक्ति गुलामों की दशा सुधारने की आवश्यकता समझने लगे । अमेरिका में गुलामों की स्थिति पहले से जितनी भी ठीक है उस स्थिति का स्रोत 'टॉम काका की कुटिया'' और उसकी लेखिका हेरियट 'स्टो' ही है ।

अब से साठ सत्तर वर्ष पूर्व तक अमेरिका में स्त्रियों की दशा भी बड़ी बुरी थी । बहु प्रजनन से उनका स्वास्थ्य तो चौपट होता ही था, सामाजिक स्थिति भी ऐसी नहीं थी कि वे अपने मानवीय अधिकारों का उपयोग कर सकें । पहली बार मार्गरेट सेंगर ने जन्म निरोध तथा परिवार नियोजन की आवश्यकता लोगों को समझायी और संसार के कई देशों में घूम-घूम कर

सीमित परिवार का प्रचार किया । अब तक तो लोग समझते थे कि सन्तान ईश्वर की देन है । उसका जन्म किसी प्रकार रोका नहीं जा सकता । पर मार्ग रेट सेंगर ने अपने तर्कों तथा प्रतिपादनों से इस मान्यता को भस्मीभूत कर दिया । आज न केवल अमेरिका व यूरोपीय देशों में वरन् संसार भर में परिवार छोटा ही रखना उचित समझा जाता है ।

## महिलाओं की दशा यों सुधरी

इंग्लैण्ड में महिलाओं को उन्नीसवीं शताब्दी तक दूसरा दर्जा प्राप्त था, न उन्हें नागरिक अधिकार थे, न वे सम्मानप्रद जीवन जी सकती थीं । वहाँ की एक विचारशील महिला मैडम पैंखर्स्ट ने इस अन्याय का उन्मूलन करने के लिए "वीमेंस सोशल एण्ड पोलिटिकल यूनियन" नामक संस्था का गठन किया और नारी स्वातन्त्र्य तथा समानता का ऐसा प्रचण्ड विचार प्रवाह उत्पन्न किया कि वहाँ की स्त्रियों की दशा कुछ ही वर्ष बाद बदलने लगी ।

अठारहवीं उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय स्त्रियों की स्थिति निर्जीव पुतले से अधिक नहीं थी । उस समय बाल विवाह से लेकर सती प्रथा तक कितनी ही कुरीतियों के कारण उनका जीवन दुसह बोझ बना हुआ था । छोटी उम्र में अधेड़ आयु के व्यक्तियों से उनका विवाह कर दिया जाता और उनके पति जब मर जाते तो उन्हें जबरन पति के साथ जला दिया जाता । नारियों की इस दुःस्थिति पर ध्यान गया राजा राममोहन राय का और उन्होंने सती प्रथा के विरुद्ध ऐसा वातावरण बनाया कि सती प्रथा के खिलाफ न केवल कानून बन गया वरन् ऐसे विचारशील व्यक्ति भी आगे आये जो इस कुरीति का विरोध करने लगे । ऐसी अवांछनीय अनैतिक और आसुरी कुरीति का अन्त राजा राममोहन राय द्वारा छेड़ी गई विचार क्रान्ति के परिणामस्वरूप हो सका । यद्यपि सती प्रथा के विरुद्ध जनमत तैयार करने में अन्य नेताओं ने भी योगदान दिया था पर राजा राममोहन राय ने ही उस अभियान को सुनियोजित रूप दिया ।

विधवा विवाह कहीं-कहीं आज भी तिरस्कार की दृष्टि से देखे जाते हैं, परन्तु एक समय था जब विधवा विवाह की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था । लाखों युवतियाँ यौवनकाल में ही विधवा हो जातीं और अपना शेष जीवन रोते झींकते अनेकानेक प्रतिबन्धों का पालन करते हुए जीती थीं । उनके लिए हँसना तक वर्जित था । ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने साहित्य और विचार के माध्यम से विधवा विवाह का जो समर्थन आरम्भ किया तो लोगों पर से परम्परा भक्ति और रूढ़िग्रस्तता की जकड़ धीरे-धीरे ढीली होने लगी । स्वामी दयानन्द, महात्मा गाँधी, आदि सन्त महापुरुषों ने भी इस विचार को आगे बढ़ाया और जन-आस्थाओं में स्थापित करने के लिए प्रयत्न किए ।

केवल विचारों के प्रचार द्वारा विश्व में ऐसी कई संस्थाएँ अस्तित्व में आईं और जिनके कारण महत्त्वपूर्ण काम होने लगे । उदाहरण के लिए अब तक समझा जाता था कि बच्चे समाज के लिए कुछ भी नहीं कर सकते, उन्हें कोई रचनात्मक जिम्मेदारी नहीं सौंपी जा सकती । लार्ड बेडन पावेल ने सोचा कि क्या सचमुच समाज सेवा के लिए बच्चों का उपयोग नहीं किया जा सकता । काफी विचार मन्थन के बाद मस्तिष्क में बालचर संस्था की रूपरेखा उभरने लगी । इस विचार को उन्होंने अनेक प्रतिभाशाली व्यक्तियों तक पहुँचाया और 'स्काउटिंग'—बालचर संस्था का स्वरूप सामने आने लगा । मेलों में लोगों का पथ-प्रदर्शन करने से लेकर सामूहिक संकट और दुर्घटनाओं तक दस-दस बारह-बारह वर्ष के बच्चे जो काम करते हैं वह देखते ही बनता है अपने देश में भी श्री हृदयनाथ कुँजरू ने इस संस्था का प्रचार किया । लोग इसका अन्य देशों में प्रचलित स्वरूप ही अपनाना चाहते थे परन्तु हृदयनाथ कुँजरू ने समझाया कि प्रचलित रूप अपने देश के लिए अव्यावहारिक है क्योंकि उस समय देश पराधीन था ।

भारत में विचारों के द्वारा समाज में परिवर्तन का क्रम मध्यकाल से चलाया गया । स्वामी रामानुज, चैतन्य महाप्रभु, कबीर, दादू आदि ऐसे सन्त हुए जिन्होंने अछूतों को भी मनुष्य मानने और उन्हें मानवीय अधिकार देने के लिए धर्ममंच का सहारा लिया । तब अछूतों के मुँह से कोई भगवान का नाम सुनना भी पसन्द नहीं करता था । तत्कालीन सन्त महापुरुषों ने "भगवान पर सबका अधिकार" के सिद्धान्त का प्रचार अपने भजनों और कीर्तनों द्वारा किया । फलस्वरूप उपेक्षित और तिरस्कृत अछूत निम्न जाति के लोगों में भी आत्मविश्वास की भावना जागी ।

प्राचीनकाल से चले आ रहे कुम्भपर्व, सोमवती स्नान, नियत समय पर नियत स्थानों पर मनाये जाने वाले पर्व भी समाज में विचार चेतना जागृत करने के लिए किए जाने वाले आयोजन थे। इनका उद्देश्य यही था कि लोग सद्ज्ञान के प्रकाश में अपनी समस्याओं को देखें व सुलझाएँ। ढाई-ढाई वर्ष के क्रम से हरिद्वार, प्रयाग, उज्जैन और नासिक में पड़ने वाले कुम्भपर्व विशुद्ध रूप से इसी आवश्यकता की पूर्ति करते थे। उनमें देश भर के विद्वान, विचारक इकट्ठे होते थे। जनता भी बड़ी संख्या में इकट्ठी होती थी और सन्त महात्मा ऐसे कार्यक्रम चलाते थे जिनसे लोगों को सही दिशा प्राप्त हो। सोमवती अमावस्या पर स्नान पर्व, ग्रहण, संक्रान्ति तथा ऐसे पर्व जिनमें कि दूर-दूर से लोग आते थे, इसी स्तर के आयोजन थे। वर्तमान काल में विभिन्न संस्थाओं के जो अधिवेशन, सम्मेलन आदि होते हैं उनसे भी विचार सान्निध्य की ही आवश्यकता पूरी होती थी।

## अहिंसक परिवर्तन

संसार के कई देशों में मजदूरों और किसानों की समस्याएँ सघर्ष द्वारा सुलझाने का प्रयास किया गया। साम्यवाद की स्थापना के लिए की गई क्रान्तियों में बड़ा रक्तपात हुआ। मजदूरों और किसानों ने मिलकर पूँजीपतियों और भूस्वामियों को मार डाला तथा उनके स्थान पर स्वयं मालिक बन बैठे। इस परिवर्तन में हिंसा का ही सहारा लिया जाता था। १९५१ में उसी तरह के परिवर्तन के लिए तेलंगाना में हिंसा का सहारा लिया जाने लगा। तब सन्त विनोबा भावे आंध्र में ही थे, उन्होंने अहिंसा की शक्ति द्वारा शान्तिपूर्ण तरीके से परिवर्तन का रास्ता निकाला और भूदान-आन्दोलन का सूत्रपात किया। आन्दोलन का स्वरूप यह था कि जिन लोगों के पास आवश्यकता से अधिक जमीन थी उन्हें दान देने की प्रेरणा दी जाती और वह जमीन भूमिहीनों में बाँट दी जाती। विनोबा जी का यह कार्यक्रम इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि कुछ समय मे ही लगभग तीन लाख एकड़ जमीन भूदान में प्राप्त हुई। विनोबा जी ने भूदान के कार्यक्रम का इतना व्यापक प्रचार किया कि उन्हें २६ लाख १७ हजार एकड़ जमीन भूदान मे प्राप्त हुई। यह उपलब्धि केवल विचारों की प्रवलशक्ति के सदुपयोग द्वारा ही प्राप्त हुई थी।

इसके पूर्व भी लोकमान्य तिलक और महात्मा गाँधी ने शान्तिपूर्ण प्रयासों द्वारा भारत को स्वतन्त्रता दिला कर संसार को हतप्रभ कर दिया था। लोकमान्य तिलक ने 'मराठा' और 'केसरी' अखबारों द्वारा भारतीय जनता में स्वतन्त्रता की चेतना फूँकी और उनकी प्रेरणाओं ने ही "स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है" के मन्त्र को भारतीय जनता के मन में उतारा। महात्मा गाँधी ने भी जनसम्पर्क, सभा, भाषण और दौरों से प्रेरणा देने के साथ-साथ नवजीवन, यंगइण्डिया और हरिजन सेवक पत्रों द्वारा जनमानस में स्वातन्त्र्य चेतना फूँकी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए प्रेरणा और उसके लिए किए जाने वाले प्रचार द्वारा ऐसा वातावरण बनकर तैयार हुआ कि अंग्रेज सरकार को यह देश छोड़ने के लिए बाध्य होना ही पड़ा। गाँधी जी और तिलक आदि नेताओं ने अपनी पैनी दृष्टि से तब यह अनुभव कर लिया था कि इन दिनों व्याप्त समस्याओं का कारण वस्तुतः पराधीनता ही है।

विश्व इतिहास पर यदि दृष्टिपात करें तो यही प्रतीत होगा कि जितने भी सुधार हुए हैं, भले ही वे व्यक्तिगत हों अथवा सामाजिक स्तर पर केवल विचारों के माध्यम से ही सम्भव हो सके हैं। बाहरी नियम बनाकर अथवा सामाजिक दबाव डालकर कुछ कार्य पूरे भले ही कर लिए जायें परन्तु आन्तरिक स्थिति में यदि सुधार नहीं हुआ, लोगों की आस्थाओं का स्पर्श कर उन्हें बदलने का प्रयास नही किया गया तो सारे प्रयास असफल और प्रभावहीन सिद्ध होंगे। क्योंकि बाहरी दबाव से आन्तरिक स्थिति तो नहीं बदल जायेगी। उपर्युक्त विचार क्रान्तियों में लोगों की उसी आन्तरिक स्थिति को बदलने का प्रयास किया गया और अभीष्ट सफलता मिली।

इन दिनों जिस व्यापक परिवर्तन की आवश्यकता है वह पिछले सभी परिवर्तनों और विचार क्रान्तियों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य में देवत्व के उदय और धरती पर स्वर्ग के अवतरण का लक्ष्य लेकर प्रत्येक लोक सेवी को चलना चाहिए तथा उसके लिए अपने निकटवर्ती जनों को प्रेरणा प्रोत्साहन देने से लेकर व्यापक स्तर पर उन प्रवृत्तियों का विकास करने के लिए प्रयत्न

करना चाहिए । विचार क्रान्ति, दृष्टिकोण का सुधार, भावनात्मक परिष्कार और आस्थाओं के शोधन—जो भी नाम दें आशय एक ही है मनुष्य को नियमित और संचालित करने वाली चेतना को प्रभावित करना तथा उसे अभीष्ट दिशा देना । तभी सामाजिक सुख-शान्ति की स्थापना हो सकेगी । ये कार्य राजदण्ड अथवा राजनियमों से नहीं हो सकते न उन प्रवृत्तियों और अवांछनीय व्यक्तियों की निन्दा करने से ही काम बन सकता है । राजदण्ड, राजनियम और सामूहिक निन्दा आवश्यक है, उनकी उपयोगिता भी कम नहीं । फिर भी वह समाज में व्याप्त विकृतियों और अवांछनीय प्रवृत्तियों का पूर्ण उपचार नहीं है । समाज का नव-निर्माण तो तभी सम्भव है जब उसमें रहने वाले मनुष्यों का आन्तरिक स्तर सद्विचारों और सद्भावनाओं से भरा पूरा हो । राजनियमों के प्रति सम्मान, निन्दा के कारण भय और समाज के प्रति निष्ठा भी तो ऐसे व्यक्तियों में ही होती है जिनके हृदय उदार और विचार उज्ज्वल हों ।

मनुष्य का जीवन और संसार का क्रम कर्मफल सिद्धान्त के अनुसार चलता है । अच्छे कर्मों का परिणाम सुख-शान्ति के रूप में और बुरे कर्मों का फल कष्ट कठिनाई और दुःख-क्लेश के रूप में मिलता है अर्थात् कष्टों की जड़ कुकर्म ही होते हैं, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं । संसार में जिस परिणाम से कुकर्म बढ़ेंगे, दुःख-क्लेश भी उसी मात्रा में बढ़ते जायेंगे । यदि संसार में सुख-शान्ति की स्थापना वांछनीय है तो पहले कुकर्मों को हटाना होगा । कुकर्मों को हटाने, घटाने और बढ़ाने का एक ही उपाय है कि मनुष्य की विचारधारा में आदर्शवाद का समावेश किया जाय । मस्तिष्क को घेरे रहने वाली अनैतिक एवं अवांछनीय विचारधारा ही कुकर्मों को जन्म दिया करती है । यदि विचार सही और शुद्ध हों तो मनुष्य से कुकर्म बन पड़ने की सम्भावना नहीं है ।

विचारों की बुराई ही बुरे कर्मों के रूप में प्रकट होती है । जिस प्रकार हिमपात का कारण हवा में पानी का होना है, यदि हवा में पानी का अंश न हो तो बर्फ गिर ही नहीं सकती, पानी ही तो जम कर बर्फ बनती है । इसी प्रकार विचारों में बुराई का अंश कुकर्म बन कर प्रकट होता है और अच्छे विचार सत्कर्मों के रूप में सामने आते है । मनुष्य के कर्म उसके विचारों का ही स्थूल रूप होते हैं । यदि उन विचारों को ठीक किया जा सके तो सर्वग्राही विकृतियों का भी उन्मूलन किया जा सकता है ।

## ज्ञान : यज्ञ का व्यावहारिक स्वरूप

पिछले पृष्ठों में बताया जा चुका है कि पतन का निराकरण ही सर्वोत्कृष्ट सेवा है । उसी से पीड़ाओं का निराकरण तथा सुविधाओं का सम्वर्धन हो सकता है और सेवा साधना से पतन का निराकरण तभी सम्भव है जब व्यक्ति में आई विकृतियों और अवांछनीयताओं का उन्मूलन हो जाय । सेवा की उमंग है और सर्वोत्कृष्टरूप की सेवा करने के लिए लगन है तो इसी स्तर का सेवा कार्य आरम्भ करना और चलाना चाहिए ।

प्रश्न उठता है कि इस स्तर की सेवा साधना किस प्रकार की जाय । मनुष्य के स्तर में आये हुए पतन को किस प्रकार मिटाया जाय और उसे कैसे उत्थान की ओर अग्रसर किया जाय । स्पष्ट है कि यह कार्य विचारो और भावनाओं के परिष्कार द्वारा ही किया जा सकता है । उनकी वृद्धि उनके सम्वर्धन पर ही मनुष्य की सुख-शान्ति और समुन्नति निर्भर है । इसके लिए विचार परिष्कार की प्रक्रिया चलानी चाहिए तथा उत्कृष्ट और प्रगतिशील सद्विचारों को जन-जन तक पहुँचाना चाहिए । यह सच है कि समाज में जो कुछ भी अशुभ और अवांछनीय दिखाई देता है । उसका कारण लोगों के व्यक्तिगत दोष ही हैं । उन दोषों की उत्पत्ति व्यक्ति की दूषित विचारणाओं तथा विकृत दृष्टिकोणों से होती है । भोग प्रधान आकांक्षाएँ रखने से मनुष्यों की अतृप्ति बढ़ जाती है और वे अधिक सुख सामग्री की माँग करते हैं । स्वार्थ के कारण ही छीना झपटी और चालाकी बेईमानी बढ़ती है । श्रम से बचने और मौज करने की इच्छाएँ जब तीव्र हो जाती हैं तो उचित, अनुचित का विचार छोड़कर लोग कुमार्ग पर चलने लगते हैं, जिसका परिणाम उनके स्वयं के लिए ही नहीं सारे समाज के लिए भी घातक होता है । इस अदूरदर्शितापूर्ण प्रक्रिया अपनाने से ही संसार में सर्वत्र दुःख-दैन्य का विस्तार हुआ है ।

व्याप्त विकृतियों के कारण सभी क्षेत्रों में आये पतन का निवारण करने के लिए मानवीय दृष्टिकोण मे परिवर्तन करना आवश्यक है और उस परिवर्तन के

लिए मनुष्य का जीवन-दर्शन भी ऊँचा बनाया जाना चाहिए । पतित भावनाओं वाले व्यक्ति के लिए लाँछना, एवं आत्म-ग्लानि की व्यथा कष्टदायक नहीं होती, वह निर्लज्ज बना कुकर्म करता रहता है । लोकनिन्दा और परलोक का भी उसे भय नहीं होता । ऐसे लोगों से उन श्रेष्ठ कार्यों की आशा नहीं की जा सकती जो विश्व शान्ति के लिए आवश्यक हैं । गन्दी प्रकृति के मनुष्य गन्दे मौहल्ले में, गन्दे घरों में, दुर्गन्धपूर्ण जलवायु में, गन्दे साधनों और गन्दी परिस्थितियों में प्रसन्नतापूर्वक रह लेते हैं, पर जिसे स्वच्छता प्रिय है वह गरीब होते हुए भी गन्दगी स्वीकार न करेगा । इसी प्रकार जिनका दृष्टिकोण निकृष्ट है उन्हें न लोक-लज्जा की परवाह होती है और न आत्मग्लानि की । वे दुष्टतापूर्वक दुष्कर्म करते रहते हैं और इसी में अपना बड़प्पन मानते हैं । इस स्थिति का परिवर्तन करके धर्म, आत्म-गौरव और पुण्य, परमार्थ की महत्ता को अनुभव करने के कर्तव्य की मनोभूमि बनाई जानी चाहिए । जब लोक मानस का स्तर भावनात्मक दृष्टि से ऊँचा उठेगा तो ही जीवन में श्रेष्ठता आयेगी और उसी के आधार पर विश्व शान्ति की मंगलमय परिस्थितियाँ उत्पन्न होंगी ।

प्राचीनकाल में किसी महापुरुष का विचार बड़े समय में और बड़े प्रयत्नों के बाद एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचता था । फलस्वरूप अभीष्ट परिवर्तन होते भी देर से थे । अब संचार साधनों का अभाव नहीं है । प्रेस और प्रकाश उपलब्ध हैं, प्रचार के पुराने तरीकों में भी सुधार हो चुका है, फलस्वरूप सद्विचारों का प्रचार कोई दुसाध्य या असम्भव कार्य नहीं रह गया ।

सद्विचारों की प्रतिष्ठा तब भी कष्टदायक होती थी जबकि विचारशीलता का अभाव होता, लेकिन विचारशीलता का अभाव नहीं है । कमी है तो बस एक की, लोगों के पास विचारों की दिशा नहीं है । आज का मनुष्य सभ्यता के क्षेत्र में विकास करने के साथ-साथ इतना विचारशील भी बना है कि यदि उसे तथ्य समझाए जायें तो वह उन्हें समझने और मानने के लिए तैयार हो जाता है और लोकसेवियों को इस प्रयोजन के लिए ही घर-घर जाना चाहिए और लोगों की आस्थाएँ, मान्यताएँ तथा विचारणाएँ परिष्कृत करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए ।

प्रत्येक व्यक्ति इतना बुद्धिमान और प्रतिभाशाली नहीं होता कि वह तथ्यों को सही-सही समझा सके और किस परिस्थिति में क्या किया जाना चाहिए इसका मार्गदर्शन कर सके । स्वयं अपने लिए ही तथ्यों को समझने और तदनुसार कोई निष्कर्ष निकालने की सामर्थ्य सभी व्यक्तियों में नहीं होती तो फिर दूसरों को कैसे समझाया, मार्गदर्शन दिया जा सकता है । अतएव विचार क्रान्ति का व्यावहारिक स्वरूप ज्ञानदर्शन के रूप में अपनाना पड़ता है । प्रेरक विचारों और सृजनशील प्रेरणाओं को जन-जन तक इस तरह पहुँचाया जाय, सर्वसाधारण को इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाय कि जनमानस में शुभ सम्भावनाएँ उत्पन्न की जा सकें । इसके लिए सुलझी विचारधारा का साहित्य लेकर निकलना चाहिए तथा लोगों को उसे पढ़ने, तथा विचार करने की प्रेरणा देनी चाहिए, उसके साथ अशिक्षित व्यक्तियों के लिए पढ़कर सुनाने या परामर्श द्वारा प्रेरणा देने की प्रक्रिया चलायी जानी चाहिए । आरम्भ में सभी लोगों की रुचि इस ओर नहीं हो सकती । अतः जो लोग ज्ञानयज्ञ की आवश्यकता समझते हैं उन्हें चाहिए कि वे ऐसा विचार साहित्य लोगों तक स्वयं लेकर पहुँचे । कहा जा सकता है जिन्हें आवश्यकता है वे स्वयं ऐसा साहित्य खोजें और पढ़ें । सब में यदि ऐसी रुचि उत्पन्न हो जाय और वे अच्छे साहित्य का महत्त्व समझने लगें तो फिर कहना ही क्या ? ऐसी रुचि के व्यक्ति बहुत थोड़े हो सकते हैं अधिकांश में तो रुचि उत्पन्न करनी पड़ेगी और इसके लिए उनके पास जाना पड़ेगा । यह ठीक है कि कुआँ प्यासे के पास नहीं जाता, प्यासे को ही कुआँ के पास जाकर पानी पीना पड़ता है । गर्मियों में जब व्यापक जल-संकट उत्पन्न हो जाता है तो बादलों को ही जगह-जगह जाकर बरसना पड़ता है । लोक-सेवियों को भी सद्विचार और सद्प्रेरणाओं की शीतल सुखद जलवृष्टि के लिए जन-जन तक पहुँचना चाहिए ।

विचार और भावनाओं का निर्माण सम्पर्क द्वारा ही होता है और अपनी भावना जिनसे सम्पर्क किया गया है । उन्हें प्रभावित करेंगी, विचारों और भावनाओं का यह सम्प्रेषण महापुरुषों के विचारों का आधार लेकर किया जा सकता है । लेखनी और वाणी द्वारा सद्विचारों का बीजारोपण तथा प्रोत्साहन सरलतापूर्वक किया जा

सकता है । लेकिन स्मरण रखा जाना चाहिए उसके लिए उन व्यक्तियों में पहले सद्‌विचारों के प्रति भूख जगाना आवश्यक है । भूख उत्पन्न करने का यह कार्य सम्पर्क द्वारा ही सम्भव होता है । उसके बाद सद्‌विचारों और सत्प्रेरणाओं को उपलब्ध कराने की आवश्यकता है । यह आवश्यकता साहित्य और प्रचार कार्यों द्वारा पूरी की जा सकती है ।

## झोला पुस्तकालय

जीवन निर्माणकारी सत्साहित्य के प्रति रुचि जगाना ही विचार परिवर्तन अभियान का प्रथम सोपान है । 'झोला पुस्तकालय' चलाकर उस सोपान को पार करने के लिए व्यक्तिगत प्रयास भी किया जा सकता है । विचारक्रान्ति की आवश्यकता अनेकों लोक सेवियों के सम्मिलित प्रयासों से पूरी होगी । उन प्रयासो के अन्तर्गत विभिन्न कार्यक्रमो के लिए कई व्यक्तियों का सम्मिलित सहयोग चाहिए । पर झोला-पुस्तकालय ऐसा कार्यक्रम है जिसे अकेले भी चलाया जा सकता है ।

किसी भी व्यक्ति का मस्तिष्क कभी खाली नहीं रहता । उसमें कोई न कोई विचार उठते ही रहते हैं । यदि समस्त संकट उत्पन्न करने वाले कुविचारों और अवांछनीय मान्यताओं को हटाना है तो उसके स्थान पर सद्‌विचारों एवं आदर्शवादी निष्ठाओं को प्रतिष्ठापित करना ही होगा । लोक सेवियों को यह पुण्य प्रयोजन पूरा करना ही होगा । प्राचीन काल में साधु ब्राह्मण घर-घर अलख जगाते हुए जन-जन के मन मानस को शुद्ध करने के लिए उसके अन्तस्तल तक धर्म एवं आध्यात्म का प्रकाश पहुँचाते थे । विचार शुद्धि के लिए घर-घर जाने की प्रक्रिया आज के समय में झोला पुस्तकालय द्वारा सुगमतापूर्वक पूरी की जा सकती है, यह तो ठीक है कि प्रत्येक व्यक्ति साधु ब्राह्मण नहीं हो सकता और न प्राचीन काल के उन महापुरुषों की भाँति प्रभावशाली प्रवचन कर सकता है परन्तु झोला पुस्तकालय से कोई भी व्यक्ति आसानी से इस महान सत्कर्म का सम्पादन कर सकता है । युग-निर्माण योजना के अन्तर्गत विचार क्रान्ति के उद्देश्य से लिखा गया सस्ता साहित्य अपनी पंक्तियों मे ऋषियों के ज्ञान, अनुभव, प्रवचन एवं मार्गदर्शन की सांगोपाग प्रक्रिया धारण किए हुए हैं । उसमे वह सामर्थ्य है जिससे पढ़ने वाले की विचार भूमि को झकझोर और उलट-पलट कर वांछनीय दिशा में नियोजित कर दें । इस साहित्य से अपरिचितों को परिचित कराया जा सके, असम्बन्धितों को सम्बन्धित किया जा सके और अनभिज्ञों को उपलब्ध कराया जा सके तो युग परिवर्तन की भूमिका का श्रेष्ठ शुभारम्भ हो सकता है । 'झोला पुस्तकालय' आन्दोलन के माध्यम से वही कार्य हो सकता है, जो प्राचीन काल के साधु ब्राह्मण अपने बहुमूल्य जीवन का उत्सर्ग करके सम्पादित करते थे । हर व्यक्ति उतना महान भले ही न हो सके पर उनका उद्देश्य एक झोला पुस्तकालय चलाते रह कर, भली प्रकार पूरा होता रह सकता है ।

कार्य की दृष्टि से वह कुछ भी कठिन नहीं है । हाथ में कपड़े, जीन या प्लास्टिक के हैण्ड बैग, आमतौर से पढ़े-लिखे लोग लिए रहते हैं । यह झोले शिक्षित होने की पहचान भी हैं । इसमें आवश्यक कागज-पत्र लेकर पढे-लिखे लोग चलते है । अब तो ऐसे सुन्दर झोले भी चल पड़े हैं जिन्हे हाथ में रखने या कन्धे पर लटकाने में शोभा और शान बढती प्रतीत होती है । ऐसा एक झोला साथ रखा जाय और उसमें छोटी-छोटी विचारोत्तेजक पुस्तकें ट्रैक्टस रख लिए जायें तो किसी पर कोई अतिरिक्त भार नहीं पड़ता और न कोई खास कठिनाई ही होती है ।

काम घर से बाहर ही करना पड़ता है । जहाँ काम करने जाते हैं वहाँ साथियों से तथा उस प्रयोजन से सम्बन्ध रखने वाले लोगों से सम्पर्क बनता है । जिनसे सम्पर्क होगा उनसे काम की या बेकाम की कुछ न कुछ बातें भी होती ही हैं । उसी वार्त्तालाप में यदि प्रसंगानुकूल युग-निर्माण विचारधारा की चर्चा छेड़ दी जाय तो उससे बातचीत का आनन्द बढ़ता है, घटता नही । अपनी जानकारी तथा महानता की छाप दूसरों पर पड़ती है और उस तरह की चर्चा छेड़ने वाले को आमतौर से विचारशील एवं विज्ञ माना जाता है ।

बहुत से शिक्षित लोग अपने नगर में ही सकते हैं, उनसे सज्जनतापूर्ण सम्पर्क बनाया जा सकता है और यदि पूर्व सत्साहित्य पढ़ने मे रुचि न रही हो तो भी उसे जगाया जा सकता है । बहुत लोगों के पास ढेरों अवकाश रहता है, समय काटने के लिए वे गपशप, मटरगश्ती या और कुछ ताश-चौपड़ का शुगल ढूँढ़ते रहते है । ऐसे लोगों को कोई बुद्धिमान व्यक्ति धीरे-धीरे

पढ़ने का व्यसन लगा सकता है । जब रस आने लगता है । तब यह स्वाध्याय किसी भी मजेदार व्यसन से अधिक मजेदार लगने लगता है । वह साहित्य प्राणवान हो तो सर्वथा निष्फल नहीं जा सकता । पढ़ने वाले पर उसका प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है और यह जितना गहरा होता जायेगा वह व्यक्ति नवनिर्माण की दृष्टि से अधिकाधिक उपयुक्त बनता चला जायेगा ।

प्रत्येक प्रबुद्ध व्यक्ति को, जो इस विषम बेला मे अपना कोई उत्तरदायित्व समझते हैं झोला पुस्तकालय चलाना चाहिए । सोचे हुए अन्तःकरणों में सद्ज्ञान की ज्योति जलाने की आवश्यकता झोला पुस्तकालय द्वारा पूरी की जा सकती है । कोई दीन-दरिद्र झोला लेकर भिक्षा माँगने भी जाते हैं पर झोला पुस्तकालय का झोला उससे भिन्न है वह अमृत बाँटने का, प्रकाश बाँटने का व कल्याण बाँटने का अभियान है ।

## चल-पुस्तकालय

सम्पर्क क्षेत्र में सद्ज्ञान का प्रकाश पहुँचाने के लिए झोला पुस्तकालय एक सुगम माध्यम है, इसका अगला प्रभावशाली कदम 'चल पुस्तकालय' के रूप में उठाना चाहिए । हर व्यक्ति का परिचय क्षेत्र सीमित है जब कि विचार क्रान्ति का क्षेत्र व्यापक है । इसके लिए परिचय क्षेत्र से आगे बढ़ने की आवश्यकता है । झोला पुस्तकालय का साहित्य अन्दर रहता है, बाहर उसका प्रकाश नहीं पहुँचता । चल पुस्तकालय द्वारा इस अभाव की पूर्ति होती है ।

यह भी एक छोटी-सी प्रक्रिया है पर इसका महत्त्व किसी विशाल देव मन्दिर की तुलना में कम नहीं अधिक ही है । सर्वमान्य है कि ज्ञान संसार की सर्वोपरि उपलब्धि है । सद्ज्ञान का अनुग्रह प्राप्त करते ही मनुष्य हर दृष्टि से धन्य हो जाता है । इसीलिए उसे पारस भी कहा गया है । ज्ञान के प्रचार और प्रसार को एक अति उच्चकोटि की देवाराधना मानना चाहिए और ज्ञान रथ उसी सद्ज्ञान के प्रकाश को हर जगह पहुँचाने की आवश्यकता पूरी करता है ।

हल्के रबड़ के पहिए वाली गाड़ी, ऊपर धूप, वर्षा और हवा से पुस्तकों के बचाव की व्यवस्था, पहियों को तीन तरफ से घेरे हुए कपड़े या टीन के साइन बोर्ड—बस हो गया तैयार चल पुस्तकालय-ज्ञान रथ । उसे लेकर एकाकी व्यक्ति नित्य निकलता रह सकता है । शिक्षित समाज, मन्दिर, पार्क, स्कूल, दफ्तर, कारखाने, बाजार सिनेमा, कचहरी आदि इसके लिए उपयुक्त स्थान हो सकते हैं और वहाँ विज्ञप्तियाँ बाँटने, पुस्तकें पढ़ने से लेकर बेचने तक के कार्य के साथ-साथ लोगों में सत्साहित्य के अध्ययन करने की भूख जगानी चाहिए ।

आमतौर पर लोगों को उच्च विचारों की शक्ति और उपयोगिता का ज्ञान नहीं होता, इसलिए सत्साहित्य के प्रति उनमें अभिरुचि भी उत्पन्न नहीं होती । आजकल सस्ते, रोमाण्टिक और जासूसी उपन्यास कथा कहानियों की पुस्तकें जितनी लोकप्रिय हैं उसका कारण यह नही है कि लोग स्वतः उनकी ओर आकृष्ट हुए हैं । वस्तुतः तो अधिकांश व्यक्ति अन्य लोगों को इस तरह की पुस्तकें पढ़ते देखकर ही स्वयं भी पढ़ने लगते हैं पर जो स्वयं ऐसी पुस्तकें ढूँढ़ते हैं उनमें आकर्षण अनायास उत्पन्न नहीं हो जाता । उसके लिए समाचार-पत्रों में विज्ञापन छपवाने से लेकर प्रतिनिधि भेज कर इस तरह की पुस्तकें फैलाने से लिए एक समूचा प्रचार तन्त्र खड़ा किया जाता है । उन प्रचार साधनों के माध्यम से लोगों के मन में आकर्षण उत्पन्न किया जाता है और लोग उन्हें पढ़ने लगते हैं ।

अच्छा साहित्य इसलिए भी लोकप्रिय नहीं होता कि जिन थोड़े बहुत व्यक्तियों की रुचि उस ओर है उन्हे वह सुगमता से मिल नहीं पाता और सस्ती, मनोरंजक पुस्तके सुगमता से उपलब्ध हो जाती हैं । सत्साहित्य के प्रति अभिरुचि जगाने के साथ अभिरुचि सम्पन्न व्यक्तियो के लिए उसे सुगमता से उपलब्ध कराने का कार्य भी चल पुस्तकालयों द्वारा होता है ।

## पुस्तकालय

अच्छे साहित्य के प्रति लोगों का ध्यान आकृष्ट न होने का एक कारण उनका सुगमता से उपलब्ध न हो पाना भी है । झोला पुस्तकालय और चल पुस्तकालयों द्वारा लोगों में अच्छा साहित्य पढने की रुचि जगाने के साथ उनकी मानसिक क्षुधा को तृप्त करने की व्यवस्था भी आवश्यक है । यह आवश्यकता पुस्तकालयों द्वारा पूरी हो सकती है । पुस्तकें उपलब्ध होने पर भी बहुत से व्यक्ति अपनी कमजोर आर्थिक स्थिति के कारण उन्हें खरीद नहीं पाते । यदि पुस्तकालयों के रूप में सामूहिक व्यवस्था की जा सके जिससे कि लोग अपनी स्वाध्याय की

आवश्यकता पूरी करते रहें तो ज्ञानयज्ञ अभियान को और भी अग्रगामी बनाया जा सकता है ।

एक व्यक्ति अधिक से अधिक अपने कुल जीवन में १००-५० पुस्तकें खरीद कर पढ़ सकता है । सामान्य आर्थिक स्थिति के व्यक्ति के लिए इससे अधिक का खर्च बर्दाश्त करना सम्भव नहीं, पर इतने धन से अच्छी और मोटी पुस्तकें ५ या १० से अधिक नहीं आयेंगी । १० पुस्तकों का ज्ञान भी कम और एकांगी ही होगा । बौद्धिक विकास और आत्मा की अनन्त ज्ञानार्जन की प्यास इतने से कैसे बुझ सकती है ? उसके लिए तो सबसे अच्छी बात यही हो सकती है कि गाँव-गाँव और नगर-नगर पुस्तकालय स्थापित किए जायें और वहाँ बैठकर या व्यवस्थित रीति से घर ले जाकर पुस्तकें पढ़ने की सुविधाएँ जुटाई जायें । ५-५ पुस्तकों की कीमत चुका देने वाले गाँव के १०० आदमी तैयार हो जायें और एक दो कोई ऐसे उदार और समाज सेवी व्यक्ति निकल जायें जो कुछ अधिक आर्थिक मदद कर सकें तो १००० पुस्तकों का सुन्दर पुस्तकालय तैयार हो सकता है । स्थिति के अनुसार कम ज्यादा भी हो सकती हैं पर इस तरह ज्ञानार्जन के साधनों का विकास तो हो ही सकता है ।

परमात्मा ज्ञान स्वरूप है । विचार और ज्ञान के रूप में ही वह मानवीय अन्तःकरण में प्रकाश और प्रेरणा उत्पन्न करता है । इसलिए जहाँ ज्ञान की निर्झरिणी पुस्तकों का निवास स्थान हो उसे देव-मन्दिर या परमात्मा के ज्ञान स्वरूप की प्रतिष्ठा का शुभ स्थान ही समझना चाहिए । उस स्थान को मन्दिर से कम और क्या कहेंगे जहाँ पुस्तकों के रूप में ज्ञान के चेतनायुक्त देवता निवास करते हैं ?

पत्थर की मूर्ति वाले देव मन्दिरों में बुराइयाँ भी पनप सकती हैं, अन्धविश्वास, धोखा और ठगी के कारोबार भी देखे जाते हैं । मन्दिर टूट-फूट कर गिर जाते हैं तो उनका महत्त्व समाप्त हो जाता है । कुछ दिन में तो लोग यह भी भूल जाते है कि यहाँ कोई देवस्थान था, पर पुस्तकालय नष्ट हो जाने पर भी उसकी आत्मा-पुस्तकों का अस्तित्व नष्ट नहीं होता । एक बार स्थापित हो जाने पर वे बहुत दिनों तक लोगों को सद्ज्ञान बाँटती रहती हैं । पुस्तकालयों में जाने पर लोगो की भावनाओं मे स्थानगत उत्कृष्टता आती है और विचार ऊर्ध्वगामी बनते हैं । इन्हें ज्ञान का सिद्ध पीठ ही मानना चाहिए, जहाँ पहुँचकर लोग उसकी एक-एक किरण से प्रभावित होकर ही लौटते हैं ।

किसी व्यक्ति की धर्म-कर्म की इच्छा होती है तो वह मन्दिर बनवा देता है कुछ लोग धर्मशाला कुआँ या बावड़ी बनवा देते हैं । वृक्ष लगवाने, बाग लगवाने सदावृत खुलवाने, ब्रह्मभोज करने के कितने ही विधि-विधान हैं जिसके सम्बन्ध में लोगों का विश्वास है कि इनसे पुण्यार्जन होता है । इन क्रियाओं के करने से लोगों को आत्मशान्ति और आत्मसन्तोष मिलता भी होगा किन्तु इस युग की आवश्यकता को देखते हुए पुस्तकालय की स्थापना को ही सबसे अधिक पुण्यफलदायी कर्म मानना पड़ेगा । उपर्युक्त धर्मकृत्यों से प्राप्त होने वाला पुण्य संदिग्ध भी हो सकता है पर आत्मोन्नति और लोकोपकार की दृष्टि से पुस्तकालय के पुण्य असंदिग्ध ही कहे जायेंगे । एक पुस्तकालय से पुस्तकें पढ़कर पाँच व्यक्ति भी यदि सत्प्रेरणाएँ प्राप्त कर सकें और उन्होंने पाँच-पाँच अन्य व्यक्तियों को भी अपने जीवन में सत्प्रेरणाएँ दीं तो अच्छे व्यक्तियों की संख्या बढ़ती ही जायेगी और वह पुण्य लाभ स्वर्गीय आत्माओं को पीढ़ी दर पीढ़ी चक्रवृद्धि ब्याज की तरह बढ़ता ही रहेगा । पच्चीस पचास वर्ष तक निरन्तर चलते रहने वाले पुस्तकालय के पुण्य लाभ की तो फिर तुलना भी नहीं की जा सकती । उसे किसी अश्वमेध यज्ञ के पुण्य लाभ से कम लाभ देने वाला नहीं कहा जा सकता ।

अतएव जिनके पास साधन हैं और जो धर्म-कार्य करना चाहते हैं उन्हें पुस्तकालय खोलने के लिए धन देना चाहिए । जमीन, पुस्तकें, फर्नीचर, मकान या कमरे आदि साधन उपलब्ध कराना चाहिए । जिनकी आर्थिक स्थिति काफी नहीं है, वे भी १०० व्यक्तियों का संगठन बनाकर ५-५ रुपए वार्षिक भी दें और ५-५ रुपए एक बार प्रारम्भ मे दे दें तो उससे १० वर्षों में ही एक समृद्ध पुस्तकालय की स्थापना हो सकती है । इसमें न तो किसी पर आर्थिक दबाव ही पडेगा और न कोई बड़ी व्यवस्था ही करनी पड़ेगी ।

देव मन्दिरों की स्थापना जिस लगन से करते हैं वैसे ही पुस्तकालय के लिए भी उसी तरह लगनपूर्वक प्रयास करना चाहिए । चूँकि विचार सेवा सबसे अच्छी

सेवा है, अतः समाज सेवी तथा लोक सेवा के इच्छुओं को पुण्य और परमार्थ की दृष्टि से पुस्तकालय खुलवाना चाहिए । पुस्तकालय के लिए दान देना चाहिए, पुस्तकें देनी चाहिए, चन्दा देना चाहिए । इसे ब्रह्म दान ही माना जायेगा और उसका पुण्यफल भी भोजन, वस्त्र देने की अपेक्षा अधिक होगा । इसलिए जहाँ-कहीं भी लोग दान पुण्य करें पुस्तकालय के लिए करें । जिस तरह लोग होली, दीवाली, रामलीला, पर्वोत्सवों तथा यज्ञ आदि सामूहिक अनुष्ठानों के लिए धन देते हैं वैसे ही पुस्तकालय के लिए भी दान दें यह प्रत्येक विचारशील व्यक्ति का परम पावन कर्तव्य है ।

## टेपरिकार्डर : बोलता पुस्तकालय

पुस्तकालय, चल पुस्तकालय तथा झोला पुस्तकालय द्वारा शिक्षित व्यक्तियों तक ही नवयुग का सन्देश-सद्विचारों की प्रेरणाएँ पहुँचायी जा सकती हैं । अशिक्षित या कम पढ़े-लिखे व्यक्तियों को उससे अलग नहीं रखना चाहिए इसलिए विचार क्रान्ति या व्यापक क्षेत्र में विस्तार करने के लिए ऐसे विकल्प भी अपनाना चाहिए जो शिक्षित और अशिक्षित सभी स्तर के व्यक्तियों के लिए समान रूप से उपयोगी हों । इस तरह के साधनों में से एक है टेपरिकार्डर ।

इस यन्त्र का उपयोग आमतौर से मनोरंजन के लिए ही किया जाता है । जिस तरह दर्पण मे अपना चेहरा देखते रहना सुहावना लगता है, अपने प्रियजनों की छवि फोटो के रूप मे रखना प्रीतिकर लगता है उसी प्रकार अपनी आवाज या अपने प्रियजनों की आवाज भी प्रिय लगती है और उसे बार-बार सुनने की इच्छा होती है । टेपरिकार्डर प्रायः इसीलिए लोग खरीदते हैं परन्तु विचार क्रान्ति के लिए इसका महत्त्वपूर्ण उपयोग भी है उससे बोलते पुस्तकालय का काम लिया जा सकता है । पुस्तकालयो में विचारों को स्याही, छपाई और कागज आदि माध्यमों द्वारा सुरक्षित रखा जाता है । टेपरिकार्डर विचारशील व्यक्तियों के न केवल विचार वरन् उनकी वाणी को अंकित कर सकता है ।

टेपरिकार्डर में महामानवों के ऐसे छोटे-छोटे प्रवचन टेप कराए जा सकते हैं जो नव-निर्माण की विचारधारा के अनुरूप हों । इस प्रकार विविध विषयों के प्रवचन टेप इकट्ठे किए जा सकते हैं और उस टेप संकलन का उपयोग पुस्तकालय या समारोह आयोजन के रूप में किया जा सकता है । व्यक्तिगत रूप से कोई कुछ सुनना चाहे तो टेपरिकार्डर बोलती पुस्तक का काम कर सकते है जो कागज, स्याही से ही नहीं वरन् वक्ता महापुरुष की वाणी से प्रकाश प्रदान करती है ।

## प्रकाश चित्र यन्त्र

स्लाइड प्रोजेक्टर क्षेत्रों में जन-मानस को प्रशिक्षित करने के प्रभावशाली माध्यम सिद्ध हो सकते हैं । इस यन्त्र द्वारा पौराणिक, ऐतिहासिक, धार्मिक और महापुरुषों के जीवन की मार्मिक घटनाओं की छवियाँ पर्दे पर दिखाई जा सकती हैं तथा उनकी प्रेरणाप्रद, प्रगतिशील प्रभावकारी व्याख्याओं द्वारा जनमानस को प्रशिक्षित किया जा सकता है ।

प्रकाश चित्र यन्त्र के सफल उपयोग में आशंका की जाती है कि आजकल सिनेमा का बहुत प्रचलन हो गया है इससे लोग इसमें रुचि नहीं लेंगे । यह सोचना आंशिक रूप से ही सही हो सकता है । बड़े शहरों में जहाँ सिनेमा घर हैं, वहाँ जिन्हें पैसा देकर सिनेमा देखने की सुविधा उपलब्ध है उन लोगों के लिए तथा जिन्हें केवल मनोरंजन का उद्देश्य पूरा करना और टिकट के पैसे की भरपाई भर करना है उनके लिए स्लाइड प्रोजेक्टर में कोई आकर्षण नहीं हो सकता है । जहाँ उपरोक्त तीनों बातें लागू नहीं होती वहाँ न केवल स्लाइड प्रोजेक्टर वरन् अन्य पुराने माध्यम भी आकर्षण के केन्द्र बने रह सकते हैं ।

देहाती क्षेत्रों में सिनेमा नहीं होते न वहाँ के लोगों को इतना अवकाश होता है कि वे शहर जाकर सिनेमा देख सकें । अवकाश हो तो भी टिकट खरीद कर सिनेमा देखना भारी पड़ता है । इसलिए गाँव-गाँव में प्रकाश चित्र यन्त्र लेकर जाया जाय और लोगों को दिखाया जाय तो बिना मूल्य का मनोरंजन कर कोई प्राप्त करना चाहेगा । इससे लोक-शिक्षण की आवश्यकता भी पूरी हो सकेगी । शहरों में भी बिना मूल्य का यह मनोरंजन और संलग्न लोक-शिक्षण का काम आसानी से चलाया जा सकता है ।

सिनेमा लोकप्रिय हुआ है और लोगों के मनोरंजन का प्रमुख साधन बना है, यह ठीक है, परन्तु मनोरंजन के अन्य साधन आज भी अपनी जगह पर समान धर्मा होने के कारण ही स्लाइड प्रोजेक्टर सिनेमा के सामने नहीं टिकेंगे ऐसा सोचा जाय तो भी वस्तुस्थिति भिन्न

ही मालूम देगी । शहरों में बड़े-बड़े सर्कस आते हैं उनमें जानवरों के करतब ही तो दिखाए जाते है, किन्तु लोग फिर भी रीछ, बन्दरो का नाच, सॉप का खेल और नट-बाजीगर के तमाशे चाव से देखते हैं । ये माध्यम यदि कमजोर पड़ रहे हैं तो इनका उपयोग करने वालों की उदासीनता के कारण ही अन्यथा जन-आकर्षण इनके प्रति अभी भी कम नहीं हुआ ।

फिर विचार क्रान्ति के लिए स्लाइड प्रोजेक्टर के प्रयोगों में नयी विशेषताएँ भी हैं । एक तो वे बिना मूल्य दिखाए जाते हैं जबकि रीछ, बन्दर, सॉप, कठपुतली और बाजीगर के खेल तमाशों मे देखने वालों को कुछ न कुछ देना पड़ता है । उन खेल तमाशों को खड़े-खड़े या जमीन पर बैठ कर देखना पड़ता है जबकि इन प्रदर्शनों में देखने वालों को सम्मानपूर्वक बिठाया जाता है । साथ ही इन कार्यों में जो विचारोत्तेजक, प्रेरणाप्रद उपयोगी और हृदयग्राही शिक्षण भरा होता है उसका अपना अलग ही महत्त्व है ।

सफलता की पूरी सम्भावना और महत्त्वपूर्ण लोक-शिक्षण की उपयोगिता को देखते हुए इनका खर्च भी कुछ अधिक नही है । मशीन, स्लाइडे, लाउडस्पीकर, बैटरी—इन चार उपकरणों का सैट लगभग बारह तेरह सौ की लागत मे पड़ता है । इन उपकरणों को जुटाकर जन-जागरण की उपयोगिता समझने वाले लोकसेवियों को निकल पड़ना चाहिए और अपने क्षेत्र में व्यक्ति और समाज के नव-निर्माण की विद्या समझानी चाहिए ।

## संगीत का उपयोग और कविता सम्मेलन

जन जागरण के लिए संगीत का उपयोग भी किया जा सकता है । संगीत सीधा हृदय को स्पर्श करता है । लेखनी और वाणी की उतनी सीधी पहुँच भाव केन्द्र तक नही है जितनी कि संगीत की । मस्तिष्क को प्रभावित करने के लिए तर्कों, तथ्यों और विश्लेषणो का सहारा लिया जा सकता है पर संगीत के माध्यम से भावनाओ को भी आन्दोलित किया जा सकता है, मध्यकाल मे सन्त कवियों ने इस माध्यम का सफल उपयोग किया था । मीरा, सूरदास, तुलसी, कबीर जैसे भक्त सन्तों ने इसी माध्यम से जनता के अन्तःकरण को स्पर्श किया और जनमानस में नवजीवन का सचार किया । भावनात्मक नवनिर्माण की जब इन दिनों तीव्र आवश्यकता अनुभव की जा रही है तो इस माध्यम को अछूता ही नहीं छोड़ देना चाहिए ।

संगीत आजकल वैसे भी बहुत लोकप्रिय है । करना केवल इतना है कि गायन के विषय ऊर्ध्वगामी हों । वात्सल्य, करुणा, नम्रता, आत्मीयता, स्नेह, सौजन्य, समाजनिष्ठा, मानवीय आदर्शों के प्रति आस्थाओं को तरंगित करने वाले गीत बनाये जायें और वाद्ययन्त्र की रसध्वनि उसी उद्बोधन को रस प्रदान करें । समय-समय पर ऐसे संगीत आयोजन करते रहना चाहिए । उनमें ऐसे गीत प्रस्तुत कराए जायें जो केवल प्रसन्नता ही नहीं प्रेरणा भी प्रदान करें । ऐसे संगीत सम्मेलन स्वतन्त्र रूप से पूरे समय के लिए भी रखे जा सकते हैं । कविता सम्मेलन, इस दिशा में एक और प्रभावोत्पादक कदम है । कवि सम्मेलनों में कवि लोग अपनी कविताएँ ही सुनाते है । उनमें विषय का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता । कविता सम्मेलन इससे भिन्न स्तर के होने चाहिए यह अपने ढंग की एकदम स्वतन्त्र और नयी शैली है । इनका बाहरी स्वरूप कवि सम्मेलनों जैसा ही रखा जा सकता है । जिनके स्वर मीठे और तीखे हैं वे किसी की भी लिखी कविता अपने स्वर में जमाएँ और सम्मेलन में उनका पाठ करें ।

प्रचलित कवि सम्मेलनो से यह सम्मेलन कई गुना महत्त्वपूर्ण है और अनेकों विशेषताओं से युक्त भी । एक तो सभी गायक मधुर स्वर वाले होंगे, जबकि कवि सम्मेलनों में वैसा नहीं होता । दूसरे विषय केवल आदर्शवादिता और उत्कृष्टता की मर्यादाओं में सीमित रहने के कारण सुनने वालो को एक दिशा देंगे जबकि कवि सम्मेलन वैसा प्रभाव उत्पन्न नहीं कर पाते । तीसरे बाहर से आने वाले कवियों के लिए ढेरों पैसे खर्च करने पड़ते हैं जबकि कविता सम्मेलन मे समीपवर्ती लोग ही इकट्ठे होकर बिना किसी खर्च के उस प्रयोजन को पूरा कर सकते हैं । इस प्रकार जन-जागरण की आवश्यकता पूरी करने के लिए कविता सम्मेलन बड़े उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं ।

सहगान कीर्तन की प्रक्रिया चलाकर संगीत की भाव लहरी में जनता को भी सम्मिलित किया जा सकता है । मुख्य गायक और सुनने वाले लोग किसी गीत को या उसकी टेकों को गायें दुहराएँ तो उसका बड़ा मनोवैज्ञानिक लाभ हो सकता है । लोग जब उस

पद को अथवा उसकी टेक को दुहराते हैं तो उसके भावो से अनायास ही जुड़े जाते है । इतना ही नहीं अन्तःकरण में उन भावो के प्रति स्वयं के द्वारा समर्थित और प्रतिपादित होने की अनुभूति होती है वातावरण ही कुछ ऐसा बन जाता है मानो एक विशाल जनसमूह इन मान्यताओं का-भावनाओं का समर्थन कर रहा हो ।

संगीत विद्या के इस प्रकार विविध प्रयोगों द्वारा जनमानस को प्रशिक्षित करने का कार्यक्रम आसानी से चलाया जा सकता है । इससे लोगों के मन पर विना किसी प्रकार का भार दबाव पड़े आनन्द, उत्साह और नयी दिशाएँ मिलती हैं । जन-मानस को दिशा विशेष में मोड़ने के लिए संगीत कला का उपयोग किया ही जाना चाहिए ।

## विचार गोष्ठी

प्रस्तुत सद्ज्ञान के प्रकाश में—भावनाओं के शिक्षण का उपयोग करते हुए आसन्न समस्याओं का समाधान किस प्रकार किया जाय, यह उपाय खोजने के लिए विचार गोष्ठियाँ की जानी चाहिए । समस्याओं के मूल कारण का विश्लेषण और उनके समाधान का आधार सिद्धान्त ही सार्वजनिक रूप से प्रतिपादित किया जा सकता है । सिद्धान्त को क्रियान्वित किस प्रकार किया जाय यह स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप ही निश्चित किया जाना चाहिए । सिद्धान्त अपने आप में कितना भी सही और सटीक हो यदि उसे ठीक ढंग से क्रियान्वित न किया जा सका तो उसके अपेक्षित परिणाम निकल ही नहीं सकते । विचारशील व्यक्ति स्थानीय परिस्थितियों के सन्दर्भ में उनकी व्यावहारिक रूपरेखा बना सकते है और उसे लोगो को विचार गोष्ठियों मे समझा सकते हैं ।

विचार गोष्ठी से व्यक्तिगत सम्पर्क का प्रयोजन एक साथ अधिक लोगों से पूरा किया जा सकता है । कोई बात प्रत्येक व्यक्ति को समझनी हो तो उसके लिए काफी समय चाहिए और बड़ा श्रम भी । विचार गोष्ठियों में कई लोग इकट्ठे हो जाते है और उन्हें प्रतिपादन, विश्लेषण तथ्य बताये समझाए जाते है । कहा जा सकता है कि यह तो सभाओ में भी होता है । सभाओं में प्रतिपादन किए जाते हैं परन्तु उसमे सुनने वाले भिन्न स्तर और अलग-अलग रुचि के व्यक्ति अलग-अलग उद्देश्य लेकर आते हैं । किसी का उद्देश्य केवल वक्ता के दर्शन करना ही होता है, उनके मन में बाहर से आये प्रवक्ता के प्रति आदर श्रद्धा का भाव होता है । कुछ लोग क्या होता है यही देखने चले आते हैं । जो कहा जा रहा है उसको गहराई से समझने और ग्रहण करने की उन्हें आवश्यकता अनुभव नही होती । कई लोग सत्संग के उद्देश्य से ही आते है । इसमें वक्ता भी प्रतिपादन का स्तर हल्का कर देता है और श्रोताओं को कई बात समझाने के साथ-साथ उन्हें बिठाए रखने के लिए भी अपने भाषण में रोचकता, सतहीपन और गैरगम्भीरता लाने लगता है । विचार गोष्ठी में थोड़े से लोग होते हैं उस विषय में इनकी गहरी रुचि होती है इसलिए गोष्ठी में अपेक्षाकृत अधिक अच्छे ढंग से प्रस्तुत विषय का प्रतिपादन किया जा सकता है ।

एक स्थान के प्रबुद्ध, विचारशील और वर्ण्य विषय में रुचि रखने वाले या जिनमें रुचि उत्पन्न की जा सकती है ऐसे व्यक्तियों को एकत्रित कर विचार गोष्ठियों का क्रम चलाना चाहिए । वहाँ का गम्भीर वातावरण और विषय की सूक्ष्म विवेचना प्रतिपादनो को जनमानस में अच्छी तरह उतारने की सम्भावना बना देती है ये लोक सेवी कार्यकर्त्ता जनजागरण के उद्देश्य से जहाँ कहीं भी जायें अथवा जहाँ रहें वहीं विचार गोष्ठियों का क्रम चला सकते हैं ।

## स्वाध्याय गोष्ठियाँ

सामूहिक रूप से इकट्ठे होकर प्रगतिशील प्रेरणादायी पुस्तकों के स्वाध्याय की प्रक्रिया भी आरम्भ की जा सकती है दूसरे उन व्यक्तियों को भी लाभ पहुँचता है जो पढ़-लिख नहीं पाते । एक व्यक्ति पूर्व निश्चित विषय की पुस्तक लेकर पढ़ने बैठ जाय और शेष सब सुनें । एक पैराग्राफ पढ़ लेने के बाद थोड़ा रुका जाय फिर जो पढ़ा गया है उस विषय पर चर्चा की जाय ।

सुनने के साथ ही समझने का क्रम भी चलता है । प्रत्येक व्यक्ति सुनते समय विषय पर चिन्तन भी करने लगता है । यह तो निश्चित है कि प्रत्येक श्रोता की चिन्तन शैली अपनी अलग होती है । सब लोग एक-एक कर अपने निष्कर्षों को रखें तो उसके विषय पर और भी अधिक प्रकाश पड़ता है, क्योंकि एक बात कोई व्यक्ति पकड़ता है तो यह कोई आवश्यक नहीं है कि दूसरा भी उसे पकड़ ही ले या उस पर अन्य सभी

लोगों का भी ध्यान चला ही जाय । अपने निष्कर्षों को सुनाने पर उस विषय से सम्बन्धित अनेकों पक्ष पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है ।

कई सामाजिक संस्थाएँ इस प्रकार की स्वाध्याय गोष्ठियाँ चलाती हैं और उनके सदस्य एक दूसरे की प्रतिभा, सूझ-बूझ, विषय की सूक्ष्म पकड़ तथा चिन्तन का लाभ उठाते हैं । थियोसोफिकल सोसाइटी तथा अरविन्द सोसाइटी के सदस्य इसी तरह के स्टडी सर्किल चलाते हैं जिनमें बहुत से व्यक्ति एक साथ इकट्ठे होकर सामूहिक रूप से स्वाध्याय करते हैं । जनजागरण का सन्देश अनपढ़ अशिक्षित व्यक्तियों तक पहुँचाने के लिए भी यह पद्धति बड़ी उपयोगी सिद्ध हो सकती है ।

पढ़े-लिखे व्यक्ति अपना एक क्षेत्र चुन लें और उस क्षेत्र के अनपढ़ व्यक्तियों को एक स्थान पर इकट्ठा करें सत्साहित्य का पढ़ना शुरू करें । इनका स्वरूप बहुत कुछ कथा-वार्ताओं की तरह होता है परन्तु भिन्नता भी कम नहीं है । कथा-वार्ताओं में किसी एक धर्मग्रन्थ को पढ़ने की लकीर भर पीटी जाती है । सुनने वालों को न उनमे कोई रुचि होती है और न सुनाने वालों में ही कोई उत्साह रहता है । जबकि इस प्रक्रिया में पढ़कर सुनाने वाला व्यक्ति जनजागरण की साधना निष्ठा से प्रेरित होने के कारण उत्साह से भरा रहता है और सुनने वाले अपने भले की बात कही जा रही है यह जानकर मनोयोगपूर्वक सुनने बैठे रहते हैं ।

## तीर्थ यात्रा : प्रचार यात्रा

लोकसेवियों को यह मानकर नहीं चलना चाहिए कि नव-जीवन की प्रेरणा केवल उन्हें दी जाय तो हमारे पास आयें अथवा जो लोग बुलाने पर इकट्ठे हो जाय । वरन् इसके लिए लोगों तक स्वयं भी पहुँचना चाहिए । प्रत्येक व्यक्ति सद्ज्ञान की महत्ता और सद्विचारों की उपयोगिता समझता हो । यह आवश्यक नही है । सोया हुआ व्यक्ति यदि जलते हुए मकान मे से उठकर बाहर नहीं निकलता है तो दोष उसका नहीं है । उसे जगाकर आग से बाहर निकालना चाहिए । अभ्यस्त हो जाने के कारण लोग अपनी जीवन-दिशा की विसगतियाँ अनुभव नहीं करते और सद्ज्ञान की आवश्यकता नहीं समझते तो इसमें उनकी गल्ती नहीं है, इसे एक कमजोरी या दुःस्थिति ही कहा जा सकता है ।

सद्ज्ञान का आलोक दूर-दूर तक पहुँचाने को विचारशील व्यक्ति अपने समीप और दूरवर्ती क्षेत्रों में भ्रमण करें और घर-घर जाकर नवयुग का सन्देश पहुँचायें इसी का नाम तीर्थयात्रा है । अपने देश में तीर्थयात्रा को जो महत्त्व दिया गया है वह इसी स्वरूप के कारण है । अमुक मन्दिर सरोवरो के दर्शन स्नान का माहात्म्य उनके साथ जरूर जोड़ा गया है पर मुख्य वह नहीं है । मुख्य वह पर्यटन है जिसके साथ धर्म अभिवृद्धि का प्रयोजन भी जुड़ा हुआ है । पहले तीर्थयात्रा पैदल की जाती थी और उस पद यात्रा द्वारा जन-सम्पर्क करते हुए धर्म प्रचार का उद्देश्य पूरा किया जाता था । आज द्रुतगामी वाहनों में बैठकर कुछ ही समय में मन्दिरो के दर्शन और सरोवरों में स्नान कर लौट आना लकीर पीटने भर जैसा है ।

पहले जमाने में साधु ब्राह्मण घूमते ही रहते थे । महात्मा बुद्ध ने तो भिक्षुओं के लिए यह मर्यादा ही बना दी थी कि वे एक स्थान पर तीन दिन से अधिक न ठहरें । इसका कुल इतना ही कारण था कि अधिकाधिक लोगों से जनसम्पर्क बनाया जा सके और उन्हें धार्मिकता-आध्यात्मिकता की प्रेरणा दी जा सके । प्राचीन काल के आदर्शों के अनुरूप तीर्थयात्राओ की, पदयात्राओं की पुण्य प्रक्रिया पुनः आरम्भ की जानी चाहिए । इससे देशाटन का लाभ तो मिलेगा ही उसके अतिरिक्त अपना प्रधान उद्देश्य, मार्ग मे पड़ने वाले गाँव नगरों मे धर्म-भावनाओं को प्रोत्साहित करना भी पूरा होता चलेगा ।

इसके लिए समान विचारों के लोग एक मण्डली बनाकर निकलने की तैयारी करें । कितने समय के लिए जाना है, हर दिन कितने मील चलना है और किन-किन गाँवों में रुकना है आदि बातो का पहले से ही निर्धारण कर लिया जाय तथा मार्ग में पड़ने वाले सभी गाँवों में सत्प्रेरणाएँ जगाते हुए, जनजागरण के कार्यक्रम सम्पन्न करते हुए चलें । यह तीर्थयात्रा मण्डली जिस रास्ते में जाय उससे वापस नहीं लौटे । वापस लौटने का रास्ता दूसरा होना चाहिए और उस मार्ग में पड़ने वाले गाँवों मे प्रचार कार्य करते हुए चलना चाहिए ।

इस प्रचार यात्रा मे लोगो को नव-निर्माण की प्रेरणा देने के साथ-साथ किए गए प्रयासों के प्रभाव का अध्ययन भी होता है ।

कई विचारशील व्यक्तियों को आगे आने की प्रेरणा मिलती है जो जनजागरण में महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं ।

तीर्थयात्राओं के माध्यम से जनजागरण के लिए निकलने का दोहरा मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है । अधिक व्यक्तियों के एक साथ चलने पर मण्डली का अपना मनोबल तो बढ़ा-चढ़ा ही रहता है, जिससे मिला जाता है, उस पर भी इच्छा शक्ति का दबाव पड़े बिना नहीं रहता । एक साथ विभिन्न स्तर की योग्यताओं वाले व्यक्ति तीर्थयात्रा में निकलते हैं तो प्रचार के अतिरिक्त गाँवों की स्थानीय समस्याओं के सम्बन्ध में भी मार्गदर्शन दिया जा सकता है और प्रभावित व्यक्तियों को जनजागरण के महाकार्य में उनकी स्थिति-योग्यता अनुरूप जुड़ने की प्रेरणा दी जा सकती है ।

उन यात्राओं पर निकलने वाली टोलियों को एक कार्यक्रम अपने साथ यह भी रखना चाहिए कि दीवारों पर आदर्श वाक्य लिखे जायें । यह कार्य स्वतन्त्र रूप से भी किया जा सकता है । गाँव के गली मुहल्ले की हर दीवार पर सुन्दर सुलेख द्वारा बड़े अक्षरों में प्रेरणाप्रद, उत्कृष्ट और दिशा देने वाले आदर्श वाक्य लिखे हों तो उन्हें निकलने वाले अनायास ही पढ़ेंगे और प्रभावित होंगे ।

## सद्वाक्य लेखन

यह तो नहीं कहा जा सकता कि जो भी कोई उन वाक्यों को पढ़ेगा वह निहित प्रेरणाओं पर आचरण भी अवश्य ही करेगा । यह सफलता तो सुयोग्य व्यक्तियों द्वारा दिए जाने वाले लम्बे चौड़े प्रवचनों में भी नहीं मिलती और बड़े-बड़े सद्ग्रन्थ भी तत्काल कोई चमत्कारी प्रभाव नहीं दिखा पाते, किन्तु उन पर देखने वालों की निगाह बराबर जाती है तो सद्विचारों का हल्का-सा संस्कार जरूर पड़ता है यदि ये संस्कार एकत्रित होने लगें तो कालान्तर में ही अपना अनोखा प्रभाव उत्पन्न करते हैं, जिस प्रकार बुरी बातों को बार-बार देखने, सुनने, सोचने से उनकी ओर मन ललचाने लगता है उसी प्रकार प्रेरणाप्रद विचार भी उन पर अपना प्रभाव किसी न किसी रूप में अवश्य ही छोड़ते हैं ।

जन-जागृति के लिए अपना समय देने वाले कार्यकर्त्ताओं को सद्वाक्य लेखन के लिए अपना थोड़ा समय जरूर लगाना चाहिए और जिनसे इस कार्य में सहयोग की आशा हो उनसे भी अवश्य सहयोग लेना चाहिए । गेरू से लाल अक्षर और बाजार में बिकने वाली कालिख या नील से काले या नीले अक्षरों में सद्वाक्य लिखे जा सकते हैं । थोड़ा गोंद या पका हुआ सरेस मिला देने से उस लेखन स्याही में और भी मजबूती आ जाती है । लिखने के लिए बालों से बने ब्रुश भी प्रयोग में लाये जा सकते हैं और लकड़ी के सिरे पर कपड़ा या रुई बांधकर अथवा खजूर की हरी लकड़ी एक सिरे से कूटकर कूँची बनाई जा सकती है । जहाँ भी उपयुक्त जगह दिखाई पड़े वहाँ इस प्रकार आदर्श वाक्य लिखे जा सकते हैं वाक्यों में भिन्नता रखी जाय तो वे पढ़ने वाले की उत्सुकता भी बढ़ाते हैं और उससे विभिन्न स्तर की प्रेरणाएँ भी मिलती हैं । इस तरह के वाक्य बड़ी संख्या में खोजे जा सकते है । निम्न प्रकार के वाक्य भी लिखे जा सकते हैं—

(१) परमेश्वर का प्यार केवल सदाचारी और कर्तव्य परायणों के लिए सुरक्षित है । (२) दूसरों के साथ वैसी ही उदारता बरतें जैसी ईश्वर ने तुम्हारे साथ बरती है । (३) अपना मूल्य समझो और विश्वास करो कि तुम संसार के सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हो । (४) धन से ज्ञान बड़ा है क्योंकि धन हम रखते हैं और ज्ञान हमारी रखवाली करता है । (५) जीवन का अर्थ है समय, जो जीवन को प्यार करते हैं वे आलस्य में समय न गवाँये । (६) सज्जन अमीरी में गरीब जैसे नम्र और गरीबी में अमीर जैसे उदार होते हैं । (७) जो जैसा सोचता और करता है, वह वैसा ही बन जाता है । (८) शान्ति से क्रोध को, भलाई से बुराई को, शौर्य से दुष्टता को और सत्य से असत्य को जीतें । (९) शारीरिक, मानसिक और आर्थिक संयम बरतने वाले ही शक्तिशाली बन सकते हैं । (१०) ईश्वर ने आँख, कान दो-दो और जीभ एक ही दी है ताकि हम देखें सुनें अधिक, बोलें कम । (११) गृहस्थ एक तपोवन है जिसमें संयम, सेवा और सहिष्णुता की साधना करनी पड़ती है । (१२) दूसरों के साथ वह व्यवहार न करो जो तुम्हें अपने लिए पसन्द नहीं । (१३) अपने को मनुष्य बनाने का प्रयत्न करो यदि इस काम में सफलता मिल गई तो हर काम

में सफलता मिलेगी । (१४) ईमानदारी सर्वश्रेष्ठ जीवन नीति है । (१५) शालीनता बिना मोल बिकती है पर उससे सब कुछ खरीदा जा सकता है । (१६) आलस्य से बढ़कर अधिक समीपवर्ती शत्रु दूसरा नहीं । (१७) ईश्वर केवल उन्हीं की सहायता करता है जो अपनी सहायता आप करते हैं । (१८) भारतीय धर्म संस्कृति की जननी गायत्री है । (१९) सच्चा मित्र वह है जो बुराइयों से बचावे । (२०) कर्तव्य का ध्यान रखिए, अधिकार का नहीं । (२१) मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है । (२२) केवल उन्हीं की प्रशंसा कीजिए जो धर्म पर दृढ़ हैं । (२३) अनीति के आगे सिर न झुकाइये । (२४) मनुष्य का जन्म तो सहज होता है पर मनुष्यता उसे कठिन प्रयत्नों से मिलती है । (२५) बुद्धिमान वे हैं जो बोलने से पहले सोचते हैं और मूर्ख वे हैं जो पहले बोलते हैं और सोचते बाद में हैं ।

इस प्रकार के आदर्श वाक्यों की लेखन प्रक्रिया से एक वातावरण बनता है जिधर से भी निकलें उधर ही प्रेरणाप्रद प्रशिक्षण मिलता है तो मनुष्य यह सोचने लगता है कि सर्वत्र इसी स्तर की विचारधाराओं का प्रवाह बह रहा है और जिनकी दीवारों पर यह लिखा गया है वे सभी इन विचारों से सहमत है । इतना न सोचें तो इतना अनुमान तो लगता ही है कि इस क्षेत्र में इस प्रकार की विचारधारा का बाहुल्य है । कहना न होगा कि वातावरण की छाप हर मनुष्य पर पड़ती है । हवा के रुख के साथ चलने की सहज इच्छा उत्पन्न होती है । बोलती दीवारों के आन्दोलन को हमें पूरे उत्साह के साथ आगे बढ़ाना चाहिए और अपने क्षेत्र मे उत्कृष्टता की ओर इंगित कराने वाला वातावरण उत्पन्न करना चाहिए ।

जनजागरण के लिए इस तरह के अनेकों प्रयास चलाये जा सकते हैं, इन प्रयासों में उपेक्षा और हेटी प्रतीत होती हो तो उसे भी सहन करें । इस जनजागरण के लिए, सद्ज्ञान प्रसार के लिए, ज्ञानयज्ञ अभियान के लिए उत्साह दिखाना चाहिए । लोग क्या कहते हैं और क्या टीका टिप्पणी करते है इस ओर से आँख-कान बन्द करके ही चलना चाहिए । लोगों को क्या कहना चाहिए इसी के लिए प्रयत्न करने चाहिए । लोगों में यदि निष्कर्ष निकालने की शक्ति होती तो फिर इतना परिश्रम ही क्यो करना पड़ता । बीमार के रूठने, बड़बड़ाने और आक्षेप लगाने पर भी दवा पिलाने का प्रयत्न शान्त चित्त से बिना उसकी बातों पर ध्यान दिए करना ही चाहिए । जन सेवा के लिए भी ऐसा ही करना होता है । जो माँगे वह देना सेवा नहीं समाज के लिए जो हितकारी है वह उसे देना ही सेवा परिचर्या है । समाज में व्याप्त पीड़ा और अभावों का निराकरण जिस वैचारिक एवं भावनात्मक पृष्ठभूमि पर सम्भव है उन्हें पैदा करने का प्रयास ही वास्तविक एवं स्थायी सेवा कहलाने योग्य है । अस्तु प्रस्तुत सुझावो के आधार पर यह उच्चस्तरीय सेवा साधना करने के लिए हर एक को साहसपूर्वक आगे आना चाहिए । जीवन साधना की सार्थकता इसी में है कि साधना के साथ-साथ लोक मंगल की आराधना भी की जाय । उच्चस्तरीय सिद्धियाँ हस्तगत करने का यही राजमार्ग है ।

ꕤꕤꕤ

# साधकों-युगशिल्पियों की गलाई-ढलाई

## प्रखर व्यक्तित्वों के निर्माण में उपयुक्त वातावरण

ज्ञान की सार्थकता कर्म में है । सत्साहित्य का स्वाध्याय और सन्त सज्जनों का सत्संग असाधारण पुण्य फलदायक माना गया है, ऐसा क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर एक ही है कि पठन और श्रवण के माध्यम से उपलब्ध प्रेरणा जब सत्प्रवृत्तियों में परिणत होती है तो उसमें व्यक्तित्व का स्तर बदल जाता है । मनःस्थिति बदलने पर परिस्थितियाँ बदलती हैं । अन्तरंग सुधारने से बहिरंग में सुखद परिवर्तन होते हैं, यही मनुष्य को अभीष्ट भी है । सभी सुख और सन्तोष चाहते हैं । उसी के लिए अपने-अपने ढंग से प्रयत्नरत भी रहते हैं, किन्तु सफलता विरलों को मिलती है । दिशा विहीन श्रम से अभीष्ट की उपलब्धि तो दूर, मात्र थकान ही हाथ लगती है । उपयोगी दिशा धारा प्रदान करना स्वाध्याय और सत्संग का उद्देश्य है । यदि इन दोनों प्रयासों में सन्मार्ग पर चल पड़ने का साहस मिल सके तो समझना चाहिए कि उनका जो माहात्म्य बखाना गया है, उसमें कोई अत्युक्ति नहीं, किन्तु यह स्वाध्याय पढ़ने तथा सत्संग सुनने तक सीमित रहे और उनका प्रभाव जीवन व्यवहार में समन्वित न हो सके, तो समझना चाहिए, पढ़ने और सुनने की व्यसन भर की पूर्ति हुई । समयक्षेप का अपेक्षाकृत कुछ उपयोगी बहाना मिल गया । ऐसी दशा में न स्वाध्याय का कोई पुण्य है और न सत्संग का कोई लाभ ।

कहा जा चुका है कि ज्ञान की सार्थकता कर्म से मानी गई है । स्वाध्याय तभी सराहा जायेगा जब वह व्यक्तित्व में चमके और आचरण मे उतरे । सत्संग की सार्थकता भी उसी स्थिति में है, जब उसकी प्रेरणा सत्प्रवृत्तियो के रूप में अंकुरित और प्रस्फुटित हो । युग निर्माण परिवार के परिजनो को उत्कृष्ट, चिन्तन, आदर्शवादिता की प्रेरणा और उच्च कर्तृत्व की प्रेरणा देने का उपाय उपलब्ध रहा, इसे परिजनों का सौभाग्य ही कहना चाहिए, परन्तु इस उपलब्धि की, पाठकों के अध्यवसाय-अध्ययन की सार्थकता इसी कसौटी पर आंकी जायेगी कि परिजनों के जीवन-क्रम में उसका क्या प्रभाव हुआ ? क्या परिवर्तन हुआ ? यदि ऐसा कुछ भी न हुआ हो तो समझना चाहिए कि उपलब्ध साधन वे पत्रिकाएँ हों अथवा साहित्य शिविर हों या सान्निध्य, अपना उद्देश्य पूरा करने मे असफल रहे है। यदि ऐसा हुआ हो तो समझना चाहिए कि एक महान प्रयास चट्टान से टकराने वाली नाव की तरह दुर्घटना से ग्रसित हो गया । ऐसी दशा में इस असफलता को अपने समय का एक दुःखदायी दुर्भाग्य ही माना जायेगा ।

अनुमान है कि ऐसा हुआ नही है । कहीं कुछ अधूरापन रह गया है, उसे कर्म के रूप में परिणत होने का अवसर नहीं मिला । पूर्ण असफलता इसलिए स्वीकार नहीं की जा सकती है कि परिजनों की आस्था, अभिरुचि एवं आकांक्षा जन-साधारण की तुलना में कहीं अधिक उत्कृष्ट पायी जाती है । यदि कोई प्रभाव न पड़ा होता तो मनःस्थिति में इतना असाधारण अन्तर कैसे आया ?

परिणत को सफलता भी नहीं कह सकते, क्योंकि इस विशाल समुदाय मे से ऐसी व्यक्तित्व सम्पन्न प्रतिभाएँ क्यों नहीं उभरी जिनकी माँग विश्व के कोने-कोने में है । सर्वविदित प्रतिभाएँ ही जन-मानस को प्रशिक्षित एवं परिवर्तित करती हैं । अवांछनीय प्रवाहों को मोड़ने-मरोड़ने और उसे उपयोगी बना देने का कार्य व्यक्तित्ववान प्रतिभाएँ ही करती रही हैं । आज इसी की माँग और आवश्यकता है, किन्तु उसकी पूर्ति ही नहीं रही । ऐसा क्यो है ? उत्तर एक ही दिया जा सकता है कि अपने समय की परिस्थितियों और प्रथाओं को मोड़ने-मरोडने वाली प्रखरता का अभाव । सज्जन होना अच्छा है पर उतना ही पर्याप्त नहीं है । प्रखर व्यक्तित्व ही दूसरों पर अपनी छाप छोड़ते हैं और पग-पग पर अनुयायी उत्पन्न करते हैं । निराशा को आशा मे बदलना उन्हीं का काम है । वे पतन को

रोकते ही नहीं, वरन् अनास्था उसे गलाते-ढालते और उत्थान में परिवर्तित भी करते हैं । हेय स्तर की प्रतिभाओं ने अपनी दुरभि सन्धियों से हर क्षेत्र में अवांछनीयता बोई और उगाई है, यदि श्रेष्ठता के क्षेत्र में भी प्रखरता विद्यमान रहती तो कोई कारण नहीं कि लोक प्रचलन में सत्परम्पराओं के उद्यान लहलहाते दृष्टिगोचर न होते ।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उपयोगी सम्पदाओं की संख्या अगणित होते हुए भी व्यक्ति का निर्माण मनुष्य के जन्म का सर्वोपरि लाभ है । सफलताओं में उसी को सर्वोच्च स्तर का कहा जा सकता है । अलंकारिक रूप से इसी को कल्पवृक्ष कहा गया है । जिसने यह कमा लिया उसकी तुलना में सभी वैभववान छोटे पड़ते हैं । इतिहास के पृष्ठ साधन सम्पन्नों की भी जिस-जिस प्रसंग में चर्चा करते हैं, पर जिनका भाव भरा गुणगान और अभिनन्दन होता है, वे महामानव वर्ग के ही होते हैं । यों चर्चा तो उनके द्वारा प्रस्तुत कार्यों की ही होती है । उल्लेख तो घटनाओं का ही हो सकता है, पर वस्तु-स्थिति यह है कि उनका व्यक्तित्व ही पारस होता है, वह जिस भी लौह खण्ड को छूता है, उसे ही स्वर्णिम बनाकर रख देता है ।

आध्यात्म-दर्शन में अनेकों सिद्धियों और उपलब्धियों का वर्णन है । वे बड़ी आकर्षण और आनन्ददायक प्रतीत होती हैं । उन्हें जिन्होंने पाया वे स्वयं गौरवान्वित हुए और अनेकों को लाभान्वित करने में समर्थ रहे । समझा यह जाता है कि यह सिद्धियाँ किसी देवी-देवता के द्वारा दी गई हैं । मन्त्रोपचार के सहारे उपलब्ध हुई हैं, पर वास्तविकता दूसरी ही होती है । मनुष्य जान या अनजान में व्यक्तित्व में उत्कृष्टता का समावेश करता है और उसी अनुपात में मूल्य बढ़ता है यही है वह आधार जिससे मानवी गरिमा आँकी जाती है यही है वह हुण्डी जिसे किसी भी दुकान पर भुनाया जा सकता है । व्यक्तित्व पुरुषार्थ से मिला, सिद्ध पुरुषों ने दिया अथवा प्रारब्धवश हाथ आया, यह बात दूसरी है, किन्तु इतना निश्चित है कि महान सफलताओं के अधिकारी मात्र महामानव ही रहे हैं । महामानव का अर्थ शक्ति और सम्पन्नता का धनी नहीं वरन् व्यक्तित्व का वैभव है । जिसके होने पर जन सहयोग और अभीष्ट साधनों की कमी नहीं रहती ।

लगता ऐसा है मानो साधनों के सहारे मनुष्य ऊँचे उठते हैं और आगे बढ़ते हैं । यह भ्रम इसलिए होता है कि साधन और सफलता यही दो प्रकट रूप से सामने दीखते हैं । कर्त्ता की प्रतिभा और प्रखरता तो बुद्धिगम्य होती है, वह आँखों से नहीं दीखती । इसलिए स्थूल दृष्टि से सफलताओं का आधार साधन, सुविधाओं तथा परिस्थितियों को समझा जाने लगता है, किन्तु थोड़ी गहराई तक उतरने पर दूसरे ही तथ्य सामने आते हैं । प्रमुखता व्यक्तित्व की विदित होती है । उसे एक जीवन्त चुम्बक कह सकते हैं, जो दूसरे के सहयोग को संचित करने में अनायास ही सफल होता चलता है । परिस्थितियों के अनुकूलन में कोई जादू काम नहीं करता । दूरदर्शी चिन्तन तथा व्यवस्थित पुरुषार्थ के सहारे अपनायी गई गतिविधियाँ ही प्रतिकूलताओं को मोड़ती तथा उन्हें अनुकूलता में बदलती देखी जाती हैं । परोक्ष को न समझ पाने वाले ही परिस्थितियों के गुण गाते हैं । जो तथ्यों तक पहुँचते हैं, उन्हें समझने में कोई कठिनाई नहीं होती है कि प्रगति का आधार प्रतिभा वाला व्यक्तित्व ही होता है ।

व्यक्तित्व अर्थात—गुण, कर्म, स्वभाव का समुच्चय, दृष्टिकोण का स्तर, सुसंस्कारी, महत्त्वाकांक्षाओं का प्रवाह, साहस और उत्साह अनुशासन का अभ्यास । इन्हीं विशेषताओं के समन्वय को उत्कृष्ट व्यक्तित्व कहते हैं । जिसने अपने को इन विभूतियों से सुसज्जित कर लिया, समझना चाहिए उसे आत्मिक ऋद्धियों और भौतिक सिद्धियों के रहस्यमय सूत्र हाथ लग गए । उपासना, तपश्चर्या, योग साधना आदि के नाम से जानी जाने वाली क्रिया-प्रक्रियाओं का उद्देश्य एक ही है । साधक के अन्तरंग और बहिरंग को उत्कृष्टता के ढाँचे में ढालना, जो उपासना इस प्रयोजन को जिस सीमा तक पूरा कर रही होगी, चमत्कार भी उसी अनुपात से उपलब्ध हो रहे होंगे । इस लोकमान्यता को उपहासास्पद भ्रान्ति ही मानना चाहिए कि मनुहार और उपहार के भूखे देवताओं को छुट-पुट, टण्ट-घण्ट से फुसलाया और उन्हें हर कामनाओं को पूरा करने के लिए मनाया जा सकता है ।

उपासना के फलस्वरूप साधक के सिद्ध बन जाने की प्रक्रियायें जादू जैसी अटपटी लगती हैं, पर उसके

पीछे सारतत्व इतना ही है कि उपासना से अन्तराल में जन्मे कुसंस्कारी कषाय-कल्मष कटते हैं। पशु प्रवृत्तियों से जो जितना हल्का होता है, वह आत्मिक प्रगति के राजमार्ग पर उतनी ही तीव्र गति से चलता और उतनी ही निश्चिन्ततापूर्वक चरम लक्ष्य तक पहुँचता है। सन्तों और सिद्ध पुरुषों में पायी जाने वाली प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष विशेषताओं का आधार एक ही है, उनके चिन्तन और चरित्र की उत्कृष्टता। इस मूल तत्व की अवज्ञा करके किसी को भी उस प्रखरता का लाभ नहीं मिल सकता, जिसके साथ अगणित विभूतियाँ, विशेषताएँ, एवं समर्थताएँ जुड़ी रहती हैं।

जिन्होंने इतिहास को धन्य और अपने को कृत-कृत्य बनाया उनकी गतिविधियों और सफलताओं का उतना महत्त्व नहीं है जितना कि व्यक्तित्व की उत्कृष्टता एवं प्रखरता का। यदि वे इन विशिष्टताओं से रहित रहे होते और ज्यों-त्यों सफलता पाने का ताना-बाना बुनते रहते तो उनके पुरुषार्थ भर को सराहा जाता। उस श्रद्धा और सम्मान से वे वंचित ही बने रहते जो महामानवों का वास्तविक बल एवं धन होता है। दैवी-अनुग्रह, लोक-सम्मान एवं आत्म-सन्तोष की तीन विभूतियाँ ही मनुष्य जीवन की सफलता सिद्ध करने वाले प्रतीक चिन्ह हैं। इन तीनों को प्राप्त करना मात्र सुसंस्कारी प्रतिभाओं के लिए ही सम्भव होता है। शेष तो मकड़ी का जाला बुनते और उसी में उलझते, रोते, कलपते रहते हैं।

सांसारिक क्षेत्र में सफलताएँ पाने वाले भी उस स्तर की विशेषताएँ अपने अभ्यास में समाविष्ट किए रहते हैं, जो उन प्रयोजनों के लिए आवश्यक हैं। ठगी, चोरी करने वाले अपराधी, आतंकवादी तक अपने ढंग की चतुराई में प्रवीण होते हैं। डाकू, हत्यारा बनने के लिए दुर्दान्त साहस चाहिए। व्यवसाय में लाभ कमाने वाले उतने ही होते हैं, जो उस प्रयोजन में काम आने वाले श्रम मनोयोग को संजोये रहते हैं। इसके अभाव में घाटा होने और दिवालिया बनने की शिकायत आए दिन देखने को मिलती रहती है।

व्यवस्था, बुद्धि और दूरदर्शिता रहने पर ही नेतृत्व करने का अवसर मिल सकता है। परीक्षा में अच्छे नम्बरों से वे ही उत्तीर्ण होते हैं जो अध्ययन में तन्मयता नियोजित किए होते हैं। स्वस्थता और वलिष्ठता संयमी लोगों के ही भाग्य में बदी होती हैं। अपव्यय से बचने वाले ही धनी हो सकते हैं। हर क्षेत्र में सफलताएँ प्राप्त करने वालों के सौभाग्य का कारण ढूँढ़ा जाय तो एक ही निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि उन्होंने अपने स्तर की विशेषताएँ मनोयोगपूर्वक अर्जित कीं, फलतः सहयोगियों की सहायता से वे क्रमशः आगे बढ़े और सफलता के उच्च शिखर तक पहुँचे।

बात चाहे सामान्य जीवन की सुख-शान्ति की हो, चाहे विशिष्ट सफलताओं की, हर हालत में उन स्तर की विशेषताओं की आवश्यकता पड़ेगी। असफल, पिछड़े, तिरस्कृत और संकटग्रस्त लोगों में कई तो दैवी दुर्विपाक के सताए हुए भी हो सकते हैं, पर अधिकांश के स्वभाव में छिछोरापन भरा पाया जायेगा। दुर्गुणी ही विपत्ति में फँसते हैं। आलसी ही पराजित होते हैं, साहस हीनों को पराभव का मुँह देखना पड़ता है।

यों कहने को तो सर्वत्र बेरोजगारी का ही दौर दीखता है। अनेकों नौकरी के लिए भटकते और रोजगार के लिए तरसते देखे जाते हैं, किन्तु यथार्थता यह है कि हर क्षेत्र में अभी भी असंख्यों के खप जाने की गुंजाइश और माँग है। कुशलता और पुरुषार्थ परायणता रहने पर कोई भी निठल्ला नहीं रह सकता। एक नहीं तो दूसरा काम मिल सकता है। हर क्षेत्र में सुयोग्यों और सज्जनों की भारी माँग है। बेरोजगारी—आलस-प्रमाद और अहंकार के समन्वय का ही नाम है। अन्यथा हर पराक्रमी, हर स्थिति में अपना और आश्रितों का पेट भरने से लेकर अन्यान्य जिम्मेदारियाँ निभाने में भली प्रकार सफल हो सकता है।

प्रगति और अवगति का चक्र व्यक्तित्व की धुरी पर भ्रमण करता है। आन्तरिक पिछड़ापन ही बाह्य जीवन में दरिद्रता और अवमानना का त्रास सहता है। जिन्हें अभ्युदय और उत्कर्ष से अभिरुचि हो, जो श्रेय, सम्मान और सन्तोष चाहते हों, उनके लिए सुनिश्चित राजमार्ग एक ही है कि वे व्यक्तित्व को परिष्कृत करने पर अपना पूरा ध्यान एकत्रित करें। स्वभाव और व्यवहार में घुसी हुई अवांछनीयताओं को ध्यानपूर्वक खोजें और उन्हें उखाड़कर मान्यताओ और आदतों की नये सिरे से स्थापना करने का प्रयास करें। यह एक दिन का काम नहीं है। जोश दिखाने, प्रतिज्ञा करने भर से यह प्रयोजन पूरा नहीं होता। आदतें ऐसी ढीठ होती हैं कि प्रतिरोध

का दबाव जरा सा ढीला होने पर उभर कर फिर ऊपर आ जाती हैं और सुधार मनोरथ को आँधी-तूफान की तरह हावी होकर उखाड़ फेंकती हैं । बार-बार ऐसी असफलता मिलने पर तो हिम्मत ही टूट जाती है और सुधार प्रयत्नों से निराश होकर पुराने ढर्रे पर ही विवशतापूर्वक घिसटना पड़ता है ।

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या उत्कृष्ट चिन्तन उपलब्ध होने से जीवन-क्रम बदलने और प्रतिभा उभरने का लाभ नहीं मिलता ? इसके उत्तर में बीज, फसल और खाद पानी का उदाहरण देना होगा । उसकी आवश्यकता अपरिहार्य है । वह न हो तो अंकुर उगने से लेकर फल उगने तक का आधार ही नहीं बनता । इस अभाव में तो पूर्ण अवरोध ही बना रहेगा । इतने पर भी यह भुला नहीं दिया जाना चाहिए कि इस प्रसंग में खाद, पानी की आवश्यकता भी रहेगी । उसके अभाव में बोया हुआ बीज अंकुर भर बन सकता है । परिपुष्ट पौधे की स्थिति में नहीं पहुँच सकता । व्यक्तित्व के विकास का जहाँ तक सम्बन्ध है वहाँ उसके लिए प्रेरणाप्रद वातावरण की अनिवार्य आवश्यकता मानी गई है । इसका प्रबन्ध न हो सके तो दोष चाहे बोने वाले को दिया जाय या काटने वाले को, आवश्यक फसल काटने का अवसर तो नहीं ही मिलेगा । विचारणा चाहे भली हो या बुरी अनुकूल वातावरण में ही पलती और फलती है । इसके अभाव में हर प्रयत्न मुरझाता और सूखता दृष्टिगोचर होगा, भले ही वह अच्छा हो या बुरा । सत्संग और कुसंग की जो महिमा बतायी जाती है, उसे मात्र व्यक्ति विशेष के सम्पर्क तक सीमित न माना जाय, वरन् उसका अर्थ वातावरण से लगाया जाय । वातावरण में ही प्रभावित करने की वास्तविक क्षमता है ।

मनुष्य का चिन्तन और व्यवहार, वातावरण बनाता है । वातावरण से क्रिया पद्धति को दिशा मिलती है । गतिशीलता ही परिस्थिति बनाती है और परिस्थिति में फँसे हुए व्यक्ति सुखी या दुःखी रहते हैं । जिस क्षेत्र के निवासी जिस स्तर का जीवन-यापन करते हैं वहाँ की सामाजिक स्थिति भी तदनुरूप बन जाती है । पतन भी इसी क्रम से होता है और उत्थान की रीति-नीति भी यही है । सामान्य प्रवाह को किसी विशेषता से सम्पन्न करना हो तो वैसा वातावरण बनाना पड़ता है ।

सैनिक छावनियों में रह कर ही योद्धा बनते हैं । होटलों में रखकर उन्हें वैसा नहीं बनाया जा सकता है । सन्तों को आश्रम पद्धति के शिकंजों में कसा हुआ रहना पड़ता है । साधकों के लिए आरण्यकों का निवास अनिवार्य है । उपयुक्त वातावरण में ही स्वभाव बदलने एवं ढाँचे में ढलने का अवसर मिलता है । कलमी पेड़ कुशल माली की देख-रेख में, साधन सम्पन्न उद्यान में फलते हैं । जंगलों में उगने वाले पेड़ों-झाड़ियों के रूप में वे अनगढ़ ही बने रहते हैं । मनुष्य के मनोबल की गरिमा असंदिग्ध है, पर उसे निखारने का श्रेय वातावरण को ही मिलता है ।

सुसंस्कृत परिवारों को नर-रत्नों की खदान बताया गया है । परिवार का तात्पर्य एक प्रचलन एवं व्यवस्था क्रम ही है । उसी को वातावरण कहते हैं । इसी में अविकसितों को विकसित होने का अवसर मिलता है । घर-परिवार की तरह ही आदर्शवादी परिवारों की महत्ता है । उसमें विकसितों को परिष्कृत और परिष्कृतों को विशिष्ट बनने का अवसर है । वातावरण का प्रभाव इतना बड़ा तथ्य है कि उससे न तो इन्कार किया जा सकता है और न उसकी उपेक्षा करके किसी महत्त्वपूर्ण भूमिका का सम्पादन कर सकने जैसा व्यक्तित्व ढलता है ।

युग निर्माण परिवार के परिजनों को उपयोगी प्रतिपादन की तरह ही यदि प्रेरणाप्रद वातावरण भी मिला होता, तो निश्चय ही उसका प्रभाव चमत्कारी रहा होता । सम्पन्न लोग अपने छोटे बच्चों को पाँच सौ रुपये मासिक खर्च वाले पब्लिक स्कूलों में पढ़ने भेजते हैं, जबकि वहाँ भी ग्रामीण स्कूलों की तरह ही प्राथमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम रहता है, पूछने पर वे अभिभावक एक ही बात कहेंगे कि उन महँगे स्कूलों में वातावरण ऐसा होता है, जिसमें बालकों में सभ्य व्यवहार की आदत पड़ सके । वातावरण की प्रभावी शक्ति को असंदिग्ध रूप से स्वीकार करना पड़ता है ।

देवता स्वर्ग में रहते हैं, इसलिए उनकी गरिमा अक्षुण्ण बनी रहती है, यदि उन्हें नारकीय वातावरण में रहना पड़े तो निश्चय ही उनमें से अनेकों की आदतें बदल जायेंगी और साधारण लोगों जैसी बुरी आदतों से वे भी भर जायेंगे । प्राचीनकाल में बालकों का शिक्षण ऋषियों के गुरुकुलों में होता था और वे नर-रत्न बनकर निकलते थे । वयस्कों को तीर्थवास में, अधेड़ों

को आरण्यकों में चिरकाल तक निवास करना पड़ता था, ताकि वे परिवार के अनगढ़ वातावरण से प्रथक होकर कुछ समय प्रेरणाप्रद परिस्थितियों में रह सकें। वानप्रस्थों की शिक्षा साधना आरण्यकों में चलती थी। यों गुरुकुलों और आरण्यकों के कोर्स को प्राइवेट पढ़कर गैस पेपरों के सहारे अथवा पत्राचार विद्यालय में भर्ती होकर भी पूरा किया जा सकता है। ट्यूटर निर्धारित पाठ्यक्रम का अभ्यास करा सकते हैं और सरलतापूर्वक पास होने का अवसर मिल सकता है। इतने पर भी छात्रों को वह लाभ नहीं मिल सकता जो, उन शिक्षण संस्थाओं के साथ जुड़े हुए विशिष्ट वातावरण में सन्निहित रहता था।

अखण्ड-ज्योति परिजनों को एकाकी सौभाग्य मिल सका। उनको उपयोगी प्रेरणाएँ तो सत्साहित्य के माध्यम से मिलीं, किन्तु जो पढ़ा उसे व्यवहार में उतारने के लिए सहयोगी वातावरण न मिल सका। फलतः उस अध्ययन का लाभ, चिन्तन का स्तर उठाने तक सीमित बनकर रह गया। घर, गाँव और मुहल्ले का, सम्बन्धियों और कुटुम्बियों का समुदाय भी ऐसा नहीं रहा, जिसमें सुसंस्कारिता गहराई तक भरी होती। ऐसी दशा में उपयोगी अध्ययन अपने जीवन्त होने का प्रमाण चिन्तन को ऊँचाई देकर समाप्त हो गया।

कभी-कभी, कोई-कोई मनस्वी ऐसे भी होते हैं जो बिना दूसरों का सहारा लिए निज बलबूते ही अपने को उठाते और उछालते हैं। स्वनिर्मित व्यक्तित्वों की भी संसार में कमी नहीं, किन्तु यह अपवाद है। आमतौर से मनुष्य वातावरण में ढलते हैं। यों कोई तेजस्वी सामान्य वातावरण में भी ढलते देखे गए हैं, पर वे जन्मजात प्रतिभावान संचित संस्कारों के धनी ही होते हैं। उन्हें आदर्श तो कहा जा सकता है, उदाहरण नहीं। नदी के प्रवाह में बहते ही अधिक हैं, उसे रोककर बाँध बनाने और नहरों में मोड़ने में सफलता प्राप्त करने वाले तो कोई-कोई होते हैं।

युग निर्माण परिजनों को यदि प्रतिपादन, परामर्श की तरह ही तद्नुरूप वातावरण भी मिल सका होता तो निश्चित रूप से वे वहाँ नहीं होते, जहाँ गतिरोध उन्हें रोके खड़ा है। चिन्तन में उत्कृष्टता का महत्त्व कम नहीं, पर तथ्य यह भी है कि यदि किसी को असामान्य बनाना हो तो तदनुरूप वातावरण उपलब्ध करने की व्यवस्था की जानी चाहिए। इसी अभाव की यह दुःखद परिणति है कि परिजन सामान्य स्तर के बने और सामान्य स्थिति में पड़े हुए हैं। यदि स्थिति ऐसी न होती, अवसर मिलता तो पूछने-बताने की आवश्यकता न पड़ती कि परिजनों के इतने बड़े समुदाय में मात्र सज्जन ही क्यों दिखाई पड़ते हैं। इनमें प्रभावित करने वाले नेतृत्व की क्षमता क्यों नहीं है? यों सृजन शिल्पियों का एक बड़ा समुदाय भी इसी परिवार में से निकला है, तो भी परिजनों की संख्या और उनमें से उभरी हुई उच्चस्तरीय प्रतिभाओं की संगति मिलायी जाती है, तो स्थिति निराशाजनक ही दीखती है।

होना यह चाहिए था कि प्रेरणाप्रद वातावरण का प्रबन्ध होता और उसमें परिजनों को रुकने, बसने का अवसर मिलता। यदि यह प्रबन्ध किया जा सका होता तो अखण्ड-ज्योति की खदान से इतने नर-रत्न निकले होते जिनकी जगमगाहट से अगणित चहरे दमकते और उनके प्रभाव से असंख्यों व्यक्तित्व उभरते, उछलते दृष्टिगोचर होते हैं।

भूतकाल में गुरुकुलों और आरण्यकों ने विश्व मानव को, नर-रत्नों का वजस्र उपहार दिया है। इतिहास भारतीय गरिमा का ऋणी है, जिसने संसार के कोने-कोने में अभ्युदय और उत्कर्ष के लिए भागीरथ जैसे प्रयास और दधीच जैसे अनुदान प्रस्तुत किए। इस देश के सामान्य नागरिकों को देव संज्ञा प्राप्त थी। उत्कृष्ट जीवन और आदर्श क्रिया-कलाप अपनाने वाले नर-नारायणों की पृष्ठभूमि स्वर्गादपि गरीयसी कहलाती थी। इस गरिमा का विशाल रूप जनसाधारण ने जिस भी रूप में देखा हो और परखने वालों ने जो भी निष्कर्ष निकाला हो, पर वास्तविकता इतनी ही है कि धरती पर बिखरे पड़े और मानवी कार्यों में परिलक्षित होने वाले देवत्व का उपार्जन उत्पादन गुरुकुलों और आरण्यकों में ही होता था। वे ही नर्सरी, खदान और फैक्टरी की भूमिका निभाते थे। यह विद्यालय नहीं थे। उनमें पढ़ाई भर नहीं होती थी; ढलाई उनका प्रमुख प्रयोजन था। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए पाठ्यक्रमों को गौण और वातावरण को प्रमुखता दी जाती थी। अध्ययन से मनुष्य सीखता है, वातावरण से ढलता है। पढ़ाई से जानकारी मिलती है और

वातावरण से प्रतिभा उभरती है । व्यक्तित्व ढालने के जितने उपाय हैं, वे सभी एकांगी और संदिग्ध हैं । सुनिश्चित उपचार एक है कि सुसंस्कृत वातावरण में रहने का ऐसा अवसर मिले जिससे जो बनना है, उसके अतिरिक्त प्रयत्न न करना पड़े । अनुकरण करने, ढर्रे में लुढ़कने और अनुशासन पालने भर से चिन्तन और चरित्र में परिवर्तन होता चला जाय ।

प्राचीन काल में यही प्रक्रिया अपनाई गई थी । बालकों को गुरुकुलों में, प्रौढ़ों को आरण्यकों में अधिक समय रहने और सीखने तथा ढलने का अवसर मिलता था । तीर्थ कल्प के माध्यम से व्यस्त लोग कुछ समय के लिए वातावरण बदलने और देव जीवन की प्रेरणा लेने जाते थे । स्वास्थ्य गड़बड़ाने पर जलवायु बदलने के लिए लोग किसी उपयुक्त स्थान पर चले जाते हैं और कुछ दिन वहाँ निवास करने का लाभ लेकर लौटते हैं । प्राचीनकाल में तीर्थ सेवन द्वारा मानसिक स्वास्थ्य सुधारने, दृष्टिकोण एवं जीवन-क्रम में परिवर्तन लाने की प्रक्रिया को पूर्ण करते थे ।

समय की माँग है कि युग निर्माण परिवार के देव परिजनों को मात्र उत्कृष्ट स्वाध्याय का अवसर न मिले, वरन् उस वातावरण में रहने की भी सुविधा हो जो व्यक्तित्व को आदर्शवादी, आध्यात्मवादी ढाँचे में ढालने के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है । समय की माँग नव-सृजन के लिए अपने आदर्श उपस्थित करने वाले और जनसमुदाय का नेतृत्व कर सकने योग्य प्रतिभाओं का उत्पादन प्रचुर परिमाण में करने की है । उसकी पूर्ति के लिए गायत्री नगर का ढाँचा खड़ा किया गया है, इसमें गुरुकुल, आरण्यक और तीर्थ कल्प तीनों ही दिव्यधाराओं का समन्वय किया गया है । इस त्रिवेणी में अवगाहन करने के लिए जागरूक प्राणवानों को, प्रखर परिजनों को, आग्रहपूर्वक आमन्त्रित किया गया है ।

## नवयुग अवतरण की प्रयोगशाला

इस तथ्य के प्रतिपादन और प्रकटीकरण में अधिक कुछ करने बताने की आवश्यकता नहीं है कि उत्कृष्ट चिन्तन को आदर्श चरित्र में विकसित होने के लिए तदनुरूप वातावरण की नितान्त आवश्यकता है । इसके अभाव में व्यक्तित्व निर्माण की आवश्यकता किसी भी प्रकार पूरी नहीं होती ? प्रश्न उठता है कि इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए क्या किया जाय ? सीधा-सा उत्तर है, उपयुक्त वातावरण की तलाश और उसमें लम्बे समय तक रहने का प्रयास । यह अभीष्ट सफलता का सरलतम मार्ग है, किन्तु कठिनाई यह है कि इन दिनों और सब कुछ सुलभ है, पर उच्चस्तरीय वातावरण का एक प्रकार से सर्वदा अभाव ही दीखता है । साधन और चातुर्य बढ़ जाने से ढकोसला किसी भी स्तर का खड़ा किया जा सकता है, पर प्राण तो वास्तविकता में होता है । उसके अभाव में वह क्षमता उत्पन्न ही नहीं होती जो अन्तराल को प्रभावित करने और व्यक्तित्व को बदलने के लिये आवश्यक है । अपने समय की महती आवश्यकता प्रखरता सम्पन्न व्यक्तियों की है । स्वार्थ सिद्धि की दृष्टि से भी यह नितान्त आवश्यक है । परमार्थ तो इसके बिना हो ही नहीं सकता । वैयक्तिक प्रगति के लिए प्रतिभा चाहिए । आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक, पारिवारिक, राष्ट्रीय प्रगति के लिए कुछ कहने लायक योगदान दे सकने योग्य वे ही हो सके हैं, जिनकी निजी क्षमता में गुण, कर्म, स्वभाव की वरिष्ठता विद्यमान हो । इसके अभाव में तो भीड़ बढ़ाने वाले नर-पशुओं की संख्या में वृद्धि ही होती चली जाती है । धरती का भार बढ़ाने वाले, अपने और दूसरों के लिए समस्याएँ उत्पन्न करने वालों की कहीं भी कमी नहीं है । आवश्यकता ऐसों की है जो अपने पैरों पर स्वयं ही मजबूती से खड़े न हों, वरन् दूसरों को भी सहारा देने, ऊँचा उठाने, आगे बढ़ाने और पार लगाने में समर्थ हो सकें ।

नीत्से ने 'अतिमानव' की आवश्यकता बतायी थी और कहा था कि संसार को सुव्यवस्थित बनाने में इस उत्पादन की महती आवश्यकता है । हिटलर ने उसका फूहड़ प्रयोग किया था । दृष्टि लड़खड़ा जाने और उद्देश्य में निकृष्टता घुस पड़ने से वह देव के स्थान पर दैत्य उत्पन्न करने लगा और विघातक बना तथा बदनाम हुआ । योगी अरविन्द की कल्पना का अतिमानव देव स्तर का है । प्राचीनकाल के देव मानव काया की दृष्टि से मनुष्य और भावना की दृष्टि से देव थे । उनकी सहज स्वाभाविक गतिविधियों ने जन्म भूमि स्वर्गोपम बनाई थी । इन चन्दन वृक्षों ने समस्त विश्व उद्यान को सुगन्ध और सौन्दर्य से भर दिया था । नव युग में जिस उपार्जन, उत्पादन की निर्माण उत्थान की

चर्चा है, उसमें सदाशयता सम्पन्न, प्रखर और कुशल व्यक्तित्व का निर्माण ही प्रथम है । उन्हीं के सहारे प्रगति के अनेकानेक प्रयोजन को सही रीति से, सही दिशा में अग्रगामी बनाया जाना सम्भव हो सकेगा ।

यह महान प्रयोजन प्राणवान प्रतिभाओं के अतिरिक्त अन्य किसी से पूरा नहीं हो सकेगा । नवयुग का सृजन जागृत और प्रखर व्यक्तित्वों के माध्यम से ही सम्भव है । उसके लिए प्रखर चिन्तन आवश्यक तो है, पर वही पर्याप्त नहीं है । उसमें प्रौढ़ता और परिपक्वता तभी आती है, जब उस स्तर की गतिविधियों को क्रियान्वित करने का अवसर भी नियमित रूप से मिलता रहे । गायत्री नगर बनाने का संकल्प इसी दृष्टि से उठा कि धरती पर स्वर्ग के अवतरण का स्वप्न छोटे रूप में साकार करके दिखाया जाय । भावी सम्भावनाओं का अनुमान लगाने के लिए वर्तमान में भी कुछ प्रतीक चिन्ह तो खड़े करने ही पड़ते है । इमारतें बनाने से पूर्व उनके नक्शे बनते हैं । मूर्तियाँ गढ़ी जाने से पूर्व उनके मॉडल खड़े होते हैं । देवताओं का स्वर्ग पहले इसी अपनी भारत भूमि पर बिखरी हुई स्वर्णिम परिस्थितियों में प्रतिभाषित होता था । उसे देखकर लोग उससे भी ऊँची परिस्थितियों का अनुमान लगाते थे और मरणोत्तर जीवन आने पर वहीं पहुँचने का स्वप्न देखते थे ।

घर परिवारों को स्वर्ग का छोटा प्रतीक प्रतिनिधि माना जाता था । उसमें भावनात्मक षट्रस व्यंजन मिलते है । छोटे-बड़े, नर-नारी, समर्थ, अविकसित मिल-जुलकर एक गुलदस्ता बनाते थे और उनके संयुक्त अस्तित्व से आनन्द के निर्झर झरते थे । दीवार, छप्पर भी इन्हीं दिनों जैसे होते थे । चूल्हा-चक्की, बुहारी-चारपाई भी इन दिनों जैसे होते थे, पर उनमें व्यवस्था और सुसज्जा की ऐसी कलाकारिता समाई होती थी कि उस आश्रम में पलने वाले स्वर्ग का पूर्णाभास पाते और मोद मनाते थे । जहाँ श्रमशीलता और व्यवस्था रहेगी वहाँ दरिद्रता क्यों कर प्रवेश करेगी ? जहाँ आपाधापी नहीं वहाँ मनोमालिन्य किस बात का ? जहाँ दुष्टता नहीं वहाँ विग्रह क्यों ? जिन कारणों से नरक पनपता है उनकी जड़ ही न जमने पाये तो असन्तोष और विक्षोभ कैसा ? भारतीय परिवारो मे आतिथ्य पाने वाले, विदेशी तक अपने भाग्य को सराहते थे । वहाँ क्या खाया-पीया यह तो छोटी-सी बात थी, क्या देखा और क्या अनुभव किया इसी की स्मृति उनके मानस पटल पर आजीवन छाई रहती थी । ऐसे थे भारतीय परिवार । उन्ही का संयुक्त रूप अपने देश की धरती पर बिखरा पड़ा था । फलतः उसे जन-जन द्वारा 'स्वर्गादपि गरीयसी' की मान्यता और प्रतिष्ठा मिली थी ।

नव-निर्माण मिशन ने अपने लक्ष्य को दो स्वरूपों में चरितार्थ करने की सम्भावना घोषित की है । एक धरती पर स्वर्ग का अवतरण, दूसरा मनुष्य में देवत्व का उदय । यह दो आधार, दो पृथक इकाइयाँ नहीं वरन् एक ही तथ्य के दो पहलू हैं । जहाँ लोगों की मनःस्थिति मे देवत्व की उत्कृष्टता भरी होगी, वहाँ व्यवहार में स्नेह, सहयोग, सृजन, सौन्दर्य की हलचलें दृष्टिगोचर होंगी । दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि जहाँ स्वर्गीय वातावरण होगा वहाँ उस प्रभाव से प्रभावित व्यक्ति देवत्व का आचरण करते हैं, देवों जैसा दृष्टिकोण अपनाते पाये जायेंगे । देवताओं की निवास भूमि को स्वर्ग कहते हैं । जितना यह कथन सत्य है उतना ही यह भी तथ्य है कि स्वर्गीय वातावरण में रहने वाले देवत्व से ही भरते चले जायेंगे ।

यह प्रतिपादन किस हद तक सही है ? सामान्यतः इसे हर व्यक्ति जानना चाहेगा, जो व्यवहार में दृष्टिगोचर होता है, कौतूहल उसी का होता है । जादू उस प्रस्तुतीकरण को कहते हैं, जो सामान्यतः देखा नहीं जाता । सिद्धियाँ उन विशेषताओं को कहते है जो हर किसी में दृष्टिगोचर नहीं होतीं । देवता आलौकिक होते है । स्वर्ग धरती से बहुत ऊपर है । इन समस्त प्रतिपादनों से एक ही ध्वनि निकलती है कि जिस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए युग निर्माण मिशन के प्रयास चल रहे हैं, वह सामान्य जन-जीवन से ऊँची स्थिति है ।

धरातल पर सहगमन एक जैसा होता है । मनुष्य दो पैरों से और पशु चार पैरों से चलते है, पर पक्षी आकाश मे उड़ते हैं । चलने और उड़ने का अन्तर स्पष्ट है । इसी प्रकार लोक-व्यवहार और आदर्शवादी अनुशासन में भी भिन्नता रहेगी । आस्थाओं और चेष्टाओं में उत्कृष्टता की मात्रा बढ़ जाने को ही आध्यात्म की भाषा में उत्कर्ष या अभ्युदय कहते हैं ।

सम्पदाओं को वैभव कहते हैं । वैभव कोई भी कमा सकता है; चोर भी । वह उत्तराधिकार, लाटरी में या भाग्यवश अनायास भी मिल सकता है, किन्तु अभ्युदय तो हर व्यक्ति का निजी उपार्जन है । रोटी स्वयं खाई, स्वयं पचाई जाती है, काया को जीवनी शक्ति उसी से प्राप्त होती है । दूसरों के खाने-पचाने *से अपने शरीर में रक्त माँस नहीं बढ़ता है । इसी* प्रकार देवत्व और अभ्युदय के लिए वैयक्तिक प्रयास से परिशोधन और अभिवर्धन का क्रम चलता है । इसी राजमार्ग पर एक-एक कदम चलते हुए जीवन लक्ष्य तक पहुँचना सम्भव होता है । यही है देवत्व की उपलब्धि का स्वरूप । उसे प्राप्त करने में यों आवश्यक तो मार्गदर्शन भी होता है, पर वस्तुतः काम वातावरण से बनता है ।

अनुगमन की प्रेरणा प्रभावी प्रतिपादन से नहीं प्रस्तुत उदाहरण से मिलती है । उत्कृष्टता के उदाहरण जहाँ देखे जा सकें, उसी को देव वातावरण कहते हैं । *इसकी व्यवस्था जहाँ बनी, समझना चाहिए कि* सम्भावनाओं के प्रत्यक्ष होने का साधन बन गया ।

नव युग में चिन्तन किस स्तर का होगा, उसकी झाँकी करने और उसे लोक मानस में जमाने के लिए अखण्ड ज्योति ने लम्बे समय से प्रयास किया है । प्रतिपादनों के पीछे जुड़े हुए तथ्य और सत्य ने हर विचारवान को प्रभावित और प्रेरित किया है । चिन्तन का प्रवाह मोड़ने में उस प्रयास को उत्साहवर्धक ही नहीं, आशातीत कही जाने वाली सफलता भी मिली है । इतने पर भी उसका प्रत्यक्ष प्रतिफल दृष्टिगोचर नहीं हो सका । चिन्तन चरित्र में नहीं उतारा और देव चिन्तन के रहते हुए भी देवत्व का प्रत्यक्ष अस्तित्व दृष्टिगोचर नहीं हुआ । इस कमी का एक ही कारण है । बीजारोपण के उपरान्त उपयुक्त खाद-पानी का न मिलना ।

आदर्शवादी प्रतिपादनों को बीजारोपण से अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता । यह आवश्यक तो है पर समग्र नहीं । स्वाध्याय और सत्संग का महत्त्व एक पक्षीय है । बात आचरण से बनती है और उसके लिए अनिवार्य रूप से वातावरण चाहिए । उद्यान लगाने वाले सिंचाई, रखवाली, माली आदि की समस्त व्यवस्थाएँ बनाते हैं । अन्यथा अपने आप तो जंगलों में झाड़-झंखाड़ ही उगते-बढ़ते हैं । अनगढ़ता सर्वत्र है । सुसंस्कारिता के लिए तो नियोजन और अनुशासन को निरन्तर अपनाये रहना पड़ता है । उद्यान लगाना *और परिवार बसाना एक ही प्रक्रिया के दो प्रयोग हैं ।*

'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उद्घोष बनाये रहने से काम नहीं चलेगा । इस मधुर कल्पना को कब तक रखे रहा जायेगा ? स्वप्नों के कल्पना चित्र भी छाप छोड़ते और सम्वेदना उभारते देखे जाते हैं, पर वे प्रत्यक्ष में न उतरने के कारण अविश्वस्त और निरर्थक समझे जाते हैं । वसुधैव कुटुम्बकम् के महान आदर्श मे ही उज्ज्वल भविष्य की सम्भावनाएँ सन्निहित हैं । एकता और ममता के ईंट-गारे से ही नवयुग का भवन चुना जायेगा । अस्तु उस प्रतिपादन को प्रत्यक्ष करना होगा । योजनाएँ भी दिवास्वप्न ही होती हैं । उनमें *अन्तर इतना ही रहता है कि उपलब्धि के लिए साधन* जुटाने की सम्भावनाओं को जुड़ा रखते हैं, जबकि स्वप्नो में वैसा कुछ नहीं होता । वसुधैव कुटुम्बकम् के स्वप्न चिरकाल से देखे जाते रहे और उनकी पूर्ति में उज्ज्वल भविष्य का रंगीन चित्र दर्शाया जाता रहा है । अब एक कदम आगे बढ़ने की आवश्यकता है । रात्रि स्वप्नों और दिवा स्वप्नों में जो अन्तर होता है उसे समझा जाना चाहिए । रात्रि स्वप्न कल्पना क्षेत्र में अविज्ञात से आते और अनन्त की ओर उड़ते चले जाते हैं । उनके सिर पैर नहीं होते । किन्तु दिवा स्वप्नो के पीछे कार्य कारण की सगति होती है । उनके पीछे क्रमबद्ध योजना बनती और साधन जुटाने की तत्परता रहती है । 'वसुधैव कुटुम्बकम' की आदर्शवादिता को अब स्वप्न लोक से नीचे लाने और व्यवहार में उतरने का समय आ गया ।

गुरुकुलो, आरण्यको और तीर्थ कल्पों की गरिमा-गाथा का बखान यदि सच्चे मन से होता है तो उसमें एक कड़ी और जुड़नी चाहिए उस त्रिवेणी के पुनर्जागरण की, पुनर्जीवन की । गंगा का अस्तित्व तो पहले भी था, पर था वह स्वर्गलोक में । उसे प्रयत्नपूर्वक भागीरथ ने धरती पर उतारा । मनुष्यों को देवत्व के वरदान उपहार से लदे रहने वाली यह त्रिवेणी रूठकर दमयन्ती को लादे अपने पितृगृह चली गई है । अथवा यों कहना चाहिए कि सीता की तरह अपहृत कर ली गई है । जो भी हो उसे वापिस लाया जाना चाहिए ।

मानवी काया में शैतान भी रहता है भगवान भी । परिस्थितियाँ उसे हैवान बनाये रहती हैं, किन्तु अनुकूलता मिलने पर उसका इन्सान भी प्रकट एवं प्रबल हो सकता है । युग सृजन में इसी प्रयास की आवश्यकता है ।

इस दूरदर्शी चिन्तन ने, समय के इसी दबाव ने गायत्री नगर बनाने की प्रेरणा दी । यहाँ बसने वाले देव परिवार के पीछे जिसने महान सम्भावना को देखा-समझा है, उन्हें यह बनावट नई बस्ती बसने जैसी नहीं लगी वरन् उसमें युग सृजन की एक दूरगामी सम्भावना झांकती, मुस्कराती दृष्टिगोचर हुई है । जिनको उपयुक्त वातावरण में रहकर परिष्कृत व्यक्तित्व ढालने की आकांक्षा है, उन्हें देव परिवार में बसने का समाचार दैवी वरदान की तरह प्रतीत हुआ है ।

देवालय, धर्मशाला बनाने की बात न कभी सोची गई और न सोची जा रही है । धनीमानी, यश, लिप्सा या पुण्य लूटने की दृष्टि से इस प्रकार के भवन बनाते ही रहते है । जितनी तेजी से, जितनी संख्या और जितनी विशालता के साथ वे बन रहे हैं, उन्हें देखते हुए कई बार तो यहाँ तक सोचना पड़ता है कि वस्तुतः इनकी आवश्यकता है भी या नहीं ? कहीं निर्माण सामग्री और भूमि का अपव्यय तो नहीं हो रहा है ? गायत्री नगर बनाते समय इस प्रकार का अन्धानुकरण कभी कल्पना में भी नहीं आया, उसके पीछे एक सुनिश्चित योजना रही है । इसी प्रेरणा से इसके साधन जुटाने में ऐड़ी-चोटी का श्रम किया गया है ।

भाव सम्पन्नों को दिशाधारा दे सकने योग्य वातावरण बनाने की दृष्टि से ही इस निर्माण को हाथ मे लिया गया । उसका ढाँचा खड़ा होने पर अब दूसरा कदम उठाना है—देव परिवार बसाने का । युग मंच से एक गीत आरम्भ से ही गाया जाता रहा है—

नया संसार बनायेंगे, नया इन्सान बनायेंगे ।
नया भगवान बनायेंगे, नया परिवार बसायेंगे ॥

युग सृजन के पीछे इसी तत्व दर्शन को क्रियान्वित करने की आकांक्षाएँ उफनती और छोटी बड़ी योजनाएँ बनती आयी हैं । अब वह समय आ गया कि उन्हे साकार और गतिशील बनाया जाय ।

गायत्री नगर में क्या किया जाना है ? इसके सम्बन्ध में संक्षेप में यह समझा जा सकता है कि उसे युगशिल्पियों का प्रशिक्षण स्थान बनाना है । बौद्ध विहारों और संघाराम जैसा । बुद्ध के 'धर्म चक्र प्रवर्तन' अभियान में प्रशिक्षण के लिए विहार और नियोजन के लिए संघाराम बने थे । उतने विशाल निर्माणों का अवसर तो नहीं मिला, पर गायत्री तपोभूमि को संघाराम एवं गायत्री नगर को बुद्ध विहार के अनुकरण कर सकने योग्य बनाया गया है ।

युगशिल्पी बारी-बारी से यहाँ आते रहे और आत्म-निर्माण तथा लोक-निर्माण की उभयपक्षीय प्रक्रिया को क्रियान्वित करने का अभ्यास करते रहे । ऐसी पाठ्य विधि बनाई गई है । एक-एक महीने के साधना एवं शिक्षण के बहुमुखी प्रशिक्षण सूत्र यहाँ चलते रहेंगे, जो अधिक समय ठहरना चाहेंगे, उसके लिए वैसी सुविधा भी रहेगी । युग सृजन बड़ा काम है । उसकी जटिलताओं को देखते हुए तदनुरूप प्रशिक्षण नितान्त आवश्यक है । डॉक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर, वैज्ञानिक, कलाकार आदि को अपने विषय में पारंगत होने के लिए कई-कई वर्ष का प्रशिक्षण एवं अनुभव प्राप्त करना पड़ता है तो कोई कारण नहीं कि युग सृजन के समुद्र मन्थन जैसे महान कार्य को सम्पन्न करने के लिए आवश्यक अनुभव एवं अभ्यास की आवश्यकता न पड़े । गायत्री शक्तिपीठो का चलाना, रेलगाड़ी चलाने से भी अधिक पेचीदा है । संचालकों में स्तरीय प्रवीणता न हो तो वह बहुमूल्य प्रयास निरर्थक बनकर रह जायेगा । तथ्य को ध्यान मे रखते हुए, आवश्यकता को समझते हुए, सृजन-शिल्पियों की बहुमुखी शिक्षा व्यवस्था का कार्यक्रम बना है ।

यह प्रत्यक्ष क्रिया-प्रक्रिया हुई । अब इससे भी पहले की बात वह सोचनी है कि छात्रों को पढ़ायेगा कौन ? यह प्रश्न सरल भी है और कठिन भी । सरल इस अर्थ में कि अन्य विद्यालयों की तरह निर्धारित पाठ्यक्रम को पूरा करा देने वाले अध्यापक आसानी से मिल सकते हैं । पेचीदा मशीनों को चलाने, बनाने, सुधारने की कला जब कुछ ही समय में सिखाई जा सकती है, तो युग सृजन जैसी सीधी-सादी पाठ्यविधि को पूरा करने में क्या कठिनाई हो सकती है ? किसी भी अध्यापक स्तर के व्यक्ति को निर्धारित विषयों का अभ्यास कराने और पढ़ाने में प्रवीण किया जा सकता है । इस दृष्टि से यह कार्य नितान्त सरल है ।

कठिन इस अर्थ में कि इस शिक्षण प्रक्रिया में छात्रों के व्यक्तित्व को ढालना भी सम्मिलित है । उनके निजी चिन्तन, स्वभाव एवं क्रिया-कलाप में ऐसा परिवर्तन लाना है कि वे सम्पर्क क्षेत्रों में अन्यायों को ढाल सकने वाले साँचे की भूमिका निभा सकें । 'डाई' से पुर्जे पैन्ट्रल ढलते चले जाते हैं, किन्तु 'डाई' का बनना अत्यन्त कठिन होता है । उसे कुशल कारीगरों के अभ्यस्त हाथ तथा अनुभवी मस्तिष्क ही सही रूप में बना पाते हैं । जो *शिक्षार्थी गायत्री नगर में आयेंगे* उन्हें प्रवक्ता, अध्यापक, बनाना होता तो निश्चय ही यह बहुत सरल था । कला सीखना-सिखाना कठिन नहीं है, पर व्यक्तियों का ढालना, बदलना, हीरा तराशने और खरादने जैसा कठिन है । शिक्षार्थी 'साँचा' और 'डाई' बन सकें तो ही उनके शिक्षण की सार्थकता है अन्यथा आवश्यक जानकारी तो पत्रिकाओं में छपते रहने वाले लेख ही करा देते हैं । उतने भर के लिए किसी को समय और धन खर्च करने की आवश्यकता क्यों पड़े ?

मनुष्य को उत्कृष्टता के ढाँचे में ढालने की कोई मशीन नहीं बनी है । वह कार्य तो प्रेरणाप्रद वातावरण और सुसंस्कारी व्यक्तियों के निजी प्रभाव सम्पर्क से ही सम्भव हो सकता है । नव सृजन के प्रशिक्षण में इसी तथ्य की प्रमुखता रहेगी । अतएव अध्यापक ऐसे होने चाहिए, जो शिक्षार्थियों को जानकारी ही नहीं दें, वरन् उन्हें विकसित, परिष्कृत कराने में, प्रखर प्रतिभाशाली बनाने में भी योगदान दे सकें ।

*विद्यार्थी भर्ती करने से पूर्व अध्यापकों की नियुक्ति* करनी पड़ती है । अन्यथा बिना पढ़ाने वालों का स्कूल तो अनाथालय बन कर रह जायेगा । गायत्री नगर के विद्यालय के अध्यापकों को 'छात्राध्यापक' की दुहरी भूमिका निभानी पड़ेगी । वे स्वयं भी पढ़ेंगे साथ ही दूसरों को भी पढ़ायेंगे । गायत्री नगर में बसने के लिए परिवार के उन प्रबुद्ध परिजनों को आमन्त्रित किया गया है जो आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण की दुहरी शिक्षा-साधना साथ-साथ करने में रुचि रखते हों, जिन्हें सच्चा स्वार्थ साधने और सच्चा परमार्थ करने में उत्साह हो । बड़ी कक्षाओं के छात्रों में से कितने ही ऐसे भी होते हैं जो छोटी कक्षाओं के छात्रों को पढ़ाने की व्यवस्था बनाकर अपना काम चलाते हैं । गायत्री नगर में बसने वाले अपनी वर्तमान स्थिति से ऊँचा उठने के लिए, अपने स्तर की प्रगति करेंगे । साधना, स्वाध्याय, संयम और सेवा की चतुर्विधि आत्मोत्कर्ष प्रक्रिया हर श्रेयार्थी के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है । मात्र भजन अधूरा है । किसान को भूमि, बीज, सिंचाई और रखवाली की चारों व्यवस्थाओं पर समान रूप से ध्यान देना और प्रबन्ध करना पड़ता है । इसी प्रकार से श्रेयार्थी साधना, स्वाध्याय, संयम, सेवा के चारों विधान अपनी दिनचर्या में सम्मिलित करते हैं । यही रीति-नीति उन्हें अपनानी होगी जो गायत्री नगर में निवास करते हुए उसका वातावरण बनाने तथा उससे स्वयं लाभान्वित होने के महत्व को समझते होंगे ।

गायत्री नगर को धरती पर स्वर्ग के अवतरण का एक छोटा नमूना बनाया जा रहा है । उसके निवासी इस प्रयत्न में निरत रहेंगे कि मनुष्य में देवत्व के उदय की सम्भावना को अपने निजी व्यक्तित्व में प्रकट कर सकें । वसुधैव कुटुम्बकम् की आदर्शवादिता को चरितार्थ करने के लिए किन गतिविधियों को अपनाना होगा ? शिक्षार्थियों और निवासियों को लाभान्वित कर सकने वाला प्रेरणाप्रद वातावरण किस प्रकार बन सकता है ? इन्हीं तथ्यों को उजागर करने के लिए गायत्री नगर को *युग चेतना उभारने की एक सशक्त प्रयोगशाला* बनाया जा रहा है । उसे सफल बनाने में छात्रों से भी अधिक योगदान उनका होगा जो, इसमें बसेंगे तथा उपर्युक्त प्रयोजनों की पूर्ति में सतत संलग्न रहेंगे ।

## आत्म-कल्याण और लोक मंगल की समन्वित साधना

जन-मानस के परिष्कार की प्रक्रिया जब प्रौढ़ स्थिति तक पहुँचेगी तो प्रशिक्षण और परिवर्तन का तन्त्र भी मानवी संख्या तथा परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए समर्थ एवं विशाल बनाना पड़ेगा । आरम्भ तो छोटे से ही होता है । अग्नि प्रज्ज्वलन के लिए माचिस या चिंगारी ही अग्रणी होती है । उद्यान, बाद में दृष्टिगोचर होते हैं नर्सरी पहले बनती है । भव्य भवन खड़े होने से पहले उनके नक्शे या मॉडल ही सामने आते हैं । गायत्री नगर की गतिविधियों को नवयुग का शुभारम्भ, श्रीगणेश ही कहना चाहिए ।

धरती पर स्वर्ग का अवतरण सम्भव है या नहीं ? मनुष्य में देवत्व का उदय कोरी कल्पना है या शक्य भी ? इन प्रश्नों का उत्तर वाणी से देने पर किसी का समाधान नहीं होगा । जन-जन को विश्वास दिलाने और उत्साह बढ़ाने के लिए प्रयोगशाला का आश्रय लेना पड़ेगा । परीक्षण और प्रतिफल ही इन दिनों समाधान कारक हो सकते हैं । छद्मों के इस कोलाहल में इतना कुछ कहा, दिखाया गया है कि लोगों को कानों पर विश्वास नहीं रहा । अब प्रामाणिकता की मान्यता आँखों के निर्धारण पर आ टिकी है । ऐसी दशा में विज्ञान को ही प्रयोगशालाओं का आश्रय लेना नहीं पड़ रहा है, वरन् व्यवहार और निर्धारण की प्राथमिकता सिद्ध करने के लिए भी प्रयोगशालाओं की ही शरण में जाना पड़ेगा ।

विश्व परिवार को किस प्रकार का प्रशिक्षण, परिवर्तन, प्रचलन एवं निर्धारण अभीष्ट है, इसके लिए जो प्रतिपादन निर्धारण किए जायें उनका परीक्षण भी कसौटी पर कसा हुआ होना चाहिए, इसी प्रयोजन के लिए गायत्री नगर बना है, अब उसमें देव परिवार बसाया जाना है । देवालयों में यह प्रक्रिया अपनाई जाती है । इमारत बनती है । प्रतिमा गढ़ी जाती है । पूजन वेदी तक पहुँचाई जाती है । इतना सब बन चुकने के उपरान्त ही पण्डितों को प्राण प्रतिष्ठा की उपचार सामग्री लेकर वहाँ पहुँचना होता है । प्राण प्रतिष्ठा का कृत्य हो चुकने के उपरान्त ही प्रतिमा की अर्चना, आराधना आरम्भ होती है । गायत्री नगर को देवालय माना जाय तो देव परिवार को उसकी प्राण प्रतिष्ठा कह सकते हैं ।

होटल, धर्मशाला भरनी हो तो तीर्थस्थानो में जहाँ यात्रियो के लिए सिर छिपाना कठिन पड़ता है वहाँ गायत्री नगर मे भीड़ भरना तनिक भी कठिन नहीं था । इशारा करते ही २४ लाख की बिरादरी अपने लोगों के लिए बने विश्राम स्थल में पर्यटन के निमित्त, विश्राम की सुविधा के निमित्त इस बिना खर्च के सुरम्य आश्रम में भरी ही रहती । कभी कहीं तिल रखने की भी जगह न मिलती, पर वैसा किया जाना नहीं है । धर्मशाला, प्रयोगशाला और पाठशाला मे क्या अन्तर होता है ? यह जानने वाले ही यह समझ सकते हैं कि गायत्री नगर न मुसाफिर खाना है और न सराय । उसका ढाँचा नवयुग के अनुरूप नागरिक ढालने की फैक्ट्री का स्वप्न लेकर ही खड़ा किया गया है । अब उत्पादन आरम्भ होने से पहले कुशल कारीगरों की तलाश हो रही है ।

अगले दिन सामान्य नागरिकों को भी मानसिक आरोग्य लाभ करने के लिए बुलाया जायेगा, पर इससे पहले डॉक्टर, कम्पाउण्डर, ड्रेसर, हैल्पर, नर्स, चौकीदार, सफाईदारों की व्यवस्था होनी आवश्यक है । मरीज घुस पड़े तो, न चिकित्सक हों, न व्यवस्थापक, तब तो सुधार क्या होगा ? पूरा नरक बन जायेगा । प्रीतिभोज के लिए अतिथियों को बुलाने में इतनी कठिनाई नहीं होती, जितनी कि हलवाई तथा खाद्य सामग्री की व्यवस्था बनाने में । गायत्री नगर की प्रशिक्षण प्रक्रिया से लाभ उठाने के लिए आने वालों की कमी नहीं रहेगी । सुसंस्कारिता की आवश्यकता अब समझी जा रही है । इसके बिना हर व्यक्ति भूत और हर घर श्मशान बना हुआ है । सुधार का विश्वास दिलाया जा सके तो अधजले मनुष्य लाखों-करोड़ों की संख्या में शान्ति के आश्रय स्थल में प्रवेश पाना चाहेंगे ।

जहाँ का कथन अविश्वस्त माना और विज्ञापन समझा जाता हो वहाँ की बात दूसरी है, पर जिन प्रवक्ताओं के वचन, ऋचाओ की तरह श्रद्धास्पद माने जाते हों, जहाँ की कथनी करनी में एकता विगत चालीस वर्षों से निरन्तर परखी जाती रही हो, उनका आमन्त्रण न तो अविश्वस्त माना जा सकता है और न उपेक्षणीय । शिक्षार्थियो की न कभी शान्ति कुंज में कमी रही है और न रहेगी । स्थान जैसे-जैसे बढ़ा है, शिक्षार्थी उससे अधिक अनुपात में बढ़ते रहे हैं । स्वीकृति प्राप्त होने पर ही आने का प्रतिबन्ध मात्र इसलिए है कि यहाँ स्थान की सदा कमी पड़ती है । गायत्री नगर बनने के बाद भी वह प्रतिबन्ध जारी रहेगा । इसके पीछे एक ही तथ्य है—आमन्त्रण के पीछे आगन्तुकों का सुनिश्चित हित साधन । इस तथ्य को जब भुक्त-भोगी एक-दूसरे को अपने अनुभव सुनाते हुए बताते है तो, प्रामाणिकता और भी अधिक बढ़ जाती है । फलतः आगन्तुको की, शिक्षार्थियों की कमी नहीं रहती । अब जबकि प्रशिक्षण में उत्कृष्टता और उपयोगिता का अनुपात और भी अधिक बढ़ा दिया

गया है, शिक्षार्थी स्वभावतः बड़ी संख्या में आना चाहेंगे। इसमें सन्देह की तनिक भी गुंजाइश नहीं है।

निर्माण का प्रथम चरण पूरा होते ही उन कुशल कारीगरों की आवश्यकता पड़ रही है जो ढलाई का कारखाना चलाने की, बहुमुखी आवश्यकताएँ पूर्ण कर सकें। यह द्वितीय चरण पूरा होते ही फिर निर्धारित लक्ष्य को पूरा कर सकने वाली गतिविधियों का चल पड़ना सरल हो जायेगा। यह विद्यालय ऐसा नहीं है जिसमें मात्र क्लास चलाने वाले प्रवक्ताओं से काम चल सके। नोट लेने वाले और रटने में लगे रहने वाले छात्र भी तो इस पाठशाला में पढ़ने नहीं आने वाले हैं। ऐसी दशा में प्रवक्ताओं से काम चलने वाला नहीं है, यदि वैसा हो सका तो तलाश की दौड़-धूप करने की तनिक भी आवश्यकता न पड़ती। वे थोड़ा पैसा खर्च करके भी नियुक्त किए जा सकते थे। हर स्तर की प्रतिभाएँ बाजार में मौजूद हैं। मर्जी का माल मिलने में कहीं, किसी को कोई कठिनाई नहीं होती। फिर गायत्री नगर के प्रशिक्षण के लिए उपयुक्त अध्यापक ढूँढ़ना और उन्हें अपनी ड्यूटी पूरी करने योग्य बना देना कुछ भी कठिन न होता, किन्तु बात ऐसी है नहीं। काम व्यक्तियों को ढालने एवं परिष्कृत करने का है। उसके लिए अध्यापक एवं कारीगर भी ऐसे होने चाहिए जो शिक्षार्थियों की तुलना में अधिक प्रवीण एवं प्रामाणिक हों। इस आवश्यकता के पूरी होने पर फिर इस फैक्ट्री के चल पड़ने और उत्पादन का ढेर लगने में कोई कठिनाई शेष नहीं रह जायेगी।

गायत्री नगर में देव परिवार बसने की बात क्यों कही गई? इस आमन्त्रण, आह्वान की आवश्यकता किस लिए पड़ गई? इस आह्वान की पूर्ति में साधक और साध्य दोनों का समान हित साधन है। साधक वे जो इस सृजन सेवा में संलग्न होंगे। साध्य वह जिसे नव सृजन का पुण्य प्रयोजन कह सकते हैं। देव परिवार की तरह गायत्री नगर में बसने वालों से इन दोनों ही प्रयोजनों की पूर्ति भली प्रकार हो सकेगी। जो बसेंगे वे अध्ययन, अध्यापन का, स्वार्थ और परमार्थ के समन्वय का, ढलने और ढालने का दुहरा लाभ प्राप्त कर सकेंगे। ऐसा लाभ जो आज की परिस्थिति में अन्यत्र कदाचित ही कहीं किसी को मिल सके। आत्मोत्कर्ष की ऐसी व्यावहारिक और उच्चस्तरीय व्यवस्था ढूँढ़ने के लिए कोई भटकता कितना ही रहे उपयुक्त स्थान ढूँढ़ सकना सम्भव न हो सकेगा। प्रयोग परीक्षण के लिए जहाँ-तहाँ चासनी चाटने वाले अन्ततः समाधानकारक स्थान गायत्री नगर में ही प्राप्त कर सकेंगे। विवेकवानों को ऐसी सर्वांगीण उपयुक्तता कदाचित ही कहीं मिल सके। भावुक भक्तों की बात दूसरी है, वे कहीं भी रम सकते हैं।

साध्य का हित साधन भी इसी में है कि भावनात्मक दृष्टि से ऊँचे स्तर के लिए अध्यापन का काम करें। स्पष्ट है कि यह अध्यापन वाणी से कम और व्यवहार से अधिक होगा। वातावरण किसी स्थान के निवासियों की गतिविधियों से ही बनता है। इस प्रयास में उच्च शिक्षितों को नहीं, चरित्रवानों की, व्यवहार में उत्कृष्टता बनाये रहने वालों की आवश्यकता पड़ेगी। इस स्तर के व्यक्ति बाजार में नहीं मिल सकते। युग निर्माण मिशन की प्रेरणाओं को जो लम्बे समय से हृदयंगम करते रहे हैं, जिसने उनके प्रतिपादनों का गम्भीरतापूर्वक अवगाहन किया है—वे ऐसा अवसर प्राप्त करने के भी इच्छुक होंगे, जिसमें मान्यताओं की गतिविधियों को, आदतों में सम्मिलित कर सकना सम्भव हो सके। वस्तुतः इस स्तर के लोग ही प्रस्तुत आह्वान को स्वीकार कर सकेंगे और वे ही उपयोगी भी सिद्ध होंगे।

बताया जा चुका है कि गायत्री नगर में बसने वालों को अपनी दिनचर्या में साधना, स्वाध्याय, संयम और सेवा के चारों तत्व समन्वित रखने होंगे। आत्मोत्कर्ष की सच्ची साधना इसी प्रकार सम्भव होती है। मात्र भजन का एकांगी उपक्रम, चेतना को परिष्कृत एवं समुन्नत करने का उद्देश्य पूरा नहीं कर सकता। मार्गदर्शन, प्रचलन और वातावरण की अनुकूलता में ही उच्चस्तरीय साधना क्रम चल सकता है। अटपटी परिस्थितियों में न मन लगता है और न सुनिश्चित क्रम चलता है। जिन्हें मन बहलाने वाली नहीं तत्वतः आत्मिक प्रगति अभीष्ट हो, जिन्हें उसके लिए उचित श्रम साधना करने में आपत्ति न हो वे अभीष्ट लक्ष्य की पूर्ति के लिए गायत्री नगर निवास में समुचित सन्तोष पा सकेंगे। यों पूर्ण तो एक भगवान है। अपूर्णता के अंश तो हर व्यक्ति और हर स्थान में कुछ न कुछ पाये ही जायेंगे।

जिस प्रशिक्षण के लिए गायत्री नगर बनाया गया, उसमें सबसे अधिक प्रभावी तत्व एक ही होगा—प्रेरणाप्रद वातावरण । यह जलवायु पर नहीं, वहाँ के निवासियों की मान्यताओं, भावनाओं और गतिविधियो पर निर्भर है । वातावरण प्राकृतिक दृश्यों को, सुविधा-साधनों को एवं आकर्षक कार्यक्रमों को नहीं कहते । वह दृश्य नहीं अदृश्य होता है । जहाँ के निवासियों के चिन्तन एवं व्यवहार में जितनी उत्कृष्टता घुली रहेगी उसी अनुपात में वहाँ का वातावरण उच्चस्तरीय बनेगा । प्रेरणाएँ उसी से मिलती हैं । उत्कृष्टता की दिशा में चलना, धकेलना एवं उछालना उसी आधार पर सम्भव होता है ।

गाँधी जी के आश्रम में शिक्षार्थी, प्रायः निर्वाह की सामान्य दिनचर्या में ही अपने समय का अधिकांश भाग पूरा करते थे । गुरुकुलों, आरण्यकों में पढ़ाई कम और गढ़ाई अधिक होती थी । गढ़ाई का काम व्यक्ति विशेष इस प्रकार सम्पन्न करते हैं कि उनकी अपनी चेष्टा तथा साथियों की गतिविधियाँ उच्चस्तरीय बनाने में निरन्तर नियोजित रहती हैं । अवांछनीयताओं के परिशोधन का नाम ही उत्कृष्टता है । वह कहीं भण्डार की तरह जमा नहीं होती, वरन् अस्वच्छता से, अव्यवस्था से अहर्निश जूझने के फलस्वरूप पुण्य फल की तरह उपलब्ध होती है । उच्चस्तरीय व्यक्तित्व यही रीति-नीति अपनाते और वातावरण बनाते हैं । कहना न होगा कि इसी ऊर्जा के सहारे अविकसितों को विकसित होने का अवसर मिलता है । प्रेरणा इसी प्रवाह से मिलती है । प्रमुखता परोक्ष की रहती है । प्रत्यक्ष प्रशिक्षण तो दिनचर्या को सही रखने और आवश्यक जानकारी देने भर का प्रयोजन पूरा करता है ।

गायत्री नगर में बसने वाले उपर्युक्त दोनों प्रयोजन पूरे करेंगे । उनकी साधना आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण के दोनों पहियों की प्रगति पथ पर सवार होगी और द्रुत गति से आगे बढ़ेगी । अध्ययन और अध्यापन उभयपक्षीय प्रवृत्तियों में संलग्न रहेंगे । अध्यापन के अनेक प्रकार हैं । लेखन, पत्र-व्यवहार, प्रचार, जन-सम्पर्क, प्रवचन आदि क्रिया-कलापों को इस अध्यापन कार्य के अन्तर्गत ही गिना गया है । शारीरिक श्रम के रूप में की गई अन्यों को प्रेरणा देने वाली गतिविधियाँ भी इस समग्र अध्यापन के अन्तर्गत ही आती हैं । इन बहुमुखी प्रयोजनों को गायत्री नगर में बसने वाले अपनी सुनियोजित दिनचर्या के आधार पर सन्तुलित रूप से करते रहेंगे । फलतः आश्रमवासी तथा शिक्षार्थी दोनों ही एक-दूसरे से समुचित लाभ उठाते रहेंगे । आश्रमवासी शिक्षार्थियों के सहारे अपने कौशल को परिपक्व करेंगे और शिक्षार्थी, आश्रमवासियों से यह सीखेंगे कि शालीनता व्यवहार में किस प्रकार समन्वित रखी जा सकती है ।

गायत्री नगर में बसने के लिए उन्हें बुलाया जा रहा है, जो मात्र सीखने की स्थिति तक सीमित न हों जो सिखा भी सकें । जो पाने के ही इच्छुक न हों कुछ दे भी सके । जिनमें दिन काटने और शान्ति पाने की निराशा ही गंगा तट देह विसर्जन की सलाह न दे रही हो, वरन् जिनमें नव सृजन की पात्रता बढ़ाने और योगदान देने की उत्कण्ठा जीवन्त हो । असफल जीवन से छुटकारे का आश्रय स्थल नहीं, चरम पराक्रम के लिए गायत्री नगर को आधुनिक कुरुक्षेत्र बनाया गया है । जिसमें अर्जुन भी चाहिए और अभिमन्यु भी । अपने को टटोल कर देखें जिनमें जीवन हो वे ही उधर आने की बात सोचें । मृतकों का बोझ यहाँ कौन ढोयेगा ?

आह्वान के आरम्भिक दिनों में उन्हें प्राथमिकता दी जायेगी, जिनके पास निर्वाह की अपनी आर्थिक सुविधा विद्यमान है । संचित पूँजी से, पेन्शन से जो अपना गुजारा कर सकें । इसमें मिशन की दुर्बल आर्थिक स्थिति पर बोझ भी नहीं बढ़ता और साथ ही साधको की निस्वार्थ परमार्थ परायणता का प्रभाव भी बढ़ता है । इसके बाद उनका नम्बर आता है, जिनके पास अपनी व्यवस्था में थोड़ी बहुत ही कमी पड़ती है । उसकी पूर्ति मिशन द्वारा भी हो सकती है । इसके बाद नम्बर है उनका जिनके ऊपर पारिवारिक उत्तरदायित्व नहीं है, जिन्हें अपना ब्राह्मणोचित निर्वाह ही उपलब्ध करना है । प्राचीनकाल में ब्रह्मचारी और वानप्रस्थ ही प्रधानतया आध्यात्म क्षेत्र में उतरते और जनकल्याण के मार्ग पर चलते थे । गृहस्थ परिवार पालते और उसी में से यथासम्भव लोक मंगल के लिए समय तथा साधनों का अंश दान प्रस्तुत करते थे । वही मार्ग अभी उपयुक्त, है । लोक सेवी आर्थिक दृष्टि से जितने हल्के होंगे उतना ही उनके लिए तैरना और दौड़ना सरल पडेगा ।

अपवाद के रूप में ऐसे दम्पत्ति भी मिशन के व्यय से निर्वाह चला सकते हैं जिनकी पत्नियाँ भी कन्धे

से कन्धा मिलाकर अपनी योग्यतानुसार श्रम करने में तत्पर हैं । गुड़िया बनकर बैठी रहने वाली पत्नियों का भार स्वभावतः अखरने लगेगा । ऐसे गृहस्थ अभी इस प्रयोजन के लिए नहीं बुलाये जा रहे हैं । जिनके ऊपर कितने ही बच्चों का उत्तरदायित्व है और जिनकी प्रजनन प्रक्रिया अभी जारी है । इसी प्रकार जो शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से जरा जीर्ण, अस्त-व्यस्त हो चुके हैं । वे सृजन सैनिकों की घुड़दौड़ में सम्मिलित होने और साथ दौड़ने में असमर्थ सिद्ध होते हैं ।

जिन्हें प्रशिक्षण का, जनसम्पर्क का, व्यवस्था का अभ्यास है, जो अनुशासन के अभ्यस्त रहे हैं । जिन्हें चिन्तन और स्वाध्याय में रस आता है । जिनके स्वभाव में कटुता नहीं, जो निन्दा करने के स्थान पर सुझाव या सुधार के आधार प्रस्तुत कर सकते हैं, ऐसी रचनात्मक प्रवृत्ति ही यहाँ उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं । जिन्हें छिद्रान्वेषण, आरोपण, आक्षेप, निन्दा, भर्त्सना में ही रस आता है, ऐसे निषेधात्मक प्रकृति के व्यक्ति यहाँ खप नहीं सकेंगे । अपना लक्ष्य सृजन है, विग्रह एवं विघटन नहीं । निषेधात्मक प्रवृत्ति को तोड़ना भर आता है बनाना नहीं, ऐसे यदि सुधार सकेंगे तो ही उनके पैर यहाँ जम सकेंगे ।

गायत्री नगर में बसने के लिए आरम्भ में ही प्रयोगात्मक रूप से ही आना चाहिए । न्यूनतम तीन महीने की बात सोचकर आया जाय । इतनी अवधि गुजर जाने के बाद ही यह निश्चय किया जाय कि स्थायी रूप से रहना है या नहीं । अनुकूलता और उपयुक्तता के आधार पर ही स्थायी निर्णय लेना ठीक होगा ।

जिन्हें देव परिवार में सम्मिलित होने और गायत्री नगर में बसने का उत्साह है, उनके विस्तृत परिचय समेत आवेदन पत्र माँगे गए [redacted] । उन सभी को गायत्री जयन्ती सत्र में प्रत्यक्ष विचार-विनिमय के लिए बुलाया गया है । जुलाई से देव परिवार मे प्रवेश पाने वाले परिजनों की व्यवस्थित कार्य पद्धति आरम्भ हो जायेगी ।

## गायत्री नगर में देव परिवार

इन दिनों और सब कुछ सुलभ है, पर उच्चस्तरीय वातावरण का एक प्रकार से सर्वत्र अभाव ही दीखता है । साधन और चातुर्य बढ जाने का ढकोसला किसी भी स्तर का खड़ा किया जा सकता है, पर प्राण तो वास्तविकता में होता है । उसके अभाव में वह क्षमता उत्पन्न हो नहीं सकती जो अन्तराल को प्रभावित करने और व्यक्तित्व को बदलने के लिए आवश्यक है । बाजार में अनेकों स्टाल बड़ी सजधज के साथ लगे हैं । इनमें धर्म और आध्यात्म के चमकीले बोर्डों वाले भी कम नहीं हैं । योगाश्रमों की धूम है । धर्म स्थान पुराने भी कम नहीं अब हर साल और नये-नये बनते जा रहे हैं । मन्दिरों की भव्यता मे प्रतिस्पर्धा लगी हुई है । इन अनगढ़ विषयों पर लोग प्रवचन भी करते और लम्बी-चौड़ी डींगें हाँकते देखे जाते हैं । कलेवर की दृष्टि से धर्माडम्बर किसी अन्य से पीछे नहीं । इतने पर भी प्रभावी वातावरण का अभाव अभी भी जहाँ का तहाँ है । सुविधा सम्पन्न धर्मस्थान, होटलों के काम करते देखे जाते हैं, पर उच्चस्तरीय आत्माओं का निवास न होने के कारण वहाँ भी ऐसा कुछ नहीं दीखता जिसमें अनगढ़ों को भी ढलने का अवसर मिले । इस अभाव के रहते उस ऊर्जा की कमी खटकती ही रहेगी । जिससे व्यक्तित्व ऊँचे उठते और उत्कृष्ट ढाँचे में ढलते हैं ।

इस तथ्य को हजार बार दोहराया जाना चाहिए कि अपने समय की प्रमुख आवश्यकता, प्रखरता सम्पन्न व्यक्तियों की है । स्वार्थ सिद्धि की दृष्टि से भी यह नितान्त आवश्यक है । परमार्थ तो इसके बिना हो ही नहीं सकता । वैयक्तिक प्रगति के लिए प्रतिभा चाहिए । आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक, पारिवारिक, राष्ट्रीय प्रगति के लिए कुछ कहने लायक योगदान दे सकने योग्य वे ही हो सकते हैं, जिनकी निजी क्षमता में गुण, कर्म, स्वभाव की वरिष्ठता विद्यमान हो । इसके अभाव मे तो भीड़ बढ़ाने वाले नर-पशुओं की संख्या में वृद्धि ही होती चली जाती है । धरती का भार बढ़ाने वाले, अपने और दूसरों के लिए समस्याएँ उत्पन्न करने वालों की कहीं भी कमी नहीं है । आवश्यकता ऐसों की है जो अपने पैरों पर स्वयं ही मजबूती से खड़े न हों, वरन् दूसरों को भी सहारा देने, ऊँचा उठाने, आगे बढ़ाने और पार लगाने में समर्थ हो सकें ।

नीत्से ने अतिमानव की आवश्यकता बतायी थी और कहा था, संसार को सुव्यवस्थित बनाने मे इस उत्पादन की महती आवश्यकता है । हिटलर ने उसका फूहड़ प्रयोग किया था । दृष्टि लड़खड़ा जाने और उद्देश्य में निकृष्टता घुस पड़ने से वह देव के स्थान पर

दैत्य उत्पन्न करने लगा और विघातक बना तथा बदनाम हुआ । योगी अरविन्द की कल्पना का अतिमानव देव स्तर का है । प्राचीन काल के देव मानव काया की दृष्टि से मनुष्य और भावना की दृष्टि से देव थे । उनकी सहज स्वाभाविक गतिविधियों ने जन्मभूमि स्वर्गोपम बनाई थी । इन चन्दन वृक्षों ने समस्त विश्व को सुगन्ध और सौन्दर्य से भर दिया था । नवयुग में जिस उपार्जन उत्पादन की निर्माण उत्थान की चर्चा है । उसमें सदाशयता सम्पन्न, प्रखर और कुशल व्यक्तियों का निर्माण ही प्रथम है, उन्हीं के सहारे प्रगति के अनेकानेक प्रयोजनों का सही रीति से सही दिशा में अग्रगामी बनाया जाना सम्भव हो सकेगा ।

## विचारवानों के लिए उपलब्ध सौभाग्य

युग निर्माण परिवार के परिजनों ने लम्बे समय से जो पढ़ा और समझा है, अब उसे मस्तिष्क की उथली पर्तों तक सीमित न रहने देकर अन्तराल की गहराई में उतारना चाहिए और विगत को भूलकर आगत के सम्बन्ध में नई नीति निर्धारण कर सकने योग्य विवेक एवं साहस जुटाना चाहिए ।

समस्याएँ जानी पहचानी है । समाधान भी प्रायः सभी विचारवानों को विदित हैं । फिर से उस सन्दर्भ में अधिक ध्यान देने के लिए इसलिए कहा जाता है कि तथ्यों पर जिस हल्के ढंग से विचार किया जाता रहा है, वह अपर्याप्त है । ढर्रे का आवरण उठाकर हमें वास्तविकता को देखना चाहिए । इसी को तत्व दर्शन या ईश्वर दर्शन कहते हैं । इसी का नाम आत्म-साक्षात्कार अथवा ब्रह्म निर्वाण है । ढर्रे का अभ्यास ही भव बन्धन है । माया अर्थात् अवास्तविकता की खुमारी । इसे हटाया और तथ्य को अपनाया जा सके तो समझना चाहिए कि जीवन मुक्ति के मार्ग का अवरोध मिट गया ।

मनुष्य का जीवन ईश्वर का बहुमूल्य अनुदान है । इसे इनाम नहीं अमानत माना जाय । भव-बन्धनों के कुचक्र से निवृत्ति, पूर्णता की प्राप्ति, स्वर्ग और मुक्ति की उपलब्धि, सिद्धियों की विभूति, आत्मा और परमात्मा की एकता जैसी महान सफलताएँ इस एक ही तथ्य पर निर्भर हैं कि यथार्थता को हृदयंगम करना सम्भव हो सका या नहीं ?

कहने सुनने को तो आदर्शवादी बकवास आए दिन चलती रहती है, पर वस्तुतः उसमें कुछ सार नहीं । आध्यात्म का लाभ एवं चमत्कार मात्र उन्हीं को मिलता है, जो उसे कल्पना लोक की उड़ान न मानकर जीवन दर्शन के रूप में मान्यता देते और तदनुरूप दिशा धारा का निर्धारण करते हैं ।

युग सन्धि की ब्रह्म वेला में जागृत आत्माओं का आत्म-चिन्तन, जीवन दर्शन की यथार्थता के साथ जुड़ सके तो काम चले । सोचा जाय कि अन्य प्राणियों की तुलना में मनुष्य को जो 'विशेष' मिला है वह शौक-मौज भर के लिए है ? विचारा जाय कि चौरासी चक्र से छूटने के, पूर्णता तक पहुँचने के, ईश्वर के साथ अन्याय होने के इस स्वर्ण सुयोग को आगे भी इसी तरह नष्ट करते रहना उचित है, जैसा कि अब तक किया जाता रहा ? लोग क्या कहते और क्या करते हैं ? इसे देखने-सुनने और उन्हीं का अनुकरण करने से तो एक के पीछे एक-एक करके गर्त में गिरने वाली भेड़ों की तरह अपनी भी दुर्गति ही होनी है । क्या इस दुर्भाग्य से बचा नहीं जा सकता ?

थोड़ी दूरदर्शिता और थोड़ी साहसिकता अपनाने पर उन तथाकथित परिस्थितियों का स्वरूप ही बदल सकता है जो लक्ष्य पथ पर चल सकने की असमर्थता, विवशता बनकर सामने आती रहती है । मकड़ी अपना जाला आप बुनती है और फँसकर छटपटाती और जिस-तिस को दोष देती है, किन्तु जब अपना चिन्तन उलटती है, तो अपने बुने जाल के धागों को समेटती निगलती चली जाती है । निविड़ दीखने वाले बन्धन देखते-देखते साँझ के रंगीन बादलों की तरह अदृश्य होने लगते हैं ।

मनुष्य जीवन की गरिमा का समुचित उपयोग विश्व उद्यान को सुरम्य बनाने में योगदान देकर इस सुअवसर को सार्थक बनाने में ही है । पेट प्रजनन तक अन्यान्य प्राणियों को सीमित रहना शोभा देता है, मनुष्य को नहीं । अन्य प्राणियों को साधन सीमित मिले हैं । उनकी शरीर संरचना और बौद्धिक क्षमता इतनी ही है कि अपना निर्वाह भर चला सके, किन्तु मनुष्य तो स्रष्टा का युवराज है । उसे इतना मिला है कि अपनी विशेषताओं के सहारे उसे तनिक-सा श्रम मनोयोग लगाकर चुटकी बजाते उपार्जित कर सकता

है और शेष विभूतियों से आत्म-कल्याण और लोक कल्याण जैसे उच्च उद्देश्यों की पूर्ति कर सकता है ।

इस सुअवसर को ठुकरा कर जो तृष्णा, वासना का, लोभ मोह का अनावश्यक भार संजोते और ढोते हैं, उनकी समझदारी को किस तरह सराहा जाय ? दल-दल में घुसते जाना और उनकी सड़न से खीझते और जकड़न से चीखते जाना, किसी का लादा हुआ नहीं, स्वयं ही अपनाया हुआ दुर्भाग्य है । यह अनिवार्य नहीं, अपना ही चयन है । कोई चाहे तो स्थिति को किसी भी समय बदल भी सकता है । इसके लिए बहुत करने की आवश्यकता नहीं पड़ती । मात्र दृष्टिकोण उलटना और कार्यक्रम बदलना पड़ता है । इस परिवर्तन से व्यवस्था बिगड़ती नहीं, वरन् और भी अच्छी बन जाती है, किन्तु उस अदूरदर्शिता को क्या कहा जाय जो अभ्यस्त ढर्रे के रूप में सिर से पैर तक लद गई है । कोई चाहे तो उसे सहज ही उतार भी सकता है ।

माया छाया की तरह है वह आगे-आगे चलती और नेतृत्व करती है, किन्तु जब प्रकाश की ओर पीठ किए रहने की प्रक्रिया बदली जाती है, दिशा को उलट दिया जाता है तो सूर्य के सम्मुख होते ही छाया पीछे दौड़ने लगती है । परिस्थितियों की विवशता के सम्बन्ध में ऐसा ही सोचा जाता है कि वही बाधक हो रहा है, किन्तु ऐसा है नहीं । चिन्तन का प्रतिगामी ढर्रा ही बाधक है । यदि आदर्शवादी आधार अपनाकर नये ढंग से सोचना और गतिविधियों का नये सिरे से निर्धारण कर सकना सम्भव हो सके तो प्रतीत होगा कि समस्त गुत्थियाँ सुलझ गईं । ऐसा मार्ग निकल आया जिस पर चलते हुए लोक और परलोक का सुव्यवस्थित रीति से सध सकना सम्भव ही नहीं सरल भी है । इस आन्तरिक परिवर्तन के लिए गतिविधियों के अमिट निर्धारण के लिए जो साहस जुटा लेते हैं, वे देखते हैं प्रगति पथ पर बढ़ चलने की कितनी सहज सुविधा उपलब्ध थी । अदूरदर्शी आदतों ने ही उस सौभाग्य से मुँह मोड़ा था जो ईश्वर ने हर किसी को जीवन लक्ष्य पूरा कर सकने के निमित्त उदारतापूर्वक प्रदान किया है ।

सामान्य परिस्थितियों में जन्मे और कठिनाइयों से घिरे व्यक्ति भी चरम उत्कर्ष के लक्ष्य तक पहुँचे और महामानव बने हैं । दूसरे लोग जिन परिस्थितियों को विवशता मानते रहे, उन्होंने उन्हें इस रूप में देखा ही नहीं । नये ढंग से सोचा और नया मार्ग निकाला । फलतः परिस्थितियाँ अपनी जगह पर बनी रहीं और अग्रगमन के लिए दूसरा रास्ता निकल आया । महामानवों में से प्रत्येक का जीवन क्रम इसका साक्षी है, कि उन्होंने परिस्थितियों को अपरिहार्य नहीं माना और उनके न बदलने पर अपना ढर्रा बदलने का साहस जुटाया । पिछड़ेपन और प्रगतिशील का मध्यवर्ती अन्तर इतना ही है, जो इस रहस्य को समझते हैं उन्हें दैत्यों के जादू तिलस्म से बाहर निकलना और देवों के उन्मुक्त आकाश में विचरण करना कुछ भी कठिन नहीं रह जाता । तिलस्म अवास्तविक है । स्व-सम्मोहन और आत्म-समर्पण ही उसका आधार है । अन्तरंग बदलते ही बहिरंग के उलटने में देर नहीं लगती । जो भीतर की गुत्थी सुलझा सके, उनके लिए बाहरी समस्याओं का हल निकालते देर नहीं लगती । प्रपंच का जंजाल तो भीतर ही भरा पड़ा है । अपच होने से ही स्वादिष्ट व्यंजन कड़वे लगते हैं ।

यदि विलासी लिप्सा और संग्रह की तृष्णा को हल्का किया जा सके तो औसत भारतीय जैसा नैतिक निर्वाह आसानी से उपार्जित हो सकता है । यदि परिवार को बढ़ाने की मूर्खता न की जाय, जो अब तक की है । उसे स्वावलम्बी सुसंस्कारी बनाना भर कर्तव्य माना जाय तो उस परिपोषण के लिए सामान्य प्रयास से ही काम चल सकता है । बोझिल जीवन तो उनका होता है जो अमीरी के स्वप्न देखते और उत्तराधिकारियों को वैभव से लादने की ललक संजोये रहते हैं । बोझ इस दुश्चिन्तन भर का है । न किसी के लिए पेट भारी पड़ता है और न परिवार । बोझिल तो वह मूर्खता है जो लिप्सा, तृष्णा के रूप में जोंक की तरह शिराओं में दाँत गड़ाये रहती है । आवश्यकता हर किसी की पूरी हो सकती है, पर तृष्णा की आग को बुझा सकना कितने ही प्रचुर वैभव से नहीं हो सकता । ईंधन पड़ने पर वह शान्त कहाँ होती, दूनी-चौगुनी भड़कती है ।

प्रसुप्ति ग्रस्तों का चिन्तन और आचरण जैसा होता है उसकी तुलना में जागृतों के सोचने और करने में भारी अन्तर रहता है । जागृतों को मोह ग्रस्तों की तरह नहीं सोचना चाहिए, उन्हें सुख में ही लिप्त नहीं

रहना चाहिए । सन्तोष भी उपार्जित करना चाहिए । बड़प्पन ही पर्याप्त नहीं महानता भी अभीष्ट है । वाहवाही लूटने के लिए उद्धत प्रदर्शन का सरंजाम जुटाने में सार नहीं, महत्त्व उस लोक श्रद्धा का है जो उत्कृष्टता और उदारता अपनाने पर प्रचुर परिणाम में उपलब्ध होती और अन्तरात्मा को आनन्द भरी पुलकन से परितृप्त करती है ।

हर जागरूक को इन दिनों इसी स्तर का प्रगतिशील चिन्तन अपनाना चाहिए और ढर्रे में ऐसा परिवर्तन करना चाहिए जिससे इस विषय वेला में आपत्ति धर्म का निर्वाह कर सकना सम्भव हो सके । ढूँढ़ने से हर किसी को राह मिलती है । यदि आकांक्षा सच्ची हो तो एक न सही दूसरे ढंग से सही कोई हल निश्चित रूप से ऐसा निकल सकता है, जिसमें निर्वाह भी कठिन न पड़े और जीवन लक्ष्य पाने तथा युग धर्म निभाने का अवसर भी मिलता रहे ।

रोज कुआँ खोदने और रोज पानी पीने वाले भी यदि आदर्शवादिता को अपना सकें तो आठ घण्टा कमाने के, सात घण्टा सोने के, पाँच घण्टा गृह कार्यों के लिए लगाकर बीस घण्टे में संसार यात्रा भली प्रकार चला सकते हैं और शेष चार घण्टे बिना किसी कठिनाई के युग धर्म के निर्वाह में नियमित रूप से लगा सकते हैं । बहानेबाजों की बात दूसरी है । उन्हें बीस बहाने पहले से ही याद हैं । चाहें तो चालीस और भी गढ़ सकते हैं । इन भावना रहित लोगों की आत्म-प्रवंचना ही मूलभूत कठिनाई है । यथार्थ चिन्तन की कसौटी पर उनकी वह मनगढ़न्त नितान्त बनावटी लगती है, जिसका आश्रय लेकर वे अपनी जागरूकता को कर्तव्य पथ पर चलने से रोके रहते है ।

पूरा समय आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण में लगा सकने की परिस्थितियाँ प्रायः आधे लोगों में होती हैं । संचित सम्पदा को समेट कर यदि स्थाई विधि के रूप में जमा कर दिया जाय तो दस प्रतिशत ब्याज भर से इतना पैसा सहज ही मिलता रह सकता है । जिसमें निर्वाह भी होता रहे और देव जीवन भी जिया जा सके । परिजनों को स्वावलम्बी भर बनाने का लक्ष्य हो तो उनमें से अन्य समर्थों को बैठकर न खाने, कुछ कमाने के लिए उत्साह उत्पन्न किया जा सकता है । बैठकर खाने में इज्जत और कमाने में अपमान की मान्यता यदि बदली जा सके, तो प्रतीत होगा कि बचे हुए समय में घर के समर्थ लोग कुछ न कुछ कमा सकते हैं और एक व्यक्ति पर लदे हुए भार को बहुत हल्का कर सकते हैं । बेटों को बैरिस्टर बनाने और लड़की को कुबेर के घर भेजने का नशा हल्का किया जा सके और उन्हें औसत नागरिकों की तरह निर्वाह करने और सुसंस्कारी गतिविधियाँ अपनाने के मार्ग पर चलाया जा सके तो प्रतीत होगा कि पहाड़ जैसा बोझ उतर कर हल्का हो गया । सन्तानें स्वावलम्बी हो जाने पर छोटे परिवार से विदाई लेनी चाहिए और बड़े परिवार की, विश्व परिवार की बात सोचनी चाहिए । समर्थ सन्तानों को समझाया जाना चाहिए कि माता-पिता का ऋण छोटे भाई-बहिनों की जिम्मेदारियाँ सँभालने के रूप में चुकाया जाना चाहिए । यह ऋण मुक्ति और अनुदान के प्रतिदान का सिद्धान्त हर समर्थ सन्तान को सीखना चाहिए । इस कर्तव्य भावना को हर परिवार में लगाया जाना चाहिए । बाप की कमाई बेटों को ही बँटे, यह देव परम्परा नहीं है । परिवार के भरण-पोषण के उत्तरदायित्व से जो निवृत्त हो चुके उनके लिए पोतों की टट्टी धोते रहने और पुत्र-वधू की गालियाँ खाते रहना ही एकमात्र मार्ग नहीं । वे चाहें तो वानप्रस्थ परम्परा को अपनाकर भारतीय संस्कृति के सच्चे उत्तराधिकारी भी बन सकते हैं ।

परिस्थितियाँ असंख्यों की ऐसी हैं जिनको युग धर्म के निर्वाह की समुचित सुविधाएँ प्राप्त हैं । हथकड़ियाँ मोह की और बेड़ियाँ लोभ की हैं, जो एक कदम आगे बढ़ने और परमार्थ कर देने में अवरोध अटकाती हैं । इन्हें तोड़ा न जा सके तो ऐंठ मरोड़ कर ढीला तो किया जा सकता है । इतने भर से दौड़ना न सही घिसटना तो निश्चित रूप से सम्भव हो सकता है ।

युग सन्धि की इस पुनीत वेला में आपत्ति धर्म के निर्वाह से मुँह मोड़ना ऐसा प्रमाद है, जिसके लिए समय निकल जाने पर हाथ मलना और पश्चात्ताप करना ही शेष रह जायेगा ।

देवताओं में सहायता माँगने की बात तो सदा ही चलती है, पर कुछ विशेष समय ऐसे भी आते हैं जब देवता मनुष्य से याचना करते हैं । ऐसे अवसर किन्हीं सौभाग्यवानों को ही मिलते हैं, जब वे देवताओं की मनोकामना पूरी करने में समर्थ हो सकें । दशरथ को

देवताओं की सहायता के लिए जाना पड़ा था। अर्जुन भी आ गए थे। दधीचि ने उदारतापूर्वक उन्हें दान दिया था। कृष्ण साधू के वेष में घायल कर्ण के पास पहुँचे थे। वामन ने बलि के सामने हाथ पसारा था। राम ने शबरी से बेर की याचना की थी। सुदामा से तन्दुल माँगे गए थे। अंगद और हनुमान ने देवताओं से अपनी कामना पूर्ण नहीं कराई थी वरन् उनकी पूरी की थी। इस प्रसंग में ऋषियों की परम्परा याद आ जाती है। विश्वामित्र ने हरिश्चन्द्र से, उद्दालक ने आरुणि से, चाणक्य ने चन्द्रगुप्त से, समर्थ ने शिवाजी से, परमहंस ने विवेकानन्द से, विरजानन्द ने दयानन्द से कुछ माँगा था। बुद्ध और गाँधी की झोलियाँ आदि से अन्त तक फैली ही रहीं, देने वाले घाटे में नहीं रहे। लेने वाले जितने धन्य हुए उससे अधिक श्रेय देने वाले को मिला। मान्धाता के शंकराचार्य को जो दिया था उससे अधिक पायी, अंगुलिमाल और अम्बपाली, हर्षवर्धन और अशोक, बुद्ध को देते समय उदारता की चरम सीमा पर पहुँचे थे। गाँधी के सत्याग्रहियों ने अनुदानों की अपने दाव पर झड़ी लगा दी थी। देखते हैं कि जो दिया गया था वह निरर्थक नहीं गया वरन् असंख्य गुना होकर उन उदारमनाओं के ऊपर दैवी वरदान की तरह इस प्रकार बरसा कि वे कृत-कृत्य हो गए। धनी अकेले भामाशाह ही नहीं हुए हैं। मरण अकेले भगतसिंह के हिस्से में ही नहीं आया है। जेल अकेले नेहरू, पटेल ही नहीं गए हैं। मुसीबतें बहुतों को आती हैं। त्यागने के लिए हर किसी को विवश होना पड़ता है। किसी से चोर छीनता है किसी से बेटा। पेट भरने और तन ढकने के अतिरिक्त और किसी के पल्ले कुछ नहीं पड़ता। जब विरानों के लिए ही सब कुछ छोड़ना है तो इन विरानों का स्तर कुछ ऊँचा क्यों न उठा लिया जाय? जब अपना उपार्जन श्रम, सहयोग किसी को देना ही है तो उन्हें देवताओ ऋषियों एवं सदुद्देश्यों के लिए ही क्यों न दिया जाय? इन उदार नीति को अपनाने वाले बैंक में जमा की गई पूँजी की तरह ब्याज समेत लम्बा लाभ पाते हैं, जबकि मोह के गर्त में धकेली हुई उपलब्धियाँ निरर्थक ही नहीं जाती, विघातक प्रतिक्रिया भी उत्पन्न करती हैं।

दूसरों से बात करने मे समय और चातुर्य का कचूमर निकल जाता है। यदि अपने से भी एकान्त में जी खोलकर समझदारी की बात की जाय और अभिन्नों के सहयोग से बनाने वाली सृजनात्मक योजना बनाने जैसा कुछ किया जा सके तो अन्तःलोक में प्रसुप्त पड़े देवता ही जागृत होकर ऐसा परामर्श एवं सहयोग देने लगेंगे जिन्हें पाकर समस्त अभाव की पूर्ति और समस्त वैभव की उपलब्धि हो सकती है।

गायत्री नगर में देव परिवार बस रहा है। उसमें रहने वाले अकर्मण्यता अपनाकर मौत के दिन पूरे नहीं करेंगे, वरन् आत्मोत्कर्ष एवं लोकमंगल का ऐसा अवसर प्राप्त करेंगे जिसे पारस को छूकर लोहे को सोने में बदल जाने की उपमा दी जा सकती है। कल्पवृक्ष के नीचे बैठने वालों की कामनाएँ पूर्ण होती और दरिद्रता मिटती बताई जाती है। गायत्री नगर के निवास को उसी अलंकारिक मान्यता के समतुल्य माना जा सकता है। कामनाएँ सुरसा के मुख्य की तरह हैं। उन्हे पूर्ण करने के लिए हनुमान जैसा आप्तकाम दृष्टिकोण चाहिए। कामनाओं से बदल जाने पर वह परितृप्ति मिलती है जो कल्पवृक्ष के सान्निध्य में रहने वाले देवताओं को मिलती है। गायत्री नगर का वातावरण अपने आश्रम में रहने वालों को आप्तकाम बनाने और देव सम्भव परितृप्ति दिलाने में समर्थ हो सकेगा ऐसी आशा करने को 'अतिवाद नहीं कह सकते।

मनःस्थिति को यदि परिष्कृत किया जा सके तो अपने युग निर्माण परिवार के परिजनों में अगणित परिजन ऐसे होंगे, जो अपनी परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को वहाँ बसने योग्य पायेंगे। जिन्हें उपयुक्त वातावरण में परिष्कृत व्यक्तित्व ढालने की आकांक्षा है, उनके लिए देव परिवार बसने का समाचार दैवी वरदान की तरह प्रतीत हो सकता है।

जिनकी परिस्थितियाँ इस सौभाग्य का लाभ उठाने के अनुकूल एवं अनुरूप हैं उनके लिए यहाँ रहने, बसने का कोई विशेष प्रतिबन्ध या ऐसी शर्त नहीं है, जिसके कारण संकोच करना पड़े। इस नयी बसावट में यों बच्चों समेत रहने की भी व्यवस्था है। अस्तु हर किसी को 'अपना और अपने प्रियजनों का वर्तमान समुन्नत और भविष्य उज्ज्वल बनाने के इस स्वर्ण सुयोग का लाभ लेना चाहिए, किन्तु कठिनाई निर्वाह व्यय की है, जो रोज कुआँ खोदते और रोज पानी पीते हैं उनके लिए गायत्री नगर में आजीविका उपार्जन के आधार न होने से यहाँ पहुँचने की बात सोच सकना कठिन

है, यदि यह प्रबन्ध भी बन सका होता तो युग निर्माण परिवार के २४ लाख परिजन एक छोटे-मोटे देश की तरह किसी जगह बस गए होते और अपनी गतिविधियों से समस्त विश्व को यह मार्गदर्शन कर सकने में समर्थ रहे होते, कि उपयुक्त वातावरण बनने पर किस प्रकार मनुष्य में देवत्व का उदय और धरती पर स्वर्ग का अवतरण सम्भव हो सकता है ।

जिनके पास दाँत हैं उन्हें गन्ना नहीं मिला, जिनके पास गन्ना है उनके मुख में दाँत नहीं । यह विडम्बना अपने सामने भी है । आजीविका उपार्जन के छोटे-बड़े साधन भी यहाँ रहे होते हैं तो किस प्रकार निर्वाह भर के साधनों के सहारे न्यूनतम एक लाख परिवार इस योजन का लाभ उठाते और सम्वाद मिलते ही यहाँ पहुँचने की तैयारी करते, पर किया क्या जाय ? विवशता ही है । प्रस्तुत परिस्थितियों में इतना ही सम्भव था कि जिनके पास निर्वाह के साधन हैं । उन्हीं का बस सकना सम्भव हो सके ।

इस स्तर के लोगों में प्रथम गणना उनकी होती है जो नौकरी में थे, रिटायर हो गए । बच्चों को स्वावलम्बी बना चुके, साथ ही जिन्होंने व्यामोह से भी छुटकारा पा लिया । वस्तुतः निवृत्त ऐसे ही लोगों को कहते हैं । वैरागी वे हैं जिन्हें कर्तव्य-पालन भर अभीष्ट होता है तो जो मोह-जंजाल में अनावश्यक रूप से जकड़े रहने की अनुपयुक्तता अनुभव करते हैं । ऐसे निवृत्त और वैरागी ही आरण्यकों में बसते थे । वानप्रस्थ साधना इसी मनःस्थिति में बन पड़ती है ।

आवश्यक नहीं कि नौकरी और पेंशन ही निवृत्त जीवन के निर्वाह के लिए अनिवार्य हो । बहुतों के अपने कारोबार भी ऐसे है जिनसे निर्वाह प्राप्त करते रहने मे तनिक भी असुविधा नहीं है । कृषि-व्यापार आदि का जिन्होंने इतना साधन जुटा लिया है कि उससे परिवार निर्वाह के अतिरिक्त अपना गुजारा बिना कुछ किए ही हो सकता है, ऐसे लोग भी एक प्रकार से रिटायर, पेन्शनर ही कहे जा सकते है । इसी में एक श्रेणी उनकी है जिनके पास संचित पूँजी चल-अचल सम्पत्ति के रूप में इतनी है, जिसकी ब्याज से परिवार का गुजारा चल सके, वे भी इस लाभ से लाभान्वित होने की तैयारी कर सकते हैं ।

इन दिनों सबसे सरल और सबसे सुनिश्चित व्यापार बैंक ब्याज का है । पाँच साल के फ़िक्स डिपॉजिट में दस प्रतिशत ब्याज मिलता है, जिनके पास जेवर, जायदाद आदि की सम्पदा पच्चीस-पच्चास हजार भी है वे उस राशि को बैंक में डालकर हर महीने इतना प्राप्त कर सकते हैं, जिससे एक छोटे परिवार का निर्वाह भली प्रकार से होता रहे ।

गायत्री नगर में वे सब सुविधाएँ उपलब्ध हैं जो प्रायः आधी आजीविका समाप्त करती रहती है । मकान, किराया, रोशनी, पानी, सफाई, बच्चों की शिक्षा, चिकित्सा दुर्व्यसन साथ ही अनुकरण के ठाट-बाट को जोड़ा जाय तो प्रतीत होगा कि इस जंजाल में आधी से कम कमाई नहीं खपती । सादगी के वातावरण मे रोटी, कपड़ों का खर्च इस महँगाई के जमाने में इतना आता है कि उसे मुट्ठी भर पैसों में मितव्ययितापूर्वक बड़ी आसानी से चलाया जा सकता है । ठाट-बाट का नशा उतारा जा सके और औसत भारतीय जैसा जीवन-क्रम अपनाया जा सके तो मुट्ठी भर पैसों में शरीर यात्रा बड़ी आसानी और प्रसन्नतापूर्वक चलती रह सकती है ।

जिनकी बड़ी सन्तान स्वावलम्बी हो गई और छोटे भाई-बहिनों को सँभालने की जिनमें उदारता विद्यमान है, वे भी शेष उत्तरदायित्व स्वयं उठाकर अभिभावकों को निश्चिन्त कर सकते हैं । हर सपूत को पितृ ऋण चुकाने की शिक्षा मिलनी चाहिए । अभिभावकों को कमाई हड़पने और उत्तराधिकार के दावे पेश करना ही सुसंतति का काम नहीं है ।

हर समर्थ और आदर्श प्रिय सन्तान का कर्तव्य है कि पितृ ऋण चुकाये । बचपन में जो पाया है उसे समर्थ होने पर वापस लौटाये । प्राचीन परम्परा यही है । नवयुग में भी उसी परम्परा को अपनाया जाना चाहिए । इसे सीखने और सिखाने का अवसर उनके सामने है । जो वानप्रस्थ जीवन जीना चाहते हैं और जिनकी समर्थ सन्ताने अभिभावकों का ऋण चुकाने की परिस्थितियों में रह रही हैं । संचित सम्पदा समर्थ सन्तानों को दान कर देना और पैसे-पैसे के लिए मोहताज बने फिरना ऐसा कुचक्र है जिनमें अनीति ही झाँकती है । नीतिमान दूसरे ढंग से सोचते हैं फलतः प्राचीनकाल की तरह इन दिनों भी समर्थ और सपूत

सन्तानों के रहते अभिभावकों को आध्यात्म आकांक्षा की पूर्ति में कोई *विशेष अड़चन नहीं आती।*

जिन लोगों ने युग साहित्य को लम्बे समय से नियमित रूप से पढ़ा है, उन्हें मनुष्य की गरिमा समझने और उसका सदुपयोग करने की प्रेरणा प्राप्त होती रही है। उस सच्चाई को समझा और आवश्यकता को *अनुभव भी किया जाता रहा है,* पर कठिनाई एक ही रही है, उस दिशा में कदम कैसे उठाया जाय ? बिना आश्रय के निराधार आकाश में उड़ते रहने का साहस कैसे किया जाय ? आदर्शों से बहुत कुछ महान किन्तु व्यवहार में उसका कोई व्यावहारिक आधार नहीं पाया, फलतः आकांक्षा व्यवस्था के रूप में परिणत न हो सकी। इसे एक स्वर्ण सुयोग ही कहना चाहिए कि विज्ञजनों को अपनी सदाशयता को योजनाबद्ध प्रक्रिया में परिणत होने का अवसर मिल रहा है।

प्रलोभनों, व्यामोह और प्रपंच के कुचक्र में जब समूचा लोक-मानस क्षुद्रता की वाणी पीकर अर्ध मृतक जैसा बना पड़ा है तब एकाकी अन्तःप्रेरणा के सहारे उच्च उद्देश्यों को अपनाने के लिए कटिबद्ध होना बड़ी बात है। इतनी बड़ी जिस परिस्थिति को देखते हुए अद्भुत और आश्चर्यजनक कहा जा सके। आदर्शों को अपनाने और उन्हें व्यवहार उतारने की ललक यदि सचमुच ही उठ पड़े, तो समझना चाहिए कि प्रसुप्त देवत्व जग पड़ा और वह साधन बन गया जिसके सहारे युग परिवर्तन का स्वप्न साकार होने में कोई कठिनाई शेष, नहीं रह गई। परिजनों को वर्तमान उमंगों और तैयारियों को देखते हुए इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है।

## आत्मोत्कर्ष का अलभ्य अवसर

जीवन-क्रम को उत्कृष्टता के साँचे में ढालने का अभ्यास भी साधना का वास्तविक स्वरूप है, इसके लिए व्यक्ति विशेष के स्तर को ध्यान में रखते हुए तदनुरूप मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। समस्त रोगियों को एक ही दवा देकर कुछ नहीं किया जा सकता है और न ही हर साधक को एक जैसी साधना सिखाकर ऊँचा उठाया जा सकता है, हर उलझन का एक ही समाधान नहीं हो सकता। परिस्थिति भिन्नता के आधार पर उलझनों से निकलने और प्रगति पथ पर आगे बढ़ने के लिए अनुभवी मार्गदर्शन चाहिए। वह भी अनवरत दीर्घकालीन, निकटवर्ती होना चाहिए। स्वास्थ्य लाभ के लिए सैनेटोरियम में भर्ती होना पड़ता है, घर को सैनेटोरियम नहीं बनाया जा सकता, किसी को आत्मिक प्रगति यदि वस्तुतः अभीष्ट हो तो, उन्हें उपयुक्त मार्गदर्शन और वातावरण चाहिए। वह मिल सके तो समझना चाहिए कि सच्ची सिद्धि का अभीष्ट *आत्मिक प्रगति* का सुअवसर मिल गया, जिन्हें ऐसे वातावरण और मार्गदर्शन की आवश्यकता हो, उनके लिए गायत्री नगर में देव परिवार बसाने का उपक्रम चल रहा है। उसमें सम्मिलित होने का प्रयास करना चाहिए। यहाँ निवास करने वाले तथाकथित निवृत्त *वैरागी कहे जाने वाले अकर्मण्यों जैसा जीवन नहीं* जीयेंगे वरन् मोहग्रस्त लालचियों से भी अधिक पुरुषार्थ करते दृष्टिगोचर होंगे। सामान्य परिस्थितियो और व्यस्त लोगो से गायत्री नगर निवासियों की भिन्नता मात्र इतनी ही होगी कि उनकी गतिविधियाँ उच्चस्तरीय उद्देश्यों के साथ जुड़ी हुई होंगी। जबकि मूढ़ मति स्वार्थान्ध होकर पिसते और पिलते रहते हैं।

शान्ति का अर्थ यदि निष्क्रियता और निराशा होती है तो समझना चाहिए कि शान्ति कुंज में वैसा कुछ भी नहीं है। वैसी परिस्थितियों को किन्हीं सदावर्त समेत चलने वाले विरक्त निवासों में ही ढूँढ़ना चाहिए। एकाध घण्टा उल्टा-पुल्टा जप ध्यान करने के उपरान्त सारे दिन आलस में पड़े रहने या मटरगश्ती में इधर-उधर घूमते रहने का अवसर ढूँढ़ने वालों को कोई अन्य आश्रम ढूँढ़ना चाहिए। शान्ति कुंज में अशान्ति से जूझकर शान्ति की विजय श्रीवरण के निमित्त प्रबल पुरुषार्थ करने की ही योजना बनी है। यहाँ हर किसी को सैनिकों जैसा अनुशासन पालने की बात सोचकर ही आने की तैयारी करनी चाहिए।

कहा जा चुका है कि आत्मोत्कर्ष के लिए एक प्रयत्न से काम नहीं चलता, उसके लिए चार उपाय *अपनाने पड़ते हैं—(१) साधना, (२) स्वाध्याय, (३)* संयम, (४) सेवा। इन चारों को एक चारपाई के चार पाए, एक कमरे के चार कोने, एक धरातल की चार दिशाएँ, एक धर्म के चार आश्रम, एक संस्कृति के चार वर्ण कहना चाहिए। इन्हीं चार पुरुषार्थों के परिणाम धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के रूप में फलित होते

हैं । इन्हीं चारों को मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के अन्तःकरण चतुष्टय में बोया, उगाया जाता है ।

जीवित रहने के लिए अन्न, जल, साँस एवं निद्रा की आवश्यकता पड़ती है । कृषि के लिए भूमि, बीज, सिंचाई, रखवाली अभीष्ट हैं । इमारत खड़ी करने में ईंट, चूना, लकड़ी, लोहा चाहिए । व्यवसाय में सफलता के लिए पूँजी, श्रम, अनुभव एवं खपत के चार साधन जुटाने पड़ते हैं । आत्म-कल्याण मात्र भजन से नहीं हो सकता । बीज की तरह वह प्रमुख तो है, पर पर्याप्त नहीं । जीवन को परिष्कृत करने की साधना पर जिन्होंने ध्यान नहीं दिया और मात्र भजन करते रहे उन्हे खाली हाथ रहना पड़ा है । साधना समग्र होनी चाहिए । एकाकी अवलम्बन से उसकी सफलता सम्भव न हो सकेगी ।

गायत्री नगर के निवासियों को यह तथ्य भली प्रकार समझना होगा और यह मानकर आने का निर्णय करना होगा कि यहाँ उन्हें अपनी शारीरिक, मानसिक, स्थिति के अनुरूप प्रत्यक्ष एवं परोक्ष पुरुषार्थ में निरन्तर निरत रहना होगा ।

अन्तराल में उच्चस्तरीय आस्थाओं का उत्पादन उपासना से ही सम्भव होता है । अस्तु साधना को प्राथमिक महत्त्व दिया और अनिवार्य माना गया है । गायत्री उपासना गौ-दुग्ध की तरह परिपूर्ण आहार है । किसे, किस स्तर की, किस प्रकार की गायत्री उपासना करनी चाहिए, इसका निर्धारण व्यक्ति विशेष के स्तर को देख-परख कर किया जायेगा । संजीवनी बूटी भी अनुपान भेद से दी जाती है । उसकी मात्रा तथा सेवन विधि मे अन्तर रहता है । सामान्य क्रम तो सभी के लिए एक है पर अगली सीढ़ियों पर चढ़ते ही आवश्यकतानुसार अन्तर होने लगता है । प्राथमिक पाठशालाओ मे सर्वत्र एक ही स्तर की पढ़ाई होती है पर जैसे-जैसे विद्यार्थी ऊँची कक्षाओं में पढ़ता है उसे उन्हीं विषयों की गहराई में प्रवेश करने के लिए अधिक विस्तृत जाना और अभ्यास करना होता है । कॉलेज कक्षा में विषय थोड़े ही रह जाते हैं किन्तु उनकी विशेष प्रवीणता प्राप्त करनी होती है । स्नातकोत्तर कक्षाओं में तो एक ही विषय रह जाता है । एम. ए. में जो भी विषय लिया जाता है । उसमें पारंगत होना पड़ता है । यही बात साधना के सम्बन्ध में भी है । आरम्भ में जप, ध्यान की सामान्य उपचार प्रक्रिया को बाल कक्षा की तरह सभी पार करते हैं, पर इसके ब छात्रों की रुचि एवं स्थिति के अनुरूप अध्ययन क बदलता जाता है ।

गायत्री नगर में उपासना पद्धति सामान्य भी हो और विशिष्ट भी । आश्रम की सामान्य साधना पद्ध एक होते हुए भी हर साधक को अपने स्तर का विशि साधना क्रम अलग से बताया और कराया जायेगा अस्पताल में सामान्य दिनचर्या, नियम, मर्या विधि-व्यवस्था एक रहते हुए भी हर रोगी का उपच एवं निर्धारण अलग-अलग रहता है । यही नी उपासना के क्षेत्र में भी अपनानी पड़ती है । गाय नगर के सूक्ष्मदर्शी मार्गदर्शक साधकों का आन्तरि विश्लेषण करने पर यह पता लगाते हैं कि उसके लि क्या उपचार सरल एवं उपयुक्त पड़ेगा । कहते हैं सही निदान हो जाने से चिकित्सा का आधा उद्दे पूरा हो जाता है । अन्यत्र सभी साधकों को एक ला से हाँका जाता है । सभी धान बाईस पसेरी के भ तोले जाते हैं । सभी के लिए एक साधना चलती किन्तु गायत्री नगर में बसने वाले साधकों को अप स्थिति और आवश्यकता के अनुरूप साधना का मार्गदर्श ही नहीं अवसर भी मिलेगा ।

उपासना और साधना के अन्तर को और भी स्प करने की आवश्यकता है । उपासना पूजा पद्धति क कहते है और साधना जीवनचर्या को । जीवनचर्या अर्था चिन्तन और क्रिया-कलाप की सुनियोजित दिशा धा आमतौर से लोग अनगढ़, उच्छृंखल, अव्यवस्थित औ अस्त-व्यस्त जीवन जीते हैं । बन्दरों की तरह उचक और कुत्तों की तरह भटकते हुए मनोयोग और श्रम सम की बर्बादी होती रहती है । कुसंस्कार मनुष्यों को जहाँ-तह घसीटते-फिरते हैं । पशु-प्रवृत्तियाँ हावी रहती हैं औ आदतें जो चाहें सो कराती रहती हैं । यही है अनग जीवन की परिभाषा जो आम आदमी पर पूरी तर चरितार्थ होती देखी जा सकती है । सर्व समर्थ होते हु कुछ बन नहीं पड़ता । सम्भावना और क्षमताओं क कमी न होते हुए भी उपलब्धियों की दृष्टि से शून्य ह रहना पड़ता है । उसका कारण एक ही है, जीवनचय का दिशाबद्ध, क्रमबद्ध, अनुशासित और निर्धारित होना । इसी स्थिति को असफलताओं की जननी औ दुर्भाग्यों की दादी कह सकते हैं । साधक को अप

मानसिक भटकाव और शारीरिक बिखराव पर नियन्त्रण करना होता है, यही साधना है । व्यवहार में सभ्यता का, स्वभाव में सुसंस्कारिता का अधिकाधिक समावेश करते जाना ही आत्म साधना है । इसमें आत्म-निरीक्षण, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण और आत्म-विकास की चतुर्विधि प्रक्रिया को साथ लेकर चलना पड़ता है । इसी साधना पद्धति के सहारे साधकों को सिद्धि पुरुष, महामानव बनाने का सौभाग्य उपलब्ध होता है । गायत्री नगर में बसने वालों को जीवनचर्या में उस साधना पद्धति के समावेश का नियमित अवसर मिलेगा जिन्हें वे अब तक सिद्धान्त रूप से ही समझते रहे हैं पर व्यवहार में न उतार सके ।

गायत्री नगर का दूसरा पाठ्यक्रम है—स्वाध्याय । इसके चार चरण हैं—(१) अपने सम्मुख समस्याओं के समाधान के लिए उपयुक्त साहित्य का गम्भीरता पूर्वक अध्ययन (२) विषयों से विचार-विनियम, परामर्श, मार्गदर्शन । इसी को प्रवचन सत्संग कहते हैं । (३) मनन भूतकाल से लेकर अद्यावधि चलते आ रहे जीवन क्रम का पर्यवेक्षण । उसमें से परिवर्तन योग्य प्रसंगों को ढूँढ़कर निकालना । (४) चिन्तन भविष्य के लिए नीति-निर्धारण और उसे अपनाने के लिए अभीष्ट उपायों का सुनियोजन । इन चार आधारों के समन्वय से ही जीवन साधना बन पड़ती है । जिनसे बन पड़ती है वे ही आत्मोत्कर्ष के लक्ष्य तक पहुँचते और महती सफलता का आनन्द लाभ करते हैं । गायत्री नगर में बसने वालों को इसी स्तर की साधना पद्धति अपनानी पड़ती है । यही है मनोनिग्रह-आत्मविजय-स्वनिर्माण । इसी के साथ ऋषियों और सिद्धियों का भौतिक और आत्मिक सफलताओं का श्रेय साधन जुड़ा हुआ है ।

संयम इसी साधना पद्धति के मार्ग में आने वाली अड़चनों के साथ लोहा लेने के शौर्य साहस को कहते हैं । भीतर और बाहर से अनेकानेक प्रतिकूलताएँ ही परिलक्षित होती हैं । इन हल्के-भारी प्रहारों के साथ ताल-मेल बिठाने, बचने और परास्त करने की रीति-नीति को संयम कहते हैं ।

साधना, स्वाध्याय, संयम के अतिरिक्त चौथा चरण सेवा का है । यह चारों ही ऐसे हैं, जिन्हें एक साथ लेकर चलना पड़ता है । इनमें से एक भी ऐसा नहीं जिस अकेले के सहारे अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति हो सके । इनमें से एक भी ऐसा नहीं है जिसे छोड़ने पर आत्मिक प्रगति का रथ एक इंच भी आगे बढ़ सके । यह चारों अपरिहार्य हैं । अस्तु गायत्री नगर में बसने वाले हर व्यक्ति को, लोक सेवा को विशुद्ध साधना की तरह अपनाने के लिए तत्पर किया जाता है । वह दूसरे आश्रमों की पद्धति है, जहाँ रोटी तोड़ने और माला घुमाने से काम चल जाता है । गायत्री नगर के निवासियों का उद्देश्य देवजीवन की प्राप्ति है । देवता उन्हें कहते हैं जो निरन्तर देने की बात सोचते और उसी पुण्य प्रयोजन में निरत रहते हैं । दे—सो देवता । इसी कायाकल्प के लिए गायत्री नगर में बसावट होगी अस्तु हर निवासी को स्वयं ही यह ललक रहेगी कि उसे लोकसेवा का कितना अवसर मिला इससे वह अपना सौभाग्य मानेगा ।

सद्विचार तब तक मधुर कल्पना भर बने रहते हैं । जब तक उन्हें कार्य रूप में परिणत नहीं किया जाता । विचारों और कार्यों का समन्वय ही संस्कार बनता है । सामर्थ्य संस्कारों में ही होती है । उन्हीं के सहारे व्यक्तित्व बनता है और वे ही भविष्य निर्धारण की प्रमुख भूमिका निभाते हैं । संस्कार अर्थात् चिन्तन और चरित्र का अभ्यस्त ढर्रा जहाँ तक सुसंस्कारिता की उपलब्धि का सम्बन्ध है, वह सत्प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में निस्वार्थ भाव से निरत हुए बिना और किसी प्रकार सम्भव ही नहीं हो सकती । इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए गायत्री नगर के निवासियों में से प्रत्येक के लिए उसकी योग्यता एवं स्थिति के अनुरूप सेवा कार्य करने में नियोजित किया जाता है । इसके लिए न्यूनतम चार घण्टे निर्धारित हैं । जिन्हें परमार्थ परायणता की देव साधना में, सेवा संलग्नता में अधिक रस आने लगे उनके लिए अधिक अवसर भी उपलब्ध हो सकता है किन्तु चार घण्टे तो इसके लिए अनिवार्य ही रखे गए हैं । इससे रुग्णता जैसे अपरिहार्य कारणों से छुट्टी मिल सकती है । स्वार्थ वर्ग में साधना, स्वाध्याय, संयम ये तीन प्रयोजन आते हैं, परमार्थ वर्ग में एक ही निर्धारण है—सेवा । एक होते हुए भी वह इतना महत्त्वपूर्ण है कि कि अन्य तीनों की आवश्यकता पूरी कर सके । संसार में कितने ही ऐसे महामानव हुए हैं जिन्होंने आत्म-निर्माण की उच्चस्तरीय उपलब्धि मात्र सेवा साधना में संलग्न रहकर ही उपार्जित कर ली ।

गायत्री नगर में इस तथ्य को पूरी तरह ध्यान में रखा जाता है कि कोई ऐसा न रहे जो अपने ही निजी गोरख-धन्धों में उलझा दिन काटता रहे और परमार्थ प्रयोजन में अरुचि दिखाये ।

गायत्री नगर में रहने वालों की जीवनचर्या और प्रशिक्षण पद्धति इस ढंग की होगी कि सही मायने में सच्ची स्वार्थसिद्धि होती रहे । स्वार्थ साधन और आत्म-कल्याण वस्तुतः कोई भिन्न नहीं है । भिन्नता दिखाई देती है, तो दृष्टिकोण के कारण । प्रचलित अर्थों में जिसे स्वार्थ साधन कहा जाता है उसमें और आत्म-कल्याण में भी उतना ही अन्तर है, जितना अदूरदर्शिता और दूरदर्शिता में । उद्देश्य दोनों का ही एक है । अन्तर निर्धारण का पड़ जाता है । तात्कालिक लाभ का आकर्षण एक सीमा तक ही उचित है । उस सीमा तक जिसमें दूरगामी हित साधन को क्षति न पहुँचती हो, जिसके कारण भविष्य अंधकारमय बनता हो और भारी क्षति उठानी पड़ती हो उसे छोड़ने के लिए विवेक रहता है, जो छोड़ पाते वे अपने को चतुर और बुद्धिमान तो समझते हैं पर यह भूल जाते है कि दूरदर्शी विवेकशीलता की कसौटी पर जो चतुरता खरी न उतरे उसे अपनाने पर लाभ की तुलना में हानि ही अधिक उठानी पड़ती है ।

अपराधी प्रकृति के लोग स्वार्थान्ध होते है । तत्काल ही उनके लिए सब कुछ होता है, अधिक मात्रा मे और अधिक जल्दी, अधिक आकर्षक सफलता पाने की ललक ही अपराधी प्रवृत्ति का आधारभूत कारण है । उपलब्धियाँ उचित मूल्य चुकाने पर, नीति और पुरुषार्थ की गतिविधियाँ अपनाने पर मिलती हैं और मिलनी चाहिए । इस तथ्य की ओर से जो आँखे मूँदे रहते है, इनकी लिप्सा और आतुरता मिलकर कुछ ऐसा सोचने और करने के लिए बाधित करती है, जिससे स्वार्थान्धता में सरलता रहे और सफलता मिले । वह प्रयोजन एक सीमा तक ही सिद्ध होता है । सभी जानते हैं कि कुछ ही समय में वस्तु स्थिति प्रकट होने पर ऐसे व्यक्ति अविश्वस्त और तिरस्कृत होते है । असहयोग, विरोध और दण्ड के रूप में असाधारण क्षति उठाते और भविष्य को अन्धकारमय बनाते हैं ।

स्वार्थान्धता थोड़ी हल्की रहे तो वह अपराधी पर आक्रमण तो नहीं करती पर निष्ठुरता एवं कृपणता बनी रहती है । वासना और तृष्णा के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं । लोभ और मोह की पूर्ति के अतिरिक्त और कहीं कुछ आकर्षण दीखता ही नहीं । इस स्तर के लोग भी अपराधियों की तरह ही अपने को चतुर कहते हैं । सज्जनता और उदारता में उन्हें तात्कालिक हानि दीखती है । अपने मतलब से मतलब रखने वाले दूसरों के हानि लाभ पर ध्यान न देने वाले, नीति और अनीति का अन्तर भुला देने वाले निश्चय ही तात्कालिक लाभ की दृष्टि से दूरदर्शियों की तुलना में अधिक बुद्धिमान दीखते हैं पर वह बुद्धिमत्ता अन्ततः घाटे की ही सिद्धि होती है जिनके लिए स्वार्थान्ध बन गया था, वे सभी कुसंस्कारी बनते हैं । स्वयं घाटा सहते हैं और अपने प्रशिक्षक की धुनाई करते हैं ।

शरीर के लिए, मन के लिए और परिवार के लिए जो स्वार्थान्धता अपनाई गई थी, जिन्हें असाधारण देना लक्ष्य बनाया गया था वे तीनों ही असन्तुष्ट, रुष्ट, क्रुद्ध बने रहते हैं । इतना ही नहीं नीति-निर्धारण को त्रास देने में भी पीछे नहीं रहते । शरीर रुग्णता के रूप में, मन उद्विग्नता के रूप में, परिवार असहयोग, विद्रोह के रूप में किस प्रकार अपने स्वार्थान्ध सूत्र संचालक की धुनाई करता है, इसका मजेदार तमाशा देखना हो वह उसके अगणित उदाहरण अपने एवं पड़ौसियों पर ही घटित होते देख सकता है, इसके विपरीत अदूरदर्शिता की नीति अपनाने वाले आदर्शों को ध्यान में रखकर सीमित कमाने, सीमित खाने और सीमित देने-दिलाने की नीति अपनाने वाले श्रद्धास्पद भी बने रहते और सदाशयता का प्रतिफल सहयोग के रूप में भी पाते है । भले ही उनसे दूसरो ने सीमित लाभ भी उठाया हो ।

स्वार्थसिद्धि बुरी नहीं । बुरी वह अदूरदर्शिता है जो आदर्शों का परित्याग करने, ललक और लिप्सा पूरी करते रहने के लिए ही बाधित किए रहती है । इस पर अंकुश रखा जा सके तो निर्वाह भी चलता रह सकता है और अपना तथा अपने सम्बन्धियों का वास्तविक हित साधन भी हो सकता है । स्वावलम्बन सुसंस्कारिता और प्रगतिशीलता की विशिष्टता ही वस्तुतः सच्ची सम्पदा है । इसे उपार्जित करने में सुविधा संचय में कुछ कमी पड़ती हो, व्यामोह को असीम मात्रा मे पूरा करते न बनता हो तो भी दूरदर्शी नफे में रहता है । वह अपना सम्बन्धियों

का व्यक्तित्व विकसित करने के रूप में ऐसा लाभ कमाता है, जिसकी तुलना में दुर्बुद्धि ग्रस्तों की कुबेर जितनी सम्पदा भी तुच्छ बैठती है ।

दूरदर्शी विवेकशीलता ही सर्वसौभाग्यदायिनी मानी गई है । ऋतम्भरा प्रज्ञा या देवमाता गायत्री उसी को कहते हैं । देवत्व का मूल दूरदर्शिता है । उसी को अपना कर सामान्य शरीरधारी देवोपम स्तर तक जा पहुँचते हैं । गायत्री की सिद्धि और महत्ता का रहस्य जो जानते हैं, उन्हें विदित है कि वेद माता सदाचरणा प्रदान करती है । इसी उपलब्धि के सहारे मनुष्य देवोपम आचरण करते और श्रद्धास्पद बनते हैं । ऐसी प्रतिभाएँ विश्व कल्याण का मेरुदण्ड मानी जाती हैं । विश्वमाता, विश्व-कल्याण के लिए उपयुक्त व्यक्तित्व प्रदान करती है । ऐसे गायत्री साधक ही अपनी उत्कृष्ट गतिविधियों के सहारे सिद्ध पुरुष बनते हैं । अपने को उछालने और दूसरों को उठाने वाले ऐसे ही श्रेयार्थी सच्चे अर्थों में अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं । आदर्शों का समन्वय रहने से तब उसे हेय नहीं कहा जाता वरन् आत्मकल्याण में निरत रहकर मुक्त कण्ठ से सराहा जाता है ।

लोक प्रचलन में स्वार्थान्धता ही हावी है । जन्म-जन्मांतरों की संचित कुसंस्कारिता को हटाने के लिए प्रेरणाप्रद वातावरण और आदर्शवादी कार्य पद्धति की आवश्यकता पड़ती है । वह न मिल सके तो आध्यात्म तत्वज्ञान को उच्च स्तरीय चिन्तन को कहीं से समर्थन-सहयोग नहीं मिलता । फलतः बिना खाद-पानी के सूखने वाले पौधों की तरह शुभेच्छाएँ दम तोड़ती देखी जाती हैं । जिन्हें स्वार्थान्धता से मुक्ति पाने और व्यक्तित्व सम्पादन करने की आवश्यकता अनुभव होती हो उन्हें उस उच्चस्तरीय उपलब्धि के लिए आवश्यक साधन जुटाने चाहिए । साधनों के बिना सिद्धि कहाँ मिलती है । आत्मिक प्रगति के लिए आन्तरिक सम्पन्नता के लिए भी उपयुक्त साधनों की आवश्यकता है । इन साधनों में एक ही प्रमुख है । आदर्शवादी प्रचलनों वाला वातावरण जिन्होंने उपलब्ध कर लिया समझना चाहिए कि उनकी आधी मंजिल पार हो गई ।

इस सच्ची स्वार्थसिद्धि के लिए, आत्म-कल्याण के लिए साधन, स्वाध्याय और संयम की त्रिविध प्रक्रिया अपनानी पड़ती है । संयम से स्थूल शरीर, स्वाध्याय से सूक्ष्म शरीर और साधना से कारण शरीर को परिपुष्ट परिष्कृत होने का अवसर मिलता है । चौथा चरण सेवा का है । परमार्थ यही है, लोक कल्याण का श्रेय इसी पर आधारित है । पुण्य संचय और देव अनुग्रह के लिए इसको जीवन-क्रम में समुचित स्थान देना पड़ता है । समाज से ऋण-मुक्ति एवं ईश्वरीय आकांक्षा की पूर्ति के लिए, सेवा धर्म अपनाने को प्रत्येक आध्यात्म-वेत्ता को कटिबद्ध रहना पड़ता है । साधु-ब्राह्मण और वानप्रस्थ की परमार्थ परम्परा में इन तीनों के लिए लोकहित के निमित्त आलोक वितरण करना आवश्यक माना गया है ।

शरीर यात्रा के नित्य कर्म में संयम साधना सम्मिलित है । स्नान, शयन, जागरण, मल-विसर्जन, कपड़े धोना, भोजन जैसे कृत्यों को नित्य कर्म कहा जाता है । दैनिक संयम इन्हीं के सहारे चलता है । तपश्चर्या को सामान्य जीवन में संयम के रूप में ही प्रयुक्त किया जाता है । इन सबमें किस सीमा तक किस स्तर का, कितना परिवर्तन, किस क्रम से कर सकना सम्भव होगा इस पर विचार विनिमय करके किसी निश्चय पर पहुँचा जायेगा । साधारणतया भोजन सभी को अपने हाथों बनाना पड़ेगा, क्योंकि वस्तुतः वही मनोरोगों की वास्तविक चिकित्सा है ।

अन्न से मन बनता है, अस्तु उसमें न केवल सात्विकता के परिपोषण का ध्यान रखा जाना चाहिए, वरन् यह भी प्रयत्न किया जाना चाहिए कि उसमें पकाने वालों की कुसंस्कारिता का समावेश न होने पाये । साधक को स्वपाकी और सात्विकाहारी होना आवश्यक है । कुछ भी खाने, कहीं भी खाने से मन की चंचलता पर नियन्त्रण सम्भव नहीं । साधना मनोनिग्रह से आरम्भ होती है । अस्तु तपश्चर्या का प्रथम चरण भी आहार संयम से आरम्भ होता है ।

किसी को भी डरने की आवश्यकता नहीं है कि भोजन पकाना कठिन है । देव परिवार के सदस्यों को प्रथम शिक्षण यही दिया जायेगा । बुरादे की अंगीठी पर उबलते हुए खाद्यान्न पका लेने की प्रक्रिया एक घण्टे में सिखाई जा सकती है । अटपटा और आलस्य एक-दो दिन ही लगेगा । पीछे तो यह रुचिकर भी लगेगा और मनोरंजक भी । काम बदलने के लिए भोजन बनाने जैसा हेर-फेर से अनुकूलता ही पड़ती

है। सस्तेपन की दृष्टि से तो यह पद्धति ऐसी है कि यदि कोई चाहे तो घोर महँगाई में भी एक रुपया रोज में निर्वाह हो सकता है। भोजन के सम्बन्ध में सबसे बड़ी कठिनाई आवश्यक सामान खरीदने की होती है, इसके लिए गायत्री नगर के सहकारी स्टोर में दैनिक जीवन की ऐसी वस्तुएँ मिल जाती है, जिनकी आमतौर से आवश्यकता पड़ती है। अस्तु बाजार जाने में समय खर्च करने तथा बोझ लादकर लाने की किसी को भी आवश्यकता न पड़ेगी।

साधकों के लिए निवास की ऐसी व्यवस्था है जिसमें दो व्यक्ति रह सकें। हर व्यक्ति को एक कमरा देने जितनी जगह तो नहीं है, अस्तु दो को ठहरना होगा। इसमे सुविधा भी रहती है—एक प्रकृति के दो व्यक्ति मिल जाने में अखरता कुछ नहीं वरन् साथ में आनन्द भी मिलता है और अकेलापन भी नहीं खलता। पति-पत्नी दोनों साथ हों तब तो और भी सुविधा रहेगी।

*साधना में उपासना भी अनिवार्य है। गायत्री* उपासना और दैनिक यज्ञ को नित्य उपासना में सम्मिलित रखा गया है। इसके अतिरिक्त स्थिति और आवश्यकता को देखते हुए अतिरिक्त साधनों का निर्धारण किया जायेगा। उतार चढ़ावों को देखते हुए उसमे परिवर्तन भी चलता रहेगा।

सत्संग की महिमा पारस के समतुल्य बखानी गई है। उसे आत्मोत्कर्ष का उच्च स्तरीय आधार माना गया है। उपयोगी सत्संग हर घड़ी उपलब्ध नही हो सकता, किन्तु स्वाध्याय मे यह कठिनाई नहीं है। उसे चाहे जब, चाहे जितने समय, चाहे जिस विषय की जिज्ञासा का समाधान करने के लिए अपनाया जा सकता है। स्वाध्याय का महत्त्व भजन के समान ही माना गया है। आदर्शों की प्रेरणा देना ही भजन का काम है और वह प्रयोजन स्वाध्याय से भी पूरा होता है। अस्तु आत्मिक आहार के रूप में स्वाध्याय को अनवरत रूप से अपनाये रहने, उसमे प्रमाद न करने का अनुशासन प्रत्येक आध्यात्म परायण के लिए निर्धारण किया गया है।

स्वाध्याय एक प्रकार से आत्म चिकित्सा है। पाठ का पुण्य मानकर धर्मशास्त्रों को पढ़ते रहना एक वात है और आत्मोत्कर्ष की वैयक्ति समस्याओ का समाधान करने के लिए सुनियोजित स्वाध्याय करना दूसरी। देव परिजनों के लिए साधना की तरह स्वाध्याय का भी निर्धारण विचार विनिमय के उपरान्त ही किया जायेगा। आश्रम के पुस्तकालय में भी सभी आवश्यक पुस्तकें उपलव्ध हैं, घर रहकर तो खरीदने और पढ़ने का ही क्रम अपनाना पड़ता है, क्योंकि न तो हर जगह अच्छे पुस्तकालय हैं और न उनमें वे पुस्तकें हैं, जिन्हें आत्म-निर्माण के निमित्त पाठ्य-पुस्तक मानकर क्रमवद्ध रूप से पढ़ा जा सके। गायत्री नगर के पुस्तकालय में होंगी तो अनेक विषयों की पुस्तकें, पर उनमें से किसे क्या पढ़ना चाहिए, इसका निर्धारण साधक की समस्याओ और आवश्यकताओं को देखते हुए विचार विनिमय के आधार पर ही किया जायेगा। स्वाध्याय की मर्यादा इतनी ही है।

जिन्हे अध्यापन में रुचि है, वे ज्ञानवृद्धि के लिए अन्यान्य पुस्तकें पढ़ते रहते हैं। ऐसा पढ़ना तो शोध प्रयोजनों के लिए भी उपयोगी सिद्ध हो सकता है। यह विशेष रुचि एवं योग्यता का विषय है।

सामान्य तपश्चर्या दैनिक जीवन में आहार-विहार में कठोरताएँ बरतने भर से होती रह सकती हैं। पर जिनके लिए उपयुक्त समझा जायेगा, उन्हें समय-समम पर व्रत, उपवास, चान्द्रायण, मौन, एकान्त सेवन आदि की तपश्चर्याएँ भी आवश्यकतानुसार कराई जाती रहेगी।

सेवा के लिए चार-चार घण्टे सभी साधकों के लिए नियत रहेंगे। बीस घण्टे अपने लिए और चार घण्टे समाज के लिए लगाते रहने की मर्यादा नियत की गई है। इन चार घण्टो को कौन किस प्रकार, किस कार्य में, किस समय किया करेगा, इसका निर्धारण भी साधकों की शारीरिक-मानसिक क्षमता, अनुभव, अभ्यास एवं योग्यता के आधार पर किया जाता रहेगा। आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन भी चलेगा।

गायत्री नगर की वर्तमान आवश्यकताएँ पाँच प्रकार की हैं—(१) अध्यापन, (२) दफ्तर, (३) जनसम्पर्क, (४) साहित्य सृजन, (५) व्यवस्था।

आश्रम में बाल कक्षा से लेकर मैट्रिक तक का विद्यालय चलेगा, साथ में उद्योग, व्यायाम आदि की शिक्षा भी रहेगी, जिनमें पढ़ाने की योग्यता है वह उस कार्य में लगेगा। बड़ी आयु के उपस्थित साधकों को भी कई जानकारियाँ एवं सहायताएँ देनी पड़ेंगी। रामायण एवं गीता की कथाएँ नियमित रूप से चलेंगी।

संगीत शिक्षा का भी प्रबन्ध है । इनमें भी अध्यापक की आवश्यकता पड़ेगी ।

व्यवस्था में उद्यान, जल व्यवस्था, सफाई, चौकीदारी, स्टोर, मशीनों की देख-भाल मरम्मत आदि के अनेकों काम हैं । उपर्युक्त कार्यक्रमों में से लोक मंगल की कोई सेवा साधना हर साधक के जिम्मे रहेगी और साधना संयम सेवा की संयुक्त विधि-व्यवस्था में हर साधक की जीवनचर्या को सुसंस्कारिता से ओत-प्रोत रहने का अवसर मिलेगा ।

संक्षेप में गायत्री नगर में चलने वाली प्रशिक्षण प्रक्रिया का यह संक्षिप्त-सा दिग्दर्शन है । व्यवहार में इन्हीं के अनेकों शाखा-प्रशाखाएँ फूटती हैं और उन्हें क्रियान्वित करने के लिए कई कार्य पद्धतियाँ अपनाई जाती हैं । उन सबका परिचय, दिग्दर्शन इन पंक्तियों में सम्भव नहीं । सारांश इतना ही है कि ब्रह्मवर्चस शान्ति कुंज एवं गायत्री नगर की त्रिविध क्रिया पद्धतियों में हर साधक अपने लिए उपयुक्त कार्य उपलब्ध कर सकेगा और परमार्थ साधना का आनन्द लेता रहेगा ।

गायक, वक्ता, प्रचारक, रचनात्मक कार्यों में रुचि लेने वाले विभिन्न शक्ति पीठ कार्यक्षेत्रों में भेजे जाते रहेंगे । वे युग निर्माण सम्मेलनों के माध्यम से अनेकों सृजनात्मक और सुधारात्मक सत्प्रवृत्तियों को अग्रगामी बनाने की विभिन्न भूमिकाएँ निभायेंगे ।

सब मिलकर गायत्री नगर के निवासी अपनी जीवनचर्या और चिन्तन पद्धति में यहाँ बसने पर एक क्रान्तिकारी परिवर्तन अनुभव करेंगे । यह बदलाव मात्र ढर्रे में ही नहीं आवेगा वरन् यह भी परिलक्षित होगा कि समूचा व्यक्तित्व ही बदल और ढल रहा है । इस ढलाई के लिए ही यह संरचना की गई और जिम्मेदारी उठाई गई है । इन गतिविधियों को जिस उत्तमता के साथ सम्पन्न किया जा सकेगा, उसी अनुपात से उस लक्ष्य की पूर्ति सम्भव हो सकेगी, जिसमें मनुष्य में देवत्व के उदय और धरती पर स्वर्ग के अवतरण को सम्भव एवं प्रत्यक्ष कर दिखाने का निश्चय किया गया है ।

स्मरण रहे स्थान, व्यक्तित्व और परिस्थितियों के साथ मनुष्य बुरी तरह जकड़ा रहता है । व्यक्तित्व में क्रान्तिकारी कायाकल्प स्तर का परिवर्तन लाना हो तो उसके लिए स्थान परिवर्तन अनिवार्य रूप से आवश्यक है । ब्रह्मचारियों को घर छोड़कर गुरुकुल जाना पड़ता है । यद्यपि घर पर मास्टर बुलाकर लड़कों को पढ़ाने में अमीरों को कोई असुविधा नहीं होती है । वानप्रस्थों को घर छोड़ कर आरण्यकों में बसना पड़ता है । यद्यपि भजन और सेवा कार्य घर-गृहस्थी के साथ-साथ भी होते रह सकते हैं । लड़की को ससुराल जाना पड़ता है, यद्यपि कोई सम्पन्न लड़की पितृ गृह में भी पति को नौकर रख सकती है । स्वयं सेवी को और परिव्राजक जन-जन से सम्पर्क साधते और परिभ्रमण करते हैं यद्यपि वे दफ्तर खोलकर जरूरतमन्दों को अपने घर भी बुलाते रह सकते हैं । संस्कार बदलने के लिए घर का वातावरण बदलना आवश्यक है । प्रायः सभी महामानवों ने अपना कार्यक्षेत्र जन्मभूमि से हटकर अन्यत्र बनाया है । यह व्यवहारतः असुविधाजनक लगता है पर तथ्यतः यह इतना आवश्यक है जिसे अनिवार्य भी कहा जा सकता है । व्यक्तित्व बदलने की, व्यक्तित्व निर्माण की आवश्यकता जो समझते हों उन्हें स्थान परिवर्तन की बात भी सोचनी होगी । जो इस प्रकार सोचे उनके लिए गायत्री नगर से बढ़कर उपयुक्त स्थान दूसरा हो नहीं सकता ।

## सद्ज्ञान और सत्सामर्थ्य की समन्वित साधना

युग सन्धि की प्रस्तुत वेला में शान्ति कुंज की आध्यात्मिक शिक्षा एवं साधना की प्रक्रिया को 'ब्रह्मवर्चस' नाम दिया गया है ।

शरीर-बल, शास्त्र-बल, बुद्धि-बल, धन-बल, पद-बल, संघ-बल, प्रतिभा-बल आदि से सभी परिचित हैं । उनके उपार्जन एवं उपयोग के सम्बन्ध में लोग बहुत कुछ जानते हैं, पर आन्तरिक बल की गरिमा का आभास किसी-किसी को ही होता है । इस तथ्य पर तो इन दिनों कदाचित ही कोई विश्वास करता है कि समस्त बल वैभवों की तुलना में बलवती आत्मा की, प्रखरता का मूल्य अत्यधिक है । जिसे यह समर्थता उपलब्ध है, उसके लिए प्रगति के दसों द्वार खुले रहते हैं । उसके मार्ग में आने वाले किसी भी अवरोध को निरस्त ही होना पड़ता है ।

'ब्रह्म' को ज्ञान, 'वर्चस' को विज्ञान कह सकते हैं । ज्ञान और बल परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं ।

ज्ञान को पंगु और बल को अन्ध कहा जाता है, दोनों के संयोग से ही एक समर्थ इकाई बनती है । द्रोणाचार्य ने हाथों में रहने वाले वेद को 'ब्रह्म' और कन्धे पर रहने वाले धनुष को 'क्षात्र' कहा था और अपने इस धारण को ब्रह्मतेज की संज्ञा दी थी । विश्वामित्र ने राम-लक्ष्मण को ब्रह्म विद्या और धनुष विद्या की समन्वयात्मक शिक्षा दी थी । प्राचीन गुरुकुलों की समग्र शिक्षा पद्धति में ज्ञान और बल की आत्मिक तथा भौतिक समर्थता प्राप्त करने का समन्वय रहा है ।

एकाकीपन सदा अधूरा रहता है । गाड़ी एक पहिए से नहीं दो से चलती है । नर और नारी के संयोग से सृष्टि चल रही है । काम करने में दोनों हाथों की और चलने में दोनों पैरों की आवश्यकता पड़ती है । यों गुजारा तो लंगड़े-लूले भी करते हैं, पर पूरा प्रयोजन उभय-पक्षीय समर्थता ही सम्पन्न करती है । जीव चेतन है और शरीर जड़ । एक ब्रह्म का प्रतिनिधि है दूसरा प्रकृति का प्रतीक । दोनों के संयोग से ही जीवन चलता है । वियोग होने पर दोनों की स्थिति लड़खड़ा जाती है । दोनों ही असमर्थ हो जाते हैं । कोई ज्ञानवान दुर्बलताग्रसित और कोई बलिष्ठ जड़ बुद्धि होकर रह रहा हो तो दोनों की सत्ता गई-गुजरी ही समझी जायेगी । अस्तु ज्ञान और बल की उपयोगिता भिन्न-भिन्न प्रकार की होते हुए भी वे परस्पर एक-दूसरे के पूरक ही माने जाते हैं ।

भारतीय तत्वज्ञान के दो भाग हैं—एक निगम दूसरा आगम । 'निगम' को वेद पक्ष कहते है । आगम को तन्त्र पक्ष । निगम में भावना और विचारणा को परिष्कृत करने वाले तथ्य हैं । तन्त्र में समर्थता बढ़ाने और उसका विभिन्न उद्देश्यो के लिए प्रयोग करने की विधा समझायी गई है । भगवान के अवतरण के दो उद्देश्य होते हैं—(१) धर्म संस्थापनार्थाय, (२) विनाशायश्च दुष्कृत्यान् । धर्म की स्थापना ही नहीं अधर्म का नाश भी अवतारो का कार्यक्रम रहता है । एक ही पक्ष को लेकर चलने से बात सर्वथा अधूरी रहेगी । मनुष्य में दैवी और आसुरी, सतोगुणी और तमोगुणी दोनों ही तत्व हैं । सतोगुण का सम्वर्धन धर्म धारणा से होता है । असुरता को तमोगुण से मात्र सद्भाव से परिवर्तित नहीं किया जा सकता, उसे बदलने के लिए दण्ड नीति अपनाये बिना और कोई चारा नहीं । दुष्टता शक्ति की भाषा ही समझती है । विनय तो उसकी दृष्टि में उपहासास्पद दुर्बलता ही प्रतीत होती रहती है । अस्तु ज्ञान के साथ-साथ बल का उपार्जन भी आवश्यक माना गया है ।

आत्म-बल और भौतिक बल दोनों ही अपनी-अपनी आवश्यकताएँ पूरी करते हैं । शरीर निर्वाह के लिए भौतिक साधन चाहिए । आत्मोत्कर्ष के लिए भाव सम्वेदनाओं को विकसित होने का अवसर मिलना चाहिए । न तो भूखा भजन कर सकता है और न पेटू को आत्म-शान्ति मिल सकती है । रात और दिन की तरह, सर्दी-गर्मी की तरह, नमक-शक्कर की तरह, अन्न-जल की तरह ज्ञान और बल का युग्म है । एक की सार्थकता दूसरे के बिना हो नहीं सकती । मध्य काल में अहिंसा का अतिवाद गगनचुम्बी बना, फलतः मध्य एशिया से दस्युओं का एक दल भारत पर चढ़ दौड़ा और देखते-देखते इस विशाल देश को पैरों तले रौंद डाला । यदि प्राचीन काल की तरह ज्ञान और कर्म का, दया और पराक्रम का समन्वय संजोकर रखा गया होता तो वैसी दुर्दशा देखने को न मिलती । माली को पौधों में खाद, पानी लगाने के अतिरिक्त वन्य पशुओं से बगीचे की रखवाली का प्रबन्ध करना पड़ता है । पौधों की वृद्धि अक्षुण्ण बनी रहे, इसके लिए वह खरपतवार को उखाड़ता भी तो रहता है । उद्यान को सुरम्य बनाने के लिए कुशल माली को बेतुकी टहनियों की काट-छाँट भी करनी पड़ती है । अध्यापक एक आँख प्यार की और दूसरी सुधार की रखता है । इस परस्पर विरोधी, किन्तु साथ ही पूरक नीति को अपनाकर ही विद्यालय मे अनुशासन बनाये रख सकना सम्भव होता है ।

ब्रह्मवर्चस की शिक्षा एवं साधना उभय-पक्षीय है उसमें आत्मिक और भौतिक प्रगति के लिए समग्र साधन पद्धति को प्रश्रय दिया गया है । भक्ति की अपनी महत्ता है, पर शक्ति की भी तो उपेक्षा नहीं की जा सकती । शक्ति शिव पत्नी है । कहा गया है कि शक्ति के बिना शिव 'शव' मात्र रह जाते हैं, प्रकृति के बिना पुरुष के अस्तित्व का प्रकटीकरण ही नहीं हो सकता ।

पिछले दिनों यह समन्वयात्मक ताल-मेल भौतिक और आत्मिक दोनों ही क्षेत्र में बिगड गया । न वैभव

पर विवेक का अंकुश रहा और न धर्म ने अपनी सुरक्षा के लिए सामर्थ्य का सम्पादन किया । न भावना पर विवेक का नियन्त्रण रहा और न बुद्धि ने भावनाओं का वर्चस्व स्वीकार किया ।

ब्रह्मवर्चस प्रशिक्षण का दृष्टिकोण एवं कार्यक्षेत्र व्यापक है, व्यक्ति और समाज का समग्र विकास उसे अपेक्षित है । चिन्तन में उत्कृष्टता और कर्तृत्व में आदर्शवादिता के समन्वय के लिए तत्परतापूर्वक प्रयत्न किए जाने चाहिए । श्रद्धा और विवेक का जोड़ा ही उस यथार्थवादी सत्य का सृजन करता है, जिसमें 'हजार हाथी का बल होने' की लोकोक्ति है । अपनी शिक्षण प्रक्रिया के अनुसार न संसार को मिथ्या या स्वप्न बताकर अकर्मण्य शुष्क वेदान्ती बनने की आवश्यकता अनुभव होगी और न वासना, तृष्णा, अहंता में डूबे हुए नर-पामरों के स्तर का जीवनस्वरूप स्वीकार किया जायेगा । हर व्यक्ति कर्मयोगी बनने का प्रयत्न करेगा । उसे भक्ति और शक्ति की उपयोगिता समान रूप से प्रतीत होगी । दया और करुणा की भाव भरी ममता को सम्वेदनाओं में परिपूर्ण स्थान देते हुए उस शौर्य, साहस को शिथिल न होने देगा जो कर्तव्य-पालन के रूप में प्रबल पुरुषार्थ और दुष्टता को निरस्त करने में प्रचण्ड पराक्रम के रूप में अनिवार्य रूप से आवश्यक है । तत्व-दर्शन को व्यावहारिक जीवन में उतारने की कुशलता—सामान्य व्यवहार में कलाकार की सौन्दर्य साधना का समावेश कैसे सम्भव है । इस जटिलता को सरलता के रूप मे प्रस्तुत कर सकने की शिक्षण शैली ब्रह्मवर्चस द्वारा अपनाई जायेगी । उसे भौतिक आध्यात्मवाद अथवा आध्यात्मिक भौतिकवाद कहा जाय तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति न होगी । सन्त विनोबा के मतानुसार भविष्य मे आध्यात्म और विज्ञान का समन्वय ही जीवित रहेगा । गुरु गोविन्दसिंह ने अपने शिष्यों को एक हाथ में माला और दूसरे में भाला लेकर रहने की शिक्षा दी थी । सिख धर्मानुयायियों ने उस परम्परा को अपनाकर युग धर्म का ही निर्वाह किया है । औचित्य के अभिवर्धन, परिपोषण की आवश्यकता समझते हुए अनौचित्य का मुँह मोड़ने के लिए साहसिक संघर्ष की भी आवश्यकता है । सरकार को अपनी प्रजा को सुशिक्षित, सुविकसित, सुसंस्कृत बनाने के लिए बड़ा बजट और कार्यक्रम बनाना पड़ता है, साथ ही सुरक्षा के लिए सैन्य-साधन से लेकर पुलिस, कचहरी, जेल जैसे प्रबन्ध भी करने पड़ते हैं । कोई सरकार इस उभय-पक्षीय उपायों की आवश्यकता न समझे और एक को ही पर्याप्त मान बैठे तो उसे असफल ही रहना पड़ेगा । व्यक्ति और समाज की सुसन्तुलित प्रगति के लिए भी ज्ञान और बल की समान रूप से आवश्यकता है । दोनों ही नीति युक्त हों, औचित्य के सम्वर्धन संरक्षण में इनका प्रयोग हो तो इससे मानवी गरिमा बढ़ेगी ही । विश्व शान्ति का, उज्ज्वल भविष्य का, आधार बनेगा ही । ब्रह्मवर्चस की आध्यात्म शिक्षा एवं साधना इसी स्तर की है । उससे खतरा असुरता के अतिरिक्त और किसी को नहीं है ।

## व्यक्तित्व के सर्वांगपूर्ण परिष्कार का प्रशिक्षण

प्रगति और समृद्धि के लिए अनेकानेक उपाय अपनाये और साधन जुटाए जाते हैं । उनका यत्किंचित परिणाम भी निकलता है; पर ध्यानपूर्वक देखा जाय तो प्रतीत होता है कि हम मन समझाने के लिए कुछ सफलताओं को ही बढ़-चढ़ कर मान लेते हैं । आँकड़े गढ़ लेते हैं और प्रचार साधनों के आधार पर ऐसी चकाचौंध उत्पन्न करते हैं, जिससे अपना प्रतिपादन सही सिद्ध हो सके । प्रगति का उतना श्रेय मिल सके, जितना कि सोचा तो गया था, पर बन नहीं पड़ा । आज अनेकानेक निर्धारणों, क्रिया-कलापों, साधनों एवं प्रयासों के बावजूद वैयक्तिक या सामूहिक प्रगति का लक्ष्य किस हद तक प्राप्त कर सके हैं, यह विचारणीय है । काल्पनिक प्रसन्नता से मन समझा लेने पर प्रवंचना ही सधती है । वह उपलब्ध नहीं होती, जो होनी चाहिए थी । कारण यह है कि उस जीवित सयन्त्र को कारगर नहीं बनाया गया, जो अपने गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर परिस्थितियों को गढ़ता है और स्वल्प साधनों एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में भी सफलता के अनेकानेक आधार खड़े कर लेता है । इस संयन्त्र का नाम है "मनुष्य" । यों गई-गुजरी स्थिति में तो मनुष्य खाता-सोता, बच्चे जनता, गुजारा करता और निर्धारित कार्य पद्धति का ढर्रा घुमाता है, पर इतने भर से यह स्थिति नहीं बनती, जिसके कारण प्रगति पथ प्रशस्त हो । स्वयं आगे बढ़े, ऊँचा उठे और सम्पर्क में आने वालों को भी वैसी ही सुविधा प्रदान करके "स्वयं तरने दूसरों को तारने" की युक्ति चरितार्थ करे ।

मानवी प्रगति के इतिहास पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि जहाँ अगणित व्यक्ति किसी प्रकार जीते मरते रहते हैं, कुछ ऐसे भी होते हैं जो अपना व्यक्तित्व निखारते हुए महामानव स्तर के काम करते हैं। कठिनाइयों को सरल बनाते हैं। अवरुद्ध मार्ग को खोलते हैं और ऐसा ताना-बाना बुनते हैं कि उत्साहवर्धक उपलब्धियों का अम्बार जमा हो जाय। इन पिछड़े और प्रगतिशील लोगों का शारीरिक ढाँचा तो एक जैसा होता है, पर उनके बीच गुण, कर्म, स्वभाव का भारी अन्तर पाया जाता है। इस विषय की विशेषताएँ ही मनुष्य का व्यक्तित्व निखारती हैं, प्रतिभाओं का धनी बनाती हैं। कर्तव्य-परायण और पुरुषार्थी कहलाने का अवसर प्रदान करतीं हैं। इन्हीं विशेषताओं के कारण मनुष्य प्रामाणिक विश्वासपात्र, और प्रतिभाशाली बनता है। ऐसे ही व्यक्तियों का चुम्बकत्व अन्य अनेक व्यक्तियों को अपने प्रभाव परिकर में आकर्षित कर जन प्रवाह को जन्म देता है। सर्वविदित है कि रोशनी का, गर्मी का, सुगन्ध आदि के प्रभाव का अपना-अपना दायरा होता है। उनकी समीपवर्ती उपस्थिति का आभास सहज ही होता है। इसी प्रकार कर्मठ लोगों की एक मण्डली बन जाती है। चुम्बक के सम्पर्क में लौह कण न केवल खिंचते चले आते हैं, वरन् उस विशेषता से सम्पन्न भी हो जाते हैं। चन्दन के पेड़ के समीपवर्ती झाड़-झंखाड़ों का भी सुगन्धित होना प्रसिद्ध है। इसी प्रकार विकसित व्यक्तित्व वाली प्रतिभाएँ अपने सम्पर्क क्षेत्र मे से अधिकांश को ऐसे ढाँचे में ढाल लेती हैं, जिनकी गुणवत्ता भी प्रशंसा योग्य ठहराई जा सके। अभिभावक अपने बच्चों को किसी ढाँचे में ढालते हैं। अफसर अपने सहयोगी अधीनस्थों मे भी कर्मनिष्ठा उत्पन्न किए बिना नहीं रहते। नेपोलियन की सेना अन्यों की तुलना में वरिष्ठ थी। गाँधी, बुद्ध, विनोबा आदि के सहयोगी अपनी गतिविधियों को उज्ज्वल बनाते रहे। ऐसा हर क्षेत्र मे होता है। भले और बुरे दोनो ही क्षेत्रों में सूत्र संचालक का प्रभाव देखा जा सकता है।

जिस काम मे घटिया संचालक अपने घटियापन के कारण साथियों को भी घटिया बना लेते हैं, उनकी सूझ-बूझ, कार्य पद्धति, अनुशासन शैली सभी कुछ अस्त-व्यस्त होती है; फलस्वरूप उस समुदाय द्वारा किए गए कार्य भी घटिया, खोखले एवं उपहासास्पद होते हैं। वस्तुतः प्रतिभा और व्यवस्था का अभाव भी इतनी बड़ी कमी है, जिसके रहते किसी भी क्षेत्र में उत्साहवर्धक सफलता की आशा नहीं की जा सकती।

इसलिए जहाँ उत्साहवर्धक सफलता अभीष्ट हो, वहाँ सुनियोजित योजना बनाने, साधन जुटाने से भी अधिक आवश्यक यह है कि संचालक और सहायकों का समूचा मण्डल इस स्तर पर प्रशिक्षित किया जाय कि उस परिकर में आदर्शवादिता, गुणवत्ता, कर्तव्य-परायणता में कहीं कोई कमी न रह पाये। देखा जाता है कि इस महती आवश्यकता के सम्बन्ध में उपेक्षा बरती जाती है। कार्यकर्त्ता मण्डल को चरित्र एवं निपुणता की दृष्टि से प्रवीण-पारंगत नहीं किया जाता। उन्हें यह बोध नहीं कराया जाता कि दायित्वों को बढ़िया किस्म से निभाहे जाने पर उनकी निजी, मण्डली की, सूत्रधार की तथा समूचे समाज की प्रगति-प्रसन्नता निर्भर है। इस सम्बन्ध में रही हुई भूल और बरती गई उपेक्षा ही अनेकानेक असफलताओं का निमित्त कारण बनती है।

अपना देश इन दिनों सर्वतोमुखी प्रगति और समृद्धि के लिए प्रयत्नशील है। इस हेतु कर्मचारी बढ़ाये, साधन जुटाये एवं निर्धारण किए जा रहे हैं। इतने पर भी वैसा सत्परिणाम देखने को नहीं मिलता, जितना कि मिलना चाहिए था। छिद्र भी बहुत रहते हैं। शिकायतें भी अनेक सुनी जाती हैं। इसका निवारण करने के लिए जहाँ सुविधा सम्वर्धन और कठोर अनुशासन की आवश्यकता है, वहाँ यह भी जरूरी है कि कार्यरत व्यक्तित्वों का निजी स्तर उठाया जाय, उनमें दायित्व जगाया जाय। साथ ही यह भी देखा जाना है कि इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रशिक्षण की अभिनव पद्धति अपनायी जाय।

प्रसन्नता की बात है कि इस महती आवश्यकता की ओर मूर्धन्य विचारशीलों का ध्यान आकर्षित हुआ है। *"मानवीय संसाधन विकास"* (ह्यूमन रिसोर्स डेवलपमेण्ट) इसी प्रक्रिया को नाम दिया गया है, जिसका तात्पर्य होता है, व्यक्तित्वों को समर्थ, परिष्कृत बनाना, प्रतिभा को विकसित करना। समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी, बहादुरी की भावनाओं से व्यक्तित्वों को भरना। इसके लिए कितने ही चरित्रगत दोषों का

उन्मूलन आवश्यक है । आलस्य, प्रमाद, अपव्यय, अशिष्ट व्यवहार, आवेश, ईर्ष्या, पक्षपात अनुशासन का उल्लंघन, निर्धारित मर्यादाओं की उपेक्षा और वर्जनाओं की अवहेलना करने से मनुष्य अपने आप में इतना उलझ जाता है कि न तो स्वयं को प्रामाणिक प्रतिभाशाली सिद्ध कर पाता है और न साथियों को अनुशासन में रख सकता है । न स्वयं अपने दायित्वों को पूरा कर सकता है और न सहकर्मियों से कर्तव्यों का परिपालन करा सकता है । दूसरो को सुधारने से पहले अपना सुधार आवश्यक है । साँचे के अनुसार पुर्जे ढलते हैं । अभिभावकों के अनुरूप ही बच्चे बनते हैं । अधिकारी वर्ग की जिम्मेदारी इसी नाते ज्यादा है ।

अतः आवश्यक यह है कि छोटे-बड़े किन्हीं भी कार्यों को हाथ में लेने से पूर्व संचालकों का, अधिकारी वर्ग का व्यक्तित्व इस स्तर का विनिर्मित किया जाय कि उन्हें समझा जा सके । उनके मार्गदर्शन में काम करने वाले भी तभी ठीक तरह काम कर सकेंगे, जब अपने संचालक को जागरूक, चरित्रवान, परिश्रमी और तत्परतापूर्वक अपने हिस्से का काम करते देखेंगे ।

यह कार्य उच्चस्तरीय प्रशिक्षण का है । कार्य पद्धति तो तकनीकी होती [redacted] । वह हर विभाग की प्रशिक्षण पुस्तकों में भी छपी रहती है और भरती करते समय भी कुछ समय ट्रेनिंग होती है । इसमें यही बताया जाता है कि क्या कार्य, किस प्रकार करना या कराना होगा, बीच-बीच में आने वाली कठिनाइयों से किस प्रकार निपटना पड़ेगा ? यह सब अनिवार्यतः आवश्यक है । पर साथ ही यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि मनुष्य मशीन नहीं है, जो एक बार चाबी लगा देने से अपने ढर्रे पर घड़ी की तरह नियमित रूप से चलता रहे । मशीनों को भी ठीक तरह कुशल कारीगर एवं सतर्क सुव्यवस्थित बुद्धि के लोग ही चला पाते हैं । वे स्वयं यदि त्रुटिपूर्ण आदतों के हैं । स्वभाव एवं चरित्र की दृष्टि से ढीले पोले हैं, तो न अपने हिस्से का काम पूरी तरह कर सकेंगे और न सहकर्मियों से भली प्रकार पूरा करा सकेंगे । फलतः वैसी सफलता न मिल सकेगी, जैसी मिलनी चाहिए थी । काम न करने पर जितनी क्षति होती है उसकी तुलना में तब और अधिक घाटा होता है, जब उसे अन्यमनस्क भाव से अस्त-व्यस्त व्यक्तियों द्वारा अकुशल ढंग से किया जाय ।

इसलिए आवश्यक है कि किसी भी कार्य को आरम्भ करने से पूर्व इस प्रकार का विशेष शिक्षण दिया जाय कि उत्तरदायित्व उठाने वाले अपने निजी चरित्र को सुव्यवस्थित रखें, ताकि अनुपयुक्त कार्यों में ध्यान न बँटे । दुर्व्यसनों और दुष्प्रवृत्तियों का पेट भरने के लिए पैसे की, समय की, ध्यान की आवश्यकता बढ़ जाने पर उसकी पूर्ति के लिए हाथ के नीचे आए काम को खराब न करें । समग्र सफलता का यही कारगर उपाय है ।

अच्छा होता, यह प्रामाणिकता, प्रतिभा एवं कुशलता स्कूली शिक्षा के साथ-साथ चलती और छात्र जब वयस्क होकर किसी सरकारी या गैर सरकारी क्षेत्र में प्रवेश करते तो वे उतने ही कुशल मिलते, जितने कि मोर्चे पर भेजे जाने वाले सैनिक अपने आपको हर कसौटी पर खरा सिद्ध करते हैं । वस्तुतः सेना की तरह ही हर छोटे-बड़े कार्य में दायित्वों से जूझने वाले हर व्यक्ति को इसी स्तर पर विकसित एवं प्रशिक्षित किया जाना चाहिए । राष्ट्रीय चरित्र को समुन्नत बनाये जाने की दृष्टि से ऐसी शिक्षण पद्धति का विकास शासन व समाज के हर विभाग के लिए नितान्त आवश्यक है ।

पिछले दिनों जो न हो सका अथवा लम्बे शिक्षण के लिए जो किया जा सकता है, उस पर शान्तिपूर्वक समय-समय पर क्रम से भी विचार किया जा सकता है; किन्तु जो कार्य बिल्कुल हाथ में है, जिनके परिणाम हाथों-हाथ दीख पड़ने की आवश्यकता है, उनके सम्बन्ध में तो ऐसी योजना बननी चाहिए कि महत्त्वपूर्ण कार्यों में निरत व्यक्तियों को इस स्तर तक प्रशिक्षण दिया जाय कि वे सर्वप्रथम अपने आपको आदर्श एवं अनुकरणीय सिद्ध करें । इसके बाद ही यह हो सकेगा कि वे अपने सहकर्मियों के सामने उदाहरण प्रस्तुत करें और उनसे भावनायुक्त कार्य करा सकने में सफल हों, सराहनीय एवं उपयोगी कार्य बन पड़ने का यही तरीका है ।

आवश्यक है कि ऐसी विशिष्ट शिक्षा पद्धति नये सिरे से आरम्भ की जाय, जिसमें चरित्र और कौशल दोनों का ही समुचित समावेश हो । इस खराद पर चढ़ने के बाद हर कार्यरत व्यक्ति अपनी प्रतिभा का परिचय दे सकेगा, सन्तोष एवं सम्मान प्राप्त कर सकेगा ।

ऊपर की पंक्तियों में जिस प्रशिक्षण की आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है, उसे आरम्भ करने का एक अभिनव, किन्तु सांगोपांग प्रयास शान्ति कुंज, हरिद्वार

द्वारा किया गया है । इस आश्रम में इसके लिए हर दृष्टि से सुयोग्य शिक्षकों की व्यवस्था है । उनकी निजी शिक्षा एवं शिक्षण की शैली ऐसी है, जो सामान्य कर्मचारियों से लेकर बड़े अफसरों तक को समान रूप से प्रभावित कर सके । इस आश्रम का वातावरण भी ऐसा है, जिसमें रहकर हर धर्म सम्प्रदाय तथा वर्ग के लोग शिक्षा तथा बदलाव को उत्साहपूर्वक अनुभव कर सकें ।

सार्वजनिक क्षेत्र में कार्य करने के लिए प्रज्ञा मिशन के अनेक कार्यकर्त्ता यहाँ प्रशिक्षित किए जाते हैं । हर महीने प्रायः ३०० कार्यकर्त्ताओं को एक-एक महीने का पाठ्यक्रम पूरा करना पड़ता है । इस शिक्षण के उपरान्त वे अपने क्षेत्रों में नैतिक, बौद्धिक एवं सामाजिक सुधार परिवर्तन एवं रचनात्मक क्रिया पद्धति का सूत्र-संचालन करने के लिए चले जाते हैं । यह कार्य विगत पन्द्रह वर्षों से निरन्तर चल रहा है । पन्द्रह हजार से ऊपर कार्यकर्ता प्रशिक्षित किए जा चुके हैं । इस कार्य में मिशन के वरिष्ठ प्रशिक्षकों ने वह योग्यता अर्जित कर ली है कि एक कदम आगे बढ़कर यह प्रयास कर सकें कि वे सरकारी और गैर सरकारी कार्यरत संस्थानो के, विभिन्न धर्म व वर्गों के कार्यकर्त्ताओं को भी वे समग्र व्यक्तित्व निर्माण की सर्वांगपूर्ण शिक्षा दे सकें ।

चारों तरफ दृष्टि डालने पर हम पाते हैं, कि राष्ट्र निर्माण के विविध कार्यों में अधिकतर सरकारी कर्मचारी कार्यरत हैं । कुछ कार्य स्वेच्छा से ही संस्थाओं द्वारा भी हो रहे हैं । निजी क्षेत्र में ही कितनी ही योजनाएँ चल रही हैं । निजी प्रयास या धन से भी कितने ही उद्योग चल रहे हैं । इन सभी के कार्यकर्त्ताओं को उपर्युक्त शिक्षा की आवश्यकता है । जिस प्रकार भर्ती के समय उनकी जिम्मेदारियों और कार्य पद्धति के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी दी जाती है, उसी प्रकार यह भी आवश्यक होना चाहिए कि उनका चरित्र-चिन्तन एवं व्यवहार दृष्टिकोण भी आदर्शवादी, देश भक्ति एवं समाजनिष्ठा से परिपूर्ण हो । वे न केवल अपना कार्य कुशलतापूर्वक सम्पन्न करें, वरन् उसके साथ-साथ ही ऐसी मानसिकता एवं गुणवत्ता का समावेश करें जिससे कार्य करने और कराने वाले दोनों ही पक्ष नफे में रहें । साथ ही उन कार्यों की परिणति का जिन्हें उपयोग करना है, वे सभी उस उपलब्धि को मुक्त कण्ठ से सराहें ।

सब मिलाकर इस प्रक्रिया से समूचे राष्ट्र को अनेक आधारों पर प्रगति का लाभ मिलना है । इस व्यवस्था को पूरी तत्परता और तन्मयता के साथ हाथ में लिया जाना चाहिए । सर्वप्रथम सरकारी विभाग अपनी-अपनी परिधि में इस योजना को कार्यान्वित करें । बजट का अधिकांश भाग कर्मचारियों के वेतन निर्वाह पर ही खर्च होता है । यही है कार्य क्षमता का वास्तविक स्रोत । इसे जितना श्रेष्ठ समुन्नत बनाया जायेगा, उसी अनुपात से बजट का श्रेष्ठतम सदुपयोग बन पड़ेगा और निर्धारित योजनाओं को उत्साहवर्धक ढंग से कार्यान्वित करने का अवसर भी मिलेगा । जो देखेगा, सुनेगा, समझेगा, वह इस सुव्यवस्था की भूरि-भूरि प्रशंसा किए बिना न रहेगा । कर दाताओं को भी अधिक पैसा देते हुए अखरेगा नहीं ।

इसीलिए यही तरीका अच्छा समझा गया है कि विभिन्न विभागों के ऊपर वाले अधिकारी हरिद्वार में शिक्षण प्राप्त करें और उस निर्धारण से अपने-अपने कार्य क्षेत्रों में जाकर सम्बन्धित सहकर्मियों को लाभान्वित करें । ऊपर वाले मध्य वर्ग को, मध्य वर्ग छोटे वर्ग को प्रशिक्षित करें । इससे यह सुविधा रहेगी कि शान्ति कुंज जिसमें की प्रशिक्षणार्थियों की एक सीमा है, मात्र ऊपर के वर्ग को ही आना पड़े । मध्यवर्ती व अन्य छोटे वर्ग को उस शिक्षा का लाभ अपने-अपने स्थानों पर घर बैठे ही मिल जायेगा । एक सत्य यह भी है कि बड़े अधिकारी व्यक्तित्व परिष्कृत कर सही मार्ग पर चल पड़ें तो शेष स्वतः सुधरते चले जायेंगे ।

इस सन्दर्भ में शान्ति कुंज आश्रम में प्रायः १०० सरकारी, गैर सरकारी, औद्योगिक एवं शासकीय प्रगतिशील योजनाओं से सम्बन्धित कार्यकर्त्ताओं के निवास एवं भोजनालय आदि का प्रबन्ध किया गया है । इसे अति सुविधाजनक तो नहीं कहा जा सकता, पर ऐसा अवश्य है कि मध्यवर्ती जीवनयापन के अभ्यस्त लोग बड़ी प्रसन्नतापूर्वक समुचित सुविधा अनुभव करते हुए अपना शिक्षण काल पूरा कर सके । शिक्षण शैली ऐसी है, जिसे प्राप्त करने वाला अनुभव करता है कि उसने ऐसा कुछ सीखा एवं हृदयंगम किया है, जिसे उसे आरम्भ में ही, बहुत पहले ही प्राप्त कर लेना चाहिए था ।

आरम्भ उत्तर प्रदेश के शिक्षा विभाग से हुआ । यह तारीख २०-११-८५ से आरम्भ हुआ और अभी

तक यह चल ही रहा है । इसमें कई वर्ग के प्रशासकीय एवं प्राध्यापक स्तर के अधिकारी लगभग एक सौ प्रति शिविर के करीब संख्या में आते रहे हैं । जितने भी शिक्षार्थीगण इस अभिनव शिक्षण प्रक्रिया में सम्मिलित होकर गए है, उन सभी ने अपने साथियों को, छात्रों को, विद्यार्थियों के अभिभावकों को उसी आधार पर प्रशिक्षित किया जो उन्होंने शान्ति कुंज में सीखा समझा था । इसका परिणाम बहुत ही सन्तोषजनक रहा । उपलब्ध सूचनाओं व प्रतिक्रियाओं से प्रतीत होता है कि यह प्रक्रिया एक प्रकार से क्रान्तिकारी सिद्ध हुई । उसने अपने प्रकाश से समूचे सम्बद्ध क्षेत्र को उत्साहवर्धक ढंग से प्रकाशित एवं प्रभावित किया है ।

शिक्षण काल में विभाग के सचिव, संचालक तथा अन्य उच्च अधिकारी इनमें से अधिकांश सत्रों में सम्मिलित रहे एवं शिक्षण विद्या तथा प्रशासन सम्बन्धी उपयोगी मार्गदर्शन करते रहे है । वर्तमान सन्दर्भ में शिक्षा विभाग की तथा सारे समाज परिकर की क्या कठिनाइयाँ हैं और उन्हें किस प्रकार हल किया जा सकता है ? इस सन्दर्भ में अपने अनुभव, चिन्तन और निष्कर्ष का सारांश उन्होंने गम्भीरतापूर्वक समझाया । फलतः सम्पूर्ण शिक्षा शृंखला इतनी सारगर्भित बन गई कि सम्मिलित होने वालों में से प्रत्येक की आँखें आशा से चमकने लगीं ।

अब तक जितने भी शिक्षार्थी, अधिकारी हरिद्वार से शिक्षण प्राप्त करके गए हैं, उनमें से अधिकांश की रिपोर्ट आयी है कि उन्होंने उपलब्ध प्रेरणाओं का उत्साहपूर्वक किस विधि से कार्यान्वयन किया और अपने अपने सम्पर्क क्षेत्र में उन्होंने कैसा उमंग भरा वातावरण बनाया है । किस प्रकार विद्यार्थी और अभिभावक उस मार्गदर्शन से लाभान्वित हुए और उज्ज्वल भविष्य का अवतरण अपनी इन्हीं आँखों से तत्काल प्रत्यक्ष एवं आशा भरे आधार से भरा-पूरा देखने लगे ।

उत्तर प्रदेश के शिक्षा विभाग के उच्च अधिकारियों को प्रशिक्षित करने के उपरान्त अब शान्ति कुंज हरिद्वार के संचालकों द्वारा यह सोचा जा रहा है, कि सरकारी, अर्द्ध-सरकारी, गैर-सरकारी संस्थानों को इस प्रशिक्षण प्रयास की जानकारी कराई जाय । उन्हें अपने-अपने वरिष्ठ कार्यकर्त्ताओं को इस प्रशिक्षण में सम्मिलित होने के लिए प्रोत्साहन दिया जाय । सामान्य नैतिक शिक्षा, वफादारी और क्रिया-कुशलता के प्रमुख सिद्धान्त तो सभी आगन्तुक वर्गों को समान रूप से सिखाये जायेंगे ही, पर उन विभागों की आचार संहिता, कार्य पद्धतियाँ, कठिनाइयों को पृथक से समझाकर उनके अनुसार समाधान सुलझाने के लिए पूर्व निर्धारण किया जायेगा । इसके लिए विभागों के प्रमुख संचालकों से व्यक्तिगत परामर्श की आवश्यकता पड़ेगी । इतने भर से आवश्यकता के अनुरूप शिक्षण व्यवस्था में हेर-फेर कर लिया जायेगा ।

यह निर्णय करना विभागों का कार्य है कि वे कितने कार्यकर्त्ता, किस क्रम से, कितनी संख्या में, कितने दिनों तक भेजेंगे तथा जो भेजे जायेंगे उनके लिए मार्ग व्यय, सुविधा शुल्क आदि का प्रबन्ध किस प्रकार, किस आधार पर किया जायेगा ? जहाँ तक शान्ति कुंज का सम्बन्ध है, वहाँ किसी प्रकार का कोई खर्च नहीं है । प्रशिक्षण की कोई फीस नहीं है । बोर्डिंग, रोशनी, पानी, सफाई आदि का कोई खर्च नहीं लिया जाता । भोजन व्यय दोनों समय का प्रतिदिन मात्र ६ रुपये पड़ता है जो स्तर की दृष्टि से तथा मूल्य की दृष्टि से बाजार भाव की तुलना से कहीं कम है । चाय, कॉफी, प्रज्ञापेय (वनौषधि पेय) आदि का भी लागत दाम पर ही अच्छा प्रबन्ध है । जिन्हें गर्म पानी की आवश्यकता होती है उन्हें उसका भी प्रबन्ध करा दिया जाता है ।

शान्ति कुंज की स्वास्थ्य प्रयोगशाला में शिक्षार्थियों के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य की परीक्षा करने के लिए उच्चस्तरीय उपकरणों की व्यवस्था है । पोस्ट-ग्रेजुएट स्तर के चिकित्सक गहराई के साथ देखभाल करते है और जड़ी-बूटियों से उपचार करने की सुगम विधि का परामर्श देते हैं । प्रशिक्षण व्यवस्था को सभी ने पसन्द किया है तथा वातावरण का लाभ अपने अन्य साथियों को देने की इच्छा सभी के मन में जगी है । अब यह सुविधा समग्र शासन तन्त्र के लिए, चाहे वे केन्द्र के अधिकारी हों अथवा विभिन्न राज्यों के, उपलब्ध कराने का निश्चय सूत्र संचालकों ने किया है । हर विभाग के लिए निःशुल्क सेवा का यह खुला आमन्त्रण है । आशा है, व्यक्तित्व निर्माण की इस प्रशिक्षण प्रक्रिया का सभी लाभ उठायेंगे ।

卐卐卐

# पं. श्रीराम शर्मा आचार्य का जीवनदर्शन : समग्र वाङ्मय

*परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ने जीवन भर जो अपनी लेखनी से लिखा, औरों को प्रेरित कर उनसे सृजनात्मक लेखन करवाया, पुस्तकों-पत्रिकाओं में जो प्रकाशित हुआ, समय-समय पर उनने अमृतवाणी के माध्यम से जो विचारों की अभिव्यक्ति की, विचारसार व सूक्तियाँ जो वे लिख गये या अनायास कभी कह गये तथा पत्रों के माध्यम से जो अंतरंग स्पर्श जन-जन को दिया, वह समग्र इस वाङ्मय के खण्डों में है । जिनके नाम इस प्रकार हैं :-*

१. युगद्रष्टा का जीवन-दर्शन
समग्र वाङ्मय का परिचय
२. जीवन देवता की साधना-आराधना
३. उपासना-समर्पण योग
४. साधना पद्धतियों का ज्ञान और विज्ञान
५. साधना से सिद्धि-१
६. साधना से सिद्धि-२
७. प्रसुप्ति से जाग्रति की ओर
८. ईश्वर कौन है, कहाँ है, कैसा है ?
९. गायत्री महाविद्या का तत्वदर्शन
१०. गायत्री साधना का गुह्य विवेचन
११. गायत्री साधना के प्रत्यक्ष चमत्कार
१२. गायत्री की दैनिक एवं विशिष्ट अनुष्ठान-परक साधनाएँ
१३. गायत्री की पंचकोशी साधना एवं उपलब्धियाँ
१४. गायत्री साधना की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि
१५. सावित्री, कुण्डलिनी एवं तंत्र
१६. मरणोत्तर जीवन : तथ्य एवं सत्य
१७. प्राणशक्ति : एक दिव्य विभूति
१८. चमत्कारी विशेषताओं से भरा मानवी मस्तिष्क
१९. शब्द ब्रह्म-नाद ब्रह्म
२०. व्यक्तित्व विकास हेतु उच्चस्तरीय साधनाएँ
२१. अपरिमित संभावनाओं का आगार मानवी व्यक्तित्व
२२. चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन
२३. विज्ञान और अध्यात्म परस्पर पूरक
२४. भविष्य का धर्म : वैज्ञानिक धर्म
२५. यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान
२६. यज्ञ : एक समग्र उपचार प्रक्रिया
२७. युग-परिवर्तन कैसे और कब ?
२८. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-१
२९. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-२ ( सतयुग की वापसी)
३०. मर्यादा पुरुषोत्तम राम
३१. संस्कृति-संजीवनी श्रीमद्भागवत एवं गीता
३२. रामायण की प्रगतिशील प्रेरणाएँ
३३. षोडश संस्कार विवेचन
३४. भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व
३५. समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान
३६. धर्मचक्र प्रवर्तन एवं लोकमानस का शिक्षण
३७. तीर्थ सेवन : क्यों और कैसे ?
३८. प्रज्ञोपनिषद्
३९. नीरोग जीवन के महत्त्वपूर्ण सूत्र
४०. चिकित्सा उपचार के विविध आयाम
४१. जीवेम शरदः शतम्
४२. चिरयौवन एवं शाश्वत सौन्दर्य
४३. हमारी संस्कृति : इतिहास के कीर्ति स्तम्भ
४४. मरकर भी अमर हो गये जो
४५. सांस्कृतिक चेतना के उन्नायक : सेवाधर्म के उपासक
४६. भव्य समाज का अभिनव निर्माण
४७. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता
४८. समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र
४९. शिक्षा एवं विद्या
५०. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१
५१. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२
५२. विश्व वसुधा जिनकी सदा ऋणी रहेगी
५३. धर्मतत्व का दर्शन व मर्म
५४. मनुष्य में देवत्व का उदय
५५. दृश्य जगत् की अदृश्य पहेलियाँ
५६. ईश्वर विश्वास और उसकी फलश्रुतियाँ
५७. मनस्विता प्रखरता और तेजस्विता
५८. आत्मोत्कर्ष का आधार- ज्ञान
५९. प्रतिगामिता का कुचक्र ऐसे टूटेगा
६०. विवाहोन्माद : समस्या और समाधान
६१. गृहस्थ : एक तपोवन
६२. इक्कीसवीं सदी : नारी सदी
६३. हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण
६४. राष्ट्र समर्थ और सशक्त कैसे बने ?
६५. सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति कैसे ?
६६. युग निर्माण योजना-दर्शन, स्वरूप व कार्यक्रम
६७. प्रेरणाप्रद दृष्टान्त
६८. पूज्यवर की अमृतवाणी (भाग एक)
६९. विचारसार एवं सूक्तियाँ (प्रथम खण्ड)
*७०. विचारसार एवं सूक्तियाँ (द्वितीय खण्ड)*

**वाङ्मय के आगे प्रकाशित होने वाले ३८ खण्ड निम्न विषयों पर होंगे—**

७१. मनोविकारों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि
७२. तनाव के कारण एवं उनके निवारण के उपाय
७३. चिन्तन का विधेयात्मक-निषेधात्मक स्वरूप
७४. पुरुषार्थ और मानवी जिजीविषा
७५. संकल्प बल का अनूठा प्रभाव
७६. बाल-विकास के विविध सोपान
७७. बाल मनोविज्ञान का सही उपयोग
७८. पारिवारिकता में सुसंस्कारों का योगदान
७९. पारिवारिक पंचशील और परिवार-निर्माण
*८०. व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया*
८१. विचार-विज्ञान का महत्त्व
८२. सामाजिक समस्याएँ और उनका समाधान
८३. समाज-निर्माण के विभिन्न चरण
*८४. सामाजिक जीवन में सद्गुणों की भूमिका*
८५. नर-नारी की सामान्य समस्याएँ और उनका समाधान
८६. नारी जागृति की बाधाएँ एवं उनके निराकरण के उपाय
८७ पारिवारिक जीवनः एक तप-साधना
८८. दाम्पत्य जीवन के संयुक्त दायित्व
८९. नीति-विज्ञान और नैतिकता
९०. कृषि, व्यवसाय और उद्योग की उन्नति के आधार
९१. पूज्य गुरुदेव के स्फुट विचार
९२. पूज्यवर की अमृतवाणी-२
९३. पूज्य गुरुदेव की दिव्य अनुभूतियाँ
९४. पूज्य गुरुदेव के लिखे स्मरणीय पत्र
९५. तंत्र महाविज्ञान विवेचन
९६. मंत्र महाविज्ञान विवेचन
९७. महापुरुषों के प्रेरक जीवन-प्रसंग
९८. प्रेरणाप्रद कथा एवं गाथाएँ
९९. हृदयस्पर्शी विविध कथाएँ
१००. शान्तिकुंज का प्रज्ञा अभियान
१०१. युग निर्माण मिशन का क्रमिक इतिहास
१०२. वेद-सार-चिन्तन
१०३. पुराण-शोध-सार
१०४. उपनिषद् और आरण्यकों की दार्शनिक विषयवस्तु
१०५. काव्य-गीत-मंजूषा
१०६. मिशन के रचनात्मक कार्यक्रमों का क्रमिक इतिहास
१०७. मिशन की लोक-व्यवहार संहिता
१०८. गुरुदेव की अपने आत्मीय जनों से अपनी बातें

□□□